किन्तु जो तत्त्वज्ञानी पुरुष है वह तो विकल्पमात्रको भी पसन्द नही करता। चैत्य है यह भी विकल्प है, आत्मा चैत्य नहो है यह भी विकल्प है। इन दोनो विकल्पोसे च्युत होकर तत्त्वज्ञानी जानता है कि वह तो जो चित् है सो चित् ही है।

कर्तृकर्माधिकारकी अन्तिम गाथा १४४ वी मे एक प्रवचनांशमे पढ़िये-चिन्मात्र अन्तस्तत्त्व उपासनाका क्या महान् लाभ है-देखो भैया, इस मुझ चैतन्यमात्र आत्माको कौन जानता है ? जब कोई समझता ही नही है तो न समझने वालोको हम कुछ जतानेका क्यो प्रयत्न करें ? जैसे न समझनेवाले बेचारे भीट खम्भा आदिक है तो इनके सामने तो हम आप अपनी शान नही बगराते कि ये मेरा कुछ बड़प्पन जान जायें। ये मुझे, समझ जायें कि मैं कुछ हू, क्यो नही जतानेका प्रयत्न करते ? इसलिए कि हम आप यह जानते हैं कि ये भींट खम्भा आदिक तो कुछ मुझे जानते ही नही है, ये मुझे पहिचानते ही नही हैं। इसी प्रकार ज्ञानी पुरुष समझता है कि ये समस्त दृश्यमान जो प्राणी हैं ये मुझ चैतन्यात्मक आत्माको समझते ही नही हैं। जब ये कुछ समझते नही तो इनके सामने मैं क्या शान बगराऊं। इनको मैं क्या दिखाने चलू कि मैं कुछ हू। जैसे न समझने वाले अचेतन पदार्थो को हम समझानेकी चेष्टा नही करते, इसी प्रकार ज्ञानी जन जानते हैं कि ये सब लोग तो इस मुझ आत्माको पहिचानते ही नही है, जानते ही नही है। यदि कोई मुझ आत्माको जान जाय तो वह तो स्वय अपने चित्स्वरूप का अनुरागी हो गया। अब वह व्यक्ति न रहा, वह तो स्वय चित्स्वरूप रह गया। तो मुझ व्यक्तिको उसने नही समझा। मुझे यहा कोई नही समझता। ज्ञानी पुरुष चित्स्वरूपको समझता है। अज्ञानी जीव अपने स्वरूपको किसी भी प्रकार समझता ही नही। तब अज्ञानीको अपना महत्त्व बतानेकी गुंजाइश क्या ? ज्ञानियो को हम क्या बतावे ? वे तो स्वय चित्स्वरूपके अनुरागी हैं। इस तरह जानकर ज्ञानी जीव विकल्पोको हटाता है और विवेक द्वारा अपने आपके इस स्वरूप तक पहुँचता है जिस स्वरूपमे मग्न होनेपर फिर किसी भी प्रकारके विकल्प नही रहते। यो ज्ञानी कर्ता कर्म भावसे हटता है और विकल्प भावोसे हटकर वह शीघ्र ही साक्षात् समयसार हो जाता है।

(१३४-१३७) समयसार प्रवचन ६, ७, ८, ९ भाग

इस पुस्तकमे समयसारकी ९६ वी गाथासे २६६ वीं गाथा तक पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराजके प्रवचन हैं। सर्वकर्मोंसे मुक्त होनेमे ही आत्माका शील है, कल्याण है। ससारमे तो चाहे पुण्यकर्म हो चाहे पापकर्म हो दोनो ही कुशील हैं, देखिये १४५ वी गाथाके एक प्रवचनांशमें-पापकर्म कुशील कहलाता है और पुण्यकर्म सुशील कहलाता है, पर वह पुण्यकर्म सुशील कैसा जो ससारमे प्रवेश कराता है ? पापकर्मको तो सभी बुरा कहते। पापके उदयमे दरिद्रता हो, आपत्तिया आयें, खोटी गतिया आयें, सो पापकर्म तो बुरा है, सभी लोग जानते हैं, और लोग कहा करते हैं कि पुण्यकर्म भला है, किन्तु यहा ज्ञानी सत यह कह रहे हैं कि वह पुण्यकर्म भी सुशील कैसा जो आत्माको ससारमे प्रवेश कराता है। पुण्यका उदय हुआ, सम्पदा मिली और सम्पदा मिलती है तब क्या होता है, सो प्राप्त करके देखो, क्रोध भी बढ जाये, मायाचार भी बढ जाये, लोभ भी बढ जाता है। अभी लाख की सम्पदा है तो पेट नही भरा क्या? डेढ बैंथाका पेट चार लाखकी सम्पदासे [illegible] सोचते हैं कि मैं करोड़पती हो जाऊ। करोडपतियोके यहा जाकर देखो, उनका क्या हाल हो रहा है। सम्पदासे होता क्या है ? चिंतायें, सक्लेश बढ जाते हैं। सक्लेश करना, विकल्प करना, नाना चिंतायें करना, इसके फलमे क्या होगा कि पापकर्म बधेगा। फिर दुर्गतिया होगी।

मनुष्यको कर्तृत्वका अहकार होनेमें एक कारण यह भी है कि वह दूसरे जीवके भाग्यको नहीं समझता है, देखिये १४६ वी गाथाके एक प्रवचनांशमे-भैया, हम सबकी जिम्मेदारी अपने पर लादते है, किन्तु घरमे जो

आज बालक बैठे हो कहो उनका पुण्य बापसे भी बड़ा हो और उनके उस बडे पुण्यके कारण ही तो आपकी उनकी खुशामद करनी पडती है। किसका भार समझते हो ? तुम तो निर्भार हो, शरीरसे भी न्यारे हो, इस चैतन्यस्वरूपको तो निरखो। यहा किसी भी प्रकार का कष्ट नही है, पर ऐसी जो अपनी अलौकिक दुनिया है वहा तो यह रमना नहीं चाहता, सो अध्रुवको ध्रुव माना, मिटनेवाली चीजको सदा रहनेवाली मान लिया तो उसका फल तो क्लेश ही है।

जीवको बन्धन अपने आधार से है, पढिये १५० वी गाथाके एक प्रवचनाशमे–जो रागी जीव है वह अवश्य ही कर्मो को बांधता है। जो विरक्त जीव है वह हो कर्मो से छूटता है। तो सामान्यरूपसे शुभकर्म और अशुभकर्म रागका ही निमित्त है। सो वे सामान्यतया सबको बाधते हैं, बन्धके हेतुपनेको सिद्ध करते हैं। सो ये दोनो ही कर्म प्रतिषेधके योग्य हैं। बाल बच्चे परिवार आपको सुहावने लग रहे हैं। इन सुहावने लगने वालोसे तुम्हारा क्या पूरा पड जायगा ? वे सदाको तो अमर हैं नही। मरना तो पडेगा ही। क्या परभवमे भी ये कुछ मदद कर देंगे ? नहीं। परभवकी तो बात छोडो, इस ही भवमें क्या वे कुछ मदद कर सकते ? नहीं। सिरका दर्द हो जाय तुम्हे औरउन बच्चोसे कहोकि देखो हमतुम्हे कितना खिलाते पिलाते हैं, तुम हमारे सिरका दर्द १ आना ले लो, ११ आने हम भोग लेंगे, तो क्या ले सकते है ? अरे इस वक्त भी कोई तुम्हारी सहायता नही कर सकता है, फिर काहे को बन्धन लगा लिया ?

प्रभुकी ढूढ और मिलन देखिये १५३ वी गाथाके एक प्रवचनाशमे–इसी तरह हमारे भगवान हमारी आखें मिचेमे हमारे ही अन्दर कही छुपकर विराजे हैं। हम उन्हें ढूढनेके लिए व्यग्र हो रहे हैं। और, ऐसे व्यग्र हो रहे हैं कि जहा सम्भावना भी नही है ऐसी जगह ढूढते फिरते हैं। मिल जाय तो कहीं। बडे व्यग्र होकर ढूढते है मन्दिरमे, शास्त्रोमे, गुरुवोमे ढूढते हैं, पर भगवान तो आनन्दका नाम है। सो उस भगवानको दाल रोटीमे, विषयोमे, दुकानमे सब जगह ढूढते फिरते है, यदि कही भगवान निकटमे आ जाय, पता पड जाय कि लो यह हैं भगवान छिपे, तो देखने वाला भी प्रसन्न होगा और वह भगवान भी प्रसन्न हो जायगा। देखने वाला तो प्रसन्न होगा ही क्योंकि निर्मल बना और भगवान भी जो अनादिकालसे दुखी बैठे थे छिपे हुए, तो उनका भी तो उद्धार होता है। जब हम अपने उपयोगसे भगवानको दृष्टिमे लेते हैं तो भगवानका ही तो उद्धार होता है। तो भगवान भी प्रसन्न हो जाता है। सो अब इस सबमें आंख मिचौनी हो रही है, पर जिसके लिए आंख मिचौनीका खेल बना है उसे ढूढा पर अब तक नहीं पाया है। व्यग्र होता हुआ यत्र तत्र ढूढ रहा है। लो ज्ञानात्मक यह ध्रुव अचल आत्मतत्त्व यह है भगवान। तो यह मोक्षका कारण है।

देखिये मोक्षकी एक द्रव्यस्वभावरूपता, १५६ वीं गाथाके एक प्रवचनाशमे–मोक्षमायने छूटना अर्थात् अलग होना अलग हुए द्रव्यके स्वभावरूप हैं। दूसरे वस्तुके स्वभावरूप नहीं है। जैसे हाथका हाथसे यह बन्धन है। एक हाथमें दूसरा हाथ छूट गया तो इसका जो छूटना है वह किसके स्वभावरूप है सो बताओ ? आप कहेंगे कि इस कमरेमें बैठा है तो इस कमरेके रूप है हाथसे हाथका छूटना। क्या यह उत्तर आपको जचा ? नहीं। आप कहेंगे कि इतने श्रोता लोग सामने बैठे हैं सो यह मोक्ष इन श्रोतावोंके स्वभावरूप है, तो क्या यह छूटना इन श्रोताओंके स्वभावरूप है ? नही। तो इस कमरेके स्वभावरूप है ? नहीं। दूसरोंके स्वभावरूप है ? नहीं। और कदाचित दूसरा आदमी इस एक हाथको पकड़कर मरोड़कर छोड़दे तो वह दूसरे आदमीके स्वभावरूप भी नहीं है वह हाथ का छूटना। इस हाथकी मुक्ति इस हाथके ही स्वभावरूप है, इसी प्रकार आत्मामें कर्मो का बन्धन लगा है और उस प्रसंगमे आत्मा छूट

जाय तो आत्माका यह छूट जाना कर्मों के स्वभावरूप है या व्रत एवं तपस्यावोके स्वभावरूप है ? या आत्माके स्वभावरूप है ? यह आत्माका छूटना आत्माके स्वभावरूप है।

सम्यग्ज्ञानका बाधक भाव देखिये १५८ वी गायाके एक प्रवचनाशमें—इसमें यह बता रहे हैं कि आत्मा का सम्यग्ज्ञान जो परिणाम है उसका घात करनेवाले कौन हैं ? जैसे पूछा जाय कि यह अगुली सीधी है और टेढ़ी किए जाने पर बतलावो कि इस अगुलीके सीधेपनका घात किसने किया ? यह तो सामने की बात है और सीधी बात है। इस अगुलीका सीधापन किसने मिटाया ? इस अगुलीके सीधेपनको टेढ़ापनने मिटाया। तो आत्माके सीधेपनको किसने मिटाया ? आत्माके टेढ़ेपनने मिटादिया। आत्माके वैराग्य परिणामको किसने मिटाया ? विषय कषायके परिणामोंने मिटाया। यह पूर्वरूह साक्षात् बात चल रही है फिर निमित्तकी बात लेना है। आत्माका सब सही सही जान जाना स्वभाव परिणमनकी बात है। स्वरसत आत्मामे ऐसी कला है कि यह पदार्थो को सही सही जान लिया करे। इस सीधे और भोले काममे बाधा डालने वाला कौन है ? अज्ञान। वस्तुकी सही जानकारी न होना यही है वस्तुकी सही जानकारीका बाधक। जैसे वस्त्रका श्वेत परिणमन मलके द्वारा ढक जाता है तो सफेदीका घात हो जाता है, इसी प्रकार आत्माका सम्यग्ज्ञान अज्ञानरूपी मैलसे ढक जाता है तो सम्यग्ज्ञान प्रकट नही होता है। सम्यग्ज्ञान बनाना है तो वस्तुस्वरूपका सही सही ज्ञान करनेमे लग जावो।

अलौकिक पात्र देखिये जो अलौकिक उदारताका स्वामी है, गाथा १६४–१६५ का एक प्रवचनाशमें—भैया, इन सब भेष बनाने वाले सैकडो पात्रोमें कौनमे कौन सा पात्र उदार है ? क्या राग उदार है ? नही। द्वेष मोह आदि उदार हैं क्या ? नही। कामादि विकार उदार है क्या ? नही। ये अत्यन्त अनुदार हैं। ये दूसराके जानकी भी परवाह नही करते और खुदके प्रभुके प्राणोकी भी परवाह नही करते। ये विकार अनुदार हैं। ये उत्तम पात्र नहीं कहला सकते है। नाटकमे उत्तम पात्र वही कहला सकता है जो उदार हो। यह ज्ञान उदार है और गम्भीर भी है। क्षोभमे नही आता। ये रागद्वेष क्रोध, मान, माया, लोभ, काम ये सब क्षोभसे भरे हुए हैं। यह स्थिर नही है किन्तु रागभाव गम्भीर है, स्थिर हैं, धीर है। यहा चर्चा चल रही है कि इस उपयोगके रगमचपर ज्ञानभूमिपर कौन कौन भाव कितना विचित्र नाटक कर रहे हैं, कैसे कैसे परिणाम प्रकट हो रहे हैं। कभी शुभ भाव है, कभी वैराग्यमें आकर भगवानके निकट पहुंचते हैं, कभी कषायसे पीडित हुआ करते हैं, कितने प्रकारके कर्म बताये है। कितनी तरहके भेद इस आत्मामे अपना लेते हैं। उन सब परिणमनोमे से कौन सा परिणमन उत्कृष्ट पात्र है उसकी बात यहा चल रही है। यह ज्ञान उत्कृष्ट पात्र है, उदार है।

आत्मशान्ति निरखिये गाथा १६४–१६५ के एक प्रवचनाशमें—अब कुछ क्रान्ति लाइये और अपनेको अकेला, अपनेको अपना जिम्मेदार मानकर कुछ प्रगतिशील भावोमे चलिये। इस मायामय जगतमे किसीका कुछ नही निहारना है। किसीसे कोई आशा नही रखना है। यह जीव स्वय जैसे परिणाम करता है वैसे ही सुख दुख पाता है। यह आश्रवकी थ्योरीका प्रकरण चल रहा है। इन आश्रवोमें अनन्त कार्माणवर्गणायें ठसाठस भरी है। और, ससारमे प्रत्येक जीवके प्रदेशमे विस्रसोपचयरूप और कर्मरूप अनेक कार्माणवर्गणायें भरी पडी हैं। यह इतना बडा मेल, इतना बडा जमाव आ कैसे गया ? यह आ गया खुदकी गल्तीसे। कोई बूढा पहिले तो अपने पोतोसे बडा प्रेम दिखाता है और जब वे पोतापोती उस बूढे पर खेलने लगते हैं और उस बूढेको तकलीफ होती है। कभी सिर पर चढ गये, कभी कांधे पर चढ गये, कभी रोते हैं तो उस बूढेके ऊपर आफत सी आ जाती है। तो उस बूढेने यह आफत अपने आप डाल ली। अब दुखी हो रहा है। यह कर्मों का जो जमाव हम और आप पर बन

गया है यह अपनी गलतीसे बना है, अपने स्वरूपकी कदर न करके अपनेको दीन हीन समझ रहे हैं। हम तो न कुछ हैं। हमारे पालने वाले दूसरे हैं, हमारी रक्षा करनेवाले दूसरे हैं। हममे तो कोई शक्ति ही नही है। अरे तुझमे तो प्रभुवत् अनन्तज्ञान शक्ति है, अनन्त आनन्दकी शक्ति है। तू अपनी शक्तिको नही समझता इसलिए भूले हुए सिहकी तरह बन्धनमे पडा है।

देखिये, ज्ञानी देखता है, कर्म कार्माणशरीरमे बधे हैं १६९ वी गाथाके एक प्रवचनाश मे—ज्ञानी जीवके पूर्वकालमे बधे हुए-जो कर्म है वे यद्यपि आत्मामे अपनी सत्ता रखे रहते हैं, तो भी वे पृथ्वी पिण्डके समान हैं, वे सबके सब कर्म, कार्माण शरीरसे बधे है। आत्मासे नही बधे है। देखिये एक गायको आप बाधते हैं तो किस प्रकार बाधते हैं? एक हाथसे गायका गला पकड़कर रस्सीके एक छोरसे दूसरे छोर को बाधते हैं। क्या गायके गलेको रस्सीसे बाधते है? नही। रस्सीका एक छोर पकडकर दूसरे छोरसे बाधते है। गायके गलेको आप रस्सीसे बाधे तो गाय मर जायगी। रस्सीका एक छोर दूसरे छोरमें ऐसा बाधते है कि गायका गला बिल्कुल सुरक्षित रहता है। तो रस्सीसे गाय नही बधी है, बल्कि रस्सी से रस्सी बधी है, किन्तु इस प्रकार की रस्सीका निमित्त पाकर गाय बन्धनको प्राप्त हो जाती है, ऐसी ही बात इस अपने आत्माकी देखिये—

ज्ञानीके बुद्धिपूर्वक रागाविभाव न होनेसे निरास्रव कहा गया है, उसके अनन्त ससारका उच्छेद हो गया है, देखिये, १७२ वी गाथाके एक प्रवचनाशमे—जैसे लाखोका कर्जा वाला पुरुष सब कर्जा चुका ले, केवल एक रुपया कर्जा रह जाय तो उसे लोग कर्जेमे शामिल नही करते है। वस्तुत तो एक पाई भी कर्जा हो तो कर्जा कहलाता है। जहा ९९ हजार ९९९ और ९ नये पैसेका कर्जा चुका दिया वहा एक नये पैसे की गिनती ही क्या होती है? इसी प्रकार अनन्त कालका बन्ध मिट चुका हो केवल कुछ वर्ष ससारमें रहना शेष है, मामूली स्थिति बनती है, ऐसा बननेके आस्रवका आस्रव नही गिना गया। करणानुयोगके अनुसार तो कषाय व योग तक आस्रववान है और द्रव्यानुयोगके अनुसार ज्ञानीको आस्रववान नही कहा गया। जो रागादिकसे विरक्त रहता है और अपनेमे उत्पन्न हुई अबुद्धिपूर्वक रागादिक विकारोको भी जीतनेके लिए शक्तिका स्पर्श कर रहा है वह ज्ञानी समस्त परवृत्तियोका उच्छेद करता है। वह तो निरास्रव है। तब ज्ञानी बुद्धिपूर्वक रागसे तो विरक्त है और अबुद्धिपूर्वक रागको जीतनेके लिए अपनी शक्तिका स्पर्श करता है इससे उसे निराश्रव कहा गया है। कर्मोको जालना, कषायको दूर करना, अनादि अनन्त नित्य अत प्रकाशमान इस चैतन्यस्वभावके स्पर्श बिना नही हो सकता।

लोग अपना अपराध तो देखते नही,-परपरिणमनसे लेखा जोखा लगाते हैं, इस पर दृष्टिपात करें, गाथा १७९-१८० के एक प्रवचनाशपर—नाच न आवे आगन टेढा-भैया, सब जीव स्वतत्र है, वे अपनेमे अपना परिणमन करते है। वे अपनी शान्तिके लिए अपनी कषायकी चेष्टा करते है। हम आप अपनी ही कल्पनाय बनाकर अपने आपमे चिन्ता और शल्य बनाते है और परका नाम लगाते है कि इसने मुझे दु खी किया। जैसे एक कहावतमे कहते है—नाच न आवे आगन टेढा। यह बहुत बढिया मन्दिर बना है, नाप तौलसे कोई कसर तो नही है और इसमे नृत्य शुरूकर दिया जाय सगीत द्वारा। नाचने वाला कभी सफल होता है और कभी नही सफल होता है। यदि उसका नाच न जमे तो अपनी कलाका दोष छिपानेके लिए कहता है कि अजी आज तो नाच जमेगा नही। यह आंगन तो ढगका नही है, यही है नाच न आवे आगन टेढ़ा।

समयसार-प्रवचन अष्टम भागके सवर प्रकरण मे ज्ञानका ही ज्ञानमे आधार आधेय भाव है, देखिये १८२ वी गाथाके एक प्रवचनाशमे—एक ही ज्ञानको जिस कालमे अपनी बुद्धिमे रखकर आधार आधेय भाव लिखा

जायगा तो शेर द्रव्यंतरों को अधिरोप रुक जायगा, इसलिए कुछ बुद्धिमें भिन्न आधार न मिलेगा। ज्ञान किसमें रहता है ? ज्ञात, ज्ञानमे रहता है। ज्ञान आत्मामें रहता है, यह भी सिद्ध है, पर और सूक्ष्म दृष्टिसे देखें तो ज्ञान ज्ञानमे रहता है और इससे भी अधिक सूक्ष्म दृष्टिमें जावो तो यह कहा जायगा कि आपको ऐसा प्रश्न ही न करना चाहिए कि ज्ञान कहां रहता है? ज्ञानमे ज्ञान है। उसमे षट्कारक की बात लगाना भी व्यवहार है। यद्यपि वह परमार्थनिर्देशक व्यवहार है, लेकिन व्यवहार ही तो है, इसका कारण यह है कि भिन्न षट्कारकोके परिचय वाले मनुष्योंके समझनेके लिए अभिन्न षट्कारकका उपाय बताया है। तो ज्ञानका कोई भिन्न अध्ययन न मिलेगा। जब कोई भिन्न अध्ययन नही मिलता तो एक ही ज्ञानमें ज्ञानस्वरूपमे प्रतिष्ठित करने वाला ज्ञात है। वहां अन्य आधार और आधेयप्रतिभाव नहीं होता।

संवरका कारण देखिये १८६ वी गाथाके एक प्रवचनाशमे—इससे यह सिद्ध है कि शुद्ध आत्माकी उपलब्धिसे ही संवर होता है और सम्वरतत्त्व अद्भुत अद्वितीय है। मित्र कहो, पिता कहो, ईश्वर कहो, रक्षक कहो, यह एक सम्वर परिणाम है। स्वामी समंतभद्राचार्य ने कहा है कि यदि पाप रुक गया है तो और सम्पदासे क्या प्रयोजन है ? सबसे अतुल महिनीय सम्पदा है तो पापनिरोध है। अर यदि पाप नही रुकता है, आता है तो अन्य सम्पदासे क्या प्रयोजन क्योकि पाप तो करते रहे है। उस के फलमें तो आकुलता ही होगी। और, कर्मविपाकके समयमें भी आकुलतायें होगी। सो भैया अपने आपको इस प्रकार देखना चाहिए कि मैं अकेला हूं, घररहित हूं, शरीररहित हूं। और, की नता ज्ञात क्या, अपने आपमे जो ममता, रागद्वेष विभाव परिणाम होते है उन परिणामोसे भी रहित हूं। मेरे सहज सत्त्वके कारण इस सहजस्वरूपमें केवल चैतन्य चमत्कारके स्वरूप विकसित होता है। मैं शुद्ध हूं, ज्ञानानन्दघन हूं, इसे योगीन्द्र ही समझ सकते हैं। ज्ञानी पुरुष ही जान सकते हैं। ये सब संयोगजन्य भाव विभाव ये बाह्य चीज हैं। वे वस्तुयें मुझसे सर्वथा भिन्न है। ये तो चेतन अचेतन प्रत्येक द्रव्य प्रदेशोसे भी भिन्न है और ये रागादिक भाव यद्यपि आत्मप्रदेशमें होते हैं किन्तु कुछ समय के होते हैं, निमित्त पाकर होते, इस कारण वे भी बाह्य भाव है। वे मुझसे भिन्न है। इसी प्रकार भेद विज्ञान करने से जो अनात्मा है उससे उपेक्षा हो जाती है, और जो आत्मतत्त्व है उसमे प्रवेश होता है। इस प्रकार शुद्ध आत्माका उपयोग द्वारा यदि आलम्बन है तो कर्मोका सम्वर होता है।

ज्ञानीका उपभोग भी निर्जराहेतु बताया है, जरा इसके मर्मका विचार करें १९३ वीं गाथाके एक प्रवचनांशमें—कहते हैं कि चेतन और अचेतन द्रव्योंका इन्द्रियोंके द्वारा जो उपभोग करते हैं सम्यग्दृष्टि वह सब निर्जराका निमित्त होता है। सभी कहते है कि बंधे हुए कर्म बिल्कुल छोड देते हुए नही झडते हैं। ...उदय से एक समय भी पहिले यदि उसको संक्रमण कर देते हैं तो उसमें अन्तर आ सकता है। ऐसे कर्मोका निष्फल कर देनेमें समर्थ एकत्वनिश्चयगत समयसारका आलम्बन है। एकत्वभावना अन्य भावनाओमे प्रधान भावना है। इस एकत्वको कितने पदोंमें जीव भाया करते हैं। पहले सर्व बाह्य पदार्थोंको अपनेसे पृथक मानो, फिर शरीरसे पृथक कर्मो से पृथक मानो, रागादिक विकारोंसे अलग अपनेको मानो। अपनमे जो विचार वितर्क उत्पन्न होते हैं उन परिणतियोंमें से भिन्न अपने आपके स्वरूपका अनुभव करो। बहुत अन्तरमे प्रवेश करनेवाले ज्ञानीके पूर्वबद्ध कर्मोके उदयसे कुछ रागादिक पीडा होती है। जब भेदज्ञान होता है तब उसे वह आफत समझता है और अपने एक अविनाशी ज्ञान-स्वभावकी ओर लिप्सा बनी रहती है इसी कारण उन अचेतन और चेतन द्रव्योंमें उपभोग किए जाने

फिर भी यह सम्यग्दृष्टि जीव कर्मोंकी निर्जरा करता है। रागकी अपनायतमे सम्यक्त्व नहीं रहता, देखिये गाथा २०१-२०२ के एक प्रवचनांशमे—जिस जीवके परमाणु मात्र भी राग है, रागादिक विकारका अंश मात्र भी है, वह समस्त आगमोंका धारी होकर भी आत्माको नही जानता है। यहा किस रागका निषेध किया जा रहा है ? जिनकी श्रद्धा भी रागसे रंगी है अर्थात् जो रागकी कणिका मात्रको भी आत्माका स्वरूप या हेतु जानते हैं, रागरहित शुद्ध ज्ञानका स्वरूप परिचय नही पाते है ऐसे जीव जितने सर्व आगमको द्रव्यलिंगी मुनि भी ज्ञात कर सकते हैं इतने सब आगमको धारण करके भी वे आत्माको नही जानते हैं और जब अपने आपके स्वरूपको नही जानते हैं तो अनात्माको भी वे नही जानते हैं। जो जीव आत्मा और अनात्माको नही जानता है अर्थात् जीव और अजीवको नही जानता है वह सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकता है ?

देखिये २०३ वी गाथाके एक प्रवचनांशमे आत्माके परमविकासका कारण निर्विशेष उपयोग—यह ज्ञानी संत विशेषका उदय नष्ट करता है अपनेको किसी विशेषरूप नही मानता, और सामान्यका ही कलन करके, सामान्यका ही अनुभव करके यह समग्र ज्ञानकी एकताको प्राप्त करता है अर्थात् स्वयको यह एक ज्ञानरूप अनुभव करता है। यही आत्माका निजपद है और इस ही निज पदमे कल्याण है। इसीसे ही मोक्षमार्ग मिलता है। यही अरहत भगवन्तोने किया था जो आज उत्कृष्ट पदमे अवस्थित हैं, जिनकी बड़ी भक्तिसे हम उनकी पूजा करते हैं। उन्होने इस ही एक ब्रह्मस्वरूपके अनुभवका मार्ग अपनाया था। इस ही आत्मस्वभावकी उपासना की परिणतिसे ये कर्म ध्वस्त होते है, ससार मिटता है और शिवपद की प्राप्ति होती है इसलिए सब प्रयत्न करके इस क्षणिक भावको छोड़कर ध्रुव जो आत्मीय चैतन्यस्वभाव है, ध्रुवस्वभावका हमे अनुभव करना चाहिए और हम उस अनुभवके पात्र रह सके इसके लिए न्यायरूप अपनी प्रवृत्ति करना चाहिए।

अध्रुवको छोड़कर ध्रुवकी दृष्टि करनेमे ही आत्महित है, इस तथ्यको देखिये २०४ वी गाथाके एक प्रवचनांशमे अध्रुव परिणतियां तो मिटती हैं पर परिणतियोंका जो स्रोत है, जिसकी ये दशायें हो रही हैं वह मैं हूं। वह नहीं मिटता। तो इन समस्त ज्ञानोंमे जो मूल ज्ञानस्वभाव है यह ज्ञानस्वभाव नही मिटता है। यही परमार्थ है और इस परमार्थको ही प्राप्त करके जीव मुक्तिको प्राप्त करता है। किस को हम चिन्तन करें तो मोक्ष मिले, इसका वर्णन इस गाथामे है। सारतत्त्व शरण क्या है ? परमार्थ यह ज्ञानपद शरण है। हितके लिए इसके आगे और कुछ देखनेकी जरूरत नहीं है। आत्मा परमार्थ है और वह ज्ञानमात्र है। आत्मा एक ही पदार्थ है। मैं आत्मा एक ही पदार्थ हू। जैसे कि पशु पक्षी कीट मनुष्य आदि बने रहनेसे आत्मा अन्य अन्य नही हो जाता। मैं वही का वही हू। सो मैं आत्मा एक ही हू। जब मैं आत्मा एक ही पदार्थ हु तो आत्मा है ज्ञानस्वरूप। वह ज्ञान भी एक ही पद है। इस ही एक परम पदार्थका शरण गहो।

यथार्थ ज्ञानसे ही संकट छूट सकते हैं, अवधारण कीजिये २०६ वी गाथाके एक प्रवचनांशमे—भैया, संकट जगतमे कुछ नही है। केवल विकल्प ही संकट है। कोई गुजर जाय, किसी इष्ट पुरुषका वियोग हो जाय और इसका वियोग नियमसे। ऐसा कोई अनोखा नही है कि जिसके मां बाप स्त्री पुरुष सदा रहेंगे। वियोग अवश्य सदा होगा और वियोगके समयमे दुःख होगा। जिसका संयोग हुआ उसका वियोग नियमसे होगा, चाहे खुद पहिले गुजर जायें, चाहे मां बाप आदि गुजर जाये, वियोग अवश्य होगा। वियोग होता है तो हो, वे सब पर पदार्थ हैं, मूढ बुद्धि बस रही है। जगतके अन्य जीवोंमे से इन जीवोंको छाट लिया कि ये मेरे हैं तो उसके फलमे उसे दु:ख अवश्य होता है। मुझे दुःखी

जायगा तो और द्रव्यतरो को अधिरोप रुक जायगा, इसलिए कुछ बुद्धिमे भिन्न आधार न मिलेगा। ज्ञान किसमे रहता है ? ज्ञात, ज्ञानमे रहता है। ज्ञान आत्मामे रहता है, यह भी सिद्ध है, पर और सूक्ष्म-दृष्टिसे देखे तो ज्ञान ज्ञानमे रहता है और इससे भी अधिक सूक्ष्म दृष्टिमे जावो तो यह कहा जायगा कि आपको ऐसा प्रश्न ही न करना चाहिए कि ज्ञान कहा रहता है? ज्ञानमे ज्ञान है। उसमे षट्कारक की बात लगाना भी व्यवहार है। यद्यपि वह परमार्थनिर्देशक व्यवहार है, लेकिन व्यवहार ही तो है, इसका कारण यह है कि भिन्न षट्कारकोके परिचय वाले मनुष्योके समझनेके लिए अभिन्न षट्कारकका उपाय बताया है। तो ज्ञानका कोई भिन्न अध्ययन न मिलेगा। जब कोई भिन्न अध्ययन नही मिलता तो एक ही ज्ञानमे ज्ञानस्वरूपमे प्रतिष्ठित करने वाला ज्ञान है। वहा अन्य आधार और आधेय प्रतिभात नही होता।

संवरका कारण देखिये १८६ वी गाथाके एक प्रवचनाशमे—इससे यह सिद्ध है कि शुद्ध आत्माकी उपलब्धिसे ही संवर होता है और सम्वरतत्त्व अद्भुत अद्वितीय है। मित्र कहो, पिता कहो, ईश्वर कहो, रक्षक कहो, यह एक सम्वर परिणाम है। स्वामी समंतभद्राचार्य ने कहा है कि यदि पाप रुक गया है तो और सम्पदासे क्या प्रयोजन है ? सबसे अतुल महिनीय सम्पदा है तो पापनिरोध है। पर यदि पाप नही रुकता है, आता है तो अन्य सम्पदासे क्या प्रयोजन क्योकि पाप तो कर रहे हैं। उस के फलमे तो आकुलता ही होगी। और, कर्मविपाकके समयमे भी आकुलतायें होगी। सो भैया अपने आपको इस प्रकार देखना चाहिए कि मैं अकेला हू, घररहित हू, शरीररहित हू। और, की क्या बात क्या, अपने आपमे जो ममता, रागद्वेष विभाव परिणाम होते है उन परिणामोसे भी रहित हू। मेरे सहज सत्त्वके कारण इस सहजस्वरूपमे केवल चैतन्य चमत्कारका स्वरूप विकसित होता है। मैं शुद्ध हू, ज्ञानानन्दघन हू, इसे योगीन्द्र ही समझ सकते हैं। ज्ञानी पुरुष ही जान सकते हैं। ये सब संयोगजन्य भाव-विभाव ये बाह्य चीज हैं। वे वस्तुयें मुझसे सर्वथा भिन्न हैं। ये तो चेतन अचेतन प्रत्येक द्रव्य प्रदेशोसे भी भिन्न है और ये रागादिकके भाव यद्यपि आत्मप्रदेशोमे होते है किन्तु कुछ समय के होते हैं, निमित्त पाकर होते, इस कारण वे भी बाह्य भाव हैं। वे मुझसे भिन्न है। इस प्रकार भेद विज्ञान करने से जो अनात्मा है उससे उपेक्षा हो जाती है, और जो आत्मतत्त्व है उसमे प्रवेश होता है। इस प्रकार शुद्ध आत्माका उपयोग द्वारा यदि आलम्बन है तो कर्मोका सम्वर होता है।

ज्ञानीका उपभोग भी निर्जराहेतु बताया जरा इसके मर्मको विचार करें १९३ वी गाथाके एक प्रवचनांशमे—कहते हैं कि चेतन और अचेतन द्रव्योका इन्द्रियोके द्वारा जो उपभोग करते है सम्यग्दृष्टि वह सब निर्जराका निमित्त होता है। सभी कहते है कि बंधे हुए कर्म बिल्कुल छोड देते हुए नही झडते है। [illegible] उदय से एक समय भी पहिले, यदि उसका संक्रमण कर देते हैं तो उसमे अन्तर आ सकता है। ऐसे कर्मोंका निष्फल कर देनेमे समर्थ एकत्वनिश्चयगत समयसारका आलम्बन है। एकत्वभावना अन्य भावनाओमे प्रधान भावना है। इस एकत्वको किसने पदोमे जीव भाया करते हैं। पहले सर्व बाह्य पदार्थोंको अपनेसे पृथक मानो, फिर शरीरसे पृथक कर्मो से पृथक मानो, रागादिक विभावोसे अलग अपनेको मानो। अपनमे जो विचार वितर्क उत्पन्न होते हैं उन परिणतियोमे से भिन्न अपने आपके स्वरूपका अनुभव करो। बहुत अन्तरमे प्रवेश करनेवाले ज्ञानीके पूर्वबद्ध कर्मोके उदयसे कुछ रागादिक पीडा होती है। जब भेदज्ञान होता है तब उसे वह आफत समझता है और अपने एक अविनाशी ज्ञान-स्वभावकी ओर लिप्सा बनी रहती है इसी कारण उन अचेतन और चेतन द्रव्योमे उपभोग किए जाने

फिर भी यह सम्यग्दृष्टि जीव कर्मों की निर्जरा करता है।

रागकी अपनायतमे सम्यक्त्व नहीं रहता, देखिये गाथा २०१–२०२ के एक प्रवचनांशमे—जिस जीवके परमाणु मात्र भी राग है, रागादिक विकारका अश मात्र भी है, वह समस्त आगमोका धारी होकर भी आत्माको नही जानता है। यहा किस रागका निषेध किया जा रहा है ? जिनकी श्रद्धा भी रागसे रंगी है अर्थात् जो रागकी कणिका मात्रको भी आत्माका स्वरूप या हेतु जानते हैं, रागरहित शुद्ध ज्ञानका स्वरूप परिचय नही पाते है ऐसे जीव जितने सर्व आगमको द्रव्यलिगी मुनि भी ज्ञात कर सकते है इतने सब आगमको धारण करके भी वे आत्माको नही जानते हैं और जब अपने आपके स्वरूपको नही जानते हैं तो अनात्माको भी वे नही जानते हैं। जो जीव आत्मा और अनात्माको नही जानता है अर्थात् जीव और अजीवको नही जानता है वह सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकता है ?

देखिये २०३ वी गाथाके एक प्रवचनांशमे—आत्माके परमविकासका कारण, निर्विशेष उपयोग—यह ज्ञानी सत विशेषका उदय नष्ट करता है अपनेको किसी विशेषरूप नहीं मानता, और सामान्यका ही कलन करके, सामान्यका ही अनुभव करके यह समग्र ज्ञानकी एकताको प्राप्त करता है अर्थात् स्वयको यह एक ज्ञानरूप अनुभव करता है। यही आत्माका निजपद है और इस ही निज पदमे कल्याण है। इसीसे ही मोक्षमार्ग मिलता है। यही अरहत भगवन्तोने किया था जो आज उत्कृष्ट पदमे अवस्थित हैं, जिनकी बडी भक्तिसे हम उनकी पूजा करते हैं। उन्होने इस ही एक ब्रह्मस्वरूपके अनुभवका मार्ग अपनाया था। इस ही आत्मस्वभावकी उपासना की परिणतिसे ये कर्म ध्वस्त होते है, ससार मिटता है और शिवपद की प्राप्ति होती है इसलिए सब प्रयत्न करके इस क्षणिक भावको छोडकर ध्रुव जो आत्मीय चैतन्य-स्वभाव है, ध्रुवस्वभावका हमे अनुभव करना चाहिए और हम उस अनुभवके पात्र रह सके इसके लिए यथार्थरूप अपनी प्रवृत्ति करना चाहिए।

अध्रुवको छोडकर ध्रुवकी दृष्टि करनेमे ही आत्महित है, इस तथ्यको देखिये २०४ वी गाथाके एक प्रवचनांशमे—अन्य परिणतियां तो मिटती हैं, पर परिणतियोका जो स्रोत है जिसकी ये दशायें हो रही हैं वह मैं हू। वह नहीं मिटता, तो इन समस्त ज्ञातोमे जो मूल ज्ञान स्वभाव है यह ज्ञानस्वभाव नही मिटता है। यही परमार्थ है और इस परमार्थको ही प्राप्त करके जीव मुक्तिको प्राप्त करता है। किस का हम चिन्तन करें तो मोक्ष मिले, इसका वर्णन इस गाथामे है। सारतत्त्व शरण क्या है ? परमार्थ यह ज्ञानपद शरण है। हितके लिए इसके आगे और कुछ देखनेकी जरूरत नहीं है। आत्मा परमार्थ है और वह ज्ञानमात्र है। आत्मा एक ही पदार्थ है। मैं आत्मा एक ही पदार्थ हू। जैसे कि पशु पक्षी नारकी मनुष्य आदि बने रहनेसे आत्मा अन्य अन्य नही हो जाता। मैं वही का वही हू। सो मैं आत्मा एक ही हू। जब मैं आत्मा एक ही पदार्थ हू तो आत्मा है ज्ञानस्वरूप। वह ज्ञान भी एक ही पद है। इस ही एक परम पदार्थका शरण गहो।

यथार्थ ज्ञानसे ही सकट छूट सकते है, अवधारण कीजिये २०६ वी गाथाके एक प्रवचनांशमे—भैया, सकट जगतमे कुछ नहीं है। केवल भ्रम लगा हुआ सकट है। कोई गुजर जाय, किसी इष्ट पुरुषका वियोग हो जाय और हमारा वियोग नियमसे। ऐसा कोई अनोखा नहीं है कि जिसके मां बाप स्त्री पुरुष सदा रहेंगे। वियोग अवश्य सदा होगा और वियोगके समयमें दुःख होगा। जिसका सयोग हुआ उसका वियोग नियमसे होगा, चाहे खुद पहिले गुजर जायें, चाहे मा बाप आदि गुजर जायें, वियोग अवश्य होगा। वियोग होता है तो हो, वे सब पर पदार्थ हैं, मूढ बुद्धि बस रही है। जगतके अन्य जीवोमे से दो चार जीवोको छाट लिया कि ये मेरे हैं तो उसके फलमे उसे दु:ख अवश्य होता है। मुझे दु:खी

करने वाला कोई नही है। सो छिदो, भिदो, कोई कही ले जावो, अथवा नाशको प्राप्त हो, कही जावो तो भी मैं पर पदार्थो को ग्रहण नही करता। मैं सदा अपने आपके रूपमे रहता हू, अपनी शक्तिमे रहा करता हू, जिस कारण परद्रव्य मेरे स्व नही हैं। तो मैं परद्रव्योका स्वामी हू।

२१७ वी गाथाके एक प्रवचनाशमे ज्ञानीकी रागरस 'रिक्तता' देखिये—ज्ञानी जीवके ये समस्त कर्म चू कि ज्ञानी रागरससे रिक्त है इस कारण परिग्रहभावको प्राप्त नही होता है। स्त्री पुत्रादिकके पालनके परिग्रह भावको नही प्राप्त होता है; क्योकि उसके पालनेकी प्रवृतिमे रागरस नही है। पालना पडता है। जैसे कभी परिवारमे या सद्गोष्ठीमे, मित्रोमे रागरस न रहे तो कायदे कानूनके अनुसार बोलना पड रहा है, पर परिग्रह नही रहता है। परिग्रहभाव रहे तो शल्य रहती है, खिन्नता रहती है, बन्धन रहता है, पर रागरससे रिक्त रहनेके कारण उसमे परिग्रहभाव नही रहता। जैसे जो वस्त्र अकषायित हो तो उसमे रगका सम्बन्ध होनेपर भी रग बाहर बाहर लौटता है। वस्त्र रगनेके लिए पहिले मजीठा वगैरहमें भिगोया जाता है। जैसे आजकल केवल फिटकरीमे भिगो दिये जाते है और फिर उनपर रग चढाया जाता है। यदि किसी वस्त्रको हर्रा और फिटकरीके पानीमे न भिगोया जाय, खाली पानीमे भिगोया जाय तो वस्त्र पर रग न चढेगा। अगर उसे फीचकर धो दो तो रग छूट जाता है। इसीलिए यह कहावत है कि हर्रा लगे न फिटकरी, रग चोखा हो जाय—सो ऐसा नही हो सकता है जिस वस्त्रमे कषायित्व नही किया गया हैं उस वस्त्रमे रग चढता नही है इसी प्रकार जिस पुरुषमे रग रस नही है उस पुरुषमे कर्म और बाह्य उपाधि परिग्रह नही बन सकते हैं। यह परिग्रह केवल बाहर लौटता है, दिखता है। सम्बन्ध किया जाता है फिर भी अन्तरमे मिलो नही है, इसका कारण क्या है कि ज्ञानी पुरुष स्वभावसे ही स्वरसत ही सर्व रागसे हटे हुए स्वभाव वाला है। इस कारण ज्ञानी पुरुष कर्मो के मध्यमे पडा हुआ भी तन, मन, वचनकी क्रियावोके बीचमे पडा हुआ भी उन सर्व कर्मो से लिप्त नही होता है।

निष्काम कर्मयोगकी झलक देखिये २२७ वी गाथाके एक प्रवचनांशमे—जिसने फलकी चाह छोड दिया उसे जो करना पडता है उसको किया गया नही कहा जा सकता। वह अकृत की तरह है। जैसे किसी नौकरका आपका काम करनेका भाव नही है। आप सामने होते हैं तो थोडा थोडा करता है, आप मुख मोड लेते हैं तो वह काम बन्द कर देता है। आपके खडे होनेपर उसे विवश होकर करना पड रहा है। जब इच्छा ही नही है करने की तो आप कह बैठते हैं कि यह तो काम ही नही करता है। अरे कुछ तो कर रहा है, पर कुछ किया गया काम न किए गये में शामिल है, क्योकि उसकी भावना आपपर असर डालती है। जब उसकी भावना काम करने की ही नही है तो यह न करना कहलाता है। सम्यग्दृष्टि जीवके जब भोग अथवा अन्य कोई चेष्टाये भोगनेका भाव ही नही है और भोगनेमे आ रहा है, करना पड रहा है तो मैं तो उसके अभिप्रायभावोकी ओरसे कह रहा हू कि वह करता ही नही है।

ज्ञानीके अत्राणभय नही होता, पढिये २२८ वी गाथाका एक प्रवचनांश—ज्ञानी पुरुषको भय नही रहता है। इस प्रकरणमे आज अत्राणका भय ज्ञानी पुरुषको नही रहता है इसका वर्णन होगा। जो पदार्थ सत् है वह नाशको प्राप्त नही होता है। यह वस्तुकी स्थिति है। जो सत् हैं वह सत्के कारण अविनाशी हुआ करता है। यहा उसका सर्वथा अभाव कैसे किया जा सकता है? चाहे पानीका हवा हो जाय, हवाका पानी हो जाय फिर भी सद्भूत तत्त्व तो रहता ही है। सत्का कभी अभाव नही होता। ज्ञान स्वय सत् हैं। यहा ज्ञानके कहनेसे ज्ञानमय द्रव्यको ग्रहण करना चाहिए। यह ज्ञानमय आत्मतत्त्व स्वयमेव सत् है, फिर दूसरे पुरुषोसे इसकी क्या रक्षा कराना है। अज्ञानी जीवको यह भय रहा करता है कि मेरी रक्षा

हुई या न हुई, मेरी रक्षा किससे होगी ? पराधीन भाव वह बनाये रहता है, परोन्मुख रहता है। ज्ञानी सोचता है कि इसका तो कभी नाश हो नही होता है, क्योकि यह सत् है, फिर दूसरेसे क्या रक्षाकी याचना करना ? अतः ज्ञानीके अत्राणका भय नही होता।

२३० वी गाथाके एक प्रवचनांशमे निःकांक्षता पानेकी रीति देखिये—मोही जीवोको जो अपनेको पर परिणति प्रतिकूल लगता है उसे तो समझते हैं कि यह अनहानी हो रही है और जो परपरिणति अपने को अनुकूल जचती है उसे मानते है कि यह बात तो मेरे जैसे नवाबके लिए होना ही चाहिए, पर ये सारे विभाव आत्मापर क्लेशके लिए ही आये हुए हैं। ये सब किसी पर पदार्थसे नही आये, कर्मोसे नहीं आये हैं। कर्मो का उदय तो निमित्त मात्र है। ये विभाव मेरे ही अज्ञान परिणतिसे उठे हुए हैं। मुझपर कोई विपत्ति आती है तो मेरे ही अज्ञान परिणमनसे आती है, किसी अन्य पदार्थसे नही आती। हम अपनेको सम्हाले रहे, सावधान बनाये रहे और फिर मेरे ही किसी परिणामसे मुझे विपत्ति आ जाय सो ऐसा भी आकस्मिक उपद्रव नही है।

निर्जुगुप्सा अगके वर्णनमे देखिये २३१ वी गाथाके एक प्रवचनांशमे परमार्थ जुगुप्सा एक महान् अपराध है—अपने आपकी प्रभुताके स्वरूपसे प्रतिकूल रहना यह सबसे बडा दोष है। यही परमार्थसे जुगुप्सा है। धर्मस्वरूपमय निज परमात्मतत्त्वसे ग्लानि करना, मुख मोडे रहना यह महान् अपराध है, और केवल अपने आपके प्रभु पर अन्याय करने मात्रका ही अपराध नही है, किन्तु जगतके समस्त जीवोपर, सर्व प्रभुवोपर यह अन्याय है। अपने आपके स्वरूपका पता न हो सके यही निज प्रभु पर अन्याय है अनन्त प्रभुवोपर अन्याय है। सम्यग्दृष्टि पुरुष अपने आपके स्वभावसे विमुख नही होता, अपने स्वरूपसे जुगुप्सा नही रखता, किन्तु रुचि रखता है। इस धर्ममय आत्मप्रभुकी सेवामे रहकर कोई कष्ट भी भोगना पडे, उपद्रव उपसर्ग भी सहना पडे तो भी उनमे विषाद नही मानता। अपने परिणामोकी ग्लान नही करता, ग्लान नही होता। यही है परमार्थसे निर्विचिकित्सक अंगका दर्शन।

ज्ञानीकी वास्तविक प्रभावना देखिये २३६ वी गाथाके एक प्रवचनांशमे—सम्यग्दृष्टि जीव टंकोत्कीर्णवत् निश्चल एक ज्ञायक भावस्वरूप है। उसने अपने ज्ञानसे समस्त शक्तियोको लगाकर, जगाकर अपनी पर्यायके अनुरूप अपनेको विकसित किया, इसलिए वह प्रभावनाकारी जीव है। जैन धर्मकी अथवा वस्तुविज्ञानकी मोक्षमार्गकी प्रभावना यह जीव रत्नत्रय तेजसे ही कर सकता है। कहते हैं धर्मकी प्रभावना करो—किसकी प्रभावना करना है ? धर्मकी। तो धर्मका जो स्वरूप है वह जीवोकी समझमे आये यही प्रभावना कहलायेगी। समारोह होना, उत्सव मनाना ये सब इस प्रभावनाके सहकारी कारण हैं। ये स्वय प्रभावना नही हैं। जिसकी प्रभावना करना है वह लोगोके चित्तमे बैठे तो प्रभावना कहलाती है। प्रभावना करना है धर्म की। धर्म कहते हैं वस्तुके स्वभावको। उपदेशके द्वारा अथवा साधु पुरुषोकी मुद्राके द्वारा जो जीवोपर यह छाप पडी, प्रभावना पडी कि अहो, सर्व विकल्पोसे पृथक् ऐसे साधु हैं, ऐसा ज्ञान और आनन्द रह जाना ही धर्मका पालन है। यह बात जिन उपायोसे प्रसिद्ध हो सके बस उन ही उपायोके करनेका नाम प्रभावना है।

(१३८) समयसार प्रवचन दशमभाग

समयसार ग्रन्थकी २३७ वी गाथासे लेकर २६४ वी गाथा तक के पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराजके प्रवचन इस भाग मे हैं। बन्धाधिकारमे यह सिद्धान्त रखा कि कर्मबन्ध अन्य अन्य कारणोंसे नहीं, किन्तु रागादिको उपयोग भूमिमे ले जाना बन्धका कारण है, इस बातकी सिद्धि करते हुए प्रसंगवश यहां यह कहा जा रहा है एक आत्मामे ज्ञातृत्व व कर्तृत्व दोनोके रहनेका परस्पर विरोध है, पढिये—पृ० १४-भैया, कर्मयोग जितना

साथ लगा है यह तो दोष है, दण्ड है। इस ज्ञानी जीवके चूकि ऐसी स्थिति है कि मिथ्यात्व तो रहा नहीं, विपरीत आशय तो है नहीं, अपने ही स्वरूपका परिचय बना हुआ है, फिर भी कुछ समय तक ही पूर्वकालमे जो अज्ञानसे बन्धन किया था उन बन्धनोमे जो बन्धन शेष है उसके विपाकमे इसके अभी प्रवृत्ति चल रही है, कर्मयोग हो रहे हैं, पर वे कर्मयोग बन्धके कारण नही हैं, क्योकि निष्कामताका यहां साथ है। सो इस प्रकार ज्ञानी जीवके ये दोनों बाते विरोधको प्राप्त नही होती कि वह कुछ करता भी है और जानता भी है।

वस्तुस्वातंत्र्य और निमित्तनैमित्तिक भाव इन दोनोसे लोककी व्यवस्था बनी हुई है। यदि इनमे से कोई एक न हो तो लोकव्यवस्था नही रह सकती, इसको समझनेके लिए निम्नलिखित प्रवचनांश पढकर फिर उस पुस्तक के कुछ आगे भी पढिये–प्रवचनांश गाथा २४९ पृ० ३१–लोकव्यवस्था–यह वस्तुके स्वरूपास्तित्वको निरखकर ध्यानमे लाना है। प्रत्येक द्रव्य मात्र अपने गुणोमे अपना परिणमन कर पाते है और इसी कारण यह लोक व्यवस्था बनी हुई है। निमित्त नैमित्तिक भावका होना और प्रत्येक पदार्थका मात्र अपने गुणोमे ही परिणमन कर सकना, इन दो बातोकी वजहसे यह लोक टिका हुआ है, व्यवस्था बनी हुई है। इनमें से यदि कोई एक अंश निकाल दिया जाय, प्रत्येक द्रव्य अपने मे अपने गुणोसे परिणमता है, यह एक अंश और परस्पर एक दूसरेको निमित्तको पाकर यह सब दृश्यमान रचना चल रही है, यह एक अंश इन दोनों अंशोमें से यदि कोई अंश निकाल लिया जाय तो लोकव्यवस्था नहीं बन सकती।

अज्ञानके मूल प्रवाहमें रागद्वेषकी दो धारायें कैसे बनती। इसे देखिये गाथा २४९ के इस प्रवचनांशमें, पृ० ३८–परको अटकमें उपयोगकी दो धारा–भैया, यह उपयोग एक प्रकार का है, किन्तु जब यह अपने स्रोतको छोडकर बाहरसे अपनी धाराका प्रवाह लेता है तो बाह्य विषयोसे अटककर इसकी दो धारायें बन जाती हैं। जैसे स्रोतस्थानसे चली आई हुई एक मोटी धारा किसी चीजसे टकराकर दो धाराओंके रूपमें बन जाती है इसी प्रकारसे यह परिणाम आत्माकी बाह्य वृत्ति, बाह्य विषयोसे टकराकर दो धाराओंमें वह निकलता है कुछ रागरूप और कुछ द्वेषरूप। न ही किसी बाह्य विषयोका ख्याल, न किया जाय किसी परवस्तुका ध्यान, तो इस उपयोगमें दो धारायें कैसे बन जायेंगी–रागरूप बन जाना और द्वेषरूप बन जाना। जब राग और द्वेषरूप दो धारायें हो जाती हैं तो इनकी छटनी होने लगती है, कौन उसे भला है, कौन उसे बुरा है।

हितार्थीको उपादान निमित्तके सम्बन्धमे कैसा निर्णय है और किसका लक्ष्य है इसकी एक झांकी गाथा २५६ के इस संक्षिप्त प्रवचनांशमे देखिये–पृ० ६६ हितार्थीका लक्षितव्य–सुख दुखका मूल है तो मोह भाव है। सो यद्यपि वर्तमान स्थिति विकारकी है, विकार निमित्त पाये बिना नही होते, लेकिन अब हम और आप करें क्या? निमित्तकी सिद्धिमे, निमित्तकी चर्चामे, निमित्तकी दृष्टिमें हम अपने क्षण गुजारे तो हितकी बात तो नहीं मालूम देती है। यह सब तो निर्णय किये जानेका काम है। हो गया निर्णय, परदृष्टि किस और लगाना है? इसके लिए प्रकट यह उपदेश दिया गया कि हे कल्याणार्थी तू अपनी ओर ही दृष्टि दे, तू केवल अपने आत्माकी ओर ही दृष्टि रख। क्या यह आत्मा किसी परके स्वरूपको लपेटे हुए है? इसके स्वभावको निरखो। प्रत्येक पदार्थ मात्र अपना स्वरूप ही रखता है।

मेरे को दुखी करने वाला कोई अन्य नहीं है, मेरे को दुख मेरे ही अपराधसे होता है, यह निष्कर्ष निकाल लीजिये गाथा २५६ के निम्नांकित प्रवचनांशसे–पृ० ७१–भैया, जो भी दुखी होता है वह अपने अपराधसे दुखी होता है। यदि यह जीव निरपराध हो तो दुखी नहीं हो सकता है। जगतकी ओर दृष्टि ही यह ही प्रथम अपराध है। किसीने कोई अपमानजनक वचन कहा उसको सुनकर हम दुखी होते हैं तो

यह लगाव रखकर ही तो दु खी होते है कि इन चार आदमियोमे इसने मेरी तोहीन की हैं। अरे इन चार आदमियो पर अपने सुखके लगावको दृष्टिसे निगाह रखना प्रथम तो यह अपराध किया और इस अपराधके कारण विकल्प हुआ, उन विकल्पोसे यह दु खी हुआ, उस अपमानजनक शब्द बोलने वालेने दु खी नही किया वह तो अपने कषायके अनुकूल अपना परिणमन करके अपनेमे ही समाप्त हुआ, उससे मुझे दुःख नही आया, किन्तु मै ही कल्पनाये बनाकर दु खी हुआ। ऐसी कल्पनाये बनाना यही मेरा अपराध है और उस समय उस प्रकारके कर्मोदयका निमित्त है।

निमित्त नैमित्तिक सम्बन्धके वर्णनमे भी भयका अनवकाश, इस वृतान्तको पढिये—गाथा २५९ के प्रवचनाश मे—पृ० ९२—भैया, इस बातसे घबडाकर कि कही आत्माके स्वभावकी स्वतत्रता नष्ट न हो जाय, निमित्त को न मानें अथवा निमित्तको एक अलकार रूपमे ही शास्त्रोमे कहा है, इस प्रकार की दृष्टि करके निमित्तको न समझाना, न समझना या उडा देना यह कोई बुद्धिमानी नही है, किन्तु यह जानना चाहिए कि निमित्तका वर्णनभी आचार्यो ने हमारी मसाकी पूर्तिके लिए किया है। हमारी मसा है अपने शुद्ध स्वतत्र स्वभावको निरखना। यही तो चाह है ना सभी कल्याणार्थियोकी जो अपने केवल स्वभाव को नही देखना चाहता है वह तो कल्याणार्थी नही है। जहा यह वर्णन आता है कि ये सब सुख दु ख, ये सब व्यवस्थाये ये सब रागद्वेष मोह सब विकार कर्मो के उदयके विपाकसे प्रभव हैं। इतनी बात सुनकर तुरन्त यह ज्ञान होता है और उत्साह होता है कि यह मेरा स्वभाव नही है। मैं तो टकोत्कीर्ण-वत् निश्चल एक शुद्ध ज्ञायकस्वभावमात्र हू।

अध्यवसायोसे स्वयका अनर्थ होता है इसका एक चित्रण देखिये २६१ वी गाथाके इस प्रवचनाशमे—पृ० १०१—१०२—अध्यवसायोसे स्वयका अनर्थ—जैसे कोई बूढी, पुरानी देहाती बुढिया जो पुराने दिमाग की है, असभ्य है वह अपने ही घरमे बैठे हुए दात किटकिटाती हुई दूसरेको कोसती रहती है जिससे उसे क्लेश होता हो, उसे जो दुश्मन दिखता हो। तो देखनेवाले लोग उसे अज्ञानी देखते है। कैसा अपने शरीरको कष्ट पहुचा रही है। इसकी इस क्रियाको करनेसे वहा कुछ होना नही है, बल्कि ईश्वरसे प्रार्थना करती है हाथ पोट पीटकर कि हे भगवान् इसका विनाश करदो। तो ये सब चेष्टाये क्या उस दूसरे जीवके अहितके कारणभूत बनती है ? उसका ही उदय अशुभ होगा तो क्लेश आयगा, पर इसके सोचनेसे दूसरेको क्लेश नही होता। दूसरे जीवका सब कुछ जीवन मरण, सुख और दु ख उसके उपार्जित किये हुए कर्मोदयके आधीन है, दूसरे जीवके विचारके आधीन नही है।

पुण्य व पाप दोनोके बन्धमे कारण अध्यवसाय है, इसका दिग्दर्शन कीजिये गाथा २६४के इस प्रवचनाशमे—पृ० १११—११२—सवत्र अध्यवसायकी बन्धहेतुता—अध्यवसायको बन्धनकी दृष्टिसे देखा जाय तो पापमे भी वही पद्धति हुई और पुण्यमे भी वही पद्धति हुई, अर्थात् कही ऐसा नही है कि पापका बन्ध अध्यव-सायसे होता हो और पुण्यका बन्ध रत्नत्रयके पालनसे होता हो, रत्नत्रयके पालनसे निर्जरा है, बन्ध नही है। बन्ध अध्यवसायसे ही होता है। हिंसा, झूठ आदिसे बन्ध हो तो पाप होगा और अहिंसा, दया, सत्य बोलना, ब्रह्मचर्यका पालना, परिग्रहका त्यागना इनका अध्यवसाय हो तो पुण्यबन्ध होता है। जैसे पराश्रयक परिणामोमे लगाव, किसी परविषयक उपयोग परिणमन उस पापबन्धमे हुआ है, इसी प्रकार पराश्रयक परिणामोका लगाव किसी परके विषयमे उपयोगका योजन इस पुण्यबन्धमे भी हुआ है।

(१३९) समयसार प्रवचन एकादश भाग

इस पुस्तकमे समयसार ग्रन्थकी २६५ वी गाथासे २८६ गाथा तकके पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी

सहजानन्द महाराजके प्रवचन हैं। परवस्तुके कारण बन्ध नही होता, किन्तु जीवके रागद्वेष आदि अध्यवसानके कारण बन्ध होता है, इससे सम्बन्धित २६५ वी गाथाका एक प्रवचनांश पढिये–पृ० १–पराश्रयतापूर्वक अध्यवसानका निर्माण–उस बन्धके कारणभूत आत्माके जो अध्यवसान हुए हैं उन अध्यवसानोमे ऐसा निर्माण है कि किसी न किसी परवस्तुका आश्रय किये बिना राग हो जाय तो उस रागका स्वरूप क्या? क्या हुआ वहा? रागमे तो किसी वस्तुविषयक स्नेह होता है और कोई वस्तु इसने उपयोगमे ली नही तो राग क्या हुआ? यावन्मात्र अध्यवसान होता है, वह पर पदार्थो का आश्रय करके होता है, इस कारण यह भ्रम न करना कि परवस्तुने मुझे बाधा है। परवस्तु तो मेरे बन्धनमे आश्रयभूत है, बन्धन तो मेरा मेरे परिणामसे है। अध्यवसान ही बन्धका कारण है। बाह्य वस्तु तो बन्धके कारणका कारण है।

अध्यवसानभाव मिथ्या हैं, क्योकि वे अर्थक्रियाकारी नही हैं, इसका दिग्दर्शन करें २६६ वी गाथाके एक प्रवचनांशमे–पृ० ११–परविषयक सर्वविकल्पोका मिथ्यापन–इस कारण मैं दूसरेको दु:खी करता हू, सुखी करता हू, बाधता हू, छुडाता हू, ऐसा सोचना मिथ्या है। जैसे कोई कहे कि मैं तो आज आकाशके फूल तोडूगा तो जैसे उसका यह कहना बावलापन लगता है इसी प्रकार यह भी बावलापन है कि मैं दूसरेको दुखी करता हू, सुखी करता हू, क्योकि परके लिए, ये परमे काम नही हो सकते हैं। जैसे कि आकाशसे फूल तोडनेके परिणाममे कोई अर्थक्रिया नही है इसी तरह दूसरेके दुखी सुखी करने की, बिगाडकी कोई अर्थक्रिया नही है। इस कारण यह विकल्प करना मिथ्या है।

२६८ वी गाथामे बताया है कि जीव अध्यवसानसे अपनेको देव, नारक, तिर्यंच, मनुष्य, पुण्य, पाप आदि नाना रूप कर लेता है। इसके एक प्रवचनांशमे बताया है कि जीवको अनुभव अपनी प्रतीतिकी पद्धतिके अनुसार होता है–पढिये पृ० २४–अध्यवसानके अनुभव–साधारणतया तो सभी जीव निरन्तर अपने आपके किसी न किसी विषयमे किसी न किसी अवस्थारूप मानते चले जा रहे हैं। तिर्यन्च हो, बैल हैं, घोडा, ये अपनेको उस ही रूपसे बराबर मानते हैं जैसे कि यह मनुष्य प्राय रात दिन यह बात अपने उपयोगमे बैठाये है कि मैं इन्सान हू। अरे यह जीव इन्सान है कहा? यह जीव तो चैतन्यस्वरूप मात्र है, भीतरी उपयोगकी दृष्टिमे बात की जा रही है। यह तो ज्ञानमात्र एक चैतन्यपदार्थ है। यदि यह इन्सान हो तो निरन्तर इसे इन्सान बने रहना चाहिए। मिट क्यो जाता है? ये पशु कहा हैं? यदि ये जीव पशु होते तो निरन्तर पशु ही बने रहते। यह जीवके असाधारण ज्ञानस्वभावकी ओर से बात कही जा रही है।

अध्यवसानोमे तो अंधेरा ही अन्धेरा है इसमे हितका मार्ग नही मिलता, इसका दिग्दर्शन करें २७० वी गाथाके एक प्रवचनांशमे–पृ० ४१–अध्यवसानोका अन्धकार–उन अध्यवसानोको तीन भागोमें विभक्त किया है। एक तो औपाधिक क्रियाओसे अपनेको भिन्न न मान सकना और दूसरे अपनी जो पर्यायें हुई उन पर्यायोसे अपनेको पृथक न समझ सकना, कुछ समाधानसहित ध्यानमे लाइये और तीसरी बात–जो जाननेमे आ रहा है, ऐसे पदार्थो से जिसके समय जो विकल्प हैं उस समय उन विकल्पोसे अपनेको जुदा न समझ सकना, ये तीन तरहके अंधेरे होते हैं, जिन अंधेरोमे रहकर अपने आपके स्वरूपमे स्थित जो कारण समयसार है, परमात्मतत्त्व हू? शुद्धस्वरूप है वह विदित नही हो सकता। यह गाथा बहुत गम्भीर है और अत्यन्त मर्ममे पहुचाने वाली है। मोक्षमार्ग जैसा शिवमय पानेके लिए हमे कितनी पैनी दृष्टि करके अपने सहज स्वरूपको निरखना है, यह इसमे बताया गया है।

२७१ वी गाथामे बन्ध और मोक्षकी मूल कुन्जी–एक प्रवचनांशमे पढिये–पृ० ६३–भैया, गत गाथाओमे यह प्रकरण चल रहा था कि मैं जिलाता हू, मैं मारता हू, दुखी सुखी करता हू, ऐसा जो लगाव है,

राग है, अध्यवसान है वे सबके सब बन्धके कारण हैं। और, मोक्षका कारण तो अपने ज्ञायकस्वरूपको, अपने स्वभावको जैसा कि वह अपने आपकी सत्ताके कारण है उस रूपमे निरखना और मैं यह हू-ऐसा दर्शन करनेके कारण जो परका आश्रय टूटता है और आत्माका आश्रय होता है यह है मोक्षका कारण। ऐसा जानकर हे मुनिजनो, निश्चयनयमे लीन होकर निर्वाणको प्राप्त करो। शुद्ध आत्मद्रव्यका दर्शन करना सो निश्चयका आलम्बन है और अपने आपके सत्से भिन्न अर्थात् किन्ही पर सत्का आश्रय करके भाव बनाना सो व्यवहारनय है।

देखिये व्यवहारनयकी करुणा २७७ वी गाथाके एक प्रवचनांशमे—पृ० ८४-व्यवहारकी करुणा—देखो भैया, निश्चयका स्थान देकर यह व्यवहार फिर हट जाता है। व्यवहार है प्रतिषेध्य, पर व्यवहार कितना उपकारी है कि व्यवहारका फलभूत जो निश्चय है उस निश्चयको उत्पन्न करके यह व्यवहार खुद मिट जाता है। ऐसा कोई दयालु है जो अपना विनाश करके दूसरेको जमा जाय ? वह व्यवहार ही ऐसा है कि अपना विनाश करके निश्चयको जमा जाता है, ऐसा निश्चय, दर्शन, ज्ञान, चारित्र जब उत्पन्न होता है तो व्यवहार हट जाता है और ऐसी अनुभवकी स्थिति तब होती है कि वहा मात्र अपना आत्मा ही दृष्ट होता है। जाननमे, श्रद्धानमे, स्पर्शनमे, रमणमे जो रहा करता है ऐसा निश्चयभूत जो रत्नत्रय है वह व्यवहारके रत्नत्रयका प्रतिपादक है। व्यवहार रत्नत्रय कार्यकारी है। जब तक निश्चय रत्नत्रय की प्राप्ति नही होती तब तक दृढता नही होता।

वस्तुके वास्तविक ज्ञाताके बन्ध नही होता, इसका सन्देश देखिये २७९ वी गाथाके एक प्रवचनांशमे—पृ० ९४-वस्तुविज्ञानीके बन्धका अभाव—इस जीवमे जो रागभाव आते है उनका निमित्त यह जीव स्वय नही है। उसके पर पदार्थोका सग निमित्त है। यह आत्मवस्तुका स्वभाव है कि प्रत्येक जीव अपनी ओर से ज्ञानरूप बनता है। परपदार्थोका सग होनेसे यह अज्ञानरूप बन जाया करता है। इस प्रकार वस्तुके स्वभावको अपने आपके स्वरूपको ज्ञानीजन जानते हैं, इस कारण ज्ञानी जनोके पूर्वभवोके बाधे हुए कर्मोके उदयसे रागादिक भाव भी आये तो भी अपनेको रागादिक रूप नही बनाते। सो वे रागादिकके कर्ता नही होते। देखो अपने आप रागद्वेष आये तो हम मानले कि ये रागद्वेष मेरे स्वरूप हैं, मेरे सम्बन्धी है, किन्तु ऐसा तो है ही नही। जो सबसे भिन्न केवल ज्ञानमात्र अपने स्वरूपको जानते है जीव रागादिकके करनेवाले नही हैं, वे कर्ता नही हैं। उनके कर्मोका बन्ध नही होता।

ज्ञानके बिना हित सभव ही नही, उस ज्ञानका प्रमुख उपाय एक स्वाध्याय है। सो जरा स्वाध्यायकी विधि २८० वी गाथाके एक प्रवचनांशमे पढिये-पृ० १०३-स्वाध्यायविधि-इस जीवको ससारकी आकुलताओसे बचानेमे समर्थ सम्यग्ज्ञान है। अनेक यत्न करके इस सम्यग्ज्ञानकी उपासना करो। जो ग्रन्थ अपनी समझमे आये उन ग्रन्थोका स्वाध्याय करो। जिस ग्रन्थका स्वाध्याय करो उसका ही स्वाध्याय करो जब तक कि ग्रन्थ पूर्ण न हो जाय। आज कोई ग्रन्थ उठा लिया, कल कोई ग्रथ उठा लिया, यह ज्ञान-वृद्धिका तरीका नही है। जिस ग्रन्थका स्वाध्याय शुरू करो उसीका स्वाध्याय अन्त तक करलो। उसके बाद कर्तव्य ना यह होना चाहिए कि वही ग्रन्थ दुबारा फिर पढ लो। एक बार पढ लेनेके बाद दुबारा पढनेसे सभी बात स्पष्ट समझमे आती रहती हैं। स्वाध्याय करनेके साथ ही दो नोटबुक रखनी चाहिए। एक नोटबुकमे जहा जो समझमे न आया उसे नोट कर लिया और एक नोटबुकमे जो बहुत ही आत्माको छूती है, जिससे शाति और सतोष मिलता है उस बातको नोट कर लिया। इसतरह से शुरूसे अन्त तक उसी ग्रन्थका स्वाध्याय कर लेनसे ज्ञानमे वृद्धि होती है।

(१४०) समयसार प्रवचन द्वादश भाग

६. पुस्तकमे समयसारकी २८८ वी गाथासे ३०७ गाथा तक के पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराजके प्रवचन हैं। २९० वी गाथाके एक प्रवचनांशमे उसका साधकतम है आत्मस्पर्श, पढिये–पृ० ६–मुक्तिका साधकतम आत्मस्पर्श–मोक्ष कैसे मिलता है इसका वर्णन चल रहा है। कोई लोग कहते हैं कि बन्धका स्वरूप जानलो, उसका ज्ञान होनेसे मोक्ष मिल जायगा। आचार्य देव कहते है कि बन्धका स्वरूप जानने मात्रसे मोक्ष नही मिल सकता है। किन्तु बन्धके दो टुकडे कर देनेपर अर्थात् आत्मा और कर्म ये दो किए जानेपर मोक्ष मिलता है, तो आत्मा और बन्धके दो टुकडे कैसे हो उसका उपाय है ज्ञान और ज्ञानकी स्थिरता। कितने ही लोग शास्त्रज्ञान बढा लेते है बढाना चाहिए, पर उन्हे मात्र शास्त्रके ज्ञानमे ही सतोष हो जाता है। कर्मो की बहुतसी बाते जानले, कर्म ८ तरहके है उनके १४८ भेद हैं, उन मे इस तरह वर्ग हैं, वर्गणा हैं निषेक है, स्पर्धक है, उनकी निर्जराका भी ज्ञान कर लिया, कि इन गुण–स्थानोमे इस तरह निर्जरा होती है। ऐसा वर्णन करनेके कारण उन्हे मोक्षका मार्ग मिल जाय सो नही होता है। ज्ञान करना ठीक है पर उसके साथ भेदविज्ञानके बलसे आत्माका स्पर्श हो सके तो उन्हे मोक्षका मार्ग व मोक्ष मिलता है।

बन्धविच्छेदका उपाय नही बना पाते हैं उनका एक प्रतिबोधन २९१ वी गाथाके एक प्रवचनांशमे पढ़िये–पृ० १२–धर्मध्यानांधबुद्धिता–बन्ध कैसे छूटे, रागादिक कैसे मिटें ऐसे बन्धके चिन्तनसे मोक्ष नही होता है। कर्मबद्ध जीव बन्धका चिन्तन करे अथवा उपायविचयनामक धर्मध्यान करे, अथवा ये रागादिक कैसे दूर हो, यह भावजगत कैसे दूर हो, जन्म मरण कैसे मिटें, नाना धर्मध्यानरूप चिन्तन भी चले तो भी इस धर्मध्यानमे हो जिनकी बुद्धि अन्ध हो गई है, धर्मध्यान अच्छी चीज है, मगर इससे आगे हमारी कुछ करतव्यता है यह बोध जिनके नही है विशुद्ध, मात्र, केवल, सिर्फ धर्मध्यान, उस ही मे जो अटक गये हैं, ऐसे जीवोको समझाया गया है कि कर्म बन्धके विषयमे चिन्ता करने रूप परिणामसे भी मोक्ष नही होता है। जैसे कोई बेडीसे बधा हुआ पुरुष है और वह बेडीके विषयमे चिन्ता करे कि बेडी छूट जाय तो ऐसी चिन्ता करने मात्रसे बेडी नही छूट जाती। इसी तरह अपने आपके बन्धनके सम्बन्धमे चिन्ता करें, कब छूटे कैसे छूटे तो इतना मात्र चिन्तन करनेसे बन्धन नही छूट पाता है। वह तो बन्धन के छेदने भेदने काटनेसे ही छूट सकता है और बन्धच्छेदका उपाय है आत्मस्पर्श।

परतत्रदशामे भी स्वरूपस्वातन्त्र्यदृष्टिके स्वादका वृतान्त। २९२वी गाथाके एक प्रवचनांशमे देखिये–पृ० १७–पारतन्त्र्य स्थितिमे स्वातन्त्र्य दृष्टिके स्वादकी शक्यता–होलीके दिनोमे आदमियोको विचित्र रगोसे रग देते है, आधा मुह काला कर दिया, आधा नीला कर दिया, ऊपरसे लाल कर दिया, पहिचानमे नही आता, ऐसा सूरत बना देते हैं, पर यदि मिठाई खावे तो उसे स्वाद आयगा कि नही आयगा ? मिठाई का स्वाद उसे आयगा ही। बाहरसे देखनेमे तो यह जीव गन्दे वातावरणमे है, परतन्त्र है, पर भीतरसे यह अपने लक्ष्यको अपने स्वरूपसे ले जाय तो उसे ज्ञानका स्वाद मिल सकता है कि नही ? मिल सकता है। तो ज्ञानमात्र आत्मतत्त्वको लक्ष्यमे लेनेसे परतत्र अवस्था दूर होती है। ससारसे छुटकारा पानेका यही उपाय है।

बन्धविच्छेदसे मुक्ति होती है, यह इस अधिकारमे मुख्य विषय है, तो बन्धच्छेद किस साधनमे होता है, उसका समाधान २९४ वी गाथामे है। उससे सम्बन्धित एक प्रवचनांश देखिये–जिसमे बताया है कि प्रज्ञासे ही बन्धका छेद है फिर प्रज्ञासे ही उपादेयका ग्रहण है, पढिये–पृ० २०–प्रज्ञा द्वारा भेदन और उपादेयका

उपादान–प्रज्ञाके दोनो काम है जुदा–जुदा कर देना और उनमे से जो अपना उपादेय तत्त्व है उसको ग्रहण कर लेना। जैसे चावल सोधते है तो सोधने वालेको यह ज्ञान रहता है कि यह तो चावल है और इसके अलावा जो कुछ भी है वह सब गैर चावल है। कीडा हो, धानकी छिलको हो या और भी अनाज हो, घासका दाना हो वह सब गैर चावल है, तो उसे यह ज्ञान है कि यह चावल है और ये सब गैर चावल हैं तब वह गैर चावलोको अलग करता है और चावलको ग्रहण करता है। इसीतरह अपने आपके आत्मामे जैसा यह ज्ञात है कि चैतन्यचमत्कारभाव तो मैं आत्मा हू और बाकी रागादिक विकार अनात्मा हैं, पर चीज है तब उनपर तत्त्वोको छोडकर अपने चैतन्य स्वभावमात्र आत्माको ग्रहण करता है।

अपना दिल किसको समर्पित कर दिया जाना चाहिए, इसका समाधान पाइये इस प्रवचनांशमे पृ० ३५–समर्पण–भैया, अपना दिल समर्पण करो तो केवल एक निज ज्ञायकस्वरूपको समर्पण करो और इसके ही समर्पणके हेतु पचपरमेष्ठी भगवानको अपना मन समर्पण करो। अपना मन बेच दो, लगावो, सौपो तो केवल दो ही स्थानोको–पचपरमेष्ठीको या आत्मस्वरूपको। तीसरी कौन सी चीज है जिसको अपना दिल दिया जाय ? अपना उपयोग सौपा जाय ? और जिन जगतके जीवोको दिल दिया जा रहा है तो समझो कि यह मेरे करनेका काम नही है। यह तो कर्मो के उदयके डडे लग रहे हैं। सो सर्व यत्न पूर्वक अपने आपके आत्मज्ञानकी ओर आये और इस ही विधिसे बढ़नेका यत्न करे, ये सारी चीजे तो अपने आप छूटेगी।

किसका आलम्बन करनेमे हित है इसका समाधान पाइये इस प्रवचनांशमे–पृ० ३७–निजसहजस्वरूपका आलम्बन–इस अध्यात्मयोगके प्रकरणमे यह बात चल रही है कि हम कैसे शुद्ध स्वरूपका आलम्बन करे कि हमे मुक्तिका मार्ग मिले। जो अत्यन्त शुद्ध है ऐसा प्रभु, उनका हम आश्रय कभी कर ही नही सकते। हमारे आश्रय किये जानेवाले गुण परिणमनका विषय तो प्रभु बन गया है, पर आश्रय नही किया जा सकता, क्योकि प्रत्येक वस्तुका सत्त्व जुदा है। एक पदार्थ किसी दूसरे पदार्थका आलम्बन नही कर सकता, स्वरूप ग्रहण नही कर सकता, तब निज सहजस्वरूपका आलम्बन ही हित है।

भगवान और भगवतीका परिचय कीजिये २९८ वी गाथाके इस प्रवचनांशमे–पृ० ७१–भगवान आत्मा और भगवती प्रज्ञा मो कल्पना से यह जीव देवी देवताओको कुछ न कुछ रूपमे मान लेता है, किन्तु वे सब इस भगवती प्रज्ञाके रूप है। भगवती माया है भगवान आत्माकी शुद्धपरिणति। कही मास्टर मास्टरनी की तरह, बाबू बबुआनी की तरह भगवान और भगवती नही होते। भगवान तो एक शुद्ध ज्ञानका नाम है और शुद्ध ज्ञानकी जो वृत्ति जगती है उसका नाम है भगवती। लोग कहते है कि भगवानकी स्त्री आधे अगमे है। जिसका आधा अग तो पुरुष है और भगवती स्त्री आधे अगमे है, और चित्र भी ऐसा बना लेते है कि दाहिना अग तो पुरुषका जैसा आता। पुरुष जैसा एक पैर, पुरुष जैसा आधा पेट, व वक्षस्थल और आधे अगमे एक टाग स्त्री जैसी आधा पेट, वक्षस्थल आदि स्त्री जैसी। अर्द्धांगकी कल्पना है। अरे भगवानकी परिणति भगवती अर्द्धांगमे नही रहती है किन्तु सर्वांगमे रहती है। जितने मे भगवान है उन सब प्रदेशोमे यह प्रज्ञा भगवती है।

सब दोष अपराध सकट जिस दृष्टि द्वारा दूर हो जाते है उस दोषनिवारिणी दृष्टिका अध्ययन करें ३०५ वीं गाथाके इस प्रवचनांशमे, पृ० १०५–दोषनिवारिणी दृष्टि–इस प्रकरणमे बात चल रही है कि जो जीव अपने सहज शुद्ध चेतन्य स्वभावकी दृष्टि रखता है, चैतन्यमात्र मैं हू और ऐसा ही जाननेमे उपयोगी रहता है वह तो है निरपराध आत्मा और जो अपने स्वरूपमे अपनेको न लखकर बाह्य परिणमनो रूप अपनेको

(१४०) समयसार प्रवचन द्वादश भाग

इस पुस्तकमे समयसारकी २८८ वी गाथासे ३०७ गाथा तक के पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराजके प्रवचन हैं। २९० वी गाथाके एक प्रवचनांशमे उसका साधकतम है आत्मस्पर्श, पढिये–पृ० ६–मुक्तिका साधकतम आत्मस्पर्श–मोक्ष कैसे मिलता है इसका वर्णन चल रहा है। कोई लोग कहते हैं कि बन्धका स्वरूप जानलो, उसका ज्ञान होनेसे मोक्ष मिल जायगा। आचार्य देव कहते है कि बन्धका स्वरूप जानने मात्रसे मोक्ष नही मिल सकता है। किन्तु बन्धके दो टुकडे कर देनेपर अर्थात् आत्मा और कर्म ये दो किए जानेपर मोक्ष मिलता है, तो आत्मा और बन्धके दो टुकडे कैसे हो उसका उपाय है ज्ञान और ज्ञानकी स्थिरता। कितने ही लोग शास्त्रज्ञान बढा लेते है बढाना चाहिए, पर उन्हे मात्र शास्त्रके ज्ञानमे ही सतोष हो जाता है। कर्मो की बहुतसी बाते जानले, कर्म ८ तरहके है उनके १४८ भेद है, उन मे इस तरह वर्ग हैं वर्गणा है निषेक है, स्पर्धक है, उनकी निर्जराका भी ज्ञान कर लिया, कि इन गुण–स्थानोमे इस तरह निर्जरा होती है। ऐसा वर्णन करनेके कारण उन्हे मोक्षका मार्ग मिल जाय सो नही होता है। ज्ञान करना ठीक है पर उसके साथ भेदविज्ञानके बलसे आत्माका स्पर्श हो सके तो उन्हे मोक्षका मार्ग व मोक्ष मिलता है।

बन्धविच्छेदका उपाय नही बना पाते हैं उनका एक प्रतिबोधन २९१ वी गाथाके एक प्रवचनांशमे पढिये–पृ० १२–धर्मध्यानान्धबुद्धिता–बन्ध कैसे छूटे, रागादिक कैसे मिटें ऐसे बन्धके चिन्तनसे मोक्ष नही होता है। कर्मबद्ध जीव बन्धका चिन्तन करे अथवा उपायविचयनामक धर्मध्यान करे, अथवा ये रागादिक कैसे दूर हो, यह भावजगत कैसे दूर हो, जन्म मरण कैसे मिटे, नाना धर्मध्यानरूप चिन्तन भी चले तो भी इस धर्मध्यानमे ही जिनकी वुद्धि अन्ध हो गई है, धर्मध्यान अच्छी चोज है, मगर इससे आगे हमारी कुछ करतव्यता है यह बोध जिनके नही है विशुद्ध, मात्र, केवल, सिर्फ धर्मध्यान, उस ही मे जो अटक गये हैं ऐसे जीवोको समझाया गया है कि कर्म बन्धके विषयमे चिन्ता करने रूप परिणामसे भी मोक्ष नही होता है। जैसे कोई बेडीसे बधा हुआ पुरुष है और वह बेडीके विषयमे चिन्ता करे कि बेडी छूट जाय तो ऐसी चिन्ता करने मात्रसे बेडी नही छूट जाती। इसी तरह अपने आपके बन्धनके सम्बन्धमे चिन्ता करें, कब छूटे कैसे छूटे तो इतना मात्र चिन्तन करनेसे बन्धन नही छूट पाता है। वह तो बन्धन के छेदने भेदने काटनेसे ही छूट सकता है और बन्धच्छेदका उपाय है आत्मस्पर्श।

परतन्त्रदशामे भी स्वरूपस्वातन्त्र्यदृष्टिके स्वादका वृत्तान्त। २९२वी गाथाके एक प्रवचनांशमे देखिये–पृ० १७–पारतन्त्र्य स्थितिमे स्वातन्त्र्य दृष्टिके स्वादकी शक्यता–होलीके दिनोमे आदमियोको विचित्र रगोसे रग देते है, आधा मुह काला कर दिया, आधा नीला कर दिया, ऊपरसे लाल कर दिया, पहिचानमे नही आता, ऐसा सूरत बना देते हैं, पर यदि मिठाई खावे तो उसे स्वाद आयगा कि नही आयगा ? मिठाई का स्वाद उसे आयगा ही। बाहरसे देखनेमे तो यह जीव गन्दे वातावरणमे है, परतन्त्र है, पर भीतरसे यह अपने लक्ष्यको अपने स्वरूपमे ले जाय तो उसे ज्ञानका स्वाद मिल सकता है कि नही ? मिल सकता है। तो ज्ञानमात्र आत्मतत्त्वको लक्ष्यमे लेनेसे परतन्त्र अवस्था दूर होती है। ससारसे छुटकारा पानेका यही उपाय है।

बन्धविच्छेदसे मुक्ति होती है, यह इस अधिकारमे मुख्य विषय है, तो बन्धच्छेद किस साधनसे होता है, उसका समाधान २९४ वी गाथामे है। उससे सम्बन्धित एक प्रवचनांश देखिये–जिसमे बताया है कि प्रज्ञासे ही बन्धका छेद है फिर प्रज्ञासे ही उपादेयका ग्रहण है, पढिये–पृ० २०–प्रज्ञा द्वारा भेदन और उपादेयता

उपादान—प्रज्ञाके दोनो काम है जुदा—जुदा कर देना और उनमें से जो अपना उपादेय तत्त्व है उसको ग्रहण कर लेना। जैसे चावल सोधते हैं तो सोधने वालेको यह ज्ञान रहता है कि यह तो चावल है और इसके अलावा जो कुछ भी है वह सब गैर चावल है। कंकड़ हो, धानकी छिलको हो या और भी अनाज हो, धानका दाना हो वह सब गैर चावल है, तो उसे यह ज्ञान है कि यह चावल है और ये सब गैर चावल है तब वह गैर चावलोंको अलग करता है और चावलको ग्रहण करता है। इसीतरह अपने आपके आत्मामें जैसा यह ज्ञान है कि चैतन्यचमत्कारभाव तो मैं आत्मा हू और बाकी रागादिक विकार अनात्मा हैं, पर चीज हैं तब उनपर तत्त्वोंको छोडकर अपने चैतन्य स्वभावमात्र आत्माको ग्रहण करता है।

अपना दिल किसको समर्पित कर दिया जाना चाहिए, इसका समाधान पाइये इस प्रवचनांशमें पृ० ३५—समर्पण—भैया, अपना दिल समर्पण करो तो केवल एक निज ज्ञायकस्वरूपको समर्पण करो और इसके ही समर्पणके हेतु पचपरमेष्ठी भगवानको अपना मन समर्पण करो। अपना मन बेच दो, लगावो, सोंपो तो केवल दो ही स्थानोंको—पचपरमेष्ठीको या आत्मस्वरूपको। तीसरी कौन सी चीज है जिसको अपना दिल दिया जाय ? अपना उपयोग सौंपा जाय ? और जिन जगतके जीवोंको दिल दिया जा रहा है तो समझो कि यह मेरे करनेका काम नहीं है। यह तो कर्मों के उदयके डडे लग रहे है। सो सर्व यत्न पूर्वक अपने आपके आत्मज्ञानकी ओर आये और इन ही विधिसे बढ़नका यत्न करे, ये सारी चीजें तो अपने आप छूटेंगी।

किसका आलम्बन करनेमें हित है इसका समाधान पाइये इस प्रवचनांशमें—पृ० ३७—निजसहजस्वरूपका आलम्बन—इस अध्यात्मयोगके प्रकरणमें यह बात चल रही है कि हम कैसे शुद्ध स्वरूपका आलम्बन करें कि हमे मुक्तिका मार्ग मिले। जो अत्यन्त शुद्ध है ऐसा प्रभु, उनका हम आश्रय कभी कर ही नहीं सकते। हमारे आश्रय किये जानेवाले गुण परिणमनका विषय तो प्रभु बन गया है पर आश्रय नहीं किया जा सकता, क्योंकि प्रत्येक वस्तुका सत्त्व जुदा है। एक पदार्थ किसी दूसरे पदार्थका आलम्बन नहीं कर सकता, स्वरूप ग्रहण नहीं कर सकता, तब निज सहजस्वरूपका आलम्बन ही हित है।

भगवान और भगवतीका परिचय कीजिये २ ८ वीं गाथाके इस प्रवचनांशमें—पृ० ७१—भगवान आत्मा और भगवती प्रज्ञा—लोग कल्पना से यह जीव देवी देवताओंको कुछ न कुछ रूपमें मान लेता है, किन्तु ये सब इस भगवती प्रज्ञाके रूप है। भगवती मायने इस भगवान आत्माकी शुद्धपरिणति। कहीं मास्टर मास्टरनी की तरह, बाबू बबुआनी की तरह भगवान और भगवती नहीं होते। भगवान तो एक शुद्ध ज्ञानका नाम है और शुद्ध ज्ञानको जो वृत्ति जगती है उसका नाम है भगवती। लोग कहते हैं कि भगवानकी स्त्री आधे अगमें है। जिसका आधा अग तो पुरुष है और भगवती स्त्री आधा अग है, और चित्र भी ऐसा बना देते है कि दाहिना अग तो पुरुषका जैसा आवे। पुरुष जैसा एक पैर, पुरुष जैसा आधा पेट व वक्षस्थल और आधे अगमें एक टाग स्त्री जैसी आधा पेट, वक्षस्थल आदि स्त्री जैसा। अर्द्धांगिनी कहलाता है। अरे भगवानकी परिणति भगवती अर्द्धागमें नहीं रहती है किन्तु सर्वागमें रहती है। जितने में भगवान है उन सब प्रदेशोंमें यह प्रज्ञा भगवती है।

सब पाप अपराध जिस दृष्टि द्वारा दूर हो जाते है उस दोषनिवारणी दृष्टिका अध्ययन कर ३०४ वीं गाथाके इस प्रवचनांशमें, पृ० १०५—दोषनिवारिणी दृष्टि—इस प्रकरणमें बात चल रही है कि जो जीव अपने सहज शुद्ध चैतन्य स्वभावकी दृष्टि रखता है, चैतन्यमात्र मैं हू और ऐसा ही जाननमें उपयोगी रहता है वह तो है निरपराध आत्मा और जो अपने स्वरूपमें अपनेको न लखकर बाह्य परिणमनों रूप अपनेको

तक रहा है कि मैं पुरुष हू, मैं स्त्री हू, मैं अमुक जातिका हू, अमुक कुलका हू, अमुक पोजीशनका हू आदिक रूपमे जो अपनेको देखता है वह अपराधी है। जो अपराधी होता है वह कर्मोको बाधता है, जो निरपराध होता है वह कर्मो से नही बधता। इस प्रकरणसे शिक्षा यह मिलती है कि धर्मके लिए, सतोषके लिए, सकटोसे छूटनेके लिए अपना जो वास्तविक अपने अस्तित्वके कारण जैसा हू उसी रूप अपनेको लखते रहे, इससे सर्व दोष दूर हो जायेगे।

३०६ वी गाथामे बताया है कि प्रतिक्रमण आदि विषकुम्भ है और ३०७ वी गाथामे बताया है कि अप्रतिक्रमण आदि अमृतकुम्भ है, इनके प्रवचनोमे यह प्रकाश डाला गया है कि अज्ञानी जनोका अप्रतिक्रमण तो विषकुम्भ है ही, किन्तु द्रव्यप्रतिक्रमण भी शुद्धोपयोगके मुकाबलेमे देखो तो विषकुम्भ है, इन दोनो स्थितियोसे उत्कृष्ट जो अप्रतिक्रमण है वह अमृतकुम्भ है। इस प्रकरणको सुगमतया समझनेके लिए एक प्रवचनाशमे इन तीनोके नाम जैसे बताये हैं सो पढिये–पृ० १८७–

सुबोधके लिए नामान्तर–तीन दशाये होती है–अप्रतिक्रमण, प्रतिक्रमण और अप्रतिक्रमण। अच्छा यो न बोलो–यो कहो पहिला अप्रतिक्रमण, दूसरा व्यवहारप्रतिक्रमण और तीसरा निश्चयप्रतिक्रमण। यह भाषा मर्म समझनेमे शुद्ध रहेगी। ज्ञानी जनोके वर्णनमे तो ज्ञानात्मक ढगका वही वर्णन था अप्रतिक्रमण, प्रतिक्रमण और अप्रतिक्रमण। पर सुबोधके लिए इस प्रकार रखिये अप्रतिक्रमण, व्यवहारप्रतिक्रमण और निश्चयप्रतिक्रमण। अर्थ खुलासा बतायेगे इसलिए इस अनुत्साहमे न बैठे कि क्या कहा जा रहा है, यह तो ऊची चर्चा है। चित्त देनेसे सब समझमे आता है और चित्त न देनेसे दाल रोटी बनानेका तरकीब भी समझमे नही आती।

(१४१) समयसार प्रवचन त्रयो श भाग

इस पुस्तकमे समयसार ग्रन्थकी ३०८ वी गाथासे ३२७ वी गाथा तक के पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराजके प्रवचन है। सर्वविशुद्ध ज्ञानाधिकारी आदि गाथाओमे सर्वविशुद्धता व स्वतन्त्रताका दर्शन कराया है। उन प्रवचनोमे से एक यह प्रवचनांश पढिये-पृ० ३०–स्वतन्त्रता सत्तासिद्ध अधिकार- यहा सर्व-विशुद्ध भावको दिखाया जा रहा है और सबसे न्यारा केवल सत्त्वमात्र स्वरूपको दृष्टि की जा रही है। इस दृष्टिमे इस जीवमे केवल जीव ही जीव नजर आते हैं। ऐसा है वस्तुका स्वातत्र्य सिद्धान्त। भारत की आजादीके लिए सबसे पहिला नारा था तिलकका, और भी हो तो हम नही जानते। तो प्रथम नारा यह हुआ कि आजादी हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है। जब हम भी मनुष्य हैं और अग्रेजो, तुम भी मनुष्य हो और मनुष्योंका आजाद रहना उनका जन्मसिद्ध अधिकार है तो परिस्थितिया भले ही बन जाया करती हैं, पर मनुष्य क्या गुलाम रहनेके लिए पैदा होता है? उसे तो आजाद रहनेका जन्मसिद्ध अधिकार है। जैनसिद्धान्त इससे बढकर बतलाता है कि वस्तुकी आजादी होना सत्तासिद्ध अधिकार है। जन्मकी बात तो जाने दो, वह तो ४०–५० वष पहिले हुआ, पर हमारा आपका आजाद रहना तो सत्तासिद्ध अधिकार है कि हम आप स्वतन्त्र हो।

स्वतन्त्र परिणमनका एक चित्रण, गाथा ३१३ का एक प्रवचनाश पढिये–पृ० ५८–स्वतन्त्र परिणमन–भैया, जीव जो करेगा सो अपना कार्य करेगा। कर्मो मे जो परिणमन होगा सो उसका अपना होगा, पर उन दोनोमे परस्पर निमित्त नैमित्तिक भाव है। जैसे मोटे रूपमे अभीका दृष्टान्त लो–आपने पूजा वालो को टोका तो वे और जोरसे बोलने लगे। और, पूजा वाले जोरसे बोलने लगे तो आपमे और रोष आने लगा। इस मामलेमे आपका उनको कुछ नही किया, आप अपनेमे ही कल्पनायें बनाकर हाथ पैर

पीटकर बैठगये औरपूजकोका आपने कुछनही किया, वे भी अपनी शान समझकर अपनी कल्पनासे अपने आप जोरसे चिल्लाने लगे। हम आप अपने परिणमनसे अपनी चेष्टा करने लगे, वे अपने परिणमनसे अपनी चेष्टा करने लगे। ऐसा ी सब जगह हो रहा है। घरमे भी ऐसा ही होता है। एक पदार्थ दू।रे पदार्थका कुछ भी परिणमन कर सकनेमे समथ नही है पर निमित्त नैमित्तिक भावका खण्डन भी नही किया जा सकता। न हो निमित्तनैमित्तिक भाव तो बतलावो यह सारा समार कहासे आ गया ? कैसे हो गया ?

अज्ञानमे किसका आदर होना है और ज्ञानमे किसका आदर होता है—देखिये ३१५ वी गाथाका एक प्रवचनाश—पृ० ६३—अज्ञान और ज्ञानमें आदरका विषय-भैया, अज्ञान दशामे विकल्पोका आदर था चेतन अचेतन सबका आदर था, परन्तु ज्यो ही उसके निर्विकल्प अवस्थामे हितकी बुद्धि प्रकट हुई और निःशक अत्यन्त एकाकी स्वरूपमे रहनेका भाव हुआ, अब वह अपने स्वरूपमे समानेकी धुनमे लग गया है तो जब तक यह जीव अज्ञानी रहता है तब तक तो यह कर्ता कर्मभाव समाप्त हो जाता है और जैसे कर्तापन जीवका स्वभाव नही था, पर अज्ञानसे कर्मका कर्ता बन गया, इसी तरह भोक्तापन भी जीवका स्वभाव नही था किन्तु अज्ञानसे यह कर्मफलका भोक्ता बन रहा है। अज्ञान न रहे तो यह स्वरस भोक्ता होकर अपने अनन्त आनन्दमे मग्न हो जायगा। बस, दो ही तो निर्णय हैं—एक ज्ञानका विलास और एक अज्ञानका विलास।

व्यवहारनयसे हम क्या शिक्षा प्राप्त कर सकते हैं, देखिये एक प्रवचनाश—पृ० ७३—व्यवहारनयसे शिक्षा—व्यवहारनयने यह बताया कि ये रागद्वेष भाव पुद्गलका निमित्त पाकर उठे है। इनसे हमे क्या शिक्षा लेनी है कि ये मेरे स्वभावसे नही उठे हैं। मेरा स्वभाव तो शुद्ध ज्ञानस्वरूप है। इस शुद्ध ज्ञानस्वरूपका आलम्बन करानेके लिए व्यवहारनयका उद्गमन हुआ है। कुनयके परिज्ञान तकसे हम किसी प्रकार कल्याणमार्ग पर जा सकते हैं और कुनयको यदि हम सुनय समझले तो मेरी फिर दृष्टिमे कुनय है ही नही, फिर उस दृष्टिसे हितमार्गमें नही जा सकते हैं।

आनन्दविघातका कारण तो कषायका भार है, इस विषयका एक चित्रण ३१६ वी गाथाके एक प्रवचनाशमे देखिये—पृ० ७६—आनन्दविघातका हेतु कषायका भार—जैसे तीन मेढक हो और एक के ऊपर एक चढे हुए हो, चढ जाते हैं ना मेढक एक के ऊपर एक ? तो उन तीनो मेढकोमे सुखी कौन है ? ऊपरका मेढक, और वह कहता है कि—हेच न गम, मुझे कोई परवाह नही, अच्छे कोमल गद्दे पर बैठे हैं, तो बीचका बोलता है कुछ कुछ कम। पूरा आनन्द तो नही है मगर एक ऊपर चढा हुआ है, मेरी इसलिए कुछ कुछ कम चैन है। है थोडी थोडी जरूर, पर नीचेका कहता है कि मरे तो हम। नीचे ककडो पर पडा है, जमीन पर पडा है और ऊपरसे बोझ लदा है, सो ऐसी तीन तरह की परिस्थितिया होती हैं जो अशुद्ध को जाने ही नही क्या मतलब ? दृष्टि ही नही देता है उसको—हेच न गम, और एक अशुद्धमे पड गया, परन्तु उससे हटा हुआ रहता है, वह कहता है कुछ कुछ कम। और, जो अज्ञानी बोझसे लदा हुआ है, परको अह रूपसे अनुभवता है उसकी दशा है मरे तो हम जैसा।

ज्ञानकलाका प्रताप देखिये एक प्रवचनाशमे-पृ० ८८—मैं ज्ञानमात्र हू, और कुछ हू ही नही, बाहरी परिग्रह छिदजायें, भिदजायेकही जीवविलयको प्राप्तहो, वह तो मेरा कुछही नही, उसका परिग्रहनही है, ऐसा निर्णय रखनेवाला जो ज्ञानी पुरुष अपनेको अपनेमे ले जाय तो सारे दुःख सकट ये उसके एक साथ समाप्त हो जाते हैं। उनमे यह क्रम भी नही होता कि पहिले अमुक दुःख मिटेगा। एक इस कलाका अभ्यासी अपनेको बनाना यही एक काम करना है। बाहरी बातोको उदर पर छोडिये क्योकि जब

मानो हुए भी [illegible] बाहरमें [illegible] राग होता नहीं है तो उस रागके पीछे क्यों पड़ा जाय, उसे छोड़ो [illegible] जो काम स्वाधीन है, आत्महितके कामोंकी ओर दृष्टि दीजिये।

अज्ञानवश ही परपदार्थोंका व रागादिक भावोंका कर्ता आत्मा बनता है, ऐसा न मानकर जो आत्माको ही रागादिका [illegible] कर्ता मानते हैं वे उन्हीं [illegible] के समान हैं जो प्राणियोंका कर्ता ईश्वरको मानते हैं, इस सिद्धान्तका विवरण देखिये ३२३ वीं गाथाके एक प्रवचनांशमें—पृ० १०१—कर्तृत्वव्यामोहकी समानता—देखो, लौकिक पुरुषोंने तो परमात्माको कर्ता माना है इस सबकी अवस्थाओंका। सो वह कर्ता है तो नित्य कर्ता कहलाया, और यहां श्रमणजनोंने भी अपने आत्माको नित्य कर्ता माना है। तो लौकिक पुरुषोंके व इन लोकोत्तर श्रमणोंके भी मोक्ष नहीं होता है। परद्रव्यमें और आत्मतत्त्वमें रंच मात्र भी सम्बन्ध नहीं है, पर मोहका नशा ऐसा चढ़ा हुआ है जगतके जीवोंपर कि चित्तसे हटता ही नहीं है। मेरे भाई है, मेरा परिवार है, मेरा धन है, मेरा शरीर है और तो बातें जाने दो, मेरी बात है, मेरी बात नहीं मानी गयी, अब हो गये बीमार। दुःखी हो गये, कष्टमें आ गये, अरे तेरी तो कुछ बात भी नहीं है। तेरा तो निरन्तर चैतन्यस्वरूप है। अहो कैसा नशा है बातका, मोहका। बातके पीछे लोग अपना घर भी बरबाद कर देते है।

देखिये व्यवहार भाषाका क्या प्रयोजन है और उसका व्यवहार किस प्रकार होता है पढ़िये-गाथा ३२४ का एक प्रवचनांश—व्यवहारभाषाके व्यवहार और उसके प्रयोजन—जैसे धर्मशालामें आप दो दिनको ठहर जाय और जिस कमरेमें ठहरे तो आप लोगोंमें कहते हैं कि चलो हमारे कमरेमें, चलो हमारी धर्मशाला में। लो, अब वह आपका कमरा हो गया। तो क्या ज्ञानमें यह बात है कि मेरा कमरा है? नहीं है। और, व्यवहारभाषामें यह बात बोल रहे हैं कि यह मेरा कमरा है। घी का डिब्बा। क्या आपके ज्ञानमें भी यह बात बसी है कि घी से रचा हुआ यह डिब्बा है? नहीं। आप जानते हैं कि यह टीनका डिब्बा है और इसमें घी रखा है। जिस लोटेसे आप टट्टी जाया करते है-आप बोलते हैं कि यह टट्टीका लोटा है, यह पीनेका लोटा है, यह चौकेका लोटा है। आपके ज्ञानमें क्या यह रहता है कि यह टट्टीका लोटा है? नहीं आप तो जानते है कि यह पीतलका लोटा है, इसको संडासमें ले जाया जाता है, इसलिए इसका नाम टट्टीका लोटा है। अब जल्दी जल्दीमें क्या बोलें? क्या यह बोलें कि देखो जिस लोटेके आधारमें पानीको लेकर संडासमें जाया जाता है वह लोटा दो। क्या कोई इतना बड़ा वाक्य बोलता है? नहीं। तो व्यवहारभाषा किसी मर्मको संक्षेप करनेके लिए होती है और निश्चयका ज्ञान उससे भी अति संक्षेपको लिए हुए होता है।

निश्चयतः राग अपनी परिणतिमें होता है बाहर नहीं, इस तथ्यका चित्रण देखिये—३२६ वीं गाथाके एक प्रवचनांशमें—पृ० १३३—बेटाकी त्रितयता—बेटे भी तीन हैं जिसके तीन बेटे हों उनकी नहीं कह रहे हैं (हंसी)। शब्दबेटा, अर्थबेटा और ज्ञानबेटा। एक कागज पर लिख दें-बे और टा और आपसे कहे कि यह क्या है? आप कहेंगे बेटा। जैसे एक कागज पर लिख दिया कि हम मूरख हैं, पढ़े नहीं हैं और ७-८ क्लास वाले लड़कोंसे पढ़ावें कि पढ़ो इसे पढ़ना है- तो वह पढ़ता है कि हम मूरख हैं, पढ़े नहीं हैं। —अरे तो पढ़ तो। —हम मूरख है पढ़े नहीं हैं। अरे भाई पढ़ा तो वही जो लिखा है। तो शब्दबेटा तो आपके काममें नहीं आ सकता। बूढ़े हो जाय तो लाठी पकड़कर ले जाय, यह काम तो शब्दबेटा न कर सकेगा। प्यास लगी हो तो गिलास ले आये पानी पिला दे, यह काम शब्दबेटा नहीं कर सकता और अर्थ बेटा, मायने जिसके दो टांग है, जो घरमें रहता है या यहां बैठा है वह है अर्थ-बेटा। मायने पदार्थभूत। सो वह अर्थ-बेटा भी आपसे अत्यन्त जुदा है। उसके परिणमनसे आपमें कुछ नहीं होता

है। ज्ञानवेटा क्या ? उस वेटाके सम्बन्धमे जो आपका विकल्प बन रहा है वह विकल्प है ज्ञानवेटा। आप राग कर रहे हो तो ज्ञानवेटामे कर रहे हो, न अर्थ–वेटामे राग करते हो, न शब्दवेटामे राग करते हो।

(१४२) समयसार प्रवचन चतुर्दशतम भाग

इस पुस्तकमे समयसार ग्रन्थकी ३२८ वी गाथासे ३७१ वी गाथा तकके पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराजके प्रवचन है। सर्वविशुद्ध अधिकारमे यह बताया गया है कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्यमे कुछ भी गुणत्पाद नही करता, निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध होता अन्य बात है। इनका सकेत करनेवाला ३२८ वी गाथाका एक प्रवचनाश देखिये–पृ० ४–प्रभाव, प्रभावक व निमित्तका विश्लेषण–भैया, इस प्रकार प्रत्येक उपादान विभावरूप बनाता है तो किसीपर द्रव्यका निमित्त पाकर ही बना पाता है। वह प्रभाव निमित्तभूत वस्तुका नहीं है किन्तु वह उपादानका ही है। इस कारण यह जीव अपने सम्यक्त्व परिणमनसे च्युत होकर जो मिथ्यात्वरूप परिणमन करता है उस मिथ्यात्व परिणमनमे प्रभाव उस ही परिणमने वालेका है। मिथ्यात्व नामक प्रकृतिके उदयका निमित्त पाकर वह प्रभाव बना है। अत स्वरूपदृष्टिसे देखो तो आत्मा और कर्ममे सम्बन्ध नही है, फिर भी निमित्त नैमित्तिक भावका सम्बन्ध है, निमित्त नैमित्तिक अत्यन्ताभाव वाले पदार्थमे होता है। और, जहा एक द्रव्यमे भी एक गुणके परिणमनका निमित्त पाकर अन्य गुणमे परिणमन होता है, भेददृष्टिसे कथन होता है, जैसे कि आत्मामे इच्छा परिणमनका निमित्त पाकर आत्मामे योगपरिणमन होता है। वहा यद्यपि इन दोनो गुणोका आधारभूत पदार्थ एक है तो भी उन गुणोके स्वरूपका परस्परमे अभाव है।

वस्तुस्वरूपका परिचय स्याद्वाद द्वारा होता है। स्याद्वाद कितना ठोस विज्ञान है इसकी झाकी इस प्रवचनाशमे देखिये–पृ० १५–अपेक्षा और निश्चयसे धर्मकी प्रधानता- भैया, यह पहाड की कठिन चढाई है। चढाई करनेमे रेलमे २ इजन लगते है एक आगे और एक पीछे। यह दुर्गम है वस्तुस्वरूपका प्रवेश। दुर्गम है यह स्याद्वादका सिद्धान्त। गाडी यहा चढ ई जा रही है। इसमे दो इजन लगा दिया-आगे स्यात् और पीछे एव। तब वह धर्मकी गाडी सम्हल ही है। अगर एक ही इजन लगादे तो गाडी लुढक जायगी। एव न लगानेसे सशय आ गया और स्यात् न लगानेसे एकान्त आ गया। यही घटाकर देख लो। एक बालक मे जिसका नाम कुछ रखलो, मानो रमेश रख लिया है और रमेशके बापका नाम है अशोक। तो यह रमेश अशोकका लडका ही है। हो लगावेगे ना कि भी लगावेंगे, कि यह अशोकका लडका भी है ? यह कितना अशोभनीय होगा। और, अपेक्षा लगाते जावो तो चाहे बहुत सी बाते कहते जाओ, यह बालक अमुकका भाजा ही है, अमुकका भतीजा ही है। अपेक्षा लगाकर ही लगाना चाहिए, तब स्याद्वादका रूपक बनता है।

आत्मा कर्ता कब है व अकर्ता कब है, इसका विश्लेषण देखिये ३८८वी गाथाके एक प्रवचनाशमे–पृ० ५८–कर्तृत्व और अकर्तृत्वका स्पष्ट विश्लेषण यहा तक स्पष्ट शब्दोमे यह बता चुके है कि भेदविज्ञान होने से पहिले इस जीवको तुम कर्ता समझो। यहा परके कर्तापनके विकल्प की बात कही जा रही है। पर का कर्ता तो कोई हो ही नही सकता। चाहे कैसा ही अज्ञानी हो। यदि अज्ञानी जीव परका कर्ता बन जाय तो उसमे भगवानसे भी अधिक सामर्थ्य आ गयी। भगवान किसी परको नहीं कर सकता, ताकत ही नही। और, इसके मुकाबलेमे उस अज्ञानीमे इतनी ताकत आ गयी कि वह परको करने लगा। अपने आत्मामे जो रागादिक भाव परिणमन होता है उसका और अपने स्वरूपका जिसे भेद ज्ञान नहीं है ऐसा

अज्ञानी जीव अपने ज्ञानस्वरूपके आलम्बनको छोड़कर यह मानता है कि मैं रागादिकका कर्ता हूं और वह रागादिकका कर्ता है, किन्तु ज्योंही इस जीवको भेदविज्ञान होता है मेरा तो मात्र ज्ञायकस्वरूप है, ये रागादिकपरिणमन हो तो रहे हैं-पर औपाधिक है, यो ही, इस ज्ञानके होते ही जीव उनका अकर्ता हो जाता है, फिर भी कुछ काल तक ये होते है।

अपरिणामिवाद क्षणिकवाद आदि सिद्धान्तोंके विवेचनके प्रसंगमे ३४८ वी गाथाके एक प्रवचनामे बताया है कि जितने भी दर्शन सरितायें हैं वे स्याद्वादसिन्धुमे निसृत हुई है, भले ही एकान्तवादमे रुक जानेसे उनका जल अनुपयोगी हो गया है, इसका दिग्दर्शन कीजिये-पृ० ६२-स्याद्वादसिन्धुसे सिद्धान्तसरिताओंका सरण-स्याद्वाद की कुंजी बिना सिद्धान्तोका जाल इतना गहन है कि सीधी सामनेकी बात तो न मानी जाय और टेढी मेढी जिसको सिद्ध करनेमे जोर भी पड़ता है बाते भी ढूढनी पडती है ऐसी बात माननेमे अपनी बुद्धिमानी समझी जाती है। ठीक है। कीमत तो तब बढ़ती कि जैसा सीधा जानते हैं वैसा न कहकर कोई विचित्र बात बतायी जाय तभी तो बुद्धिमान बन पावोगे। तो ऐसा वाग्जाल एकान्त सिद्धान्तका हुआ है। अथवा वाग्जाल नही है। ये सर्वसिद्धान्त स्याद्वाद सिन्धुसे निकले है। कौनसा सिद्धान्त ऐसा है जो वस्तुमें सिद्ध न होता हो? किन्तु दृष्टि और अपेक्षा लगानेकी सावधानी होनी चाहिए।

एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कुछ नही करता, इस विषयका एक सुभग दृष्टान्त द्वारा ३४९ वी गाथाके एक प्रवचनाशमे स्पष्टीकरण देखिये पृ० ७३-परके सम्बन्ध पर एक दृष्टान्त-इस प्रकरणमें एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ भी नही करता, यह सिद्ध करनेके लिए एक दृष्टान्त दिया जा रहा है। जैसे सोनेका आभूषण बनानेवाला सुनार जबकि कुछ गहना बना रहा हो, उस समय बतलावो वह सुनार क्या करता है? क्या सोनेको हलका बड़ा करता है? नही। वह तो केवल अपनी चेष्टा कर रहा है। हाथ उठाया, नीचे किया, अगल बगल किया देखते जावो, वह अपने शरीरकी मात्र चेष्टा करता है, वह स्वर्णमे तन्मय नही हो जाता। तो जैसे स्वर्णकार केवल अपना काम करता है, दूसरे पदार्थका कुछ नही करता। तो स्वर्णकार जैसे सोनेमे तन्मय नही हो जाता, इसी प्रकार यह जीव कर्ममे तन्मय नही हो जाता।

तन्मयता तो परिणाम परिणामीमे होती है, निमित्त उपादानमे नही। अतएव निश्चयत आत्मा अपने ही परिणामको करता व भोगता है, इस विषयका सरल सक्षिप्त शब्दोमे स्पष्टीकरण गाथा ३५४ के एक प्रवचनाशमे देखिये-पृ० ८१-परिणाम परिणामीमे तन्मयता-भैया, परिणामपरिणामीभावकी अपेक्षासे देखा जाय तो जीव परिणामी अपने परिणाममे तन्मय होता है। सो वहा उस स्वर्णकारने अपनेको ही किया, अपने को ही भोगा। वह सुनार ही कर्ता है, सुनार ही कर्म है, सुनार ही भोक्ता है, सुनार ही भोग्य है। इस प्रकार यह आत्मा जो कुछ करने की इच्छा करता है इसने अपनी चेष्टाके अनुकूल अपने परिणामोरूप कर्मको किया और उस कालमे दुःखरूप जो अपने आत्माका परिणाम है उस फलको भोगा। चूंकि वह आत्मा और आत्माका वह परिणमन एक द्रव्य है, उसमे ही वह अभिन्न है, उसमे ही उस कालमे तन्मय है। सो परिणाम परिणामी भाव चूंकि एकमे होते है तो इस आत्मामे ही आत्माका कर्म हुआ और आत्मामे ही आत्माका भोग हुआ। बाहर आत्माने कुछ कर्म नही किया और न भोगा। ऐसा निश्चयनय से प्रमाण करते हैं।

ज्ञाता ज्ञाता है ज्ञेय ज्ञेय है, ज्ञाता ज्ञेयका कोई स्वामित्वसम्बन्ध नही, इस विषयका दिग्दर्शन कीजिए ३५८ वी गाथाके एक प्रवचनाशमे-पृ० ६०-ज्ञायकका स्वामित्व-तो फिर भैया, यह ज्ञायक किसका ज्ञायक है? देखो अभी यहा ज्ञायक सुनकर जाननेवाला यह अर्थ नही करना, किन्तु ज्ञायक मायने चैतन्य

स्वभावी आत्मद्रव्य। क्या यह ज्ञेयका ज्ञायक है ? नहीं। तब फिर ज्ञायक किसका है ? यह ज्ञायक ज्ञायकका ज्ञायक है। वह दूसरा ज्ञायक कौन ? जो ज्ञायक है वह दूसरा ज्ञायक कौन ? जिसका यह ज्ञायक है। वह कोई भिन्न चीज नही है, एक ही है। तो फिर ऐसा कहनेका प्रयोजन क्या है ? भाई प्रयोजन तो कुछ नही है, किन्तु जिसकी बुद्धि स्वस्वामी सम्बन्धमे लगी हुई है उनको समझानेके लिए इस तरह कहा जा रहा है। अर्थ तो यह है कि ज्ञायक ज्ञायक ही है। यह घर किसका है ? तो कोई कह उठेगा कि यह घर हमारा है। तो जो जिसका होता है वह उसमे तन्मय होता है। तो घर रह गया, तुम्हारा विनाश हो गया, पर है तो नही विनाश, इस कारण तुम्हारा घर नही है। तो तुम्हारा कौन है ? तुम्हारे तुम ही हो। वह तुम कौन ? जिसके स्वामी हो और वह कौन तुम जो स्वामी हो। कोई अलग दो तुम तो नहीं हो, फिर ऐसा बतानेका प्रयोजन क्या ? प्रयोजन कुछ नही। प्रयोजन माना है कि जिसकी यह भ्रमबुद्धि लगी है कि यह घर मेरा है। उसको समझानेके लिए इतना बोलना पडा है कि तुम तो तुम ही हो और घर घर ही है। बाह्य वस्तु सुधार विगाड करना कुछ नही पडा, वहा कुछ भी उद्यम करना व्यर्थ है। आत्महितके लिए अपने आपमे अपनी प्रज्ञाका प्रयोग करो, इससे सम्बन्धित ३६७ वी गाथाका एक प्रवचनांश देखिये–पृ० १६१–परमे व्यर्थका उद्यम विकल्प–ज्ञान, दर्शन और चारित्र अचेतन विषयामे नही है। यह बतानेका प्रयोजन यह है कि हे मुमुक्षु जीव, तू द्रव्योमे कुछ विनाश करने की मत सोच। पर द्रव्योमे दर्शन, ज्ञान, चारित्रके विकार नही हुआ करते है। जीवोकी भ्राति इन तीनो जगह है अपने सुधार और बिगाडमे–विषयमे, कर्ममे और देहमे। सो इनमे संहार उद्धारका विकल्प करके यह मोही अपना संहार कर रहा है। निर्मल शान्त होनेके लिए अपनेमे ही अपनी प्रज्ञाका अपने पर प्रयोग करो।

(१४३) समयसार प्रवचन पन्द्रहवा भाग

इस पुस्तकमे समयसारकी ३७२ वी गाथासे अन्तिम गाथा ४१६ वी गाथा तकके पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराजके प्रवचन है ३७२ वी गाथामे यह प्रकट किया गया है कि अन्य द्रव्योके द्वारा अन्य द्रव्यमे गुणोत्पाद नही किया जा सकता। सिद्धान्त तो यह है, किन्तु एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कुछ करता है ऐसा भ्रम हो क्यो गया ? इसका दिग्दर्शन कीजिये एक प्रवचनांशमे–पृ० १–सिद्धान्त और भ्रमका कारण–अन्य द्रव्यके द्वारा अन्य द्रव्यके गुणका न तो उत्पाद किया जाता है और न विघात किया जाता है, क्योकि समस्त द्रव्य अपने अपने भावसे ही उत्पन्न होते हैं। लोगोको भ्रम इस कारण हो जाता है कि एक द्रव्य विभाव परिणमनमे परद्रव्य निमित्तभूत है, सो हुआ तो वह बहिरंग निमित्तभूत, क्योंकि अन्य द्रव्यके द्वारा उपादानरूप अन्य द्रव्यका गुण नही उत्पन्न किया जाता है और न मेटा जाता, किन्तु इतने मात्र सम्बन्ध से आगे बढकर कर्तृत्वका भ्रम कर लिया जाता है। जैसे घडेके बनानेमे कुम्हार बहिरंग कारण है तो बहिरंग कारण कुम्हारके द्वारा व उन चक्रादिकके द्वारा मिट्टीमे कोई गुण पैदा नही किया जाता है। मिट्टीका स्वरूप, मिट्टीका गुण, किसी अन्य द्रव्यके द्वारा नही डाला जाता है। ये बहिरंग निमित्तभूत है अर्थात् कुम्हार अपने गुण मिट्टीमे डालकर मिट्टी रूप बन जाय, ऐसा तो नही है, फिर मात्र निमित्त सम्बन्धसे आगे बढकर लोग कर्तृत्वका भ्रम कर डालते है।

मोही की परवस्तुओसे बेमेल सगाईका चित्रण देखिये–गाथा न० ३७८ का एक प्रवचनांश–पृ० १६–बेमेल सगाई–ये शब्द हमे प्रेरणा नही करते कि तुम क्यो खाली बैठे हो, और यह आत्मा भी उन शब्दो का सुननेके लिए नहीं जाता, किन्तु आत्माके साथ ज्ञान ज्ञेयका सम्बन्ध है, फिर क्यो यह जीव अज्ञानी बनकर उन शब्दोके खातिर रोष व ताप करता है। देखो यह अध्यात्मका चरणानुयोग ही भरा हुआ

है। क्यो उन विषयोमे अपना घात करते हो ? इस विषयको बहुत लम्बे समयसे बताया जा रहा है कि तुम्हारा कोई सम्बन्ध ही जब इन विषयोसे नही है तो क्यो उनसे सगाई करते हो। सगाई मायने स्व–कीयता, स्व मान लेना। सगाई स्वशब्दसे बनी है, अपना मान लिया। अभी शादी नही हुई। सगाईका अर्थ है परवस्तुको अपनी मान लेना और शादीका अर्थ है खुश होना। शादी शब्द विषादसे निकाल लो तो शादी मायने दु ख, विषाद मायने दु ख। शादीका नाम विषाद है। तो यह मोही जीव सभी वस्तुओं के साथ सगाई भी किये है और शादी भी किये है अर्थात् इन्हे अपना भी मानता है और दुःखी भी होता जाता है।

विषयो और आत्माका कोई नाता नही, फिर भी अज्ञानसे विषयोमे यह जीव प्रवृत्ति करता है वह सब अज्ञान है इसको ३७८ वी गाथाके एक प्रवचनाशमे गधविषयका उदाहरण है इसी प्रकार रूप, रस, स्पर्श, शब्दमे लगाना। उद्धरण–पृ० ४२–अज्ञानज विकार–यह गधविषय न तो आत्माको प्रेरित करता है कि मुझे सूघो, बेकार क्यो बैठे हो ? और न यह आत्मा अपने स्वरूपसे चिगकर उन गधोको ग्रहण करनेके लिए डोलता फिरता है, किन्तु विषयविषयोका सम्बन्ध है, इसका ज्ञानमे गधविषय आता है, पर इतने मात्र से इस आत्मामे विकाररूप परिणति नही हो जाती। यह तो अपने आपके परिणमनकी कला है। फिर भी यह जीव उन सब शुभ अशुभ गधोको सूघकर अपनेमे इष्ट अनिष्ट भाव लगाता है, रागद्वेष करता है, यह सब अज्ञानका प्रसाद है। ज्ञानी जीव तो अपने आपके सहज स्वरूपकी प्रतीतिके बलसे अपने स्वरूपके दर्शनमे उत्सुक रहता है।

घटादि पदार्थोकी तरह ज्ञेय गुण भी ज्ञानपर जबरदस्ती नही करता कि तुम मुझे जानो ही, न ज्ञान अपने प्रदेशसे हटकर उन्हे जानने जाता, किन्तु स्वभाव है, ज्ञान अपने स्वरूपसे प्रकाशित होता है, फिर ज्ञानकी चर्चा की घटनामे जो कलह हो पडते हैं वह व्यामोहकी महिमा है, इसका चित्रण देखिये ३८१ वी गाथाके इस प्रवचनाशमे–पृ० ३०–धर्मचर्चामे भी झगडा हो जानेका कारण–कोई द्रव्यानुयोग जैसे ज्ञान और वैराग्यके विषयवाला चर्चा की जा रही हो। उस प्रसगमे गुणोके स्वरूपका पद्धतिसे किसी समय कोई मतभेद हो जाय तो गुणोको चर्चा करते करते कषाय जग जाती है, कलह हो जाती है वह अज्ञानका परिणाम है। गुणोके सम्बन्धमे जो जानकारी बतायी जा रहा है उन विकल्पमे इस मोहीको आत्मीयबुद्धि हो गयी है, अब मेरा यदि यह मत स्थिर नही रह सकता है तो हमारा ही नाश हो जायेगा ऐसे अपने विकल्पोमे आत्मसर्वस्वका जोड किया है, यही तो राग और द्वेषका उत्पादक हुआ। रागद्वेष वृक्षकी शाखा की तरह हैं और मोह जडकी तरह है। विभाववृक्षकी शाखाये ये कषाय है और विभाववृक्षको जड मोह है। जैसे जड पानी मिट्टी आदिका आहार लेकर शाखाओको पल्लवित बनाये रहती हैं, उन्हे मुरझाने नही देता इसी प्रकार ये विभाव मोह भावके द्वारा परवस्तुओको अपनाकर इन रागद्वेषको पल्लवित बनाये रहते है, रागद्वेषको सूखने नही देते हैं। तो सब ऐबो की जड तो भूलमे मोहभाव है।

पापोके दूर करनेका उपाय प्रतिक्रमण व प्रायश्चित है। वास्तविक प्रतिक्रमण क्या है जिससे पाप अवश्य ही दूर हो जाते हैं, इसकी झाकी पाइये ३८३ वी गाथाके इस प्रवचनाशमे–पृ० ५१–साक्षात् प्रतिक्रमणमयता–अपराध बहुत किया है। अपने आपके स्वभावदृष्टिसे अलग रहनेका नाम अपराध है। यह अपराध अनादिसे किया जा रहा है। इस अपराधसे दूर होनेकी स्थिति यह है कि सकल्प विकल्प रहित शुद्धज्ञान दर्शन स्वाभावात्मक तत्त्वके सम्यक् श्रद्धान ज्ञान और अनुभवनरूप जो अभेद रत्नत्रयरूप धर्म है उस धर्ममे अपने उपयोगको स्थित करना, सो जब ऐसा ज्ञान रस करि भरपूर समतारस करि परिपूर्ण कारणसमयसारमे स्थित होकर जो पुरुष पूर्वकृत कर्मोसे अपने आत्माको निवृत कर लेता है वह पुरुष

साक्षात् प्रतिक्रमणरूप है।

कर्मफल चेतनाकी विपदासे दूर होनेके भगवतीसे अभ्यर्थना की पद्धति अपनाइये, इस भावका दिग्दर्शन करे गाथा ३८९ के इस प्रवचनाशमे-पृ० ७४-कर्मफलचेतनाके सन्यासके लिए भगवती ज्ञानचेतनासे अभ्यर्थनाथ मे अन्य पदार्थो को भोगता हू, इस प्रकार को चेतना ससारका वीज है, दु खका कारण है, ऐसा जानकर जो सकटोसे छूटनेका अभिलाषी हो उस पुरुषको इस अज्ञानचेतनाका प्रलय करनेके लिए जैसे कर्म-चेतनाके सन्यासका भाव किया था इसी प्रकार सकलकर्मफलके भी सन्यासकी भावना करे और स्वभाव भूत भगवती ज्ञानचेतनाका आराधन करे। भगवान अर्जी न सुनें तो इस भगवतीसे अर्जी करो। लोकमे कुछ ऐसी चलन है कि जो वात गुरु जी से कहकर सिद्धिमे न आती हो तो गुरुवानीसे कह देता है वालक। तो भगवानने तुम्हारी न सुनी हो तो इस भगवतीसे अपनो अर्जी करो। कौन सी भगवती ? वह ज्ञानचेतनारूप भगवती। जैसे गुरुवानीके जोरसे गुरु भी मान जायेगा ऐसे ही इस ज्ञानचेतनाके ओर से यह भगवान भी मान जायेगा, मैं ज्ञायकस्वरूप हू, ज्ञानको ही करता हू, ज्ञानको ही भोगता हू, इस प्रकार का अनुभवन करना, सो ही भगवती ज्ञानचेतनाकी आराधना है।

३९१ वी गाथासे ४०२ गाथा तक शब्द, रूप, कर्म, आकाश, अध्यवसान आदिसे भिन्न ज्ञान को वताया है। उन सवके प्रवचनोके अनन्तर ४०४ न० की गाथाके प्रवचनोमे एक स्थलपर-अनादिकी भूल और अचानक भक्काटा का दिग्दर्शन कीजिये-पृ० १२३-अनादिकी भूल और अचानक भक्काटा-भैया, इस जीवपर मिथ्यात्वका विकट भार अनादिकालसे चला आ रहा है। अपने आपकी कुछ सुध भी नही रही। किस किसे वाह्य पदार्थको यह अपनाता रहा, आज भी बता नही सकता। अनन्त शरीर पाये और अनन्त भवोमे परिजन, वच्चे मित्र, अचेतन आदि समागम सर्वकुछ मिला, इस ३४३ घनराजू प्रमाणलोकमे प्रत्येक प्रदेशपर यह जन्मता रहा, मरता रहा, अनेक कर्मो के बीच पडा पडा यह परकी ओर दृष्टि बना कर अपनेको भूला रहा। कितना मिथ्यात्वका इस पर बोझ था ? जहा ही ज्ञानानन्दरस मात्र अमूर्त भावस्वरूप एक निज तत्त्वका श्रद्धान हुआ कि अव भक्काटा हुआ, वह सब अन्धेरा विलीन हो गया, एकदम स्पष्ट दीखने लगा कि सर्व परपदार्थ मुझसे अत्यन्त भिन्न है। किसी भी परपदार्थका मुझसे रचमात्र सम्वन्ध नही है, सब जुदे है। जहा यह प्रकाश हुआ कि मोह समाप्त हुआ। मोह जहा नही रहा जो ज्ञानका परिणमन है उसका ही नाम है सम्यग्दर्शन।

आत्मानुभव हो एक मात्र श्रेष्ठ कार्य है, वह प्राप्त होगा आत्मसेवासे, इससे सम्वन्धित ४१२ वी गाथाका यह प्रवचनाश पढिये-पृ० १५३ आत्मसेवामे ही आत्मानुभव-विशुद्ध ज्ञानदर्शनस्वभावी आत्मतत्त्वका श्रद्धान, ज्ञान और आचरण होना ही मोक्षका मार्ग है, यह वात पूर्णतया नियत है। मुक्तिका उपाय अन्य कुछ नही है। जो पुरुष उस ही मोक्षमार्गमे स्थिति करता है उसका ही सदैव ध्यान करता है उसको ही चेतता है और इस ही आत्मविलासमे विहार करता है, ऐसे परम अनुरागके साथ किसी भी द्रव्यान्तर को, किसी भी भावान्तरको न छूता हुआ अपनेमे रमाता है, वह नियमसे अपने आत्माका जो निज सहजस्वरूप है उसका अनुभवन कर लेता है।

मुक्तिसाधक परमार्थभूत लिग क्या है ? इसका मनन कीजिये ४१४ वी गाथाके इस प्रवचनाशमे-पृ० १६०-मुक्तिसाधक परमार्थभूत लिग-भैया, तव फिर परमार्थरूप लिग क्या है, मोक्षमार्ग क्या है ? श्रमण और श्रमणोपासक इन दोनो प्रकारके विकल्पोसे परे दर्शन, ज्ञान, आचरणमात्र शुद्ध ज्ञानस्वरूप यह एक है ऐसा वेलाग सचेतन करना सो परमार्थ है। अपने आपके अतस्तत्त्वको वेलाग और वेदाग अनुभवन करना सो ही मोक्षका मार्ग है वेलाग तो यो कि इसमे शरीरके लगावका कुछ भी ध्यान न हो

है। क्यो उन विषयोमे अपना घात करते हो ? इस विषयको बहुत लम्बे समयसे बताया जा रहा है कि तुम्हारा कोई सम्बन्ध ही जब इन विषयोसे नही है तो क्यो उनसे सगाई करते हो। सगाई मायने स्वकीयता, स्व मान लेना। सगाई स्वशब्दसे बनी है, अपना मान लिया। अभी शादी नही हुई। सगाईका अर्थ है परवस्तुको अपनी मान लेना और शादीका अर्थ है खुश होना। शादी शब्द विषादसे निकाल लो तो शादी मायने दु ख, विषाद मायने दु ख। शादीका नाम विषाद है। तो यह मोही जीव सभी वस्तुओं के साथ सगाई भी किये है और शादी भी किये है अर्थात् इन्हे अपना भी मानता है और दुखी भी होता जाता है।

विषयका और आत्माका कोई नाता नही, फिर भी अज्ञानसे विषयोमे यह जीव प्रवृत्ति करता है वह सब अज्ञान है इसको ३७८ वी गाथाके एक प्रवचनाशमे गधविषयका उदाहरण है इसी प्रकार रूप, रस, स्पर्श, शब्दमे लगाना। उद्धरण–पृ० २२–अज्ञानज विकार–यह गधविषय न तो आत्माको प्रेरित करता है कि मुझे सू घो, बेकार क्यो बैठे हो ? और न यह आत्मा अपने स्वरूपसे चिगकर उन गधोको ग्रहण करनेके लिए डोलता फिरता है, किन्तु विषयविषयोका सम्बन्ध है, इसका ज्ञानमे गधविषय आता है, पर इतन मात्र से इस आत्मामे विकाररूप परिणति नही हो जाती। यह तो अपने आपके परिणमनकी कला है। फिर भी यह जीव उन सब शुभ अशुभ गधोको सू घकर अपनेमें इष्ट अनिष्ट भाव लगाता है, रागद्वेष करता है, यह सब अज्ञानका प्रसाद है। ज्ञानी जीव तो अपने आपके सहज स्वरूपकी प्रतीतिके बलसे अपने स्वरूपके दर्शनमे उत्सुक रहता है।

घटादि पदार्थोंकी तरह ज्ञेय गुण भी ज्ञानपर जबरदस्ती नही करता कि तुम मुझ जानो ही, न ज्ञान अपने प्रदेशसे हटकर उन्हे जानने जाता, किन्तु स्वभाव है, ज्ञान अपने स्वरूपसे प्रकाशित होता है, फिर ज्ञानकी चर्चा की घटनामे जो कलह हो पडते हैं वह व्यामोहकी महिमा है, इसका चित्रण देखिये ३८१ वी गाथाके इस प्रवचनाशमे–पृ० ३०–धर्मचर्चामे भी झगडा हो जानेका कारण–कोई द्रव्यानुयोग जैसे ज्ञान और वैराग्यके विषयवाला चर्चा की जा रही हो। उस प्रसगमे गुणोके स्वरूपका पद्धतिसे किसी समय कोई मतभेद हो जाय तो गुणोको चर्चा करते करते कषाय जग जाती है, कलह हो जाती है वह अज्ञानका परिणाम है। गुणोके सम्बन्धमे जो जानकारी बतायी जा रहा है उन विकल्पमे इस मोहीको आत्मीयबुद्धि हो गयो है, अब मेरा यदि यह मत स्थिर नही रह सकता है तो हमारा ही नाश हो जायेगा ऐसे अपने विकल्पोमे आत्मसर्वस्वका जोड किया है, यही तो राग और द्वेषका उत्पादक हुआ। रागद्वेष वृक्षकी शाखा की तरह हैं और मोह जडकी तरह है। विभाववृक्षका शाखाये ये कषाय हैं और विभाववृक्षको जड मोह है। जसे जड पानी मिट्टी आदिका आहार लेकर शाखाओको वल्लवित बनाये रहती हैं, उन्हे मुरझाने नही देता इसी प्रकार ये विभाव मोह भावके द्वारा परवस्तुओको अपनाकर इन रागद्वेषको पल्लवित बनाये रहते हैं, रागद्वेषको सूखने नही देते हैं। तो सब ऐबो की जड तो भूलमे मोहभाव है।

पापोके दूर करनेका उपाय प्रतिक्रमण व प्रायश्चित है। वास्तविक प्रतिक्रमण क्या है जिससे पाप अवश्य ही दूर हो जाते हैं, इसकी झाकी पाइये ३८३ वी गाथाके इस प्रवचनाशमे–पृ० ४१–साक्षात् प्रतिक्रमणमयता–अपराध बहुत किया है। अपने आपके स्वभावदृष्टिसे अलग रहनेका नाम अपराध है। यह अपराध अनादिसे किया जा रहा है। इस अपराधसे दूर होनेकी स्थिति यह है कि सकल्प विकल्प रहित शुद्धज्ञान दर्शन स्वाभावात्मक तत्त्वके सम्यक् श्रद्धान ज्ञान और अनुभवनरूप जो अभेद रत्नत्रयरूप धर्म है उस धर्ममे अपने उपयोगको स्थित करना, सो जब ऐसा ज्ञान रस करि भरपूर समतारस करि परिपूर्ण कारणसमयसारमे स्थित होकर जो पुरुप पूर्वकृत कर्मोसे अपने आत्माको निवृत कर लेता है वह पुरुष

साक्षात् प्रतिक्रमणरूप है।

कर्मफल चेतनाकी विपदाएं दूर होनेके भगवतीसे अभ्यर्थना की पद्धति अपनाइये, इस भावका दिग्दर्शन करें गाथा ३८६ के इस प्रवचनांशमें—पृ० ७८—कर्मफलचेतनाके सन्यासके लिए भगवती ज्ञानचेतनासे अभ्यर्थनाप मैं अन्य पदार्थों को भोगता हूं, इस प्रकार को चेतना संसारका बीज है, दुःखका कारण है, ऐसा जानकर जो संकटोंसे छूटनेका अभिलाषी हो उस पुरुषको इस अज्ञानचेतनाका प्रलय करनेके लिए जैसे कर्म-चेतनाके सन्यासका भाव किया था इसी प्रकार सकलकर्मफलके भी सन्यासकी भावना करे और स्वभाव भूत भगवती ज्ञानचेतनाका आराधन करें। भगवान अर्जी न सुनें तो इस भगवतीसे अर्जी करो। लोकमें कुछ ऐसी चलन है कि जो बात गुरु जी से कहकर सिद्धिमें न आती हो तो गुरुवानीसे कह देता है बालक। सो भगवानने तुम्हारी न सुनी हो तो इस भगवतीसे अपनी अर्जी करो। कौन सी भगवती ? वह ज्ञानचेतनारूप भगवती। जैसे गुरुवानीके जोरसे गुरु भी मान जायेगा ऐसे ही इस ज्ञानचेतनाके ओर से यह भगवान भी मान जायेगा, मैं ज्ञायकस्वरूप हूं, ज्ञानको ही करता हूं, ज्ञानको ही भोगता हूं, इस प्रकार का अनुभवन करना, सो ही भगवती ज्ञानचेतनाकी आराधना है।

३६१ वीं गाथासे ४०७ गाथा तक शब्द, रूप, कर्म, आकाश, अध्यवसान आदिसे भिन्न ज्ञान को बताया है। उन सबके प्रवचनोंके अनन्तर ४०८ नं० की गाथाके प्रवचनोंमें एक स्थलपर—अनादिकी भूल और अचानक भवकाटा का दिग्दर्शन कीजिये—पृ० १२३—अनादिकी भूल और अचानक भवकाटा—भैया, इस जीवपर मिथ्यात्वका विकट भार अनादिकालसे चला आ रहा है। अपने आपकी कुछ सुध भी नहीं रही। किस किस बाह्य पदार्थको यह अपनाता रहा, आज भी बता नहीं सकता। अनन्त शरीर पाये और अनन्त भवोंमें परिजन, बच्चे मित्र, अचेतन आदि समागम सर्वकुछ मिला, इस ३४३ घनराजू प्रमाणलोकमें प्रत्येक प्रदेशपर यह जन्मता रहा, मरता रहा, अनेक कर्मोंके बीच पड़ा पड़ा यह परकी ओर दृष्टि बना कर अपनेको भूला रहा। कितना मिथ्यात्वका इस पर बोझ था ? जहां ही ज्ञानानन्दरस मात्र अमूर्त भावस्वरूप एक निज तत्त्वका श्रद्धान हुआ कि अब भवकाटा हुआ, वह सब अन्धेरा विलीन हो गया, एकदम स्पष्ट दीखने लगा कि सर्व परपदार्थ मुझसे अत्यन्त भिन्न हैं। किसी भी परपदार्थका मुझसे रत्तमात्र सम्बन्ध नहीं है, सब जुदे हैं। जहां यह प्रकाश हुआ कि मोह समाप्त हुआ। मोह जहां नहीं रहा जो ज्ञानका परिणमन है उसका ही नाम है सम्यग्दर्शन।

आत्मानुभव ही एक मात्र श्रेष्ठ कार्य है, वह प्राप्त होगा आत्मसेवासे, इससे सम्बन्धित ४१२ वीं गाथाका यह प्रवचनांश पढ़िये—पृ० १५३ आत्मसेवासे ही आत्मानुभव—विशुद्ध ज्ञानदर्शनस्वभावी आत्मतत्त्वका श्रद्धान, ज्ञान और आचरण होना ही मोक्षका मार्ग है, यह बात पूर्णतया नियत है। मुक्तिका उपाय अन्य कुछ नहीं है। जो पुरुष इस ही मोक्षमार्गमें स्थिति करता है इसका ही सदा ध्यान करता है उसको ही चेतता है और इस ही आत्मविलासमें विहार करता है, ऐसे परम अनुरागके साथ किसी भी द्रव्यान्तर को, किसी भी भावान्तरको न छूता हुआ अपनेमें रमाता है, वह नियमसे अपने आत्माका जो निज सहजस्वरूप है उसका अनुभवन कर लेता है।

मुक्तिसाधक परमार्थरूप लिंग क्या है ? इसका मनन कीजिये ४१४ वीं गाथाके इस प्रवचनांशसे—पृ० १६०—मुक्तिसाधक परमार्थरूप लिंग—भैया, तब फिर परमार्थरूप लिंग क्या है, मोक्षमार्ग क्या है ? श्रमण और श्रमणोपासक इन दोनों प्रकारके विकल्पोंसे परे दर्शन, ज्ञान, आचरणमात्र शुद्ध ज्ञानस्वरूप यह एक है ऐसा दृढ़तासे संचेतन करना सो परमार्थ है। अपने आपके अन्तस्तत्त्वकी वेदना और वेदना अनुभवन करना सो ही मोक्षका मार्ग है वेदना ऐसी कि इसमें दूसरोंके व्यवहारका कुछ भी ध्यान न हो

और बेदाग यों कि रागद्वेषादिक जो अन्तर्मल हैं उन दागोका अभाव हो ऐसे ज्ञानमात्र तत्त्वका निस्तुप सचेतन करना सो ही परमार्थ है। जैसे कोई चतुर व्यापारी धानके भीतर ही यद्यपि चावल अवस्थित है किन्तु अपने ज्ञानबलसे उस चावलको वह निस्तुप सचेतन करता है। छिलके से ढका हुआ होकर भी छिलका से रच सम्बन्ध नही है, इस प्रकार से चावलको अन्तरमे निरख लेता है। ऐसे ही द्रव्यलिंगमे अवस्थित होकर भी साधुजन अपने आपका द्रव्यलिंगसे अत्यन्त दूर केवल शुद्ध ज्ञानस्वभावमात्र निरखते है। यही मोक्षमार्ग है। व्यवहारनय दोनो लिगोको मोक्षपद मानता है, परन्तु निश्चयनय सभी लिगोको मोक्षमार्गमे रच भी इष्ट नही करता है।

(१४४) परमात्मप्रकाश प्रवचन प्रथम भाग

परमपूज्य श्रीमद्योगीन्दुदेव द्वारा प्रकृत दोहोमे विरचित परमात्मप्रकाश ग्रन्थ पर पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराजने प्रवचन किये है। इसमे कारण परमात्मतत्त्वकी दृष्टि करानेके लिए बहुत ही अच्छा आत्मसम्बोधन किया है। प्रथम प्राकृत दोहोमे कार्य परमात्माको नमस्कार किया है। इस प्रकरणमे कार्य परमात्मा व कारण परमात्माका स्वरूप कहकर निजमे कारणपरमात्मतत्त्वकी सुगम झाकी एक प्रवचनाशमे दी है। पृ० ३-४— लोकमे भी ऐसो प्रसिद्धि है कि परमात्मा घट घटमे रहता है अर्थात् देहोमे बसता है। सो इन देही आत्माओसे भिन्न कोई एक परमात्मा इन देहोमे नही बस रहा है, क्योकि यदि ऐसा कोई इन देहोमे बस रहा होवे तो पृथक् पृथक् देहोके बीचमे अन्तराल होनेसे परमात्मा खण्ड खण्ड रूपमे हो जायगा। ये आत्मा (देही) हो परमात्मस्वभावको रख रहे हैं यह परमात्मस्वभाव हम सबमे शक्ति रूपसे है, व्यक्तिरूप (पर्यायरूप) से तो हम सब अभी ससारी हैं। फिर भी जो महात्मा अपनेमे अनादिसिद्ध बसे हुए शक्तिरूप परमात्मतत्त्वका दर्शन अन्तर्ज्ञानसे कर लेते है वे आनन्द-मग्न हो जाते हैं। ऐसा कारण परमात्मा हम सबमे, घट घटमे रहता है। उसके दर्शनका उपाय अन्तर्ज्ञान है।

आत्मस्वभावके परिचयमे ही सम्पन्नताका सकेत प्रवचनाश दोहा ५-पृ० ३३—निश्चयसे भगवान अपनेमे स्थित है और व्यवहारसे लोक अलोकके पदार्थों को जानते हैं, किन्तु फिर भी उनमे तन्मय नही होते। हम भी परमे तन्मय नही है, केवल कल्पनासे ही यह सब होता है। यह जो सहजस्वभाव है यदि इसका पता लग जावे तो इससे बडा वैभव दुनियामे क्या है? मेरा मेरा बाह्य पदार्थो मे कुछ भी तो नाता नही है। उनके घटनेसे न मेरा कुछ घटता है न उनके बढनेसे मेरा कुछ बढना ही है। यदि मेरी समझ मे मेरा सहजस्वभाव आ गया तो सम्पन्न हू अन्यथा तो नर कीट ही हू।

कारण परमात्मतत्त्वके परिचयसे सत्य समताका जागरण होता है इसका मनन कीजिये, दोहा ८ के एक प्रवचनाशमे—पृ० ५२—जो मैं हू वह हैं भगवान, मैं वह हू जो है भगवान, अर्थात् मैं वही हू जो भगवान हैं और जो मैं हू वही भगवान है। प्रत्येक जीव सिद्ध जैसे स्वभाववाला है। अत यदि कोई किसी जीवका अपमान करता है तो वह भगवानका अपमान करता है। उसको वेदना हुई यह बात तो अलग है, उस को तो अलग ही दोष लगा, किन्तु वह जो अपमान हुआ वह अलग। अत सब प्राणियोपर समताभाव रखो। यदि कोई अपनेको प्रतिकूल बात भी कह देता है तो भी उसमे क्लेश न कर उस पर करुणा ही रखो और यह सोचो कि यह भी तो चैतन्यस्वरूप है, किन्तु कर्मो के कारण, अज्ञानके कारण इसकी ऐसी दशा हो रही है। फिर यह तो मुफतमे ही काम हो गया जो वह कुछ कहकर प्रसन्न हो गया।

समाधिके अभावमे ही सारे सकट सहने पडते हैं-देखिये दोहा—१-१० के प्रवचनाशमे—पृ० ६१—जो परमसमाधि है, समता परिणाम है वही पार लगाने वाला है, अन्य कुछ नही। परभवमे सम्यक्दर्शन,

सम्यक्ज्ञान, सम्यक्चारित्रको साथ ले जाना सो समाधि है। अतः समाधिके दो अर्थ हुए—एक तो समता परिणामका नाम समाधि है, दूसरा अपने रत्नत्रयको परभवमे भी साथ ले जाना सो समाधि है। और, उसी अवस्थामे प्राण त्याग करनेसे समाधिमरण है। यदि समाधि नही है, आधि व्याधि उपाधिका लगाव है तो उसका कटुफल होगा। एक व्यक्ति एक को मार देता है तो उसे फासीकी सजा होती है और यदि वह कई आदमियोको मारे तो भी यहा तो फासी ही होगी, लेकिन इतने बड़े पापकी सजा कौन देगा? वह कर्मके अनुसार स्वय ही विकट दु ख पावेगे। कोई किसीको दु ख सुख देने वाला नही है। अपने परिणामोके कारण ही सब दु खी होते हैं। समाधिके न होनेसे नरक तिर्यञ्च मनुष्य और देव इन चारो गतियोके दु खोको यह जीव सहता रहता है।

परमात्मत्वप्राप्तिका उपाय शुद्धात्मतत्त्वकी उपासना है, इसका सदेश देखे दोहा—१—१४ के एक प्रवचनाशमे पृ० ७५—परमात्मा कौन होता है? जो समस्त परद्रव्योको छोडकर केवल ज्ञानमय, कर्मरहित, शुद्धात्मा को उपयोग द्वारा प्राप्त करता है वही परमात्मा होता है। यहा शुद्धात्माका अर्थ है निराला, अविकारी। शुद्ध पर्यायो वाला नही, किन्तु आत्माके अस्तित्त्व वाला, भिन्न तत्त्वो वाला, परद्रव्योसे रहित अपने स्वरूपास्तित्वमात्र निजतत्त्वको शुद्धात्मा कहते हैं। केवल अपनेको सबसे निराला भर देखना है तो स्वरूप भी अवगत हो जायगा। सबसे निरालेका नाम शुद्ध है। जिसे इगलिशमे कहते हैं प्योर। प्योर का अर्थ है खालिस, केवल। इसे ही शुद्ध कहते हैं और शुद्ध होनेके लिए उपाय भी यही किया जाता है। जैसे चौकी पर चिडिया वगैरह की वीट लग गयी है तो वहा कहते हैं कि चौकी को शुद्ध करो। वह मनुष्य क्या करता है? चौकीके अतिरिक्त जितने पर पदार्थ हैं, जितने परद्रव्य इस चौकीसे चिपके है उन सबका अलग करता है। यही चौकीको शुद्ध करनेका उपाय है। केवल खालिस रह जाने को ही शुद्ध कहते है। जो परद्रव्योको छोडकर अर्थात् समस्त परद्रव्योको अपनेमे न मानकर केवल ज्ञानमय शुद्धआत्मतत्त्व देखता है, वह परमात्मा होता है।

आत्मतत्त्वकी पूर्णताके प्रतिपादनमे एक मार्मिक दर्शन करें दोहा—१—१६ के प्रवचनाशमे—पृ० ८२—भैया, इस श्लोकमे कहते है पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते। पूर्णात् पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते वह पूर्ण है, यह पूर्णसे पूर्ण निकलता है। पूर्ण से पूर्ण ग्रहण करके, हटा करके भी पूर्ण शेष रहता है। यह श्लोक वेदान्त सम्मत है, इसमे आध्यात्मिकता तो देखो। यह आत्मा पूर्ण है। यह स्वभाव पूर्ण है, पूर्ण का अर्थ पूरा है। यहा पूरे का अर्थ ऊधमो नही समझना। जैसे किसी बच्चेको समझते हैं कि यह भगवानका पूरा है। पूर्णका अर्थ है पूर्ण सत्। अधूरा नही। ऐसा कुछ भी पदार्थ नही है जो आधा बन पाया हो और कुछ न बन पाया हो। जितने भी सत् है वे सब पूर्ण सत् है। यह मैं पूर्ण हू। यह मेरा स्वभाव पूर्ण है। इस पूर्ण आत्मपदार्थमें से जो भी परिणमन प्रकट होता है वह परिणमन भी पूर्ण है। पर्याय कोई अधूरी नही होती। पर्यायका समय एक है। एक क्षण मे वह पर्याय पूर्ण होती है। पर्यायके बननेमे दूसरा समय नही लगता। इस पूर्णमे से पूर्ण ग्रहण कर लिया जाय तो भी यह पूर्ण ही बचा रहता है। अर्थात् पूर्ण द्रव्यसे पूर्ण पर्याय होकर विलीन हो जाती है, फिर भी वह पूर्ण ही रहता है। यह समस्त पदार्थोका स्वरूप है।

अपने घरका पूरा पता करो, देखो दोहा—१—१८ के एक प्रवचनाशमे, पृ० ८९—भैया, अपने निजी घर की बात समझमे नही आती। तुम्हारा घर कहा है? सोचो तो सही। अपना घर कहा है? कहा जावोगे? कौन सा घर है? वह घर वतलावो जो घर अपनेसे कभी नही छूटता? कही जावो अपना घर ही साथमे रहना है। वह घर है अपना स्वरूप, अपना प्रदेश, उसकी ओर दृष्टि न दो और बाहरमे

बाहरी पदार्थों से नाना आशायें रखे तो बताओ किसके लिए नच रहे हो ? किसके लिए बकते जा रहे हो ? सब भिन्न है। उनका कर्म प्रबल है। उदय अच्छा है सो आपको उनका दास बनना पड रहा है। किसके लिए धन बढ़ाते हो ? किसके लिए श्रम कर रहे हो ? यह मोह और यह इतना विकल्प क्यो मचा रहे हो ? आपसे भी अधिक भाग्यवान वे बच्चे हैं जिनके लिए रात दिन श्रम कर रहे हो, जिनके लिए दास बनकर अधिक श्रम करना पड रहा है। शिवस्वरूप, कल्याणस्वरूप तो अपना आत्मस्वरूप है। सर्वकल्पनाजालोको छोडकर अपने आपमे अपने आपके स्वरूपको निहारो, तो ऐसे ज्ञानस्वभावी प्रभुका दर्शन होगा कि फिर उससे शान्ति और आनन्द निरन्तर झरता ही चला जायगा।

कारणपरमात्मतत्त्वका ज्ञान व अनुभव ही करने योग्य काम इस जीवनमे है—इसकी प्रेरणा पायें—दोहा—१-२२ के इस प्रवचनांशसे, पृ० ११०-भैया, एक ही काम है इस जिन्दगीमे। जो करता हो सो पार होगा। किसी बाह्य वस्तुमे मूर्छा ममत्व न रखे। सबको विनाशीक जाने अपनेसे भिन्न समझे और अपने आपको सबसे निराला जानकर इसमे बसा हुआ जो ध्रुव चैतन्यस्वरूप है वही मैं हू—यो इस कारण परमात्माके स्वरूपकी प्रतीति करे बस यही एक जीवनमे करने का काम है। यह परमात्माका प्रकाश है। परमात्मा दो प्रकारसे देखा जाता है। एक तो कार्य परमात्मा और एक कारणपरमात्मा। कार्यपरमात्मा तो वह कहलाता है कि जिसके अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख, अनन्तचतुष्टय प्रकट हो और कारणपरमात्मा वह कहलाता है जो सभी जीवोमे परमात्मा बननकी शक्ति है अथवा जो सहजज्ञान, सहजदर्शन, सहजआनन्द, सहजशक्तिमय है वह है कारण परमात्मा। कारणपरमात्माका ध्यान करनेसे कार्यपरमात्मा बनता है याने अपने आपके आत्मामे जो शुद्ध जाननेकी शक्ति है उस शक्तिका ध्यान करनेसे भगवान् होना है, अपने आपमे जो कषायके विकार लगे हैं वे दूर होते हैं अपने कारणपरमात्माका ध्यान करनेसे।

बाहरी पदार्थोंसे नाना आशायें रखे तो बताओ किसके लिए नच रहे हो ? किसके लिए बकते जा रहे हो ? सब भिन्न है। उनका कर्म प्रबल है। उदय अच्छा है सो आपको उनका दास बनना पड रहा है। किसके लिए धन बढ़ाते हो ? किसके लिए श्रम कर रहे हो ? यह मोह और यह इतना विकल्प क्यो मचा रहे हो ? आपसे भी अधिक भाग्यवान वे बच्चे हैं जिनके लिए रात दिन श्रम कर रहे हो, जिनके लिए दास बनकर अधिक श्रम करना पड रहा है। शिवस्वरूप, कल्याणस्वरूप तो अपना आत्मस्वरूप है। सर्वकल्पनाजालोको छोडकर अपने आपमे अपने आपके स्वरूपको निहारो, तो ऐसे ज्ञानस्वभावी प्रभुका दर्शन होगा कि फिर उससे शान्ति और आनन्द निरन्तर झरता ही चला जायगा।

कारणपरमात्मतत्त्वका ज्ञान व अनुभव ही करने योग्य काम इस जीवनमे है—इसकी प्रेरणा पायें—दोहा—१–२२ के इस प्रवचनांशसे, पृ० ११०-भैया, एक ही काम है इस जिन्दगीमे। जो करता हो सो पार होगा। किसी बाह्य वस्तुमे मूर्छा ममत्व न रखे। सबको विनाशीक जानें अपनेसे भिन्न समझे और अपने आप को सबसे निराला जानकर इसमे बसा हुआ जो ध्रुव चैतन्यस्वरूप है वही मैं हू—यो इस कारण परमात्माके स्वरूपकी प्रतीति करे बस यही एक जीवनमे करने का काम है। यह परमात्माका प्रकाश है। परमात्मा दो प्रकारसे देखा जाता है। एक तो कार्य परमात्मा और एक कारणपरमात्मा। कार्य-परमात्मा तो वह कहलाता है कि जिसके अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख, अनन्तचतुष्टय प्रकट हो और कारणपरमात्मा वह कहलाता है जो सभी जीवोमे परमात्मा बननकी शक्ति है अथवा जो सहज-ज्ञान, सहजदर्शन, सहजआनन्द, सहजशक्तिमय है वह है कारण परमात्मा। कारणपरमात्माका ध्यान करनेसे कार्यपरमात्मा बनता है याने अपने आपके आत्मामे जो शुद्ध जाननेकी शक्ति है उस शक्तिका ध्यान करनेसे भगवान् होता है, अपने आपमे जो कषायके विकार लगे हैं वे दूर होते हैं अपने कारण-परमात्माका ध्यान करनेसे।

(१४५) परमात्मप्रकाशप्रवचन द्वितीयभाग

इस पुस्तकमे परमात्मप्रकाश ग्रन्थके प्रथम महाधिकारके ३९ वें दोहासे ६६ व दोहा तक के पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराजके प्रवचन है। परमात्मतत्त्वकी पहुचमे अमृतका झरन और योगी द्वारा गुप्त ही गुप्त रहकर उसके आनन्दका अनुभवन, इसका मनन कीजिये प्रवचनांश दोहा–१–३९–पृ० १–जैसे विशाल मीठेके ढेरसे उसे कितना ही निकालते जाय और भीतर देखते जायें मिठास समाप्त नही होता है, नया नया मिठास मिलता है, इसी तरह इस निज आत्मामे निर्विकल्प ढगसे व्यर्थके रागद्वेषकी उलझनोको हटाते हुए ज्ञानको निरखते जाये, उस परमात्मतत्त्वमे, तो ज्यो ज्यो गहरे पहुचते जायेगे त्यो त्यो वहा अमृत आनन्द झरता जायगा। योगीजन निर्जनस्थानमे बिल्कुल अकेले खडी शान्त मुद्रामे विराजे हुए अपने आपमे ऐसा तत्त्व निरखते हैं कि उनको ऊब नही आती कि हाय हम इस जगलमे अकेले हैं, कोई साथी तो चाहिए। उन्हे साथीका मिलना अनिष्ट है। एक से कोई दूसरा हुआ तो उससे वह अपने काममे बाधा समझता है। तो योगी बाहरमे भी एकाकी और अन्दरमे भी एकाकी रहना चाहता है।

ज्ञानी और अज्ञानीके भावका अन्तर देखिये—प्रवचनांश दोहा—१–३९, पृ० ८–जानन रागद्वेष सकल्प-विकल्पको छोडकर मात्र प्रतिभासरूप है और विचार जाननको अपने पेटमे चबाकर उसको बिगाड देने वाले रागका काम है। कुछ भी विचार राग बिना नही होता है तो जितना मैं विचार करता हू, जितनी मैं शरीरकी चेष्टा करता हू, और जितने मैं वचन बोला करता हू, ये सब अज्ञानकी चेष्टायें हैं। ज्ञानको

छोड़कर अन्य तत्त्वोकी चेष्टाये हैं, ज्ञानकी चेष्टा नही है। ज्ञानकी चेष्टा निर्विकल्प, निष्कलंक, क्षोभ-रहित शुद्ध प्रतिभासमात्र है। तो ये अन्य तत्त्वोकी चेष्टायें है। सारे आवश्यक कार्यो को करता हुआ भी साधु पुरुष यह जान रहा है कि यह सब अज्ञानकी चेष्टा है। ज्ञानकी चेष्टा तो शुद्ध जाननमात्र है। कहा तो ऊंचे ऊंचे ज्ञानी पुरुष अपने इन आवश्यक कार्यो की चेष्टामे भी ज्ञानातिरिक्तता देखते है और कहा लोग घरमे फसे हुए यह मानते है कि हम बुद्धिमानीका कार्य कर रहे है, हम ज्ञानका काम कर रहे है। तब सोचो तो सही कि ज्ञानी और अज्ञानीके भावमे कितना अन्तर।

परमात्माके ज्ञानमे सब जगत आ गया अथवा कहिये सर्व जगतमे ज्ञान चला गया, तिस पर भी जगत जगत ही है, ज्ञान ज्ञान ही है। परमात्मा जगतरूप नही बन सकता। इसी प्रकार की कला ज्ञानमे स्वरगत होती है, इस का विवरण १-८१ दोहाके प्रवचनागमे पढिये। पृ० १८—जैसे हमारी आख रूपके विषयमे रहा करती हैं पर आखे कभी रूपमय नही बन जाती है। आख आख ही रहती है और रूप रूप ही रहता है। वह किसी अन्य पदार्थके आकार रग रूपमे नही बन जाती इस प्रकार यह ज्ञान सारे जगतको जानता है मगर ज्ञान, ज्ञानरूप ही रहता है और यह सारा जगत अपने रूप ही रहता है। तन्मय नही होता, ऐसा यह निराला आत्मतत्त्व है। जैसे पानीमे मिट्टीका तेल डालदे तो वह तेल पानीपर तरता रहता है। पानी पानी है और तेल तेल है। पानी तेल नही हो सकता और तेल पानी नही हो सकता, यह ज्ञान जगतपर तर रहा है, कि ज्ञान ज्ञान ही है जगत जगत ही है। हा हम ही ज्ञानी अपने ज्ञानस्वरूपको छोडकर रागद्वेषमे जाये तो हम अपने ही अपराधमे अपनेको मलिन कर डालते है।

जिसके देहमे बसने पर इन्द्रियग्राम आबाद होता है और जिसके निकल जानेपर इन्द्रियग्राम ऊजड हो जाता है उसे परमात्मा (भगवान आत्मा) जानो, इस रहस्यका प्रतिपादन करनेवाले १-४४ वे दोहाके प्रवचनोमे से एक प्रवचनाश पढिये तो, कारणपरमात्माको ही कहा जा रहा है, यह विदितकर लोगे। पृ० ३३—जब यह जीव भवान्तरको चला जाता है मरण कर जाता है तो यह इन्द्रियग्राम ऊजड हो जाता है। अर्थात् फिर ये इन्द्रिया अपने अपने विषयके दु खमे प्रवृत्त नही होती है। यह चिदानन्द आत्मा भगवान एकस्वभाव वाला है, किन्तु यह निमित्त नैमित्तिककी साइन्स भी बहुत बड़ा विषयवाला है। इस ज्ञायकस्वभाव परमात्माने अपनी बेहोशी की और कषायका परिणमन किया फिर देख लो ये सारे जाल, ये समस्त सकट कैसे अपने आप इस पर सवार हो जाते हैं। उनमे आपका क्या श्रम लगता है? इसके आगे फिर आप क्या करते हैं? सारे काम एटामेटिक होते रहते हैं। इस तरह यह स्वय परमात्मा अपने शुद्ध चैतन्यस्वभावके उपयोगको छोडकर शुद्ध विषय कषायमे लग गया। जब अपने आप गडबडीकी सारी बातें होती है। इन्द्रियग्राम बन गया शरीर बन गया, इन्द्रिया हो गई, जिनमे कि अब सो फसे हैं और आकुलित होते है।

सम्यग्ज्ञानके बिना सयम, व्रत आदि फिट नही बैठ पाते, उनका धारण करनेमे विपाद देखिये—दोहा-१-६६—का प्रवचनाश—पृ० ७६—एक बाबू जी ने कुम्हारको एक पायजामा इनाममे दे दिया। पायजामा। मतलब पा और जामा, अर्थात् जिसमे पाव जम जाय। अब कुम्हार उसे कमरमे लपेटे तो फिट न बैठे, कभी हाथोमे लपेटे तो फिट न बैठे। एक बार उसने पैर डाल दिया तो पैर डालते ही कुछ फिट होने लगा, फिर दूसरा पैर डाल दिया, तो पूरा फिट बैठ गया। अब कुम्हारने समझा कि यह यहा फिट होनेवाली चीज है। सो हम ज्ञानके लिए श्रम करते है किन्तु अभी ये सयम, व्रत तप, पूजा, स्वाध्याय आदि फिट नही बैठ रहे, फिट बैठने की निशानी शान्ति है, सो नही मिली किन्तु प्रयत्नमे कोई बात नही, धैर्य पूर्वक धर्मपालनमे लगे रहो कभी तो यह उसम फिट बैठ ही जायगा। जब फिट होना तब बेडा पार है। ज्ञान

का उद्यम करे तो फल उसका अच्छा होगा, सयम आदि सब फिट बैठ जायेंगे।

सत् श्रद्धाविहीन हृदयमे धर्मकी वृत्ति नही जग सकती, उसका सक्षिप्त विवेचन पढिये–दोहा–१–५८ के प्रवचनांशमे–पृ० १३८–जैसे भया, चित्रकारी उस भीतपर आती है सो भीत बहुत पक्की इंट और चिकनी हो और जो भीत मैली है, गन्दी है उसमे चित्रकारी कभी नही आती, इसी प्रकार जिसके हृदयमे श्रद्धा नही भरी है उसमे धर्म कैसे आयेगा ? सो प्रथम तो अपने आपमे श्रद्धा करो कि यह मैं आत्मा सबसे न्यारा निराला चैतन्यस्वरूप हू व परिपूर्ण हू। हममे किसी बाहरके पदार्थसे कुछ नही आता, हमसे निकलकर किन्ही बाहरी पदार्थो मे कुछ नही जाता। यह परिपूर्ण है और परिणमता रहता। ऐसे ज्ञान–चमत्कारमय अपने ज्ञानस्वरूपको न जाना तो हमने किया क्या ? जिसने अपना परिचय पा लिया वह सर्वत्र स्वतत्र है। कदाचित् उस ज्ञानीको कोई राजा या राजसघ जबरदस्ती गिरफ्तार करले और जेलखानेमे भी बन्द करदे तो भी यह ज्ञानी वहा भी स्वतत्र है। शरीर तो है एक मोमाके भीतर, पर ज्ञानका उपयोगी यह किसीके द्वारा गिरफ्तार हो नही किया जा सकता। वह तो अपने आपमे ही अपने आप है, उपयोगमे है। यहा भी यह सबसे निराला केवल ज्ञानमात्र अपने आत्माको देख रहा है, प्रसन्न है, सतुष्ट है। उसे वहा कोई तकलीफ नही है। जबकि अज्ञानीजन घरकी गद्दीपर बैठे हैं और वहा ही यह विकल्प, वह विकल्प यह क्यो हुआ इस तरह की दृष्टिया लगाकर बन्धनमे पडे रहे हैं दुखका अनुभव करते हैं।

भावकी दृष्टिसे, शुद्ध द्रव्यार्थिकनयसे यह आत्मा कुछ नही करता। शुद्ध पारिणामिक भाव उसे कहते है जिस शक्तिके परिणमन विभिन्न भी हो रहे हो पर सब शक्तिकी आधारभूत जो एक शक्ति है वह शक्ति परमपारिणामिक भाव कहलाती है। उस भावको ग्रहण करनेवाले शुद्ध द्रव्यार्थिकनयसे न आत्मा जन्म करता है, न मरण करता है, न बन्ध करता है और न मोक्ष करता है। वह तो शुद्ध ज्ञानस्वरूप शाश्वत विराजमान रहता है, ऐसे ही इस परमात्मतत्त्वके बारेमे यहा विचार किया जा रहा है।

यथार्थ आत्मस्वरूपको जाने पर वास्तवमे अहिंसकता व दयालुपना बनता है, इसका दिग्दर्शन कीजिये- दोहा १-६९ के इस प्रवचनांशमे-पृ० १ —भैया अपने आपको नही जानते यह बहुत बडा आक्रमण है अपने प्रभु पर और फिर कषायोकी धुनमे रहना हमारा तीसरा आक्रमण है अपने नाथपर। जहा इतना आक्रमण किया जा रहा है वहा हम अपनेंको अहिंसक कह दें तो कैसे कहा जा सकता है? ऊपरी दिखावटी दयासे कही अहिंसाका लाभ न होगा। कुछ लौकिक परम्परा ऐसी है कि जिसमे छोटे छोटे कीडा मकोडोकी हिंसाका बचाव चला आ रहा है। ठीक है, पर इतने मात्रसे अहिंसाका पालन नही होगा। आप अपन स्वरूप का जानो फिर अपने स्वरूपके समान हो जगतके सब जीवोको जानो। जगत के जीवोको देखकर हमे वह ज्ञान—शुद्धस्वरूप समझमे आये, बादमे फिर पर्यायोके सक्लेश से बचानेकी बात आये तो वह पेने ज्ञानकी कला है। और, देखते ही हो ये सब पर्याये, दशायें, पाप पुण्य बहुत फैले नजर आये और समझाये—समझाये भी दिल लगाये लगाये परमात्मस्वरूपकी बात समयमे न आये यह तो अपने आपकी हिंसा है।

समस्त सकटोका कारण शरीर सम्पर्क जानकर शरीरसे उपेक्षा करके आत्मस्वभावकी आराधना करनेका अपनेसे अनुरोध कीजिय, दोहा १-७२ के प्रवचनाशमे पढिये-पृ० २४—भैया, शरीर तो मिलता रहता है और शरीरको क्यो चाहते हो? शरीरका मिलना बडा कठिन उपद्रव है। यह शरीर मिला, तब अहमबुद्धि हुई, यह मैं हू, और जब माना कि यह मैं हू। तो मोहीपर शरीरको मानता कि यह मेरी स्त्री है, यह मेरा पुत्र है इत्यादि। और, फिर उन सबका राजी रखने के लिए धनका सचय किया और फिर उस धनमे जो बाधक होने लगा, उनमे लडाई लडने लगा, और तरह रागद्वेषमय क्षोभकी वृत्ति बनाई किस बातपर? एक शरीर मिला है इस बात पर। क्या यह शरीर चाहिए आपको? नही चाहिए ना? तो वर्तमानमे भी इस शरीरके अनुरागी न बनो। इस मनको पापोसे बचानेके लिए इस शरीरसे अधिकाधिक उपकार करो। जैसा होना हो, शरीर छिदता हो छिदे, भिदता हो भिदे, किसी भी हालतको प्राप्त होता हो, पर आत्मे शुद्ध ज्ञानस्वरूपकी भावना न छोडो।

ज्ञानकी पूजामे परमात्मतत्त्वकी पूजा देखिये-दोहा—१—७७ का एक प्रवचनाश, पृ० ४०—हम यदि ज्ञानकी पूजा करें तो परमात्माको पूज लिया समझ लीजिये। नामसे क्या है? जिसका नाम है वह भगवान नही और जो भगवान है उनका नाम नही। वीर प्रभुको जब तक महावोर की निगाहसे देखते हो तो ऐसा लगता है कि यह किसीका लडका है, ऐसा सुहावना है, इतना बडा है, घर छोडकर चल दिया. यह ही देखोगे। पर यह तो भगवान नही। भगवान तो शुद्ध ज्ञायकस्वरूप अनन्त गुणमय है। जो शुद्ध केवल ज्ञानमय है, उस प्रभुका तो कोई नाम ही नही है। ये वीर हैं ये ऋषभदेव है, ये चन्द्रप्रभु है। क्या उस ज्ञानमय प्रभुका कोई नाम है? जब तक नामकी दृष्टि है तब तक भगवानका मर्म पहिचाना नही जा सकता। और, जहा भगवान के मर्म मे पहुंच गये फिर नाम से कोई सम्बन्ध नही रह गया।

मोह व भ्रमका कष्ट सहने वालोको सम्बोधन—दोहा १—७८ के प्रवचनाशमे पृ० ४९—मोह करना हमे

का उद्यम करे तो फल उसका अच्छा होगा, सयम आदि सब फिट बैठ जायेंगे।

सत्श्रद्धाविहीन हृदयमे धर्मकी वृत्ति नही जग सकती, इसका सक्षिप्त विवेचन पढिये—दोहा—१–५८ के प्रवचनांशमे–पृ० १३८–जैसे भया, चित्रकारी उस भीतपर आती है सो भीत बहुत पक्की दृढ और चिकनी हो और जो भीत मैली है, गन्दी है उसमे चित्रकारी कभी नही आती, इसी प्रकार जिसके हृदयमे श्रद्धा नही भरी है उसमे धर्म कैसे आयेगा ? सो प्रथम तो अपने आपमे श्रद्धा करो कि यह मैं आत्मा सबसे न्यारा निराला चैतन्यस्वरूप हू व परिपूर्ण हू। हममे किसी बाहरके पदार्थसे कुछ नही आता, हमसे निकलकर किन्ही बाहरी पदार्थो मे कुछ नही जाता। यह परिपूर्ण है और परिणमता रहता। ऐसे ज्ञान-चमत्कारमय अपने ज्ञानस्वरूपको न जाना तो हमने किया क्या ? जिसने अपना परिचय पा लिया वह सर्वत्र स्वतत्र है। कदाचित् उस ज्ञानीको कोई राजा या राजसघ जबरदस्ती गिरफ्तार करले और जेलखानेमे भी बन्द करदे तो भी यह ज्ञानी वहा भी स्वतत्र है। शरीर ही है एक सीमाके भीतर, पर ज्ञानका उपयोगी यह किसीके द्वारा गिरफ्तार ही नही किया जा सकता। वह तो अपने आपमे ही अपने आप है, उपयोगमे है। यहा भी यह सबसे निराला केवल ज्ञानमात्र अपने आत्माको देख रहा है, प्रसन्न है, सतुष्ट है। उसे वहा कोई तकलीफ नही है। जबकि अज्ञानीजन घरकी गद्दीपर बैठे हैं और वहा ही यह विकल्प, वह विकल्प यह क्यो हुआ इस तरह को दृष्टिया लगाकर बन्धनमे पडे रहे हैं दु खका अनु-भव करते है।

अभिलाषामे चैन नही मिल सकता, निरभिलाष ज्ञानी पुरुष ही शान्त रह सकते है, इसका अध्ययन करें—दोहा—१–६६ के प्रवचनांशमे–पृ० १८७–भैया, न पडितको चैन और न मूरखको चैन। पडितको यो चैन नही कि उनको अपने पोजीशनकी पडी है, लोगोने प्रश्न किया उनका समाधान करें। सो कही हम हार न जायें, निरुत्तर न रह जायें सो रात दिन ग्रन्थ देखते हैं, पढते ही रहते हैं। कहा चैन है ? और मूरख उसकी महिमाको देखकर जलते भुनते हैं। सो उनमे कौन सुखी और कौन दु खी है सो बताओ ? सुख तो केवल उसे है जो ससारमे कुछ नही चाहता है। केवल मेरा यह ज्ञानस्वरूप आत्मा उपयोगमे रहे इतनी ही जिसकी अभिलाषा है वह पुरुष तो सुखी है और बाकी कोई सुखी नही प्रभुदर्शन करने जाते हैं, हमे इससे यही शिक्षा मिलती है कि घबडाओ मत, मूढबुद्धिको छोडो, तेरा तो ज्ञानस्वरूप आत्मा ही है। परवस्तुओके, बाह्य पदार्थो के छूट जानेसे अपनेमे कष्टका अनुभव मत करो। तू मुझ सरीखा ही अनन्त वैभवशाली है। भीख मागकर उदर भरे, न करे चक्रीका ध्यान, जगतमे देखे सुखिया सम्यक्ज्ञान चाहे किसी प्रकार अपना पेट भर लो मगर इन्द्र के भी वैभवका ध्यान न करो। इन्द्र के जैसे भोगोको भी विष्टाके समान समझना है।

(१४६) परमात्मप्रकाशप्रवचन तृतीयभाग

इस पुस्तकमे परमात्मप्रकाशके प्रथम महाधिकारके ६७ वें दोहासे ९२ दोहा तक के पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराजके प्रवचन है। इसके शुद्ध आत्मतत्त्वका विवेचन किया गया है। जिसका आश्रय लेनेसे आत्मा प्रकट शुद्ध परमात्मा हो जाता है। इस शुद्ध आत्मतत्त्वको परखिये दोहा—१–६८ के इस प्रवचनांशमे पृ० ६-हे योगी पुरुष, परमार्थसे तो यह जीव न तो उत्पन्न होता है और न मरता है फिर बन्ध और मोक्षको तो करेगा क्या ? अर्थात् शुद्ध निश्चयनयसे यह जीव बन्धसे व मोक्षसे रहित है, ऐसा जिनेन्द्र देवका कहना है। जब यह मुझमे शुद्ध आत्मतत्त्व अनुभूत नही होता है तब शुभ और अशुभ उपयोगकी परि-णति रहती है और जीवन मरण शुभ अशुभ पुण्य पाप बन्धोको करता है, पर शुद्ध आत्माका अनुभव हो जानेपर यह जीव शुद्धोपयोगको प्राप्त कर मोक्षको प्राप्त कर लेता है तो भी शुद्ध परमपारिणामिक

भावकी दृष्टिसे, शुद्ध द्रव्यार्थिकनयसे यह आत्मा कुछ नही करता। शुद्ध पारिणामिक भाव उसे कहते है जिस शक्तिके परिणमन विभिन्न भी हो रहे हो पर सब शक्तिकी आधारभून जो एक शक्ति है वह शक्ति परमपारिणामिक भाव कहलाती है। उस भावको ग्रहण करनेवाले शुद्ध द्रव्यार्थिकनयसे न आत्मा जन्म करता है, न मरण करता है, न बन्ध करता है और न मोक्ष करता है। वह तो शुद्ध ज्ञानस्वरूप शाश्वत विराजमान रहता है, ऐसे ही इस परमात्मतत्त्वके बारेमे यहा विचार किया जा रहा है।

यथार्थ आत्मस्वरूपको जाने पर वास्तवमे अहिंसकता व दयालुपना बनता है, इसका दिग्दर्शन कीजिये-दोहा १-६६ के इस प्रवचनाशमे-पृ० १ —भैया अपने आपको नही जानते यह बहुत बडा आक्रमण है अपने प्रभु पर और फिर कषायोकी धुनमे रहना हमारा तीसरा आक्रमण है अपने नाथपर। जहा इतना आक्रमण किया जा रहा है वहा हम अपनेको अहिंसक कह दें तो कैसे कहा जा सकता है? ऊपरी दिखावटी दयासे कही अहिंसाका लाभ न होगा। कुछ लौकिक परम्परा ऐसी है कि जिसमे छोटे छोटे कीडा मकोडोकी हिंसाका बचाव चला आ रहा है। ठीक है, पर इतने मात्रसे अहिंसाका पालन नही होगा। आप अपन स्वरूप का जानो फिर अपने स्वरूपके समान हो जगतके सब जीवोको जानो। जगत के जीवोको देखकर हमे वह ज्ञान—शुद्धस्वरूप समझमे आये, बादमे फिर पर्यायोके सक्लेश से बचानेकी बात आये तो वह पेने ज्ञानकी कला है। और, देखते ही हो ये सब पर्यायें, दशायें, पाप पुण्य बहुत फैले नजर आयें और समझाये—समझाये भी दिल लगाये लगाये परमात्मस्वरूपकी बात समयमे न आये यह तो अपने आपकी हिंसा है।

समस्त सकटोका कारण शरीर सम्पर्क जानकर शरीरसे उपेक्षा करके आत्मस्वभावकी आराधना करनेका अपनेसे अनुरोध कीजिये, दोहा १-७२ के प्रवचनाशमे पढिये-पृ० २४—भैया, शरीर तो मिलता रहता है और शरीरको क्यो चाहते हो? शरीरका मिलना बडा कठिन उपद्रव है। यह शरीर मिला, तब अहमबुद्धि हुई, यह मैं हू, और जब माना कि यह मैं हू। तो मोहीपर शरीरको मानता कि यह मेरी स्त्री है, यह मेरा पुत्र है इत्यादि। और, फिर उन सबका राजी रखने के लिए धनका सचय किया और फिर उस धनमे जो बाधक होने लगा, उनमे लडाई लडने लगा, और तरह रागद्वेषमय क्षोभकी वृत्ति बनाई किस बातपर? एक शरीर मिला है इस बात पर। क्या यह शरीर चाहिए आपको? नही चाहिए ना? तो वर्तमानमे भी इस शरीरके अनुरागी न बनो। इस मनको पापोसे बचानेके लिए इस शरीरसे अधिकाधिक उपकार करो। जैसा हाना हो, शरीर छिदता हो छिदे, भिदता हो भिदे, किसी भी हालतको प्राप्त होता हो, पर अपने शुद्ध ज्ञानस्वरूपकी भावना न छोडो।

ज्ञानकी पूजामे परमात्मत्वकी पूजा देखिये-दोहा—१—७७ का एक प्रवचनाश, पृ० ४०—हम यदि ज्ञानकी पूजा करें तो परमात्माको पूज लिया समझ लीजिये। नामसे क्या है? जिसका नाम है वह भगवान नही और जो भगवान है उसका नाम नही। वीर प्रभुको जब तक महावीर की निगाहसे देखते हो तो ऐसा लगता है कि यह किसीका लडका है, ऐसा सुहावना है, इतना बडा है, घर छोडकर चल दिया, यह ही देखोगे। पर यह तो भगवान नही। भगवान तो शुद्ध ज्ञायकस्वरूप अनन्त गुणमय है। जो शुद्ध केवल ज्ञानमय है, उस प्रभुका तो कोई नाम ही नही है। ये वीर हैं ये ऋषभदेव है, ये चन्द्रप्रभु है। क्या उस ज्ञानमय प्रभुका कोई नाम है? जब तक नामकी दृष्टि है तब तक भगवानका मर्म पहिचाना नही जा सकता। और, जहा भगवान के मर्म मे पहुँच गये फिर नाम से कोई सम्बन्ध नही रह गया।

मोह व भ्रमका कष्ट सहने वालोको सम्बोधन—दोहा १—७८ के प्रवचनाशमे पृ० ४९—मोह करना हमे

आसान लगता है क्योंकि घर मिला है ना सुखको, घरमें रहने वाले जो दो चार जीव है वे अधिकारमें है ना ? सो खूब मोह करो, खूब श्रम करो, पर इसका फल क्या होगा सो अन्दाज करलो। इसका फल मिलना है इन चौरासी लाख योनियोंमें जन्म मरण करना। यह सब होता है अपनी गलतीसे। बन्दर होता है ना। बन्दर याने जो वनको दर देवे, वनमें ये डाली डाली तोड देते है ना ? जो वनको उजाड दे उसे कहते है बन्दर। भैया, देखा है तुमने बन्दर ? हा, जरूर देखा होगा। एक घडेमें अच्छे छोटे छोटे लडवा भरकरे रखलो और फिर उसे छत पर रख दो तो बन्दर आयेगा और उस घडेमें दोनो हाथ डालेगा। दोनो हाथोसे लड्डू पकड लेगा। वह दोनों मुट्ठी न खोलेगा, यों ही बाहरको खीचेगा और उछल उछल कर बाहरका भागेगा। उसे यह ख्याल है कि मुझे घडेने पकड लिया है, वह अपने दोनो हाथ नही निकाल पाता है किन्तु भ्र। उसके यही लग गया कि मुझे घडे ने पकड लिया है, वह अपने दोनो हाथ नही निकाल पाता है, कि भ्रम उसके यही लग गया कि घडे ने पकड लिया है सो वह बाहर को भागता है। इसी प्रकार हम आपके कोरा भ्रम लगा है, सो व्यर्थ ही कष्ट पा रहे हैं।

आत्माकी पुष्टि किस वृत्तिमें है, देखिए दोहा १–८० के प्रवचनांशमें, पृ० ५७–५८–देखो तो भैया, इसका इतराना, यह सब मानता है कि मैं मोटा हो गया हू तो बडे गर्वसे अपनी भुजाको तकता है, हाथ उठाता है, मैं बडा पुष्ट हो गया हू आइनेको देखता है। छोटा दर्पण कोई देखनेको ला दे तो वह फेंक देता है। अजी बडा दर्पण क्यो नही लाये ? बहुत बढिया दर्पण मिले जिसमें अपने शरीर की शक्ल पूरी तौरसे देखकर मूछ ऐंठकर सिरपर हाथ फेरकर अपने आप गर्वसे मौज मान ले कि मैं पुष्ट हो गया हू। अरे आत्माकी ओर तो विचारकर। तू तो तब पुष्ट कहलायगा जब शुद्ध ज्ञानप्रकाशका अनुभव हो और आत्मामें ही तेरा निवास हो, शुद्ध आत्मतत्त्वकी ओर तेरा झुकाव हो, वहा तू पुष्ट अपनेको समझ और किसी शरीरादिकके बाह्यपदार्थो से अपनी पुष्टि न मानो।

पापी जगतमें बडप्पनकी चाह करना मूढता है, बडप्पन चाहो तो ऐसा चाहो कि जिस अनन्तज्ञानी परमात्मा जान जायें, मनन कीजिये–दोहा–१–८५–के प्रवचनांशमें, पृ० ७३–जो स्वय पापी है, मलिन है, जन्म-मरणके चक्रमे फसे है अज्ञानी है ऐसे पुरुषोमे अपना बडप्पन रखनेमें क्या लाभ है ? इनकी अपेक्षा तो एक ज्ञानी पुरुपकी दृष्टिमें बड बन जावो तो वह ज्यादा लाभदायक है। हजारों लाखो अज्ञानियोंकी दृष्टिमे हम बडे बन जायें इसकी अपेक्षा एक दो ज्ञानियोकी दृष्टिमे हम अच्छे कहला सकें यह ज्यादा लाभप्रद बात है। और, फिर देखिये एक दो ज्ञानियोकी बात क्या, यदि रत्नत्रयरूप परिणति रहेगी, ज्ञान व्यवस्थित रहेगा, निर्मल परिणमन होगा तो मैं अनन्तज्ञानियो की दृष्टिमे भला होऊगा। हजारो मोही अज्ञानी, दुखी, पापी पुरुषोमे भला दिख जानेसे फायदा क्या है ? भला दिखे तो उन अनन्त ज्ञानियोकी दृष्टिमे भला दिखे तब तो बडप्पन है। वे स्वय मोही हैं, मलिन हैं उनकी निगाहमें भला कहलानेमें कुछ बडप्पन नही है।

बाहरी देशमे चित हटाकर अन्त प्रकाशमान प्रभुस्वरूपकी आराधना करने की प्रेरणा लीजिये, दोहा–१–८८ के प्रवचनांशमें, पृ० ७६–यह आत्मा वन्दक नही है, मायने बौद्ध नही है। क्षपण नही है याने दिगम्बर नही है, गुरव नही है याने श्वेताम्बर नही है। यह साधुओका जो भेद है कि जैन साधु, बौद्धसाधु अमुक साधु यह भेद आत्मामे नही पडा। आत्मा तो एक अमूर्त चैतन्यमात्र तत्त्व है, परिणतिका भेद तो अवश्य है, किन्तु यह आत्मा स्वय भेदवाला नही है। आत्मा न बौद्ध है, न क्षपणक है अर्थात् न दिगम्बर है और न और और जितने चाहे ले लो। श्वेताम्बर है, दण्ड लेने वाले हस है, परमहस हैं, सन्यासी हैं, जटा रखने वाले योगी हैं, हड्डीको माला पहिनने वाले हैं, कोई तिलक लगाये हैं, कोई कमरमें मोटा रस्सा लपेटे हैं, कोई भभूत लगाये हैं, अनेक प्रकारके साधुजन होते हैं पर आत्माका यह विभिन्न स्वरूप

नही है। जिसने आत्माके स्वरूपका ज्ञान किया है वह आत्माकी उपलब्धिके लिए बाहरी पदार्थोंको हटाने का तो काम करेगा मगर लगानेका काम न करेगा। आत्माको क्या चाहिए ? समताभाव, निर्विकल्प आनन्द। वह परको हटानेसे मिलेगा। पर, परको लगानेसे न मिलेगा। आत्महितके लिए कुछ भी चीजे शरीरपर रखनेकी आवश्यकता है क्या ? जिसे आत्मसाधना करनी है, भस्म हो, माला हो, जटा हो, कुछ भी हो, ये सब परपदार्थ है। इनके सचय और सग्रहसे आत्मामे क्या कोई भलाई है? नही। वे सब विकल्प है।

(१४७) परमात्मप्रकाश प्रवचन चतुर्थ भाग

इस पुस्तकमे परमात्मप्रकाशके प्रथममहाधिकारके ९३ वे दोहासे १२५ वे दोहा तकके पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराजके प्रवचन है। दोहा १–९४ के एक प्रवचनाशमे देखिये जितने आत्माके लिए उत्तम काम है वे सब आत्मस्वरूप हैं–पृ० १३–जितने भी करने योग्य काम है वे सब इस आत्मस्वरूप ही है। यही आत्मा सयम है, यही आत्मा शील है यही आत्मा दर्शन है, यही आत्मा अपने आपमे शुद्ध आत्मस्वरूप उपादेय है–इस प्रकार की बुद्धिसे अपनी ओर झुकता है। इसी कारण यह आत्मा सम्यक्त्व है, रागद्वेषरहित निज आत्मतत्त्वके ज्ञानका अनुभव इस आत्माको ही है। इसलिए यह निश्च ज्ञान है। मिथ्यात्वरागादिक समस्त विकल्पजालोका त्यागके द्वारा परमात्मतत्त्वमय परमसमतारूप भावोसे यही परिणमता है इसलिए यही मोक्षमार्ग है। साराश यह है कि यह शुद्ध आत्मा ही उपादेय है, क्योकि स्वाधीन परम–उपादेय आनन्दका साधक आत्मा ही है। यह साधक कैसे बन जाता है ? अपना जो शुद्ध स्वरूप है उसका अनुभवरूप भाव सयम बनता है। इस कारण यह ही आत्मा अपने स्वाधीन सुखका साधक है, सो ही आत्मा उपादेय है।

आत्माके जाननेपर सबको जाना हुआ ही समझो, देखो दोहा–१–९९ के प्रवचनाशम पृ० २५–भैया, सर्व कुछ बलिहारी है इस आत्मज्ञानकी। इस कारण तन, मन, धन, वचन, न्यौछावर करके भी यदि आत्माका बोध प्राप्त होता है तो वह सब कुछ वैभव प्राप्त कर लेता है। केवल मात्र जाननेका काम है। सो जानने वाला है उसको जानो। जो जाननका स्वरूप है उसको जानो। केवल जाननका ही सदा पुरुषार्थ करना चाहिए। ज्ञानमे बढकर तप क्या होता है ? आत्माको जान लेनपर सर्व कुछ ज्ञात हो जाता है, अथवा यह आत्मा स्वपरके रूपसे सारे लोकालोकको जानता है। जैसे कोई कहे कि चलो अमेरिका ले चले, दिखायेंगे आपको कि वहा कितना अच्छा है ? कहेगा कि हमने देख लिया। वहा जड पुद्गल होगे, रूप, रस गन्ध, स्पर्शके पिण्ड होगे। हम सब जानते है। इस प्रकार जिसका केवल आत्मा से प्रयोजन होगा वह कहेगा। सब अनात्माय इसके लिए पर है। इतन रूपसे सबको जान जाता है। इस तरह यह समस्त लोकालोकको जानता है। तब यह बात हुई ना कि आत्मा ज्ञात हो जाय तो सब कुछ ज्ञात हो जाता है।

बाहर कही विपदा नही, मोह त्यागकर अपनेमे प्रभुताके दर्शन करना, सब सकट मिट जायेगा, इसकी प्रेरणा लीजिये दोहा–१–१०१ के प्रवचनाशमे–पृ० ३६–कितनी चिन्तायें है अपने को, जरा एक कापीमे तो लिख लो। अमुक बीमार है, न जाने यह मर जायेगा तो फिर क्या होगा ? अमुक मुकदमा है, कही इसमे १० हजार चले जाये, अमुक घरमे बिगड रहा है, न जाने यह रूठ ही जाये। एक बारमे ही सब कबूल लो। वैभव गया भाडमे। यह गुजरता है तो गुजर जाये। जितनी भी अनिष्ट शकायें है उन सबका कबूल करलो और एक औषधि पी लो कि आखिर ये सब परद्रव्य ही तो है। इनमे यदि कुछ हो

गया तो क्या हुआ ? कौन सी बात मेरे स्वरूपमें घट गई ? किसी भी प्रकार की बात सामने आये तो अपनेको निर्भार अनुभव करलो। केवल एकत्वस्वरूपमय, ज्ञानप्रकाश, आकाशकी तरह अमूर्त निर्लेप अनुभव करलो। इससे ही प्रभुताके दर्शन होते हैं। उस प्रभुताको भेट होनेपर फिर यह निश्चित हो जाता है कि अब संसारके जन्ममरण न रहेंगे।

परमानन्दमय शुद्ध आत्मतत्त्वको जाननेको प्रेरणा दोहा–१–१०८ के प्रवचनांशमें, पृ० ४७–निज शुद्ध आत्मा ज्ञान द्वारा ही गम्य है। शुद्ध आत्माका अर्थ है कि मेरे आत्माका अपने आपके सत्त्वके ही कारण जो स्वरूप होता है वह है शुद्ध आत्मा, खालिस आत्मा। बिना परपदार्थोके संयोगके आत्मा स्वयं जैसा हो सकता है वह कहलाता है शुद्ध आत्मा। वह ज्ञानसे ही जाना जा सकता है। जब तक इस शुद्ध आत्माका ज्ञान न हो तब तक सम्यग्दर्शन नहीं होता और जिसके सम्यग्दर्शन नहीं है उसको अरबों की भी सम्पदा मिल जाय फिरभी गरीब है। सम्पदासे क्या होता है ? वह आनन्दका जनक नहीं है। निज शुद्ध आत्मस्वरूपपर दृष्टि जाये तो वहांका आनन्द विचित्र आनन्द है। हम अरहंत सिद्ध भगवंतों क्यों पूजते हैं ? क्योंकि वह आनन्दमय है। सब जीवोंका ध्येय एक आनन्द होता है। ज्ञानकी भी लोग उपेक्षा कर सकते है। हमे ज्यादह ज्ञान न हो, न सही, क्या लेना देना, पर आनन्द तो ज्ञान और आनन्द इन दो मे से छटनी जीव किसकी करेगा ? आनन्द की। किसी से कहा कि तुम्हे बहुत ज्ञान चाहिए या आनन्द ? तो वह क्या मांगेगा ? वह आनन्द मांगेगा ? हालांकि आनन्द ज्ञान बिना नहीं हो सकता है, इस कारण ज्ञान तो आ ही जायगा, पर पाने की इच्छा आनन्द की होती है। तो तुम्हारा आदर्श आराधनीय वही आत्मा हो सकता है, जो शुद्ध अविनाशी परम आनन्दमय हो।

परलोक याने उत्कृष्ट लोकमें पहुंचनेका प्रोग्राम करिये, मनन कीजिये दोहा–१–१११ के प्रवचनांशमें, पृ० ५८–वह परलोक है–ऐसा पर लोग कहते हैं, अर्थात् उत्कृष्ट पुरुष इस उत्कृष्ट लोकको बताते हैं। जिस भव्य जीवके जैसी मति बस गई है अथवा जैसी गति होती है वैसी ही ज्ञानकी स्थिति होती है। जिसका चित्त निज परमात्मस्वरूपमें बस रहा है, विषय कषायके विकल्पोंका त्याग करनेके उपायसे जिसका चित्त निज ज्ञानस्वरूपमें स्थिर हो रहा है उसको तुम परलोक जानो। कोई बड़ी बढ़िया बात सुनाई जाय तो कहते हैं, वाह, तुमने तो अलौकिक दुनियामें मुझे पहुंचा दिया। तो सर्वोत्कृष्ट बात है अपने आत्माके शुद्ध स्वरूपकी, जिसके जान लेनेपर संसारके समस्त संकट सदाके लिए विदा हो जाते हैं। उस स्वरूपमें पहुंच जाये तो वही तो कहलायेगा कि लो यह उस अलौकिक दुनियामें पहुंच गया। यह मन अलौकिक दुनियामें कैसे पहुंचता है ? इसका उपाय है स्वसम्वेदन, ज्ञानका ज्ञान। शुद्ध स्वरूप के पहुंचनके उपायमें आपको पहिले बहुत सी बातें जाननी होंगी।

सर्वविविक्त ज्ञानमात्र आत्माके अनुभवकी प्रेरणा प्राप्त करें–दोहा–१–११३ का प्रवचनांश पढ़िये–पृ० ६८–देखो भैया, ये सब पदार्थ जीवसे चिपटे नहीं है। घर भी आपसे चिपटा हुआ नहीं है, कि आप चलें तो आपके साथ घर भी चल दे। अगर ऐसा होता है तो आपको कोई डर ही न था। देश विदेश हो क्या कहलाता ? जहां जाते तहां ही घर चिपटा रहता। तो घर चिपटा है क्या ? नहीं। परिवारका कोई चिपका है क्या ? नहीं। शरीर भी आत्मासे चिपका है क्या ? नहीं। अगर शरीर आत्मासे चिपका होता तो कभी मृत्यु न होती। शरीरके साथ हां आत्मा बना रहता है और आत्माके साथ रागद्वेष विकार चिपके हैं क्या ? यदि आत्मासे ये रागादिक चिपके होते तो आत्माके साथ सदा रहते। तो मैं इन सब परभावोंसे अत्यन्त भिन्न हूं–ऐसे भावकर्म, द्रव्यकर्म, नोकर्मसे रहित केवल ज्ञानप्रकाशमात्र

जो अपने आपकी श्रद्धा करता है वह जीव सम्यग्दृष्टि है, निकटभव्य है, ससारसे पार हो जाने वाला है।

आत्माके विरोधी रागादि भावोसे आप स्नेह रखगे तो आप पर परमात्मा कैसे प्रसन्न होगे, विचार कीजिये–दोहा–१–१२० के प्रवचनाशमे, पृ० ८३–अभी यहा पर हो किसीके विरोधीसे आप स्नेह लगायें तो उसका प्रेम कम हो जायेगा तो यह तो भगवान् है, परमात्मत्व है, उसके विरोधी हैं काम क्रोधादि कषाय, तो यदि यह विरोधियोसे अपनी मित्रता बढाये तो उस उपयोगमे परमात्मा नही दिख सकता है और जिस उपयोगमे परमात्माके दर्शन नही है, पुत्र मित्र परिवार आदिका ही जहा लगाव है, आत्मा के उद्धारका वहा कोई अवसर नही है। ये लोग खुद असहाय है पापका उदय आ जाये तो ये विह्वल ही हो जायेगे। तो जो विह्वल हो जाये, जिसके पापका उदय आ सकता है। ऐसे जीवोसे हम क्या आशा रखें कि ये मेरे शरण हो जायेंगे।

स्वच्छ हृदयमे हो प्रभुका वास हो सकता है, पढिये–पृ० ८७–भगवानसे कौन मिल सकता है ? वही पुरुष भगवानसे मिल सकता है, जिसने अपने हृदयको निर्मल बनाया हो। हृदयमे तो विषय भरे हो और परमात्मस्वरूपसे मिलन करले, यह कभी नही हो सकता है। मले घरमे तो पडौसीको भी आप नही बैठालना चाहते। कोई छोटा अफसर आ जाय और एक आध घटे पहिले मालूम पड जाये, तो आप बडी सफाई करते हैं और अपने मकानको बडे सुन्दर ढगसे सजाते हैं। अगर घरके एक कोनेमे हडिया रखी है तो उनके आगे सफेद पर्दा लगा देते हैं। तो आप एक आफोसरसे मिलनेके लिए तो घर को साफ और स्वच्छ बनाते हैं और जो भगवान तीनो लोकोका अधिपति है, शुद्ध है, सब लोकोका ज्ञाताद्रष्टा है, दोषोसे अत्यन्त परे है–ऐसे प्रभुको आप अपने घरमे बैठाना चाहे और घरको गन्दा रखे तो क्या प्रभु आपके घरमे आयगा ? नही आ सकता है। जिसका हृदय अत्यन्त स्वच्छ हो, रागद्वेष–रहित, क्रोध, स्वार्थ, वासना कुछ भी न हो, केवल शुद्धस्वरूपकी जिज्ञासा के लिए अपना लक्ष्य बनाया हो तो प्रभु मिल सकता है।

व्यग्रताका फल उत्तम नहीं, किसी भी उद्देश्यमे व्यग्र मत होओ, समतापूर्वक मुक्तिमार्गमे बढो, यही उत्तम कार्य है, इससे सम्बन्धित प्रवचनाश पढिये दोहा–१–१२१, पृ० ९४–भैया, वर्तमानमे इतनी व्यग्रता न होनी चाहिए। कोई सोचे कि महीने दो महीने खूब व्यग्र होले और फिर शान्तिसे समय निकलेगा तो जो अभीसे व्यग्र हो रहा है उसको शान्तिका समय मिलनेका विश्वास क्या है ? थोडा सा कष्ट भोगले, फिर आरामसे रहेगे। यदि ऐसा सोचना है तो मोक्षके लिए सोचो कि थोड समयका दुख भोगलें, ज्ञान का, तपका, व्रतका, ब्रह्मचर्यका, अकेले रहनेका, थोड समयको कष्ट भोग लो, फिर सदा के लिए सब प्रकार का आराम रहगा। सीधा अपना जो स्वरूप है उस स्वरूपरूप अपने को मान लो। दुख तो यहा है नही। दुख तो बनाये जाते हैं, दुख बनाना छोड दो, सुखी अपने आप हो जावोगे, दुख बनता है तो परपदार्थो की आसक्तिसे। परकी आसक्ति छोड दो, बस सब आराम हो गया। लोग पापके फलसे डरते है मगर पाप नही छोडना चाहते और पुण्यसे फलको चाहते है मगर पुण्य नही करना चाहते है। मोहमे दोनो ही तरफके अकल्याणका वातावरण बन जाता है। इस तरह का उत्तम समागम पाकर ज्ञानार्जन का अधिक लाभ उठालें, इससे बढकर उत्तम कार्य अपने लिए और कुछ नहीहो सकता है।

(१४८) परमात्मप्रकाश प्रवचन पचम भाग

इस पुस्तकके परमात्मप्रकाश ग्रन्थके द्वितीय महाधिकारके प्रथम, ३५ दोहो पर पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी

सहजानन्द महाराजके प्रवचन है। प्रथम महाधिकारमे परमात्मतत्त्वका उपदेश प्राप्त करने के बाद इस द्वितीय महाधिकार के प्रथम दोहामे मोक्ष, मोक्षका कारण व मोक्ष फल पूछा जा रहा है। इसी प्रश्नका संक्षिप्त विवेचन पढिये–दोहा–२–१ के प्रवचनांश, पृ० १–यहा प्रभाकर भट्ट योगीन्दुदेवसे उपदेश चाह रहे हैं। हे श्री गुरु, योगीन्दुदेव मेरे को मोक्ष, मोक्षका कारण और मोक्षका सम्बन्धी सर्वफल कहियेगा, जिससे मै परमार्थ हितको जानू। इस दोहे मे शिष्य भट्ट श्री योगेन्दुदेवसे प्रार्थना कर रहे हैं अर्थात् मोक्ष, मोक्षका फल, और मोक्षका कारण इन तीनो बातोको पूछ रहे है। यह दोहा द्वितीय महाधिकारकी भूमिकारूप है। कोई सा भी संकट आया हो किसी जीव पर तो उसे तीन बातोकी जिज्ञासा रहा करती है। इन संकटोंसे छूटनेकी स्थिति क्या है और संकटोसे छूटनेका उपाय क्या है और संकटोसे छूटनेपर वातावरण या फल क्या मिलेगा–ये तीन बातें उसकी जानकारी के लिए रहती है। यह संसारका महासंकट जीव पर छाया है। जो भव्य जीव है, जो संकटोसे छूटनेकी लालसा रखता है वह तीन बातोको अवश्य जानना चाहता है। जो अभिलाषी है, संकटोसे छूटनेका, उसको ये तीन बाते जाननी चाहिए। उन्ही तीन बातोका प्रश्न योगीन्दुदेव प्रभाकर भट्ट ने किया है।

उक्त प्रश्नमे पूछी गई तीन बातोका उल्टा काम भी है जो अभी चल रहा है, उसके सम्बन्धमे भी देखिये–पृ० १–२–इन तीनोंके मुकाबलेमे उल्टी तीन बातोमे तो यह जीव गुजर ही रहा है। मोक्षका उल्टा क्या है? संसार। संसारका स्वरूप, संसारका कारण और संसारका फल। यह भी इन्हे विदित है कि यह संसारका स्वरूप है। विकल्पोमे लगे रहना, संकट बनाकर दुःखी रहना, जन्म मरणके दुःख भोगना यह सब संसारका स्वरूप है। संसारका कारण हैं मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र। यही है संसार का फल, यही है दुःखोका भोगना। रोगी पुरुषकी ६ बाते ज्ञातव्य हैं। यह रोग कैसा है? यह किस कारणसे हुआ है और रोगके फलमे क्या पा रहे है। तीन तो ये बाते है और तीन बाते ये हैं–रोगमे छूटनेका स्वरूप क्या है, रोगसे छूटनेका कारण क्या है और रोगसे छूटनेपर परिणमन क्या होगा? फल क्या मिलेगा? ये ६ बात ज्ञातव्य है। और, तीन बात तो भोग ही रहे हैं, उनको तो पूछना ही था। सो शेष तीन बाते मोक्ष, मोक्ष का कारण और मोक्ष का फल यहा पूछा जा रहा है।

उक्त तीनो प्रश्नोका उत्तर इस ग्रन्थमे क्रमश दिया जायगा, फिर भी संक्षेपमे उनका दिग्दर्शन अभी २–२ दोहाके कुछ प्रवचनांशोमे कर लीजिए–पृ० २–तू शुद्ध आत्माको उपलब्धिरूप मोक्षको जान। मोक्षके मायने क्या है? छूट जाना। छूट जानेमें होता क्या है? जो जैसा है वैसा अकेला रह जाता है। अकेला रह जानेका नाम है मोक्ष। दो रस्सी आपसमे बन्धी हैं, उन दोनो रस्सियोके मोक्षका नाम क्या? अकेले अकेले रह जाना, इसका नाम है मोक्ष रस्सीका। इसी प्रकार जीव और कर्मका अकेले अकेले रह जाना इसका नाम है मोक्ष। अकेलेका रह जाना अच्छा है या दुकेले, चौकेले, अटकेले रहना अच्छा है? दिलसे बताओ, झूठ नही कहना। अकेले कोई नही रहना चाहता। चाहते हैं कि स्त्री हो, पुत्र हो, मकान हो, मित्र हो। अकेले रहनेमे बड़ी घबड़ाहट पैदा करते हैं, अपनेको अशरण समझते है, किन्तु लाभ है अकेले रहनेमे। जो बिल्कुल अकेला रह गया है उसका ही तो हम और आप सुबह हो आकर पूजन बन्दन करते है। अकेले रह जाना बुरा होता तो यहा सुबह ही आकर मन्दिरमे माथा क्यो रगड़ते? जिसके आगे आप माथा रगडते हो वह अकेला रह गया है। कितना अकेला? घर छोड दिया, कुटुम्ब छोड दिया, और अब तो सिद्ध है ना। शरीरसे भी छूट गये, कर्म भी छूट गये। खालिस आत्मा, आत्मा रह गया। तो ऐसा अकेला रह जानेका नाम मोक्ष है।

मोक्षका फल और मोक्षका मार्ग (कारण) क्या है–पढिये पृ० ३–मोक्षका फल है समस्त विश्वको

जानना और समस्त विश्वको जानते हुए उस आत्माका स्पर्श होना और अनन्त शक्ति होना। वह मोक्ष का फल है। ज्ञान और आनन्दको सभी चाह करते हैं। वह अनन्त ज्ञान कहा मिलेगा? केवल आनन्दमे मिलेगा। आनन्दकी आशासे हम बाह्य पदार्थोंमे अपना आकर्षण रखते है तो जैसे यहा बाह्य पदार्थोंमे आसक्ति रखी, समझो कि हमारा आनन्द वहा समाप्त हो जाता है। मोक्षका मार्ग क्या है? सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र मोक्षका मार्ग है।

भगवानको नमस्कार करने की दो विधियोमे कार्य परमात्मा व कारणपरमात्माके धामका सकेत देखिये–दोहा–२–५ के प्रवचनाशमे–पृ० ८–एक कविने कहा है कि प्रभुकी तस्वीर इस हृदयके आइनेमे है। जरा गर्दन झुकावो और अपने इस हृदयके दर्पणमे उस प्रभुको देखलो। भगवानको जो कोई निरखना चाहता है, यह या तो बहुत ऊचा मुह करके देखता है या बिल्कुल अतरगमे मुह करके देखता है। अन्य दिशाओमे या नीचे मुह लगाकर कोई भगवानको नही देखता है। कोई विपत्ति पड जाये तो ऊचा मुह उठाकर कहते है या फिर अपने आपमे गड करके भगवानको देखते हैं ऐसी जो दो पद्धतिया है उसका भाव यह है कि या तो ऊपर सिद्ध लोकमे विराजमान जो मुक्त आत्मा है या तो उसको कहा जा रहा है या फिर अपने आपके अन्तरमे बसा हुआ जो ज्ञानस्वभाव है उस ज्ञानस्वभाव को कहा जा रहा है।

सम्यग्दर्शनका स्वरूप और उसके पाने की युक्ति कितने सक्षिप्त शब्दोमे प्रकट कर दी गई है, पढिये दोहा–२–१३ के एक प्रवचनाशमे, पृ० ४४–४५–सम्यग्दर्शन पाने की कई भावनाये और छोटी छोटी युक्तिया हैं। यह मैं सबसे न्यारा केवल अकेला शुद्ध आत्मा ही उपादेय हू। यह मैं शुद्ध आत्मा ही उपादेय हू–ऐसी बार बार भावना करके रुचि बनाना सो सम्यग्दर्शनका उपाय है। यह मैं शुद्धात्मा अर्थात् शरीररहित, वैभवरहित, विकल्परहित, सर्वमलिनताओसे परे केवल प्रतिभासमात्र आकाशकी तरह निर्लेप यह मैं आत्मा ही उपादेय हू, ऐसी रुचि करना सो सम्यग्दर्शन है।

निश्चयमोक्षमार्ग व व्यवहारमोक्षमार्गकी परख करिये, दोहा–२–१५ के एक प्रवचनाशमे–पृ० ५०–हे जीव जो निश्चय मोक्षमार्गका साधक है उसकोतू व्यवहार मोक्षमार्ग जान। सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्ररूप निश्चय रत्नत्रय ही मोक्षका कारण है। परद्रव्योसे जुदा ज्ञानमात्र आत्माके स्वरूपमे रुचि होना सो सम्यग्दर्शन है और अपने आपके स्वरूपके प्रति ज्ञान होना, विशेषरूपसे यथार्थ गुण पर्यायका परिज्ञान होना सो ज्ञान है और इस ही आत्मस्वरूपमे लीन होना सम्यक्चारित्र है। ऐसा जानने से तू क्या बन जायगा? परम्परासे पवित्र परमात्मा हो जायेगा। व्यवहार मोक्षमार्ग ही इस जीवका प्रथम पुरुषार्थ है। उसके प्रताप से ही उत्तरोत्तर विकास होकर निश्चयमोक्षमार्ग प्रकट होता है। वीतराग सर्वज्ञदेवके द्वारा प्रणीत जीव, अजीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, कालका सम्यक् श्रद्धान होना, ज्ञान होना और आत्मसयमके लिए व्रत आदिका अनुष्ठान होना–यह सब व्यवहार मोक्षमार्ग है और निज जो सहजशुद्ध आत्मस्वरूप है ज्ञानमात्र ध्रुव उस स्वरूपका वास्तवमे स्वरूपरूप आत्मतत्त्वका सम्यग्दर्शन होना, ज्ञान होना और अनुष्ठान होना यह है निश्चयमोक्षमार्ग।

हम अर्थभगवान, शब्दभगवान व ज्ञानभगवान इन तीन मे से किसकी भक्ति किया करते है, इसका समीक्षण कीजिये दोहा–२–२१ के एक प्रवचनाशमे, पृ० ६६–भगवानको तीन रूपोमे निरखो–अर्थभगवान, शब्दभगवान और ज्ञानभगवान। अर्थभगवान और शब्दभगवानसे आपका कोई सम्बन्ध नही है। वह अपनी जगह पर है, हम अपने प्रदेशोमे हैं। आप हम यहा चिल्लाते रहे तो उससे उस भगवान पर कुछ नही गुजरता है। वह प्रभु रागमे आकर, अपने उत्तम पदसे आकर हम आप जैसे लटोरे खचोरोको हाथ

पकडकर तारने नहीं आता है। वह सकल ज्ञेय ज्ञायक और निजानन्द रसलीन है और शब्दभगवान–भ ग वा न, यो चार वर्ण लिख दिया गया हो अथवा बोला गया हो वह है शब्द भगवान। सो शब्द भगवानसे हमारा वास्ता क्या ? शब्द भगवान की हम भक्ति नही करते। अर्थभगवानके सम्बन्धमे जो हमने ज्ञान बनाया, जो कुछ समझा, वह है मेरा ज्ञान भगवान। तो हम अर्थभगवानकी भक्ति नही करते हैं, किन्तु ज्ञान भगवानकी भक्ति करते हैं। भगवानकी मूर्तिके सामने खडे होकर भी यदि अपने हृदयमे, ज्ञानमे, घर वैभव बसा हुआ हो तो हम वहा किसकी भक्ति कर रहे हैं ? ज्ञानकी, ज्ञानपुत्रकी, जडज्ञानकी भक्ति कर रहे हैं तो भगवद्भक्ति नही कर रहे है। आप अर्थात् उस ज्ञानमे भगवानके गुण बस रहे हो, उनके गुणोका स्मरण कर रहे हो, ऐसी शुद्ध स्थितिमे यदि हम रहते है तो हमने भगवानकी भक्ति की अन्यथा जो भी बस रहा हो उसका पूजा हो रहा है। जो हृदयमे बसा हुआ हो, उसकी ही चाह कर रहे हैं। जिनमे मोह बस रहा है वे खुश रहे, ऐसा बुद्धिरहित पूजा है तो भगवानको कुछ नही चढ रहा है वह उनको ही चढ रहा है।

कालद्रव्यका स्वरूप प्रतिपादन करने वाले–२–२१वें दोहा के प्रवचनोमे एक प्रवचनाशमे गृहस्थोंको निर्ममत होकर घरमें रहने की दिशा दी है उस प्रवचनाशपर ध्यान दीजिये–पृ० १२६–जैसे हम और आप कुछ दिनोसे एक साथ है साथ रहते हुए मे जितना चाहिए उतना हम आपसे अनुराग व्यवहार करते हैं और जितना आपको चाहिए हमसे उतना व्यवहार अनुराग करते हैं, पर भीतरमे आपकी हमसे ममता है और न हमे आपको ममता है और व्यवहार भी ठीक चल रहा है जैसा कि करना चाहिए, पर अन्तरमे ममता है, चाह क्या किसी के नही है–दो चार दिन और बीतेंगे, खुशी खुशीसे आप अपने घर जायेंगे, हम भी कही भ्रमण कर जायेंगे। देखो सम्बन्ध बन गया है लेकिन ममता नही है। तो क्या यह बात घरमे नही हो सकती है ? कि सम्बन्ध बना रहे और ममता न रहे ? सम्बन्ध होते हुए भी ममता नही है ऐसा घरमे किया जा सकता है। दृष्टिका प्रताप तो सब जगह है। तो हमारे परिगमनमे जो खोटे और विकारके प्रयत्न होते हैं उनमे तो बाहरी पदार्थ भी निमित्त होते हैं और काल द्रव्य तो हैं ही, और खोटे परिणाम न हो, विकार के परिणाम न हो, शुद्ध परिणाम हो तो उसमे सिर्फ कालद्रव्य निमित्त है। दूसरे और द्रव्य निमित्त नही है।

(१४८) परमात्मप्रकाश प्रवचन षष्ठ भाग

इस पुस्तकमे परमात्मप्रकाशके द्वितीय महाधिकारके ३६ वें दोहोसे ६४ वे दोहा तकके पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराजके प्रवचन हैं। वह आत्मा सवर निर्जरा रूप है, सकलमगलरूप है जो समतासे परिपूर्ण है, आत्मस्वरूपमे लीन है, सकलविकल्पोसे विहीन हैं, पढिये दोहा २–४३८ का एक प्रवचनाश, पृ० –मुनिराज जितने समय तक आत्मस्वरूपमे लीन हुए रहते हैं अर्थात् वीतराग नित्यानन्द परम समरसी भावसेपरि–णमते हुए आत्मस्वभावमे लीन रहते हैं उतनेसमय हे प्रभाकरभट्ट तू उनको समस्त विकल्पोसे रहित सवर और निर्जर रूप जानो। महिमा है आत्मस्वरूपमे लीन रहनेकी। आत्मस्वरूपमे लीन वहीपुरुष होताहै जोअपनेको ज्ञानस्वरूप मानकर रहता है। मैं केवल ज्ञानस्वरूप हू, मात्र ज्ञानरूप हू। ऐसी बराबर भावनाके परि–णाममे जीवको ऐसी स्थिति हो जाती है कि वहा सकल्प विकल्प नही रहते है। ऐसे सकल्प विकल्पसे विहीन उस मुनिराजको तुम साक्षात् सवर और निर्जरा जानो। विकल्प जालोमे कौन विकल्पजाल तो खोटा और बाधक होता है और कौन विकल्पजाल कर्मोके विपाकसे उत्पन्न होता है, पर जीवके मोक्ष–मार्गमे बाधक नही होता। सूक्ष्म दृष्टिसे तो सभी बाधक हैं, पर मुख्य रूपसे सब अनुराग विशेष बाधक नही होते हैं। अपनी जगतमे ख्यातिकी चाह हो तो यह बहुत बडा बाधक विकल्प है।

ज्ञानी संत पुरुष जीवन मरण लाभ अलाभमे समताभाव रखते हैं, इनमे आत्माका लाभ नही है, विकल्प-त्यागमे लाभ है। सत्यलाभकी प्रेरणा कीजिये दोहा २–३६ का एक प्रवचनांश, पृ० ६–ज्ञानी पुरुष जीवन और मरणको एक समान गिनते है, इसी प्रकार किसी का लाभ हो तो दोनो ही स्थितियोमे एक समान मानते है। धन वैभव इज्जत प्रशंसा आदि किसी बात का लाभ हो गया तो उसमे आत्माका क्या बढ गया बल्कि घट गया, और लाभ न हुआ कुछ तो इससे आत्माका क्या घट गया। परवस्तुके परिणमनसे इस आत्माको न लाभ है और न अलाभ है। यह विकल्प करे तो अलाभ है और विकल्प-त्याग दे तो लाभ है। लाभ और अलाभ मे ज्ञानी संत पुरुषो के समान-बुद्धि है। अच्छा गृहस्थावस्थामे यदि धन बढ गया तो कौन सा बडप्पन पाया और धन घट गया तो कौन सी आत्माकी बात बिगड गई? यह जो लौकिक व्यवहार हैं वह मायामय है, असार है। किसी ने भला कह दिया तो उससे कुछ मिलता नही और किसी ने बुरा कह दिया तो उससे कुछ गिर नही जाता। लाभ अलाभ उस ज्ञानी संत पुरुषके एक समान होता है। कोई सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्रका धारण और पोषण करे तो यह आत्माके लाभकी बात है।

आन्तरिक भेदविज्ञानमे सम्यग्ज्ञानका लाभ है, इसका मनन कीजिये–दोहा–२–४० के एक प्रवचनांशमे, पृ० १४–१५–मैं ज्ञानमात्र हू, अन्य किसी रूप नही हू। यदि उपयोगमे कोई अन्य-अन्य रूप भी आये तो उनका निषेध करते जाइये, इस रूप मैं नही हू। मैं तो शुद्ध सहज ज्ञानमात्र हू, ऐसे अपने इस शुद्ध ज्ञान-स्वरूप आत्मतत्त्वके सम्वेदनसे उत्पन्न हुआ वीतराग आनन्द मधुर रससे स्वादमय यह मैं आत्मा कहा तो ऐसा अलौकिक निधिवान और कहा ये कटुकरस वाले क्रोधादिक विकार। जैसे किसी गाडी मे ऊट और गधा दोनो एक साथ जोते जाये तो देखने वाले हसेगे कि खुश होगे? एक बडी गाडी है, एक तरफ गधा और एक तरफ ऊटका जोतना यह तो बेजोड मिलान है इसी प्रकार एक ओर तो यह आत्मा सहज शुद्ध ज्ञायकस्वरूप भगवान है, यदि उसके साथ लगा दिये गये कामक्रोधादिक विकार हैं तो यह बेजोड मिलान हैं। ज्ञानी जन तो इसे देखकर हस ही देगे। अज्ञानी को क्या खबर है? वह तो स्वरूप और ज्ञेय दोनोको एकमेक मिला कर के अनुभव करता है। ऐसे आत्मस्वरूप और निरन्तर आकुलताओके उत्पादक कटुक जिनका फल है ऐसे काम क्रोधादिकमे भेद विज्ञान बनाना सो ही सम्य-ग्ज्ञान है।

पारिणामिक भावका व्युत्पत्ति के अनुसार मर्म परखिये वस्तुस्वातन्त्र्यकी झलक मिलेगी, पढिये २–४३ दोहा का एक प्रवचनांश पृ० २१–पारिणामिक भावका अर्थ क्या है? जिसका परिणाम प्रयोजन हो, स्वय तो निश्चल है, स्वय तो बदल नही जाता चेतन से अचेतन नही, अचेतन से चेतन नही होता, स्वय तो अपरिणामी है, पर निरन्तर परिणमते हुए रहना प्रयोजन है। कोई किसी वस्तु से पूछे कि तुम क्यो हो जी? तुम्हारे होने का क्या मतलब है? तुम किसलिए अस्तित्व रखते हो? तुम्हे तो कुछ आवश्यकता नही, तुम्हारे अस्तित्व रखनेका क्या प्रयोजन है? तो उनका उत्तर है-हम मोडाफाई करें, हम इसलिए हैं। सर्वत्र हम परिणमते रहने के लिए है। हमारे होनेका कोई दूसरा प्रयोजन नही है। सभी वस्तुओ की ओर से यह उत्तर मिलेगा। तो सब वस्तुएँ है और अपने मे ही परिणमती हैं, दूसरे पदार्थो का द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव कुछ भी ग्रहण नही कोई दूसरा करता है। तो सभी द्रव्य सदा मुक्त हैं।

साधुके समता परिणामका अलंकार भाषामे स्तवन पढिये; दोहा २–४४ का एक प्रवचनांश पृ० २६–जो साधु समता परिणामको करता है उस साधुमे दो दोष उत्पन्न हो जाते हैं। क्या? एक तो अपने बन्धुको नष्ट कर देता है और दूसरे–जगतके प्राणियोको पागल बना देता है। अब की तो जा रही है स्तुति पर

सुनने मे लग रहा होगा कि निन्दा की जा रही है। जो समता परिणामको करते हैं वे बन्धुको नष्ट करते हैं। बन्धु शब्द प्राकृतमे दो अर्थ रखता है—बन्धु मायने घरके लोग और दूसरे—कर्म का बन्धन। जो समता परिणामको करते हैं वे बन्धुको खतम करते है वे कुटुम्बके लोगोको नही खतम करते, कर्मो को खतम को खतम करते है। शब्द सुनने मे ऐसा लगता है कि यह बन्धु को खतम करता है। दूसरा दोष बतलाया है कि जगतको दहल कर देता है, जगतको पागल बना देता है। जो कोई इनके उपदेश सुनते है, वस्त्राभूषण त्यागकर घरद्वार छोडकर साधु बन जाते है ऐसा लोगोको दिखता है कि इनके उपदेश ने तो इसे पागल बना दिया है। जैसे किसी साधु के उपदेशको सुनकर अपना लडका भी साधुके पास रहने लगे या घर की परवाह न करे तो कहते है कि साधु महाराज ने तो इस लडके को पागल बना दिया, उसका न घरमे मन लगता न किसी काममे चित्त लगता, उसे तो सत्सगमे ही रहना सुहाता है, दिमाग क्रेक हो गया है, तो दूसरा दोष यह बताया है साधु पुरुषका। पर यह क्या दोष है ? यह तो स्तवन है।

साधुके समतापरिणामका कितना महान लाभ मिलता है इसका चित्रण एक अलकार भाषामे देखिये—दोहा २–४६ का एक प्रवचनाश पृ० २८–२९—यह बहुत बडा दोष कहा जा रहा है। उस साधु पुरुषके जो समता परिणाम करता हो उसे एक और दोष होता है। वह क्या होता है ? कि वह बडा विकल होकर इस जगतके ऊपर चढता है। इसमे कितनी निन्दा है कि वह तपस्वी साधु विकल होकर जगतके ऊपर चढता है। इसका अर्थ देखो—विकल होकर अर्थात् शरीर रहित होकर वि मायने रहित और कल मायने शरीर जो समता परिणाम करता है वह शरीर रहित होकर अकेला जगतके ऊपर लोकके शिखर पर चढता है मायने लोकके अन्तमे चढता है और इसमे दोष रूप वर्णन तो प्रकट शब्दमे भरा है। विकल हो कर इस जगत के ऊपर चढता है। जैसे कोई अधमी पुरुष अपने पर हमला करे तो उसे कहते है कि यह इतना उदण्ड है कि हमारे ऊपर चढता है, इसी प्रकार यह समता परिणाम वाला साधु कसा है कि लोक के ऊपर चढ जाता है। प्रशसा का अर्थ यह है कि लोकशिखरके ऊपर चढकर सिद्ध बन जाता है। यहा यह अभिनन्दन है कि तपस्वी रागादिक विकल्पसे रहित परम उपशम रूप निज शुद्ध आत्माकी भावनाको करता है वह कल अर्थात् शरीरको छोडकर लोकके ऊपर विराजमान हो जाता है। इस शब्द से स्तुति प्रकट होती है। कल मायने शरीर जो भारी वादविवाद करे, वचनालाप करे उसे कहते हैं कल कल कर रहा है, मायने वे शरीर शरीर आपसमे भिड रहे हैं। वचनो से लडाई हो रही हो उसे कहते हैं कल कल। जहा आत्माको बात न हो, विवेककी बात न हो वहा तो कलकल है। लडाई भिडाई के जहा वचन बोले जाय उसे कलकल कहते है। तो ऐसे कलकल को छोडकर लोकके ऊपर समता परिणाम वाले मुनि ठहरते हैं, इस कारण से तो हो गई स्तुति।

ज्ञानी पापोदय व पुण्योदय दोनोमे एक सम न है, इसकी एक भाकी कीजिये २–५६ दोहाके एक प्रवचनाश मे—पृ० ५८—हे जीव जो पापके उदयमे दुख आये और वह दुख शीघ्र ही मोक्षमार्गके उपायकी बुद्धि कर दे तो वह पाप भी बहुत अच्छा है ऐसा अज्ञान ज्ञानीजन कहते है। यह उनका प्रत्युत्तर है जो लाग इस दृष्टिमे बैठे हो कि पुण्यबिना तो धर्म क्रिया हो नहीजा सकता, दान करना, पूजा करना, शुद्ध भोजन करने की भी जब बात छिडती है तो सब अधिक देखा जाता है, शुद्ध भोजन करना, पूजन करना या दान करना या किसी को आहार करना ये बातें पसे बिना कैसे होगी ? पैसा मिलता है पुण्यसे तो पुण्यका धर्म के कार्यो के लगनेमे बडा हाथ है ऐसी जिनकी दृष्टि है उनको उत्तर दिया जा रहा है कि देखो पापका भी कितना बडा हाथ है—जीवको धर्ममे लगाने मे कि जिस पापके कारण जीवको दुख

उत्पन्न होता है, इसलिए उसकी शीघ्र ही मोक्षमे जाने योग्य बुद्धि हो जाती है। पुण्यसे भी कई गुने भले की बात इस पाप ने करदी। भैया ऐसा कहकर कही पापको एकान्तत. भला नही बता दे, किन्तु पुण्य जिनकी दृष्टिमे भला जचता हो उनकी दृष्टिमे समाधान दिया जा रहा है। लो यो देख लो अब तो जान जावोगे कि पुण्य और पाप दोनो ही समान होते हैं। जिस दु खमे उस दु.खके विनाश के लिए जहा भेद और अभेद रत्नत्रयात्मक श्री धर्म की प्राप्ति जीव करता है वह वास्तवमे पापके द्वारा उत्पन्न हुआ दु ख भी श्रेष्ठ है।

पापकर्म व पुण्यकर्म की समानताकी एक औरझलक ले लीजिये दोहा २–६० के एक प्रवचनांशमे, पृ० ७१–जैसे लोग कहते है कि यदि पुण्य हो, आजीविका के साधन हो तो धर्म करते बनता है। फिर चित्त भी धर्ममे लगता है, तो देखो खाने पीने वगैरहा की सुविधा युक्त पुण्य हो तब तो धर्मका भी समय निकले, खाने पीनेके ही लाले पडे रहते हैं, रात दिन विकल्प मचाकर खाने पीने को ही सुविधा नही बनायगे तो क्या आगे बढेगे ? तो देखो पुण्य अच्छा है कि नही ? कुछ समझमे आया, हा पुण्य अच्छा तो हुआ। अच्छा तो इस ओर देखो कि पापका उदय है, दु खसे दु ख पैदा होते है, दु खोके विनाशका उपाय धर्म है, दु खोके विनाशके लिए धर्म की ओर चित्त जा रहा है, तो देखो पापका उदय भला हुआ कि नहीं ? हा समझमे आया कि यह भी भला है। अच्छा पाप बुरा है ना ? हा बुरा है, क्योकि पापके कारण दुर्गतिमे जाना पडता है, बडे बडे कष्ट भोगने पडते है। अच्छा जरा इस ओर देखे–पुण्यसे मिला वैभव, वैभवसे हुआ अहकार, अहकारमे बुद्धि भ्रष्ट भी हुई और बुद्धि भ्रष्ट होनेसे पाप हुए और उससे मिला नरक। तो पुण्यने कहा पहुचाया ? खोटी गतिमे। सो पुण्य भी बुरा है। कितने ही दृष्टान्तोसे निरखते जाओ–पुण्य और पाप दोनो समान मिलते चले जायेगे। यह ज्ञानी पुरुषका चिन्तन है और यह कथन उन्हीको शोभा देता है जो पापको छोडकर शुभ परिणतियोमे आ गये हैं। और जो पुण्यका छोड बैठे है, पापमे रत है उन्हे यह शोभा नही देता है कि पुण्य और पाप दोनो समान हैं।

जिस कारण समयसारकी प्रतीतिमे रहित पुरुषके जप तप आदि मोक्षप्राप्तिमे कुछ भी सहयोग नही दे सकते, इसका परिचय कीजिये २–६५ के एक प्रवचनांशमे। पृ० ८६–यद्यपि आगमोक्त शुद्ध विधानसे वन्दन निन्दन प्रतिक्रमण, आलोचना आदि किये जाये तो वे भी फलदायक हैं तथापि ये सब किसलिए करना चाहिए उस भावका लक्ष्य नही है तो ये वन्दन प्रतिक्रमण आदिक एक कल्पित धुनिकी पूर्ति करके समाप्त हो जाते हैं। जैसे किसी असमर्थ फटाके मे आग देनेसे फुस होकर वह खत्म हो जाता है, अपना कार्य पूर्ण नही कर पाता है, इसी तरह एक ज्ञानमय भावकी झलक बिना और क्या रहना चाहिए–ऐसा निर्णय बिना ये वन्दन, प्रतिक्रमण, ध्यान, पूजन, तप, सयम आदि फुस होकर समाप्त हो जाते हैं अर्थात् जितना कल्पनामे समझ रखा है उतनी ही इति श्री करके रह जाते है। इस उत्कृष्ट तत्त्वका ज्ञान होना, लक्ष्य होना सबके लिए आवश्यक है। साधु हो अथवा गृहस्थ हो लक्ष्य विशुद्ध हुए बिना मुक्तिके मार्गमे कदम उठाया ही नही जा सकता है।

(१५०) परमात्मप्रकाश प्रवचन सप्तम भाग

इस पुस्तकमे द्वितीय महाधिकारके ६५ वे दोहासे १५१ दोहा तकके पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराजके प्रवचन हैं। २–६५ वें दोहामें कहा हैं कि रत्नत्रयभक्त मुनिका यह लक्षण है कि वह देहके भेदमे जीवमे भेद नही डालता है याने सर्व जीवोको एक समान मानता है, देखिये एक प्रवचनांशमे, पृ० १–जो मुनि रत्नत्रयका भक्त है उसका यह लक्षण जानना कि वह किसी भी कुटीमें शरीरमे कोई जीव रहो, उस जीवमे यह ज्ञानी पुरुष भेद नहीं करता है। अर्थात् शरीरके भेदसे जीवोमे भेद नही डालता है। यह सब दृष्टिका

प्रताप है। जहा जीवके सहजस्वरूपपर दृष्टि है वहा एक ही स्वरूप सर्वत्र दृष्ट होता है। शरीरके भेदसे जीवका भेद नही ज्ञात होता। अद्वैतवादमे और जैन सिद्धान्तके एकत्ववादमे अन्तर इतना ही है कि जैन सिद्धान्त तो स्वभावमे दृष्टि को लेकर अद्वैतका वर्णन करता है और अद्वैतवाद सर्वप्रकार से सर्वत्र सर्वदा एक ही अद्वैतका कथन करता है। जैसा सर्वथा अद्वैतवादका सिद्धान्त है—सर्वत्र जीव एक है, उसमे भेद नही है, शरीरके भेदसे भेद करना उपचार है। तो इस स्वभावदृष्टिके अद्वैतवादमे इस स्वभावके अनुभवी पुरुषको स्वभावमात्र दृष्ट हो रहा है। उसके तो फिर इस एकपनेका भी विकल्प नहीं है किन्तु निज अद्वैतका अनुभव है।

समभावस्थित सर्वजीवोको समान परखने वाला मुनि अपने जीवन मरणमे साम्यभाव रखते है, इसका दिग्दर्शन कीजिये—२-१०० दोहा के एक प्रवचनांशमे, पृ० १८-मुनिजन वीतराग निजानन्द एकस्वरूप निज शुद्ध आत्मद्रव्यकी भावना किया करते हैं और इस भावनाके विपरीत रागादिक का परित्याग करते हैं। वे समस्त जीवोको ज्ञान दर्शन स्वरूपकी ओर से एक समान जानते हैं, वे ही पुरुष सम्भावनास्थित हैं। उनके जीवन और मरण एक समान हैं। ये मनुष्य क्यो जीना चाहते हैं। केवल पर्यायबुद्धि करके ऐसा मान लिया कि मैं इस लोकमे कुछ हू, इस लोकमे मेरा सम्मान है, इज्जत है, ऐसा जानकर अपनी इज्जत व अपने सम्मानसे मोह होता है। उनके कारण यह जीना चाहता है। उन सब समागमोसे प्रीति होती है, जो समागम मिले हैं उन्हे छोड नही सकते हैं। इच्छासे जीना चाहते है, किन्तु जिस आत्माने जान लिया कि मेरा स्वरूप केवल ज्ञानमात्र है और उस ज्ञानको ही कर पाता हू, ज्ञानको ही भोग पाता हू तो उसको इस लोकमे जीने की इच्छा न होगी। यहा रहे तो क्या, कही गये तो क्या? हम तो अपने आपमे ही हैं। ऐसे ज्ञानवाले मुनिजनोको जीवन और मरण दोनो एक समान हो जाते हैं।

धंधाका अन्धाधुन्ध काम है, जरा २-१२३ मे दोहाके एक प्रवचनांशको पढिये—पृ० ६९-यह जीव लोक-धन्धमे पड गया। धन्धा किसे कहते हैं—जो आत्माके स्वरूपकी चीज न हो और किसी निमित्त अथवा धुनसे उत्पन्न हुआ हो उसे धन्धा कहते हैं। अथवा खोटे ध्यानोके कारणभूत पदार्थोका व्यासंग करे, संचय करे, तत्सम्बन्धी अनेक चिन्तायें रखे, इन सबको धन्धा कहते हैं। जैसे कोई लोग पूछते हैं कि भाई साहब आप क्या धन्धा करते है? तो उसके पूछने का शब्दोसे यह अर्थ निकलता है कि भाई साहब आप कौन कौन से ख्याल बनाकर अपनेको दुःखी किया करते हैं? धन्धा कहते है खोटे ध्यानको, व्यासंगको। जो मलिन आशय बनाता है उसका नाम धन्धा है।

मरनेका क्या डर मानना, मरने वालेको टोटा नही रहता, टोटा तो जिन्दा बचे रहने वालेको हैं, यह रहस्य देखिये दोहा २-१२६ के प्रवचनांशमे पृ० ८८—भैया, मरने वाले से ज्यादह दुःख बचने वाले को है। मरने वाला तो मर गया, नया जन्म पा गया। जहा गया होगा उसे नई दुनिया दिख रही होगी। हम लोगो का ध्यान न होगा, और जो घरमे जिन्दा बच गया है उसके ज्ञानमे तो सारी बातें ही हैं—हमारा यह गुजर गया, कितना अच्छा बोलता था, कितना अच्छा गुण, कैसा हुआ था। सारी बातें विदित हैं ना, तो उसका वियोग होने पर जो बच गया है उसको दुःख है। तो टोटे मे यह बचने वाला ही रहा। मरने वाला टोटे मे नही रहा। मरने के कारण, वियोग के कारण मरने वाला टोटेमे नही रहा। उसने यदि अपने जीवन मे अन्याय किया, पाप किया, छल किया तो इस कारण से वह टोटे मे रहा, पर मरने के कारण वह टोटे मे नही है। जो यह जिन्दा रह गया है वह वियोगकी घटना गुजरने के कारण टोटे में है।

अध्रुव देहमे विराजमान ध्रुव कारणपरमात्मतत्त्वकी भावनामे अनित्यभावनाके उद्देश्यकी पूर्ति पढ़िये, दोहा २-१३३ के प्रवचनांशमे, पृ० १०१-भैया, अनित्य भावना पानेमे, केवल अनित्य ही अनित्य समझनेसे लाभ नही मिलता, किन्तु नित्य क्या है, यह दृष्टिमे रखकर फिर इन पदार्थो को अनित्य समझनेसे लाभ मिलता है। जैसे जानते जाये कि यह मकान मिटेगा, धन मिटेगा, शरीर मिट जायगा, जो है सो मिट जायगा-ऐसा सुनकर तो इस अनित्यकी भावनासे और घबडा जायेंगे। मकान मिट जायगा, देह मिट जायगा, तो इससे तो आकुलता ही बढने लगेगी, पर अनित्य भावनाके बीचमें ज्ञान यह भरा हुआ है कि तुम यह जानो कि जितना जो कुछ दिखता है, जिस पदार्थ रूपमे वे सब विनाशीक है, किन्तु इन सबके अन्तर परमार्थभूत जो जीवतत्त्व है, आत्मतत्त्व है वह अविनाशी है और बाहरके अनात्मतत्त्वोको दृष्ट करनेसे मिलेगा क्या ? अपने आपका जो शुद्ध जीवस्वरूप है वह ध्रुव है। उस ध्रुवको इस दृष्टि मे लेकर, उस ध्रुवकी भावना करके इन सब अध्रुव पदार्थो की प्रीति छोडनी चाहिए।

योगी पुरुषका परिचय पाइये दोहा २-१४० के एक प्रवचनांशमे पृ० ११४-योगी पुरुष वही है जो पचेन्द्रियसे अलग होकर अपने निश्चय रत्नत्रयरूप आत्माका ध्यान करता है। ये इन्द्रिया पचमगतिके सुखका विनाश करने वाली हैं। यद्यपि ५ वी कोई गति नही होती मगर चार गतिया जब नही रहती है, ऐसी अवस्थाका नाम पचम गति रक्खा है। ये पचेन्द्रिया शुद्ध आत्माकी भावना को विरोधी है। सो इन इन्द्रियोसे दूर होकर जो अपने आत्मस्वरूपका ध्यान करते है वे ही योगी कहलाते है। योगीका अर्थ है जो समाधिस्थ हो। जो अपने आपको चेते उसे योगी कहते हैं। योगका अर्थ जोड है। जैसे कइ सख्या लिखकर जोडते है तो नीचे लिखते है योग। तो योग मायने जोड देना मिला देना। अनेकता न रहने देना। दस रकमे हैं उन्हें जोड दिया, वही योग हो गया। तो योग का अर्थ जोडना है। तो जो पुरुष अपने उपयोगको अपने शुद्ध आत्मामे जोडता है उसको कहते है योगी। अर्थात् वीतराग निर्विकल्प समाधिस्थ जीव अथवा अनन्तज्ञानादि जो स्वरूप है उस शुद्ध स्वरूपमे परिणम जाना, इसका नाम योग है। और योग जिन जीवोके होता है उन्हे योगी पुरुष कहते हैं। अर्थात् ध्यानी और तपस्वी कहते हैं।

पचमकालमे भी कारणपरमात्मतत्त्वकी उपासना करने वालोकी प्रशसाकी एक झाकी-दोहा-२-१४२ मे देखिये-पृ० ११८-भैया, चतुर्थकालमे तो अरहन्त भी देखनेको मिलते थे, ऋद्धिधारी मुनि भी दर्शनके लिए मिलते थे, देवोका भी आगम न था। उनको देखकर धर्मकी रुचि होती थी। अवधिज्ञानी पुरुष थे, धर्म का साक्षात प्रभाव भी देखनेको मिलता था। दूसरोको अवधिज्ञान हो, मन पर्यय ज्ञान हो, केवलज्ञान हो, इस बातको देखकर अपनेको भी सम्यक्त्वको भावना जगती थी। और जब निरखते थे ऐसे परम देवोको तो उनके चरणोमे बडे बड राजा, चक्रवर्ती मुकुटधारी सेवा करने आये थे और बडे बडे राजा महाराजा धर्ममे रत दिखते थे। बलभद्र चक्रवर्ती जैसे महापुरुष भी थे जो धर्ममे प्रमुख थे, ऐसी ऐसी बातें जहा दिखती थी वहा धर्म मे कोई लग जाय, विरक्त हो जाय तो कोई आश्चर्यको बात न थी, किन्तु आज जैसे रीतिकालमे जहा न कोई अरहत मिले और न कोई ढगसे साधु मिले, न कोई धर्ममे वहुत लवलीन रहने वाले ऐसे राजा महाराजा बडे पुरुष मिले और फिर भी किसीका अपने आपमे ज्ञान जगे, विरक्ति जगे, विषयो की प्रति हटे, विषयोका परित्याग करे तो यह बहुत ही बडी प्रशसा की बात है।

आत्महितके लिए ज्ञानमय कारणपरमात्मतत्त्वकी दृष्टि करनेका आदेश देखिये-दोहा-२-१५२ के एक प्रवचनांशमे पृ० १२२-भैया, अपनी सृष्टि "मैं" के निर्णय पर निर्भर है। मैं अपनेको किस रूप मानता हूं,

बस सारी सृष्टि इसके आधार पर चलती है। यह देहादि पर द्रव्योमे मैं की बुद्धि जगे तो जन्म मरण की परम्परा ही इसकी सृष्टि बनती है। और, केवल ज्ञानमात्र स्वरूप इस आत्मज्योतिमे ऐसी सृष्टि बने कि मैं तो यह ज्ञानज्योति मात्र हू ऐसी दृष्टि बने तो जिसकी दृष्टि ऐसी बन गई, जिसकी इस ओर लगन हो गई, उसकी जन्म मरणको परिपाटी दूर होकर ज्ञानविकास, आनन्दविकासस्वरूप मोक्षमार्गकी ओर मोक्षकी सृष्टि होगी—ऐसा तू अपने आपका निर्णय कर। इस देहसे अत्यन्त निराले स्वरूपवाला है, देह तो लोग मरने पर जला डालते हैं, तो क्या तू जलाये जाने वाली चीज है? इस देहसे न्यारा जो ज्ञानमय स्वरूप है उस आत्माको तू देख।

(१५१) परमात्मप्रकाश प्रवचन अष्टम भाग

इस पुस्तकमे परमात्मप्रकाश ग्रन्थके द्वितीय महाधिकारके १५४ व दोहे से लेकर अन्तिम छन्द २१४ वें तक के पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराजके प्रवचन हैं। १५४ वें दोहामे आत्माधीन सुखमे सन्तोष करने का आदेश दिया है, पढिये एक प्रवचनांश पृ० १—हे वत्स, जो आत्माधीन सुख है उससे हो तू सन्तोष कर। इन्द्रियाधीन सुखको चिंतने वालेके हृदयमे दाह नहीं मिटती है। पराधीन सुखकी इच्छामे चित्तमे दाह बना रहता है। इच्छा ही स्वय दाह है और इच्छा के अनुकूल बात न हो तो उस दाह की ओर वृद्धि होती है। कदाचित् इच्छाके अनुकूल सद्धि भी हो गई तो उसे भोगनेकी आकुलता रहती है। इन्द्रिया-धीन सुख सुख नही है। वह तो विडम्बना है। एक आत्माधीन सुख ही वास्तविक सुख है। इसमे कई गुण हैं। प्रथम तो यह आत्माधीन सुख आत्मासे ही उत्पन्न होता है। उसे किसी पर की आधीनता न चाहिए। अन्य द्रव्योकी अपेक्षा न निरखनेसे उत्पन्न हुआ वह सुख है। दूसरे वह सुख गुणोका जगाता हुआ उत्पन्न होता है। ज्ञानसे सम्बन्ध रखते हुए वह आनन्द है। भूल भुलावे का वह मौज नहीं है। जैसे संसारी मौज है तो वह भूल भुलावेको बढाता हुआ होता है किन्तु वह आत्मीय आनन्द ज्ञानभावको जगाता और बढ़ाता हुआ होता है। यह शुद्ध आत्माके सम्वेदनसे उत्पन्न होता है। ऐसा जो आत्माधीन सुख है, हे वत्स तू उस सुखमे ही सतोषकर।

अपने उपयोगको अपने कारणपरमात्मतत्त्वमे मिला देनेमे धर्मपालन है, कल्याण है इसी मे मानव जीवन सफल है। इसकी प्रेरणा लीजिये दोहा १५७ के एक प्रवचनांशमे, पृ० ९—यह सविकल्प आत्मा यदि परमात्मामे नही मिलाया जाता—यहा किसी दूसरे परमात्माको मिलाये जाने की बात नही कही है, किन्तु यह कहा जा रहा है कि यह सविकल्परूपसे उपस्थित हुआ निजात्मा और स्वभावदृष्टिसे अनादि अनन्त अहेतुक विराजमान शुद्ध चैतन्यस्वरूप भगवानमे अपनेको नही जोडते हैं तो उसका और धार्मिक क्रियाओके योगका क्या नफा मिलेगा? जब तक यह अपनी धुनका पक्का न हो सकता तब तक यह अपने कार्यमे सफल नही होता। जीकर करना क्या है? धन जुड गया लाखोका, करोडो, मगर उससे मिलेगा क्या? मृत्यु होगी, अकेला ही जायगा और अकेला ही ससारके सुख दुख भोगेगा। क्या मिलता है? यहा किसी के व्यवहार करनेसे, किसी के अनुरागमे, प्रेमालापमे अपना समय खो देने से इस जीवके हाथ कुछ नही आता है-बल्कि कुछ ही समय बाद जो राग वश समय खोया है उसका इसे पश्चाताप होता है।

मनको मार जाना ही मनकी उत्कृष्ट स्थिरता है और स्थिर मनमे ही धर्मका वास सम्भव है, देखिये २-१६१ दोहाका एक प्रवचनांश—पृ० २१—जैसे इच्छाकी पूर्ति परीक्षाका नाश—ये दो चीजें अलग नही हैं। इच्छाके नाशका ही नाम इच्छाकी पूर्ति है। बस हमारी तो इच्छा पूर्ण हो गई। इसका अर्थ यह है कि

हमारी वह इच्छा नही रही। इच्छाकी पूर्ति जैसे किसी कपडेके बोरेमे अनाज भर दिया जाय इस तरह से इच्छा की पूर्ति नही होती। इच्छा बनाओ, मजबूत करो, खूब इच्छा भर लो, उससे इच्छाकी पूर्ति नही होती। इच्छा न रहो, यही इच्छा की पूर्ति है। कोई भी आराम या विषयसाधन किया, जिसमे यह जीव इच्छा की पूर्ति मानता है। तो जब उसकी इच्छा पूर्ण होती है उस समयकी उसकी क्या स्थिति होती है कि उस तरह का ख्याल नही रहा। इच्छा नहीं रही। तो जैसे इच्छाके विनाश का ही नाम इच्छाकी पूर्ति है इसी तरह मन के मर जाने का ही नाम मन की स्थिरता है। भैया, एक ओर अपना उपयोग लग गया तो मन का जो काम था वह नही चल रहा है। मन का काम है चचलता। विकल्प जालसे उठा उठा फिरता रहे।

जिसका अम्बर मे निवास है उसका मन मर जाता है, श्वासनि. श्वास टट जाता है, केवलज्ञान रूप भी वह परिणम जाता है, इस विवरणका उपसहार देखिये २–१६३ दोहाके प्रवचनाशमे पृ० ३०–अब यह बतला रहे हैं कि मुनिका उपयोग जब अम्बरमे रहता है. अम्बर का अर्थ है रागद्वेषरहित निजस्वरूप, निजस्वरूपमें रमता रहता है उस समय मोह टूट जाता है। मन भर जाता है और श्वास रुक जाती है। तो अम्बर का अर्थ यहा आकाश नही लगाना, क्योकि आकाशके जाननेसे मोह नही मिटता है और भाव यह लेना है कि जैसे आकाशमे पोल है सूनापन है, इसी प्रकार आत्मामे सूनापन है। रागादिक भाव नही हैं। उसका ही मात्र उसमे स्वरूप है। और श्वास रोकने का अर्थ लेना कि बिना चाही वृत्तिसे सूक्ष्मरूपसे यह श्वास तालू से भी निकलती है और नाकसे भी निकलती है, ऐसी स्थिति निर्विकल्प समाधिमे होती है और उस निर्विकल्प समाधिसे केवल ज्ञान प्राप्त होता है।

कोई मेरे अवगुण ग्रहण करके सतुष्ट होता है तो मैं इसमे लाभ मानता हू, देखिये इसकी युक्ति दोहा २–१८६ के प्रवचनाशमे–पृ० ६८–मेरे अवगुण ग्रहण करनेसे यदि किसी जीवको सतोष होता है तो मैं यही तो लाभ मानता हू कि मैं दूसरे जीवोके सुखका कारण तो बना, ऐसा ही मनमे विचार करो। मैं दूसरे के सुखका कारण तो बन गया। सो ऐसा मानकर गुस्साको दूर करो। कोई जीव धन खर्च करके दूसरो को सुखी करता है, कोई जीव अपनी ओर से सेवा करके शरीरकी खुशामद करके दूसरेको सुखी करता है तो कोई जीव मेरे को लक्ष्यमे लेकर गाली देकर खुश होता है तो मैं आज उसके सुखका कारण तो बना। ऐसा जानकर रोष न करो। किसी के निष्ठुर वचन सुनकर गाली भरी बात सुनकर अपने को क्या क्या करना चाहिए इसका आज प्रकरण है।

उपयोगकी उत्कृष्टताकी ओर का क्रम देखिये दोहा २–२०८ के प्रवचनाशमें, पृ० १०१–भैया, अशुभोपयोगके बाद शुद्धोपयोग किसीके नही होता शुभोपयोगके बाद शुद्धोपयोग होता है, पर शुभोपयोगके बाद शुद्धोपयोग उनके हो सकता है जो शुभोपयोगमे रहकर भी शुद्धोपयोगका लक्ष्य रखते हैं। दृष्टि बनाते हैं। तो इस तरह जब पहिली पदवीमे रहने वाले जन है उनमे व्यवहारका आलम्बन अधिक होता है और निश्चयका आलम्बन कदाचित होता है। वे ज्ञानी व्यवहारमे रहकर भी दृष्टि रखते है आत्मस्वभावकी ओर जैसे उनका विकास होता है वैसे ही उनके व्यवहारका आलम्बन कम होता है और पश्चात् ऐसी स्थिति आती है कि व्यवहारका आलम्बन कतई नही रहता है। एक निश्चय ही आलम्बन रहता है। पश्चात् ऐसी स्थिति होती है कि निश्चयनयका आलम्बन भी छूटता है और यथार्थ जसा स्वरूप है वैसा परिणमन होता है। वही परिणमन अरहन्तप्रभुका है।

प्रभुस्वरूप प्रकट करने के दो तरीके देखिये–२–२०६ दोहाके प्रवचनाशमें, पृ० १३२–भैया, अग्नि जलानेके दो तरीके हैं–एक तो आग से ईन्धनको छुवा देना, जैसे दीपक जलानेका तरीका बातीको जले

हुए दिया से छुवा दें तो वह पाती जलती ही रहती है। कोयलामे आग जला दिया तो कोयला जलने लगता है। तो आग जलानेका पहला तरीका यह है कि उस ईन्धनमें आग डालदे। आगसे ईन्धनका सम्बन्ध कर दिया तो आग जलती रहती है और आग जलानेका दूसरा तरीका क्या है कि जगलमे खटे हुए वास बड़ी तेज हवा चलने से एक दूसरे मे रगडते है तो वासोका आपसमे रगडने से आग पैदा हो जाती है, पत्थरमे पत्थर मारते है तो आग जलना है। चमक होता है ना, उसे पत्थरमे मारते हैं तो आग जलने लगती है। वहा आग का सम्बन्ध नही है, मगर परस्परमे रगडनेसे आग जल उठती है, इसी तरह प्रभुस्वरूप प्रकट करने के दो तरीके है—तरीका तो आखिरी उनमे एक ही है, मगर एक कुछ पूर्वका तरीका और कुछ पूवका भी और अन्तका भी तरीका। तो प्रभुता प्रकट करने के दो तरीके हैं—पहिला तो यह है कि जो परमात्माका स्वरूप है, अरहत सिद्धका स्वरूप है उनके स्वरूपमे अपने उपयोग को ले जाय यह तो हुआ इस तरह कि जैसे ईन्धनको आगमे छुवाया और आग जल उठे, इसी तरह अपने उपयोग को परमात्माके स्वरूपमे लगाये तो परमात्मस्वरूप प्रकट हो जायगा और दूसरा तरीका यह है कि अपने आपके आत्माका जो सहजस्वरूप है उस स्वरूपको ही अपने उपयोगमें लगायें तो परमात्मतत्त्व प्रकट हो जाता है। यह परमात्मा पद अपने आप की उपासना से प्रकट हो जाता है।

दोहा—२—२१४ के एक प्रवचनाशमे बताया है कि शब्दोकी सीखसे आत्मज्ञान नहीं होता, किन्तु स्वसवेदन ज्ञानके यत्नमे ही आत्मज्ञान हो सकता है, इस एक स्थानाग पढिये—जैसे किसी बच्चे को तैरने की सारी बातें सिखा दे—पानीमे यो गिरना, हाथोका यो चलाना, पानीको यो फटकारना, सिखा दिया बच्चेको। अब पानीमे छोड़ दा, सिखा तो दिया ही है। अब वह बच्चा ठीक ठीक तैर लेगा क्या ? तो बचनोंसे सीखा हुआ बच्चा पानीमें तैर नही सकता। पानीमे गिरकर पडकर कोशिश करता है सीखा हुआ मनुष्य ही पानीमे तैर सकता है, इसी प्रकार शब्दो द्वारा ऐसी बात सीख ली जाने पर भी आत्माको पकड नही होती। शब्दो से सीखा हुआ हो अथवा न सीखा हुआ हो, जो स्वसवेदन ज्ञानका यत्न करेगा वही इस आत्मा को जान सकेगा।

(१५२) सुख यहा प्रथम भाग

पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराजने सहजानन्द गीताकी रचना की, जिसमे आध्यात्मिक अनेक ऐसी युक्तिया अति सक्षपमे प्रत्येक सस्कृत श्लोकमे रचकर समझाई, जिनमें यह प्रेरणा मिलती है कि अपने में अपने लिए स्वय सुखी होना ही तथ्य है, इसमे ३६५ श्लोक हैं प्रत्येक श्लोकका चौथा चरण—स्यास्वस्मै एव सुखी स्वय है। इस विरचित सहजानन्द गीता पर आपके प्रवचन भी हुए हैं। इस प्रथम भागमे प्रथम अध्यायके ६१ (सव) श्लोकोका प्रवचन है। श्लोक न० १–२ बताया है कि जैसा सिद्धात्माका स्वरूप है वैसा निजात्माका भी है, भ्रमसे ही मैं दुखी हुआ, अब भ्रम दूर करके अपनेमे अपने लिए स्वय सुखी होऊ। इससे सम्बन्धित एक प्रवचनाश देखिये पृ० ११-उत्पाद व्यय ध्रौव्यरहित कोई द्रव्य नही है। मेरे अज्ञानपर्यायका व्यय होकर ज्ञानपर्यायका उत्पाद होकर निज स्वभावमे आनन्द वर्तेगा, अत अपने आपमे विश्वास बना लेना चाहिए कि जो मैं हू वह भगवान है तथा मैं वही हू जो भगवान हैं मैं वह हूं जो हैं भगवान जो मैं हू वह है भगवान। इससे आत्मबल बढता है, इससे ज्ञाता दृष्टा रहनेकी शक्ति प्राप्त होती है, चिन्तायें दूर होती हैं। सिद्ध प्रभुकी तरह केवल ज्ञानमय बननेका क्या उपाय है? अपने आपको केवल निरखना, ज्ञानमय निरखना, केवलज्ञानी बननेका उपाय है। हम अपनेको जिस रूपमे निरखेगे उस रूपकी प्राप्ति होगी। अत हम अपने को यथार्थ सहज निज स्वरूप जैसा है वैसा ही चित्स्वभावरूप अपने को अनुभवें। मैं स्वत सिद्ध सत्

हूँ। स्वत परिणामी हूँ, स्वतत्र हूँ। विज्ञानानन्दघन स्वच्छ अविनाशी हूँ, इसप्रकार अपना अनुभव करो। सत्य सुखी होनेका यही एक उपाय है।

लोग कर्तृत्वबुद्धि रखकर आकुलित होते रहते हैं, श्लोक १–५ कर्तृत्वबुद्धि को मिथ्या बताया है, इससे सम्बन्धित प्रवचनांश देखिये–पृ० १६–मैं अपने अतरगकी वेदनासे बोधा गया होकर अपनी शान्ति के लिए चेष्टा कर रहा हूँ। स्वयं की जो मेरी पीडा है उसे सहन न कर पाने के कारण ही शान्ति प्राप्त करने की चेष्टा कर रहा हूँ। इससे मै किसी का उपकार नही कर रहा हूँ। ग्रन्थकार भी ग्रन्थ लिखनेका यही कारण बताते हैं कि ससारी जीवो का दुख देखकर मुझे दुख हुआ। अत अपनी वेदना को शांत करने के लिए ही मैंने ग्रन्थ लिखा है। इसमे परोपकार कैसा ? मैंने जो कुछ किया है वह अपनी शान्तिके लिए ही तो किया। किसी द्रव्यका किसी अन्य द्रव्यमे परिणमन हो ही नही सकता। फिर किसी भी पदार्थमे इष्ट अनिष्ट बुद्धि व कर्तृत्वबुद्धि क्यो हो। वीतरागविज्ञान अर्थात् रागद्वेषरहित ज्ञान न होने के कारण क्लेश ही है।

आत्माकी अन्य सर्वविविक्तताका चिन्तन देखिये श्लोक १–६ के प्रवचनांशमें, पृ० ३७–मैं स्वय तो सर्व कल्याणमय हूँ, सत् हूँ, अत अमर हूँ, किन्तु प्राकृतिक मायारूप प्रभावोको अपनाकर अपने को मरने वाला समझ लिया, इसी कारण मैं मरणके दुखसे त्रस्त होता हूँ। मै अनादि सिद्ध सत् हूँ परिपूर्ण हूँ, मेरे जन्मकी आवश्यक्ता भी नही, और न मेरा जन्म होना है, किन्तु प्रवृति जन्म (कर्मोदय प्रभाव) स्कधोका सयोग व उस बीच अपने आपको समझकर मैं जन्म का भ्रम कर लेता हूँ और इससे दुखी रहता हूँ। मेरा तो मेरा चैतन्यस्वरूपमात्र है, मेरे शरीर कहा है ? जब शरीर ही मेरा नही तो रोग मेरे कहासे होगे ? अर्थात् जब शरीर ही मेरा नही है तो अन्य चीजोकी तो कथा ही क्या ? इस कारण न मेरा यह जगत है और न जगतका मै हूँ। ऐसे सबसे निराले अद्वैत ज्ञायकस्वरूपमात्र अपने आपमे रहूँ और आनन्दमय बनूँ।

रागभाव हटाकर अपनी स्वतत्रता पाने के लिए मार्गदर्शक एक प्रवचनांश पढिये, श्लोक–१–१७ पृ० ६१–देखो यह रागभाव जो कि दुस्त्याज्य बन रहा है क्या है ? केवल कल्पनाका बुलावा है। वस्तुका विचार करो तो राग न तो आत्माकी चीज है, न कर्मो की चीज है और न विषयो की चीज है. फिर भी इस मायामे कैसा बाधक बन रहा है कि विषयोका तो आश्रय है, कर्मोदयका निमित्त है और आत्मा उस क्षणका वह एक परिणमन है। परमार्थ देखो तो कुछ भी तथ्य नही है। ये विषय भी छूटगे, टलेगे। जो परपदार्थ है, इनका सयोग अवलम्ब है कोई कायदेसे या सनातनसे या खातिरीसे नही है। वे कर्मोदय भी उसी क्षण मिट जाते है जिनका कि निमित्त पाकर ये रागादिक भाव होते हैं, अगले क्षण अन्य कर्मोदय हो जाते हैं। इतनी विडम्बना रहती है जिसका परिणाम यह है कि बन्धन चलता रहता है। ये रागादिक भाव भी एक क्षण होकर मिट जाते है। यह बात और है कि और और रागादिक भाव निरन्तर होते चले जाते है। इन भावोमे तथ्य कुछ नही है। रागादिक भाव असार हैं, दुखरूप हैं, मिटते तो ये हैं ही, ज्ञानबलसे खुद मिटा दिया जाय तो आनन्दमय प्रभुके दर्शन भी होगे। इन रागादिक भावोके कारण ही स्वतत्रताका विनाश है। वास्तविक स्वतत्रताका विनाश होने पर भगवानका दर्शन असम्भव है। आत्मदर्शन असम्भव है। सो अब रागादिक भावोसे भिन्न अपने ज्ञायकस्वरूपको लक्ष्यमे लेकर स्वतत्र होऊ और स्वय स्वयमे आनन्दमग्न होऊ।

अपनेको मात्र ज्ञाता द्रष्टा देखनेमें शान्तिका लाभ है इसकी झाकी श्लोक–१–१९ के एक प्रवचनांशमे देखो–पृ० ६६–यदि अपने आपको केवल द्रष्टा देखे और सब प्रकारकी विधिसे अपनेको प्राप्त कर

रहे, याने सामान्यरूप रहे तो अपने आप कुछ सुखी हो सकते हैं। सुखस्वरूप तो हम है ही, सो यदि सुखस्वरूप अपने को जाने तो यह पूर्ण सुखी हो जायगा मैं केवल ज्ञानमात्र हू, इस आत्माका किसी भी पदार्थ से किसी भी प्रकार का सम्बन्ध नही है। मैं स्वतत्र हू, अविनाशी हू ऐसा अपने को भावनेका निरन्तर प्रयत्न करना चाहिए।

जहा समस्त पदार्थ प्रतिभासित होते हैं वह मैं हू, फिर भी प्रतिभास पदार्थोंसे निराला स्वतत्र हू, पृ० ८८—मै क्या हू, जहा यह सारा विश्व प्रतिभासित होता है वह मैं हू। ज्ञानका काम जानना है, थोडा जानना नही, बस जानना है, सब जानना है, क्योकि आत्मा का स्वभाव जानना है। उस जानने मे कोई सीमा नही है। कितना जानना ? उसका तो जाननेका स्वभाव है और जानना कोई सापेक्ष नही है कि सामने की ही जाने, जान जावो सामने को ठीक है किन्तु उसके हिसाबसे जानना नही है, किन्तु यदि कोई वस्तु है उसका जानना है सत् के हिसाब से जानना है। सामने के हिसाबसे जानना नही है। दस बीस कोस के हिसाबसे जानना भी नही है। किन्तु है तो वह सब जाननेमे आता। चाहे वह क्षेत्र कालकी दूरीके रूपसे है, चाहे किसी तरह से है, है तो जान लेना। फिर आत्माके ज्ञानका कितना जानने का स्वभाव है। कितना है ? कितना जाननेका काम है ? सर्व। जो कुछ भी सुख होता है वह सब जाननेमे है, किन्तु यहा मुझमे जगत नही है और आत्मामे जो यहा आकार बन गया, आत्मामे ज्ञयाकार बन गया, प्रतिभास बन गया, वह भी मैं नही। ऐसा मैं शाश्वत हू, किन्तु दुखकी बात यह है कि उस पर दृष्टि नही, जहा पर सारा विश्व प्रतिभासमान होता है। जहा सारा विश्व प्रतिभासित होता है, वह तो मैं हू, पर मैं प्रतिभास नही, क्योकि मैं आनन्द निधि ज्ञानचेतनामात्र हू, शक्ति मात्र हू।

भ्रमसे होने वाला क्लेश भ्रमविनाशसे ही नष्ट हो सकता है इससे सम्बन्धित एक प्रवचनाश श्लोक १—३८ मे देखिये—पृ० १३३—जितना भी क्लेश होता है वह सब भ्रमसे होता है। तो अपने आप ऐसा अनुभव करो, ऐसा उपयोग बनाओ कि मैं अपने सत्त्व मात्र हू, ज्ञान और आनन्दानुभव मात्र हू, शरीरसे न्यारा हू, सब पदार्थों से निराला हू, केवल मै आनन्द को करता हू और ज्ञानानन्द को ही भोगता हू। ज्ञानानन्दमे रहने के अतिरिक्त और मै कुछ नही हू। इसी तरह से तू अपने स्वरूपका अनुभव कर तो वहा कुछ क्लेश नही है, कोई विपत्ति नही है। विपत्तितो भ्रमसे बनती है। भ्रम समाप्त हो जाते ही विपत्ति समाप्त हो जाती है, पदार्थ उसे दुखित नही करते। पदार्थ तो पडे हैं जहा हैं तहा हैं। वे अपना स्वरूप व परिणमन लिए हुए हैं निरन्तर परिणमन करते रहते हैं, कोई भी पदार्थ हमे दुखी नही करता। न वे दुखी करते थे और न वे सुखी करेंगे। यह जीव अपने आप स्वय भ्रम बना बना करके नाना कल्पनाय करके अपने आप दुखी होता है।

आनन्दका धाम एकान्तस्थानको परखले श्लोक—१—३८ के एक प्रवचनाशमे पृ० १५८—ऐसा कौन सा स्थान है जहा रहने मे क्षोभ नहो। तो वह स्थान बाहर कही भी नही मिला, क्योकि बाह्य से अपने आपसे कोई सम्बन्ध नही। बाह्य पदार्थ न तो क्षोभका कारण होता है और न शान्तिका कारण होता है। वह स्थान तो स्वय यह ध्रुव आत्मा है। जो अपने सब परिणमनो का स्थान है, आधार है वह मै ही हू, यह मैं सबसे निराला शुद्ध चैतन्यमात्र भगवान आत्मा हू, ज्ञानमय हू। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान आदि रूप मेरा परिणमन होता है, किन्तु ये सब पर्यायें हैं, दूसरे क्षण नही रहती हैं। इन सब रूप पर्यायें जिस शक्तिकी होती हैं वह शक्ति मैं हू। वह है ज्ञानशक्ति। वह ज्ञानशक्तिमात्र मै हू। ऐसा यह मात्र ज्ञानस्वरूप मैं स्वय एकान्त हू, इस एकान्तमे मैं बसु तो वहा कोई क्षोभ नही है। ऐसे इस निज सहज ज्ञायकस्वभावमे अपने आपमे रहू और स्वय स्वय मैं सुखी रहू।

(१५३) सुख यहां द्वितीय भाग

इस पुस्तकमे सहजानन्द गीताके द्वितीय व तृतीय अध्यायके श्लोकोपर प्रवचन हैं। श्लोक २-६ के एक प्रवचनांशमे भावनाका निर्णय करिये कि अपने को देहसे मिला हुआ ही रहना है या देहसे अलग होना है। पृ० २३-अब तो निर्णय करलो कि ससार मे न्यारा रहना है या जगतसे मिलकर रहना है। यदि मुझे जगतसे भिन्न रहना है तो अपने को जगतसे भिन्न देख। और यदि अपने को जगतसे मिला हुआ रखना है तो अपने को जगतसे मिला हुआ देख। यदि जगतसे मिला हुआ रहता तो उसे सकर कहते है। तो तू अपने को जगतसे भिन्न रखनेका प्रयत्न कर। जगतसे भिन्न रखनेका एक सही उपाय यह है कि तू अपने को जगतसे भिन्न देख। जो अपनेको जगतमे भिन्न देखता है वह भिन्न हो जाता है और जो अपने को सकर याने जगतसे मिला हुआ मानता है वह सकर अर्थात् जगतसे मिला हुआ रहता है। भाई कल्याणका वडा सरल उपाय है। केवल अन्तरमे अपने आपको मानना है कि मैं ज्ञानमात्र हू, निर्मल हू, जगतसे न्यारा हू। भाई अपने आपमे ऐसी दृष्टि वनाना कुछ कठिन है क्या ? अरे यह तो अत्यन्त सरल है, मगर अतरग सयम चाहिए। अपनी अतरग आत्माको सयत कर सको, ऐसा ज्ञान चाहिए।

मोहकी बेवकूफी दूर होने पर वास्तविक आनन्दामृतका पान होता है, देखिये इसमे सम्बन्धित एक प्रवचनांश श्लोक-२-१५ पृ० ७४-भया, अपने मोह को बेवकूफी देखना कठिन है तो दूसरेलोगोकी मोहको बेवकूफी का स्वरूप जान लो। व्यर्थ ही लोग विकल्प करके परेशान होते हैं और व्यर्थ ही तुम विकल्प करके परेशान होते हो। जिसे तुम अपना लडका वताओ उससे तुम्हारा क्या सम्बन्ध है ? वे तो जुदा जुदा हैं। उनसे तुम्हारा कोई सम्बन्ध नही है यदि तुम्हारे घरमे दूसरा कोई पैदा होता है तो उससे तुम मोह करने लगते। अरे जो पैदा हुआ उसका तुम कुछ कर लेते हो क्या ? यह मेरा है, यह आशय आना ही दुःखका कारण है, दूसरा कुछ दुःखका कारण नही है। अपने वारेमे यह विश्वास करो कि मैं अपने आपमे हू, स्वतत्र हू, मैं ही अपना कारण हू, मैं ही अपना कार्य हू। मैं जो कुछ कर सकता हू अपने को ही कर सकता हू, मैं अपने को ही भोग सकता हू। अपने स्वरूपसे वाहर दूसरे को कुछ न कर सकता हू और न भोग सकता हू, और दूसरे लोग भी मेरा कुछ नही कर सकते है। सब वस्तुमे अपने अपने स्वरूपमेहै ऐसा यदि अपने आपका विश्वास हो तो अमृतभावका पान कर सकता है। जिसने इस अमृतभाव का अमृतपान किया उसको आनन्द है। हे नाथ धन्य है वह क्षण जब सबका छोडकर अपने आपपर शुद्ध नजर करोगे। यदि वाह्यमे ही फसे रहे तो वरवादी होगी। इन जीवोमे जिसके पीछे पड रहे हो वे अशुद्ध जीवपदार्थ है। वे अपने आपके स्वार्थ के लिए अपनी चेष्टा कर रहे हैं। इस मायामय जगतके पीछे मोहमे पडकर मोही व्यर्थ वरवाद हो रहे है। अर्थात् अपना ख्याल वनाकर अपनी कल्पनायें वनाकर ही दुःखी हो रहे है। तो जगतका स्वरूप जव जान लिया तो फिर कष्ट ही क्या है ? जो जैसा है वैसा जानते जाये तो स्वरूपरमण होना सुगम ही है। सो अब मेरी ऐसी ही भावना हो कि अब मैं तो अपने ही स्वरूप को रुचि करके अपने लिए अपने आपका पाकर विश्राम पाऊं और सुखी होऊ।

इच्छाओंको लताड लगाये, पढें श्लोक २-२० का एक प्रवचनांश-पृ० ११८-भैया, इन इच्छाओं को हटा दो, इनसे कोई मतलब नही निकलता। कुछ भी इच्छा करो उससे लाभ नहीं मिलने का है इच्छाओंका पता भी नही कि अब क्या इच्छा उत्पन्न हो जाय। जैसे ऊटका पता ही नही रहता कि वह किस करवट वैठे। वैठते भी है पता नही रहता कि यह किस तरफको वैठ रहा है। पहले तो वह जरा सा भुकेगा फिर पैर लगाकर वैठ जाता है। जब वह वैठ जाता है किसी तरह से तो फिर पता

रहे, याने सामान्यरूप रहे तो अपने आप कुछ सुखी हो सकते हैं। सुखस्वरूप तो हम है ही, सो यदि सुखस्वरूप अपने को जान तो यह पूर्ण सुखी हो जायगा मैं केवल ज्ञानमात्र हू, इस आत्माका किसी भी पदार्थ से किसी भी प्रकार का सम्बन्ध नही है। मैं स्वतत्र हू, अविनाशी हू ऐसा अपने को भावनेका निरन्तर प्रयत्न करना चाहिए।

जहा समस्त पदार्थ प्रतिभासित होते है वह मैं हू, फिर भी प्रतिभास पदार्थोंसे निराला स्वतत्र हू, पृ० ८८२ में क्या हू, जहा यह सारा विश्व प्रतिभासित होता है वह मैं हू। ज्ञानका काम जानना है, थोडा जानना नही, बस जानना है, सब जानना है, क्योंकि आत्मा का स्वभाव जानना है। उस जानने मे कोई सीमा नही है। कितना जानना ? उसका तो जाननेका स्वभाव है और जानना कोई सापेक्ष नही है कि सामने की ही जाने, जान जावो सामने को ठीक है किन्तु उसके हिसाबसे जानना नही है, किन्तु यदि कोई वस्तु है उसका जानना है सत् के हिसाब से जानना है। सामने के हिसाबसे जानना नही है। दस बीस कोस के हिसाबसे जानना भी नही है। किन्तु है तो वह सब जाननेमे आता। चाहे वह क्षेत्र कालकी दूरीके रूपसे है, चाहे किसी तरह से हैं, है तो जान लेना। फिर आत्माके ज्ञानका कितना जानने का स्वभाव है। कितना है ? कितना जाननका काम है ? सर्व। जो कुछभी सुख होता है वह सब-जाननेमे है, किन्तु यहा मुझमे जगत नही है और आत्मामे जो यहा आकार बन गया, आत्मामे ज्ञयाकार बन गया, प्रति-भास बन गया, वह भी मैं नही। ऐसा मैं शाश्वत हू, किन्तु दुखकी बात यह है कि उस पर दृष्टि नही, जहा पर सारा विश्व प्रतिभासमान होता है। जहा सारा विश्व प्रतिभासित होता है, वह तो मैं हू, पर मैं प्रतिभास नही, क्योकि मैं आनन्द निधि ज्ञानचेतनामात्र हू, शक्ति मात्र हू।

भ्रमसे होने वाला क्लेश भ्रमविनाशसे ही नष्ट हो सकता है इससे सम्बन्धित एक प्रवचनांश श्लोक १-३८ मे देखिये-पृ० १३३-जितना भी क्लेश होता है वह सब भ्रमसे होता है। तो अपने आप ऐसा अनुभव करो, ऐसा उपयोग बनाओ कि मैं अपने सत्त्व मात्र हू, ज्ञान और आनन्दानुभव मात्र हू, शरीरसे न्यारा हू, सब पदार्थो से निराला हू, केवल मैं आनन्द को करता हू और ज्ञानानन्द को ही भोगता हू। ज्ञाना-नन्दमे रहने के अतिरिक्त और मै कुछ नही हू। इसी तरह से तू अपने स्वरूपका अनुभव कर तो वहा कुछ क्लेश नही है, कोई विपत्ति नही है। विपत्तितो भ्रमसे बनती है। भ्रम समाप्त हो जाते ही विपत्ति समाप्त हो जाती है, पदार्थ उसे दुखित नही करते। पदार्थ तो पड़े हैं जहा हैं तहा हैं। वे अपना स्वरूप व परिणमन लिए हुए हैं निरन्तर परिणमन करते रहते है, कोई भी पदार्थ हमे दुखी नही करता। न वे दुखी करते थे और न वे सुखी करेंगे। यह जीव अपने आप स्वय भ्रम बना बना करके नाना कल्प-नाय करके अपने आप दुखी होता है।

आनन्दका धाम एकान्तस्थानका परखल श्लोक-१-३८ के एक प्रवचनांशमे पृ० १४८-ऐसा कौन सा स्थान है जहा रहने मे क्षोभ नहा। तो वह स्थान बाहर कही भी नही मिला, क्योंकि बाह्य से अपने आपसे कोई सम्बन्ध नही। बाह्य पदार्थ न तो क्षोभका कारण होता है और न शान्तिका कारण होता है। वह-स्थान तो स्वय यह ध्रुव आत्मा है। जो अपने सब परिणमनो का स्रोत है, आधार है वह मैं ही हू, यह मैं सबसे निराला शुद्ध चैतन्यमात्र भगवान आत्मा हू, ज्ञानमय हू। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान आदि रूप मेरा परिणमन होता है, किन्तु ये सब पर्याये हैं, दूसरे क्षण नही रहता हैं। इन सब रूप पर्यायें जिस शक्तिकी होती है वह शक्ति मैं हू। वह है ज्ञानशक्ति। वह ज्ञानशक्तिमात्र मै हू। ऐसा यह मात्र ज्ञानस्व-रूप मैं स्वय एकान्त हू, इस एकान्तमे मैं बसु तो वहा कोई क्षोभ नही है। ऐसे इस निज सहज ज्ञायक-स्वभावसे अपने आपमे रहू और स्वय स्वय मैं सुखी रहू।

(१५३) सुख यहा द्वितीय भाग

इस पुस्तकमे सहजानन्द गीताके द्वितीय व तृतीय अध्यायके श्लोकोपर प्रवचन है। श्लोक २–६ के एक प्रवचनाशमे भावनाका निर्णय करिये कि अपने को देहसे मिला हुआ ही रहना है या देहसे अलग होना है। पृ० २३–अब तो निर्णय करलो कि ससार से न्यारा रहना है या जगतसे मिलकर रहना है। यदि मुझे जगतसे भिन्न रहना है तो अपने को जगतसे भिन्न देख। और यदि अपने को जगतसे मिला हुआ रखना है तो अपने को जगतसे मिला हुआ देख। यदि जगतसे मिला हुआ रहता तो उसे सकर कहते है। तो तू अपन को जगतसे भिन्न रखनेका प्रयत्न कर। जगतसे भिन्न रखनेका एक सही उपाय यह है कि तू अपन को जगतसे भिन्न देख। जो अपनेको जगतसे भिन्न देखता है वह भिन्न हो जाता है और जो अपन को सकर याने जगतसे मिला हुआ मानता है वह सकर अर्थात् जगतसे मिला हुआ रहता है। भाई कल्याणका बडा सरल उपाय है। केवल अन्तरमे अपने आपको मानना है कि मैं ज्ञानमात्र हू, निर्मल हू, जगतसे न्यारा हू। भाई अपने आपमे ऐसी दृष्टि बनाना कुछ कठिन है क्या ? अरे यह तो अत्यन्त सरल है, मगर अतरग सयम चाहिए। अपनी अतरग आत्माको सयत कर सको, ऐसा ज्ञान चाहिए।

मोहकी बेवकूफी दूर होने पर वास्तविक आनन्दामृतका पान होता है, देखिये इससे सम्बन्धित एक प्रवचनाश श्लोक–२–१५ पृ० ७४–भया, अपने मोह की बेवकूफी देखना कठिन है तो दूसरेलोगोकी मोहकी बेवकूफी का स्वरूप जान लो। व्यर्थ ही लोग विकल्प करके परेशान होते है और व्यर्थ ही तुम विकल्प करके परेशान होते हो। जिसे तुम अपना लडका बताओ उससे तुम्हारा क्या सम्बन्ध है ? वे तो जुदा जुदा हैं। उनसे तुम्हारा कोई सम्बन्ध नही है यदि तुम्हारे घरमे दूसरा कोई पैदा होता है तो उससे तुम मोह करने लगते। अरे जो पैदा हुआ उसका तु। कुछ कर लेते हो क्या ? यह मेरा है, यह आशय आना ही दु खका कारण है, दूसरा कुछ दु खका कारण नही है। अपने बारेमे यह विश्वास करो कि मैं अपने आपमे हू, स्वतत्र हू, मैं ही अपना कारण हू, मैं ही अपना कार्य हू। मैं जो कुछ कर सकता हू अपने को ही कर सकता हू, मैं अपने को ही भोग सकता हू। अपने स्वरूपसे बाहर दूसरे को कुछ न कर सकता हू और न भोग सकता हू, और दूसरे लोग भी मेरा कुछ नही कर सकते है। सब वस्तुमे अपने अपने स्व–रूपमेहैं ऐसा यदि अपन आपका विश्वास हो तो अमृतभावका पान कर सकता है। जिसने इस अमृतभाव का अमृतपान किया उसको आनन्द है। हे नाथ धन्य है वह क्षण जब सबको छोडकर अपने आपपर शुद्ध नजर करोगे। यदि बाह्यमे ही फसे रहे तो बरबादी होगी। इन जोवोमे जिसके पीछे पड रहे हो वे अशुद्ध जीवपदार्थ है। वे अपने आपके स्वार्थ के लिए अपनी चेष्टा कर रहे हैं। इस मायामय जगतके पीछे मोहमे पडकर मोही व्यर्थ बरबाद हो रहे है। अर्थात् अपना ख्याल बनाकर अपनी कल्पनायें बना–कर ही दु खी हो रहे है। तो जगतका स्वरूप जब जान लिया तो फिर कष्ट ही क्या है ? जो जैसा है वैसा जानते जायें तो स्वरूपरमण होना सुगम ही है। सो अब मेरी ऐसी ही भावना हो कि अब मैं तो अपने ही स्वरूप की रुचि करके अपने लिए अपने आपको पाकर विश्राम पाऊं और सुखी होऊ।

इच्छाओको लताड लगायें, पढें श्लोक २–२० का एक प्रवचनाश–पृ० ११८–भैया, इन इच्छाओ को हटा दो, इनसे कोई मतलब नही निकलता। कुछ भी इच्छा करो उससे लाभ नही मिलने का है इच्छाओका पता भी नही कि अब क्या इच्छा उत्पन्न हो जाय। जैसे ऊटका पता ही नही रहता कि वह किस करवट बैठे। बैठते भी हैं पता नही रहता कि यह किस तरफको बैठ रहा है। पहले तो वह जरा सा झुकेगा फिर पैर लगाकर बैठ जाता है। जब वह बैठ जाता है किसी तरह से तो फिर पता

लगता है कि ऊंट किस करवट से बैठा। पुद्गलोका ऐसा अन्जान मामला नहीं है। पुद्गलोके चाहे लट्ठ चलो, चाहे तलवार, अदभुत वहां कुछ नहीं होगा और इस मनुष्यकी तरफ जरा देखो। इस मनुष्यका पता ही नहीं कि इसका एक मिनटमें ही क्या दिमाग बदल जाय, या कुछ समय बाद क्या बदले। उसका कुछ पता नहीं रहता है। यह अपनी भूलके कारण ही गलतियां कर डालता है। इन गलतियोके कारण ही इच्छायें हो जाती है। इन इच्छाओको गलतियोंको अगर अपने से निकाल दें तो दुःखके बन्धन टूट जायेगे। दुःख तो इच्छाओसे ही होते है। इच्छायें न हो, केवल ज्ञाता दृष्टा मात्र मैं होऊ तो उस ज्ञानसे ही मेरा पूरा पड़ेगा। इच्छाओसे मेरा पूरा नहीं पडेगा। देख लो सब ठीक है, परन्तु कोई इच्छा हो गई तो बैठे ही बैठे विपदाओसे दब गये।

अपने सत्य स्वरूपके आग्रहमे ही कल्याण होगा इससे सम्बन्धित एक प्रवचनांश पढिये—श्लोक—२—३१—पृ० १२७—भाई अपना शुद्ध आग्रह करो तो भला होगा नहीं तो भला न होगा। परपदार्थोंका आग्रह करने पर अशान्ति प्राप्त होगी, अपने आत्मस्वरूपका अनुभव नहीं हो पायगा। अपने उपयोगमे लगनेसे भलाई है। मैं अपने आपके स्वरूपमे ही अपने उपयोगको लगानेकी कोशिश करू तो मेरा कल्याण होगा अन्यथा नहीं होगा। जैसे कहते हैं ना कि वहा न जावो वहा पर क्लेश ही क्लेश है। ऐसे ही पर पदार्थोंमे न जावो, वहा विपदायें ही विपदायें है। तो मैं अपने आत्माके सत्यके आग्रहमें ठहरानेकी कोशिश करू और अपनेमे अपने लिए अपने आप स्वयं सुखी होऊ।

असार खतरे वाले सुखोसे हटनेकी प्रेरणा लीजिए श्लोक ३—१ के एक प्रवचनांशमें—पृ० १८३—इस ससारके सुखोमे सार रंच भी नही है। हे आत्मन् देख तू ज्ञानस्वरूप है, ज्ञानमय है, ज्ञान ही तो तेरा काम है। ज्ञानके अतिरिक्त और तेरा कोई काम नही है। यदि ससारके सुखोसे ही प्रीति रही तो ससार मे रुलना ही रुलता रहेगा। हे आत्मा तू ज्ञानमय होकर भी यदि ससारके सुखोसे प्रीति करे तो बेकार है यह जीवन। भैया इन ससारके सुखोकी प्रीति छोड दो। तू तो स्वयं ही आनन्दस्वरूप है। परकी ओर दृष्टि जाय तो विघ्न ही है। ससारके सब सुखोसे अपने उपयोगको बाहर हटाओ, केवल अपने स्वरूपको ही देखो तो वहा क्लेशका नाम ही नहीं है।

असार शरीरसे उपेक्षा करके निज आनन्दधाममे आने की प्रेरणा लीजिये—पृ० १९१—आप लोग कहेगे कि शरीरमे साबुन और तेल लगानेसे शरीर अच्छा तो लगता है, अरे अगर नहाने के बाद भी नाक की बत्ती बह गई तो फिर शरीर वैसा का वैसा ही हो जायगा। तो इस शरीरमे सार की चीज कुछ भी तो नही है। इसलिए इस देह से विरक्त होओ। इससे प्रीति न करो। दूसरे जीवो से सम्बन्ध न करो। कोई ऐसा काम करो जिससे आगे भी तरक्की हो। इसलिए भैया, इस शरीर से विरक्त होकर अपने घरमे आवो, अपने स्वरूपको देखो। यह जीव यह आत्मा तुम्हारा घर ही है। सो अब अपने घर की पहिचान रखो। बाह्य पदार्थोंमे आसक्ति न होने दो, अपने घर के जो दो चार प्राणी हैं उनकी भी व्यवस्था करो, उन पर ही सारा खर्च करो और उन पर ही दिमाग लगाओ तो यह मोह है।

समस्त दुःखोका आश्रय तो यह शरीर है, शरीरका मोह करने से ही सारे झझट खडे होते हैं। अतः शरीर से विरक्त होने मे ही हित है। इससे सम्बन्धित एक प्रवचनांश देखिये—श्लोक—३—२८—पृ० २४२—लोग देह की व्यवस्थामे जुटे हैं। साम्यवाद करना चाहते है तो इस देहकी व्यवस्थाके लिए ही करना चाहते हैं। अन्य जितने भी काम हैं वे सब भी इस देहकी व्यवस्थाके लिए ही किये जाते हैं। जितने भी दुःख है उन दुःखोका कारण ही यह शरीर है। मेरा अपमान हो गया, मुझे भोजन नहीं मिला, मुझे यह करना है आदि आदि से ही अपने शरीरका ख्याल बनाकर दुःखी हो जाते है। अगर किसी ने गालियां दे दी

तो दु खी हो जाते है। जो अपमानके दु ख हैं उनका भी कारण यह शरीर है, जो मानसिक दु ख हुए उनका भी कारण यह शरीर है। यह शरीर हो सारे दु खोका आश्रय है। इस शरीर से ही सारी विपदाये है। एक दूसरे का कोई दुश्मन नही होता। इस शरीर को देखकर हो दुश्मन बन गये। इस आत्मा मे दु ख नही है। तुमको तो केवल शरीर ही नजर आता है। यह अमुक व्यक्ति है, इसका यह नाम है इत्यादि। इन झंझटोका कारण शरोर है। ये जो व्यसन आते हैं वे भी इस शरीर के ही कारण आते हैं। इसलिए इस देह से विरक्त होना ही ठोक है। देह से विरक्त होने का यह मतलब समझो कि मैं यह देह नही हू। यह तो पौद्गलिक है। यह देह तो जड है। मैं मैं हू, चेतन स्वरूप हू। मै सबसे जुदा हू ऐसा यथार्थ अपने को जान लो। इस देहके ससर्ग से ता दु ख ही है। इस देह से ससर्ग रखने से ता पूरा नही पडेगा।

(१५४) सुख यहा तृतीय भाग

इस पुस्तकमे सहजानन्द गीताके चौथे व पाचवे अध्याय पर प्रवचन हैं। श्लोक ४-३ मे बताया है कि कीर्ति की इच्छा का त्याग कर मैं स्वय सुखी होऊं। इससे सम्बन्धित एक प्रवचनाश देखिये-पृ० ६- –भैया, सारा जगत इज्जतके पीछे मर रहा है। किसको इज्जत दिखाना चाहते हैं? किसको अपनो महत्ता दिखाना चाहते हो? तुम तो अद्रष्य हो, तुमको तो कोई जानता ही नही है। तुम तो ज्ञानस्वरूप हो। अपने आपको विचारो कि मैं तो अदृष्य हू, ज्ञानमात्र हू। इस लोकमे मैं क्या कीर्ति चाहू। यदि कीर्तिकी चाह का त्याग हो जाय तो वास्तवमे आजादी मिले। कीर्ति की चाह रहे तो आजादी खत्म हो जाती है। क्योकि कीर्ति चाहोगे तो उसे परके अनुकूल यत्न करना ही पडेगा। इसलिए इस कीर्तिकी चाह की त्यागमे ही स्वतत्रता है। और स्वतत्रतासे बढकर कोई सुख नही है। स्वतत्रता ही एक महान सुख है। सो स्वतत्र ज्ञानधन आनन्दमय अपने स्वरूपको निरखकर अपने आप सुखी होऊ।

विषयोकी आशा ही बन्धन है। विषयाशाके त्यागमे स्वतत्रता है और इस स्वतत्रतामे वास्तविक आनन्द है। इससे सम्बन्धित एक प्रवचनाश देखिये, श्लोक ४-४ मे, पृ० ७–विषयोकी आशा ही एक बन्धन है। जो फसता है वह विषयोकी आशासे ही फसता है। गृहस्थीका बन्धन क्या है? आशा ही केवल बन्धन का आधार है। इसलिए वास्तविक बन्धन आशा है। बाहरी चीज बन्धन नही है। सो विषयोकी आशा ही इस जीवका बन्धन है। आशा का बन्धन छूटे तो स्वतत्रता मिले। नही तो स्वतत्रता न मिलेगी। आशा के पीछे ही सबकुछ को कष्ट भोगना पडता है। कितना भो अधिक परिश्रम करो, ये जितने भी क्लेश हैं, नटखट हैं, नृत्य है वे सब इस आशा पर हो अवलम्बित है। आशा मिटे तो सारे क्लेश खत्म। विषयोकी आशा का त्याग हो तो आजादी है अन्यथा आजादो नही है। वह वास्तविक स्वतत्रताकी बात यहा कही जा रही। यह जीवोकी स्वतत्रता की बात चल रही है। जब यह जीव परकी आशा न रखे तो यह जीव स्वतत्र कहलाता है। आशा रखी तो उस बन्धनमे बन्ध गया। तो बन्धन आशा ही है। अन्य कोई बन्धन नही। सो इस आशा का परित्याग होने से ही वास्तविक स्वतत्रता मिलती है।

विषयवृत्तिकी लताड देखिये श्लोक ४-१९ के एक प्रवचनांशमे पृ० ४७–हे आत्मन्, जरा अपने हितकी बात तो सोचो कि इन विषयोसे किसी का पूरा पडा है? इन जीवनमे विषयोमे ही जुते, बडी उमर के हुए, वृद्ध हो गये, बाल पक गये, शरीरमे झुर्रिया पड गई, बताओ कौन सा लाभ इस मनुष्यभवको पाकर पाया। वे अपने जीवनकी क्षण व्यर्थ मे ही गुजार देते है। वह विषयोका ही तो असर है। ये

विषय ही इस जीवके वास्तविक दुश्मन है। इन विषयोको जिसने जीता है वह ज्ञानी है, वही विजयी है। जगतके सभी जीव अपने समान हैं। तुम्हारे और सब जीवोके स्वरूपमे कोई अन्तर नही है। सभी जीवोका स्वरूप अत्यन्त जुदा है। सभी जीव मेरे स्वरूपसे अत्यन्त समान है, फिर इन जीवोमे यह छटनी कर लेना कि यह मेरा है, यह पराया है, यह गैर है—ऐसी छटनी कर लेना क्या यही पारमार्थिक चतुराई है? यह सब मोह की लीला है। जो विषयोके साधक प्रतीत होते है, उनको ही इस जीवनमे अपना मान लिया और जो विषयोमे बाधक हैं उनको ही इस जीवनमे दुश्मन मान लिया, पराया मान लिया, ऐसी वृत्ति लेना ही अज्ञान है।

दुःखका कारण आशा ही है, उससे दूर होने मे ही बुद्धिमानी है, पढ़िये श्लोक—४–२८ के एक प्रवचनांशमे, पृ० १०८–ज्ञानी विवेकी कहते किसे हैं? जो परकी आशा न करे उसे ज्ञानी विवेकी कहते हैं। धन बढ़ा बढ़ा कर कोई महापुरुष बन सकता है क्या? इतिहास मे देख लो, पुराणोमे देख लो, युक्तिसे सोचलो, जो भी महान पुरुष हुए हैं उनकी आत्मा खुद महान हुई है तो महान हुए हैं। तुम्हारी महत्ता को तो इस आशा ने बरबाद कर दिया है। दुःखोका कारण केवल आशा ही है। यह मैं कैसी भी आशायें करू तो कुछ मेरा है क्या? खूब सोच लो। जिसपर आपको भरोसा है कि ये मेरे हैं, कितना भी भरोसा रख लो कि ये मेरे पिता है, ये मेरे भाई हैं, पर उनसे तुम्हारा जरा भी सम्बन्ध नही है। वस्तुस्वरूपको इजाजत ही नही है कि कोई किसीका बन जाय। आपकी कल्पनायें बडी हैं कि वस्तुका स्वरूप बडा है? यदि कल्पनाओसे ही काम होने लगेगा तो एक साधारण आदमी ही सारी दुनियाको वशमे करना चाहेगा। फिर तो सारा मामला ही खत्म हो जायगा।

अमृतपान करलो, दुःखी मत होओ, यह प्रेरणा पाइयें श्लोक ४–३० के प्रवचनांशमें, पृ० ७५—भैया, साहस बना लो यहा के बाह्य पदार्थो से मुख मोडना होगा। घर वैभवमे अपना मन लगाना और सत्य अमृतका पान करना ये दोनो बाते एक साथ नही हो सकती है। या तो मोह बना लो, दुःखी होओ, घबडा लो या मोह छोडकर अपने आपके स्वरूपको देखो—जो पथ चाहो चल लो। लोग मर जाने का इतना दुःख नही मानता जितना पर चीजो के छूट जाने से कल्पनायें बना लेने से दुःखी हो जाते हैं। सो दुःखी ही क्यो होवे? अमृत पीलें और अमर हो जावें, पर अमृत कोई अलग चीज नही है। अमृत तो वह ज्ञानस्वरूप है जो मरे नही, जिसका विनाश न हो, जिसका वियोग न हो, उसका नाम अमृत है। वह अमृत है ज्ञानस्वरूप। सो जब हम यह निर्णय करलें कि मैं तो अविनाशी हू, ज्ञानस्वरूप हू, ज्ञानमात्र हू, सदा इसी मे तन्मय हू, ऐसा विश्राम करलो तो कुछ भी भय नही रहता।

सुखके लिए दूसरे की प्रतीक्षा करना यही सुखकी हत्या है पढ़िये श्लोक '–४० का एक प्रवचनांश– पृ० ९२–सुखके लिए दूसरे पदार्थो को प्रतीक्षा करना बस यही तो सुखकी हत्या करना है। यह आत्मा तो स्वय सुखसे भरा है। इसका स्वरूप ही आनन्द है। इसको आनन्द कही बाहर से नही लाना है। सो पर पदार्थो से मुझे सुख मिलेगा ऐसी आशा करना यही तो संकट है। बाहरी पदार्थो के चाहने से सुख नष्ट होता है और बाह्य पदार्थो से सुख न चाहे तो सुख तो स्वय मैं हो भरा हुआ है। मैं स्वय सुख से परिपूर्ण हू, परन्तु जीवोमे ऐसा मोह लगा है कि अपने आपको रीता समझते हैं। अपने आपको न कुछ समझते हैं अपने आपकी कोई कीमत नही जानते हैं।

आशा न रहने मे ही सुख है, आशा कषायरहित आत्मस्वभावको देखो, वही तृप्त होओ, इसी मे कल्याण है, देखिये श्लोक–४–४० का एक प्रवचनांश पृ० १०१–भैया, मजदूर तो सुखी रहते हैं, क्योकि उन्हे तो दो रूपये से ज्यादहकी आशा ही नही है। सेठको किसी दिन लाख बच जायें, किसी दिन हजार बच जाये,

टोटा पडे तो किसी दिन ५० हजार का टोटा पडे तो किसी दिन ७० हजार का टोटा पड़े इस तरह का उतार चढाव रहता है। सदा बेचनी बनी रहती है। यदि आशा न रहे तो सुख है। और यदि आशा है तो दुःख है। तब दुःख मिटानेमे क्या चाहिए ? आशा न रहे यही तो चाहिए। आशा न रहे इसका कोई उपाय है ? इसका उपाय है कि आशा जिसका स्वरूप नही है, आशा जिस आत्माका स्वभाव नही है उसमे ऐसी दृष्टि हो कि यह तो मैं चैतन्यमात्र हू, इसमे आशाकी कोई तरग ही नही है। इसका काम तो केवल देखने जानने का है, ज्ञाता द्रष्टा रहनेका है, ऐसी आशारहित अपने स्वभावकी दृष्टि करे तो उसके आशा नही रहती है। जो अपने को आशा रहित बनाले वह सुखी हो जाता है।

आकिंचन्यभावनासे स्वास्थ्य बनता है, अस्वास्थ्य रहनेमे विपदा ही विपदा है, पढिये श्लोक ५–३ के एक प्रवचनांशमे पृ० ११५–जगतमे कही भी अपना कुछ माना तो वहा विपदाये है। बतलाओ जरा अपने मे इतने सकट कहा से पैदा हो गये ? अपनी ही गलती से तो–ये सारे सकट खडे हो गये। भीतरमें यह बुद्धि आये कि यह मेरा है, यह उसका है तो केवल भाव ही तो किया, पदार्थ का नही बिगाडा और कुछ ऐब नही किया, बाहरमे किसीका नाश नही किया भीतरमे यह सोच लिया कि मेरा कुछ है, इतने मे इतना बडा सकट हो गया कि ये सारे बन्धन हो गये, फसाव हो गये। मिलेगा क्या ? केवल पाप। यह मेरा है, यह उसका है, खूब मानो, पर मेरा तो वह बनने का नही क्योकि वे भिन्न पदार्थ है। उन भावोसे मिलेगा क्या ? केवल पाप, केवल कर्मबन्ध, केवल दिलमे दुःखी होना। मिलना कुछ नही। इसलिए जो कुछ चाहते हो उसमे मिलेगा क्या ? केवल खाक। और कुछ नही हाथ आता।

बाहर कुछ छानना मूढता है, सकट है, इसका चित्रण देखिये श्लोक ५–२८ के एक प्रवचनांशमे, पृ० १६१–जैसे कि मानो, ऊटका विवाह हो रहा था। उसकी शादीमे गाने बजाने के लिए गधोंका बुलाया गया। गधे बहुत गीत गाते है, उनकी दोहरी आवाज होती है। वे साम भीतर करे तो बोलते, बाहर करें तो बोलते। सो गाना गानेको गधा व गधी को बुलाया। सो वे गधा गधी ऊटको गीतमे क्या कहते है कि ऊट तेरा रूप धन्य है, तू बहुत सुन्दर है, ऊटकी गर्दन टेढी, टागे टेढी, मुख टेढा, कुछ भी सीधा नही, पर गाना गाने वाले कहते कि तेरा कितना अच्छा रूप है। तो ऊट कहते है कि धन्य है तेरा स्वर। धन्य है तेरा राग। गधा और गधी ऊटकी प्रशसा करते और ऊंट गधा और गधीकी प्रशसा करता है। इसी तरह से ये जगतके जीव एक दूसरे की प्रशसा किया करते हैं। उसमे सार की चीज कुछ नही है। जब अपने आपसे अपने आपके स्वरूपको बात जचे सन्तोष पावे, ज्ञान पावे, सो वह सार की बात है। सो जहा तक हम आप अपने स्वास्थ्यको न देख सकेंगे तब तक द्वेषोको न मिटा सकेंगे। दुःख न मिटेंगे। शका, शल्य आदि भी न मिलेंगे, इसलिए अपने आपमे रहकर बाहर मे यह देखो कि मेरा कही कुछ नही है। ऐसा निश्चय करना अपने आपमे अपने लिए अपने आप स्वय सुखी हो सकते हो।

(१५१) सुख यहा चतुर्थ भाग

इस पुस्तकमे सहजानन्द गीताके छठें सातवें अध्याय पर प्रवचन है। श्लोक ६–९ मे एक प्रवचनांशमे बताया कि चाहे सम्पदा आवे या विपदा आवे उससे मेरा क्या, मेरा तो सर्वस्व मुझमे है। पढिये पृ० ९–चाहे सम्पदा हो जाय चाहे आपदा आये ये सब बाते बाहर की हैं। मैं तो ज्ञानमय हू। इस निज आत्माको तो देखो कि यह कितना है और यह ऐब करे, ऊधम करे तो यह कितना क्या कर सकता है ? केवल अपने सत्त्वको देख करके यह अपने मे जो चाहे परिणमन करे। इतनी ही तो बात है। अब वह परिणमन है तो सुख होता है। मैं तो ज्ञानमात्र हू। किसपर सन्तोष करू और किसमे रोष करू ? ... बडो

विपत्ति जीवपर अज्ञान की है, मोह की है, भ्रमकी है। वास्तवमें विपत्ति एक ही है। इस एक ही विपत्तिके विपर्यभूत से अनेक रूप बन जाते है।

मायामय पुरुष सभी ह, क्योंकि पर्याय ही यह मायारूप है। ये मायारूप पुरुष चाहे खुश हो तो क्या, रुष्ट हो तो क्या, इसका श्लोक ६–११ के एक प्रवचनांशमे चित्रण देखिये–पृ० ७–जैसे पिता अपने बेटो पर कितना खुश रहता है, इस खुश रहने के परिणाममे वह क्या करता है कि बच्चोको चोथी कक्षामे यदि मास्टरने पीट दिया तो वह बोलता है कि हमे अपने बच्चे को नही पढाना है यह उन पर खुश हो गया है और आगे चलो तो जल्दी व्याह कर देते हैं, और और विषयो के साधन जुटा देते हैं, दुकान कराते है, और और भी अनेक काम कराते, ये सब साधन उसके मोह बढाने के साधन हुए या ज्ञान बढाने के साधन हुए ? कौन सा पिता ऐसा होता है जो यह सोचे कि मेरा बच्चा आनन्दको दृष्टि पा ले तो अच्छा है ? ऐसा यदि कोई बाप हो तो हमे पता नही, पर प्राय. हमे यो दिखते है कि वे पुत्रके आत्माके हितकी बात तो नही देखते, किन्तु अपने कषायोकी बात देखते हैं। तो यह मायारूप पुरुष खुश हो तो क्या, रुष्ट हो तो क्या ?

स्तुति और निन्दामे समान रहने के लिए प्रेरणा पाइये श्लोक ६–१४ के एक प्रवचनांशमे–पृ० ९–जो स्तवन करते हैं, प्रशसा करते हैं और निन्दा करते हैं वे इस दिखने वाले पुतलेका ही लक्ष्य बनाकर प्रशसा करते हैं और निन्दा करते हैं, पर जो परमार्थ सत् मैं हू उसकी न तो प्रशसा वे करते और न निन्दा करते। मुझे तो वे जानते हो नही हैं। तो उस ज्ञायकस्वभाव मुझ आत्मतत्त्वको वे जानते ही नही। तो उनके इस ज्ञानमे यह व्यक्ति ही नही ठहरता किन्तु एक शुद्ध ज्ञानस्वरूप वर्तता है। ऐसी स्थितिमे वे क्या प्रशसा कर सकगे, क्या निन्दा कर सकगे ? और जिसने मुझे देखा ही नही, इस दृष्य पुतले को ही निहारते हैं, तो जिसको देखकर उसने गाली दी वह गाली उसी की हुई, मेरे को नही हुई।

सुख और दुखमे समान रहने के लिए प्रेरणा पाइये श्लोक ६–१६ के एक प्रवचनांशमे, पृ० २८–सुख और दुखमे कोई अन्तर नही है। दोनो ही स्थितियोमे आकुलताओका अनुभव होता है। सुख कहते है इन्द्रियोको जो विषय सुहावना लगे। सुहावना लगनेकी स्थितिमे आकुलता होती ही है। यदि आकुलता न होवे तो इन्द्रियके विषयोमे प्रवृत्ति ही क्यो करे ? इन्द्रियके विषयोमे जीव तब ही प्रवृत्ति करता है जब उसे कोई दुख हो। जिसे फोडा फुसी नही है वह मरहम पट्टी ही क्यो लगायगा, इसी तरह किसी प्रकार की अशान्ति नही है तो वह इन्द्रियके विषयोमे क्यो लगेगा ? जो जीव विषयोमे हैं उनको आकुलतायें ही हैं, अथवा विषयोसे उनका आदर नही होता। तो उस सुखमे आकुलताय ही पायी जाती है और दुखमे भी आकुलताये ही पायी जाती हैं। इस कारण सुख और दुख दोनो की कल्पनाको छोडो। न तो सुखकी चाह करने का सुख हो और न दुखसे भयभीत होऊ। दुनियामे दुख कहा नही है। दुख मात्र अपनी कल्पनाओमे है। सब कुछ सम्पन्न होते हुए भी यदि एक कल्पना बना ली कि मेरी कुछ शान नही है, मेरी कुछ इज्जत नही है। लोग मेरा कुछ कहना नही मानते तो इससे क्लेश ही प्राप्त होगे।

परके प्रति मोहराग मत करो, इस भावकी प्रेरणा लीजिये, श्लोक–७–१० के एक प्रवचनांशमे, पृ० ८०–यह जीव स्वय आनन्दस्वरूपको लिए हुए है पर ऐसा ही मान कर रहे तो इसे आनन्द प्राप्त हो, किन्तु यह अपने आपके ज्ञानानन्दस्वरूपको तो मानता ही नही, इसके यह समझ बनी है कि मेरा सुख मेरे बच्चो के आधीन है। इन बातोंसे अपना बडप्पन समझते हैं, फिर बताओ–मिथ्या भावोसे शान्ति कैसे

आवे ? जीव तो सब पूरे हैं, अपने स्वरूपसें भरपूर हैं, कृतार्थ हैं। प्रत्येक जीवका चैतन्यस्वरूप है। सो कितना बडा यह अपराध है कि हम अपने को अधूरा मानते और दुःखी हुआ करते हैं। अचेतन पदार्थ तो कोई नही दुःखी होता। पुद्गल है, जल जाये तो जल गया, उसको क्या कष्ट है ? धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य, आकाश द्रव्य और कालद्रव्य हैं, जैसे भी हो वे हैं और परिणमते है, मगर जीव है सब द्रव्योमें सरताज। सब द्रव्योकी व्यवस्था करने वाला है। ज्ञानमय है, लेकिन ये सब भूल से अपने दुःख बना रहे हैं। कुछ हो, ज्ञाता द्रष्टा रहो और प्रसन्न रहो, यही भगवानका उपदेश है। जो भगवानका उपदेश नही मानेगा वह कितना ही ऊधम मचावे, जब तक पुण्यका उदय है, आखिरी परिणाममे उसे क्लेश ही होंगे।

प्राप्त समागमों को विनश्वर मान लेने से आकुलता नही रहती, इसका अध्ययन कीजिये श्लोक– –२६ के एक प्रवचनांशमें, पृ० १०७–जैसे वृक्षपर सामके समय चारों दिशाओसे पक्षी आ कर बैठ जाते है और रात्रि व्यतीत होने पर वे पक्षी अपनी अपनी कल्पना अनुसार अपने अपने प्रयोजनसे जुदे जुदे दिशाओमे उड जाते हैं इसी प्रकार संसारके ये प्राणी अपने भावोके अनुसार बांधे हुए कर्मोके उदयका निमित्त पाकर जुदी जुदी गतियोमे जाकर जन्म ले लेते है। यह जो मेल हो गया है वह कोई ध्रुव नहीं है। अपने अपने कर्मोके अनुसार आये है और अपने अपने कर्मो के अनुसार ही चले जायें। अपने आपमे यह विश्वास रखो कि इन सबका वियोग जरूर होगा। यदि यह विश्वास रखोगे तो वियोग होनेके समय आप विह्वल न होगे। सब परिवार मे किसी का वियोग होगा तो आप ऐसा सोचेंगे कि जहा सयोग होता है वहा वियोग होता ही है। मैं तो समझता ही था कि किसी दिन मरण हो ही जायगा। अगर यह पूर्ण निर्णय है कि जो जन्मा है वह नियम से मरण करेगा तब मेरे विश्वास–योग्य ये कौन है? जिस पदार्थ पर आपकी बडी प्रीति है वह आपके देखते देखते ही तो मरण कर सकता है और उस समय आप किसका सहारा लेंगे ? अपने आपके प्रभुके दर्शन का सहारा लेते तो बाह्य पदार्थों के उप–भोगका दुःख नही भोगना पडता।

(१५६) दशप्रथमप्रथमसूत्र प्रवचन

इस पुस्तकमें मोक्षशास्त्रके दसो अध्यायके प्रथम प्रथम सूत्रपर पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराजके प्रवचन हैं। इस ग्रन्थके मगलाचरणके अर्थ लिखकर मोक्षमार्गका नेतृत्व किस प्रकार है सो बताया है। पृ० ३–इसमे पहिला विशेषण मोक्षमार्गके नेताको दिया। नेता वह कहलाता जो अपने लक्ष्यकी ओर ले जाय, ले जाने वाला स्वय जाता और दूसरोको उस अभीष्ट तक ले जाता। नेता का अर्थ पहुंचा देने वाला नही होता। क्योकि पहुंचा देने वालेमे वह नेतृत्व शक्ति नहीं होती। नेता तो वही है जो स्वयं उस को प्राप्त करे या उस पर चले और दूसरों को भी उनमे ले जाय। मोक्षमार्गपर जो स्वय न चला हो, स्वय उस भावको जिसने प्राप्त न किया हो तो दूसरोको मोक्षमार्ग मे ले जाने का निमित्तत्व उसमें नही हो सकता। अरहत आप्तमे यह नेतृत्व पूर्णरूपसे पाया जाता है। इसके साथ ही जो पूर्णरूपसे रागद्वेषरहित वीतरागी हो और पूर्ण ज्ञानी सर्वज्ञ हो वही वास्तविक मोक्षमार्ग का नेता हो सकता है।

प्रथम सूत्रके प्रवचनमें राष्ट्रीय झण्डेका सकेत देखिये–पृ० २०–राष्ट्रीय तिरगाभण्डामे रत्नत्रय की कल्पना घटित होती है। साहित्यकार रुचिका वर्णन पीले रंगसे करते हैं और जैन धर्म मे रुचिको सम्य–ग्दर्शन कहते हैं। हरा रग हरे भरे पनका द्योतक है। यह सम्यक्चारित्रको बतलाता है, क्योंकि उससे

शुद्ध आत्मपर्यायकी उत्पत्ति होती है। और ज्ञानका वर्णन सफेद रंगसे किया जाता है, तब सफेद रंग सम्यग्ज्ञानका प्रतीक हुआ। इस तरह रत्नत्रयका प्रतीक पीला, हरा और सफेद रंगवाला तिरंगा झंडा (राष्ट्रीय) झंडा है। उसमें जो चक्रका चिन्ह है उसमें २४ आरे रहते हैं, जिनका अर्थ होता है कि उस मोक्षमार्गरूप रत्नत्रयका २४ तीर्थंकरोंने प्रकट किया है। तिरंगा झंडा २४ तीर्थंकरो द्वारा प्ररूपित, प्रदर्शित आत्माके रत्नत्रय-धर्म को या कहिये मोक्षमार्गको स्मरण कराता है। हमको उस मोक्षमार्ग मे पुरुषार्थ प्रकट करना चाहिए। इस भवसे नही तो अगले भवोंसे हम मोक्ष पाने के अधिकारी हो जावें। मनुष्यजीवनमे यह सबसे बडा काम है।

तृतीय अध्यायके प्रथम सूत्रके प्रवचनमे पाच भावोके क्रमका प्रयोजन देखिये-पृ० ६७-ये पाच भाव क्रम से कहे गये हैं उन क्रम के करने के कई कारण हैं। एक कारण तो यह कि जीवके मोक्षमार्ग मे आने के समय सबसे पहिले औपशमिक भाव होते हैं पश्चात् मिश्र सम्यक्त्व होकर ही क्षायिक सम्यग्दर्शन होता है और मोक्ष प्राप्त करने के लिए क्षपक श्रेणी माडने के समय चारित्र सम्बन्धी क्षायिकभावका आरम्भ होता है व १२ वें गुणस्थानमे यथाख्यात चारित्र प्रकट होता है और १३ वे गुणस्थानमे क्षायकज्ञान आदि होते हैं तथा औपशमिक भावसे लेकर आगे आगे जो भाव बताये हैं उनका काल अधिक अधिक है (ससारी पर्यायकी अपेक्षासे) अर्थात् औपशमिकसे क्षायिकका, क्षायिक से क्षायोपशमिकका, उससे औदयिकका और औदयिकसे पारिणामिकका समय अधिक है तथा एक कारण यह भी है कि औपशमिकभाव वाले सबसे कम हैं, उससे भी ज्यादह औदयिक आदि वाले व सबसे ज्यादह पारिणामिकभाव वाले हैं, उससे ज्यादह क्षायिकभाव वाले। इसलिए भी इस क्रमसे रखनेकी सार्थकता है।

तृतीय अध्यायके प्रथम सूत्रके प्रवचनमे वैज्ञानिक ढगसे पृथ्वीकी स्थिरता सिद्ध करके यह बताया है कि लोगोको आजकी पृथ्वी गोल क्यो मालूम होती है। पृ० ६०-इस भरत क्षेत्रके आर्यखण्ड पर कुछ कम एक योजनका अर्थात् दो हजार कोशका मुलम्मा उठ गया है जो कि प्रलयकालमें साफ होगा। यह मुलम्मा उत्तरकी ओर झुका हुआ उठा है जिससे कि इतना हिस्सा जमीन पर कुछ गोल सा हो गया है। नीचे वह विस्तृत पृथ्वी है। इस भागके ऊचे उठे हुए होने से इसके पूर्व भाग पर जल्दी प्रकाश आता है सूर्यके निषधाचल पर पहुचते ही तथा भरतक्षेत्रसे सूर्यके मुडते ही पूर्व भाग पर अधेरा हो जाता है व पश्चिम भागपर शीघ्र प्रकाश आ जाता है, इससे प्रलयसमय तक यह व्यवस्था है।

चतुर्थ अध्यायके प्रथम सूत्रके प्रवचनमें स्वर्गादिक की रचना बताकर देवगतिमे जन्म लेने के कारणो पर कुछ प्रकाश डाला है, पढिये-पृ० ७४-७५-नरको मे जीव जैसे पापकी बहुलतासे पैदा होते हैं, वैसे देवपर्याय पुण्यकी बहुलतासे मिलती है। इसमे भी भवनत्रिक पर्यायसे वैमानिकदेव पर्याय पानेके लिए विशेष पुण्य आवश्यक है। सम्यग्दृष्टि-तिर्यंच अधिक से अधिक १२ व स्वर्ग तक पैदा हो सकते है। इससे ऊपर के स्वर्गों मे वा कल्पनातीत विमानोमे मनुष्योका ही उद्भव है। जो प्राणी अपने परिणाम सरल और शुभ रखता है, पापोका भक्ति सेवा दीन दुखियो को दया से दान देता है, देवशास्त्रगुरुकी पूजा भक्तिमे तत्पर रहता है, पञ्च इन्द्रियोके विषयोको रोककर मनको वशमे करता है, जीवोका दया पालता है, दुखोको समतासे सहता है, बारह प्रकारके तपोको तपता है, परोपकार और परदुखहरणमें रुचि रखता है, बाह्य पदार्थो से मूर्छा और ममता त्यागकर आत्मवैभवमे जो उपयोग लगाता, जो उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव आदि दस धर्मोका पालन करता है, दर्शनविशुद्धि आदि षोडश कारण भावनाओको भाता है ससारसे रुचि हटाकर जो मोक्षमार्गमे अपना उपयोग लगाता है वह ऐसी ही उदार वृत्तियोसे देवपद पाता है।

पचम अध्यायके एक प्रवचनाशमे द्रव्योका सक्षेपमे परिचय दिया है, देखिये पृ० ६५-पदार्थ कभी नष्ट नही होता, उसकी अवस्थाये बदला करती हैं और वे अवस्थाये सूक्ष्मरूपसे प्रति समय, प्रतिक्षण बदला हो करती है, चाहे इन्हे हम समझ पावे या नही, अत न कोई द्रव्य कूटस्थ नित्य है और न सर्वथा क्षणध्वसी। प्रत्येक द्रव्यकी द्रव्यता उसी द्रव्यके अनुरुप कायम रहकर ही उसमे परिणमन प्रतिसमय होता रहता है। जोव और पुद्गल द्रव्य ऐसे है कि इनमे आपसके सयोगी परिणमन भी होते हैं, या कहिये वैभाविक विकारी परिणमन भी होते है और स्वाभाविक भी होते है। शेष ४ द्रव्योमे स्वाभाविक ही परिणमन होता है।

छठवे अध्यायमे आस्रवोका परिचय कराया है, उसमे हमे यह शिक्षा लेनी है कि अशुभ आस्रवसे तो हमे बचना ही चाहिए, वे क्या हैं पढिये पृ० १११- हतकारी, दुखदायी, कठोर, असत्य वचन बोलना, दूसरेकी निन्दा तिरस्कार करना, धर्म वा धर्मात्माके प्रति अयोग्य मद भरे वचन कहना, अविनयपूर्वक वचन बोलना, काम, क्रोध, लोभ और हसी मजाक के वचन कहना, कुमार्गोमे लगा देने वाले वचन कहना, अपने विषयपुष्टिके वचन कहना आदि अशुभ वचनायोग है। लात, मुक्का आदि से किसी को पोडा देना, जीवका घात कर देना, बडोके प्रति उद्दण्डताका, अहकारका व्यवहार करना, शरीर द्वारा देव शास्त्र गुरुका अविनय करना, शरीरसे असावधान रूप प्रवृत्ति करना आदि अशुभ काययोग है।

दशम अध्यायके प्रथम सूत्रके एक प्रवचनाशमें सक्षिप्त सम्मति देखिये-पृ० १७८-कल्याण करना है तो अपना एक प्रियत्तम बनालो। प्रियतमके माने जो सबसे अधिक प्रिय हो। सबसे अधिक प्रिय अपनी आत्मा ही है। बाह्य मे अरहत और सिद्धही हो सकते हैं और दूसरा कौन प्रियतम बन सकता है? आत्मा को प्रियतम बनाने पर तो एक दिन सब कर्मो का क्षय हो जावगा।

(१५७) भक्तामर स्तोत्रप्रवचन

इस पुस्तकमें पूज्यवर मुनि श्री मानतुगस्वामी जी द्वारा रचित भक्तभरस्तोत्र पर पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी सहजानन्द महाराज के प्रवचन है। तृतीय छन्द के प्रवचन मे स्तवन की आशक्ति दिखाई गई है, इसके कारण का कैसा चित्रण किया है एक प्रवचनाशमे पढिये-पृ० ६-भक्तके चित्त प्रभुगण की महत्ता समाई हुई है। उससे भक्त महान आनन्दित है। आनन्द से आनन्दित पुरूष एक तो वैसे ही स्पष्ट बोल नही सकता। दूसरे जितना ज्ञान होता है उसमे वाचक शब्द हीं नही होते है, तीसरे प्रभु के गुण असीम हैं उनका वर्णन तो यथानुरूप नही कर सकता हू किन्तु आपके गुणोका अनुराग प्रबल है, इस कारण सकोच को मै छोडकर आपकी स्तुति करने के लिए प्रवृत हुआ हू।

पञ्चम छन्दमे देखिये सक्षेपमे प्रवचनाशमे बताया है कि मै स्तुति करनेमे असमर्थ हू फिर भी क्यों कर रहा हू - पृ० ७-आपने हो ज्ञानआनन्द का विकास और अनुभव जो विदित होता है उसका भी शब्दो द्वारा वर्णन नही हो सकता फिर भी ज्ञान और आनन्द का विकास जो कि अनन्त है उसको कहा ही कैसे जा सकता फिर भी जैसे शुभस्पतत्व की रूचि के कारण चारित्र मोह के उदय मे अल्पवृत्ति का विकास होने पर भी शुद्धात्मतत्व को उपलब्धि के यत्न मे शुद्धानुराग प्रमा रहा हा है। वैसे ही शुद्धानुराग के कारण वर्णन करने का अयोग्य होने पर भी हे नाथ मै आपकी स्तुति करने का प्रवृत हुआ हू।

७ वें छन्दमे बताया है कि प्रभुस्तवनसे भव भवके पाप क्षणमें विलीन हो जाते हैं, इसका सक्षिप्त स्पष्टी-करण देखिये-पृ० ६-हे नाथ तुम्हारा स्तवन करने से भव भवके बधे हुए पाप क्षण भरमें ही नष्ट हो जाते

हैं। प्रभु तेरा स्वरूप मात्र आनन्द और ज्ञान ही तो है। ज्ञानका जो पूर्ण विकास है वह तो तेरा स्वरूप है। और आनन्दका जो अन्तिम विकास है, चरम सीमा है वह भी तेरा स्वरूप है। ऐसे ज्ञानानन्दस्वरूपमे जिसकी दृष्टि होती है वह भी ज्ञानानन्दमे गोता लगाता है। परिणाम निर्मल करता है. ऐसी भक्तिसे जिसका उपयोग ज्ञानानन्दस्वरूपमे डूबा रहता है उसके एक भवके जन्ममे भव भवके पाप नष्ट हो जाते है, उसमे कोई आश्चर्य नही। जैसे रात्रिको महान अन्धकार हो, जो इतना विकट अन्धेरा हो कि इस लोक को व्याप ले भ्रमर के समान नीली, काली रात्रि हो मगर सुबह होते ही, पौ फटते ही सूर्य की किरणोके आगमनमे ही अन्धकार नष्ट हो जाता है, इसी प्रकार जब भक्तिमे चित्तमे ज्ञानका उदय होता है, और ज्ञानस्वरूप भगवानकी पूजा भक्तजन करते है। भगवानके गुणोपर न्यौछावर हो जाते हैं तो भव भवके पाप कट जाते हैं।

१३ वें छन्द मे भगवानके वक्त्रकी (मुखकी) उत्तमता बताई गई हैं, सो वक्त्र शब्द कहने का क्या रहस्य है, इसे पढिये इस प्रवचनांशमे–पृ० १६–कहते हैं कि नाथ कैसे हैं? जिनका मुख चन्द्र से भी उज्ज्वल है। यहा मुख न कहकर मुख के वजाय वक्त्रका है। कोषमे मुखके अनेक नाम बताये हैं। आपका ऐसा वक्त्र, आपका ऐसा मुख, आपका ऐसा आस्य, आपका ऐसा लपन आदि ये सब मुखके नाम हैं, मगर शब्दार्थ जुदा जुदा है। वक्त्र उसे कहते हैं जिससे बात बोली जाय। मुख किसका नाम है जिसके द्वारा वस्तु खाद्यवस्तु दी जावे उसे मुख कहते हैं। जिससे लार बह जाया करती है वह आस्य है। लपन किसे कहते हैं–जिसमें जीभ अथवा जिसमे लोग खानेमे लप लप किया करते हैं या बहुत लप लप बोला करते हैं। एक शब्दके प्राय एकार्थक अनेक पर्यायवाची शब्द हैं, किन्तु यह तारीफ है कवियो और आचार्यों को कि कैसे, कहा कौन शब्द रखे जावें। एक शब्दके पर्यायवाची दसो शब्द है, पर कौन सा शब्द फिट बैठता है? हिन्दी वाले इस औचित्यको कम लगाते है, पर सस्कृत वाले विशेष लगाते हैं। इगलिश मानना वाले इसका और भी ध्यान रखते हैं। तो यहा वक्त्र कहा है। वक्त्र मायने वह, जिससे वचन, दिव्यध्वनि निकले। ऐसा अद्भुत वक्त्र आपका है। उसकी चन्द्र से क्या उपमा हो सकती हैं। कहां यह कलंकी, दिनमे निस्तेज होने वाला चन्द्र है और कहा प्रभुका लोकोत्तर वक्त्र।

४६ वें छन्दमे कहा है कि प्रभुके ध्यानके प्रतापसे कठिन भी बन्धन टूट जाते हैं इसके प्रवचनके उपसंहार का एक प्रवचनांश देखिये–पृ० ५६–प्रभुकी भक्ति करते हो उस पूजासे अनेको देवी देवता अनेक सज्जन मनुष्य प्रसन्न होकर भक्तको वर देना चाहते हो वह सब भगवानके स्वरूप भक्तिके कारण इस भक्तपर आत्मरुचिका असर है। उसे अन्य कुछ चाहिए ही नही। उसे तो केवल भगवानका स्वरूप सुहा गया। कृष्ट हो गया। भक्तका दिल अन्यत्र कही नही जाता। भगवानके पवित्र स्वरूपकी भक्तिके बाद तो अन्यत्र दिल ही नही लगता है। ऐसी शुद्ध भक्तिका चमत्कार हो जाय वह सब साधारण बात है। प्रभो भव भवमे अनेको से परिचय हुआ, अनेको से स्नेह हुआ, परन्तु हे भगवन् तेरे स्वरूपका परिचय पाये बिना यह प्राणी जगतमे विचरता ही रहा। प्रभुकी शरण ही सच्ची शरण है। कैसे भी बन्धनमे कोईभी फसा हो, पर हे नाथ आपके नामके स्मरणसे ही वह व्यक्ति बन्धनरहित हो जाता है।

४८ वें छन्दके प्रवचनके पश्चात् कष्टसहिष्णुता व लोकसुखकी उपेक्षा करने पर ध्यान दिलाया है, अव-धारण कीजिये–पृ० ६३–कोई बडी तेज नीदसे सो रहा हो और किसी मनुष्यने कह दिया उठो, नींद तेज थी, अरे उठिये उठिये, देर हो गई, फिर सो गये, तो, उन्हे बार बार जगाने वाला जगाता रहता है, पीछा नही छोडता, बार बार जगाता है, इसी तरह इस रागकी नीदमे सोये हुए ये मनुष्य हैं, सो गये, विपदा ने जगाया, फिर सो गये, फिर विपदा ने जगाया, इसलिए हे विपदे, हम तुमसे बड़ी आशा करते

हैं, अत हे विपदाओ मेरेपास आवो, और रागनीदमे सोये हुए इसको बारबारजगाओ । दुःख आते है तो इनका स्वागत करो और सुख आता है तो उसकी उपेक्षा करो । ऐसा हो करके आनन्द प्राप्त होगा। लाभ तो बडो पूजी लगाकर ही मिलता है। पहले दो चार साल नुकसान किया, फिर बादमे जब यत्न पूरा वन जाता है तभी लाभ मिलता है तो भाई यह लाभ तो आत्मीय आनन्द है, शुद्ध आनन्द है। मोक्षमार्ग का लाने वाला है। इसकी प्राप्ति के लिए बहुत विपदाये भी सहना पडे तो सहना चाहिए ।

(१५८) मेरा धर्म

इस पुस्तिकामे श्री दि० जैन सभा शिमला द्वारा आयोजित सर्वधर्म सम्मेलनमे अध्यक्ष पदसे पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराजका प्रवचन हुआ था। इसमे बडी शैली से जनसमुदायको धर्ममार्ग बताया गया है। धर्मके स्वरूपका सरल पद्धतिमे परिचय करिये इस प्रवचनांशमे, पृ० ६–जैसे एक मोटा दृष्टान्त लीजिये– अग्निका स्वभाव उष्णता है, वह उष्णता अग्निका धर्म है, और गहराई पर जावे तो देखे पुद्गलका स्वभाव रूप रस गध स्पर्श है। तो यह चतुष्टय पुद्गलका धर्म है। अब अपने विषय पर आवे। मेरा धर्म, मेरा अर्थात् इस शरीर, विचार और वाणी, चेष्टासे भी अलग, मुझ आत्माका स्वभाव है ज्ञान। ऐसा ज्ञान जो केवल शुद्ध ज्ञान हो, ज्ञानके साथ मोह, काम, क्रोध, मान, माया, लोभ न हो क्योकि यह सभी दोष कोई भी आत्माके स्वभाव नही है। इससे यह सिद्ध हुआ कि मोह काम, क्रोध, मान, माया, लोभ का बिकार न होना, अथवा शुद्ध जानना बना रहना धर्म है।

एक स्थल पर तीन बातो पर विचार किया गया है। (१) दिखने वाला सर्वजगत (२) जानने वाले अन्य पदार्थ (आत्मामे) (३) मैं स्वय और मेरा स्वभाव। इनमे तीसरी बातका परिचय करिये इस प्रवचनांशमे– पृ० ९–१०–अब अपने विषय मे विचार करे कि मैं क्या हू, मैं दूसरोके अनुभवोसे पृथक अनुभव वाला हू, स्वतत्र हू, मेरा स्वभाव ज्ञान है, उससे मैं कभी अलग नही होता। मेरा स्वभाव इच्छा, राग, द्वेष करने या पशु मनुष्यादि जन्मोमे भटकनेका नही है, किन्तु कर्मोदय और बाह्य पदार्थों के निमित्तसे मेरे अज्ञान के कारण ये दशाये होती हैं। मेरा स्वभाव तो जानने का है। मै अपने को यथार्थ देखू तो जो मेरा स्वरूप है वह परमात्माका है। केवल अन्तर यह हो गया है कि उसमे राग नही है, इसी कारण अनन्त– ज्ञानी और अनन्त सुखी है। यहा रागका विस्तार है इसीलिए अल्पज्ञानी व अल्पसुखी हू। यदि मेरे भी राग न हो तब परमात्माका और मेरा स्वरूप खुले रूपमे एक है। यह राग तभी नष्ट हो जावेगा जब यथार्थ ज्ञानके बलसे आशा दूर हो जावेगी।

स्याद्वादके सबके धर्म विचारोका समन्वय होता है, उसका मर्म देखिये–पृ० १०–बन्धुवर, मेरा धर्म, समझने के लिए वाह्य विज्ञानकी कसौटीसे भी अपनी तर्कणाओंको कसिये, वह कसौटी है स्याद्वाद, अभी अभी आपके समक्ष विविध प्रवक्ताओंने अपने अपने मन्तव्य व्यक्त किये। यहा कोई थियेटर तो है नही जो अपना अपना पार्ट अदा कर गये हो यहा तो एक महत्वपूर्ण सर्वधर्म सम्मेलन हो रहा है। वे सभी प्रवक्ता अपने अपने ज्ञानकी हार्दिक बात बता गये है। यदि प्रत्येक प्रवक्ता के विचार का दृष्टियो द्वारा देखें तो आप सभी यह कह उठेंगे इसमे सभी ने सत्य कहा परन्तु-इन्होने इस दृष्टिसे और इन्होने इस दृष्टिसे।

प्रवचनके अन्तमे शिक्षाप्रद बातका अवधारण करिये–पृ० १ –१५–अन्तमे मेरा आप सब बन्धुओ से यही कहना है कि आप हमने शान्तिके अर्थ बहुत प्रयत्न कर डाले, अब एक यह भी प्रयत्न करके अनुभव कर लीजिये कि जो वस्तुको विविध दृष्टियोसे यथार्थ जानकर, अपने आत्मा के स्वरूप को यथार्थ

जानकर मोह, राग द्वेष दूर करे। हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह आदि पापोसे दूर रहे, मिथ्यात्व अन्याय अभक्ष्य का त्याग करें, आत्मनः प्रतिकूलानि परेषाम् न समाचरेत्–अर्थात् जो अपनेको बुरा लगे वह दूसरो के लिए न करें, शराब, मास, शहद, बड, पीपल, ऊमर आदि उदम्बर फलका भक्षण न करें। जुआ खेलना मास खाना, शिकार खेलना, चोरी करना, परस्त्री सेवन करना, वेश्यागमन करना इन व्यसनो को छोडे, सदा अपने ज्ञानस्वभावका ध्यान रखें यही मेरा धर्मपालन है, यही आत्मधर्म है, यही विश्व–धर्म है, यही वस्तुधर्म है. इसका तो जैन धर्म इसलिए नाम पड गया कि जिन्होंने राग, द्वेष, मोह को जीता वह जिन है परमात्मा है, उस जिनदेवके उपदेशमे यही वस्तु धर्म कहा गया है इसलिए जैन धर्म कहा जाने लगा।

(१५९) ब्रह्मविद्या

थियासाफिकल सोसाइटीके सदस्योके बीच पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराजका जबलपुरमे एक प्रवचन हुआ था, ब्रह्मविद्याके नाममे प्रकाशित हुआ है। दार्शनिक पद्धतिमे यथाक्रम हुए इस प्रवचनमे उन सदस्योंने लाभ उठाया, प्रत्येक पाठक सरलतासे इस प्रवचनसे आत्महितका लाभ ले सकते हैं। पदार्थके विषयमे ही सब वर्णन किया जाताहै सो पहिले पदार्थका स्वरूपही प्रवचनमे बताया है। उसके एकअंशमे पदार्थकी विशेषता देखिये-पृ० १०-पदार्थकी विशेषतायें-पदार्थ अविभक्त होता है और उसकी यह विशेषता है कि वह निरन्तर बनता है, बिगडता है और बना रहता है, क्योंकि पदार्थ किसी न किसी अवस्थाको लिए हुए रहता है। अत जो अवस्था वर्तमान है वह तो हुआ बनना और उससे निकट पहिले की अवस्था नही रही, यह हुआ बिग–ड़ना तथा जो बना व बिगडा वह एक वही है। यह हुआ बना रहना। जैसे स्वर्ण की एक चेन है, उस का मेडिल बना लिया तो मेडिलका तो बनना हुआ और चेनका बिगडना हुआ और स्वर्णका बना रहना हुआ। इसे दृष्टान्तमे देखना। वस्तुत स्वर्ण भी पदार्थ नही, पदार्थो का समूह है। इस बनने, बिगडने और बने रहने को कहते हैं उत्पाद व्यय और ध्रौव्य याने मेनीफिकेसन, डिसएपियरेन्स और परमा–नेन्स।

विचारोंका महत्व देखिये एक प्रवचनांशमे–पृ० ५–विचारो की भी बडी शक्ति होती है। विचार जैसे करेंगे वैसे आप हो जावेगे। जैसे गावके किसी वासिन्देको मालूम हो जाय कि उसे भूत लगे हैं, उस ने ऐसा कल्पना करली कि मैं भूत हू। इस विचारसे वह यह भूल जाता है कि वह आदमी है। अपने आपको भूत समझ लेने का वह परिणाम होता है–वह उचकने लगता है, भूत जैसी क्रियाओंको करने लगता है। इसी प्रकार कोई भोगके अनुकूल विचार बनाता है तो वह सुखका अनुभव करता है। यदि कोई आत्मधर्मके अनुरूप भाव करता है तो वह सहज परम आनन्द का अनुभव करता है। इस कारण मित्र, बाह्यका तो कोई कुछ कर नही सकता, क्योंकि कोई द्रव्य किसी दूसरे द्रव्यरूप परिणमता ही नही है, सो अब अपना ही सुधार करना रह गया है।

आत्महितके मार्गमे सामान्य तत्त्वका कितना महत्व है, पढिये एक प्रवचनांशमे–पृ० १७–लोग विशेषमे ही अटके है, विशेषको ही महत्व देते है परन्तु शान्ति मार्गमे तो सामान्यका महत्व है, सामान्य दृष्टिका महत्व है। लोकमे भी देखलो, जैसे अभी ये सब भाई बैठे हैं, इन्हे यदि कोई विशेष दृष्टिसे देखे कि ये धनी हैं, ये गरीब हैं, ये पडित हैं, ये मूर्ख है, ये ब्राह्मण है, ये वैश्य हैं आदि आदि तो उसे आकुलता हो प्राप्त होती है। यदि कोई सबको एक समान मनुष्य दृष्टिसे ही देखे तो उसे आकुलता नही होती। अब एक ही मनुष्य पर घटावे। मनुष्यको बालक, जवान, बूढा आदि अवस्थावोमे देखो तो नाना विकल्पोका

शिकार बनना पडता है। यदि सब अवस्थाओमे रहने वाले एक मनुष्य सामान्यकी दृष्टिसे देखो तो बिकल्पोका उद्यम ही नही होता।

इच्छासे सुख नही, किन्तु इच्छाके अभावसे सुख है ज्ञानगुणसे ज्ञानकी निष्पत्तिकी भाति सुखकी भी निष्पत आनन्द गुणसे है, इसका दिग्दर्शन कीजिये, पृ० २१–ज्ञान और आनन्द आत्मा से ही और आत्मामे ही प्रकट होते हैं। जिस द्रव्यका जो गुण प्राप्त है वह उसी द्रव्यमे होता है। ज्ञान गुरु या शास्त्रसे नही आता, वे निमित्त मात्र अवश्य है। परन्तु उनसे आनन्द नही मिलता। ज्ञान आत्माका गुण है। आत्मा से ही प्रकट होता है। यदि गुरु से ज्ञान आता है तो सौ दो सौ शिष्योका ज्ञान देने पर गुरु ज्ञानसे खाली हो जायगा। यदि शास्त्र से ज्ञान आता है तो किसी वाक्यका अर्थ समझमे न आने पर समझने के लिए अपने आपपर जोर क्यो लगाते हैं? पत्र क्यो नही मोडने लगते? आनन्द आत्माका गुण है, आत्मासे ही प्रकट होता है। यदि आनन्द लड्डुओ से आता है तो लड्डुओको पीछे छोडते क्यो है? मुख तक लड्डु भर लिए जावे। आनन्द तो इच्छाके अभावमे है। कोई लडडु खाने की इच्छा नही करता। वह सहज आनन्द कौन है? खाने आदि की इच्छा और प्रयत्नमे तो आकुलता ही है।

(१६०) कष्टोसे कैसे छूटे

दिनाङ्क ५–९–१९५५ सुगन्धदशमीको मुजफ्फरनगरमे दिया हुआ यह श्री सहजानन्द वर्णी जी महाराजका प्रवचन है। देखिये एक प्रवचनाश–भगवानका शासन हमे यह शिक्षा देता है कि कष्ट सहिष्णु बनो, परिणामोके निर्मल रखो, धन यश नाममे वाधा होनेको विपदा मत समझो। वास्तवमे विपदा तो परिणाम मे मलिनता होना है और कुछ नही। यदि परिणाम निर्मल न हुए तो भव भवमे कष्ट मिलेगे, उनकी परम्पराको कौन मिटायगा, कु योनियोमे भटकना पडेगा। यहा दो तीन दिनके आरामके लिये मनचाहे विषय साधनोका उपयोग बना रहे हो, परन्तु यह खबर नही, हम अनन्तकालसे वेदना सहते चले आये हैं और भविष्यमे भी कष्ट ही मिलेगे, यदि निज अन्तस्तत्त्वकी ओर दृष्टि नही दी तो। एक ही प्रोग्राम अपने जीवनका बनाओ. कष्ट सहनेकी सामर्थ्य पैदा हो और किसी भी मूल्य पर परिणामोमे मलिनता न आने पावे। यदि हम इसमे सफल हो गये तो समझ लो, हमने कष्टोको जीत लिया, उनसे छुट्टी मिल गई।

अन्तिम दो प्रवचनाश पढिये–भैया! इन थोडे दिनोके मौजमे आसक्त होनेके समान विपदा, मूढता और क्या हो सकती है। यदि विपदाओसे बचना है तो एक यही मात्र उपाय है–अपने उपयोगको अपने स्वभावमे स्थिर कर दो, बस सकट दूर हो जावेगे। देखो–नदीमे कछुआ सिर उठाकर तैरता जा रहा हो तो उसके ऊपर बीसो पक्षी उसे चूटने खान झपटते है, किन्तु वह कछूआ अपनी नैसर्गिक एक कलाके बलसे सब पक्षियोके उपसर्गको नष्ट कर देता है। वह कला क्या है? ४–५ अगुल भीतर पानीमे मग्न हो जाना। ऐसे ही जब जीव निज ज्ञानस्वभावमे मग्न होने की नैसर्गिक कलाका प्रयोग कर देता है तो समस्त सकट विनष्ट हो जाते है।

कष्टोको सहन करनेकी क्षमता पदा करो, परिणामोमे कभी भी मलिनता न आने दो। और अधिक क्या कहे, बस जीवनका यही प्रोग्राम बनाओ, कष्ट विदा हो जायेगे, कष्टोसे छुट्टी मिल जायगी। कष्टो! लो, तुम्हे बस अब अलविदा।

(१६१) नियमसार प्रवचन प्रथम भाग

इस पुस्तकमे नियमसारकी प्रथम गाथासे १९ गाथा तक के पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराज

के प्रवचन है। प्रथम गाथामे उपयोगी विवेचनके बाद एक प्रवचनांश देखिये, उपदेशका ध्येय क्या होता है इसका प्रायोगिक विवेचन, पृ० ११–१२–उपदेशका ध्येय शिवमार्ग व शिवमार्गफल–जिन शासनमे इन दो बातोका वर्णन है–मार्ग और मार्गफल। मार्ग तो मोक्ष का उपाय है। किसे मोक्ष दिलाना है? अपने आत्माको। जिसे मोक्ष दिलाना है उसका स्वरूप तो जाना। उसकी श्रद्धा हो और जिस छूटना है उस रूपमे इसका अंतरंग हो तो मोक्ष का मार्ग बनता है, और उसका फल है–निर्वाणकी प्राप्ति। मोक्षकी तो लोग बडी प्रार्थना करते हैं, पूजामे, पाठमे, विनतीमे बोल जाते हैं कि हमे छुटकारा मिले। काहे से छुटकारा मिले? कर्मो से छुटकारा मिले। देहके बन्धनसे छुटकारा मिले। छुटकारे के लिए बडी प्रार्थना करते हैं। और, क्यो जी यदि थोड़े पैसोसे छुटकारा हो जाय तो उसमे खेद क्यो मानते हो? विनती मे तो कहते हो कि छुटकारा मिले, पर जरा सा पैसोसे छुटकारा हो जाय तो उसमे खेद काहे को मानते हो? मानते हो ना, फिर तो यह सब ढोंग ढपारे को बात रहा। जब व्यवहार के कार्यो से छुटकारा पाने मे धैर्य नही रख पाते हो तो उस बडे मोक्षको बात तो एक स्वप्न देखने की जैसी बात है।

गाथा नं० २ के एक प्रवचनांशमे मार्गका अर्थ देखिये जिस पर अपने को चलना है। पृ० २५–मार्गका अर्थ–मार्ग किसे कहते हैं? जो खोजा जाय वह मार्ग है, या जिस पर गमन करके इस स्थान पर पहुचा जाय उसे मार्ग कहते है। इस मार्ग का नाम आज कल क्या रखा? सडक। सडक शब्द अशुद्ध है। सडक नही बल्कि सरक। अब देखो कि सरकना तो आदमी है और उस रास्तेका नाम सरक रखा। जहा आदमी सरकते हो उसका नाम सरक है। जिसके आधार से यह ससारी जीव इस बन से सरककर ऊपर पहुचे उसका नाम है सरक। तो यह है मार्ग पथ, अपने आपके विशुद्ध ज्ञानदर्शनस्वरूपी आत्मतत्त्वका यथार्थ श्रद्धान होना और ऐसाही उपयोग बनाये रहना, उसमे ही रत रहना यही अभेद रत्नत्रय है और इसका फल है मोक्ष। एक शब्दमे मोक्षका उपाय कहे तो कह लीजिये परम निरपेक्ष होकर एक निज सहज स्वभावका उपयोगमे तन्मय होना यही है मोक्षमार्ग।

ज्ञानकी गति कैसी अबाध होती है, इसका दिग्दर्शन कीजिये गाथा ३ के एक प्रवचनांशमे, पृ० ३६–ज्ञान की अबाध गति–यह कारण समयसार चाहे परिणमनमे अशुद्ध है पर ज्ञानकी ऐसी पैनी दृष्टि होती है कि यह ज्ञान अशुद्ध अवस्थामे भी अशुद्धमे न अटककर, अशुद्ध को छोडकर भीतर गमन करता है और शुद्धको ग्रहण कर लेता है। जैसे हड्डीका फोटो लेने वाला यत्र कपडाको, चमडे को खून को, मासको न ग्रहण करके केवल हड्डीका फोटो ले लेता है, जैसे आपको कोई कीमती चीज तिजोरी मे बक्सके अन्दर पोटलीमे बन्धी है, मोती, हीरा आदि कुछ भी हो, आप यहा बैठे बैठे एकदम उपयोगसे हीराको ज्ञानसे पकड जाते हैं। घरके किवाड लगे हो तो आपका ज्ञान दरवाजे पर न अटक जायगा कि किवाड खुलें तो हम भीतर जाये। तिजोरी के फाटकमे न अटक जायगा। सीधा वही पहुच जाता है। इसी प्रकार इस अशुद्ध अवस्था मे ही भेदविज्ञानके बलसे अपने लक्षणका आलम्बन करके यह उपयोग उन सब परिणमनोको छोडकर अन्त शुद्ध चैतन्यस्वरूपको ग्रहण कर सकता है। इस शुद्ध चित्स्वभावके आश्रयसे शुद्ध परिणति होती है।

शुभरागमे भी क्षोभ होता है, इसका दिग्दर्शन कीजिये तथा शुभ रागीको जो अच्छा कहनेका व्यवहार है उसका कारण देखिये निम्नांकित प्रवचनांशसे–पृ० ९–१०–शुभराग मे भी क्षोभका स्थान–भैया, फिर भी उपयोग चूकि अपने स्वामीको छोडे हुए हो और बाहर मे भी किसी शुद्ध तत्त्वका भी ध्यान कर रहा हो तो विकारोका बहिर्गमन बराबर है। बहिर्गमनमे ही यह कला है कि आकुलता रहती है। किसी को

शिखर जी जाने की मनमें इच्छा हुई तो उस इच्छासे अन्त आकुलता हुई ना कि मुझे शिखर जी जाना है। यद्यपि और भी बहुत से काम हैं जिनसे आकुलता होती । यहा कुछ अच्छे ढगकी आवश्यकता है सो वता रहे हैं। मन, वचन, कायका यत्न किसी न किसी आवश्यकता बिना नही होते है। कोई बुद्धि पूर्वक मनका यत्न करे ता वह क्षोभपूर्वक होता है, लेकिन मलिन क्षाभको मिटाने के लिए कोई शुभ क्षोभ हो तो उस क्षोभको भला समझिये। अल्प आकुलता में स्वस्थताका व्यवहार-जैसे किसीके १०५ डिग्री बुखार चढा हो और उतरकर ९९ डिग्री रह जाय तो कहता है कि अब मेरा स्वास्थ्य बहुत अच्छा है। अरे, अच्छा कहा है ? वह तो १०५ डिग्री बुखार के सामने कम है। सो अपने स्वास्थ्यको अच्छा मानता है। यदि विषय कषायोमे गया हुआ उपयोग है तो बहुत अस्वस्थताकी बात है और प्रभु या गुरु या चर्चा मे लगा हुआ जो उपयोग है वह क्या स्वस्थताको बात नही है ? है, किन्तु परमार्थसे स्वस्थता परमार्थप्रभु या गुरुमे उपयोग जाय वह है।

नामकी चाह करना कितना महान अपराध है इसका दिग्दर्शन कीजिये गाथा ६ के प्रवचनाशमे पृ० ६३-नामकी चाहका महा अपराध-भैया तुम जितना आज चाहते हो उतना भी मिल जाय तो भी सुख नही हो सकता, क्योकि यहा तुमने एक जबरदस्त अपराध किया है उस अपराधका दण्ड तो जीवन भर मिलेगा। क्या अपराध किया है। यह अपराध किया है कि असार मायामय इस जगतमे भ्रम करके अपना नाम रखनेका भाव बना रहे हो, यह महान अपराध करते हुए तुम शान्तिकी आशा रखते हो। तो शान्ति मिल जाय यह कभी नही हो सकता। भगवानका हुकुम मानते जावो तो अशान्तिकी शका नही है। भगवानका हुकुम है कि तुम सब पदार्थो का प्रयोजन-भूत परिचय प्राप्त करो। दूसरा हुकुम यह है कि तुम गृहस्थावस्थामे हो तो अपना कर्तव्य निभावो। दुकान करते हो तो दुकान पर जाओ। समय पर वहा वैठो, उद्यम का काम करलो, कोई सर्विसका काम है तो सर्विसका काम ईमानदारीसे करलो, जो जो भी आजीविकाके कार्य हो उन्हे ईमानदारी से डटकर करलो, अब उसमे ही जो कुछ आय हो उसके विभाग बनालो और अपना गुजारा करो। पैसे की ओर दृष्टि नही लगाना है। क्योकि वह तो आने जाने वाली चीज है। रहने वाली चीज नही है। आखिर मरते समय तो छोड़ना ही पडेगा।

भक्तिकी कस पर भक्तिकी परीक्षा करलो, गाथा ७ के एक प्रवचनाशमे-पृ० ७७-भक्ति की कस-यहा कोई घर पर भी आक्रमण हो और धर्मायतन पर भी आक्रमण हो तो धर्मायतन की उपेक्षा करके घर बचाने की कौशिश करते हैं। तो यह धर्मायतनमे भक्ति हुई या घरमे भक्ति हुई ? मुकाबलेतन दो चीजे रखलो, दोनोका विनाश हो रहा ह । उनमे से जिस एकको बचानेका कोशिश हो समझो कि भक्ति उस की है। बस इस कसपर कसते जाइये कि तुममे प्रभुभक्ति विशेष है या घर परिवारमे या धर्ममें भक्ति विशेष है।

असहाय केवलज्ञानकी भक्तिमे सहायताकी निन्दागर्भता देखिये गाथा न० ११-१२ के एक प्रवचनाशमे, पृ० ११७-सहायताको निन्दा गर्भता-भैया, किसी के बहुत सहायक हो ता यह उसकी प्रशसा है या निन्दा ? परमार्थमे वह निन्दा है अर्थात् वह स्वय समर्थ नही है, स्वय मे इतनी प्रभुता नही है इसलिए इसके दसो सहायक है और तभी काम चल पाता है। यह तो लोककी व्यवस्था है। यो तो असहाय सहायोसे भी लोकमे बुरे माने जाते है और उन्हे कहते हैं वेचारे। जिनका चारा नही है, गुजारानही है, सहारा नही है उन्हे कहते हैं वेचारे। और कभी कभी तो दया करके साधु सन्तोके प्रति भी लोग कह बैठते हैं कि बेचारे बडे सीधे हैं। तो वेचारे माने असहाय, जिनका कोई चारा नही। तो लौकिक दृष्टि

मे असहाय बुरा माना जाता है और ससहाय ऊंचा माना जाता है, पर वस्तुस्वरूपको ओर से देखा जाय तो ससहाय हलका है और असहाय सर्वोच्च है। यह केवलज्ञान असहाय ज्ञान है। इस तरह कार्य-स्वभावज्ञान केवल है इन्द्रियरहित है और असहाय है।

भोगकी कच्ची भूखमे अपथ्यसेवन मत कीजिये, प्रेरणाले गाथा नं० ११-१२ के एकप्रवचनाशमे-पृ० १३८- भोगकी कच्ची भूख एक महान धोखा-भैया, जैसे बीमारीमे कच्ची भूख लगती है तो पक्की भूख तो यह मनुष्य सह लेता है और उस कच्ची भूखमे जब न खाये, थोडा धैर्य रखे तो वह स्वस्थ हो जाता है। ऐसे ही इस ससारकी जन्म मरणकी लम्बी बीमारीमे भोगोकी आकाक्षाकी कच्ची भूख लगती है। यह यदि एक ही भवमे गम खा जाय तो इसे मोक्षमार्ग मिल जाता है। अनेक भवोमे तो भोग भोगा है, केवल एक भव हो ऐसा मान लो कि हम मनुष्य न होते तो हमारे लिए तो कुछ भी न था। सौभाग्य से मनुष्य हो गये तो अन्य कर्मो के लिए हम नही हैं, हम आत्महितके लिए हैं-ऐसा जानकर, साहस बनाकर इन भोगोसे मोडकर आत्मभावनामे अपना समय और उपयोग लगायें तो यही मेरे जीवनकी सफलताका उपाय है।

कारणसमयसारकी रुचि न होने से मनुष्य कैसा बाहर भटक जाता है उसका चित्रण देखिये गाथा १४ के एक प्रवचनाशमे-पृ० १६३-लक्ष्मीपती और लक्ष्मीपुत्र-भैया, कोई कहलाता है लक्ष्मीपति और कोई कहलाता है लक्ष्मीपुत्र। इन्ही दो शब्दोंसे बोलते हैं-लक्ष्मीपति और लक्ष्मीपुत्र। लक्ष्मीपति वह कहलाता है जो लक्ष्मीको खर्च करे, दान करे, भोग करे, उसका नाम है लक्ष्मीपति, और लक्ष्मीपुत्र उसका नाम है कि जैसे पुत्र माताके चरण छूवे, हाथ जोडे, पूजा करे, मा को भोग न सके, स्पर्श न कर सके। इसी तरह लक्ष्मीपुत्र, जिसका यह पुत्र है, उस लक्ष्मी मा को धन पैसे को पूजे, उसके चरण छूवे, उसकी सेवा करे, उसको आराधना करे, उसको हृदयमे स्थान दे, पर एक भी पैसा न खर्च कर सके, उसका नाम है लक्ष्मीपुत्र। वह तो लक्ष्मीका पुत्र है, उस लक्ष्मीका कैसे भोग करे? पुत्र होकर मा के साथ अन्याय करे, यह कसे हो सकता है? ये हो सब व्यवहार-लक्ष्मीपुत्र कहे जाते हैं।

(१६२) नियमसार प्रवचन द्वितीय भाग

इस पुस्तकमे नियमसारकी २० वी गाथासे ३७ वी गाथा तक के पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी सहजानन्द महाराजके प्रवचन हैं। पुद्गलद्रव्यके वर्णनमे कार्यपरमाणु व कारण परमाणुका परिचय देखिये, इससे योगसम्मत भिन्न भिन्न कार्यपरमाणु व कारण परमाणु के सिद्धान्तका तथा निरपेक्ष नित्यानित्यके सिद्धान्तका स्वत निराकरण हो जाता है देखिए २० वी गाथा के एक प्रवचनाशमे, पृ० १-२-स्वभावपुद्गलके प्रकार-स्वभावपुद्गल भी दो प्रकार के हैं-एक कार्यपरमाणु और दूसरा कारणपरमाणु। बात वही एक है, कोई भिन्न भिन्न जगहमे ये दोनो पाये नही जाते कि कारणपरमाणु कोई और होता होगा और कार्यपरमाणु कोई और होता होगा। उसी प्रकार परमाणुमे कारणताकी मुख्यतासे कारणपरमाणुका व्यपदेश है तथा जो कुछ होगा उसमे परिणमन भी है। एक ही परमाणु रहकर उस परमाणुके स्वरूपका आश्रय करके जो होगा वह कार्यपरमाणु है। जो परमाणुका सहजस्वरूप है उसका नाम है कारणपरमाणु और उस परमाणुका जो व्यक्तरूप है, जिसमे पाचो रसोमे से एक रस है, पाचो वर्णो मे से एक वर्ण है, दो गधो मे से एक गध है और चार स्पर्शो मे से दो स्पर्श हैं-ऐसे कार्यरूप परिणत परमाणु कार्य परमाणु कहलाते हैं। परमाणुसे अपना कोई वास्ता नही चल रहा है, इसलिए पुद्गलका स्वरूप भी जीव की तरह सूक्ष्म है और जैसे जीव अनेक चमत्कारो वाला है इसी तरह यह पुद्गल परमाणु भी अनेक चमत्कार वाला है।

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु इन चारो धातुओमे रूप रस गंध स्पर्श की सिद्धि करके उन सबको पुद्गल बताने का कथन गाथा २५ वी का एक प्रवचनाशमे, पृ० ६–प्रत्येक धातुमे गुणचतुष्कता–भैया, वास्तविक बात यह है कि पृथ्वीमे भी रूप, रस, गध, स्पर्श चारो गुण है, जलमे भी चारो गुण है, अग्निमे भी चारो है और वायुमे भी चारो है। चाहे आपको कोई चीज मालूम पडे अथवा न मालूम पडे, यह नियम है कि इन चारो विषयोमे से एक भी चीज हो तो वहा ये चारो ही होगे। अग्नि किसी ने चखी है क्या कि वह खट्टी होती है या मीठी ? ध्यानमे आकर कही चखने नही बैठ जाता। कोई रस तो अग्निमे नही चखा गया, फिर भी उसमे रस है, अव्यक्त है। चारो मे चारो गुण पाये जाते है। पृथ्वीकी बात तो जल्दी समझमे आ जायेगी। जलमे गध जल्दी नही मालूम होती, रूप दिख जाता है, रस दिख जाता है स्पर्श दिख जाता है पर गध नही मालूम पडता। पर गध भी है उसमे। हवामे केवल स्पर्श मालूम होता है, पर हैं उसमे भी सब। एक हो कहो ऐसी बात नही है। ऐसेही अनुमान करलो कि जो चीज जिस चीज को बनाती है, जिसने बनाया, जो गुण होगे वे कार्यमे भी गुण आयेंगे। मिट्टीका घडा बनता है तो मिट्टी मे जो गुण पाया जाय वह घडा बनने पर भी उसमे रहता है।

सब द्रव्योमे साधारणतयापाये जाने वाले तत्त्वकी दृष्टिमे उदारता तो है, किन्तु व्यवस्था नही, इसका दिग्दर्शन कीजिये गाथा २६ के एक प्रवचनाशमे, पृ० २६–निरञ्जन योगोकी दृष्टिका प्रकृष्ट व प्रकृष्टतर विकास–जैसे सब जीवोको एक चैतन्यस्वभावके नातेसे जब निरखा जा रहा है तो क्या उस दृष्टिसे यह ससार है, यह मुक्त है, यह भेद आता है ? नही आता। इसी प्रकार सब द्रव्योसे पाया जाने वाला जो सत्त्वगुण है केवल उस सत्त्वगुण की दृष्टिसे निरखा जाय तो क्या वहा जीव चेतन है, पुद्गल अचेतन है, यह भेद निरखा जा सकता है ? वह तो जैसे सब जीवोमे चतन्यगुणकी निगाहसे देखना एक व्यापक और उदार दृष्टि है, ऐसे ही सब द्रव्योको सब द्रव्योमे साधारणतया पाये जानेवाले गुणकी दृष्टिसे देखा जाय तो वह दृष्टि व्यापक है और उदार है। इस ही दृष्टिसे मूलमे एकान्त नियम बनाकर जिसने पूर्ण वस्तुस्वरूप कायम किया है उसके मतमे यह सारा विश्व ब्रह्मरूप है। इस ब्रह्मका अर्थ सब पदार्थो मे साधारणतया पाये जाने वाला सत्त्वगुण रूप है। तो उस दृष्टिको कायम न रखकर सब कुछ एक सद्–ब्रह्म है, यह बात रच गलत नही है, पर व्यवस्था और व्यवहार, पुरुषार्थ, आगेका काम यह सब केवल इस दृष्टि पर नही बन सकता है।

ज्ञानीका ऐसा मौलिक परिज्ञान होता है कि उसके बलसे अन्त अनाकुल रहता है, इसका अध्ययन कीजिये गाथा न० ३७ के एक प्रवचनाशमे–पृ० ४३–ज्ञानीका परिज्ञान व अन्त प्रसाद–जिसने अपना स्वरूप सभाला–जिसने अपना स्वरूप सभाला, वस्तुकी स्वतत्रताका भान किया, जो कि शान्ति और सन्तोषका कारण है। ममता न रही तो अब क्लेश किस बातका ? सारा क्लेश तो ममताका है। घरमे भी रहे तो भी कर्तव्य तो यह गृहस्थ ज्ञानी निभायेगा सेवा सुश्रूषा उपचार करेगा, पर आकुलित न होगा। हाय, अब क्या किया जाय ? हमे कुछ सूझता नहीं, ऐसी आकुलता न मचायेगा। वह तो जानता है कि हमे सब सूझता है कि कितनी विकट बीमारी है। या तो अच्छा हो जायेगा या मर जायगा। अच्छा हो जायेगा तो ठीक है और मर जायेगा तो ससारका यह नियम ही है। हम तो परिपूर्ण ज्योके त्यो ही हैं। यहा कुछ घटता नही है। उसे यथार्थ परिज्ञान है क्योकि मोह नही रहा। सबसे बडी कमाई यही है कि मोह न रहे, क्योकि कमाईके फलमे चाहते है आर आनन्द, किन्तु बाह्य वस्तुओके सचयमे आनन्द कही न मिल पायेगा और मोह नहा रहा तो लो आनन्द हो गया।

(१६३) नियमसार प्रवचन तृतीय भाग

इस पुस्तकमे नियमसारकी गाथा न० ३८ से ५५ गाथा तक पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द

मे असहाय बुरा माना जाता है और ससहाय ऊचा माना जाता है, पर वस्तुस्वरूपको ओर से देखा जाय नो ससहाय हल्का है और असहाय सर्वोच्च है। यह केवलज्ञान असहाय ज्ञान है। इस तरह कार्य-स्वभावज्ञान केवल है इन्द्रियरहित है और असहाय है।

भोगकी कच्ची भूखमे अपथ्यसेवन मत कीजिये, प्रेरणाले गाथा न० ११-१२ के एकप्रवचनाशमे-पृ० १३८-भोगकी कच्ची भूख एक महान धोखा-भैया, जैसे बीमारीमे कच्ची भूख लगती है तो पक्की भूख तो यह मनुष्य सह लेता है और उस कच्ची भूखमे जब न खाये, थोडा धैर्य रखे ता वह स्वस्थ हो जाता है। ऐसे ही इस ससारकी जन्म मरणकी लम्बी बीमारीमे भोगोकी आकाक्षाकी कच्ची भूख लगती है। यह यदि एक ही भवमे गम खा जाय तो इसे मोक्षमार्ग मिल जाता है। अनेक भवोमे तो भोग भोगा है, केवल एक भव हो ऐसा मान लो कि हम मनुष्य न होते तो हमारे लिए तो कुछ भी न था। सौभाग्य से मनुष्य हो गये तो अन्य कार्यो के लिए हम नही हैं, हम आत्महितके लिए हैं-ऐसा जानकर, साहस बनाकर इन भोगोसे मोडकर आत्मभावनामे अपना समय और उपयोग लगायें तो यही मेरे जीवनकी सफलताका उपाय है।

कारणसमयसारकी रुचि न होने से मनुष्य कैसा बाहर भटक जाता है उसका चित्रण देखिये गाथा १४ के एक प्रवचनाशमे-पृ० १६३-लक्ष्मीपती और लक्ष्मीपुत्र-भैया, कोई कहलाता है लक्ष्मीपति और कोई कहलाता है लक्ष्मीपुत्र। इन्ही दो शब्दोसे बोलते हैं-लक्ष्मीपति और लक्ष्मीपुत्र। लक्ष्मीपति वह कहलाता है जो लक्ष्मीको खर्च करे, दान करे, भोग करे, उसका नाम है लक्ष्मीपति, और लक्ष्मीपुत्र उसका नाम है कि जैसे पुत्र माताके चरण छूवे, हाथ जोडे, पूजा करे, मा को भोग न सके, स्पर्श न कर सके। इसी तरह लक्ष्मीपुत्र, जिसका यह पुत्र है, उस लक्ष्मी मा को धन पैसे को पूजे, उसके चरण छूवे, उसकी सेवा करे, उसको आराधना करे, उसको हृदयमें स्थान दे, पर एक भी पैसा न खर्च कर सके, उसका नाम है लक्ष्मीपुत्र। वह तो लक्ष्मीका पुत्र है, उस लक्ष्मीका कैसे भोग करे? पुत्र होकर मा के साथ अन्याय करे, यह कसे हो सकता है? ये हो सब व्यवहार-लक्ष्मीपुत्र कहे जाते हैं।

(१६२) नियमसार प्रवचन द्वितीय भाग

इस पुस्तकमे नियमसारकी २० वी गाथासे ३७ वी गाथा तक के पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी सहजानन्द महाराजके प्रवचन हैं। पुद्गलद्रव्यके वर्णनमे कार्यपरमाणु व कारण परमाणुका परिचय देखिये, इससे योगसम्मत भिन्न भिन्न कार्यपरमाणु व कारण परमाणु के सिद्धान्तका तथा निरपेक्ष नित्यानित्यके सिद्धान्तका स्वत निराकरण हो जाता है देखिये २० वी गाथा के एक प्रवचनाशमे, पृ० १-२-स्वभावपुद्गलके प्रकार-स्वभावपुद्गल भी दो प्रकार के हैं-एक कार्यपरमाणु और दूसरा कारणपरमाणु। बात वही एक है, कोई भिन्न भिन्न जगहमे ये दोनो पाये नही जाते कि कारणपरमाणु कोई और होता होगा और कार्यपरमाणु कोई और होता होगा। उसी प्रकार परमाणुमे कारणताकी मुख्यतासे कारणपरमाणुका व्यपदेश है तथा जो कुछ होगा उसमे परिणमन भी है। एक ही परमाणु रहकर उस परमाणुके स्वरूपका आश्रय करके जो होगा, वह कार्यपरमाणु है। जो परमाणुका सहजस्वरूप है उसका नाम है कारणपरमाणु और उस परमाणुका जो व्यक्तरूप है, जिसमें पाचो रसोमे से एक रस है, पाचो वर्णो मे से एक वर्ण है, दो गधो मे से एक गध है और चार स्पर्शो मे से दो स्पर्श हैं-ऐसे कार्यरूप परिणत परमाणु कार्य परमाणु कहलाते हैं। परमाणुसे अपना कोई वास्ता नही चल रहा है, इसलिए पुद्गलका स्वरूप भी जीव की तरह सूक्ष्म है और जैसे जीव अनेक चमत्कारो वाला है इसी तरह यह पुद्गल परमाणु भी अनेक चमत्कार वाला है।

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु इन चारो धातुओंमे रूप रस गंध स्पर्श की सिद्धि करके उन सबको पुद्‌गल बताने का कथन गाथा २५ वी का एक प्रवचनांशमें, पृ० ९–प्रत्येक धातुमे गुणचतुष्कता–जैसा, वास्तविक बात यह है कि पृथ्वीमे भी रूप, रस, गंध, स्पर्श चारो गुण है, जलमे भी चारो गुण है, अग्निमे भी चारो है और वायुमे भी चारो है। चाहे आपको कोई चीज मालूम पडे अथवा न मालूम पडे, यह नियम है कि इन चारो विषयोमे से एक भी चीज हो तो वहा ये चारो ही होगे। अग्नि किसी ने चखी है क्या कि वह खट्टी होती है या मीठी ? ध्यानमे आकर कही चखने नही बैठ जाता। कोई रस तो अग्निमे नही चखा गया, फिर भी उसमें रस है, अव्यक्त है। चारो मे चारो गुण पाये जाते है। पृथ्वीकी बात तो जल्दी समझमें आ जावेगी। जलमे गंध जल्दी नही मालूम होती, रूप दिख जाता है, रस दिख जाता है स्पर्श दिख जाता है पर गंध नही मालूम पडता। पर गंध भी है उसमे। हवामे केवल स्पर्श मालूम होता है, पर हैं उसमे भी सब। एक हा कहो ऐसी बात नही है। ऐसेही अनुमान करलो कि जो चीज जिस चीज को बनाती है, जिसने बनाया, जो गुण होगे वे कार्यमे भी गुण आयेंगे। मिट्टीका घडा बनता है तो मिट्टी मे जो गुण पाया जाय वह घडा बनने पर भी उसमे रहता है।

सब द्रव्योंमे साधारणतयापाये जाने वाले तत्त्वकी दृष्टिमे उदारता तो है किन्तु व्यवस्था नही, इसका दिग्दर्शन कीजिये गाथा २९ के एक प्रवचनांशमे, पृ० २९–निसाम्य योगोंकी दृष्टिका प्रकृष्ट व प्रकृष्टतर विकास–जैसे सब जीवोंको एक चैतन्यस्वभावके नातेसे जब निरखा जा रहा है तो क्या उस दृष्टिसे यह संसार है, यह मुक्त है, यह भेद आता है ? नही आता। इसी प्रकार सब द्रव्योंमे पाया जाने वाला जो सत्त्वगुण है केवल उस सत्त्वगुण की दृष्टिसे निरखा जाय तो क्या वहा जीव चेतन है, पुद्‌गल अचेतन है, यह भेद निरखा जा सकता है ? वह तो जैसे सब जीवोंमे चैतन्यगुणकी निगाहसे देखना। एक व्यापक और उदार दृष्टि है, ऐसे ही सब द्रव्योंको सब द्रव्योंमे साधारणतया पाये जानेवाले गुणकी दृष्टिमे देखा जाय तो वह दृष्टि व्यापक है और उदार है। इस ही दृष्टिसे मूलमे एकान्त नियम बनाकर जिसने पूर्ण वस्तुस्वरूप कायम किया है उसके मतमें यह सारा विश्व ब्रह्मरूप है। उस ब्रह्मका अर्थ सब पदार्थो मे साधारणतया पाये जाने वाला सत्त्वगुण मात्र है। तो उस दृष्टिको कायम न रखकर सब कुछ एक सद्–ब्रह्म है, यह बात रंच गलत नही है, पर व्यवस्था और व्यवहार, पुरुषार्थ, मार्गव्यवस्था यह सब केवल इस दृष्टि पर नही बन सकता है।

ज्ञानीका कैसा मौलिक परिज्ञान होता है कि उसके बलसे अन्तः प्रसन्न रहता है, इसका अध्ययन कीजिये गाथा नं० ३७ के एक प्रवचनांशमे–पृ० ३–ज्ञानीका परिज्ञान व अन्तः प्रसाद–जिसने अपना स्वरूप सभाला–जिसने अपना स्वरूप सभाला, वस्तुकी स्वतन्त्रताका भान किया, जो कि शान्ति और सन्तोषका कारण है। ममता न रही तो अब क्लेश किस बातका ? सारा क्लेश तो ममताका है। घरमे भी रह तो भी कर्तव्य तो यह गृहस्थ ज्ञानी निभायेगा मेरा [illegible] उपचार करेगा, पर आकुलित न होगा। हाय, अब क्या किया जाय ? हमे कुछ सूझता नही, ऐसा आकुलता न मचायेगा। वह तो जानता है कि हमे सब सूझता है कि कितनी विकट बीमारी है। या तो अच्छा हो जायगा या मर जायगा। अच्छा हो जायेगा तो ठीक है और मर जायेगा तो ससारका यह नियम ही है। हम तो परिपूर्ण [illegible] हैं। यहा कुछ घटना नहीं है। उसे यथार्थ परिज्ञान है क्योंकि मोह नही रहा। [illegible] सबसे बडी कमाई यही है कि मोह न रहे, क्योंकि कमाईके फलमे चाहते है आराम आनन्द [illegible] मनुष्योंके मनमें आनन्द कही न मिल पायेगा और मोह नही रहा तो सो आनन्द ही था।

(१६३) नियमसार प्रवचन तृतीय भाग

इस पुस्तकमे नियमसारकी गाथा नं० ३८ से ४६ तक [illegible] पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी [illegible]

महाराजके प्रवचन है। द्वितीय भागमे अजीव पदार्थका वर्णन करके अब ३८वी गाथामे हेय तत्त्व व उपादेय तत्त्व का सकेत है, जरा बहिस्तत्त्व व अन्तस्तत्त्व की परख की कसौटी देखिये एक प्रवचनांशमे–पृ० १–२–अन्तस्तत्त्व व वहिस्तत्त्वके परख की कसौटी–जीवादि बाह्य तत्त्व अर्थात् जीव, अजीव, आश्रव, बध, सम्वर, निर्जरा मोक्ष ये ७ बाह्य तत्त्व हैं और हेय हैं। उपादेय तत्त्व आत्माका आत्मा है। इस कथनमे कुछ श्रद्धाको भग करने जसा बात लगती होगी कि भाई अजीव, आश्रव बन्ध ये हेय तत्त्व हैं, सो तो ठीक है, पर सम्वर निर्जरा अथवा जीव और मोक्ष ये तत्त्व भी बहिस्तत्त्व बताये गये। यह तो चित्तको न जचती होगी, पर इस कसौटीसे बाह्य तत्त्व और अतस्तत्त्वका स्वरूप निर्धारित करें जिसपर हम निगाह लगायें और आत्मोपलब्धिका कार्य सिद्ध हो उसे तो कहेगे अन्तस्तत्त्व और जिसपर दृष्टि करनेसे कुछ भेद ही बने, स्वरूपमग्नता न हो उसे कहेगे बाह्य तत्त्व।

जीवतत्त्व की बहिस्तत्त्वरूपता–अब इस कसौटीसे सब परख लीजिये कि जीवके सम्बन्धमे और अतरगमे प्रवेश करके जो कारण परमात्मतत्त्व दृष्ट हुआ करता है वह कारण समयसार तो अतस्तत्त्व है, क्योकि इस कारणसमयसारके आलम्बनसे कार्यसमयसार बनता है। एक इस अतस्तत्त्वके अति–रिक्त अन्य सब जो विपरिणमन और व्यवहारकी बातोसे अपना सम्बन्ध रखता है अथवा जो गुण पर्यायके रूपसे जीव समासोके रूपसे अनेक प्रकारके भेदभावोको लेकर जीवतत्त्वका परिज्ञान होता है वह सब बाह्य तत्त्व है।

नियमसार ग्रन्थमे किसका लक्ष्य करके वर्णन किया जा रहा है इसका दिग्दर्शन कीजिये ३८ वी गाथाके एक प्रवचनांशमे–पृ० १३–कारणसमयसारका लक्ष्य–भैया इस नियमसारमे आद्योपात एक ही लक्ष्य रखा गया है और वह लक्ष्य है उस नियमकी दृष्टि करना जिस नियमकी दृष्टिसे नियमसार प्रकट होता है अथवा उस नियमसारको दृष्टि करना जिसकी दृष्टिसे नियम चलता है अर्थात् कारणसमयसारकी दृष्टि करना जिसमे कार्य समयसार प्रकट होता है, अपने आपके आत्मामे जो बात गुजर रही हो चाहे बुरी गुजर रही हो उस समस्त गुजरने वाले तत्त्वको ओझल करके जिस ज्ञानस्वभावपर ये तरगे चलती हैं उस ज्ञानस्वभावको लक्ष्यमे लेना, जो कुछ यहा प्रशसा गाई जा रही है वह तो अनादि अनन्त अहेतुक चित्स्वभावकी प्रशसा गाई जा रही है, ऐसे भव्य जीवोको यह अपना अतस्तत्त्व उपादेय होता है।

अन्तस्तत्त्वका परिचय हुए विना कितने भी जप तप किये जावें, मोक्षमार्गके लिए सब शून्य है और अन्त–स्तत्त्वका परिचय होनेपर सभी क्रियाकलाप हितकार्यके सहयोगी हो जाते हैं, इसका दिग्दर्शन कीजिये गाथा न० ४१ के एक प्रवचनांशमे, पृ० ३०–अतस्तत्त्वके परिचय बिना मोक्षमार्गका अभाव–जैसे मूलमे एक अक हो तो उसपर जितने भी शून्य रखे जायेंगे वे दस दस गुना मूल्य बढा देंगे, एकपर एक बिन्दी रखे तो दस गुना हो गया याने दस। दसपर एक बिन्दी रखे तो उसका दस गुना हो गया याने १००। १०० पर एक बिन्दी रखे तो उसका दस गुना हो गया याने १०००। १ के होते सन्ते बिन्दीको रखते ही दस गुना मूल्य बढता है और १ का अंक न रहे तो इन बिन्दियोका रखना एक अपना समय खोना है और व्यर्थ का श्रम करना है। बिना १ के अकके उन बिन्दियोका मूल्य कुछ नहीं निकलता है। इस ही प्रकार निज आत्मतत्त्वके सम्बन्धमे श्रद्धान हो, ज्ञान हो और अन्तरमे ऐसा हो स्वरूपाचरण चलता हो उस ज्ञानी जीवके जो मन, वचन, कायकी प्रवृत्ति होती है वह सब भी व्यवहारमें मूल्य रखती है और उसके सहारे एक धर्मतीर्थ चलता है और धर्मका मूर्त रूप ससारमे चला करता है। एक यह ज्ञानभाव ही न हो गाठमे तो ये सब क्रियायें भी शून्यकी तरह कीमत नही रखती हैं।

ज्ञानानुभूतिमे आत्मदर्शन होते हैं इससे सम्बन्धित ४२वी गाथाका एक प्रवचनांश मनन कीजिए-पृ० ८७-ज्ञानानुभूतिमे आत्मदर्शन-आत्माका दर्शन वहा ही है भैया, जहा ज्ञानानुभूति चल रही हो। किसी ने कहा-देखिये यह दशहरी आम कैसा है, तो वह क्या करेगा ? हाथमे लेगा और खा लेगा। अरे यह क्या कर रहे हो ? अरे तुम्ही तो कहते हो कि देखो। तो देखनेको ही तो कहा, खानेको तो नही कहा। अरे तो आमका देखना मुखसे हो हुआ करता है आखासे नही होता है। किसी चोजके परिचयका क्या तरीका है ? वे सब तरोके न्यारे न्यारे है। जो चीज केवल देखनेके लिए है उसका भोग नेत्रसे है, कोई कहे कि देखो जी यह कितना बढिया सेन्ट है, तो क्या वह बाहर खडे खडे तकता रहेगा कि वह है सेन्ट ? अरे सेन्टका देखना नाकसे हुआ करता है, अन्यथा परिचय हो नही हो सकता। किसोसे कहा—देखो जी यह रिकार्ड कितना सुन्दर है, तो बस देखता ही रहे अगल बगल, तो क्या उस रिकार्डका पता उसे पडेगा कि कैसा है ? नही पड सकता। उसके शब्द जब कानमे पडेगे तब पता पडेगा। देखो जी यह आत्मस्वरूप कैसा है ? अरे अभी नही देख पाया। एक है यह-ऐसी विकल्प तरग ही जब तक उठ रही है तब तक नही देखा जा रहा है। यह आत्मस्वरूप मनके विकल्पमे नही निरखा जाता है। यह तो मनका विकल्प है कि वह एक है, व्यापक है, अपरिणामी है, ध्रुव है। इन सब विकल्पोसे परे है आत्मस्वरूप।

प्रभुमिलनपद्धतिमे तो देखिये ४३ वी गाथाके एक प्रवचनांशमे, पृ० १०३-प्रभुमिलनपद्धति-प्रब इस आत्मतत्त्वका अनुभव मनके विकल्पसे परे है, इसके दृष्टान्तमे या समझिये कि जैसे राजासे मिलनेका इच्छुक कोई पुरुष चलता है तो दरबारके दरवानसे वह कहता है कि मुझे राजासे मिला दो। तो दरवानका काम इतना ही है कि जहा राजा विराजे है वहा निकट स्थानपर पहुचा देना। बादमे राजासे मिलना, स्नेह बनाना, काम निकालना, ये सब राजा और दर्शककी परस्परकी बात है। उसमे दरवान क्या करेगा ? इसो तरह कारणपरमात्मतत्त्वके दर्शनका अभिलाषी भक्त पुरुष इसके दरवान मनसे कहता है कि मुझे उस कारण परमात्मप्रभुके दर्शन करा दो, तो यह दरवान मन इस दर्शनार्थी उपयोग को ले जाता है। कहा तक जहा तक, इस समयसार प्रभुके दर्शन हो सकते हो उस सीमा तक वहा यह मन छोड आता है। लो इस जगह बैठा है परमात्मप्रभु। उस मनका काम यहा तक तो चला, अब इसके बाद प्रभुसे मिलना है और प्रभुमे एकरस होना, स्पर्श होना अनुभव होना, विशुद्धि बढाना, मोक्षमार्गका काम निकालना यह तो भक्त और प्रभुके परस्परकी बात है। इसमे दरवान मन क्या करेगा ? फिर भी शुभ मनकी चेष्टा और प्रभुमिलनके अर्थं शुभ मनकी चेष्टा बहुत काम निकाल देता है।

आत्महितमे पर्यायबुद्धिताके रोगीको निश्चयकी परमौषधिरूपता, इसका मनन कीजिये गाथा न० ४६ के एक प्रवचनांशमे। पृ० १७६-निश्चय परमौषधिको प्रमुखता-इस जीवने अनादि कालसे व्यवहार व्यवहार का ही जकडा, निश्चयका तो कभी दर्शन ही नही किया और व्यवहारको ही सर्वस्व मानकर चला। यह इतना व्यवहारका पुराना रोगी है। जैसे पुराने तपेदिकका मिटाना बडा कठिन हो जाता है ऐसे ही अनादिकालोन पर्यायबुद्धिका यह रोगी है। इसका रोग मिटानेके लिए शुद्धनयकी औषधिको अधिक कहना हो चाहिए, देना ही चाहिए, और इसी शुद्ध नीतिके अनुसार आचार्य देवने इस शुद्ध भावाधिकारमे अब तक परमार्थदृष्टिसे परमब्रह्मका वर्णन किया। अब इस प्रकरणके अतमे जबकि थोडा उस-सहारात्मक कहना विशेष रह गया जो कि अब ५ गाथाओमे और आगे चलेगा। उसमे अव्यवहारिक भी कथन करके उसे निजके निकट करे। परजो वास्तविक बात है, स्वभावकी बात है वह बात टालो नही जा सकतो। व्यवहारका वर्णन करके ही फिर निश्चयकी बात तुरन्त कहना ही पडता है। एक तो

यह बात है कि आचार्य देव इस शुद्ध आत्मस्वभावके रुचिया थे, किन्तु अनादि व्यवहार विमूढ रागके रोगीको सम्बोधनके प्रसगमे कभी व्यवहार कथन भी इन्हे करना पडता है।

विकल्पोकी थकान मिटानेके लिए सहज विश्राम लीजिय, इसका मनन कीजिय ५५ वी गाथाके एक प्रवचनांशमे पृ० २१८–सहजविश्राम–अहो, ऐसा सहजज्ञान जिसका निश्चय, जिसका परिज्ञान, जिसमे स्थिति, जिसका प्रताप मोक्षका हेतु है वह सहज ज्ञान ही हम आपका परम शरण है, चिन्ता कुछ मत करो, दुख रच भी नही है। अपने आपको आराममे रखना यह सबसे ऊचा काम है। अपना आराम मूढतामे आकर खो मत दो। इन २४ घटोमे किसी समय तो सच्चा आराम पावो। जैसे लोग थककर दस बीस मिनट का हाथ पैर पसार कर चित्त लेटकर आराम ले लिया करते हैं, यो ही विकल्पजालोमे जो दुखो को थकान होती है उस थकान को दूर करने के लिए सब परकी चिन्ताको छोडकर निज सहज ज्ञानमात्र आत्मतत्त्वका दर्शन करिये और उस ही मे रमण कीजिये, तृप्त होइये। ऐसा सच्चा आराम एक सेकेण्डको भी हो जाय तो यह भव भवके सचित कर्मकलकका दूर करने मे समर्थ है। सो इस निज स्मृतिके लिए साधनभूत अमोघ अभिन्न उपायका चार प्रकार से भेद कथन किया गया है।

(१६४) नियमसार प्रवचन चतुर्थ भाग

इस पुस्तकमे नियमसार ग्रन्थकी ५६ गाथासे ६६ वी गाथा तक के पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराजके प्रवचन हैं। हिंसा होनेमे पाप क्या है, इसका अध्यात्मदृष्टिमे समाधान लीजिये पृ० ७–अध्यात्मदृष्टिसे हिंसाके हेतुका प्रकाशन–देखिये यह जीव अनादि कालसे निगोद जैसी निकृष्ट अवस्थामे निवास करता आया है। वहासे निकला तो कुछ मोक्ष मार्गके लिए कुछ प्रगतिकी बात आयी। यद्यपि मोक्षमार्गका प्रारम्भ सज्ञी पचेन्द्रिय जीवसे होता है और कही मोक्षमार्गका प्रारम्भ नही होता, किन्तु ससार महागर्त से निगोद दशासे निक[illegible] वह दोइन्द्रिय तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय जीव बना तो कुछ तो उसकी प्रगति हुई। अब दे[illegible] [illegible]डेको मारा व मसला तो ऐसी स्थितिसे मरने वाले कीडेको सक्लेश प्राप्त होगा, यह बा[illegible] [illegible]डेको पीटा जाय व मसला जाय तो उसके सक्लेश तो अधिक होगा। मा[illegible] [illegible] है और वह अधिक सक्लेशसे मरा तो मरकर वह एकेन्द्रियका शरीरको पा[illegible] [illegible] तो देखो ना कि इतनी प्रगतिका जीव जरासे तुम्हारे निमित्तसे इतनी प्रगति[illegible] [illegible] तो बताओ ऐसी अवनतिके भवमे पहुंचना [illegible]जीवका बिगाड है[illegible] [illegible]ो हिसा करना जीव पर अन्याय करना

साधुवोके उत्सर्ग मार्ग व अपवादमर्गका अभिप्राय पढ़िये ६४ वी गाथाके एक प्रवचनाशमें–पृ० १२८– उत्सर्गमार्ग और अपवादमार्ग–उपेक्षा सयमी जीव परम उत्सग मार्गका अनुसरण करता है। मार्ग दो प्रकार के है–उत्सर्ग माग और अपवादमार्ग। साधुवोका उत्सग मार्ग तो यह है कि मन, वचन, कायकी चेष्टाओकी प्रवृत्ति बन्द करे। परम उपेक्षा सयममे बर्तना हो, आहार विहार, विलास, समस्त क्रियायें जहा न रहे, केवल आत्मस्वभावकी उपासना चले यह तो है उत्सग मार्ग। साधुजन इसी मार्गका पालन करनेके लिए ही निग्रन्थ होते है, किन्तु यह बात बडी कठिन है ना, किन्तु आरब्ध योगको यह बात कठिन है। सो उत्सर्ग मार्गमें नही रह पाते है और उसे आवश्यकता होती है कि वह आहार करे, विहार करे तो आहार विहार करता है, यह है अपवादमार्ग। यहा अपवादमार्गका अर्थ खोटा मार्ग न लेना, जुड़ा हुआ ऐसा अर्थ न करना, किन्तु सिद्धान्तके अनुकूल शुद्ध विधिसे जो चर्या की जाय, विहार किया जाय, यह है साधुवोका अपवादमार्ग।

नग्नमुद्रामे निर्विकारताके दर्शन होते हैं, पढिये ६४ वी गाथाका एक प्रवचनाश–पृ १३७ नग्नमुद्रामे निर्विकारताका दर्शन–कुछ लोग उनकी नग्नमुद्राको देखकर अटपट कल्पनाये करके उनसे लाभ प्राप्त करनेसे दूर रहा करते हैं। कोई कहते है कि यह नग्न है, ऐसे न रहना चाहिए। अरे जरा उनके अन्तर के परिणामोको तो देखो–साधुका अतरग परिणाम बालकवत है। जैसे बच्चेको कुछ पता नही है काम का, अन्यकी तरह विडम्बनाओका, जैसे वह बच्चा निर्विकार है, ऐसे ही वह साधु पुरुष निष्काम, निर्विकार, अत्यन्त स्वच्छ है। नग्नताका रूप रख लेना साधारण बात नही है। उद्दण्ड होकर कोई नगा हो जाय उसकी बात नही कह रहे हैं, किन्तु नग्न होकर भी रचमात्र भी विकार न आये और कल्पना तक भी न जगे ऐसी मुद्राका प्राप्त होना इस लोकमे अति दुर्लभ है, और साथ ही अपने ज्ञान–भाव द्वारा अपने सहज ज्ञानस्वरूपम नियत रह सके ऐसी स्थिति पाना बहुत ही सुन्दर भवितव्यकी बात है।

आत्मचारित्रके अर्थ अपना क्या कर्तव्य है इसे देखिये ६६ वी गाथाके एक प्रवचनाशमें–पृ० १६८– आत्मचारित्रके अर्थ अपना कर्तव्य–भैया, अपने मनको अशुभ कार्योसे हटाकर शुभ कार्योमे लगाना यह अपना कर्तव्य है। किन्तु साथ ही सर्वोत्कृष्ट कर्तव्य यह है कि वस्तुस्वरूपका यथार्थ ज्ञान करके समग्र वस्तुवोके यथार्थ सहज स्वरूपके ज्ञाता दृष्टा रह सकना यह सर्वोत्कृष्ट कर्तव्य है। मुनिजन सब प्रकारके राग और द्वेषसे दूर रहते हैं। ऐसे समग्र अशुभ परिणाम रूपी आस्रवोका परिहार करना ही मनोगुप्ति है। मन चूकि बाह्य वस्तु है आत्माके स्वभावकी बात नही है, ऐसे उस मनको वशमे करने की बात यह सब व्यवहारचारित्र है। निश्चयचारित्र तो वह है कि यह मन गुप्त होकर जिस स्वच्छता को प्रकट करनेमे स्वच्छता बर्ते और अतरगमे स्वच्छता जब जागृत हो जाय तो वहा यह मनभी विलीन हो जाय। निश्चय चारित्र तो यह है।

(१६१) नियमसार प्रवचन पचम भाग

इस पुस्तकमे नियमसार ग्रन्थकी ६६ वी गाथा तक के पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराजके प्रवचन है। मनोगुप्तिके प्रकरणमे प्रथम मनको शुभमे उपयुक्त कर देने की सम्मति दी है, पढिये ६६ वी गाथाका एक प्रवचनाश–पृ० १९–मन मरकटको शुभमे उपयुक्त करने की आवश्यकता–अहो, यह मन बन्दरसे भी अधिक चचल है। बन्दरोको देखा होगा कि वे खाली नही बैठ सकते जब नीद आ जाय तो चाहे थोड़ी देर पडे रहे पर जागते हो तो स्थिर नही रह सकते। स्थिर बैठ नही सकते। कही पैर हिलाया, कही हाथ हिलाया, और उनकी आखे तो बडी ही विचित्र हैं। कैसी मटकती है कि जरा सी देरमे आखोमे

यह बात है कि आचार्य देव इस शुद्ध आत्मस्वभावके रुचिया थे, किन्तु अनादि व्यवहार विमूढ रागके रोगीको सम्बोधनके प्रसगमे कभी व्यवहार कथन भी इन्हे करना पडता है।

विकल्पोकी थकान मिटाने के लिए सहज विश्राम लीजिए, इसका मनन कीजिए ७५ वी गाथाके एक प्रवचनांशमे; पृ० २१८—सहजविश्राम—अहो, ऐसा सहजज्ञान जिसका निश्चय, जिसका परिज्ञान, जिसमे स्थिति, जिसका प्रताप मोक्षका हेतु है वह सहज ज्ञान ही हम आपका परम शरण है, चिन्ता कुछ मत करो, दुःख रच भी नही है। अपने आपको आराममे रखना यह सबसे ऊचा काम है। अपना आराम मूढतामे आकर खो मत दो। इन २४ घटोमे किसी समय तो सच्चा आराम पावो। जैसे लोग थककर दस बीस मिनट को हाथ पैर पसार कर चित्त लेटकर आराम ले लिया करते हैं, यो ही विकल्पजालोमे जो दुःखो को थकान होती है उस थकान को दूर करने के लिए सर्व परकी चिन्ताको छोडकर निज सहज ज्ञानमात्र आत्मतत्त्वका दर्शन करिये और उस ही मे रमण कीजिये, तृप्त होइये। ऐसा सच्चा आराम एक सेकेण्डको भी हो जाय तो यह भव भवके सचित कर्मकलकको दूर करने मे समर्थ है। सो इस निज स्मृतिके लिए साधनभूत अमोघ अभिन्न उपायको चार प्रकार से भेद कथन किया गया है।

(१८४) नियमसार प्रवचन चतुर्थ भाग

इस पुस्तकमे नियमसार ग्रन्थकी ५६ गाथासे ६६ वी गाथा तक के पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराजके प्रवचन हैं। हिंसा हानेमे पाप क्या है, इसका अध्यात्मदृष्टिमे समाधान लीजिये पृ० ७—अध्यात्मदृष्टिसे हिंसाके हेतुका प्रकाशन—देखिये यह जीव अनादि कालसे निगोद जैसी निकृष्ट अवस्थामे निवास करता आया है। वहासे निकला तो कुछ मोक्ष मार्गके लिए कुछ प्रगतिकी बात आयी। यद्यपि मोक्षमार्गका प्रारम्भ सज्ञी पचेन्द्रिय जीवसे होता है और कही मोक्षमार्गका प्रारम्भ नही होता, किन्तु ससार महागर्त से निगोद दशासे निकलकर यदि वह दोइन्द्रिय तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय जीव बना तो कुछ तो उसकी प्रगति हुई। अब देखिये किसी कीडेको मारा व मसला तो ऐसी स्थितिसे मरने वाले कीडेको सक्लेश प्राप्त होगा, यह बात तो सत्य है ना। जिस कीडेको पीटा जाय व मसला जाय तो उसके सक्लेश तो अधिक होगा। माना वह तीन इन्द्रिय कीडा है और वह अधिक सक्लेशसे मरा तो मरकर वह एकेन्द्रियका शरीरको पायगा। निम्नगतिमे जायगा। तो देखो ना कि इतनी प्रगतिका जीव जरासे तुम्हारे निमित्तसे इतनी प्रगतिसे लौटकर फिर अवनतिमे चला गया तो बताओ ऐसी अवनतिके भवमे पहुंचना यह जीवका बिगाड है ना, इस अध्यात्मिक दृष्टिसे कि जीवकी हिंसा करना जीव पर अन्याय करना है।

साधुवोके आहार विहारका क्या प्रयोजन है, देखिये ६३ वी गाथाके एक प्रवचनांशमे, पृ० ८८—आहार विहारका प्रयोजन—जैसे सरसोके तेल वाले दिये मे दो काम किये जाते हैं; तेल भरा जाता है और बाती उसकेरी जाती है। सभी जानते हैं सरसोके तेलका दिया जलावें तो उसमे बीच बीचमे बातीमे तेल चढता है। जब सूख जाता है, कम हो जाता है तो उसमे तेल डालना पडता है। तो बातीका उसकेरना किसलिए किया जाता है कि यथावत प्रकाश बना रहे और तेल डालना इसलिए किया जाता है कि उसमे यथावत प्रकाश बना रहे। ऐसे ही प्रकाशपुंज साधु पुरुषमे बाती उसकेरने की तरह पैरोके उसकेरने की जरूरत पडती है, अर्थात् विहार करनेकी आवश्यकता होती है, और तेल डालनेकी अर्थात् पेटमें भोजन डालनेकी आवश्यकता होती है। यह आहार और विहार साधुजन इसलिए किया करते हैं कि यथावत शुद्ध ज्ञानप्रकाश मात्र बने रहे।

साधुवोके उत्सर्ग मार्ग व अपवादमार्गका अभिप्राय पढिये ६४ वी गाथाके एक प्रवचनांशमे–पृ० १२८–उत्सर्गमार्ग और अपवादमार्ग–उपेक्षा सयमी जीव परम उत्सग मार्गका अनुसरण करता है। मार्ग दो प्रकार के हैं–उत्सर्ग मार्ग और अपवादमार्ग। साधुवोका उत्सर्ग मार्ग तो यह है कि मन, वचन, कायकी चेष्टाओकी प्रवृत्ति बन्द करे। परम उपेक्षा सयममे बर्तना हो, आहार विहार, विलास, समस्त क्रियायें जहा न रहे, केवल आत्मस्वभावकी उपासना चलें यह तो है उत्सग मार्ग। साधुजन इसी मार्गका पालन करनेके लिए ही निग्रन्थ होते है, किन्तु यह बात बडी कठिन है ना, किन्तु आरब्ध योगको यह बात कठिन है। सो उत्सर्ग मार्गमे नही रह पाते है और उसे आवश्यकता होती है कि वह आहार करे, विहार करे तो आहार विहार करता है, यह है अपवादमार्ग। यहा अपवादमार्गका अर्थ खोटा मार्ग न लेना, जुडा हुआ ऐसा अर्थ न करना, किन्तु सिद्धान्तके अनुकूल शुद्ध विधिसे जो चर्या की जाय, विहार किया जाय, यह है साधुवोका अपवादमार्ग।

नग्नमुद्रामे निर्विकारताके दर्शन होते हैं, पढिये ६४ वी गाथाका एक प्रवचनाश–पृ १३७ नग्नमुद्रामे निर्विकारताका दर्शन–कुछ लोग उनकी नग्नमुद्राको देखकर अटपट कल्पनाये करके उनसे लाभ प्राप्त करनेसे दूर रहा करते हैं। कोई कहते है कि यह नग्न है, ऐसे न रहना चाहिए। अरे जरा उनके अन्तर के परिणामोको तो देखो–साधुका अतरग परिणाम बालकवत है। जैसे बच्चेको कुछ पता नही है काम का, अन्यकी तरह विडम्बनाओका, जैसे वह बच्चा निर्विकार है, ऐसे ही वह साधु पुरुष निष्काम, निर्विकार, अत्यन्त स्वच्छ है। नग्नताका रूप रख लेना साधारण बात नही है। उद्दण्ड होकर कोई नगा हो जाय उसकी बात नही कह रहे है, किन्तु नग्न होकर भी रचमात्र भी विकार न आये और कल्पना तक भी न जगे ऐसी मुद्राका प्राप्त होना इस लोकमे अति दुर्लभ है, और साथ ही अपन ज्ञान–भाव द्वारा अपने सहज ज्ञानस्वरूपम नियत रह सके ऐसी स्थिति पाना बहुत ही सुन्दर भवितव्यकी बात है।

आत्मचारित्रके अथ अपना क्या कर्तव्य है इसे देखिये ६६ वी गाथाके एक प्रवचनांशमे–पृ० १६८–आत्मचारित्रके अथ अपना कर्तव्य–भैया, अपने मनको अशुभ कार्योसे हटाकर शुभ कार्योमे लगाना यह अपना कतव्य है। किन्तु साथ ही सर्वोत्कृष्ट कर्तव्य यह है कि वस्तुस्वरूपका यथाथ ज्ञान करके समग्र वस्तुवोके यथार्थ सहज स्वरूपके ज्ञाता द्रष्टा रह सकना यह सर्वोत्कृष्ट कर्तव्य है। मुनिजन सब प्रकारके राग और द्वेषसे दूर रहते है। ऐसे समग्र अशुभ परिणाम रूपी आस्रवोका परिहार करना ही मनोगुप्ति है। मन चूकि बाह्य वस्तु है आत्माके स्वभावकी बात नही है, ऐसे उस मनको वशमे करने की बात यह सब व्यवहारचारित्र है। निश्चयचारित्र तो वह है कि यह मन गुप्त होकर जिस स्वच्छता को प्रकट करनेमे स्वच्छता बर्ते और अतरगमे स्वच्छता जब जागृत हो जाय तो वहा यह मनभी विलीन हो जाय। निश्चय चारित्र तो यह है।

(१६६) नियमसार प्रवचन पचम भाग

इस पुस्तकमे नियमसार ग्रन्थकी ६६ वी गाथा तक के पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराजके प्रवचन है। मनोगुप्तिके प्रकरणमे प्रथम मनको शुभमे उपयुक्त कर देने की सम्मति दी है, पढिये ६६ वी गाथाका एक प्रवचनाश–पृ० १६–मन मरकटको शुभमे उपयुक्त करने की आवश्यकता–अहो, यह मन बन्दरसे भी अधिक चचल है। बन्दरोको देखा होगा कि वे खाली नही बैठ सकते जब नीद आ जाय तो चाहे थोडी देर पडे रहे पर जागते हो तो स्थिर नही रह सकते। स्थिर बैठ नही सकते। कही पैर हिलाया, कही हाथ हिलाया, और उनकी आखे तो बडी ही विचित्र हैं। कैसी मटकती है कि जरा सी देरमे आखोमे,

टोपी लग जाती है, जरा सी देरमे टोपी हट जाती है। कैसी विचित्र चचलता है। उससे भी अधिक चचल यह मन है। इस मनको किसी न किसी शुभ कार्यमे जुटाये रहना चाहिए, यदि अपना कल्याण चाहते हो। इसे शुभ कार्य न मिलेंगे तो अशुभ कार्यो मे लग बैठेगा। इस तरह ज्ञान ध्यान पूजा, सत्सग, परोपकार, सेवा, इन कार्यो मे भी लगना चाहिए। इन शुभ कार्यो मे मन लगा होगा तो यहां इतनी पात्रता है कि उन शुभ कार्यो का भी परिहार करके क्षणमात्र तो अपने आपके शुद्ध ज्ञायक स्वरूप का अनुभव कर सकेगा।

है। अब वे आत्मा बढे या घटे। न कोई बढने का कारण है और न कोई घटनेका कारण है क्योंकि बढने और घटने का कारण प्रकृतियोका उदय था। तो वृद्धि और हानिका हेतु न होनेसे वे सिद्ध भगवत जिस देहसे मुक्त हुए है उसके आकार प्रमाण वहा रहते है।

आचार्य परमेष्ठीके ८ गुणोमे सातवा अपरिश्रावित्व गुण पढिये, ७३ वी गाथाके एक प्रवचनाशमे—पृ० ८६-आचार्यका अपरिश्रावित्व गुण—सातवा महागुण है आचार्य मे अपरिश्रावित्व। आचार्य महाराजमे इतनी उदारता होती है कि कोई शिष्य कैसी ही आलोचना करे, उसके उस कथनको दोषको यो पी जाता है, अर्थात् किसी को प्रकट नही करता जैसे बहुत तपे हुए तवे पर बूंद गिरती है तो फिर उस बूंदका पता कहा रहता है ? जैसे वह बूंद सूख जाती है इसी तरह को गम्भीरता आचार्य परमेष्ठीमे होती है कि कोई भी दोष बताये, आचार्य महाराज कही भी बताते नही हैं, क्योंकि यदि बता दे तो उससे कितनी ही हानिया है। प्रथम तो यह किसी बडे के अनुरूप बात नही है कि किसी के दोष प्रकट करें, कहे और करदे प्रकट तो पहले तो सगमें रहने वाले मुनियोकी आस्था आचार्यसे हट जायगी, फिर अन्य कोई उन से आलोचना न करेगे, यो फिर वे आचार्य न रह सकेंगे।

निश्चयचारित्र व व्यवहारचारित्रकी कल्याणप्रगतिमे उपयोगिता देखिये ७६ वी गाथाके एक प्रवचनाश मे, पृ० ११५—कल्याणप्रगतिके लिए निश्चयचारित्र व व्यवहारचारित्रका परस्पर सहयोग—यह निश्चय-चारित्र ही वास्तवमे शील है। अग्रेजीमे सील कहते है वस्तुको यथास्थान अवस्थित कर देना दृढतासे। अपने आपका उपयोग अपने आपमे जमा रहे, फिर गडबडी न हो ऐसा सील कर देना यही तो निश्चय-चारित्र है और यही आत्मस्वभाव है। निश्चयचारित्र परम निर्वाणका साक्षात कारण है और व्यवहार चारित्र परमनिर्वाणका परम्परा कारण है। व्यवहारचारित्रका काम निश्चयचारित्रकी पात्रता बनाये रखना है और निश्चयचारित्रका काम साक्षात् कर्मनिजरण करके मुक्त अवस्थाको प्राप्त कराना है। जैसे कोई दो बालक लड रहे हो वहा कोई तीसरा बालक आकर एक बालकका हाथ पकड ले, रोक ले तो मारने वाले बालकको अवकाश मिला कि पीट सकता है। कहनेको तो यह है कि उस तृतीय बालक ने उस बालकको तो नही पीटा परन्तु पिटानेमे परम्पर्या हेतु कारण हुआ। यो ही व्यवहारचारित्रने कर्मो की निर्जरा तो नही की लेकिन ऐसी स्थिति उत्पन्न की कि इस निश्चयचारित्रको मौका मिल गया। अब यह निश्चयचारित्र अपने मूल व्यवहारके साथ कर्मो की निर्जरा कर रहा है। ऐसे परम कल्याणके कारणभूत निश्चयचारित्रको हमारा अभिनन्दन हो।

(१६६) नियमसार प्रवचन षष्ठ भाग

इस पुस्तकमे नियमसार प्रवचनकी ७७ वी गाथा तक के पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराजके प्रवचन है। निश्चयचारित्रके अधिकारमे पहिले परमार्थप्रतिक्रमणका वर्णन है। परमार्थ अन्तस्तत्त्वको जानने वाले ही निश्चयप्रतिक्रमणके अधिकारी होते है याने सब दोषो को मिथ्या करार कर देने के व हटा देने के अधिकारी है, अत प्रथम परमार्थ दृष्टि कराई गई है, देखिये ७७ वी गाथाके एक प्रवचनाशमे, पृ० ३—चित्स्वरूपका विविक्तता—मैं नारकभावरूप नही हू, तिर्यन्च पदार्थ नही हू, मनुष्य और देवपर्याय नही हू। इन रूप भी मै नही हू और इनका करने वाला मैं नही हू इनका कराने वाला भी मैं नही हू और इनको जो कर रहे हो उन का अनुमोदने वाला भी नही हू। ये बाते डर कर नही कही जा रही हैं किन्तु परमार्थस्वरूपकी रुचिके कारण कही जा रही है। यो न समझना कि जैसे स्कूलमे किसी लडकेसे कोई अपराध बन गया है तो वह मास्टर साहबसे कहता है मास्टर साहब मुझे कुछ पता नही है, मैने कसूर नही किया है, न मुझे किसीने बहकाया है, न मै उस घटना मे शामिल ही था, ऐसा डर कर नही कहा जा रहा है किन्तु

टोपी लग जाती है, जरा सी देरमे टोपी हट जाती है। कैसी विचित्र चचलता है। उससे भी अधिक चचल यह मन है। इस मनको किसी न किसी शुभ कार्यमे जुटाये रहना चाहिए, यदि अपना कल्याण चाहते हो। इसे शुभ कार्य न मिलेंगे तो अशुभ कार्यो मे लग बैठेगा। इस तरह ज्ञान ध्यान पूजा, सत्सग, परोपकार, सेवा, इन कार्यो मे भी लगना चाहिए। इन शुभ कार्यो मे मन लगा होगा तो यहा इतनी पात्रता है कि उन शुभ कार्यो का भी परिहार करके क्षणमात्र तो अपने आपके शुद्ध ज्ञायक स्वरूप का अनुभव कर सकेगा।

वचनगुप्तिके प्रकरणमे निश्चय व व्यवहार वचनगुप्तिका दिग्दर्शन कीजिये ८८ वी गाथा के एक प्रवचनांश मे, पृ० २६–निश्चय व व्यवहार वचन गुप्ति–किसीभी प्रकारके वचनालापसे अन्तरमे कुछ राग उठा करता है, ऐसी स्थितिमे कुछ जान बूझकर सहज प्रयोजनके लिए जो वचन परिहार किया जाता है व्यवहार गुप्ति। और अज्ञान पूर्वक जबरदस्ती वचनोका बन्द करना, ओठमे ओठ चिपकाये मौन रह जाना यह तो सब उसकी उपचार चेष्टाये हैं, किन्तु सहज स्वभावसे ही जो वचनालापका परिहार हो जाता है यह निश्चयवचनगुप्ति है। इस आत्माका स्वभाव वचन बोलनेका नही है। यह तो आकाशवत् निर्लेप ज्ञानमात्र अमूर्त तत्त्व है यहा कहा भाषा पडी है? यहा कहा वचनालाप पडे हैं? यह वचनोसे अत्यन्त दूर है। ऐसे निरपेक्ष अन्तस्तत्त्वकी दृष्टि रखनेमे जो सहज वचनालाप बन्द हो जाता है उसका नाम है निश्चयवचनगुप्ति। ज्ञानी पुरुष बाह्य वचनोका सर्वथा अन्तरगसे परित्याग करता है।

गुप्तिकी साधना सहयोगी अन्तस्तत्त्वके स्वरूपकी भावना है, इससे सम्बन्धित एक प्रवचनांश पढिये गाथा ७० के प्रसगमे, पृ० ४८–गुप्तिसाधनामे मूल भावना–जितने भी अवगुण हैं उनके विजयका उपाय उन अवगुणोके विपरीत गुणो पर दृष्टि करना है। जैसे–इन्द्रियविजयमे जड जड द्रव्येन्द्रियका विजय चैतन्य स्वरूपकी दृष्टिसे होता है। मैं चैतन्यस्वरूप हू। ये द्रव्येन्द्रिय अचेतन हैं। खण्डज्ञानरूप भावेन्द्रियका विजय अखण्ड ज्ञानस्वरूप निजकी प्रवृत्तिसे होता है और सगरूप विषयोका विजय असग आकिन्चन्य निज अन्तस्तत्त्वके अवलोकनसे होता है। यो कायगुप्तिका विजय यह ज्ञानी सन्त इस भावनामे कर रहा है कि मेरा तो अपरिस्पद स्वरूप है, योगरहितस्वरूप है। निष्क्रिय धर्म द्रव्यकी तरह जहा के तहा स्पद रहित होकर अवस्थित रहना ही मेरा स्वरूप है। जैसे मेरे स्वरूपमे ज्ञान, दर्शन, आनन्द आदिक गुण हैं तैसेमे परिस्पद रहित निष्क्रिय ज्ञानमात्र हू। ऐसे इस योगरहित अन्तस्तत्त्वके योग कहा से होगा। यो भावना रखने वाले साधुके कायगुप्ति होती हैं। और कायगुप्ति ही क्या, तीनो गुप्तिया होती हैं।

सिद्धभगवन्तोका आत्मक्षेत्र कितना है इसका प्रकाश पाइये ८३ वी गाथाके एक प्रवचनांशमे–पृ० ८३–भगवन्तोका आत्मक्षेत्र–भगवन्त सिद्ध जिस समय अपने उतने आकारमे विराजमान हैं जितने आकार वाले शरीर को छोडकर वे मुक्त हुए हैं। यद्यपि आत्मामे आकार नही होता फिर भी जो कुछ भी द्रव्य है उस द्रव्यके निजी प्रदेश अवश्य होते हैं। आत्माके उन प्रदेशोका विस्तार कितना है जिन प्रदेशोमे समस्त शक्ति समूह मौजूद है, अथवा शक्तिका पुज ही प्रदेशात्मकताको धारण किये हुए है। वह कितना है, यह सब जाननेके लिए जब इच्छा हो तब उसे यो ही कहना होगा कि जिस शरीर से वे छूटे हैं उस शरीरके परिमाण उनका आकार होता है। प्रश्न–वे शरीरसे कम या अधिक क्यो नही हो जाते हैं? उत्तर–प्रदेशके विस्तारका और सकोचका कारण आत्माका सत्त्व नही है, आत्माका स्वभाव नही है, किन्तु विशिष्ट जातिकी कर्मप्रकृतियोका उदय है। अब चूकि नामकर्म प्रकृतिया रही नही, अन्य प्रकृतिया रही नही, जिस देहको छोडकर वे मुक्त हो रहे हैं उस देह आकारमे यह आत्मा

वधन नही होता, किन्तु जो अपने आपको असत्यरूप मान रहा है वह अपराधी है। वह निरंतर अनन्त कर्मो को बाधता रहता है। एक शुद्ध सहज स्वरूपमात्र आत्मतत्त्वकी दृष्टि प्रतीति उपासना करने वाले पुरुष निरपराध है और वे सर्व प्रकार के बन्धनो से मुक्त होते है। जो ऐसे कारण परमात्मतत्त्वका ध्यान करता है वही निरपराध अपने आपको निहारनमे परमार्थ प्रतिक्रमण होता है।

प्रतिक्रमण अधिकार की अन्तिम गाथामे व्यवहारप्रतिक्रमणकी सफलता क्या है। इस एक लोक दृष्टान्त द्वारा समझाया है एक संक्षिप्त प्रवचनांशमे, पृ० १५७-दृष्टान्तपूर्वक कर्तव्यकी सफलताका समर्थन-जैसे सीढियो पर चढनेकी सफलता क्या है ? ऊपर आ जाना। कोई मनुष्य सीढियो पर ही चढे उतरे तो ऐसे मनुष्यको तो लोग विवेकी न कहेगे। इसके क्या धुन समायी है, कही दिमाग खराब तो नही हो गया है, यो लोग सोचेगे। तो सीढियोपर चढनेकी सफलता है ऊपर आ जाना। ऐसे ही व्यवहार प्रतिक्रमण की सफता है अप्रतिक्रमण और प्रतिक्रमण भावसे परे जो शुद्ध अंत प्रतिक्रमण, उत्तमार्थप्रतिक्रमण है उसमे लीन हो जाना, इसका संकेत इस अन्तिम गाथामे किया गया है।

(१६७—१७१) नियमसार प्रवचन ७ से ११ भाग

इन पाच भागोमे नियमसारकी ९५ वी गाथा से लेकर अन्तिम १८७ वी तक के पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराजके प्रवचन है। ७ वें भागमे प्रथम प्रत्याख्यान अधिकारकी ९५ वी गाथाके एक प्रवचनांशम देखिये प्रत्याख्यानका अधिकारी कौन है ? प्रत्याख्यानका अधिकारी-इस गाथामे यह बतला रहे है कि जो मुनि समस्त वचनालापो को छोडकर भविष्यमे शुभ अथवा अशुभ सभी प्रकार के भावोका परित्याग करके निवारण करके जो आत्माका ध्यान करता है उस मुनिके यह निश्चय प्रत्याख्यान होता है। यह प्रत्याख्यान समस्त कर्मो की निर्जरा का कारण है। प्रत्याख्यान बिना मोक्षमार्ग मे प्रवृत्ति नही हो सकती। यह तो मोक्षमन्दिर मे पहुचने के लिए सीढा है। मुक्तिमे होनेवाली परम निराकुलताके वर्तनके लिए यह सर्वप्रथम उपाय है। निश्चय प्रत्याख्यान भी उस पुरुषके सम्भव है जिसने जिन मतके अनुसार विधिपूर्वक व्यवहार प्रत्याख्यानमे भी दक्षता पायी है। प्रत्याख्याता महामुनिके व्यवहार प्रत्याख्यानकी वृत्ति भी चलती है और उस सहज प्रत्याख्यान वृत्तिका करते हुए निश्चयप्रत्याख्यानकी ओर उनका चित्त रहता है।

प्रत्याख्यानका विधि व निषेध दोनो पद्धतियोमे वर्णन होता है। इसका संकेत देखिये ९७ वी गाथाके एक प्रवचनांशमे। पृ० ५-प्रत्याख्यानका विधि व निषेध मुखसे वर्णन-अहंकार ममकार विभावका परित्याग होना और ज्ञाता दृष्टारूप परिणमन होना-ये दोनो एक साथ होते है। इसका कारण यह है कि विधि और निषेध ये केवल अपेक्षा से कही जाने वाली चीजे है। जैसे अगुली टेढी हो और सीधी कर दी जाय तो उसको चाहे इन शब्दोमे कह लो कि अगुली की टेढ मिट गई और चाहे इन शब्दो मे कह लो कि अगुली मे सीधा परिणमन हो गया। बात वहा एक है। उस एक ही विकासको हम विधि और निषेधमे कहते है। इसनिश्चय प्रत्याख्यानमे जो आत्मविलास है उसको चाहे यो कह लीजिये कि समस्त विभावो का परिहार हो गया और चाहे यो कह लीजिये कि यह मात्र ज्ञाता दृष्टा रूप परिणमन कर रहा है।

कारणप्रभुके सहज तेजका मनन कीजिये ९७ वी गाथाके एक प्रवचनांशमे-पृ० १६-अघसमूहके विलयन मे कारण प्रभुकी समर्थता-यह कारणप्रभु चैतन्यस्वरूप समस्त पापोकी वृत्ति को जीतने मे समर्थ है। आत्मक्षेत्रको छोडकर अन्य पदार्थो मे अपना बडप्पन देखने की वासना करना यही है पापसमूह।

परमार्थस्वरूपको निरखकर जो बात यथार्थ अनुभवमे उतरी है उस बातको ये ज्ञानी सन्त नि शक होकर प्रकट कर रहे हैं। मेरा स्वरूप तो वह है जो मेरे सत्त्वके कारण स्वत सिद्ध हो। मैं नारक तिर्यन्च, मनुष्य देव कहा हू ? मैं तो एक ज्ञायकस्वरूप चैतन्यस्वरूप चैतन्यम त्र अनुपम पदाथ हू।

बधन नही होता, किन्तु जो अपने आपको असत्यरूप मान रहा है वह अपराधी है। वह निरन्तर अनन्त कर्मो को बाधता रहता है। एक शुद्ध सहज स्वरूपमात्र आत्मतत्त्वकी दृष्टि प्रतीति उपासना करने वाले पुरुष निरपराध हैं और वे सर्व प्रकार के बन्धनो से मुक्त होते है। जो ऐसे कारण परमात्मतत्त्वका ध्यान करता है वही निरपराध अपने आपको निहारनमे परमाथ प्रतिक्रमण होता है।

प्रतिक्रमण अधिकार की अन्तिम गाथामे व्यवहारप्रतिक्रमणकी सफलता क्या है। इस एक लोक दृष्टान्त द्वारा समझाया है एक सक्षिप्त प्रवचनाशमें, पृ० १५७-दृष्टान्तपूर्वक कर्तव्यकी सफलताका समर्थन-जैसे सीढियो पर चढनेकी सफलता क्या है ? ऊपर आ जाना। कोई मनुष्य सीढियो पर ही चढे उतरे तो ऐसे मनुष्यको तो लोग विवेकी न कहेगे। इसके क्या धुन समायी है, कही दिमाग खराब तो नही हो गया है, यो लोग सोचेगे। तो सीढियोपर चढनेकी सफलता है ऊपर आ जाना। ऐसे ही व्यवहार प्रतिक्रमण को सफता है अप्रतिक्रमण और प्रतिक्रमण भावसे परे जो शुद्ध अत प्रतिक्रमण, उत्तमाथप्रतिक्रमण है उसमे लीन हो जाना, इसका सकेत इस अन्तिम गाथामे किया गया है।

(१६७—१७१) नियमसार प्रवचन ७ से ११ भाग

इन पाच भागोमे नियमसारकी ९५ वी गाथ से लेकर अन्तिम १८७ वी तक के पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराजके प्रवचन हैं। ७ वें भागमे प्रथम प्रत्याख्यान अधिकारकी ९५ वी गाथाके एक प्रवचनाशमे देखिये प्रत्याख्यानका अधिकारो कौन है ? प्रत्याख्यानका अधिकारी-इस गाथामे यह बतला रहे है कि जो मुनि समस्त वचनालापो को छोडकर भविष्यमे शुभ अथवा अशुभ सभी प्रकार के भावोका परित्याग करके निवारण करके जो आत्माका ध्यान करता है उस मुनिके यह निश्चय प्रत्याख्यान होता है। यह प्रत्याख्यान समस्त कर्मो की निर्जरा का कारण है। प्रत्याख्यान बिना मोक्षमार्ग मे प्रवृत्ति नही हो सकती। यह तो मोक्षमन्दिर मे पहुचने के लिए सीढो है। मुक्तिमे होनेवालो परम निराकुलताके वर्तनके लिए यह सवप्रथम उपाय है। निश्चय प्रत्याख्यान भी उस पुरुषके सम्भव है जिसने जिन मतके अनुसार विधिपूर्वक व्यवहार प्रत्याख्यानमे भी दक्षता पायो है। प्रत्याख्याता महामुनिके व्यवहार प्रत्याख्यानकी वृत्ति भी चलतो है और उस सहज प्रत्याख्यान वृत्तिका करते हुए निश्चयप्रत्याख्यानको ओर उनका चित्त रहता है।

प्रत्याख्यानका विधि व निषेध दोनो पद्धतियोंमे वर्णन होता है। इसका सकेत देखिये ९५ वी गाथाके एक प्रवचनाशमे। पृ० ५-प्रत्याख्यानका विधि व निषेध मुखने वणन-अहकार ममकार विभावका परित्याग होना और ज्ञाता दृष्टारूप परिणमन होता-ये दोनो एक साथ होते है। इसका कारण यह है कि विधि और निषेध ये केवल अपेक्षा से कही जाने वाली चीजे है। जैसे अगुली टढी हो और सीधी कर दी जाय तो उसको च हे इन शब्दोमे कह लो कि अगुली की टेढ़ मिट गई और चाहे इन शब्दो मे कह लो कि अगुली मे सीधा परिणमन हो गया। बात वहा एक है। उस एक ही विकासको हम विधि और निषेधसे कहते है। इसनिश्चय प्रत्याख्यानमे जो आत्मविलास है उसको चाहे यो कह लीजिये कि समस्त विभावो का परिहार हो गया और चाहे यो कह लीजिये कि यह मात्र ज्ञाता द्रष्टा रूप परिणमन कर रहा है।

कारणप्रभुके सहज तेजका मनन कीजिये ९७ वी गाथाके एक प्रवचनाशमे-पृ० १६-अघसमूहके विलयन मे कारण प्रभुकी समर्थता-यह कारणप्रभु चैतन्यस्वरूप समस्त पापोकी वृत्ति को जीतने मे समर्थ है। आत्मक्षेत्रको छोडकर अन्य पदार्थो मे अपना बडप्पन देखने की वासना करना यही है पापसमूह।

परमार्थस्वरूपको निरखकर जो बात यथार्थ अनुभवमे उतरी है उस बातको ये ज्ञानी सन्त निःशंक होकर प्रकट कर रहे हैं। मेरा स्वरूप तो वह है जो मेरे सत्त्वके कारण स्वतः सिद्ध हो। मैं नारक तिर्यञ्च, मनुष्य देव कहा हू ? मैं तो एक ज्ञायकस्वरूप चैतन्यस्वरूप चैतन्यमात्र अनुपम पदार्थ हू।

सकटके आय व्ययका लेखा जोखा देखिये ७८ वी गाथाके एक प्रवचनांशमे, पृ० ४५-४६—उपयोगसे संकटका आय और व्यय—भैया, क्या है संकट ? कितने है संकट ? जोड लो अमुक आदमी मुझसे इतना वैभव छीनना चाहते हैं धन मकानका हिस्सा बाट करना चाहते हैं, अधिक लेना चाहते हैं अथवा मुझे मुनाफा नही मिल रहा है, टोटा हो गया है, इतना नुकशान हो गया है, लोग रूठते जा रहे हैं। बनाते जावो—कितने संकट हैं। पहिले तो सारे संकटोको जोड जोडकर एक जगह धर लो और फिर धीरे से अपने एकत्वस्वरूपकी दृष्टिरूप आग लगा दो, सारे संकट, वह सारा ईन्धन एक साथ सब स्वाहा हो जायगा। कहा रहे संकट ? जब शरीर ही मैं नही हू ये रागद्वेष विकारभाव भी मैं नही हू ये पोजीशन, ये भीतर की कल्पनाये ये सब भी मैं नही हू तो मेरा बिगाड कहा है ? क्या है मेरा बिगाड ? ज्ञानी पुरुषमे ही ऐसा साहस होता है कि कदाचित् कोई दुष्टवैरभाववश नाना प्रकार से उसके प्राण हरे तो यह स्पष्ट झलकता है कि मेरा तो कुछ भी बिगाड नही है। मैं तो ज्ञानानन्द मात्र हू। लो यह मैं पूरा का पूरा यहासे चला, उसे कोई प्रकार का संकट नही है। संकट तो मोह ममतासे बसे हुए हैं। हम संकटोसे दूर होनेके लिए विरुद्ध प्रयत्न किया करते हैं। वह क्या उस मोह ममताकी रचना करते है ? दुःख साधन बनानेसे कही दुःख टाले भी जा सकते है क्या ? सोच लो।।

दोषोका प्रतिक्रमण परमार्थप्रतिक्रमणमे होता है, देखिये ८० वी गाथाका एक प्रवचनांश, पृ० ५२—दोषो का प्रतिक्रमण—मैं राग नही हू द्वेष नही हू, मोह नही हू और रागद्वेष मोहका कारण भी नही हूं, उनका कर्ता भी नही हू कराने वाला भी नही हू और उनको करते हुए जो कोई भी हो उनका अनुमोदन भी नही हू। परमार्थप्रतिक्रमण हो ही जाता है। जो विभाव लग चुका था, जो द्वेष किया गया था उस द्वेषका प्रतिक्रमण किया जा रहा है याने उस द्वेषको दूर किया जा रहा है।

परमार्थप्रतिक्रमणका प्रयोजन क्या है, यह संक्षेपमे समझ लीजिये ८२ वी गाथाके एक प्रवचनांशमे-पृ० [illegible]२-प्रतिक्रमणका प्रयोजन—प्रतिक्रमणको आवश्यकता निर्दोष चारित्रकी सिद्धिके लिए है। निर्दोष चारित्र की सिद्धि समस्त आकुलताओके मिटाने के लिए है। समस्त आकुलताओका मिट जाना इस जीव का ध्येय है, मन्तव्य है, लक्ष्य है। चाहते यह है समस्त जीव लोक कि रच भी पीडा न रहे, अनाकुलता की स्थिति कैसे आये ? उसके उपायमे यह चारित्र शोधक परमार्थप्रतिक्रमणका वर्णन चल रहा है।

परमार्थ निरपराध होनेपर ही अनाकुलता हो ही सकती है, ८४ वी गाथाके एक प्रवचनांशमे—पृ० ८४—निरपराधतामे अनाकुलताका स्वाद—जहा आत्मामे आराधना नही है वे सब अपराध हैं। जहा शुद्ध ममताका, अनाकुलताका स्वाद नही आ रहा है वे सब अनुभवन अपराध हैं। किसी भी बाह्य प्रसगमे चाहे वे बडी सच्चाईके साथ भी जुट रहे हो, किन्तु उनसे पूछो कि क्या तुम इस समय निराकुलता मे हो ? तो उत्तर मिलेगा कि निराकुलता तो नही है। निराकुलता तो रागद्वेषरहित केवल ज्ञाता द्रष्टा रहनेमे ही है। जहा निराकुलता है, वास्तविक सहज परम आह्लाद है वहा ही आत्माकी आराधना है और वही जीव निरपराध कहलाता है।

पुनश्च देखिये निरपराध दर्शनमे ही परमार्थप्रतिक्रमण होता है। पृ० ८७—निरपराध दर्शनमे परमार्थ-प्रतिक्रमण—ऐसे ज्ञानानन्दस्वरूप मात्र अपने आत्मतत्त्वको दृष्टिमे जो जगता है वह निरपराध है, उसका

बधन नही होता, किन्तु जो अपने आपको असत्यरूप मान रहा है वह अपराधी है। वह निरन्तर अनन्त कर्मों को बाधता रहता है। एक शुद्ध सहज स्वरूपमात्र आत्मतत्त्वकी दृष्टि प्रतीति उपासना करने वाले पुरुष निरपराध है और वे सर्व प्रकार के बन्धनो से मुक्त होते है। जो ऐसे कारण परमात्मतत्त्वका ध्यान करता है वही निरपराध अपने आपको निहारनमे परमार्थ प्रतिक्रमण होता है।

प्रतिक्रमण अधिकार की अन्तिम गाथामे व्यवहारप्रतिक्रमणकी सफलता क्या है। इस एक लोक दृष्टान्त द्वारा समझाया है एक सक्षिप्त प्रवचनाशमे पृ० १५७-दृष्टान्तपूर्वक कार्यकी सफलताका समर्थन-जैसे सीढियो पर चढनेकी सफलता क्या है ? ऊपर आ जाना। कोई मनुष्य सीढियो पर ही चढे उतरे तो ऐसे मनुष्यको तो लोग विवेकी न कहेगे। इसके क्या धुन समायी है, कही दिमाग खराब तो नही हो गया है, यो लोग सोचेगे। तो सीढियोपर चढनेकी सफलता है ऊपर आ जाना। ऐसे ही व्यवहार प्रतिक्रमण को सफता है अप्रतिक्रमण और प्रतिक्रमण भावसे परे जो शुद्ध अत प्रतिक्रमण, उत्तमार्थप्रतिक्रमण है उसमे लीन हो जाना, इसका सकेत इस अन्तिम गाथामे किया गया है।

(१६७—१७१) नियमसार प्रवचन ७ से ११ भाग

इन पाच भागोमे नियमसारकी ६५ वीं गाथा से लेकर अन्तिम १८७ वी तक के पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराजके प्रवचन है। ७ वें भागमे प्रथम प्रत्याख्यान अधिकारकी ६५ वी गाथाके एक प्रवचनाशमे देखिये प्रत्याख्यानका अधिकारी कौन है ? प्रत्याख्यानका अधिकारी-इस गाथामे यह बतला रहे है कि जो मुनि समस्त वचनालापो को छोडकर भविष्यमे शुभ अथवा अशुभ सभी प्रकार के भावोका परित्याग करके निवारण करके जो आत्माका ध्यान करता है उस मुनिके यह निश्चय प्रत्याख्यान होता है। यह प्रत्याख्यान समस्त कर्मों की निर्जरा का कारण है। प्रत्याख्यान बिना मोक्षमार्ग मे प्रवृत्ति नही हो सकती। यह तो मोक्षमन्दिर मे पहुचने के लिए सीढा है। मुक्तिमे होनेवाली परम निराकुलताके वर्तनके लिए यह सवप्रथम उपाय है। निश्चय प्रत्याख्यान भी उस पुरुषके सम्भव है जिसने जिन मतके अनुसार विधिपूर्वक व्यवहार प्रत्याख्यानमे भी दक्षता पायी है। प्रत्याख्याता महामुनिके व्यवहार प्रत्याख्यानकी वृत्ति भी चलती है और उस सहज प्रत्याख्यान वृत्तिका करते हुए निश्चयप्रत्याख्यानको ओर उनका चित्त रहता है।

प्रत्याख्यानका विधि व निषेध दोनो पद्धतियोमे वर्णन होता है। इसका सकेत देखिये ९७ वी गाथाके एक प्रवचनाशमे। पृ० ५-प्रत्याख्यानका विधि व निषेध मुखसे वर्णन-अहकार ममकार विभावोका परित्याग होना और ज्ञाता दृष्टारूप परिणमन होना-ये दोनो एक साथ होते है। इसका कारण यह है कि विधि और निषेध ये केवल अपेक्षा से कही जाने वाली चीजे है। जैसे अगुली टेढी हो और सीधी कर दी जाय तो उसको चाहे इन शब्दोमे कह लो कि अगुली की टेढ मिट गई और चाहे इन शब्दो मे कह लो कि अगुली मे सीधा परिणमन हो गया। बात वहा एक है। उस एक ही विकासको हम विधि और निषेधसे कहते है। इसनिश्चय प्रत्याख्यानमे जो आत्मविलास है उसको चाहे यो कह लीजिये कि समस्त विभावो का परिहार हो गया और चाहे यो कह लीजिये कि यह मात्र ज्ञाता दृष्टा रूप परिणमन कर रहा है।

कारणप्रभुके सहज तेजका मनन कीजिये ९७ वी गाथाके एक प्रवचनाशमे-पृ० १६-अघसमूहके विलयन मे कारण प्रभुकी समर्थता-यह कारणप्रभु चैतन्यस्वरूप समस्त पापोकी वृत्ति को जीतने मे समर्थ है। आत्मक्षेत्रको छोडकर अन्य पदार्थो मे अपना बडप्पन देखने की वासना करना यही है पापसमूह।

विषयोमे प्रवृत्ति करके अपने को सुखी मान लेने की वासना होना यही है पापसमूह। इन पापवैरियोने अपनी विजय पताका इस जगतमें स्वच्छन्द होकर उद्दण्ड होकर फहरा दी है और इस समस्त बराक जीव उनकी पताकाओके नीचे रहकर अपने को सशरण माने हुए है। ऐसे उद्दण्ड पाप बैरियोकी इस पताका को लूट लेने मे समर्थ निर्मूल नष्ट करने मे समर्थ यह कारण परमात्मपदार्थ है। निर्दोष, निर्लेप स्वतत्र आत्मतत्त्वकी भावना जगे वहा एक भी क्लेश एक भी पाप ठहर नही सकता है।

ममत्व परिहार व निर्ममत्व ग्रहण ये दोनो विधान प्रत्याख्यानके सहयोगी हैं इससे सम्बन्धित ९७ वी गाथाका एक प्रवचनाश देखिये–पृ० २९–ममत्वपरिवर्जन और निर्ममत्वानुष्ठान ममत्वको छोडता हू और निर्ममत्त्वको उपस्थित होता हू अर्थात् मैं निर्ममत्त्व स्वभावमे ठहरता हू। आत्मा ही मेरा आलम्बन है, अन्य समस्त पदार्थो को परभावोको मैं छोडता हू। ज्ञानीका ऐसा अत सकल्प है। इस अनुभूतिमे अनादि अनन्त अहेतुक चित्स्वभावमात्र आत्मतत्त्व का सरण ग्रहण किया है और उस ध्रुवस्वभावके अतिरिक्त अन्य जितने भाव हैं, स्वभाव हैं उन समस्त विभावोके परित्यागको विधि प्रकट हुई है। यह मैं आत्मा ज्ञानदर्शन मात्र हू, अकेला हू, विविक्त हू, मोह रागद्वेषादिक जो विभाव उत्पन्न होते हैं उनसे भी मैं रहित हू। ऐसे निर्ममत्व आत्मतत्त्वको प्राप्त होना, ममताके परिहारकी विधि है। पर ममता का परिहार होना आत्मतत्त्वके पाने की विधि है।

कायरता आये बिना भोगोका सेवन नही होता है, १००वी गाथाके एक प्रवचनाशमे–पृ० ३९–कायरता मे भोगसेवन विषयाभिलाषी पुरुष इस सुखके पीछे दूसरे जीवोके आगे कायर बन जाते हैं। इन्द्रियके विषय वीरता पूर्वक कमे मिल सकते है। कायर होकर ही ये विषयसुख मिला करते हैं। खैर किसी तरह से भोगें, पर इतना तो समझना ही चाहिए कि बिना कायरताके ये विषयसुख नही भोगे जाते हैं। स्पर्शनइन्द्रियका विषय कायर बनकर ही भोगा जाता है। सभी इन्द्रिय और मनके विषयोका सब कुछ भोग कायर बनकर ही किया जाता है। यह अज्ञानी परवस्तुओसे अपना हित मानकर कायर होता हुआ अपना जीवन व्यर्थ गमा रहा है। उसे यह पता नही है कि मेरा तो मात्र मैं ही हू और यह मैं विशुद्ध ज्ञानानन्द स्वभावसे परिपूर्ण हू, इसमे क्लेशका नाम भी नही है। इसका ऐसा उत्कृष्ट स्वभाव है कि सारे विश्वका यह जाननहार बन जाय।

प्रत्याख्यान नाम विकल्पोके त्यागका है, यह प्रत्याख्यान ज्ञानरूप ही तो कहलाता है। मनन कीजिये १०१ वी गाथाके एक प्रवचनाशमे–पृ० ५२–ज्ञानकी प्रत्याख्यानरूपता–भैया परित्याग तो परमार्थसे भीतर ज्ञानमें बसा हुआ है। किसी चीजको यहा से वहा उठाकर रख दो ऐसे हटा देने से त्याग नही बन गया। त्याग तो वास्तवमे भीतरमे ऐसा प्रकाश जगे कि यह मैं मात्र इतना ही हू, ज्ञानातिरिक्त मेरा कुछ नही है, ऐसा भीतरमें प्रतिबोध हो उसका नाम त्याग है। और उस त्यागमे ही इस जीवके विशुद्धि जगती है। ऐसा परमार्थ प्रत्याख्यानमय एकस्वरूप निहारने पर निश्चय प्रत्याख्यान होता है। यह जीव सर्वत्र अकेला है। जन्मते अकेला, बडा होने पर अकेला, विकल्पकार्य किया तो वहा पर भी अकेला है. इसका काम तो सर्वत्र अपना गुण परिणमन करते रहना है।

प्रत्याख्यानके प्रसगमे ज्ञानी साकार रत्नत्रयको निराकार रत्नत्रय बनानेका एक शिव सकल्प तो निरखिये, गाथा १०३ के एक प्रवचनाशमे, पृ० ६८–साकार रत्नत्रयका निराकारी कारण साकार पूजा साकार भक्ति, साकार रत्नत्रय ये सब अनुत्कृष्ट अवस्थायें हैं। जहा आकार का विलय हो जाता है वह उत्कृष्ट हितकी अवस्था है। नौ पदार्थो का श्रद्धान करना, सात तत्त्वोकी प्रतीति रखना यह मैं आत्मा हू, ये सब परद्रव्य है–इस प्रकार का भेदविज्ञान करना, महाव्रत पालते हुए मुझे समिति पूर्वक चलना चाहिए, ऐसी वृत्ति

करना इत्यादि रूप भेद रूप सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रका होना यह सब साकार रत्नत्रय है, जब निज सहजस्वरूपका ही झुकाव हो, उसका ही परिज्ञान हो और ज्ञाता द्रष्टा रहकर उसका ही निर्विकल्पानुभव हो, वह है निराकार रत्नत्रयका विधि। मैं इस साकार रत्नत्रयको निराकार रत्नत्रय करता हूं। ऐसे इस प्रत्याख्यानके प्रसगमे ज्ञानी पुरुप अन्तर मे शिवसकल्प कर रहा है।

३५ मनुष्यका हल्दी की गाठ पर पसारीपना देखिये-गाथा १०४ वी के एक प्रवचनांशमे-पृ० ७१-हल्दी की गाठ पर पसारीपना-भैया, बडे बडे तीर्थकर चक्रवर्ती तो इन ठाठोको छोडकर अपने अपने उपादेय स्थानमे पहुचे और यहा हम आप न कुछ साधारण सी विभूति पाकर निरन्तर इस विभूतिके ही स्वप्न देखा करते है, यह कितने खेद की बात है। अहानेमे तो कहा करते हैं कि चूहा हल्दी की गाठ पाकर पसारी बन गया। पर अपनेमे कुछ नही घटा। हैं कि थोडा सा यह हजारो लाखो का धन पाकर यह अपने को श्रेष्ठ मानने लगा है। तेरे से बढकर अनेकोकी स्थितिया इसी देशमे हैं। उनमें भी बढकर अनको की स्थितिया विदेशमे भी सम्भव हैं, उनसे भी कई गुने बढकर मडलेश्वर राजा होते हैं, उनसे अधिक महा मडलेश्वर राजा होते है, उनसे कई गुने नारायण और प्रति नारायण होते है, वे तीन खण्ड के अधिपति होते है, उनसे बडे चक्रवर्ती पुरुष होते है और ऐसे अनेक चक्रवर्ती जिनके चरणोमे नमस्कार करे उन तीर्थंकरो के बडप्पन को तो बताया ही क्या जाय ? अब उनके सामने देख तूने हल्दी गाठ ही पायी है या और भी पाया है ?

आलोचनाधिकारमे परमालोचना व उसके अधिकारीका संक्षिप्त संकेत पाइये १०७ वी गाथाके एक प्रवचनांशमे-पृ० ८९-परमालोचना और उसका अधिकारी-जो प्राणी नोकर्म और कर्मसे रहित, विभावगुण-पर्याय से पृथक आत्मा को ध्याता है उस श्रमण के आलोचना होती है। इस अधिकारमे आलोचनाका वर्णन है, व्यवहारमे लोग अपने पापकी आलोचना करते हैं, जैसे कि आलोचना पाठमे बहुत विस्तार मे वर्णन है निश्चय आलोचना क्या कहलाती है इसका वर्णन इस परम आलोचना अधिकारमे किया जा रहा है, आत्माका मात्र ज्ञाता द्रष्टा रहना सो तो है वास्तविक परमार्थ व्रत और ज्ञाता द्रष्टा न रहकर किसी अन्य विभावमे उपयोगको उलझाना यह है इसका अपराध। निश्चय अपराधकी आलोचना करना सो परम आलोचना है और व्यवहारिक अपराधकी आलोचना करना व्यवहारालोचना है। अपने आत्माका जैसा यथार्थ बोध है उस स्वरूपकी दृष्टि करे तो सच्ची आलोचना होती है।

आलोचनाकी निर्दोषताके चार स्थल होते है-आलोचना, आलुञ्छन, अविकृतिकरण व भावशुद्धि। इन चारो का संक्षिप्त विधिमें कैसा परिचय कराया गया है। देखिये १०८ वी गाथाके इन दो प्रवचनांशोमे-पृ० १०१-आलोचना प्रकारोके क्रममे आलोचन व आलुञ्छन-दोषोका निदशन करना, दोषोका उखाड देना, अपने को विकाररहित करना और शुद्ध भावरूप परिणति होना, ये चार बाते दोषशुद्धिके प्रकरणमे क्रमसे आती है। इसी कारण आलोचना के इन चार लक्षणोका यहा क्रम रखा गया है। यह कल्याणार्थी भव्य पुरुष प्रथम तो अपने दोषो का निवेदन करता , अपने से करे, जो जैसी पात्रताका है और जिस वातावरणमे आया हुआ, आलोचना करता है। ये दोष मैं नही हू। मैं दोषोसे रहित ज्ञानानन्द-स्वरूप परमात्मतत्त्व हू। ऐसा अपना सस्कार और ज्ञान करके उन दोषोको उखाड फेक दे, अपने उपयोगमे न रखे, यह हुआ आलुञ्छन।

अविकृतकरण व भावशुद्धि-जब आलुञ्छन हो गया तो फिर जैसा साफ है तैसा अविकारी भाव रह गया, अब विकार नही रहा है, यह हुआ अविकृतिकरण। फिर जैसा शुद्ध भाव है, स्वभाव है, सहज भाव है, स्वरूपास्तित्वमात्र तदरूप बर्तन लगे, यह हुई भावशुद्धि। इस तरह इस ज्ञानी साधु ने

आलोचनाके प्रसगमे अपने को निर्दोष बनाया।

अपना अपराध परखिये और उसे दूर कीजिये, इसमें भलाई है, समझिये यह रहस्य ११३ वी गाथाके एक प्रवचनाशमे, पृ० १३४–स्व अपराध व उसके निवारणका उपाय–हे आत्मन्, तुम अब किसी भी पर जीव को अपना अपराधी मत समझो। किसी को अपना अपराधी समझना ही अपने आप पर अन्याय करना है। कौन किसका अपराधी है ? सभी जीव अपनी अपनी कषाय के अनुसार अपना अपना स्वार्थ सिद्ध करने में लगे हुए है। तुम्हारा कोई बिगाड करने पर नही तुला है। यह सबकी आदत है कि अपना ही काम बनाये। सब अपना ही काम बना रहे हैं। मित्र हो, रिश्तेदार हो, परिजन हो, कोई भी हो, सरकार हो, सभी अपना काम बना रहे है। तू उन्हे बाधक समझता है। अरे तेरा बाधक तेरा राग परिणाम है। तुझे समादामे जो राग लगा हुआ है वह राग ही तेरा दुश्मन है। दूसरा दुश्मन नही है। तो जो भी विकार भाव उत्पन्न होते है महान अपराध होते हैं उनकी माफी कैसे हो सकेगी ? उनको क्षमा मागने का कोई तरीका भी है क्या ? वह तरीका यही है कि अब मैं विकार न करूगा, मैं अपने निज अविकार स्वभावमे ही प्रसन्न रहूगा। इस प्रकार के सकल्प से विकारोको न होने देना यही विकारोके अपराधोका प्रायश्चित है। मुझमे रागादिक अपराध न हो, इसका उपाय भी है क्या कुछ ? हा है उपाय। निश्चयसे तो विकाररहित चिदानन्दस्वरूप आत्मतत्त्वका दर्शन करना, यह उपाय है, और व्यवहारसे व्रत, समिति, शील और सयमका परिणाम बने- जिससे विषय कषायोके आने का अवसर न हो। ऐसी प्रवृत्तिको व्यवहार उपाय कहते हैं।

सहज अन्तस्तत्त्वके अवलम्बनमे परमलाभ समझिये अथवा पुराना ढचरा बदले बिना कल्याण न होगा, प्रेरणा लीजिये ११९ वी गाथाके एक प्रवचनाशमे, पृ० १६१–परमलाभ–भैया, इस ज्ञानवैराग्यसे इस आत्मस्वरूपके आलम्बनसे इस भवमे भी आनन्द बरसता है और परभवमे भी आनन्दका समागम होता है। इस कारण प्रत्येक प्रयत्न करके अपने तन, मन, धन, वचन सब कुछ न्यौछावर करके एक इस सहज शुद्ध ज्ञानानन्द मे आत्मस्वरूप का आलम्बन करना चाहिए और इस परम शरण की प्राप्ति के लिए ज्ञानार्जन मे अपना चित्त लगाना चाहिए। जो कुछ भी प्राप्त है वे सब भी न्यौछावर हो जायें और एक यथार्थ तत्त्वज्ञानका अनुभव हो जाय तो उसने सब पाया। हम अरहत सिद्ध के स्वरूप को क्यो पूजते हैं ? क्या उनके पास कुछ धन है ? अरे उनके बाह्य वैभव धन नही हैं, किन्तु आत्मीय ज्ञानानन्द की निधि उनके पूर्ण प्रकट हुई है इसलिए वे पूज्य है, धन्य है, कल्याणार्थियो के उपास्य हैं।

परमसमाधिकारकी प्रथम याने १२२ वी गाथाके एक प्रवचनाशमे समझ बना लीजिये कि परम समाधि सुधाका पान सहजस्वरूपके ध्यानमे हो सकेगा। पृ० १६६–सहजस्वरूपके ध्यान मे परम समाधिका अभ्युदय–जो आत्मा इस शुद्ध ज्ञायकस्वरूप अन्तस्तत्त्वका ध्यान करता है, बाहरी कुछ नही विचार करता, स्वय का अपने आपने स्वभावसे जिसरूप है उस स्वरूपमे जो आत्माको ध्याता है उस पुरुष के परमसमाधि होती है। इस परमपारिणामिक भाव अथवा शुद्धअन्तस्तत्त्वके ध्यान करनका साधन क्या है ? स्वय ही अभेद वीतराग भाव। जो स्वभाव समस्त कर्मकलकोसे रहित है, जिसमे न तो ज्ञानावरण आदिक कर्म हैं और न रागद्वेषादिक भावकर्म हैं और न जिनमे प्रदेश परिस्पदरूप क्षेत्रकर्म हैं, और न जिनमे जानन के परिवर्तनरूप भी कर्म है ऐसे उस कर्मकलकमुक्त शुद्ध आत्मतत्त्वको जो ऐसे ही विशुद्ध ज्ञान ध्यान से ध्याता है उसके परम समाधि होती है।

समता अर्थात् सामायिक किसके स्थायी रहती है, इसका सक्षिप्त प्रकाश पाइये १३० वी गाथाके एक

प्रवचनांशमे-पृ० २००-पुण्यपाप भावके त्यागमे समता-जो योगी पुण्य और पापरूप भावोको नित्य ही त्यागता है उसके सामायिक स्थायो है, ऐसा केवली के शासन मे क ा है। इसमे साक्षात तो पुण्यभाव और पापभावके सन्यासकी भावना है और उपचार से पुण्यकर्म और पापकर्म जो पौद्गलिक हैं उनके सन्यासकी भावना है। यह जीव जब शान्ति और उन्नतिके म ग मे चलता है तब अपने ही शुद्ध परिणामोका कर्ता होता है। जो पुरुष पुण्य पाप रहित केवल ज्ञ.यकस्वरूप अपने आत्माका अनुभव करता है उसके कर्म स्वय खि. जाते है। जो पुण्य पाप भावोको नित्य त्यागता है उसके सामायिक स्थायी है।

जरा लुटे पिटे इस प्राणी की तृष्णा तो देखिये १३४ वी गाथाके एक प्रवचनांशमे, पृ० २१८-लुटे पिटेकी तृष्णा-जब किसी बड विधि वाले की बडी निधि हर जाती है तब उसको छोटी चीजमे बड़ी विकट तृष्णा उत्पन्न हो जाती है। कोई बडा पुरुष पापोदयसे अपनी निधिको गवा दे तो वह निधिको बडे बेढगे ढगसे गवा देता है। सोना चादी हीरा जवाहर तको वह दूसरे के यहा भी गिरवी नही रखता है। दूसरोके हाथसे दूसरोके यहा गिरवी रखाता है। जब निधन हो जाता है और खपरा बिकने लगते है तो वह उन खपरोको भी गिन गिन कर देता है। अरे पहिले जब निधि लुट रही थी तब रच भी परवाह न करता था, आज जब बडी निधि लुट गई तो छोटी चीजोकी तृष्णा हो जाती है। अपने स्वभाव की भक्तिसे सब विषय कषाय शान्त हो जाते है और लुटी हुई आनन्दकी अनन्त निधि प्राप्त हो जाती है।

आस्रव, बन्ध, सवर, निर्जरा, मोक्षकी ज्ञानविलासमे ही मुद्रा देखनेकी दृष्टि करके पढिये जरा १३६ वी गाथाका एक प्रवचनांश-पृ० २३७-ज्ञानविलासमे पच तत्त्व-अब इस निश्चयनयमे भी के ल निज स्वरूप और निजस्वरूपके विलासमे इन पाच तत्त्वोको देखो तो वहा एक समृद्धि बर्द्धक एक रचना मालूम पडेगी। यह आत्मा ज्ञानस्वरूप है, सहज निज ज्ञानाकार रूप है, सहज ज्ञानस्वभावमय है, यह ज्ञायकस्वरूप आत्मा अपने आपमे परवस्तुओके जाननेका परिणमन करता है, इसमे अन्य पदार्थ ज्ञेयरूप प्रतिभास होते है। इस ज्ञानमे पर ज्ञेय आता है। जो शाश्वत है वह तो होता है आधार जो आये जाये उस को कहते है आना जाना, अध्रुव चीज। इस ध्रुव ज्ञानमे यह अध्रुव ज्ञेय आता। ध्रुवमे अध्रुवका आना सो आस्रव है। यह अन्त निश्चयकी बात कही जा रही है (इस ज्ञानमे इन ज्ञेयोका रह जाना अर्थात् उनका बने रहना सो है बन्ध। ज्ञान मे ज्ञेय का न आना, किन्तु ज्ञान केवल ज्ञानस्वरूपको ही ग्रहण करके ज्ञान ज्ञानमे एक रस रहा करे, इसका नाम है सम्वर और उन ज्ञेयभावोका छोडना निर्जरा और चिरकाल तक ज्ञान ज्ञानाकार रूप ही बना करे, उनकी ओर न झुके, इसका नाम है मोक्ष। भया, कई प्रकारोसे इनजीवादिक सात तत्त्वोका परिज्ञान करना और उनके स्वरूपमे विपरीत आशयको त्याग देना इसका नाम है योग और आत्मकल्याणकी साधना।

क्या क्या करना आवश्यक है, जरा आवश्यक शब्दके अर्थ से ही समझ लीजिये, पढिये १४२ वी गाथाका एक प्रवचनांश, पृ० २५३-आवश्यक शब्दका वास्तविक मर्म और विकृत अर्थ रूढ होनेका कारण-ये योगीजन जिन्होने आत्मासे योग बनाया है उन्हे कहते है योगी। जो भले प्रकार योगी बन हैं उन्हे कहते है योगीश्वर। जो योगी अपने आत्मग्रहणके अतिरिक्त अन्य किसी भी भावका, किसी भी पदार्थ का विषयाधिनत्व स्वीकार नही करता है उस पुरुष को अवश कहते है और उस अवश परमयोगीश्वरोके-जो काम हो रहा हो उस कामको आवश्यक कहते है। यु उस योगीका क्या काम चल रहा है एक आत्माका दर्शन आत्माका ज्ञान और आत्माका ही आचरण रूप शुद्ध चिद्विलासरूप पुरुषार्थ चल रहा

है, यही है परमावश्यक। आवश्यक नाम परिणतिका है अर्थात् मुझे आवश्यक काम पड़ा है, ऐसा कोई कहे यो उसका अर्थ यह लगाना कि मुझे मोक्षके उपायका काम पड़ा हुआ है, यह है सही सही अर्थ, जब कोई आवश्यक शब्दको विषय साधनोंकी ओर ही लगा दे तो इसके लिए क्या किया जाय, जैसे कुबेर शब्द बड़ा उत्तम है। जो पुरुष उदार है, दान करता रहता है, ऐसे पुरुषको लोग कुबेर की उपमा देते हैं, और कोई कजूस धनी हो, जिसकी कजूसी नगर भर को विदित है और उससे कोई कहे कि आइये कुबेर साहब तो वह सरमके मारे गड जायगा। और अपने को गाली मानेगा, मुझसे ये लोग मजाक करते हैं। अरे शब्द तो उत्तम बोला, पर अयोग्य पुरुष के लिए बोला इसलिए वह शब्द गाली और मजाक बन गया है। इसी प्रकार आवश्यक शब्द बड़ा उच्च है, आवश्यक कहो या मोक्षमार्ग कहो, दोनो का एक अर्थ है, लेकिन उस मोही प्राणी ने अपने खाने पीने, विषय भोगोंकी बातोमे आवश्यक शब्द बोल दिया है और इसमे यह आवश्यक शब्द मोही जगतमे अपनी अन्तिम सास ले रहा है। अब इस शब्दमे जान नही रही।

(१७२) सरल दार्शनिक प्रवचन

इस पुस्तकमे पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराजके कुछ दार्शनिक प्रवचनों का संग्रह है। जिस पुरुषने सुदर्शनके वनमे अपने आपमे आत्ममर्मका दर्शन किया है उसकी कैसी धुन अपनी ओर रहती है इसका दिग्दर्शन कीजिये एक प्रवचनांश, पृ० २५-जैसे किसी दुकानदारको अपने उसी कामसे फुरसत नही है उसी दुकान पर ही दृष्टि है तो दुकानदार आने वाले अन्य पुरुष यदि कोई और चर्चा करने लगें तो वह दुकानदार उनसे कह देता है कि जावो मुझे फुरसत नही है। उसी प्रकार ज्ञानस्वभावमात्र आत्माके स्वरूपको जान लेने वाला पुरुष पूर्वमे बाधे हुए कर्मो के उदय आने पर कहता है कि मुझे तुम्हारी चिन्ता नही, तुम जावो, मुझे समय नही तुम्हारी तरफ उपयोग देनेको। मैं तो अपने ही ज्ञानस्वभावकी पूजामे लगा हू। ज्ञानी जीव कर्मफलके प्रति उदासीन है। रागद्वेष सुख दुःख आते हैं, परन्तु ज्ञानी जीव उनका ज्ञाता दृष्टा रहता है। वह सब जान रहा है यह भी एक परिणमन है। उपाधि उदयके निमित्तको पा कर आया है, वही उदय तो पूरे क्षण नही रहता सो यह अभी निकल जायगा। इससे मुझे चिन्मात्र सहज परमात्माका कोई सम्बन्ध नही है।

ज्ञानकी महिमाका अन्दाज कीजिये एक प्रवचनांशमे-पृ० ३१-अहो, विश्वमे यह सब कुछ उजेला ज्ञानका ही तो है। कल्पना करो कि यह चमकना व न चमकता सब कुछ भौतिक पदार्थ होता और एक ज्ञानवान (चेतन) तत्त्व अथवा ज्ञान न होता तो इस सब उजेले का कुछ व्यवहार भी होता। इतना ही क्यो? यदि ज्ञान, अर्थात् ज्ञानी तत्त्व न होता तो यह चमकता वर्गणाओंको अगीकार करता तब इन पृथ्वी, जल अग्नि वायु वनस्पति व त्रसशरीरोंका निर्माण होता है। अहो, विश्वमे यह सब चमत्कार ज्ञानका ही तो है और देखो ये भीतर जो कल्पनायें चल रही हैं, रागद्वेष परिचय आदि चल रहे हैं वे सब कुछ भी इस ज्ञानके सहारे ही तो हैं। दुनियामे जो कुछ भी व्यवहार चल रहा हैं वह सब कुछ ज्ञान का ही तो कोई प्रसाद है।

ज्ञानदेवताका जयवाद ध्यानमे लाइये एक प्रवचनांशमे-पृ० ३५-अहो ज्ञानदेवते, तुम्हारा ही आलम्बन सत्यशरण है। तुम्हारा ही दर्शन सत्य आनन्दका स्रोत है। तुम्हारी ही उन्मुखता होना सम्यक्त्वका उपाय व सम्यक्त्वका फल है। शिवपद तुम्हारे ही प्रसादके अनन्तर निकट होता जाता है, निर्वाण प्राप्त कर लिया जाता है। हे ज्ञानदेवते, तुम सदा मेरे उपयोग आसनमे विराजे रहो। आनन्दका अविनाभाव

ज्ञानके साथ है। शुद्ध ज्ञानके क्षणमे शुद्ध आनन्द बर्तता ही है। अत आनन्दलाभकी दृष्टिसे भी ज्ञानकी सर्वोपरि महिमा है। ज्ञानमय इस आत्मा का ज्ञानस्वरूप ही सवस्व है। इस मेरे का ज्ञानस्वरूपके अतिरिक्त अन्य कुछ भी नही है। भेदविवक्षावश कहे जाने वाले अस्तित्वादि सामान्यगुण व चारित्रादि विशेष गुण है वे ज्ञानकी ही विशेषताये हैं अथवा ज्ञानस्वभावका वणन विवृत करने के लिए विशेषण-स्वरूप है। ऐसे इस ज्ञानस्वभावकी महिमा जानने वाले ज्ञानपरिणमनकी भी अनुपम महिमा है। हे ज्ञानानन्दमय आत्मन्, तुम सदा ज्ञानपथगामी होओ। तेरा ही ध्यान बना र नाही सत्य वरणकी स्थिति है। शुद्ध ज्ञानस्वरूपका ज्ञान होना ही शुद्ध आनन्दका हेतु है। ज्ञानके सिवाय अन्य कुछ तत्त्व आनन्द का हेतु नही। शुद्ध ज्ञान के ज्ञान मे वीतरागता का स्वरूप ही है। यही वीतराग विज्ञान आनन्द का स्थान है। हे ज्ञानदेवते, सदा इस उपयोगमे विराजमान होकर इस अपने आधारभूत आत्माकी रक्षा करो।

वस्तुनिर्णयमे स्याद्वादका सच्चा सहारा है, परखिये एक प्रवचनाशमे, पृ० ३ -अनेक धर्मात्मक वस्तुको जाननेकी पद्धतिको स्याद्वाद कहते हैं। स्याद्वादका दूसरा नाम अपेक्षावाद भी है। वस्तुमे अमुक धर्मकिस अपेक्षा सेहैंइसप्रकारअपेक्षाको बताना सास्याद्वाद है। जैसेआत्मा ज्ञानशक्तिकी अपेक्षासे ज्ञानस्वरूप श्रद्धाशक्ति की अपेक्षासे श्रद्धास्वरूप है, चारित्रशक्तिकी अपेक्षासे चारित्रस्वरूप है, आनन्दशक्तिकी अपेक्षासे आनन्द स्वरूप है। द्रव्य दृष्टिसे नित्य है। परिण मद ष्टसे अनित्य है। लक्षणदृष्टिसे एक है। गुण प्राय दृष्टिसे अनेक हैं। अपने स्वरूपकी अपेक्षासे सत् है, परके स्वरूपकी अपेक्षासे असत् है आदि। स्याद्वाद सशय उत्पन्न नही करता, किन्तु निश्चय करता है कि अमुक की अपेक्षासे ऐसा ही है। स्याद्वाद बिना न तो कुछ निर्णय हो सकना है, न कोई व्यवहार ही चल सकता है। अमुकका पुत्र है, अमुकका पिता है इत्यादि व्यवहार चलते हैं जिस स्याद्वाद द्वारा उस स्याद्वाद द्वारा ही वस्तुओका निर्णय होता है। स्याद्वादके आश्रयसे ही हम वस्तुका सम्यक् निर्णय करते हैं और सम्यक् निर्णय से ज्ञानी भेदभाव नष्ट करके शाश्वत आनन्दका उपाय कर लेते है।

(१७३) आत्मानुशासन प्रवचन प्रथम भाग

परम पूज्य श्री गुणभद्राचार्य द्वारा प्रणीत आत्मानुशासन ग्रन्थपर पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराजने प्रवचन किये है। इसमे आत्मा पर अनुशासन किया है जिस प्रकार के ज्ञान और आचरणमे ससार सकटो से सर्वथा छुटकारा होना है उस प्रकार से आत्माको सम्बोधित व अनुशासित किया है। विषयरुचिक पुरुषोका आत्मानुशासन मधुर नही जचता, सो उनका भय किस प्रकार मिटाकर उन्हे हित प्राप्त कराया जायगा, इसे देखिये छन्द ३ के प्रवचनाशमे-पृ० ७-अभीष्टताके प्रति भयनिवारण-यद्यपि इस उपदेशमे कदाचित् ऐसा भी मालूम पड कि यह वतमानमे ऐसा कटु लग रहा है, लेकिन इसका भय न करना, क्योकि इसका फल मधुर होगा। जैसे किसी रोगकी औषधिमे कोई औषधि कडवी भी हो तो रोगी उस कडवी औषधिको भी पी लेता है, क्योकि उस औषधिका परिणाम मधुर निकलेगा। इसी प्रकार इस उपदेशमे कुछ कटुता भी मालूम पड लेकिन इसका विपाक बडा मधुर है। उससे तू रच भी भय मत कर। जो चतुर रोगी होता है वह कडवी औषधिको-आगे आराम होगा, ऐसे भावके वश ग्रहण कर लेता है डरता नही है। ऐसे ही तू स्याना बना और इस शास्त्रमे कोई उपदेश असुहावना भी लगे तो भी उससे सुख होगा, आनन्द दशा होगी, ऐसा जानकर रच भी मत डर।

उपदेशका लाभ ले सकने वाले श्रोताकी एक विशेषता का परिचय कीजिये श्लोक ७ के एक प्रवचनाशमे-पृ० ३३-३४-हितचिन्तना-श्रोताकी विशेषता बतायी जा रही है, श्रोता का यह चिन्तन हो, ध्यान हो

कि मेरा हितरूप कर्तव्य क्या है, मेरी कुशलता किसमे है–ऐसे जो अपने विचार रखते हो वे सब श्रोता उपदेश से लाभ ले सकते है। कोई इस दृष्टिसे शास्त्र सुने कि देखें तो सही कि यह वक्ता क्या बोलता है, किस ढगका इसमे ज्ञान है जैसे कोई चक्षुरिन्द्रियको तफरी करता हो, कर्णेन्द्रिय की तफरी करता हो, इतना ही मात्र लक्ष्य हो तो भला उस उपदेशसे लाभ तो नही मिल सकता है, अथवा जिसका यही परिणाम हो कि देखो कोई गल्ती यह बोल जायें, बस हम इनकी गल्ती पकड करके रोक देंगे और इन के मुकाबलेमे अपनी प्रतिष्ठा बढायेंगे, ऐसा परिणाम रखकर जो प्रवचनशास्त्रको सुनने वाला हैं वह उपदेशका लाभ तो नही ले सकता है।

पुनश्च पृ० ३१–हिताहित विचारकना–भैया, इतना कष्ट करके तो श्रोता घर छोडकर आया है, आध पौन घण्टेका समय इसने लगाया है, आखिर कुछ श्रम तो किया है, कुछ त्याग तो किया है, यह त्याग और श्रम उसका सफल होगा जो अपने हितका वान्छा रखकर श्रम करता हो। एक हित भावना से दूर होकर कुछ भी विचार चित्तमे लेकर यह उद्यम करे तो दोनो ओर से गया। घर भी छोडा, श्रम भी किया, विकल्प भी बनाया, पापोका बन्ध भी किया, ऐसे श्रोतान कुछ भी तो हित की बात नही पायी। जो श्रोता अपने हित और अहित का विचार रखता हो वह हिताभिलाषी श्रोता है।

धर्मकी पहिचानकी सक्षिप्त झाकी देखिये–श्लोक ८ के एक प्रवचनाशमे–पृ० ६३–ज्ञातृत्व सम्पदा–जो जैसा है उसे उस ही रूपसे जानते जाइये, चाहे कुछ नही अपन लिए। अरे यथाथ जाननसे बढकर और वैभव ही क्या है ? क्यो हम कुछ चाहे। जो जैसा है वैसा ज्ञानमे आता रहे इससे बढकर और क्या सम्पदा है ? जब किसी प्रकार की चाह नही रही तो वहा आकुलताका फिर काम ही क्या है ? सब धर्मो मे एक मात्र धर्म यह ही है कि निज ज्ञानानन्द स्वरूपमे अपनी प्रतीति और अपना आचरण हो अर्थात् मात्र समस्त वस्तुवोके ज्ञाता दृष्टा रहने के लिए हमारा जो भी यत्न होता, वह सब धर्म कहा जाता है।

उपदेशका मूल स्रोत प्रभु हैं, वे वीतराग हैं फिर उपदेश कैसे बन जाता है उसका सक्षेपमे समाधान पाइये, श्लोक ६ के एक प्रवचनाशमें, पृ० ६५–उपदेशका मूल स्रोत इन सकल परमात्मा न चूकि श्रमण अवस्थामे अथवा इससे पहिले लोगो के उपकार की भावना भी थी, इस कारण इनके इस प्रकार की प्रकृति का बन्ध हुआ कि सकल परमात्मा प्रभु हो जाने पर भी वचनके योगवश उनकी दिव्यध्वनि खिरती है। देखलो भैया, कर्मो का फल भी किस किस रूपमे प्रकट होता है। भव्य जीवोके तो पुण्यका उदय है और प्रभु मे पुण्य प्रकृति के उदयवश जो वचनयोग चल रहा है ध्वनि हो रही है इसे कहते है श्रुत।

भोग सकटविपाकी दवा है, सकटनाशक औषधि नही है, पढिये श्लोक १० वें के एक प्रवचनाशमे, पृ० ७ - सकटविपाकी दवा–यह इच्छा मिटती है तो मनुष्यको चैन मिलता है। जब तक इच्छा रहती है तब तक चैन नही है। जैसे औषधि और दवाई ये दो चीजे होती हैं। दवा तो नाम है जो रोगको दवा दे, जड से रोग न मिटे उसका नाम दवा है। कही ऐसा न हो कि योग्य चिकित्सक को पता पड जाय, सो रोगी को ऐसी दवा पिला दो जिससे रोग अच्छी तरह से इसके अन्दर बना रहे। रोग बना रहे, नष्ट न हो यह है दवाका काम। जब कि औषधिका काम है कि उस रोगको मूलसे नष्ट करदे। रहे नही। ऐसे ही इच्छाका विषयभोग कर इस इच्छाको दबा दिया जाय तो थोडी देर चूकि इच्छाका व्यक्तरूप सामने नही है इसलिए कुछ सुख मालूम होता है लेकिन भोग भोगना उस इच्छा रोगको नष्ट करने की

औषधि नही है, किन्तु इच्छा रोगको दबा देने की एक दवा है।

जरा कर लो अपनी परख, श्लोक १६ वें का एक प्रवचनाश, पृ० ९७-अपनी परख-देख लीजिये-यदि कषायोमे, विषयोमे फर्क आया हो तब तो समझो कि हमने पद्धति से धर्मपालन किया है, नही आता है फर्क तो खोज करना चाहिए कि कौन सी त्रुटी इसमे रह गई है-जिस एक त्रुटिके बिना सारा यत्र चला देने पर भी गाडी नही चलती है। वह कौन सी त्रुटि है ? वह त्रुटि है मोह नही मिटा है। अपने आप को सबसे न्यारा ज्ञानमात्र नही जान पाया। यह मूर्त्ति शरीर, ये मूर्त कल्पनायें ये रागादिक विभाव, इन्ही रूप अपने को माना और इसी मिथ्यात्वकी प्रेरणासे हमने धर्मकी साधना की। धर्मप्रीति की प्रेरणा से नही की, किन्तु मान पोषणके लिए अपना विकल्प कल्पनामे जो कुछ भी अपनी ख्यातिके साधनभूत समझा उसके लिए उसने धर्मसाधन किया है और यही कारण है कि अनेक वर्ष गुजर जाने पर भी कषायोमे अन्तर नही आ पाता है।

मोहमे मायाकी मायामय चाह, जरा इसका नाटक देखिये श्लोक-१७ के एक प्रवचनाशमे-पृ० १०२-मोहमें मायाको मायामय चाह-अनन्त सामर्थ्यवान यहआत्मा है, जिसका ज्ञान विकसित हो तो त्रिलोक त्रिकालको एक साथ जाने, जिसका आनन्द विकसित हो तो उसमे वेदनाकी रच भी तरग नही उठती। पूर्ण निराकुल स्थिति उसके रह सकती है किन्तु एक अपने आपकी खबर रखकर बाह्य पदार्थो को बडा महत्व देकर वह अपनी सुध बुध सब खो चुका है। यह मायामय-अपवित्र घिनावने शरीरका निरख निरखकर अपना ज्ञान बढाना चाहता है। मेरी इन सबमें एक विशेष शान रहे। अरे तेरी शान नही रह सकती। तू यहा ज्ञान चाहता है तो वह सौलह आने निश्चित है कि तेरी शान रह नही सकती। तू बनायेगा शान तो कागटकी दीवार पर खडी हुई यह शान की छत कितने दिन टिकेगी। प्रकृतिमे अन्याय नही है। जहा जैसी जो कुछ विधि बनती है उस विधि के अनुसार वे सब बाते होती है। तू अपनी कल्पनाओमे भले ही कुछ मान ले, पर न्याय तो न्याय ही है।

लोकजनोका सुखबीजके रक्षणका सदेश, पढिये २१ वें श्लोकके क प्रवचनाशमे, पृ० १२३ दृष्टान्तपूर्वक सुखबीजरक्षणका समर्थन-चतुर किसान तो विचार करता है कि जो अन्न खेत से उत्पन्न होता है वह बीजसे उत्पन्न होता है। कुछ भी इस उत्पन्न अनाजमे से बीज रख लेंगे तो आगे भी अन्न का प्राप्ति होगी। यो विचार कर वह चतुर किसान बीजको रखकर अन्न को भोगता है। थोडा कभी कम खाकर भी गुजारा करना पड ता भी उसे इष्ट है, मगर बीज रखना कभी नहा भूलता ऐसे ही ये जितने भी सुख है ये सब धर्म के प्रसाद से मिले है। धर्म न होता तो इन्द्रियविषयोका अच्छा साधन न मिलता। उसकी प्राप्ति न होती। हे कल्याणार्थी भव्य पुरुष तू सयाना बन। ये समागम जो विनश्वर हैं। तू इन मे प्रीति मोह करके मूढ मत बन। जो कुछ भी मिला है वे सब तुझे, धर्म के प्रसाद से पुण्य के अनुकूल मिला है, उस धर्मको नही निहारता है। सुखमूल धर्मकी रक्षा कर। वर्तमान परिस्थितिके अनुकूल और उदयवश जो कुछ भोगना है सो भोग लो, किन्तु धर्मको न बिसारो। अब भी धर्म रखोगे, साधोगे तो आगामी काल मे भी सुख की प्राप्ति होगी। इस कारण धर्म की रक्षा करते हुए सुख भोगना चाहिए।

(१७४) आत्मानुशासन प्रवचन द्वितीय भाग

इस पुस्तकमे आत्मानुशासनके ३१ वें छद स ५५ वे छन्द तक के पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराजके प्रवचन हैं। इसमें आत्मा पर अनुशासन किया है आत्महितक लिए। देखिये-३४ वे श्लोकके एक प्रवचनाशमे कितने सक्षिप्त शब्दोमें धार्मिक जीवन बितानेकी शिक्षा दी गई है। पृ० ७-धार्मिक जीवन की

सिद्धिसाधक धर्मकी प्रीति ही हम लोगोंका शान्ति संतुलनमें समर्थ है। अन्य पदार्थोंकी प्रीति तो धोखा, छल, विकार सभी अवगुणोंसे भरी हुई है। अन्यत्र आस्था न कर, अपने आपको धर्मपालनमें लगावे। परिभाव बने, पुण्य कमाया हो, धर्मकी दृष्टि जगे-ऐसे पवित्र भावों सहित यदि यह जीवन बीत जाय तो यह बड़े सुभवितव्यताकी बात होगी। इस जीवनको धर्मपालनके लिए ही मानें, धनसंचय भोग भोगना आदिक सामाजिक सहूलियतोंके लिए अपना जीवन न समझें।

विषयोंसे जो अन्धा है वही वास्तवमें अन्धा है, उसे प्रभुदर्शन कैसे हो सकता है, पढ़िये श्लोक २५ वें के एक प्रवचनांशमें, पृ० २३–विषयान्धमें प्रभुदर्शनकी अपात्रता–विषयोंमें सुख क्या है? कुछ नहीं। केवल कल्पनामात्र है, और कष्ट कितना भोगता है यह काम पुरुष? रात दिन चिन्ता, वेदना, व्यथा बनी रहती है। और की बात तो जान दो, शस्त्रोंसे हथियारोंसे मृत्यु भी हो जाती है, यह विषयान्ध पुरुष कुछ भी हित अहितका नहीं देखता है। यदि किसी मानवमें विषयोंका व्यसन न रहे, आत्मबल प्रखर रहे और हित अहितके विवेकमें सावधान रहे तो उसे प्रभुके दर्शन सुगमतासे हो सकते है, पर जो विषयरत पुरुष है वह प्रभु दर्शनका पात्र नहीं है। उसे शान्ति और सन्तोष भी हो नहीं सकता है। यह विषयोंका अन्धा ही वास्तविक अन्धा है।

मोहके नशेमें प्राणी बाधाको माता मानते है, उनका सम्बोधन पढ़िये श्लोक ३८ वें के एक प्रवचनांशमें, पृ० ४४–बाधाको माता माननेका मोह–बाह्य पदार्थों में दृष्टि रखनेसे आनन्दमें कमी हुई है, पर ये मोही जीव आनन्द को कमी होने वाली परिस्थितिको ही सुख समझकर और जिन बाह्य पदार्थों के आश्रयसे उनके आनन्दमें कमी हुई है उनका उपयोग बनाकर कल्पनामें सुखी होते है, उन्ही के गुण गाते रहते हैं, अपने गुणोंको सुध नहीं रखते। मायामयी स्कधों के ही गुण गाते हैं। कैसा सुन्दर मकान है मेरा, कितनी अच्छी डिजाइनका बनवाया है। अरे ये बाहरी चीजें है इनको तू अपना बतलाना चाह रहा है। अरे तू अपने आपका श्रेष्ठ उत्तम बना। जैसे तेरा आशय निराला बने वैसा आशय कर। धर्म के प्रसाद से आत्मा का उद्धार भी होता है और संसार के सुख भी सामने आते है, इन मे दुतर्फा लाभ है, हानि की तो कोई बात ही नही। उस धर्म से इतने बाहर क्यो भागे जा रहे हैं? धर्म का आश्रय कर।

शान्ति अशान्ति सब अपने विचारो पर निर्भर है, मनन कीजिये श्लोक ३९ वें का एक प्रवचनांशमें, पृ० ५२–परिणमन विधिमें भावकी प्रधानता–देखो भैया, केवल भावो भर की बात है, चीजें सब जहा की तहा हैं। कही पर वस्तुको अपना सोच लेने से अपना हो नही जाती। स्वरूप सब का जुदा जुदा है। हा जैसा है तैसा समझ लेवे तो उसमे शान्ति है। हम अपना ही ज्ञान और आनन्द भोगते हैं। पर भ्रम कर लिया जाय कि दूसरे का आनन्द भोगता हू तो उसे जीवन भर पिसना ही पडेगा। क्योकि दूसरे दूसरे ही है। वे हमारे आधीन हो नही सकते। हम कुछ चाहते है, दूसरे अपने ही रूप परिणम रहे हैं। हमारा किसी पर स्वामित्व नही है। हम किसी के स्वामी बने तो उसमे आकुलता ही भोगनी पडती है। जब भावो से ही सब कुछ है तो अपने भाव निर्मल क्यो न बना लिये जायें।

प्रभु मिलनकी धुन हो तो प्रभु मिलन हो जायगा, युक्ति बनाइये, पढिये ४२ वें छन्दका एक प्रवचनांश–ज्ञानबल और प्रभुमिलन–भैया, मिल लीजिये जिससे मिलना हो। प्रभुसे मिलना हो तो प्रभुसे ही मिलने की धुन बनाओ और बाह्य पदार्थो से ही मिलना है, स्त्री पुत्रादिक से ही मिलना है तो उनसे ही मिलने की धुन बनाओ, दोनो बातें एक साथ न निभ सकेंगी, कारण यह है कि प्रभु तो वीतराग निष्कलक है

है और परिजन, मित्रजन सराग और सकलक है। एक ही उपयोगमे निष्कलक और सकलक दोनो का विराजना हो जाय, यह हो नही सकता है। विवेक बनाये तो ज्ञानी गृहस्थ पुरुष भी समस्त कार्यो को करते हुए भी उपयोगमे प्रभुस्वरूपको बसाये रह सकते है। ऐसी सामर्थ्य तत्त्वज्ञानमे बनी हुई है। एक तत्त्वज्ञान ही शरण है। तत्त्वज्ञानको छोडकर बाह्य पदार्थो से आनन्द की आशा रखना विष खाकर जीने की आशा रखने की तरह है। कदाचित विष खाकर भी कोई जीवित रह जाय यह सम्भव है, किन्तु यह सम्भव नही है कि पर पदार्थ मे मोह करके शान्ति पा सके।

स्वात्मप्रदेशका यत्न देखिये छन्द ४८ वें के एक प्रवचनांशमे-पृ० ९८-स्वात्मप्रवेशका यत्न-मैं वह सत् हू जैसा कि सबमे बना हुआ है। मै सबसे विलक्षण नही हू। जो सब है सो मै हू। जो मै हू सो सब है, ऐसे निर्विशेष चतन्य चमत्कारमात्र जीवके स्वरूपमे अपने उपयोगका प्रवेश कराये और परवस्तुके मोह से दूर रहे, विश्राम ले, आत्माके अनुभवका सन्तोष पाये, इसी मे वास्तविक बडप्पन है। यह काम केवल विचार करने से हो जाता है। इसमे किसी दूसरे की रुकावट भी नही है। दूसरे पुरुष तो जान भी नही सकते कि मैं क्या कर रहा हू। अन्दर मे तो ज्ञानबलसे अपने आपके प्रकाशमे रह रहा हू, इसे कोई रोक नही सकता। इसमे कोई विघ्न डाल नही सकता। हम ही भ्रम करें, कल्पना बनाये तो हम ही अपने विघ्न करने वाले होते है। सारभूत बात इतनी है कि हम आप सब को अन्त मे इस निर्णयमे आना चाहिए कि मैं तो ज्ञान और आनन्द भावसे रचा हुआ सत् हू। ज्ञानमय हू, आनन्द-मय हू।

इस जीवका कितना महान अपमान हो रहा है, कहा कहा जन्म ले रहा, वह सब भगवान आत्माका अपमान ही तो है। इस अपमान पर मोही जीव खेद भी नही मानता। देखिये विडम्बना छन्द ५८ वे के एक प्रवचनांश मे-पृ० १३२-मोहमे यथार्थ अपमानपर खेदका अभाव-भैया, दूसरे के द्वारा कभी कोई अपमान भरी बात सुननेमे आये तो वह आग बबूला हो जाता है, तो खुद नाना कुयोनियोमे जन्म मरण करता फिर रहा है। इतना बडा अपमानहो रहा है। इस अपमानको मिटानेकी दृष्टि नही जगती, इन समस्त सकरणोका मूल कारण है कुबुद्धि। हम अपने आपमे सन्ताप करना नही जानते। यह स्वयं सन्तोष करने लायक है, क्योकि आनन्दधन है। स्वय अपने आपमे अपने महत्त्वका सन्तोष नही जग रहा है। तब बाहरी पदार्थो मे हितबुद्धि करके यह तृष्णामे बढ रहा है, पर तृष्णासे कभी भी पूरा पड़ा है क्या ?

(१७५) आत्मानुशासन प्रवचन तृतीयभाग

इस पुस्तकमे आत्मानुशासन ग्रन्थके ५६ वे छन्द तक के पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराज के प्रवचन है। मोहरूपी अग्नि कैसी प्रबल और विलक्षण है इसका चित्रण देखिये ५६ वें छन्दके एक प्रवचनांशमें पृ० १-आत्महितैषी आत्माओपर अनुशासन-इस आत्मानुशासन ग्रन्थमे शान्ति की ओर झुके आत्माओ पर अनुशासन किया गया है। जगत के जीव अशान्ति से भरपूर हो रहे हैं। यह मोह रूप अग्नि ऐसी उत्कृष्ट जाज्वल्यमान है कि इस मोह अग्नि को विषयो का ईन्धन मिले तो बढती है और विषयो का ईन्धन न मिले तो यह बढती है। इस मोह अग्नि से सब दुखी है। दुनिया की अग्नि को यदि ईन्धन मिले तो जले, ईन्धन न मिले तो बुझ जाय, किन्तु मोहाग्नि को तृष्णा के विषय का ईन्धन मिले तो जले न मिले तो जले, इस ही प्रकार यह जीव दुखी है। किन्ही विषयोकी इच्छा हो, धन वैभव के सचय की अभिलाषा हो तो इस तृष्णा मे यदि वैभव मिल गया तो तृष्णा बढगी। १०० से हजार हो, लाख हो और न मिले वैभव तो वैभव के न रहने के कारण दुखी है। अब और क्या करे। मिले तो दु:ख न

मिले तो दुःख।

शरीर का सम्बन्ध न रहे, केवल अकेला रह जाय तो क्लेशका अभाव है, पढ़िये ५८ वें छन्दका एक प्रवचनांश, पृ० ११–केवल रहनेमे क्लेश का अभाव–हे हितार्थी आत्मन्, इस देहको चित्तमे न विचारो। अपनी इन्द्रियोको संयत करके और विशेष करके आंखोको बन्द करके अपने आपमे कुछ भीतर निरखो जहा केवल एक कुछ उजाला सा और बादमें कुछ ज्ञान ज्योति सा अनुभवमे आयगी। इतनेमे यह मैं हू, ऐसा स्वीकार करके फिर चिन्तन करिये कि यदि मैं केवल ज्ञानप्रकाशमात्र ही रहा होता और शरीरका सम्बन्ध न होता तो मुझे कोई आकुलता हो न था। लोग भूखके दुःखसे तड़फते है। यह भूख क्यो लगी है? शरीरका सम्बन्ध है, इसलिए लगी है। प्यास, ठन्ड गर्मीके राग आदिक सब वेदनायें क्यो होती है? शरीरका सम्बन्ध है इसलिए हुआ करती है। यहा तक कि किसी घटना के कारण अपमान सम्मान समझते है। अपमान समझकर दुःखी होना या नामवरी की चाहसे क्लेश होना आदिक सब दुःख क्यो होते हैं? शरीरका सम्बन्ध है और इस शरीरको निरखकर ऐसा मान रखा है कि यह मैं हू, इस बुद्धिसे फिर दुःख होने लगता है।

शरीरका जेलखाना और इसका बन्दी, देखिये ५६ वें छन्दके एक प्रवचनांशमें, पृ० १६–बन्दीगृह का बन्दी–यह शरीर रूपी जेलखाना दुष्ट कार्यरूपी वेरियो से रचा है और इसमे बन्धा हुआ जो यह जीव है इस जीवको जकड रखा है आयुकर्म की बेडी ने। यह जीव शरीरमे बद्ध है, पर यह कब तक यहा बन्धा रहेगा? उसका विशेष बन्धन आयुकर्म ने किया है। जितनी आयु होगी उतने समय तक शरीरमे रुका रहेगा। लोकमे जेलखाना दुःखका कारण है। जेलखानेकी और देहकी उपमा देखो। करीब करीब बराबर की मिलती हैं। यह जेलखाना मिट्टी पत्थर से बनाया गया है। तो यह शरीर हड्डियोसे घडा गया है। वह जेलखाना बन्धनसे मेडा गया है तो यह शरीर नसो से मेडा गया है। जेलखाना सीमेन्ट पलस्तर आदिक जो कुछ भी हो उनसे आच्छादित है और यह शरीर चमसे आच्छादित है। यह रुधिर मास करके लीपा गया है। शरीर दुष्ट वेरियो से रचा है। वायु रूपी बेडी से सहित है, बन्दीगृहसे कौन बुद्धिमान प्रीति करेगा? तू मोहमे पगा है। ऐसे शरीर रूप बन्दीगृहमे भी तू प्रीति करता है, इस से प्रीति करना उचित नही है।

प्रभुपूजा करते हुए मैं अपने लिए क्या शिक्षा लेता है, पढ़िये–पृ० ३१- प्रभुपूजनमे आत्मशिक्षण–हम भगवानकी पूजा और वंदना करने रोज जाते हैं वहा यही सबक तो सीखते हैं कि यह प्रभु तब सुखी हुए है जब सबसे न्यारे केवल अकेले रह गये हैं। जब तक ये भी घरमे थे, राग द्वेषमे थे तब तक इन्हे सत्पथ नही मिला था। ससारी जनोकी भाति ये भी कष्टमे थे। प्रभु का कष्ट कैसे मिटा कि उनके अनन्तज्ञान प्रकट हुआ, इसका मूल उपाय उन्होने यह किया कि सबविभाव कर्मो व सर्व परपदार्थो से भिन्न केवल शुद्ध ज्योतिमात्र अपने को देखा। जिस उपायसे चलकर ये प्रभु हुए हैं वही उपाय हम आप को भी करना चाहिए।

देखिये मोही प्राणी आत्मदेवपर क्या अन्याय कर रहे हैं, ६२ वे छन्दका एक प्रवचनांश–पृ० ३८–आत्म–देवपर अन्याय–अहो, कितना अनर्थ किया जा रहा है मोहमे अपने आपपर? यह मैं हू प्रभुके स्वरूपके समान ज्ञानानन्दस्वरूप वाला और जिस प्रकार प्रभु ज्ञानसे समस्त लोकालोकको जानते हैं और आनन्द शुद्ध विकाससे शाश्वत आनन्दमग्न रहते हैं-ऐसे ही सबको जानने का और परिपूर्ण आनन्द पानेका हमारा स्वरूप है, लेकिन इस ओर दृष्टि कहा है? इसका तो यह बाहर स्थित मलिन मनुष्योका समूह ही देवता बन रहा है। लोग कहते हैं कि भगवानको प्रसन्न करना यही धर्म है, बजाय इसके यह मोही

मानव समाजको प्रसन्न करनेमे जुटा हुआ है। इसकी दृष्टिमे महान कहलाऊ, इस प्रकार अपनी महत्ता स्थापित करनेके लिए यह धन जोडा जा रहा है। अरे यह जीवन धन सचय के लिए नही, किन्तु धर्म पालन के लिए है। जो चीज अनादिकालसे अभी तक नही प्राप्त हुई ऐसे अपूर्व तत्त्वको पानेके लिए अपना जीवन लगाओ। इसके अतिरिक्त अन्य कार्यों के लिए अपनी जिन्दगी न समझे।

अमीर और गरीबको पहचान लीजिये, ६३ वें छन्द के क प्रवचनाशमे, पृ० ४१–अमीर और गरीब–यहा तो अमीर वह है जो अपनेको अकिंचन मान रहा है अन्तरगमे, मेरा जगतमे कही कुछ नहीं है। मेरा तो मात्र मैं ही स्वय हू। ऐसा जो मानता है वह है अमीर। और जोकिसी परवस्तुके कारण अपने आपको विशिष्ट मानता है–मेरे इतना वैभव है, मेरे इतना परिवार है. जो परवस्तुके सम्पर्क से अपने को बडा मानता है वह है गरीब, क्योंकि परवस्तुमे अहकार बुद्धि होने से नियमसे उसे कष्ट होना और जो परवस्तुसे विविक्त अपने आपके स्वरूपको निरखते है, उन्हे किसी भी स्थितिमे कष्ट नही हो सकता है।

आत्म ज्ञानके बिना व्यवहारधर्म भी कितने ही करते जायें, वहा भी पराधीनता का अनुभव है, अत आत्मज्ञानके लिए यत्न करिये, पढिये ६६ वे छन्दका एक प्रवचनाश पृ० ६१ आत्मज्ञान बिना व्यवहारधर्म मे भी पराधीनता–जो पुरुष धर्मकी भी धुन रखते हैं, वहा भी परखिये अनेक प्रकार की पराधीनतायें हैं। उन आधीनताओमे कभी कभी मन व्यग्र हो जाता है। जैसे कोई पर्व के दिन आते हैं दशलक्षणी आदि के तो पूजा करने को बडा तांता और विस्तार लग जाता है। उन दिनोका कोलाहल तो देखो कई कई बार प्रसग प्रसग मे क्रोध आता रहता है। अभी तुमने यह नही किया, यह यहा खडे होगे, तुम यहा क्यो खडे हो, अभी तक पुजारी नही आया, अभी द्रव्य नही धोये, अभी प्रच्छाल नही हुआ कितनी ही प्रकार की आधीनतायें आती हैं। यह जीव इन आधीनताओसे कषाय करता रहता है। अरे उन सब प्रसगो मे करने का काम तो इतना ही था कि कषायरहित ज्ञानस्वरूप अपने आत्माका अनुभव करना। उन सब धर्मो मे, उन सब परिश्रमोमे मूलभूत प्रयोजन इतना मात्र है कि मैं अपने को निष्कषाय ज्ञानमात्र अनुभव करलू। जो इतने तप व्रत आदिक किये जाते है वहा भी ऐसा घटा लेना कि कल्पना से माना हुआ धर्मप्रसग का भी व्यवहार सुख पराधीन है। और, एक निज शुद्ध ज्ञानस्वभावकी दृष्टि कर के पाया जाने वाला यह आनन्द स्वाधीन है। ऐसे रहते हुए यदि कोई कष्ट आये तो वह कष्ट भी भला है।

स्वाद अनुभवदृष्टिका अनुसारी है, इसका चित्रण ६६ वे छन्दके एक प्रवचनाशमे देखिये–पृ० ६८–६९: के अनुसार स्वाद–बादशाहने बीरबलसे कहा भरी सभामे कि बीरबल, मुझे आज ऐसा स्वप्न आया कि हम तुम दोनो घूमने जा रहे थे, तो रास्तेमे दो गड्ढे मिले–एक था शक्करका गड्ढा और एक था गोबर का। तो हम तो गिर गये शक्कर के गड्ढे मे और तुम गिर गये गोबर के गड्ढे मे। तो बीरबलने कहा, हुजूर हमने भी आज ऐसा ही स्वप्न देखा, आप तो गिर गये शक्कर के गड्ढे मे और हम गिर गये गोबर विष्टाके गड्ढे मे, पर इससे आगे थोडा और देखा कि हम आपको चाट रहे थे और आप हमको चाट रहे थे। अब बताओ बीरबलने क्या चाटा ? शक्कर, और बादशाह ने क्या चाटा ? गोबर विष्टा। ऐसे ही गृहस्थ आज फसा हुआ है, लेकिन यदि उसकी दृष्टि साधुता की ओर है, मोक्षमार्ग के लिए है, अपने आपके आकिन्चन्यस्वरूपकी समृद्धिकी ओर है तो स्वाद तो उसे अनाकुलताका ही आ रहा है।

अज्ञानका हठ बेइलाज है, पढ़िये ८१ वें छन्दका एक प्रवचनांश—पृ० १४१-बेइलाज अज्ञानहट—अज्ञानी जन कल्पनामे ऐसो हठ करते हैं कि जिस हठको निभादेना बहुत कठिन लगता है, बतलाओ कोई बच्चा कहे कि हमे हाथी ला दो। सामने हाथी खड़ा कर दिया गया, फिर कहा कि मुझे हाथी खरीद दो। लो उसके बाडेमे हाथी खडा कर दिया गया, फिर कहा कि इस हाथीको मेरी जेबमे धर दो। अब बतलाओ ए। हठका क्या इलाज किया जाय ? ऐसे ही हम आप अज्ञानीजन हट किया करते हैं कि हमारा ऐसा हो जाय, विवाह हो जाय, बच्चे हो जायें, ठीक है। कोई मरे नही, सदा सगमे रहें। अरे इन सब हटो का कौन पूरा करे ? मरण तो अवश्य होगा। ये सर्व समागम तो तेरे रुलाने के ही कारण हैं। इस बात को अपने हृदयमे लिखकर रखलो केवल एक स्वतत्र अपने शुद्ध स्वरूपका उपयोगमे समागम हो जाय वह तो सारभूत बात है, बाकी तो सारे समागम रुलाने के लिए है। इष्ट समागम अधिक रुलायेगा, खोटा समागम कम रुलायेगा। अच्छा समागम मिला तो पागल बनना पडेगा, बुरा समागम मिला तो कुछ भगवानकी याद भी रखता रहेगा। दुखी होगा तो वह भगवानकी याद भी रक्खेगा। अच्छे समागममे भगवानको याद रखना भी कठिन है। बुद्धि भी भ्रष्ट हो जाती है, पागलपन छा जाता है।

(१७६) आत्मानुशासन प्रवचन चतुर्थ भाग

इस पुस्तकमे आत्मानुशासन ग्रन्थके ८२ वें छन्दसे ११६ वें छन्द तक पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराजके प्रवचन है। ८२ वें छन्दके एक प्रवचनांशमे देखिये यह जीव कैसा गोल भटक रहा हैं। पृ० २—गोल-गोल भटकना—अहो, इस मोही जीवकी रात दिन को कैसी चर्या है। घूमघामकर वही जैसे कोल्हू का बैल उसी स्थान पर आ जाता है। जहा से गया वही आया। ऐसे ही अज्ञान की पट्टी आखो मे बन्धी है, इसेशुद्ध मार्ग नजरमे नही आ रहा है, गोलगोल अपनेको घुमारहा है, इस गतिसे गया उसगतिमे आया, उससे गया, उसमे आया। यह गोल गोल चक्कर चल रहा है, फिर उसके बाद तिर्यन्च का गोल है, और ऐसे इस असमानजातीय द्रव्यपर्यायके गोलमे चक्कर लगा रहा है, फिर एक एक पर्यायका भी बडा गोल है। जैसेआज मनुष्यपर्याय मिला तो मनुष्यका जीवन जितने समयका है उसमे भी यह गोल गोल घूम रहा है। और, तो जाने दो, चौबीस घन्टेका भी बडा गोल है। इसी समय आप कल शास्त्र सुनने आये थे, इसी समय पर आप कल शास्त्र सुनने आयेगे। आज जो दाल, रोटी, चावल खाया था वही कल भी खाया था, वही कल भी खायेंगे, उसी समय पर दुकान जायेंगे, उन ही कामोको उस ही समय पर आज भी करेंगे, जो कल किए थे। तो जब तक जिन्दा है तब तक वही वही चक्कर लगाता रहता है। कोल्हू के बैलकी नाई यह गोल गोल चक्कर लगा रहा है पर जैसे पट्टी बाधे हुए बैलको कुछ भी भान नही हो पाता कि मैं गोल गोल चक्कर लगा रहा हू, वह तो यही भ्रम किये हुए है कि मैं सीधा ही सीधा चल रहा हू, ऐसे ही इस अज्ञानी जीव को यह भान नही हो पाता है कि मैं गोल गोल चक्कर काट रहा हू। वह तो जानता है कि मैं रोज रोज नया नया, उन्नति का बढवारीका, सुखका काम कर रहा हू।

देखिये एक विचित्र पागलपनका ८५ वें छन्दके एक प्रवचनांशमे चित्रण—पृ० १८—खुदको जलानेकी उन्मत्तता—जैसे कोई बावला थोडी अग्निसे जल रहा है और उसमे ईन्धन डालकर अग्निको बढाये और बहुत जलने लगे तिस पर भी अपने को शीतल माने तो उसे आप कितना बावला कहेगे ? सो होती है बच्चों की ऐसी आदत कि वे आगको छूते है, मुट्ठीमे आगको पकड लेते हैं और जल जाते हैं। नादान बच्चा जलती हुई अग्निको पकड लेता है, उसमे भी बढकर है पागल पुरुष। कोई अग्निसे जल रहा है

और उसी मे ही ईन्धन डाल दे, आग ज्यादा जलने लगे तिस पर भी वह अपने को शीतल हुआ मानता है, ऐसे ही यह भ्रान्त आत्मा थोडी आशा की अग्नि से जल रहा है। उस मे धन वैभव का ईन्धन डाल कर आशा की अग्नि को बढाकर और ज्यादह जलने लगा। आश्चर्य की बात तो यह है कि उस ज्यादह जलती हुई स्थितिमे अपने को वह सुखी मान रहा है। परमार्थ से वह सुखी नही है।

विषयखाजका समाचार पढिये ६० वें छन्द के एक प्रवचनांशमे–पृ० ३६-विषयखाज–जैसे जिसको खाज हुई है, दाद हुई है, खुजाते समय तो उसे आगे पीछे का भी ध्यान नही रहता, वह उसमे बड़ा चन मानता है। जिनके दाद खाज होती है उनके गलेमे खूब बात उतर रही होगी। जैसे योगी लोग आत्म–ध्यान करके खूब प्रसन्न होते हैं ऐसे ही ददेला भी खुजलाते समय सब दुनिया को भूल जाता है। हाथ पैर को टन्नाकर सुख लूटा करता है। ठीक है, परन्तु उसके बाद यह रोग और बढ गया। उस रोगको मिटानेकी फिकर पडती है, ऐसे ही पचेन्द्रियके विषय और मनका विषय यह खाज है। इस खाजको खुजाते समय आगे पीछेका कोई ध्यान नही रहता। उस समय तो यहा सब कुछ सार नजर आता है। जब समय मरने का आता है तब मालूम होता है कि हमारा अतीत बिगड का समय कितना खोटा गुजरा। यो ही बनी बातका मूल्य बिगडे समयसे पूछो। पछतावा होता है कि जीवन यो न व्यतीत होता तो अच्छा था।

स्वनिधिका परिचय जिसे नही वह तो दरिद्र ही है, पढिये ६७ वें छन्दका एक प्रवचनांश–पृ० ७१–स्वनिधिके अपरिचयकी दरिद्रता–अपने ही घरमे गडा हुआ धन यदि विदित नही है तो वह तो गरीबी ही अनुभव करेगा और कदाचित यह विदित हो जाय कि मेरे घरमे इस जगह बहुत बडी निधि गडी है तो अभी मिलनेमे देर है, लेकिन उस निधिका परिचय होते ही अन्तरगमे एक ठसक सी आ जाती है, एक बडप्पन सा अनुभव होने लगता है। जब तक इस जीवको अपने आपमे बसी हुई ज्ञान और आनन्द की निधिका परिचय नही होता है तब तक यह गरीब है। यह बाह्य पदार्थो मे आशा करके दुःखी होता रहता है। आश्चर्य इस बात का है कि दुःखी भी होते जाते और उस ही दुःखको पसन्द भी करते जाते है। यह सब मोह की लीला है जैसे घरमे कभी बडी कलह हो जाय और अनेक प्रतिकूलतायें हो जायें तो यह पुरुष चाहता है, ऊब करके कहता है कि इस घरसे तो जगलमे रहना भला है। अब इस घरमे मैं न रहूगा, और फिर रहना वह घर मे ही है। चाहे कितनी ही विपदा आ जाय। यह सब क्या है? एक व्यामोह है। अच्छा तो घर छोडकर कहा जाय? सुख शान्ति ज्ञान पर आधारित है। वह ज्ञान तो बसाया नही, उस वस्तु की स्वतन्त्रता का तो दृढ निर्णय किया नही ऐसे ही धर्मव्यवहार क्रियाओ का करके यह मन कहा तक स्थिर रह सकेगा? कहा जायगा? इस जीव को बडी विचित्र दशायें है।

तीन लोकका राजा बनना है तो एक यत्न देखिये ११० वें छन्द के एक प्रवचनांशमे–पृ० १२३–त्रिलोकाधिपतित्वका यत्न–हे आत्महितार्थी पुरुष तू अपनी ऐसी ही भावना कर, मैं अकिंचन हूं, मैं अकेला हू, मेरा कही कुछ नही है। देख यह तेरे घर का एक मन्त्र है। अपने आत्मा भगवान से मिलने का उपाय है। तू बार बार ऐसी सत्य भावना तो कर कि मैं अकिंचन हू, अकेला हू मेरा कही कुछ नही है। मैं सबसे निराला हू। इसकी बडे योग उपयोग से अपने आपमे खोज तो कर। स्वतः ही एक ऐसा अपूर्व आनन्द उत्पन्न होगा, आल्हाद होगा, जिसके प्रताप से तू सहज आनन्द मे तृप्त हो जायगा। तू धीरे से, सुन, गम्भीरतासे सुन,तुझे तेरे खास कानमे बात कही जा रही है। तू अपने आपको

अकिंचन मानकर सबसे निराले रूपसे ठहर तो जा, तू तीन लोक का अधिपति हो जायगा। इस प्रकार ज्ञानभावनाके लिए आचार्य देवने हम लोगोंको उपदेश दिया है। चाहे परिस्थिति कुछ हो, कर्तव्य कुछ हो, पर सच्ची श्रद्धामे दूर न भागो, मैं निबल ही हू, अकिंचन ही हू, ज्ञानमात्र ही हू, ऐसी अपनी श्रद्धा बना तो तू सकटोसे यथाशीघ्र पार हो जायगा।

आनन्दका स्रोत देखिये ११५ वें छन्दके एक प्रवचनाशमे, पृ० १८१—आनन्दका स्रोत—भैया, सुख कहा से आता है? ज्ञान जैसे बने तैसे सुख दु ख अथवा आनन्द प्रकट होता है। यह सब अपने ज्ञानके आधीन है। कोई इष्टवियोगरूप अपनी जानकारी बनाये, अनिष्टसयोगमे अपना उपयोग लगाये तो उसका दु खी होना प्राकृतिक है। कोईपुरुष इष्टवियोग अनिष्टसयोग पर ध्यान न देकर पायेहुए रमागमोमे मौज माने तो वह सुखी होगा। सुखी दु खी होना अपने ज्ञानके आधीन है। धन वैभवके आधीन नही है। कोई पुरुष धन वैभवसे सम्पन्न होकर भी एक अपना ज्ञान कषाययुक्त बनाये, भ्रम पूर्ण बनाये, तृष्णावान बनाये तो धनी होकर भी वह दु खी है। धनको तो बडे बडे तीर्थंकर चक्रवर्ती राजा महाराजा त्याग देते है। धनके त्याग करनेके बाद, निर्ग्रन्थ अवस्था स्वीकार करनेके बाद क्या उन्हें कोई कष्ट होता है? वे तो अपने ज्ञानकी उपासनासे आनन्दमे सदा मग्न रहा करते हैं और इस ज्ञानकी आराधना के प्रतापसे उनको मोक्ष प्राप्त होता है।

कष्ट सहिष्णु बने और अन्तस्तत्त्वकी उपासना करे, इसमे कल्याण है, पढिये ११६ वें छन्दका एक प्रवचनाश पृ० १८५—समरणके अभावमे आत्महित—समस्त ससार अवस्थाओका अभाव करना, इसमे ही हित है। कर्मोमे ही सारा ससार है। कर्मोमे ही इतना बडा क्लेश है। इस क्लेशको दूर करनेमे ही अपना हित है। ससार अवस्थाका अभाव तभी सम्भव है जबकि निर्विकार ज्ञानमात्र अपने आपके स्वरूपकी श्रद्धा बने। यहा ही रमण करनेका भाव बने। इस प्रकरणसे हमे यह शिक्षा लेनी है कि बाहरी बातोमे जो कुछ बीतती है बीतने दो। हम कष्टसहिष्णु बनकर यथार्थ ज्ञानी बनकर उन सब उपद्रवोको दूर कर सकते हैं। ऐसा जानकर उन कष्टोके बचावमे, उन कष्टोके दूर करनेके साधनकी कल्पनामे अपना समय न व्यतीत करे, किन्तु कष्टसहिष्णु बनकर उन सब उपद्रवोपर विजय प्राप्त करें, और अन्तरगमे ज्ञानानन्दस्वरूप मात्र आत्मतत्त्वकी दृष्टि रखकर अपने आपमे प्रसन्नता पावे। इसी विधिसे हम ससार के सकटोमे छूट सकते हैं।

(१७) आत्मानुशासन प्रवचन पचम भाग

इस पुस्तकमे आत्मानुशासन ग्रन्थके १२० वे छन्दसे १८६ वें छन्द तक पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराजके प्रवचन हैं। सयमी पुरुषको प्रकाश प्रधान होना चाहिए तभी वह प्रतापी हो सकता है, इसका सकेत पढिये १२० वें छन्दके एक प्रवचनाशमे, पृ० १—सयमीकी प्रकाशप्रधान होने की अनिवार्य—सयमी पुरुष पहिले प्रदीप की तरह प्रकाशप्रधान हुआ करता है, पीछे ताप और प्रकाशमे सूर्य की तरह देदीप्यमान होता है। शान्तिके लिए जिसने अपना भावात्मक कदम रखा है, सयम तप, व्रत, आचरणोमे जिसने अपनी परिणति की है वह पुरुष ज्ञानप्रधान होता है। पहिले उसे वस्तुस्वरूपका ठीक ठीक ज्ञान करके स्वयमे शुद्ध प्रकाशवाला बन जाना चाहिए, तब सयम ठीक कहलाता है। जब तक अपने लक्ष्य की पकड नही हो पाती है तब तक कुछ भी क्रिया करे, उन क्रियाओसे उस लक्ष्य की सिद्धि नही हो सकती है।

ज्ञानदीपसे कर्मकज्जलका वमन हो जाता है, पढिये १२१ वें छन्दके एक प्रवचनाशमे, पृ० ६—कर्मकज्जल का प्रोद्वमन—यह ज्ञानी पुरुष इन रागद्वेषादिक कर्मोका वमन करता हुआ दीपक की तरह स्वपर

प्रकाशक बन रहा है। जैसे वमन की हुई चीज फिर ग्रहण नही की जाती, किसी को कय हो जाय तो क्रय होनेके बाद पेट खाली हो जायगा। थोडी देरमे भूख लगने लगती है। तो उस ही कय को कौन खा लेता है? उस ओर तो कोई दृष्टि भी नही देता। उस कय को तो राखसे ढक दिया जाता है। जैसे वमन की हुई चीज फिरसे ग्रहण नही की जाती ऐसे ही ज्ञान द्वारा रागद्वेष सुख आदि विभावोका वमन कर दिया, यह मेरे नही हैं, मेरे से भिन्न है, विभाव है, औपाधिक भाव हैं, मेरे स्वरूप नही है, ऐसा ज्ञान करके अपने स्वरूपमे से निकाल दिया, वमन कर दिया तो अब यह ज्ञानी फिर से उन राग-द्वेपादिक विभावोको यह मेरा स्वरूप है, इस रूप ग्रहण नही करता है।

अज्ञानीका राग अहितकारी ही है अत अज्ञानभावको छोडा, इसको प्रेरणा पाइगे १२४ वें छन्दके एक प्रवचनाशमे, पृ० १६–अज्ञानीके रागका पतनमे सहयो.–ज्ञानीका राग तो सुवह की ललाई की तरह है, जैसे सुबह सूर्योदयसे आध घटा पहिले पूब दिशामे जो लालिमा होती है वह उत्थानके लिए होती है, किन्तु अज्ञानोका राग है सध्याकालकी ललाई को तरह। सध्याकालकी जो ललाई है उसमे कितने ऐब होते है। प्रकाशको समाप्त कर देती है। अन्धकार आगे छा जाता है और इस सूर्यको पातालमे भेज देती है। सूयके अस्त होनेका नाम पातालमे भेजना बनाया है। किसी पुरुपके किसी प्रकार की हानि हुई है और वह उसी बात पर अड जाय तो लोग कहते है कि भाई हम बहुत समझाते हैं नही समझते हो तो जावो गिरो कुवेंमे। उसका अर्थ यह नही है कि कहो पानी वाले कुवेंमे गिर पडे। इसका मतलब यह है कि हानि भोगो बरबाद होओ। तो यो ही सूय पाताल तल का प्राप्त होता है, इसका अथ है कि यह सूर्य अस्तको प्राप्त होता है। उस सध्याकी ललाईमे इतने ऐब है कि प्रकाशको मिटाकर अन्धकार आगे ला दे और सूर्यको भो रसातल भेज दे। ऐसे ही अज्ञानीका राग ज्ञानको मेटता है। अज्ञानको बढाता है। वह जीवको बरबाद कर देता है।

कल्याणार्थी जनो, आत्महित चाहो तो स्त्री स्नेहसे दूर रहो, आत्मस्नेह करो, इनकी प्रेरणा पाइये १२६ वें छन्दके एक प्रवचनाशमे पृ० २६–साधुओको स्त्रियोसे दूर रहनेकी चेतावनी–साधुजनोको स्त्रियोसे अति दूर रहने को चेतावनी देते हुए आचार्य महोदय कह रहे हैं कि जैसे सुन्दर सरोवरमे कोई प्यासा अपनी प्यास बुझाने जाय और तटपर पहुचते ही उसे मगर आदिक कोई क्रूर जलचर जीव उसे गुप्त ले तो जैसे उसने चाहा तो था तृषा शान्त करके विश्रामका पाना, किन्तु हो गया प्राणघात। इसी प्रकार कोई निबुद्धि पुरुष बाह्यमे रमणीय स्त्रीके निकट जाता है तो वेदना मिटाने, सुख पाने, किन्तु वहा विषय-वेदनामे विह्वल होकर अपना होश खो देता है व पापग्राहसे गुप्त हो जाता है। इसके परिणाममे एके-न्द्रिक आदिक पर्यायोमे उत्पन्न होकर चिरकाल तक दु ख सहता है।

साधुवोकी सवारी,भोजन व कुटुम्ब वास्तविक परखिये १५१ वें छन्दके एक प्रवचनाशमे–पृ० ७१–साधुवो की भोजन व सवारी-सवारो साधुवाकी आकाश है। किसो भो समय यह समस्या नही आती कि हमारे पास सवारी हो नही है, कैसे चल, अरे सब जगह सवारी तैयार है। कौन सो? आकाश। इसे कौन हटा लेगा? इष्ट भोजन है साधुका आन्तरिक तपश्चरण। अन्तस्तत्त्व करके ज्ञानमरुचि करके जो साधु को तपस्याका भाजन मिल रहा है उससे ता वह वडा तृप्त रहता है। भोजन का काम क्या है। तृप्ति करदे। भोजनसे वह तृप्ति नही होती जो स्थाई रह सके या स्वाधीन हो, पर अपने चैतन्य स्वभावमे अपने आपके उपयोगमे तपानेके तपश्चरणमे जो सन्तोष और तृप्ति होती हैं वह उससे कई गुणा भी क्या? अद्भुत विलक्षण ही होती है। तो हे साधु तेरा भोजन है तपश्चरण। और, देख स्त्री, पुत्र आदिक कुटुम्बीजन ये सब तेरे है गुण। जो तेरे मे गुण है, क्षमा, सरलता, मार्दव आदिक जो मुझने

गुण हैं, ज्ञान दर्शनकी शुद्ध वृत्ति ये सब तेरे स्त्री आदिक परिजन है।

सुखी होना है तब दृष्टि बदल लीजिये, कैसी ? पढ़िये १६२ वे छन्दका एक प्रवचनाश–पृ० ६८–दृष्टि–परिवर्तन–यो इस श्लोकमे यह शिक्षा दी है कि दु खोसे छूटना चाहते हो तो अपनी दृष्टि बदल दो। अब तक घनको ही सर्वस्व मानने का परिणाम रहा था, तो अब आकिञ्चन्य पर–विविक्त शुद्धस्वरूपमे तू अपना हित मान ले। अब तक प्राणोमे प्रेम करके, प्राणोके धारणसे अपनेको सुखी मानता था तो अब इन इन्द्रिय आदिक प्राणोको अपना विघातक जानकर इन प्राणोसे सदाके लिए छूट जायें ऐसी स्थितिमे अपनेको सुखी मान।

हम क्या किया करते है ? ज्ञान (जानन), उसका फल हम क्या चाहे, इसका निर्णय कीजिये तो सही। पढ़िये १७५ वें छन्दका एक प्रवचनाश–पृ० १२१–ज्ञानका वास्तविक फल–किसी भी काम करनेका कुछ न कुछ फल माना जाता है। बिना फलके कोई कुछ करना ही नहा चाहता। आखिर इसमे लाभ क्या मिलेगा, यह दृष्टिमे न हो तो कौन क्या काम करता है ? यह आत्मा निरन्तर जानता रहता है। इस का जाननेका लगातार काम लगा हुआ है। किसी भी क्षण यह जानने से विराम नही लेता। तो यो जानते रहने मे आखिर फल क्या मिलता है ? आचार्य देव बोलते हैं कि ज्ञानमे तो यही प्रशसनीय फल है, अविनश्वरफल है कि ज्ञान बने। जाननेके फलमे जानना रहे यही उत्तम अविनश्वर फल है। जानन फलमे कुछ ज्ञानमे न लावे। अन्य कुछ ज्ञानका फल चाहे तो यह सब मोहका माहात्म्य है। सीधे सादे शब्दोमे यह कह लो कि जानने के फलमे जानना रहे, यही उत्कृष्ट फल है।

मोहका फोडा मेटनेका यत्न देखिये १८३ वें छन्दके एक प्रवचनाशमे, पृ० १३५–मोहावरणके समाप्त करनेका उपाय–अब जसे गूमडा घाव बडा फोडा हो गया है तो उसे शुद्ध करनेका निर्दोष अग बना लेने का क्या उपाय है ? वह फोडा कैसे मिटे ? घाव कैसे ठीक हो ? तो उस उपायमे आप दो काम ही तो करेंगे–फोडेमे जो पीप खून आदि भरे हुए है उन्हे निकाल दें और उस पर तेल घी आदिक का लेप कर दे, घावकी पीडा मिटानेके लिए दो काम किए जाते हैं–त्याग और ग्रहण कहो, जाति कहो, इसी प्रकार इस मोहका विनाश करनेके लिए दो काम किये जायेंगे–परद्रव्योका त्याग, परद्रव्य सम्बन्धी विकल्पका त्याग और अपने स्वभावका उपयोग। निज जातिका ग्रहण। यो त्याग और ग्रहण द्वारा इस मोहका भी अभाव होता है। तो जब फोडा ठीक हो जाता है तो उस पर चमडा और रोम प्रकट होने लगते हैं। नया स्थायी चमडा आ जाय और उसमे से रोम प्रकट होने लगें तो समझिये अब फोडा बिल्कुल ठीक हो गया है और जैसी स्थिति थी शरीरकी स्वभावत वह स्थिति आ गई। इसी तरह जब मोह विनष्ट होता है तब इसमे सम्यक्त्वरूपी रोये उत्पन्न होते हैं तब समझ लीजिये कि मोहका फोडा ठीक हो गया, समाप्त हो गया।

(१९८) आत्मानुशासन प्रवचन षष्ठ भाग

इस पुस्तकमे आत्मानुशासन ग्रन्थके १८७ वें छन्दसे २७० वें छन्द तक पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराजके प्रवचन हैं। शान्तिसे शान्तिकी सतति व अशान्तिसे अशातिकी सतति चलती है, अत दोनो लोकोमे शान्ति चाहने वाले अभीसे शान्तिका यत्न करें, इसका सकेत पढ़िये १८७ वें छन्दके एक प्रवचनाशमे, पृ० ३–शान्ति व अशान्तिकी सतति–जिसके यहा अशान्ति है उसके अशान्ति की धारा बह जायगी, अगले लोकमे भी अशान्त रहेगा, जिसके यहा शान्ति है उसकी सतति भी चलेगी, वह आगे भी शान्त रहेगा, विषयसुख सुख नही कहलाते। जहा तृष्णा है वहा क्लेश ही है। वह तो दु ख ही है। दु खका फल दु ख है। किन्ही

के विषयसुखोकी सामग्री अधिक है, तृष्णा थोडी है, नही के बराबर है तो वह वहां सुखी रह सकता है। एक पुरुषोके विषयसाधन कुछ भी नही है, किन्तु उनके तृष्णा बनी है, उनमे चित्त बना तो वे दु.खी रहा करते है। इसलिए विषयसुख सुख नही है, उसकी बात यहा नही कही जा रही है। जो वास्तविक सुखी है वह भावी काल मे भी सुख पायेगा और जो दु.खी है वह भावी काल मे भी दु ख पायगा।

दुनियाको रिझानेके आशयकी मूढता पढिये १६० वे छन्दके एक प्रवचनाशमे पृ० १०–दुनियाको रिझाने का आशय–देखो शरीर बल वाले दूसरोको अपनी बलवत्ता जाहिर करानेके लिए पूरा बल लगाकर बलसे भी अधिक काम करके दिखाना चाहते हैं। लोग जान जाये कि यह बहुत बलशाली है, ऐसा ही जिन्हे दुनियाको अपना ज्ञानीपन जाहिर करना है, लोगोसे ज्ञानीपनकी प्रशसा चाहते हैं तो पूरा बल लगाकर सस्कृतकी प्राकृतकी और और भाषाओकी झडी लगा देते हैं। चाहे श्रोताओकी समझमे कुछ आये चाहे न आये यह इसलिए करते हैं कि जिससे लोग जान जाये कि यह विद्वान है, यह सब क्या है ? चदनकी लकडीको जलाकर उसकी राख बनाकर काममे लेने की तरह है। यदि ज्ञान पाकर तपश्चरण करके उसके फलमे ख्याति पूजा लाभ की चाह करता है सो यह तो तेरे अनर्थ की बात है। तू यदि ऐसा करता है तो तू अभी लोभकी पक्तिमे ही बैठा हुआ है। अलौकिकता कुछ नही आयी और ऐसी स्थितिमे शरीरका शोषण किया वह भी व्यर्थ। लाभ भी न मिला और जीवन भर शरीरको भी सुखाया, उनकी गति तो दयनीय है।

देहकी भयानकताका वृत्त पढिये–१६४ वें छन्दके एक प्रवचनाशसे पृ० १७–देहकी भयानकता–देखो भैया, ऊपर की थोडी सी चिकनाई और चाम भी कुछ सजे हुए मालूम देते है। तू इस चामको नजरसे ओझल करके इसके अन्दर जो कुछ है उसकी तो कल्पना कर। जसे मरघटमे मुर्दे की खोपडी पडी रहती है शायद कभी देखा हो, यह विजलीके खम्भोमे जहा पर डेन्जर अथवा सावधान लिखा रहता है वहा पर खोपडी को फोटो टगी रहती है, उसे देखा होगा त वह कितनी भयानक सी लगती है। हड्डी निकली, आखो की जगह दो गड्ढे से, नाक की जगह तो बिल्कुल बेढंगा सा दीखता है। वही चीज तो इस जिन्दा हालतमे है। कोई नई बात नही है। जो रूप, जो आकार, जो ढग उस मुर्दे की खोपडीमे है वही की वही चीज जिन्दा मनुष्यकी खोपडीमे है। जिस शरीरने तुझे कष्टका कारण बनाया उसी शरीरसे तू प्रीति करता है। अरे जिन्दा रहनेके लिए कुछ खा लिया जाता है, वह तो ऊधम नही है, पर यह अपने भीतर की ईमानदारी है, कहासे क्या होता है।

यदि क्षोभ नही चाहते हो तो केवल स्वरूपदृष्टिका यत्न करो, इसकी प्रेरणा लीजिये न० २०४ छन्दके एक प्रवचनाशमे, पृ० ३१–स्वरूपकी सम्हालमे क्षोभका अभाव–अब अपने लिए इतनी बातका तो यहा ही अदाज करलो आपकी कोई निन्दा करे गाली दे और आप कुछ अपनी ज्ञान दृष्टिके निकट वैठ रहे हो, कुछ ज्ञानकी बात समायी हुई हो तो आपको खेद नही होता, या अधिक नही होता और जब अपने आपके ज्ञानसे चिगकर इस मूर्त शरीरपर दृष्टि जायगी तो वहा आपको खेद होगा। बडी विह्वलता हो जायगी। साधुजन ज्ञानदृष्टिमे निरत रहा करते है, उन्हे उपसर्ग और रोग आदिकसे किसी कारण खेद नही होता। जैसे नदीमे कितना ही जल चढ जाय, पर जो मजबूत नाव पर बैठा होगा उसे रच भी क्षोभ न होगा, अधीर न होगा, ऐसे ही जो अपने मजबूत स्वरूप दुर्गमे बैठा होगा उसके भी कोई क्षोभ नही आ सकता।

अज्ञानी तो दु खमे ही सुख मान रहा है, वास्तविक सुखका तो नाम भी नही मालूम है, इसका चित्रण देखिये न० २०६ छन्दके एक प्रवचनाशमे, पृ० ३२–दु खमे भी अज्ञानी की सुखमान्यता–जैसे कोई लकडहारा

सिर पर लकडियो का बोझ लादे चले जा रहा है। बोझ के मारे उसका सिर दर्द करने लगे तो सिर से भार उठा कर कधे पर रख लेता है। और कधे पर वह गट्ठा रख कर अपने आपको सुखी अनुभव करता है, इस ही प्रकार यह अज्ञानी जोव शरीर मे रोग नष्ट होने से अपने को सुखी मानते हैं पर यह नही देखते कि शरीर का सम्बन्ध होना, मिलना यह स्वयं एक महा रोग है। किसी भी प्रकार की कोई इन्द्रिय सम्बधी बाधा दूर हुई तो उसमे यह जीव अपने को सुखी मानता है। पर यह वह नही जानता कि हम तो वेदनाओ के वनमे गुजर रहे हैं। एक वेदना हटी कि दूसरी वेदना तैयार है। यो हजारो वेदनाये एक पर एक आती रहती हैं। वहा देखा जाय तो जैसे लकडी का बोझ सिर से उतार कर कधे पर रख लेने से उसका भार दूर नही हुआ ऐसे ही जगतके जीवोंका कोई रोग मिटे या कोई वेदना शान्त हो तो उससे वेदनाओका भार तो नही हटा। वेदनाये तो अभी ज्यो का त्यो हैं, पर यह मोही जीव कभी कभी अपनी कल्पना के अनुसार कुछ वैभव पाकर अपने को सुखी मानते हैं। वस्तुत यह सुखी नही है। सुख तो तब है जब शरीरका विभावोका, कर्मो का अभाव हो और कैवल्य अवस्था प्रकट हो तो उसमे ही शान्ति है, अन्यत्र शान्ति मानना मूढता है।

भेदविज्ञानका परीक्षण कैसे होगा देखिये न० २४३ छन्दके एक प्रवचनांशमें पृ० ९१—कठिन परीक्षण—भैया, कितनी तीव्र श्रद्धा चाहिए इस बात पर टिकनेके लिए कि यह देह जुदा है और मैं जुदा हू। कह लेना तो आसान है, और चू कि ऐसा कहनेसे भला जचता है सो दिलका बहलाना भी है, किन्तु इसी प्रकार का प्रयोग बने कि देह जुदा और मैं जुदा हू यह बात सम्यग्दृष्टि पुरुषके ही सम्भव है। सम्यग्दृष्टि कुछ जुदे लोग नही है। जैसा मेरा स्वरूप है वैसा ही उनका स्वरूप है। यह सत्य प्रकाश चाहिए। सत्व विज्ञान चाहिए, सम्यक्त्व हो जाता है।

परदोषके कहनेमे दोषोका पोषण होता रहता है इसमें आत्महित नही है, देखिये न० २४९ छन्दके एक प्रवचनांशमे, पृ० ९९—परदोषवादसे दोषोका पोषण—देखो तो मूढता कि अपने दोषोको अवगुणोको मूलसे नष्ट करनेके लिए तो उद्यमी बनें। बडो दुर्लभ तपस्याये धारण करते हुए अज्ञानी बनकर एक व्यर्थका दोष ऐसा बना लिया है कि जिससे उन्ही दोषोका पोषण हो रहा है। वे दोष क्या हैं ? दूसरोके दोषोके बोलनेमे मजा लेना। आचार्य देव कैसा छाट छाटकर सफाया करनेका यत्न कर रहे हैं। होता है ना किन्ही बडे बडे तपस्वी जनोमे यह महत्वसे सम्बन्धित ऐब। ऐसी दुर्धर तपस्या करलें, बडा सयम पाल ले, निरारम्भ, निस्परिग्रह सब कुछ वृत्तिया धारण करले, लेकिन एक ठलुवा बैठे कभी भी किसीका दोष कहने मे दिल चस्पी ले ले तो इतने मात्रमे करी करायी वह सारी तपस्या मिट्टी मे मिला दी। जैसे कहते हैं ना—गुड गोबर एक कर दिया। भैया, दुधर सयम पालन करके एक परदोषवादकी बातको किये बिना कुछ अटक थी क्या ? कुछ नुकसान था क्या ? जो दूसरोंके दोषो की कथा न करते, एक व्यर्थ सी बात का बडे से बडा झमेला खडा कर दिया, जिसे कहते हैं-गुणोपर पानी फेर दिया, गुणोका विकास करनेके लिए कर्ममलोको नष्ट करनेके लिए तपस्या किया, परदोषपवादके ऐब से उन कममलो को बहुत दृढ बना दिया।

प्रमुक्त गुणार्चन व नामार्चन की विधान देखिये—२६५ छन्दके एक प्रवचनांशमे, पृ० १२८—गुणार्चन और नामार्चन—जैन दर्शनमे किसी नामकी पूजा नही है, गुणोकी पूजा है। भगवान का भी नाम नही है, पर जिस नाम द्वारा व्यवहृत देहमे विराजमान आत्मा ज्ञानमय होकर केवली हो गया, व्यवहारमे वहा भगवानका नाम लेते हैं, अथवा जैसे एक ही चीज का खेल चाहे तामका हो खेल समझलो तो उसमे कठिन भी खेल होते हैं और सरल भी खेल होते है। कठिन पद्धतिके खेल जिनसे नही बनते वे सरल

पद्धतिके खेल खेलते है। उलटा डाल दिया, उलट दिया, खोल दिया, रंग मिल गया, लो जीत गये, न मिला लो हार गये। बताओ ऐसे खेलमे कुछ विशेष बुद्धि भी लगती है क्या ? जो कठिन खेल जानते हैं वे उस पद्धतिका खेल खेलते हैं ऐसे ही ज्ञानकी उपासनामे जो एक अपने आत्मामे आत्मज्ञान विहारका कौतूहल है उस ज्ञानविहारके कार्यक्रममें जो तत्त्वज्ञानी ममज्ञ पुरुष है वे स्वभावदृष्टि करके निश्चयदृष्टि करके ज्ञानके शुद्धस्वरूपको निहारकर उस ज्ञानमे रमा करते हैं। पर यही ज्ञानी पुरुष इतना अधिक काम करके थक जाय तो भगवानका नाम लेकर चारित्रके गुणोका ज्ञान करके अपने ज्ञानमे ज्ञानविहार को करते हैं। अथवा जो अपनी अद्भुत महिमामे प्रवेश नही कर पाये है वे पुरुष प्रभुका नाम लेकर चारित्र गाकर गुणानुवाद करके इस ज्ञानमे विहार करते हैं।

(१७८) समाधितन्त्र प्रवचन प्रथम भाग

इस पुस्तकमे पूज्य पाद स्वामी द्वारा प्रणीत समाधितन्त्र ग्रन्थके २७ वे श्लोक पर पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराजके प्रवचन है। इसके मगलाचरणके एक प्रवचनांशमे मगलाचरणके शब्दोमे ज्ञान, माग व भक्ति तीनोका प्रकाश बताकर बताया है कि ज्ञानदृष्टि ही सकल सकटमोचनी बूटी है। पृ० ५—सकलसकटमोचनी बूटो ज्ञानदृष्टि सच जानो भैया, अपने ज्ञानका स्वरूप अपने ज्ञानमे जिस समय आये उस समय इसके सकट नही रहते। उपेक्षारूप धर्ममे वह सामर्थ्य है। जरा करके ही देख लो। किसीसे राग बढ़ा था, पहिले दु खी हो रहा था, कोई घटना ऐसी हो गयी कि सोच लिया कि जाने दो। जो कुछ हो सो हो, क्या मतलब ? उपेक्षा की कि सकट उसके हल्के हो जाते हैं। यदि ज्ञानस्वरूप ज्ञानमे आये, वहा परम उपेक्षा रहती है। उस स्थितिके आनन्दको कौन बता सकता है ? उस ज्ञानस्वरूपके ज्ञान बिना शान्तिके लिए अन्य समस्त भी यत्न कर डाल, धमके नाम पर ही सही बडा तप, बडा व्रत, बडा भेद बडा चीजें भी कर डालें पर शान्ति आनन्द और कर्मक्षय का साधन तो शरीरकी चेष्टा नही है किन्तु ज्ञानस्वरूप को दृष्टि बने यही है उन सब हितोका साधन। वह ही एक छोड दिया जाये, उसका ही ताखमें धर दिया जाय और अनेक श्रम किये जाय तो उन श्रमोसे सिद्धि नही होती है।

समाधिसे बहिर्भूत बहिरात्माकी ममताका एक चित्रण दखिये श्लोक न० ९ के एक प्रवचनांशमे, पृ० ४०- बाहरी ममता—देखो भैया, कैसी ममता है, बूढे भी हो जायें, कपोल भी सूख जाये, हड्डी भी निकल आये, फिर भी अपना यह शरीर ही प्रिय लगता है। एक तो शरीर की वेदना नही सही जाय यह बात अलग है और शरीरमे ही आपा समझकर उसमे प्रीति बुद्धि की जाय, यह बात जुदा है, जैसे कोयलाको कितना ही घिसा, निकलेगा काला ही। साबुन लगा दो तो कोयला सफेद नही हो जायेगा, ऐसे ही शरीर है। कितना ही इसे सजाओ, कितना ही साफ करलो, इसमे असार ही असार बात निकलेगी। अपवित्र गदी गदा ही धातु उपधातुवे निकलेगी, किन्तु वाह रे मोह की लीला कि इस निज सहजस्वरूप को तो यह आत्मा भूल जाता है और देह की सार सवस्व है ऐसा मानने लगता है।

१२ वे श्लोकके एक प्रवचनांश मे बताया है कि मनुष्य देह तो वैराग्यके लिए मिला, किन्तु मोही इसका कैसा दुरुपयोग करता है। पृ० ५८—असार देहके लाभका प्रयोजन वैराग्य—देख लो मनुष्य देहमे कही कुछ भी सार बात नही नजर आता। ऊपर पसीना है, रोम है, चमड़ा है, और जरा नीचे चलो, खून है, मास है, मज्जा है, हड्डी है और भीतरकी धातु उपधातुवे हैं, जो जैसे कहते है कि ये केलेके पेड़मे सार-भूत बात कुछ नही है। पत्तोको छीलते जावो, पूरी तरह से, तो वहा पेड पत्ता कुछ न मिलेगा। वे ही पत्ते जो ऊपर निकले हैं वे नीचे तक सम्बन्ध रखे रहते हैं। केलामे कोई सार नही मिलता। फिर भी इस मनुष्यदेहसे स्थावर की देह अच्छी है। वनस्पतियो के देह अच्छे हैं। ये का ादा ाना आदि तो

कुछ काम आते हैं, पवित्र हैं, ठोस हैं, पर मनुष्यके देहमे क्या तत्त्व रखा है ? गदगी गदगी से भरा है। सो मानो यह गदा देह विरक्त होनेके लिए मिला है। पर यह मनुष्य मोहमे आकर विरक्त होनेकी बात तो दूर जाने दो, कलाओ सहित साहित्यिक ढगसे वचनोकी लीलासे नहे एक अनोखे ढगसे प्रेम और मोह बढाता है।

देहमे आत्मबुद्धि करके नशेका विस्तार तो देखिये—१४ वें श्लोकका एक प्रवचनांश—पृ० ६६—देहात्मबुद्धि के नशेका विस्तार—भैया मोहमे कितनी कल्पना होती है, कैसा कषायभाव होता है, स्त्रीसे कितना बडप्पन माना है, कभी यात्रामे जाते हैं ना आप लोग स्त्री समेत, तो रेलगाडीसे जब उतरते हो तो कुली की तरह तुम लद। हो कि तुम्हारी स्त्री ? विस्तर पेटी तुम्ही तो लादते हो और स्त्री बडी शान शौकत से चलेगी। हाथमे बटुवा लेकर ऊची एडी की चप्पल पहिनकर, इसमें ही पुरुष अपनेमे बडप्पन महसूस करते हैं। कोई यार दोस्त मिल जाय बात करनेको और वह जान जाय कि इनकी बेगम बहुत शानसे और बहुत ढगसे रहती है, इसमें ही खुश हो रहे हैं। इन परिजनके कारण यह बहिरात्मा अपने आपको बडा मानता है और न भी कुछ कहे, न बडाई करे, न रग ढग दिखावे तो मनमें तो उस सब कुटुम्बका चित्रण बना ही रहता है। और शायद भगवानके दर्शन करते हुए भी भगवानको भी स्त्री पुत्रसे बडा न मान पाता हो। इतना आदर प्रभुका भी मनमे नही होता, जितना आदर परिजनका करते हैं। ऐसा विचित्र यह महामोह मद इस जीवने पिया है। उसका कारण केवल यह ही एक है कि शरीरमे उसने यह मैं आत्मा हू ऐसी बुद्धि की।

दुःखके कारणभूत रागादिभावोका विनाश आत्मदर्शन से होता है, इसका संकेत लीजिये २५ वें श्लोकके एक प्रवचनांशमें—पृ० १२१—आत्मदर्शनसे रागादिकका क्षय—परमार्थतः अपने आपको देखने वाले इस मुझ आत्मामें रागादिक दोष नष्ट सुगम ही हो जाते हैं, क्योकि आत्मतत्त्वको देखा जाने पर यह अनुभव किया गया कि यह मैं ज्ञानमात्र हू। ज्ञान जैसे कि अमूर्त भाव है तो ज्ञानस्वरूप ही तो आत्मा है। वह भी अमूर्त ज्ञानभावमात्र अपने आपके स्वरूपको जिसने निरखा है ऐसे ज्ञानी सतके ये रागद्वेषादिक विकारभाव यो ही विलीन हो जाते हैं। रागका राग मिटानेका वास्तविक उपाय बाह्य पदार्थोका सग्रह विग्रह अथवा कुछ परिणमन कर देना हो जाना, यह नही है। रागका अर्थ है परवस्तु सुहा गई और राग मिटने का अर्थ है कि परवस्तुमे सुहा गई ऐसी स्थिति ही न हो। यह स्थिति अपने आपको ज्ञान-मात्र अनुभव करने से प्राप्त होती है। मैं ज्ञानमात्र हू। जहा जाना कि यह मैं केवल जाननहार हू, अन्य इसमें वृत्ति होना मेरास्वरूप नही है तब यह रागद्वेषको क्यो अपनायेगा ? परमार्थ निजस्वरूपको देखने पर रागद्वेष नही ठहरते हैं।

(१८०) समाधितन्त्र प्रवचन द्वितीय भाग

इस पुस्तकमें समाधितन्त्रके २८ वें श्लोकसे ५० वें श्लोक तक पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराजके प्रवचन हैं। आत्मस्थिति अर्थात समाधिलाभके लिए सोह की भावना का साधन बताने वाले कार्यब्रह्म व कारणब्रह्मका परिचय कीजिये २८ वें श्लोकके एक प्रवचनांशमें—पृ० १—कार्यब्रह्म और कारणब्रह्म—परमात्म-तत्त्व दो प्रकार से है—एक कारणपरमात्मा और एक कार्य परमात्मा। ऐसा यह दो प्रकार पना केवल परमात्मत्वमे ही नही है, किन्तु प्रत्येक प्रसगमे कारणत्व और कार्यत्वका प्रयोग है। जैसे कारणपरमाणु और कार्यपरमाणु। इसी प्रकार कारणसमयसार और कार्यसमयसार। जो सहज चैतन्यस्वभाव है वह तो है कारणब्रह्म और जो चित्स्वभावको उत्कृष्ट शुद्ध विकास है वह है कार्यब्रह्म। परमार्थ दृष्टिसे यह

आत्मा निजस्वरूप होने के कारण कारणब्रह्मकी उपासना कर सकता है। कायब्रह्मकी उपासना तो उसे विषयभूत बनाकर अथवा आदर्श मानकर किया करते हैं। सो वहाँ भो इ। आत्माने गुणस्मरण रूप निज परिणमनका विकास किया है। तो जहां परमात्मतत्त्वकी भावना करनेका सवेश आया तो वहा पर अध्यात्मशास्त्रोमे यह अर्थ लेना चाहिए कि कारणब्रह्मकी उपासना करें।

अज्ञानी जीवको जिसमे विश्वास वना है, धोखाकी चीज वही है, पढिये २९ वें श्लोकके एक प्रवचनांशमे, पृ० ६–वास्तविक भयका स्थान–पूर्व श्लोकमे कारण परमात्मतत्त्वकी भावना का वर्णन था। उस वर्णन को सुनकर किन्ही भाइयोको ऐसा लग सकता है कि वह तो बडी कठिन और भय वाली बात है। हमें तो सोधा सुखदाई यह घरका रहना ही लग रहा है। कहा का दद फद, अकेले रहो, सबसे विविक्त सोचो, कुटुम्बका परिहार करो। ये क्या आफते है? कैसे गुजारे की बात हो अन्यथा बडे भयकी बात है। ऐसे भयकी आशका होनेपर आचार्य देव यह शिक्षा दे रहे हैं कि अरे मूढ आत्मन्, तुझे जिस जगह विश्वास लगा है कि यह मेरा सुखदायी है उससे बढ़कर भयकी चीज कोई दूसरी नही है। कोई नरकमे पहुँचे और वहा रहे सद्बुद्धि तो ठिकाने वाली अब न वहा समझमे आती है। जिस कुटुम्बके कारण विषय सुख के कारण, मित्रो के कारण नाना पाप किये हैं उन पापोका यह फल मैं अकेले ही भोग रहा हू। जब वे कोई मदद देने वाले नही है। जो दस बीस की सख्या मे मेरा मन बहलाते भी थे। यह मूढ आत्मा जिस जगह विश्वास बनाये हुए है उससे बढकर दु खकी चीज, भयकी चीज और कुछ नही है।

आत्महितके अर्थी को अनाकाक्षता व उदारताकी आवश्यकता है, इसका मनन कीजिये ३८ वें श्लोकके एक प्रवचनांशमे, पृ० ६५–अनाकाक्षता और उदारताकी आवश्यकता–यद्यपि धर्मपालनमे एक पैसे की भी अपेक्षा नही है, धर्म पैसे से नही होता, पर पैसे के लगावसे अधर्म तो होता है ना। तो उस अधर्मको दूर करने का हमारा बहुत बडा काम है। वह है उदार वृत्ति। जिससे हम धर्म पालने के पात्र हो सके, चित्तके विच्छेदको दूर करनेका काम पडा है। फिर तो ज्ञानसस्कार हुआ कि स्वत ही आत्मतत्त्वमे आत्माका अवस्थान हो जायगा। सारे क्लेश एक ममताके है। मायामयी दुनियामे मायामयी पोजीशन के रखनेका क्लेश है। दूसरा कुछ क्लेश है ही नही। न होता आज इतना वैभव, साधारण होते तो क्या ऐसा हो नही सकता था? यहा जितना लोकमे बडप्पन बढ जाता है उतना ही पोजोशन रखनेकी तृष्णा बढ जाती है। हुआ कहा धर्म? जैसे किसी महान कार्यमे धन का दान करके तपस्या करके अथवा तन से परकी सेवा करके और कुछ यशका भाव रखा तो वहां सन्यास कहा हुआ? प्रभुका प्यारा नही हो सकता है। जो कि अपने सम्बन्धमे इस मायामय जगतमे कुछ न चाहे और निश्चल शुद्ध भावोसे परकी प्रभुता पर मोहित हो जाय अर्थात् अनुरक्त हो जाय और अपने को कुछ न माने और अपने को स्वतन्त्र और सर्वस्व माने। इस जगतमे कुछ चाहने वाले के हाथ कुछ भी तो नही लगता है।

विवेक पूर्वक निर्णय करलो इस लोक रोष तोषका क्या अवकाश, पढिये ४६ वें श्लोकके एक प्रवचनांशमे, पृ० ११७–रोष तोष का अनवकाश–अब भला बतलावो, जो दिखता है वह अचेतन है, जो चेतन है वह दिखता नही है। तो मैं किस चीजमे रोष करू और किस चीजमे तोष करू? अचेतन पदार्थो मे रोष अथवा तोष करने से क्या फायदा है? वे तो अचेतन हैं। इन पत्थरोमे रोष तोष करनेसे क्या लाभ है? अचेतनमें तो बच्चे ही रोष तोष करेंगे। किन्तु ज्ञानवान पुरुष इन अचेतन पदार्थोमे रोष तोष नही करता। बच्चेके सिरमे किवाड लग जाय तो बच्चा रोता है, और मा उस बच्चो को दिखाकर समझा– कर किवाडमे दो चार थप्पड लगा देती है, तूने मेरे ललनको मारा। अब वह ललन शान्त हो जाता,

सन्तुष्ट हो जाता, इन अचेतन पदार्थों के किसी भी परिणमनसे बालक अगर रुष्ट हो जाय, तुष्ट हो जाय तो हो जाय पर ज्ञानी पुरुष इन अचेतन पदार्थों के कारण न तो रुष्ट होता है और न तुष्ट होता है।

ससारके दुःख रोग अनेक हैं, किन्तु उन समस्त सकट रोगोको मिटाने वाली औषधि एक है, देखिये ४८ वें श्लोकके एक प्रवचनांशमे, पृ० १३०–सकटहारिणी मूल औषधि–भैया, किसी भी प्रकार की घबडाहट हो, किसी भी प्रकार की चिन्ता हो, सब को मूल औषधि एक है। अपन आपका जैसा सबसे न्यारा ज्ञान-मात्र स्वरूप है वैसा समझनेमे लग जावे, मैं सबसे न्यारा हू इस मुझ अमूत तत्त्वको तो कोई जानता ही नही है। यह किसी के द्वारा अलग से जानने योग्य ही नहा है। यह ता सब स्वरूपमे एक रस एक-स्वरूप है। इसमे भेद नही है। मुझे कौन पहिचानता है? ज्ञानयोग ही एक अमृततत्त्व है। ज्ञानका ही सर्वत्र एक प्रताप है, और कोई प्रताप प्रताप ही नही हैं। ज्ञान से ही यह प्राणी सुखी होता है और ज्ञान से ही यह लोक मे पूजित होता है, ज्ञान से ही यह इस लोक और परलोक में सुखी होता है। ज्ञान ज्ञान के स्वरूप का जाने और ज्ञानमात्र ही मैं हू ऐसा अपने आपके बारे मे अनुभव करे, वह है वास्त-विक ज्ञान।

देखो किसको प्रसन्न करना चाहते हो, निर्णय तो करलो, व्यर्थ परिश्रम क्यो किये जा रहे हैं? मनन कीजिये ५० वें श्लोकके एक प्रवचनांशमे–पृ० १५६–किसको प्रसन्न करना–इस जगतमे किस जीवको प्रसन्न रखने के लिए इतनी चेष्टा की जा रही है? अरे खुदको प्रसन्न कर लीजिये-निर्मल बना लीजिये, तो सब सिद्धि आपके हस्तगत है। बाहर बाहर के उपयोगके भ्रमान मे तो सार कुछ न आयगा अपनी बुद्धि मे बहुत देर तक किसी पदार्थ को मत रखिये क्योकि यहा कुछ भी पर पदार्थ विश्वासके योग्य नही है। कोई नाम ले लो कि कौन सा पदार्थ परका ऐसा है कि हमारा हित करदे? शान्ति दे दे? है कोई शान्ति देने वाला पदार्थ? खूब सोच लो, कि पुद्गल तो कई प्रसगोमे जले भुने चेतनोमे कुछ बने। वह तो अचेतन थूलमथूल पडा हुआ है। कई घटनाये ऐसी होती हैं जहा धोखा खाये, दूसरो के आगे बेवकूफ बनना पडे, हित कुछ नही मिले, किन्तु अपना अहित ही परके वातावरणमे, परके सम्बन्ध मे पाया है। यहा जीवको कौन सा पदार्थ हितकारी है?, किसको प्रसन्न करना चाहते हो? कोई रक्षक हो तो प्रसन्न करो।

(१८१) समाधितन्त्र प्रवचन तृतीय भाग

इस पुस्तकमे समाधि तन्त्रके ५१ वें श्लोकसे ७५ वें श्लोकतक पूज्य श्री वर्णी जी सहजानन्द महाराजके प्रवचन हैं। अविकृत उपयोग बनानेके लिए एक भावनाका सकल्प कीजिये जैसा ५१ वें श्लोकके एक प्रवचनांशमे सकेत किया है। पृ० १–अविकृत उपयोग बनानेके उपायभूत भावनाका सकल्प–इन्द्रियोके द्वारा जिनको मैं देखता हू वे मेरे कुछ नही हैं, और जब इन्द्रियोको सयत करके अपने आपके अतरगमे जो आत्मा-नन्दमय ज्ञानप्रकाशको देखता हूं वह मैं हू। यह जीव परपदार्थो मे अनासक्त होता हुआ आत्मज्ञानको ही बुद्धिमे धारण कर सके–ऐसी कौन सी भावना है? यह बताना आवश्यक है, क्योकि आत्मज्ञानसे भिन्न अन्य कुछ बात बुद्धि मे धारण न करनी चाहिए। जीवन चलाना है, गुजारा करना है, इस कारण कुछ अन्य कामोमे फसना पडता है। उसे फिर करें, किन्तु अन्य कार्यो को बुद्धिमे बहुत समय तक धारण न करें, ऐसी स्थिति जीवनमे कैसे आ सकती है? इसके उपायमे यह भावना बतायी गई है कि इन्द्रियोके द्वारा जो कुछ मुझे दिखता है वह कुछ नही हैं।

सत्य आराम पाने के लिए बोलो तो निरापद वचन बोलो, देखिये रहस्य ५१ वें श्लोकके एक प्रवचनांशमे, पृ० १९–२०–निरापद वचन–इस लोकमे चिन्ता ही क्या है। चिन्ता बनाई जाती है। चिन्ता योग्य बातें कुछ नही हैं। न रहा धन ज्यादह तो इससे कौन सी हानि है? मिला हुआ धन चला गया तो इसमे कौन सी हानि है? आत्मतत्त्वकी अन्य अन्य भी विपत्तिया सोच लो, इष्टवियोग हो गया, अनिष्ट सयोग हो गया तो इसमे कौन सी हानि है? इस आत्मतत्त्वकी हो गई? लेकिन ज्ञानानन्दनिधान आत्मस्वरूपको भूलकर जो बाह्य पदार्थो मे मोह बुद्धि लगाये हुए है बस इसी से दु ख होगा। यह परिणाम दु खस्वरूप है। उस दु खको मेट सकने वाले जो वचन है उन वचनोका सुनना और ऐसे वचनोका बोलना, यही है अध्यात्मिकता मे रमने का एक उपाय। जिस वचनसे अज्ञान सस्कार मिटे और ज्ञान–सस्कार बने, ऐसी ही बात बोलनी चाहिए।

अज्ञानी किस घटनामे अपना पोषण समझता है और ज्ञानी किसमे अपना पोषण परखता है देखिये अन्तर व निर्णय कीजिये अपने कदमका, ६३ वे श्लोकके एक प्रवचनांशमे पढ़िये–पृ० ७४–अज्ञानी और ज्ञानीकी पुष्टि–तकणा–ज्ञानी इस देहकी किसी अवस्थासे अपनमे कोई क्षोभ नही लाता है। वस्त्र मोटा होनेपर कोई दुबला सेखी मारे तो उस सेखीसे कही ताकत तो न आ जायेगी। भले ही मारे सेखी। यो ही देहके पुष्ट होनेसे अपनेको पुष्ट मानने वाले अज्ञानी पुरुषके कही शान्ति तो न आ जायेगी, आत्मबल तो नही आ सकता है? देहसे अपने आत्माका भेदविज्ञान करना, यह करण ज्ञानीके सुदृढ है। जैसे लोग बाहरी बातोमे तैयारी देखकर भरा घर अब चारो ओर से मजबूत है, मैंने देशमे, समाजमे, सब तरह से अपनी मजबूती बना ली है। अब मुझे कुछ डर नही है। यो बहिरात्मापुरुष सोचता है तो अन्तरात्मा पुरुष अपने ही आपके भीतरकी तैयारी करके सन्तोष करता है। अब मैंने अपने आत्मस्वरूपको परख लिया है। अब मुझे अरक्षाका कोई भय नही है। मुझे परवस्तुकृत इस लोकमे अथवा परलोकमे कही भी विपदा की शका नही है। मेरा सब कुछ मेरे मे ही बसा है। मैंने अपने आपको खूब तैयार कर लिया है। अब भय नही ई, यह ज्ञानी पुरुष अपनी आन्तरिक पुष्टि से अपने को पुष्ट समझता है।

एक साधे सब सधे, इसके प्रयोगक यत्नकी प्रेरणा लीजिये ७१ वें श्लोकके एक प्रवचनांशमे पढ़िये–पृ० ११३–११४–एक साधे सब सधे–एक इस आत्मतत्त्वको साध लीजिये तो समृद्ध हो जावोगे। एक इस अन्तस्तत्त्वकी रुचि होने पर भी यदि अवशिष्ट रागवश बन्ध होता है तो पुण्यबन्ध होता है जिसके उदय कालमे सववैभव आता है। जिसका इस अन्तस्तत्त्वकी रुचि है उसके ऐसी विशुद्धता बढ़ती है कि भव भव के बाधे हुए कर्म भी क्षण मात्रमे एक साथ खिर जाया करते है। लौकिक और पारलौकिक आनन्द इस सहज आत्मतत्त्वकी दृष्टिमे भरा हुआ हो है। एक हिम्मतकी आवश्यकता है और हिम्मत भी कुछ नही उल्टा जितना चल चुके है उतना लौटनेकी आवश्यकता है। करना कुछ नही है। जो खोटा कर्म किया है, जो खोटा कदम बढ़ाया है। बस उतना लौटने की जरूरत है। इससे आगे और कुछ भी काम करना इसे आवश्यक नही है। यो समझो कि स्वतन्त्र निश्चल निष्काम आत्मतत्त्वके श्रद्धानमे, आचरण मे, सर्वप्रकार की सिद्धि स्वयमेव पडी हुई है–ऐसा समझकर एक आत्मस्वरूपके जानन की रुचि करें, अभ्यास करे तो उस पुरुषार्थके प्रतापसे सवसमृद्धि हो सकती है।

ज्ञानीके निवास स्थानका परिचय कीजिय ७३ वें श्लोकके एक प्रवचनांशमे–पृ० १२७–१२८–आत्मदर्शी का निवास दर्शन–भैया; कहा है कहो पर सकट? अपनी कल्पनाओमे सकटोका विस्तार बना लिया जाता है और अपने ही विचारोसे सकटोका सहार कर दिया जाता है। तो ज्ञाता द्रष्टा ज्ञानी सन्त

पुरुष हैं, उनके वाह्य विषयक ये कल्पनायें श्रद्धाका रूप नही रख सकती है। उन्हे न तो ग्रामवाससे प्रेम है और न उन्हे जंगलके निवाससे प्रेम है; क्योकि वे दोनो ही स्थान अपने आत्मस्वरूपसे बाहरके स्थान हैं। ज्ञानी पुरुषको बाहरी क्षेत्रमे, बाहरी पदार्थो मे आसक्ति नही है, प्रीति नही होती है। वे किसी भी बाह्यक्षेत्रको अपना निवास स्थान नही मानते हैं। जिनको भेद वज्ञान जग गया है और इसी कारण अपने आत्मामे अनाकुलताका प्रसार होने लगा है, उन्हे तो कहां गावका निवास व कहां जंगलका निवास। उनको कहीं भी आसक्ति नही रहती है।

(१८२) समाधितन्त्र प्रवचन चतुर्थ भाग

इस पुस्तकमे समाधितन्त्र के ७६ वें श्लोकसे १०१ वें श्लोक के अन्तिम तक पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराजके प्रवचन हैं। मोही जगतमे फुट्टू देवी ऊंट पुजारीका नक्शा देखिये ७६ वे श्लोकके एक प्रवचनांशमे, पृ० २-३-फुट्टू देवी ऊंट पुजारी-भैया, सब कष्टोका कारण शरीरमे आत्मबुद्धि करना है, लोग मुझे समझें कि ये बहुत बडे पुरुष हैं। किन लोगोमें यह चाहा जा रहा है? जो मोही हैं, मलिन हैं, अज्ञानी है, जिनको अपनी भी सुध बुध नही है, ऐसे लोगोमें मेरा नाम फैले यह सोचा जा रहा है ऐसे पुरुषोमे नाम फैलनेकी बात वही सोच सकता है जो खुद मलिन है, मोही है, शरीर को ही आत्मा मानता है। सो वहा जैसे एक कहावत है कि फुट्टू देवी ऊंट पुजारी ऐसी हालत हो रही है। किसी जगह पर एक फूटा पत्थर पडा हुआ था, वह बन गया देवता, और उसके पूजने वाले ऊंट बन गये। ऐसी हालत इन मोही मोहियोकी है। किनमे नाम चाहते है? ये मोही मोहियोमे ही नाम चाहते हैं। मेरा नाम हो, इसमे मेरा शब्द कहनेसे किसको लक्ष्यमे लिया है? इस शरीरको, यदि इस चैतन्यस्वरूप आत्माको लक्ष्यमे लिया होता कि इस मेरे का नाम हो तो वह नामकी बात न सोचकर यों सोचता कि मेरा शुद्ध विकास प्रभुके ज्ञानमे दोखा हुआ हो।

मोही की उन्मत्त चेष्टाका दर्शन कीजिये ८० वें श्लोकके एक प्रवचनांशमे, पृ० २१-मोही की उन्मत्त चेष्टाका दर्शन-जैसे कोई पागल पुरुष थाडो देरमे किसीको अपना बता दे, थाडी देरमे किसीको अपना बता दे, ऐसे ही यह मोही पुरुष मनुष्यभवमे आया तो किन्हीको अपना बता दिया और मरकर देवगति मे आ गया ता किन्ही को अपना बता दिया। तिर्यंच गति में आया तो किन्ही को अपना बता दिया, यह भी मोही पागलोकी तरह किन्ही किन्ही को अपना बताता फिरता है और भव परिवर्तन की ही बात नही है किन्तु इस एक ही मनुष्यभवमे जब तक कषायसे कषाय मिलती रही तब तक अपना अपना गाता रहा, और जब कषाय न मिलती देखी तो उसे अपना न माना गैर मानने लगा। यो यह मोही कषायके आवेशसे अट्ट सट्ट अपनी कल्पनायें और मान्यतायें बनाता है, ऐसे-ऐसा ही तो दीख रहा है। अब बाहरमे यह जगत उन्मत्तकी तरह चेष्टावान नजर आ रहा है इस योगाभ्यासीको।

आना भविष्य दृष्टिकलापर निर्भर है, सही दृष्टिका निर्णय करके सही दृष्टि बना लीजिये, सहयोग लीजिये ८५ वें श्लोकके इस प्रवचनांशमे-पृ० ४२-दृष्टि कलाकी जिम्मेदारी-भैया, दो तरह के सुख हैं-एक शुद्ध-चित्चमत्कारमात्र आत्मतत्त्वके अवलम्बनसे उत्पन्न स्वकीय आत्मीयसुख और एक मोहियोमे होने वाला कल्पित विषयोका सुख। अब देखिये दृष्टि द्वारा दोनो ही सुख मिट सकते हैं। चाहे आत्मीय सुख पालो और चाहे विषयी सुख पा लो, दोनो में ही प्रताप अपनी दृष्टिका है। करना और कुछ नहीं है, केवल भीतरका भाव ही बनाना है। शुद्ध स्वरूपकी दृष्टिका भाव बने तो आत्मीय आनन्द मिलेगा और बहिर्मुख दृष्टि करके विषयोसे बडा बडप्पन है, सुख है ऐसे भाव बनायें तो वहा कल्पित मौज है उस

कल्पित विषयी सुखके समय भी विह्वलता है। उससे पहले भी विह्वलता है, भोगने के बाद भी विह्वलता रहती है। परन्तु आत्मीय आनन्द पाने से पहिले भी समता और शान्ति रहती, आत्मीय आनन्द भोगने के समय भी समता और शान्ति रहती, और आत्मीय आनन्द अनुभव करने के बाद भी शान्ति और सन्तोष रहता है। ये दोनो ही बाते केवल दृष्टिसे मिल जाया करती है। अब किस ओर दृष्टि देना चाहिए यह हम आपका निर्णय जैसा हो वैसा है, पर सुविधा सब है।

शान्तिका उपाय सबके लिए एक है, अत इस एक उपायमे जुट जाइये, निश्चय करिये ८६ वें श्लोकके एक प्रवचनांशमे, पृ० ६१–सबके लिए शान्तिक एक उपाय–जो लोग धर्मका, लिंगका, भेषका, मजहबका, इनका आग्रह करके अपनेको तुष्ट, तृप्त कृतकृत्य मान लेते हैं वे आग्रही पुरुष है। इन विकल्पोसे मुक्ति नही होती है, ऐसे विकल्प करने वाले लोग आत्माके परमपद को प्राप्त नही कर सकते। कोई भी हो, गृहस्थ हो या साधु हो, शान्ति मिलने का ढग सबको एक सा बताया है। विकल्प छोडकर निर्विकल्प अन्तस्तत्त्वके निकट पहुँचिये, शान्ति मिलेगी। सर्व उपाय करके यही शुद्ध भाव प्राप्त करने योग्य है।

बेहोशीमे भी होश, आश्चर्य न करिये, पढिये ९५ वें श्लोकका एक प्रवचनाश–पृ० ८१–बेहोशीमे होश–ज्ञानी सन्त बेहोशकी अवस्थामे भी होश वाला है। सावधान है। कैसा अद्भुत कार्य है, सस्कारका कि ज्ञानी पुरुष रोगवश बेहोश पडा हो, अथवा मरने के समय उसकी सारी इन्द्रिया बेहोश हो गई हो, सिथिल हो गई हो, उल्टी सास ली जा रही हो, मरने का समय निकट आ रहा हो तो लोगोको यो दिख रहा है कि यह बडा बेहोश है, कई दिनसे इसे होश नही है, लेकिन ज्ञानी का सस्कार ऐसा बना है कि कई दिनकी बेहोशीमे भी उसके निरन्तर अतरगमे ज्ञानप्रकाश बना रहता है। जिस ओर बुद्धि लगी हो उस ओर ही प्रीति और रुचि होती है। जहा रुचि होती हो वैसा ही चित्त बना रहता है। ज्ञानी पुरुषका चित्त ज्ञानकी ओर रहा आये तो उसकी यह लीनता सोई हुई और बेहोश जसी अवस्थामे विषयोकी ओर नही आने देती और आत्मस्वरूपकी ओर प्रवृत रहती है। कदाचित वह स्वप्न देखगा तो ज्ञानके, धर्मके, भक्तिके देखेगा, और कभी बकवास करने जैसी बहोशी आ जाय तो ज्ञानका ही बातोका बकवाद निकालेगा।

समाधिभाव ही कल्याणका उपाय है, उसके लिए जो सन्तजन तपश्चरण करते हैं, क्यो करते हैं, इसका समाधान १०२ वें श्लोकके एक प्रवचनांशमे पढ़िये–पृ० १०८–तपश्चरणके लिए सकारण अनुरोध–गत प्रसग मे यह बात चल रही थी कि आत्मा अनादि निधन है यह केवल भावनाही कर सकता है और भावना के प्रसादसे यह परमात्मत्वको प्राप्त कर लेता है। इस पर यह शका होना प्राकृतिक है कि जब केवल आत्माकी भावना करने से ही मुक्ति मिल जाती है, फिर उपवास करना, तपस्या करना ये कठिन कठिन काम करन की क्या आवश्यकता है? इसके ही समाधान मे इस श्लोक मे कहा गया है कि जो ज्ञान बिना क्लेश सहे, आगम मे प्राप्त किया जाता है वह ज्ञान दु:ख के कारण छूटने पर नष्ट हो सकता है। इस कारण योगी पुरुषो को अपनी शक्ति के माफिक अपने को तपस्या मे लगाना चाहिए।

(१८३) षोडशभावना प्रवचन प्रथम भाग

तीर्थंकर प्रकृतिके बन्धके कारणभूत दर्शनविशुद्धि आदि १६ भावनायें हैं। उनमे से दर्शनविशुद्धि नामक पहिली भावनापर पूज्य श्री १०५ मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराजने १५ दिन प्रवचन किये थे, वे सब प्रवचन इस प्रथम भागमे है। दर्शनविशुद्धि भावनामे देखिये ज्ञानीका निर्णय पृष्ठ ८–ज्ञानीका वर्तमान निर्णय–यह सम्य–

दृष्टि पुरुष प्रयोग्य तत्त्वके सम्बन्धमे यो यथार्थ निर्णय बनाये है–मेरे दु खोको उत्पन्न करनेवाला मेरा आश्रव भाव है। अन्य कोई भी पदार्थ मेरेको कष्टदायी नही है। राग मोह रोष ये ही दु खोकी खान है। अज्ञानी जनोकी श्वानदृष्टि होती है। जैसे कुत्तेको कोई लाठी मारे तो वह लाठीको चबाता है। आक्रान्ता जो पुरुष है उसपर दृष्टि नही जाती है, इसी कारण कुत्तेको लोग दुत्कार देते हैं। ऐसे ही अज्ञानी जीव जो सामने आश्रयभूत पदार्थ आता है अपने कष्टके समयमे उन आश्रयभूत पदार्थोका संचय विग्रह करता है, इसने ही मुझे सुख दिया, इसने ही मुझे दु ख दिया। इस अज्ञानीको यह विदित नही है कि सुख और दु.खका परिणाम मेरी ज्ञानकलासे प्रकट होता है। मैं जैसा सोचू तैसी स्थिति सामने आती है। छोटी भी बात हो छोटी भी विपदा हो, पर ज्ञानकला कुछ महसूस कराकर बन रही हो तो वह पहाड जैसी विपदा लगती है। और कोई महान कष्ट भी हो और यह ज्ञानकला धर्यको बनानेकी पद्धतिमे प्रकट होती हो तो वह न कुछ जैसी बात होती है।

अब पढिये दर्शनविशुद्धकी पारमार्थिक करुणा पृष्ठ १ –पारमार्थिक करुणा-ज्ञानीके यह सकल्प नही होता है कि मैं तीर्थंकर बनू और जगतके प्राणियोका उद्धार करू। यह तो अज्ञानभाव है। कोई भी ज्ञानी पुरुष कर्तृत्वका भाव नहीं ला सकता मैं इस जगतके जीवोको ससारके दुखोसे छुटाकर मोक्षमे पहुँचा दू ऐसी बात ज्ञानी पुरुषके आशयमे नही है। यह प्राणी जब भी मुक्त होगा तो स्वयकी दृष्टि पाकर स्वयके रत्नत्रय भावके द्वारा मुक्त होगा। उसे तो अपार करुणा आ रही है। कोई त्यागी पुरुष, साधु पुरुष कहो जा रहा हो और रास्तेमे कोई भूखा आदमी मिल जाय तो उसको भी करुणा तो जागृत होती है पर वह कर क्या सकता है? पैसा पास नही रखता पर करुणा तो जैसे गृहस्थको होती है वैसे ही उन सन्यासियोको भी होती रहती है, किन्तु इसको मैं रोटी बनाकर खिला दू ऐसा परिणाम तो नही आता, पर वास्तविक हितपूर्ण करुणा बराबर हो रही है। ऐसे हो समझिएगा कि विश्वके समस्त प्राणियोपर जो कि अपने अज्ञान भावसे बाह्यतत्त्वोमे लगे हुए हैं व्यर्थ ससार भ्रमण कर रहे हैं उनको जानकर इन ज्ञानियोके करुणा उत्पन्न हो रही है, पर मैं इनका उद्धार कर दू, ऐसा वह कर्तृत्वका सकल्प यों नही करता कि करे भी कोई सकल्प तो क्या उद्धार कर देगा। एक द्रव्य दूसरे द्रव्यमें कोई परिणमन कर सकेगा क्या? कभी नही।

अब समझिये कि तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध कैसे होता है–पृष्ठ २९–तीर्थंकर प्रकृतिके बन्धके पात्र–तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध सुनकर उसकी चाह करने वाले पुरुषोको इस प्रकरणसे यह शिक्षा लेना चाहिए कि कही मांगनेसे बन्ध नही होता किन्तु अपने आत्माको निकांक्ष होकर ऐसा आत्मचरणमे ढाल दीजिए तो अन्तर कारणोके अनुकूल तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध हो लेगा। सम्यग्दर्शन निर्मल हो तबभी तीर्थंकर प्रकृति बन्ध जाय ऐसा नही है किन्तु सम्यग्दर्शन निर्मल होनेके बावजूद भी विश्वहितकारी भावना उस प्रकारकी हो तो तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध होता है।

अब अवलोकिये ज्ञानधनकी उत्कृष्टता–पृ० ७१–ज्ञानधनकी उत्कृष्टता–आत्माका हित आनन्दमे है और आनन्द वही आनन्द है जहा आकुलता रच नही है। आकुलताका सर्वथा अभाव समस्त पर और परजीवोके ससर्गसे मुक्त होने मे है। पर और परभावोसे छुटकारा नही पा सकता है। जिसने अपने और पराये पदार्थका स्वरूप भली भाति समझा हो, स्व परका स्वरूप यथाथ निश्चित किया हो, वही समझ सकता है जिसके स्व परके लक्षणोका यथार्थ निर्णय रखा हो। यह बात बनती है ज्ञान द्वारा। इसलिए सब हितोका मूल उपाय ज्ञानार्जन है। जरा मुकाबला तो करो धनके अर्जनका और ज्ञानके अर्जनका। धन मरने पर साथ नही जाता किन्तु ज्ञानका सस्कार मरने पर भी साथ जाता है। हम

यहा कितने ही विद्यार्थियाको ऐसा देखते हैं कि एक या दो बार ही कोई चीज पढ लेते है तो उन्हे याद हो जाता है, कितने ही बालक बहुत रटते हैं, पिटते है श्रवण करते हैं तिस पर भी याद नही होता है। यह फर्क कहासे आ गया ? गुरु तो सब शिष्योको एक साथ समानतासे समझा रहा है लेकिन किसीको एक बार मे ही याद हो जाता है किसीको अनेक बारमे भी नही याद होता है। यह फर्क है ज्ञानावरणके क्षयोपसमका अर्थात् ज्ञानके सस्कारोका। जीवका स्वरूप ज्ञान है इसलिए जितना ज्ञान विकाश अभी कर लिया जायगा वह सस्कारके रूपमे अगले भवमे भी जायगा, किन्तु धनकी एक दमडी भी साथ न जायगी।

(१८४) षोडशभावना प्रवचन द्वितीय भाग

इस पुस्तकमे विनयसम्पन्नतासे प्रवचनवत्सलत्व तक १५ तीर्थकृद्भावनाओपर पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराजके प्रवचन हैं। इस भावनामें दर्शनविनय, ज्ञानविनय, चारित्रविनय व उपचारविनय इन चतुर्विध विनयोपर प्रकाश डालनेके प्रसगमे दर्शनविनयसे सम्बन्धित एक प्रवचनाशमे सम्यक्त्वकी भक्ति कीजिये–पृ० १–दर्शनविनय–सम्यक् श्रद्धानमे विनय होना सो दर्शनविनय है। ससारमे रुलनवाले जीवोको एक सम्यक्त्व का ही सहारा है। सम्यक्त्वके बिना सकटोसे मुक्तिका पाना अन्य कोई उपाय नही है। भला बतलावो कि सर्व पदार्थ जब अपने ही स्वरूपमय हैं और अपना स्वरूप है ज्ञान और आनन्द, यह क्या आश्चर्यकी बात नही है। यह सब भ्रमका ही प्रसाद है। कुछ नहा बनाना है अपनेको। बनी हुई है, सत्तासे बनी हुई है। सत्तासे बनी हुई है। स्वभावनिवत्ति है, किन्तु, किन्तु भ्रम करके जो विपदा विडम्बना बना ही है, उनको तो दूर किये बिना काम न सरेगा। जहा सम्यक्त्व हो जाता है, शुद्ध आशय बन जाता है, यथार्थ दर्शन हो जाता है, यह मैं ज्ञानानन्द स्वभावमात्र हू, मैं अपनो सत्ता से अपनेमे स्वय बसा हू, इस बातका जिन्हे दर्शन हो जाता है ऐसे पुरुषोको यह बात ध्यानमे आती है–अहो सम्यग्दर्शन ही हमारा शरण है। इस सम्यक्त्वके बिना अनादि कालसे अब तक कुयोनियोमे भ्रमण करते हुए चले आये हैं। यो सम्यक्त्वके प्रति विनय जगना यह है दर्शनविनय।

शीलव्रतानतिचार भावनाका वर्णन करनेके पश्चात् शीलका महत्व सक्षेपमे कहा गया है, उसका अध्ययन कीजिये–पृ० ११–१२–शीलका महत्व–शीलवान पुरुषोका सब आदर देते है। कोई शीलकरि सहित हो और रूपसे रहित हो, रागग्रस्त हो तो भी वह अपने वातावरणसे अपने ससर्गसे समस्त पुरुषोको मोहित करता है, अर्थात् शीलवान पुरुषपर सभी लोगोका आकर्षण रहता है। शीलवान पुरुष सभी को सुखी बनाता है। शीलरहित अर्थात् व्यभिचारी कोई पुरुष कामदेवके तुल्य भी रूपवान हो तो भी लोकमे सब उसे दुदकारा करते हैं। जो कामी पुरुष है, धर्मसे चलित हो जाता है, आत्माके स्वभावसे विचलित हो जाता है, व्यवहार की शुद्धतासे भी विचलित हो जाता है, उसका ही नाम व्यभिचारी है। व्यभिचारके समान अन्य कोई कुकर्म नही है। ऐसे इस शीलमे व शीलसाधक व्रतमे निर्दोष रहने की भावना ज्ञानी पुरुषके रहती है। ऐसे ज्ञानी पुरुष जब विश्वके प्राणियोपर परम करुणाका भाव करते है तो उनके तीर्थकर प्रकृतिका बन्ध होता है।

अभीक्ष्णज्ञानोपयोगसे मानवजन्मकी सफलता है, इसका विचार कीजिये इस प्रवचनाशमे, पृ० १२–१३–अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगसे मानवजन्मकी सफलता–भैया, कितना दुर्लभ यह जन्म है, फिर भी ऐसे कठिन मनुष्यभवको पाकर गप्पोमे लगाना, मोहियोमे ही अधिक समय बिताना और असार भिन्न जड पौद्–गलिक धन वैभवके सचयमे, उनकी कल्पनामे समय गुजारना और जो अपना परमार्थ शरण है, सारभूत है, ऐसे ज्ञान के लिए समय न देना, इससे बढ़कर खेद की और बात क्या हो सकती है ? आत्मन्, ऐसा

सुअवसर पाकर, जहा श्रेष्ठ मन मिला है, जहा इन्द्रिया व्यवस्थित है, बुद्धि भी काम करती है, ज्ञानका सुयोग भी मिला है, ऐसे अवसरका पाकर हे आत्मन, तुम ज्ञानाभ्यास ही करो। ज्ञानके अभ्यास बिना एक क्षण भी व्यतीत मत करो। ऐसी भावना अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगमे होती है।

सवेग भावनाके एक प्रवचनाशमे सवेग और संवेगका फल पढ़ें यह प्रवचनांश पृ० ३१–संवेग और सवेग का फल–इस सम्वेगभावनाके फलमे अपने आपके शुद्ध आनन्दका बारबार अनुभव होता है और जब जब सधर्मीजन होते हैं तो उनको देखकर प्रमोदभाव होना है। धन्य हैं सधर्मीजन मिलनेकी घडी। वे उस क्षणको धन्य मानते हैं जिस क्षण रत्नत्रयके धारी मोक्षमार्गके रुचिया जन मिलते हैं। साथ ही वे भोगोसे सहज ही विरक्त रहा करते है, ऐसे पवित्र ज्ञानके उपवासी सन्त पुरुष जब अन्य जीवोपर दृष्टि देते हैं तो कुछ विषाद भरा अनुराग होता है। और, जरा ही तो अपने उन्मुख होना है कि सारे सकट इसके टल जाते है। केवल एक मुखके मोडमे ही ससार और मुक्तिका अन्तर है। जहा इस समय पीठ है वहा मुख करना है और जिन बाह्य पदार्थो की ओर मुख किए हैं वहां पीठ करना है। इतनाही करने के पश्चात् कल्याणके लिए जो सम्वेगभावना हो जाती है उस भावना ा अ दर करें। अपने चित्तसे यह श्रद्धा हटावो कि धन वैभव ही मेरे सब कुछ हैं। अरे वे ता धूलकी तरह हैं। क्या तत्त्व उनमे रक्खा है। वे सब बाह्य है, भिन्न हैं, पुद्गल है, अहितरूप हैं, जिनका विषय करनेसे तृष्णाका रोग उत्पन्न होता है। यो भोगोसे विरक्त होकर, निज स्वरूपमे अनुरक्त होकर सवेगभावनाको धारण करे जिससे निकट काल मे ही इस ससारके सारे सकटोसे मुक्ति मिल सकेगी।

शक्तितस्तप भावनामे समताकी प्रमुखता होती है, इसका प्रयोग करें, पढें यह प्रवचनाश पृ० ४३–शक्तित. तपमे समताकी प्रमुखता–तपस्यको मूर्ति, आभ्यंतर और बाह्य परिग्रहोसे रहित साधु पुरुष होते हैं। इस तप भावनामे अपनी ऐसी भावना होनी चाहिए कि कब वह दिन आये, कब वह क्षण आये कि सर्व परिग्रहोसे विकल्प त्यागकर शुद्ध निर्विकल्प निज ज्ञायकस्वरूपमे रत रहा करें और ऐसे दर्शन करते हुए मैं कैसा भी उपद्रव आये, बडे उपसर्ग आये, फिर भी उनसे विचलित न होना, अपना आत्मबल बनाये रहना, ऐसी भावना करना सो शक्तित तप भावना है। अनुकूल प्रतिकूल कुछ घटनायें आयें उन घटनाओमे अपना समता परिणाम रख सकना, धैर्यभाव बना सकना यह भी तप है। इस समतारूप तपश्चरणमे कितना ज्ञानबल लगाना होता है, कितनी उपेक्षावृत्ति रखनी पडती है वह अज्ञानीजनोके द्वारा किया जाना असम्भव है। इस ज्ञानबलको जो सभाले वह ज्ञानी ही है।

साधुसमाधिभावनाके वर्णनके पश्चात् सक्षेपमे समाधिकी अन्त मुद्राका सक्षेपमे दिग्दर्शन कीजिये, पृ० ५२-५३–अन्तः समाधि व बाह्यसमाधि–समाधिभावके प्रेमी ज्ञानी सत जब कभी दूसरे धर्मात्माजनो पर सकट आया देखते हैं तो उन सब सकटोको दूर करने का उनका यत्न चला करता है। अपने आपको समाधिरूप बनाने का यत्न करें, समाधि का परिणाम रखें यह साधुसमाधि भावना है। भावना के प्रताप से यह ज्ञानी पुरुष ऐसी विशिष्ट पुण्य प्रकृति का बन्ध कर लेता है जिसके उदयमे यह त्रिलोकाधिपति तीर्थंकर महापुरुष होता है। यही तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध करने वाले जीवकी समाधिभावना है।

अन्तिम भावना प्रवचनवत्सलत्वका संक्षिप्त परिचय देखिये–पृ० ६३–प्रवचनवत्सलत्व–तीर्थंकर प्रकृति की बन्ध करने वाली भावनाओमे आजयह अन्तिम भावना आ रही है। इसका नाम हैप्रवचनवत्सलत्व। प्रवचनका अर्थ है देव, गुरु और धर्म। इनमे प्रीति भावका होना सो प्रवचनवत्सलत्व है। जिसमे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की अभेद एकता हो चुकी है। ऐसे ज्ञानपु ज देवमें प्रीति उत्पन्न

होना और जो इस स्थितिके उत्सुक हैं तथा जिनकी दृष्टि इस शुद्ध परिणमनके साधनभूत शुद्ध सहज स्वरूपकी ओर रहा करती है ऐसे साधनोकी भावना करना यह है प्रवचनवत्सलत्व।

(१८५-१८८) परीक्षामुखसूत्र प्रवचन (प्रमेयकमलमार्तण्डप्रवचन) १, २, ३, ४ भाग

इस पुस्तकमे प्रसिद्ध दार्शनिक सूत्र ग्रन्थ परीक्षामुखसूत्रकी प्रमेयकमलमार्तण्ड टीकाके अनुसार विस्तृत स्पष्ट व सरल प्रवचन हैं। पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराजका यह बहुत उच्च प्रयास है जिसमे दार्शनिक कठिन विषयोको भी सुबोध बना दिया है। मंगलाचरणके प्रवचनमे परीक्षापद्धतिके महत्वका चित्रण एक प्रवचनाशमे देखिये-पृष्ट-१०-परीक्षापद्धतिका महत्व-भैया-परीक्षाकी पद्धतिका कितना बडा महत्व होता है। जैसे सोना कसने वाली परीक्षाशिला होती है तो उसका महत्व उस कसौटीसे है उसके रूप और आकारसे नही है। कोई कहे कि वाह, इससे भी सुन्दर कोई शिला रख लें, यह तो छोटी शिला है, कोई बडी सी शिला रखले तो बडी अच्छी सोने की परीक्षा हो जायगी, तो उसका यह सोचना मिथ्या है। थर्मामीटर बुखार नापनेके काम आता है। कोई कहे कि यह तो बहुत छोटा , एक बिजलो।। डडा लगाद ता ठीक रहेगा, छोटी मोटी चीजसे क्या फायदा ? तो उसका यह सोचना मिथ्या है क्योकि उस बिजलीके बडे भारी डडेसे बुखार की परीक्षा तो न हो जायगी। तो उसका महत्व परीक्षासे है। यह परीक्षामुख-सूत्र ज्ञानकी परीक्षा बतावेगा कि यह ज्ञान सही है, इसमें अमुक दोष नही है, अमुक गुण है, इसलिए यह यथार्थ ज्ञान है और यह ज्ञान झूठा है, इसमे इतने दोष हैं, यह यथार्थ ज्ञान नही है। तो ज्ञानकी परीक्षा करा देने वाले इस ग्रन्थका बहुत बडा महत्व है। यो समझिये कि न्यायशास्त्रमे और प्रतिमाके विकासमे ऐसे ग्रन्थके समझे बिना प्रवृत्ति ही नही हो सकती। तो इस ग्रन्थमे सम्बन्ध और अभिधेय बराबर ठीक है।

परीक्षाका सर्वसम्मत उपाय क्या है, उसका ही वर्णन इस ग्रन्थमे है, इस सम्बन्ध की पुष्टि, पढिये एक प्रवचनाशमे, पृष्ट १५-परीक्षाके सर्वसम्मत उपायकी वक्तव्यता-इस परीक्षा मुखसूत्र जैसे वक्तव्यको समझे बिना कभी वस्तुके निर्णयमे सफल नही हो सकते। यो छोटी छोटी जानकारी रखकर अथवा ग्रथोमे जो कुछ सीधा सादा लिखा है उसे जानकर कोई सन्तोष मान ले-मैंने खूब अध्ययन किया है, मैंने तो सब कुछ अध्ययन कर लिया, वहा अधुरापन हो है। देखो-एक तो होती है कहने की जानकारी और एक होती है प्रतिभा। न्यायशास्त्रका प्रतिभासे सम्बन्ध है। किसी दूसरे पुरुषको हम अपने आगमशास्त्रकी कुछ बात कहकर उसे चुप करना चाहे तो वह चुप होगा क्या ? अजी साहब हमारे अमुक ग्रन्थमे तो यो लिखा है। लिखा होगा, तुम्हारे ग्रथ कपोलकल्पित हैं, जो चाहे लिख दिया है, हर एक कोई दूसरोके लिए यही उत्तर दे सकता है। वहा तो युक्तियोसे सिद्ध करना होगा और युक्तिया वादी और प्रतिवादो दोनो के लिए मान्य हुआ करती हैं। शास्त्र, आगम दोनो के लिए मान्य नही हुआ करते। तो उन्ही युक्तियोसे प्रमाणोसे इस ग्रथमे बताया जायेगा कि किस शैलीसे युक्तिया निर्दोष होती हैं और किस शैली से युक्तिया सदोष होती हैं। सदोष ज्ञानअप्रमाण है और निर्दोष ज्ञान प्रमाण है। प्रमाणसे अर्थ की सिद्धि होती है और प्रमाणाभाससे अर्थ की सिद्धि नही होती, अर्थात् सच्चे ज्ञानसे पदार्थ की सिद्धि होती है, सच्चे ज्ञानसे हितके प्राप्ति की सिद्धि होती है और सच्चे ज्ञानसे ही अहित को छोडने की दृष्टि होती है, और सच्चे ज्ञानसे ही उपेक्षा करके विश्राम से स्थित होने की दृष्टि होती है। तो समस्त कल्याण तो सच्चे ज्ञानपर निर्भर हैं और मिथ्याज्ञानसे सब अनर्थ ही अनर्थ होता है।

प्रथ सूत्रमे प्रमाण का लक्षण किया है, उसके सम्बन्धमें संक्षिप्त स्पष्टीकरण इस एक प्रवचनांशमें

पढ़िये-पृ० २९-प्रमाणमें स्वव्यवसायात्मकता-इस प्रसगमें जो स्व शब्द दिया है इसका अर्थ न लेना कि ऐसा अर्थ करने लगो कि जो आत्माका और परपदार्थो का निश्चय करने वाला ज्ञान हो वह प्रमाण है। दार्शनिक शैलीमे और प्रमाणके इन लक्षणोमे अभी यह बात नही कही गयी। यहा पर "पर" शब्द ही नही दिया गया। स्व और अपूर्व अथका निश्चय करने वाला ज्ञान प्रमाण है। चाहे आत्माका निश्चय करने वाला हो चाहे परपदार्थो का निश्चय करनेवाला हो सब अपूर्व अर्थमें सम्मिलित हैं, उनका ज्ञान प्रमाण है। तब स्वशब्दसे ज्ञानका स्व लेना। जो जानने वाला ज्ञान है वह ज्ञान अपने आपका भी निश्चय रखता है। मैं सत्य हू और पदाथ की जानकारी का भी निश्चय करता हू कि यह पदार्थ इस प्रकार है। अथवा ज्ञान व आत्मामे अभेद है इस कारण स्व शब्दसे आत्माका ग्रहण हो ही जाता है।

कुछ दार्शनिक कारकसाकल्यको प्रमाण मानते हैं, इस मन्तव्यके निराकरणमे विस्तृत प्रवचन हैं, सक्षेपमे उसका दिग्दर्शन करना हो तो एक इस ही प्रवचनांशको देख लीजिये-पृ० ३१-प्रमाणमे ज्ञानकी ही साधकता-यहा एक चर्चा यह उपस्थित हुई है कि साधकतमको तुम प्रमाण मानते हो तो कोई पुरुष कुल्हाडीसे लकडी काट रहा है तो लकडी काटनेका साधन है कुल्हाडी। जिसके द्वारा लकडी काटी जाय वही तो साधकतम है काटनेका। साधकतम कहते हैं करणको। जो साधकतम हो वह प्रमाण है इस पर कोई कहे कि वाह, जाननेमे साधकतम तो एक प्रकाश भी है तो फिर प्रकाश आदि प्रमाण हो ही जायगा क्या? कहते हैं-नही। प्रकाश जाननेमे साधकतम नहीं है। जाननेमे साधकतम तो ज्ञान ही है, पर कारकसमूह निमित्त है इसलिए उपचारसे कारकसाकल्यको साधकतम कहते हैं।

कुछ दार्शनिक सन्निकर्षको अर्थात् इन्द्रिय व पदार्थके सम्बन्धको प्रमाण मानते हैं, किन्तु जैसे कारकसाकल्य ज्ञप्तिमे (जाननक्रियामें) साधकतम नही, इसी प्रकार सन्निकर्ष भी साधकतम नही, ज्ञानस्वरूप योग्यता ही साधकतम है, अत ज्ञान ही प्रमाण है। पृ० ६८-स्वार्थपरिच्छितियोग्यताकी साधकतमता-देखो जिसके न होने पर और अन्य पदार्थो के होने पर भी जो बात उत्पन्न नही होती है वह उसके कारणसे उत्पन्न हुई मानना चाहिए। जैसे कुल्हाडी के न होने पर और और पदार्थ कितने ही हो, मिट्टी है, पत्थर है, लोग खडे है, कुछ भी अनेक पदाथ हो पर एक कुल्हाडीके न होने पर काठ नही छेदा जा सकता, तो काठके टुकडे करनेमे साधकतम तो कुल्हाडी हो रही। इसी प्रकार भावेन्द्रियरूप योग्यताके न होने पर चाहे सन्निकर्ष भी हो, चाहे कारकसाकल्य भी हो, लेकिन पदार्थका ज्ञान नही होता, इससे यह सिद्ध है कि पदार्थका ज्ञान, पदार्थका प्रमाण यहा भावेन्द्रियके द्वारा चलता है। तो भावेन्द्रिय कहो अथवा योग्यता कहो या ज्ञान कहो सब उसके निकट की बातें हैं। अपना और परपदार्थो का आभास होने वाले ज्ञानरूप प्रमाण की सामग्री तो वह योग्यता है, इस कारण प्रमाण की उत्पत्ति मे योग्यता साधकतम है। वह योग्यता ज्ञानस्वरूप है क्योकि यह अन्त स्वरूप योग्यता किसी अन्य पदार्थ के परिणमनको लेकर प्रमाणरूप नही बनती अतएव वह स्वतन्त्र होकर ज्ञानरूप बनती है। तो ज्ञान ही प्रमाण है, सन्निकर्ष प्रमाण नही है।

प्रथम सूत्रके प्रवचनमे चर्चायें हुई, कारकसाकल्य (पदार्थसमूह) सन्निकर्ष (इन्द्रिय व पदार्थ का सम्बन्ध), इन्द्रियवृत्ति) इन्द्रियका व्यापार, ज्ञातृव्यापार (ज्ञानसे भिन्न आतमाका व्यापार) व ज्ञानान्तरवेद्य ज्ञान प्रमाण नहीं है, इस सम्बन्धमे उपसहारात्मक एक प्रवचनांश देखिये-पृ० १०२-इन्द्रियवृत्ति और ज्ञातृव्यापारका सिद्धान्त-सन्निकर्ष के बाद रखा इन्द्रियवृत्ति। इन्द्रिय और पदार्थका सम्बन्ध तो नही, किन्तु, इन्द्रियका खुलना बदमा आदि यह प्रमाण है। ये कुछ भीतर की और आते जा रहे हैं। कारक साकल्यमे तो एकदम

बाहर बाहर उनका बोलना था इन्द्रियसन्निकर्षमे कुछ उसके भीतर आये और इन्द्रियवृत्तिमे पदार्थको भी छोड दिया, केवल इन्द्रियके व्यापार तक आ गये और अब इन चार प्रमाणोमे इन्द्रियको भी छोड़कर आत्माके व्यापार तक आये। यहा और भीतर आये। लेकिन सबके आशयमे अज्ञानरूपता बन रही है। ज्ञानको प्रमाण नही माना और अब पाचवे प्रमाणमे ज्ञानको भी प्रमाण माना, जो परोक्षरूप ज्ञान है वह है प्रमाण, ऐसे ज्ञानको प्रमाण कहा है। वह ज्ञान खुदका ज्ञान नही कर सकता। ज्ञानका ज्ञान करने के लिए और ज्ञानकी जरूरत होती है ऐसे ज्ञानान्तरवेद्य ज्ञानस्वभावी आत्माके व्यापारको प्रमाण कहा है। वह भी युक्त नही कहा।

द्वितीय सूत्रमे बताया गया है कि ज्ञान ही प्रमाण हो सकता है, क्योकि ज्ञान ही हितकी प्राप्तिमे अहितके परिहारमे समर्थ है। इसमे हितप्राप्ति समर्थतासे सम्बन्धित एक प्रवचनांश देखिये-पृ० १०५-ज्ञानकी हितप्राप्ति-समर्थताका समर्थन-प्रमाणका स्वरूप पहिले सूत्रमे कहा गया था। स्व अपूर्व अर्थका व्यवसायात्मक जो ज्ञान है वह प्रमाण है। तो प्रमाण शब्दका तो खूब विवेचन किया गया था। इस सूत्रमे ज्ञानका विवेचन किया जा रहा है कि ज्ञानही प्रमाण है। अज्ञान क्यों नही प्रमाण बनता ? अज्ञानमे हितकी प्राप्ति करा देना और अहितका परित्याग करा देना यह सामर्थ्य नही है। जानकर हो तो हम हितकार्य को करते हैं और अहितकार्य को छोडते हैं। और, एक दृष्टिसे देखो तो जाननेमे ही हितकी प्राप्ति और अहितका परिहार हो जाता है। लौकिक बातोमे तो समयभेद मालूम होता है। जाना हमने अभी और हितकी प्राप्ति करेगे थोडी देरमे, लेकिन परमार्थसे, अध्यात्मदृष्टिसे ज्ञानके ही कालमे हितकी प्राप्ति होती है और अहितका परिहार होता है। जैसे अन्तर्ज्ञान होता है, यह आत्मा मात्र ज्ञानज्योतिस्वरूप है, ऐसा उपयोग गया, ऐसी ही मान्यता बनी, ऐसा ही अनुभव जगा तो उस कालमे हितरूप जो आत्मतत्त्व है उसकी प्राप्ति हो गयी। कही आत्मतत्त्वको पाने के लिए दौड नही लगानी पडती, कोई क्रिया नही करनी पडती, क्रिया रच नही होती, हलन चलन रच नही होती। उस ही क्षेत्रमे निश्चल होकर ज्ञान किया जाता है अतस्तत्त्वका। तो जिस क्षणमे जान लिया कि यह मैं आत्मा ज्ञानस्वभावमात्र हू तो ज्ञान ही इसका सर्वस्व है, सो उस ज्ञानने जब जब कषायोको त्याग दिया अर्थात कषायोका ग्रहण न किया, कषायोको पररूप जानकर ज्ञान ने त्याग दिया। यद्यपि आत्मक्षेत्रसे कषायें हटी भी नही है, लेकिन ज्ञान ने तो कषायको छोड दिया और अन्त. आत्मस्वरूपका ज्ञानने ग्रहण किया तो उस ज्ञानमे तो तत्काल हित की प्राप्ति और अहितका परिहार बन गया।

प्रमाणके समीचीन लक्षणके विरुद्ध क्षणिकवादी अनिश्चयात्मक निर्विकल्प ज्ञानको प्रमाण मानते है, इसके निराकरणके प्रवचनोके प्रसगमे देखिये निर्विकल्प व सविकल्प ज्ञानमें क्षणिकवादाभिमत परस्पर अध्यारोप की असिद्धिका एक प्रवचनांश-पृ० १२८-दोनो ज्ञानोमे परस्पर अध्यारोप की असिद्धि-यहा इस प्रकरणकी चर्चा यो आ गया कि आचार्य देवने इस सिद्धान्तमे यह बात रखी है कि प्रमाण वही ज्ञान होता होता है कि स्व एवं अपूर्व अर्थका व्यवसायात्मक हो अर्थात् जो निजका और पदार्थका निश्चय करे वह ज्ञान प्रमाण है। इस पर क्षणिकवादीने यह बात कही कि निश्चय करनेवाले ज्ञान तो सभी अप्रमाण होते है, क्योकि जिसका निश्चय कर रहे हो वे सब मिथ्या हैं और जो वास्तविक है उसका प्रत्यक्ष तो होता है पर निश्चय नही होता। यह क्षणिकवादका सिद्धान्त है। इस पर निर्विकल्प ज्ञानमे प्रमाणता नही है, यह बात अनेक विकल्प उठाकर कही जा रही है। तो पूर्व पक्षमे यह बताया है कि निर्वि-कल्पज्ञान और सविकल्प ज्ञानमे एकत्व भ्रम हो गया है, इस कारण निर्विकल्प ज्ञानकी लोगोंको प्रतीति नही है, एक का दूसरे में अध्यारोप हो गया। तो यह बतलाओ विकल्पज्ञानमें निर्विकल्पका आरोप

किया जा रहा है या निर्विकल्प ज्ञानमे विकल्पज्ञानका आरोप किया जा रहा है ? अर्थात् विकल्प ज्ञान को निर्विकल्परूपसे बनाना यही है विकल्पमे निर्विकल्पका आरोप । और निर्विकल्प ज्ञानको विकल्पात्मक बना डालना यही है निर्विकल्पमे विकल्पका आरोप । यदि विकल्प ज्ञानमे निर्विकल्पका आरोप करते हो तो विकल्प तो सब खतम हो गये, फिर व्यवहार कुछ रहना ही न चाहिए । सारे के सारे ज्ञान निर्विकल्प हो जाना चाहिए । सो निर्विकल्प ज्ञानसे कुछ लोगोंमें भी व्याख्या चलती है क्या ? और, यदि निर्विकल्पमे विकल्प डाल दिया तो निर्विकल्पकी बात ही मत करो । सब ज्ञान सविकल्प हो जायेंगे ।

समारोप (संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय) के विरोधी ज्ञानको प्रमाण कहते हैं, इस पर कुछ दार्शनिक समारोपका स्वरूप ही सिद्ध होने नहीं दे रहे थे, उसे असदख्याति, स्मृतिप्रमोष, प्रसिद्धार्थख्याति आदि नाम धर-धर के टाल रहे थे । सो समारोपका स्वरूप सिद्ध करने के प्रसंगमे निष्कर्षात्मक एक प्रवचनांश देखिये, तृतीय भागमे, पृष्ट २५४–सम्यग्ज्ञानमे समारोप का अभाव–सच्चा ज्ञान वह कहलाता है जो अपना और पदार्थों का यथार्थ निर्णय करे । सच्चे ज्ञानमे संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय नही होता । अर्थात् न तो सम्यग्ज्ञान मे संशय बसा रहता है कि अमुक पदार्थ यो है संशयज्ञान है, जहा सशयज्ञान न हो वह यथार्थ ज्ञान कहलाता है । सम्यग्ज्ञानमे विपर्यय ज्ञान भी नही होता । जैसे पडी तो रस्सी है और जान रहे हैं सांप, तो यह उलटा ज्ञान हुआ । विपर्ययज्ञान भी सम्यग्ज्ञानमें नही है, और अनध्यवसाय ज्ञान कहते है अनिश्चयको । जहां कुछ भी निश्चय की भावना तक भी नही है और कुछ झलक जरूर हुई है । जैसे चले जा रहे है, पैरमे तिनका लग गया तो उसमे और कुछ ध्यान न होना । अरे, लगा होगा कुछ । उस के निर्णय की भावना तक भी नही हो, यथार्थ ज्ञानमे यह अनध्यवसाय भी नही होता । यह है सिद्धान्त की बात ।

चतुर्थभागमे ज्ञेयतत्त्वका अपलाप करने वाले अद्वैतवादकी मीमासा करके अन्तमे निष्कर्षात्मक निर्णय दिया है, उस प्रवचनांशको पढ़िये–पृ० ३८८–ज्ञानकी प्रमाणता और ज्ञेयोका सद्भाव–भैया, सीधे मानो कि ज्ञान–मात्र आत्मा है, वह पदार्थका ज्ञान करनेमे समर्थ है और ज्ञानको कुछ न कुछ विषयभूत पदार्थ चाहिए ही । तो जो पदार्थ जाननका विषय आया वह पदार्थ अपनी सत्ता अलग रखता है । जाननहार ये चेतन पदार्थ अपनी सत्ता अलग रखते हैं, सब अपना अपना काम कर रहे हैं । इन जड पदार्थोंका काम उत्पादव्यय करते रहना है, सो अपने स्वरूपसे अपने ही अनुरूप वे उत्पाद व्यय करते हैं । इस चैतन्य आत्माका भी काम उत्पाद व्यय करता रहना है, सो चूं कि यह चैतन है इसलिए जानने के ढगसे यह अपना उत्पाद व्यय करता रहना है, ज्ञानका मात्र नवीन नवीन परिणमन होता रहता है । ज्ञान भी तत्त्व है और ये समस्त ज्ञेयतत्त्व हैं । इनमे से किसी का भी अपलाप नही किया जा सकता है । इन सबका जाननहार जो एक ज्ञान है वह ही सब व्यवस्था बनाता है और वह ज्ञान प्रमाण है । इस प्रकार यहा तक यह सिद्ध किया गया कि ज्ञानका स्वरूप ऐसा ही मानना चाहिए जो अपने आपके स्वरूपका प्रति–भास करे और समस्त पदार्थो का प्रतिभास कराये । और प्रकार से ज्ञानका स्वरूप मानोगे तो न स्वरूप बन सकेगा और न प्रमाणता आ सकती है ।

(१८९–१९१) परीक्षामुखसूत्र प्रवचन (प्रमेयकमलमार्तण्डप्रवचन) ५, ६, ७ भाग

इस पुस्तकके षष्ठ व सप्तम भागमें परीक्षामुखसूत्रके प्रथम अध्यायके छठे सूत्रसे अन्तिम १२ वें सूत्र तकके पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराजके प्रवचन हैं । ज्ञानकी अर्थव्यवसायात्मकता की भांति

स्वव्यवसायात्मकता सिद्ध करते हुए एक प्रवचनांशमे निर्णय दिया है, पढ़िये पृ० १४–अब जरा अनुभव से भी विचार लो कि हम जितना जो कुछ भी जानते हैं उस सबके जाननेके साथ साथ स्वयं मे भी सन्तोष होना, प्रतिभास होना, उजेला रहना, निर्णय रहना ये सब बाते चलती हैं ना। चाहे कोई इसका विश्लेषण न करता हो, उसे उस प्रयोगरूपमे बचनोमे न लेता हो, लेकिन प्रत्येक ज्ञानकी यह तारीफ है कि वह अपने आप को चेतता रहता है, तभी वह बाह्य पदार्थो का जाननहार होता है। ज्ञान स्वव्यवसायात्मक ही है क्योकि वह अन्य इन्द्रिय आदिककी अपेक्षा न रखकर पदार्थ की व्यवस्था करता है।

कोई दार्शनिक प्र तिसे ज्ञानकी उत्पत्ति होती है, उससे सम्बन्धित एक प्रवचनांश देखिये, प्रकृति क्या चीज है, तब विदित होगा कि ज्ञान प्रकृतिसे निराला है, पृ० २१-जैन शासनमें प्रकृतिका स्थान–प्रकृतिके सम्बन्धमे इसका समन्वय करनेके लिए थोडा जैनशासनके अनुसार सोचिये–जैसे कभी बहुत सुरम्य स्थान पर अपन पहुंचे। शिमला, मसूरी, काश्मीर किसी भी जगह जाये और रमणीक फल वृक्ष पत्ते वगैरह हो, नदी भी वह रही हो, नाला भी बहता हो, कलकलाहटके शब्द भी आ रहे हो, कुछ चिड़िया भा चहक रही हो तो ऐसे दृश्यको देखकर कोई लोग कहने लगते है–वाह कैसा रमणोक दृश्य है, देखो प्रकृति कितनी सुहावनी है। भला बतलावो तो सही कि वह प्रकृति क्या चीज है? किसका नाम प्रकृति है? और किसकी खूबी है जो इतना सुहावना दृश्य लगता है? क्या है वह प्रकृति? इसका जैनदर्शनसे निणय करें। वह प्रकृति है कर्म की। कर्ममे नाना प्रकृतिया पायी जाती हैं और जिस जोवके साथ जिस प्रकार की प्रकृति बधी हुई है उसके उदयमे उसका उस प्रकारसे परिणमन होता है। अब देख लीजिये–फूलोकी विचित्रता। कोई एक फूल ऐसा होता है जिसमें आप ७ रग पायेंगे और विचित्र ढगसे और उसीके पेडमे किसी जगह और ढगसे फूलोके रग पायेंगे। इतनी प्रकार की फूलोमे जो विचित्रता है वह क्या स्वाभाविक विचित्रता है? वह तो प्राकृतिक विचित्रता है, स्वाभाविक विचित्रता नहीं है। स्वभाव मे और प्रकृतिमे अन्तर है। प्रकृति तो एक कृत्रिम चोज है, आदिम है और स्वभाव आदिम नही है। तो इतनी प्रकार की विचित्रतामे उस रमणीक स्थानमे मालूम पड रही है वह है क्या? उन उन जीवो के साथ जिन जीवोने फूलका शरीर लिया है, पत्तीका शरीर लिया है उन उन जीवोके उस उस प्रकार की विचित्र कर्मप्रकृतिया लगी हुईहैं और उनके उदयमे उनका ऐसाविचित्र परिणमन चलरहा है। यह है प्रकृतिकी चीज। जब कहा कि कितने प्राकृतिक दृश्य है? तो उसका अर्थ यह है कि कर्म प्रकृतिके उदय से उत्पन्न हुई शरीरकी शोभा। उस प्रकृतिसे ज्ञान उत्पन्न नही होता, ज्ञानस्वरूप तो यह स्वय आत्मा है।

भौतिकवादी आत्माकी सत्ता नही मानते हैं, आत्माका सत्त्व है, यह समझ लेना कितना सुगम है, पढिये एक प्रवचनांशमे, पृ० ६१–आत्माकी अहप्रत्ययवेद्यता–चारुवाक जनोकी अविचारितरम्य शिक्षा सुननेमे तुरन्त तो अच्छी लगती है पर इस पर विचार करे तो यह ठीक सगत नही बैठ सकता, क्योकि आत्मा की प्रतीति तो अह प्रत्ययसे ही हो रही है। प्रत्येक जोव अपने आपमे अनुभव कर रहे है, मैं सुखी हू मैं दु.खो हू, मैं ऐमी पोजोशन का हू, यो जिसमे अह प्रत्यय बन रहा है वही तो आत्मा है और ऐसा अह अहंका अनुभव प्रत्येक प्राणोमे हो रहा है। मैं यो होऊ, मैं ऐसा न होऊ, मैं दु.खी होऊ गा, मैं सुखी होऊ गा, यह किसमे मैं मैं की आवाज अन्दरमे उठ रही है? हाथमे कि पैरमे कि शिरमे? जिसमे अह प्रत्यय हो रहा है वहो तो आत्मा है और यह बात मिथ्या है नही, क्योकि कोई बाधा नही आ रही। अपने अपने मे सब लोग अह अहका अनुभव किए जा रहे हैं। यह अह प्रत्यय किस आधार से उठा, इसका उपादान क्या है? बस वही आत्मा है। यह अहं बोध शरीरके आश्रयसे नही होता, क्योंकि

महका अनुभव इन्द्रियके व्यापार विना ही रहा है। शरीर तो इन्द्रियके व्यापारसे जान लिया जाता है। इन्द्रियके व्यापार बिना शरीरका बोध तो नहीं होता।

ज्ञान स्वका भी सवेदन करता ही है, इससे सम्बन्धित एक प्रवचनांश पढ़िये–पृ० १३२–स्वका ज्ञान स्व से हो–प्रकरण यह है कि सिद्ध यो किया जा रहा कि ज्ञान स्वसंवेदक है. ज्ञान परका भी और अपने आपका भी ज्ञान करता रहता है। परोक्ष ज्ञानवादियोने यह तो मान लिया कि ज्ञान पर पदार्थका प्रकाश करता है, पर यह नही माना कि ज्ञान स्वका भी प्रकाश करता है। जैसे दृष्टान्तमे कहा जाय कि दीपक, बिजली खुदका भी प्रकाश करता है और परपदार्थका भी प्रकाश करता है। कमरे मे जो चीज रखी हुई है चौकी है उसका भी प्रकाश करता और अपना भी प्रकाश करता है। अब इसमे से कोई इतनी बात तो मान ले कि दीपक पर पदार्थका भी तो प्रकाश करता है मगर खुदका प्रकाश नहीं करता, तो यह बात कोई मान लेगा क्या ? जो दीपक खुदका प्रकाश नही कर सकता, तो वह पदार्थका भी प्रकाश नही कर सकता। क्या किसी जलते हुए लट्टूको देखनेके लिए कोई और रोशनी तलाश करता है ? नही करता ना ? कोई यह तो नही कहता कि हमें बत्ती या लालटेन लावो उस कमरे से प्रकाशक लालटेन उठा लावें। अरे जो लालटेन जल रही है वह तो अपने आप मालूम पड जावेगी कि यह जल रही है। ऐसे ही ज्ञान खुदमे प्रकाश करता है या नही करता ? हम जिस ज्ञानसे पदार्थको जानते हैं वह ज्ञान भी हमको एक निर्णय बताता हुआ जग रहा है या नही जग रहा है ? इस बातको पूछनेके लिए हम किसी दूसरेके पास जाये क्या ? हम चौकीको जान रहे हैं ऐसा ज्ञान मेरे मे है या यह बात मैं किसी दूसरे से पूछने जाऊ क्या ? अरे, जिस ज्ञानसे जान रहे हैं वह ज्ञान उसी में अपने आप स्पष्ट है।

ज्ञानकी स्वपर प्रकाशकताका परम विशुद्ध रूप देखिये एक प्रवचनांशमे, पृ० १७८–प्रभुपरिचय–प्रभुका कुछ और परिचय सुनो। ये परमात्मा ज्ञान उपयोग द्वारा भी अपने आत्मामे रहा करते हैं। ठीक है, पर कुछ बाहरी बात समझमे नही आयी कि कहा रहते हैं ? उनका बाहरमें स्थान कुछ नही है। वे अपने परमौदारिक शरीरमे रहते हैं। और, ये क्या किया करते हैं ? यह तो नाम और स्थानका परिचय है। ये परमात्मा अपने ज्ञान और आनन्दस्वभावका निरन्तर शुद्ध विलास किया करते हैं। यही उनका रोजिगार है। न उनके भूख प्यास है, न कोई रोग है, न कोई अन्य द्वन्द पद है, संयोग मोह ममता आदिक कोई विडम्बनायें भी वहा नही हैं, केवल आत्मा आत्माका स्वरूप है। यह ज्ञान द्वारा समस्त विश्वको जानते रहते हैं। यो स्व और पर प्रकाशक भानुकी तरह उनका ज्ञानभी स्वपरप्रकाशक है। तो इसकामके करनेसे उन्हे नफा क्या होता है ? वेनिरन्तर ज्ञानके द्वारा अपने स्वरूपको और समस्त विश्व को जानते रहते हैं। ऐसे पुरुषार्थका, रोजिगारका, परिणमनका फल क्या मिलता है उन्हे ? फल उन्हे मिलता है अनन्त आनन्द। जहा केवल ज्ञाता द्रष्टा रूप परिणमन है। सब विश्वके ज्ञाता हैं पर किसी भी बाह्य पदार्थ मे उनके मोह नही, रागद्वेष नही। अतएव वे प्रभु अनन्त आनन्दको भोगते रहते हैं।

प्रमाण स्वरूपकी विविध मीमासाके बाद कितने सक्षेप और सरलतामे ज्ञानके प्रमाणत्व का वर्णन है देखिये पृ० २०७–२०८–ज्ञानमे ही प्रमाणत्वकी सिद्धि–इस परिच्छेद अब तक यह सिद्ध किया गया है कि प्रमाण क्या होता है, कैसा होता है ? उसका लक्षण बताया है कि जो स्व और अपूर्व अर्थका निश्चय कराये वह ज्ञान प्रमाण होता है। वाक्य कितना छोटा है। स्व अपूर्व अर्थका प्रकाश करे–वह ज्ञान प्रमाण है, ये ५ शब्द हैं प्रमाणके स्वरूपमे। उन ५ विशेषणोको सिद्ध करने के लिए अब तक इसका कथन हुआ

है। प्रतिलोम पद्धतिसे विचार करो, ये ५ शब्द मान लीजिये, जिसका स्वरूप कहा जा रहा है उसको भी मान लीजिये प्रमाण ज्ञान ही होता है अज्ञान नही। आप सोचते होगे कि क्या कोई लोग अज्ञानको भी प्रमाण कहते हैं जिससे यह जोर दिया जा रहा है कि प्रमाण ज्ञान ही होता है, अज्ञान नही होता, हा मानते हैं बहुत से लोग। व्यवहारी जन भी इतना तो मानते हैं। कोई जज पूछता है कि यह मकान तुम्हारा है. इसका प्रमाण क्या है ? तो झट रजिष्ट्री किया हुआ कागज आगे रख देते हैं और कहते हैं कि यह गवाह प्रमाण है अथवा द्वार से जाकर कोई गवाह बुला लाते हैं और कहते हैं कि यह गवाह प्रमाण है। अरे ये कागज और ये गवाह दोनो प्रमाण है ? हा कागज और गवाह को देखकर जजमे जो ज्ञान बना वह प्रमाण है। गवाहके द्वारा कहे हुए वे वचन भी प्रमाण नही है, ये वचन भी अज्ञान हैं। अरे वह प्रमाण नही है।

सप्तम भागमे प्रमाणसिद्ध प्रमाणताका साधन निर्णीत किया हैं कि प्रमाणका प्रामाण्य स्वत भी होता है और परत. भी होता है, इससे सम्बन्धित एक प्रवचनाश देखिये–पृ० २१०–प्रामाण्यको उत्पत्ति और ज्ञप्तिका विश्लेषण–प्रामाण्यके सम्बन्धमे यह सिद्धान्त बना कि ज्ञानसे कुछ जाना उसको प्रमाणता पक्कायत, हा यही ठीक है, मेरा ज्ञान सही है, इस प्रकारको प्रमाणता होना अभ्यास दशामे तो खुद–बखुद है और अनभ्यास दशामे, अपरिचयकी जगहमे परसे हुआ करती है। लेकिन, भीतर जो किसी ज्ञानको, यह प्रमाण है, क्या ऐसी उसको प्रमाणता ठीक करनेके लिए जो बृत्ति जगती है वह एक भिन्न ज्ञान है याने अन्य ज्ञानसे प्रमाणता बनी अथवा चक्षु आदिक इन्द्रिय निर्दोष है उन परसे उत्पन्न हुई है। इस प्रसङ्गमे यह बताया जा रहा कि ज्ञान जानता है, पर ज्ञान ठीक जान रहा है उसकी प्रमाणता जिस निमित्तसे ज्ञान होता है उस परसे उत्पन्न होती है, मगर ज्ञप्तिकी क्रियामे जाननकार्यमे और जाननका फल है अनिष्टसे हट जाना, इष्ट पदार्थमे लग जाना, इस प्रकारकी प्रवृत्ति और इन्द्रियके अर्थ होने वाला ज्ञान ये परिचयकी स्थितिमे स्वत होते हैं और अपरिचयकी स्थितिमे परत. होते है।

प्रामाण्यकी ज्ञप्ति जो स्वत होती है, किन्तु उत्पत्ति निमित्त दृष्टिसे परत भी होती है। लेकिन जब उपादान दृष्टिसे देखा जाय तब प्रामाण्यकी उत्पत्ति भी स्वत. होती है–देखिये प्रवचनाश–पृ० २३२–उपादानदृष्टिसे ज्ञान और प्रामाण्यकी उत्पत्तिका स्वतः ही विधानउक्त उदाहरणकी भांति ज्ञान की भी बात है। ज्ञान यद्यपि आत्माके ज्ञानस्वभावसे ही उत्पन्न होता है परपदार्थो के स्वभावसे नही। ज्ञानमय आत्माकी परिणति हो ज्ञान है, लेकिन आज जो ससार अवस्थामे जीवोकी अवस्थायें हैं उन अवस्थाओमे ज्ञान आवृत है, ज्ञान अविकसित है, उसका विकास इन्द्रिय और मनका निमित्त पाकर बनपाया है तो निमित्त दृष्टिसे उत्पत्ति परसे हुई, उपादान दृष्टिसे उत्पत्ति स्वयसे हुई। एक बालक स्कूलमे पढता है, उसके अध्ययनके लिए, उसके ज्ञानविकासके लिए गुरूका शिक्षण लेना चाहिए, पुस्तक चाहिए, कापी, पेन्सिल, कलम आदि चाहिए, सब साधनोको वह जुटाता है, पर बालकमे जो ज्ञानका विकास हुआ वह क्या कागज, पेन्सिल, कलम, दवात आदिक चीजोसे निकलकर हुआ। ये सब तो अजीव हैं, जड़ है, जडसे ज्ञान आता हो नही है और गुरुका ज्ञान कोई आनेको चीज है ? गुरुका ज्ञान गुरुके आत्मामे ही परिसमाप्त होता है। गुरुका ज्ञान यदि गुरुसे निकलकर लडकोमे जाने लगे तो कुछ ही दिनोमे वह गुरु तो ज्ञानशून्य हो जायगा, क्योकि ४०–५० लडकोको ज्ञान दिया वहा ज्ञान खतम। प्रत्येक पदार्थकी अवस्था उस ही पदार्थमे उत्पन्न होती है, पर वो निमित्त मात्र है।

(१६२–१६४) परीक्षामुखसूत्र प्रवचन (प्रमेयकमलमार्तण्डप्रवचन) ८, ६, १० भाग

इस पुस्तकमे द्वितीय परिच्छेदके प्रथम ११ सूत्रो पर पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराजके

प्रवचन हैं। दार्शनिक पद्धतिसे प्रत्यक्षके जो भेद किये गये हैं उनका सिद्धान्त से समन्वय देखिये एक प्रवचनांशमें, पृ० १४, १५ ज्ञानका भेदविस्तार- जैन शासनमे ज्ञानका भेद विस्तार इस प्रकार किया गया है कि मूलमे ज्ञान एक है। जो जाने सो ज्ञान। जाननमात्र स्वरूपको लक्ष्यमे लेकर सभी जितनेभी भाव किये जायेंगे वे सब ज्ञानरूप हैं, फिर उस ज्ञानके दो भेद हैं, प्रत्यक्ष और परोक्ष। प्रत्यक्ष और परोक्षकी वास्तविक व्याख्या तो यह है कि जो इन्द्रिय मनकी सहायताके बिना केवल आत्मीय शक्तिसे जाने वह तो है प्रत्यक्ष ज्ञान और जो इन्द्रिय मन आदिकका निमित्त पाकर जाने उसका नाम है परोक्षज्ञान। फिर भी प्रत्यक्ष ज्ञानमे चूंकि स्पष्टता आती है अवधिज्ञानसे जो जाना जायगा वह स्पष्ट ज्ञात होगा, और मन पर्यय और केवलज्ञानसे जो जाना जाता है वह स्पष्ट जाना जाता है, तो उस स्पष्टताकी नकल कुछ कुछ इन इन्द्रिय प्रत्यक्षोमे पायी जाती है। जैसे कि हम आप लोग कहा करते हैं कि हमने आखसे प्रत्यक्ष देखा, आखसे किसी बातको देख लेने पर फिर सन्देह नही रहता। स्पष्टता रहती है तो यह इन्द्रिय प्रत्यक्षकी स्पष्टता कुछ स्पष्टता जैसी है अतएव प्रत्यक्षके दार्शनिक शास्त्रोमे दो भेद किए गये—साव्यवहारिक प्रत्यक्ष और पारमार्थिकप्रत्यक्ष। इन्द्रिय और मनसे सीधा जो जाना जाता है वह साव्यवहारिक प्रत्यक्ष है और अवधिज्ञान, मन. पर्यय, केवलज्ञान ये पारमार्थिक प्रत्यक्ष हैं।

परोक्षज्ञानके स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम ये प्रकार हैं। जो दार्शनिक इनमें से किसी को कम करके या इनसे अतिरिक्त उपमान अभाव आदि जोडकर प्रमाण प्रकारोकी सख्या कबूल करते हैं उनके मन्तव्य की विस्तृत मीमासा की गई है। जेसा अभाव प्रमाणविषयक चर्चा देखिये एक प्रवचनाशमें, पृ० ६५, ६६—अभाव की वस्त्वन्तरसद्भावरूपता—जैन शासनमे अभाव को किसी अन्य वस्तुके सद्भावरूप माना है। जैसे रोटी बनाते है तो जिस समय लोई बनाये हुए हैं उस समय लोईमे रोटीका अभाव है कि नहीं? अभी लोई है, रोटीकहा है? तो रोटीका जो अभाव है वह लोईके सद्भावरूप है, अभावबिना भावनही होता। अभाव किसी सद्भावरूप होता है; तो जोलोग अभावका कुछ नही मानते अवस्तु मानते अवस्तुका ज्ञान उत्पन्न नही हो सकता, अवस्तु ज्ञानजनक नही हो सकता। वस्तु ही कार्यको उत्पन्न कर सकती, अवस्तु नही, क्योकि जो अवस्तु है उसमे द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावका भी अभाव है और जो भी वस्तु है उसमे द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावका सद्भाव है। जैसे यह घडी है तो घडीका जो पिण्ड है वह इसका द्रव्य है। यह घडी जितनेमे फैली है वह उसका क्षेत्र है, जो रूप रग नई पुरानी आदि अवस्थाये हैं यह उस घडी का काल है और घडीका जो स्वभाव है, गुण हैं वह घडीका भाव है। तो जो वस्तु है उससे द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव होते हैं, उसमे शक्तिया होती हैं, उसमे सामर्थ्य होता है।

अभावप्रमाणको स्वतत्र प्रमाण सिद्ध करनेका यत्न करने वाले दार्शनिक प्रागभाव, प्रध्वसाभाव का कारण अन्य है, प्रध्वसाभावका कारण अन्य हैं, तब उनका जो समाधान दिया गया उसका एक प्रवचनाशमे दिग्दर्शन कीजिये, पृ०_१४२—प्रध्वस और उत्पादके कारणभेदकी मीमासा—भिन्न कारणप्रभवताका हेतु देकर अभाव को भिन्न पदार्थ माननेको शल्यका निराकरण प्रतीतिके बलपर ही हो जाता है। घटके विनाशका प्रकार और कारण जुदा हो और कपालोके उत्पाद का प्रकार और कारण जुदा हो ऐसी किसी को भी प्रतीति नहीं होती। जो प्रक्रिया कपालके उत्पाद और घटके विनाशकी बताई गई है उसमें एक ही बात हुए। बलवान पुरुषके द्वारा प्रेरित मुदगरादिके व्यापारसे घटाकाररहित कपालाकार मृत द्रव्यकी उत्पत्ति हुई है। लोकोको जो सही सुगम प्रतीति होती है उसका अपलाप करके शब्दशास्त्रके पाण्डित्य का प्रयोग करनेमे कोई हित नही है। घटका अभाव और कपालका सद्भाव एक ही समयमे हुआ है और उस ही समयका जो परिणमन है वही घटका अभाव कहलाता है और वही कपालका उत्पाद है।

लोग कहते हैं कि यह ज्ञान स्पष्ट है और यह स्पष्ट नही, स्पष्टताका सही अर्थ क्या है इसे पढिये पृ० १७० पर एक प्रवचनांशमें-ज्ञानान्तरकी आड बिना होने वाले प्रतिभासमें वैशद्यरूपता-इस सूत्रमे स्पष्टता का लक्षण कहा गया है। इस सूत्रका भाव जो भी आगे कहेंगे वह कठिन नही है। साथ ही उसमें बहुत से तत्त्व अपने आत्माका प्रासाद बढाने वाले मिलेंगे। वैशद्यके लक्षण मे कहते है कि अन्य ज्ञानके व्यव-धान बिना जो प्रतिभास होता है उसे वैशद्य कहते है। वैशद्य कहो या स्पष्टता कहो, एक ही बात है। विशद शब्दसे बनता है वैशद्य और स्पष्ट शब्दसे बनता है स्पष्टता। तो स्पष्टताका लक्षण बताया है कि जिस ज्ञानसे जाना जा रहा है उस ज्ञानका अन्य ज्ञानके व्यवधानसे न हो तो स्पष्टता है। और इसी समय थोडा दृष्टान्त देकर बता दें, आखोसे देखा, झट जान गये, इसमे किसी दूसरे ज्ञानकी प्रतीक्षा नही प्रतीक्षा नही करनी पडी, किसी ज्ञानके हाथ नही जोडने पड़े कि कोई अन्य ज्ञान बने तब हम सामनेकी चीजको जान पाये। ज्यो ही आखे खोली कि पदार्थ जान गये। इसके बीचमे किसी अन्य ज्ञानका उदय नही है और जब अनुमान ज्ञान करते है, धूम देखकर अग्निका ज्ञान किया तो अग्निका ज्ञान करना अनुमान कहलाता है, मगर उस अग्निका ज्ञान करनेमे धूमका ज्ञान करना पडा। तो धूमके ज्ञानका उस मे व्यवधान आ गया। सीधा ही अग्निका ज्ञान नही बना वहा पहिले धूमका ज्ञान किया और फिर तर्क याने व्याप्तिका ज्ञान किया। जहा जहा धुवा होता है वहा वहा अग्नि होती है, इस प्रकार का ज्ञान हुआ तब जाकर अग्निका बोध हुआ। तो आप जान गये होंगे कि अग्निका ज्ञान करने वाले अनुमान ज्ञानके बननेके लिए अन्य ज्ञानोको जरूरत पड़ी, उनकी बाट जोही, उनका व्यवधान बना। तो अनुमान ज्ञान परोक्षज्ञान हुआ, स्पष्ट ज्ञान हुआ। तो इसी दृष्टिको लेकर इस लक्षणका भेद समझियेगा।

कुछ दार्शनिकोंने सन्निकर्ष माननेकी क्यो कल्पना की, इसका दिग्दर्शन कीजिये-पृ० १८८-प्रत्यक्षके लक्षणका मूल विवाद-यहा मूल प्रकरण तो प्रत्यक्षके लक्षणका था, उसमे प्रसगवश यह बात चल रही है और यह बहुत लम्बे समय तक चलेगी कि आखे पदार्थ से भिडकर नही जानती और नैयायिक यह सिद्ध करेंगे कि आखें पदार्थको छूकर ही जानती है। इन दो बातोंपर अभी बहुत विवाद चलेगा। किस बात पर विवाद छिड गया ? मूल बात यह है कि प्रत्यक्षका लक्षण यह किया गया था कि जो विशद ज्ञान हो सो प्रत्यक्ष है, विशदका अर्थ बताया था कि जो अन्य ज्ञानोकी अपेक्षा किये बिना प्रकृत ज्ञानसे ही सीधा जान लिया जाय उसे विशद कहते हैं। इस लक्षणको मेटनेके लिए नैयायिकोंने यह लक्षण उपस्थित किया था कि इन्द्रिय और पदार्थ के भिड़नेसे ज्ञान उत्पन्न होता है वह प्रत्यक्ष है। मन पदार्थो से भिडकर नही जानता इसलिए स्मरण आदिक जो कुछ होते है उनमे प्रत्यक्षका लक्षण नही जाना। इस प्रकार मुकाबलेमे प्रत्यक्षके लक्षणमे सन्निकर्षको देनेके कारण सन्निकर्षका खण्डन किया जा रहा है कि इन्द्रिय और पदार्थके सम्बन्धसे उत्पन्न ज्ञानको प्रत्यक्ष मानना युक्त नही है। ज्ञान तो अपनी स्पष्टताके कारण प्रत्यक्ष है।

कुछ दार्शनिक मानते है ज्ञान पदार्थमे उत्पन्न होता है, और ऐसा सिद्धान्त बनाकर ही व्यवस्था बना पाते है कि जो ज्ञान घटसे पैदा हुआ वह ज्ञान घटज्ञान कहलाता है। इस मन्तव्यका विस्तृत निराकरण करनेके बाद एक निराकरण इस संक्षिप्त प्रवचनांशमे देखिये-पृ० २१९-ज्ञानकी अर्थकार्यताका संशयज्ञानके साथ व्यभिचार-अब दूसरी बात यह देखिये कि संशयज्ञानमे भी संशयका कल्पित पदार्थ नही है और ज्ञान हो रहा है, सम्यग्ज्ञानमें अनेक कोटि वाले ज्ञान होते है, यह सीप है या चादी है, इस प्रकार का जो ज्ञान हो रहा है, ऐसा ज्ञान होने के लिए वहा दोनो पदार्थ मौजूद होने चाहिएं। यदि पदार्थसे ज्ञान उत्पन्न होता है यह माना जाय। हाँ दोनो पदार्थ तो फिर उसे संशय क्यो कहते ? भ्रान्त क्यो कहते ? सही ज्ञान

कहलाना चाहिए और, संशयज्ञान तो तभी होता है जब वहा पदार्थ तो अनेक नही हैं, पदार्थ तो कोई एक है और कोटिया अनेक वन रही है। यह सीप है, या चादी है, या काच है अनेक कोटिया वन सकती है। एक जगह स्थाणु और पुरुष ये दोनोके सिद्ध हो सकते हैं, पदार्थ तो कोई एक पडा है और ज्ञान यहा सशय चल रहा है तो जब दो पदार्थ वहा नही हैं तो सशय ज्ञानकी उत्पत्ति कैसे हो गई ? इससे सिद्ध है कि ज्ञान पदार्थ से उत्पन्न नही होता। वह तो अपनी योग्यतासे अपनी ही विधिसे उत्पन्न हुआ करता है।

सकलप्रत्यक्षज्ञान होता है आवरण कर्मक्षयसे, यह वात समझनेके लिए पौद्गलिक कर्मकी सिद्धि करना आवश्यक है सो कर्म का अनुमापक हीनस्थान शरीरका सम्पर्क है। इस प्रसगमे शरीर की हीनस्थानता सिद्ध की है एक प्रवचनाशमे, देखिये पृ० २६०—शरीरकी हीनस्थानताकी सिद्धि—यह शरीर हीनस्थान है क्योंकि शरीर आत्माके दुःखका कारण है। जैसे कारागार, जेलखाना यह हीनस्थान है या उच्चस्थान है ? हीनस्थान है, ऐसे ही यह शरीर हीनस्थान है, सारे दुःख इस शरीरके कारण लगते है। क्षुधा, तृषा आदिक रोग ये तो शरीरके कारण स्पष्ट है, नामवरी के रोग भी शरीरके कारण हैं, इस जीवने अपने प्राप्त शरीर के ढाचेको माना कि यह मैं हू, तो अब इसकी अभिलाषा हुई कि मेरा नाम होना चाहिए। मेरेके मायने यहा उस सहज चैतन्यस्वरूपका नही, यहा मेरे के मायने है यह शरीर। उस चैतन्यस्वरूपकी किसे खबर है ? अगर उसकी खबर हो तो नामवरीकी चाहभी नही होसकती, क्योकि यह तो निर्विकल्प एक ज्ञानप्रकाशमात्र तत्त्व है। नामवरी होना चाहिए, किसकी ? जो शरीर मिला है, ढाचा, सकलसूरत मिली है, वस इसकी नामवरी होना चाहिए। अब नामवरी की आशामे कितने क्लेश सहने पड रहे हैं। कैसे कैसे गन्दे कलंकित मलिन पुरुषोको भी प्रसन्न करनेका मनमे विकल्प करना पड रह है, कितना कठिन परिश्रम करना पडता है। आत्माके शुद्ध दर्शन से भी हाथ धो देना पडता है। तो नामवरी फैलानेका रोग भी इस शरीरके कारण है। वडे छोटे रूपोका नाम तो लो, कुछ भी नाम लो—परिवार मे नही वनती अथवा पुत्रादिकका क्लेश है, सुपुत कुपूत की वेदन है तो यह क्यो हुआ ? अमुक रिश्ते-दारने धोखा दिया है, अमुकका व्यवहार ठीक नही है, जितने भी दुःख हो रहे हो मानसिक दुःख भी हो रहे हो तो उन सवका कारण यह शरीर है। तो शरीर समस्त दुःखोका कारण है इस कारण शरीर हीनस्थान है।

(८५–१८८) परीक्षामुखसूत्र प्रवचन (प्रमेयकमलमार्तण्डप्रवचन) ११, १२, १३, १४ भाग

इस पुस्तकमे सृष्टिकर्तृत्व, प्रकृति पुरुषवाद, सत्कार्यवाद, प्रभु क कवलाहार, मुक्तिस्वरूप, अद्वैतवाद आदि अनेक दार्शनिक विषयोपर समीक्षणात्मक प्रवचन हैं। सृष्टिकर्तृत्वके सम्वन्धके प्रवचनोके वीच एक प्रवचनाश पढिये-पृ० ५९—सशरीरताके विना प्रयोक्तृत्वका अभाव—खैर किसी तरह मान भी लिया जाय कि जो कर्ता है, प्रयोक्ता है उसका पदार्थों के परिज्ञान के साथ अव्यभिचार है, किन्तु जो शरीररहित ईश्वर है उसमे तो प्रयोक्तापन वन ही नही सकता। अमूर्त न शरीर नही है तो प्रयोक्ता कैसे वन सकेगा ? यहा हम आप जितने मनुष्य हैं ये प्रयोक्ता वन रहे हैं। तो शरीररहित है तव ना। शरीर रहित कोई एक ईश्वर कैसे उसके कार्यो का प्रयोग कर सकता है ? कार्य व हेतु देकर शकाकारने ईश्वरको कर्ता कहा और उसमे दृष्टान्त दिया कुम्हारका, जैसे घट कार्यका करने वाला कुम्हार है इसी प्रकार समस्त विश्वका करने वाला ईश्वर है। लेकिन दृष्टान्तमे जो कहा गया कुम्हार, वह तो असर्वज्ञ है, कृत्रिम ज्ञान वाला है। तो कर्तापना ऐसे पुरुषोके साथ ही रह सकता है जो अनीश्वर हो, असर्वज्ञ हो, कृत्रिम ज्ञान वाला है तो जब दृष्टान्तका कार्यपना एक अनीश्वर, असर्वज्ञ कृत्रिम ज्ञान वाले के साथ व्याप्त है तो सारे काम ऐसे

के ही साथ व्याप्त होगे जो अनीश्वर हो, असर्वज्ञ हो, कृत्रिम ज्ञानवाला हो। तब तुम्हारा जो अनुमान है उसमे हेतु विशिष्ट हो गया। कार्यत्व हेतु देकर यहा सर्वज्ञ ईश्वरको कर्ता सिद्ध करना चाह रहे थे, मगर उसके द्वारा असर्वज्ञत्व ही सिद्ध होता है।

सृष्टिकर्तृत्वकी समीक्षाके बाद देखिये इस प्रवचनांशमे यह सिद्ध किया गया है कि चेतन की परिणतिमे अन्य चेतन निमित्त तक भी नही हो सकता, पृ० ९३–चेतनकी परिणतिमे अचेतन की निमित्तता–एक बात और जान लेने को है कि चेतनको तो कोई अन्य चेतना निमित्त भी नही बनती किसी काममे। चेतन विभावमे सुधार बिगाड अचेतन निमित्त हुआ करते है, चेतनके किसी भी सुधार बिगाड आदिकमे चेतन निमित्त नही है. इस बातको कुछ विशेषतासे सोचते जाइये। कदाचित् यह शका कर सके कि एक जीवको दूसरा ज्ञानी पुरुष उपदेश देता है और उसके सुधारमे कारण बनता है तो देखो ना कि एक चेतनके सुधारमे दूसरा चेतन निमित्त हो गया, किन्तु आशकाकार यहा यह भूल जाता है कि उस चेतनको जो सन्मार्ग प्राप्त हुआ है उसमे अतरग निमित्त कारण तो कर्मो का उपशम क्षयोपशम है और बाह्य कारण निरखा जाय तो वे वचन वर्गणायें, वे सब अचेतन चीजें बाह्य कारण है। किसी चेतन का चैतन्यस्वरूप इस चेतनको चिन्तनमे विषयभूत तो हो सकता है, आश्रयभूत तो हो सकता है, इसका ख्याल करके लक्ष्य करके स्वतन्त्रतया वह अपने आपमे परिणमन करे यह बात तो हो सकती है, पर कोई चेतन इसका निमित्त बने अथवा चैतन्यस्वरूप अन्य इसके सुधार का निमित्त बने यह बात कहा आयी ?

सत्कार्यवादमे बन्ध व मोक्ष दोनो की ही सिद्धि नही हो सकती, इस सम्बन्धित प्रवचनांशको पढ़िये–पृ० १४०–सत्कार्यवादमे बन्ध और मोक्षके अभावका प्रसग–अब जरा औरकुछ अन्य बात देखो इस मान्यता मे कि कारण आदिक पदार्थो मे कार्य सदा सत् रहता है, बन्ध और मोक्ष बन ही नही सकता है, क्योकि बन्ध होता है मिथ्याज्ञानसे और मिथ्याज्ञान सदा है सो बन्ध भी सदा है तब उनको मोक्ष कैसे होगा ? यदि यह कहो कि प्रकृति और पुरुषमे उनकी अपने अपने स्वरूपका उपलब्धिका तत्त्वज्ञान बनता है, उससे मोक्ष होता है। बात तो सही बतायी जा रही है कि यथार्थ ज्ञानसे मोक्ष होता है। आत्माका क्या स्वरूप है ? कैवल्यका और प्रकृतिका क्या स्वरूप है ? उनके उस कैवल्यस्वरूपका ज्ञान होने से मोक्ष होता है। जिसे कुछ उदाहरणके रूपमे यो समझिये कि जैसे प्रकृति और आत्मा। आत्माका निश्चयरूप क्या है और कर्मका प्रकृतिका इनका निजी स्वरूप क्या है ? अथवा स्वभाव और विभावमे स्वभाव का लक्षण क्या है, इन दोनो का बोध होने पर उन उनके कैवल्यकी, उन उनके अपने आपके लक्षणकी उपलब्धि करे, वहा ही उपयोग रखे, इससे मोक्ष होता है। समाधानमे कहते है कि भाई कही तो है भेदविज्ञानकी बात लेकिन सत्य यों नही हो पाता कि वह तत्त्वज्ञान भी सदा अवस्थित है। सत्कार्यवादमे सब चीजे सत् रहती हैं तो फिर सब चीजें सदा हैं, तब फिर बन्ध कैसे सिद्ध हो सकता है ? फिर न बन्ध सिद्ध हो सका और न मोक्ष।

कुछ लोग परमात्माके आहार की भी कल्पना करते है, इस सम्बन्धमे विस्तृत चर्चा करने के पश्चात् एक प्रवचनांश प्रभुके अतिशयोका दिग्दर्शन कराया है, पढिये पृ० १७७–१७८–प्रभुताके कारण प्रभुमे अनेक अतिशय–धर्मके प्रतापसे जो घातिया कर्मो का नाश कर प्रभु हुए हैं उनमे ऐसा अलौकिक अतिशय है कि वे ग्रासाहार नही करते है और विशुद्ध शरीरवर्गणाये जो उनके शरीरमे चारो तरफसे आती हैं, उनके बल पर ही वे बडे सुन्दर जीवनसे जीते हैं। जब तक उनकी आयु है और आयु समाप्त होने पर भी शरीर–रहित सिद्ध भगवान हो जाते हैं। उनके आहार की अभिलाषा आदिक की बातें करना यह तो उनका

कहलाना चाहिए और, संशयज्ञान तो तभी होता है जब वहां पदार्थ तो अनेक नही है, पदार्थ तो कोई एक है और कोटिया अनेक बन रही हैं। यह सीप है, या चादी है, या कांच है अनेक कोटिया बन सकती है। एक जगह स्थाणु और पुरुष ये दोनोके सिद्ध हो सकते है, पदार्थ तो कोई एक पटा है और ज्ञान यहा संशय चल रहा है तो जब दो पदार्थ वहा नही है तो संशय ज्ञानकी उत्पत्ति कैसे हो गई ? इससे सिद्ध है कि ज्ञान पदार्थ से उत्पन्न नही होता। वह तो अपनी योग्यतासे अपनी ही विधिसे उत्पन्न हुआ करता है।

सकलप्रत्यक्षज्ञान होता है आवरण कर्मक्षयसे, यह बात समझनेके लिए पौद्गलिक कर्मकी सिद्धि करना आवश्यक है सो कर्म का अनुमापक हीनस्थान शरीरका सम्पर्क है। इस प्रसगम शरीर की हीनस्थानता सिद्ध की है एक प्रवचनाशमे, देखिये पृ० २६०—शरीरकी हीनस्थानताकी सिद्धि—यह शरीर हीनस्थान है क्योकि शरीर आत्माके दु खका कारण है। जैसे कारागार, जेलखाना यह हीनस्थान है या उच्चस्थान है ? हीनस्थान है, ऐसे ही यह शरीर हीनस्थान है, सारे दु ख इस शरीरके कारण लगते हैं। क्षुधा, तृषा आदिक रोग ये तो शरीरके कारण स्पष्ट है, नामवरी के रोग भी शरीरके कारण हैं, इस जीवने अपने प्राप्त शरीर के ढाचेको माना कि यह मैं हू, तो अब इसकी अभिलाषा हुई कि मेरा नाम होना चाहिए। मेरेके मायने यहा उस सहज चैतन्यस्वरूपका नही, यहा मेरे के मायने है यह शरीर। उस चैतन्यस्वरूपकी किसे खबर है ? अगर उसकी खबर हो तो नामवरीकी चाहभी नही होसकती, क्योकि यह तो निर्विकल्प एक ज्ञानप्रकाशमात्र तत्त्व है। नामवरी होना चाहिए, किसकी ? जो शरीर मिला है, ढाचा, सकलसूरत मिली है, बस इसकी नामवरी होना चाहिए। अब नामवरी की आशामे कितने क्लेश सहने पड रहे हैं। कैसे कैसे गन्दे कलंकित मलिन पुरुषोको भी प्रसन्न करनेका मनमे विकल्प करना पड रह है, कितना कठिन परिश्रम करना पडता है। आत्माके शुद्ध दर्शन से भो हाथ धो देना पडता है। तो नामवरी फैलानेका रोग भी इस शरीरके कारण है। बडे छोटे कष्टोका नाम तो लो, कुछ भी नाम लो—परिवार मे नही बनती अथवा पुत्रादिकका क्लेश है, सुपूत कुपूत की वेदन है तो यह क्यो हुआ ? अमुक रिश्ते-दारने धोखा दिया है, अमुकका व्यवहार ठीक नही है, जितने भी दु ख हो रहे हो मानसिक दु ख भी हो रहे हो तो उन सबका कारण यह शरीर है। तो शरीर समस्त दु खोका कारण है इस कारण शरीर हीनस्थान है।

(६५–१६८) परीक्षामुखसूत्र प्रवचन (प्रमेयकमलमार्तण्डप्रवचन) ११, १२, १३, १४ भाग

इस पुस्तकमे सृष्टिकर्तृत्व, प्रकृति पुरुषवाद, सत्कार्यवाद, प्रमुक कवलाहार, मुक्तिस्वरूप, अद्वैतवाद आदि अनेक दार्शनिक विषयोपर समीक्षात्मक प्रवचन है। सृष्टिकर्तृत्वके सम्बन्धके प्रवचनोके बीच एक प्रवचनाश पढिये-पृ० ५६—सशरीरताके बिना प्रयोक्तृत्वका अभाव—खर किसी तरह मान भी लिया जाय कि जो कर्ता है, प्रयोक्ता है उसका पदार्थो के परिज्ञान के साथ अपजनाभाव है, किन्तु जो शरीररहित ईश्वर है उसमे तो प्रयोक्तापन बन ही नही सकता। अमूर्त न शरीर नही है तो प्रयोक्ता कैसे बन सकेगा ? यहा हम आप जितने मनुष्य हैं ये प्रयोक्ता बन रहे हैं। तो शरीररहित है तब ना। शरीर रहित कोई एक ईश्वर कैसे उसके कार्यो का प्रयोग कर सकता है ? कार्य व हेतु देकर शकाकारने ईश्वरको कर्ता कहा और उसमे दृष्टान्त दिया कुम्हारका, जैसे घट कार्यका करने वाला कुम्हार है इसी प्रकार समस्त विश्वका करने वाला ईश्वर है। लेकिन दृष्टान्तमे जो कहा गया कुम्हार, वह तो असर्वज्ञ है, कृत्रिम ज्ञान वाला है। तो कर्तापना ऐसे पुरुषोके साथ ही रह सकता है जो अनीश्वर हो, असर्वज्ञ हो, कृत्रिम ज्ञान वाला है तो जब दृष्टान्तका कार्यपना एक अनीश्वर, असर्वज्ञ कृत्रिम ज्ञान वाले के साथ व्याप्त है तो सारे काम ऐसे

के ही साथ व्याप्त होगे जो अनीश्वर हो, असर्वज्ञ हो, कृत्रिम ज्ञानवाला हो। तब तुम्हारा जो अनुमान है उसमे हेतु विशिष्ट हो गया। कार्यत्व हेतु देकर यहा सर्वज्ञ ईश्वरको कर्ता सिद्ध करना चाह रहे थे, मगर उसके द्वारा असर्वज्ञत्व ही सिद्ध होता है।

सृष्टिकर्तृत्वकी समीक्षाके बाद देखिये इस प्रवचनाशमे यह सिद्ध किया गया है कि चेतन की परिणतिमे अन्य चेतन निमित्त तक भी नही हो सकता, पृ० ६३–चेतनकी परिणतिमे अचेतन की निमित्तता–एक बात और जान लेने को है कि चेतनको तो कोई अन्य चेतना निमित्त भी नही बनती किसी काममे। चेतन विभावमे सुधार बिगाड अचेतन निमित्त हुआ करते हैं, चेतनके किसी भी सुधार बिगाड़ आदिकमे चेतन निमित्त नही है इस बातको कुछ विशेषतासे सोचते जाइये। कदाचित् यह शका कर सके कि एक जीवको दूसरा ज्ञानी पुरुष उपदेश देता है और उसके सुधारमे कारण बनता है तो देखो ना कि एक चेतनके सुधारमे दूसरा चेतन निमित्त हो गया, किन्तु आशकाकार यहा यह भूल जाता है कि उस चेतनको जो सन्मार्ग प्राप्त हुआ है उसमे अतरग निमित्त कारण तो कर्मो का उपशम क्षयोपशम है और बाह्य कारण निरखा जाय तो वे वचन वर्गणायें, वे सब अचेतन चीजें बाह्य कारण है। किसी चेतन का चैतन्यस्वरूप इस चेतनको चिन्तनमे विषयभूत तो हो सकता है, आश्रयभूत तो हो सकता है, इसका ख्याल करके लक्ष्य करके स्वन्तत्रतया वह अपन आपमे परिणमन करे यह बात तो हो सकती है, पर कोई चेतन इसका निमित्त बने अथवा चैतन्यस्वरूप अन्य इसके सुधार का निमित्त बने यह बात कहा आयी ?

सत्कार्यवादमे बन्ध व मोक्ष दोनो की ही सिद्धि नही हो सकती, इस सम्बन्धित प्रवचनाशको पढ़िये–पृ० १४०–सत्कार्यवादमे बन्ध और मोक्षके अभावका प्रसग–अब जरा औरकुछ अन्य बात देखा इस मान्यता मे कि कारण आदिक पदार्थो मे कार्य सदा सत् रहता है, बन्ध और मोक्ष बन ही नही सकता है, क्योकि बन्ध होता है मिथ्याज्ञानसे और मिथ्याज्ञान सदा है सो बन्ध भी सदा है तब उनको मोक्ष कैसे होगा ? यदि यह कहो कि प्रकृति और पुरुषमे उनकी अपने अपने स्वरूपका उपलब्धिका तत्त्वज्ञान बनता है, उससे मोक्ष होता है। बात तो सही बतायी जा रही है कि यथार्थ ज्ञानसे मोक्ष होता है। आत्माका क्या स्वरूप है ? केवलका और प्रकृतिका क्या स्वरूप है ? उनके उस कैवल्यस्वरूपका ज्ञान होने से मोक्ष होता है। जिसे कुछ उदाहरणके रूपमे यो समझिये कि जैसे प्रकृति और आत्मा। आत्माका निश्चयरूप क्या है और कर्मका प्रकृतिका इनका निजी स्वरूप क्या है ? अथवा स्वभाव और विभावमे स्वभाव का लक्षण क्या है, इन दोनो का बोध होने पर उन उनके कवल्यकी, उन उनके अपने आपके लक्षणकी उपलब्धि करे, वहा ही उपयोग रखे, इससे मोक्ष होता है। समाधानमे कहते है कि भाई कही तो है भेदविज्ञानकी बात लेकिन सत्य यों नही हो पाता कि वह तत्त्वज्ञान भी सदा अवस्थित है। सत्कार्यवादमे सब चीजे सत् रहती है तो फिर सब चीजे सदा हैं, तब फिर बन्ध कैसे सिद्ध हो सकता है ? फिर न बन्ध सिद्ध हो सका और न मोक्ष।

कुछ लोग परमात्माके आहार की भी कल्पना करते हैं, इस सम्बन्धमें विस्तृत चर्चा करने के पश्चात् एक प्रवचनाश प्रभुके अतिशयोका दिग्दर्शन कराया है, पढिये पृ० १७७–१७८–प्रभुताके कारण प्रभुमे अनेक अतिशय–धर्मके प्रतापसे जो घातिया कर्मो का नाश कर प्रभु हुए हैं उनमे ऐसा अलौकिक अतिशय है कि वे ग्रासाहार नही करते है और विशुद्ध शरीरवर्गणायें जो उनके शरीरमे चारो तरफसे आती हैं, उनके बल पर ही वे बडे सुन्दर जीवनसे जीते हैं। जब तक उनकी आयु है और आयु समाप्त होने पर भी शरीर-रहित सिद्ध भगवान हो जाते है। उनके आहार की अभिलाषा आदिक की बातें करना यह तो उनका

अपमान करना है, उनके स्वरूपको बिगाडना है। यदि यह कहो कि भगवानके अभिलाषा तो नही है तिस पर भी आहार ग्रहण करते है, क्योकि प्रभुमे इस ही प्रकार का महान अतिशय है कि उनके इच्छा नहीं है फिर भी खाते है, यह तो कोई भली बात नही है। यहा भी यदि किसी के खानेकी इच्छा न हो और जबरदस्ती खिला दिया जाय तो उस पर क्या बीतती है ? तो यही अतिशय मान लो कि प्रभु ग्रासाहारके बिना ही शुद्ध पवित्र वर्गणाओके बलसे शरीरमे स्थित रहा करते है। ऐसे अतिशयशाली प्रभुमे अनन्त गुण हैं। एक यह भी गुण है कि वे प्रभु आकाशमे गमन करते है। जो भगवान हो जाते हैं, जिनमे प्रभुता प्रकट हो जाती है वे हम आप लोगोकी तरह जमीनपर चलते फिरते बोलते चालते नजर न आयेगे। प्रभु सभी को दर्शन मे तो आ सकते हैं पर उनसे बातचीत करने आदिका सम्पर्क कोई बना नही सकता है। वे प्रभु तो अपने अनन्तज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त शक्ति और अनन्त आनन्दसे सम्पन्न रहा करते है। उनके दर्शन और भव्यजीवो के भाग्य से और उनके वचनयोग से जो दिव्य-ध्वनि प्रकट होती है उसका श्रवण सभी लोग करते है। तो प्रभुका दर्शन एव उनकी दिव्यध्वनिका श्रवण ये दो लाभ जीवोको प्राप्त हो सकते हैं, पर उनसे कोई अपनी प्राइवेसी नही बना सकता है।

विशेषवादी गुणोंके विनाश हो जाने का नाम मोक्ष कहते हैं, इससे सम्बन्धित प्रवचनो मे से एक प्रवचनांश देखिये—पृ० २४३—गुणोच्छेद और सतानत्व दोनोकी असिद्धि—इस प्रसगमे मूल बात इतनी कही जा रही थी कि अनन्तज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त शक्ति और अनन्त आनन्द इनकी प्राप्ति हो जानेका नाम मोक्ष है। जो आत्मामे गुण हैं उनका पूरा विकास हो जाने का नाम मोक्ष है, किन्तु एक वैशेषिक सिद्धान्तमे आत्मा और गुणको भिन्न माना है। और, सिद्धान्त है उनका कि वे सब गुण जब आत्मामें नष्ट हो जायेगे तब आत्माका मोक्ष कहलाता है। तो आत्माके ज्ञानादिक गुणोके उच्छेदमे ही मोक्ष मानने वाले वैशेषिक यहा अपना पक्ष रख रहे थे कि बुद्धि, सुख, आदिक गुणोका उच्छेद हो जानेका नाम मोक्ष है, न कि ज्ञानकी प्राप्तिका नाम मोक्ष है, उसके निराकरणमें कह रहे हैं कि न तो ज्ञानकी सन्तान सिद्ध होती है न स्वरूप, फिर उच्छेदकी बात कहा लगाई जाय ? आत्मा स्वय ज्ञानस्वरूप है। ज्ञानके अति-रिक्त आत्मा अन्य कुछ चीज नही है। ज्ञानपर अभी आवरण है; रागद्वेष, विषय कषाय कर्म आदिकका आवरण पडा है, जिसके कारण ज्ञान प्रकट नही हो पाता। जब अतरग और बहिरग समस्त प्रकार के आवरण दूर हो जाते हैं तो ज्ञानका परिपूर्ण विकास होता है, वे गुण असीम है, उनके विकाससे त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थो का स्पष्ट ज्ञान हो जाता है। देखो कहा तो मोक्षका ऐसा समृद्धिशाली स्व-रूप क अनन्त ज्ञान है, अनन्त आनन्द है, बहुत ही पावन स्वरूप है और कहा मोक्षका यह स्वरूप शकाकारके द्वारा कहा जा रहा है कि अरे, मोक्ष तो उसका नाम है जहा न ज्ञान रहता न आनन्द रहता, न सुख दु ख रहते, न धर्म अधर्म रहते। कुछ भी जड गुण नही रहते। आत्मा कोरा रह जाय, इसका नाम मोक्ष है।

मोक्ष स्वरूपके सम्बन्धमे दो दार्शनिकोकी चर्चायें चली जिनकी चर्चा के पश्चात् कुछ उपसहारस्वरूप एक प्रवचनांश देखिये, पृ० ३६२—भेदभाद और क्षणक्षयवादमे मुक्तिस्वरूपकी प्रकल्पना—इस प्रकरणमे मूल बात तो मोक्षकी चल रही है। मोक्षका स्वरूप क्या है, इस पर चर्चायें चल रही हैं। जैन लोग तो मानते है कि अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तशक्ति, अनन्त आनन्दके प्रकट होने का नाम मोक्ष है। इसके विरोध मे अभी तक दो मन्तव्य आये—एक तो वैशेषिक का, जिनका यह कथन है कि ज्ञानके विकासका नाम मोक्ष है। जब तक आत्मामे ज्ञान रहता है तब तक यह ससारमे घूमता है, जब इसके ज्ञान, सुख, दु ख

आदिक गुण अवगुण सब खतम हो जायें, केवल एक चित्स्वरूपमात्र रह जाय उसको नाम मोक्ष है। ये मोक्षमे ज्ञानको भी नहीं मानते। दूसरा मन्तव्य आया था क्षणिकवादियोका। उनका कथन है कि विशुद्ध ज्ञानके उत्पन्न होनेका नाम मोक्ष है। बात तो यद्यपि सही है, लेकिन इस कथित विशुद्ध ज्ञानकी परिभाषा क्या है, जब यह जानते हैं तब विदित होता है कि यह भी तो मोक्षका स्वरूप नही बन सकता। क्षणिकवादियोंका विशुद्धज्ञान यह है कि एक समयमे एक ज्ञान पदार्थ रहता है, उसकाआधार-भूत कोई आत्मा नही है। जो एक समयमे ज्ञान हो उस ही का नाम आत्मा कहलो, उस ही का नाम ज्ञान कहलो। दूसरे समयमे वह ज्ञान नही रहा। प्रत्येक समयमे नये नये ज्ञान पदार्थ प्रकट होते रहने के सिलसिलेमे यह जो भ्रम बन गया है कि मैं वह हूं जो पहिले म था, बस इस भ्रमसे संसारमे भ्रमण करना पड़ता है। जब यह ज्ञान हो जायगा कि मैं तो क्षणिक हू, एक समयसे हू और मिट गया, आगे पीछे रहता ही नही हू, तो ऐसा जब एक क्षणिक आत्माका बोध होता है तो इस अभ्याससे एक ज्ञान ऐसा नया आयगा कि जिसके बाद फिर और ज्ञान पैदा न होगा, इस ही का नाम मोक्ष है। इन मन्तव्योके सम्बन्धमें अब तक ये चर्चायें चली और यह सिद्ध हुआ कि आत्माके ज्ञान और आनन्दके विशुद्ध अनन्त विकास होनेका नाम मोक्ष है।

चतुर्दश भागके अन्तमे द्वितीय परिच्छेदकथित प्रमाणभेद मे से उपसंहारात्मक रूपमे प्रत्यक्ष ज्ञानस्वरूपकी चर्चा की गई है, उसके एक प्रवचनांशको देखिये, पृ० ४१०-४११-प्रत्यक्षज्ञानके स्वरूपकी चर्चा-प्रत्यक्षके भेदको कुछ आलोचना करके अब प्रत्यक्षके स्वरूपके निर्णयपर उतरे। प्रत्यक्ष उसे कहते है कि जो निर्मलज्ञान हो, विशद ज्ञान ही प्रत्यक्ष है। इन्द्रिय और पदार्थके आख और पदार्थके सम्बन्धसे प्रत्यक्ष नही कह सकते। यह ज्ञान आत्मासे हो उत्पन्न होता है। कही पदार्थो से उत्पन्न नही होता, कहीं प्रकाश आदिक कारणोसे उत्पन्न नही होता। और, यह ज्ञान जब एक देश स्पष्ट रहता है तब तो कहते हैं सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष। और, उसके ज्ञानका आवरण करने वाले कर्मो का सर्वथा क्षय हो जाता है, उस समय जो सर्वका ज्ञान होता है वह कहलाता है पूर्ण प्रत्यक्षज्ञान। उस ज्ञानको कर्मोंने ढका है अर्थात् कर्मो के आवरणका निमित्त पाकर ज्ञानस्वरूप निर्मल व पूर्ण अवस्थामे नही रहता आया है। संयमसे, सम्यक्त्वसे, तत्त्वज्ञानसे, उपायोंसे उन कर्मो का सम्बर होता और निर्जरा होती। तब आवरण का अपाय होता और यह ज्ञान सबको जानने वाला होता है।

(१६६-२०१) परीक्षामुखसूत्र प्रवचन (प्रमेयकमलमार्तण्डप्रवचन) १५, १६, १७ भाग

इस पुस्तकमे परीक्षामुखके तृतीय परिच्छेदके सूत्रोपर पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराजके प्रवचन हैं। इनमे परोक्षज्ञानोके स्वरूप पर विस्तृत विवेचन हैं। कुछ दार्शनिक स्मृतिज्ञानको प्रमाण नही मानते, उनके प्रतिबोधके प्रमाणरूपता युक्तियोसे सिद्ध की है, उनमे से एक प्रवचनांशको पढ़िये-पृ० १०-अविसम्वादकत्व होनसे स्मृतिज्ञानको प्रमाणरूपता-यह अनुमान बिलकुल युक्त है कि स्मरणज्ञान प्रमाण है अविसम्वाद होनेसे। स्मरण ज्ञान करते हुए पुरुष उसमे विवाद नही किया करते। जिस पदार्थका स्मरण हो गया वह तो पदार्थमे कुछ भी स्मरण नही रखता। जैसे स्वय कोई चीज घरमे किसी जगह रख दी, अब कुछ दिन बाद उसका ख्याल कर रहा है, किसी ने उस वस्तुको मांगा तो वह उसका ख्याल करने लगा। तो जिस जगह उसने वह चीज रखी थी उसी जगह जाकर उस वस्तुको वह पा लेता है, तो विवाद तो नही रहा स्मरणमे। अविसम्वादी ज्ञान रहा। जैसा जैसा ख्याल किया वैसा ही पदार्थ पा लिया गया तो उसमे अब विवाद क्या रहा ? इस कारण स्मृति ज्ञान बराबर प्रमाणभूत है। हा किसी किसी स्मरणमें यदि विवाद प्रत्यक्ष आ जाय तो वह स्मृत्याभास है, स्मृति नही है। यो तो कोई कोई प्रत्यक्ष

विवाद वाला होता है तो वह प्रत्यक्षाभास कहलाता है, पर कोई स्मरण अगर विसम्वाद वाला हो गया तो इसका अर्थ यह नही कि सब स्मरण विसम्वादी कहलाते हैं। अन्यथा यदि एक भी प्रत्यक्ष विसम्वादी हो गया, प्रत्यक्षाभास हो गया तो सब प्रत्यक्षो को भी प्रत्यक्षाभास मान लेना चाहिए।

प्रत्यभिज्ञान प्रमाणको स्मृति और प्रत्यक्षसे विलक्षण सिद्ध किया है, इस सम्बन्धमे एक प्रवचनांश पढ़िये, पृ० १८—प्रत्यक्ष और स्मरणसे भिन्न ही प्रत्यभिज्ञान माननेकी अनिवार्यता यह भी कहना अयुक्त है कि अनेक देश अनेक कालकी अवस्थासे युक्त सामान्य द्रव्य आदिक वस्तु इस प्रत्यभिज्ञानका प्रमेय है, क्यो अयुक्त है यह बात कि देश आदिकके भेदसे भी कोई अध्यक्ष होता है तो वह भी आखोसे सम्बद्ध अर्थका ही प्रकाश करता हुआ प्रतीत होता है। अनेक भेद पड जान से प्रत्यक्षकी विधिमे अन्तर न आ जायगा। यह यो अयुक्त है कि प्रत्यभिज्ञान इन्द्रिय और पदार्थसे सम्बद्ध बातको नही जानता। इसका विषय ही प्रत्यक्ष ज्ञानके विषय से विलक्षण है। इसका विषय क्या है कि पूर्व पर्याय और उत्तर पर्याय, इन दोनो मे जो एकता है वह प्रत्यभिज्ञानका विषय है। जैसे यह वही देवदत्त है तो यह कहकर देवदत्तकी जो अवस्था जानी और "वह" कहकर जो वर्ष भर पहिले के देवदत्तकी जो अवस्था जानी इस बीचके सर्व समयमे वह एक ही रहा आया, ऐसा जो पूर्व उत्तर पर्यायमे रहने वाला जो एकत्व है वह प्रत्यभिज्ञानका विषय है अथवा सादृश्य आदिकमे देखिये—यह रोझ गौ के सदृश है। तो वर्तमान है रोझ और पूर्व विज्ञात है गौ, इन दोनोके प्रसगमे सम्बन्धमे जो सदृशता है वह सदृशता प्रत्यभिज्ञानका विषय है। प्रत्यभिज्ञानका विषय इन्द्रिय और पदार्थसे सम्बद्ध पदार्थ नही है। प्रत्यक्ष तो वर्तमानको ही ग्रहण करता है। और, जो यह कहे कि स्मरण करने वाले पुरुष के भी पहिले देखे हुए पदार्थ के प्रतिभाससे उत्पन्न हुई जो मति है वह चक्षु से सम्बद्ध होने पर प्रत्यक्ष बन जाती है। यह भी कहना गलत है, क्योकि इन्द्रियजन्य ज्ञान स्मृति के विषय के पूर्व रूप से ग्रहण करने वाले होते हैं, यह नियम नहीं है। प्रत्यक्ष से तो जब चाहे हो, तब भी अभिमुख और नियमित पदार्थ का बोध हुआ है तब वह प्रत्यक्ष है। प्रत्यभिज्ञान मे न तो प्रत्यक्ष का विषयभूत पदार्थ आया किन्तु दोनो ज्ञानो से जाने हुए मे जो एक नई बात जानी जा रही है वह सम्बन्धित सादृश्य आदि विषय होता है प्रत्यभिज्ञानमे।

स्मृतिज्ञान और प्रत्यभिज्ञान प्रमाण की तरह तर्कज्ञानमे भी प्रमाणताका निर्देश किया है, इससे सम्बन्धित एक प्रवचनांश पढ़िये पृ० ६५—तर्कज्ञानमे विसवादित्वका अभाव होने से प्रमाणता—अब दूसरा विकल्प र कहते हो कि तर्क ज्ञानको अप्रमाण है, विसम्वादी होने से। प्रश्न क्या तर्क ज्ञान इस कारण अप्रमाण कि वह विसम्वादी है अथवा क्या इस कारण अप्रमाण है कि वह विसम्वादी है अथवा क्या इस का अप्रमाण है कि वह प्रमाण के विषय का परिशोधक है। अर्थात् प्रमाणने किसी को जो जाना, उस ही समर्थक है। इन विकल्पो मे से पहिले विकल्पका तो खण्डन कर दिया गया—अब दूसरे विकल्प चर्चा की जा रही है कि विसम्वादी होने से तर्क ज्ञान अप्रमाण नही होता, क्योकि तर्क ज्ञान अ विषयमे तो विवादरहित है। साध्य और साधनका अविनाभाव सम्बन्ध करना यह है तर्कज्ञान विषय। और, उस विषय मे तर्क ज्ञान विसम्वादरहित प्रसिद्ध ही है, क्योकि यदि तर्कज्ञान अविसम्वा न हो, सही न हो तो अनुमान कभी सही नहीं हो सकता। ऐसा कभी न हो सकेगा कि तर्क ज्ञान सम्वाद न रखता हो अर्थात् मिथ्या हो और अनुमान ज्ञान सही बन जाय। क्यो न ऐसा हो सकेगा अनुमान की उत्पत्ति मे तो तर्क ज्ञान कारण होता है। जब साध्यसाधनके अविनाभाव सम्बन्ध परिज्ञान हो तब तो अनुमान प्रमाण बन सकेगा। इस कारण विसम्वादी होने से तर्कज्ञान अप्रमाण— यह बात युक्त नही होती।

तृतीय परिच्छेदके ९९ वें सूत्रमें आगम प्रमाणका लक्षण कहा गया है, इसके स्वरूपमे जो विशेषण दिये हैं उनसे कई भूलोका निराकरण हो जाता है। उनमे से एक अर्थज्ञान विशेषणकी एक सार्थकता एक प्रवचनाशमे देखिये, पृ० १८५-१७६-अर्थज्ञानसे अन्यापोह व शब्दसदर्भकी प्रमाणताका परिहार-इस सूत्रमे अर्थ ज्ञान शब्द देने से एक यह भी परिज्ञान होता है कि अर्थ ज्ञान प्रमाण होता है, अन्यापोह ज्ञान प्रमाण नही होता। क्षणिकवादी लोग अन्यापोह मानते हैं, अर्थात् जैसे गाय कहा तो गाय शब्दके सुनने से सीधा गायका ज्ञान नही होना, उनके सिद्धान्तसे किन्तु गाय सुनकर यह ज्ञान होता है कि घोडा बकरी आदि दुनिया भरके बाकी अन्य कोई पदार्थ न होना इसको कहते हैं अन्यापोह।

आगममे प्रमाणता आगममूल आप्तकी गुणवत्तापर निर्भर है, अपौरुषेय बताने का और, अपौरुषेयको सिद्ध करने के लिए शब्दनित्यत्वको सिद्ध करने का प्रयास करना अवस्तुको सिद्ध करनेके प्रयासकी तरह है, इसमे मदर्धित प्रवचनाशोंमे से एक प्रवचनाश देखिये-पृ० २५६-शब्दके कार्यत्वका विवरण-शब्द एक है, नित्य है, व्यापक है और फिर उसको व्यजक प्रकट करदे यह बात नही बनती। सीधी बात और सबके अनुभवमे आने वाली स्पष्ट बात है कि तालू आदिकके व्यापारके अनन्तर भाषा वर्गणा जातिके पुद्गल स्कधसे शब्दका उत्पत्ति होती है और तभी, जिस प्रकार के, तालू, कठ, ओठ, मूर्वा, आदिक चलें और उन स्थानोंमे ऊपर के भागसे, नीचेके भागसे शब्द चलें तो उन शब्दोमे अल्प, महान उदात्त अनुदात्त आदिक भेद बन जाते हैं। तो यो शब्द कोई नित्य व्यापक नही है जिससे नित्य व्यापक शब्दसे भरे होनेके कारण आगम को नित्य माना जाय। अपौरुषेय मान्यता करके आगममे प्रमाण करार किया जाय, आगम तो वचन-रूप है। वचन जितने होते है वे किसी न किसी के द्वारा किए गए होते है। तो उन वचनोका कर्ता यदि गुणवान पुरुष है, प्रभुसर्वज्ञ है तो वहआगम वाक्य प्रमाण है। यदि उन आगम वाक्योका कर्ता दोषवान है तो फिर उससे उनकी प्रमाणता नही आ सकती है। तो आगममे प्रमाणताका आना न आना, गुण-वान और दोषवान वक्ताके आधार पर है वचनोको नित्य सिद्ध करके फिर उसमे प्रमाणताकी सिद्धि करनेका व्यर्थ कष्ट न करना चाहिए।

एक सावेतिक प्रवचनांश देखिये जिसमे कुछ पूर्वापर चर्चाओकी स्थिति का अन्दाज कराया है, पृ० २८१-चर्चाके आधारभूत मूल प्रकरणका स्मरण-यह प्रकरण मूलमे चल रहा है आगमप्रमाणपर। आगम का लक्षण किया था कि सर्वज्ञदेवके वचन आदिके कारण उत्पन्न हुआ जो अर्थज्ञान है सो आगम है। इस आगमके लक्षणपर पहिले तो यह शका की गई थी कि आप्त कोई होता ही नही है। उसका निराकरण किया गया, फिर यह शका उत्पन्न की कि आप्त कोई होता ही नहीं है। उसका निराकरण किया गया, फिर यह शंका उत्पन्न की कि आप्त की वजह से आगमकी प्रमाणता नही होती, किन्तु आगम अपौरुषेय होता है इसकारण प्रमाणता होती है, इसका निराकरण किया। आगमको अपौरुषेयता सिद्ध करने के लिए शब्दोकी नित्यता मानना आवश्यक है। शब्द नित्य हो तो वह शब्द अपौरुषेय कह-लाये। आगममे शब्द ही तो लिखे गये हैं। यदि ये शब्द अनित्य ठहरते हैं तो आगम फिर नित्य तो न ठहरेगा, इस कारण शब्दको नित्य सिद्ध करने की शका करको आवश्यकता नही, तब शब्द नित्य-त्वका निराकरण किया। फिर यह शंका हुई कि शब्द और अर्थका सम्बन्ध कैसे है ?. जिस कारण शब्द अर्थका वाचक बन जाय तो शब्द और अर्थ मे सम्बन्धकी सिद्धिको। शब्द वाचक है और पदार्थ वाच्य है, इस प्रसगपर-क्षणिकवादी यह शंका रख रहे हैं कि शब्द तो वाचक है, पर शब्द पदार्थका वाचक नही, किन्तु अपोहका वाचक है। जैसे गौ शब्द बोला तो उससे गाय अर्थका ज्ञान न होगा, किन्तु जो गाय नहीं है ऐसे सारे पदार्थो का निषेध ज्ञात होगा।

(२०२–२०४) परीक्षामुखसूत्र प्रवचन (प्रमेयकमलमार्तण्डप्रवचन) १८, १६, २० भाग

इस पुस्तकमे परीक्षामुखसूत्रके चतुर्थ परिच्छेदके १० सूत्रोंपर पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी महाराजके प्रवचन हैं। प्रमाणका विषय सामान्य विशेषात्मक पदार्थ है। सामान्यविशेष सिद्ध होते हैं। समान असमान प्रत्यय (बुद्धि) होने से और समान असमान प्रत्यय होता है सदृश विसदृश परिणाम होने से, इसका सकेत देखिये एक प्रवचनाशमे, पृ० ५४–समान और असमान प्रत्यय के होने मे सदृश विसदृश परिणामकी हेतुरूपता–शङ्काकार कहता है कि भाई विसदृश व्यक्तियो मे अथवा सभी पदार्थों में विसदृशताका स्वभाव पडा है इस कारण अपने कारण कलापसे उत्पन्न हुए सारे पदार्थ स्वभावसे ही समान प्रत्यय के विषय हुआ करते हैं, और यह बात तो बिल्कुल स्पष्ट है कि जैसे घट घट पट आदिक के प्रकाश के लिए दीपकका आलम्बन लेना पडा, पर स्पष्ट है कि जैसे घट पट आदिक के प्रकाश के लिए दीपक का आलम्बन लेना पडा, पर दीपक का प्रकाश जानने के लिए अन्य दीपओका आलम्बन तो नहीं लेना पडता। इसी तरह पदार्थ मे समानताका ज्ञान करने के लिए समान परिणामरूप धर्मका आलम्बन लेना पडता है। जैसे गाय गाय बहुत सी खडी हैं तो उनमे समानताका ज्ञान करने के लिए सासना आकार स्तन आदिक एक से जो हैं उनके ज्ञानका आलम्बन लेना पडता है, किन्तु इन सदृश धर्मो मे सदृशता समझने के लिए हमें अन्य समान परिणामोंका आलम्बन नही लेना पडता। वह स्वय समान धर्म के लिए हुए है तो पदार्थ सामान्यविशेषात्मक होते हैं उनमे अनेक धर्म ऐसे हैं जो एक दूसरे से विलक्षण हैं, यह बात हम परीक्षासे, प्रमाणसे जान जाते है तब उन पदार्थो मे यह उसके समान है, ऐसा जो ज्ञान होता है उस ज्ञानका कारण उन पदार्थो मे रहने वाला सदृश धर्म है, अर्थात् सदृश धर्म के ज्ञानके द्वारा हम उन पदार्थो की समानता का प्रत्यय करते हैं, न कि सामान्य नाम का कोई अलग पदार्थ हो, और उसके सम्बन्धसे फिर पदार्थ मे यह उसके समान है ऐसा ज्ञान किया जाता हो। अत. सामान्य पदाथ की कल्पना करना युक्त नही है।

सामान्यविशेषात्मक पदार्थमे सामान्यका ही जो आग्रह करते हैं वे इसके पोषणमे नित्यत्वका आग्रह कर लेते हैं। और, जो विशेषका आग्रह करते हैं वे इसके पोषणमे क्षणिकवादी बन जाते हैं। दोनो ही एकान्तोंमे अर्थक्रिया नहीं बन सकती। सामान्यविशेषात्मक पदार्थ मे ही अर्थक्रिया सम्भव है, पढ़िये एक प्रवचनाशमें, पृ० ११६–सामान्यविशेषात्मकपदार्थमे अर्थक्रियाकीसम्भवता–जैसेतिर्यक सामान्यऔरतिर्यकविशेषमेंभी अर्थक्रियासम्भवहै। जब जान लिया कि ये गाय गाय सबएक किस्म की होती है, ये दूध दिया करती है, इस तरह से तो एक सामान्य धर्म जाना और फिर उनमे व्यक्तित्व विशेष जाना तभी तो किसी भी गायके पास पहुचकर उससे ही दूध लेनेका यत्न होता है। तो तिर्यकरूपमे सामान्यविशेषात्मक पदार्थ जब जाना जाता है तब उसमें अर्थक्रिया सम्भव है। यह वही मनुष्य है जिसको कल अमुक वस्तु उधार दी थी, तो जान लिया ना उर्द्धतासामान्य। अब कल की स्थिति इसको उधार देने की थी, आज स्थिति इससे वसूल करने की है। आज इसको देना चाहिए, ऐसाही वायदा है। कलका परिणमन इसका अन्य था, आजका परिणमन इसका अन्य होना चाहिए। ऐसी ऊर्द्धताविशेषको भी बात जब ध्यानमे है तब ना उसमे लेन देनकी प्रवृत्ति सम्भव हो रही है। यह तो लोकव्यवहारकी बात कही है। अब मोक्षमार्ग की भी बात देखो–सामान्य है, ऐसेही जीव जातिके पदार्थ मुक्त हुआ करते हैं। यह तो एक सामान्यपना जाना और अमुक अमुक व्यक्ति देखो आत्मसाधना करके मुक्त हुए, यह उनका विशेष जाना। इसी तरह ऊर्द्धता सामान्य और ऊर्द्धता विशेष भी परखा जाता। मैं वही जीव हू, मैं एक रूप हू, चैतन्यस्वरूप हू, यही स्वभाव प्रकट हो गया, उसका नाम मुक्ति है। और, मुझमे यह विशेषता है। आज परिणति ससार

अवस्थामे है, यह हटकर मुक्त अवस्थाकी परिणति हमारी हो सकती है। उर्द्धता सामान्य और ऊर्द्धता विशेषका बोध हो तो मोक्षमार्ग मे उद्यम हो सकता है। तो यहा ऊर्द्धता सामान्यका प्रकरण चल रहा है कि द्रव्य कालान्तर स्थायी है। यदि सर्वथा क्षणिक माना जाय पदार्थको तो मोक्षमार्ग अथवा लोक-व्यवहार कुछ भी सिद्ध न हो सकेगा।

१८ वें भागमे सामान्यका वर्णन करके १९ वें भागमे विशेषके विषयमे प्रवचन किये गये है। निरपेक्ष सामान्य माननेका मन्तव्य और निरपेक्षविशेष माननेका मन्तव्य युक्त नही है। इसका विस्तृत विचार करने के पश्चात् पृ० २११ पर यह बताया है कि सामान्य और विशेष इन दोनोका वस्तुमे रहने मे विरोध नही है—पढिये पृ० २११ पर—सामान्य और विशेषके एक पदार्थमे रहनेका अविरोध-शकाकार कहता है कि वस्तु सामान्य-विशेषात्मक है, वस्तुमे भेद और अभेद दोनो अविरोध रूप से रहते हैं यह तो मिथ्या प्रतीति हो रही है। उत्तर देते हैं कि यह बात असगत है, क्योकि इसमे कोई बाधक है ही नही। स्पष्ट प्रत्यक्षसे जान रहे, युक्ति अनुमानसे भी समझ रहे, भेद और अभेदसे एक वस्तुमे बराबर समावेश है। शकाकार कहता है कि विरोध तो बाधक है। भेद और अभेद जो एक दूसरे के निषेधात्मक है, बिल्कुल विरुद्ध है तो यह विरोध बाधक है। उत्तर देते हैं कि यह बात युक्त नही। इसमें इतरेतराश्रय दोष आता है। जब विरोध सिद्ध होने लगे तब तो इस ज्ञानके बाधित होने से मिथ्यात्व की सिद्धि हो और जब ज्ञानमे मिथ्यापनकी सिद्धि हो तब विरोधकी सिद्धि हो। तो देखिये—विरोध नाम है किसका ? विराधका निश्चय बनता कैसे है ? सम्पूर्ण कारण वाला काई एक पदार्थ हो रहा है। जैसे कि ठडावातावरण है, वहा पर ठड हो रही है तब द्वितीय चीज आ जाय अर्थात् उष्ण वस्तु आ जाय तो ठडका अभाव हो जाता है। इससे समझा गया है कि शीत स्पर्श मे और उष्ण स्पर्शमे विरोध है परन्तु यहा ऐसा नही देखा जा रहा कि भेदके सन्निधान होने पर अभेद का अभाव हो जाय अथवा अभेद के सन्निधान होने पर भी, पर्यायत्व बराबर चल रहा है। पर्यायत्व होने पर भी द्रव्यत्व भी बराबर बन रहा है। वहा तो कुछ भी विरोध नही।

कुछ दार्शनिक शब्दोको आकाश द्रव्यका गुण मानते हैं, किन्तु शब्द भी द्रव्य पर्याय है, उसमें द्रव्यत्व हैं, इससे सम्बन्धित एक प्रवचमाश देखिये, पृ० २८१-२८२—क्रियावत्त्व होनेसे शब्दमे द्रव्यत्वको सिद्धि-और भी देखिये—शब्द द्रव्य है, क्योकि क्रियावान होने से। जो जो क्रियावान होते हैं वे द्रव्य होते हैं। जैसे—बाण, गोली आदि। ये क्रिया करते हैं तो ये द्रव्य कहलाते हैं। यदि शब्दका निष्क्रिय मानोगे तो शब्दका फिर स्रोत्र इन्द्रियके द्वारा ग्रहण सम्भव नही हो सकता, क्योकि स्रोत्रइन्द्रियमे शब्दका सम्बन्ध ही न हो पायगा। कहीं शब्द उत्पन्न हो, बोले जायें और शब्दका जब तक स्रोत्रके साथ सम्बन्ध नही होता तब तक उसका ग्रहण कैसे हो ? यदि निष्क्रिय माना जाने पर भी शब्दका स्रोत्रके साथ ग्रहण मान लिया जाय तो स्रोत्र भी अप्राप्यकारी बन जायगा अर्थात् जैसे चक्षुरिन्द्रियके सिवाय बाकी अन्य इन्द्रिया अप्राप्यकारी हैं, स्पर्श, रसना, घ्राण जैसें अप्राप्यकारी है, चक्षु ही एक अप्राप्यकारी माना है, क्योकि चक्षु पदार्थ के पास फिरते नही है और दूर से ही ठहरे हुए जान लेते हैं तो अब यहा स्रोत्रको भी ऐसा ही मान लिया गया है कि स्रोत्र के पास शब्द आते नही हैं। शब्दका और स्रोत्रका सम्बन्ध नही होता है फिर भी शब्दको स्रोत्र जान लेता है, तो इसका अर्थ यह हुआ कि स्रोत्र अप्राप्यकारी हो गया और जब स्रोत्रको अप्राप्यकारी मान लिया गया तो यह हेतु देना कि चक्षु प्राप्यकारी है बाह्य इन्द्रिय होनेसे, स्पर्शनइन्द्रियकी तरह। तो देखो स्रोत्र भी बाह्य इन्द्रिय है लेकिन स्रोत्र तो प्राप्यकारी न रहा। तो इस हेतुमे अनेकान्तिक दोप आता है।

(२०२–२०४) परीक्षामुखसूत्र प्रवचन (प्रमेयकमलमार्तण्डप्रवचन) १८, १९, २० भाग

इस पुस्तकमे परीक्षामुखसूत्रके चतुर्थ परिच्छेदके १० सूत्रोंपर पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी महाराजके प्रवचन हैं। प्रमाणका विषय सामान्य विशेषात्मक पदार्थ है। सामान्यविशेष सिद्ध होते हैं। समान असमान प्रत्यय (बुद्धि) होने से और समान असमान प्रत्यय होता है सदृश विसदृश परिणाम होने से, इसका सकेत देखिये एक प्रवचनाशमें, पृ० ५४–समान और असमान प्रत्यय के होने मे सदृश विसदृश परिणामकी हेतुरूपता–शकाकार कहता है कि भाई विसदृश व्यक्तियो मे अथवा सभी पदार्थों मे विसदृशताका स्वभाव पडा है इस कारण अपने कारण कलापसे उत्पन्न हुए सारे पदार्थ स्वभावसे ही समान प्रत्यय के विषय हुआ करते हैं, और यह बात तो बिल्कुल स्पष्ट है कि जैसे घट घट पट आदिक के प्रकाश के लिए दीपकका आलम्बन लेना पडा, पर स्पष्ट है कि जैसे घट पट आदिक के प्रकाश के लिए दीपक का आलम्बन लेना पडा, पर दीपक का प्रकाश जानने के लिए अन्य दीपओका आलम्बन तो नही लेना पडता। इसी तरह पदार्थ मे समानताका ज्ञान करने के लिए समान परिणामरूप धर्मका आलम्बन लेना पडता है। जैसे गाय गाय बहुत सी खडी हैं तो उनमे समानताका ज्ञान करने के लिए सासना आकार स्तन आदिक एक से जो हैं उनके ज्ञानका आलम्बन लेना पडता है, किन्तु इन सदृश धर्मो मे सदृशता समझने के लिए हमें अन्य समान परिणामोका आलम्बन नही लेना पडता। वह स्वय समान धर्म के लिए हुए है तो पदार्थ सामान्यविशेषात्मक होते हैं उनमे अनेक धर्म ऐसे हैं जो एक दूसरे से विलक्षण हैं, यह बात हम परीक्षासे, प्रमाणसे जान जाते हैं तब उन पदार्थों में यह उसके समान है, ऐसा जो ज्ञान होता है उस ज्ञानका कारण उन पदार्थों मे रहने वाला सदृश धर्म है, अर्थात् सदृश धर्म के ज्ञानके द्वारा हम उन पदार्थों की समानता का प्रत्यय करते है, न कि सामान्य नाम का कोई अलग पदार्थ हो, और उसके सम्बन्धसे फिर पदार्थ मे यह उसके समान है ऐसा ज्ञान किया जाता हो। अत सामान्य पदार्थ की कल्पना करना युक्त नही है।

सामान्यविशेषात्मक पदार्थमे सामान्यका ही जो आग्रह करते है वे इसके पोषणमे नित्यत्वका आग्रह कर लेते हैं। और, जो विशेषका आग्रह करते हैं वे इसके पोषणमें क्षणिकवादी बन जाते हैं। दोनो ही एकान्तोंमे अर्थक्रिया नही बन सकती। सामान्यविशेषात्मक पदार्थ मे ही अर्थक्रिया सम्भव है, पढ़िये एक प्रवचनाशमें, पृ० ११६–सामान्यविशेषात्मकपदार्थमे अर्थक्रियाकीसभवता–जैसेतिर्यक सामान्यऔरतिर्यकविशेषमेभी अर्थक्रियासम्भवहै। जब जान लिया कि ये गाय गाय सबएक किस्म की होती है, ये दूध दिया करती हैं, इस तरह से तो एक सामान्य धर्म जाना और फिर उनमे व्यक्तित्व विशेष जाना तभी तो किसी भी गायके पास पहुचकर उससे ही दूध लेनेका यत्न होता है। तो तिर्यकरूपमे सामान्यविशेषात्मक पदार्थ जब जाना जाता है तब उसमें अर्थक्रिया सम्भव है। यह वही मनुष्य है जिसको कल अमुक वस्तु उधार दी थी, तो जान लिया ना उर्द्धतासामान्य। अब कल की स्थिति इसको उधार देने की थी, आज स्थिति इससे वसूल करने की है। आज इसको देना चाहिए, ऐसाही वायदा है। कलका परिणमन इसका अन्य था, आजका परिणमन इसका अन्य होना चाहिए। ऐसी ऊर्द्धताविशेषकी भी बात जब ध्यानमे है तब ना उसमे लेन देनकी प्रवृत्ति सम्भव हो रही है। यह तो लोकव्यवहारकी बात कही है। अब मोक्षमार्ग की भी बात देखो–सामान्य है, ऐसेही जीव जातिके पदार्थ मुक्त हुआ करते हैं। यह तो एक सामान्यपना जाना और अमुक अमुक व्यक्ति देखो आत्मसाधना करके मुक्त हुए, यह उनका विशेष जाना। इसी तरह ऊर्द्धता सामान्य और ऊर्द्धता विशेष भी परखा जाता। मैं वही जीव हू, मैं एक रूप हू, चैतन्यस्वरूप हू, यही स्वभाव प्रकट हो गया, उसका नाम मुक्ति है। और, मुझमे यह विशेषता है। आज परिणति ससार

अवस्थामे है, यह हटकर मुक्त अवस्थाकी परिणति हमारी हो सकती है। ऊर्द्धता सामान्य और ऊर्द्धता विशेषका बोध हो तो मोक्षमार्ग मे उद्यम हो सकता है। तो यहा ऊर्द्धता सामान्यका प्रकरण चल रहा है कि द्रव्य कालान्तर स्थायी है। यदि सर्वथा क्षणिक माना जाय पदार्थको तो मोक्षमार्ग अथवा लोक-व्यवहार कुछ भी सिद्ध न हो सकेगा।

१८ वें भागमे सामान्यका वर्णन करके १९ वें भागमे विशेषके विषयमे प्रवचन किये गये है। निरपेक्ष सामान्य माननेका मन्तव्य और निरपेक्षविशेष माननेका मन्तव्य युक्त नही है। इसका विस्तृत विचार करने के पश्चात् पृ० २११ पर यह बताया है कि सामान्य और विशेष इन दोनोका वस्तुमें रहने मे विरोध नही है-पढ़िये पृ० २११ पर-सामान्य और विशेषके एक पदार्थमें रहनेका अविरोध-शकाकार कहता है कि वस्तु सामान्य-विशेषात्मक है, वस्तुमें भेद और अभेद दोनो अविरोध रूप से रहते हैं यह तो मिथ्या प्रतीति हो रही है। उत्तर देते हैं कि यह बात असगत है, क्योकि इसमे कोई बाधक है ही नही। स्पष्ट प्रत्यक्षसे जान रहे, युक्ति अनुमानसे भी समझ रहे, भेद और अभेदसे एक वस्तुमे बराबर समावेश है। शकाकार कहता है कि विरोध तो बाधक है। भेद और अभेद जो एक दूसरे के निषेधात्मक है, बिल्कुल विरुद्ध है तो यह विरोध बाधक है। उत्तर देते हैं कि यह बात युक्त नही। इसमे इतरेतराश्रय दोष आता है। जब विरोध सिद्ध होने लगे तब तो इस ज्ञानके बाधित होने से मिथ्यात्व की सिद्धि हो और जब ज्ञानमे मिथ्यापनकी सिद्धि हो तब विरोधकी सिद्धि हो। तो देखिये-विरोध नाम है किसका ? विरोधका निश्चय बनता कैसे है ? सम्पूर्ण कारण वाला कोई एक पदार्थ हो रहा है।-जैसे कि ठडावातावरण है, वहा पर ठड हो रही है तब द्वितीय चीज आ जाय अर्थात् उष्ण वस्तु आ जाय तो ठड़का अभाव हो जाता है। इससे समझा गया है कि शीत स्पर्श मे और उष्ण स्पर्शमे विरोध है परन्तु यहा ऐसा नही देखा जा रहा कि भेदके सन्निधान होने पर अभेद का अभाव हो जाय अथवा अभेद के सन्निधान होने पर भी पर्यायित्व बराबर चल रहा है। पर्यायित्व होने पर भी द्रव्यत्व भी बराबर बन रहा है। वहा तो कुछ भी विरोध नही।

कुछ दार्शनिक शब्दोको आकाश द्रव्यका गुण मानते हैं, किन्तु शब्द भी द्रव्य पर्याय है, उसमें द्रव्यत्व है, इससे सम्बन्धित एक प्रवचनांश देखिये, पृ० २८१-२८२-क्रियावत्त्व होनेसे शब्दमें द्रव्यत्वकी सिद्धि-और भी देखिये-शब्द द्रव्य है, क्योकि क्रियावान होने से। जो जो क्रियावान होते है वे द्रव्य होते हैं। जैसे-बाण, गोली आदि। ये क्रिया करते हैं तो ये द्रव्य कहलाते हैं। यदि शब्दका निष्क्रिय मानोगे तो शब्दका फिर स्रोत्र इन्द्रियके द्वारा ग्रहण सम्भव नही हो सकता, क्योकि स्रोत्रइन्द्रियमे शब्दका सम्बन्ध हो न हो पायगा। कही शब्द उत्पन्न हो, बोले जाये और शब्दका जब तक स्रोत्रके साथ सम्बन्ध नही होता तब तक उसका ग्रहण कैसे हो ? यदि निष्क्रिय माना जाने पर भी शब्दका स्रोत्रके साथ ग्रहण मान लिया जाय तो स्रोत्र भी अप्राप्यकारी बन जायगा अर्थात् जैसे चक्षुरिन्द्रियके सिवाय बाकी अन्य इन्द्रिया अप्राप्यकारी हैं, स्पर्श, रसना, घ्राण जैसे अप्राप्यकारी है, चक्षु ही एक अप्राप्यकारी माना है, क्योकि चक्षु पदार्थ के पास फिरते नही है और दूर से ही ठहरे हुए जान लेते हैं तो अब यहा स्रोत्रको भी ऐसा ही मान लिया गया है कि स्रोत्र के पास शब्द आते नही हैं। शब्दका और स्रोत्रका सम्बन्ध नही होता है फिर भी शब्दको स्रोत्र जान लेता है, तो इसका अर्थ यह हुआ कि स्रोत्र अप्राप्यकारी हो गया और जब स्रोत्रको अप्राप्यकारी मान लिया गया तो यह हेतु देना कि चक्षु प्राप्यकारी है बाह्य इन्द्रिय होनेसे, स्पर्शनइन्द्रियकी तरह। तो देखो स्रोत्र भी बाह्य इन्द्रिय है लेकिन स्रोत्र तो प्राप्यकारी न रहा। तो इस हेतुमे अनेकान्तिक दोप आता है।

सामान्यविशेषात्मक पदार्थ ६ जातिमे विभक्त है-जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल, किन्तु विशेषवादमें पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, दिशा, काल, आत्मा और मन, इनसे सम्बन्धित विस्तृत प्रवचन हैं। जरा उनमे से कल्पित दिशा द्रव्यकी विवेचन तो देखिये-पृ० ६३६-सूर्योदयादिवश आकाशप्रदेश श्रेणियोमें पूर्वादि दिशाकी कल्पना- अब उक्त शकाओके समाधानमे कहते हैं, दिशाओ को द्रव्य सिद्ध करने के लिए जो कुछ भी शकाकारने कहा है कि वह सब विपरीत कथन है। देखिये पूर्व दक्षिण पश्चिम आदिक जो ज्ञान होते हैं वे सब ज्ञान आकाशहेतुक हैं। कही दिशा नामका एक द्रव्य अलग हो और उसके कारणसे ज्ञान चलता हो सो बात नही। वे सब ज्ञान आकाश हेतुक होने से आकाशसे भिन्न दिशा नामक कोई द्रव्य सिद्ध नहीं होता। आकाशके प्रदेश श्रेणियोमे पूर्व आदिक दिशाओके व्यवहारकी उत्पत्ति बन जाती है इसी कारण दिशाओको निर्हेतुक भी नही कह सकते। और, न यह कह सकते कि किसी सामान्य पदार्थके निमित्तसे पूर्व आदिक दिशाओका ज्ञान होता है। जिन आकाश प्रदेशोमे सूर्यका उदय होता है वह तो है पूर्व दिशा। जिन आकाश प्रदेशोमे सूर्य का अस्त होता है वह है पश्चिम दिशा। अब सूर्योदयावलो पूर्व दिशाको ओर मुह करके खडे हो तो उसका दक्षिण हाथ जिस ओर हों वह है दक्षिण दिशा, शेष बचे हुए बाये हाथकी ओर है उत्तर दिशा। तो ये आकाश प्रदेश श्रेणियोमे ही सूर्योदय आदिकके वशसे पूर्व आदिक दिशाओका प्रत्यय होता है।

(२०५-२०७) परीक्षामुखसूत्रप्रवचन (प्रमेयकमलमार्तण्डप्रवचन) २१, २२, २३ भाग

इस पुस्तकमे परीक्षामुखसूत्रके चतुर्थ परिच्छेदके अन्तिम सूत्रपर पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराजके प्रवचन हैं। पदार्थ सामान्यविशेषात्मक होता है। पदार्थ मे केवल सामान्य रहे, ऐसा नही हो सकता, केवल विशेष रहे यह भी नहीं हो सकता। सामान्य विशेष परस्पर अविनाभावी हैं। इसी के विस्तार मे यह भी समझलें कि सामान्य गुण और विशेषगुणोंमे भी अविनाभाविता है, इसे इस प्रवचनांशमे पढिये-पृ० २-साधारण गुणोंको असाधारण गुणके साथ अविनाभाविता-उपरोक्त प्रकारसे सर्व पदार्थो मे सामान्य गुण बराबर मौजूद हैं। इतना होने के बाद काम क्या चला? अर्थक्रिया कुछ नही हुई। प्यास लगी है, पानी पीना है, तो इन ६ साधारण गुणोंसे क्या काम हो जायगा? अथवा व्यापार रोजिगार आदिके कार्य करना है सो केवल ६ साधारण गुणोसे अर्थक्रिया न बनेगी। यद्यपि इन ६ साधारण गुणोके माने बिना असाधारणगुण कुछ महत्त्व न रखेगा, न काम बन सकेगा। लेकिन मात्र ६ साधारण गुणोंसे भी बात नही बनती। प्रत्येक पदार्थमे, प्रत्येक सत् मे अपना अपना कोई असाधारणपन अवश्य है। साधारण मायने विशेषगुण। तो देखो, पदार्थमे सामान्यगुण भो है, विशेष गुण भी है और फिर जब ये पदार्थ परिणमते हैं तो जो परिणमन है वह उसका विशेष है। तो यो समस्त पदार्थ सामान्यविशेषात्मक हैं, इस दृष्टि से सभी पदार्थो में सामान्यगुण भी है। सामान्यगुण न मानें तो काम न चलेगा। सामान्यविशेषात्मक सब पदार्थ हैं। अब उससे और मोटे रूपमे निरखे तो अनेक पदार्थ जिस धर्मकी दृष्टिमे समान जच रहे है तो है सामान्यगुण और जिन धर्मो से यह इससे न्यारा है ऐसा जचे, उसे कहते हैं विशेषगुण। तो यो पदार्थ सभी सामान्यविशेषात्मक होते हैं।

सामान्यविशेषात्मक पदार्थ को छिन्न भिन्न करनेका विशेषवादमें कैसा प्रयास किया गया, इसका दिग्दर्शन कीजिये एक प्रवचनांशमें, पृ० ३-सामान्यविशेषात्मक पदार्थ को छिन्न कर करके छिन्न करने का प्रयास-मूल प्रकरण इस प्रसगमे यह चल रहा है। पदार्थ का सामान्य विशेषात्मकता न मानकर विशेषवादी अपना यह सिद्धान्त रख रहे है कि सामान्य स्वय एक पदार्थ है, विशेष स्वय एक पदार्थ है, फिर वहा रहा क्या? वहा द्रव्य रहा, गुण रहा, क्रिया रही। फिर यह सामान्य विशेष अथवा कोई गुण क्रिया

द्रव्यमे कैसे लग बैठेगी ? तो एक सम्बन्ध है, जिसका नाम समवाय है। इस तरह ६ पदार्थोंकी व्यवस्था करते हुए वे द्रव्यको ९ प्रकार का बता रहे–जिसमें पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, काल, दिशा इन ७ पदार्थो के सम्बन्धमे विवेचन हुआ, जो उसमें तथ्य था उसकी पुष्टि की और जो उनमें अतथ्य था उसका निराकरण किया। दिशा नामका कोई द्रव्य है ही नही। इसलिए उसका सर्वप्रकार निराकरण हुआ। उसके बाद अब आत्मद्रव्यका वर्णन आ रहा है। विशेषवादमें बताया गया है कि एक आत्मा सर्वव्यापी नित्य निरंश चैतन्यमात्र है, उसमें गुण नहीं, क्रिया नही, सामान्य नही, विशेष नही। ये तो उसमे समवाय सम्बन्धसे थोपे जाते है। चैतन्य मात्र भी यों कहना पडता कि कदाचित् ऐसा प्रश्न हो उठे कि जब आत्मा बिल्कुल निराला है, गुण कर्म सामान्य विशेष ये बिल्कुल निराले हैं तो ज्ञानगुण, सुखगुण ये आत्मामे ही क्यों चिपकते हैं, अन्य पदार्थों मे क्यों नहीं चिपक जाते ? निराले की यही स्थिति होती है। तो उसका कुछ थोडा बहुत उत्तर बनाने के लिए चिन्मात्र मानना पडा है। आत्मा के चित्स्वरूप होने से यह ज्ञानस्वरूप आत्मा में ही चिपकेगा अन्यथा इसके भी मानने की जरूरत नही है।

विशेषवाद सम्मत आत्मद्रव्यकी मीमांसा करके १४, १५ दिनोंके प्रवचनोंके पश्चात् निष्कर्षरूपमे जो निश्चय किया गया उसका दिग्दर्शन कीजिये एक प्रवचनांशमें, पृ० ८८-८९–देहप्रमाण आत्माका निर्बाधबोध प्रतिभास–यहां प्रकरण यह चल रहा है कि आत्मा सर्वव्यापक है, या नही। वैशेषिक सिद्धान्तके अनुसार आत्मद्रव्य सर्वगत है, पर प्रत्यक्ष अनुमान आगम युक्ति अनुभवके आधार पर यह सिद्ध होता है कि आत्मा देहप्रमाण है। और ऐसे ऐसे आत्मा अनन्त हैं। तो बात जिस तरह से सत्य व्यवहारमें आती हैं। जैसे अपने अपने आगके रचने वाले ततुवों में सूतोंमें एक निश्चित देश कालके आकाररूपसे प्रतिभासमान है कपडा, बस ऐसा ही है, इतनाही बडा लम्बा चौडा है, इसी तरह शरीरमें ही एक नियमित देशकालके आकारसे प्रतिभासमान हुआ आत्मा उतना ही प्रतिभासमे आ रहा जितना कि शरीर परमाणु फैले हुए है, सबको अपना अपना अनुभव हो रहा होगा कि मैं बस इतने मे ही सब कुछ हूं। कभी शिरमें चोट लग जाय तो लगता कि दर्द तो सिर्फ उसी जगह ही रहा, पर ऐसी बात नही है। जितने शरीरप्रमाण आत्मा हैं उस पूरे आत्मामे सर्वत्र उस दर्द का अनुभव हो रहा है, पर हां उस दर्दका जो निमित्त कारण है उस कारणपर दृष्टि होने से ऐसा प्रतीत होता है कि देखो दर्द यहा हो रहा है। तो जैसे निर्बाध ज्ञानमे प्रतिभास हो उस तरह से ही व्यवहार बना करता है, और वह समीचीन व्यवहार है। यह हेतु असिद्ध नहीं है। शरीर से बाहर आत्मा के प्रदेशो का अभाव है। सुख दुःख विचार कल्पना सब कुछ शरीर के अन्दर आत्मा मे ही हुआ करता है। बाहर कुछ नही होता। सब आत्माको मानो, परन्तु मानो कि यह चैतन्यस्वरूप है ज्ञानादिक गुणमय है, देह प्रमाण है और ऐसे ऐसे अनन्त आत्मा हैं। इसके विरुद्ध जो विशेषवादमे आत्मस्वरूप माना है एक नित्य सर्वव्यापक निरंश गुणरहित, प्रदेशरहित, क्रियारहित जैसा माना है वैसा आत्मद्रव्य सिद्ध नही होता।

दार्शनिक गुण, क्रिया, सामान्य, विशेषको पृथक् पृथक् द्रव्य मानते हैं और गुणोमे भी संयोग, विभाग, पृथक्त्व, संख्या आदि जैसे स्वतन्त्र गुण स्वीकार करते है उनके यहा वस्तुकी कोई व्यवस्था ही नहीं बन सकती। उदाहरणार्थ पृथक्त्व गुणके सम्बन्धमे एक प्रवचनांश देखिये–पृ० १३४–असाधारण धर्म से ही पृथक्त्वका ज्ञान हो जाने से पृथक्त्व गुण पदार्थकी असिद्धि–जब कि अपने अपने पदार्थ से अलग पृथक्त्वके अनाधार घट पट आदिक पदार्थ देखे जाते हैं याने इन पदार्थों से भिन्न पृथक्त्व नामका कोई गुण या किसी भिन्न पृथक्त्व नामके गुणके आधारमे ये घट पट नहीं देखे जाते, इससे सिद्ध है कि भिन्न भिन्न स्वभावरूपसे

उत्पन्न हुए पदार्थ हो पृथक् इस ज्ञानके विषयभूत है। तब अलगसे पृथक्त्व नामक गुण की कल्पना करना व्यर्थ है। पृथक्त्व ज्ञानका भी होना असाधारण धर्म से ही माना गया है। कोई यह शका न करे, मनमें न सोचे कि वस्तुसे भिन्न जब पृथक्त्व नामका कोई गुण नही है तो यह पृथक् है, यह पृथक् है, ऐसे ज्ञान को उत्पत्ति कैसे होगी ? पृथक् है यह, ऐसे ज्ञानकी उत्पत्ति असाधारण धर्म से ही होगी। जो पदार्थ जिस स्वरूपमे रहता है अर्थात् पदार्थ का अपने आपके स्वरूपमात्रमे रहने का नाम है असाधारण धर्म। याने वस्तुका जो चतुष्टय स्वरूप है वही उसका असाधारण धम है। तो देखिये जब एक वस्तु अन्य वस्तुओंसे भिन्न देखी जाती है तो जानने वाला उस समय यो जानता है कि यह एक पृथक् है, विविक्त है, अन्य सबसे जुदा है, और जब दो पदार्थ अन्य पदार्थो से विलक्षण एक धमके सम्बन्धसे भिन्न भिन्न देखे जाते हैं तो जानने वाला यो मानता है कि दो पृथक् हैं, और जब एक देश रूपसे एक कालके रूपसे किसी एक पने से जानते तो जानने वाला यो मानता है कि ये सब इससे पृथक है। तो ये ज्ञेयभूत विषय पर आधारित हैं कि जानने वाला पृथक्त्वका ज्ञान करले। देखो ना एक पुद्गल मे रूप रस, गन्ध, स्पर्श आदिक गुण हैं। तो द्रव्यका स्वरूप तो अभेद है, गुणका स्वरूप भेद है, तब द्रव्यसे गुण पृथक् हुए ना, स्वरूप सख्या आदिककी अपेक्षासे। तो वहा भी वह व्यवहार चलता है कि रूपादिक गुण द्रव्यसे पृथक् हैं। तो पृथक् हैं, पृथक् हैं इस प्रकार का ज्ञान असाधारण धर्म से हो जाता है। इस प्रकार पृथक्त्व नाम का गुण कभी सिद्ध नही होता।

विशेषवादमे कर्म (क्रिया) को भी अलग स्वतन्त्र पदार्थ माना है उसके भेदोकी विवेचना सहित मीमासा करते हुए एक प्रवचनांशमे दिग्दर्शन कराया है कि क्रिया, मूल पदार्थ की परिणति मात्र हैं, स्वतन्त्र पदार्थ नही, पढ़िये एक प्रवचनांश, पृ० १६०—कर्म पदाथके असद्भावके कथनका उपसहार—यहा इस प्रसगमे बात कही जा रही है कि न तो सर्वथा नित्य पदाथमे क्रिया सम्भव है और न सर्वथा क्षणिक पदार्थमे क्रिया सम्भव है, इस कारण परिणमनशील पदार्थमे भी क्रिया उत्पन्न हो सकता है। अब कर्म के सम्बन्धमे विचार करिये। यह क्रिया यह कर्म कोई पदार्थ है क्या ? यह कर्म जिस पदार्थ मे हो रहा है उस पदार्थ को छोडकर भिन्न कोई चीज नही है। पदार्थ द्रव्य अलग हो और कर्म अलग हो फिर कर्म का पदार्थ मे सम्बन्ध जुटे, तब उसमे क्रिया बने, ऐसी बात नही है। परिणमनशील क्रियाशील पदार्थको छोडकर अन्यत्र और कोई कर्म नामका पदार्थ नही है क्योकि जो बात पायी जा सकती है और वह न पायी जाय तो इसका अर्थ है कि वह नही है। जैसे टेबिल पायी जा सकनी है, आखो से दिख सकती है। यदि कमरे मे वह न दिखे तो इसका अर्थ यही हुआ ना कि कमरे मे टेबिल नही है। तो जो चीज दिख सकती है, पायी जा सकती है, फिर पायी न जाय उसको कह सकते हैं कि वह है नही। तो कर्म पदाथ पाया जा सकता है, वैशेषिक सिद्धान्त के अनुसार दिख सकता है, विशेषवादमे यह सिद्धान्त स्थापित किया है कि सख्या, परिणाम, पृथक्त्व, सयोग, विभागपरत्व, अपरत्व और कर्म। इतनी बातें रूपी पदार्थो के समवायसे आखो दिखने लगती हैं। तो इसमे कम को भी चाक्षुस बताया है। कर्मभी उपलब्ध हो सकता है। तो जो चीज उपलब्ध हो सकती है वह कभी उपलब्ध न हुई तो, किसी को आखो दिखी न हो तो इसके मायने है कि वह असत् है। तो कर्म नाम का पदार्थ असत् है। कोई अलग दिखता हो कि यह है क्रिया, उससे हो रहा है पदार्थ का हलन चलन, ऐसा कर्म नाम का कोई पदार्थ अलग से नही है।

द्रव्य, गुण, कर्म आदिको भिन्न भिन्न पदार्थ मानने पर यह समस्या खडी हो जाती है कि फिर आत्मद्रव्यमे ज्ञानगुण कैसे आ गया आदि तो उस विपदा को मेटने के लिए समवाय सम्बन्ध मानना पडा। समवाय के सम्बन्धमे

विस्तृत मीमासाकारक प्रवचनोके बीच एक प्रवचनाशमे दिग्दर्शन कीजिये कि द्रव्यमे गुण तादात्म्य है, समवायी द्रव्य है, उसमें गुणका सम्बन्ध समवायसे हुआ है, यह घटित नही होता, पृ० २४९—समवायियोसे असम्बद्धत्व व सम्बद्धत्व दोनो विकल्पोमे समवायत्व की असिद्धि—अच्छा—अब यह बात बतलावो कि समवाय समवा-यियोसे असम्बद्ध है या सम्बद्ध है ? यदि मानागे कि समवायो पदार्थो से समवाय असम्बद्ध है याने समवायी दो पदार्थो मे जैसे द्रव्य, गुण, आत्मा, बुद्धि, कुछ भी ले लो, उन दो पदार्थो से समवाय सम्बन्ध नही है तो असम्बन्ध होने पर अर्थात् समवायियोंमे समवाय का सम्बन्ध न रहने पर समवायी पदार्थो का समवाय है, इस प्रकार का व्यपदेश नही बन सकता है। यदि कहा कि समवायी पदार्थो से समवाय सम्बद्ध है तो यह बतलावो कि उन समवायी पदार्थो मे यह समवाय स्वतत्र ही सम्बद्ध हो गया या किसी परसे सम्बद्ध हुआ है ? जैसे घट और रूप, घटमे रूपका समवाय माना जा रहा है तो घट और रूपमे समवाय का जो सम्बन्ध बना है सो क्या यह सम्बन्ध स्वत बना है या किसी अन्य समवाय आदिकके कारण बना है ? यदि कहो कि समवायियोमे समवायका सम्बन्ध स्वत. बना है तो जब सबंध स्वतः बनने लगा तो सयोग आदिक का भी सम्बन्ध स्वत हो क्यों न मान लिया जाय ? विशेषवादमें सयोग का सम्बन्ध पदार्थो मे समवाय सम्बन्ध से माना है। तो जब समवाय सम्बन्ध समवायियोंमें स्वतः ही बन जाता है तो यो सयोग सम्बन्ध उन दो द्रव्योमे स्वतः ही क्यो नही बन जाता ? बन जाना चाहिए। सो विशेषवादमे मानना इष्ट नही है। यदि कहो कि समवायी पदार्थो मे समवाय का सम्बन्ध पर से होता है तो इसमें अनवस्था दोष आता है। समवायी दो पदार्थो समवायका सम्बन्ध हुआ सम-वायसे, अब उस दूसरे समवायका उनमे सम्बन्ध हुआ तृतीय समवायसे। तीसरे समवायका उन सबमें सम्बन्ध करनेके लिए चतुर्थ समवायकी कल्पना की जाय, फिर उस समवायका जो निकट समवाय और समवायीमे सबध बनाया जायगा वह बनेगा अन्य समवायसे। तो इसप्रकार यदि समवायियोकी कल्पना बनाते जायेंगे, अनवस्था दोष हो जायगा। कही निर्णय ही न हो सकेगा।

(२०८–२१०) परीक्षामुखसूत्र प्रवचन (प्रमेयकमलमार्तण्डप्रवचन) २४, २५, २६ भाग

इस पुस्तकमे परीक्षामुखसूत्रके पंचम और षष्ठ परिच्छेदके सूत्रोपर प्रवचन है। पचम परिच्छेदके सूत्रोमें यह बताया है कि प्रमाणका फल अज्ञाननिवृत्ति, हेयका त्याग, उपादेयका ग्रहण व उपेक्षा ये चार फल हैं सो वे प्रमाणसे कथचित् भिन्न और कदाचित् अभिन्न हैं, इस सिद्धान्तसे उन दार्शनिकोके मन्तव्यका निराकरण हो जाता है जो फलका प्रमाणसे भिन्नही कहते है या अभिन्नही कहते हैं। इस सम्बन्धमे एक अन्तिम प्रवचनाश पढ़िये, पृ० ११-प्रमाणफल विवरक परिच्छेद—इस परिच्छेदमे प्रमाणके फलका वर्णन किया गया है। प्रमाणके फल है चार—अज्ञाननिवृत्ति हानि, उपादान, और उपेक्षा, ये चारोके ही चारो कथचित् प्रमाणसे भिन्न हैं, कथ-चित् प्रमाणसे अभिन्न हैं। फिर भी तुलनात्मक दृष्टिसे अज्ञाननिवृत्तिमे प्रमाणसे अभिन्नताका विचार विशेष चलता है और हानि उपादान उपेक्षामे प्रमाणसे भिन्नताका विचार विशेष चलता है, उसका कारण यह है कि अज्ञाननिवृत्ति तो है प्रमाणसे तुरन्त साक्षात् होने वाला फल और हानि उपादान उपेक्षा ये होते हैं अज्ञाननिवृत्तिरूप फल प्राप्त होने के पश्चात्। इस कारण जो साक्षात् है उसे अभिन्न कहा है और जो व्यवधानसहित है उसे भिन्न कहा हैं।

प्रमाण, विषय, सख्या व फल इन चार तत्त्वोका विवेचन इस सूत्र ग्रन्थमे हुआ। इसके बाद षष्ठ परि-च्छेदमे इन सबके आभासोका वर्णन होगा याने जो प्रमाण नही, प्रमाण से जचे वह प्रमाणाभास इसी तरह विषया-भास, संख्याभास व फलाभासोका वर्णन होगा। प्रमाणाभासके प्रकरणमे प्रमाणके सब साधनोके आभास बताये गये, देखो अनुमान प्रमाण के साधनभूत हेतुके आभासोमे विरुद्धहेत्वाभासमे योगाभिमत ८ विरुद्ध भेदोका समावेश बताया

है, उनमे से पक्षैकदेश विपक्षव्यापक अविद्यमानसपक्षका विरुद्ध हेत्वाभासमें अन्तर्भावक प्रवचनांश देखिये पृ० ३५–पक्षैकदेशवृत्ति विपक्षव्यापक अविद्यमानसपक्ष नामक विरुद्धभेदका विरुद्ध हेत्वाभासमें अन्तर्भाव–अब सपक्षके न होने पर होने वाले विरुद्धभेदमे एक यह अन्तिम भेद है–पक्षैकदेशवृत्ति विपक्षव्यापक अविद्यमान सपक्ष कोई हो ही नही जैसे कि अनुमान बनाया गया कि वचन और मन नित्य है कार्य होने से। तो इस अनुमानमे हेतु तो हुआ कार्यत्व, और पक्ष हुआ वचन और मन, साध्य हुआ नित्य। तो कार्यपना पक्षके एक देशमे रह रहा है अर्थात् वचन तो कार्य है किन्तु मन कार्य नही है। इस प्रकार यह हेतु पक्ष के एक देशमे रहा। और, विपक्ष है अनित्य घट आदिक। जो साध्यमे याने नित्यसे विपरीत धर्मवाला हो वह सब विपक्ष कहलाया। यहा साध्य बनाया गया है नित्यका, उससे जो विपरीत हो, अनित्य हो वह सब विपक्ष है। तो विपक्ष जो नित्य घट आदिक हैं उन सबमे यह कार्यपना रह रहा है याने कार्यत्व हेतु समस्त विपक्षमे रहता है और सपक्षमे अवृत्ति है इस हेतुको, क्योकि इसका कोई सपक्ष ही नही है। पक्षके अतिरिक्त वे स्थान जिनमे साध्य रहता हो उन्हे सपक्ष माना गया है। यहा साध्य है नित्य सो नित्यमे अन्य किसी मे कार्यत्व पाया ही नही जाता सो इस तरह यह विरुद्धभेद दूपित है लेकिन इसका भी अन्तर्भाव विरुद्ध हेत्वाभासमे है, क्योकि विरुद्ध हेत्वाभासमें जो लक्षण किया गया है उस लक्षणसे ही यह हेतु लक्षित है। इस प्रकार विरुद्ध हेत्वाभासका वर्णन समाप्त हुआ। अब अनेकान्तिक हेत्वाभास किस प्रकार से होता है इसका वर्णन करते हैं।

छठवें परिच्छेदके ७३ वें सूत्रमे बताया है कि वादी व प्रतिवादी के जय पराजयकी कैसे व्यवस्था है। इसमे सम्बन्धित एक प्रवचनांश पढ़िये, पृ० ६८–प्रमाण और प्रमाणाभासके स्वरूप के परिज्ञानका सार्वजनिक प्रयोजन प्रमाण और प्रमाणाभास अर्थात् वादी किसी बात को सिद्ध करने के लिए प्रमाण दे और प्रतिवादीके कहे हुए प्रमाणमे दोप बताये तो वादी के द्वारा जब अपने सिद्धान्तके समर्थन करने वाले प्रमाण की बात सिद्ध हुई तो उससे वादीका तो सिद्धान्त सिद्ध होता है सो उसका भूषण है और वह प्रतिवादी के लिए दूषण बन जाता है, क्योकि वादीका जो समर्थ वचन है, प्रमाणरूप है उसकी पुष्टि होनेसे वादी के मन्तव्यकी सिद्धि हुई सो वादीको भूषण हुआ और प्रतिवादीके लिए वही दूषण बन गया, अर्थात् प्रतिवादीके मन्तव्यका निराकरण हुआ। जब प्रतिवादीने कोई वचन कहा और उसको वादीने प्रमाणाभासके रूपमे उपस्थित कर दिया, उस प्रकरणमे दोष बता दिया तो प्रतिवादी के लिए तो वह साधनाभास हो गया और वादीका भूषण बन गया। अथवा वादी ही कोई बात ऐसी कह दे कि जो अयुक्त हो, प्रमाणसिद्ध न हो, प्रमाणासिद्ध, प्रमाणाभास हो तो वह वादीके लिए साधनाभास हो जाता है। और, तब प्रतिवादीके लिए वह भूषण हो जाता है। इसमे प्रतिवादी प्रसन्न होता है कि वादी के बताये हुए प्रमाणमे दोष आ जाय।

वादविवादमें जयकी व्यवस्था तो यह है कि अपने पक्षका प्रमाण सार्थन पेश करे और दूसरे के पक्षमे साधनाभास, दोप दिखावे, लेकिन एक दार्शनिकका मत है कि जल्प, वितण्डा, छल, निग्रह आदि जैसे भी बने पब्लिकमे दूसरेको लज्जितकर देना ही जय है। इससे सम्बन्धित एक प्रवचनांश देखिये पृ० ६१–छल मात्रसे जय मानने वाले दार्शनिकके अनिष्ट प्रसगका कथन- दार्शनिक लोग आत्महितके लिए तत्त्वकी सख्या बताते हैं। जैसे जैनसिद्धान्तमे तत्त्व ७ माने हैं–जीव, अजीव, आश्रव, बन्ध, सम्बर, निर्जरा और मोक्ष। किन्तु योगके यहा १६ तत्त्व माने जा रहे हैं जिसमे छल, जाति, निग्रह तत्त्व भी कहा गया है। तत्त्वके कही कुतत्त्वको भी कहते हैं क्या ? आत्महितके लिए जो उपयुक्त हो उनको ही तत्त्व कहा जाता है। तो इस प्रकार जो शकाकार इन छलो के द्वारा जय विजयकी व्यवस्था बनाना चाहता है उसकी यह केवल एक

अनुदारतापूर्ण कल्पना है। यह दूषण प्रेक्षावानोमे नही लग सकता है। और, जब बुद्धिमानोंमें छलोका दोष न आया तो वे यथार्थ समझते हैं। जिसके युक्ति सगत वचन है वह तो जीता है और जिसके युक्ति-विरुद्ध वचन है उसकी पराजय हुई है, क्योकि यदि छल जाति निग्रह स्थानोका ही प्रयोग कर करके कोई जीत, हारकी व्यवस्था बनाये अथवा गौण अर्थ जिस जिस वक्ताके अभिप्रायमें है उसका निषेध कर के मुख्य अर्थकी बात रखे और दूषण दे या मुख्य अर्थका निषेध करके गौण अर्थ को बात रखकर दूषण दे, यदि इतने मात्रसे दूसरेका निग्रह होता है, पराजय होती है तो भला यह योग जब सर्वशून्य वादियो के प्रति मुख्यरूपसे प्रमाण आदिकके प्रतिषेधको करके निग्रह करता है, उनकी हार बताता है तो शून्यवादकी यह बात भी तो साव्यवहारसे, प्रमाण आदिकसे तो उसे मान लिया ना, फिर इतने मात्रसे प्रतिवादीको पराजय मान ली गयी है। तो अपने पक्षकी सिद्धिसे ही दूसरे को पराजय होती है, यह बात फिर लुप्त हो जायगी। वास्तविकता यह है कि अपने पक्षकी सिद्धिसे ही स्वसिद्धान्तकी जीत है और परकी पराजय है। यहा तक छलप्रयोगके सम्बन्धमे वर्णन किया और यहा सिद्ध किया गया कि अपने पक्षकी सिद्धि से ही जीतकी व्यवस्था है और दूसरे के पक्षमे दोष देने से पराजयकी व्यवस्था है। छल मात्रसे जय और पराजयकी व्यवस्था नही बनती।

छठे परिच्छेदके अन्तिम सूत्रमे २६ वें भागमे नय भासो पर प्रवचन है। सूत्रार्थ व नय व नयाभासोका सक्षिप्त स्वरूप पढिये, पृ० १७१–नय और नयाभासका सामान्यतया स्वरूप–जितना जो कुछ वर्णन अब तक किया गया है प्रमाण और प्रमाणाभास, उनसे अविशिष्ट अन्य कुछभी जो सभव हो उसका विचार करना चाहिए। अब यहा प्रसगमे प्रमाण और प्रमाणाभास से अन्य विद्यमान समस्या है नय और नयाभासकी। तो उनका लक्षण अब विचार करते है। इस प्रकरणमे नयोका जो वर्णन किया जायगा वह एक दिग्दर्शन मात्र होगा, अर्थात् उसका सहारा लेकर, उस दिशामे बढकर भिन्न भिन्न अनेक प्रमाणोकी सिद्धि का जा सकती तो नयका लक्षण सामान्यरूपसे भी जानना चाहिए और विशेषरूपसे भी जानना चाहिए। उनमे से प्रथम सामान्यतया नयका लक्षण कहते है। ऐसा ज्ञाताका अभिप्राय जो कि वस्तुके अशको ग्रहण करने वाला है अर्थात् जानने वाला है तथा उस ज्ञेय तत्त्वके प्रतिपक्षका निराकरण भी न किया गया हो ऐसे अभिप्राय को नय कहते है। और, जैसे ज्ञाता के अभिप्रायमे ग्रहण तो वस्तुका अशका हुआ ही लेकिन प्रतिपक्षका भी निराकरण बसा हो तो वह नयाभास कहलाता है। इस प्रकार नय और नयाभासका यह सामान्यलक्षण है।

नय और नयाभासोकी पद्धति जाननेके लिए उदाहरणार्थ व्यवहारनय व व्यवहारनयाभासका उल्लेख देखिये, पृ० १७७–व्यवहारनयका क्षेत्र–अपर संग्रहनयके विभावग करके जो व्यवहारनयके द्वारा जाना गया है उसका भी और विभाग किया जाय और इस तरह से अपरसग्रहनयका व्यवहार अर्थात् अपर सग्रह बना बनाकर विभाग करते जाने की पद्धति ऋजुसूत्रसे पहिले पहिले तक की जाती है क्योकि ऋजुसूत्रनय ऐसे निरश पर्यायको ग्रहण करता है कि जिसके बाद उसका विभाग सम्भव नही। अतएव ऋजुसूत्रनय से पहिले पहिले अपर सग्रहो का व्यवहार चलाया जा सकता है। और, यह सगह व्यवहारनय प्रसगपर सग्रहनय के बाद प्रारम्भ होकर ऋजुसूत्रनयसे पहिले पहिले होता है। अर्थात् सग्रहनयके बाद कोई सग्रह नही किया जा सकता। जैसे ऋजुसूत्रनय के विषय मे विभाग नही किया जा सकता इसी प्रकार पर सग्रह के विषय मे भी नही बनाया जा सकता है। सब सग्रह व्यवहार प्रपच इस कारण चलता है कि समस्त वस्तुवे कथचित सामान्यविशेषात्मक हुआ करती है। जब समस्त पदार्थ सामान्य विशेष रूप हुए तो सामान्यको प्रधान करके तो सग्रहनय बनता है और विशेषको प्रधान करके व्यवहारनय बनता है।

नयाभासका उल्लेख देखिये-पृ० १७७ व १७६-व्यवहाराभास-व्यवहारनयमे जो विभाग किया जाता है वह वस्तुके अनुरूप किया जाता है, लेकिन जो कल्पनासे आरोपित द्रव्य पर्याय के विभाग को मानता है वह व्यवहारनय नहीं, किन्तु व्यवहाराभास है, क्योंकि उसमे प्रमाणसे बाधा आती है। अपनी कल्पनाके अनुसार जब किसी भी प्रकार विभाग बना दे तो वह व्यवहारनयका विषय नही है। जैसे कि कोई कहता है कि द्रव्य ९ प्रकार के हैं-पृथ्वी जल, अग्नि, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन। अब ये विभाग किसी व्यवस्थाको लिए हुए नही हैं। सभी कुछ द्रव्य एक जातिमे आ गये, कुछ द्रव्य रह गये, कुछ द्रव्य ही नही हैं। कल्पनासे उनमे द्रव्यरूपता मान ली गई है। इसी प्रकार पर्याय मे यो भेद करना कि पर्यायक्रिया उत्क्षेपण अवक्षेपण आकुंचनआदिक ५ प्रकारकी हैं। यहभी एककल्पनासे आरोपित विभाग है। तो जो कल्पना से आरोपित द्रव्य पर्यायके विभागको मानता है वह अभिप्राय व्यवहाराभास है, क्योंकि इस पर विचार करने से उसमे प्रमाणसे बाधा आती है। यह नहीं कहा जा सकता कि द्रव्य आदिकं का विभाग कल्पनासे आरोपित ही होता है। कोई यह कह बैठे कि सब सत् हैं, यह बात तो सत्य है। अब उसका जो विभाग किया जायगा वह कल्पनानुसार किया जायगा। यो यो अटपट स्वच्छन्द रूपसे कल्पनासे विभाग आरोपित नही होता, क्योंकि यदि कल्पनामे ही विभाग बनाया जाय तो फिर वह पदार्थ जिसका व्यवहारनयसे अलग अलग बताया है वह अपनी अर्थक्रियामे कारण नही हो सकता, जैसे कोई कल्पना से आकाशका फूल मानले। कल्पना है उसकी, पर कल्पनासे मान लेने मात्रसे कही आकाशपुष्पमे अर्थक्रिया न हो सकेगी। सुगन्धी आये या उसकी माला बनायी जा सके, उसका कुछ उपयोग हो सके, यह कुछ न हो सकेगा, क्योंकि वह तो असत् है। केवल एक कल्पनासे आरोपित किया गया है। इसी प्रकार द्रव्यसे पर्यायका विभाग केवल कल्पनासे आरोपित हो, तत्त्वभूत पाया न जाता हो तो उसमे भी अर्थक्रिया नही बनसकती। इसलिए व्यवहारनय द्वारा जो विभाग किया गया है वह असत्य नही है।

(२११) ज्ञानार्णव प्रवचन प्रथम भाग

परमपूज्य श्री शुभचन्द्राचार्य प्रणीत ज्ञानार्णव ग्रन्थके १ से ५६ तक छन्दोंपर पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराजके प्रवचन हैं। मगलाचरणके प्रवचनोमे ज्ञानलक्ष्मीका परिचय देखिये-पृ० २-प्रभुकी ज्ञान श्री-यह ज्ञानार्णव ग्रन्थ उन सभी समाधानोको करता हुआ बारह भावनाओका बोध कराने के लिए लिखा है। इस मगलाचरणमे जो उत्तर दिया है उस पर कुछ गम्भीर दृष्टि द। ज्ञानलक्ष्मीके घनआश्लेषसे जो आनन्द सम्पन्न हुआ, उससे यह परम आत्मा समृद्ध है। प्रथम तो इसमे यह बात घटित हुई कि जैसे बहुत से लोग अपनी कल्पनासे माना करते हैं कि भगवान और भगवती दोनो साथ रहते हैं। जैसे यहा लोग कहते हैं ना कि पडित और पडितानी, मास्टर और मास्टरानी, ऐसे ही कुछ लोग भगवान और भगवती भी बोला करते है। भगवान और उनकी स्त्री भगवती-ऐसा कहा करते हैं, पर वास्तवमे भगवान कौन है और भगवती कौन है इसको समझो। जो ज्ञान लक्ष्मी है वह तो है भगवती, भगवन्त इय इति भगवती-जो भगवानकी चीज हो उसे भगवती कहा है। कहा है ना कि परमात्मा इस ज्ञानलक्ष्मी के घन सम्बन्धसे आनन्दित है। यह ज्ञान रूपी भगवती भगवानका स्वरूप है-उससे अलग अन्य कुछ चीज नही है। किसी समय चाहे रूपक दिया गया हो, पर उसे न समझने के कारण फिर लोगो ने उसका सीधा ही अर्थ लगा डाला-क्यो कि ये भगवान है और इनके सग जिसका विवाह हुआ है वह उनकी भगवती है और उनके स्त्री पुरुष के रूप मे लोगो ने फोटो भी बना दिये है। पर भगवान की जो शक्ति है, भगवान का जो स्वरूप है, वही भगवान की लक्ष्मी है। और उस लक्ष्मी से प्रभु तन्मय रहा

करते है।

८ वें छन्दके एक प्रवचनांशमे भेदविज्ञाम व अभेदविज्ञानकी झांकी देखिये–पृ० २८–भेदविज्ञान व अभेद–विज्ञानका कदम–हितपूर्ण ज्ञानमे प्रथम तो भेदविज्ञान है और फिर भेदविज्ञान का फल तो यह था कि हेय से हटे और ऊपादेयमे लगे तो हेय से हटकर हम अपने विषय रूप निज ज्ञानमे लग गये, अब पर–तत्त्वोकी सुध नही रही तो इसे कहते हैं अभेद विज्ञान। तीन चीजे हुआ करती है–एक भेदविज्ञानका अभाव, दूसरी बात भेदविज्ञान और तीसरी बात अभेदविज्ञान। भेदविज्ञान अभाव तो दुःखमे ही है, वह तो अज्ञानावस्था है। भेदविज्ञानके कालमे उत्कृष्ट शान्ति नही होती, पर हा शान्ति का शुरुवात होने लगती है। उत्कृष्ट शान्तिका साधक तो निर्विकल्प अभेद ज्ञान है, जिसमे सुख न मिले, शान्ति न मिले वह ज्ञान क्या है ?

९ वें छन्दमे कहा है कि श्रद्धा, विज्ञान, ध्यान तब वास्तवमे वही है जिसको पाकर आत्मा स्वरूपमे लीन हो जावे, इनमे से एक तपका ही उदाहरण देखिये एक प्रवचनांशमे, पृ० ३८–वास्तविक तपश्चरण–तपस्या भी परम वही है जिसमे स्वरूपदर्शन हो, अनशन कर लिया हो तो क्रोध और बढ गया, क्योकि जब भूख रहती है तब क्रोध बढनेका अवसर प्राय जल्दी आता है। कोई प्रतिकूल बात करे तो क्रोध बढ जाता है, यह सबकी बात नही कही जा रही है, किन्तु प्रायः जैसा साधारण जनोमे होता है वैसा बताया जा रहा है। तो वह तपस्या क्या रही ? जिसमें कषाय बढ जाय, अथवा मान बढ जाय। लोग समझे कि यह व्रती है, यह ऐसा उपवास रखते हैं। सो वह तपस्या क्या रही ? अथवा माया, लोभ बढ जाय। देखो धर्म करने से पुण्यबध होता है, फिर उसे स्वर्ग के सुख मिलते हैं, पर कर रहा है, लग रहा है तपस्यामे। अरे भैया, यहा शान्ति तो हुई नही अभी क्योकि उद्देश्य भी सासारिक रख लिया। तपस्या भी वही है। इसमें रहकर यह जीव अपने स्वरूपमे लीन हो जाता है।

२५ वें छन्दके प्रवचनोमे से एक प्रवचनाशमे आवश्यक शिक्षा ग्रहण कीजिये–पृ० ६०, ६१–आवश्यक शिक्षा–हमे यह शिक्षा लेनी है कि हमे तो अपने आत्मामे शान्ति पाने के लिए ज्ञानदृष्टि की आवश्यकता है, और शरीर की स्थिति के लिए कुछ भोजन की आवश्यकता है, इन दो के अतिरिक्त तो सब उद्दण्ड–तायें हैं। तो जैसे भोजन आवश्यक समझ रहे हैं उससे भी अधिक आवश्यक ज्ञानदृष्टि का बनाना है। जो पुरुष ज्ञानी हैं, ज्ञानदृष्टि करके सहज आनन्द का अनुभव किया करते हैं वे कर्मक्षय निकटकालमे ही भूखके कारणभूत इस शरीरसे भी विमुक्त हो जायेंगे। तो यह दुःख तो अपने आप दूर हो जायगा। सदा के लिए सकटोसे छूटना है तो यह भोजन दृष्टि काम न करेगी, किन्तु ज्ञानदृष्टि काम करेगी। इस व्यवहार से इस शरीर आदिकसे अधिक ज्ञान भावना है, ज्ञान दृष्टि है, ऐसा करने से आपमे दृढ निर्णय बना लेना चाहिए, ये समागमोमे आये हुए कोई लोग, साथ न देंगे। अपने आपका जितना ज्ञानप्रकाश बना है बस यही साथी होगा।

गुण दोषका विभाग करने के लिए विवेकका कसौटीपन देखिये ३३ वें छन्दके एक प्रवचनाशमे–पृ० ७३–विवेक कसौटी–वे पुरुष धन्य है जो निज पक्ष चित से वस्तुके विचारमे कसौटीके समान हैं। जैसे स्वर्ण कसने की कसौटी होती है वह कसौटी मालिक के पास है। मालिक उसे बडे अच्छे ढग से रखता है, लेकिन वह कसौटी दगा नही देती। वह कसौटी मालिक का पक्ष नही करती कि साना ग्राहक का देते समय सोने को कसौटी से कसा जाय तो अपनी यथार्थता से अधिक अपना गुण बता दे, अथवा किसी ग्राहकका सोना ले और कसौटी से कसे तो यथार्थ ही होन गुण की बात वह कसौटी दिखा दे। कसौटी को न मालिकका पक्ष है, न ग्राहकका पक्ष है, तो यथार्थ निष्पक्ष है। वे तो कसौटीके समान हैं। वे गुण

श्रौर दोषोका बराबर यथार्थ विचार कर लेते हैं। भिन्न भिन्न जान लेते हैं कि यह गुण है श्रौर यह दोष है।

इस ग्रन्थमें वक्तव्य १२ भावनाओको स्थान देखिये जीवके लिए कितना उपयोगी है, प्रवचनाश ५४ वां श्लोक–पृ० ११३–भावनाका धर्मपालनमे स्थान–इन बारह भावनाश्रोका बडा प्रमुख स्थान है–श्रात्महित के लिए श्रौर एक सीधा उपाय है, हित के लिए तो बारह भावनाश्रोका। थोडा भी जानने वाला पुरुष इन बारह भावनाश्रोके चिन्तन के प्रसाद से अपने को कल्याणमे ले जायगा श्रौर कितना भी ज्ञान होने पर भी बारह भावनाश्रोसे रहित वृत्ति बने तो वह ज्ञान जड–धन जैसा काम करता है। जैसे मकान श्रादिक जड पदार्थ मिले हैं तो उनके मेलसे एक श्रहकार भाव श्राया, एक सासारिक मौज लेनेका भाव बनाया करते हैं, इसी प्रकार श्रात्महित कारणी इन भावनाश्रोसे रहित होकर यह ज्ञान वाला पुरुष भी इन ज्ञानके समागम से श्रहकार बनानेमे मे जो सासारिक मौज मिला है उससे खुश रहनेका भाव–ये सब बाते बनने लगती हैं। इन भावनाश्रोका कितना उपकार है ? इस उपकार को वहा पुरुष जानता है जो इन भावनाश्रोको पाकर अपने मे कुछ लाभ उठा लेता है। हे भव्य तू अपने भावोकी शुद्धि के लिए अपने चित्तमे बारह भावनाश्रोका चिन्तन कर।

(२१२) ज्ञानार्णव प्रवचन द्वितीय भाग

इस पुस्तकमे ज्ञानार्णवके ५७ वें श्लोकसे १३२ वे छन्द तक के पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराजके प्रवचन हैं। इन्द्रिय सुखोमें प्रेम करना अहित है, इससे सम्बन्धित एक प्रवचनाश ५७ वें श्लोकमे देखिये-पृ० १–इन्द्रिय सुखोमे रीति को प्रतिषेध्यता–हे आत्मन्, इन सासारिक सुखोमे प्रीति करके तूने अपने आपका अब तक विनाश ही किया है। अब तो अपने आपका स्वरूप निरख। यह श्रात्मा अमूर्त श्रौर अविनाशी है, लेकिन इस जगमे कौन सा जीव अपने आपको अमूर्त श्रौर अविनाशी अनुभव कर रहा है ? यदि अमूर्त श्रौर अविनाशी अपने आपको माना होता तो फिर विपदा किसकी ? शका किसको ? भय किसका ? निरन्तर चकित रहता है, निरन्तर विपदा अनुभव करता है। यह सब ज्ञान परिणामो की बात है कि हमने अपने को अमूर्त श्रौर अविनाशी नही मान पाया। इसका प्रधान कारण है कि हम इन देहादिक सुखो से प्रेम रखते हैं, इन्द्रियजन्य सुख भोग विलास श्राराम श्रादि के सुखो मे प्रीति की तो उनके साधन मे ममता अपने श्राप श्रायगी। इन्द्रियसुख को चाहा तो यह जीव इन्द्रिय सुखके साधनो को भी जुटायेगा श्रौर उन साधनाकी पराधीनतामे अपने आपके स्वरूपको भूल जायगा, दुःखी होगा।

संसारमें सुखसे अनन्त गुणा दुःख है, पढ़िये १ वें श्लोकके एक प्रवचनाशमें, पृ० ९–सासारिक सुखसे अनन्त गुण दुःख–हे मूढ पुरुष इन ससारमे तेरे समक्ष जो कुछ सुख या दुःख हैं, उन दोनो को ज्ञान की तराजू मे चढाकर यदि तोलेगा तो सुख से दुःख अनन्त गुणा अधिक दीखेगा। इस श्लोक मे यह बताया है कि ससारमे सुख तो है तिल भर श्रौर दुःख है पहाड भर। अपनी अपनी बातें अपने को जल्दी समझ में श्रायेगी। दूसरे को सुख दुःख समझमे नही श्राता, तब अपनी ही बात अपने पर घटा कर देख लो। किसी भी प्रसगमे, किसी भी समयमे सुख आपकी कल्पनामे है तो उसके साथ उससे अनन्तगुणा दुःख भी लगा हुश्रा है। यह क्यो ? इसलिए कि वे तो सारे दुःखके ही काम हैं। इतने पर भी यह मूर्ख प्राणी मोहवश उसमे सुखकी कल्पना कर डालता है। तो यह उसके कल्पनागृहकी बात है। वास्तवमे सुखसे अनन्तगुणा दुःख है। यह कहने के बजाय सर्वत्र दुःख ही दुःख है, यह कहा जाना चाहिए था लेकिन जिन्हे समझना है ऊनकी कल्पना मे तो वह सुख जचता है, जो कि दुःख स्वरूप है, अत उन्हें उनकी

भाषा बोलकर ही तो समझाना पडता है। इस कारण यह कहा गया कि ससारमे जितने सुख हैं उससे अनन्तगुणा दु ख हैं।

परोपकारमे तन मनके प्रयोगका अनुरोध पढिये, पृ० ६१ वें छन्दके एक प्रवचनाशमे, पृ० १२–परोपकारमे तन मनके प्रयोगका अनुरोध–शरीर पाया है तो लगने दो परोपकारमे। दूसरों के उपकार से इस शरीरका भी कुछ नही बिगडता और बिगड जावे तो क्या हुआ ? बिगडना तो है ही। हम अपने भावो मे उज्ज्वलता बसाये, इस अवसरको पाकर अब न चूके। सब जीवोको सुख हो, शान्ति हो, इस प्रकार का चिन्तन करें। हमारा कोई न साथी है, न शत्रु है, जिन्हे यहा साथी और द्वेषी समझा जा रहा है वे बेचारे अपने सुखके लिए, अपनी कषायोकी शान्ति के लिए अपने आपमे जैसा उन्होंने सुख मान रखा हो उस तरह के उसमे विकल्प पैदा होते हैं। तो कोई साथी अथवा द्वेषी कैसे होगा ? जगतमें कोई किसी का साथी अथवा द्वेषी नही है। ज्ञानी गृहस्थके चित्तमे भी कितनी उदारता है कि युद्धके समय व्यवहार मे शत्रुका डटकर मुकाबला करते हुए भी अतरगमे यह श्रद्धा बनी है कि कोई मेरा शत्रु नही है। यह मन पाया है तो इस मनको सब जीवो को भलाई के लिए चिन्तन मे लगा दो, कोई भी हो, दूसरो के प्रति भला विचारने से उसका कुछ भी बिगड़ता नही है, किन्तु मन खुश रहता है।

क्षणिकत्वकी घोषणा देखिये ६४ वें छन्दके एक प्रवचनांशमे–पृ० १६–क्षणिकत्वकी घोषणा–बडे बडे लोगोंके घर दरबारोमे, मन्दिरोमे जो घटा बजता है अथवा घडी का घटा बजता है वह शब्द करता हुआ लोगोको यह बता रहा है कि सबका सब क्षणिक है। जो जिस घटे का समय निकल गया वह अब वापिस नही आने का है, ऐसेही जो जीवन व्यतीत हो गया वह अब वापिस लौटकर न आयगा। पदार्थ का जो परिणमन निकल गया वह पुन. न आयेगा। जो पदार्थ है उसका नियमसे विनाश होगा। और जिसका नाश हो गया वह पर्याय फिर लौटकर नही आती। दूसरी पर्याय आयेगी। यो सभी पदार्थ क्षणिक है ऐसा आचार्य पुरुष कहते हैं। तो यह घटीका शब्द लोगोको मानो पुकार कर कह रहा है कि हे जगतके जीवो, यदि कुछ अपना कल्याण करना चाहते हो तो शीघ्र करलो। जो समय गुजर जाता है वह समय पुन वापिस नही आया करता।

अनित्यके प्रेमसे हानि देखिये ६६ वे छन्दके एक प्रवचनाशमें, पृ० २०–२१–अनित्यके प्रेमसे हानि–यह अनित्य भावनाका प्रकरण चल रहा है। यहा के सभी ठाठ बिनाशीक हैं, सभी अनित्य है। उन अनित्य चीजो के प्रति क्यो इतना व्यामोह किया जा रहा है ? कोई पुरुष २० रू० का खोमचा रखकर रोज अपने परिवारका पालन पोषण करता है। उससे कोई कहे कि देखो हम कल कलके लिए तुम्हे लखपति बनायेगे और बादमे जो कुछ तुम्हारे पास है वह भी छीन लेंगे, तो क्या वह लखपति बनना स्वीकार करेगा ? अरे वह तो कहेगा कि मुझे तो वह ९० रू० का सट्टपट्ट ही भला है, जो जिन्दगीमे साथ देगा। मुझे वह लाखोका वैभव न चाहिए जो मेरा भी सब कुछ छुडा देगा। ये मोही प्राणी अनित्यको नित्य मान रहे हैं। यही अज्ञान है।

जगत इन्द्र जालकी तरह मिथ्या है, देखिये ६४ वें श्लोकके एक प्रवचनाशमे–पृ० ६०–जगतकी इन्द्रजालोपमता–यह जगत इन्द्रजालकी तरह है। इन्द्रजाल और अलग चीज क्या होती होगी ? वर्णन चला आया है। कोई मायावी पुरुष किन्ही न हुई चीजोको भी हुई जैसी दिखा दे तो उसे कहते हैं इन्द्रजाल। जैसे बाजीगर लोग होते हैं, वे न हुई चीज को भी हुई जसी दिखा देते हैं। क्या करते हैं, क्या उनका ढग है, कुछ पता नही। किसी दर्शककी टोपी उठाई और खन खन करके रूपये गिरने लगते हैं, ऐसा

लोगोको दिखता है। किसी दर्शकका दुपट्टा ले लिया और उसे हिलाया तो उससे खन खन करते हुए रूपये गिरने लगते हैं—ऐ तो कितने ही रूपये खन खन करके गेर दिये और बादमे खेल दिखाने के पश्चात् वह बाजीगर सबसे एक एक दो दो पैसा मागता है। जो खन खन करके गिरते हुए दिखाये वे क्या रूपये पैसे नही थे ? यद्यपि लोगोके देखने मे आया, सुनने मे आया, पर वे पैसे नही थे। तो जो है, नही है, ऐसा दिखा दे वही तो इन्द्रजाल है। है कुछ भी तथ्य नही और यहा दिखता है कि यह सब कुछ है, यही तो इन्द्रजाल है।

मृत्यु अचानक आ ही जाती है इसका चित्रण देखिये १०७ वें श्लोकके एक प्रवचनांशमे—पृ० ८४—अन्तक की समवर्तिता—यह मरण, आयुक्षय, यमराज देखा वडी समतासे जिसे चाहे उसे खा लेता है। जैसे बालकको ग्रसता है वैसे ही वृद्धको ग्रसता है। कोई मृतकोकी सख्या करे तो करीब करीब यही बात दीखेगी कि मरने वालोमे जितनी सख्या वृद्ध लोगोकी है उतनी ही सख्या जवान और बालकोकी भी है। सभी को यह यम समतासे ग्रस लेता है। यह अलकार मे कह रहे हैं। कही यम नामका कुछ रहता नही है। आयुके क्षयका नाम यह है। प्रकरणमे यह बता रहे हैं कि यह मरण सब पर अचानक आ जाता है। यह विश्वास नही किया जा सकता है कि ये तो बच्चे हैं, ये तो ५० वर्ष जीवेंगे। यह दम भरकर कोई नही कह सकता कि किसकी कब अचानक मृत्यु आ जाय ? जैसे यह यम अचानक ही बालकको ग्रस लेता है वैसे ही बृद्धको भी ग्रस लेता है। इसके पक्षपात नही है कि बूढे को ग्रस ले और बालकको न ग्रसे। यह यमराज जैसे धनिकको ग्रस लेता है ऐसे ही दरिद्र को ग्रस लेता है। वहा यह पक्षपात नही है कि यह गरीब है इसे ग्रस ला और इस धनिक का न ग्रसो। (यम मे) मरण मे किसी प्रकार की विसमता नही है। जैसे ही शूर वीर को ग्रसता है वसे ही यह कायर को ग्रसता है। यो सभी मरते जा रहे हैं। जब सभी जीव एक इस पचत्वको मरणको ही प्राप्त होते हैं तब इनमे से हम किसका शरण ढूढें ? इस यमराजका नाम समवर्ती भी है परेतराट् भी है, मरण मृत्यु यह श्मशानका राजा है। इसका नाम समवर्ती भी है। ये मृत्यु सब प्राणियोमे समान है।

विपदग्रस्त ससारी प्राणी की रक्षाका एकमात्र उपाय देखिये ११५ वें छन्दके एक प्रवचनांशमे, पृ० १०२—रक्षाका एकमात्र उपाय—यह जीव स्वय स्वय के आत्मस्वरूपमे न ठहरकर कही भी बाह्यमे दृष्टि बनाये सर्वत्र अरक्षित है। ये कामकी प्रगाढ़ निद्रामे सो रहे हैं। उन सबको प्रत्येकको यह काल निगलता जाता है। इस सकटसे बचनेका अन्य कोई उपाय नही है, केवल एक ही यह उपाय है कि प्रत्यक्षज्ञानको प्राप्ति करे। अमर, शाश्वत ज्ञानानन्दघन निजचैतन्यस्वभावकी दृष्टि करे तो इस उपायसे कालके पजेसे निकलने की बात बन सके, अन्य कोई उपाय नही है। एक अपने ज्ञानानन्दस्वरूपका शरण लेने से इस काल से रक्षा हो सकती है।

(२१३) ज्ञानार्णव प्रवचन तृतीय भाग

इसमे ज्ञानार्णव ग्रन्थके १३३ वें श्लोकसे १९८ वें श्लोक तक के पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराजके प्रवचन हैं। एकत्वभावनामे हमे उपादेय तत्त्व क्या मिलता है, इसे पढिये १३८ वें छन्दके एक प्रवचनांश मे—पृ० ८—एकत्वभावनामे उपादेय तत्त्व- यह मैं आत्मा अकेला हू ऐसी एकत्वभावनामे यह जीव आनन्दधाम निज अन्तस्तत्त्वको प्राप्त होता है। भावनाओके स्वरूपको समझने के लिए दु खमे कोई साथी नही है, ऐसा कहा जाता है। यह जीव अकेला ही जन्म लेता है, अकेला ही मरण करता है, अकेला ही दु ख भोगता है। इस जीवका कभी भी कोई सगा साथी नही है, ऐसा एक सुगम वैराग्य के लिए कहा है। एकत्वभावनामे वही तो सुविदित होता है कि यह जीव मात्र अपने प्रदेशोमे अपने आपका परिणमन

करता है, चाहे वह मोक्षपरिणमनका परिणमन हो, अनन्तज्ञानका, अनन्तसुखका परिणमन हो और चाहे ससारका दु खरूप परिणमन हो, प्रत्येक परिणमन प्रत्येक जीवमे प्रत्येक पदार्थमें स्वय के ही साधन से स्वयमेव के ही आधार मे हुआ करता है, फिर कोई अगर मेरे दु खमे साथी नही है तो नाराज होने की क्या बात है, जैसा स्वरूप है ऐसा उसे जानो।

बद्ध दशामे भी जीवकी स्वभावदृष्टिसे क्या शुद्धता है सो पढिये १८४ वे छन्दके एक प्रवचनाशमे-पृ० १८-बद्धदशामे भी जीवकी स्वभावशुद्धता-पदार्थका अपने आपका स्वरूप जैसा है वैसा ही निहारने पर यह स्पष्ट विदित हो जाता है कि प्रत्येक पदार्थ पर पदार्थसे अत्यन्त न्यारा । जैसे पानीमे मिट्टीका तेल डाल दिया जाय तो ये दोनो एक बर्तनमें हैं लेकिन स्वभावमे पानी प्रवेश नही करता, पानीके स्वभावमे तेल प्रवेश नही करता। अपने अपने सत्त्वको लिए जुदे जुदे पदार्थ है, ऐसे ही यह आत्मा यद्यपि आज बन्धके प्रति एक बन रहा है, शरीरमे बस रहा है जहा देह है, फिर भी यह देहसे अत्यन्त न्यारा है। यह आत्मा चिदानन्दस्वरूप है और यह शरीर न चित्स्वरूप है, न आनन्दरूप है। यो शरीरादिक समस्त पदार्थो से विलक्षण यह मैं आत्मा चिदानन्दस्वरूप शुद्ध हू, ऐसी भावना रखने वाले पुरुषके अन्यत्व भावना बनती है।

सम्पर्कप्राप्त सब पदार्थोको भिन्न निरखकर सुखी होनेकी सीख लीजिये अन्यत्व भावनाके एक प्रवचनाशमे, श्लोक १५१-पृ० २०-समागत पदार्थो की निजस्वरूपसे भिन्नता-इस जगतमे जो जो जड और चेतन पदार्थ इन प्राणियोंके सम्बन्धरूप हो जाते हैं वे सभी जगह जगह अपने अपने स्वरूपसे विलक्षण है और आत्मा सबसे भिन्न है। जब लोकमे सभी पदार्थ है तो निकट अनेक पदार्थ होते ही हैं और फिर पूर्वबद्ध कर्मो के अनुसार ऐसे समागम भी जुट जाते है, लेकिन यह न भूलना चाहिए कि जो कुछ भी सम्बन्ध मे आया है वे सब परपदार्थ है, आत्मासे अत्यन्त भिन्न है। यदि भिन्न न समझेंगे तो निकटकालमे ही बहुत दु खी होना पड़ेगा। दु ख और है किस बातका जीवोको ? केवल पर पदार्थो के अपनानेका दु ख है, मोह लगा है उसका दु ख है है यह ऐसा ही एकाकी कि जब चाहे तब तक यहा रहे, जब चाहे चला जाय। इसका किसी से कोई खास सम्बन्ध नही है, लेकिन यह जीव मोहवश अपनी ओर ही समस्त सम्बन्ध बना रहा है समागममे आये हुए सब पदार्थ अपने अपने स्वरूपमे है, अत्यन्तविलक्षण है और भिन्न है और यह मै आत्मा अपने स्वरूपसे हू अत सबसे विलक्षण हू और भिन्न हू। ऐसी अन्यत्व भावनामे अपनी भिन्नता देखनी चाहिए।

रागद्वेषके अभावसे ही तत्त्वसिद्धि है, मनन कीजिये १८४ वें छन्दका एक प्रवचनाश-पृ० १८५-रागद्वेष को मन्दतामे महापुरुषपना-यह पुरुषता किसका नाम है ? महापुरुष बनता है रागद्वेषपर विजय पाने से। जितना निकट यह अपने आत्माकी ओर आये, रागद्वेष दूर हो, समता परिणाम जगे, निर्मोह विकास हो, बस उसी का नाम महापुरुष है। हम ही जैसा रागद्वेष कोई करता है, कोई प्रौर राजपाट मिल गया या कुछ विशेष समृद्धि मिल गयी, उसके कारण यदि वह महापुरुष कहलाये इसके लिए यह उपमा रखिये। जैसे कर्ता हर्ता ईश्वर मे और कर्ता हर्ता मनुष्योमे कुछ अन्तर नही रहा, ऐसे ही रागी द्वेषी छोटे पुरुषमे और रागी द्वेषी समृद्धिशाली पुरुष मे अन्तर कुछ नही रहा। महापुरुषता समता परिणामसे और निर्मोह भावसे प्रकट होती है, तब रागद्वेषपर विजय करे। उसके उपाय ये दो है-समता और निर्ममता। किसी वस्तुमे मोह न होगा तो रागद्वेष न किया जा सकेगा।

संवरभावसे ही आत्मरक्षा है, वह कहा प्राप्त होता है, देखिये १८८ वें छन्दके एक प्रवचनाशमे, पृ० ८३-स्वरूपनिश्चलतामे परम संवर-जिस समय समस्त कल्पना समूहोंको छोडकर अपने स्वरूपमे यह मन

निश्चल होकर रहता है उस ही समय मुनिके उत्कृष्ट सम्वर होता है। इस जीवके विभावका और कर्मो के आनेका का निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है-जैसे ही यह जीव रागद्वेप मोह भावरूप परिणमता है उसी समय ये कर्म इस आत्मामे बधते हैं और उनकी स्थिति और फलदानशक्ति निश्चित हो जाती है और जब ही यह ज्ञानी पुरुप कल्पनाओको त्यागता है जिनके आधार पर मोह रागद्वेप हुआ करते हैं, कल्पनाओको त्यागकर जैसे ही यह अपने आपके स्वरूपमे मग्न हो जाता है वैसे ही याने उसी समय यहा कर्मो का सम्बर हो जाता है। फिर कर्म नही आते।

शान्तिका सम्बन्ध ज्ञानमे है, निश्चय करिये, पढ़िये १९ वें छन्दका एक प्रवचनांश-पृ० ११२-शान्तिका ज्ञानसे सम्बन्ध-मुक्तिका उपाय रखने वाला भव्य जोव क्या क्या करता है जिससे उसकी निर्मलता बढती और उस निर्मलताके कारण मुक्त प्राप्त की जाती है। क्या करते हैं ज्ञानी जन ? सबसे पहिली बात तो ज्ञानकी है। जिसके अज्ञान दशा है उसके जगह जगह विपदाये हैं, ठोकरे और जिसके ज्ञान है उसके किसी कारण दरिद्रता भी आ जाय, अन्य सकट भी आ जाये तो भी वह अपने अतरगमे व्याकुल न होगा। सुखका सम्बन्ध ज्ञानसे है। बाहरी वैभवसे सुखशान्तिका सम्बन्ध नही है। इन समस्त विड-म्बनाओका फर्क इससे ही तो आया कि लोग बाह्य आडम्बर और वैभवसे सुख शान्ति मानते है, पर सुख शान्ति है ज्ञानसे। तो सर्वप्रथम ज्ञान तो होना ही चाहिए, जिसके बिना हम मोक्षमार्गमे प्रगति नही कर सकते। इतना ज्ञान होनेके बाद अब इसका आचरण कैसा होना चाहिए। इस आचरण का वर्णन इस छन्दमे किया गया है।

(२१४) ज्ञानार्णव प्रवचन चतुर्थ भाग

इसमे १९९ वें श्लोकसे २४४ वें श्लोक तक के पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराजके प्रवचन हैं, पढिये १९९ वें छन्दके एक प्रवचनांशमें, आत्माकी पवित्रता धर्मभावसे ही है पृ० १-धर्मसे लोककी पवित्रता व उद्धार-जिस धर्मके द्वारा यह जगत पवित्र किया जाता है, इस जगतका उद्धार होता है और जो धर्म दयारूप परम रस से सदा हरा रहता है उस धर्मरूप कल्पवृक्षके लिए हमारा नमस्कार हो। धर्म एक कल्पवृक्ष है। यदि धर्मसे परिपूर्ण कोई है तो धर्मके प्रसादसे जो चाहे सो मिल सकता है। प्रथम तो इस धर्मकी सेवाके एवजमे जगतकी कुछ भी चीजकी वाञ्छा न करना चाहिए। जैसे प्रभुभक्ति वही वास्त-विक कहलाती है कि प्रभुकी भक्ति करके प्रभुभक्तिके एवजमे अन्य कुछ न चाहा जाय। यदि धनलाभ या मुकदमे की जीत या सन्तानलाभ या कुछ चाह लिया गया प्रभुभक्तिके प्रसादमे, तो भी प्रभुभक्ति नही रही। प्रभुभक्ति निष्कपट भावसे होती है। केवल प्रभुकी ही भक्ति रहे, प्रभुके गुणोका ही स्मरण रहे ऐसी निष्कपट भक्ति हो तो वह प्रभुभक्ति है यदि धनकी चाहमे प्रभुकी भक्ति की जा रही है तो वह प्रभुभक्ति नही है, धनभक्ति है। हृदय मे जिसका आदर हो, भक्ति तो उसी की कहलाती है यदि प्रभु का आदर है तो वह प्रभुभक्ति है। यो धर्म की भी भक्ति वास्तविक वह है कि धर्म करके ससार की कुछ भी चीज न चाही जाय। यदि ससार की वस्तु चाह ली गयी तो उस वस्तु की भक्ति हुई, धर्म की भक्ति नही हुई। इस पद्धति से यदि धर्म का पालन किया जाय तो वह धर्म कल्पवृक्ष है।

जितने लोकचमत्कार हैं वे धर्म के प्रभाव हैं पढिये २०२ न० के श्लोकका एक प्रवचनांश-पृ० २१-धर्म के लोकचमत्कार-लक्ष्मी सहित चिन्तामणि रत्न, दिव्य नवनिधि, कामधेनु, कल्पवृक्ष, बडे बडे विभूति ऐश्वर्य ये सब धर्म के चिरकाल से सेवक रहे हैं। आज जो मनुष्य शरीरसे पुष्ट है, धन समृद्धिसे सम्पन्न है, जनतामे जिसकी बात मानी जाती है, जिसके सकेत पर जनता अपने आपको समर्पण कर सकती है, ऐसी ऐसी जो महाविभूतिया मिली हैं, जो बडी विभूतिया प्राप्त हुई है क्या आप कह सकते हैं कि इन

मोक्ष पुरुषार्थ न बन सके, परदृष्टि तो उत्कृष्ट हो, यथार्थ हो तो कुछ अपनी वर्तमान योग्यताके माफिक धर्ममे बढ़ भी सकते है। तो इनतीन पुरुषार्थो को तो यहजानो कि येमसारके आतकोसे दूषित हैं। सासारिक रोग इसमे पडे हुए है, इनसे छूटकार केवल मोक्षपुरुषार्थ मे ही उपयोगी रहे वह स्थिति आत्माकी हितकारी है।

जहा अतीन्द्रिय सुख है वही मोक्ष है, वही परम हित है, पढिय २५२ वे छन्द के एक प्रवचनाशमे-पृ० १३-मोक्षमे इन्द्रियातीत निराकुल सुख-मोक्ष किसे कहते है ? जहा पर अतीन्द्रिय निर्विषय निरुपम स्वाभाविक विच्छेदरहित पारमार्थिक सुख हो। आत्माकी ऐसी स्थितिका नाम मोक्ष है जहा ऐसा आनन्द निरन्तर अनुभवमे आता रहता है, जो इन्द्रियसे अतीत है, इन्द्रियसे उत्पन्न होने वाला जो सुख है अर्थात् इन्द्रियका निमित्त करके आनन्दगुणका जो विकार उत्पन्न होता है वह सुख नही है क्योकि उसमे क्षोभ पाया जाता है। सासारिक सुखोका भी कोई विना क्षोभके भोग नही सकता। सुख भोगनेके काल मे भी क्षोभ बना हुआ है, पर कल्पनामे इमने आनन्द मान रखा है, मोही उस क्षोभ को याद नही रखता, किन्तु ससारके प्रत्येक सुख क्षोभसे भरे हुए हैं। एक दु खमय क्षोभ होता है एक सुखमय क्षोभ होता है। अपने स्वरूपसे भ्रष्ट होकर बाहर बाहर दृष्टि डालते रहना यह क्षोभका काम है। तो इन्द्रिय सुख चू कि क्षोभसहित है, अत आत्माका स्वाभाविक ढग नहीं है, सुख नही हैं। जहां अतीन्द्रिय सुख है वहा मोक्ष है।

संसारके क्लेश नष्ट करने के लिए ज्ञानामृतका पान करिये, पढिये ५५६ वें श्लोकका एक प्रवचनाश-पृ० २२-भवक्लेशविनाशनार्थ ज्ञानसुधारसका पान-हे आत्मन्, तू ससार के क्लेशोके विनाश करनेके लिए ज्ञानरूप सुधारसको पो, जहा अपना यथार्थ बोध किया वहा क्लेश तुरन्त दूर हो जाते हैं और जब अपने यथाथ स्वरूपकी प्रतीति न रखकर अन्य अन्य अवस्थाओरूप अपने को माना कि वहा क्लेश उत्पन्न हो जाता है। सर्वक्लेशोसे मुक्ति पाना इतना बडा काम केवल इतनी सी भीतरी बात पर निर्भर है। अपने को पररूप मानना, ऐसा तो क्लेश पानेका उपाय है। और, अपने को अपने सत्त्वके कारण जितना जैसा हो उतना ही माने, यही क्लेशोसे निवृत्त होने का उपाय है। सिर्फ मानने से ही सकट लगते हैं और माननेसे ही सकट छूटते हैं। अपने आपका अपने स्वरूपमें ही मानना और यह दृढतासे मानना बन जाय और इस ही प्रकार अपने आपका निरन्तर जानत रहे तो इसमे रत्नत्रय अपने आप आ जाता है। एकाग्रता का होना ध्यान है। अब एकाग्रता किस पर करना है जिसके फलमे मुक्ति प्राप्त होती है। तो केवल होनेका नाम मुक्त होना है ना। केवल बनना है तो केवलस्वरूपकी ओर एकाग्रता हो तो इस ध्यानसे केवल बननेका उपाय बन सकता है।

काम भोगसे विरक्त होने पर ही ध्यान सभव है, इसका परिचय करें २६७ वें श्लोकके एक प्रवचनाशमे, पृ० ४३-देह, काम, भोगसे विरक्त होकर ध्यानका लाभ लेनेका अनुरोध-हे ध्यानके इच्छुक पुरुष, काम शरीर और भोगोसे विरक्त होकर यदि तू निर्ममत्व भावको प्राप्त होता है तो तू ध्याता है अन्यथा नही। निर्ममता काम, भोग और शरीरकी स्पृहा त्यागनेपर ही सम्भव है। कामका अर्थ है अनेक प्रकार की मनकी कामनायें। जो मनसे विकार उत्पन्न होता है वह काम है, और जो इन्द्रियोके द्वारा भोगा जाय उसे भोग कहते हैं। स्पर्श रस, गध, रूप और शब्द और शरीर यह है ही, इन तीनोसे स्पृहा छूटे तो तू ममत्वरहित हो सकता है और ममत्वरहित होनेपर ही तू ध्याता है। यदि चित्त इन्द्रियके भोगोमे लगा है, विषयसाधनोमे लगा है तो वह ध्यान कैसे सम्भव है।

लगनपूर्वक अन्तस्तत्त्वकी उपासना हो उसमे लाभ है, पढिये ३४८ वें छन्दका एक प्रवचनांश-पृ० १६३-

मगनमें अन्तस्तत्वकी उपासनासे लाभ–जैसे कामी पुरुषके हृदयमें निरन्तर स्त्री या पुरुष बसा रहता है वैसे ही लगनके साथ हम अपने ज्ञानानन्दस्वरूप भगवान आत्मा को हृदयमें बसाये रहें। जैसे कोई विषयाभिलाषी अपनी विभूति पर दिवाना हो जाता है ऐसे ही तुम अपने अन्तः गुप्त रहकर अपने अंतःचैतन्यस्वरूपमें दिवाना बनो। यह बात सब अपनी अपनी खुद जान सकते हैं। इतनी लगन बने सके तो वह ध्याता है, और प्रशंसनीय है। ध्याताके स्वरूपका यह अधिकार है और अब यह पूर्ण हो रहा है, समाप्त हो रहा है, लोग तो समाप्त का अर्थ लगाते हैं खतम हो जाना, पर खतम हो जाना और पूर्ण हो जाना, इन दोनों का एक अर्थ है। किन्हीं किन्हीं प्रसंगो में हमारी इच्छा पूर्ण हो गयी, इसका अर्थ क्या? हमारी इच्छा खतम हो गयी। इसके सिवाय और कुछ बात हो तो बताओ। जैसे बोरे में गेहू भर भर कर बोरा पूरा हो जाता है क्या उस तरह आत्माकी इच्छा भर भर कर इच्छा पूर्ण होती है? खूब सोच लीजिये। इच्छा खतम होनेके मायने है कि इच्छा पूरी हो गयी। अब समझ लीजिये, जैसे कहते हैं कि भगवानको सब कुछ मिल गया है इसका अर्थ क्या है कि उनके कोई इच्छा ही नहीं है। सो सब कुछ मिल गया। तो ऐसे ही यह अधिकार समाप्त हो रहा है इसका अर्थ अपने आपके चित्तमें यह लगाना चाहिए कि इस अधिकारमें जिस तत्त्वका संकेत चला है वह इसमें पूर्ण हो जाय तब अधिकारकी समाप्ति सही है।

(२१६–२२१) ज्ञानार्णव प्रवचन ६, ७, ८, ९, १०, ११ भाग

इस भागमें ज्ञानार्णवग्रन्थके ३५१–६११ छन्दों तक पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराजके प्रवचन हैं। चित्तमें अस्थिरता क्यों रहती है उसका कारण पापभाव है, देखिए २५३ वें छन्दका एक प्रवचनांश पृ० ३–पापकार्योंसे चित्तकी अस्थिरता–पापकार्योंसे चित्तकी अस्थिरता होती है। कोई सुभट ऐसे भी होते हैं कि पापकार्य भी करते जाते और चित्त भी लोगोंका स्थिर न दिखे लेकिन पापकार्योंसे उत्पन्न हुई निमग्नता कुछ कुछ एकदम किसी समय उनका अस्थिरीकरण हो जाता है। जो बात जिस प्रसंगमें जिस योग्यतामें होनी होना है वह हुआ ही करती है। जब पुण्यका उदय प्रबल हो तो वर्तमानमें किये जाने वाले पापकार्यों का तुरन्त असर नहीं होता है। न लोगों में इज्जत कम होती है, न लोगों के द्वारा किया जाने वाला आदर कम होता है और न शरीर में मन में, वचन में कोई बल की कमी होती, लेकिन पापकार्यों से इस पुण्य की यह गाड़ी कब तक चल सकती है? देर तो हो जाय पर अन्धेर नहीं है। सो पापकार्यों से चित्त की अस्थिरता होती है और अस्थिर चित्त में ध्यान की साधना नहीं है।

समता रहित परिणाम रहे, केवल ज्ञान स्वरूप का आधार मात्र रहे तो वही ध्यान की सिद्धि होती है।

साधुवोंका नगर, गृह, शय्या, दीपक, महेश्वर, रमणी, पात्र, परमारभाजन क्या है, इसे पढ़िये ३७१ वें छन्दके एक प्रवचनांशमें, उदाहरणार्थ एक प्रकरण उद्धृत किया जा रहा है। पृ० २३–साधुवोंका नगर–जिन साधु मुनिमहाराजाओंका नगर क्या है? विन्ध्याचल आदिक पर्वत? जैसे गृहस्थोंमे पूछा जाय कि आपका नगर कौन सा है? तो उत्तर देंगे–मेरठ, मुजफ्फरनगर, हापुड़ इत्यादि तो उन महाराजोंका, मुनीश्वरों का कोई पूछे कि नगर कौन है, तो भक्त लोग यही उत्तर देंगे कि उनका नगर है वन उपवन इत्यादि। जहां ठहरकर विचरकर, निर्भय रहा जाता है उसे नगर कहते हैं। लोकव्यवहारमें अज्ञानी रागीजनोंका विश्राम नगर यहां के नगर आदि है। यहां भी व्यवहारमें यह कहा जा रहा है कि विरक्त ज्ञानी साधु संत पुरुषोंका विश्रामस्थान वन उपवन आदि है। ये ही साधुवोंके नगर हैं। ऐसा एकान्त भयावह स्थानों पर निवास करना भी साधारणजनोंसे शक्य नहीं है। सो यह वन निवास आदि भी उत्तमजनों द्वारा कियेजा सकते है। लेकिन अन्त तो देखिये साधुजनोंका नगर क्या है? उनका अपना आत्मक्षेत्र, आत्म-स्वरूप ही उनका नगर है। जहां उनका परमार्थतः निवास रहता है। इस परमार्थ नगरमें निवास करने वाले ज्ञानी साधु संत परमार्थ आनन्दका अनुभव करते हैं और इसी आनन्दानुभवके कारण वननिवास उन्हें सुखद प्रतीत होता है।

सम्यग्दर्शनका सामान्य निर्देशन पढ़िये ३८१ वें छन्दके एक प्रवचनांशमें, पृ० ४१–सम्यग्दर्शनका निर्देशन–जीवादिक का श्रद्धान करना सो दर्शन है। यह सम्यग्दर्शन निसर्ग से उत्पन्न होता और परोपदेशसे उत्पन्न होता है। होता है भव्य जीवके। जिन्होंने पूर्वकालमें उपदेश पाया है, संस्कार बनाया है उन्हें इस भवमें भी विना परोपदेश मिले, विना अन्य निमित्त मिले निसर्ग से ही सम्यग्दर्शन हो जाता है। और, किन्हीं को परोपदेशसे, जिनविम्बदर्शनसे या वेदनानुभवसे अनेक कारणोंको पाकर सम्यक्त्व हो जाता है। सब बात एक लगन की है। अपने आपमें आत्मकल्याणकी लगन न हो और पापक्रियावोंमें ही रति मानते रहे, पापोंसे विरक्ति न जगे तो कुछ उद्धार की संभावना ही नहीं है। सबसे ऊंची बात बस इस रत्नत्रयमें ही मिलेगी। अपने आपमें सही श्रद्धान हो और आचरण विशुद्ध हो। इस जगतका क्या है? न हो अधिक सम्पदा तो आत्माका क्या बिगड़ा और हो गयी सम्पदा तो आत्माका क्या पूरा पड़ा? यह तो जगत है। आज ऐसी स्थिति है और कल न जाने कौन सा भव धारण करना पड़े? न सम्हले तो हीन भव ही मिलेगा। तो सम्पदा प्राप्त हुई, समागम प्राप्त हुआ तो कौन सी भले पन की बात हो गयी? मान लो यश के लोगों ने बड़ा कह दिया तो आखिर मोहियों ने ही तो बड़ा कहा। ज्ञानी तो धन के कारण किसी को बड़ा नहीं मानता। धन वैभव बाहरी समागमों के कारण कोई बड़ा मानता हो तो मोही, मिथ्यादृष्टि, अज्ञानी वे ही लोग मान सकते है।

त्रसोंके भेद व मोटी पहिचान, पढ़िये २६७ वें छन्दके एक प्रवचनांशमें–पृ० ५४–त्रसोंके भेद–स्थावर जीवोंसे यह समस्त लोक भरा हुआ है और त्रस भी अनेक भेद वाले हैं। दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चार-इन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय, इनकी जल्दी पहिचान करना हो कि ये कितने इन्द्रिय जीव है तो उसकी मोटी पहिचान यह है कि जिनके पैर न हों और सरक सकें, उसमें एक सांप को छोड़ दो, उस जैसे जीवको, वह एक अपवादरूप है। बाकी जितने जीव ऐसे मिलेंगे कि पैर नहीं है, लम्बा रुख है, बिना पैरके जमीन में सरकते रहते हैं वे जीव दो इन्द्रिय मिलेंगे, जैसे चौंटा, चौंटी, सुरसुरी बिच्छू आदि और जिनके दो

से अधिक पैर हो और उडते हो वे चार इन्द्रिय जीव है-जैसे मच्छर, तितैया, टिड्डी आदि, और पचेन्द्रिय जीव स्पष्ट है-जिनके कान हो-पशु पक्षी मनुष्य आदि। तो ये नाना भेदरूप त्रस अनेक प्रकार की योनियोके आश्रित हैं। इन सब जीवोकी पर्यायोका भी सही सही ज्ञान करना सम्यक्त्वका कारण है। जो कुछ नजर आता है वह असलमे है क्या ? इसमे परमार्थ क्या है, बनावट क्या है, उपाधि क्या है ? सबका सही परिज्ञान हो, उससे अत अनाकुलता, निर्व्याकुलता, ज्ञानप्रकाश, समीचीनता, स्थिरता ये सब बाते बढती, इस कारण सबका जानना आवश्यक है। परोक्षभूत तत्त्वमे साधारणतया द्रव्य गुण पर्यायो का स्वरूप जान लेना जरूरी है। यो ससारी जीव त्रस स्थावर के भेद से दो प्रकार के कहे गये है।

यह लोक स्थावरो से असीम पूरित हैं, पढिये ४०० वे छन्दके एक प्रवचदाशमे, पृ० ५८-लोकको स्थावरोसे असीम पूरितता-संसारी जीवकी गतिया ४ प्रकार की हैं, उन गतियो में सबसे कम जीव है मनुष्यगतिमे, उससे अधिक जीव हैं नरकगतिमे, उससे अधिक जीव हैं देवगतिमे और सबसे अधिक जीव है तिर्यन्चगतिमे। तिर्यन्चगतिमे भी ५ प्रकार के जीव हैं-एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय और पन्चेन्द्रिय। इनमे सबसे अधिक जीव हैं एकेन्द्रिय, एकेन्द्रियमे भी ५ भेद हैं-पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, बनस्पति। इनमें भी सर्वाधिक जीव हैं बनस्पतिकायमे। बनस्पतिकायके दो भेद हैं-प्रत्येक बनस्पति और साधारणबनस्पति। सबसे अधिक जीव है साधारणबनस्पति। साधारण बनस्पतिमे इतन जीव है कि जितने आज तक अनादि से सिद्ध होते आये हैं वे सब सिद्ध महाराज उनके अनन्तव भाग प्रमाण हैं और सबसे अनन्त काल व्यतीत हो जाने के पश्चात् भी भविष्यमे जितन सिद्ध होगे वे भी उस समय के रहे हुए साधारण बनस्पति जीवोके असख्यातवे भाग प्रमाण रहेगे। एकेन्द्रिय दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चार इन्द्रिय तथा असज्ञी पचेन्द्रिय जीव ये सब तिर्यन्च ही होते है, इनकी और गति नही होती। तो सारा लोक तिर्यन्चो से भरा है। कभी कभी कोई नास्तिक मनुष्य कहन लगते है कि अगर सभी त्यागी बन जायें, ब्रह्मचारी बन जायें तो फिर यह ससार कैसे चलेगा ? अरे ससार की पूर्ति मनुष्यो से नही होती, ससार की पूर्ति तो एकेन्द्रिय से हो रही है। मनुष्य है कितने ? और फिर मनुष्य ही क्या ? यदि समस्त अनन्त जीव ब्रह्मचारी हो जायें और मुक्त हो जाये तो अच्छा ही हुआ। तुम्हे क्या फिकर पड गयी ? तो यह सारा ससार एकेन्द्रिय जावो से भरा पडा है।

अध्यात्मदर्शनमे विह्वलता नही रहती, मनन कीजिये ४०८ वें छन्दके एक प्रवचनाशमे, पृ० ६६-अध्यात्मदर्शन से विह्वलताका विनाश-अध्यात्म दिशा और व्यवहार दिशामे बहुत अन्तर वाली परिस्थितिया होती हैं। बडी बडी व्यवस्थायें बनायें तो सही, लेकिन किन्ही बातो मे सफल होन से या जैसी व्यवस्था चाहते है वैसा व्यवस्था न बननमे व्यारामे विह्वल न होना चाहिए और वह विह्वलता न हो इसका उपाय है अध्यात्मदर्शन-जैसे एक देशके सम्बन्धमे चिन्तायें चलती हैं, किसी अन्यका इस पर शासन न हो, देश स्वतन्त्र रहे, अपने देशका विस्तार गौरव चाहते हैं, व्यवहारदृष्टिमे ये सब बाते युक्त है और ऐसा देखनेके लिए यह मनुष्य लालायित रहता है, किन्तु कुछ अध्यात्ममे चलकर अपना अनुभव है यहा ? न मेरा देश है, न मेरी जाति है, न कुल है, न देह है, न परिवार है न वैभव है और आज जिसे हम विदेश समझते है मरकर वही जन्म लें तब फिर इस देशको विदेश समझने लगेगे। तो दोनोकी दिशायें जुदी जुदी है, और फिर किसी कर्मयोगी पुरुषमे इन दोनो दिशाओका भी अपनी अपनी सीमामे मिश्रण रहता है।

सम्यक्त्व-सुधारसपानके आदेशसे अनुशासित होइये, ४४४ वें छन्दके एक प्रवचनांशमे, पृ० १०३-सम्यक्त्वसुधारसपानक आदेश-हे भव्य जीव, एक इस सम्यग्दर्शन नामक अमृत का पान करो। यह सम्यक्त्व ही अतुल आनन्दका निधान है। आनन्द लाभके लिए जगह जगह दृष्टिया लगाते हो, पर बाह्यमे कही भी आनन्दका लाभ न मिलेगा। अतुल आनन्दका निधान तो यह सम्यग्दर्शन है। अपने आपके सहजस्वरूपका सम्यक्‌रूपसे अनुभवन कर लेना यही अनुपम आनन्द का बीज-भूत है। सर्वकल्याणका यह सम्यग्दर्शन बीज है। जैसे बीजने अंकुर उत्पन्न होता है और वह अनेक फलोको प्रदान करता है इसी प्रकार यह सम्यग्दर्शन आनन्द अंकुर को उत्पन्न करता है और इसमे ज्ञान, दर्शन, सुख, शक्ति समस्त आत्मसमृद्धिके फल फला करते हैं। यह सम्यग्दर्शन ससार रूपी समुद्र से तिरने के लिए जहाज की तरह है। जैसे नावमे बैठकर सागर से तिर लिया जाता है इसी प्रकार सम्यग्दर्शनके भावमे स्थिर होकर इस ससारसागरको पार कर लिया जाता है। इस सम्यग्दर्शनके पात्र एक मात्र भव्य जीव ही हैं। जिनका कल्याण स्वरूप होनहार है वे ही इस सम्यग्दर्शनके अधिकारी होते हैं। सम्यग्दर्शनका परिणाम पापरूपी वृक्षको मूलसे उखाड फेकनेमे कुटार की तरह है. जसे लोग देवी के दो रूप माना करते हैं-एक चन्द्ररूप और एक शान्तिरूप। ज्ञानरूप एक लौकिक कहावत सी है। इसी प्रकार सम्यग्दर्शन के दो रूप देखिये। एक तो प्रचण्ड प्रतापरूप समस्त पाप वैरियोको ध्वस्त कर देने मे बहुत समर्थ है और एक शान्तिरूप सहज आनन्दको देने वाला है, सर्वकल्याणका बीज है और शान्तिको ही सरसाने वाला है। यह सम्यग्दर्शन समस्त पवित्र तीर्थोमे प्रधान है। सम्यग्दर्शन एक प्रधान तीर्थ है। तीर्थ कहते हैं। तीर्थ कहते हैं उस तटको जिस पर पहुचने से पार हुआ समझ लिया जाता है। यह सम्यग्दर्शन निर्भयता भरपूर है, क्योंकि इसने मिथ्यात्वरूपी समस्त विपक्षोको जीत लिया है। ऐसे सम्यग्दर्शनको हे भव्य जीव ग्रहण करो। इस सम्यग्दर्शनकी दृष्टिरूप अमृतजलका पान करो।

अहिंसाका मूल रूप देखिये-पर्यायबुद्धिका त्याग हुए विना अहिसा यथार्थ नही, पढिये ४८० वें छन्दके एक प्रवचनांश, पृ० १४३-पर्यायबुद्धिके त्यागमे अहिंसा-कर्मो के आश्रव मे कारण नाम प्रत्यय आदिक बताये गये हैं, तो जो नाम आपका रखा गया है वह यदि गुरू से न रखा जाता, कुछ दूसरा नाम रखा गया होता तो क्या ऐसा हो नही सकता था? फिर आपका यह नाम है यह कहा खुदा हुआ है? और कितनी कल्याणभेदकी बात है कि वे ही तो १०, ३६ अक्षर और उनका ही उलट फेर करते हैं और खरबो आदमियोके नाम एक दूसरे से न मिल इतने नाम धर लिए जाते हैं। तो नामका इस जीव से सम्बन्ध नही है। नामवरी भी चाहकर पाकर इस आतमा को मिलता क्या है? इन सब बातो को विचार कर कुछ अपने स्वरूपमे मग्न होने का यत्न करना चाहिए। बाह्यसे तो ये सब प्रकट असार बातें है। अपना शुद्ध ज्ञानस्वरूप स्वानुभवमे बना रहे इससे उत्कृष्ट और कुछ भी पुरुषार्थ नही हो सकता। जो ऐसा नही कर सकते वे अपना हिंसा कर रहे हैं और जो परजीवोकी हिंसा करते हैं वे और विकट हिंसा मे पहुच गये हैं। हिंसा नरकमे प्रवेश करने का द्वार है और अपने आपके विनाश किये जाने के लिए यह हिंसा कुठार और शस्त्र जैसा काम करती है। हिंसासे दूर रहे और अहिंसक ज्ञायकस्वभावकी दृष्टि करे, यही हितकारी धर्मकार्य है।

आनन्दकी पद्धति तो अहिंसा ही है, चिन्तन कीजिये ४६६ वें छन्दके एक प्रवचनांशमे, पृ० १६७-अहिंसा, आनन्दका उपाय-विशुद्ध आनन्दकी कोई पद्धति है तो अहिंसा ही है। क्रूर, हिंसक पुरुषको आनन्द और प्रसन्नता कभी नही आ पाते हैं। जो पुरुष समतारससे भीगा है, दूसरे जीवोके सतानेका परिणाम नही रखता, अपने अहिंसा स्वभाव का आलम्बन रखता है उस पुरुषके विलक्षण आनन्द प्रकट

होता है। कभी किसी जीव को सताने का संकल्प ही आ जाये तो ऐसा संकल्प करने वाला तत्काल दु खी हो जाता है। दूसरे जीव को भला करने का भाव करे तो वहा क्लेश नही आता, प्रत्युत आनन्द बरषता है और कोई दूसरे जीवोको सतानेका भाव करे, किसी की निन्दा का भाव करे, किसीके बुरा करने का भाव करे तो उस भावके समय ही यह दु खी हो जाता है। आनन्द की परिपाटी तो अहिंसासे ही प्राप्त होती है।

संकल्पमात्रसे हिंसा हो जाती है; अत यह प्रभाव होना चाहिए कि खोटा भाव, हिंसाका सकल्प तक भी न हो, पढिये ५१३ वें छन्दके एक प्रवचनांशमे, पृ० १८५—सकल्पमात्रसे हिंसाका बध—जिसने जीववध किया है उसका भी परिणाम अशुभ हुआ और जिसने उस बधककी अनुमोदना की है उसका भी परिणाम अशुभ हुआ है। देखो स्वयभूरमण समुद्र मे दो मत्स रहते—एक महामत्स और एक साली अर्थात् तदुल मत्स। महामत्स बडी लम्बी चौडी अवगाहनाका है। एक हजार योजन लम्बा, ५०० योजन चौडा और २५० योजन मोटा, इतनी बडी अवगाहनाका वह महामत्स है। इतनी लम्बी चौडी काय वाला महामत्स अपने मु हको फैलाये रहता है। तो उस फैली हुई जगहमे जितनी जगह समाये वह जगह एक आसमान सा है। उसके मुखमे अनेक मत्स आते जाते खेलते रहते हैं। उन मत्सोंको पता नही पडता कि कहां मुख है, कितनी बडी अवगाहनाका है। लेकिन वही एक तदुलमत्स (साली मत्स) यह विचार करता है कि यदि इस महामत्सकी जगहमे मै होता तो एक भी मछलीको बचने न देता। ऐसा परिणाम करनेसे वह साली मत्स सप्तम नरकमे जाता है। तो इससे यह निर्णय कीजिये कि कोई हिंसा करे, उसकी जो अनुमोदना करें तो उस अनुमोदनामे भी सकल्प मात्रसे उसीके समान पाप हानेका कारण बनता है। तो जिसका परिणाम रागद्वेषसे मलिन है और इसी कारण जो अपने आपके प्रभुकी हिंसा कर रहा है ऐसा हिंसक पुरुष आत्माका ध्यान क्या करेगा? जो आत्माका ध्यान नही कर सकता उसके व्याकुलता संसारभ्रमण सभी अनर्थ उसके लगे रहते हैं।

स्याद्वाद की उपयोगिता लौकिक कार्योंमे भी है, देखिये ५३७ वें श्लोकका एक प्रवचनांश—पृ० २२१—स्याद्वाद बिना लौकिक कार्य भी नही—देखिये स्याद्वाद के बिना किसी का कुछ काम नही चलता। किसी को पैसा उधार दिया, अब उसके बारे मे आपको दो निर्णय है कि नहीं कि वह पुरुष वही है—६ माह बाद भी आप यह जानते है ना कि यह पुरुष वही है जिसको हमने पैसा उधार दिया था। साथ ही यह भी जानते हो ना कि ६ मास गुजरगये, अब समय नया आ गया, अब इससे ब्याज लेना है और मगना है। तो ये दो किस्मके ज्ञान हुए कि नही—एक तो हुआ नित्यका ज्ञान और एक हुआ अनित्यका ज्ञान। यदि कोई ऐसा ही माने कि मैं तो वह नहीं हू जो आपसे रूपया ले गया था, वह आत्मा तो नष्ट हो गया, यह मै आत्मा दूसरा हू, तो व्यवहार चल सकेगा क्या? और आत्मा अगर बदले ही नही, उसमे कोई परिवर्तन ही न हो तो भी व्यवहार चलेगा क्या? पिता, पुत्र, कुटुम्ब, रिस्ते ये सब व्यवहार है। स्याद्वादके बल पर चल रहे है। किसी भी व्यक्तिके सबधमे क्या आप एकान्तसे कह सकते हो कि यह बेटा ही है? यदि ऐसा कह सकते तो इसका अर्थ है कि सबका बेटा है। सब तरह बेटा है, तो व्यवहार कहा चलेगा? तो जिस स्याद्वादके बलसे व्यवहार तक भी चल रहा है, मोक्षमार्ग भी चलता है उस स्याद्वाद का निषेध करते है सर्वथा एकान्तवादी लोग।

लोकमे नामवरी चाहना महती विपदा है, यह क्यो लगी हुई है, इसका कारण देखिये ५६४ वें छन्दके एक प्रवचनांशमे, पृ० २६५—इज्जत चाहनेकी विपदा—मनुष्यमे सबसे बडी विपदा यह लग बैठी कि यह मनुष्य नाम चाहता है, इज्जत चाहता है। तो जिस आत्माके ज्ञान नही है वह इज्जत ही तो चाहेगा और

जिस आत्माके ज्ञान है वह धर्मको चाहेगा। दुनिया कुछ कहे, दुनिया किसी ढगसे रहे, पर अपने आपमे सतोष है, शाति है तो अपने आपका भला है। मनुष्य ज्ञानी हो तो वह नामवरी नही चाहता, आत्मानुभव चाहता है। अनेक अनेक बार आत्माका अनुभव जगे, इस ओर धुन रहती है और जो अज्ञानी जन हैं उन्हे आत्मतत्त्वका परिचय तो मिला नही सो कही न कही लगेगा ही। आत्मामे तीन गुण है—दर्शन, ज्ञान, चारित्र, दर्शनका काम है श्रद्धा रखना, ज्ञानका काम जानना, चारित्र का काम किसी न किसी मे लगे रहना, ये तीन बातें प्रत्येक जीवमे पायी जाती है। जिसका जैसा श्रद्धान होगा वैसा ही ज्ञान होगा। और उसी जगह वह लगेगा।

कुशील पाप प्रबल पातक है, पढिये ५८९ वें छन्दके एक प्रवचनागमे, पृ० २९८—कुशील की प्रबल पातकता—ब्रह्मचर्यके घातका नाम है व्यभिचार। व्यभिचार नाम तो सभी बाहरी प्रवृत्तियोका है। आत्मामे अपना उपयोग स्थिर न रहे, बाहरी बाहरी विषयोमे चित्त लगा रहे वे सब व्यभिचार हैं। हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह, तृष्णा ये सबके सब व्यभिचार कहलाते हैं। लेकिन लोकमे रूढि एक स्पर्शनइन्द्रियके विषयसेवनमे अर्थात् मैथुन प्रसगमे, कामवासनाकी पूर्तिमे लोग व्यभिचार शब्द का प्रयोग करते हैं। इससे यह जानना कि समस्त इन्द्रियो मे प्रबल और पातक विषय है स्पर्शनइन्द्रिय का विषय। अर्थात् कुशील नामक पाप ऐसा कठिन पाप है कि जिसमे रहकर मनुष्य रच भी सावधान नही रह पाता। इसी कारण कुशील पापको ब्रह्मचर्यका घात बतलाया है। वहा तो आत्माके उपयोगसे हटकर किसी भी बाह्य पदार्थमे रति करना सो व्यभिचार है।' फिर भी रूढमे एक विषयसेवनका ही व्यभिचार कहते हैं। तात्पर्य यह है स्पर्शनइन्द्रियका विषय सबमे कठिन विषय है, उससे विरक्त रहकर एक परमार्थ ब्रह्मचर्यका पालन करना है।

जो ज्ञान चारित्रमे वृद्ध हैं, उनकी सेवा कल्याणकारिणी है, उसका चिन्तन कीजिये ७९६ वें छन्दके एक प्रवचनागमे, पृ० ३७०-वृद्धसेवाके लाभ—तो गुरुजनोकी सेवा करनेमे जो गुण प्रकट होते है वहा यह भी एक गुण प्रकट होता है कि उसके नम्रता बढती है, अभिमान दूर होता है और फिर उसके ज्ञानप्रकाश होता है। अहकारके अधकारमे ज्ञानरूपी सूर्यका प्रकाश ढक गया है। गुरुसेवाकी कितनी प्रशसाकी जाय, सच पूछो तो इस आत्माका शरण ही गुरुसेवा है जिसका कोई गुरु नही है जिससे अपने हितकी कोई चर्चा नही की जा सकती है ऐसा पुरुष एक किकर्तव्यविमूढ रहता है, अपना जीवन यो ही निर्यापन किया करता है। वृद्ध सेवासे समस्त व्रत विशुद्ध बनते है और खासकर ब्रह्मचर्य महाव्रत को तो बहुत पुष्टि होती है। बडोकी सगति न करके छोटे गालोकी मलिन पुरुषोकी सगतिमे सभी प्रकारके विकार उत्पन्न होते रहते है। जिन्हे लोकमे अपनी सिद्धि चाहिए परिणामोमे निर्मलता चाहिए, विद्या और विनय की बढवारी चाहिए उन्हे गुरुसेवा करना अनिवार्य ।

सत्सगमे बुद्धि व्यवस्थित रहती है इसका अध्ययन कीजिये ७८८ वे एक छन्दके एक प्रवचनागमे-पृ० ४१५-४१६-सत्सगमें बुद्धिकी व्यवस्थित रहती है सत्पुरुषोकी भक्तिसे, जहा वृद्ध पुरुषोके प्रति भक्तिभाव रहता है वहा बुद्धि व्यवस्थित रहती है। लोग शिक्षा देते है ना बच्चोको कि देखो माता पिताकी सेवा करो। माता पिता भी ना बच्चो की अपेक्षा वृद्ध पुरुष है, ज्ञानी है, अनुभवी हैं, दूसरे उनका लौकिक सम्बन्ध भी गुरुता का है। तो माता पिता की जो सेवा करते रहते है उन बच्चो की बुद्धि सही रहती है और जो समर्थ होकर भी माता पिता को क्लेश पहुचाते रहते है उनकी बुद्धि मलिन रहता है, तो उस बुद्धि की मलिनता के कारण उनकी बुद्धि ऐसी भ्रष्ट हो जाती है कि जिसमे उन्हे क्लेश, आकुलता, फसाव बढने लगता है। तो वृद्ध पुरुषो का, माता पिता का, गुरुजनो की सेवा करना और

परमार्थतया जो ज्ञानी विरक्त सन्त पुरुष है उनकी सेवामे रहना, यह सत्संगति अनेक अवगुणोको दूरकर देती है।

कैवल्यकी दृष्टि बिना छुटकारा नही हो सकता, पढिये ८०३ वें छन्दके एक प्रवचनांशमे–पृ० ४५०–कैवल्यकी दृष्टि हुए बिना मुक्तिका अलाभ–मुक्तिका अर्थ है छुटकारा। कोई चीज किसी दूसरी चीजसे बिल्कुल छूटी हुई हो, तब वे दोनो चीजे न्यारी न्यारी हुई। एक ही चीजका सार, एक ही चीजका स्वरूप कैसे छूटे? जैसे जल गर्म हो गया तो जल गर्मी से छूट सकता है अर्थात् ठडा हो सकता है, क्यो कि गर्मी जलका स्वरूप नही, वह गर्मी जलमे अग्निका निमित्त पाकर आयी हुई है, पर अग्निकी गर्मी भी छूट सकी क्या? अग्नि भी शीतल हो गई क्या? अरे अग्निका तो स्वभाव ही गर्मी है। अग्निसे गर्मी अलग कैसे हो सकती है? तो यदि हमे छुटकारा चाहिए है तो पहिले यह श्रद्धान तो आना चाहिए कि जिन जिनसे छुटकारा चाहते हैं उनसे न्यारा मेरा स्वरूप है। इस ही का बोध न हो तो छुटकारा कभी मिल नही सकता। भेदविज्ञान की बात जब किसी क्षण किसी का हो तो थोडे से अक्षरो का सहारा लेकर हो हो जाता है, तो सन्त पुरुषो के उपदेश का एक अक्षर मुक्ति का बीज हो जाता है।

परिग्रहका सग दुर्गतिका बीज है, पढिये ८२६ वें श्लोकका प्रवचन, पृ० ४९६–परिग्रहसगकी दुर्गति–बीजरूपता–सगसे अर्थात् परिग्रहसे काम होता है, अनेक प्रकारके वान्छा विकार होते हैं। जहा परिग्रह है वहां अनेक अटपट वान्छायें हुआ ही करता हैं और समस्त इच्छाओमे भी अत्यन्त खोटी इच्छा है मैथुन प्रसगकी, सो इस काम महाविकारका भी मल यह परिग्रह है। परिग्रह से काम होता है। कामसे क्रोध होता है। कामवासना की पूर्ति न होने पर क्रोध ही तो जगेगा और ऐसा भी जगेगा जिससे यह कामी स्वय तक की हत्या कर सकता है। क्रोधसे हिंसा होती हैं। क्रोधमे जीव पर प्राणियो के घात मे भी सकोच नही करता और कहो अपना भी घात कर डाले, ऐसा भी अविवेक कर डालता है। हिंसासे पाप होता है, फिर उस पापके फलमे नरक गतिमे ऐसा कठिन दु ख भोगता है जो वचनोसे भी नही कहा जा सकता। वहा भूमिके स्पर्शमात्रमे घोर दु ख होता, ठड गर्मी से लोहा भी गल जाय ऐसी ठड गर्मी की वेदना सहनी पडती है। नारकी जीव एक दूसरे को देखकर शस्त्रघात अग्निदाह आदि नाना दु ख देते है। ये समस्त विपदायें परिग्रहके सम्बन्धसे होती हैं।

(२२२-२२७) ज्ञानार्णव प्रवचन १२, १३, १४, १५, १६, १७ भाग

ज्ञानार्णव ग्रथ पर पूज्य श्री सहजानन्द वर्णी जी महाराज के प्रवचन हुए थे। ये प्रवचन आत्महितकारक है। सयमके प्रकरणमे कषाय की अहितकरताका चित्रण कीजिये, पृष्ठ २–कषायसिञ्चनसे सर्वाभिमत सिद्धिप्रद सयमामृतमयोदकका नि सारीकरण–कषायरूपी विषका सिंचन सयमरूपी अमृतको भी वह क्षणमात्रमे नि सार कर देता है। जैसे अमृतका भरा हुआ घडा है और उसमे थोडासा विष मिला दे तो सारा अमृत खराब हो जाता है ऐसे ही बहुत तपश्चरण है सयम है, ऐसे अमृतके पुञ्ज बन रहे है साधु–सन्त जन, किन्तु कषायरूपी विषका सिचन हो जाय अर्थात् क्रोध या अन्य कषाय प्रकट हो जाय तो वह अमृत जो मनोवाञ्छित सिद्धिको देने वाला है तत्क्षण नि सार हो जाता है। जैसे कोई चींटी भीतपर चढती है, बहुत ऊचे तक भी चढ गयी और वहा से गिर जाय तो उसकी सारी चढाई समाप्त हो जाती है ऐसे ही बडे सयम शान्तिसे अपने आत्माकी उन्नति की, किन्तु कभी तीव्र क्रोध आ जाय तो वह सारी उन्नति समाप्त हो जाती है। सो हो उस क्रोधका, उ के सस्कारका दूर करके शीघ्र ही उस परिस्थिति का नाश करे, क्योकि पहिले सयमका अच्छा अभ्यास था, ठीक ही है, मगर तत्क्षण की बात देखिये

जब क्रोध आता हो तो वह सब संयमरूपी अमृत निगार हो जाता है।

द्रोहियोंके प्रति भी द्रोह न करनेका कर्तव्य, पृष्ठ १८—द्रोहियोंके प्रति द्रोह न करनेकी विशेषता—जो प्रतिकूल चलने वाले व्यक्ति हैं अथवा उपसर्ग करनेवाले शत्रु है उनमे मेरा मन तत्काल जो द्रोहको प्राप्त होता है तो उन शत्रुवोंमें और मुझमे फिर भेद क्या रहा ? जो उपसर्ग कर रहे हैं उनका मन तो द्रोहमे है और मैं भी अगर उनपर रोष करने लगू तो मुझमे और उनमे अन्तर क्या रहा। उपसर्ग करनेवाले व्यक्ति कोई मुनि तो हैं नहा वे तो सद्गृहस्थ भी नही हैं वे तो खोटे गृहस्थ है, दुष्ट पुरुष है। उन दुष्ट पुरुषोंकी ही तरह यदि मैं भी दुष्टता करने लगा तो उनमे और मुझमे अन्तर ही क्या रहा ? मैं तो मोक्षार्थी हू, मैंने तो अपना प्रोग्राम, अपना भेष, अपनी चर्या मुनि की बनायी है, मोक्षमार्गकी बनायी है सो यदि हम शान्तिमे नही रहते और उपसर्ग करनेवालोंपर क्रोध करते हैं तो उनमे और मुझमे फिर अन्तर ही क्या रहा ? जैसे वे संसारमे घूमगे इस प्रकार मैं भी घूमूगा। ज्ञानीसंत जो ऐसा विचार करते हैं कि इन दुष्ट पुरुषोंपर जो कि उपसर्ग कर रहे हैं मैं यदि क्रोध करने लगा तो मैं उन्हीके समान कहलाऊगा। इसका तात्पर्य यह है कि मैं भी इस संसारमे घूमूगा। कही सम्मान अपमान भरा तात्पर्य न लेना कि मैं मुनि हू, यह दुष्ट पुरुष है। मैं इसपर रोष करूगा तो मैं दुष्ट कहलाऊगा, ऐसा ध्यानमे नही है किन्तु यह ध्यानमे है कि मैं भी यदि क्रोध करू तो जैसे ये संसारमे घूमेंगे वैसे ही मैं भी संसारमे घूमूगा, अतएव मुझे क्रोध न करना चाहिए।

लोभविषयक विकल्प बेकार है इस तथ्यका मनन कीजिये, पृष्ठ ४८—लोभ विकल्पकी व्यर्थता—भैया ! लोभमे होता क्या है कि जब चीज पासमे है तो उसकी चाह नही होता और जब चाह होती तो उस चीजकी प्राप्ति नही होती। यह बात तो बहुत अच्छी है कि चाह न रहे, पर यह बात रह कहा पाती है। दूसरी चीजकी चाह बन जाती है। तो इस लोभ कषायमे यह जीव पाता तो कुछ नहा, मगर तृष्णा के वश होकर बडा कठिन श्रम कर डालता है। जैसे कि कोई हिरण अपनी प्यास बुझानेके लिए बडा श्रम कर डालता है, पर प्यास नही बुझा पाता और दौड–दौडकर मरणको प्राप्त हो जाता है। इसी प्रकार इस लोभकषायके वश होकर यह संसारी प्राणी अपने जीवनको व्यर्थ ही खो देता है। जैसे स्वप्न में दिखने वाली विभूतिया कही प्राप्त हो नही हो जाती। वे तो स्वप्न की चीजे हैं, उनका मिलना असम्भव है, पर यदि कोई उनके पाने की वाञ्छा न करे तो उसके समान मूर्ख और किसे कहा जाय ? ऐसे ही जो चीजे प्राप्त होनी असम्भव हैं उनके पाने की वाञ्छा भी यह लोभी प्राणी करता है तो फिर उसे मूर्ख नही तो और क्या कहा जाय ? अरे यह आत्मा तो एक अमूर्त ज्ञान मात्र है। इस देह को छोडकर वह कही अकेला ही चला जायगा। उसे मिला क्या ? कोई कहे कि जब तक रहा तब तक तो मिला, पर तब तक भी न मिला क्योंकि उसे उससे सन्तोष नही होता। उससे आगेकी वाञ्छा बनी रहती। जो पुरुष आत्मदृष्टि करता है और आत्मज्ञानके द्वारा अपने आपमे तृप्त रहा करता है, महत्ता तो उसकी है, सुखी तो वह है। लोभी पुरुषको तो कितनी भी सम्पदा मिल जावे, पर उससे उसे संतोष नही होता, वह कभी शान्ति नही प्राप्त कर पाता और अपने इस पाये हुए दुर्लभ मानवजीवनको वह व्यर्थ ही खो देता है।

विषयका परिहार करने वाले संयमी मुनियोंका महत्व समझिये, पृष्ठ ८२—विषयपरिहारी योगियोंकी श्लाघनीयता—इस प्रकरणको कहकर इस श्लोकमे यह बता रहे हैं कि देखो जिसतरह कछुवा अपने मुख को संकोच लेता है। अपनी गर्दनको ऐसा भीतर कर लेता है कि जिससे जरा भी पता नही पडता कि इसके सिर भी है इसी प्रकार जो ज्ञानी संयमी मुनिजन है वे इन्द्रियकी सेनाको संकोच कर उन्हे वश

करलेते हैं। वे ही मुनि दोष कर्दमसे भरे ससारमे रहते हुए भी दोषोंसे लिप्त नही होते। वे जलमे भिन्न कमलकी भाति अलिप्त रहते है। मुझे मोक्ष पाना हैं, मोक्ष नाम है कैवल्यका, मुझे खालिस रहना है जिसकी यह दृष्टि बनी है वह इन इन्द्रियविषयोको अपने वशमे कर लेता है। जो पुरुष इन इन्द्रियोको वशमे करता है वह पुरुष खाते पीते रहनेपर भी हर स्थितियोमे अलिप्त रहता है।

(२२८-२३१) ज्ञानार्णव प्रवचन १८, १९, २०, २१ भाग

पूज्य श्री वर्णी जी सहजानन्द महाराजके ज्ञानार्णव प्रवचनोंमे इस पुस्तकमे पढ़िये वस्तुस्वातन्त्र्य तथा साथ ही निरखिये विभावपरिणमनकी हेयताका कारण, पृष्ठ ४-सबका अपने अपने निज क्षेत्रमे अपने गुणोंका योग्यतानुसार परिणमन-हम अपने ही प्रदेशोमे रहकर अपना उत्पाद किया करते हैं। और नवीन अवस्थाका उत्पाद हुआ, उसीके मायने यह हैं कि पूर्व पर्यायका व्यय हुआ। मैं ही क्या, जगतके समस्त चेतन अचेतन पदार्थ अपने आपके अस्तिकायमे अपने हा गुणोमे अपना परिणमन किया करते हैं और इसी कारण प्रत्येक पदार्थ आज तक है। यदि कभी ऐसी गडवड हो गया होती कि एक पदार्थ किसी दूसरे पदार्थमे अपना परिणमन धर दे तो जगत शून्य हो जाता। यह सारा जगत अब तक टिका है, सामने दिख रहा है। यह ही इस बातका प्रमाण है कि वस्तुका स्वरूप चतुष्टय अपना-अपना है। हा, इतनी बातको मना नही किया जा सकता कि इन परिणमनोमे जो विभाव-परिणमन है, अपने स्वभावके विरुद्ध परिणमन हैं, विकार परिणमन हैं, वे सब परिणमन किसी पर-उपाधिके ससर्गमे हो रहे है। ये पर-उपाधि के बिना केवल अपने आपके स्वभावसे ही विभावपरिणमन नही हो रहे, सो ऐसे विभावरूप परिणमनमें इस परिणममान उपादामकी ऐसी कला है वह किसी अनुकूल निमित्तका सन्निधान पाकर विभावरूप परिणम जाय। यो पदार्थो को निरखना उनके एकत्वस्वरूपमे।

पापके फलमे कैसे क्लेश होते हैं इसका चित्रण कीजिये इस छोटेसे अनुच्छेदमे पृष्ठ ४२-नारकीका अशरणतामे विलाप-फिर विचार करता है यह नारकी कि ऐसे नरकोके दु खोमे भी ये कर्मसमूह मेरे सामने है। अब मैं क्या करू ? नरक भूमिमे पडा, नरक भवमे फंसा और फिर ये असाता वेदनीय आदिक अनेक कर्म मेरे सामने हैं, उदयमे आ रहे है, क्या करू, कहा जाऊं, किसकी शरण देखूं ? कभी सतापसे तृप्तहोकर वृक्षकी छायाके नीचे जाता हू तो यहीको पत्ती तलवारकी धारके समान गिरती है। कभी डरकर नारकी जोवके समीप जाऊं तो वहां नारकी घात कर डालता है। पृथ्वीपर ही पडा रहू, न हो कोई दूसरा मारने वाला तो वहाके भूमिजन्य दु खोसे पीडित रहता हू। कहा जाऊ, अब तो मुझे सुखका कोई उपाय नही दिखता।

अब मनन कीजिये ज्ञानकी महिमा, पृष्ठ १३०-मोहकी अपेक्षा ज्ञानकी अधिक बलवत्ता-लोग कहते है कि मोह बड़ा बलवान है, सब जगको वश कर डालता है, इस मोहसे पिंड छुटाना कठिन है, पर भाई! यदि मोहकी बलवत्ताके ही गीत गाते रहोगे तो इस मोहसे छुटकारा कैसे मिल सकेगा ? अपने को यदि कायर बना लिया तो यह मोह फिर छोड न सकेगा। लोग इस बातको तो भूल गये कि इस मोहसे भी बडा बलवान ज्ञान है। मोहने जिसके बन्धनको अनादि कालमे बना पाया है, चिरकालमे बन्ध पाया है उस सारी बाधको यह आत्मज्ञान क्षणभरमे ध्वस्त कर देता है। तो मोह की जितनीकला है, मोहका जितना प्रताप है, जितना उसका कार्य है सबको ध्वस्त कर देनेका, और उसे भी क्षणमात्रमे नष्ट कर देनेका फल ज्ञानमे है। आत्मबल एक ज्ञानबलको ही कहते हैं। अपनेको अजर अमर स्वरूपमे निरखना और किसी भी परवस्तुको अपने उपयोगमे न रखना यही तो एक आत्मबल है, उसकी प्रतीति तो की नही और मोह बलवान है यही गुण गाते रहे तो स्वयं हम कायर होकर मोहके दु खको मोहसे

ही मिटानेका उपाय जानकर मोह मोहमें ही फसे रहेगे ।

सर्व विशुद्ध ध्यान ज्ञानस्वरूपकी अभिमुखता रखते है इसका अवधारण कीजिये, पृष्ठ १८३–ज्ञानबीज मन्त्रमहेश्वरके ध्यानका विधान–यहा इस मन्त्रराजकी महिमा गायी जा रही है, उस महिमाको सुनकर यह अवधारण करना चाहिए कि ज्ञानस्वरूप प्रभुकी ही महिमा गायी जा रही है, उसे छोडकर और कुछ भी गान करते रहे तो उसमे कोई तत्त्व नही रहता। ज्ञानस्वरूप अथवा प्रभुस्वभावको छोडकर किसी भी अन्यका ध्यान न रहे, कुछ भी खटपट करके रहना उसमे लाभ नही मिलता, ज्ञानस्वरूपके ही ये सब प्रतीक बनाये गए है। इन अक्षरोंसे हमे ज्ञानस्वरूपका ही सकेत मिले तो ये सब मन्त्रराज ध्यान फल प्रदान करते हैं, यह मंत्रराज ज्ञानका बीज है, जगतसे वदनीय है, ससाररूपी अग्निके लिए अर्थात् जन्म सताप दूर करनेके लिए मेघके समान है। इस तरह ध्यान करें। विषय कषायोसे जब ध्यान हटता है सो उस खोटे ध्यान हटने का भी कोई प्रभाव होता है। तो मन्त्रराज के ध्यान मे खोटे ध्यान तो हटे ही हुए हैं, वह प्रभाव तो स्वत यह ही हैं. पर उसमे ज्ञानस्वरूप का सकेत बसाकर ज्ञानस्वरूप की भावना बनाये तो उसमे ध्यान का और अतिशय बढ जाता है। जब परख मे आया कि ओह इतना भी ध्यान जन्म सन्ताप को दूर करने के लिए, सासारिक क्लेशो को दूर करने के लिए ये सब मेघ के समान हैं।

अब पाइये प्रभुस्मरणकी उमग, पृष्ठ ५०४–ज्ञानघन प्रभुके स्मरणकी शरण्यता–जिसका ज्ञान समस्त लोकालोकमे घनीभूत होकर रह रहा है ऐसे प्रभुका स्मरण हम आपके लिए शरण होवो। जब कोई दुःखी होता है तो गद्‌गद् होकर एक शरण मानकर किसी न किसीकी गोदके निकट जाकर यह शान्ति चाहता है। ऐसा कौन मिलेगा कि जिसके निकट रहकर हम शान्तिलाभ पा सकें ? एक केवल ज्ञान–पुञ्ज प्रभुका ही स्मरण शरण है। हे नाथ ! आप हमे ऐसा बल द अर्थात् आपके स्मरणसे मुझमे ऐसा बल प्रकट हो कि केवल मेरे लिए आप ही आप दृष्टिगत हो। मुझे और कुछ न चाहिए। बहुत ही आज्ञाकारी, विनयशील सुन्दर रूपवान कोई सन्तान भी हो, परिजन के लोग भी हो तो वे क्या हैं ? ये सब राग आगमे मुझे जलानेके साधन हैं और ससारमे जन्ममरण करके बरबाद होनेके साधन हैं। हे प्रभो ! कहा जाय कहा ध्यान लगायें ? यह सारा जहान मायामयी है। एक प्रभुका स्मरण ही हम आपके लिए सहाय है।

(२३२–२३४) ज्ञानार्णव प्रवचन २२, २३, २४ भाग

(२३५–२३६) इष्टोपदेश–प्रवचन १, २ भाग

पूज्यपाद स्वामि विरचित इष्टोपदेशके २५ श्लोकोका प्रथम भागमे व २६ से ५१ तक २६ छन्दोमे द्वितीय भागमे पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराजके प्रवचन हैं। इसमे किसका उपदेश किया गया है, इसको मगलाचरणके एक प्रवचनाशमे पढिये–इष्टका उपदेश–इस ग्रथमे इष्ट तत्त्वका उपदेश है। समस्त जीवोको इष्ट क्या है ? आनन्द। उस आनन्दकी प्राप्ति यथार्थमे कहा होती है और उस आनन्दका स्वरूप क्या है ? इन सब इष्टो के सम्बन्धमे ये समस्त उपदेश हैं। आनन्दका सम्बन्ध ज्ञानके साथ है, धन वैभव आदि के साथ नही है। ज्ञानका भला बना रहना, ज्ञानमे कोई दोष और विकार न आ सके ऐसी स्थिति होना इससे बढकर कुछ भी वैभव नही है। जड विभूति तो एक अन्धकार है। उस इष्ट आनन्द की प्राप्ति ज्ञान की प्राप्ति मे निहित है। और उस ज्ञान की प्राप्ति का उद्देश्य लेकर यहा ज्ञानमय पर–मात्मा को नमस्कार किया है। स्वभाव ही ज्ञान है। आत्मा का जो शुद्ध चैतन्यस्वरूप निश्चल परिणाम

है। जो स्वतन्त्र है, निष्काम है, रागद्वेष रहित है उस स्वभाव की प्राप्ति स्वयं ही होती है ऐसा कहा है।

शुद्ध परिणाम इहलोक परलोक दोनो जगह शान्तिका कारण है, इसे पढिये ४ वें छन्दके एक प्रवचनांशमे— शुद्ध परिणामका सामर्थ्य—भैया, हम आप सभी इसी बातमे आनन्द मानते हैं कि खूब धन बढ गया, खूब परिवार बढ गया, पर जिस भावमे आनन्द है उसका अज्ञानियोको पता ही नही है। ज्ञानियोको स्पष्ट दीखता है कि सच्चा आनन्द तो इससे ही मिलेगा। वह भाव है एक ज्ञानप्रकाश अमूर्त, किसी भी दूसरे जीवसे जिसका रच सम्बन्ध नही, ऐसा यह मैं केवल शुद्ध प्रकाशात्मक हू। ऐसे ज्ञानस्वभावमे परिणाम जाय तो यह परिणाम मोक्ष को देता है फिर स्वर्ग तो कितनी दूर की बात रही, अर्थात् वह तो निकट और अवश्यभावी है। जो मनुष्य बलशाली होता है वह सब कुछ कर सकता है। सुगम और दुर्गम सभी कार्यो को सहज ही सम्पन्न कर सकता है। कौन पुरुष ऐसा है जो कठिन कार्यो के करने की तो सामर्थ्य रखता हो और सुगम कार्यो के करने की सामर्थ्य न रखता हो। वह अपमे आपमें अपनी शक्ति को खूब समझता है। उसके लिए सभी कार्य दुर्गम अथवा सुगम हो, सरल होते है।

सुख और आनन्दमे अन्तर समझिये, पढिये छठे छन्दका एक प्रवचनांश—यद्यपि सुख दुःख और आनन्द ये आनन्दगुणके परिणमन है, तथापि इन तीनोमे आनन्द तो है शुद्ध तत्त्व, सुख और दुःख ये दोनो है अशुद्ध तत्त्व। यह इन्द्रियजन्य सुख आत्मीय आनन्दकी होड नही करसकता। स्वानुभवमे जो आनन्द उत्पन्न होता है अथवा प्रभुके जो आनन्द है उस आनन्दकी होड तीन लोक तीन कालके समस्त ससारी जीवोका सारा सुख भी जोड लीजिये तो भी वह समस्त सुख भी उस आनन्दको नही पा सकता है। यह सांसारिक सुख आकुलता सहित है और शुद्ध आनन्द अनाकुलतारूप है। सासारिक सुखमे इन्द्रिय की आधीनता है। इन्द्रिया भली प्रकार है तो सुख है और इन्द्रियोमे कोई फर्क आया, बिगाड हुआ तो सुख नही रहा, किन्तु आत्मीय आनन्दमे इन्द्रियकी आवश्यकता ही नही है। इन्द्रियज सुख पराधीन है, नाना प्रकार के विषयोके साधन जुटे तो यह सुख मिलता है, परन्तु आत्मीय आनन्द पराधीन नही है, अत्यन्त स्वाधीन है। समस्त पदार्थो का विकल्प न रहे, केवल स्वात्मा ही दृष्टिमे रह ता उससे आनन्द उत्पन्न होता है। इस इन्द्रियज सुखमे दुःखका सम्मिश्रण है, किन्तु आत्मीय आनन्दमे दुःखकी पहुच भी नही है। ससारका कोई भी सुख ऐसा नही है जिसमे दुःख न मिला हुआ हो। धनी होने मे सुख है तो उसमे भी कितने ही दुःख है, सतानवान होनेमे सुख है तो उस प्रसगमे भी कितने ही दुःख भोगने पडते है। ससारका कोई भी सुख दुःखके मिश्रण बिना नही है। सासारिक सुख कर्म बन्धन का कारण है, परन्तु आत्मीय आनन्दकर्म बन्धनका कारण नही है। सासारिक सुख इस आनन्द के अंशको भी नही प्राप्त कर सकता है।

संसारी जीवोका अन्तर्दाह तो देखिये, छन्द १२का एक प्रवचनांश—अहो कितनी कठिन दाहकी भीषण ज्वालायें इस ससारमे बस रही हैं। जल रहा है यह खुद विपादवाग्निमे, किन्तु पक्षपातकी बुद्धिको नही छोडता है। ये मेरे है, इनके लिए तो तन, मन, धन, बचन सब हाजिर है। यह मोहका अधकार सब जीवोको सता रहा है, व्याकुल होता हुआ उनमे ही लिप्त हो रहा है। जिनके सम्बन्धसे क्लेश होता उस ही क्लेशको मिटानेके लिए उनमे ही लिप्त रहते हैं। यही है एक जाल यह ऐसा नही है जैसे लोहे का जाल हो, सूतका जाल हो। किसी भी प्रकार का जाल नही है इस जीवपर, मकडी के जाल बराबर भी सूक्ष्म कमजोर भी जाल नही है, किन्तु यह मोही जीव अपनी कल्पनायें मोहवश ऐसा जाल पूरता

है कि उससे परेशान हो जाता है। तब उसे संसारमें आधि व्याधि उपाधि सब लगी रहती है। आधि नाम तो है मानसिक दुःखका, व्याधि नाम है शारीरिक दुःखका और उपाधि नाम है परका पुछल्ला लपेटे रहने का। यो यह जीव आधि व्याधि और उपाधिसे दुःखी रहा करता है। उपाधिका अर्थ है जो आधि के समीप ले जाय। उसका अर्थ है समीप और आधिका अर्थ है मानसिक दुःख। जो मानसिक दुःखके समीप ले जाय उसे उपाधि कहते हैं। जैसे पोजीशन डिग्री आदि मिलना ये सब उपाधि हैं। तो यो यह जीव भ्रम मे कल्पना जाल मे वसकर आधि व्याधि और उपाधि से ग्रस्त रहता है।

अज्ञानीको अपने अपराधका भी परिचय नहीं, कितनी विडम्बना है, पढिये १४ वें छन्दके एक प्रवचनांशमें- पृ० १६९-ज्ञानी संत जानता है कि मेरा स्वरूप शुद्ध ज्ञानानन्द है। ज्ञान और आनन्दकी विशुद्ध वर्तना के अतिरिक्त अन्य जो कुछ प्रवृत्ति होती है, मनमें प्रवृत्ति हुई, वचनोसे हुई अथवा कायसे हुई, तो ये सब प्रवृत्तिया अपराध हैं। अज्ञानीको ये प्रवृत्तियां अपराध नही मालूम देती। वह तो इन प्रवृत्तियोंको करता हुआ अपना गुण समझता है। मुझमें ऐसी चतुराई है, ऐसी कला है कि मैं अल्प समयमें ही धन संचित कर लेता हू। ज्ञानी पुरुष जब कि यह समझता है कि ज्ञानस्वभावके आश्रयको छोडकर अन्य किन्ही भी पदार्थों का जो आश्रय लिया जाता है वह सब अपराध है। उससे मुझे लाभ नही है, हानि ही है। कर्मबन्ध हो, आकुलता हो और कुछ सार बात भी नही है, ऐसा यह ज्ञानी पुरुष जानता है। न तो अज्ञानी को धन संचय मे होने वाली विपदा का विपरीतरूप अनुभव होता है और न जो धनोपार्जन होता है उसमे भी जो अन्य विपदायें आती है उनका ही स्मरण हो पाता है।

लोभीको धन जीवनसे भी प्यारा है, इसका चित्रण देखिये १५ वें छन्दके एक प्रवचनांशमें-पृ० १७२- भैया, समयका व्यतीत होना दो बातो का कारण है-एक तो आयु के विनाशका कारण है और दूसरे धनप्राप्तिका कारण है। वर्षभर व्यतीत हो गया, इसके मायने यह है कि एक वर्ष की आयुका क्षय हो गया और तब ब्याजकी प्राप्ति हुई। यो कालका व्यतीत होना, समयका गुजर जाना दो बातोका कारण है-एक तो आयुके क्षयका कारण है और दूसरे धन को वृद्धिका कारण है। जैसे ही काल गुजरता है तैसें ही तैसे जीवकी आयु कम होती जाती है और वैसेही व्यापार आदिके साधनोसे या ब्याजके साधनो से धनकी बरबादी होती है। तो धनी लोग अथवा जो धनी अधिक बनना चाहते हैं वे लोग कालके व्यतीत होने को अच्छा समझते हैं। तो इससे यह सिद्ध हुआ कि इन धनिक पुरुषो को धन जीवन से भी अधिक प्यारा है। वर्ष भर का समय गुजरने पर धन तो जरूर मिल जायगा, पर यहा उसकी आयु भी कम हो जायगी। ऐसे धन का जो लोभी पुरुष है अथवा धन जिसको प्यारा है और समय गुजरने की बाट जोहता है उसका अर्थ यह है कि उसे धन तो प्यारा हुआ, पर जीवन प्यारा नही हुआ।

आनन्दपद्धतिका क्या उपाय है, इसे देखिये १६ वें छन्दके एक प्रवचनांशमें-हे आत्मन्, यदि तुझे आनन्द की इच्छा हो तो पर पदार्थोंमे इष्ट अनिष्ट बुद्धिका परित्याग कर और शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप निजतत्त्व का परिचय कर। शुद्ध आनन्द अनादि अनन्त स्वभाव आत्माके आश्रयसे ही प्रकट होता है। आनन्दमय आत्मतत्त्वको लखने वाले उपयोगमे ऐसी पद्धति बनती है जिससे आनन्द ही प्रकट होता है। वहा क्लेश के अनुभवका अवकाश ही नही है। जो पुरुषार्थी जीव सत्य साहस करके निर्विकल्प ज्ञानप्रकाश की आस्था रखते हैं उन्ही का जीवन सफल है। आनन्द आनन्दमय परब्रह्म की उपासना में है। आनन्द

वास्तविक समृद्धि मे है। समृद्धि सम्पन्नता होने का नाम ही आनन्द है। परमार्थ समृद्धि सम्पन्नता मे निराकुलता होती ही है। यह सम्पन्नता त्यागमय स्वरसपूर्ण आत्मतत्त्व के आवलम्बन से प्रसिद्ध होती है।

वास्तवमे घृणाके योग्य है क्या, इसे पढिये १९ वें छन्दके एक प्रवचनांशमें-इस प्रकरणने यह बात जानना चाहिए कि घृणाके योग्य यह शरीर नही है, किन्तु जिस गन्दे जीवके बसने से ये पवित्र स्कंध भी हड्डी खून आदि रूपमे बन गये हैं वहजीव गन्दा है। न आता कोई जीव तो शरीर कैसे बन जाता? शरीरकी गन्दगी का कारण यह अशुद्ध जीव है। अब जरा जीवमे भी निरखो तो वह जीव अशुद्ध नही है, किन्तु जीवकी जो निजी विभावमय वान है, अशुद्ध प्रकृति है, विभाव परिणति है वह गन्दी है। जीव तो जैसा सिद्ध प्रभु है वैसा। कोई अन्तर नही है, अन्तर मात्र परिणतिका है। तो जीव मे भी जो रागद्वेष मोहकी परिणति है वह घृणाके योग्य है, यह शरीर, यह पुरुष घृणाके योग्य नही है, मूल बात यह है। लेकिन इस प्रकरणमें परमतत्त्व ज्ञानियोंकी दृष्टिमे आने वाली बात के लिए व्यवहारिक बात कही जा रही है।

ज्ञानीका विवेकपूर्ण चिन्तन तो देखिये-१८ वें छन्दके एक प्रवचनांशमे-भैया, यह देह न रहेगा। अच्छा सुभग सुडौल सबल पुष्ट हो तो भी न रहेगा, दुर्बल, अपुष्ट हो तो भी न रहेगा, परन्तु जीवका भाव, जीवका सस्कार इस शरीरके छोडने पर भी रहेगा। तो जैसे कुटुम्बके लोग महिमानमे वैसी प्रीति करते हैं जैसे कि अपने पुत्र मे करते है, क्योकि जानते है कि यह महिमान हमारे घर का नही है। आया है जायगा और ये पुत्रादिक मेरे उत्तराधिकारी है, मेरे हैं, या समझते हैं। इसीलिए मानो महिमान नाम रखा है-महिमा न। जिसके प्रति घर वालो की बडप्पन की बुद्धि नही हैं, प्रियता की बुद्धि नहीं है वे सब महिमान कहलाते हैं। तो जैसे कुछ समय टिकने वाले के प्रति, अपने घरमे न रह सके ऐसे लोगों के प्रति ये स्नेह नही बढाते, अपना वैभव नहीं सौप देते, ऐसे ही यह विवेकी कुछ दिन रहने वाले इस शरीर के लिए अपना दुर्भाव नही बनाता है, खोटा परिणाम नहीं करता है, उसको ही सेवा किया करे ऐसा सकल्प नही होता। अपने उद्धार की चिन्ता होती है उसको जो ऐसा ज्ञानी हो, विवेकी हो।

पारमार्थिक उदारता तो देखिये, जिसका फल मधुर ही मधुर है, पढिये २३ वें छन्दके एक प्रवचनांशमे-अपने को ज्ञानस्वरूप समझना, अकिंचन मानना, केवल स्वरूपसत्तामात्र अपने को निरखना, एक भी पैसे का अपने को धनी न समझना, एक अणु भी मेरा नही है, ऐसी अपनी बुद्धि बनाना, इससे बढकर उदारता क्या होगी ? सम्यग्ज्ञानमे सर्वोत्कृष्ट उदारता भरी हुई है, मगर कहने सुनने मात्रका ही सम्यग्ज्ञान नही होता है, उसका कुछ प्रेक्टिकल प्रयोग हो तब समझा जाय कि हा इसके ऐसा ही सम्यग्ज्ञान है। सर्व परभावोसे रहित ज्ञानमात्र मैं आत्मा हू, अकेला हू सबसे न्यारा हू। मेरे करने से किसी दूसरे का कुछ होता नही है। अत्यन्त स्वतन्त्र मैं आत्मा हू। ऐसा केवल अपने अद्वैत आत्मा का अनुराग हो तो वह पुरुष वास्तव मे अमीर है, सुखी है, पवित्र है विजयी है, और जो बाहरी पदार्थो मे आसक्ति लगाये हुए है, कितना ही धन का खर्च है, कितने ही झझट भी सह रहे हैं और मृत्यु के दिन निकट आ रहे है। प्रथम तो किसी को भी मृत्यु का पता नही है, पर आयु अधिक हो जाय तो उसके बाद और क्या होगा ? बचपनके बाद जवानी और जवानीके बाद बुढापा और बुढापाके बाद क्या फिर जवानी आयगी ? नही। मरण होगा, फिर नया जन्म होगा। तो यह समय प्रवाह से बह रहा है और हम ममतामे कुछ अन्तर न डाले, ढील न करे तो सोच लीजिये क्या गति होगी।

श्रद्धान की कलासे आनन्द या वेदनाकी तृप्ति होती है, पढ़िये २७ वें छन्दका एक प्रवचनांश—जिस भवमें गया उस ही भवमें जो मिला उसमें ही ममता की, जो पर्याय मिली उस ही रूप अपने को माना। गाय, बैल, भैंस हुआ तो वहा उस ही रूप अपनी प्रतीति रखी। मनुष्यभवमें तो हैं ही, यहा ही देखलो, हम अपने को निरन्तर मनुष्यता की प्रतीति रखते हैं। मैं मनुष्य भी नही हू, किन्तु एक अमूर्त ज्ञानानन्दस्वरूप चेतन पदार्थ हू। ऐसी प्रतीतिमें कब कब रहते हैं? कभी नही। यदि ज्ञानानन्दस्वरूपकी प्रतीति हो तो फिर आकुलता नही रह सकती है। आकुलता कहा है। निराकुल शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मतत्त्वको निरखे तो वहा आकुलता का नाम नही है। यह अपने स्वरूपसे सत् है, समस्त परभावोंसे मुक्त है, प्रभु है, यह मैं आत्म निर्मल हू। यहा शुद्ध ज्ञायकस्वरूप आत्मतत्त्वको निरखा जा रहा है। इसमें मिथ्यात्व, काम, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि कुछ भी परभाव नहीं हैं। स्वरसत निरखा जा रहा है।

भयके उपाये यह प्राणी स्वय बनाता है, देखिये ३० वें छन्दका एक प्रवचनांश—जब तक इस जीवके शरीर और आत्मामें एकमेक मान्यता रहती है, शरीरको ही यह मैं हू ऐसा समझा जाता है तब तक इस जीवको भय और दुःख होता है। ये जगतके प्राणी जो भी दुःखी है—उनके दुःखका कारण एक पर्यायबुद्धि है। अन्यथा जगतमें क्लेश है कहा? ये सब बाह्य पदार्थ हैं। कैसा ही परिणमें हमारा क्या बिगाड किया? कोई भी कष्ट की बात नही है। आज वैभव है, कल न रहा, हमारा क्या बिगड गया? वह तो हमसे भिन्न ही था। रही एक यह बात कि अपना जीवन चलाने के लिए तो धनकी जरूरत है। तो जीवन चलाने के लिए कितने धन की जरूरत है? तृष्णा क्यो लग गयी है, उसका कारण है केवल दुनियामें अपनी वाहवाही प्रसिद्ध करना, अन्यथा धनकी तृष्णा हो नहीं सकती। धन आये तो आने दो। चक्रवर्तियोके ६ खण्डका वैभव आता है, आनेका मना नही है किन्तु उस वैभवको ही अपना सर्वस्व समझ लेना, इसके बिना मेरा जीवन नही है, यही मेरा शरण है, ऐसी बुद्धि कर लेना, यही विपत्ति की बात है।

जीव और कर्ममें निमित्तनैमित्तिक भाव होने पर भी स्वतन्त्रता है, पढ़िये और अपना फायदा निकालिये छन्द ३१ वें का एक प्रवचनांश—जीवमें और कर्ममें परस्पर निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है। जीवके भावका निमित्त पाकर कर्मों का बन्धन होता है अर्थात् कार्माण वर्गणाये स्वय ही कर्मरूपसे प्रवृत्त हो जाती हैं। और, कर्मों का उदय होने पर यह जीव स्वयं रागादिक भावोमें प्रवृत्त हो जाता है। ऐसा इन दोनोंमें परस्पर में निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है फिर भी किसी भी पदार्थका परिणमन किसी अन्य पदार्थ में नही पहुंचता है। जैसे यही देख लो बोलने वाला पुरुष और सुनने वाले लोग इन दोनोका परस्पर में निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है। बोलने वाले का निमित्त पाकर सुनने वाले शब्दोको सुनकर और उनका अर्थ जानकर ज्ञानविकास करते हैं। यो उनके इस ज्ञान विकास मे कोई वक्ता निमित्त हुआ और वक्ता का भी श्रोताओ को निरखकर धर्म चर्चा सुनाने की रुचि हुई। ये कल्याणार्थी हैं, ऐसा जानकर वक्ता उस प्रकार से अपना भाषण करता है। तो यो वक्ता को बोलनेमें श्रोतागण निमित्त हुए और श्रोतागणोके सुनने और जाननेमें वक्ता निमित्त हुआ, ऐसा परस्परमें निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है, फिर भी वक्ताने श्रोताओमें कुछ परिणमन नही किया और श्रोतावोने वक्तामें कुछ भी परिणमन नही किया। ऐसे निमित्त नैमित्तिक सम्बन्धका यथार्थ मर्म तत्त्वज्ञानी पुरुष जानता है।

आप यहा मुक्तिके आनन्दका परिचय कैसे पा सकते है? पढ़िये ३३ वे छन्दका एक प्रवचनांश—जो साधु स [illegible] रुष आत्मा और परको परस्पर विपरीत जानता है और आत्माके स्वरूपका अनुभव करता

है उसमे जो इसे आनन्द मिलेगा उस आनन्द की प्राप्तिमे यह जान जाता है कि मुक्तिमे ऐसा सुख होता है। जब क्षण भरकी निराकुलतामे, शुद्ध ज्ञानप्रकाशमे उसे इसका आनन्द मिला है तो फिर जिसके सब मूल कलंक दूर हो गये है, केवल ज्ञानानन्दस्वरूप रह गया है उन अरहत सिद्ध भगवन्तोको कैसा सुख होता होगा। वह अपूर्व है और उसकी पहिचान इस ज्ञानी को हुई है। कोई गरीब ४ पैसे का ही पेडा लेकर खाये और कोई सेठ एक रुपयेका एक सेर वही पेडा लेकर खाये पर स्वाद तो दोनोको एकसा ही आया, फर्क केवल इतना रहा कि वह गरीब छककर न खा सका, तरसता रहा, पर स्वाद तो वह वैसा ही जान गया। इसी तरह गृहस्थ ज्ञानी क्षण भर के आत्मस्वरूप के अनुभव मे पहिचान जाता है भगवन्तो को किस प्रकार का आनन्द है। भले ही वह छककर आनन्द न लूट सके लेकिन जान जाता है। यो यह ज्ञानी पुरुष आत्मज्ञान से मुक्ति के सुख को निरन्तर पहिचानता रहता है।

विषयसाधनोकी असारताका एक चित्रण देखिये ३९ वें छन्दके एक प्रवचनांशमे—भया, इस लोक मे रमण करने योग्य क्या है ? जो कुछ है वह सब जल के बुलबुले की तरह चचल है, विनाशीक है कुछ ही क्षण बाद मिट जाने वाला है। जैसे जलका बबूला देर तक ठहरे तो उस पर बच्चे लोग बडे खुश होते है और शान के साथ किसी बबूले को अपना मानकर हर्ष के साथ कहते हैं देखो मेरा बबूला अब तक ठहरा है। बरसात के दिन हैं, जब ऊपर से मकान का पानी गिरता है तो उसमे बबूले पैदा हो जाते है बच्चे लोग उनमे अपनायत कर लेते हैं कि यह मेरा बबूला है, कोई लडका एक देर तक टिक जायगा वह बच्चा नाच उठता है, मेरा बबूला अब तक बना हुआ है। ऐसे ही यह पर्याय, यह नाता, यह शरीर बबूलेकी तरह है। इन अज्ञानी बच्चो ने अपना अपना बबूला पकड लिया है यह मेरा बबूला है, यह बबूला कुछ देर तक टिक जाय तो खुश होते हैं, मेरा बबूला अब तक टिका हुआ है। यो योगी पुरुष इन्द्रजालकी तरह समस्त जगतको जान रहा है। यहा किससे प्रीति करे, कौन मेरा सहाय है किसका शरण गहे, जो कुछ भी है वह सब अपने लिए परिणमता है।

योगीश्वर उपदेश भी दे, फिरभी अन्तरग तो देखिये कैसा विरक्त है, पढिये ४१ वें छन्दका एक प्रवचनांश—शुद्ध आत्मतत्त्वका परम आनन्द पा लेने वाले योगी के एक सिर्फ आत्मदृष्टिके अतिरिक्त अन्य सब बाते, व्यवसाय पदार्थ, नीरस और अरुचिकर मालुम होते है। किसी भक्त पुरुषको कही उपदेश भी देना पडे तो वह उपदेश देना हुआ भी न देने की तरह है। कर्मो के उदय की बात वीतराग पुरुष के भी हुआ करती है। अरहत, तीर्थंकर परमात्मा हो गये, उनको अतरग से कुछ भी बोलने की इच्छा नही है लेकिन कर्मो का उदय इस ही प्रकार का है कि उनकी दिव्यध्वनि खिरती है, उनके उपदेश दिव्यध्वनिरूप मे होते है। जब वीतराग परमात्मा के भी किसी किसी स्थिति तक कर्मोदयवश योग होता है, बोलना पडता है, यद्यपि उनका वह बोल निरीह है और सर्वांगनिगत है, किन्तु यह अवस्था आत्मा के सहज नही होती है, तब जो रागसहित हैं ऐसे योगीश्वर जिनको वीतराग आत्मतत्त्व से प्रेम है किन्तु रागांश शेष है उन्हे कोई अनुरोध करता है तो वे उपदेश भी देते हैं, अथवा कोई समय निश्चित कर दिया, लोग जुड जाते है तो बोलना भी पडता है, किन्तु वह योगी बोलकर भी न बोलने की ही तरह है।

धर्मपालनकी निष्पक्ष पद्धति समझिये ४३ वे छन्दके एक प्रवचनांशमे-आत्माका हित, आत्मा का धर्म, जिसको पालन करने मे नियमसे शान्ति प्राप्त होती वह धर्म कहा बाहर न मिलेगा। कोई निष्पक्ष बुद्धिमे एक शान्तिका ही उद्देश्य ले ले और विशुद्ध धर्मपालन करने की ठान ले तो सब कुछ अपने

ज्ञानस्वरूपका निर्णय कर सकता है। कभी य. धोखा हो कि सभी लोग अपने अपने मजहब को गा हैं, कहाँ जाकर हम धर्म की बात सीखें। जिसकुलमे जो उत्पन्न हुआ है वह उसही धर्मको गाता है। जिस कुलमे उत्पन्न हुआ है वह उस ही धम की गाता है। जो जिस कुल मे, धर्म मे उत्पन्न हुआ व रूढिवश उस धम और कुल की गाता है, पर कहा धर्म, कैसा है धर्म, किस उपाय से शान्ति का मार्ग मिल सकेगा ? सन्देह हो गया हो, और सन्देह लायक बात भी है। अपने अपने पक्ष को ही स गाते हैं। सन्देह होना किसी हद तक उचित ही है। ऐसी स्थिति मे एक काम करे। जिस कुल मे जिस धर्म मे आप उत्पन्न हुए हैं उसकी भी कुछ बात मत सोचे, जो कोई दूसरे धर्मो की बा सुनाता हो उनको भी मत सुने, पर इतनी ईमानदारी अवश्य रखे, इतना निर्णय करलें कि इस लोक मे जो भी समागम मिले हैं धन वैभव, स्वजन, मित्रजन, ये सब भिन्न हैं और असार हैं। इतना निर्णय तो पूर्ण करलें, इसमें किसी मजहब की बात नहीं आयी, यह तो एक देखी और अनुभव की हुई बात है।

अध्यात्मयोगका मोटासा परिचय पाइये ४७ वें छन्दके एक प्रवचनांशमे—जो पुरुष प्रवृत्ति और निवृत्ति-रूप व्यवहारसे मुक्त होकर आत्माके अनुष्ठानमे निष्ठ होते हैं अर्थात् अध्यात्म मे अपने उपयोग को जोडते हैं उनके उससे अलौकिक आनन्द होता है। योगो का अर्थ है जोडने वाला। यहा हिसाब मे भी तो योग शब्द बोलते है। कितना योग हुआ अर्थात् दोनो मिलाकर सब एक रस करदे इसी के मायने तो योग है। चार और चार मिलाकर कितना योग हुआ ? आठ। अब इस आठ। अब इस आठमे पृथक् पृथक् चार नही रहे। वह सब एक रस बनकर एक अष्टक बन गया है। इस प्रकार ज्ञान करने वाला यह उपयोग और जिसका ज्ञान किया जा रहा है ऐसे उपयोग का जो आधारभूत शाश्वत शक्ति इस शक्तिमे इस व्यक्तिका योग कर दो। अर्थात् न तो व्यक्तिको अलग बता सके और न शक्तिको अलग बता सके किन्तु एक रस बन जाय इस ही को कहते हैं अध्यात्मयोग।

(२३७–२३९) पञ्चास्तिकाय प्रवचन १, २, ३ भाग

परम पूज्य श्री कुन्दकुन्दाचार्य देवरचित पञ्चास्तिकाय ग्रन्थ पर पूज्य श्री सहजानन्द जी वर्णी महाराजके विस्तृत प्रवचन इस ग्रन्थ मे हैं।

(२४०–२४२) पञ्चास्तिकाय प्रवचन ४, ५, ६ भाग

(२४३) सिद्धभक्ति प्रवचन

पूज्य श्री वर्णी जी महाराजके सिद्धभक्तिपर विस्तृत प्रवचन हुए है उनका सकलन इस पुस्तक में है। यह पुस्तक प० अजितकुमार जी शास्त्री भानी द्वारा वीरबुन्देलखड प्रभासोमे छपने के लिये ५ साल पूर्व दिया हुआ था अब तक छपना भी प्रारम्भ नहीं हुआ।

(२४४) शान्तिभक्ति प्रवचन

१—दशभक्तियोमे प्रसिद्ध इस शान्ति भक्ति पर पूज्य श्री १०५ मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराज के प्रवचन हुए हैं। प्रथम छन्द मे बताया है कि भव्यजीव भव–दुख सताप न सह सकने कारण प्रभुके शरणमे जाते हैं, उसी सिलसिले मे एक प्रवचनांश पढ़िये—हे प्रभो, आपके स्नेह से ये समस्त भक्तजन आपके चरणपद्म को शरण मे नही आये हैं। इनके आने का कारण तो दूसरा ही है। वह कारण यह है कि यह ससार रूपी और समुद्र भयानक सागर नाना प्रकार के दुखो से भरा हुआ है। यहा के दुखो की क्या चर्चा करें।

से संसारी जीव विकल्प मूसलों से रातदिन कुट रहे हैं। यहां से मरण करते ही तुरन्त दूसरा नया देह धारण कर लेते हैं। यों जन्म मरण की परम्परा में फसे हुए ये प्राणी दुःख सह रहे है। जन्ममरण करते हुए में जब जिस जगह पहुंचे वहां के समागमों को अपना मान लेते हैं। पर द्रव्यों का अपना मानने के बराबर संकट दुनिया में अन्य कुछ भी नहीं है। सब संकटों का मूल यही मूल है। फिर शरीर के साथ रोग व्याधियां के भूख प्यास, सर्दीगर्मी आदिक के अनेक संकट लगे हुए है। जहां देखो लोक में सर्वत्र दुःख ही दुःख छाया हुआ है, यही कारण है कि ये भक्तजन आपके चरणद्वय की शरणमें आये हुए हैं। जैसे यहां भी लोग कभी चन्द्रमा की शीतल किरणों को सेवन के लिये, अथवा ठंडे जल में स्नान करने के लिये अथवा वृक्षों की छाया में बैठकर आराम करने के लिये आते हैं सो वे उन चन्द्रमा की किरणों के प्रेम से या जल वृक्ष आदिक के प्रेम से नहीं आते हैं बल्कि अपनी गर्मी का आताप मेटने के लिये आते हैं।

२–प्रभुभक्ति से सबन्धित अद्भुत निमित्त नैमित्तिक प्रसंग देखिये दूसरे छन्दके एक प्रवचनांशमें–अद्भुत निमित्त नैमित्तिक प्रसंग–हे प्रभो। जो मनुष्य आपके स्वरूप के स्मरण में रत रहते हैं उनको विघ्न रोग में नहीं सताते, शान्त हो जाते हैं। जैसे कि किसी क्रुद्ध आशीविष सर्प ने किसी को डस लिया हो, तो डसे गये पुरुष के शरीर में विष की ज्वालायें फैल रही हों, नसाजालों के रूप में, रगों के रूप में विष की ज्वालायें अग्नि की तरह धधक रही हो और गर्मी, सन्ताप का ज्वाला भी जल रहा है इतना बड़ा तेज विकराल विष विक्रम भी विद्यासे, औषधि से, यन्त्र मन्त्र से, जलहवन आदि से शान्ति को प्राप्त हो जाता है। निमित्त नैमित्तिक सम्बन्धका भी जरा स्वरूप देखियेगा। जिसे पुरुष के शरीर में विष छाया हुआ है। वह पुरुष तो दूर है और उसका विष झाड़ने वाला मन्त्रवादी उससे दूर है, और कितने ही तो ऐसे सुने गये है कि जिस पुरुष को मन्त्रवादी ने कभी देखा भी नहीं, किसी अन्य पुरुष ने उसके पास जाकर समाचार दे दिया कि अमुक जगह अमुक पुरुष को सर्पने डस लिया है, तो वह मन्त्रवादी वहीं से अपने घर में बैठा हुआ ही कुछ मन्त्र जपता है या कोई तन्त्र करता है और वहां उस पुरुष का विष दूर हो जाता है तो जब इतनी दूर से रहने वाला मन्त्र वादी कहीं दूर रहने वाले पुरुष के देह में व्यापे हुए सर्प के विष को दूर कर देता है तो फिर जिस आत्मा के साथ एक क्षेत्रावगाह होकर यह शरीर रह रहा है वह आत्मा यदि अपने भाव शुद्ध बनाये, प्रभु का स्मरण करे तो प्रभु भक्ति के प्रसाद से समस्त विघ्न, समस्त रोग दूर न हो सके यह कैसे हो सकता है? अर्थात् अवश्य ही वे सब रोग दूर होंगे।

३- पांचवे छन्दके एक प्रवचनांशमें देखिये–प्रभुदर्शनकी क्या विधि है जिससे व्याधि क्षय होना कोई आश्चर्य की बात नहीं रहती–प्रभुदर्शनविधि–प्रभु को केवल ज्ञान पुञ्ज के रूप में निरखने से प्रभु के दर्शन होते हैं वह दर्शन अनुभवात्मक है। चक्षु से आगे कोई प्रभु दिख जाय, सामने हाथ लगा कोई दर्शन नहीं, किन्तु अपने अनुभव से ज्ञानमात्र आनन्दधाम स्वरूप की जो अनुभूति होती वह है प्रभुदर्शन। जिस काल में प्रभु साक्षात् विहार किया करते थे उस काल में भी प्रभु का दर्शन नेत्रों से न होता था। प्रभु शरीर सहित थे। शरीर के दर्शन हो गये, पर प्रभुता का दर्शन तो उस समय भी ज्ञानी विवेकी पुरुष ज्ञान ज्योति के रूप में ज्ञानानुभूति के रूप में दर्शन किया करते थे। वह मात्र ज्ञान तत्त्व स्वपर सम्पर्करहित है। रोग रहित है, पवित्र है, अमूर्त है। केवल जानन ही जिसका कार्य है ऐसे अमूर्त पवित्र ज्ञानमात्र स्वरूप को निरखने पर उपयोग निर्मल होता है और उसके प्रताप से ये रोग भी शीघ्र नष्ट होते है। उदाहरण में कहते हैं कि जैसे मदोन्मत्त सिंह का भयानक शब्द से वनके हस्ती भाग जाते हैं ऐसे ही आप

के चरणस्तवन से अनेक रोग दूर हो जाते है।

४-प्रभुचरणस्तवनसे शान्ति क्यो मिल जाती है इसका मौलिक कारण देखिये ८वें छन्दके एक प्रवचनांशमे-भ्रमके करनेका एक दृष्टान्त-एक कथानक है कि १० जुलाहा हाट के दिन किसी गाव से किसी शहर गये। गाव और शहर के बीच एक नदी पडती थी। तो मानो शनीवार के दिन का हाट था। हाट कर के वे जुलाहे ४ बजे शाम को अपने गाव के लिये लौट पडे। नदी भी पार कर ली। जब नदी के दूसरी पार आ गये थे। उन सबमे से किसी एक जुलाहे ने कहा कि अपन लोग गिनतो अपने सभी मित्र है कि नही, गिना तो ९ हो निकले, वे गये तो थे १० मित्र पर सभी ने गिना तो सबने ९ ही मित्र पाये सोचा ओह! हमारा एक मित्र गायब हो गया। उन सबमे परस्पर मे बडा प्रेम था, सो वे अपने एक मित्र के गुम हो जाने पर बडे दुखी हुए-हाय! गये तो थे तीन चार रूपये मुनाफे के लिये और अपने एक मित्र को ही खो दिया। पता नही वह मित्र नदी मे डूब गया या अन्यत्र कही खो गया। यो वे सभी अपने एक मित्र के न मिलने पर इतने दुखी हुए कि सभी जुलाहो ने रो रोकर अपने सिर भी फोड लिये। भैया! भ्रम का बडा कठिन दुख होता है। जब एक सूझता पुरूष आया और उसने रोने का कारण पूछा तो उन जुलाहो ने बताया कि हम आये तो थे १० मित्र पर हममे से १ मित्र न जाने कहा गायब हो गया। पता नही नदी मे डूब गया या कही मर गया। उनकी बात सुनकर उस सूझते पुरूष ने एक सरसरी निगाह मे ही देख लिया कि हैं ता दसा के दसो और ये क्या कह रहे है? सो वह सूझता पुरूष बोला-अगर हम तुम्हारा १० वा मित्र बता द तो क्या दोगे? वे जुलाहे बडे खुश हुए और बोले-हा हा भैया बता दो, तुम जो कहोगे सो देगे। अच्छा तुम सब लोग खड हो जावो एक लाइन मे। खड हो गये और एक बत से धीरे धीरे मारकर कहे-देखो १, २, ३, ४, ५, ६, ७, ८, ९, और जरा जोर से मार कर कहे यह १०। यो सभी जुलाहो के क्रम क्रम से बत मार कर सभी को उनका १० वा मित्र बता दिया। वे सब जुलाहे अपने १० वे मित्र का पाकर बड खुश हुए। ता भया! भ्रमका दुख इतना कठिन होता है।

५- १६ वें छन्दके एक प्रवचनाशमे परमिहत समर्थ योग्य प्रकार की अभ्यथना की है, मनन कीजिये-आत्महित के दृढ निणय के सकल्प की आवश्यकता-भैया अपना पहिले यह पक्का निर्णय बना लीजिये कि मुझे तो आत्महित करना है, और कुछ मतलब हो नहो। थोड दिना का जीवन है। इसमे हमे क्य विवाद करना। क्या लडाई झगडा करना? क्या पक्षपात करना? हम तो खुद दुखी हैं, अशरण हैं बेचारे हैं, कोई ठीक ठिकाना नही है। पहिले अपने को तो सम्हाल लें। वादविवाद मे क्या रखा है? यो वस्तु स्वरूप का निणय करके जो यहा अपना निणय बनाता है वह नियम से पार होगा हे प्रभो! आपके चरण द्वय को ही मैं देव मानता हू। व्यवहार भक्ति मे चरणो को भी देवता कहते हैं। इनके चरण ही हमारे देवता हैं, इन्हे छू लेने दो और परमार्थ प्रभु के दो चरण है दशन और ज्ञान वे देवता हैं। ज्ञान का यथाथ स्वरूप यान सामान्य प्रतिभास वाली शक्ति ये दो हमारे देवता हैं। तो हे प्रभु इस चरण द्वय को मैं देवता मानता हू और उस देवता का स्तवन कर रहा हू। शान्ति अटक रूप से पाठ कर रहा हू।

(२४५) पञ्चगुरूभक्ति-प्रवचन

१-इसमे दशभक्ति कथित पञ्च गुरू भक्ति पर पूज्य श्री १०५ मनोहर जी वर्णी जी सहजानन्द महाराज के प्रवचन हैं। देखिये प्रभुभक्ति ज्ञानीजन क्यो करते है इस तथ्यका दिग्दर्शन प्रथम छन्द के एक प्रवचनाश मे-ज्ञानी द्वारा प्रभुस्मरण शरण ग्रहण मे प्रधान कारण-जन्म मरण का क्लेश भी बडा भयकर है और,

इस जन्म मरण के बीच का जो समय है वह भी क्लेश में व्यतीत होता है। तो यहा की किसी भी बात के अनुकूल हो जाने से मौज मानना यह भी कर्त्तव्य नही और किसी भी बात के प्रतिकूल हो जाने से विषाद मानना यह भी विवेक की बात नही। अपने आपमे बहुत धीरता लाना है। अपने आपकी दृष्टि जो बाहर मे चारो ओर फिर रही हैं, भ्रम रही है उसको केन्द्रित करना है। कैसे अपने आपके स्वरूप का सम्पर्क बनाया जाय, कैसा दृष्टि और सम्बन्ध किया जाय कि यह ज्ञान अपने ज्ञानस्वरूप मे मग्न हो सके? ऐसी भावना जगी है ज्ञानीपुरुष को। तो वह बाहर मे किसी का स्मरण करे, गुणगान करे, शरण गहे तो किसकी गहे? जिसका यह ज्ञान स्वभाव पूर्ण विकसित है जिसका ज्ञान ज्ञानस्वरूप मे मग्न हो गया है। जो ससार के सकटो से सदा के लिये छूट गये है ऐसे पुरुषो को शरण ग्रहण करना। इसी प्रयास मे यह ज्ञानी यहा अरहन्त परम गुरु की भक्ति मे जा रहा है।

२-द्वितीय छन्द के एक प्रवचनांशमे सिद्ध प्रभुत्व की भक्ति परखिये-सिद्ध परमेष्ठी का नमस्करण-मैं सिद्ध भगवान को नमस्कार करता हू अनन्त सिद्धो को नमस्कार करता हू। मैं सतत निरन्तर अनन्त सिद्धो को नमस्कार करता हू जो अष्टगुणो से सहित है और समस्त अष्ट कर्म शत्रुओ को जिन्होने नष्ट किया है। यह आत्मा अपने आप सहज किस स्वभाव रूप है? जब उस स्वभाव का विकास होता है तो उन विकासो के परिणमन से, परिज्ञान से हम समझ जाते है कि इस आत्मा का सहज स्वभाव कैसा है। किसी एक बडे पत्थर के भीतर क्या है, स्वयं अपने आप उस जगह क्या है यह बात तभी जान सकगे जब कि ऊपर के आवरण हटें। ऐसे ही मेरे आत्मा मे सहज स्वभाव क्या है, यह बात तब प्रकट रुप से विदित होती है कि जब अवरण विकार इसके ढाकने वाले ये सब दूर हो जाते है तब विदित होता है कि इस आत्माका सहजस्वरुप यह है यह बात हमे सिद्ध भगवान स्वरुपकी उपासना से सुविदित हो जाती है प्रभु मे समीचीनता है कोई मल नही है शुद्ध हैं। अपने आपमे लवलीन हैं। किसीभी प्रकार का विकार नही है। क्योकि उनके मोहनीय कर्म का अभाव हो चुका है प्रत्येक वस्तु मे अपने आपकी ओर से कोई विकास नही होता। कोई दोष नही होता। वह जैसा है तैसा ही है। विकास के मायने है कि जो उसमे बात स्वय नही है वह बात आ जाय उसे विकास कहते है। अन्तराय कर्म के न होने से ऐसी अनन्त शक्ति प्रकट है जिससे परिपूर्ण विकास बना रहता है। प्रत्येक पदार्थ अपने आपके सहज स्वरुप मे रहता तो मे भी हू, मेरा भी अपने अपने सहज स्वरुप का यह सिद्ध गुण स्तुतिसे सुगम विदित होता है। आप कोई स्वरुप है।

३-साधक को व्यवहार मे आचार्य परमेष्ठीका शरण जानकर आचार्यत्व के योग्य वास्तविक मूलगुणो का दिग्दर्शन कीजिये तृतीय छन्द के एक प्रवचनांश मे-शान्ति साधना के उद्यम मे निश्चय शरण व व्यवहार शरण का दिग्दर्शन-हमे चाहिय शुद्ध स्वाधीन शान्ति, जिसके पा लेने पर कोई खतरा ही नही है नष्ट होने का या कि उसके एवज मे अशान्ति आने का। शान्ति भोगते-भोगते कभी अशान्ति भी आ जाय, ऐसा जहा धोखा भी नही है, ऐसी शान्ति चाहिये। इस प्रकार की शान्ति चाहने वाले पुरुष यहा व्यव-हार मे किसकी शरण गहे? शरण गहे गुरुओ की, और ऐसे गुरु ही यहा किसकी शरण गहे कि वे भी अपने कार्य को निर्बाध रुप से सफल बना सके। तो वे गुरुराज शरण गहते हैं आचार्य परमेष्ठियो की यह व्यवहार शरण की बात कही जा रही है। निश्चय शरण के सम्बन्ध मे गुरुओको तो क्या, अविरत सम्यग्दृष्टि को भी भूल नही हो सकती, फिर भी जब तक प्रमाद अवस्था है, तब तक व्यवहार शरण ग्रहण करना ही चाहिये। प्रमाद-युक्त अवस्था मे हम एक आना हो ऐसा ज्ञान बनाये, किसका कौन है? मैं ही अपने लिये शरण हू और धर्म का शरण, गुरु को शरण त्याग दे तो वह शान्ति के मार्ग मे

ठीक प्रकार लग नही सकता। तो गुरुजन भी जिनको केवल आत्मकल्याणको ही धुन है। आत्मस्वरुप मे मग्न होने का ही जिनका भाव है वे भी जिनकी शरण ग्रहण करते हैं उन आचार्य परमेष्ठियो का स्वरुप बताया जा रहा है कि उनकी भावना क्या हो सकती है ? आचार्य परमेष्ठियो की योग्यता बताने वाले गुण ३६ होते है। इन ३६ गुणो की रुढि और किस्म से है। १२ तप, १० धर्म आदिकरूपसे, किन्तु ये तो मुनियो मे भी सम्भव हैं। ये ३६ गुण आचार्य के खास न रहे। वे ३६ गुण क्या है उन्हें सुनिये ८ तो होते है आचारवान आदिक गुण-१२ तप, १० स्थितिकर्म और ६ आवश्यक कर्म। इनमे १० स्थिति कर्म और ८ आचारवत्त्व आदिक ये १८ गुण कुछ खास विशेषता रखते है।

४-उपाध्याय परमेष्ठीकी उपासना निरखिये चतुर्थ छन्द के एक प्रवचनांशमे-उपाध्याय परमेष्ठी की उपासना-सर्व आत्माओमे जो परम पदमे स्थित हुए हैं उन्हे परमेष्ठी कहते है ऐसे परमेष्ठी ५ होते हैं-अरहत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु। इनमे अरहत तो वीतराग सर्वज्ञ देह सहित भगवान का नाम है, सिद्ध परमेष्ठी शरीररहित वीतराग सर्वज्ञ का नाम है, आचार्य परमेष्ठी जो साधुवो मे से विशिष्ट तप २ चरण वाले हैं, विशिष्ट क्षमता रखते हैं जो अपने सब के सर्व साधुओ का आत्मपोषण कर सकते है वे आचार्य परमेष्ठी हैं। यद्यपि आचार्य परमेष्ठी को साधुओ के आत्म-पोषण मे कुछ नही करना पडता। साधु ही स्वय अपने कल्याण की भावना से आचार्य परमेष्ठी का शरण ग्रहण करते हैं और उनके आदेश म रहते है और इस घटना मे आचार्य परमेष्ठी के सहज व्यवहार से ही साधुवो का आत्मपोषण होता उपाध्याय परमेष्ठी वे कहलाते है जो साधु ज्ञान मे बडे "जिनको ११ अग, १४ पूर्वो मे से भी किसी का परिज्ञान है अथवा सबका परिज्ञान है" जिनमे उतनी क्षमता आयी है कि मिथ्या-वादी पुरुषो के मदरुप घोर अन्धकार को ध्वस करने वाले जिनके वचन निकलते हैं, अर्थात् इतना विशिष्ट ज्ञान कि कोई मिथ्या प्रलाप करें तो ऐसे पुरुषो का मद अधकार दूर कर दे, ऐसे उपाध्याय परमेष्ठी होते है।

५- रत्नत्रयमूर्ति साधु परमेष्ठी के सत्सग मे आइये, पञ्चम छन्द का एक प्रवचनांश-रत्नत्रयमूर्ति साधु परमेष्ठी से अभ्यर्थना-अब सिद्ध परमेष्ठो को भक्ति मे कहते है कि जो सम्यग्दर्शनरूप दीप के प्रकाशक हैं जिनके दर्शनामात्र से भी निजतत्त्व से प्रभावित होकर मिथ्यात्व का वमन करके सम्यक्त्वका स्वाद लेते है, अथवा जो सम्यग्दर्शन दीपि से अन्त पूर्ण प्रकाशमान है, जिसका बहुत बडा भारी ज्ञान है, जिन को बडी लम्बी चारित्र पताका फहरा रही है ऐसे साधु के गुण हम सबकी रक्षा करें, वास्तव मे आत्मा का हित है तो सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान व सम्यक् चारित्ररूप परिणाम मे है। यह देह भी जिसको हम आप लोग लादे लादे फिर रहे हैं कल्पना तो करो कि जसे अन्य लोग मर गये और उनके शरीर जला दिये गये, राख हो गये ऐसे ही राख होने योग्य तो यह हम आपका शरीर है। इसको कब तक लादें, कब तक इसे सम्हारे, कब तक श्रृगार करे ? इस शरीर का तो मोह छोड दे, अर्थात् ऐसा ज्ञान बनाले कि मैं तो अकिञ्चन ज्ञानमात्र हू यह देह मैं कतई नही हू। यद्यपि देहका वर्तमान मे ऐसा बन्धन है कि देह को छोडकर मैं कहा जाऊ ? मुझ को छोडकर देह कहा जाय ? (जब तक आयु का उदय है तब तक की बात कह रहे हैं आगे भी यही बात है ससार मे इतनेपर भी जैसे दूध और पानी मिले हुए होने पर भी न्यारे न्यारे ही हैं इसी प्रकार यह जीव और यह देह इस समय एक क्षेत्रावगाही है तो भी न्यारे न्यारे ही हैं। इनका स्वरूप विपरीत है। आत्मा तो अमूर्त है। इसमे रूप, रस, गन्ध स्पर्श नही है और यह देह मूर्तिक है। एक दूसरे से बिल्कुल उल्टा है। आत्मा ज्ञान स्वरूप है इस देह में ज्ञान का नाम निशान भी नही है, इसमे तो हड्डी, चाम, खून, मास आदिक ये ही भरे पडे हैं। इनका स्वरूप ज्ञान

तो नही है। और मुझ आत्माका स्वरूपज्ञान है। तो इस देहसे मै अब भी न्यारा हूं। देह अज्ञान जड है और मूर्तरूप है। तो इस देह से यह मैं आत्मा अभी भी निराला हू ऐसा अपना सम्यग्ज्ञान हो विश्वास हो और इसी स्वरूप मे रमण करनेकी कोशिश करे तो यह तो है हम आपके लिये शरण इस भाव को छोडकर सहजस्वरूप को छोडकर अन्य कुछ भी शरण नही है।

६– मंगलमय प्रभु से मगलरूप निर्वाण परमश्री के लाभ को कामना कीजिये, पढिये आठवें छन्द का एक प्रवचनांश–मगलमय प्रभु से मगलरूप निर्वाण परमश्री के लाभ को कामना–अर्हन्त सिद्ध आचार्य, उपाध्याय और सर्वसाधु ये सब मेरे मगलरूप हो, और निर्वाणरूप परम लक्ष्मी को देव। अरहत–जिनके चार घातिया कर्म दूर हो गये है, जिनके रागद्वेष मोह का समूल नाश हो गया है, केवल ज्ञान के द्वारा जिनके ज्ञानमे सारा लोकालोक प्रतिभासित होता है, जिनके अनन्त ज्ञान अनन्त दर्शन, अनन्त सुख, अनन्त वीर्य प्रकट हुआ है ऐसे अरहत देव हम आप सबको मगल प्रदान करे। सिद्धभगवान–जिन्होने ध्यान रूपी अग्नि के द्वारा अष्ट कर्मो को दग्ध कर दिया है और जो जन्म जरा मरण से परे हो गये हैं, जिन्होने शाश्वत आत्मपद प्राप्त कर लिया है जो लोक के अग्रभाग मे निवास करते हैं, शरीररहित केवल ज्ञान मात्र, ज्ञान ज्ञान ही जिनका स्वरूप है, ऐसे देहरहित निष्कल परमात्मा हम आप सबको परमपद प्रदान करे। यद्यपि भगवान अपने अनन्तज्ञान और अनन्त आनन्द का अनुभव छोडकर भक्तो की पुकार मे भक्तो के अतिशय मे नही लगा करते है वे तो अपने ज्ञानानन्द मे मग्न रहा करते है किन्तु भक्तजन उनके इस विशुद्ध स्वरुप का निहार कर स्वय हो उस मार्ग मे लगते है। और परमपद प्राप्त करते हैं तो जिनका आलम्बन लिया था कल्याण प्राप्त करने वाले जीवों ने निमित्त दृष्टि से यह कहा जाता है कि प्रभु ने इनका कल्याण किया और यह बात आलम्बन प्रसग मे युक्ति सगत है।

(२४६) सहज परमात्मतत्त्व प्रवचन

अध्यात्म योगी पूज्य श्री सहजानन्द जी वर्णी महाराज ने सहज परमात्मतत्त्वाष्टक स्तोत्र बनाया था। जिसमे परमब्रह्मस्वरूपका स्तवन किया गया है। इस पर जो प्रवचन हुए। उसमें से निरखिये चैतन्य तेज, पृष्ठ ९– चैतन्य तेज–मैं वह तेज हू जिस तेजमे निरत होकर बहुतसे जीवोने निश्चल सहजउत्तम आनन्द पाया, पावेगे और पा रहे है, वह तेज एकस्वरुप है। बदल नही होती, मूल स्वरुप है। जो ध्रुव है, अनादि अनन्त शाश्वत है वह एक स्वरुप है। जैसे यहा पूछें कि पुद्गलमे, मानो किसी आममे जो ये रुप उत्पन्न हुए हैं काले, नीले, हरे, पीले आदिक और सडनेपर हो गया सफेद तो एक ही आममे जो क्रमसे इतने रग बदले हैं उन रुपोके बदलने पर भी रुप सामान्य तो कुछ रहा। जैसे कोई आदमी कही गया, कही पहुचा, कही अदल बदल किया है, किसी स्थानकी बदली को तो बदल करने वाला तो कोई एक ही है ना, तब तो बदल सम्भव है, तो इसी तरह जो ये रुप बदले हैं तो इन बदलनो को सतानमे कोई एक रुप शक्ति है ना ? वह रुप शक्ति कितनी तरह की है ? वह तो एक प्रकारकी है। अब उसमे जो परिणमन हुआ, पर्याय हुई, काला, पीला, नीला आदिक ये विभिन्न रुप बन गए, पर इनका जो आधारभूत स्वरुप है, शक्ति है वह एक स्वरुप है। इसी तरह हमारे आत्मामे जितनी भी बदल चलती हैं, परिणमन चलते हैं, अशुद्ध परिणमन तो प्रकट बदल है, शुद्ध परिणमनभी बदल है। तो उनका जो अशुद्ध शुद्ध परिणमन चलते हैं उनका मूल आधार कोई एक है ना ? पहिले अशुद्ध था अब शुद्ध हो गया तो कौन शुद्ध हो गया ? कोई दूसरा ? एक ही कुछ। तो इसी प्रकार मैं जो सत् हू वह एक हू।

परमब्रह्म गुप्त है इसका तथ्य समझिये, पृष्ठ ३४, सुरक्षित सहज परमात्मतत्त्व–गुप्तका अर्थ सुरक्षित

गो है। गुप्तका असली अर्थ सुरक्षित है, छिपा हुआ नहीं। गुपू धातुमें गुप्त बना है, जिसका अर्थ रक्षण है, पर रक्षणकी विधि हो यह है कि छुपा दिया जाय तो चीज रक्षित रह सकती है। किसी चीजको सुरक्षित रखना हो तो तिजोरीमें धर कर किवाड़ लगाया, ताला बन्द किया, तो चीज सुरक्षित हो गई, ऐसा हम सन्तोष और विश्वास करते है। तो सुरक्षित होनेका ढंग जो है वह छुपा हुआ समझनेके कारण लोगोंने गुप्त शब्दका अर्थ ही छुपा हुआ कर डाला, किन्तु गुप्तका अर्थ छुपा हुआ नहीं है, सुरक्षित है। तो इस सहज परमात्मतत्त्वका अभी छुपा हुआ गुप्तका अर्थ करके निरख रहे थे, अब जरा यह सहज परमात्मतत्त्व सुरक्षित है यह अर्थ ध्यानमें रखकर भी निरखिये। स्वत सहज सिद्ध सत्त्वके कारण जो सत् है उस सत्का कोई निवारण कर सकता है क्या ? उसमे कोई चोट पहुचा सकता है क्या ? तो मैं स्वय सहज स्वत सिद्ध जिस रूपमे हू वहा तो मैं परमात्मतत्त्व हू। उसका कोई निवारण नही कर सकता। वह सदा प्रकाशमान है। देखने वाले उसे देख सकते हैं। अज्ञानियोंको वह अव्यक्त है और ज्ञानियोंको सदा व्यक्त है, ऐसा गुप्त शुद्ध चैतन्यरूप मैं सहजपरमात्मतत्त्व हू।

सहजपरमात्मतत्त्व शुद्ध चैतन्य है इसका मम परिचय, पृष्ठ ६०, सहजपरमात्मतत्त्वकी शुद्धि का भाव—शुद्ध चैतन्यस्वरूप सुननेके साथ यह दृष्टि न लाये कि जो अरहत सिद्ध भगवानका निर्मल शुद्ध चैतन्य स्वरूप है उसकी दृष्टिका आश्रय करनेकी बात कही जा रही है। देखिये अनुपम अव्याबाध आत्मीय आनन्दके लाभके प्रसगमे उपायकी बात चल रही है ना, सो यद्यपि अनेक अशोंमे अरहत सिद्धके विशुद्ध स्वरूपकी भक्ति करना लाभदायक है, किन्तु साक्षात् इस विशुद्ध आनन्दके अनुभवनमे उस शुद्ध कार्य प्रभुके स्वरूपका चिन्तन भी बाधा दे रहा है तो इस प्रसगमे उस शुद्ध स्वरूपकी दृष्टिका आश्रय करने की बात नहीं कही जा रही, किन्तु शुद्ध चितस्वरूप जो अपने सत्त्वके कारण केवल अपने आपमे रहता है, परके सम्बन्धसे रहित, सम्बन्धके प्रभावमे हुए प्रभावोंसे रहित, परसे अत्यन्त निर्लेप केवल अपने आप के स्वरूपके ही कारण स्वत सिद्ध जो कुछ चित्भाव है उस स्वरूपकी दृष्टि की बात कही जा रही है। जो शुद्ध अरहत सिद्ध प्रभु है उनका हमपर बड़ा उपकार है। वस्तुत उनका उपकार नही, किन्तु उनके सम्बन्धमे जो हमने ज्ञान बनाया, ध्यान बनाया, हमारी इस परिणतिका हमपर उपकार है, पर उपकृत हुए व्यक्ति बहुमान उसको दिया करते है जिसका आश्रय करनेसे हमारा उपकार हुआ है। इतने पर भी अरहत सिद्ध भगवानकी भक्तिका उद्देश्य केवल भक्ति करते रहना नही है, किन्तु अपने आपकी उस विशुद्ध चित्शक्तिका अनुभव करना है।

(२४७) आत्मकीर्तन प्रवचन

महाराज श्री द्वारा रचित शान्त विरुवा आत्मकीर्तन पर महाराज श्री ने प्रवचन किये उनमे आत्मोपासनाके लिए उमग अनोखी भरी हुई है। उनमे से देखिये जो अपने स्वरूपको देखने चलता उसमें कोई बाधा नही दे सकता, पृष्ठ ३२—स्वरसदृष्टिने अन्यकी बाधकताका अभाव—स्वरूपदृष्टि कर लेने वाला पुरुष, अपने आपके सहज स्वरूपका अनुभवी पुरुष कभीभी यह विश्वास नही रखता कि मै किसी अन्यका हू या अन्यकाई मेरे है। मैं हू स्वतन्त्र हू, हू और परिणमता हू। इससे आगे मेरा कुछ काम नही। इससे आगे मेरा कोई सबध नहीं। जब कभी सबन्धभी मान रहे हैं, उस माननेकी स्थितिमे भी न मेरा कुछ है न किसीका मैं हू। ऐसा सबसे निराला अपने साधारण और असाधारण गुणोरूप मैं आत्मा हू। अनुभव करके किसी क्षण यह तो परख लीजिये पूरा उत्साह करके, श्रम करके कि मैं वास्तवमे हू क्या ? इस हू की समझमे बाधा डालने वाला कोई दूसरा नही है। जैसेकि कोई समझेकि भाई मेरी स्त्री उल्टी—उल्टी चलता है, मेरा पति योंही अटपट चलता है, मुझे चैन नहीं है मेरा लडका या मेरा पिता बिल्कुल

मुझसे फिरन्ट है, ये लोग मुझ पर रोब जमाते है। मैं क्या करू ? कैसे मुझे शान्ति मिलें ? अरे कोई कितना ही दबा रहा हो, कहा दबा रहा ? वह तो सिर्फ बात कर रहा, अपनेमे अपनी चेष्टा कर रहा, मैं अपने आपमे स्वय मे एक दृढ बनकर अपने मे दृष्टि करू तो इसमे बाधा देने वाला कौन ?

सिद्ध समान अपने स्वरूपका एक तथ्य पढ़िये, पृष्ठ ९८-अपने निरखने और निरखनेकी पद्धति-हम ज्ञाता द्रष्टा मात्र रहनेका यत्न करें, झट अपनेको सम्बोधते जाये, किन्ही भी प्रसगोमे अपने आपको सम्बोधते रहे-तू तो केवल प्रतिभासमात्र सत् है, इससे अधिक तू कुछ नही है। निहार लें, इससे आगे तो कल्पनायें करके अपनेको बहुरूपिया बना रहा है। तू तो एकरूप है, तो उस बहुरूपियाकी कल्पना करके एकरूप प्रतिभासमात्र अपने आपको प्रतीति करे तो इस नातेसे यह परख सकता है कि मम स्वरूप है सिद्ध समान। अपने आपको तो माना किसी पर्यायरूप बहुरूपियाके ढगसे और उसमे फिर यह कहा कि मेरा स्वरूप सिद्धके समान है तो इसका अर्थ है कि अपन तो खुद गये बोते रुलते रहे, गिर रहे हैं साथ ही भगवानको भी इसमे पटक दिया, रुला दिया, वह भी मेरे हो समान है, पर इनकी इस मजाकसे सिद्ध प्रभुमे कोई आच नही आयी, आच इन्ही मजाकियोपर आयो। मैं सिद्ध प्रभुके समान हू, यह बात तब हो विदित हो सकती, जब मैं अपने आपको कैवल्यके नाते केवल हो केवल अपने स्वरूपको निरखू, समझू, उपयोग लगाऊ। तो जहा शरीरका भान न रहे और रोमाच होता हुआ शरीर बना रहे, जहा केवल प्रतिभासमात्र अपनेको निरखे तो उस समय सत्य अद्भुत अनुपम आत्मोय आनन्द जागता है, तब उस अनुभवके बाद फिर विदित होता है कि ओह ! सिद्ध भगवान इस तरहका आनन्द निरन्तर लिया करते हैं। इससे भी उत्कृष्ट आनन्द अव्यावाध है उनका।

(२४८) परमात्म आरती प्रवचन

महाराज श्री द्वारा रचित एक परमात्म आरती है जिसमे मुख्यतया अविकारस्वरूप सहजपरमात्मतत्त्वकी उपासना है, साथही पच परमेष्ठीकी भो उसमे उपासना है। आत्मकीर्तन प्रवचनकी तरह इन प्रवचनोंमे भो आत्मोपासनाके लिये उमग भरी हुई है।

(२४९-२५१) अनुप्रेक्षाप्रवचन १, २, ३ भाग

इसमे स्वामीकार्तिकेय प्रणीत कार्तिकेयानुप्रेक्षा ग्रन्थ पर पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराजके प्रवचन हैं। अध्रुवभावनाके प्रवचनोमे अध्रुवभावनाका प्रयोजन क्या है, इसे पढें ४ वी गाथाके एक प्रवचनांशमे, पृ० ७-अध्रुवतत्त्वके व्यामोहसे छूटकर ध्रुवतत्त्वके परिचयके लिए अध्रुवभावना-इस लोकमे दृश्यमान यह सारा समागम विनाशीक है। इस विनाशीक समागममे अनुराग करने से कर्मबन्ध है मिथ्यात्वकी बढवारी है, अपनी बरवादी है, ऐसा जानकर ज्ञानी पुरुष अनित्यताका मोह छोडकर अपने नित्य ज्ञानमात्र स्वरूपकी उपासना करते है। तो अनित्यभावनामे यह विचार चल रहा है कि यह सवकुछ अनित्य है। इस विचार के साथ, अनित्य जाननेके साथ यह भी प्रतीति करना चाहिए और भाव रखना चाहिए कि इन सवमे जो द्रव्य है वह नित्य है। उस द्रव्यके लक्ष्यसे कोई व्यवहार करता ही नही है। मैं जो आत्मद्रव्य हू, नित्य हू, यह मैं आत्मद्रव्य नित्य किसी से व्यवहार नही करता तथा कोई इस मुझ नित्य आत्मद्रव्यसे व्यवहार नही किया करता। जो कुछ पहिचान हो रही है, जो कुछ लडाई हो रही है, जो कुछ झमेला चल रहा है, वह सब इन दृश्यमान पुद्गल स्कधोंके साथ और झमेला कर रहा है यह भूला भटका व्यामोही ससारी जीव। अपनेको दुखसे छूटना है, शान्ति मे आना है तो उसके लिए एक मात्र यही उपाय है कि हम अध्रुव परतत्त्वोसे दूर हो और ध्रुव ज्ञानमात्र अतस्तत्त्वमे प्रतीति बनाये।

अन्त स्वरूपमे रहने से ही अपना शरण मिलेगा। पढ़िये २८ वी गाथाका एक प्रवचनांश–पृ० ३५–परोपयोग वासना हटाकर अन्त स्वरूपमें रमनेसे ही वास्तविक शरणलाभ–कुछ समझदार लोग भी दुर्गा, काली आदि की उपासना इसी मान्यताके रूपमे करते है, पर उसका अर्थ बदल देते हैं, जिससे स्पष्ट घटपटापन न आये। दुर्गा एक शक्ति है, उस शक्तिकी उपासना करना चाहिए, इतना तक भी अर्थ बनाकर मान्यता वही रखते हैं। कोई शक्ति है हमको सुरक्षित रखनेकी तो वह है एक आत्मानुभूति, उसी को दुर्गा माने तो इसमे कोई विरोधकी बात नही है। शब्दके अर्थ से भी जाहिर होता है कि जो दु खेन गम्यते, अर्थात् जो बडे कष्टसे जाना जाय, पाया जाय, उसे दुर्गा कहते हैं। आत्मानुभूतिका पाना बडा दुर्लभ है। तो वह शक्ति मुझमें है, उसकी उपासना करें। तो लोग व्यामोहवश कुछ समझदार होने के कारण शब्द बदल देते है, पर उपासना उसी रूपमे करते हैं, श्रद्धा उसी रूपमे रखते हैं। कोई मुझसे भिन्न शक्ति है जो मुझे बरबाद करने पर भी तुल सकता है, उसे प्रसन्न करें यह भाव फिर भी उनका नही मिटता। यहा मणिभद्र आदिक अनेक नाम लेकर उन यक्षोकी उपासना करते हैं पर सुरक्षित कोई नही रह पाता। यह सब मिथ्यात्व का ही तो माहात्म्य है कि कुछ समझदार होकर भी बुद्धि विपरीत हो गई। यह गहन मिथ्यात्व का ही परिणाम है जो अपनी रक्षा के लिए इन बाहरी देवी देवता, मत्र, तत्र, ग्रह आदि की मनौती मे रहते है, इनका जाप जपते है, इनको अपना सर्वस्व समर्पित करनेका भाव रखते हैं यह सब एक बडे व्यामोहका काम है। जान रहे है ये जीव कि यहा मेरा कोई शरण नही है,सब अशरण हैं, तिस पर भी शरण माननेकी भीतरसे वासना नही गयी। जिस चाहे किसी को शरण मानकर उसकी उपासना करने आने आपको मृत्युसे बचने की प्रार्थना करते है, लेकिन मृत्यु है ही कहा जीवको। स्वरूप निरखें और मृत्युपर विजय प्राप्त करें फिर इस जीव पर कोई सकट नहीं है।

ससार भावनाके प्रवचनोमें गाथा ४१ का एक प्रवचनांश पढ़िये, विदित होगा कि सकट जो यहा मेहमानी कर रहे हैं वह सब अपने अपराधका प्रताप है, पृ० ६०–अपने अपराधसे सकटोकी मेहमानी–सकट तो यह हमने अज्ञानसे पैदा किया है। जो मैं नही हू उसे मानू कि मैं हू, तो सकट तो होगा ही। जब लोक मे भी यह बात देखी जाती कि जो घर आपका नही है उसे मान लीजिये कि यह मेरा घर है, उस पर आप अपना अधिकार जमाना चाहे तो सकट न आयगे क्या? अथवा जो स्त्री आपकी नही है उसे आप समझ बैठे कि यह मेरी है और उसके सग आप वैसा ही व्यवहार करे तो सकट न आयगा क्या? जब लोकमे भी इस व्यवस्थाके अन्तगत जो चीज मेरी नही है उसे मेरी मानें तो दु ख आता है तो फिर परमार्थसे जो चीज मेरी नही है उसे माने कि यह मेरा है तो वहा सकट तो आयगा ही। कर्मबन्ध होगा, बुरी तरह जन्म मरण करना होगा। इससे इस यत्नमे रहें, इस ज्ञानमे रहे, इस दृष्टिमे रहे कि मेरा तो मात्र मे ज्ञानानन्दस्वरूप हू। इस ज्ञानानन्दस्वरूपके सिवाय मेरा जगतमे कही कुछ नही है। जिस जिसको मैं अपना मानता आया था वे सब पर हैं। ऐसी भूलको निकालें और अपने आपके स्वरूपकी दृष्टि करे, अपने को पाये, अपने निकट रहे तो इस सकट भी टलेंगे और तुरन्त भी बहुत बडा आनन्द होगा। इस आत्मानुभवको प्रगमा करके हम उस आत्मानुभवका यत्न क्यो नही करते? आत्मानुभव होगा तो ये चतुर्गतिके दु ख टल जायेंगे, निर्वाणपद प्राप्त होगा। इसलिए आत्माके जानने मे, आत्माके निकट बसनेमे अपना साहस बनाये और प्रयत्न करे।

सकटमोचक ज्ञानस्वभावकी दृष्टिसे आत्माका लाभ है, मनन कीजिये ७५ वी गाथा के एक प्रवचनांशमे, पृ० १२२–सकटमोचक ज्ञानस्वभावकी दृष्टिमे आत्मलाभ–सकटमोचक ज्ञानस्वभावकी दृष्टि पानी है

कितनी कीमत चुकाकर ? अरे तन, मन, धन, वचन सब कुछ न्यौछावर करके भी अपने आत्मा के ही स्वरूपदर्शनकी बात पावो है। कुछ न रहो, केवल एक स्वरूपदर्शन हो तो समझिये कि मुझे सब कुछ वैभव मिल गया। मैं स्वरूपमे एक हू, मेरा स्वरूप किन्तु बहुत दृढ है। इसमे किसी दूसरेका प्रवेश नही हो सकता। यह मैं हू, दूसरो चीजको दिलमे बसा बसा कर बोझ वाला बन रहा हू। यह स्वय निर्भर है, वह एक ज्ञानज्योतिस्वरूप है। उसमे बोझ नही है। विकल्पोका बोझ हमने अज्ञानसे स्वय लादा है। जब कभी प्रेमवश किसो को इसके अनुसार हम उलझनमे आ जाते हैं, चिन्तामे आ जाते है तो उस चिन्ताके मेटनेका जरा सा ही तो उपाय है। उस मोह को छोड दिया जाये बस सारी चिन्ताये दूर हो जायेगी। मोह छोडनेके मायने है सत्य ज्ञानप्रकाश करले। सच्ची बात जाननेमे कसूर है क्या ? सच्ची बात जाननेमे कुछ मेहनत हो रही है क्या ? कोई अडचन है क्या ? सच्ची बात जानने की तो भीतरमे प्रकृति पडी हुई है। असत्यको देखकर हम राजी होते है सत्य समझकर। तो यथार्थत. सत्यका निर्णय करता है यही मोहका त्याग है। मैं मैं हू, पर पर है, मेरा किसी परसे कोई लगाव नही है। मैं अपने उत्पाद व्यय किये चला जा रहा हूं। ऐसा यह मैं एक हूं. ऐसे अपने एकत्वस्वरूपको निरखना यही है आत्मकल्याणका विफल न हो सकने वाला एकमात्र साधन। उस एकपनेको मैं निहारू और सर्वसंकटो से मुक्त होऊ।

अन्यत्वभावनाके प्रवचनोमे प्रसगवश बताया है कि लोगोको यह भ्रम कैसे हो गया है कि इन्द्रियोसे ज्ञान अथवा सुख मिलता है, पढिये ८१ वी गाथाके एक प्रवचनांशमें–पृ० १३६–१४०–इन्द्रियोसे ज्ञान और सुख मिलनेका भ्रम होनेका कारण–हम ससारी जीव इस समय जो कुछ ज्ञान करते है और आनन्द पाते है उसमे आश्रय इन्द्रियका होता है और इन्द्रियका आश्रय होनेसे अर्थात् मति, श्रुत, ज्ञानकी उत्पत्ति तथा वैषयिक सुखकी उत्पत्ति इन्द्रियके कारण होनेसे जीवको यह भ्रम हो गया है कि ये इन्द्रिया जानती है, सुख भोगती है, इनके ही कारण मेरा ज्ञान और आनन्द है, लेकिन इस जीवमे स्वय ज्ञान और आनन्द का स्वभाव न हो तो इन जड इन्द्रियोके माध्यमसे भो क्या कोई ज्ञान और सुख पाया जा सकता है ? तो जो स्वय ज्ञानमय है, स्वय आनन्दमय है उसको पकड होना चाहिए। यह जगत मायाजाल है, इसमे सब जीव ज्ञानमय है, स्वय आनन्दमय है, उसकी पकड होना चाहिए। यह जगत मायाजाल है, इसमे सब जीव भूले भटके फिर रहे हैं। बाह्य पदार्थो मे प्रीतिकी उत्सुकता होनेसे प्राय. ये जीव अधेरे मे है। यहा लोग बडप्पन भिन्न भिन्न बातोमे मानते है। कोई बडा अधिकारी बननेमे, कोई बडा धनिक बनने मे, कोई ज्ञान वाला बननेमे, कोई किसी ही बातमे अपना बडप्पन मानते हैं। सो ठीक है, लेकिन यह मैं आत्माराम तो उन सब विकल्पोसे हटकर निर्विकल्प अविकार, सहजज्ञानस्वभावकी उपासनामे लगता हू। इस मेरेका दुनियाके लोगोसे सम्बन्ध क्या ? यहा कोई मदद कर सकने वाला नही है, किन्ही के द्वारा हमारे प्रति किए जाने वाले सम्मान अथवा अपमानसे लाभ अथवा हानि क्या ? मै तो एक सत् पदार्थ हू, अतएव उत्पाद व्यय ध्रौव्यस्वरूप हू, अपने आपमे उत्पाद व्यय ध्रौव्य किये चला जा रहा हू, हा जगतका ऐसा निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है, विभावपरिणामोसे परिणमने वाले पदार्थो का ऐसा हो योग है कि अन्य पदार्थो का आश्रय पाकरनिमित्त पाकर परिणतिया चल रही हैं, लेकिन सब कुछ चल रहा है, हो रहा है मेरा मेरे अकेलेमे हो। किन्ही दो पदार्थो का मिलकर एक परिणमन नही बनता।

अशुचि भावनाका लाभ कौन पा सकता है, पढिये ८८ वीं गाथा के एक प्रवचनांशमे–पृ० १५१–अशुचित्वानुप्रेक्षणका फलाधिकारी-यह अशुचिभावनाकी अन्तिम गाथा है। यहा आचार्य कहते है जो दूसरेके देहमे विरक्त है और जो अपने देहमे अनुराग नहीं करते हैं वे आत्माके स्वरूपमें रुचिवान होते हैं।

उनकी ही अशुचि भावना सफल है। यह देह गंदा है ऐसा परिज्ञान कर लेने से लाभ क्या ? लाभ यही मिला कि देहकी अशुचिताको, असारताको जानकर प्रथम तो यह दूसरेके देहोसे विरक्त हो, उन अशुचि देहोमे क्या रमना ? यह तो पालते पोषते हुए भी रहता नही है, किसी दिन मिटेगा। कुछ दिनोमे मिटे या अभी जल्दी ही मिट जाय, मिटेगा अवश्य। तो इस मिट जाने वाले देहमे क्या अनुराग करना ? तो परदेहसे विरक्ति हो। इस अशुचि भावना पाने वाले ज्ञानी पुरुष ने अपने देहमे अनुराग नही किया तब यह आत्माके स्वरूपमे लीन हुआ। उपयोग कही तो जायगा ही, कही तो लीन होगा ही। अब परदेहमें तो यह अनुरक्त होता नही, क्योकि यथार्थ ज्ञान उत्पन्न हुआ है, अपने देहमे भी अनुराग करता नही, तो उपयोग कहा जायेगा ? निःसदेह ही अपने आपके स्वरूपमे लगेगा। तो जो इस प्रकार परदेहोसे विरक्त होकर और निजदेहमे भी विरक्ति करके अपने आपके स्वरूपके उपयोगमे लगता है उसकी ही अशुचि भावना सफल है।

पापोदयमे हानि नही, किन्तु पापात्मा बननेमे अवश्य हानि है, इसका परिचय करिये ११० वी गाथाके एक प्रवचनांशमे—पृ० २०९—पापोदयमे हानि नही, किन्तु पापात्मा होनेमे हानिका नियम—अब आप समझ लीजिये इस दृष्टिसे कि कोई नारकी नरकमे दुःख सह रहा है, सम्यग्दृष्टि नारकी है, एक तो उसकी स्थिति और एक यहा का पुण्यवान मनुष्य ऐसा जो कि विषयभोगोमे लीन है और अपने विषय साधनो की वृद्धि के लिए, राजपाट शासनकी वृद्धिके लिए अनेक राजाओको सताता है, अन्याय करता है और अपने विषयभोगोमे मस्त रहनेकी धुन रखता है। तो इन दो जीवोमे बुरा कौन है ? वह नारकी बुरा नही है, उसके तो पापका उदय है, पर आत्मा पापी नही बन रहा, वह विवेकी है, सम्यग्दृष्टि है, आत्मतत्त्वका चिन्तन करता है। वह पापात्मा नही है और यह मनुष्य जो बहुत पुण्यके ठाठमे रहता, अपने विषयसाधनोके बढानेके लिए अन्याय भी करता है, यह पापका आत्मा है। तो पापात्मा होने से हानि है, पापका उदय भोगनेसे हानि नही है।

परमनिर्जरा किसके होती है, यह जानकर उस पथके लिए अपना कुछ कर्तव्य निभाइये, मनन कीजिये ११४ वी गाथाका एक प्रवचनांश—पृ० २१६—निर्जराका फल अधिकार आदि जानकर अपने कर्तव्यके पालन का अनुरोध—जो समताके सुखमे लीन होता हुआ बार बार आत्माका स्मरणकरता है वह इन्द्रिय कषाय पर विजय करने वाला महाभाग भव्य जीव शान्तिका अनुभव करता हुआ उत्कृष्ट निर्जरा को करता है। इस जीवने पहिले कषाय और योगके कारण अनेक कर्मबन्ध किया था। आजके समयमे हम आपके जीवके साथ या जगतके किसी भी जीवके साथ कितने भवोके कर्म बंधे हुए लदे हैं इसका उत्तर हजार लाख भव तकके कहनेमे भी नही बनाता। अनगिनते भवो तक के भी बन्धे हुए कर्म इस जीवके साथ लगे हुए हैं। उन उदय प्राप्त अनेक निषेकोका उदय तो आ रहा है एक साथ और जिनका उदय आ रहा है वे कर्म करोडो वर्षो के बन्धे हुए है, तब जीव पर कषायोका बडा आक्रमण है निमित्तदृष्टिसे कर्मोका और उस समय जीव जो अपने स्वरूपसे च्युत होकर परभावोमे लगता है यह आक्रमण इस जीव पर इस आत्मदेवपर कितना भयकर आक्रमण है जो ससारमे जन्म मरण कराने का कारण बनता है। तो उन कर्मो की निर्जरा किए बिना हम आपका भला नही हो सकता। यहा चार दिन की यह चादनी दिख रही है, कुछ वैभव प्रसग आ रहे है जिनमे अपने मनको स्वच्छन्द बनाया जा रहा है, हठ की जा रही है, ऐसा यह समय तो स्वप्नवत् हो जायेगा यहाके किए हुए पापके फलमे इसे जन्म मरणकी परम्परामे बहना होगा। तो कर्तव्य यह नही है कि जैसा मनने चाहा वैसा ही हठ करके अपना मन खुश रखना। कर्तव्य यह है कि ऐसे पुरुषार्थ करना जिन कार्यो से कर्मो के निषेक निर्जीर्ण हो।

लोककी जानकारी व भावनासे हमे क्या क्या शिक्षायें प्राप्त होती है, इसका परिचय पाइये सक्षेपमे १२१ वी गाथाके एक प्रवचनाशमे, पृ० २३५—लोकभावनासे प्राप्त शिक्षायें—लोकभावनामे जो कुछ भी वर्णन चलेगा उससे बहुत शिक्षा मिलेगी। जैसे लोकके विस्तार का वर्णन आयगा तो वहा हमे यह शिक्षा मिलती है कि इस लोकमे कोई प्रदेश ऐसा नही बचा—जहा यह जीव अनन्त बार जन्म मरण न कर चुका हो। लोकमे कोईपदार्थ ऐसा नही बचा जिसे इस जीवने अनन्त बार भोगा न हो। लोककी रचना जानकर पुण्यका फल कहा विशेष मिलता है, पापका फल कहा विशेष मिलता है, यह स्पष्ट जानकारी रहती है। लोग कह तो देते है कि पाप करने का फल नरक गतिमे जन्म लेना है पर नरक कहा है, किस प्रकारसे नारकी जीव रहते हैं, यह सब वर्णन समझने के बाद यह बात ज्ञानमे और स्पष्ट रहती है कि पापके फलमे नियमसे नरक जाना पडता है। लोग कह तो देते हैं कि पुण्यका फल है स्वर्गोंमे जन्म लेना, पर स्वर्ग कहा है, किस प्रकार से स्वर्ग मे रहने वाले जीवोकी देह है, कैसी आयु है, कैसा उनका भोगोपभोग है, इन सब बातोका जब परिचय मिलता है तो यह बात ज्ञानने अधिक स्पष्ट हो जाती है कि पुण्यका फल स्वर्गमें उत्पन्न होना है, धर्मका फल सिद्ध होना है। धर्म नाम है आत्माके स्वभावका अवलोकन करना और उस स्वभावमे हो रमना और उनका फल है सिद्ध होना। तो वे सिद्ध कहा रहते है, कैसी उनकी स्थिति है ? इसका परिचय होने पर धर्मका फल सिद्ध होना है और उन सिद्धोमे ऐसा अनन्त आनन्द है ये सब बातें जाननेमे आसानी हो जाती है।

जिन कीट पतिंगे आदि जीवोंके मन नहीं उनके आहार आदि कैसे हो जाते हैं, इस शकाका निवारण कीजिये व मनका कार्य समझ लीजिये १४० वीं गाथाके एक सक्षिप्त प्रवचनाशमे, पृ० २६५—सज्ञाओ व मन का कार्य—देखिये जिनके मन नही है ऐसे जीवोके भी आहार, भय, मैथुन, परिग्रह ये चार सज्ञाये है। कोई यह सदेह न करे कि इन दोइन्द्रिय आदिक जीवोमे मन नही है तो ये आहार कैसे ढूढते और करते है ? आहार आदिकके करने के लिए मनकी आवश्यकता नही है। मन होगा जिसके तो वह जरा कला पूर्वक आहार आदिक कर लेगा, इतना ही अन्तर होगा। पर मनका काम आहार कराना नहीं, यह तो सज्ञाओका काम है। मनका काम तो असली हित और अहितका विवेक कराना है। यह काम करने योग्य है, इस प्रकार का हेय उपादेयका विवेक कराना मनका काम है। अब यदि कोई मन वाला जीव मनका शुद्ध उपयोग नही करता और इन्द्रियविषयोमे ही मनको लगाकर अशुद्ध उपयोग करता है तो इसमे उसका ही दोष है। मन तो कहते है कि जिसके द्वारा हित अहित का विवेक किया जा सके। करे अथवा न करे, यह उसकी कषायके अनुसार है।

कोई दार्शनिक मानते हैं कि आत्मा और ज्ञान भिन्न भिन्न पदार्थ है, उनकी समीक्षा देखिये १७८ वीं गाथा के एक प्रवचनाशमे—पृ० ३२७—३२८—ज्ञानको जीवसे सर्वथा भिन्न मानने पर गुणगुणिभावकी असभवता—यदि ज्ञान जीवका सर्वथा ही भिन्न हो तब तो उसमे गुण गुणी भेद भी नही बन सकता। याने न इस तरह भी जीवका और ज्ञानका सम्बन्ध माना जाय कि जीव जनक है और ज्ञान जन्य है। जीव ज्ञान को उत्पन्न करता है इतना भी सम्बन्ध नही माना जाय अथवा ज्ञान आत्माका स्वभाव है यह भी सम्बन्ध नही माना जाय अथवा ज्ञान विभाव होगा, जीवका ही एक अग है इस तरह भी न माना जाय। किसी भी प्रकार से सम्बन्ध न माना जाय तो फिर जीव और ज्ञानमे यह जीव गुणी है और यह ज्ञानगुण है यह बात दूर से ही खतम हो जायगी। जीवमे ये बातें जन्य जनक भावसे देखी जाती है और कई लक्षणस्वभावरूपसे देखी जाती है। और उसमे कोई लक्षण स्वभाव और विभाव रूपसे देखा जाता है। जैसे जीव दर्शन ज्ञान आदिक भावोको उत्पन्न करता है। मतिज्ञान श्रुतज्ञानादि अनेक भेद

हैं, उनका उत्पादक है जीव,यो भी देखा जाता है। ज्ञान आत्माका स्वभाव है, यो भी परखा जाता है। उन ज्ञानोमे कोई ज्ञानस्वभावज्ञान है, कोई ज्ञान विभावज्ञान है और वहा ज्ञानस्वभाव एक स्वभाव है और जितनी भी उसकी व्यक्तिया है वे सब परिणतिया हैं। यो अनेक प्रकार के जीवमे अभेदरूप से गुण देखे जाते हैं, परिणतिरूपसे भी देखे जाते है, लेकिन जो गुण और गुणोको सर्वथा ही जुदा समझे उसने तो इतना कहने का भी अवसर नही रखा कि ज्ञान गुण है और जीव गुणी है। देखिये–जो अत्यन्त भिन्न चीज है उसमे गुण गुणीका सम्बन्ध नही घटित होता। जैसे हिमालयपर्वत कहा पडा है और विन्ध्याचलपर्वत कहा पडा है? दूर दूर हैं, सैकडो कोशो का अन्तर है तो क्या वहा यह कहा जा सकता है कि विन्ध्याचलका ता है हिमालय या हिमालयका विन्ध्याचल या इनमे एक गुणी है एक गुण है, जो अत्यन्त भिन्न चीज है उसमे गुण गुणोकी बात नही देखी जाती, इसी तरह यह जीवको न्यारा माना और ज्ञानगुणको न्यारा माना तो उनमे भी गुण गुणी भेद सिद्ध नही होते।

आत्मा स्वय तीर्थ है, इसका परिचय प्राप्त करिये १६१ वी गाथाके प्रवचनमे–पृ० ३३९–रत्नत्रयरूप दिव्य नौका द्वारा ससारसे तिर सकनेका सामर्थ्य–जीवका अस्तित्व न मानने वालोको स्थूलदृष्टिसे जीव की सत्ता समझाते हुए अन्तमे यह कह रहे हैं कि देखो यही जीव रत्नत्रयसे सहित होता है तो वह उत्तम तीर्थ कहलाता है। तीर्थ जावो, तीर्थकी वन्दना करो, इसका सीधा अर्थ यह है कि इस आत्माका जो विशुद्ध स्वरूप है, उसकी ओर उस विशुद्ध स्वरूपकी उपासनामे जो लगे हुए रत्नत्रयधारी पुण्यात्मा हैं उनके स्वरूपको उपासनामे ज्ञानको ले जावो। यही उत्तम तीर्थ है। ऐसा पुरुष क्यो तीर्थ है कि वह रत्नत्रयरूपी अलौकिक नौकासे ससारको पारकर लेता है। उसेतीर्थ कहते है। यह रत्नत्रय आत्माका ही धर्म है इसलिए इस आत्माको ही तीर्थ कहते हैं। तीर्थ यह आत्मा इसलिए भी है कि स्वय भी ससारसे तिर जाता है और दूसरोको भी ससारसे तिरानेमे निमित्त होता है। परमात्मा अरहतका उपदेश यदि आज इस परम्परामे न मिलता तो हम आप आत्माके रहस्य को कैसे जानते? तो देखिये–उन प्रभु तीर्थंकरोने हम लोगोके तिरानेका भी साधन बना दिया ना, तो ऐसे पुण्यवान जीव स्वय भी ससार से तिर जाते हैं, दूसरेको तिरानेमे कारण भी होते हैं। पुण्यवानके मायने यहा समझिये पवित्र स्वभावमे रहनेवाले पवित्र आत्मा। यही एक उत्कृष्ट तीर्थ है जहा पूर्ण शान्ति प्राप्त हो सकती है। जो शान्तिका उपाय बना सकता है उस जीवका निषेध ये चार्वाक लोग कह रहे हैं। तो जो जीवके रहस्यको ही नही जानता वह अपना कल्याण कैसे कर सकता है? जीव है और उसे अपने आपके सत्य स्वरूपमे अनुभविये, इससे ही ससारके सारे सकट दूर हो सकते हैं।

(२५२–२५४) अनुप्रेक्षाप्रवचन ४, ५, ६ भाग

स्वामि–कार्तिकेय विरचित कार्तिकेयानुप्रेक्षाकी १६२ वी गाथासे ३२६ वी गाथा तक पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराजके प्रवचन हैं। शान्तिमार्गदर्शक पद्धतिसे जीवोंके भेद बताकर उनका विवरण इस प्रकरणमे है उसकी भूमिकामे उन भेदोकी विधि देखिये १६२ वी गाथाके एक प्रवचनाशमे, पृ० १–जीवोके भेदोका शातिमार्गदर्शक पद्धतिसे वर्णन–शान्तिके लिए एकप्रधान साधन है पदार्थका यथावत स्वरूप समझ लेना। जीव की शान्तिका सम्बन्ध ज्ञानके साथ है, धन वैभव इज्जत और और भी बाहरी चीजें समागम कुटुम्ब इन के साथ नही है। ज्ञान सही होगा, अपना मन वश होगा ज्ञान द्वारा अपने आपमे बसे हुए सहज भगवानके दर्शन किये जाते होगे तो वहा तृप्ति है, सन्तोष है, शान्ति है और जहा ज्ञान नहीं है वहा पूर्वकृत पुण्यके उदयसे चाहे कुछ वैभव मिल जाय, चाहे कितनी ही लौकिक प्रतिष्ठा हो जाय, किन्तु वहा शाति नही है। शान्तिके लिए किसी भी बाहरी कमी विघ्नरूप नही होती। अपना परिज्ञान हो तो वहा शाति

नियमसे है। उस ही ज्ञानके प्रकरणमें लोकानुप्रेक्षामे ६ द्रव्योका किस किस प्रकारसे स्वरूप है ? यह बतानेके लिए यहा दूसरी प्रकार से जीवोका भेद प्रभेद बताया जा रहा है। जीव तीन प्रकारके होते है—बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा। जीवकी यह त्रिविधता सबने स्वीकार की है। कोई जीव, आत्मा, ब्रह्म, इस प्रकारसे तीन मानते है, कोई अज्ञानी, ज्ञानी और प्रभु ये तीन प्रकार कहते है। यह त्रिविधता सबको माननी पडेगी जो जीवतत्त्वमे आस्था रखते है।

अन्तरात्माके भेद नही होते, इससे सम्बन्धित प्रवचनोंमे से पढिये १९४ वी गाथाका एक प्रवचनांश—अन्तरात्माके कुलमद व जातिमद नही होता है, पृ० १७-१८—अन्तरात्माके कुलमद व जातिमदका अभाव—किन्ही को कुलका मद रहता है। मेरा बडा श्रेष्ठ कुल है। अरे श्रेष्ठ कुल है तो इसके लिए है कि हम धर्म-पालनमे आगे बढे। अगर कुलका मद करके इस तरह अपने को हीन कर देते कि आगे ऐसा कुल न मिले, नीच कुलमे, नीच योनियोमें जन्म लेना पडे, यह होना है कुलमदका प्रभाव। किन्ही को अपनी जातिका मद रहता है, अजी मैं ऐसे घरानेका हू, मेरी मा बडे घराने की है, कभी दरिद्रता आ जाय तो अपने कुलकी और जातिकी अपने पहिले हुए उन पुरुषोंकी तारीफ करके अपने आपको श्रेष्ठ मानना चाहते हैं। यह सब क्या है ? ये सब कुल और जातिके मद है। ज्ञानी जीव जानता है कि मेरा कुल तो मेरा चैतन्य है, मेरी जाति तो मेरी चेतना है और यह बाहरी कर्मोदयवश पर्यायमें कुल और जाति का व्यवहार है। मैं हू एक चैतन्यस्वरूप। मेरा वश है चैतन्य। मेरा कुल चलाने वाला मै ही हू लोग सन्तानसे यह आशा रखते हैं कि यह मेरा कुल चलायगा, मेरा वश चलायगा, लेकिन यह विदित है कि मेरा वश तो केवल चैतन्यभाव है, यही मेरा साथी रहेगा। जो अन्वय रूपसे हो वही तो वश है। उस चैतन्यवशको पवित्र करने वाला मैं ही मात्र तो हू। दूसरा कोई मेरे वशको पवित्र नही कर सकता। ज्ञानी जीव को कुल और जाति का मद नही रहता। ये अन्तरात्माके लक्षण बताये जा रहे है कि वह कितना नम्र होता, कितना भक्त होता है और कैसी उसके अतरगमें अभिप्राय रहता है। जो अत.स्वरूप को जानता है, अन्तस्वरूपको मैं आत्मा हू, इस तरह मानता है उसे अन्तरात्मा कहते है।

पुद्गलका स्वरूप जानकर व पुद्गलकृत उपकार जानकर शिक्षा यह लेनी है कि पुद्गलकृत उपकार मे मेरी प्रीति न जगे, इसका दिग्दर्शन कीजिये २०९ वी गाथाके एक प्रवचनाशमे—पृ० २३—उद्दिष्टाहारत्यागका तथ्य—उद्दिष्ट त्यागके विषयमे कुछ लोग भ्रान्त धारणायें बनाते है, सोचते है कि साधुका ख्याल करके हो तो लोग साधुका आहार बनाते हैं, तब दोष लगता होगा, लेकिन उद्दिष्ट दोषके सम्बन्धमें मुख्य बात यह जानना चाहिए कि यदि घरमे केवल साधुके लायक भोजन अलगबना लिया जाय और सबके लिए अशुद्ध भोजन बनाया जाय, जैसा कि रोज रोज भोजन बनता रहता है अलग चूल्हेपर, तो वहा उद्दिष्ट दोष आता है। यदि एक दिन भी और ऐसा सकल्प करके भी कि मै साधुको आहार दूगा और सभी लोग शुद्ध भोजन करें, किसी दूसरे चूल्हे पर अलग से भोजन न बने तो उस भोजनमे उद्दिष्टका दोष नही होता। अतिथि सम्विभाग व्रत जब दूसरी प्रतिमामें लिया गया है तो वहा सोचता ही है यह व्रती कि मैं अतिथिको आहार देकर भोजन करूगा तो क्या सोचने मात्रमे उद्दिष्ट दोष होता है ? जिसने अतिथि सम्विभाग व्रत लिया वह रोज ही सोचता है, रोज ही सकल्प करता है वह तो उसका व्रत है। दोषकी बात होती तो व्रत क्यो कहलाता ? तो उद्दिष्ट दोषका मूल साधन है कि वह केवल साधुको भोजन अलग से बनाये। और, अपने लिए, परिजनोके लिए अलग बने तब उसके लिए बना हुआ भोजन उद्दिष्ट है। जिस भोजनको सब करेंगे, लेकिन यह नियम न रखे कि यह चीज साधुको ही दी जायगी, वहा दोष नही है। वहा तो यह विचार है कि आज यह भोजन तो सभी के लिए है। हा

आज इतनी विशेषता कर दी कि सारा भोजन शुद्ध बनेगा। तो ऐसा करने में उस श्रावकको दोष न आयगा। जो भोजन केवल साधुके लिए बनता है वह उद्दिष्ट दोषयुक्त भोजन है।

पुद्गलका स्वरूप जानकर व पुद्गलकृत उपकार जानकर शिक्षा यह लेनी है कि पुद्गलकृत उपकारमें मेरी प्रीति न जगे, इसका दिग्दर्शन कीजिये २०९ वी गाथाके एक प्रवचनाशमे–पृ० ९०–पुद्गलकृत कार्यो मे प्रीति न करने का निश्चय–इस प्रकरणको सुनकर हमे इस निर्णयमे आना चाहिए कि जो जो पुद्गलके उपकार हैं उनमे मेरेको प्रीति नही करना है। जीवन और मरण भी पुद्गलके उपकार बताये गये थे, उस ही से सम्बन्धित यहा मरणकी बात कह रहे है कि मरण नाम है किसका ? प्राणापान जो क्रिया चल रही है, स्वास लेने और फेकने की जो क्रिया चल रही है इस क्रिया विशेषका विच्छेद हो जाय यह क्रिया समाप्त हो जाय तो इसी का नाम मरण है। जीवने आयुके उदयसे भोग पाया था, अब उस आयुके क्षयसे सम्बन्धित यह प्राणापान क्रियाका बिच्छेद हो जाना वही मरण है। तो ये सुख दुःख जीवन मरण आदिक सब पौद्गलिक हैं, क्योकि मूर्तिमान कारणके प्राप्त होने पर ही ये चीजें उत्पन्न होती हैं।

कालका स्वरूप जानकर अपने को अपने हितमें क्या निर्णय बनाना है, इसका निर्देश लीजिये २२० वी गाथाके एक प्रवचनाशमे–पृ० ११०–१११–व्यवहारकालके स्वरूपको जानकर अपनी समझ बनानेकी सत्य दिशाका निर्देश–इस अनादि अनन्तकाल परिणमनको जान कर अपन आपके बारे मे भी कुछ समझना है। मै अनादि से हू, अब तक हू, अनन्त काल तक रहूगा। तो अब तक की जो हमारी स्थितिया गुजरी हैं वे सब खोटी गुजरी हैं। जन्म–मरण किया है। मरण किया, जन्म लिया, सारी जिन्दगी मोहमे, कषायोमे बितायी, फिर मरण किया। मोहमे जन्मे, मोहमे जिये और मोह में ही मरे, ऐसी स्थिति जीवोकी अब तक चली आयी है, लाभ कुछ नही मिला। अब अपना कर्तव्य यह है कि अपनी स्थिति को बदलें, कुछ सत्य ज्ञानकी ओर आयें, अब तक जो हुआ सो हुआ, उसका क्या खेद करें ? जो होना था हुआ। अब जान लीजिये कि जो कुछ भी अभी तक हुआ वह मिथ्या था, मायारूप था, तो यह जानकारी हमारे हितके लिए है। अब आगे की कुछ सुध लें, बीती हुई बातोको मायारूप समझे, इन लौकिक समागमोमें हर्ष विषाद न मानें। यह तो ससार है। यहा पुण्य तथा पाप के फल मिलते हैं तो पुण्यके फलमे हर्ष न मानना और पापके फलमे विषाद न मानना। उस पुण्य पाप फलोके ज्ञाता द्रष्टा रहे और अपने आपमे ऐसा निर्णय बनायें कि मैं तो इन सबसे निराला एक विशुद्ध चैतन्यमात्र हू। ये जो व्यवहारकाल बताये जा रहे हैं इनसे निराला अपने आपको एक शुद्ध द्रव्यमे निरखना यही हम आप का आगे बढनेका उपाय है।

वस्तुका स्वभाव देखिये, वस्तुमे कारणकार्य परम्परा किस प्रकार चल रही है, २२३ वी गाथाका एक प्रवचनाश देखिये–पृ० ११६–११७–वस्तुमे कारणकार्य परम्परा–इस गाथामे यह बताया जा रहा है कि तीनो काल में वस्तुके कार्यकारण भावका निर्णय उस ही वस्तुमे है। वस्तुके पूर्व और उत्तर परिणमन को लेकर तीनो कालमे प्रत्येक समय कार्य कारण भाव है। इस समय जो पर्याय बन रही है वह पूर्व पर्याय का तो कार्य है और उत्तर पर्यायका कारण है। प्रत्येक अवस्था कार्यरूप भी है। पदार्थ मे प्रति समय उत्पाद व्यय ध्रौव्य होता है और तीनो के तीनो एक ही समयमे होते हैं। जैसे कोई मनुष्य मरकर देव बना तो अब देव पर्यायमे निर्णय करिये–उत्पाद हुआ देव का, व्यय हुआ मनुष्यका और ध्रौव्य रहा जीवका। तो देवका स्वभाव, मनुष्यका अभाव और जीवकी ध्रुवता ये तीनो एक समयमे हैं कि नही ? प्रत्येक पदार्थका उत्पादव्ययध्रौव्यका स्वभाव है। जैसे मिट्टीका पिडोला घडा बन जाता है, तो जब वह

घडा बन गया तो घडेका सद्भाव, पिडोलेका अभाव और मिट्टीकी ध्रुवता ये तीनो एक समय मे हैं। तो पर्यायका उत्पाद विनाश होकरभी जो मूलभूत वस्तु है उसकी सदा ध्रुवता रहती है, और यो तीनो कालमे प्रत्येक द्रव्यमे कारणकार्यकी परम्परा चल रही है। पूर्वपर्यायसयुक्त द्रव्य उत्तरपर्यायका कारण है, उत्तर पर्याय पूर्व पर्यायका कार्य हैं, अर्थात् द्रव्यमे निरन्तर अवस्थायें बलती रहती है।

ज्ञानानुभवमे ही सकट समाप्त होते हैं, इसका मनन कीजिये, २२७ वी गाथाका एक प्रवचनाश पृ० १३०- ज्ञानानुभवसे सकटोका परिसमापन-जैसे कछुवा नदी मे अपनी चोच उठाकर चल रहा हो तो उसकी चोचको चूटने के लिए अनेक पक्षी उस पर मडराते है। वह कछुवा व्याकुल होकर यत्र तत्र भागता है, पर रे कछुवे तेरे मे तो वह कला है कि यदि तू उसका उपयोग करले तो तेरे समस्त दुःख दूर हो जायेगे। तेरी कला यह है कि तू चार अगुल पानीमे डूब तो जा, बस फिर येपक्षी तेरा क्या कर सकेंगे? तो इसी प्रकार यह जीव अपने उपयोगको चोचको बाहर निकाले हुए है। बाह्य पदार्थो का चित्त मे बसाये है। उनमे रमता है, उनसे ममता करता है, तो चारो ओरसे यह सकटोमे घिरा हुआ है। अनेक प्रकार के विकल्प बन गये हैं, विकल्प ही सकट है। तो क्यो व्यर्थ मे ये सकट उठाये जा रहे है? हे आत्मन्, तुझ मे तो ऐसी सहज कला है कि तेरे सारे सकट अभी दूर हो जायें। अपने भीतर मे दृष्टि कर, अपने को सबसे निराला देख, केवल ज्ञान मे अपना अनुभव कर। मैं ज्ञानमात्र हू, यही मेरा सर्वस्व है, बस उस ही मैं तू रम जा, अन्य कोई विकल्प मत कर, किसी को अपना मत मान, ज्ञान का अनुभव होगा, परमशान्तिका अनुभव होगा। तेरे सभी सकट अभी मिट जायेगे। तो सकट दूर करने के लिए ही वस्तुका यथार्थ ज्ञान किया जाता है। यथार्थ ज्ञानको हमे बडे प्रयत्न करके प्राप्त कर लेना चाहिए।

भारतके ध्वजमे वस्तुस्वरूपका कैसा चित्रण मिलता है, पढिये २३८ वी गाथा का एक प्रवचनाश-पृ० १६०-१६१-भारतध्वजमे वस्तुस्वरूपका चित्रण-अब ध्वजा की बात देखिये तो यह भी वस्तुस्वरूपका सकेत करता है। उसमे तीन रग हैं-लाल हरा और सफेद, और वह भी हरा लाल रग तो अगल बगल है, बीचमे सफेद रग है। साहित्यिक रचनामे कविजन बताते है कि हरा रग उत्पादका सूचक है, लोग कहते भी तो है कि अमुक व्यक्ति खूब हरा भरा है, मायने खूब घर द्वार धन वैभव आदिक से भरा पूरा है। तो हरे रगका वर्णन चलता है उत्पादमे, लाल रगका वर्णन चलता है विनाशके लिए। कोई युद्ध हो जाय, खून की धाराये बह जाये, हत्याये हो जाये तो वहा कविजन लाल रगका वर्णन करते है। अब देखिये-बीचमे जो सफेद रग है उसका मतलब है कि वस्तु ध्रुव है। ध्रुवता, स्थिरताका वर्णन श्वेतरग मे किया जाता है। श्वेत रग से सम्पर्क रखनेवाले लाल और हरे रग हैं, याने वस्तुकी स्थिरतासे सम्पर्क रखनेवाले उत्पाद और व्यय अगल बगल मे हैं। यो प्रत्येक वस्तु उत्पाद व्यय ध्रौव्यात्मक है। उस ध्वजाके बीचमे २४ आरोका एक चक्र बना हुआ है। वह सूचक है २४ तीर्थंकरोका। वह २४ आरोवा चक्र ससारके प्राणियोको यह सूचना देता है कि ऐ ससारके प्राणियो, यदि तुम सुखी होना चाहते हो तो चतुर्विशति तीर्थंकरोसे प्रणीत वस्तुस्वरूपको सत्य श्रद्धा करो क्योकि शाति मिलेगी इस मोह के मेटनेसे। और यह मोह कब मिटेगा, जब कि हम यह समझ पायेगे कि प्रत्येक पदार्थ अपने अपने स्वरूपमे है, किसीका किसीभी पदार्थमे गमन नही है। ऐसी वस्तुकी स्वतत्रताका जब बोध होगा तब ही हम वस्तु के सत्य स्वरूपको परख सकेंगे।

काल और लोकके विस्तृत परिमाणको जानकर हम क्या लाभ उठायें इसका दिग्दर्शन कीजिये २५४ वी गाथाके एक प्रवचनाशमे-पृ० १७८-काल और लोक की विशालताके परिचयका लाभ-यदि इस लोक के

विस्तार को ही जानने लगे तो मोह मिटनेका अवसर यहा भी मिल जाता है कि अरे इतना बडा लोक है, इस लोकके सामने जहा हम आप लोग आज पैदा हैं या परिचय हैं वह कितना बडा है, क्या चीज है ? समुद्र के सामने एक बिन्दु बराबर भी नहीं है । तो इतनी सी जगहमे मोह बनाकर यह क्या कोई विवेक है । कालका प्रमाण जब उपयोगमे आता है कि काल अनादि अनन्त है और यह जीव भी अनादि अनन्त है । तो अनादि कालसे यह जीव पर्याय धारण करता आया है, अनन्त काल तक यह जीव रहेगा । तो कितना काल व्यतीत हो गया उसके सामने यह १००–५० वर्षका जीवन कुछ गिनती भी रखता है क्या ? कुछ भी तो गिनती नही रखता । इतनी सी देर के लिए परिजनोमे, कुटुम्बमे, वैभवमे उपयोग दे देकर उन्हे अपना मान मानकर यह जीवन गुजार दिया जाता है । इससे इस जीवनको कुछ लाभ मिल जायगा क्या ? केवल बरबादी ही मिलेगी । मगर मोहवश यह जीव अपनी इस कुटेवको नही छोड सकता । इस ज्ञानका आदर नही कर सकता, जो इसका परम वैभव है ।

ज्ञानका ज्ञेयमे व ज्ञेयका ज्ञानमे गमन न होकर भी निज निज प्रदेशमे रहने वाले ज्ञान और ज्ञेयोका व्यवहार परखिये २५६ वी गाथाके एक प्रवचनाशमे–पृ० १८०–ज्ञानका ज्ञेयमे व ज्ञेयका ज्ञानमे गमन न होकर भी निज निज प्रदेशमे रहने वाले ज्ञान और ज्ञेयोका व्यवहार–ज्ञान ज्ञेय पदार्थो के पास नही रह जाता, और ज्ञेय पदार्थ भी ज्ञानके प्रदेशमे नही आते हैं । पदार्थ अपनी ही जगह ठहरा है, ज्ञान अपने ही धाम मे ठहरा है, पर ज्ञान हो रहा, जानन हो रहा, इस कारण ज्ञान और ज्ञेयका व्यवहार चलता है । कुछ दार्शनिक ऐसे भी हैं कि जो ज्ञानमे पदार्थों का जानना मानते हैं । पदार्थ ज्ञानमे पहुचते हैं । वे अपना आकार सौंपते है तब ज्ञान जानता है । तो न इस तरह ज्ञेय ज्ञानमे आता है और न ज्ञान ज्ञेयमे जाता है, दोनों अपने अपने प्रदेशमे ही ठहरे हुए हैं, किन्तु जाननेका काम है ज्ञानका और जानना होता है ज्ञेय का । इसी रूपको लेकर ज्ञान और ज्ञेयका व्यवहार चलता है । जो जाने सो ज्ञान, जो जाना जाय सो ज्ञेय कहलाता है । ज्ञान ज्ञेयमे नही जाता, ज्ञेय ज्ञानमे नही जाता ।

बोधिदुर्लभ भावनामे मनुष्यभवकी दुर्लभता बताकर ३०० वी गाथाके एक प्रवचनाशमे पढिये मनुष्यभवमे यदि पशुसम जीवन बिताया जाय तो यह पागलपन ही है, पृ० २३१–पशुसम जीवनमे नरभवयापनकी उन्मत्तता–अरे इन विषयोमे तो ये पशु पक्षी भी रत है । उन कुत्ता, बिल्ली, मुर्गी, कबूतर आदिकी योनियो मे रहकर भी तो ये विषयोके काम किये जा सकते थे । देखिये उन पशु पक्षियो के भी बच्चे होते हैं, मनुष्योके भी बच्चे होते हैं, वे भी अपने बच्चोमे मोह रखते हैं, मनुष्य भी अपने बच्चोमे मोह रखते हैं । तो अब बताइये मनुष्यभवमे विवेकका भान सा काम किया ? रही एक धन वैभवके बढानेकी बात, तो जितना इन पशु पक्षियोको साधन जोडने की जरूरत है उतना वे जोडते ही हैं । हा मनुष्यने उनकी अपेक्षा अधिक लगाव लगाया उन साधनोमे, पर यह लगाव इस मनुष्यके हितके लिए नही है । वह तो अशान्ति के लिए है । जितना अधिक वैभव होता जायगा उतना ही अधिक अशान्ति होती जायगी । उसकी कोई हद नही है कि कितना वैभव हो जाय तो शान्ति मिलेगी । रूप, रस, गन्ध, स्पर्श शब्द आदि की प्रवृत्तियोमे ही व्यापार करते है, इसी चक्र मे पडकर यह मनुष्य जीवन लोग व्यर्थ ही गवा देते हैं । उस तरह से जैसे कि भस्म के लिए अमूल्य रत्नको जला देते हैं ।

सम्यग्दृष्टिकी अन्त शान्तिरूपताका दिग्दर्शन करें ३२६ वी गाथाके एक प्रवचनाश, पृ० २६६–सम्यग्दृष्टि के अन्त शान्तिरूपता–अनेक गुणो से सम्पन्न वह सम्यग्दृष्टि जीव अपने आपमे जब चाहे आनन्द पाता रहता है । अब जरा गर्दन झुकाया देखलो, अपना अपना देव अपने आपके अन्दर है । जिस समय बाह्य दृष्टिको बन्द करके अपने अतरगकी दृष्टिसे देखगे तो अपना भगवान वह कल्याणकारी देव अपने आप

में मिलेगा। जिसने अपने आपमे बसे हुए परमात्मदेवका दर्शन किया है वह पुरुष तो पवित्र है और जो अपने आपके इस परमात्मदेवका परिचय नही कर सकता वह चाहे शरीरकी कितनी ही शुद्धि करे या अन्य पदार्थकी शुद्धि करे तो वह शुद्धि व सिद्धि नही है। चाहे अपवित्र हो चाहे पवित्र हो, किसी भी अवस्था मे हो, जो अपने परमात्मतत्त्वका स्मरण करता है वह बाहरमे भी पवित्र है और अन्तरगमे भी पवित्र है। शान्ति मिलेगी तो अपने आपके परमात्मस्वरूपके उपयोगमे ही मिलेगी, बाहरी पदार्थोंको चित्तमे बसानेसे शान्ति न मिलेगी।

(२५५-२५६) आप्तमीमासाप्रवचन (अष्टसहस्री प्रवचन) १, २ भाग

इस पुस्तकमे पूज्य श्री समन्तभद्राचार्य-विरचित आप्तमीमासा ग्रथकी ३ कारिकाओपर पूज्य श्री विद्यानन्दि स्वामि द्वारा अकलक वृत्ति पर की गई अष्टसहस्री टीका के माध्यमसे पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराजके प्रवचन हैं। इस ग्रन्थमें किस विषयका वर्णन है और उसका क्या प्रयोजन है तथा प्रथम कारिका मे क्या कहा गया है इन सब बातोंका एक सक्षिप्त प्रवचनाश मे परिचय कीजिये-पृ० २-आप्तगुणज्ञ समन्तभद्र का सप्रयोजन आप्तमहत्त्वके निरीक्षणका प्रयास-इसका प्रचलित नाम देवागमस्तोत्र भी है। इसका कारण यह है कि इस रचनामे सर्वप्रथम देवागम शब्द आया है जैसे कि आदिनाथ स्तोत्रका प्रचलित नाम भक्तामर स्तोत्र है, क्योकि आदिनाथ स्तोत्रमे सर्वप्रथम भक्तामर शब्द आया है, पर विषय इसमे क्या है ? उस दृष्टिसे इसका नाम आप्तमीमासा युक्तियुक्त विज्ञात होता है। आत्महित चाहने वाले मोक्ष-मार्गके अभिलाषी पुरुषोको यह अतीव आवश्यक है कि वे सम्यक् और मिथ्या उपदेशको पहचान कर सकें। जो पुरुष सच्चे और झूठे उपदेशको पहिचान नही कर सकते, वे कल्याणमार्ग मे चल ही नही सकते। तो सम्यक्उपदेश और मिथ्याउपदेशकी जानकारी बने, इसके लिए आप्तमीमासाको रचनेवाले आचार्य श्रद्धा और गुणज्ञतासे गद्गद् होकर अपने हृदयमे उनके प्रति बडी पूज्यता भाव रखते है और उस उल्लासमे यहा सर्व प्रथम यह कह बैठते है कि हे प्रभो, तुम इस कारण बडे नही हो कि आपके पास देव आते हैं, आपका आकाशमे गमन होता है। आप पर चामर आदिक विभूतिया ढरती है प्रभु के गुणोसे अन्त परिचित समन्तभद्र देव सब जान रहे है वह मर्म कि प्रभु गुणोके कारण ही महान हैं। लेकिन यह कह रहे हैं कि इन बाहरी बातोसे तुम हमारे लिए महान नही हो क्योकि ये बाहरी बातें तो मायावी पुरुषोमे भी देखी जा सकती हैं,

द्वितीय कारिका मे शरीरादिमहोदयतामे भी भगवानकी महत्ता नही है, इसका परीक्षण किया है उसका परिचय पाइये एक सक्षिप्त प्रवचनाशमे, पृ० ९-१०-विग्रहादिमहोदय से भी प्रभुता व महत्ताके अभावके कथन की सिद्धि-आगममे हेतु बताया गया है, केवल इस बुनियादपर साध्यको सिद्ध किया जाय तो यह सिद्ध नही हो सकता, क्योकि आगमकी प्रमाणता अभी प्रमाणसे प्रसिद्ध नही है। जब तक प्रमाणसे आगमका प्रामाण्य सिद्ध न हो पा ले तब तक उस आगमके आधार पर किसी भी बात की सिद्धि नही की जा सकती। जैसे कि देवता आते हैं आकाशमे गमन होता है, चामर आदिक विभूतिया प्रभुके निकट हैं ऐसा हेतु देकर जिसका कि वर्णन आगममे किया है उस आगमका उपदेश मात्रका हेतु देकर प्रभुकी महत्ता सिद्ध नही की जा सकती है, इस ही प्रकार अन्तरग और बहिरग शरीरादिकका अतिशय दिखाकर कि देखो मलमूत्र स्वेद रहित दिव्यशरीर मायावियो के तो नही बन सकता, ऐसे अन्तरग शरीरका अतिशय दिखाकर भी प्रभुकी महत्ता सिद्ध नही की जा सकती, क्योकि यह भी वर्णन आगमाश्रित है। और, जो आगमाश्रित हेतु है वह दार्शनिकोका दृष्टि मे प्रतिवादोकी दृष्टिमे प्रमाणभूत नही है तो अप्रमाण आगममे, उनमे बताये गये हेतुमे किसी साध्यको सिद्धि नही की जा सकती। तो

यहा भगवान परमात्मा अतरग शरीरके अतिशयसे भी स्तवन करने के योग्य याने महान नही है। तो जैसे भगवान, तुम मेरे लिए देवागम आदिकके कारण पूज्य नही हो, महान नही हो इसी प्रकार देहके अतरग अतिशयोके कारण भी आप महान नही हो।

तीसरी कारिकामे बताया है कि तीर्थ चलाने से भी कोई महान नही बन जाता, क्योकि तीर्थकृतोके आगमोमे परस्पर विरोध है। इस विषयमे हुए कुछ प्रवचनाश देखिये ताकि वर्णनीय विषयका अन्दाज हो सके—श्रुतिवाक्यके अर्थो का विसवाद बताने का मूल प्रसग-तीर्थकृत्समयोमे परस्पर विरोध होने से आप्तता नही, यह बात सुनकर मीमासक सिद्धान्तानुयायी खुश हो गये और बोले समन्तभद्र तुम बिल्कुल ठीक कहते हो। जितने तीर्थ चलाने वाले लोग हैं उनके प्रणेता सर्वज्ञ नही हैं, आप्त नही हैं। इसी कारण तो हम कह रहे हैं कि सिर्फ अपौरुषेय वेद ही प्रमाण है। कोई आप्त नही, कोई देव नही। तो समत-भद्र अथवा उनके भक्त इस ही श्लोकका दूसरा अर्थ लगाकर मीमामकका निराकरण करता है। मीमासकके मतका भी विश्लेषण बता दीजिये-तीर्थकृत्समय। तो तीर्थकृत समय मायने तीर्थ को नष्ट करने वाला कृतकृन्ततिमे भी बनता है, तीर्थकृतन्ति छिनत्ति इति तीर्थकृत, जो तीर्थका छेदन करता है उसे तीर्थकृत कहते है। उनके समयके मन्तव्यको तीर्थकृत्समय कहते हैं, सो जो तीर्थको मानते ही नही, उनके सम्प्रदायोमें भी परस्पर विरोध है, इसलिए उनके भी प्रमाणता नही है। कैसे विरोध है? सो सुनिये। जैसे एक वाक्य बोला गया कि स्वर्गाभिलाषी पुरुष अग्निहोत्र यज्ञ करे तो इसका अर्थ कोई मीमासक प्रवक्ता तो भावना अर्थ लगाता है कोई इसका एक परमब्रह्मस्वरूप अर्थ लगाता है। लेकिन उन्हा मे परस्पर विरोध है, फिर उनका भी सिद्धान्त प्रमाणिक कैसे बना? तो इस प्रसगमे भावना अर्थ मानने वाला नियोगवादियोका खण्डन कर रहा था, और नियोगवादका खण्डन करते करते जब एक झलक निकली कि ब्रह्मस्वरूप अर्थ है तो इस पर नियोगवादी यह कह रहे कि चलो भला हुआ। ब्रह्मरूप अर्थ निकल आया तो अब भावनारूप तो न रहा। सो भावना अर्थ मानने वाला भट्ट यह सिद्ध कर रहा कि श्रुतिवाक्यका अर्थ ब्रह्म (विधि) नही है।

चार्वाक केवल प्रत्यक्ष (सन्व्यवहार) को प्रमाण मानते हैं, इसी बलपर वे सर्वज्ञत्वका अभाव सिद्ध करते हैं, किन्तु ऐसा सिद्ध करने वाले सर्वज्ञत्वको सिद्ध कर बैठते हैं, देखिये एक प्रवचनाश चार्वाकसिद्धान्तसमीक्षणके प्रसग का–पृ० १५२–प्रत्यक्षमे सर्वज्ञका अभाव मानने वालाके सर्वज्ञत्वकी प्रसक्ति–देखिये. ये चार्वाक एक इन्द्रियप्रत्यक्ष प्रमाणसे सब सर्वज्ञ हिन पुरुष समूहको जान रहे हैं तो क्या कर रहे कि यह इन्द्रिय प्रत्यक्ष ही एक प्रमाण है। इस सिद्धान्तका घात कर रहे, लो ये प्रत्यक्षप्रमाणसे इन्द्रियज्ञानसे सारी दुनिया को जान रहे हैं। जब सारी दुनियाको जान लिया कि यहा सर्वज्ञ नही है तभी तो निषेध करेंगे कि कोई सर्वज्ञ नही है। तो सर्वज्ञ नही है, यह जानने के लिए पहिले सारी दुनिया जाननी होगी, इस तरह जब सारी दुनिया जान ली तो ये चार्वाक ही सर्वज्ञ हो गये अथवा इन्द्रिय प्रत्यक्ष का विषय सारी दुनियाका जानना बन गया। सो दोनो ही सिद्धान्तोका जो कि चार्वाक लोग मानते हैं घात हो गया। जो स्वय स्वीकार नही किया गया, अथवा जो अनिष्ट है चार्वाकोको, ऐसा अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष होता है कुछ। और, अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष चार्वाकको इष्ट है नही। इन्द्रिय प्रत्यक्षके द्वारा सर्वज्ञ रहित पुरुष समूहका ज्ञान बन सकता। अत अतीन्द्रिय प्रत्यक्षके बिना इन्द्रिय प्रत्यक्षके द्वारा, अन्य प्रमाणके अभावका ज्ञान जैसे नही बनता इसी प्रकार इन्द्रिय प्रत्यक्षके द्वारा सर्वज्ञरहित सारे विश्वका भी ज्ञान नही बनता। और यदि मान लिया जाय कि ये चार्वाक सब जगह सब समय जीवोमे सर्वज्ञपने के अभावके प्रत्यक्षसे जान रहे है तो इसके मायने यह हुआ कि ये चार्वाक स्वय सर्वज्ञ हो गया और ऐसा मानने पर चार्वाकका यह

कथन निराकृत हो जाता है कि सर्वज्ञ अथवा अनुमान आदिक प्रमाण है ही नहीं। स्वयं सर्वज्ञ बन गया। सर्वज्ञका अभाव कैसे सिद्ध करोगे ? अथवा प्रत्यक्ष ही एक प्रमाण है ऐसा जो चारुवाकका अभिप्राय है वह निराकृत हो गया। जब अन्य देश अन्य लोक अन्य पुरुषोंके प्रत्यक्षको स्वय प्रत्यक्षसे प्रमाण मान लिया तो वही सर्वदर्शी बन गया।

(२५७–२५८) आप्तमीमासाप्रवचन (अष्टसहस्री प्रवचन) ३, ४ भाग

इसमे आप्तमीमासाकी चौथी कारिकासे लेकर ८ वी कारिका तक पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराजके प्रवचन हैं। आप्तकी मीमासामे आप्तपनेके परीक्षणका मूल आधार यह स्थापित किया गया है कि जहां दोष और आवरण (अज्ञान) रच भी रहे और न कभी हो सके वह आप्त है। इसकी सिद्धि के- प्रवचन ४ वी कारिकामे हैं। उनमे से एक प्रवचनाश देखिये–पृ ३–४ दोषो और आवरणोकी हानिको नि शेषताकी साधना–इस अनुमानमे सिद्ध यह किया जा रहा है कि दोषावरणकी हानि किसी पुरुषमे नि शेषरूपसे होती है अर्थात् किसी आत्मामे दोषो व आवरणोका पूर्णतया हानि है, बिल्कुल अभाव है। यह यहा सिद्ध किया जा रहा है। जो वादीको इष्ट हो, वादी प्रतिवादी दोनो को अवाधित हो, किन्तु प्रतिवादी का जो असिद्ध हो वह साध्य कहलाता है। तो दोष व आवरणकी सामान्य हानि वादी भी मान रहा है, प्रतिवादी भी मान रहा है, किन्तु किसी जगह पूर्णतया हानि हो जाती है, दोष और आवरणोका अभाव हो जाता है, यह यहा सिद्ध किया जा रहा है, क्योकि प्रतिवादी को समग्ररूपसे दोषो व आवरणोका अभाव होने के सम्बन्धमे विवाद है। तो इस अनुमान प्रयोगमे दोषावरणकी हानि यह तो पक्ष है और कही सम्पूर्णतया हानि है, यह साध्य है और हेतु दिया गया है यह कि क्योकि इसका अतिशायन पाया जाता है। अर्थात् हानि का अधिकता पायी जाती है। कही हानि कम है, किसी पुरुषमे हानि अधिक है, किसी पुरुषमे उससे भी अधिक हैं तो यह सिद्ध है कि कही हानि पूर्ण रूपसे भी है। इस अनुमान प्रयोग मे दृष्टान्त दिया गया है कि जिस किसी स्वर्ण पाषाण आदिकमे किट्ट कालिमा आदिक बहिरग अतरग दोषोका क्षय पूर्णतया है सो यह दृष्टान्त प्रसिद्ध ही है। अनुमानप्रयोगमे दृष्टान्त यह दिया जाता है कि जो वादी और प्रतिवादी दोनोके द्वारा सम्मत हो। दृष्टान्त एक असिद्ध बात को सिद्ध करने के लिए माध्यम होता है। सो ये दृष्टान्तवादी और प्रतिवादी दोनोके प्रसिद्ध है। तो जसे स्वर्णपाषाण आदिकमे किट्टकालिमाकी हानि बढती हुई देखी गई है तो कही सम्पूर्ण रूपसे भी हानि है। यह बात भी देखी जाती है। इसी कारण दोष और आवरणोकी हानि भी बढ बढ कर जब हम लोगोमे दोष आवरण की हानि अधिक प्रतीत हो रही है तो यह किस परम पुरुषमे सम्पूर्णतया है इस बात को सिद्ध करती हैं। इसका भाव यह है कि रागादिक भाव होना और पदार्थों का ज्ञान न होना याने अज्ञान आदि होना दोष है ? ज्ञानावरण दर्शनावरण मोहनीय व अन्तराय ये आवरण है तो जब भावोमे यह बात देखी जा रही है कि रागादिक दोष और ज्ञानावरणादिक आवरण ये किसी मे कम है किसी मे और कम हैं। जब कमतीका अतिशय देखा जा रहा है तो उससे यह सिद्ध होता है कि कोई परम पुरुष कोई आत्मा ऐसा भी होता कि जिसमे रागादिक दोष रच मात्र भी नही होते और ज्ञानावरणादिक भी रच मात्र नही रहते। इस कारिकामे यह सिद्ध किया जा रहा है कि कोई पुरुष होता है ऐसा जो वीतराग और सर्वज्ञ हो, इसकी सिद्धि इस कारिकामे करनेके बाद अगली कारिकामे यह बताया जायगा कि हे वर्द्धमान प्रभो सकलपरमात्मन, हे अरहत देव, ऐसा आप्तपना आपमे ही होता, अत आप ही आप्त हो और इसकी कारणपूर्वक सिद्धि की जायगी। यह सामान्यतया सिद्ध किया जा रहा है कि कोई आत्मा ऐसा अवश्य है जिसमे अज्ञान रागादिक दोष रचमात्र भी नही रहते।

कोई दार्शनिक सर्वज्ञ को ही नही मानते है उनको ५ वी कारिकामे अनुमानप्रयोग द्वारा सर्वज्ञका अस्तित्व सिद्ध किया गया है। उसमे हेतुके समर्थक प्रवचनोमे से एक प्रवचनांश पढ़िये-पृ० ४८-अनुमेयत्व हेतुमे सदिग्धानेकान्तिकत्व दोपका परिहार-अब यहा मीमासक शका करते हैं कि ये सूक्ष्म आदिक पदार्थ अनुमेय हैं तो रहे आयें। अनुमान द्वारा अनुमेय हो तो और श्रुतज्ञानके द्वारा अधिगम्य हो तो अनुमेय रहा आयें और किसीके प्रत्यक्ष न रहे, इसमे कौन सी बाधा आती है ? जिससे कि अनुमेय हेतु देकर इन पदार्थों को किसीके द्वारा प्रत्यक्षभूत है यह सिद्ध किया जा रहा है। उत्तरमे कहते है कि ऐसा कथन तो अग्नि आदिक सभी साध्यो मे लगाया जा सकता है। अग्नि वगैरह अनुमेय तो हो और किसी के प्रत्यक्ष न हो, इसमे क्या दोप होगा ? जब केवल बोलने से ही किसी की सिद्धि असिद्धि मान ली जाती है तो यह भी कह सकते हैं और इस तरह फिर अनुमान प्रमाण का उच्छेद हो ही जायगा, क्योंकि सभी अनुमानो मे यह उपालम्भ समान है। ऐसा कह सकते हैं कि धूम तो रहो कही पर अग्नि मत रहो। इस तरह सभी अनुमानो मे साध्य का सन्देह, साध्य का अभाव यह सब कहा जा सकता है, किन्तु अनुमान का उच्छेद तो नहीं। तब अनुमान से भी प्रबल रूपसे मानना होगा कि सूक्ष्म अन्तरित और दूरवर्ती पदार्थ किसीके प्रत्यक्ष हैं।

सामान्यतया किसी के निर्दोषत्वकी व अतएव असर्वज्ञत्वकी सिद्धि करने के पश्चात् छठी कारिकामे बताया है कि वह निर्दोष आत्मा तुम ही हो, क्योंकि आपका वचन युक्ति और शास्त्रके अविरुद्ध है। अब इस ही अविरोधके सम्बन्धमे एकप्रवचनांश पढ़िये-पृ० ७०-७१-आर्हत वचनमे अविरोधताके कारणका प्रतिपादन-अब प्रभु युक्ति और शास्त्रोसे अविरुद्ध वचन वाले हैं यह कैसे सिद्ध हुआ ? अथवा इसको यो अलकार रूपमे समझिये कि यहा मानो परमात्मा अरहत ही कह रहे हो कि मेरा वचन युक्ति और शास्त्रसे पूर्णतया अविरुद्ध कैसे है ? जिससे कि मेरा वचन प्रमाणसिद्ध माना जाय ? तो इसके उत्तरमे इस ही कारिकामे कहा गया है कि जिस कारण से आपका इष्ट मतव्य, उपदेश, सिद्धान्त मोक्ष आदिक प्रसिद्ध प्रमाणसे बाधे नही जाते है इससे सिद्ध है कि आपका वचन युक्ति और शास्त्रोसे अविरुद्ध है। किस प्रकार अबाधित है इस सम्बन्धमें प्रयोग करते हैं। जिस सम्बन्धमे जिसका अभिमत तत्त्व प्रमाणसे बाधा नही जाता वह उस सम्बन्धमे युक्ति और शास्त्रोसे अविरुद्ध वचन वाला कहलाता है। जैसे कि रोगके स्वरूप और रोगके कारणके सम्बन्धमे स्वास्थ्यका स्वरूप और स्वास्थ्यके कारण के जानने बताने के सम्बन्धमे वैद्य युक्तिशास्त्रसे अविरोधी वचन वाला है, क्योंकि उसकी कही हुई बात प्रमाणसे बाधित नही होती है, अभिमत तत्त्व प्रमाणसे बाधित नही होता है। जो प्रभुने मोक्ष, मोक्षका कारण, ससार, ससारका कारण का स्वरूप कहा है वह किसी प्रमाणसे बाधित नही होता। इसका कारण हे प्रभो, अरहत, तुम मुक्ति और ससारके कारण तत्त्वरूपादिकके सम्बन्धमे युक्ति और शास्त्रोंसे अविरुद्ध वचनवाले सिद्ध होते हो। इस प्रकार जब यह सिद्ध हो गया कि मुक्ति, ससार, वस्तुस्वरूपमे ये सब युक्ति और शास्त्रोसे अविरुद्ध हैं। तो भगवानका वचन युक्ति और शास्त्रोसे अविरुद्ध है, यह सिद्ध हो जाता है। जो बात कही गई है वह बात यदि सत्य उतरती है तो वचनका अविरोध कहा जाता है। जैसे कोई पुरुष कुछ भी वचन बोलता है देखो वह वहा सीप पडी है और परख लिया कि यह सीप ही है, तो सब कहने लगते हैं कि इस पुरुषका ज्ञान सही है, अविरुद्ध है। तो ज्ञानकी प्रमाणता बाह्य वस्तुकी परखके बाद आया करती है। यद्यपि ज्ञान तो जिस समय हुआ उस ही समय प्रमाणभूत है, लेकिन लोकनिर्णय तो तब होता है जबकि ज्ञानमे किसीके सम्बन्धमे जैसा जाना गया वैसा स्वरूपमे पाया गया हो। तो प्रभु आपकी दिव्यध्वनिमे, आपकी परम्परासे प्रणीत उपदेशमे जो बात कही गई है वैसा ही बाह्य पदार्थो मे निरखा गया है। अतएव आपका वचन युक्ति और शास्त्रसे अविरोधी है।

एकान्त वादमे वस्तु एकधर्मात्मक मानी गई है, किन्तु तथ्य यह है कि चाहे वस्तुका सर्वस्व जानकर उसे अव्यक्त कह दो या अनेकधर्मात्मक कह दो, सो तो काम बन जायगा, लेकिन एक वस्तुमे अविरोधरूपसे रहने वाले सप्रतिपक्ष अनेक धर्मोमे से एक धर्मका ही आग्रह करनेमे वस्तुत्व सिद्ध नही होता, इस प्रसगका एक प्रवचनाश पढिये-पृ० १६१-१६२-पदार्थके अनेकान्तात्मकत्वकी सिद्धिका समर्थन-यहा यह समझ लेना चाहिए कि जैसे चित्रज्ञान अनेक विशेषात्मक होता हुआ एकात्मक माना गया है, क्षणिकवादियोने, क्योंकि उसमे नील पीत आदिक प्रतिभास अनेक हैं, अतएव अनेकात्मक है। और वह ज्ञान एक अपने स्वरूपसे है अत. एकात्मक है। तो जैसे चित्रज्ञानको अनेकात्मक एकस्वरूप माना है ऐसे हो चेतन भी सुखाद्यात्मक एक स्वरूप है अर्थात् उनमे सुख ज्ञान दर्शन आदिक अनेक गुण है फिर भी अपने स्वरूपसे एक है। सो केवल अन्तस्तत्त्वको ही यो न निरखना कि यह अनेकात्मक एकस्वरूप है, किन्तु वर्णसंस्थान आदिक स्वरूपस्कध भी एकात्मक हैं। स्कध अपने स्वरूपसे एक पिण्डरूप है, किन्तु उनमे वर्ण, गन्ध, रस, आ-कार आदिक अनेक बातें हैं। तो यो वहिस्तत्त्व भी एकानेकात्मक है। अन्तस्तत्त्व भी एकानेकात्मक है। विश्वमे ऐसा कोई पदार्थ नही जो सर्वथा किसी एकान्तस्वरूप हो और इस कारण यह बात जो कही गई है वह पूर्णतया मुक्त है कि विश्वमे ऐसा कुछ भी नही है जो रूपान्तर से विकल हो, अर्थात् किसी पदार्थमे सत्त्व समझा जा रहा हो तो वह असत्त्वसे विकल नही है। सत्त्व है तो साथ ही वहा असत्त्व भी है। किसी अपेक्षासे अस्तित्त्व भी है तो अन्य अपेक्षासे नास्तित्त्व भी है। तो जैसे न कोई केवल सत्त्वरूप है न कोई केवल असत्त्व रूप है। इस ही प्रकार कोई भी पदार्थ न केवल नित्यरूप है और न केवल अनित्यरूप है। जैसे पदार्थ एकानेकात्मक है, सदसदात्मक है इसी प्रकार नित्यानित्या-त्मक है। इसी तरह यह भी जानना कि कोई भी पदार्थ अद्वैत एकान्तरूप नहा है और साथ ही द्वैत आदिक एकान्तरूप भी नही है। चाहे अन्तस्तत्त्व हो, सम्वेदनात्मक पदार्थ हो, चाहे वहिस्तत्त्व हो कोई भी सर्वथा एकान्त स्वरूप दार्शनिको ने प्रतिज्ञा की है कि पदार्थ केवल क्षणिक है, केवल नित्य है, केवल अद्वैत है अथवा द्वैत है। यो किसी भी प्रकारसे एकान्तस्वरूप कुछ भी नही है।

एकान्तवादका विस्तृत निराकरण करने के प्रसगकी भूमिका रूप ८ वी कारिका मे बताया है कि एकान्तका आग्रह करने वालोंके सिद्धान्तमे पुण्य, पाप, परलोक आदि कुछ भी सिद्ध नही हो सकते है, उदाहरणार्थ ८ वी कारिकाका एक प्रवचनाश देखिये-पृ० २००-२०१-एकान्तवादके आग्रहमे पुण्य पाप क्रिया परलोक आदिकी सिद्धिका अनुपपत्ति -हे नाथ, जो एकान्तवादके आग्रहसे व्यासक्त है ऐसे वादी एकान्त आग्रह के ही कारण अपने ही वैरी है और दूसरोके भी वैरी हो रहे हैं। उन एकान्तके आग्रहीयोमे किसीके भी पुण्य पापकर्म और परलोककी सिद्धि नही होती। कर्म तीन प्रकारके होते है। शारीरिक क्रियाभूत कर्म, वाचनिक क्रियाभूत कर्म, मानसिक क्रियाभूत कर्म। इसी को लोग कहते हैं और यह तीन प्रकार का योग, वचनयोग, मनोयोग ये आश्रव कहलाते है। आश्रव उसे कहते हैं कि जिस योगसे कर्म आयें, याने कर्मो के आनेके कारणको आस्रव कहते है। वह आस्रव दो प्रकारका है। एक कुशलास्रव और दूसरा अकुशलास्रव। अर्थात् शुभ आस्रव और अशुभ आस्रव। सो यह सब व्यवस्था और परलोककी व्यवस्था एकान्तवादमे यथार्थ रूपसे नही हो सकती। परलोक उसे कहते हैं कि मरण करके उत्पन्न होना, एक भवको छोडकर दूसरी गतिके प्राप्त करनेका नाम है प्रत्याभाव उसे ही कहते है परलोक। और परलोकका कारण है धरम, अधरम। सो धर्म अधरम का भी नाम कारणमे कार्यका उपचार करनेसे परलोक रख दिया गया है। सो एकान्ताग्रह रक्तोमे न तो शुभ अशुभ आस्रवकी सिद्धि है और न धरम अधरम परलोक की सिद्धि है। और न मोक्ष स्वर्ग आदिकी सिद्धि है। जो अनित्य

एकान्त नित्य एकान्त आदिके अभिप्रायोके परवश हुए है उन पुरुषोमें किसीभी प्रकारसे इन तत्त्वोकी सिद्धि नहीं है।

(२५९—२६०) आप्तमीमासा प्रवचन (अष्टसहस्री प्रवचन) ५, ६ भाग

आप्तमीमासाकी ९ वी कारिका तक पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराज के प्रवचन हैं। नमस्कार के योग्य आप्त कौन है इसकी परीक्षामे यह आवश्यक है कि अपने को तीर्थकृत् प्रसिद्ध करने वालोके वचन देखे जावें जिनके वचन पूर्वापर विरोधरहित, युक्तिसम्मत व आत्महितकारी हो वे आप्त है। इसी सिलसिलेमे देखिये जो दार्शनिक सत्ताद्वैत अर्थात् भावैकान्त मानते हैं उस एकान्तमे क्या विडम्बनायें होती हैं उनके अनेक प्रवचनो के बीच उदाहरणमें एक प्रवचनाश देखिये कारिका ९ मे–पृ० ६–अत्यन्ताभाव न माननेसे होने वाली विडम्बनाका निर्देश–अब अत्यन्ताभावके न माननेमे क्या आपत्ति आती है इस बातको भी परखिये। अत्यन्ताभाव कहते हैं द्रव्योका द्रव्योमे अभाव होनेको याने किसी भी द्रव्यका अन्य द्रव्योमे अभाव होना अत्यन्ताभाव है सो जब ऐसा अत्यन्ताभाव नहो मानते तो भावैकान्तका अभाव होना अत्यन्ताभाव है। सो जब ऐसा अत्यन्ताभाव नही मानते तो भावैकान्तवादियोके यहा दो द्रव्य माने गये हैं–प्रकृति और पुरुष। सो प्रकृति और पुरुष मे जब अत्यन्ताभाव नही मानते तो प्रकृति बन गया पुरुषात्मक। तो इसका अर्थ यह है कि सर्वात्मक बन गया। अब वहा फिर कुछ भी द्रव्य न रहेगा। प्रकृति बन गया पुरुषात्मक, पुरुष बन गया प्रकृतात्मक, फिर रहा हो क्या? और तब प्रकृति और पुरुषके सम्बन्धसे लक्षणभेद का करना बिल्कुल विरुद्ध पड जाता है। भावैकान्तवादियोने कहा है कि व्यक्त तो होता है सत्त्व रज तम, इन तीन गुणो वाला, व्यक्त होता है अविवेकी अर्थात् भेदरहित व्यक्त होता है आत्माके भोग्यरूप, ऐसा सामान्य अचेतन प्रसव धर्मवाला व्यक्त होता है, जिसको कि प्राप्ति हो गई और अव्यक्त अर्थात् प्रधान हुआ व्यक्तसे विपरीत, और पुरुष होता है उन दोनोंसे विरुद्ध। अर्थात् केवल चिन्मात्र। इसतरह इन सबके लक्षण का भेद कहना असगत है, क्योंकि अत्यन्ताभाव न माननेसे सर्व सर्वात्मक हो गया, फिर लक्षणभेदका अवसर ही क्या?

भावैकान्त माननेवाले अनेक दार्शनिक है उन सबकी कल्पनाभी प्रागभाव माने बिना पार नही पा सकती, इसका चित्रण कारिका १० वी के एक प्रवचनाश मे देखिये–पृ० ५९–प्रागभावके माने बिना अभिव्यक्तिवाद व सत्कार्यवादमे भी वस्तु व्यवस्थाकी अशक्यता–यहा प्रकरण यह चल रहा है कि घट पट आदिक को पहिले से ही सत् माना जाय और उसकी अभिव्यक्ति होती है और वे प्रधानके परिणाम हैं यह सब मानना युक्तिसगत नही हो सका है और इस तरह साख्यसिद्धान्तके अनुसरणके द्वारा भी प्रधानात्मक समस्त घट पट आदिक पदार्थो का अभिव्यक्तपना मानना युक्त नही है। जैसेकि मीमासक सिद्धान्तमे शब्दको आकाशका गुण मानकर उसे सुननेके योग्य बनानेके लिए अभिव्यक्तिवादकी कल्पना की है और वह कल्पना सगत न बन सकी। इस प्रकार केवल एक प्रकृति और पुरुष इन दोनो तत्त्वोका ही सत्त्व मानकर जो प्रकृतिके विकार महान होकर शब्द रूपादिक मानते है, और उसको आविर्भाव तिरोभावरूपसे मानते है, तो शब्दकी तरह उसकी भी अभिव्यक्ति प्रमाणसिद्ध नही होती है। क्योंकि सर्वदा जब प्रागभावका लोप कर दिया तो कार्यकी अभिव्यक्ति भी अनादि बन बैठेगी? जैसे कि चार्वाक लोग पृथ्वी, जल, अग्नि, वायुको कार्यद्रव्य मानते है और प्रागभाव नही मानते तो जैसे उनके सिद्धान्तमे यह दूषण आता है कि फिर तो ये पृथ्वी आदिक समस्त कार्यद्रव्य अनादि हो जायेंगे। इस प्रकार साख्य और मीमासक जो कि अभिव्यक्तवाद मानते हैं कि चीज सब पहिले से ही हैं। कारणोके द्वारा केवल उसकी अभिव्यक्ति की जाती है। तो उनकी यह अभिव्यक्ति भी प्रागभावके न मानने पर अनादि बन बैठेगी।

सन कार्यद्रव्यवादी हो अथवा अभिव्यक्तिवादी जो प्रागभाव न मानेगे उनके यहा परिणामोकी व्यवस्था नही बन सकती।

भावैकान्तके निराकरक प्रवचनोमे देखिये इतरेतराभावकी उपयोगिता, कारिका ११ के एक प्रवचनांशमे—पृ० ८६—इतरेतराभावके मन्तव्यकी उपयोगिता—तात्पर्य सबका यह है कि वस्तुमे ज्ञानमे, सभीमे एकानेक स्वभावता पाई जा रही है। खाली साधन और सामगीके भेदमे उपचारत उनमे भेद बताना और वस्तुमे भेद बताना और वस्तुमे एक धर्मका हठ बनाना यह युक्त नही हो सकता। अनेकान्तके बिना, सप्रतिपक्ष धर्मके बिना किसी पदार्थका अस्तित्व नही रह सकता ज्ञान है वह एक है तो अनेकान्तात्मकताको लेकर ही एक है। कोई द्रव्य है, घट पट आदिक है तो वह अनेकान्तात्मकताको लेकरही एक है। केवल याने एकानेकात्मकतासे रहित कुछ नही हो सकता। जैसे बताइये कि रूप, रस, गन्ध स्पर्श के बिना घट क्या चीज है? एक माने बिना अनेकताका बोध न होगा। अनेक माने बिना एकात्मकता का बोध न होगा। जब वस्तु एकानेकस्वभावरूप है तब उसमे इतरेतराभावका निराकरण नही किया जा सकता।

कोई दार्शनिक भावैकान्तके दोषोको सुनकर अभावैकान्त मानने लगे कि बस अभाव ही तथ्य है, शून्य ही तत्त्व है तो देखिये वहा क्या समस्या बन जाती है, कारिका १२ वी का एक प्रवचनांश—पृ० १०८—अभावैकान्त मानने पर स्वेष्ट तत्त्वकी सिद्धि—की निरुपायता—अभावका एकान्त स्वीकार करने पर उसका अर्थ यही तो हुआ कि भावका अपन्हव किया गया अर्थात् अस्तित्व मान ही नही। कोई पदार्थ सदैव न रहे तो भावका अपन्हव करने वाले शून्यवादियोके यहा ज्ञान, वाक्य, प्रमाण ये नही बन सकते, फिर किसके द्वारा साधनमे दूषण किया जा सकेगा। सर्वशून्यवादियोने अपने शून्यवादीको ऐसी प्रतीज्ञा की है कि जिस एकत्व अनेकत्व स्वभावमे भावोका निरूपण किया जाता है वस्तुत वह स्वरूप नही है। जिसमे कि एक और अनेक रूप उन भावोमे घटित होता है। इस तरह सबका शून्य है ऐसी प्रतीज्ञा करना सो अभाव एकान्तका पक्ष है। उस अभाव एकान्तके पक्षमे भी जो अपने अर्थका साधन और दूषण रूप बने ऐसे ज्ञानका और वाक्यका वहा होना सम्भव ही नहीं है। न तो दूसरेके साधनमे दूषण दिया जा सकता है और न अपने साधनमे कोई युक्ति दी जा सकती है। तब फिर कुछ प्रमाण ही न रहा, फिर किसे प्रमाणके द्वारा नैरात्म्यकी सिद्धि की जाय तो? न तो अपने समझने के लिए नैरात्म्य सिद्ध किया जा सकता न दूसरेके समझनेके लिए नैरात्म्यकी सिद्धि की जा सकती। भला बतलाओ जो भावका अपन्हव करता है, केवल अभावको ही तत्त्व मानता है वह किस वाक्यके द्वारा दूषण दे सकेगा? यदि कोई भी दार्शनिक अपने पक्षका साधन मानता है और परपक्षको दूषण देना मानता है तो उसके मन्तव्यमे साधनकी सिद्धि बराबर सिद्ध होती है।

भावैकान्त, अभावैकान्त, उभयैकान्त व अवाच्यतैकान्तका निराकरण करने के बाद १४ वी कारिका मे अनुपलम्भका सिद्धान्त बताया है, उसका दिग्दर्शन कीजिये १४ वी कारिका के एक प्रवचनांशमे—प्राहंत शासन का प्रारम्भिक दिग्दर्शन—हे प्रभो, तुम्हारे सिद्धान्तमे वस्तु कथंचित् सत् ही है और वही वस्तु कथंचित् असत् ही है तथा वही कथंचित् उभयरूप है एव वही वस्तु कथंचित् अवाच्य है। ये सब परिज्ञान नया के योगसे होते है। यदि इन धर्मोंको किसीको सर्वथा मान लिया जाय तो वह बाधित होता है। जैसे पदार्थ सर्वथा सत् ही है अथवा सर्वथा असत् ही है अथवा निरपेक्षरूपसे सत् और असत् दोनो रूप ही है अथवा पदार्थ सर्वथा अवक्तव्य ही है, ऐसा कथन बाधित हो जाता है। इस कारिकामे चार भगोकी [illegible] कथंचित् सत् कथंचित् असत् उभय और कथंचित् अवक्तव्य। शेष [illegible] दूसरा

इस कारिका मे आया हुआ च शब्द दे रहा है। च शब्दसे आग्रह करना कि पदार्थ कथचित् सत् अवाच्य ही है कथचित् असत् अवाच्य ही है, कथचित् उभय अवाच्य ही है, ऐसा प्रभो आपका शासन है इस कारिका मे सत्त्व धर्म की अपेक्षा लेकर सप्तभगीका वर्णन किया है। सप्तभगीका स्वरूप है-प्रश्नके वशसे एक वस्तुमे बिना विरोधके विधि और प्रतिपेधकी कल्पना करना सप्तभगी कहलाता है। इस कारिका मे नय योग से इन भगो की सिद्धि की गई है। तो नययोगसे, इस वचन द्वारा यह सिद्ध होता है कि नय वाक्य ७ ही हुआ करते हैं। उनसे अतिरिक्त ८ वा या अन्य प्रकार किसी प्रकार भी भग सम्भव नही है।

सत्त्वकी सप्तभगीमे प्रयुक्त प्रथमभग-स्यात्-सत्, के दोनो शब्दोकी सार्थकता देखिये १६ वी कारिका के एक प्रवचनाशमे-पृ० २०४-प्रथमभगमे प्रयुक्त सत् व स्यात् शब्दका वाच्य उक्त विवरणोसे यहा सिद्ध हुआ कि शब्द एक अर्थका ही प्रतिपादन करने की शक्तिका स्वभाव रखता है, क्योकि शब्दमे सूचना का जो सामर्थ्य विशेष है उसका उल्लघन नही होता। सत्, इस शब्दमे सत्त्व मात्र को कहनेका सामर्थ्य है, असत्त्व आदिक अनेक धर्मो के कहनेमे उस सत्शब्दका सामर्थ्य नही है। इसो प्रकार स्यात् शब्द को बात सुनो-यहा सप्तभगीमे स्यात् सत, अस्यात आदिक प्रयाग है ना, तो प्रत्येक शब्दोका यहा अर्थ बताया जारहा है। सत् शब्दका अर्थ बता दिया गया और सिद्ध किया गया कि सत् शब्दका अर्थ केवल सत्त्वमात्रके कहनेमे सामर्थ्य है। असत्त्व आदिक अनेक अर्थो के कहनेमे नही। तो इसी प्रकार स्यात् शब्द दो रूपोमे निरखा जाता है-वाचक और द्योतक। वाचकका अर्थ है इन अन्य शब्दोकी तरह किसो अर्थको कहने वाला और द्योतक का अर्थ है कि जो बात स्पष्ट नही कही गई है उसका भो द्योतन करने वाला। अर्थात् न कहे गये अर्थ का भो जो कि न्यायप्राप्त है उसका सकेत करने वाला। तो जब स्यात् शब्दको वाचक दृष्टिमे देखते हैं तब स्यात् का सामर्थ्य अनेकान्त मात्रके कहनमे है। स्यात् शब्दका वाच्य अनेकान्तमात्र है, किन्तु एकान्तके वचन करने मे उसका सामर्थ्य नही है। जब हम स्यात् शब्दको द्योतकपनकी दृष्टिसे निरखते हैं तो स्यात्शब्दका सामर्थ्य विशेष अविवक्षित समस्त धर्मो की सूचना करने मे है, याने जिन धर्मो का उस भगमे नही कहा गया है और उस भगमे विवक्षा भी नही है उन समस्त धर्मो को सूचित करता है स्यात् शब्द। हा विवक्षित पदार्थ के कहने मे स्यात्का सामर्थ्य नही है। जैसे प्रथम भग है सर्वस्यात्सत्। तो उस भगमे सत् धर्मका प्रयोग स्पष्ट किया गया है और यहा इस भगकी विवक्षा है। तो द्योतक स्यात् शब्द सत्को कहनमे सामर्थ्य रख रहा है। अन्यथा अर्थात् यदि द्योतक स्यात् शब्द विवक्षित का ही सत् धर्मको ही कहनमे सामर्थ्य रखता हो तब तो स्यात् कहने के बाद फिर सत शब्दका कहना व्यर्थ क्योकि स्यात् शब्दने ही सत् धर्मका बता दिया है। फिर उस सत् धर्मका या विवक्षित धर्मके वाचक शब्दका प्रयोग करना व्यर्थ हो जायगा। इससे सिद्ध है कि द्योतक स्याद् शब्द उन धर्मो को सूचनामे सामर्थ्य रखता है जो धर्म इस भगमे विवक्षित नही है और जिन्हे कहा भी नही गया है।

वस्तुस्वरूपका ज्ञान कराने वाली सप्तभगीमे समस्त भगोकी सार्थकता क्या है इसका दिग्दर्शन कीजिये २२ वी कारिकाके एक प्रवचनाशमे-पृ० २७१-२७२ धर्मोके प्रत्येक धर्ममे अन्य अन्य प्रयोजन होनेसे किसी एक धर्मका अभिहित होने पर शेष धर्मो की अगतता होने से सभी भगोके कथन की सार्थकता बताते हुए उक्त शकाओका समाधान-अनन्त धर्मात्मक धर्मो के धर्म धर्म मे, प्रत्येक धर्म मे जुदे जुदे ही प्रयोजन हैं, अतएव उन सब धर्मो का निरूपण करना आवश्यक है। अब यहा यह एक रहस्य समझ लीजिये कि उन सब धर्मो मे जिस किसी भी धर्म का वर्णन किया जाय, लक्ष्यमे लिया जाय तो वह उस समय बन गया

वह अगी धर्मी, और उस एक धर्म को धर्मी मान लिए जाने पर शेष जो धर्म है उनमे सिद्ध होता है उसका धर्मपना। जैसे एक जोव वस्तुमे अनन्त धर्म है, उन अनन्त धर्मो में से जब एक स्वरूप सत्त्वका वर्णन किया जा रहा है, स्वरूपसत्त्वको दृष्टिमे लिया जा रहा है तो इस स्थितिमे अब स्वरूप सत्त्व भगी बन गया। इसकीसिद्धि बनायी जा रही है। तो स्वरूपसत्त्वका समर्थन पररूपके असत्त्वसे मिलता है ना। तो अब पररूपका जो असत्त्व है वह स्व असत्त्व अगीका धर्म बन गया। तो धर्मी धर्मी की व्यवस्था लक्ष्य और लक्षणो पर निर्भर है। यहा धर्मी का अर्थ है अनन्त धर्मात्मक पदार्थ, इसके लिए अनुमान प्रयोग किया जाता है कि अनन्त धर्मात्मक सत् धर्मी न कहलाये तो इसकी प्रमेयता नहीं बन सकती है। चूंकि ये अनन्त धर्मात्मक जोवादिक पदार्थ प्रमेय है, प्रमाणके विषयभूत है इस कारण ये वस्तु सब धर्मी कहलाते है। जो अनन्त धर्मात्मक वस्तु है वह हो प्रमेय होती है। जो जो प्रमेय होता है वह अनन्त धर्मात्मक वस्तु है वह ही प्रमेय होती है। जो जो प्रमेय होता है वह अनन्त धर्मात्मक सत् ही होता है।

(२६१—२६२) आप्तमीमांसा प्रवचन (अष्टसहस्री प्रवचन) ७, ८ भाग

इसमे आप्तमीमांसाकी २४ वी कारिकासे ५५ वी कारिका तक पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराजके प्रवचन है। अद्वैत एकान्तका आग्रह करने पर क्या क्या प्रसग उपस्थित होते है, इसका दिग्दर्शन कीजिये २५ वी कारिकाके एक प्रवचनमे–पृ० ९–अद्वैतकान्ताग्रहमे कर्मद्वैत, फलद्वैत, लोकद्वैत, ज्ञान अज्ञान, बन्ध मोक्षादि की असिद्धिका प्रसग- अद्वैतका एकान्त माननेपर न तो कार्यबत सिद्ध होगा कि ये पुण्य कर्म है, ये पापकर्म हैं, ये लौकिक कर्म है, ये अलौकिक कर्म हैं। यो न तो किसी प्रकार का कर्मद्वैत सिद्ध होगा और न फलद्वैत सिद्ध होगा कि यह तो अच्छा फल है और यह बुरा फल है, यह श्रेयकर है, यह विनाशकर है, ऐसा फलभेद भो सिद्ध न होगा। और, न लोकद्वैत सिद्ध होगा, यह लोक परलोक भी सिद्ध न होगा कि यह लोक है, यह परलोक है और न ज्ञान अज्ञान सिद्ध होगा कि यह ज्ञानभरी बात है, यह अज्ञानभरी बात है। तो यो जब ये सभी सिद्ध न हो सके तो बन्ध और मोक्ष भो सिद्ध न होगा। और यदि ये बातें मानी जाती है तब तो अद्वैत न रहा, द्वैत सिद्ध हो गया। और, यदि यह बात नही मानते तब तो धर्म किसलिए करना ? जब जोवको बन्ध नही है और न उस बन्धसे छुटकारा होने का कोई उपाय है तब यह धर्मप्रवृत्ति, प्रभुभक्ति, तत्त्वज्ञान, ध्यान, साधना आदि ये सब किसलिए कराये जायेंगे ? ये सब व्यर्थ हो जायेंगे। तब सब कुछ लोकमे एक मनचली वृत्ति बन जायेगी। इस कारण यह मानना ही होगा कि यह सब व्यवस्था है और जीव अनन्त है। उन सब जीवोका इस समय बन्ध संकट लग रहा है तो बन्ध सकट से मुक्त होने के लिए तत्त्वज्ञान यथार्थ श्रद्धान और सब प्रकार की धर्मवृत्ति करना आवश्यक है, अद्वैत एकान्तमे ये बात कुछ नही सिद्ध हो सकती, अत अद्वैत एकान्त प्रत्यक्ष आदिसे विरुद्ध है।

द्वैतका विरोध करने पर अद्वैतकी सिद्धि करना असभव है, देखिये २६ वी कारिकाके एक प्रवचनाशमे–पृ० १४–द्वैतके विरोधसे अद्वैतको सिद्धिकी अशक्यता-शकाकार यह बताये कि हेतु मे अद्वैतसाध्यकी सिद्धि होती है या हेतुके बिना ही अद्वैतकी सिद्धि होती है ? यदि हेतु से अद्वैतको सिद्धि मानी जाती है तो इसमे हेतु और साध्य ये दो तो मानने ही पडे तो वहा द्वैत सिद्ध हो ही गया। अगर हेतु से अद्वैतको सिद्धि कर रहे हैं तो हेतु और साध्य अर्थात् प्रतिभास समानाधिकरणत्व हेतु हुआ और अद्वैत साध्य हुआ, तो यो दो भेद तो हो ही गये, एक ही कुछ तो न रहा। हेतु हुआ और साध्य हुआ। यदि हेतुके बिना ही अद्वैतकी सिद्धि करते हो तो केवल वचनमात्र ही तो रहा। बोल देने का हेतु को

आवश्यकता तो न हुई। अगर केवल बोलने मात्रसे सिद्धि हो जाय तो दुनियाके लोग जो कुछ भी बोल जाये तब उनकी बात सिद्ध हो जायगी।

अद्वैतकान्तके एकान्तत विरोधी दार्शनिक प्रथक्त्वका एकान्त करते हैं कि सभी तत्त्व जो जो भी ज्ञात हो परस्पर पूर्णतया भिन्न ही हैं। तो ऐसे पृथक्त्वेकान्तवादमे देखिये शून्यताका प्रसग आ जाता है, पढ़िये ३० वी कारिकाके एकप्रवचनाशमे—पृथक्त्वेकान्तमे सर्वअन्तस्तत्त्व बहिस्तत्त्वका अभाव हो जानेसे शून्यताका प्रसग—पृथक्त्वेकान्तकी हठ करने वाले शकाकार यह बतलाये कि ज्ञेयसे ज्ञान वे भिन्न मानते हैं तो ज्ञेय से ज्ञान क्या सत्त्वस्वरूपसे भी भिन्न है? अर्थात् ज्ञानमे और ज्ञेयमे दोनोमे सत्त्व तो माना ही गया है। तो जब दोनोमे सत्त्व पाया जा रहा तो सत्त्वकी अपेक्षासे ही सही, ज्ञान और ज्ञेय पृथक न रहे। तो ज्ञान और ज्ञेय यदि सत्त्वस्वरूपसे भी भिन्न हो जायें, क्योंकि भिन्नताका एकान्त कर रहे ना। कुछ भी समझमे आया, चलो कह दो बिल्कुल भिन्न है, ऐसा उनका नियम बन गया है। तो ज्ञेयसे ज्ञान यदि सत्त्वस्वरूप से भी भिन्न हो गया तो दोनो असत् हो गये। न ज्ञान सत् रहा न ज्ञेय, क्योंकि सत्त्वस्वरूपसे दोनो को भिन्न मान लिया है। तो ज्ञान क्या सत् रहा? तो हे प्रभो, जो तुम्हारे शासनसे द्वेष रखते हैं अर्थात् जो स्याद्वाद शासनको नही मानते है उनके यहा न अतरगतत्त्वकी सिद्धि होगी और न बहिरग तत्त्वकी सिद्धि होगी।

अद्वैतकान्त व पृथक्त्वैकान्तका निराकरण करके उन दोनो पक्षोका स्याद्वादसे जो समन्वय किया है उसे परखिये ३४ वी कारिकाके एक प्रवचनाशमे—एकत्व और पृथक्त्वके ज्ञानके सविषयत्वका समर्थन—सत्त्व सामान्यको दृष्टिसे सर्वमे ऐक्य है, अभेद है और द्रव्यादिकके भेदसे उन सबमे पार्थक्य है जैसे कि असाधारण हेतु समीचीन है। भेद विवक्षामे और अभेद विवक्षामे पृथक्त्वस्वरूप हो ऐक्यस्वरूप है। जब सर्व पदार्थो का सत्त्व सामान्यसे देखे तो सर्व सत् प्रतीत होता है। सत्त्वकी दृष्टिसे सबमे अभेद है, पर जब वहा देखते है कि यह द्रव्य है, यह गुण है, यह पर्याय है तो इस भेदकी दृष्टिसे वहा पार्थक्य है तब निर्विषय कैसे रहा? एकत्व व पृथक्त्वपना ज्ञान सत् सामान्यविशेषका आश्रय लेकर ही तो सर्व जीवादिक पदार्थो मे ऐक्य माना गया है। तो ऐक्य का जो ज्ञान हुआ है उस ज्ञानका विषय है सत्त्वसामान्य। या प्रतीति मे आ ही रहा कि सत्त्व सामान्यकी दृष्टिसे सब एक है तब एकत्वका ज्ञान निर्विषय न रहा। उस एकत्वके ज्ञानका विषय है सत्सामान्य, इसी प्रकार सर्व जीवादिक विशेष जब द्रव्यादिक पदार्थ भेदका आश्रय करके न निरखा जाय तो वहा पृथक्त्व प्रतीत होता है। तो पृथक्त्वका ज्ञानभी निर्विषय न रहा। पृथक्त्वके ज्ञानका विषय है द्रव्यादिक भेद। तो इस तरह जब एकत्वका ज्ञान पृथक्त्वका ज्ञान विषय है द्रव्यादिक भेद। तो इस तरह जब एकत्वका ज्ञान पृथक्त्वका ज्ञान विषयरहित न रहा, उनका विषय है तो सिद्ध हो गया कि वस्तु एकरूप भी है और अनेक रूप भी है।

नित्यत्वैकान्तका आग्रह करने पर दोषापत्तियोकी झलक कीजिये ३७ वी कारिका के एक प्रवचनांशमे-पृ० ९६-इस कारिकाने नित्यत्वके एकान्तके निराकरणकी सूचना दी है। नित्यत्व एकान्तका अर्थ क्या है? कूटस्थ होनेका अभिप्रायरखना। सर्वथा नित्य है इसका अर्थ है कि वह सर्वथा कूटस्थ है और ऐसा अभिप्राय रखनेका नाम है नित्यत्व एकान्त उसका पक्ष करना अर्थात् आग्रह करना सो उसे कहते हैं नित्यत्वैकान्त पक्ष। इस आग्रहमे नाना प्रकार की क्रियाये जो परिणमन रूप हैं, परिस्पदरूप है वे कोई भी नही उत्पन्नहो सकती हैं, क्योंकि नित्यत्वका एकान्त माना है। अपरिणामी कूटस्थ जब मान लिया गया तो वहा क्रिया कैसे सम्भव होगी? क्रिया यदि बनती है तो कूटस्थता नही रहती है। और, दूसरी बात यह सुनो कि क्रिया उत्पत्तिसे पहिले ही जब उस पदार्थ की उत्पत्ति है तो इसके मायने यह है कि क्रिया

उत्पत्तिसे पहिले कारकका अभाव न बनेगा। अर्थात् सदा कारक रहेगा। तो जो कूटस्थ पदार्थ है वह जैसे पहिले कारक होता है उसी तरह यह आत्मा भोगनेका कारक हो जायगा। यदि पहिले ही कारक का अभाव माना जाय याने कूटस्थ आत्मामे क्रियाकी उत्पत्तिसे पहिले ही कारकका अभाव है ऐसा स्वीकार किया जाय तो वहा किसी भी प्रकार का अनुभव, परिणति, सुख दुःख आदिकका बोध ये कुछ भी न बन सकेंगे। और, यो फिर सदा ही आत्मा अकारक रहेगा, क्योकि पहिले की तरह उत्पत्तिकाल मे भी कारकका अभाव सिद्ध होता है। जो एकान्त मानते है उनके यहा कार्य उत्पन्न होनेसे पहिले जैसे वह पदार्थ कर्ता नही, उसमे किसी प्रकारका परिणमन नही, तो यो ही कार्यकी उत्पत्ति होने पर भी कारका अभाव ज्योका त्यो सिद्ध रहेगा।

क्षणिक एकान्तपक्षमे भी अनेक दोष उपस्थित होते हैं उनका सकेत लीजिए ४१ वी कारिकाके एक प्रवचनाशमे-पृ० ११२-क्षणिकैकान्त पक्षमे प्रेत्यभाव कार्यारम्भ, फल आदिके अभावका प्रसग क्षणिक एकात के आग्रहमे भी परलोकादिक असम्भव हो जाते है, क्योकि वहा प्रत्यभिज्ञान स्मृति आदिक ज्ञान नही तो वहा न कार्य आरम्भ हो सकता और न उसका फल हो सकता। क्षणिक एकान्त पक्ष अर्थात् सभी वस्तु एक समय रहती हैं, अगले समयमे उसका मूलत नाश हो जाता है, ऐसे मन्तव्यके पक्षमें ज्ञानका कार्यारम्भ नही हो सकता। क्योकि इस क्षणिक एकान्तमें प्रत्यभिज्ञान स्मृति, इच्छा आदिक कुछ भी कार्य नही हो सकते, प्रत्यभिज्ञान आदिक तभी तो होगे जबकि कोई एक आत्मा हो। उसी ने पहिले अनुभव किया हो, अब स्मरण हो रहा हो तो ये प्रत्यभिज्ञान स्मरण आदिक होते हैं अन्यथा नही। जैसे कि भिन्न भिन्न आत्माओके ज्ञानक्षणमे प्रत्यभिज्ञान आदिक तो नही होते। हमने कोई वस्तु अनुभूत की तो दूसरा कोई पुरुष उसका स्मरण करले ऐसा तो नही हो सकता। तो जैसे भिन्न भिन्न आत्माओके ज्ञानमे एकका दूसरे को स्मरण नहीं इसी तरह एक देहमे भी उत्पन्न होने वाले अनेक ज्ञानक्षणमे भी स्मरण आदिक नही हो सकते, क्योकि उन्हे भी तो भिन्न भिन्न ही माना गया है। जब तक जानने वाला आत्मा एक न माना जाय तब तक प्रत्यभिज्ञान आदिक नही बनता।

जैसे सर्वथा सत् मानने पर कार्यनिष्पत्ति नही, इसी प्रकार सर्वथा असत् मानने पर भी कार्यनिष्पत्ति नही, तब कार्यव्यवस्था कैसे है इसका समाधान देखिये ४२ वी कारिका के एक प्रवचनांशमें-पृ० १४७-द्रव्यापेक्षया सत् व पर्यायापेक्षया असत् के कार्यपना मानने पर कार्यकारण व्यवस्थाकी एक उत्पादव्ययस्थितिकी सिद्धि- कोई वस्तु है तब उस सद्भूत वस्तुमे नवीन पर्यायरूपका विकास होता है। वह तो है उसका उत्पाद और जो पर्याय व्यक्तरूप है वह पर्याय विलीन हो जाती है, क्योकि उसमे नवीन परिणति हुई है। एक पदार्थमे पूर्व और उत्तर ये दो परिणमन एक साथ नहीं ठहर सकते है। जब नवीन परिणमन होता है तो पूर्व परिणमन विलीनहो जाता है यही कहलाता है विनाश और नवीन परिणमन होना है यही कहलाता है उत्पाद। तो सद्भूत पदार्थको माने बिना उत्पाद व्ययकी कल्पना भी नही की जा सकती, इसी को अनेक दार्शनिकोने गुणपर्यायरूपसे वर्णन किया है। लेकिन एकान्त पक्षमे गुणोका अलग और पर्यायो का अलग सत्तारूपसे वर्णन किया है। किन्तु तथ्य यह है कि वस्तु एक है, सत्स्वरूप है, शक्तिमान है और उसकी शक्तियोके जो विकास है वे परिणमन कहलाते हैं, यो यो गुण और पर्याय सद्भूत वस्तुमे एक साथ बने हुए है और दोनोका उस सद्भूत वस्तुसे तादात्म्य है। पर्याय तो जिस समयमे प्रकट हुई है उस समय तादात्म्यरूपसे है और शक्तिया पदार्थमे शाश्वत तादात्म्यरूपसे हैं फिर भी इनका स्वरूप समझनेके लिए भेददृष्टि करके भेद समझा जाता है कि जो अभेद पिण्ड है वह तो है द्रव्य और जो शक्तिया हैं वे कहलाती हैं गुण, उनका जो व्यक्तरूप है, परिणमन है वह कहलाता है पर्याय। पर्यायका

कार्य कहते है। भेद इस तरह किया जाता है और कालभेदमे भी किया जाता है जो शाश्वत है वह तो है द्रव्य और और जो कुछ समयको हुई है वह है पर्याय।

क्षणिकैकान्तवादमे न तो हिंसकमे हिंसाहेतुता सिद्ध हो सकती है और न मोक्षकी अष्टागहेतुता सिद्ध हो सकती है, पढिये ५२ वी कारिकाके एक प्रवचनाशमे, पृ० १८७–क्षणिककान्तपक्षमे हिंसकमे हिंसा हेतुत्वके अभावका प्रसग तथा मोक्षकी अष्टागहेतुताके अभावका प्रसग–क्षणिकएकान्तमे वस्तुके विनाशको अहेतुक माना गया है। सो जब वस्तुत नाश किसो कारण से होता ही नही है तो किसी जीवकी हिंसा करने वाला हिंसक पुरुष हिंसाका कारण न बन सकेगा। फिर हिंसक पुरुष खराब क्यो कहलायगा ? वह तो किसी की हिंसा का कारणभूत ही नही है। क्षणिकवादमे दूसरा दोष यह भी है कि वहा मोक्ष माना गया है चित्तसततिनाशको, सो जब चित्तकी सततिका विनाश हो जाता है, जो प्रतिक्षण नये नये जोव उत्पन्न होते रहते है उन चित्तक्षणोमे जो सतति बन रही है उस सततिका हो गया इसीके मायने निर्वाण है और उसे बताया गया है कि वह निर्वाण सम्यक्त्व सज्ञादिक ८ अगोके कारणसे होता है। तो यह बात तो परस्पर विरुद्ध हो गई कि जब चित्तसततिका नाश अहेतुक है, सभो विनाशोको क्षणिकवादी अहेतुक मानते हैं फिर उस चित्तसततिनाशको अष्टागहेतुक कसे कह दिया गया ? सो ये क्षणिकवादो लोग विनाशका सर्वथा अहेतुक मानते है तो उस मतव्यमे ये दोष आते हैं।

पदार्थका निरन्वय विनाश नही होता। यदि निरन्वय विनाश होता तो सदृश व विसदृश कार्यकी सिद्धि नही हो सकती, पढिये ५३ वी कारिकाके एक प्रवचनांशमे–पृ० १६२–और भो देखिये–निरन्वय विनाश मानने वाले के यहा यह भी विवेक नही बन सकता कि यह विरूप कार्य है और यह सदृश कार्य माना गया है और विरूप कार्यमाना जानेका कारण यह है कि क्षणिकवादमे कारणका कथचित भी अन्वय नही माना है, अर्थात् द्रव्यकी अपेक्षासे अन्वय जो सिद्ध है उसको नही माना गया, उनके सिद्धान्तमें प्रतिक्षण होने वाले पदार्थ परिपूर्ण हैं और अपने आपके अन्वयके बिना हैं तो अन्वय न मानने पर सदृश कार्यकी सिद्धि नही की जा सकती है। जब द्रव्यापेक्षया पदार्थ पहिले क्षणमे भी हैं और उत्तरक्षणमे भी हो तब तो वहा सदृश कार्यको बात कही जा सकतो है, किन्तु जहा अन्वय किसो भी प्रकार नही है, वहा सदृश कार्यका ज्ञान नही बताया जा सकता। ऐसो स्थितिमे जाननहारके अभिप्रायके कारण सदृश और विरुद्ध कार्यकी कल्पना करलो जाय तो ऐसी कल्पना करने वाला दार्शनिक जाननहारके अभिप्रायके कारण विनाशको सहेतुक क्यो नही मान लेता है ?

(२६३–२६४) आप्तमीमासा प्रवचन (अष्टसहस्रीप्रवचन) ९–१० भाग

इसमे आप्तमीमासा की ६१ वी कारिका स ८७ वी कारिका तक के प्रवचन है। देखिये विशेषवाद मे भेदकान्त सिद्धि का सक्षिप्त दिग्दर्शन ६१ वी कारिका के एक प्रवचनाशम–विशेषवादियो ने काय कारण मे नानापन माना है। जसे कार्य तो हुआ घट, कारण हुआ मृतपिण्ड तो इस कार्य कारणोमे सर्वथा भेद है। गुण गुणो मे भेद माना है। जैसे गुणी हुआ आकाश और गुण हुआ महत्व इन दोनोमे भेद है। सामान्य सामान्यवान मे भेद माना है सामान्य तो हुए पर सामान्य अथवा अपरसामान्य और सामान्यवान हुए पदार्थ, द्रव्य, गुण, और कर्म। इसी प्रकार भाव और अभाव के विशेष्य में भेद माना है। अभाव हुआ अभाव ही और जिसमे अभाव पाया जाता वे हुए पदार्थ अभाव के विशेष्य, जैसे घटका अभाव, तो यहा दो बातें कही गई–अभाव और घट। इसमे भेद माना जाता है। इसी प्रकार विशेष्य और विशेषवान मे भो भेद, अवयव अवयवी मे भी भद इस तरह एक भद एकान्तका सिद्धान्त है। इस दार्शनिकका नाम ही वैशेपिक है। जहा विशेष अर्थात् भेद भेद ही माना जाता है। थोडा भी कुछ

परिचय विशिष्ट प्राप्त हो रहा हो वहा भेदका एकान्त कर दिया जाता है। ऐसी वैशेषिकवाद सिद्धात की बात इस कारिका मे सूचित की गई है।

भेदैकान्त पक्षमे क्या आपत्ति है इसका भी सक्षिप्त दिग्दर्शन कीजिए ६३ वी कारिका के एक प्रवचनांशमे-भेदैकान्त पक्ष मे गुण गुणी आदि मे देशभेद व काल भेद हो जाने की आपत्ति-जैसे कि पृथगाश्रय वाले घट पट पदार्थोका देश भेद और कालभेद सेरहना। बन रहा है इसी प्रकार गुण गुणी अवयव अवयवी आदिकका भी भेद एकान्त मानने पर देश भेद मे और काल भेद मे उनका रहना बनेगा, किन्तु ऐसा तो प्रत्यक्ष से विरूद्ध है। भेद एकान्त पक्ष मानने पर समान देशता नही बन सकती है। कोई यह सोचे कि अवयव अवयवी का हम एक ही देश मे आस्थान मान लेते है तो कहने मात्र से बात न बन जायगी। जो मूर्त है अवयव अवयवी, कारण कार्य उन्हे सर्वथा भिन्न-भिन्न भी माने और समान देश मे उनका रहना माने यह बात नही बन सकती। अत यह स्वीकार करना होगा कि गुण गुणी अवयव अवयवी कारण कार्य आदिक लक्षण भेद से तो भिन्न है लेकिन आश्रय आधार सत्व ये न्यारे न्यारे नही है।

भेदैकान्त व अभेदैकान्त के प्रसग मे तथ्य का निर्णय देखिये ७१-७२ वी कारिकाके एक प्रवचनाश मे-द्रव्य और पर्याय मे कथचित अन्यता व कथचित अनन्यता की सिद्धि-यहा प्रकरण चल रहा है इसका कि द्रव्य पर्याय मे कार्य कारण मे अन्यता है या एकता है सिद्ध किए जा रहे उस द्रव्य पर्यायमे लक्षण आदिकके भेदसे भिन्नता है और बस्तु एक है अतएव एकता है। इसको पुष्टिके लिए रूपादिक का उदाहरण भी उपयुक्त है। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श ये सब जो पाये जा रहे है मूर्त पदार्थो मे सो यह बताये कोई कि रूप रस गन्ध आदिक परस्पर मे अन्य-अन्य हो है या एक रूप है? वहा सिद्ध यही होगा कि कथञ्चित अन्य-अन्य रूप है कथञ्चित अनन्य है। तो रूपादिक के उदाहरण मे भी साध्य और साधन पाये जाते है। तो कथञ्चित नानापन से व्याप्त जो भिन्न लक्षणापना है उसकी यहा सिद्धि की गई है, परस्पर व्यतिरिक्त स्वभाव सज्ञा, सख्या आदिक के द्वारा अर्थात उनमे स्वभाव भिन्न है, सख्या भिन्न है, प्रयोजन भी भिन्न है अतएव द्रव्य और पर्याय कथञ्चित नानारूप है, उनमे भिन्नता है, रूपादिकका लक्षण और रसादिकका लक्षण भी भिन्न भिन्न है अतएव वहा पर भी कथञ्चित नानारूप विदित होता है। रूपादिकका लक्षण है रूपादिकके ज्ञानके प्रतिभास के योग्य होना अर्थात् यह रूप है इस तरह के प्रतिभास के जो विषय हो सकते है वह रूप है ऐसा रूप, रस आदिक मे सब मे अपनी-अपनी बुद्धि का भेद है, इस कारण कथचित रूपादिक मे नानापन सिद्ध होता है। तो द्रव्य और पर्याय मे लक्षण आदिक के भेद से नानापन है इसकी सिद्धि मे रूपादिक के उदाहरण भी सही हो जाते हैं।

तत्वसिद्धि आगम से होती है या हेतु से होती है इस विषय मे कोई एकान्त नही करना चाहिए इस विषय के समर्थन का उपसहार देखिये ७८ वी कारिका के अन्तिम प्रवचनांशमे-अपेक्षावनसे हेतु सिद्धता व आगम सिद्धता का उपसहार-सर्व कुछ हेतु से सिद्ध है, क्योकि वह करण अर्थात् इन्द्रिय और आप्त वचनकी अपेक्षा नहा करता। इसी तरह सब कुछ कथचित हेतु से सिद्ध है और कथचित सर्व आगम से सिद्ध है, क्योकि इन्द्रिय और साधन की अपेक्षा न करने से। यहा दृष्टिया दो कही गई है आप्त वचन की अपेक्षा न करना और इन्द्रिय साधनकी अपेक्षा न करना इन दोनो दृष्टियो से ये उक्त दो बाते सिद्ध हुई। अब क्रम मे अर्पित इन दोनो दृष्टियो से उभय से सिद्धि सिद्ध होती है। अर्थात् हेतु मे भी सिद्ध है और आगम से भी सिद्ध है। जब एक साथ दोनो दृष्टियो को लिया जाता है तो वहा अवक्तव्यपना

सिद्ध होता है। शेष ३ भग पूर्वकी तरह समझना चाहिए। इस तरह सप्तभंगीकी प्रक्रिया युक्त कर लेना चाहिए। इस परिच्छेदमें यह बताया गया है कि जो उभय तत्त्व इस ग्रन्थमें परिगणित किया गया है उस को समझने का उपाय तत्व क्या है? किस उपाय से उन प्रमेय तत्वो के स्वरूप की समझ आये? उस सम्बन्ध मे बताया गया है कि समस्ततत्व कथचित हेतु से सिद्ध होता है और कथन्चित आगम से सिद्ध होता है।

कुछ लोग केवल ज्ञान मात्र अन्तरग अर्थ ही स्वीकार करते है और कोई लोग मात्र बहिरंग अर्थ ही स्वीकार करते है, किन्तु इन दोनो म मे किसी एक को स्वीकार करने पर दूसर का स्वीकारता अवश्यभावी सिद्ध है। उस विषय का तथ्य देखि ८७ वी कारिका के एक प्रवचनागमे–ज्ञान ज्ञय मे मे किसी भी एकको मानने पर द्वितीय की अवश्यभाविनी सिद्धि बहुत दूर जाकर भी अर्थात बडी चर्चाये करने के बाद भी यह मानना ही पडेगा कि कोई ज्ञान अपने इष्ट तत्व का आलम्बन करने वाला होता है और वही वेदाकार वेदाकार ब्रह्म अर्थ ज्ञान मे स्वरूप से अन्य किसी पदाथ के आलम्बन को सिद्ध कर देता है अर्थात ज्ञान मे जब ग्राह्ययाकार ग्राहकाकार बन रहे है तो उससे बाह्य पदार्थ अवश्य है यह सिद्ध होता है न होते बाह्य पदाथ तो ज्ञान मे यह विप यह आकार कसे प्रतिबिम्बित होता, इस कारण उक्त प्रकार से बाह्य अर्थकी सिद्धि हो गई, तो बाह्य अर्थ की सिद्धि होने से वक्ता, श्रोता, प्रमाता ये तीन सिद्ध हो गए और फिर उन तीनो के बोध, वाक्य और प्रभा याने बुद्धि ये भी तीनो सिद्ध हो जाते है। यो मूल बात कही जा रही थी कि जीव शब्द बाह्य अर्थ से सहित है याने जीव शब्द वाचक है और उससे जीव नामक पदाथ वाच्य होते है। तो जीव शब्द से सबाह्य अर्थपना सिद्ध करने मे उस सज्ञापन का हेतु दिया गया है। उस हेतु मे न असिद्ध दोष है न अनेकातिक दोष है और न वहा जो दृष्टान्त बताया गया है जसे हेतु शब्द, माया शब्द, भ्रान्ति शब्द, प्रभाशब्द, किन्ही भी दृष्टान्त तो मे कोई दोष नही हैं। कोई भी दृष्टान्त साधन धर्म आदिक से रहित नही है जिससे कि जीवकी सिद्धि न हो। तो जीवशब्द से ही जीव पदार्थ की सिद्धि हो जाती है। जब जीव की सिद्धि हो गयी तब अर्थ को जानकर पदाथ को समझकर प्रवृत्ति करने वाले सम्वाद और विसम्वाद की सिद्धि सिद्ध हो ही जाती है। इसी प्रकार यहा तक यह सिद्ध हुआ कि केवल अन्तरग पदार्थ ही नही है बहिरंग पदार्थ भी है याने केवल ज्ञान ही है। सो बात नहीं है किन्तु घट पद आदिक बाह्य पदार्थ भी है, सभी अनुभव करते है कि हम जान भी रहे है और बाह्य पदार्थो को भी समझ रहे है।

(२६५–२६६) आप्तमीमांसा प्रवचन (अष्टसहस्रीप्रवचन) ११–१२ भाग

इसमे आप्त मीमासा की ८८ वी कारिका से अन्तिम ११४ वी कारिका तक के प्रवचन हैं। कोई दार्शनिक कहते है कि भाग्य से ही कार्य सिद्धि होती है, कोई दार्शनिक कहते है कि पुरुषाथ से ही कार्य सिद्धि होती है उनके पक्ष के समर्थन के बाद जो निर्णय दिया गया है उसका दिग्दर्शन कीजिए–दैवैकान्त व पौरुषैकान्त के निराकरण का उपसहार–दैव से अर्थ सिद्धि होती है या पौरुष से? इस सम्बन्ध मे किसी एकान्त को ही नही कहा जा सकता है। इन दोनोमे किसी एकका अगर अभाव कर दिया जाय तो व्यवस्था न बनेगी। पुण्य पाप या अर्थ सिद्धि की व्यवस्था अपेक्षाकृत ही बनेगी। दोनो मे परस्पर अपेक्षा रखी जायेगी, दैव और पौरुष की व्यवस्था एक दूसरे की अपेक्षा रख कर ही बनेगी। पौरुष की अपेक्षा न रखकर केवल दैव से ही सिद्धि मानी जाय अर्थात पौरुष वहा जरा भी नही है, पौरुष से अर्थ सिद्धि नही होती है किन्तु मात्र दैव से ही होती है, ऐसी एक भी घटना न मिलेगी। अथवा जहा यह कहा जा सके कि पौरुषसे ही सिद्धि होती है, दैव का जरा भी काम नहीं है, तो ऐसी भी घटना कोई लोकमे न मिलेगी।

दोनो की परस्पर अपेक्षा रहती है तब अर्थ की सिद्धि होती है। दूसरे का सद्भाव न मान कर अथवा अपेक्षा न रखकर बात कही जाय तो न बनेगी। दूसरे का सदभाव मान कर अथवा अपेक्षा न रखकर बात कही जाय तो न बनेगी। दूसरे का सदभाव मान कर अपेक्षा रखकर अपेक्षा का अभाव न करके परस्पर मे सहायता रूप से देव और पुरूष दोनो से ही अर्थ की सिद्धि होती है। जहा पौरूष प्रधान नजर आ रहा है कि यह मनुष्य पुरूषार्थ के बल से यह काम बना रहा है तो वहा उसके पौरूषमे देव सहाय पडा हुआ है। विधि भाग्य उसके अनुकूल है तब उस प्रकार का पौरूष उसका सफल हो सका है। जहा यह दृष्टिगत हो रहा हो कि हमे देव से ही सिद्धि हुई है तो वहा पर भी पुरूषार्थ की सहयता है, तो दोनो से ही अर्थ की सिद्धि होती है। उनमे एकान्त अभिप्राय करना सिद्धान्त के प्रतिकूल है।

किसी दार्शनिक का मत है कि दूसरे मे दु.ख होने से पाप बन्ध और सुख होने से पुण्यबन्ध होता है तथा किसी दार्शनिक का अभिमत है कि स्वय के दु ख से पुण्य और सुख मे पाप बन्धता है। इन दोनो पक्षोसे स्पष्टीकारक के बाद जो निर्णय दिया गया है उसका दिग्दर्शन कीजिए ९५ वी कारिका के एक प्रवचनाशमे-विशुद्धि सक्लेशाग स्वपरस्थ सुख दु.ख की पुण्यापापास्रव हेतुता-अपने मे या परजीव मे सुख दुख होने से पुण्य पाप के आश्रव बताये गए है सो यह बात युत्त नही है, किन्तु उसमे यह रहस्य है कि यदि विशुद्धि अग बनकर सुख दु.ख हुआ है तो विशुद्धि के कारण वहा पुण्य बन्ध हुआ है अथवा सक्लेश का अग न बन कर यदि सुख दु ख हुए है या अपने मे या पर जीव मे तो वह पुण्य पापका आश्रव हेतु बन सकता है। तो जहा विशुद्धि है वहा पुण्य है, जहा सक्लेश है वहा पाप है इसका स्पष्ट अर्थ यह है। पुण्य और पाप का आश्रव क्या है ? सो सुनो विशुद्धि के कारण का या विशुद्धि के कार्य का या विशुद्ध स्वभाव वाले का तो पुण्याश्रव मे कारणता है अर्थात विशुद्धि के कारण भूत जो भाव है, जो परिणति है वह तो पुण्याश्रव का कारणभूत है और विशुद्धि के कार्यका विशुद्धि परिणति होने के कारण जो मन, वचन, काय की चेष्टा हुई है वह भी पुण्याश्रवका कारण होता है और विशुद्धि के स्वभाव वाले तत्त्व से विशुद्धस्वभावसे विशुद्ध परिणाम से जिस परिणाम मे विशुद्धि है उस परिणाम से पुण्य का आश्रव होता है। किन्तु ऐसा सुख दु.ख चाहे खुद मे हो या पर मे या दोनो मिलकर जो सक्लेश का कारण है अथवा सक्लेशका कार्य है सक्लेश परिणाम करने के कारण हो जो सुख दु ख है वह स्वय सक्लेश स्वभावरूप है, उस सुख दुख के वर्तमान होने मे सक्लेशभाव बन रहा है तो वह पापाश्रवका कारण होगा। इसके आश्रव मे मुख्यता विशुद्धि और सक्लेश है, विशुद्ध परिणाम से तो पुण्य का आश्रव होता है, वह चाहे विशुद्धि का कारण हो या विशुद्धि का कार्य हो। अथवा वर्तमान ही स्वय विशुद्ध स्वभाव वाला हो, उससे तो होता पुण्य का आश्रव और अपने मे या दूसरे मे या दोनो मे सुख हो, दु ख हो यदि वह सक्लेश कारणपूर्वक है, संक्लेश के कारण सुख दु:ख है या उस सुख दु:ख के होने से सक्लेश बढ रहा है तो उससे पाप बन्ध होता है।

तत्त्वज्ञान की क्रमभाविता व अक्रमभाविता की सिद्धि मे स्याद्वाद के उपयोग का बल देखिए १०१ वी कारिका के एक प्रवचनाशमे-सोपयोग व निरूपयोग की दृष्टि से मतिज्ञानादि चार ज्ञानो की क्रमभाविता अक्रमभाविता का कथन-जैसे चक्षु आदिक ज्ञानो का क्रम से ही उत्पाद माना गया है उसी प्रकार मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन पर्ययज्ञान भी उपयोग सहित की दृष्टि से क्रम से उत्पाद होता है। यदि निरूपयोग की दृष्टि से चार ज्ञानो की बात कहो तो वह एक साथ होता है, इनमे किसी भी प्रकार का विरोध नही है कारण यह है कि ज्ञानावरण के क्षयोपशम से यह ज्ञान प्रकट होता है,

मतिज्ञानावरण का क्षयोपशम होने पर मतिज्ञान, श्रुतज्ञानावरण का क्षयोपशम होने पर श्रुतज्ञान अवधिज्ञानावरण का क्षयोपशम होने पर अवधिज्ञान और मन पर्ययज्ञानावरण का क्षयोपशम होने पर मन पर्ययज्ञान प्रकट होता है। सो ये चारो ज्ञान चारो ज्ञानावरणो का क्षयोपशम के होने पर एक जीव मे एक साथ सम्भव है, परन्तु लब्धि की अपेक्षा से चारो ज्ञान तक एक जीव एक साथ सम्भव हुए, उपभोगापेक्षया युगपत असम्भव है, क्योकि उपयोग की अपेक्षा एक कालमे एक ही ज्ञान होता है। जैसे कोई पुरूष हिन्दी, सस्कृत, प्राकृत तीन भाषाओ का ज्ञाता है तो लब्धि की अपेक्षा तीन भाषाओ का ज्ञान उस पुरूष मे सदा है। किन्तु जैसे जब संस्कृत मे लिखा कोई पत्र आया, उसको वह पढ रहा है तो उपयोग की दृष्टि से तो संस्कृत भाषा का ही व्यत्र ज्ञान बन रहा है, उपयोग सस्कृत भाषा मे ही है। ऐसे ही समझिए कि लब्धि और व्यापार की अपेक्षा से इन चारो ज्ञानो मे अन्तर है, लब्धि की अपेक्षा चारो ज्ञान साथ होते है, किन्तु व्यापार की दृष्टि से ये ज्ञान क्रमश. हुआ करते है। मतिज्ञान आदिका जो स्वरूप है वह स्वरूप अनेकान्तात्मक है, लब्धि और उपयाग की अपेक्षा से, अर्थात लब्धि की अपेक्षा से चारो ज्ञान एक साथ सम्भव हो सकते हैं, किन्तु उपयोग की अपक्षा से युगपत असम्भव है। चारो ज्ञान हो सकते है एक जीव मे परन्तु उनका उपयोग क्रम से होता है। यो उपयोग सहित मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, और मन पर्ययज्ञान ये क्रम से हुआ करते है।

ज्ञान के फल चार कहे गये है, जिनमे एक साक्षात फल है और शेष तीन परम्परा फल है इस सम्बन्ध का एक प्रवचनाश १०२ वी कारिका में देखिए–ज्ञान का 'परम्परा' फल–ज्ञान का परम्परा से फल है त्यागने और ग्रहण करने का ज्ञान होना अथवा उपेक्षा हो जाना किसी भी बात को जानकर यह निश्चय बनना है कि यह पदार्थ छोड देना चाहिए अथवा यह पदार्थ ग्रहण कर लेना चाहिए। तो ग्रहण करने और छोड देने का जो परिज्ञान होता है तथा त्यागना और ग्रहण करना है वह परम्पराफल है अथवा उपेक्षाभाव हो जाय, न उसे त्यागे, न ग्रहण करे, दोनो से हा उदासीन हो जाय, ऐसी उपेक्षा भी मति आदिक ज्ञानो का परम्परा फल है, त्याग करना और ग्रहण करना यह केवल ज्ञान का फल नही है क्यो कि वह *सम्पूर्णज्ञान है वीतराग विज्ञान है, कृतकृत्यका ज्ञान है, जिसको अबलोक में कुछ भी कार्य करना* शेष नही है, जो सबसे निराले अपने केवल स्वरूपमे आ गया है उसको अब ग्रहण करने और त्यागनेका वृत्ति नही जगती। तो ग्रहण करने का ज्ञान होना अथवा त्यागनेका ज्ञान होना यह मति आदिक ज्ञानों का परम्परा फल है। तो यह है परम्पराफल।

कोई वस्तु का निश्चय विधि वाक्य से मानते हैं और कोई निषधवाक्य से मानते है इस सम्बन्ध मे निर्णय देखिए १०६ वी कारिका मे एक प्रवचनाशमे–विधिवाक्य और प्रतिषेध वाक्य द्वारा वस्तु के प्रतिमियमन की सिद्धिका निर्णय–उक्त विवरण मे यह सिद्ध किया गया कि विधि वाक्य और प्रतिपध वाक्य द्वारा वस्तु तत्व का प्रतिनियम बनता है अर्थात पदाथ है इसकी सिद्धि विधिवाक्य और प्रतिषेध वाक्य से होती है, क्योकि पदार्थ ही स्वय विधिरूप और प्रतिषेधरूप है काई पदार्थ यदि है तो वह अपने स्वरूप से तो है पर स्वरूप से नही है। तब स्वरुप दृष्टिमे बिधिरूप है और पररुप की दृष्टि मे प्रतिषेधरुप है। तो जब पदार्थ ही स्वय विधि प्रतिषेधात्मक है तो उसका वर्णन करने वाले वाक्य भी विधि और प्रतिषेध वाक्य दो प्रकार के होगे हो, उन्यथा अर्थात यदि विधिरुप से और प्रतिषेध रुप से पदार्थ न हों तो केवल विधि से या केवल प्रतिषेध से अर्थ सिद्ध न हो सकेगा। क्याकि विधि ऐसी कोई है नही जो प्रतिषेध से रहित हो और प्रतिषेव कोई ऐसा है नही जो विधि से रहित हो। तथा प्रतिषेधरहित विधि किसी विशेषण नही बन सकती, किसी का वर्णन नही कर सकती और विधिरहित प्रतिषेध किसीका विशेषण

नहीं बन सकता और जहां विधि प्रतिषेध दोनों ही न हो वह विशेष्य ही न कहलायेगा। पदार्थ ही नहीं, सत ही नही। जैसे कि आकाशका पुष्प उसको न विधि है और न प्रतिषेध है। तब यह निश्चय करना कि वृद्धि और प्रतिषेध को गौण और प्रधान रखकर सत और असत आदिक वाक्यों मे प्रवृत्ति होती है। यह बात युक्ति पूर्वक सिद्ध हुई, इसी कारण से सप्तभगी मे जो अन्य भग है उनको पुनरुक्त नही कह सकते। प्रथम भग मे स्यात अस्ति कहा। इसी को ही कथाकार कहता है कि इससे ही स्याद नास्ति सिद्ध हो जाती है, फिर द्वितीय भग को अलग मे वर्णन करने की क्या आवश्यकता ? सो पुनरुक्तपना नही होता। क्योकि वस्तुतत्व का नियम विधिवाक्य और प्रतिषेध वाक्य से होता है। तो कोई भी भग यहा पुनरुक्त नही है, इन ७ भगो मे अपनी अपनी प्रथम दृष्टि है इस तरह सप्तभगी निर्दोष सिद्ध होती है, और जहा सप्तभगी है उसका नाम स्याद्वाद है। स्याद्वाद से वस्तु स्वरुप जाना जाता है अब यहा कोई ऐसा एकान्त करे कि विधि के द्वारा हो वाक्य वस्तुतत्व का वर्णन करता है और यह बात सर्व प्रकार से एकान्त रुप है। इस एकान्त मन्तव्य मे अब दूषण देते है।

(२६७—२६९) पुरुषार्थसिद्धयुपायप्रवचन १, २, ३ भाग

इसमे पूज्य श्री अमृतचन्द्राचार्य द्वारा विरचित पुरुषार्थसिद्धयुपायके तीन भागोपर पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी सहजानन्द महाराजके प्रवचन हैं। मगलाचरणमे सर्ववेदी परमतेज का जयवाद पढ़िये, पृ० १ के एक प्रवचनांशमे— सर्ववेदी परम तेजका जयवाद-पुरुषार्थ सिद्धि के उपायके प्रसगमे श्री अमृतचन्द्र जी सूरि उस परम तेज का जयवाद कर रहे है कि जो पुरुषार्थ को सिद्धि होने पर प्रकट हुआ करता है वह परमज्योति जयवत हो, जिस ज्योतिमे एक साथ अनन्त पर्यायोसे समस्त पदार्थ ऐसे प्रतिबिम्बित होते हैं जैसे कि दर्पण के तलमे दर्पणके समक्ष जो आया हो वह सब प्रतिबिम्बित होता है। आत्मा ज्ञानस्वरुप है। ज्ञानका स्वभाव जानना है। जाना वह जाता है जो कि सत् हो। तब जितने भी सत् हैं वे सबके सब ज्ञानमे अवश्य होकर प्रतिबिम्बित होते हैं। यदि कुछ पदार्थ प्रतिबिम्बित हो कुछ न हो, ऐसी बात रहे तो इसका अर्थ यह है कि अभी ज्ञानमे कलक लगा है, कुछ मलिन है तभी वह सब सत् को नही जानता। ज्ञानको जानने के लिए यह जरुरी नही है कि सामने पदार्थ हो तब जाना जाय। यह तो छद्मस्थ जीवोंमे जिन के मतिज्ञान और श्रुतज्ञान है उनको मतिज्ञानमे यह बात बनती है कि सामने पदार्थ हो तो उसे जाने, उस समय भी वह मतिज्ञान ज्ञानके द्वारा जानता है, सामने है इसलिए नही जानता, किन्तु मतिज्ञानका उत्पत्ति का निमित्त हो ऐसा है। तो ज्ञानके लिए यह जरुरी नही है कि सामने कोई पदार्थ हो तो उसे जाने। ज्ञानका काम जानना है और वह सत् को जानता है। तो कही भी कोई सत् हो वह सब ज्ञानमे ज्ञात हो जाता है, चाहे भूतकालमे किसी पर्यायमे सत् हो। सत् जो कि सदा रहता है वह अतीतकालमे किसी पर्यायरुपमे पदार्थ था, जिस किसी पर्यायमे पदार्थ होगा, जिसकिसी रुपमे पर्यायमे पदार्थ वर्तमान मे है उन सबको ज्ञान जान लेना है, हम आप नही जान पाते। तो यह ज्ञानावरण कर्म लगा है, उसके उदयमे ऐसा होता है, पर ज्ञानके स्वरुपकी ओर से कोई प्रतिबन्ध नही है कि ज्ञान इतने को जाना करे, इतने को न जाने। ज्ञानका स्वभाव समस्त सत्को जानने का है।

परम ज्योति की प्राप्ति का प्रथम परम उपाय देखिये छन्द २ के एक प्रवचनांशमे पृ० ८—परमज्योतिकी प्राप्तिका प्रथम परम उपाय-उस परम ज्योतिको प्राप्त कर लेने के उपाय मे यह स्याद्वाद ही समर्थ है। इस परम ज्योतिको अन्य समस्त प्रभावो से पृथक समझ सके ऐसी कला स्याद्वादकी कृपा से ही तो प्राप्त होती है। यह आत्मा आपका सहज तत्त्वके कारण अपना सहज स्वरुप है। और समस्त पर पदार्थ पर-भावोंसे न्यारा है, ऐसी बात समझमे आये तभी तो यह उपयोग विकारोको न ग्रहण करके [illegible]

ज्ञानस्वरूप का ही ग्रहण करेगा। यह सब स्याद्वादकी तो कृपा है। जैन शासनका अगर कोई खास काम है, इसकी कोई खास विशेषता है तो यह एक प्रमुख विशेषता है कि स्याद्वादको विधि से वस्तु-स्वरुप का यथार्थ निर्णय कराया गया है जिस यथार्थ निर्णयके कारण जीव का मोह दूर होता है और मोह दूर हो जाना ही एक श्रेय चीज है, कल्याणभूत बात है। तो जो उस ज्योति को प्राप्त कराने मे उपायभूत है परमागम का बीज अनेकान्त स्वरुप है उस अनेकान्त स्वरुप को मैं नमस्कार करता हू।

व्यवहारमे मुख्य व उपचार कथन की छाट कैसे करेंगे, देखिये ४ वें छन्दके एक प्रवचनांशमे, पृ० १०—वचन व्यवहारमे मुख्य व उपचार कथनको छाट—अपनी बोलचालमें भी इस प्रकार की छाट करना यह भी एक ज्ञानकला है। इसमे मुख्यबात क्या है और औपचारिक बात क्या है ? घीका घडा उठा लावो, पानी का लोटा ले आवो, नहाने की बाल्टो ले आवो आदि कितनी ही बाते व्यवहारमे बोली जाती हैं, पर क्या यह मुख्य कथन है ? यह कथन उपचार का है। कोई घो का भी घडा होता है क्या ? अरे जिस घडे मे घो रखा है उसे लाग घी का घडा बोल देते है। तो यह घी का घडा कहना उपचार कथन है। कोई बाह्य वस्तु हमे दुःख नही देती, यह बात बिलकुल निश्चित है। हम ही अपनी कल्पनाये बनाकर किसी बाह्य वस्तु पर दृष्टि देकर दुःखी होते है वहा यह कहना कि इस पुरुष ने इसे दुःखी कर दिया, यह मुख्य कथन है या उपचार कथन है ? उपचार कथन है, निमित्त नैमित्तिक भाव ऐसा है कि जिसमे यह सारा विश्व गुथा हुआ है। हम शुभ अशुभ परिणाम करते हैं उसका निमित्त पाकर पुद्गल कर्म बन्ध जाते हैं और जब पुद्गलकर्म का उदयकाल आता है तो यह जीव क्रोधादिक रूप परिणम जाता है। वहा यह कहना कि देखो कर्म ने इसे क्रोधी बना दिया अथवा कर्म ने इसे परतत्र कर दिया, यह कथन उपचार कथन है, तथ्य वहा यह है कि कर्मों के उदयका निमित्त पाकर यह जोव अपने मे विकार भाव उत्पन्न करके स्वतन्त्रता से स्वय परतत्र हो जाता है। निमित्त नैमित्तिक भावका निषेध नहो किया जा सकता है, तिस पर भी प्रत्येक पदार्थ स्वतन्त्र है अर्थात् केवल अपने ही परिणमन से परिणमते हैं, तो इस सब कथनमे यह जानते रहना चाहिए कि यह मुख्य कथन है अथवा यह उपचार कथन है।

पुरुषार्थसिद्धिके उपाय का सक्षेपमे विवेचन करनेवाली ५ वीं गाथाके एक प्रवचनांशमे पढिये, सम्यग्दर्शन के स्वरूपकी झाकी, पृ० ३६—मोक्षमार्ग की आन्तरिकता—इस श्लोकमे तीन बातो का लक्षण किया है, वे बहुत विशेषताकी है। जीव अजीव, आस्रव आदि ७ बातोका श्रद्धान होना सम्यग्दर्शन है, ऐसा बताया है। ७ बातोका श्रद्धान होना सम्यग्दर्शन नहो है, किन्तु सम्यग्दर्शनका कारण है। किसी विधि रूपमे नही बताया जा सकता कि सम्यक्त्व है क्या ? इसी कारण ग्रन्थकारने इसे अनिर्वचनीय कहा है। यह शब्दोसे नही कहा जा सकता कि सम्यग्दर्शन किसे कहते हैं ? परद्रव्योसे भिन्न आत्मतत्त्वकी रुचि करना सो सम्यग्दर्शन है। अच्छी जगह रुचि हो तो क्या, खोटी जगह रुचि हो तो क्या ? कोई कहे कि आत्मा की प्रतोति करना सम्यग्दर्शन है, आत्माका अनुभवन करना सम्यग्दर्शन है, तो अनुभवन भी ज्ञानका कार्य है। कौन सा शब्द आप कहेगे जिससे विधिरूप देखा जा सके कि इसका नाम सम्यग्दर्शन है ? विपरीत अभिप्राय चलता आया था, उसका दूर करना इसका नाम सम्यग्दर्शन है, विपरीत अभिप्रायसे दूर हो जाना मिथ्यादर्शनको तो हम विपरीत रूप समझ सकते हैं क्योंकि वह औपाधिक भाव है। विधिरूपसे उसका वर्णन कर सकते हैं। परभावोको अपनाना यही है मिथ्यादर्शन। अब उसकी अपेक्षा लेकर यह भी कहते हैं कि परभावो का अपनाना न रहे वह है सम्यग्दर्शन। इस प्रकार के लक्षण मे एक

काम के लिए उत्पादव्ययध्रौव्य इन तीनो की झलक आती है। इस प्रकार विपरीत अभिप्राय को दूर करके आत्मतत्त्व का निश्चय करके आत्मतत्त्व से चलित न होना, यही है पुरुषार्थ की सिद्धि का उपाय।

हिंसा और अहिंसाका स्वरूप क्या है, इसका वास्तविक दर्शन कीजिये ४८ वें छन्दके एक प्रवचनाशमे। इसी लक्षणके आधार पर १७ प्रकार की घटनाओमे हिंसा अहिंसा घटितकी, यह सब विवेचन अपूर्व है। मूल स्वरूप देखिये-पृ० ७६-हिंसा और अहिंसाका स्वरूप-हिंसा का स्वरूप क्या है और अहिंसाका स्वरूप क्या है? उसका विश्लेषण इस गाथामें है। वास्तवमे रागादिक भाव उत्पन्न न हो तो यह अहिंसा कहलाती है। अपनेमें रागद्वेषमोह भाव न जगे तो क्या स्थिति होगी। निर्विकार केवल ज्ञाताद्रष्टाकी स्थिति बनेगी। वही तो अहिंसा है। रागादिक भाव न उत्पन्न हो उसको अहिंसा कहते हैं और रागादिक भाव उत्पन्न हो जायें तो उसे हिंसा कहते है। अब वह रागभाव चाहे सूक्ष्मपने से जगे तो भी हिंसा है। सूक्ष्मपनेसे जगने पर स्वरूप से तो च्युत ही हुआ। इस कारण वह हिंसा कहलायी। लोग कहते है कि हमने इसकी हिंसा कर दी, पर कोई किसी दूसरे की हिंसा नही करता, खुद की हिंसा करता है। जैसे कोई जलते हुए कोयलेका अगार हाथमे लेकर किसी दूसरे को मारता है तो चाहे जिसे मारा है वह न जले, पर मारने वाला जरूर जल जाता है। तो अपने चैतन्यस्वरूपका घात करना इसका नाम हिंसा है। यह जिनेन्द्रभगवानके आगमका सक्षेप है। इस लक्षणसे शुभोपयोगका परिणाम जगा वहा भी रागभाव है तो वह भी हिंसा हो गई। एक निर्विकल्प अतस्तत्त्वका उपयोग है सो तो अहिंसा है और बाकी जितने भी विकृत परिणाम हैं वे सब हिंसा कहलाते हैं।

झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह भी हिंसा है, इस आधार पर इनका अद्भुत वर्णन है। जरा उदाहरणार्थ चोरी पापमे हिंसा कैसे है, दिग्दर्शन कीजिये १०२ वें छन्दके प्रवचनमे, पृ० ११०-चौर्य पाप का स्वरूप और उसमे हिंसा दोषका कथन-यहा तक झूठ बोलना नामक पाप का वर्णन किया, अब चोरी के पाप का वर्णन कर रहे हैं कि प्रमाद कषायके सम्बन्धसे बिना दिए हुए परिग्रहका ग्रहण कर लेना सो चोरी है और वह जीवबधका कारण है इसलिए हिंसा है। जो मनुष्य किसी की चीज की चोरी करने का परिणाम करता है तो वहबिना कषाय किये चोरी नही कर सकता। उसे कितना सजग होकर रहना पडता है, कितनी कषाय करनी पडती है? इस कषायके ही कारण दुखकी वह कितनी बडी हिंसा करता है। चोरी करने मे हिंसा है क्योंकि वह चोरी करने वाला कषाय करके अपने चैतन्य प्राणोकी हिंसा करता है। चोरी करने वाला अपने स्वरूपको सुध खो देता है। अपने आपमे वह नही रह सकता और बाहरी पदार्थो मे ही उसकी दृष्टि रहती है। तो चोरी करनेमे नियमसे हिंसा है। चोरी करनेका यदि पापका परिणाम न करता तो उसके ज्ञान और आनन्दका विकास होता। पूर्ण ज्ञान और आनन्दको भोगता। तो ज्ञान और आनन्दका जो विकास रुक गया यह तो अपने आपकी बहुत बडी हिंसा करली। तो चोरी करने मे भावप्राणका तो घात होता ही है और जिसकी चीज चुराया उसके द्रव्यप्राणका घात है। कोई थोडा १०-२०-५० रूपये भी काट ले तो उसको कितना खेद होता है और अपने हाथ से दान दे तो उसमे कितनी प्रसन्नता होती है। दूसरे की चीज चुराने मे जिसकी चीज चुराई उसका भी प्राणघात होता है और चुराने वाले के भावप्राणका घात होता है, इसलिए चोरीको हुई वस्तुमे नियम से हिंसा है।

रात्रिभोजन भी हिंसा का रूप है, रातदिन खाते रहना भी हिंसा का रूप है। इस सम्बन्धमे जब यह प्रश्न रखा जाता है कि रात दिन खाते रहने मे हिंसा है तो दिनमे न खाया, रात को खा लिया यह तो हिंसा न रहेगी,

देखिये इसका समाधान १३१, १३२ वें छन्दके प्रवचनमें, पृ० १३२–१३३–हिंसा कम करनेके लिए दिन भोजन त्याग कर रात्रिभोजन करने की शंका व उसका समाधान–जब रात दिन खाते रहने मे रागादिक की विशेषता है और उस कारण हिंसा लग रही है तब तो यह काम करना चाहिए कि दिनके भोजनका त्याग करके और रात्रिमे भोजन कर लिया करे। इससे दिनकी हिंसा तो बच जायेगी। शंकाकार का कहने का मतलब यह है कि दिन के भोजन को त्यागकर रात्रि मे भोजन ग्रहण किया करें तो उसमे सदाकाल हिंसा ता न होगी, दिन की हिंसा तो बच जायेगी। केवल रात्रिकी हिंसा रह जायगी। तो शंकाकार को इस शंका के उत्तरमे आचार्यदेव कहते हैं कि यह शंका ठीक नही है, क्योकि दिनके भोजन की अपेक्षा रात्रिके भोजनमे निश्चयसे रागभाव अधिक रहता है, और कुछ अनुभव करके कुछ चिन्तन करके भी आप सब समझ सकते है कि रात्रिके भोजन करने मे मनुष्य कितना राग करता है, कितनी आसक्ति करता है। दिनके भोजन की अपेक्षा इसमे अधिक राग है। यहा अंतरग से जवाब दिया जा रहा है। जैसे कोई यह शंका करने लगे कि पेट ही तो भरना है, अन्न खाकर पेट भरे अथवा मास खा-कर पेट भरे इन दोनो मे कुछ भी अन्तर नही है। बात एक है। तो देख लो ना, अन्न खानेमे जीव को रागभाव कैसा रहता है, और मास खाने मे जीवको कैसा तीव्र राग रहता है ? उदर भरने की अपेक्षा से सब प्रकार के भोजन समान हैं। पर मास खानेमे रागभाव विशेष होता है, क्योकि अन्न तो सभी मनुष्योको सहज मिल जाता है और मास की जब बहुत अधिक इच्छा हो अथवा शरीर आदिक का बडा स्नेह हो तो बड़ा प्रयत्न किया जाता है तब थोडा मासका भोजन प्राप्त होता है। अतएव मास खाने मे रागभाव अधिक है। तो यह रात्रिभोजन त्यागने योग्य है। इसके समाधानमे दो तीन बातो पर प्रकाश डाला है। प्रथम बात तो यह है कि दिनमे भोजन करने की अपेक्षा रात्रिमे भोजन करनेमे राग-भाव विशेष होता है। दूसरी बात यह आती है कि दिनमे भोजनको सुलभता रहती है। रात्रिमे भोजन बनानेमे और प्राप्त करनेमे उसकी अपेक्षा कुछ कठिनाई रहती है अत रात्रिभोजन मे रागभाव की तीव्रता रहती है, उसे त्याग देना चाहिए। तीसरी बात यह बतलाई है कि रात्रि मे भोजन करने मे कामवासना आदिक की विशेषता अधिक रहती है। रात्रि भोजन करने मे शरीर पर और रागादिक वासना पर विशेष स्नेह है, इस कारण दिनमे भोजन करने की अपेक्षा रात्रि भोजन मे हिंसा विशेष है। यह तो एक भीतरी भाव का समाधान है। इसमे द्रव्यहिंसाकी बात अभी तक नही कही है।

शेष चार व्रतोकी भांति ७ शीलोमे भी अहिंसा के विकास का प्रयोजन यहा बताया गया है। इसकी पुष्टि के प्रवचनोके अनन्तर सल्लेखना अर्थात् समाधिमरण के प्रवचनोमे भी अहिंसा धर्म की सिद्धि की गई है, सल्लेखना का कितना महत्त्व है इसकी झांकी कीजिये १७५ वी गाथाके एक प्रवचनांश, पृ० १७६-सर्वधर्मस्व ले जाने के लिए सल्लेखनाका समर्थ वाहन–यह श्रावक चिन्तन कर रहा है कि हमने मनुष्य रूपी देशमे एक अणु-व्रत रूपी व्यापार किया उससे जो धर्म रूपी धन कमाया है अब उसको हम साथ ले जायेंगे जहा हम जा रहे हैं। तो कोई एक आधार होना चाहिए जिसमे भरकर हम ले जायें। जैसे कोई मनुष्य किसी देश मे व्यापार करके धन कमाता है तो धन ले जाने के लिए रेलगाडी अथवा जहाज आदिक कोई साधन चाहिए। इसी प्रकार हम व्रत नियम पाल करके धर्मधनको परलोक देशान्तरमे लिए जा रहे हैं तो उसका आधार सल्लेखना है। जिसका मरण समय मे ऐसा वातावरण मिला, ऐसा परिणाम बढे कि मोह का बिल्कुल परित्याग हो, रागद्वेषकी ओर उपयोग न जाय और आत्मस्वभावकी ओर दृष्टि रहे, अपने आत्माकी प्रतीति ज्ञानमात्र रूप रख ऐसी स्थितिमे मरण समय गुजारे तो उसका यह क्षण धन्य है। तो अपना यह भावी जीवन सफल करने के लिए अथवा संसार दु खसे छुटकारा पानेके लिए यह आव-श्यक है कि मरण समय मे सल्लेखना हो, सन्यासपूर्वक मरण हो। जैसे किसी ने किसी देशमे पहुचकर

बडा कष्ट उठाकर बहुत धन कमाया और चलते समय वह किसी को यों ही सौप दे तो उसका वह धन शीघ्र ही नष्ट हो जायगा और जीवन भर उसने जो श्रम किया वह व्यर्थ ही किया, इसी प्रकार अपने जीवन मे तप, व्रत, संयम, पूजन, स्वाध्याय आदिक को करके बहुत सा धर्म धन कमाया है और उसे यो ही किसी को सौप दे अर्थात् चलते समय अपने परिणाम बिगाड ले तो वह सब धर्म धन नष्ट हो जायगा, दुर्गति हो जायगी, इस कारण मरण समय मे सल्लेखना अवश्य करना चाहिए।

सल्लेखना व्रती की आन्तरिक भावना देखिये १७८ वीं गाथा के एक प्रवचनांशमे, पृ० १७९–१८०– सल्लेखना व्रती की आन्तरिक पात्रता–वह कितना पूज्य पुरुष है जो समाधिमरण कर रहा है। उसके अन्दर कितना आत्मबल है ? धन्य है वह ज्ञान, वह उपयोग जो मरण को कुछ न गिनकर समता परिणामको महत्व दे रहा है और मोह रागद्वेषसे हटकर अपने आपमे स्थिर होना चाहता है, अन्त समयमे ऐसी धर्म–आराधना बनी तो जीवन भर किए हुए जो व्रत नियम धर्म साधन हैं वे सब सफल हो जायें और जिसके जो सस्कार बना है मरण समय उसके बेहोशी आ जाय, अथवा कुछ शारीरिक उपद्रवोके कारण वायु के जोर से बड़बडाने लगे, कुछ अन्य प्रकार की चेष्टा शरीरमे होने लगे, तिस पर भी ज्ञान का सस्कार बसाया है तो उस जीव के अन्दर उस ज्ञान का प्रकाश बना हुआ है, जैसे सोया हुआ पुरुष मुर्दा सा पडा दिखता है पर भीतर में उसके कल्पनायें भी जग सकती हैं, स्वप्न भी आ सकता है, ज्ञान भी चल रहा है। तो जैसा उसने संस्कार बसाया, उस सस्कार के माफिक सोई हुई परिस्थिति मे भी ज्ञान चलता रहता है। यदि ऐसी ही मूर्छित दशा हो जहा इन्द्रिया काम न करे वहा पर भी सस्कार के अनुसार ज्ञानकी बात चलती रहती है। दोनो दशाये एक ही हैं। सोया हुआ पुरुष भी मूर्छित है, तो मूर्छित होने की स्थिति मे भी इन्द्रिया काम नही कर रही, तिस पर भी जैसा सस्कार बना है वह बात बराबर चल रही है। ज्ञानी सम्यग्दृष्टि पुरुषने जो तत्त्वाभ्यास बनाया है ऐसा तत्त्वाभ्यासी पुरुष मरण कालमें मूर्छित हो जाय तब भी उसका वह अभ्यास बराबर वहा सस्कार बनाये रहता है। उस मे उपयोग बनना, आत्मतत्त्वको छू लेना यह बात उसके अन्दरमे चल रहा है जिसने जीवन मे तत्त्वाभ्यास किया है।

(२६९) रक्षाबन्धनपर्व प्रवचन

मुजफ्फरनगर सन् १९६९ वर्षायोगमें रक्षाबन्धन पर्व पर दो दिन सार्वजनिक प्रवचन हुआ था वही यह प्रवचन है। अभी अप्रकाशित है।

(२७०) सप्तभगंतरंगिणी प्रवचन

इस पुस्तक मे सप्तभग तरंगिणी ग्रन्थ पर पूज्य श्री सहजानन्द महाराज के प्रवचन हैं देखिए पदार्थ का पूर्ण परिचय सप्त भगोंमे क्यो हो जाता है देखिए पृष्ट ३ पर एक प्रवचनांश.–७ वाक्यो मे यह अधिगम कैसे बना ? इसका कारण है सुनने समझने वाले के प्रश्न। प्रश्न कर्ता के जो प्रश्न हुए उसका ज्ञान हो जाय, उसका समाधान हो जाय, यह तो एक प्रयोजन रहता ही है। तो उस प्रश्न के समाधान मे जो वाक्य कहा वह इन सप्तभगो मे की ही बात है। देखिये, समझना है एक पदार्थ को। उस पदार्थ मे अविरूद्ध नाना धर्मो का ज्ञान किया जाना है। यद्यपि वे धर्म शब्दश विरूद्ध जच रहे है लेकिन वे सभी धर्म एक वस्तु मे ही रह रहे है इस लिए वे अविरूद्ध कहलाते हैं। और न, इन दोनो का स्वरूप तो विरूद्ध है। है का अर्थ विधि है, न का अर्थ निषेध है तो स्वरूप यद्यपि इसके विरूद्ध है लेकिन ये

सभी धर्म एक वस्तु मे रहते है इसलिए अविरूद्धघट अपने स्वरूप मे है, यह भी बात घटमे देखी जाती है और घट पर से नही है यह भी बात घट मे देखी जाती है। इस कारण ये दोनो धर्म परस्पर अविरूद्ध हो गए। तो ऐसे अविरूद्ध विधि प्रतिषेध नाना धर्म एक पदार्थ मे रहते हैं। उस पदार्थ के विशेषण है, ऐसे ज्ञान को उत्पन्न करने वाले जो ७ वाक्यों का समुदाय है वही सप्त भगी कहलाता है।

सप्तभगो मे क्रमार्पित, सहार्पित व स्वतन्त्र भगोंका समन्वय है, इस सम्बन्ध में एक प्रवचनांश पढिये पृष्ट २४–२५ –उदाहरणपूर्वक क्रमार्पित, सहार्पित व स्वतन्त्र भगोका समर्थन –जैसे दही, और अनेक मसाले मिलाकर एकपानक द्रव्य बनाया जाता तो उस पानक द्रव्य मे भिन्न–भिन्न केवल दही, गुड आदिककी अपेक्षा से अब कोई भिन्न जात्यन्तरका स्वाद उसमे आता है। जैसे चार–पाच चीजे मिलाकर कोई एक पानक बनाया गया, पेय वस्तु बनाई गई तो अब उस पेय वस्तु मे स्वाद उन केवल दही, गुड आदिक से विलक्षण है। और तब यह कह सकते है कि अब उस पानक का स्वरूप केवल दही गुड आदिक का चतुष्टय ही नही है, किन्तु उससे विलक्षण स्वाद है। और फिर यह भी कह सकते कि उन से विलक्षणस्वाद ही पानक का स्वरूप नही है, क्योकि उनके अन्दर दही गुड आदि सबका स्वाद भी पाया जाता है ऐसे ही समझना चाहिए कि तृतीय–चतुर्थ भग का पार्थक्य तृतीय भग मे कहा गया है कि स्वाद अस्ति और नास्ति, इनका उभय वस्तु का स्वरूप है। सो ये दोनो एक साथ कहे नही जा सकते, क्रम से निरखेगे तो एक एक बात दीखेगी। ऐसी स्थिति मे यह कहा जायेगा कि उन दोनो से विलक्षण अवक्तव्यपना वस्तुका स्वरूप है. लेकिन फिर यह भी नही कह सकते कि अवक्तव्यपना भी वस्तु का स्वरूप है, क्योकि उस वस्तु मे अस्तित्व नास्तित्व धर्म की भी प्रतीति हो रही है। तो न केवल अस्तित्व वस्तुका स्वरूप है, न नास्तित्व वस्तु का स्वरूप है और न केवल दोनो का उभय वस्तु का स्वरूप है न केवल अवक्तव्यपना वस्तु का स्वरूप है। सो और आगे भगो मे पढिये। तब किसी एक धर्म को लेकर अन्य धर्मोका अभेद करके सप्तभगी की संख्या कम कर देना कैसे सम्भव है ? एक सत्व स्वरूप तो यो नही है कि उसमे कथचित असत्व पाया जाता केवल असत्व वस्तुका स्वरूप यो नही है कि उसमे कथचित सत्व पाया जाता है और केवल अलग–अलग ये रहे यह भी स्वरूप नही है, क्योकि वस्तु मे अस्तित्व और नास्तित्व दोनो पाये जाते हैं। और अस्तित्व नास्तित्वका उभय भी वस्तुका स्वरूप नही है, क्योकि उनसे विलक्षण अवक्तव्यपना पाया जाता है और अवक्तव्यपना ही वस्तु का स्वरूप नहीं क्योकि वहा अवक्तव्यपना पाया जाता है और अवक्तव्यपना ही वस्तुका स्वरूप नही है, क्योकि वहा कथचित सत्व और कथचित असत्व की प्रतीति पाई जाती है इसी प्रकार शेष के अब के तीन धर्मो मे भी बात लगानी चाहिए तो दृष्टिभेद से धर्मभेद अनुभव मे आता है और इस प्रकार जब समस्त भगो का स्वरूप अपेक्षा मे भिन्न–भिन्न नजर आता है तो अलग-अलग स्वभाव वाले ७ धर्मो की सिद्धि हो गई। जब वस्तुमे ७ प्रकार से धर्म प्रसिद्ध हुए तो धर्मविषयक सशय भी ठीक प्रकार से हुए और ७ प्रकार के सशयोमे जिज्ञासा भी ७ प्रकारकी हुई। तो अब जिज्ञासा के समाधानमे ७ प्रकारके समाधान रूप वाक्य हुए। यो सप्तभगोका स्वरूप ७ भगो मे ही युक्तिसिद्ध है।

स्याद्वाद की सूचक सप्तभगो में स्यात शब्द की उपयोगिता का दिग्दर्शन कीजिए एक इस प्रवचनांशमे पृष्ठ ४५–४६ –भगो मे स्यात शब्द की उपयोगिता-देखिए, वाचकपना व द्योतकपना दोनो पक्ष अव्यय निपातोमे शास्त्रसम्मत है। यहा इस बातको स्पष्ट किया गया है कि इन भगो के प्रयोग मे कुछ एक शब्द बोलने पर ही पूरी बात ध्वनित हो जाता है तथापि जितना समझना है, जो जो निपात शब्द

द्योतक और वाचक दोनो होते है। कोई निपात शब्द केवल द्योतक और वाचक दोनो होते है। कोई निपात शब्द केवल द्योतक होते है–जैसे एव ये शब्द द्योतक ही है और एवं स्यात आदिक शब्द द्योतक भी है और वाचक भी जो केवल द्योतक है उससे मतलव तो यह है कि उन शब्दो ने अपना अर्थ कुछ नही कहा केवल किसो दूसरे अर्थका समर्थन किया है शब्द वाचक हुआ इसका अर्थ यह है कि वह शब्द अपना अर्थं भी रखता है यहा स्यात शब्दका यदि प्रयोग न किया जाय तो अनेकान्तरूप अर्थका ज्ञान एकान्त पक्ष की व्यावृत्ति पूवक ही होती है यदि एकान्त पक्ष हटा दिय। जाय तभी तो अनेकान्त रूप अर्थ का ज्ञान होगा। एकान्त पक्ष हटानेका सूचक है स्याद शब्द। स्याद अस्ति एव, इसमे यदि स्यात का प्रयोग न हो तो अनेकान्त रूप अर्थका ज्ञान नही हो सकता। जैसे कि एव शब्दका प्रयोग न हो तो विवक्षित अर्थका निश्चयरूप ज्ञान नही हो सकता है। यो प्रथम भग मे जिने शब्द बोले गए है सभी शब्द उपयोगी है। स्यात अस्ति एव घट यहा चार शब्दो का प्रयोग है। घट कहने से तो मूल आधार आधार मालूम हुआ किस पदार्थ के सम्बन्ध मे बात की जा रही है अस्ति कहने से धर्म का बोध हुआ कि किस धम को प्रधान बनाकर यहा अनेकान्त कहा जा र ा है। स्यात कहने से अपेक्षा दृष्टि लग गई है कि यह वात किसी अपेक्षा से है। सर्वथा नही वनता अस्ति। उसको निवृत्ति एक स्यात शब्द से है और एक शब्द अवधारण के लिये है कि इस अपेक्षा से ऐसा ही है।

अनेकान्त मे भी सप्तभगी की प्रक्रिया है उसका दिग्दर्शन कीजिए एक प्रवचनांश मे पृष्ट ६८–६६– अनेकान्तमे सप्तभगी की विधि –सम्यक एकान्त, मिथ्या एकान्त, सम्यक अनेकान्त, मिथ्या अनेकान्तका स्वरूप समझकर अब यह समझिये कि सप्तभगीको योजना यहा किसप्रकार लगती है ? सम्यक एकान और सम्यक अनेकान्तका आश्रय लेकर जव प्रमाण और नयको योजना को अपक्षा की जाती है तो उस अपेक्षा से ये ७ भग उत्पन्न होते है कि कथचित अनेकान्त है, कथचित एकान्त है कथचित उभय, कथचित अवक्तव्य, अथचित एकान्त अवक्तव्य, कथचित अनेकान्त अवक्तव्य औरकथचित एकान्त अनेकान्त रुप और अव अवतव्य है। इस तरह सप्तभगी की योजना बन जातो है अब उनका विवरण सुना। नयकी विवक्षा से तो स्यात एकान्त बनाता है, क्योकि स्यात नय एक एकान्त को विषय करता है। तो नयको अपेक्षासे स्यात एकान्त हुआ। और प्रमाणको अपेक्षासे स्यात अनेकान्त हुआ, क्योकि प्रमाण समस्त धर्मो का निश्चयात्मक होता है। प्रमाणसे एक वस्तु के सकल धर्मो का निणय होता है। अब इन दो भगो के प्रति परस्पर मे ऐसा तर्क बनाये कि देखिये। यदि अनेकान्त अनेकान्त ही है, एकान्त रुप नही अर्थात एक अनेकान्त का ही आग्रह किया जाय और एकान्त का निषेध किया जाय तो देखिए, एकान्त का अभाव होने पर एकान्त का समूहरुप ही अनेकान्त था सो अनेकान्त का भी अभाव हो जायेगा। जैसे कोई पुरुष वृक्ष को तो माने और शाखाओ का निषेध करे। कहे–भाई वृक्ष ही है, शाखा कुछ भी नही है। तो शाखाओ का अभाव होने पर वृक्ष का अभाव हो गया। जहां शाखा, पत्ता पुष्प आदिक कुछ नही है। वहा वृक्ष ही क्या है ? तो अनकान्त होता है एकान्तका समूह रुप याने सम्यक एकान्त का जो समुदाय है वही सम्यक एकान्त है। अब एकान्त का किया जाय सर्वथा निषेध तो अनेकान्त कहासे बनेगा ? तब माननाही होगा कि स्यात अनकान्त है, स्याद एकान्त है, स्याद एकान्त ह। इस तरह जय ये दो मूल भग सिद्ध हो जाते है कि स्यात एकान्त और स्याद अनेकान्त। तब उत्तर भगो को भी योजना बन सकती है याने स्यात एकान्त अनेकान्त रुप, स्यात उभयरुप याने अवक्तव्यरुपादिक शेष के ५ धर्म भी बन जायेगे। तो प्रमाण और नयकी विवक्षामे सप्तभगो का सिद्धि होतो है।

स्याद्वादका आश्रय करनेपर वस्तु स्वरूपका सम्यक परिचय होता है इसका दिग्दर्शन कीजिए एक प्रवचनांश

में पुष्ठ ११३-११४-घट मे पररूप के नास्तितत्व की घटनिष्ठधर्मता होने से द्वितीय भग के प्रयोग की निर्वाधता-अब उक्त शका के समाधान मे कहते है कि यह शका युक्त नही है। क्योकि विचार करने पर यह शका निर्मूल हो जाती है। देखिए आपने पूछा है कि घट मे जो पररूप से असत्व है कपडे मे जो कपडे का असत्व है उसका वह असत्व कपडे रूप से न हाने को वातरूप असत्व है। पटका धर्म है या घटका यह बताओ ? घटमे पटका असत्व है यो तो समझने की और बोलने की पद्धति है, पर यहा इस सिद्धान्त का निश्चय करें कि घट मे पटरूप से जो असत्व पाया जा रहा है वह असत्व घटका धर्म है या पटका धर्म है यह तो नही कहा जा सकता। क्योकि पटका रूप असत्व पटकी अपेक्षा नही है पटरूपता तो पट मे पायी ही जाती है अन्यथा पट शून्य हो जायेगा। पट रूपता का असत्व यदि पटका धर्म माना जाय कि पररूपता का असत्व है पट मे तो पट कोई चीज ही न रही, क्योकि अपना धर्म अपने मे नहीं है। यह तो कहा हो नही जा सकता। अब पटरूप से असत्व को आप पटका धर्म मानते हो तो यानि पटरूपता का असत्व पटमे रहा, फिर पट ही क्या चीज रही, पटका असत्व यदि घटका धर्म मान लिया जाता है तो पटका असत्व पट मे है, यह मानना ही पडेगा। क्योकि यदि नही मानते तो फिर वह पट का धर्म न रहेगा। पटका धर्म घट के आधार से रहे, यह बात नही बन सकती। पटरूप से असत्व का होना पटका धर्म मान रहे हो तो वह पट मे हो तो होना चाहिए। स्वका धर्म स्वधर्म के आश्रय ही होता है, पटका धर्म घट के आधार नही हो सकता। यदि अन्य वस्तुका धर्म अन्य के आधार होने लगे तो पटका जो वितान आतान प्रकार है, उसका भो आधार घट बन बैठेगा। इस कारण यह नही कह सकते कि पटरूप से असत्व होना पटका धर्म है। अब यह स्वीकार यदि करते हो कि पट रूप रूपका असत्व होना घटका धर्म है तब सारे विवाद शान्त हो गये। तब यह हुआ कि घट भावस्वरूप है और पट अभाव स्वरूप है। जैसे कि घट का होना घटका स्वरूप होना घटका धर्म है, ऐसे ही घटके स्वरूप से घटका न होना यह असत्व भी घटका धर्म है। यो घट भावस्वरूप और अभावस्वरूप बन गया और इस तरह जब घट भावस्वरूप भी है, अभावस्वरूप भी है तो घट नहो है यह प्रयोग भी युक्तिसिद्ध हो जाता है। अन्यथा अभावरूप धर्म के सम्बन्ध जैसे घट असत न होगा, इसी प्रकार भावरूप धर्मके सबध से घट सतरूप भी न होगा। घट का स्वरूप से अस्तित्व होना घट का धर्म है और उसका आधार घट है और इससे ही यह प्रयोग बनता है कि घट है। इसी प्रकार घट का पररूप से न होना यह भी घटका धर्म है ऐसा यह पररूपसे नास्तित्व घटके आश्रय है। और तभी यह प्रयोग युक्तसिद्ध हुआ कि घट नही है। यो घट भावाभावस्वरूप है इसके विरोध की कल्पना अयुक्त है।

(२७१-२७३) अध्यात्मसहस्री प्रवचन १, २, ३ भाग

इसमे श्री सहजानन्द जी वर्णी महाराज के स्वरचित अध्यात्मसहस्री के आद्यप्रकरणोके प्रवचन हैं। प्रथम ही प्रथम यह बताया गया है कि सुख और दुख दोनो हेय हैं, उपादेय तो आनन्द है, प्रसग के प्रवचनो मे से एक प्रवचनाश पढिये -आनन्दकी उपादेयता व सुख दुख दोनोका हेयरूपता अभी कुछ दिन पहिले यह प्रकरण था कि ससार मे सुख और दुख दोनो ही हेय तत्व हैं। और इसके कारणभूत, साधनभूत, उपायभूत जो इष्ट समागम हैं वे भो हेय हैं। इष्टका समागम हो तो उसको जरूर दुख होगा। भोगभूमिमे क्यो सुख बताया गया है लौकिक दृष्टिसे ? वहा इष्टवियोग नही है। जुगलिया उत्पन्न होते हैं, वही दोनो स्त्री पुरुष बनते हैं ऐसी वहा की पद्धति है और उनके बच्चे तब उत्पन्न हो गए तब उनकी आयुका अत होने लगता है। वहा बच्चे गर्भ से बाहर निकले कि पिता को तो आयी छीक और माता को आयी जुभाई तो दोनो गुजर जाते हैं। माता पिता ने बच्चो को नही देखा, बच्चो ने माता पिता को नही

देखा। इसका मतलब यही है कि इष्ट समागम नही हुआ। इष्ट समागम नही हुआ तो बस उन्हे किस बात का दु.ख हो ? जिनको इष्ट समागम होता है उनको अवश्य ही कष्ट भोगना होता है। जो बाहरी पदार्थो के समागमको इष्ट समझते हैं उनको नियमसे वियोग होगा। चाहे कोई कितना ही धनिक हो, कैसा ही बुद्धिमान हो पर जो इन बाहरो समागमो को अपना इष्ट समझेगा उसके दु खको कोई मेट न सकेगा। उसकी अन्तिम दशा यही होगीकि दु.खी होना पड़ेगा तो यह इष्ट समागम, जिनके लिए निरन्तर ध्यान बना रहता है वह तो बर्बादीका ही साधन है। तो ये सासारिक सुख जाकि दु खके कारण है वे भी हेय हैं, और सुख दु.खके निमित्तभूत जो कर्मोदय हैं, पुण्य पाप हैं वे भी हेय हैं, और पुण्य पापके कारण जो शुभ अशुभ भाव हैं, विकारभाव हैं वे भी हेय है। तो निष्कर्ष यह निकला कि शुभ और अशुभ दोनो प्रकारके विकार भाव होते है परके आश्रयसे। तो परावलम्बन यह भी हेय हैं। अर्थ यह निकला कि स्वका आश्रय ही उपादेय है। जब यह जीव अपने इस स्वतत्र अविकार सहज ज्ञानस्वभावका ज्ञाता होता है तो अपने ही स्वभावका आश्रय करता है। स्वभावका आश्रय करने से सहज अनाकुलता उत्पन्न होगी और आनन्द जगेगा। यही है आनन्द पानेका उपाय।

सैद्धान्तिक वृद्धिशब्दार्थपद्धति, आध्यात्मिक आदि पद्धतियो से नयो का विवरण करके अन्त मे बताया है कि नयो की निष्पत्तिका मूल आधार भेद व अभेद है। इस प्रसंग को एक प्रवचनांग मे बताया है.-देखिये. नयोके प्रकारोकी निष्पत्तिका मूल आधार भेदनय व अभेदनय-यहा तक सभी पद्धत्तियोसे नयोका सक्षिप्त दिग्दर्शन कराया है। इसका वर्णन करने के बाद एक जिज्ञासा यह होती है कि नयोका विस्तार जो पहिले किया सक्षेपमे उसे मूलत. समझना चाहे तो ये सभी नय किसमे गर्भित होगे ? ऐसी सक्षिप्त दृष्टिया कितनी हो सकती हैं ? इस जिज्ञासाका समाधान यह है कि सब नय भेद और अभेद इन दो प्रकारो में गर्भित होते है। किसी भी पद्धतिसे, किसी भी प्रकारसे कोई भी कथन बोला जाय, या तो वह भेदकी प्रधानतासे कथन करने वाला होगा या अभेदकी प्रधानतासे कथन करने वाला होगा। तो वे नय या तो अभेदनय होगे या भेदनय। वैसे तो नयोके विस्तार की बात यह है कि जितना कुछ अब तक बताया गया उतना ही नयका विस्तार नही है किन्तु जितने वचन हो सकते हैं, जितने अभिप्राय हो सकते है उतने ही नय जानना चाहिए। यो प्रयोजनवश और और प्रकारसे भी नय समझ लेना चाहिए। तो नय कितने है ? जितनी दृष्टियां हैं, लेकिन कितने ही नय हों, उन सब नयोमे यह काला अवश्य है कि कोई नय तो भेद की प्रधानता से कथन करने वाला है और कोई अभेदकी प्रधानतासे कथन करने वाला है।

उपादान और निमित्तका अर्थ—उपादान शब्दका अर्थ है—उप मायने अभिन्नरूप से और आदान मायने धारण करना। अर्थात् जो अभिन्न रूप से धारण करे उसे उपादान कहते हैं अभिन्नरूप से पर्याय का जहा धारण होता है उसे कहते है उपादान चूकि द्रव्य अपने अपने पर्याय के सम्बन्धमे पर्याय से तन्मय होता है। इस कारण उपादान कारण वही कहलाता जिस द्रव्य मे कार्य है और निमित्त कारण वह कहलाता है कि जो कार्य से तो भिन्न हो याने जिसमे कार्य बताने की चर्चा की जा रही है उस कार्य के कारण से तो पृथक हो, याने उपादान रूप तो नही है, पर जिसकी अनुपस्थितिमे यह कार्य न हो सके उन्हे निमित्त कहते है, हुआ क्या कि विकारपरिणमन के होने वाले किन्ही अन्य पदार्थो मे स्नेह किया, मित्रता की, सहयोग हुआ उपस्थिति रूप, निजके कार्यके बनने रूप। ऐसा जिन-जिन पदार्थो की उपस्थिति मे कार्य नही हो सकता वे पदार्थ सब निमित्त कारण कहलाते हैं। निमित्त शब्दका भी यही अर्थ है, निमित्त शब्दमे तीन बातें पडी हुई है—उपसर्ग, धातु औ प्रत्यय। उपसर्ग तो नि है, और धातु मि है,

प्रत्यय कृदन्तका लगा हुआ है जिसका अर्थ है कि जो नियम से स्वीकार किया जाय उसे निमित्त कहते हैं। जो अङ्गीकार किया जाय अथवा जो स्नेह करे वह निमित्त है। उपादान में कार्य हो रहा, जैसे जल गर्म हो रहा, अब उस जलको गर्म होने रूप कार्य मे स्नेह कौन कर रहा? इस कार्य का स्नेही कौन है? अग्नि। तो अग्नि निमित्त कारण है। स्नेह दिखाने वाले उस कार्य मे समर्थन करने वाला, पुष्टि करने वाला उस कार्य का सहाय अन्य द्रव्य कहलाता है।

मोक्षोपाय के यत्नमे सब कुछ न्योछावर कर देने के साहस की आवश्यकता—देखिये आप अगर मोक्षमार्ग मे लगने के काम मे आये और वहा कुछ धनलाभ कम हुआ तो इसका दु ख न माने। मिटता है तो सब मिट जाय। जब जीवन है, आयुका उदय है तो शरीर टिकने का साधन मिलेगा जरूर। और विलक्षणता तो यह है कि ज्यो ज्यो आत्मा के उद्धार के काम मे लगेगे त्यो त्यो जब तक ससारमें रहना होगा ठाठ से रहेगे। अज्ञानी मिथ्यादृष्टि जन कितना ही तप कर ले वे चक्री तीर्थंकर जैसा वैभव नही प्राप्त कर सकते। इसको प्राप्त करने का अधिकार सम्यग्दृष्टि ज्ञानी को ही है, पर उसके लिए हिम्मत यह होना चाहिए कि सब मिटता है तो मिट जाय, कोई हर्ज नही, किसी भी बडे काम मे सफल होने चाहिए कि सब मिटता है तो मिट जाय, कोई हर्ज नही। किसी भी बडे काम मे सफल सफल होने का साधन हिम्मत ही तो है। बहुत बडे व्यापार के काम के लिए लोग बडी भारी रकम लगा देते है, उन्हे साहस करनापडता है कि लाभ मिलेगा तो ठीक न मिलेगा न सही इतनी हिम्मत लगाकर वे उस भारी रकम को लगा देते है तब वे लाभ पाते हैं। इसी तरह अगर अपने आकिन्चन्य धर्म मे अपने को समा देना है, मोक्षमार्ग मे अपने को लगाना है तो यह हिम्मत बनानी होगी कि मैं तो अकिञ्चन हू, मेरा मेरे स्वरूप के सिवाय कुछ नही है। जब कुछ नही है तो दुनिया की दृष्टि मे जो कुछ मिला है वह सारा का सार। न रहे तो मेरा कोई बिगाड नही है। तो दुनिया को दृष्टि मे जो कुछ मिला है वह सारा का सारा न रहे तो मेरा काई बिगाड नही है। मेरा मेरे स्वरूप के सिवाय मेरे मे कुछ न रहे यह बात तो मेरे मे शुरू से ही है। ऐसी स्थिति आती है तो आये, उनका स्वागत करें, उसकी हिम्मत बनाये तब जाकर आत्मा का मोक्ष लानेको सी युक्ति बनपायगी। यहचीज बनाना है। क्या करना है मोक्षके उपाय के लिए? केवल अपने आपके स्वरूप को जानते रहना है। अकिञ्चन चैतन्य ज्योतिमात्र अमूर्त ऐसे स्वभाव को अपने ज्ञान मे लेना यह काम करना, फिर तो जो कुछ होना होगा, अपने आप होगा। किसे मुक्ति मिलेगी? अपने को मिलेगी। क्या उपायो की दृष्टि मे लेकर काम बनेगा? अरे बाहर के सारे लक्ष्य छोडने से काम बनेगा। जो ऊची श्रणियो मे साधुजन चढते है आजकल तो श्रणिया नही है, साधुजनो मे इतनी क्षमता नहीं है कि वे अपने को धीर बना सके। तो श्रेणी नही होती लेकिन जब श्रेणिया मिलती था साधन से, तो श्रेणी मे क्या रहता है क्या उसका लक्ष्य रखते थे, क्या उससे लाभ मिल रहा है इसका कुछ वे ध्यान न रखते थे। उनका लक्ष्य तो केवल चैतन्यमात्र अन्तस्तत्त्वका रहता था, जो होना होता था। वह स्वयमेव होता था। तो मोक्ष पाने के लिए अपन आपके उस स्वरूप का चिन्तन बनाना होगा। उसका लक्ष्य बनाओ निमित्तका लक्ष्य न रखो।

उदाहरण पूर्वक सामान्ययोग्यता और विशेषयोग्यता का कथन—उदाहरणमे यो समझ लीजिए कि जैसे मिट्टी मे घडा होन की शक्ति है तो सभी मिट्टियोमे घडा होने की शक्ति है। और किसी भी हालत मे वह मिट्टी चाहे जमीन मे पड़ी हो बाहर पडी हो, निकली हो, सूखी निकली हो सभी मे घडा होने की शक्ति है तो वह कहलायेगी एक सामान्य योग्यता, पर विशेष योग्यता दृष्टि से तो घडा होने की शक्ति उस मिट्टी मे है। जो घडा होने से पहिले की जैसी हालत हो। जैसे मिट्टी रूप मे समझिये कि जो मिट्टी सान

करके चाक पर रखी है और चाक घुमाकर उस मिट्टी को दबाकर कुम्हार ने घडा बनाना शुरू किया तो घडा बनने से पहिले जो हालत रहती है मिट्टी की, जिसे कहते है कुसूल पर्याय। एक छोटी कोठरी जैसा आकार बन जाता है, उसके पश्चात घडा बनता है। तो घडा बनने की विशेष योग्यता उस कुसूल पर्यायवाली मिट्टी मे है। तो इसका नाम विशेष योग्यता है। तब जो परिणमन होता है उस परिणमनसे तुरन्त पहिले जो परिणमन होता है उस परिणमन वाली वस्तु को विशेष योग्यता कहा जाता है। सामान्ययोग्यता तो है ज्यो मेरू पर्वत की जड़ के नीचे की मिट्टी है उसमे भी घडा बनने को योग्यता है, मगर क्या उस मिट्टी मे कोई घडा बना देगा ? नही बना सकता। उसमे विशेष योग्यता नित्य है, सदा रहती है। सामान्य और विशेष दोनो योग्यता परिणमन का आधार है। सामान्य योग्यता तो सदा है, इसलिए वह कभी हो, कभी न हो, यह कहने मे आयेगा ही नही जब सामान्य योग्यता वाले पदार्थ मे विशेष योग्यताभी आ जाती है। तब काय बनता है। द्रव्य परिणमनरहित कभी नही होता। इसकारण यह सिद्ध है कि वस्तु की मूल योग्यताका पदार्थ मे तादात्म्य है। अनादि अनन्त स्वरूप से वस्तु मे सामान्य योग्यता पायी जाती है। किसी प्रकार के पदार्थ मे क्या कार्य बनने की बात हो सकता है ? ऐसे प्रश्नके समाधानमे जो उत्तर हो उसमें सामान्य योग्यता का ज्ञान होता है। जैसे मिट्टी मे घडा बन सकता है और काठ मे घडा नही बन सकता, अथवा पत्थर का घडा बना दो उसको छेद करके काठ मे काठ का घडा बना दो। तो दृष्टान्त ले लो। जैसे वज्र मे घडा नहीं बन सकता आकाशमे घडा नही बन सकता, जीव का घडा नहीं बन सकता। अनेक बाते ले लो तो मिट्टी मे घडा बन सकता है, यह है सामान्य योग्यता को बात, पर जब मिट्टी सानकर तैयार कर चके पर रख दिया और उसको कुठिया पर्यायबन गयी उसके पश्चात हो तो घडा बनेगा ना ? तो वहा विशेष योग्यता प्रगट हुई। ये सब मोटे दृष्टान्त दिये जा रहे हैं।

कुछ लोग निमित्तका अन्यलाभ करते है, तो कुछलोग उपादानको पराधीन मानते है। इस विषयमे देखिये एक प्रवचनांश-निमित्तनैमित्तिक भाव होने पर भी निमित्त उपादानमे कर्तृकर्मभाव को अनुपपत्ति-निमित्तनैमित्तिक भावकी बात सुनकर चित्तमे यह शका न करना चाहिए कि इस तरह तो कर्ताकर्मभावकी बात निमित्त उपादानमे जुट जायगी। देखो ना-जैसा अनुकूल निमित्त मिला वैसा उसमे परिणमन हुआ फिर तो कर्ता कर्मभाव एकका एक ही मे रहता है, यह व्यवस्था न बनेगी। ऐसी शका न करे, कारण कि प्रत्येक पदार्थ मे किसी भी परका कोई कार्य त्रिकाल भी नही होता। प्रत्येक पदाथ अपने स्वरूपको लिए हुए है और अपने ही शीलसे परिणमन करता रहता है और इस प्रसगमे निमित्तके साथ कर्ता कर्म भावकी बात भी नही आयी। निमित्तनैमित्तिक सम्बन्धकी कुछचर्चा चली है कि उपादानमे अनेक प्रकारसे परिणमनकी योग्यता होने पर भी जैसा अनुकूल निमित्त प्राप्त किया उस प्रकार से वह विभावरूप परिणम गया। इसमे निमित्तनैमित्तिक भाव और उपादानकी परिणमन स्वतन्त्रता ये दोनो बातें निरखनी चाहिए, और ऐसा निरखने पर वस्तुका सम्यक् बोध बनता है। ऐसा होता ही रहता है। हम आप सबके साथ ये ही घटनाये चल रही है। कोई जीव पाप कार्य करता रहता है तो उसके उपादानमे उस उस प्रकार को योग्यता बन जाती है। जो अपन आपमे समृद्ध रूपसे अनुभव नही कर पाता, जो अपने आपमे उत्कर्ष भाग को नहीं निरख पाता, योग्यता बन जाती है ऐसी, जो जीव निष्पाप रहता है अपने आपके ज्ञानके उपयोगमे रहता है उस पुरूषके इतनी योग्यता है कि सर्व विशिष्ट चैतन्यमात्र निज तत्वका अनुभव करनेकी उसकी ऐसी योग्यता होती है कि जब उसके जी मे ऐसी बात आयी, स्वानुभवकर लेता है। अन्यथा बडे बडे यत्न करने पर भी मन नही लगता, स्वका उपयोग नही बन पाता। विशेष उलझने न होने पर भी अन्त ऐसी योग्यता नही हो पाती कि वह स्वका अनुभव

कर सके और एक ज्ञानी सम्यग्दृष्टि पुरुष बाह्यमें अनेक उलझनें होने पर भी ऐसी योग्यता पा लेता है कि वह क्षण मे कुछ था और क्षण मे स्वानुभवी बन जाता है। जो चक्रवर्ती छह खण्डका धनी होता है जिसमे उलझने की बातें अनेक सामने पडी रहती है लेकिन जब अपने को सबसे निराला जान लिया तो उलझते समय उलझने स्वमे अनुभवमे उसका उपयोग लग जाता है। तो पदार्थ की स्वतन्त्रता का परिज्ञान होने पर ऐसी ही शक्ति आत्मा मे प्रकट होती है और वह बात तब बन पायगी ज्ञानमे कि जब पदार्थों मे योग्यता स्वीकार करें, निजी समृद्धि सर्वस्व स्वीकार करें। जैसा कि वह अपने आपमे परिपूर्ण प्राप्त होगा। बस आत्माका उत्कर्ष इसी पर्यायमे है, अन्य कुछ भी यत्न किए जायें, उनसे आत्माकी कुछ भी सिद्धि नहीं है।

स्वभावदर्शनका पौरुष--हम अपने आपके स्वभाव पर दृष्टि दें तो इस दृष्टि के प्रसाद से हमे आत्मस्वरूपका भान होगा। स्वभाव कैसे ज्ञात होता ? जल है, गर्म है, पर हम गर्म जल के स्वभावका ज्ञान कैसे कर लेते है ? भले हो गर्म है यह जल, मगर जलका स्वभाव गर्म है, ठडा है। जैसे हम जलके गर्म रहते हुए भी गर्म जलमे जलके स्वभावका ज्ञान कर लेते है इसी प्रकार पारखी लोग ऐसी विकार-पर्यायमे चलते हुएको स्थिति मे भी स्वभाव का बोध कर लेते है। जैसे एक्सरा यन्त्र मनुष्यके चाम। खून आदिक को न ग्रहण करके एक हड्डी को ही ग्रहण करता है, फोटो ले लेता है, इसी प्रकार पारखी जीव देहको, कषायो को, कर्मोको इन सबको ग्रहण न करके एक स्वभावको ग्रहण कर लेता है। उसके लिए चाहिए भेदविज्ञान। उस भेदविज्ञान के बलसे इन सब पर्यायोसे पार होकर एक स्वभाव का ग्रहण करें, यही आत्माके आनन्दको प्राप्ति का उपाय होता। इस प्रकार मोह रागद्वेष दूर हो, ज्ञान की समृद्धि बन, बस यही उपाय करने योग्य है और उससे हो हम आपका कल्याण है। आज यह ९ वी परिच्छेद पूर्ण हो रहा है। इसमे कुछ नयोके ज्ञानके ज्ञानसे ऐसा लगता होगा कि कभी कुछ कथन आया, कभी कुछ, कुछ विरूद्ध जचता होगा, पर विरूद्ध नही है। यहाकिस नयकी दृष्टिमे निरखनेपर क्या नजर आता है, वह विषय बताया गया। प्रयोजन सबका यह है कि जिस किसी भी उपायसे शुद्ध ज्ञेयतत्व ज्ञानमें आये और मोहराग द्वेषादिक विकादिक विकारपरिणमन दूर हो, जिससे आत्माके शुद्ध आनन्दको प्राप्ति हो। हम आप ससारके सभी जीवोकी एक वाञ्छा है कि शान्ति प्राप्त हो। अत. सत्य सहज स्वाधीन शान्तिको उपलब्धिके अर्थ हमारा क्या कर्तव्य है इसके विचारमे अभी चल रहे थे। सर्वप्रथम यहबोध करना आवश्यक है कि वास्तविक शान्ति क्या होती है ? फिर दूसरी बात यह जानना है कि ऐसी शान्ति जिसे चाहिये वह परमार्थत क्या है ? फिर दूसरी बात यह जानना है कि ऐसी शान्ति जिसे चाहिये वह परमार्थत क्या है ? इन्हो दा तत्वोको स्पष्ट करने के लिये क्षण, प्रमाण, नय। निक्षेप, निर्देशादि उपायोका कथन किया। फिर शान्ति परिणति कैसे होती है उसके अन्त व बाह्य साधन क्या है, इन उपयोगी तत्वोके जाननेके लिये निमित्त, उपादान, निमित्तनैमित्तिक भाव। परिणामनस्वातन्त्र्य आदिका वणन किया है। इस समस्त वर्णनके निष्कर्षमे यह बात निचोड की आयी कि अविकार अन्त स्वभावको ओर हमारा उपयोग हो, ऐसा प्रयत्न करे। इससे ही समस्त सकट मिटेंगे, शाश्वत आनन्द होगा, सदा शुद्ध पवित्र रहेगे।

(२७४– ७,) अध्यात्मसहस्र प्रवचन ४, ५, ६ भाग

इस स्वरचित अध्यात्मसहस्रीके १०, ११, १२ वें परिच्छेद पर पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराजके प्रवचन हैं। चतुर्थ भागमे करीब ७० नयोमे आत्मदर्शनकी विधि बताई गई है। उदाहरणार्थ नैगमनयमे आत्मदर्शनका प्रकार देखिये, पृ० २ पर एक प्रकरणात्–नैगमनयमे आत्मदर्शनका प्रकार–सर्वप्रथम नैगमनय

से आत्मतत्त्वके परिज्ञानकी वात कही जा रही है। नैगमनयसे यह आत्मा अनन्त गुण और वर्तमान भूत भविष्यकी अनन्त पर्यायोका पु ज है, इस प्रकार दृष्टि मे आता है। नैगमनय सब नयोमे विशाल विषय वाला नय है। यह नय अनादि अनन्त समस्त गुण पर्यायोके पुंज रूपमे आत्माको दिखाता है। तो नैगमनयकी दृष्टिमे आत्मा अनन्त गुणोका पु ज है, और भूतमे जितनी पर्यायें हो चुकी, भविष्यमे जितनी पर्यायें होगी वे हैं अनन्त और वर्तमानका एक परिणमन। इस तरह अनन्तानन्त पर्यायोका पु ज यह आत्मा है, यह विदित होता है। नैगमनयकी व्युत्पत्ति है न एक गम, जो एकको प्राप्त न हो, जो अनेक को, विशालको दृष्टिमे ले उसे नैगमनय कहते हैं। अथवा निगम सकल्प. तत्र भव नैगम, अर्थात् जो सकल्पमे होवे उसकानाम नैगमनय है। सकल्प करके जो तत्त्व परिज्ञात होता है वह नैगमनयका विषय है। दोनो प्रकार के अर्थों से जब आत्माको निरखा जा रहा है तो यह आत्मा अनन्तगुण और अनन्त पर्यायोका पुंज है, इस प्रकार दिखता है। द्रव्य कितना है, यह बात कभी एक समयमे नही बतायी जा सकती, द्रव्यकी विशालता किसी एक पर्यायको लेकर नही कही जा सकती। नैगमनयमे सत् असत् दोनो का सग्रह है। असत् के मायने सर्वथा असत् नही किन्तु जो पर्यायें अभी नही हैं अथवा हो चुकी हैं वे वर्तमान दृष्टिसे असत् हैं और जो वर्तमानमे है वे वर्तमान दृष्टिसे सत् हैं। सबका पु ज यह आत्मा है। आविर्भूत तिरोभूत समस्त गुणपर्यायोका पिण्ड आत्मा है। यह नैगमनयने समझाया।

उपचारक उपचरित असद्भूत व्यवहारनय तो मिथ्या बातको ग्रहण करता है, पर इस नयकी उपयोगिता देखिये आत्मदर्शनकी विधि पृ० १६, १७ पर एक प्रवचनाश—उपचरित असद्भूतव्यवहारनयमे आत्मपरिचय का प्रकार—अब उपचरित असद्भूत व्यवहारनयसे आत्माका परिचय किया जा रहा है। उपचरित असद्भूत व्यवहारनयसे आत्माके विषयमें कह सकते हैं कि यह जीव राग, विरोध और मोह से परेशान है। यहा व्यवहारनयसे मतलब है कि किसी दूसरी चीजको जोड करके कथन करना और असद्भूतसे मतलब है कि जो आत्माके गुणमे सद्भूत नही है और उपचरितका अर्थ है किसी परपदार्थका नाम लेकर उसकाकथन करना। तो यहा असद्भूत है रागद्वेषमोहभाव, क्योकि ये आत्मामे गुणके स्वय विलास नही है, ये विकारभाव है और जो विकार है वह असद्भूत तत्त्व कहा जाता है। उसका यहां कथन किया गया है और स्पष्ट है, ग्रहणमे आता है, ऐसे भावोका नाम लेकर उपचार किया गया तो इस दृष्टिमे आत्मा परिचित होता है कि यह रागविरोध और मोहसे परेशान है।

अब देखिये कर्मोपाधि सापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिकनयमे आत्मदर्शनविधि बताकर उस अवगममें हमे क्या शिक्षा व प्रेरणा मिलती है पृ० ३२ पर एक प्रवचनांश—कर्मोपाधिसापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिकनयके अवगमसे प्राप्त शिक्षा व प्रेरणा—यह आत्मा कर्मविपाकनिमित्तसे उत्पन्न होने वाले रागादिभावो रूप है। इसमे कितने ही सिद्धान्त आये है तथा हितकारी शिक्षा प्राप्त होती है। आत्मा रागादिभावोरूप परिणम रहा है। यहा डबल अशुद्धताकी बात कही जा रही है। पर्याय को द्रव्य मे जोडना पहिली अशुद्धता तो यहा है। द्रव्य को द्रव्यरूप मे उपस्थित करने का नाम शुद्धता है और उसे पर्याय के साथ जोडकर बताने का नाम अशुद्धता है, फिर मलिन पर्यायको ही जोडा जा रहा है, इसलिए यह प्रकट अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय है। और, इसमे कर्मोपाधिकी अपेक्षा की बात बतायी जा रही है। इस नयमे हमको यह बात शिक्षा मे मिलती है कि हम रागादिकभावों रूप परिणम तो रहे है, लेकिन यह परिणमन कर्मोदयका निमित्त पाकर हो रहा है। आत्माके स्वरूपमे, स्वभावमे, मौनमें विभावरूप परिणमनकी बात नही पडी हुई है। जब अपने आपको भीतरी असलियतका पता पडता है तब तक ऐसी उसके उत्साह होती है कि जिसके बलपर अशुद्धताके वातावरणको यह खत्म कर सकता है। जैसेकिसी पुरुषको यह पता पड़ जाय

कि मेरे मकान मे इस कमरे मे धन का हंडा गडा हुआ है, तो वह यद्यपि अभी गडा ही है, उसका उपयोग भी नही हो पा रहा है, लेकिन भावमे यह बात आ जाने से उसकी उसे ठसक होती है और उसके व्यवहारमे प्रसन्नता भी रहती है। तो ऐसे ही जब जीवको यह विदित हो जाता है कि भले ही मैं रागद्वेष वाला हो रहा हू लेकिन ऐसा होना मेरे मे शील नही है। यह कर्मो का निमित्त पाकर हो रहा है, तो उसे भीतर मे एक ऐसा बल प्राप्त होता है कि जिस बल पर वह यथाशीघ्र कर्मो का क्षयभी कर लेगा।

देखिये विकल्पनयसे आत्मपरिचयका प्रकार–पृ० ४६ का एक प्रवचनांश–विकल्पनय से आत्मपरिचय का प्रकार–अब चिन्मात्र ब्रह्मको जब समझाने चलेगे तब ही तो तीर्थप्रवृत्ति बनेगी। पाप छोडें, धर्म करे, सदाचारमे लगे, ध्यानादि बनायें, ये सब व्यवहार और परिणतिया तब ही तो बन सकेंगी कि जब हमे उद्देश्यका पता पड जाय। उद्देश्य यह है कि उस चिन्मात्र भावमे समा जावो। फिर ससार का कोई सकट न रहेगा। ठीक है। उस चिन्मात्र भावका परिज्ञान भी तो चाहिए। तो परिज्ञान करना कराना, यह भेददृष्टि बिना न होगा। उस एक अखण्ड चैतन्यमात्र चिन्मात्र, ब्रह्ममे भेद करके जब परखा जायेगा, यह आत्मा अनन्त गुणमय है, पर्यायोमय है, द्रव्य, क्षेत्र, कालकी अपेक्षा इस प्रकार है, जब यो समझा जायगा तब ही तो परिचय होगा कि आत्मतत्त्व क्या है? तो एक अखण्ड आत्मब्रह्मका परिचय करने का उपाय विकल्प है, भेदीकरण है। यो विविध प्रकार का परिचय विकल्पनयमे प्राप्त होता है, अन्यथा आत्मा आत्मा इतना ही कहते जाये कोई तो वे क्या समझे? जब तक विश्लेषण करके न कहा जाय, जो जानता है वह आत्मा, जो देखता है वह आत्मा, जो सदा रहता है और अपनी भावात्मक पर्याये बनाता रहता है वह आत्मा। तो द्रव्य, गुण, पर्याय आदिकका विश्लेषण करके आत्मा को समझाया जाय तो उसका परिचय होता है। आत्मा, ब्रह्म, केवल इतना कह देना तो उन जीवो के लिए सार्थक है, जिसने अनुभव किया है और बडे अभ्याससे सब कुछ परिचय पा लिया है, अब वह एक शब्द सुनकर ही उस पूरे आत्मतत्त्वको अवधारित कर लेता है। लेकिन जिनको इस स्वभावपरिचयका अभ्यास नही है, उसका जिन्हे बोध नही है उनके लिए उस निर्विकल्प ब्रह्ममे विकल्प उठाकर प्रयास करना पडेगा।

पढिये शून्यनयमे आत्मपरिचयका प्रकार, पृ० ५८ का एक प्रवचनांश–शून्यनयमे आत्मपरिचय का प्रकार–शून्यनयमे आत्माका किस ढगसे परिचय होता है? यह बात अब बता रहे हैं। शून्यनय से तो सुगमतया सीधी बात यह विदित होती है कि आत्मतत्त्व समस्त परपदार्थोसे और परभावोसे शून्य है, रहित है, सूना है। जैसे लोग कहते हैं ना कि यह घर सूना है, तो इसका मतलब है कि इस घरमे लोग नही हैं। सिवाय घरके और कुछ नही है। तो यह आत्मा सूना है, इसका भी यह अर्थ होगा कि सिवाय आत्माके यहा और कुछ नही है। कर्म शरीर अनेक वर्गणायें अन्य जीव कुछ भी तो तत्त्व इसमे नही है। यहां तक कि जिस आकाशमे यह जीव रह रहा है वह आकाश भी इस जीवमे नही है। जहा यह जीव है वहा छहों द्रव्य रह रहे है फिर भी जीवमे सिवाय स्वजीवके अन्य कोई द्रव्य नही है। शून्यनय से आत्माका इस भाति परिचय मिलता है।

पचमभागमे ११ वें परिच्छेदके जो प्रवचन हैं वे करणानुयोगसे विशेष सम्बन्धित हैं। इसमें विभावो का निर्देश स्वामित्व आदि उपायोमे परिचय कराया गया है। जैसे कषायोका निर्देश १२ प्रकार से किया गया है। उदाहरणार्थ देखिये समुत्पत्ति कषायका ८ वा प्रकार व समुत्पत्तिकषायके वर्णनका उपसहार, पृ० ११४ पर एक प्रवचनांश–समुत्पत्ति कषायका आठवा प्रकार व समुत्पत्तिकषायके वर्णनका उपसहार–८ वा प्रकार है

समुत्पत्तिकषाय, कि बहुत जीव और बहुत अजीव। जैसे सैन्यचक्र की चढाई सुनकर किसी राजा को विशेष क्षोभ होता है तो उसके उस क्षोभमे कारण बहुत जीव और बहुत अजीव है। नाना प्रकार के अस्त्र शस्त्र और नाना सुभट इनका ही समुदाय तो सन्यचक्र कहलाता है। तो उस सैन्यचक्र के आक्रमण को सुनकर जो क्रोधादिक क्षोभ हुए उनमे निमित्त हुए बहुत जीव और बहुत अजीव। ऐसी अनेक घटनायें होती हैं जो क्रोध, मान, माया, लोभकी प्रकृतिमे, समुत्पत्तिमे नोकर्म सहकारी कारण होता है। करणानुयोगका सिद्धान्त है कि किसी प्रकृतिके उदयसे जीवमे विभावपरिणाम होता है, किन्तु प्रकृतिका उदय फलभूत तब हो पाता कि जब उसे नोकर्म भी मिलता है। नोकर्मका फल प्राय ससार है, इसलिए ऐसी कम स्थितिया आती हैं कि जहा कर्म का उदय हो और नोकर्म सामने न हो तो वहा फलमे अन्तर आ जाता है। लेकिन सारा ससारही तो नोकर्म है। जो कुछ सामने समागममे आया वही विभावका नोकर्म बन जाता है। तो करणानुयोगके सिद्धान्तमे कर्मका उदय नोकर्मका सन्निधान पाकर जीवके विभावका निमित्त हुआ करता है। तो वहा कर्मका उदय हुआ वह तो है प्रत्यय कषाय, जिसके उदयसे जीवमे क्रोध, मान, माया, लोभादिक होते हैं और जो बाह्य नोकर्म सहकारी कारण पडे वह है समुत्पत्तिकषाय। क्रोधप्रकृतिके उदयमे क्रोधकषायका निर्माण होनेमे जो विषय हुए, आश्रय हुए वे सब समुत्पत्तिकषाय कहलाते हैं। यो समुत्पत्तिकषायके ये सब प्रकार नैगमनयके विषयभूत हैं, क्योकि ये सब घटनाये एक स्थूलरूप है, उनमे सूक्ष्मता नही है।

देखिये सम्यक्त्वका आश्रयभूत व निमित्तभूत साधन, पृ० १५६ पर एक प्रवचनाश–सम्यक्त्व का आश्रयभूत व निमित्तभूत साधन–सम्यक्त्वकी साधनामे बताया जा रहा है कि सम्यक्त्वके आश्रयभूत साधन तो जिनसूत्र और जिनसूत्रके ज्ञायक पुरुष हैं और निमित्त कारण दर्शनमोहनीय का उपशम, क्षय, क्षयोपशम आदिक है। देखिये बात एक यहा यह भी समझना कि सुनने वाले निमित्तमे जब तक उपदेष्टाके प्रति यह भाव नही आ पाता कि यह वास्तविक ज्ञानी पुरुष है और यह वचन यथार्थ है तब तक वह तो सम्यक्त्वका साधन नही बन पाता और यह बात अनुभवगम्य ही है। श्रोता तो यह सोचता रहे कि ये तो सब केवल बाते कह रहे है, ज्ञान कुछ नही है, चित्तमे कुछ नही, सिवाय ऊपरी बातें कह रहे है, यदि इस तरह का विकल्प श्रोताके चित्तमे हो तो वह वचन क्या सम्यक्त्वका साधन बन सकेगा ? वह ग्रहण ही कैसे कर सकेगा ? इस कारण श्रोताकी श्रद्धामे ज्ञानीपनेको प्राप्त उपदेष्टा सम्यक्त्वका निमित्त हो पाता है।

पहिचानिये शुभोपयोग और शुद्धोपयोगकी उपयोगिता, पृ० १७१ का एक प्रवचनाश–शुभोपयोग और शुद्धोपयोगकी उपयोगिता–शुभोपयोग और शुद्धोपयोग ये ढाल और अस्त्रकी तरह काम देते है। जैसे युद्धमे लडने वाले सुभटके पास केवल तलवार हो हो, ढाल न हो तो काम न बनेगा और उसके पास ढाल भी हो, पर तलवार न हो तो फिर वहा गया ही क्यो ? यो ही अशुभोपयोगके जितने विकल्प हैं उनसे बचाव करने के लिए शुभोपयोग ढालका काम करता है और उन द्रव्यभाव कर्मशत्रुओको नष्ट करने के लिए यह शुद्धोपयोग, शुद्धतत्त्वकी दृष्टि अस्त्रका काम करती है। तो कारणसमयसार का, सहजपरमात्मतत्त्वका, सहजस्वरूपका इस भावका अभी तक अनुभव नही किया। इसी कारण यह बाह्य मे दृष्टि लगाकर यत्र तत्र भ्रमण करता है, दुःखी होता है और वास्तविक शान्ति प्राप्त नही कर पाता। इसके लिए करने का काम तो केवल एक है–निजअन्तस्तत्त्वकी दृष्टि। उसमे न रह सका तो जो कार्यसमयसार है, जिसका परम विकास हुआ है ऐसे परमात्मस्वरूपकी भक्ति अनुराग करे। व्यवहारसे बताया है पचगुरुभक्तिका कर्तव्य और निश्चयसे बताया है निज अत. प्रकाशमान शुद्ध अविकार

सहज चैतन्यस्वरूपकी दृष्टि।

नियतपर्याय व अनियत पर्यायका मूल मर्म पढिये पृ० २३२ के एक प्रवचनांशमे—सर्वज्ञ प्रभु के ज्ञान मे अनियत पर्याय भी ज्ञात है और नियत पर्याय भी ज्ञात है। अनियत पर्यायका अर्थ यह है कि जो पदार्थ मे चैतन्यके स्वभावसे निश्चित नही है किन्तु किसी परनिमित्त को पाकर उत्पन्न हुआ है, जिनको स्वभावमे प्रतिष्ठा नहीं है, उनको कहते हैं अनियत पर्याय और जो उपाधिके बिना अपने ही स्वभाव मे उत्पन्न होते रहते हैं, जिनके बाद यह निश्चित है कि इसके बाद यह ही पर्याय हो सकेगी, अन्य पर्याय हो ही नही सकती, वे सब नियम पर्याये है। जैसे केवलज्ञानके बाद ज्ञानमे केवलज्ञान केवलज्ञान ही होगा, अन्य कुछ हो ही नही सकता, क्योकि ज्ञानावरणका सम्पूर्ण क्षय है वहा उपाधिका सद्भाव नही है तो यह नियत पर्याय कहलाती है। जो स्वाभाविक पर्याय है वह सब नियत है। तो सर्वज्ञदेवको ज्ञान मे स्वाभाविक पर्याये और विभावपर्यायें सभी ज्ञात हैं। जो हुआ है वह जान लिया। इस कारण निश्चितवादके कथनसे अनियतवादके कथनका विरोध नहीं है। अनियत अनियत है नियत नियत है। सर्वज्ञ के ज्ञानमे सब विदित है, जो पर्यायें अवधिका निमित्त पाकर होती है वे अनियत कहलाती हैं, जो पर्याये उपाधिके द्रव्यके स्वभावसे होती हैं वे नियत कहलाती हैं। पर्यायके नियत होने मे और अनियत होने मे कारण है उपाधिका अभाव और उपाधिका सद्भाव, पर है सब ज्ञानियो द्वारा ज्ञात, किन्तु नियत पर्यायें नियतरूप और अनियत पर्यायें अनियतरूप ज्ञात है। जैसे कोई कहे कि भगवान ने अनन्त पर्यायें जान ली तो अनन्त पर्याये जब जान ली तो सब ज्ञात हो गया, तो इसका अर्थ क्या यह है कि इसके बाद अब कोई पर्याय न रहो, तो क्या द्रव्य पर्यायरहित हो जायेगा उसके पश्चात्। जितनी अनन्त पर्याय जानी हैं उसके बाद द्रव्य पर्यायरहित हो जायेगा सो तो नही होता। भगवान ने अनन्त जाना तो अनन्त रूप से जाना कि सान्त रूप से? जब अनन्त रूपसे जाना है तो उनका कभी अन्त नही हो सकता।

शिक्षाग्रहणका उद्देश्य रहे तो कही भी विवाद न उठेगा, इसकी सीख लीजिये पृ० २५३–२५४ के एक प्रवचनांशके दिग्दर्शनमे—व्यर्थ ही लोग कुछ अपने जीवनका उद्देश्य चर्चा बनाये रखते हैं। अरे उस चर्चासे हमें कुछ अपने में शिक्षा लेना है। यदि यह बात चित्तमे आ जाय तो एक बच्चे की बात से भी शिक्षा मिल सकती है, किसी के भी कथनसे हमे शिक्षा मिल सकती है। जो एकदम विपरीत बात हो उसकी बात तो अलग है, मगर बच्चे के बोलने मे भी हमे बहुत से हितमार्गमे चलने की प्रेरणा मिल सकती है। तो जो लोग ऐसा मानते हैं कि निमित्त पाकर रागादिक विकार होते हैं तो इसमे भी हम शिक्षा ग्रहण करें कि ये विकार निमित्त पाकर हुए हैं, ये मेरे स्वरूप नही हैं। और, जो यह कहते हैं कि स्वकालमे राग होता है तो वहा देखा गया एक ही पदार्थ को। वह पदार्थ है, प्रतिसमय परिणमता है, तो अपने कालमे अपनी अवस्थारूप परिणम गया। एक को ही देखा, ऐसे एक को ही देखनेमे जब आश्रयभूत पदार्थ परमउपयोग नही रहा तो यह राग सूख जायगा। फिर आगे राग न रहेगा। तो इस बात पर दृढ रहे कि हम एक पदार्थ को निरखकर बात कर रहे हैं। एक पदार्थ को निरखनेकी दृष्टि बनाये हैं और निमित्तकी चर्चा उठाये कि निमित्त है अथवा नहीं, सो हैं रूपसे भी चर्चा करना गलत है और नही रूप से भी चर्चा करना गलत है। कब? जब कि तत्त्व को एक अभेद दृष्टि मे निरखा जा रहा है। तो वस्तुत जो परिणमा सो कर्ता, जो परिणाम हुआ सो कर्म, जो परिणति हुई वह क्रिया कहलाती है।

आत्मपरिचयका प्रारम्भिक प्रश्न और उत्तर पढिये पृ० २७४ पर एक प्रवचनांशमे—आत्मपरिचय का

प्रश्न और उत्तर–किसी ने पूछा–भाई आप कौन है और क्या काम करते हैं ? तो आत्माकी जानकारी इन दो बातोसे भली प्रकार होती है। किसी मनुष्यसे आप परिचय करते है तो दो बाते आप जानना चाहते है। उन दो बातो के जाने बिना आपको अन्य बात जाननेकी इच्छा हो नही होती। वे दो बाते हैं–यह कौन है और क्या काम करता है ? अब इसके बाद यदि अन्य बात पूछी जाती हैं कि यह कहा रहते है, किसके रिस्तेदार हैं, कसा कैसा सम्बन्ध है, अब इसको क्या परिस्थिति है ? तो समझ लेओ मगर सारी समझ इन दो बातोकी समझके बाद चलती है। आप कौन है और क्या काम करते हैं ? तो जरा उत्तर तो दीजिये ढगसे। उत्तर आप दे दीजिये कि मै आत्मा हू और निरन्तर परिणमन किया करता हू। यह है आपका परिचय। आपसे पर्यायका परिचय नही पूछा जा रहा, शरीरका नही पूछ रहे, जिसमे अह अह प्रत्यय बन रहा है, मैं हू, मैं हू, यह बात जिसके बन रही है, हम उसकी बात पूछते है कि आप हैं कौन और क्या काम करते हैं ? तो उत्तर मिलता है कि मैं आत्मा हू और निरन्तर परि–णमन किया करता हू। यहा छुट्टी नही है कि मैं ६ घन्टे काम करता हू बाकी छुट्टी। या दिन भर काम करके अब रातको विश्राम ले और यहां कोई भाग भो नही है कि जैसे दो बार मे शिफ्टमे स्कूल लगता है। यहा तो निरन्तर परिणमन होता है। एक दिनमे होते २४ घन्टे, एक घन्टेमे होते ६० मिनट, एक मिनट मे होते ६० सैकेण्ड और एक सैकेण्डमे होती असख्याती आवलिया और एक आवली मे होते हैं असख्यात समय। जिसको आप समझना चाहे सुगम रातिसे तो इस तरह समझे कि जैसे अपने नेत्रोकी पलक बडा जल्दो जल्दी गिरावे उठावे तो उस उतने समयमे भी अनगिनते आवलिया और अनगिनते समय बनते हैं। उनमे से प्रतिसमय यह आत्मा परिणमन करता रहता है। तो इतना उसका तेज राज–गार है। कहता है यह कुछकाम नही करता है, बडा आलसी है, पर आलसो कोई हो कहा सकता है ? पदार्थ का स्वभाव है कि वह निरन्तर परिणमन करता रहे। तो यही है उसका परिचय। तो मै हू और निरन्तर परिणमन करता रहता हू।

(२८७) अध्यात्मसहस्री प्रवचन सप्तम भाग

इस प्रवचन ग्रन्थमे आध्यात्मिक तथ्य एव महत्त्वसे पूरित हितप्रेरक पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी सहजानन्द महाराजके प्रवचन हैं। इसमे आत्मा की ५६ शक्तियोंके मार्मिक प्रवचन हैं। इनमे ध्रुव आत्मस्वभावकी दृढ दृष्टि की दृढ प्रेरणा मिलती है। इन प्रवचनोकी भूमिकामे बाह्य पदार्थोसे सकट माननेका ऊधम देखिये पृ० १८ पर एक प्रवचनाशमे–बाह्य पदार्थो से सकट माननेका ऊधम–हम आप सब जीवोपर सकट जो छाया हुआ है वह सकट मूलमे जन्ममरणका है। इसके सिवाय और जो सकट माने जा रहे है वह सब ऊधम है, क्योकि अपने से बाह्य क्षेत्रमे रहने वाले पदार्थ चाहे वे किसी तरह परिणम रहे हो उनका उस मुझ आत्मा मे प्रवेश तो नही है वे तो अपने क्षेत्रमे रहते हुए ही परिणम रहे हैं, किन्तु यह मोही आत्मा उन पदार्थो को जानकर उनका आश्रय करके अपने मे कल्पनायें बनाता है, जिससे कि राजी होता है, कभी दुखी होता है। तो ऐसे जो विकार के भाव बनाये वह सकट हुआ न कि बाह्य पदार्थ। बाह्य पदार्थ यहा रहे या कही रहे, या किसी तरह रहे, वह सकट नही है। तो सकट है यहा साक्षात् विकल्पोका, और ये विकल्प जब तक बनते रहेगे तब तक जन्म मरणको परम्परा चलती रहेगी। तो हम आपको एक इस निर्णयमे रहना चाहिए, चाहें बीते कुछ, हो रहा हो कुछ, किन्तु निर्णय तो पक्का ही रहना चाहिए कि हम पर सकट है तो जन्ममरणका। यहसकट मिटे तो सब सकट मिट जायेगे। तो जन्म मरणका सकट मिटे, इसके लिए उपाय क्या है ? उस ही उपायको मोक्षमार्ग कहते हैं। मोक्ष मायने छुटकारा, किससे छुटकारा ? जन्ममरण से छुटकारा। अब वहा सभी बाते समाविष्ट हो जाती हैं। जन्म मरण से

छुटकारेका नाम मोक्ष है, कर्म से छुटकारा होने का नाम मोक्ष है, इस शरीर से छुटकारेका नाम मोक्ष है। वे सभी एक ही घर की बातें है। तो हर आपका जिस प्रकार जन्म मरण छूटे वह उपाय यथार्थ उपाय कहलाता है, बाकी बातो के लिए कोई कषाय बनाना अथवा कोई विषय की चाह बनाना, ये सब बाते समझिये कि कुछ पुण्य का उदय मिला है उस समय हम यह ऊधम मचा रहे हैं।

चार प्रकार की विपदा देखिये संक्षेपमे पृ० २३ के एक प्रवचनांशमे–चतुर्विकल्पविपदा हम आप जीवो पर यहा जो कुछ विपदा है वह केवल विकल्पकी विपदा है, क्योकि मुझ मे किसी अन्य पदार्थ का गुण और पर्याय का प्रवेश नही है, केवल उस बाह्य पदार्थ के विषय मे कुछ सोचकर कल्पनाये करके अपने आपमे अपने ही गुणोका विकार बनाया करता हू, इसके अतिरिक्त यहा दूसरा और कोई कारोबार नही हो रहा है। तो संकट विपदाये जो कुछ है वे सब विकल्प के ही है। उन विकल्पोका विश्लेषण करने के लिए चार विभागो मे देखते है–वे चार विभाग हैं अहकार, ममकार, कर्तृत्व बुद्धि और भोक्तृत्व बुद्धि। इन चार प्रकार के विभावो मे से किसी न किसी विभावमे रहकर या सभी मे रहकर उपयोगकी अपेक्षा भले ही किसी विभावका उपयोग हो, लेकिन जहा अहकार है, ममत्व है वहा चारो ही विभाव चल रहे हैं, उन विभावो के कारण हम दुःखी हैं।

प्रथम तीन शक्तियोका वर्णन करके उनका स्मरण देखिये पृ० ५५ के एक प्रवचनांशमे–शक्तियोके वर्णनके प्रसगका संस्मरण–इस ज्ञानमात्र आत्माको व्यवस्थित समझाने के लिए यहा शक्तियोका वर्णन चल रहा है, जिनमे यह बताया कि आत्मामे जीवत्व शक्ति है, जिसके कारण यह चैतन्य प्राणोको धारण किए हुए है। जो उसका असाधारणस्वरूप है उस स्वरूपसे वह अस्ति है. फिर बतलाइये कि जीवत्व शक्तिके प्रतापसे जो चैतन्य प्राण धारित हुए हैं उस चैतन्यप्राणमे क्या खूबी है ? बताया है कि उसमे प्रतिभासने की शक्ति है। प्रतिभास उसका कार्य है। जो प्रतिभासरूप कार्य के परिणमनेकी शक्ति यह चितिशक्ति है। और वह चितिशक्ति जब सामान्यरूप भी प्रतिभासकर सकता है वह दृशिशक्ति है और जो विशेषरूप प्रतिभास करता है वह ज्ञानशक्ति है। ज्ञानशक्ति ही दृशिशक्ति है। अनादि अनन्त परिमित जहा ज्ञानका पूर्ण विकास है वहा तीन कालके पदार्थ प्रतिविम्बित हो रहे हैं। ऐसे उस समस्त ज्ञानमय आत्माको प्रतिभासनेकी शक्ति दृशिशक्तिमे है। वह भी उस ही भाति अनन्तरूप है। उन शक्तियोके शुद्ध स्वरूपपर दृष्टि पहुचने पर यह अनुभवमे आता है कि मैं वह हू जो है भगवान। परमात्मा, वीतराग सर्वज्ञदेव भी इन शक्तियोके पूर्ण विकास हैं। इस शक्तिने पडा हुआ है, ऐसी पात्रता है मुझमे भी कि ऐसा समस्त प्रतिभास हो तो केवल इस सहज स्वरूप पर दृष्टि होने से यह सिद्ध होता है, यह अनुभवमे आता कि यह परमात्मतत्त्व इसी को कारण परमात्मतत्त्व भी कहते हैं। परमात्मा प्रणीत जो उपदेश है उसमे जो सारभूत तत्त्व है उसको परख ज्ञानी जीव स्वयं अपने आपमे इन शक्तियो की दृष्टि करके एक निर्दोष विधिसे प्राप्त कर लेता है।

जीवमे प्रभुत्वशक्तिका प्रकाश देखिये पृ० ७४ कें एकप्रवचनांशमे–जीवमे प्रभुत्वशक्तिका प्रकाश–आत्मा में एक प्रभुत्वशक्ति है, जिसके प्रताप से आत्मा अपने अखण्ड प्रताप, अखण्ड परिणमन व अखण्ड स्वतन्त्रता सयुक्त है। प्रत्येक पदार्थ अपने आपमे परिपूर्ण सत्य है। अनन्तानन्त जीव, अनन्तानन्त परमाणु, एक धर्मद्रव्य, एक अधर्मद्रव्य, एक आकाश द्रव्य, असख्यात काल द्रव्य, प्रत्येक अणु, प्रत्येक पदार्थ स्वय सत् है। अनादि से है, अनन्तकाल तक है। उत्पादव्ययध्रौव्यस्वरूप है। कोई है तो नियमसे उसमे उत्पादव्ययध्रौव्य है। जिस स्वरूपके कारण यह हो तो बात आयी कि प्रत्येक पदार्थ नियमसे निरन्तर

प्रतिक्षण नई नई अवस्थाओके रूपसे परिणमता है और उसी समय पूर्व पर्याय को विलीन कर देता है तिस पर भी अनन्त काल तक बना रहता है। तो पदार्थ मे नवीन पर्यायरूप परिणमन की जो बात है वह पदार्थ के स्वभावसे ही है। तो पदार्थ अपने आपका परिणमन बनानेमे समर्थ है। प्रभु है। स्वतन्त्र है। पदार्थ एक अखण्ड है, उसको समझाने के लिए शक्तियोका भेद किया जाता है। तो भेद दृष्टिमे अनन्त शक्तियो का ज्ञान होता है लेकिन इन समस्त अनन्त शक्तियोका जो एक पुंज है वह सत् द्रव्य है। सत् अभेद है, अभेद भी किया जाय, भेद न रखा जाय ता भी कोई भाव मानना ही होगा। तो पदार्थ अपने स्वभावरूप है। जो अनादि अनन्त है वह भी अखण्ड परिपूर्ण है। यो तो प्रत्येक पदार्थ अपने अस्तित्त्व अपने गुणोमे, अपने परिणमनोमे स्वय प्रभु है। किसी पर पदार्थ के कारण यह प्रभुता नही आती।

आत्मामे अकार्यकरणत्वशक्तिका समीक्षण कीजिये पृ० ११६ पर एक प्रवचनाशमे–आत्मामे अकार्य-कारणशक्तिका समीक्षण–मेरा अस्तित्त्व मुझमे है, दूसरे का अस्तित्त्व उसका उसमे है। हम अपने सब कुछ करने मे स्वतन्त्र है, दूसरा पदार्थ अपना सब कुछ अपने मे करनेमे स्वतन्त्र है। प्रत्येक पदार्थ बनता है बिगडता है और सदा काल बना रहता है। यह प्रत्येक पदार्थ मे स्वभाव पडा हुआ है। मुझ मे भी यही स्वभाव है। मैं किसी दूसरे पदाथ का कारण नही हू। याने प्रभु ने मुझे बनाया हो ऐसी बात नही है। प्रभु वह है जो ज्ञानानन्द से परिपूर्ण हो। प्रभुका अनन्त आनन्द है। अनन्त ज्ञान है, ऐसा जो स्व-भाव है अरहत भगवानका वही मेरा स्वभाव है। भगवान वह है जिसमे अनन्त ज्ञान और अनन्त आनन्द प्रकट हो। प्रभु भी क्या कह रहे हैं? अपने ज्ञान और आनन्दको विशुद्ध बना रहे है और विशुद्ध ज्ञानानन्द मे निरन्तर बरतते रहते हैं। केवल ज्ञान के द्वारा समस्त विश्वको वे जानते है। व अपने उस आनन्द के द्वारा सदा निराकुल रहते हैं। अनाकुल रहना, समस्त विश्व का जाननहार रहना, यह है प्रभुका काम। ये उपासना करने वाले साधु अथवा श्रावक क्या करते है? प्रभु की उपासना करते हैं तो प्रभु कुछ नही करते, किन्तु अपने ही परिणामो मे ऐसी विशुद्धि लाते हैं कि अपना भला कर लेते हैं। प्रत्येक जीव अपना ही सब कुछ करने मे समर्थ है दूसरो का नही। ऐसी आत्मामे अकार्य-कारणत्वशक्ति है। वह न दूसरो का कार्य है और न दूसरो का कारण। अपने आपमे अपनी पर्यायो को बनाता है।

आत्मामे त्यागोपादानशून्यत्वशक्तिका निरूपण देखिये, पृ० १३२ १३३ के एक प्रवचनाशमे–आत्मा मे त्यागोपादानशून्यत्वशक्तिका निरूपण–आत्मामे त्यागोपादानशून्यत्वशक्ति है। इसका अर्थ है कि आत्मा त्यागसे भी शून्य है और ग्रहण से भी शून्य है। यह न त्याग करता है और न ग्रहण करता है, और जो भाव आत्मामे हैं, जो शक्ति, जो स्वरूप आत्मा मे गुण हो, शक्ति हो उनको यहा कोई त्याग नही सकता और जो बाह्य पदार्थ है, जो इनके स्वरूपमे नही है ऐसे किन्ही भी बाह्य पदार्थो का यह आत्मा ग्रहण नही कर सकता, अर्थात् उस स्वरूप हो ही नही सकता। प्रत्येक पदार्थ अपने स्वरूपसे ही अस्तित्त्वरूप है और परचतुष्टयसे नास्तित्त्व है। इसका भग कभी न होगा। प्रत्येक पदार्थ अपने स्वरूप से ही है, परके स्वरूपसे न बन सकेगा, अर्थात् अपने स्वरूपको त्याग दे, यह बात न बन सकेगी। इसी प्रकार आत्मा पर स्वरूपसे नही है तो परस्वरूपसे नही है, इसका कभी भग न होगा, कभी यह न हो सकेगा कि परस्वरूपका यह आत्मा उपादान करले, ग्रहण करले, तो इस प्रकार आत्मामे त्यागोपादानशून्यत्व-शक्ति है। अब इन शक्तियोको शुद्ध दृष्टिमे पहिचान कर निरखियेगा। यहा यह देखा जा रहा है उस शुद्ध दृष्टिको दृष्टिमे लेकर कि यू आत्मा अब विकारका भी ग्रहण नही कर रहा है, स्वीकार नही कर

रहा है। स्वरूप नही बना रहा है। यह बात आप एक दृष्टान्त से ले लें। जैसे दर्पणमे वाह्य पदार्थ का प्रतिबिम्ब आया, प्रतिबिम्ब आया, लेकिन वह बाह्य पदार्थ हट गया तो प्रतिबिम्ब भी हट गया, जब यह वात हम यहा दर्पणमे निरख रहे है कि निमित्त सामने आया तो दपण प्रतिबिम्बित हो गया और निमित्त सामने से हटा तो दर्पणमे प्रतिबिम्ब हट गया। तो इसमे एसा मालूम पडता है कि दर्पणने उस प्रतिबिम्बको ग्रहण नही करना चाहा। उस प्रतिबिम्बरूप अपने को नही स्वीकार करना चाहा, क्योकि अगर प्रतिबिम्बको ग्रहण करने की बात यह दर्पण स्वभवत. करता तो प्रतिबिम्ब रहना चाहिए था, फिर प्रतिबिम्ब हटा क्यो ? इसी प्रतिबिम्ब पर हम यह कह सकते हैं कि वह प्रतिबिम्ब दर्पणके बाहर ही बाहर लौट रहा है, अर्थात् दर्पण के अत स्वरूपमे नही लीन हो रहा। स्वरूप नही बन रहा। इसी प्रकार यहा भी देखो, एक शुद्ध शक्तिकी दिशामे आत्मामे ये विकार आये तो है, मगर आत्माने इनको ग्रहण नही किया। ता जैसे यह आत्मा ज्ञानस्वभावको ग्रहण किये है, उसमे तन्मय है। शाश्वतस्वरूप है, इस प्रकार उसे अगीकार नही कर सकता। निमित्त तो वह एक समयका हुआ। उस क्षणके गुजरने पर यह पर्याय न रही तो आत्मामे ये बाते गुजरी, मगर आत्माने इन्हे स्वीकार नही किया। अब इस दृष्टि मे यह भी नजर आयगा कि तब तो ये विकार आत्मा पर वाहर लौट रहे है, पर्याय मे आ रहे हैं मगर उनको स्वरूपरूपने अगीकार नही किया गया है। इसतरह यहा त्यागउपादानशून्यत्वशक्ति है।

अभेद षट्कारतासे अनुप्राणिता क्रियाशक्तिका परिचय कीजिये पृ० २६१ के एक प्रवचनाशमे–अभेदषट्कारकतासे अनुप्राणिता क्रियाशक्ति–क्रियाशक्तिमे बताया जा रहा है कि पदार्थ अपने ही कारण से अपने हो लिए अपने को आपको अपनी ही पर्यायरूपसे रचता है। यह अभेद षट्कारकता की बात कही जा रही है। इस सम्बन्ध मे मुख्यनया तो स्वभाव परिणमन की बात लेना है क्योकि पदार्थ आत्मद्रव्य, अपनी शक्तियोके बलसे स्वभावत जो कार्यकर सके वही वस्तुत कार्य कहा जा सकेगा और जो विकार आते है वह शक्तियो का कारण नही, किन्तु शक्तियोकी दुर्दशा है। लोकमे भी तो कहते है कि जो स्वभावत करे सो कार्य है और जो परकी उपाधिसे कुछ भी विपरिणमन हो उसके प्रतिकूल हो जाय वह उसका कार्य क्या है ? वह तो एक दुर्दशा रूप बात हो जाती है। ऐसी ही कुछ दृष्टि लगाकर शक्तियो का स्वरूप देखना है। शक्ति अपने आप अपने स्वभावसे विकार करने का स्वभाव नही रखती, ऐसी योग्यता है आत्मद्रव्यमे कि अशुद्ध आत्मद्रव्य उपाधिका सन्निधान पाकर विकृत हो जाता है, किन्तु शक्तियोमे ऐसा स्वभाव नही पडा हुआ है कि वह विकार किया करे, स्वभाव न होकर भी विपरिणमन होता है ऐसे अनेक दृष्टान्त हैं। जैसे जलका दृष्टान्त ले लोजिये। उसका स्वभाव ठडा है, लेकिन अग्नि के सम्बन्धसे उसका उष्णतारूप परिणमन हो जाता है। तो यह एक मोटा दृष्टान्त है। अनक दृष्टान्त ले लीजिये दर्पणका स्वभाव स्वच्छतारूपसे स्वय व्यक्त रहने का है, लेकिन उपाधि का सन्निधान पाकर उसमे प्रतिबिम्बरूप विपरिणमन होता है, इसी प्रकार आत्मा की शक्तियो का काय स्वभाव 'ता' विकारका नही है, पर हाता है। वह पर्यायगत् याग्यताकी बात है। वह प्रकरण दूसरा है। यहा तो ज्ञानमात्र आत्मतत्त्व को प्रसिद्धि के लिए शक्तियोका वर्णन चल रहा है। यहा अभेदषट्कारक रूप मे हानको शक्तिका नाम है क्रियाशक्ति। सहज आत्मशक्तिका कार्य है स्वभावपरिणमन।

आत्मामे कर्मशक्तिका प्रकाश देखिये पृ० २ ३ पर एक प्रवचनाशमे–आत्मामे कर्मशक्ति का प्रकाश–क्रियाशक्तिमे बताया है कि आत्मामे जो क्रिया है, परिणति है वह आत्माका ही कर्तव्य पाकर आत्मा

को ही कर्मरूप करती हुई आत्माके ही कारण द्वारा, आत्माके ही सम्प्रदान के लिए, आत्माके ही उपादानसे, आत्माधकरणमे प्रकट हुआ करती है। ऐसी ६ कारको के रूपमे क्रियाशक्तिका वर्णन किया गया है। अब उस ही प्रतिक्रियामे जो कर्मकारक है उसके सम्बन्धमे कहा जायगा कि कर्म क्या है। और कर्मशक्ति आत्मामे किस प्रकार की बतायी गई है, सो आज कर्मशक्तिका वर्णन है। कर्मशक्तिका अर्थ है कि पाया जा रहा है जो सिद्धरूप भाव है उस मय होने की शक्ति। आत्मामे पाया जा रहा है हुआ जो निष्पन्न भाव है तद्रूप होने की शक्तिको कर्मशक्ति कहते हैं। आत्मामे क्या भाव पाया जा रहा है ? जो पाया जा रहा है वह सिद्ध भाव कहलाता है। आत्मामे निस्पन्न हुआ है ऐसा भाव क्या है ? आत्मामे आत्माके स्वभावसे, आत्माके ही आधार से, आत्माके आश्रयसे जो भाव प्रकट होता है वह भाव आत्मामे हो पाया जा रहा है और स्वयमे सिद्धभाव हैं वास्तवमे वही आत्मा का कर्म है। आत्मा ज्ञानमय है, तो ज्ञानस्वरूप आत्माका काम क्या होगा ? परिणमन क्या होगा ? वह जानन परिणमन होगा। ता एक जानन परिणमनकी मुख्यता है यहा निरखा गया- जाननभाव सिद्धभाव है अपने आपमे। जानन हो रहा है, जान रहा है यह आत्मा ज्ञान करता है, जानता है, यह है आत्मा का कर्म। और, जो आत्माका वास्तविक कर्म है वही है आत्माका धर्म।

कर्तृत्वशक्तिके प्रवचनोके प्रसगमे पढिये भूतार्थपद्धतिसे ज्ञानदिशा बनाने की आवश्यकता, पृ० ३१३-३१४ के एक प्रवचनाशमे–भूतार्थपद्धतिसे ज्ञानदिशा बनानेकी आवश्यकता–यहा यह बात निरखना है कि एक दूसरे का परिणमन नही कर पाता, इतना निरखने पर भी अभीष्ट न मिलेगा। यो तो अशुद्ध निश्चयनयकी कुछ पद्धति बिगाड दो गई समझे। पद्धति ता यह थी कि एक द्रव्यको अभिमुखता, लेकिन पद्धति यदि यह बना लो जाय कि कर्म ने तो नही किया कुछ यह तो जीवने राग किया है, जीवका परिणाम है, बस यो ही निरखते जावो–ऐसी पद्धतिसे अशुद्ध निश्चयनय भी गर्त मे ढकेल देगा। जिनकी पद्धति भूतार्थ पद्धतिकी ओर देखनेकी नही है उनके लिए यह व्यवहार और यह भेदनिश्चयनय कोई उपकारो नही हो सकते। और, जिनकी पद्धति भूतार्थनयका अपनाने की, उसके आश्रयकी बनी है, उसके लिए यह व्यवहार भी बडा सहयोग दे रहा है, समझा रहा है–अरे ये कर्म के विकार हैं, ये रागद्वेषादिक पौद्गलिक है, जिनका मुझमे स्वभाव नही है। तो सम्हलकर चलने की बात है। एक पदार्थ दूसरे का कर्ता नही है। यह भी समझना आवश्यक हैं और साथ हो विकार परिणाम उस ही पदार्थ मे हुए, उस ही का सर्वस्व है, इस प्रकार के अज्ञानसे हटकर उस विकार और स्वभावमे भी भेद समझानेकी आवश्यकना है।

आत्मामे करणशक्तिका प्रकाश देखिये पृ० ३२३ के एक प्रवचनागमे–करणशक्तिका अर्थ है कि हो रहे भावके होने मे जो साधकतम हो, जिसके बिना हो हो न सके ऐसा जो साधकतम हो, उस रूप होने की शक्तिको करणशक्ति कहते है। आत्मामे भाव क्या हो रहा है ? जिसका वर्णन पहिले भी किया गया था पराश्रयके बिना निरपेक्षतया स्वतन्त्र होकर अपनी उस शक्तिके कारण स्वभावसे जो बात बने वह कहलाता है कर्म, और ऐसे कर्म के होने मे साधकतम क्या है ? तो यही आत्मा। यहा यह बात समझनी होगी कि द्रव्यमे जितने भी परिणमन होते हैं उन सब परिणमनोका निश्चयत. कारण वही द्रव्य होता है, जिसको उपादान करके कहा उस हो का कारणरूपसे उपादान करके कार्य प्रकट होता है। लेकिन कुछ कार्य होते हैं औपाधिक और कोई कार्य होते है निरुपाधि। चूकि यह आत्माकी प्रसिद्धिका प्रकरण है। आत्मा कैसे जाना जाय कि यह है, जिसका अनुभव किया जाने से कल्याण हो उस आत्मा की जानकारी के लिए यहा ज्ञानमात्र भावरूपमे आत्माका स्मरण किया गया था। मैं ज्ञानमात्र हूं।

ज्ञानमात्र हू इस भावमे सर्व आत्मतत्त्व आ गया । कैसे आ गया, इस बात की सिद्धि के लिए यहा अनन्तशक्तियोके वर्णनकी बात आयी । अनन्तका वर्णन कौन करे ? १०० का भी वर्णन होना कठिन होता है फिर भी उनमे जो मुख्य शक्तिया है, जिनके परिचयसे हममे निर्मल परिणाम होने का अवसर आ सकता है । उनका वर्णन यहा चल रहा है । तो निश्चयत पदार्थ के परिणमनके लिए करण वही पदार्थ होता है किन्तु यहाँ ताकना है आत्माका निरपेक्ष परिणमनरूप कार्यका कारण । तो यहा शुद्धपरिणमन, निर्मलभाव, सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्ररूप परिणमन, जिसमे रहकर आत्माकी स्पष्ट प्रसिद्धि होती है । उस निर्मल आत्माका साधन क्या है ? एक अखण्ड आत्मद्रव्यका आलम्बन । किसका आश्रय करें, उपयोगमे किसको लिया जाय कि यह निर्मल परिणामोका ताता चल उठे । इसका निर्णय करो । इसमे जो उत्तर आयेगा वही करण मान लीजिये ।

सम्प्रदानशक्तिके प्रवचनोमे पढ़िये अध्यात्मसम्प्रदानकी विशेषता पृ० ३४८ पर एक प्रवचनांशमें—अध्यात्म सम्प्रदानको विशेषता—इस आध्यात्मिक सम्प्रदानके सम्बन्धमे तो देखो-लोकमे तो यह बात है दान, विधि, द्रव्य, दाता और पात्र । और इस आध्यात्मिक निमल भावके आदान प्रदानमे स्वय ही आदाता है, स्वय ही प्रदाता है, इस सम्बन्ध मे वह कैसा अलौकिक दाता है, अलौकिक विधि है, अलौकिक पात्र है और अलौकिक देय है । तब ही इसे प्रदान शब्दसे कहा है—प्रकृष्ट दान, विधि भी प्रविधि है, देय भी प्रदेय है, दाता भी प्रदाता है और पात्र भी प्रपात्र है । यो सभी उत्कृष्ट हैं, और फिर ये सब बातें कहीं भिन्न भिन्न जगह नही हैं, एकीभावसे ही सब हो रहा है, जिसको सम् उपसर्ग सूचित करता है । सम्का अथ है एकीभावरूपसे । जब यहा ही सम्प्रविधि है, यहा ही सम्प्रदाता है, यहा हो सम्प्रदेय है और यहा ही सम्प्रपात्र है तब यह है सम्प्रदान । इसकी क्या विधि है ? यह उपयोग ऐसे शुद्ध आत्मद्रव्यका आश्रय करे जहा किसो विशेषका विकल्प न हो ऐसा एक शुद्ध जीवस्वभाव उसके चिन्तनके सहारे, जहा एक उस आत्मद्रव्यका आश्रय हो, उसकी ओर उपयोगकी एकाग्रता हुई ऐसो विधिमे यह मिलता है सम्प्रदान, दान, प्रदान, सम्प्रदान और इसका देने वाला है यही शुद्ध ज्ञायकस्वभाव, ज्ञायकभाव आत्मा, जहा से यह निर्मलभाव प्रकट हुआ है यह है सम्प्रदाता और वह निमलभाव जहा क्षोभ नही, जहा परमपावनता है, जो बडे योगीन्द्रो द्वारा पूज्य है ऐसा परिणाम है सम्प्रदेय और इसका लेने वाला भी यह है और प्रपात्र, सम्प्रदान मो यह यही आत्मद्रव्य है । इस तरह जिसको यह विश्वास है, निणय है, इस ही ओर जिसका कदम चल रहा हो कि मेरा भला एक इस शुद्ध परिणाममे है और यह परिणाम एक मात्र केवल आत्मद्रव्यके आश्रयसे प्रकट होता है यदि किसी भो भिन्न परवस्तुका आश्रय उपयोग द्वारा करते हैं, उस ओर लगते हैं तो उस लगने का स्थिति आश्रित भाव हो होता है, शुभ भाव हो या अशुभ, किन्तु वह शुद्ध परिणाम स्वाश्रयसे प्रकट होता है ।

अपादानशक्तिके प्रवचनोके प्रसगमे देखिये अपादानशक्तिमे ध्रुवताकी दृष्टि, पृ० ३७१ के एक प्रवचनांशमे- अपादानशक्तिमे जो परिचय पाया गया है उस परिचयमे यह प्रसिद्ध हुआ है कि यह उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक है । उत्पादव्ययसे आलिंगित होकर उत्पादव्ययरूप है, किन्तु यह तो हुआ वस्तुस्वरूप । वस्तु उत्पादव्ययध्रौव्यस्वरूप ही है । उत्पादके बिना व्यय ध्रौव्य नही ठहरते, व्ययके बिना उत्पाद ध्रौव्य नही ठहरते, ध्रौव्यके बिना उत्पादव्यय नही ठहरता, इस प्रकारसे उत्पादव्ययध्रौव्यकी अविनाभाविता है । यो पदार्थ उत्पादव्ययध्रौव्यलक्षणासत्तासे ही अनुस्यूत है पर अपादानशक्तिमे अपादानत्व के नाते से देखा जा रहा है तो उत्पादव्यय गौण हो जाता है और ध्रुवता मुख्य हो जाती है, उत्पादव्यय होकर भी जो ध्रुवता की शक्ति लिए हुए हो उसे कहते हैं अपादान । जहा "भी" लगाना है वह हो जाता है गौण

और उसे लगा करके जो कहा जाता है वह हो जाता है मुख्य। जैसे लोकव्यवहारमे ऐसी बहुत सी बातें बोली जाती है, हा बात यद्यपि ऐसी ही है, लेकिन होना चाहिए यह, तो उसकी मुख्यता चाहिए वालेमे गई। "होनेपर भी" इसका जिससे सम्बन्ध है उस पर मुख्यता नही गयी। तो उत्पादव्ययसे आलिंगित है यह ध्रुव आत्मद्रव्य। पर जो उसमे ध्रुवताकी शक्ति है उस शक्तिको प्रगट यह अपादान शक्ति कर रही है। ऐसे इस शुद्ध आत्मद्रव्यमे जो एकता है और शुद्धता है वही सुन्दर है। वस्तुत देखो तो सभी पदार्थ अपने एकत्वके निश्चय मे आये हो तो उस रूपसे वे भले जचते है, विसम्वादरहित जचते हैं, वहा कोई क्षोभ नही विदित होता है, शान्ति अवस्थित रहती है, ऐसी एकता सभी द्रव्योमे है। प्रत्येक द्रव्य अपने ही स्वरूपसे है, अपने ही गुण पर्यायोके एकत्वरूप से रहता है, इस कारण ऐसी एकता ध्रुवता सर्व-पदार्थो में है, किन्तु यहा आत्महितकी बात चल रही है। अत. आत्माके सम्बन्धमे ही यह सब परखा जा रहा है।

अधिकरणशक्तिके प्रवचनोके प्रसगमे निरखिये ज्ञानका आधार राग नही, रागके आधार ज्ञान नही, पृ० ३८६ का एक प्रवचनाश—रागादि विकार व ज्ञानमे अत्यन्त वैलक्षण्य होने से परस्पर आधार'धेय भावका अभाव—मैं इन बाह्य पदार्थो मे नही हू। इन बाह्य पदार्थो की चर्चा तो दूर रहा, मैं अपने इन रागादि विकारोके आधार से भी नही हू। ज्ञाताद्रष्टा रहना, वीतराग रहना, केवल शुद्ध ज्ञान रहना और रागविकार होना ये दो बाते विलक्षण तो है ही। स्वरूप ही इनका उल्टा है। किसी राग विकार वा कलक स्वरूप और किसो ज्ञाता द्रष्टाका उत्तमस्वरूप ऐसे विभिन्न स्वरूप वाला यह ज्ञान क्या रागके आधार से बनता होगा ? रागने क्या इन स्वभाविक धर्मो को प्रकट किया ? ज्ञाता द्रष्टा रहने रूप विकास यह राग से निकलकर नही आया। इसका आधार राग नही, किन्तु यह स्वरूप ही है निज। यहा भी तो कहते है कि एकका दूसरा कुछ नही लगता, क्योकि भिन्न प्रदेशी है भिन्न प्रदेश वाले पदार्थ की एक सत्ता तो नही बनती। यहा यह देखिये कि इन दोनो का भिन्न स्वरूप है, और ऐसा भिन्न स्वरूप है विपक्षरूप कि इनका मेल नही हो सकता परस्परमे कि ज्ञानमे राग रहे और रागमे ज्ञान रहे। ज्ञान तो है आत्मज भाव और राग है कर्माश्रयज भाव, औपाधिक भाव, वैभाविक भाव। तो राग और ज्ञानमे आधारआधेयकी बात नही कही जा सकती। तब बात क्या है कि जो विकार है वह विकारस्वरूपमे ही रहता है, वह ज्ञानस्वरूपमे नही रहता, जाननपनमे नही रहता। जाननपनकी बात विलक्षण है, रागविकारकी बात विलक्षण है। तो ये क्रोधादिक विकार ज्ञानसे पृथकभूत है। इन क्रोधादिक विकारोमे ज्ञान नही है। इनमे वस्तुत. आधार आधेय सम्बन्ध नही।

सम्बन्धशक्तिके वर्णनमे प्रारम्भमे यह बताया है कि सम्बन्ध विभक्तिको कारकमे क्यो नही गिना है ? देखिये पृ० ४१६ पर एक प्रवचनांश—सम्बन्ध विभक्तिको कारकोमे न रखने का कारण—जैन व्याकरणमें बताया गया है—"ता शेष" षष्ठी विभक्ति शेष अर्थ मे आती है। उस शेषका अर्थ क्या है ? जैनेन्द्रव्याकरणकी सत्र क्रमानुख्या वाली शब्दार्णवचन्द्रिकामे कहा है—"कारकाणामविवक्षा शेषा"। कारको की विवक्षा न रहना, कारकोसे बाहर की जो बात है वह सब शेष कहलाती है। जैसे अंग्रेजी भाषामे मुख्य सम्बन्ध रखने वाले दो कारक है—(१) नोमिनेटिव और (२) ओब्जेक्टिव। इनके अतिरिक्त अन्य सब शेष है और उनका प्रयोग टू, बाई फोर, इन, फ्राम आदिक शब्दोको लेकर किया जाता है। संस्कृत व्याकरणमे भी यह बात सुनाई जाती है कि कारकपना ६ मे आता है, क्योंकि बताया है मृदर्थोदतिरिक्त स्वस्वामिसम्बन्ध'। प्रतिपादिकोमे बसने वाले अर्थो से जो भिन्न अर्थ है यह स्वस्वामिसम्बन्ध अर्थ क्या हुआ ? षष्ठीका जबकि कारकोमे दो शब्दोके ताल्लुककी आवश्यकता नही है। क्रियाका कारकभूत एक

एक एक शब्दसे सम्बन्ध रहेगा, जैसे–पढा–किसमे पढ़ा ? पढ़ा–किसको पढा ?, पढ़ा–किसके द्वारा पढा ?, पढा–किसके लिए पढा ?, पढा–किसमें पढा ? यो एक क्रियाका कारकभूत एक शब्दसे ताल्लुक सीधा हो गया, लेकिन सम्बन्धमे दो शब्द ही बोले गये–जैसे राजाका पुरुष, फलाने देशका राजा आदि। उसका सम्बन्ध क्रिया से नही है, बल्कि शब्दका शब्दसे सम्बन्ध है। इसलिए इसे कारक अर्थ मे नहीं लिया गया। फिर भी यह छोडा नही जा सकता, क्योकि यह विभक्ति अर्थ मे आता है। दो का भी सम्बन्ध हो तो उसमे भी अर्थ है।

सम्बन्धशक्तिके प्रकाशके प्रवचनोमे से पृ० ४८६ के एक प्रवचनांशमे पढ़िये–ज्ञायकस्वभाव आत्मा के साथ भावकर्म व द्रव्यकर्मका सम्बन्ध क्यो नही है ? ज्ञायकस्वभाव आत्माके साथ द्रव्यकर्म व विभावका भाव्यभावक सम्बन्ध न होने से कर्म व विकारो से इस आत्मद्रव्यकी विविक्तता–यह ज्ञानस्वभाव यह सहज ज्ञानस्वभाव रागादिक से निराला है, क्योकि इन रागादिक भावोके द्वारा यह ज्ञानस्वभाव रजित नही किया जा सकता। ओह, इस भूमिका मे यद्यपि यह सब रागपरिणमन चल रहा है और इस राग–परिणमनके कालमे यह ज्ञानस्वभाव भी अपना मस्तक नही उठा पा रहा है, व्यक्त नही हो पा रहा है, इतने पर भी जो आत्माका सहज ज्ञानस्वभाव है वह, कितने ही तीव्र रागादिक हो, फिर भी उनके द्वारा यह ज्ञानस्वभाव रजित नही किया जा सकता है। यदि ज्ञानस्वभाव ही रजित हो जाय तब तो ये रागादिक ही स्वभाव बन जायगे। फिर तो कभी उद्धार नही हो सकता, अथवा इसका स्वरूप ही न रह सकेगा। देखिये–ज्ञान चाहे रजित हो जाय, पर ज्ञानस्वभाव रजित न होगा। मैं तो ज्ञानस्वभावरूप हू, टंकोत्कीर्णवत् निश्चल यह ज्ञानस्वभाव, मै, सो इन रागादिक भावो के द्वारा ज्ञायकस्वभाव मुझको रजित किया जाना अशक्य है। तब यह राग भावक नही हो सकता और यह मैं ज्ञायकस्वभाव भाव्य न बन सका। यह तो हुई रागके साथ मेरी नातेदारी की बात। नातेदारी कहते हैं ते ना इति दारी, याने तेरा कुछ नही है ऐसा सम्बन्ध। कहते हैं ना, कि हमारी तो इनसे नातेदारी है अर्थात् मेरे ये कुछ नही हैं, इस प्रकार की बात इनके साथ है। देखो–लोग मुखमे तो यह कह रहे हैं और भीतरमे विश्वास यह बनाये हुए हैं कि मेरे खास सम्बन्धी है, ये ही मेरे सब कुछ है। तो यह तो राग के साथ ज्ञायकस्व–भाव मुझ आत्माकी नातेदारी हुई, असम्बन्ध रहा। अब परखे द्रव्यकर्म के साथ तो यह द्रव्य कर्म के द्वारा यदि भाव्य हो सकता है तो राग परिणाम हो जायगा, पर द्रव्यकर्म के द्वारा यह ज्ञायकस्वभाव "मैं" भाव्य नही हो सकता। तो राग मेरा क्या और रागका कारणभूत द्रव्यकर्म मेरा क्या है ? तब मैं सर्व ओर से ज्ञानभावसे निर्भर केवल चैतन्यमात्र ही अपने आपका अनुभवू, मेरा परद्रव्य कुछ नही, रागादिक कुछ नही। मैं तो एक ज्ञायकस्वभावमात्र हूं।

(२७८–२७९) अध्यात्मसहस्री प्रवचन ८ ९ भाग

इसमे स्वरचित अध्यात्मसहस्रीके १४–१५–१६ परिच्छेदो पर पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराजके प्रवचन है। जितने दर्शनोकी (मतोकी) उद्भूति हुई है वे किसी न किसी नयदृष्टिसे ही हुए हैं। आदर्य इस परिच्छेदमे कुछ उदाहरण देगें कि किस नयदृष्टि से पहिचाना जाता है कि ईश्वर एक है–सग्रह दृष्टिसे ईश्वर के एकत्वकी निरोक्षा–सग्रहदृष्टिका प्रयोजन है सबका सग्रह करना। तो किसका सग्रह करना ? सब–जनोका ? सर्व आत्माओंका ? यह भी नही, किन्तु सब विशुद्ध आत्माओका संग्रह करना है। अब देख लीजिये कि जो भी विशुद्ध आत्मा हैं वह सब एक समान होता है। तो प्रथम तो कोषमे बताया है कि समान अर्थ मे भी "एक" शब्दका प्रयोग होता है। एक के मायने है समान। यह पर्यायवाची शब्द है। कही "एक" (१) सख्यावाची हो तो उसका अर्थ दूसरा होता है, पर "एक" समानार्थक शब्द भी है।

ईश्वर एक है, ऐसा कहने में यह स्पष्ट ध्वनित होता है कि ईश्वर सब समान है, पर यहा अभी समानताके माध्यमसे एकता की ओर जाने की बात कह रहे हैं। वह है संग्रहदृष्टिसे, संग्रह दृष्टिसे समान को न ग्रहण करना, किन्तु एक को ग्रहण करना है। तब सर्वविशुद्ध आत्माओंको निरखिये- भगवान वह होता है जो कि विशुद्ध हो। विशुद्ध वह कहलाता है जो कि अकेला हो। विशुद्ध कहो, शुद्ध कहो, अकेला कहो, केवल कहो, ये सब एकार्थवाचक शब्द हैं। जो केवल आत्मा है, खालिस आत्मा ही आत्मा है उसे कहते है विशुद्ध आत्मा। वही विशुद्ध आत्मा परमात्मा कहा जाता है। परम आत्मा याने जो उत्कृष्ट आत्म हो सो परमात्मा कहलाता है। उत्कृष्टता आया करती है निर्दोषताके कारण। याने जिस आत्मामे दोष एक भी न रहा सो उसे कहते हैं परमात्मा। अथवा परम का अर्थ उत्कृष्ट नही है। उत्कृष्ट अर्थ है परका। "पर" मायने उत्कृष्ट मायने ज्ञानलक्ष्मी अर्थात् जिसके ज्ञान पूर्ण उत्कृष्ट है, विकसित है उसे कहते है परम। ऐसा जो आत्माहो उसे कहते है परमात्मा। तो जो निर्दोषहै, उत्कृष्टज्ञानमय है ऐसेआत्माको कहते है परमात्मा। परमात्माकानाम भगवानभी कहाजाता है। भगका अर्थ ज्ञान है, जो उत्कृष्ट ज्ञानवान हो उसे कहते हैं भगवान। तो अर्थ निकला कि जो आत्मा विशुद्ध हो, निर्मल हो उसे कहते है परमात्मा। उसी का नाम ईश्वर है। ईश्वर उसे कहते हैं जो ऐश्वर्य युक्त हो। ऐश्वर्य उसे कहते हैं जहा अपना वैभव पाने में दूसरे का मुख न तकना पडे। जैसे एक गाव का मालिक (मुखिया) अथवा जमीदार, उसे लोग ईश्वर कहते हैं। उसे सब प्रकारकी चीजें उसकी जमीन से पैदा हो जाती हैं। कपडा चाहिए तो कपास खेतोमे बोकर उसका सूत कातकर कपडे बुन लिया, नमक भी खारी मिट्टी से तैयार कर लिया, सरसो का तेल चाहिए तो उसे भी सरसो बोकर पैदा कर लिया। यो उसे सभी वस्तुवे जमीन मे से मिल जाती हैं। उसको किसी चीजके पाने के लिए किसी दूसरे का मुख नही तकने की जरूरत रहती, इसीलिए उसको लोग ग्रामका ईश्वर कहा करते हैं। तो जो अपने ऐश्वर्य मे स्वतन्त्र हो, जिसे अपने ऐश्वर्य के लिए परकी प्रतीक्षा नही करनी पडती है, जो केवल आत्मा है, परम आत्मा है, उसका जो ज्ञानानन्द ऐश्वर्य है असीम ऐश्वर्य, उसके पाने के लिए बाहरमे किसकी अपेक्षा करते हो ? अरे यह आत्मा स्वय सुखमय है, ज्ञानमय है, आनन्दस्वरूप है। तो ऐसा स्वय ऐश्वर्य सम्पन्न जो यह परम आत्मा है, भगवान है वह ईश्वर है। अब इसके स्वरूपको देखो तो इसका स्वरूप समान है, इसका विकास बिल्कुल समान है।

किस दृष्टिसे ईश्वर भावजगतका कर्ता सिद्ध होता है, इस वर्णनके पश्चात् द्रव्य जगतका कर्ता ईश्वर किस दृष्टि से है पढ़िये—दृश्यमान जगतका कर्ता ईश्वर है इस मन्तव्यकी सभावित आधारदृष्टि—अब इसी विषय से सम्बन्धित दूसरा विकल्प परखिये। द्रव्य जगत मायने यह सब द्रव्यरूप। मिट्टी कोयला, भीट, जानवर, मनुष्य, यह सब जो जो कुछ भी नजर आ रहे है, इनका करने वाला ईश्वर है। यह किस अभिप्रायसे चल चल कर धीरे धीरे कुछ चिग चिग कर यह निकला है। मूलमे क्या आधारभूत दृष्टि उनकी हो सकती थी इस बात को अब निरख तो इसे निमित्तप्रधान दृष्टि से देखना होगा। इस दृष्टि का नाम है सामान्य सर्वनिमित्त दृष्टि। बात यहा यह साधी है कि जब इन राग द्वेष सुख दु खादिक भावोका कर्ता जीव है यह निरखा गया उपादान दृष्टि से तो ऐसा यहा यह निरखना है कि इन कार्यों का कर्ता जीव है। यह है निमित्त दृष्टि से। जो कुछ भी यहा देखा जा रहा है कायके अतिरिक्त और कुछ यहा नही है। बस इनका समूह ही यहा सब कुछ दिख रहा है। यह भीट क्या है ? मृतकाय यह पहिले पृथ्वी रूपमे थी, फिर उसे पीसकर मिट्टीरूप बनाकर ईटाकार तैयार कर लिया गया तो यह मृतकायका ही तो वात है। जैसे कोई मनुष्य गुजर गया और मनुष्यशरीर पडा रहा, अब उस शरीरको कोई चीथ ले, टुकडे टुकडे कर दे, जला दे, उसे राखरूप बना दे या किसी भी रूपमें बन जाय तो वह

मृतकाय की हो तो चीज है। तो जगतमे जो कुछ दिख रहा है वह सब काय काय ही दिख रहा है–कोई मृतकाय है कोई जीवितकाय है। अब इन कार्योका करने वाला निमित्तदृष्टिसे जीव है। सो यहा इस तरह बात आती है कि एक भवसे मरण करके जीव आया और नये शरीरको इसने ग्रहण किया, लो उसका निमित्त पाकर यह शरीर ग्रहणमे होने व बढ़ने लगा। अगोपाग हुए और जिसका जैसा कर्मोदय है उसका वहा शरीर बना। एकेन्द्रियके अगोपाग नही होते। ता शरीरका जो यह आकार बना, पिण्ड बना इसका निमित्त दृष्टिसे कर्ता यह जीव रहा, अर्थात् जीवका सम्बन्ध पाकर ये सब रचनायें बनी। यद्यपि उन रचनाओमे अतरग निमित्त कारण कर्मोदय है, पर उन कर्मो का निमित्त कारण जीवविभाव है। तो जीव उनका निमित्तभूत हुआ, इस तरह से यह कहा जा सकता कि जगतमें जो कुछ भी दिख रहा है चाहे जीवित काय हो, चाहे मृत शरीर का रचने वाला हो, निमित्त दृष्टिमे जीव है, जीव के सम्बन्ध बिना ये कोई सकल नही आ सकते।

किस दृष्टिमे विज्ञानमात्र तत्त्वके सिद्धान्तकी उद्भूति हुई, पढ़िये–सवविश्वको विज्ञानमात्र तत्त्व मानने के मन्तव्यकी आधारभूत दृष्टिकी जिज्ञासा–अब एक नवीन चर्चा यह आ रही है कि कोई दार्शनिक कहता है कि यह सारा विश्वमात्र ज्ञानरूप है। ज्ञानको छोडकर अन्य कोई भी सत् नहीं है। सब ज्ञान-मात्र है। ऐसा दर्शन सुन करके अचानक लोग ऐसा सोचेंगे कि यह तो अत्यन्त अनहोनी बात कही जा रही है, किन्तु इसको वे किस अभिप्राय से साबत कर रहे है? सो उनका अभिप्राय देखियें–विज्ञान-वादियोका यह कथन है कि सारा विश्व एक विज्ञानमात्र है, क्योकि इन समस्त पदार्थो का और इस ज्ञानका एक साथ उपलब्ध हो रहा है। चूकि ज्ञान और पदार्थ ये एक साथ ही उपलब्धिमे आ रहे है इस कारण से ये सब एक है और वे ज्ञानमात्र। ज्ञानाद्वैतवादियोकी विज्ञानमात्र तत्त्वके साधनकी यह युक्ति देखिये–उनका कहना है कि ये सारे पदार्थ उपलब्धिमे आ रहे है, इस कारण ये भिन्न भिन्न चीजें नही हैं, किन्तु ये विज्ञानमात्र है, और दृष्टान्त भी वे देते हैं कि कभी दो चन्द्रमा है, लोगो को तो क्या वे दो चन्द्रमा हैं? अरे वह तो एक है, क्यो एक है कि चन्द्रमा एक साथ दिखे। एक साथ दो चन्द्रमा दिखे हैं इस कारण वह चन्द्र एक है। इसीतरह यह सारा विश्व, ये भीट, मकान, चौकी, काठ आदिक पदार्थ व यह ये दोनो एक साथ पाये जा रहे, इस कारण ये दोनो एक है। (विज्ञानाद्वैतवादकी बात कह रहे हैं) क्या किसी ने उपलब्धि की कि ज्ञानकी तो उपलब्धि न हो और इन पदार्थो की उपलब्धि हो जाय? ऐसा तो किसी के नही होता। जब ये बाहरी चीजें समझमे आयी तब ज्ञान भी साथ साथ जुटा हुआ है। तो ज्ञान और बाहरी पदार्थ ये दोनो एक साथ पाये जा रहे है इस कारण मे एक ज्ञान मात्र ही है दूसरा कुछ नही। यह उनका सिद्धान्त है। इस विषयमे यह जिज्ञासा हो रही है, इसतरह का आशय किस दृष्टिका परिणाम था? उन्होने कौन सी दृष्टि की, अथवा किस दृष्टिका आग्रह किया, तब यह समझमे आया कि यह सारा विश्व एक ज्ञानमात्र है। यह दूसरा कुछ भी पदार्थ नही है? उक्त जिज्ञासा का समाधान यह है कि ज्ञानमात्रही सारा विश्व है। इस अभिप्रायका कारण है विज्ञान-दृष्टि।

अब एक विज्ञानदृष्टिके एकान्तका मन्तव्य देखिये–अब विज्ञानदृष्टिका एकान्त देखिये–जीव वास्तवमे अपने ज्ञानके परिणमन को ही जानता है। बाहरमे कुछ नहीं जानता। लो चलो–ज्ञानमे आयी भीट, यह बाहरी पदार्थ, तब हम जान सके कि यह भीट है। यह अमुक पदार्थ है। तो ज्ञानकी पर्याय मे जो ग्रहण हुआ, जो ज्ञान हुआ, तत्त्व तो यही मात्र है, उससे भिन्न नही है बाहरी कुछ चीज, लेकिन जो ज्ञान मे आया उसके कारण बाह्य पदार्थो के नाम लिए जाते है कि यह भीट है, यह चौकी है, यह अमुक

है। यो विज्ञानदृष्टिका एकान्त बना। जैसे कि कोई पुरुष दर्पण लिए हो जो दर्पण को देखकर हो वह यह बतला पाता है कि देखा पीछे ये वृक्ष खड़े हैं, ये लड़के खेल रहे हैं, आदि तो यह बात उसने कब समझा ? जब उसने दर्पणमे पड़ने वाले प्रतिबिम्बको देखा। तो तत्त्व तो उसके लिए यही दर्पण ही है। दर्पण प्रतिबिम्ब है, वह एक उसकी दृष्टिमे है, पर उसे निरखकर जैसे वृक्षोंकी, बच्चोंको, अन्य अन्य भी बाहरी चोजोकी सत्ता बताता है ऐसे ही यहां ज्ञानमे आये हुए आकारोको समझकर बाहरी पदार्थो की सत्ता बताया करते है। यह विज्ञानमात्र तत्त्व मानने वाले को चर्चा बतला रहे है। यद्यपि ये समस्त आकार जो ज्ञानमे आये है, जो अर्थ विकल्प हुए है वे उस प्रकार हुए है कि जसे बाहर मे पदार्थ मौजूद है, लेकिन जो मात्र विज्ञानदृष्टि करके विज्ञानको ही देख रहा है ता बाह्य जगतका सत्त्व प्रतीत नही होता है। विज्ञानाद्वैतवादी चर्चा कर रहे हैं-जसे कोई स्वप्नमें निरखते है कि पहाड़ है, जगल है, लाग है, नदी है, आदि, लेकिन वहा कुछ है क्या ? उसके ज्ञानमे यह सब कुछ है। तो भीतर से इस चर्चाकार का (विज्ञानाद्वैतवादीका) यह आशय है कि इसके ज्ञानमे ही सब कुछ है ये पेड़ खम्भा आदिक पदार्थ, लेकिन ये वस्तुत कुछ भी चीज नही है।

तुरीयपाद ब्रह्मके सिद्धान्तकी आधारभूत दृष्टि परखिये-तुरीयपाद ब्रह्मके अभिमतकी आधारभूत दृष्टि की जिज्ञासा-ब्रह्मको दार्शनिक तुरीयपाद कहते है। चार पैरो वाला कहते हैं। चार पैरोंके बिना न चौकी टिकती, न टेबिल टिकती, न जानवर टिकते न मनुष्य टिकते। मनुष्योके भी दो पैर होते और दो हाथ होते, इस तरह इन चार के बिना तो कोई जीव जन्तु नजर नही आ रहा है। पक्षियो के भी दो पैर है और पख है, इस तरह जगतको व्यवस्था वे चार पायोमे बता रहे हैं। प्रथम पाद है जीव, दूसरा पाद है आत्मा, तीसरा पाद है परमात्मा और तुरीयापाद (चतुर्थपाद) है ब्रह्म। उनकी इस व्याख्यामे जीवका लक्षण तो है जागृतिरूप दशा और आत्माकी अवस्था है अन्त प्रज्ञ अवस्था, और ब्रह्म इन तीनोंसे परे है। यद्यपि साधारणतया ऐसा कहना ठीक बैठ रहा कि जीव तो सुसुप्त दशाको कहना चाहिए। जो सोया हुआ हो वह बाहरात्मा है और कहते ही है लोग कि मोहनीद मे साये हुए है, लेकिन यहा कही गई जागृत अवस्था खोटे भावमे जगने को अर्थात् जो जीव जग रहा है इस बाहरी लोकमे, बाहरी परिणतियोमे, बाहरी विकल्प तरगोमे, वह है बहिरात्मा। सोया हुआ अगर कहे तो उसका अर्थ यह निकला कि जो अपने अन्त स्वरूपके जाननेमे प्रमादी है, सोया हुआ है वह है सुसुप्त। किसी भी शब्दसे कह लो-स्वरूप सही नजर मे आना चाहिए। तो यह जीव जग रहा है विषयोमे, कषायोमे, इससे उसकी चेतना नही रही है सो वह कहलाता है जीव और आत्मा है सुसुप्त याने बाहरी बातोमे जो नही जग रहा है किन्तु जसे सोया हुआ पुरुष शान्त है, जैसा पड़ा है वैसा ही पड़ा है, हिल डुल भी नही रहा है ऐसे ही जो ज्ञानी पुरुष अपने आप यह दृष्टि बनाये हुए है कि हिल डुल भी नही रहा है और अविचल सा बना हुआ है वह कहलाता है आत्मा। और, परमात्मा है घन प्रज्ञ, परमज्योति स्वरूप, जिसकी प्रज्ञा बहुत विशाल है, सर्वज्ञ है, तीन लोक, तीन कालका जाननहार है, ऐसा जो कोई है वह है परमात्मा, और ब्रह्म इनसे परे है। वह ब्रह्म क्या चीज है ? अद्वैतरूप है आदिक कहकर ब्रह्मको तुरीयपाद कहा गया है। तो यह अभिमत किस दृष्टिका परिणाम है कि ब्रह्म इन सबसे परे है ? यह है पारिणामिक दृष्टिका परिणाम।

नयसमूहके निर्णय से अपना क्या कर्तव्य निश्चित करना चाहिए, पढ़िये-नयचक्रकी गहनता व नयचक्र से निर्णय करके नयपक्षातिक्रान्त अन्तस्तत्त्वमे मग्न होने के कर्तव्यका स्मरण-जितने अभिप्राय है सबकी आधारभूत कोई मूलमे दृष्टि हुआ करती है अतएव बड़े विवेकपूर्वक समझने समझाने का उद्यम करने

वाले लोग ईमानदारी से चिग गये हो, यह तो विश्वास मे नही आता, पर ज्ञानको, नयकी ही कोई चूक बन गई यह सम्भव है, क्योकि नयचक्र एक ऐसा घनघोर जगल है कि इसमे चलते हुए पथिक कई जगह भूल भटक सकते है। केवल एक नयकी भूलके परिणाममे जो ऐसे अनेक वस्तुस्वरूपके बताने वाले दर्शन हैं उनकी सम्भावित आधारभूत दृष्टिको निरखा जाय तो यह सब समन्वित हो जाता है। इन दृष्टियोके अतिरिक्त और भी इतने मत है कि जिनकी निश्चित कोई सीमा नही, क्योकि जितने विचार हैं उतनी ही दृष्टिया हैं और जितनी दृष्टिया है उतने ही मत है, लेकिन उन सब मतोका निर्णय युक्तिबलसे, न्यायबलसे कर लेना चाहिए और उस विसम्वाद से हट कर अपने आपमे अपना निर्णय बनाकर इस अन्तस्तत्त्वकी उपासनामे अपना समय अधिक लगाना चाहिए। इन सब दृष्टियोकी परख हो जाने से सत्य दृष्टि का दृढतम निणय हो जाता है। सही निर्णय मे पहुंचने के पश्चात् निणय व नय के विकल्पसे भी परे होकर अखण्ड स ज ज्ञानस्वभावके दर्शनमे ज्ञानमे तृप्त होना चाहिए। प्राप्त बुद्धि का वैभव व सदुपयोग यही है।

आत्मतत्त्वकी उपासना के लिए आत्माके अनर्थान्तर शब्दोके माध्यममे देखिये—कारण-समयसार—इस अतस्तत्त्वका नाम है कारणसमयसार। समयसार को दो रूपोमे निरखियेगा—(१) कार्यसमयसार और (२) कारणसमयसार। कार्य समयसार तो हैं प्रभु अरहन्त सिद्ध परमात्मा। तो हुआ क्या वहा ? जैसे कोई मिट्टीका घडा बनाता है तो पानी भी मगाता, कुछ बारीक भूसा भी उसमे साननेके लिए मगाता, कुछ रग भी उसमे मिलाता और दड चक्र थपथपा आदिक साधन भी मगाता, और उसके अनुकूल कुछ उत्साह भी जगाता, तब कही वह घडा बना पाता, तो इस तरह से जो प्रभु हुए, परमात्मा हुए उनके परमात्मा बननमे बताइये कहा से कौन सी चीज ला ला कर सचित का गई ? उस परमात्माका निर्माण करने के लिए बाहरसे क्या क्या साधन इसमे चिपटान व जुटाना पडे, जरा बताओ तो सही ? —अरे बाहर से तो कुछ भी साधन लाने जुटाने नही पडे। बाहर से कुछ बात नही हुई। - तो क्या प्रभु तारीफ के लायक नही हैं ? हा है भी, और दिख रहा कि नही भी हैं तारीफके लायक, क्योकि वह तो जो थे सो ही हो गये। वहा कोई विलक्षण बात नही हुई। जो स्वभाव था वह रह गया। वहा हटाव ता हुआ, ग्रहण कुछ नही हुआ। तो जो था वही रह गया, इस ही का नाम तो है कार्यसमयसार। वहा क्या रह गया ? जो था सो ही रह गया। "जो था" इस ही का नाम है कारण समयसार। जो रह गया उसका नाम है कार्यसमयसार। तात्पर्य यह है कि जैसा जो सहजस्वरूप है, ज्ञायकस्वरूप है, चैतन्यमात्र है अपने आपके सत्त्वके कारण जो इसका सहजस्वरूप है वह है कारणसमयसार। याने वह ही तो अब है। उसका प्रताप व्यक्त हो गया प्रकट हो गया। जो अप्रकट है वह प्रकट हो गया, यही तो बात होती है परमात्मतत्त्वमे। तो इसी कारण उसको कारणसमयसार कहते है। उस परमात्मपद की प्राप्तिमे अनिवार्य कारणता इसी तत्त्वमे है, अन्य पदार्थो मे नही है। यह कारणसमयसार यद्यपि सब जीवोमे बस रहा है, लेकिन जब ऐसा सुयोग जिसका मिलता है तब उसकी व्यक्ति होती है। जैसे घडा बननेकी योग्यता सब मिट्टी मे है लेकिन जिस मिट्टी के लिए द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावका योग मिल गया उसमे घडारूप बन गया पर कारणता सब मिट्टियोमे है और ऐसी कारणता कारणसमयसार स्वभाव दृष्टिसे तो अभव्यमे भी पडी हुई है। सुमेरुपर्वतकी जडके नीचे की मिट्टीमे भी घडा बननेकी योग्यता पडी हुई है। वहा वे मिट्टीके कण मिल तो न सकेगे मगर योग्यता वहा भी पडी हुई है। और, इस मिट्टीमे तो कुछ बात बनावगे, करेगे, तब घडा बनेगा, किन्तु यहा समयसारको तो दृढतासे निहारना भर है, केवल उपयोगको बदलना भर है। वह तो बडा सरल सा काम है, सीधा और स्वाधीन काम है। इस ही वृत्तिके द्वारा वह परमात्मा व्यक्त होता है, साध्य होता है। तो ऐसे इस अतस्तत्त्वको

कहते है कारणसमयसार है। इस अन्तस्तत्त्वका वर्णन किया जायगा, इसके लिए कुछ नामकरण की बात यहा कही गई है।

परमशक्ति अंतस्तत्त्व—जेसे कहा करते हैं कि पानी मे मीन पियासी, अचरज की बात है कि पानी मे रहकर भी मछली प्यासी रह जाती है। रहती नही है, पर कोई मछली प्यासी रहे पानी मे रहकर भी तो जैसे इसका मूढता है, इसी तरह ज्ञानमय, आनन्दमय कल्याणस्वरूप, आत्माका स्वरूप स्वय ऐसा है तिस पर भी ऐसे आत्मामे जिसका रहना हो रहा है ऐसा यह स्वय अथवा उपयोग दु.खी रहे, क्लेश भोगता रहे, यह एक अचरजकी बात है, अथवा अचरजकी बात नही, मछली मूढ हो जाय तो भले ही प्यासी रहे, ऐसे ही यह आत्मा मूढ है, मोहित है, पर्यायबुद्धिमे निरत है तो यह अवश्य ही दुःखी रहा करता है। आत्माका स्वरूप तो परमशिव है, उत्कृष्ट कल्याणमय है। यह आत्मा स्वय परमशिव है। शिवका अर्थ है आनन्दमय, कल्याणमय। और परम आनन्दमय, परमकल्याणमय। जितने लोग आनन्दके पद मानते हो उन सब पदोमे उत्कृष्ट आनन्द तो यह तो स्वय है। जिसे लोग अपना बडा मगलस्वरूप समझते हो, कल्याण समझते हो उनमे सर्वोत्कृष्ट कल्याण स्वरूप यह आत्मा है। जब अन्तः दृष्टि की जाती है तब यहा यह पता होता है कि यहा अन्त कुछ कारण नही, कुछ ढा नही, कोई पिण्ड नही, अमूर्त ज्ञानप्रतिभास है और बन गया कितना बतगड कि यह मूर्तिक हो गया, कर्मबन्ध हो गया, भटकता है, क्या स्थितिया हो गयी ? यह एक अचरज की बात ही तो हुई। तो जिन तत्त्वज्ञोने परमस्वरूप अपने आत्मतत्त्वका निर्णय किया है और इस दर्शनके प्रतापसे यह निर्णय जिसका दृढ रहा है कि मैं तो यह स्वय प्रतिभासमात्र कल्याणमय हू, उसको फिर व्यग्रता क्यो होगी ? दृढता इसका नाम है कि फिर कल्याण के लिए, आनन्द पाने के लिए बाहरमे व्यग्रता न हो। बाहर मे आनन्द पाने के लिए व्यग्रता है तो यह मेरी कमी है, कमजोरी है, दृढता का अभाव है, अथवा उसको परखा ही नही। वह आनन्दधाम चैतन्यमात्र आत्मा स्वय परम शिवस्वरूप है।

शुद्ध अन्तस्तत्त्वकी परख विना धर्मभावकी असम्भवता, पढ़िये—यहा तो लोग धर्म करें, इस भावसे बाह्य की ओर खिचे जा रहे है। यद्यपि किसी स्थितिमे यह साधन है, पर मूलमे कुछ धन ही पासमे न हो तो फिर ब्याज कहा से मिल सकेगा ? यदि अपने आपके इस अन्त स्वरूपका पता ही न हो तो भक्ति, वदन, पूजन आदिक कार्यो से धर्म कार्यकी सिद्धि नही हो सकती है। जब मूलधन ही नही है तो ब्याज कहा से मिले ? अपने आपके अन्त प्रतिभासमान उस चैतन्यस्वरूपकी अनुभूति है तो सब जगह हर परिस्थितियोमे रहकर भी वह धर्मका अधिकारी है, और यही बात मूलमे नही है तो कितना ही बडा तपश्चरण किया जाय, कितना ही बडा अन्य धार्मिक व्यवसाय हो तो भी वह व्यवसायमात्र होगा। वहा धर्मका अधिकार नही मिल पाता। तो ऐसा अतुल पद इस अन्तस्तत्त्वके अवलम्बनसे प्राप्त होता है इसका ही इस परिच्छेदमे वर्णन होगा। इन प्रभुको अरहत कहते हैं। जिन्होने शुद्ध अतस्तत्त्वके आलम्बनसे ऐसा स्वच्छ स्वभावपद प्राप्त किया है अरहतका अर्थ है पूज्य। अरहत कहो चाहे अल्य: कहो, एक ही अर्थ है। इसी अन्यको लोगो ने अलना कहा है। वे प्रभु अल्य हैं, जो चारघातिया कर्मो को नष्ट कर चुके हैं और पूज्य हैं। इन अरहन्त भगवान के गुणानुवादमे और इनके सम्बन्धित वे न के कीर्तनमे ही प्राचीन लोग अजान पढा करते थे—चत्तारिमगल, अरहन्त मगल, तो लोग उस अजान को तो भूल गये, क्या उनमे था, किसका स्मरण किया जाता था ? चार चीजें मगल हैं—चार लोकोत्तम हैं, मैं चार की शरण को प्राप्त होऊ, लेकिन वह तत्त्व ही निकल गया लोगो की बुद्धि से। उस अतस्तत्त्व की सुध न रही तो सारे भक्तिके कार्य सब उलटे फल देने वाले बन उठे। तो ये प्रभु हम आपसे अधिक

सम्बन्धित है। कभी कभी तो इनका दर्शन कर सकते है, आज यहा नही, पर करते तो हैं मनुष्य इनका दर्शन। सिद्ध के दर्शन तो नही कर सकते क्योकि वे अशरीर है, लोकमे सबसे ऊपर विराजमान है। यहा हम अरहन्त प्रभुकी मूर्ति के दर्शन भी कर सकते है और उनकी मूल परम्परा से चले आये हुए शास्त्रोका अध्ययन करके अपना कल्याण कर सकते हैं, यही कारण है कि हम आप अरहन्त भगवानकी भक्ति के लिए नमस्कारमन्त्रमे प्रथम नाम लेते हैं। और जब जिससे अधिक परिचय हो जाता है तो उससे बात करना, मिलना सहज हो जाता है तब उस स्थितिमे असली महत्ता विदित होती है।

१६ वें परिच्छेदमे अन्तस्तत्त्वकी सहजशुद्धताका वर्णन है। उदाहरणार्थ देखिये—जीवकी बद्धता, मुक्तता व अबद्धताविषयक जिज्ञासा—इस अतस्तत्त्वक परिच्छेदके लिए प्रथम प्रश्न हो रहा है कि यह सामान्य आत्मा कर्मसे बद्ध है या कर्मसे मुक्त है अथवा अबद्ध है ? प्रथम प्रश्न विकल्पका भाव यह है कि आत्मा कर्म से बन्धे हुए हैं। ये सब जीव ससारमे जो भ्रमण कर रहे है ये किसी बन्धन विशेष से बन्धे हुए हैं ऐसे इन जीवोको निरखकर तो यही विदित होता है कि यह जीव समूचा बन्धा हुआ है, इसके कोई अग प्रत्यग अबद्ध नही है। सर्वत्र बन्धा हुआ है, विचार को लेकर यह प्रश्न किया जा रहा है कि जिस अतस्तत्त्वकी चर्चा कर रहे है, जिसे आत्मामे सार है ऐसा बता रहे हो वह सार तत्त्व भी क्या बद्ध है ? दूसरा प्रश्न विकल्पमे यह पूछा गया है कि सामान्य आत्मा जिसकी चर्चा कर रहे हो वह क्या कर्म से मुक्त है अथवा यदि बद्ध नही, तथा मुक्त नही तो क्या वह बन्ध मोक्ष दोनोसे रहित अथवा अबन्ध है। ऐसे तीन प्रश्नोकी जिज्ञासा प्रथम हुई है। अनेक प्रश्न होगे उन सब प्रश्नोमे सबसे पहिला प्रश्न सबसे पहिली जिज्ञासा जिज्ञासु को ऐसी होनी प्राकृतिक है, क्योकि सब जीवोको स्वतन्त्रता प्रिय है। बड़े दुःख मे रहे और स्वतन्त्रता अपनी समझे तो उसे वह दुःख भी पसद है, पर बडा आराम मिले और सुख मिले, स्वतन्त्रताका वहा घात हो तो वह आराम भी वहा पसद नही है। यह बात बता रहे है लौकिक जनोकी। अब अलौकिक पुरुषोकी बात देखिये कि तपश्चरणमे विविध क्लेश बताये गये है और सामान्यतया जानते ही है लोग, उपवास करे, भूखसे कम खाये, गर्मी, सर्दी आदिमे ध्यान करे, ऐसा क्लेश होता है, लेकिन वहा स्वतन्त्रताका अनुभव हो रहा है साधुजनोका। अपने आपका जो सहज स्वरूप है उस स्वरूपके मिलनमे उनका आत्मा तृप्त हो रहा है। उन्होने ऐसा स्वात्मसयम अगीकार किया है। वह उनकी स्वाधीन वृत्ति है। तो इस स्वतन्त्रताके त्यागमे शारीरिक सारे उपद्रव्य भी उनके लिए न कुछ हो जाते हैं। तो स्वातन्त्र्य प्रिय है और परतन्त्र्य अप्रिय है। तो ऐसा होना एक बन्ध मोक्ष का ही नामान्तर है। तो उसके विषयमे जिज्ञासा हुई है कि यह सारभूत आत्मा क्या बद्ध है या मुक्त है अथवा अबद्ध है ?

आत्माके कषायसहितत्त्व व कषायरहितत्त्वविषयक दशमी जिज्ञासा देखिये—अब दशवी जिज्ञासा मे यह जानने का उपक्रम हो रहा है कि आत्मा कषायसहित है या कषायरहित ? कषायसहित या कषायरहित ऐसे दो विकल्पोका आधार यही है कि पाया ही जायगा जीव या तो कषायसहित या कषायरहित। सहित और रहित, ये दोनो जहा एक शब्दमे लिए जायगे वहा सारी दुनिया आ जाती है। जिसकी बात कहेगे वह सब आ जायगा। जैसे जीवसहित जीवरहित। अब इसमे कौन सा पदार्थ छूट गया ? एक शब्दमे उस शब्दको बोलकर उससे रहित बाला जाय तो कुछ छूटा क्या ? सब आ जाता है। जब कषायसहित और कषायरहित विकल्प हुआ तो सब आत्मा आ गया। कोई आत्मा ऐसा नही है जो इन दो चीजो से पृथक् हो। या कषायसहित मिलेगा या कषायरहित मिलेगा। तो यहा यह जिज्ञासा होती है कि वास्तवमे यह जीव है कैसा ? कषायसहित है या कषायरहित ? ऐसा भी सोच

लीजिये कि जैसे कोई काठ मजबूत है, बड़े सार वाला है, पुष्ट है और १००-५० वर्ष बाद वह सार-रहित हो जाता है तो वहा यह कहा जायगा कि यह काठ तो सारसहित था, मगर अब साररहित हो गया। तो क्या इस तरह यहा भी है कि आत्मा तो वास्तवमे कषायसहित ही है मगर कारण पाकर कषायरहित हो गया। उस जीवका जो सार है कषाय, वह सार निकल गया। जैसे पुराने काठमे से सार हट जाता है क्या इस तरह आत्मा है? ऐसा सोचने का आधार एक वह दृष्टि हो सकती है कि जहां यह माना गया है कि जीव सदा रागवान है। उसका राग ही स्वरूप है। रागको छोडकर जीव हम और क्या बतायें। और कभी यह जीव तपश्चरण करके मुक्त भी हो जाता है, तो वहा कही रागशून्य नही हो गया, किन्तु दब गया और जब सदा शिवकी मर्जी होती तो वह राग पैदा करके फिर ढकेल देता है। तो इस तरह को बात से भी यह जिज्ञासा बन सकती है क्या आत्मा कषायसहित है अथवा कषायरहित? कषायसहित कहने में यह तो सीधा ही बिगाड है कि आत्मा कषायसहित हो गया। आत्मामे कषाय आगतुक है, कर्मोदय से आयी है, घटना से प्रकट हुई है। वास्तवमें आत्मा तो कषायरहित है। कषाय औपाधिक चीज है। इस तरह आत्मा क्या कषाय रहित है? इस बातको लेकर १० वी जिज्ञासा आयी है।

आत्माके सत्त्व असत्त्वविषयक त्रयोदशी जिज्ञासाका समाधान—उक्त उभय प्रश्नविकल्प वाली जिज्ञासा का समाधान देते हैं कि आत्मा स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी अपेक्षा से सत् है और परद्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी अपेक्षासे असत् है। इस आत्मामे अनेक असत्त्व भी परिचयमे आ रहे हैं लेकिन उन असत्त्वोंकी ओर तो दृष्टि जिसकी हो गई और स्वचतुष्टयसे सत्त्वकी दृष्टि जिसके नही रही ऐसा पुरुष इस आत्मा को सर्वथा असत् भी कह सकता है। और, जिस पुरुषकी स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल, भावके सत्त्वकी दृष्टि रही और वहा जब स्वविशेषण हट जाता है, है ही सत् ऐसा अगीकार किया और बढ़कर परके द्रव्य, क्षेत्र आदिक से असत् है यह भी ध्यान छोड दिया ऐसे पुरुषको ये दोनो सर्व सत् रूप नजर आते हैं, किन्तु है अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे सत् और परद्रव्य क्षेत्र, काल भावसे असत्। जैसे कि बताये कोई कि यह पुस्तक सत् है या असत् है अर्थात् है या नहीं है, ये दो प्रश्न विकल्प किये जाये तो जिनकी बाहरी चीजो पर दृष्टि है वे कहते हैं कि नहीं है। क्या नही है? उसके समझ (अन्डरस्टूड) हैं, वह भीतर अन्तर्जल्पमे बोल देता है। चौकी, भींट, आदिक नहीं है। अब जो उसका गुप्त ज्ञान है उसकी तो दृष्टि इसने लिया नही है और वह नही का एकान्त करदे तो तथ्य तो न निकलेगा, और कोई इस पुस्तक को सत् ही बताये, यह है ही है, इसमे "न" कतई नही है, तो इसके मायने है कि पुस्तक पुस्तक भी है, तो भी बात नही बनती। फिर पढने का काम कैसे किया जा सकेगा? क्योंकि वह पुस्तक सिर फोडने का काम भी करने लगेगी। तो पुस्तक पुस्तक रूप है, इसके अतिरिक्त अन्य सब से असत् है। यदि पदार्थ मे अन्य का असत्त्व नही हो तो अर्थक्रिया नही हो सकती है। वस्तु स्वरूप न रख सकेगा। ऐसा सत्त्व असत्त्व प्रत्येक पदार्थ मे है। अपने सत्त्वसे सत्त्व है और परके सत्त्वसे असत्त्व है।

पढ़िये अन्तस्तत्त्वकी साधना—हमें इस अन्तस्तत्त्वको किस विधिमे मानना चाहिए? जो कि अभेद षट्कारक विधियों मे बात आती है उस विधिसे हमे स्वभावको मानना चाहिए। तो साध्य है यह अन्तस्तत्त्व, जिसके फलमें प्राप्त होता है निर्मल सिद्धप्रभुत्व परिणमन। वह है साध्यका फल। साध्यकी जो प्रक्रिया बनायी है, साधनकी जो बात की है, वह उसका फल है। यहा इस बात को भी मर्मज्ञता मे जानना चाहिए कि जो यह कह दिया जाता है कि साध्य तो सिद्ध अवस्था है और साधन यह भाव है।

तो अभी वह विधि नही आ सकी है कि जिस विधिसे प्रभुता पायी जा सके। यो ७ राजू ऊपर, लोक अन्त मे दृष्टि लगाये रहे वह है सिद्ध पर्याय। वे प्रभु अनन्त चतुष्टयके धनी हैं। अच्छा तो उसे स बना लोगे क्या ? उसको क्या कर लोगे ? पकड नही सकते। वहा पर जा नही सकते। उसका उपयोग नही ले सकते। तो वह क्या साध्य बन जायगा ? वह भी ज्ञेय रहा साध्य न रहा। साध्य यह अन्त प्रकाशमान स्वरूप है ज्ञानमात्र। इस ज्ञानमात्र अन्तस्तत्त्वको ऐसे ही अनुकूल ज्ञानोप करके साधना है। तो ऐसा साध्य साधक भाव मेरा कही बाहर नही पडा है। यह मैं साधक हू अ यही मेरे द्वारा साध्य है, आराध्य है। कभी भी कोई पदार्थ किसी अन्य पदार्थ को स्ववश नही सकता। किसी भी पदार्थ मे यह सामर्थ्य नही है कि वह किसी परपदार्थ को रच मात्र कुछ परिणति करदे। भले ही निमित्तनैमित्तिक विधिया हैं, लेकिन किसी भी परद्रव्यमे यह सामर्थ्य नही कि किसी के द्रव्यरूप, गुणरूप, पर्यायरूप कुछ तो कर दे, उस परिणमनमें सहयोग दे दे, उसके परिणमन मे अपना योगदान तो करद। नही कर पाते हैं। तो इसी तरह कुछ भी साध्य कर सकेंगे तो केवल अ को साध सकेंगे, दूसरे को हम नही साध सकते।

देखिये शुद्ध आत्मतत्त्वकी उपासनाका लाभ—इस परिच्छेदमें प्रारम्भमे यह जिज्ञासा की गई थी जिस शुद्ध आत्माके आश्रयसे मोक्षमाग चलता है उसका क्या स्वरूप है ? उस स्वरूपका वर्णन करने बाद अब यहा यह समझ लेना चाहिए कि ऐसा शुद्ध आत्मतत्त्वका भी परिज्ञान करने से लाभ क होगा ? किस शुद्ध आत्मतत्त्वके ध्यान की बात कही जा रही है ? जो सर्वगुण भेदोंसे परे है, जो सम स्त परिणमनोसे परे है और यह शुद्ध है, इस प्रकार के विकल्पसे भी जो परे है ऐसा जो निज शु आत्मतत्त्व है, उसका ध्यान करने से उसका ज्ञानमात्र करने से निर्विकल्प समाधि प्रकट होती है साधु परमेष्ठी के स्वरूपमे बताया है ज्ञानध्यानतपोरक्त' साधु क्या होता है ? जो ज्ञान-ध्यान् तपश्चर मे रत हो। सबसे मुख्य काम है ज्ञान। ऐसा ज्ञान नही जो लोकमे प्रचलित है, किन्तु एक जाननमा ऐसा केवल जाननमात्र रहना यह सिद्धका उत्कृष्ट काम है और इस काममे न रह सके तो ध्यान क लेकिन ध्यान दूसरे नम्बर का काम है और ध्यानमे भी न आयें तो तपश्चरण करे, यह तीसरे क्रम आता है। तो उस ज्ञानकी बात कह रहे हैं कि उस शुद्ध अन्तस्तत्त्वका ज्ञान हो तो निर्विकल्प समा होती है, जिसका फल ही सदा के लिए अनन्त आनन्द प्रकट होना है। इसी ध्येयसे हम आपका ए जीवन मे दृढ निर्णय हो। मेरे को काम है केवल तो एक अपने आपका जो शुद्ध सहज स्वरूप है उसक ओर बारबार आना। उसे निरखना, उसका आश्रय करना ध्यान करना। वहा उपयोग को रख कर अपने को शान्त और तृप्त अनुभव करना। यही उपाय है सदा के लिए सकटोसे छुटकारा प्राप्त कर का।

(२८०) अध्यात्मसहस्री प्रवचन दशम भाग

इसमे यह वर्णन विस्तारपूर्वक किया गया है कि किस किस दृष्टिसे आत्मामे क्या क्या प्रभाव होता है। स्वरचित अध्यात्मसहस्रीके १७ वें परिच्छेदके प्रवचन हैं। देखिये ध्रुवदृष्टिके प्रकरणमे—ध्रुवदृष्टिका महत्त्व—अनित्य भावनामे यही तो सब गाते हैं कि राजा राणा छत्रपति आदि बडे से बडे लोग सभी एक दिन मरेंगे, और थोडा यह भी ध्यान लाते हैं कि यह मैं भी एक दिन मरूगा, पर यह बात ध्यामे लाना बहुत आवश्यक है कि मैं आत्मा जो सहज ज्ञायकस्वरूप हू वह कभी नही मरता। नित्यकी भावना साथ मे हो तो अनित्यभावनाका अर्थ यही है और यो अनित्य-अनित्य पर ही दृष्टि धरे रहे, तो इसमे लाभ क्या मिलेगा ? तो नित्य भावना भावो। मैं आत्मा जो सहज चैतन्यस्वरूप हू सो नित्य हू।

अनित्यभावना भाने का अर्थ है नित्यभावना कराना, न कि अनित्यमें उपयोगको डालना। कोई उसका उद्देश्य न समझे और बाहर मे ही अनित्य अनित्य समझता रहे तब तो फिर उसे न बाहर हो सहारा मिलेगा और न भीतर। तो अपने आपके ध्रुवस्वरूपको पहिचानो। वह मेरे से कभी अलग नही होता। उस पर उपयोग न दे रहा हो कोई, तो यही उससे अलग होना कहलाता है। मेरा स्वरूप मुझसे कभी अलग होता है क्या ? - नही अलग होता। मैं मेरे स्वरूपको नही जान रहा हू, बस इसी के मायने अलग होना कहलाता है। जैसे किसी पुरुषके घरमे कोई मणि छिपी हुई रखी हो, उसका उसे पता नही है तो घरमे मणि होकर भी वह निर्धनताका ही अनुभव कर रहा है और जिस समय उस मणिको वह पा लेगा उस समय वह अपने को धनिक अनुभव करेगा। इसी प्रकार यह आत्मदेव, यह सम्पूर्ण परमात्मतत्त्व मेरे अपने आपके सत्त्व मे, स्वरूपमे प्रकाशमान है। उसकी जिसे खबर नही है वह तो गरीबी का ही अनुभव करेगा। अपने को माना कि मैं मनुष्य हू तो फिर मनुष्य के उचित परिणाम बनेंगे। मैं इसका बाप हूं। यो अपने को किसी का बाप माना तो फिर आपके उचित (योग्य) परिणाम बनेंगे। जैसे बच्चोको खिलाना पिलाना, पढाना लिखाना, सेवा सुश्रुषा आदि करने की शल्य रखना।

बात थी कितनी सी जड़मे हो गया कितना बतगड-पढ़िये- बात इतनी सी थी कि मैं अपनेको सहज ज्ञानस्वरूप न देख सका। हमने परको यह मैं हू इतना माना। हे भगवन् हमने कोई ज्यादह गल्ती ता नही की, बस जरा सी गल्ती की है किसी परतत्त्वको यह मैं हू इतना मान लेने भर की। इतनी भर गल्ती कर देने पर इतना बडा दण्ड हमको मिल गया कि कही नरक निगोद की जैसी यातनाये सहनी पड रही हैं, कही पशु पक्षी कीडा मकोडा आदि गतियोके असह्य दुःख सहने पड रहे, कही मरू, कही आकुलित होऊ, कही दुःखी होऊ, तो हे नाथ, ये सब विडम्बनायें मेरे साथ क्यो लग गई। तो सोचते सोचते यह बात निकली कि हे जीव, देखने मे तो तूने छोटी सी गल्ती की है, पर वह बहुत बडी गल्ती है। जैसे कभी दो आदमियो मे आपसमे लडाई हो जाय तो उस मामले मे न्यायाधीश यही जानना चाहता है कि इस लडाई मे मूल अपराध किसका है ? पहिले एक ने दूसरे को गाली दी, उसने तमाचा मारा, फिर उसने लाठी मारा, दूसरे ने छुरा भोक दिया, बडा खूना खच्चर मच गया। दोनो की फरियाद पहुँची तो न्यायाधीश वहा यही जानना चाहता है कि मूलमे अपराध किसका है। जब पता लग गया कि पहिले इसने गाली दी थी तो झट निर्णय दे देता है कि अपराधी तू है। अरे जो बीचमे अनेक और बातें दोनो द्वारा हो गई उनकी ओर कुछ ध्यान न रखा। तो देखिये-बात जरा सी थी, केवल गाली दे दी थी, मगर बतगड कितना बढ़ गया कि लोहूलुहान हो गया। तो ऐसे ही यहा देखिये कि इस जीवने गल्ती तो जरा सी की क्या की परको मान लिया कि यह मैं हूं, बस इतनी सी गलती के कारण बतगड कितना बढ गया कि अनेक पर्यायोकी भटकना चल उठी। देखिये-आप लोगोका आज कुछ पुण्यका उदय है, जिससे विषय कषायोमे मस्त होकर परको अपना रहे हो। तब इतनी सी बातको आप लोग कुछ अपनी गल्ती नही मान रहे हा कोई चीज चुरानेमे, परस्त्रीप्रसग आदिके कार्य मे या किसी की जान लेने के कायमें गल्ती मान रहे। देहको मान लिया कि यह मैं हू, अपने वर्तमान विभावो को मान लिया कि यह मैं हू, आदिक जो मूलमे अपराध हैं उनको तो अपराध ही नही मानते। तो जैसे बुन्देलखण्डमे कहते है गुर्राना, इतराना अथवा गर्वाना आदि तो भले ही आज पुण्यके उदय मिले हैं, सम्पदा मिली है, अच्छा ठाठ है, अच्छी दुकान है, लोगोमे इज्जत है, पोजीशन है, सब बातें हैं, ठीक है, लेकिन यहा जो परको यह मैं हू ऐसा माना जा रहा है, इसका तत्काल फल चाहे आज देखने को न मिले, मगर इस मिथ्यात्व मान्यताका फल भविष्यमे अवश्य भोगना पडेगा। तो यहा यह मूल अपराध

मत करो। –निजको निज परको पर जानें, ऐसे सजग रहो।

वस्तुदृष्टिसे तत्त्वमर्म के अवधारणमें धर्म का प्रकाश, देखिय–जो वस्तुत्वको ठीक समझ लेते हैं उनके धर्म हो गया और जो वस्तुत्वसे अनभिज्ञ हो गये वे ही धर्म के नाम पर रात दिन कितने ही कष्ट करें, पर वहा धर्मदृष्टिका धर्म न होगा। थोडा मद कषाय होने से पुण्यबन्ध हो जाता है। उसके फल में थोडा वैभव और मिल जायगा, देवगति मिल जायगी, इतना भर हो गया, पर ससार का सकट न टलेगा। तो यह बात, यह अवसर, यह मौका, यह मनुष्यभवका समागम, ये कितने श्रेष्ठ अवसर हैं, इनकी दुर्लभता जानकर इनका उपयोग अच्छे कामो के लिए किया जाय, विषय कषायोके प्रयोगके लिए इनका उपयोग मत करो। मैं वस्तु हू, अपने ही द्रव्यसे हू, पर द्रव्यसे नही हू, तब पर द्रव्य मेरे कुछ नही, मैं ही मेरा हू, ऐसा वस्तुत्व दृष्टिमे निर्णय होता है। मैं अपने क्षेत्रसे हू, पर क्षेत्रसे नही हू। कितना जुदा हू मैं कि मैं अपने प्रदेशोसे ही हू, दूसरे के प्रदेशो से नही हू। दूसरे रूप कोई त्रिकाल हो ही नही सकता। यद्यपि मेरे प्रदेशमे एक क्षेत्रावगाह रूपसे कर्म रह रहे हैं, शरीर रह रहा है, और और कुछ भी रह रहा हो, लेकिन मेरे प्रदेशोमे उनका अस्तित्व नही है। मेरे प्रदेशोमे मेरा ही अस्तित्व है, दूसरे के प्रदेशोमे हो दूसरे का अस्तित्व है। जैसे कोई दो चोजें मिली हुई हो, एक क्षेत्रावगाह रह रही हो और उनमे कोई ऐसा रसायन डाला जाय कि जहा असर केवल एक चीज पर पडे, दूसरी चीज पर नही, तो उस रसायनके डालने पर एक चीज पर ही असर आयगा, दूसरे पर नही, क्योकि वह अपने प्रदेशोमे है वह अपने प्रदेशो मे है। जब प्रदेश जुदे जुदे है तब फिर मेरा जगतमे क्या है? कौन सा चेतन और अचेतन पदार्थ मेरा हो सकता है? मैं अपने क्षेत्रसे हू परक्षेत्रसे नही हू, इसी तरह आगे और भी समझिये कि अपने कालसे हू, परके काल से नही हू, अर्थात् अपनी ही परिणतिसे मैं नही परिणमता। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि मेरा सुधार बिगाड कोई दूसरा नहीं करता, दूसरे का सुधार बिगाड मैं नही कर सकता। तो जब कुछ भी करने का सम्बन्ध नही है मेरा किसी अन्य पदार्थ के साथ तो मेरा कोई क्या लग सकता है? किसी का मैं क्या हो सकता हू? मैं सबसे अत्यन्त निराला हू।

अशुद्ध निश्चय दृष्टिके परिणामका आख्यान पढ़िये–आज अशुद्ध निश्चय दृष्टिके प्रभावको समझने का प्रयास करें कि हमारी किस तरह की दृष्टि यहां बनती है? नय मूलमे दो प्रकार के हैं–निश्चयनय और व्यवहारनय। निश्चयनय तो एक वस्तुको उसी वस्तुमे उस ही वस्तुकी बात को बतायगा, व्यवहारनय दो पदार्थोमे, अनेक पदार्थो मे, उनके सयोग से होने वाली बातको बताता है। तो निश्चयनय एक ही चीजमे एक बात को बतायगा, पर अशुद्ध बात को बताये तो वह अशुद्ध निश्चयनय है, शुद्ध पर्यायको बताये तो शुद्ध निश्चयनय है, और स्वभावका बताये, पर्यायको व भेदको नबताये तो वह परम शुद्ध निश्चयनय है। ऐसी ये तीन बातें है। इन तीन नयो से जब हम आत्माका ज्ञान करते हैं तो जिस नयने ऐसा बताया उस नयमे वैसा ज्ञात हुआ, पर तीन नयो से भिन्न भिन्न बात ज्ञात होती है। अशुद्ध निश्चयदृष्टिमे यह ज्ञान होता है। मैं सुखी हो रहा, दु.खी हो रहा, क्रोधी बन रहा, कषायवान बन रहा, कलकी बन रहा तो मैं अपने परिणमनसे बन रहा, कोई दूसरा नही परिणम रहा। घरमे कोई एक मनुष्य कमाई करता है और वह बहुत उपायो से करता है तो उस समय भी वह दु खी हो रहा है और उसका फल जब मिलेगा तो भी वह अकेला ही दु.खी होगा। उसमे कोई दूसरा सहयोगी नही है। इस जीवने विपरीत बुद्धि करके अपने आपको कैसा दु.खी बना डाला है। उसको किसी दूसरे जीवने मिलकर दु खी नही किया। हम बुरे बनते हैं तो उसमें भी हम आजाद हैं, हम आजाद होकर उद्दण्ड होकर

बुरे बनते हैं और जब हम भले बनते है, शान्त पवित्र बनते हैं तो वहां भी हम आजाद है। हम ही अकेले अपने आपके शुद्ध परिणमन के बलसे वहा सुखी शान्त पवित्र बना करते है। तो हमारा सारा भविष्य हमारी करनी पर निर्भर है। हम जैसी करनी करे वैसा तत्काल भी फल पायें और भविष्य मे भी फल पायें और यदि अपनी करनी हम ठीक नही सम्हालते और भगवानसे रोज रोज प्रार्थना करे कि हे भगवन्, हमारी गल्ती माफ करो तो क्या यो गल्ती माफ हो जायगी ? नहीं माफ हो सकती। प्रभुकी भक्ति तो हमारे लिए अवलम्बन है। उसके अवलम्बन से हम अपने आपकी सम्हाल करें तो करलें सम्हाल, पर प्रभु आकर हमारी सम्हाल न करेंगे। हमे खुद अपनी सम्हाल करनी होगी। खोटे कामो से हटें, खोटे कामो से हटने के लिए खोटे कामोका सही स्वरूप जाने, क्यो खोटा है ? इसमे क्यो दम नही, क्यो सार नही ? पहिले उसका स्वरूप जाने और फिर उस खोटे काम से हटने की अन्दर मे भावना बनायें, मैं इस कार्य के जरा भी निकट न रहू, मुझमे ये खोटे काय जरा भी न समायें, खोटी परिणति मेरे मत बने नही तो मेरा विनाश होगा अर्थात् बरबादी हो जायगी। तो खोटे कामो से हटने की भावना बनायें और उस भावनाका फिर अभ्यास बढाये। जब इन खोटे कामो से हटना हो जायगा तब इस जीवका दु खोका भार दूर हो जायगा। और स्वय अपने आप यह भाररहित आनन्दमय जैसा है वैसा अपने आपमे अनुभव करने लगे। तो काम करने के लिए ये दो है-एक तो यह कि मेरे मे विषय कषायोंकी परिणति मत बने, रच भी मत आये, मैं उन प्रवृत्तियों से बहुत ही दूर रहू, दूसरी भावना यह बने कि मेरे ज्ञानमे तो मेरा ज्ञान, ज्ञानस्वरूप यह परमात्मा समाया रहे दूसरा कोई मेरे ज्ञानमे भी मत आये। मेरा यह ज्ञानस्वरूप परमात्मतत्त्व मेरे ज्ञानमे बसा रहेगा तो वहा कोई आकुलता नही, कोई अपवित्रता नही, किसी प्रकारका आगे कष्ट भी न होगा। आजहम अगन इतनेसुन्दर समागम पाये हैं तो इन दो भावनाओका साकार रूप देकर प्रयास करना चाहिए-१-निर्विकल्प बन सकें और २-सहज ज्ञानस्वरूपका ज्ञान रखते हुए सहज आनन्द प्राप्त कर सकें।

अन्तर्व्याप्यव्यापकदृष्टिका प्रभाव पढ़िये-अपने आपको अपने में देखें कि हम हम ही में बने रहे या दूसरे मे बने रहे. इतना जो भाव होता है वह हममे ही बनता है, दूसरे मे नही। लोग यो कहते हैं कि अमुक आदमी तो अन्यायसे धन कमाता है, दूसरोको सताकर धन कमाता है तो उस धनको जितने लोग खायेंगे उन सबमे वह पाप बट जायगा, लेकिन ऐसा नही होता। अरे जो अन्याय करेगा, जो सक्लेश करेगा उसको हीफल मिलेगा। हा खाने वाले लोग यह जानते हो कि यह अन्यायसे कमाता है, सताकर कमाता है, फिर भी मौज से खायें तो उन्होंने अलग से पाप बाध लिया। पर ऐसा नही है कि कमाई करने वालेका पाप बाट लेते हो और यह कुछ पापसे हल्का बन जाय। जो करता है सो ही कर्म बाधता है, सो ही फल भोगता है। तो हमारा जो सुख है, दु ख है, विकल्प है, विचार है ये मुझमे ही व्यापते हैं, इस कारण हम हिंसा करते हैं तो अपनी ही करते है कि नही ? हिंसा नाम है आकुलित होने का। ये आकुलतायें न जगे तो हिंसा कुछ न होगी। हमारी हिंसा हो गयी, क्योकि हमने आकुलता की, सक्लेश किया, खोटे भाव किया। तो इसे कहते हैं-अन्तर्व्याप्यव्यापक दृष्टि। इसमे क्या विचारना है कि मैं जो कुछ करता हू सो मैं मुझमे ही करता हू, मैं ही मुझमे व्यापक हू, मेरे भावोका कोई दूसरा साथी नही है। देखो-ऐसा जो लोग उलहाना देते हैं कि कोई किसी का साथी नही, सब खुदगर्ज हैं, —अरे इसमे उलहाना देने की क्या जरूरत है ? वस्तुका स्वरूप ही ऐसा है कि प्रत्येक पदार्थ अपने आपकी पर्यायमे रहेगा, दूसरे की पर्यायमें न रहेगा। यदि कोई पुरुष अपने मित्रका, पुत्र का, स्त्रीका बहुत ख्याल रखता है, आराम देता है, सुख देता है तो उस पुरुषने कुछ नहीं किया। उसने अपना भाव किया और अपने भावोके अनुसार अपने आपमे पुरुषार्थ किया, प्रयास किया, दूसरा

कोई सुखी हुआ तो वह अपने खुद उदयसे, अपने खुद परिणमनसे सुखी हुआ। कोई किसी को सुख नही देता, कोई किसी को दुःख नही देता, सब पुण्य पापके उदय हैं, इसलिए अधिक दृष्टि दे अपने आपकी सम्हालपर। मैं अपने आपके आत्माको सम्हाले रहू, सावधान रखू इस पर दृष्टि करना चाहिए। जब यह दृष्टि बन जायगी कि मेरा सब कुछ मुझमे है, मेरे को बाहर मेरा कही कुछ नही है। तो वह अपने आपके स्वभावका भी दर्शन कर लेगा। लोग कहते है कि परमात्मा घट घटमे मौजूद है, वह किस तरह मौजूद है ? वह इसी तरह मौजूद है कि प्रत्येक जीव परमात्माका स्वरूप रख रहा है। अगर वह बनेगा तो विधिपूर्वक। दूधमे घी है कि नही ? जो एक खाली दूध लाये उसमे वही मौजूद है, पर आखो दिखता है क्या ? नही दिखता, और उसको विधि बना लें, दही बनाकर मथन करें तो उसमे से घी निकल आयगा। तो दूधमे घी मौजूद है, पर घी बनाने की तरकीब भी तो होती है, ऐसे ही आत्मा मे परमात्मा है, हम आप सब जीवोमे भगवान है, मगर भगवान बननेको विधि भी तो होती है। क्या विधि है ? ममता न करें, बाह्य पदार्थो से उपेक्षा करे, किसी भी बाह्य वस्तुमे उपयोग न फसायें, अपने आपके ज्ञानस्वरूप आत्माको निरखो। मैं ज्ञानमात्र हू, ज्ञान ही ज्ञानरूप है, ज्ञानके अतिरिक्त और मैं कुछ नही हू, ऐसा ज्ञानरूप ही ज्ञानमें आये, ज्ञानका अनुभव बने तो सारे दोष दूर हो जाते हैं, और यह परमात्मस्वरूप प्रकट हो जाता है। तो जैसे दूध दही का मथे विना घी नही प्रकट होता, ऐसे ही आत्मस्वरूपको मथे विना अर्थात् उसमे उपयोग जमा रहे तब ही परमात्मस्वरूप प्रकट होगा। भगवान के दर्शन होते हैं समतासे। समतापरिणाम हो, रागद्वेष भाव न हो तो आत्मामे परमात्मस्वरूपके दर्शन होते हैं। तो दो बाते एक साथ तो नही हो सकती कि घरकी ममता भी करे और धर्मका फल भी लूट लें। ममता वाले ने धर्म ही कहा किया ? चोजे सब विनाशीक हैं। अपने आत्माकी दया हुई हो, आत्मा का उद्धार करना हो तो उसका रास्ता मोक्षमार्ग है। ममता छोडें, रागद्वेष छोडें और अपने ज्ञानस्वरूप की उपासना करे, और ससारमे रुलना है तो उसका उपाय तो कर ही रहे हैं सभी लोग। मगर ससार के उपाय मे फायदा नही है। जन्म मरण मिलेगा। खोटी मौत मिलेगी, खोटा जन्म मिलेगा, इससे आत्मामे आयें, ज्ञानमे आये, कषाये कम करे, आत्माके स्वरूपका निरखनका प्रयास बनावें, उसका योग जुडावे, बस यही कल्याणकी चीज है।

परिणामशक्तिके निर्णयका लाभ देखिये—जो है वह पूरा है और प्रति समय परिणमते रहते हुए जो भी पदार्थ है उसका प्रत्येक समयमे नवीन नवीन पर्यायका उत्पाद, पुरानी पर्यायका व्यय, ये होते ही रहते हैं। मैं मैं हू, मै भी कुछ न कुछ बनता हूं, बिगडता हू, बस इतना ही तो मेरे साथ बात है। इतने के आगे और मेरे साथ कोई बात नही। सारा भ्रमजाल है। या ना उस घसियारे की कथा बडी प्रसिद्ध है, और भजनोमे भी गाते है जो कि कई घसियारोके साथ घास का गट्ठा लिए हुए जा रहा था। गर्मी के दिन थे, तेज घूप थी, इसलिए सभी घसियारे एक पेड के नीचे विश्राम करने लगे। उस एक घसियारे को निद्रा आ गई, सो गया। सोते हुए मे उसे स्वप्न आया कि मैं एक देशका बादशाह (राजाओ का राजा) बना दिया गया हू। बहुत से राजा लोग मेरी आज्ञा मे हैं। सभी लोग आ आ कर मुझे नमस्कार कर रहे हैं, मेरी हुकूमत सारे राज्यमे चल रही है। — (देखो जब स्वप्न आता है तो उस समय सब सत्य प्रतीत होता है) अब साथके घसियारोका घर जाने की जल्दी थी सो उसे जगा दिया। जागने पर देखा कि वहा तो कही कुछ भी न था, न राज्य था, न वैभव, न प्रतिष्ठा। लो घसियारोसे वह झगडने लगा कि तुमने मेरा राज्य ले लिया, तुमने मेरा सारा वैभव ले लिया, मेरी हुकूमत ले लिया, बताओ, पडा तो था वह एक पेडके नीचे ककरीली जमीन पर, ईंट की तकिया रखे था, पास मे कुछ न था, पर स्वप्न आ जानेके कारण वह अपने को राजा मान रहा था, आखें खुली कि वह

सब कुछ खतम, ठीक इसी प्रकार मोहनीदमे ही मोहीजन विकल्प करके बरबाद हो रहे हैं। अगर आप को सत्य आनन्द मिल जाय, सत्य ज्ञानस्वरूप आत्माके दर्शन हो जायें तो सारे सकट आपके समाप्त हो जायें। जन्म मरण से बढकर और क्या विपत्ति है? मरे, जन्मे, न जाने कहां जन्म हो गया, न जाने क्या क्या जन्म मिले? ऐसी परम्परा रहना यह सबसे बडी भारी विपत्ति है। और, वर्तमानमे कोई समस्यायें आये, उन्हे बडी विपत्ति न मानें, उनके ज्ञाता द्रष्टा रहे, यह भी समस्या आयी–तो ठीक, यह भी आयी तो ठीक. मारवाडियों के बारेमे यह बात प्रसिद्ध है कि कदाचित् लखपती, करोडपती हो गये, और किसी समय कोई ऐसी घटना घट गई कि कुछ भी धन पासमे न रहा तो वे कह बैठते है कि धन न रहा तो न सही, जैसे लोटा डोर लेकर निकल पडे थे वैसे ही लोटा डोर लेकर फिर जा रहे हैं, नुक–शान क्या? तो वहा वे सभी स्थितियोमे सन्तुष्ट रहते हैं, इतना नुकशान करके भी हिम्मत करते हैं ऐसे ही समझिये कि अगर यहा कुछ घाटा हो गया तो इसमे हमारा क्या बिगाड? मैं तो ज्ञानघन हू, ज्ञानस्वरूपमात्र हू। इतना ही स्वरूप लिए हुए मैं आया था परभवसे और इतना ही स्वरूप लिए हुए मैं अब भी हू और जब यहासे जाऊगा तो इतना ही स्वरूप लिए हुए जाऊगा। मेरे मे क्या कमी आयी? जो मैं हू वह पूरा का पूरा, वही का वही हू। तो अपने आपके बारे मे ज्ञानप्रकाश लेना बडा जरूरी है। और यह प्रकाश कोई एक दो दिन मे अथवा १०–२० दिन मे नही मिलता, जितना सारा जीवन शेष है वह सब इस ज्ञानप्रकाश के पाने मे लगाना होगा। अनादि काल से जो वासना सस्कार घर कर गये उनको मिटाने के लिए कुछ चन्द दिनो से न काम बनेगा, सारा जीवन लगायें और यह हा एक जीवन नही, जब तक ससार मे जीवन शेष मिलता है वह सब जीवन इस आत्माके ज्ञान प्रकाश के लिए ही रहना चाहिए और उस ज्ञानप्रकाशसे अपना जीवन सफल मानें। बाकी कुछ से भी कुछ हो तो क्या है?

एकत्वभावनादृष्टिका प्रभाव परखिये–मैं एक अकेला ही हू, क्या लाभ है दूसरो से स्नेह रखने मे? पर द्रव्योसे मोह रखनेमे, परकी चितायें ख्याल, विकल्प बनानेमे। इस ज्ञान पर, इन अनेक विकल्पो का जो आक्रमण कर रहे हैं इसमे क्या तत्त्व मिलेगा? मैं एक हू, मै गुप्त ही गुप्त अपने मे ही अपने कार्य को सम्हालू, अपने स्वरूपको सम्हालू, यह कार्य है। अब इस आत्मा के हाथ पैर आदि तो नही हैं कि इसे कुछ शारीरिक श्रम करना पडे। अरे यह तो ज्ञानभाव मात्र है। ज्ञानभावके द्वारा अपने ज्ञानस्वरूपको ज्ञानमे लें, यही हमारा एक महान पौरुष है। इसकी सिद्धि के लिए ही हमको व्यवहार के धर्म करने होते हैं, वे क्यो करने होते कि अशुभ वासनाये, अशुभ सस्कार लगे है, इसका निराकरण शुभ भावनाओसे, शुभ क्रियाओमे, शुभ प्रसगोमे रहकर हम अशुभ भावनाओका निराकरण करते हैं। मानो हम अपने को एक ऐसा पात्र बनाये रहे कि अशुभ व्यसनोमे, पापोमे रहकर मेरा पात्रता नष्ट न हो। तो यो समझिये कि हमारा व्यवहार धर्म कवचका काम करता है और शुद्ध चैतन्यभाव की दृष्टि शस्त्र का काम करती है। कोई योद्धा युद्धमें कूद जाय, उसके पास केवल कवच हो तो उसकी रक्षा नही है और कोई योद्धा युद्धमे केवल शस्त्र ही लिए हो पर कवच न हो तो भी उसकी रक्षा नही है। ऐसे ही हम अपने जीवनमे शुभोपयोगमे भी अपना उपयोग रखे, पर दृष्टि रखे, ध्यान रखें, उस शुद्ध चैतन्य–तत्त्व की ओर, भगवानका स्वरूप ही और क्या है? भगवान किसका नाम है? आत्मा सहज अपने सत्त्वसे जैसा है वैसा ही बाहरमे पर्यायमे प्रकट हो जाय, उसी के मायने भगवान है। जब वह अकेला वही प्रकट हो जाता है, अपने सहजस्वभावमे ता अनन्त ज्ञान होना, सर्वज्ञान हो जाना, यह सब उसकी एक नियत कला है। वहा ऐसा होना ही पडता है, पर प्रभु नाम उसका है कि जो केवल हो गया, प्रकट हो गया, इसी को कहते हैं कैवल्यप्रभु। यदि ऐसे कैवल्यकी प्राप्ति करना हो तो प्रथम यह ही देह कर्मके

बन्धनमें बनी हुई हालतमें ही हमें स्वरूपदृष्टि करके यह तो परखना होगा कि यह है केवल, इसलिए यह केवल बन गया। एक उपाय सिद्ध हो सकता है। यदि यह स्वरूपमें केवल न होता अनेक उपाय करने पर भी यह एक बन नहीं पाता है। ऐसे केवल निजस्वरूपकी दृष्टि रखने का नाम है एकत्व-भावनादृष्टि। इस एकत्वभावनादृष्टिमें कैसी दृष्टि बनती है? मैं सब जगह अकेला ही हूँ। कोई पुरुष बड़ी उम्रका हो जाय और उसके पिता भाई वगैरह बहुत से लोग गुजर गये हों तब उन्हें यह याद आता कि ओह, उन समयोंमें भी मैं अकेला ही था और मोह का उदय था, जब सबके बीच थे तब वहाँ यह अनुभव नहीं बन पाया था कि मैं अकेला हूँ। आजके अनुभवसे भी लाभ उठा लो। जिस किसी भी प्रकार थोड़ी बहुत ज्ञान-किरण प्रकट होती है उससे ही लाभ ले लीजिये। मैं सर्वत्र अकेला हूँ, यही दृष्टि अगर बन जाय तो बड़ी पावनता बनती है। मैं अकेला अपने ही भावोंका करने वाला हूँ। मैं दूसरे में राग या विराग या सुख दुःख किन्हीं भी भावोंका कर सकने वाला नहीं हूँ। मैं हूँ और उत्पादव्यय-ध्रौव्ययुक्त हूँ। मेरे में ही मेरी पर्यायका उत्पादव्यय होता रहता है। मैं अकेला अपने ही भावोंको करता हूँ, अकेला ही अपने भावोंको भोगता हूँ।

विभक्तैकत्वदृष्टिका परिचय करिये—अन्य सबसे निराला और अपने आपके स्वरूपमें तन्मय—इस विधिसे देखा गया यह आत्मतत्त्व सर्वसंकटों को हरने का स्वयं स्वभाव रख रहा है। इसे कहते हैं एकत्वविभक्त आत्मा। परसे निराला यह तो है विभक्तका रूप, और अपने स्वरूप में तन्मय, यह है एकत्वका रूप। विभक्तके रूपको स्पष्ट करने के लिए अन्यत्वभावना आती है। मुझसे सब बाह्य पदार्थ निराले हैं, अन्य हैं अन्य अन्यकी बात सोचनेमें जब सहज चैतन्यस्वरूपमात्र दृष्टिमें रहा, वहाँ तक भी अंतस्तत्त्व भाव रूपी किरणें जाना चाहिए। ऐसा तो सभी लोग कह बैठते हैं कि मकान, धन, पुत्र, मित्र, स्त्री आदिक ये भिन्न चीजें हैं, अपनी नहीं हैं, पर इतने तक ही अन्यत्वकी बात मानने से मूलतः भिन्नता प्रकट नहीं होती। ये तो प्रकट भिन्न हैं, पर हटे हैं, देह भी अपना नहीं है, पर और अन्त देखिये कि राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, विषयकषाय, विकल्पविचार ये भी मेरे नहीं हैं, ये भी मेरे से अन्य हैं। यद्यपि ये सब कर्म छाये हैं। जैसे अन्य पदार्थों का हम ज्ञान करते हैं तो अन्य पदार्थ उन पदार्थों की जगह रहते हैं और विज्ञान बनाते हैं कि यह अपने भीतरमें एक झलक हुई है। झट बोलते हैं ज्ञेयाकार परिणमन। बाह्य वस्तु तो बाह्य जगहमें ही हैं, अब उसके बारे में जो हमारी जानकारी बनी वह जानकारी क्या है? जैसे कि बाह्य पदार्थ हैं उनके अनुरूप यहाँ बोध होता है। और मोटा दृष्टान्त ले लो दर्पण और दर्पणके सामने जैसे मयूर नाच रहा हो तो मयूर मयूरकी जगह है, दर्पण दर्पण की जगह है, पर मयूरका सन्निधान पाकर दर्पणमें मयूराकार प्रतिबिम्ब हुआ है। तो मयूर तो प्रकट भिन्न पदार्थ है दर्पण से, लेकिन मयूर उपाधिका निमित्त पाकर जो उस दर्पणमें मयूर की छाया प्रतिबिम्बित हुई है वह भी दर्पणकी नहीं है दर्पण में निरखती है। यद्यपि यह छाया दर्पणकी परिणति है पर हम सब दर्पण के स्वभावकी ओर प्रवेश करते हैं तब यह विदित होता है कि यह तो एक स्वच्छता मात्र ही है। हाथ का अन्वयव्यतिरेक सम्बन्ध भी उस मयूर के साथ है इस कारण वह दर्पण की चीज न रही। वह मयूर प्रतिबिम्ब और दर्पण में दर्पण के ही कारण उपाधिके सन्निधान बिना दर्पण में ही हो जाय सो नहीं होता, इस कारण भी वह छाया दर्पण की नहीं है। इसी प्रकार यहाँ देखिये कि कर्म तो प्रकट जुदे हैं, चेतन यह प्रकट जुदा है, किन्तु जब कर्मविपाक हुआ—कर्मविपाकका अर्थ क्या है कि जो कर्म सत्तामें थे उनका यह अन्तिम क्षण आया है, इसके बाद ये निकल ही जायेंगे। जहाँ कर्म के १० करण बताये हैं कर्मकाण्डमें वहाँ बन्ध भी लिखा, पर उदयकी बात नहीं लिखी, क्यों नहीं लिखी कि उदय भी क्या? निर्जरा का ही नाम उदय है, अपना समय पाकर फल देकर झड़ने का ही नाम निर्जरा है। वही उदय

है। निर्जरा का ही नाम झरना है।

अशुचिभावनादृष्टिका परिणाम देखिये–अशुचिभावनादृष्टिका परिणाम देखिये–अशुचिभावनादृष्टिमे निजका विचार कीजिये–हाड, मास, चाम ये सब अपवित्र हैं, शरीर भी अपवित्र है। दोहा भी बोलते हैं–"दिपे चाम चादर मढी, हाड पींजरा देह, भीतर या सम जगतमे और नही घिन गेह।" इस देहमें ऊपर से चामका चादर मढी है, भीतर से देखो तो महा अपवित्र है। देखिये–अशुचि भावना भी काम कर रही है, उससे हटानेका। अपवित्र है, गन्दा है, पर यह अपवित्रता, यह गन्दगी उसको दृष्टि मे आ पाता है जिसको वैराग्य हो। ज्ञानप्रकाश जिसका लक्ष्य हुआ, अपने को आत्मस्वभाव मानते हुए कल्याण की जिसके तरफ हुई, कल्याणकी ओर जिसका चित्त चलता हो उसको ये चीजें अपवित्र लगती हैं, पर मोहियों को तो अपवित्र नही जचती। अपवित्र होते हुए भी मोहियोको सुहावना लगता है। कितना सुन्दर रूप है, अरे रूप क्या है ? सुन्दर कहते किसे हैं ? सु उन्द् अर, ये तीन शब्द इसमे भरे है, उन्दी क्लेदने धातु है, जिसका अर्थ है क्लेश देना। जो भली प्रकार से इस जीवको क्लेश दे, कष्ट दे, उसे कहते हैं सुन्दर। यह तो इस सुन्दर शब्दका अर्थ है। ऐसा तो सुन्दर है, लेकिन इस अर्थ मे तो सुन्दर नही नजर आता। तो जब ज्ञानभाव का उदय होता है तो यह अशुचिता उसकी दृष्टिमे नही रह पाता, और जिनके रागभाव नही अथवा कहो कि अपने ज्ञानस्वरूप की सुध है, कल्याण की दिशा का जिसे ज्ञान है, कल्याण यही है कि ज्ञान भावमे रहे। ससार के सकट उसके टल जायेगे। चारो गतियो के दुःख उसके न रहेंगे, जन्म मरणको परम्परा नष्ट हो जायगा। जिसको अपने आपके भीतर प्रकाशमान शुचि तत्त्वके दर्शन हुए उसकी ही अशुचिभावना कार्यकारी है, अन्यथा जैसे किसी रास्ते मे चलने वाला कोई पुरुष रास्ते मे दोनो तरफ विष्टा गोबर आदिका ढेर आये तो उसम ग्लान होकर क्लेश मानता है, इसी प्रकार यह अशुचि भावना भाने वाला पुरुष भी सब चीजोको अशुचि देखकर क्लेश तो पायगा ही। लेकिन अपने आपके भीतर जो शुचितत्त्व पड़ा है उसके दर्शन हो जाने से वह अशुचि भावना उसके लिए धार्मिकरूप बन गई। जिसको अपने भीतर की पवित्रता का, शुचिभावका दर्शन नही हुआ उसके अशुचि भावना भी कार्यकारी नहीं बन सकती है। तो इसको कहते हैं शुचिस्वभाव-भावना दृष्टि।

अभेदस्वभावदृष्टिसे अपनी जानकारी का प्रभाव और उसका बाधक भाव, परखिये- जाननेकी वृत्ति दो प्रकार से हुआ करती है। एक तो जाननहारमे अभेद रूपसे वर्तकर, दूसरे भेदरूप बनाकर। जैसे जाना कि यह चौकी है, पुस्तक है, अमुक चीज है, यह कहलाती है भेददृष्टिसे जानकारी, और आत्मा मे भी कोई ऐसा जाने कि मुझमे ज्ञान है, दर्शन है, चारित्र है, अनेक गुण हैं, अनेक पर्यायें हैं तो यह है भेद-दृष्टिसे निहारना। जब यह अपने आपको अभेद चैतन्य स्वभावमात्र अनुभव कर रहा है उस समय कहलायगा अभेदस्वभावदृष्टिमे जानकारी करना। ज्ञानमे ज्ञानस्वरूप ही समाया हो ऐसी जानकारी को कहते हैं अभेदस्वभावदृष्टिसे जानकारी बनाना। अब तक जीवने भेददृष्टि मे जानने का ही उद्यम किया। बाह्य पदार्थ को जाना तो भेदभाव से। अपने आत्माके बारे मे भी कुछ जानकारी बनाई तो भेदभावसे। अभेद स्वभावसे अपने आपको जो कोई जानने लगेगा वह पूज्य है पवित्र है, सम्यग्दृष्टि है, निकटकालमे ही मोक्षमार्ग मे चलता हुआ मोक्ष पा लेगा तो अपने लिए भी यह शिक्षा लेना है कि मेरी जानकारी को पद्धति अभेदस्वभाव दृष्टि की बने। जितने क्लेश हो रहे है वे सब भेददृष्टि की जानकारी से बन रहे। भले ही उनमे इतना अन्तर हो कि किसी जानकारी मे बडी आकुलता है किसी मे मन्द आकुलता है, मगर भेदपूर्वक जानेंगे तो वहा कुछ न कुछ क्षोभ बना ही हुआ है। जहा आत्मा को भी भेद दृष्टि मे जानने मे क्षोभ की बात आती है वहा बाह्य दृष्टि से मोह ममता के भाव से पुत्र स्त्री आदिक को समझने की बात तो पूरी विडम्बना ही है। यह जीव इन सबसे निराला है। भगवान आत्मा चैतन्यमूर्ति सत्य आनन्द का धाम है और उसकी वर्तमान मे यह दशा बनी है। बस अभेदस्वभाव दृष्टिसे अनुभवनेकी कला न होनेसे ये सब क्लेश बने हुए हैं। समझाये जानेपर भी चित्त मे बात नही उतरती।

परमात्मा होने के प्रोग्राममे ही कुशलता देखिये—एक यह ही प्रोग्राम हमारे जीवनमें होना ठीक है कि मुझे तो परमात्मा बनना है, क्योकि बहुत दिनो तक दो तरह के ही जीव रह सकते हैं—या तो बहिरात्मा रहेगा बहुत काल तक, या परमात्मा रहेगा अनन्तकाल तक। अन्तरात्मा तो सदा नही रह सकता। कोई ज्ञानी हो, अन्तरात्मा हो, तो उसका मोक्ष हो जायगा, तो अन्तरात्मा न रहा, परमात्मा रहा। तो पक्के घर दो तरह के आत्माओके हैं—बहिरात्मा और परमात्मा। लेकिन बहिरात्मा बने हुए अनन्त काल गुजर गया, उसमे तो शान्ति नही मिली। थोडा ज्ञान किया, थोडा मोह हटाया, तो उस की श्रद्धामे लगाकर ही क्यो रख रहे हो? कुन्दकुन्द देवने बताया है कि परमाणु मात्र भी जहा राग है वह आत्माको नही जानता। इसका अर्थ यह है कि श्रद्धामे परमाणु मात्र भी जिसके राग है वह आत्माको नही जानता। जैसे कोई पुरुष ऐसा सोचे कि लोकमे दूसरोका कुछ बिगाड तो नही करता, अपने घरमे रहता हू, और मुझे दुनिया की किसी चीजसे मोह नही है। केवल एक अपनी स्त्री भर का मोह है, तो मेरे को तो एक स्त्री का छोडकर बाकी सारे अनन्त जीवोका मोह नहीं रहा। तो मैं तो ९९ प्रतिशत सम्यग्दृष्टि हू। पूर्ण सम्यग्दृष्टि होने मे कुछ ही कमी रह गई है, ऐसा तो नही होता। अगर परमाणु मात्र भी राग है श्रद्धा मे, वह मैं हू, वह मेरा है, तो वह आत्माको नहीं जानता। जिस की श्रद्धामे यह बसा है कि मैं अकिंचन हू मेरा परमाणुमात्र भी नही है, किसी अन्य पदार्थ से मेरे मे कोई परिणति नही आती। न दुःख, न सुख, न शान्ति, न अशान्ति, भले ही विधियां हैं निमित्त नैमित्तिक, मगर द्रव्य सब पृथक् पृथक् हैं। मैं सबसे निराला हू और फिर जो औदयिक वैभाविक औदायिक बाते हैं, दुःखी सुखी होना, क्रोधादिक होना, उनसे मेरे को क्या फायदा? मेरे आत्मामे तो विशुद्ध ज्ञानानन्द का स्वभाव है। मैं किसी से क्या नेह लगाऊ? किसी से क्या मोह करू? मैं तो अपने आपमे ही रमकर तृप्त रहू। मैं सहज आनन्दस्वरूप हू, मेरे स्वरूपमे कष्ट नही है, कष्ट पाया, पर

स्वरूपमे कष्ट नही है, स्वभावमे कष्ट नही है। मेरा स्वभाव कष्ट का नही। मैं तो स्वभावरूप हू। जो सदा रह सकता हो सो मैं हू। ऐसा कष्ट रहित अपने स्वभाव का चिन्तम करे तो इससे तो हमे शान्तिकी दिशा मिलेगी। अगर बाहरमे किसी पुरुषसे कोई अशान्ति की बात कल्पनामे आये, उसका ही ध्यान बना रहे तो अशान्ति ही बढेगी।

(२८१-२८३) अध्यात्मसहस्री प्रवचन ११, १२, १३ भाग

(२८४-२८६) अध्यात्मसहस्री प्रवचन १४, १५, १६ भाग

(२८७-२८८) पञ्चाध्यायी प्रवचन १, २ भाग

तत्त्वका उद्घोषण करने वाला एक पञ्चाध्यायी नामक अपूर्व ग्रन्थ हैं जिसके १ से लेकर २६० तक की गाथाओ पर इस दो भागों मे प्रवचन हैं। देखिये तत्त्वका स्वरूप ८ वी गाथामे पृष्ठ १२-वस्तुकी सत्स्वरूपता, स्वत सिद्धता एव अनाद्यनन्तता-तत्त्व सत् लक्षण वाला है, अर्थात् जिसका लक्षण सत् है उसे वस्तु कहते हैं। वस्तु सत् होता है,यह उसकाभाव हुआ। पर इस शब्दमे कहा गया यह भाव कि वस्तु सत्‌लक्षण वाला है, इस कथनमे भेद पद्धति अपनाई है। जिसका लक्षण सत् है वह वस्तु है। लेकिन इतना भी भेद है कहा ? और इस भेदके साथ बतानेपर पूर्ण ढगसे अभी परिचय नही हो पाया। तब उनमे कह-कर स्वरूप कहते है कि वस्तु सन्मात्र है, सत्त्व मात्र है, सत्स्वरूप है, उसका लक्षण सत् है। वह सत् कोई भिन्न चीज है ऐसा नही है। वस्तु ही सत् स्वरूप है। वह वस्तुस्वरूप है तो यह बात भी निर्णीत होती है कि वह स्वत सिद्ध है। वस्तुको किसने बनाया, कैसे बनाया, कहा बनाया ? और कुछ नही था तो विना उपादानके कैसे बन गया ? आदिक बाते जब विचारमे लेते है तो यह निर्णय होता है कि वस्तु स्वत सिद्ध है। जो सत् है वह स्वत सत् है। कल्पना करो किसी वस्तुके बारेमे कि यह न था अब हुआ। तो क्या हुआ ? यह बात सिद्ध नही होती। जो सत् है वह स्वत सिद्ध है जो बात स्वत. सिद्ध होती है वह है पदार्थ। वह अनादि अनन्त है। न उसकी आदि है कि पहिले असत् था अब सत् हुआ। और, न उसका अन्त हैं कि सत् था अब उसकी समाप्ति हो गई। अब कुछ न रहा। ऐसा नही होता। अतएव वस्तु अनादि अनन्त है। जब अनादि अनन्त है तो प्रत्येक पदार्थ स्वसहाय है। अपना ही सहाय है। उसके सत्त्वके लिए किसी परका आश्रय नही है। वस्तुका रहना, वस्तुका उत्पाद होना अर्थात् नवीन अवस्थामे परिणत होना, पुरानी अवस्थाका विलय होना, ये सब बाते भी स्वसहाय हैं।

देखिये पर्यायके पर्यायवाची शब्द, इन शब्दोके समझनेसे यह ज्ञात होगा कि वस्तु सिद्धान्तके कथनके प्रसग मे पर्याय शब्दसे कब किसका बोध करना चाहिये, पृ० ६२-पर्यायके पर्यायवाची शब्द-अब यहा पर्यायके नामवाची शब्द है -अश पर्याय, भाग, हार, विध, प्रकार, भेद, छेद भग, ये सब शब्द एक ही अर्थके कहने वाले है। इस अर्थके आधारसे यह जाना जायगा कि किस किस बुद्धिसे किए गए अन्शोका नाम पर्याय है ? प्रथम शब्द है अन्श। अन्शका अर्थ है किसी अखण्ड पिण्डका भेद करना। एक अखण्ड द्रव्य है, उसके शक्तिभेदसे अन्श किया, भेद किया, तो गुणका कथन भी पर्यायका कथन कहलाया और एक पर्यायमे जो कि एक समयमे एक द्रव्यकी है उस पर्यायमे नाना परिणमनोका अन्श करके एक एक परि-णमन ग्रहण करना इसका नाम है अन्श। तो यह अन्श ऊर्द्धसरूप पर्याय हुआ। पर्याय नाम है परिणमन का। जो परिणमन है उसे पर्याय कहते है। अथवा पर्याय यह एक विशेष शब्द है क्योकि इस गाथामे पर्यायके नामवाची शब्द बताये जा रहे है। भाग-भाग करके जो हिस्सा हो उसे भाग कहते हैं। यह भाग गुणोके रूपसे भी है। परिणमनके रूपसे भी है, तो यहभाग पर्याय कहलाता है। हार-एक अखण्ड

पिण्डमें कुछ हरण कर लेना, कुछ निकाल कर कहना इसका नाम हार है। और उस पर्यायके जो प्रकार है वे विध कहलाते है। अर्थात् उस प्रकारका अर्थ है और उसकी जातिके अन्तर्गत ये सब अन्श हैं। प्रकार—उस जातिके जो प्रकार है, जितने प्रकारसे वे विस्तार हो सकते है वे प्रकार भी पर्याय कहलाते हैं—जैसे सम्यग्दर्शन इतने प्रकारका ९, तो सम्यग्दर्शन एक द्रव्य स्थानाय हुआ और उसका जो प्रकार हुआ वह पर्याय स्थानीय है। गुणावलीमे जो अभेदरूप है सो द्रव्य है और जो भेदरूप होता है सो पर्याय होती है। इसी प्रकार छेद भी है। एक अखण्ड पिण्डमे किसी भी अन्श दृष्टि द्वारा छेद करना सो छेद है और उसको तोडना सो भग है। जैसे कि व्यवहार जोड से भी होता और तोड से भी होता। आत्मा मे ज्ञान दर्शन आदिक गुण है इस प्रकार के तोडका नाम व्यवहार है और आत्मामे कषाय आदिक हैं ऐसा जोड करनेका नाम भी व्यवहार है। तो यहा भग शब्दसे एक तोडका अर्थ लिया गया ये सब एक अर्थ के वाचक हैं।

अब निरखिये प्रत्येक पदार्थमे साधारण व असाधारण दोनो प्रकारके गुण हुआ ही करते है, पृष्ठ १४४—गुणोमे साधारणता व असाधारणता का भेद—पदार्थ गुणोका पिण्ड है। उन गुणोमे दो प्रकारसे भेद पाया जाता है। कुछ गुण तो होते हैं सामान्य और कुछ होते हैं विशेष। अथवा गुणत्व सामान्यकी अपेक्षासे सभी गुणोमे समानता है, क्योकि सभी गुण हैं, इस प्रकारसे समानरूपसे विदित होते है, किन्तु विशेष दृष्टिसे देखा जाय तो उन गुणोमे कुछ तो साधारण गुण है और कुछ असाधारण गुण हैं। साधारण गुण उन्हे कहते हैं जो सर्व द्रव्योमे पाये जायें और साधारण गुणोकी दृष्टिसे द्रव्यमे भेद नही किया जा सकता कि यह जीव है, यह पुद्गल है आदिक। कुछ असाधारण गुण होते है। असाधारण गुण उन्हे कहते है जो किसी एक जातिके द्रव्यमे ही पाया जाय, अन्य जातिके द्रव्यमे न पाया जाय। असाधारण गुणसे जाति-भेद पडता है। तो यो वस्तुमे २ प्रकारके गुण हैं—साधारण और असाधारण। दोनो प्रकारके गुण होने से ही वस्तुमे वस्तुपना होता है। यदि किसी द्रव्यमे केवल साधारण गुण माना जाय, असाधारण गुण न माना जाय तो साधारणगुण भी न टिकेंगे क्योकि वे व्यक्ति ही कुछ नही हैं, फिर उसमे साधारण गुण क्या आया ? चीज ही नही कुछ और यदि असाधारण गुण ही माने जाये, साधारण गुण न माने जायें तो असाधारण गुण रहे कैसे ? जैसे द्रव्यमे साधारण गुण अस्तित्व है और द्रव्योमे असाधारण गुण जैसे जीवमे चेतन है तो एक जीवकी ही बात यहा उदाहरणमे लें कि जीवमे यदि चैतन्यको नही माना जाता तो अस्तित्व किसका ? जब कोई व्यक्ति ही नही, पदार्थही न रहा तो है कुछ न रहे। तो चेतनके बिना जीवका अस्तित्व कुछ नही है और कोई साधारण गुण ही मानता याने जीवमे अस्तित्व मानता है चेतन नही मानता तो चेतन बिना अस्तित्व क्या ? और चेतन माने, अस्तित्व न माने तो जब कुछ है ही नही तो चेतन कहासे ठहरेंगे। यो साधारण और असाधारण दोनो प्रकारके गुण माननेसे ही वस्तुका वस्तुत्व बढता है। अब साधारण और असाधारणका अर्थ बताते हैं।

(२८८–२९१) पञ्चाध्यायी प्रवचन ३, ४, ५ भाग

पञ्चाध्यायी ग्रन्थराजके २६१ वी गाथासे ५०२ गाथा तक इसमे महाराज श्री के प्रवचन हैं। देखिये ३०७ वीं गाथामे पदार्थकी स्वय एकमे विधिनिषेधात्मकता, पृष्ठ ३३—विधिनिषेधकी परस्पर अभिव्यञ्जकता—उक्त कथनका तात्पर्य यह है कि वह स्वय युक्तिके वशसे निषेधात्मक हो जाता है और प्रकार निषेध भी स्वय युक्तिके वशसे विधिरूप हो जाता है। यह गुणपर्यायमे परस्पर निषेधकी बात चल रही है कि जो गुण है सो पर्याय नही, जो पर्याय है सो गुण नही। गुण कोई स्वतन्त्र अलग पदार्थ है क्या ? अथवा पर्याय क्या स्वतन्त्र अलग पदार्थ है। गुणमें भी वही आत्मा पर्यायमे भी वही आत्मा। आत्माको अभेद

दृष्टिसे निरखा गया है। तो जब भेददृष्टिसे निरखी हुई बातको अभेदरूपमे बतलाने लगते हैं तो वही विधिरूप बन गया। विधिरूपमे कही हुई बात जब निषेधरूपमे बतलाने लगते है, भेददृष्टिमे कह उठते हैं तो वही विषेधरूप बन गया। वस्तु वही एक हैं और वह है वस्तु विधेय उभयात्मक। केवल विध्यात्मक कहकर नही समझाया जा सकता है। केवल निषेधात्मक कहकर न समझाया जा सकेगा। वस्तु है और परिणामी है, बस इसी कथनमे विधिनिषेध आ जाता है। है पन जो कि सर्वथा विदित हुआ वह विधिदृष्टिमे विदित होता है और निषेधपन यह भी नही है, ऐसा व्यतिरेक जिस दृष्टिमे विदित होता वह दृष्टि भेदरूप है, यो पदार्थ भेदभेदात्मक है अथवा विधिनिषेधात्मक है। किन्ही भी शब्दोमे कहो सप्रतिपक्ष धर्म सहित होता है।

प्रत्येक सत्के एकत्वकी सिद्धिका सुगम उपाय पढ़िये पृष्ठ १३७-क्षेत्रकी अपेक्षा अखण्डितपना होने से सत्के एकत्वकी सिद्धि-इस प्रकार निर्दोष विधिसे क्षेत्रकी अपेक्षासे वस्तुका विवरण किया गया। एक सत्के सब ही प्रदेश अखण्ड हैं अर्थात् वहा खण्ड कुछ भी नही पडा। वह उतने ही विस्तारवाला पदार्थ एक है अतएव सभी प्रदेश एक सत् कहे जाते हैं। और एकत्व विवक्षामे पदार्थों का इस तरह ही निरखना होता है। प्रत्येक पदार्थ अखण्डक्षेत्री है। जैसे यह जीव है उनके अखण्ड क्षेत्र है। अन्तर बीचमे नही पडता कि कुछ हिस्सा बीचमे जीवका खाली हो गया हो उन प्रदेशोमे और बादमें जीव लग गया हो, वह अखण्डतासे अपने प्रदेशमे रहता है। तो इस तरह अखण्ड पदार्थमे उनका विस्तार बतानेके लिए क्षेत्रकी पद्धतिसे उनका वर्णन किया जाता है।

(२६२-२६४) पञ्चाध्यायी प्रवचन ६, ७, ८ भाग

इस पञ्चाध्यायी ग्रन्थराजके पूर्वार्द्ध के ५०३ वी गाथासे ७६८ वी गाथा तक पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराजके प्रवचन हैं। प्रमाण, नयके स्वरूपके वर्णन के सकलपमे नयका स्वरूप देखिये-इससे पूर्व जो कुछ भी तत्त्वके स्वरूपका वर्णन किया है उस वर्णन मे यह स्पष्ट है कि तत्त्व विरुद्ध दो धर्मस्वरूप हैं। जैसे सत् कथचित् एक है वही सत् कथचित् अनेक है। तो जो एक है वह अनेक कैसे होगा? जो अनेक है वह एक कैसे होगा? ऐसा यद्यपि साधारणतया बिना विश्लेषणके विरुद्ध जच रहा है, लेकिन ऐसे विरोधी दो धर्मोस्वरूप वह तत्त्व है, यह बात भली प्रकार बतला दी गई है। तो विरुद्ध दो धर्मस्वरूप तत्त्व हुआ करते है। तत्त्वके लक्षणमे भी इस पर प्रकाश डाला गया है कि तत्त्व विरुद्ध दो धर्मो रूप होता है। उन धर्मो मे से किसी एक धर्मका प्रतिपादन करना अथवा किसी एक धर्मका परिचय लेना यह नय कहलाता है। जैसे जीव कथचित् नित्य है, कथचित् अनित्य है। प्रत्येक पदार्थ परिणमनशील हुआ करता है। तो जब परिणमनका प्रधानतासे निरखा जा रहा है तो जीव अनित्य सिद्ध होता है और जब मूल तत्त्व अस्तित्त्वको देखा जा रहा है तो जीव नित्य सिद्ध होता है। तो द्रव्यदृष्टिसे नित्य और पर्यायदृष्टिसे अनित्य है। यो नित्या-नित्यात्मक जीव है यह परमार्थ से व्यवस्थित हुआ। अब उस व्यवस्थित जीवतत्त्वमे जीवका अनित्यतापर विचार किया जा रहा हो, पर्यायकी प्रधानतासे जीव-स्वरूपको निहारा जा रहा हो तो उस समय जीव के अनित्यत्वका जो विचार है, कथन है वह नय कहलायगा, इसी प्रकार जब द्रव्यदृष्टिमे जावकी नित्यताका परिचय कराया जा रहा हो उस समय जो कुछ वहा नित्यत्वका परिचय चल रहा है वह नय है। तो अब तदतत्मक पदार्थ मे से किसी एक धर्म का जो प्रतिपादन करे, परिज्ञान करे उसका नय कहते है। इस तरह नय का यह लक्षण बना कि विरुद्ध धर्मद्वयरूप तत्त्व मे किसी एक धर्म का प्रतिपादन करना, परिचय करना, उसको नय कहते है।

यथार्थ वर्णन के प्रसगमे नयपक्ष उदित और अस्तगत होते रहते हैं, इसका आधार देखिये—ज्ञानविकल्प को नय कहते हैं इस लक्षणमे स्याद्वाद नीतिसे जो यह बात घटित की गई है कि ज्ञान ज्ञान ही है, नय नही है, नय नय ही है, ज्ञान नही है, इसका आशय यह है कि जिस समय विकल्प विवक्षित होता है अनन्तधर्मात्मक वस्तुमे से एक धर्मका जब कहा जा रहा है ऐसो उस विकल्पविवक्षा के समय, तो नय-पक्ष उदित हो जाता है, किन्तु जिस समय वह विकल्प विवक्षित नही रहता उस समग्र वस्तु मे से एक धर्मको कहने की विवक्षा नही रहती, उस समय नयपक्ष अपने आप विलीन हो जाता है अर्थात् नयपक्ष का जीवन विवक्षाके आधार पर है, अथवा विकल्पात्मक परिचयात्मक ज्ञानात्मक नयका जीवन दृष्टिके आधार पर है। कोई पुरुष नयका प्रयोग करे और योग्य दृष्टि न बनाये तब यह विपरीत हो जाता है। यही कारण है कि अनेक दर्शनो ने भी वस्तुके स्वरूपका ही वर्णन किया, अशो का वर्णन किया, किन्तु उसकी दृष्टि नही रखी कि किस दृष्टिमे यह अश विदित होता है। इस कारण वह एकान्त बना, और परीक्षा करने पर असमीचीन हो गया है। यहा यह बताया जा रहा है कि ज्ञान ज्ञान ही है, नय नही है, इसका कारण क्या है ? शुद्ध ज्ञान ता विवक्षामे नही उदित होता। जब जब भी विवक्षा होगी तब तब नयपक्ष उदित होगा और वही विवक्षा जब अस्त हो जाती है तो उसके साथ ही नयपक्ष भी अस्त हो जाता है। जैसे जीव पर्याय दृष्टिसे अनित्य है, तो जीव की अनित्यता पर्याय की विवक्षापर निर्भर हुई। जिस समय यह ज्ञाता पुरुष पर्यायदृष्टिका अस्त कर दे, इसकी पर्यायदृष्टि न रहेगी तो वहा अनित्यपक्ष भी न रहेगा। इस प्रकार सभी जगह यह सिद्ध होगा कि जो भी नय उदित होता है वह विवक्षा अथवा दृष्टि के आधार पर उदित होता है। उस विवक्षा और दृष्टिकी समाप्ति होने पर नय भी समाप्त हो जाता है। इस तरह भी यह समर्थित होता है कि ज्ञान ज्ञान ही है, नय नही है और नय नय ही है, ज्ञान नही है।

व्यवहारनयके प्रयोगका प्रयोजन व फल देखिये—व्यवहारनयका फल पदार्थो मे आस्तिक्यबुद्धि का होना है। पदार्थ जैसे अभेद अखण्डरूप हैं, उनको समझ कसे बने, पदार्थ यह भी बुद्धि कैसे आये ? उन पदार्थो का अस्तित्व समझाने वाला तो यह व्यवहारनय है। तो गुणभेद करके जो उनका असली स्वरूप है उस स्वरूपको बता करके पदार्थो के अस्तित्वकी श्रद्धा कराता है। पदार्थ अभेद है, अनन्त गुणोका पिण्ड है। यह सब बात व्यवहारनयके द्वारा ही समझमे आयी है। व्यवहारनयसे वस्तु है, अमुक प्रकार से है, यह बात जान जाने के कारण व्यवहारनय का बहुत बडा प्रयोजन सिद्ध होता है, इससे आस्तिक्यकी बुद्धि प्रकट होती है। जैसे एक जीवद्रव्यको ही ले लीजिये। लोग इस जीवद्रव्यको किस तरह पहिचान पाते हैं ? जब जीव द्रव्य का कुछ कभी, गुण, स्वरूप, स्वभाव कुछ भी बात दृष्टिमे लेते हैं तब ही तो जीव द्रव्यके स्वरूप-तक पहुंच बनता है। तो कभी जीवद्रव्यके ज्ञानगुणको निरखा जाता है, कभी दर्शन, चारित्र, आनन्द आदिक गुण देखे जाते हैं तो इन गुणोको विवक्षा होने पर अथवा इन गुणो का परिचयके माध्यमसे यह बात ध्यानमे आती है कि जीव ऐसे अनन्त गुणोका पुज है, और तब यह बात भी स्पष्ट हो जाती है कि ये सब जीवके ही खास गुण हैं। ज्ञान, दर्शन, चारित्र, आनन्द, सम्यक्त्व आदि ये सभी जीवद्रव्यके साधारण गुण हैं, यह भी तो व्यवहारनयके प्रयोग से समझ पाया है। पदार्थो मे सामान्यगुण है, विशेष गुण है आदिक विवरण किए बिना पदार्थका स्वरूप तो नही जाना जा सकता। तो व्यवहारनयसे पदार्थो का स्वरूप समझा गया, उनका अस्तित्व जाना गया, अतएव आस्तिक्यबुद्धि उत्पन्न करने का श्रेय व्यवहारनयको है। जब गुण गुणी सामान्यविशेष गुण आदिक का परिचय होता है तब पदार्थका अस्तित्व श्रद्धामे आता है। तो व्यवहारनयके माने बिना हितका मार्ग नही चल सकता है। आस्तिक्य बुद्धि जीवोके नही बन पाती है इस कारण से व्यवहारनय प्रयोजनवान

है, फिर भी व्यवहारनयको जो उपचरित कहा गया है वह केवल इस ही दृष्टिसे कि पदार्थ तो अभिन्न अखण्ड है और उसमे यह भेद दर्शाया जा रहा है, फिर भी दिखाये गये भेद के द्वारा ही उस अखण्ड वस्तुको समझ पाते हैं, इस कारण से व्यवहारनय प्रयोजनवान है और निश्चयनयकी अपेक्षा रखने से यथार्थ है, क्योंकि भेद करके भी प्रयोजन तो यही रहा कि अभेद वस्तु का परिज्ञान हो जाय। तो अभेद वस्तु निश्चयनयका विषय है। उस की ओर पहुचने का व्यवहारनय लक्ष्य है अतएव यह व्यवहारनय यथार्थ है। यदि यह निरपेक्ष बन जाय, निश्चयनयके उद्देश्यकी बात न रखी जाय तो यह मिथ्या हो जाता है।

उपचरित असद्भूतव्यवहारनयकी प्रवृत्तिका कारण देखिये-उपचरित असद्भूत व्यवहारनयकी निष्पत्तिमें कारण यह है कि ये विभावभाव स्वपरनिमित्तक हैं, अर्थात् स्वके सस्कारसे हुए हैं, स्वसे हुए हैं, किन्तु हुए हैं कर्मोदयका निमित्त पाकर। सो यहा यह बोध रहता है कि यद्यपि क्रोधादिक विकार जीव द्रव्यके चारित्रशक्तिके परिणमन है, विकृत परिणमन हैं, तो हैं जीवके ही परिणमन, किन्तु वे परनिमित्त बिना नही हो सकता। ऐसी बुद्धि इस उपचरित असद्भूत व्यवहारनयकी निष्पत्ति मे कारण हुई और इससे शीघ्र ही यह शिक्षा मिलती है कि यह मैं नही हू। यह मेरा स्वरूप नही है। मुझे इसमे रमना नही है। उसको पकड कर नही रहना है और इस ही के साथ साथ सर्व जीवोमे भी ऐसी ही स्वरूपकी दृष्टि जगती है। जावोके ये विकारो भाव उनके स्वरूपत नही हुए और इस दृष्टिमे व्यवहार के लिए भी यह शिक्षा मिलतो है कि किसी ने मेरे प्रति कषाय की, विरोध किया, विकल्प किया तो वहा यह समझ सकते हैं कि इस भगवान आत्माका क्या अपराध है? वैसे तो कर्म उदयमे आये हैं, उपाधिके निमित्तसे इस तरह से हममे परिणाम जगे। जो स्वतः सिद्ध स्वतत्र आत्मा है वह तो निर्दोष है, ऐसी शक्तिका विचार करके दूसरे जीवो मे भो निर्दोषताको परख होती है। तो उससे फिर अपनेको छोड नही देना है। तो इस उपचरित असद्भूत व्यवहारनयकी निष्पत्तिका कारण यह है कि यह ज्ञान बना कि ये स्वय नही हुए, किन्तु परनिमित्तसे हुए, अत ये असद्भूत हैं, ग्रहण करने योग्य नही हैं, ऐसी बुद्धि ने इस नयका जन्म दिया है।

देहमे जीवत्वबुद्धिके व्यवहारका मिथ्यापन परखिये-लोगोका यह व्यवहार कि जो यह शरीर है सो ही जोव है, यह अयोग्य व्यवहार है, अनुचित है, असत्य है अथवा ऐसा व्यवहार न किया जाना चाहिए जैसा कि लोग व्यवहार करते हैं। क्यो है यह अयोग्य व्यवहार? इसका कारण यह है कि यह सिद्धान्त से विरुद्ध है जो कुछ लोग सोच रहे है कि यह शरीर ही जीव है। तो यह सच्चाई से रहित है, इस व्यवहारमे सिद्धान्तका विरोध है, क्योकि शरीर और जीव ये भिन्न भिन्न धर्मी है, अनेक धर्मी हैं, अनेक वस्तु है। एक पदार्थ नही है, इनका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव न्यारा न्यारा है। तो ऐसी स्थितिमे ये दोनो भिन्न भिन्न प्रसिद्ध ही है। और, जब शरीर पुद्गल द्रव्य है, वे भिन्न पदार्थ है, जीव द्रव्य भिन्न पदार्थ हैं, फिर भी जो लोग शरीरमे जीवका व्यवहार करते है कि यह जीव है वे सिद्धान्तसे विरुद्ध प्रतिपादन करते हैं। यहशरीर क्या है? अनन्त परमाणुओका पुज। सभी परमाणु जड हैं, रूप, रस, गध स्पर्श-वान है, यह शरीर भी जड है, रूप, रस, गध, स्पर्श वाला है, किन्तु जो समझ सके, समझने को वृत्ति जहा बनेगी वह मूर्त नही हो सकता। वह अमूर्त ही होगा। तो या शरोर जड है, जीव चेतन है, शरीर वर्णादिमान है, जोव अमूर्त है, ऐसे प्रकट भिन्न भिन्न पदार्थोको एकमेक करने को बुद्धि यथार्थ कैसे हो सकती है? वह सब सिद्धान्त विरुद्ध ही बात है।

नयोके नामकरणका आधार देखिये-नयोके क्या नाम होते हैं इस सम्बन्धमे इस गाथामे सकेत दिया

है। आचार्य कहते हैं कि जिस द्रव्यका जिस नाम वाला कोई विशेष गुण कहा जाता है उस गुण की पर्यायोसे विशिष्ट और उस गुणको विषय करनेवाला नय भी नयके नामसे कहा जाता है अर्थात् जितने गुण पदार्थ मे विवक्षित किए जाते है वे जिस जिस नाम वाले हैं उनको प्रतिपादन करने वाला अथवा जानने वाला नय उन्ही नामो से पुकारा जाता है। इस गाथामे नयो के नाम की कु जी दिखाई गई है। जो विषय हो उसका जो नाम हो उसी विषयके आगे नय शब्द जोड देने पर उस नयका पूरा नाम हो जाता है। अब तक जितने नयोके प्रयोग किए गये है उनमे यही कु जी अपनाई गई है। व्यवहारनय कहते हैं भेद करने को। भेद करने की बात जिस नयके विषयमे आयी है उन नयका नाम व्यवहारनय हो गया। पर्याय कहते हैं अशको। पदार्थ के अशको विषय करने वाला जो नय है उसे पर्यायार्थिकनय कहते है। द्रव्य कहते है उस समस्त गुण पर्यायोके पिण्ड को, उस द्रव्यको जो विषय करता है उसको द्रव्यार्थिकनय कहते हैं। तो अब तक जितने नयोके नाम निकले हैं उन नामो से भी यही प्रकट होता है कि नय जिसको विषय करते हैं उनके नामपर ही नयोके नाम रखे गये हैं। बस यही कु जी समस्त नयो के सम्बन्धमे लगेगी।

व्यवहारका परमार्थ प्रतिपादनमे प्रयास, पढिये—यहा यह न समझना चाहिए कि निश्चयनयने व्यवहारनयका निषेध किया तो व्यवहारनय मिथ्या ही कहता होगा सो भी एकान्त नही है। व्यवहारनय निश्चयनयके विषयको समझाने का भरसक प्रयास करता है। तो उसका प्रयास निश्चयनयके विषयके लिए हो रहा है। अतएव उसे एकान्तत अयथार्थ नही कह सकते, किन्तु परमार्थ प्रतिपाद्य नही हो सकता, अतएव प्रतिपादन ही यथार्थ नही हो पाता। दूसरी बात—ऐसी भी जिज्ञासा हो सकती है कि जब निश्चयनय केवल निषेध ही करता है तो यह बतलाये कि फिर निश्चयनयने क्या कहा? और निश्चयनयका विषय क्या समझा जाय? उत्तर तो इस प्रसगमे स्पष्ट है। जो निश्चयनयका विषय है। और इस विषयमे यही ध्वनित होता है कि पदार्थ अवक्तव्यस्वरूप है और पदार्थ अवक्तव्य है। इन शब्दोमे भी प्रतिपादन हुआ। ऐसा प्रतिपादन भी परमार्थत नयको स्वीकार नही करता। पदार्थ की अवक्तव्यताका वर्णन भी तो वक्तव्य बन गया। तो ऐसा कोई सोच सकता था कि व्यवहारनय तो भेद करनेकी बात कहे और निश्चयनय उसे अवक्तव्य बता दे तो इतना भी बताना वक्तव्य पनेका सूचक बना, प्रतिपादन हुआ। किसी अशमे भेद करना तो यह भी परमार्थ से स्वीकार नही है। अवक्तव्य है, निश्चयनय, इसका सूचना निषेधमे स्वय हो जाती है। यो यह सिद्ध हुआ कि निश्चयनयका विषय व्यवहार निषेध्य है और इसी प्रसगमे यह भी जान लेना चाहिए कि निश्चयनय नयोका अधिपति है, इससे आगे और नयविकल्पका अवकाश नही है।

लक्षणप्रतिपादक व्यवहारनयकी भी अभूतार्थता कही गई है इसका कारण स्पष्ट कर लीजिये—गुणपर्ययवत द्रव्य इस प्रकार का आश्रय लेकर जो सत जनोका उपदेश है वह यद्यपि कार्यकारी है, परमार्थ वस्तु की ओर लक्ष्य करानेका प्रयास भरा है, लेकिन जिन शब्दोमे यह उपदेश है वे शब्द यह बतलाते हैं कि यह व्यवहारनय मिथ्या है, क्योकि इसमे यही तो कहा गया है कि द्रव्य गुण वाला है द्रव्य गुण पर्याय वाला है। जहा यह बात आयी कि द्रव्य गुण वाला है तो उससे ऐसा ही अर्थ ध्वनित होता है कि गुण कोई चीज है, द्रव्य कोई चीज है और फिर गुण के मेल मे यह द्रव्य गुण निराला कहलाया, लेकिन बात ऐसी है कहा? पदार्थ तो अपने आपमे अद्वैत सत् है। तब पर्यायकी बात कहकर उपदेश किया है कि द्रव्य पर्याय निराला है। वहा भी यही अर्थ ध्वनित होता है कि पर्याय कुछ चीज है और द्रव्य कुछ चीज है, फिर उन पर्यायोका मेल करान पर यह द्रव्य पर्याय वाला कहलाता है। लेकिन पर्याय क्या

कोई भिन्न वस्तु है और द्रव्य कोई उससे जुदी चीज है ? इस लक्षणमे जो कुछ जिन शब्दोसे कहा गया है उन्ही शब्दोके अनुसार समझ बनानेपर विशेषवादका प्रसग आता है । जब कहा कि द्रव्य गुण पर्याय वाला है तो यहा भी यही समझिये कि परमार्थत. न तोकोई गुण वस्तु है और न केवल कोई द्रव्यवस्तु है, न दानो है, न उन दोनोका योग है, किन्तु केवलवहएक अद्वैत सत् है । अब चाहे कोई गुण की दृष्टि रखकर सत् द्रव्य कहे चाहे कोई द्रव्यकी दृष्टि रखकर सत् कहे, पर वस्तुत ता वहा अनिर्वचनीय अद्वैत सत् है । तो वस्तुमे कोई ऐसा भेद भी पडा हुआ है और ये व्यवहारनयके लक्ष उन भेदोकी बात बताते हैं इस कारण से यह व्यवहारनय मिथ्या कहलाता है । यही निणय इस प्रसगके अन्तमे इस गाथा मे दिया है ।

प्रमाण के स्वरूप के वर्णन के प्रसग मे विधि प्रतिषेधको मैत्री व स्वपराकारावगाहि ज्ञानकी प्रमाणरूपता देखिये–नयोका जो वणन किया गया था उसमे यह समझा गया कि व्यवहारनय का विषय तो विधि है और विधि होती है भेदपूरक और निश्चयनयका विषय निषेध है, सो ये दनो बाते अलग अलग नही है, किन्तु विधि पूर्वक प्रतिषेध होता है और प्रतिषेधपूवक विधि होती है । अत्र विधि और प्रतिषेध के द्वारा दोनो की जो मैत्री है वह प्रमाण कहलाता है । जैसे व्यवहारसे विधिके माध्यमसे जाना कि जीव मे ज्ञान है, दर्शन है, चारित्र है आदिक निश्चयनयसे यह जाना कि व्यवहारनयने जो कहा है वैसा पदार्थ नही है, अर्थात् ज्ञानदशन चारित्र ये कोई जुदे वस्तु हा और फिर वे आत्माके पास रहते हो, ऐसा नही है, किन्तु वह वस्तु अखण्ड है । तो वस्तु गुणरूप है, उसमे गुण है और वह अखण्ड है । गुण का भी वहा भेद नही है, इस तरह की मैत्री पूर्वक जो ज्ञान हो रहा है वह प्रमाण ज्ञान कहलाता है । अथवा दूसरे लक्षण से देखिये कि प्रमाण ज्ञान वह है जो स्व और परका जानने वाला है । स्वका अथ स्वय ज्ञान, वह अपने आपको जानता है और परका अर्थ है सव–पर पदार्थ । तो यो स्व और पर को जानने वाला जो ज्ञान है वही प्रमाण कहलाता है ।

स्वानुभूतिके समय मे मति श्रुत ज्ञानकी प्रत्यक्षसम प्रत्यक्षता बन जाती है, पढिये और उसका पौरुष कीजिये–मतिज्ञान और श्रुतज्ञान परोक्षज्ञान बताये गये हैं और फिर जिस समय स्वात्माकी अनुभूति होती है उस समय इन दानो ज्ञानोका जो भी उपयोग है, जो भी ज्ञान हुआ है वह प्रत्यक्ष ज्ञानके समान प्रत्यक्ष कहा जाता है । स्वात्मानुभूतिके समयमे ही इस ज्ञानको प्रत्यक्ष ज्ञान कह सकते है इसे प्रत्यक्ष क्यो कह दिया है, क्योकि सिद्धान्तशास्त्रो मे मति, श्रुत, ज्ञानको परोक्ष स्पष्टरूपसे बताया गया है तब किसी भी पद्धतिमे इसे प्रत्यक्ष मानना कसे सगत है ? ऐसी आशका हो सकती है ? इस आशका का उत्तर स्वय ग्रन्थकार अभी ही कुछ आगे देगा, लेकिन यहा सक्षेपमे इतना समझ लेना चाहिए कि जिस समय काई ज्ञानी पुरुष स्वात्माकी अनुभूतिका विषय स्वसम्वेदन प्रत्यक्षके द्वारा स्पष्ट रहता हैं । तो यह विशेषता बहुत बडी विशेषता है, इस दृष्टिसे मतिज्ञान और श्रुतज्ञानको स्वात्मानुभूतिके समय समक्ष हुए की तरह प्रत्यक्ष ज्ञान माना जाना चाहिए ।

अनेको दार्शनिक सन्निकर्प, कारकसाकल्य आदि अज्ञानरूपोको प्रमाण मानत हैं उनके समाधानरूप ज्ञानमे ही प्रमाणत्व है, इसकी परख कर लीजिये–उक्त गाथामे यह बताया है कि अन्य वादियोके माने हुए प्रमाण के लक्षणमे दूषण आता है । उन्ही दूषणोको कुछ कुछ स्पष्ट करने के लिए क्रमश कुछ वर्णन किया जा रहा है । किसी भी प्रकार ज्ञानको छोडकर अन्य किसी भी लक्षणमे प्रमाणता आ नही सकता, कारण उसका यह है कि ज्ञान यदि नही है तो जड अचेतन कर्ण आदिकका कौन प्रमाण समझ लेगा ? प्रमाण का फल है तब अज्ञानको निवृत्ति होना, अर्थात् प्रभा जो जानकारी है, जिसमे अज्ञान नही रहा,

वही तो प्रमाणका फल है और उसका कारण है वह भी अज्ञाननिवृत्तिका रूप होना चाहिए याने अज्ञान दूर करना तो फल है और अज्ञान दूर करनेका जो कुछ भी साधन होगा वह भी ज्ञानरूप ही होगा। जड पदार्थ प्रमेय भले ही है मगर वह कभी प्रमाण नही हो सकता। प्रमाण वही हो सकता याने अज्ञान की निवृत्ति वही कर सकता जो स्वय ज्ञानरूप हो गया। अपने आपको तो जानने वाला हो, वही परका ज्ञाता हो सकता है, किन्तु जो स्वय अज्ञानरूप है वह किसी भी प्रकार परका जाननहार नही बन सकता। ऊपर जो अन्य वादियोने प्रमाण के लक्षण किये हैं और वहा बताया है कि जो प्रमाणका करण हो सो प्रमाण है और प्रमाणका जो करण माना है वह सब जड माना है, इन्द्रिय है, प्रकाश है ये सब माने गये हैं प्रमाणरूप। हैं ये जड। तो जो जड है स्वय अपने को नही पहिचान सकता है वह प्रमाण किस तरह हो जायगा ? तो इन्द्रिय आदिक जो प्रमाणके करण माने हैं ज्ञानहीन,वे प्रमाण नही हैं, किन्तु प्रमाण ज्ञानस्वरूप हो सकता है।

प्रमाणके विषयका एक उदाहरणमे दिग्दर्शन कीजिये–अब इस गाथामें प्रमाणपक्ष की बात कही जा रही है। प्रमाणकी कुंजी अभिज्ञानपद्धति है अर्थात् द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक नय दोनोके विषयमे अविरुद्ध रूपसे सजो देना प्रमाणका विषय है। इस गाथामे कह रहे है कि जो वस्तु स्वरूपाभाव से नास्तिरूप है और जो स्वरूप सद्भावसे अस्तिरूप है वही वस्तु विकल्पातीत है। ऐसा यहा अभिज्ञानपूर्वक जो परिचय हुआ है वह सब प्रमाणपक्ष है। उक्त तीन गाथाओमे तीन पक्ष बताये गये थे। एक तो बताया गया था स्वरूप सद्भावसे अस्ति होना, अस्तिनयकी प्रधानतामे यह विषय कहा गया था, यह भी वस्तुका धर्म है। दूसरे–नास्तिनय पक्षमे यह कहा गया था कि स्वरूपाभावमे वस्तु नास्तिरूप है, जिसकी अविवक्षा हो गयी, उस अविवक्षामे वहा नास्तित्व है। तब तीसरी गाथामे द्रव्यार्थिकनयकी दृष्टिमे वस्तुको विकल्पातीत कहा गया है। अर्थात् स्वरूपमे अस्ति है इतना भी कथन विकल्परूप है, भेदरूप है, पर द्रव्यार्थिकनय अभेदको विषय करता है अतएव वह विकल्पातीत ही वस्तु है, इसका समर्थन करते है। अब इस गाथामे तीन नयपक्षोका अविरोधरूपसे परिचय किया गया है। जो वस्तु स्वरूप भावसे नास्तिरूप है, स्वरूप सद्भावसे अस्तिरूप है वही वस्तु विकल्पातीत है। यो उक्त तीन नय पक्षोका अविरुद्ध रूपसे एक वस्तुमें थापना यह प्रमाण पक्ष कहलाता है। यहा मुख्यतया यह बात जानना कि व्यवहारपक्ष और निश्चयपक्ष दो की बात बताकर फिर प्रमाण पक्षसे स्थापना की गई है। बाकी व्यवहारपक्ष नाना प्रकार का होता है तो उस व्यवहारपक्षको यहा सक्षेपमे केवल दो दो भागोमे ही बताया गया है। जैसे एक अनेक पक्षमे पर्यायविशिष्ट अनेक पर्यायार्थिकनय और एक पर्यायार्थिकनय। ये दोनो ही व्यवहारनय हुए, फिर निश्चयनयको शुद्ध द्रव्यार्थिकनयके रूपमे कहा फिर इन दोनो नयोने अविरोध रूपसे एक वस्तुमे सद्भाव बताया इसी तरह व्यवहारनयका दो भागोमे अस्तिनास्तिके सन्दर्भ मे प्रकट दिया। अस्तिनय नास्तिनयसे दोनो व्यवहारनय है और द्रव्यार्थिकनयमे विकल्पातीत वस्तु है। इन दोनो नयोका जोड करके इस गाथामे प्रमाणपक्षकी बात कही गई है।

(२८५–२८६) पञ्चाध्यायी प्रवचन ९, १० भाग

इसमें पचाध्यायी उत्तरार्द्ध के ३७० छन्दो पर पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराज के प्रवचन हैं। पूर्वार्द्ध मे वस्तुका सामान्यरूप से स्वरूपसिद्ध किया है। अब विशेषरूपसे वस्तुका व उसमे भी प्रधानतया आत्मपदार्थका स्वरूप बताया जा रहा है। सामान्यद्रव्यके दो भेद जीव व अजीव बताकर जीव द्रव्यकी निर्दोष हेतुमे सिद्धि की जा रही है। देखिये ६ वें छन्दके एक प्रवचनाशमे–जीव है स्वसम्वेदन प्रत्यक्ष होने से, यह अनुमान प्रयोग उक्त श्लोकमे बताया गया है। उसके अनुसार इस अनुमानसे जीव तत्त्वको सिद्धि होती है। इस

अनुमानमें हेतु तो बताया गया है स्वसम्वेदन प्रत्यक्ष और साध्य यह बताया गया है कि जीव है। तो जहा हेतु पाया जाय और साध्य पाया जाय वह तो है अन्वय व्याप्ति, जहा साध्य न पाया जाय तो साधन भी न पाया जाय, यह है व्यतिरेकव्याप्ति। व्यतिरेक व्याप्ति अन्वयव्याप्तिसे भी पुष्ट है। यहा व्यतिरेक व्याप्ति द्वारा जीवके अस्तित्वकी सिद्धि की गई है।

जीव शुद्धनयादेशसे एकविध ही है, फिर भी पर्यायदृष्टिसे उसके भेद हैं, देखिये ३३ वें छन्दके एक प्रवचनांशमें—शुद्धनयकी अपेक्षासे यह जीव शुद्धस्वरूप है, एकरूप है। जैसे शुद्धनयकी दृष्टिमें केवल एक परअपेक्षारहित, परउपाधिरहित, स्वरूपमात्र द्रव्य देखा जाता है तो शुद्धनयकी दृष्टिमे यह जीव द्रव्य शुद्ध स्वरूप है, अर्थात् जो जीवमे स्वभाव है उस स्वभावरूप है। स्वभाव विकार के लिए नही होता, स्वभाव किसी विडम्बनाके लिए नही होता, बल्कि स्वभावमे स्वभाव ही दृष्टगत होता है, परिणतिको भी वहा उपेक्षा रहती है, अथवा परिणतिपर भी वहा दृष्टि नही है। ऐसी शुद्धनयकी दृष्टिमें यह जीव शुद्धस्वरूप है। एक रूप है, उसमे भेद कल्पना नही होती, और तभी इस दृष्टिमे जितने भी जीव हैं वे सब एक समान है। इसी एक समानको एक कह दिया है अन्य दार्शनिकोने, क्योंकि समान अर्थ में भी एक शब्दका प्रयोग होता है, ऐसी व्याकरण और शब्दकोषकी विधि है। तो यो यह जीव द्रव्य एक रूप है फिर भी पर्यायदृष्टि से देखा जाय तो जीवकी समस्त पर्यायोको सक्षेप करके बताया जा रहा है कि जीव दो प्रकार के है—मुक्तजीव और अमुक्तजीव। जो जीव कर्मबन्धनसे छूट गये हैं, विकार भावोसे छूट गये है, जो जीव पूर्ण शान्त हैं, आनन्दमय हैं, केवल उस ही स्वरूपमात्र है वे तो मुक्त कहलाते हैं और जो जीव कर्मबन्धनसे मुक्त है, शरीरादिकका सयोग है, सम्बन्धमे है उन्हे कहते है अमुक्तजीव। निश्चय और व्यवहारका विषय क्या है? निश्चयका विषय है स्व, व्यवहारका विषय है पराश्रितभाव। निश्चयनय एक वस्तुको एक मे ही निरखता है और उसका स्वभाव भावको ही ग्रहण करता है व्यवहारनय अशुद्ध अवस्थाको परसयोगको जो सभी अशुद्ध अवस्थामे सम्मिलित हो गये है उनका ग्रहण करता है परनिमित्तसे होन वाले जो भाव है औपाधिकभाव, नैमित्तिकभाव, उनको ग्रहण करन वाला व्यवहारनय है। तो निश्चयनयकी दृष्टिमे तो किसी प्रकार का भेद नही है। ससारी और मुक्त सभी जीवो को एक रूप निरखा निश्चयदृष्टिने तो वहा ससारी और मुक्तका भेद क्या दृष्टिमे नही पडा है? केवल स्वरूप इस दृष्टिमे है और उस स्वरूपदृष्टिसे जीव एक रूप है, किन्तु व्यवहारनयसे जीव दो रूप हो गया है—एक ससारी, दूसरा मुक्त। जो उपाधिसहित आत्मा है वह ससारी है, जो निरुपाधि आत्मा है वह मुक्त कहलाता है। यो अब प्रथम परिच्छेदमे एक द्रव्यके स्वरूपका वर्णन किया था, अब इस परिच्छेदमे जीवद्रव्यकी प्रमुखतासे वर्णन चल रहा है। द्रव्यमे जीवके स्वरूपका अवधारण किया और निश्चयदृष्टिसे, स्वरूपकी दृष्टिसे जीव एक ही प्रकार का है। अब व्यवहारनयके आलम्बनसे उस जीव के भेदोका विवरण चल रहा है। तो प्रथम ही प्रथम जीवमे क्या भेद दृष्टगत हुए? तो ये भेद दृष्टगत् हुए—कोई जीव ससारी है और कोई मुक्त है।

जीवके अशुद्ध व बद्ध होनेका कारण है वैभाविकी शक्तिका विकार। वैभाविकी शक्ति की दो अवस्थायें होती है—१—विकृत, २—स्वाभाविक। दोनों दशाये एक साथ नही हो सकती, इसका परिचय कीजिये ९३ वें छन्दके एक प्रवचनांशमे—अब इस प्रसगका निष्कर्ष बतान के लिए यह अन्तिम गाथा कही जा रही है। यद्यपि एक शक्तिके ही दो भेद हैं, यानि वह एक वैभाविकी शक्ति दो रूपोको धारण करती है, परन्तु उस एक शक्तिके ये दो भेद एक साथ नही हो सकते। यदि स्वाभाविक और वैभाविक दोनो अवस्थाओको एक साथ मान लिया जाता तो उसका अर्थ यहा तो स्पष्ट हुआ कि वैभाविक अवस्था भी सदा बनी रहेगी और जब वैभाविकी अवस्था सदा ही गयी तब मोक्षका पुरुषार्थ करना व्यर्थ है, क्योंकि विभाव

परिणमन तो सदा ही रहेगा और मान लो किसी कल्पनामे किसी प्रयास द्वारा कुछ थोडा सा मोक्ष बना लिया तो अब उस मोक्षका मूल्य क्या है? स्वभाविक परिणति तो सदा रहती है और मोक्ष भी वह क्या है? एक थोडा कम राग हुआ और वैकुण्ठ जैसे नामसे मुक्ति मान लिया, लेकिन वह वैकुण्ठ एक नवग्रैवेयक जैसी स्थिति रही जहा शुक्ल-लेश्या है, कुछ शान्त स्थितिमे रहना है, लेकिन वहासे भी तो जीवको मरण करना होता है, नया भव धारण करना होता है। यदि वैकुण्ठ स्थिति भी सदा रही आये तो मोक्ष कुछ चीज न रहेगा और मोक्षके लिए प्रयास करना व्यर्थ हो जायगा। इस कारण यही सिद्धान्त मान लेना चाहिए कि जीवमे एक वैभाविकी शक्ति नामका गुण है और उसकी उपाधिके सद्भावमे तथा उपाधिके अभावमे दो प्रकार के परिणमन होते हैं। उपाधिसन्निधिमे तो विभाव परिणमन होता है और उपाधि के अभाव मे स्वभाव परिणमन होता है। ये दोनो परिणमन एक काल मे नही हो सकते।

जीवमे बद्धताकी अविनाभाविकी अशुद्धता देखिये ११२ वें छन्दके प्रवचनांशमे-जीव बद्ध है, यह बात इस प्रसगमे कैसे जोडी जा रही है? तो यहा यह भी समझना चाहिए कि आत्मा की जहा बद्धता है उसी समय वहा अशुद्धता भी है। बद्धता और अशुद्धता इन दोनोका परस्पर अविनाभाव है, ऐसा नही है कि आत्मा अशुद्ध तो नही है और बद्ध है, और यहभी नही है कि आत्मा बद्ध तो नही है और अशुद्ध है। आत्मामे बद्धता और अशुद्धता दोनो का सम्बन्ध है और उस अशुद्धताका लक्षण यह बन रहा है कि आत्मा तो स्वय अद्वैत है, एक है, एकस्वरूप है, किन्तु वह अन्य पदार्थ के निमित्तसे द्वैतरूप हो जाता है। इस श्लोकमे यह बात कही जा रही है कि जिस समय आत्मा कर्मो से बद्ध है उसी समय अशुद्ध भी है। यदि अशुद्धता न हो तो बद्धता हो ही नही सकती और बद्धता न हो तो अशुद्धता भी नही हो सकती। इनमे ऐसा परस्पर अविनाभाव है, अब स्वभाव दृष्टिसे देखते हैं तो इनमे परस्पर मेल नही बैठता। जीव तो चैतन्यस्वरूप है, पुद्गल कर्म जड है, इनका आपसमे कोई मेल नही बन रहा है और ये अपने आपमे अद्वैत है, एक है, पृथक् है, अपने अपने स्वरूपको रखने वाले है, फिर भी पर पदार्थ का निमित्त पाकर जो अशुद्धता जीव मे बन रही है बस इसी से यह आत्मा द्वैतरूप बन रहा है। नाना स्वभावरूप बन रहा है। आत्मा की अशुद्धता और बद्धता को सिद्ध करने के लिए अधिक क्या प्रयास करना? अपने आपकी जो स्वय की आज स्थिति है इसी स्थिति से जाना जा सकता है कि आत्मा अशुद्ध है और बद्ध है और यह बना कबसे? तो यह भी विदित हो जाता कि यह परम्परा अनादिसे चली आ रही है, क्योकि इसमे कुछ एक न मानने तो दूसरी भी बात नही बनती। मानलो इसमे कर्मबध न था तो अशुद्धता कैसे आयी? आत्मा अशुद्ध न था तो कर्मबद्धता कैसे आयी? कोई वजह नही है कि इसमे एकके बिना दूसरी बात आ सके। इससे सिद्ध है कि अशुद्धता और बद्धताकी परम्परा अनादि से चली आयी है।

सप्ततत्त्वके जो सात तत्त्वोके रूपमे भेद किये जाते हैं वे व्यवहारनयसे हैं, परमार्थसे नही हैं, परमार्थदृष्टि ही लाभकारी है। इतने पर भी व्यवहारनयकी उपयोगिता है, इसका दिग्दर्शन कीजिये १३७ वें छन्दके एक प्रवचनांशमें-अब यहा व्यवहारके लाभकारी होने को भी बात समझियेगा। मोक्ष है, सम्वर है, निर्जरा है, उपाय है, क्या ये लाभकारी नहीं है? और हैं व्यवहारनयके विषय, तो कैसे कह दिया जाय कि व्यवहारनय लाभकारी नही है? व्यवहार लाभकारी नही है, इसका अर्थ यह लगाओ कि हमे चाहिए अखण्ड वस्तुकी दृष्टि, जिसके आश्रय से हम विकल्प, कषायबन्धनसे मुक्त हो और हममे निर्मल पर्याय ही परिणमती रहे। इसके लिए हमें विकल्प वाला विषय न चाहिए। हमे चाहिए निर्विकल्प अखण्ड दृष्टि।

तो निर्विकल्प अखण्ड तत्त्वकी दृष्टिमे तो समर्थ शुद्धनय है। तो उस काम के लिए व्यवहार लाभकारी नही है इतना हर जगह अर्थ लपेटता जाय, हर जगह घटाता जाय तो वह सन्मार्ग पर न चल सकेगा। तो जिस अनुभवके लिए व्यवहारनय अयथार्थ है, लाभकारी नही है उसका तथ्य समझे। तिस पर भी न्यायबलसे व्यवहारको मानना ही पडेगा। और, भी सुनो–कोई पुरुष ऐसा आग्रह करे कि हम तो व्यवहारनयको छुयेंगे ही नही, यो ही उस अखण्ड चैतन्यस्वरूपका भान कर लेंगे तो यह न हो पायगा। अरे पडा तो है वह अभी जन्ममरणके चक्र मे, शरीरके बन्धन मे है, अनेक प्रकार के विकल्पोमे पडा है, पर कहता है कि हम बिना व्यवहारका आश्रय लिए ही उस अखण्ड चैतन्यस्वरूपका दर्शन कर लेंगे तो यह कहना उसका ठीक नही। यदि ऐसा व्यक्ति कोई हो तो दिखाओ। जो आज अखण्ड तत्त्वकी यथार्थता बताकर व्यवहारनयको सर्वथा अयथार्थ बता रहे है और दूसरोका व्यवहार पहिले से हो छुडा देने का प्रयास कर रहे है, उन्होने स्वय व्यवहारका आलम्बन लेकर, व्यवहारसे काम निकाल कर ऐसी अखण्ड दृष्टि पायी होगी। तो व्यवहारके बिना तो निश्चयका दिग्दर्शन न हो सकेगा। इस कारण व्यवहारनय भी श्रेयकी तरह न्यायके बलसे प्राप्त होता है।

परमार्थ आत्मा अखण्ड है, फिर भी जो ९ भेद किये हैं उन भेदोके निष्पन्न होने का कारण क्या है, देखिये १३९ वें छन्दका एक प्रवचनांश–जीवकी शुद्धता और अशुद्धताके प्रकरणमे कहा जा रहा है कि नवपदार्थ पर्यायधर्मा है और इन भेदोका कारण उपाधि है। यहा शुद्धता का अर्थ लेना है निर्विकल्प, अखण्ड एक केवल आत्मद्रव्य और अशुद्धताका अर्थ लेना है जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, सम्वर, निर्जरा, मोक्ष इन रूपोमे देखा गया जीव पदार्थ। तो इस तरह से जो ये ९ पदार्थ हैं ये पर्यायधर्मा हैं। ये ९ पदार्थ जीवका पर्याये हैं। और, यहा उपरक्ति (उपाधि) लगी हुई है जिसके कारण यह ९ पदार्थोका भेद पडा है, परन्तु यह उपाधि पर्यायमात्रता नही कहलाती। अर्थात् उपाधि एक विशिष्टता है, किन्तु यह पर्यायमात्र नही कही जा सकती। यहा मूल पर्यायपर दृष्टि दिलाई गई है। पदार्थ की पर्याय अगुरुलघुत्व गुण के निमित्तसे अर्थात् स्वय के ही कारण जो षट्गुणहानिवृद्धि है वह पर्याय है। पदार्थ मे पदार्थ के ही स्वभावसे निरखा जाय तो पदार्थमे निरन्तर परिणमन हो क्या रहा है वह है अर्थपर्याय। उस अर्थपर्याय मे कोई भेद नही पडा हुआ है। वह भेदरहित है। जैसे धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाश द्रव्य, कालद्रव्यमे अर्थपर्याय निरन्तर चलती रहती है तो उसमे हम कोई भेद समझ पाते है क्या? वहा कोई भेद व्यक्त नही है। वहा विभाव गुण व्यंजनपर्याय नही, स्वभावगुणव्यंजनपर्याय व्यक्त हो रही, सो वह होते हुए भी वह व्यंजनपर्याय वहा तो अर्थपर्यायके अनुकूल है और उसमे अन्तर्लीन है। तो पर्याय तो वास्तविक अर्थपर्याय है। जो पदार्थ के स्वभावसे पदार्थ मे निरन्तर रहती है। उसे कहेंगे पर्यायमात्रता। तो पर्यायमात्रता उपाधिमे नही है। उपाधिके भेदमे नही है। उसे तो स्वतन्त्रतया निरपेक्ष एक द्रव्य मे ही निरखा जाय तो उसका परिचय होता है। इससे यह भी सिद्ध है कि जीव अजीव आदिक ९ पदार्थ उपाधिरूप हैं, सम्बन्धपर हुए ख्याल विकल्पके कारण ये उत्पन्न हुए हैं।

जीवादिक नव पदार्थोका स्वरूप निरखिये १५१ वे छन्दके एक प्रवचनांशमे–उन पदार्थोको इस तरह निहारना कि अखण्ड चिदात्मक जीवको तोडकर जो बुद्धिमे आया वह थाप दिया, और ऐसी बुद्धि कर के थापा कि जिस जीवके सम्बन्धमे ये आश्रव बन्ध आदिक पर्याय कही जायेगी, ऐसा ख्यालमे लाया हुआ वह जीव पदार्थ जीव है, और उस ही जीवमे ज्ञान धर्म मे अतिरिक्त जो भाव निरखे जा रहे है उन भावोकी दृष्टिसे जो इसे देखा है तो वह हो गया अजीव। अर्थात् उस ही जीवको अजीव कह रहे कही पुद्गल का बात नही कह रहे है, नही तो जीवकी ये ९ अवस्थाये कैसे बनेंगी? तो जीवम

जो रागद्वेष, क्रोध मान, आदिक भाव पाये गए अथवा आचार्यो ने तो यहा तक कहा कि प्रमेयत्व आदिक धर्मकी दृष्टिसे ता वह अचेतन है और ज्ञानदृष्टिसे वह चेतन है। तो उस ही एक जीव पदार्थमे दृष्टि लगाकर जो ज्ञानातिरिक्त धर्म हैं उन धर्मो कीप्रधानता करके जबनिरखा तो वह कहलाया अजीव। अब जीवमे जो अजीवका, विभावका, रागादिकका जो आना हो रहा तो आना क्या जीवसे पृथक् चीज है ? क्या राग दूसरी जगह से आ रहा है ? यहा आने का अर्थ कोई कदम रखकर चलने की बात है। वह तो जीव है और जीवमे आश्रवभाव की निष्पत्ति हो रही है, बस उसके श्रोतका नाम आश्रव है। आश्रवका सही अर्थ आगमन नही है। आश्रवका अर्थ है चूना, सुत होना। स्रवण होना, आत्माके सर्व प्रदेशोसे झिरना इसका नाम है आश्रव। जैसे पहाड से पानी झिरा, चुआ और ऐसा भी चूना मत देखे कि जहा एक मोटी धार निकल रही हो, किन्तु जहा से बूद बूद भी चूता है। तो जैसे ऐसा चूना कितने स्थानोसे हो रहा ? बहुत क्षेत्रोसे। यो ही आत्माके सर्व प्रदेशोमे से जो भी आश्रव भाव निकला यह हुआ स्रवण, चूना। स्रवणका हम पहिले से नही परख सकते कि कहा से आया ? गमनको तो हम अलग से जान लेगे कि यह आया, यहा से आया। और, आने मे तो क्षेत्रभेद भी है। कहा से आये, कहा आये। उधर से आये, इधर आये, लेकिन स्रवण मे यहा क्षेत्रभेद नही है। चुवा, वहा से चुवा। यही से निकला। तो इसी कारण यहा आगमन अर्थ नही कहा। आस्रवका अर्थ आगमन स्थूल-रूपमे कह देते है, किन्तु अर्थ है आत्माके सर्व प्रदेशोसे झिरना, इसका नाम है आश्रव। तो भी आश्रव क्या अलग वस्तु है ? वह जीव पदार्थ ही तो है। सम्वर-आश्रवका रुकना सो सम्वर। आत्मामे जो रागादिक भाव झिरते थे उनका झिरना बन्द हो गया, अब झिर नही सकते। यहा उनका उपशम नही हुआ (दवाया नही गया) किन्तु ऐसा ही कुछ हो गया कि जिससे झिरने का नाम न रहे, सूख गया। भीतर भी गीला न रहा। जिनका सम्वर हुआ है उनका गीलापन भीतर भी नही है। पूरी तरह से उसका निरोध है। भले ही कुछ बद्ध प्रकृतिया सत्तामे स्थित है, किन्तु नवीन नही आते। तो ऐसा जो सम्वर है वह क्या अन्य वस्तु है ? वह भी जीव ही तो है। बन्ध-जो झिरना हो रहा था, जो जीवमे विभाव आये वे विभाव आये तब कहलाये जबकि एक समय में ही आना और जाना हो गया। वे वहा ठहरे नहीं। वह तो कहलाया स्रवण, लेकिन दूसरे समय भी अगर ठहर गये तो वह हो गया बन्ध। दूसरे समय ठहर जाने पर भी बन्ध कहलायगा पहिले ही समयसे, क्योकि पहिले समय मे क्या स्पर्श न था ? तो ऐसा जीवमे विभावोका बन्धन है यह बन्धन भी जीववस्तु ही ता है, अन्य कोई नही। निर्जरा-जो जीवमे यह विभाव बन्धन होता है, यह सस्कार चल रहा है। सस्कार ही खतम हो जाय उसको कहते हैं निर्जरा। जो विकार हैं वे झड़ें इसका नाम है निजरा। तो ऐसे जो विकार झडते हैं उस झडनेकी स्थितिमे जो जीवका परिणमन है वह क्या जीववस्तु नही है ? मोक्ष-जीवका विकारोसे बिल्कुल हट जाना, पूर्ण निर्विकार हो जाना, ऐसी जो विकारोसे रहित अवस्था बतायी गई है वह क्या जीव नही है ? शुभ अशुभ भाव ही पुण्य पाप है। ये भी जीव ही तो है। तो जीवके विशेषमे ही ये ९ पदार्थ होते है।

नव पदार्थ अभूतार्थनयसे कहे गये हैं, फिर भी देखिये नव पदार्थोके प्रतिपादनका प्रयोजन, १७८ वें छन्द के एक प्रवचनांशमे-इस श्लोकमे यह कहा जा रहा है कि ९ पदार्थो के कहने का प्रयोजन यह है कि यदि ९ पदार्थो को न माना जाय तो ९ पदार्थो से परे शुद्ध जीवका भी कभी अनुभव नही हो सकता। ठीक ही है, अशुद्धता स्वीकार किए बिना शुद्ध जीव भी सिद्ध नही होता, क्योकि उस शुद्धताका साधन है अशुद्धताका अर्थात् अशुद्धमे रह रहा है विशेष, तो उसका कुछ होता ही है। विशेषको न माना जाय तो वह सामान्य शुद्ध जीवत्व भी नही ठहर सकता। इसे यो समझिये कि जैसे कोई पुरुष जीवको तो माने,

पर नारक, तिर्यन्च, मनुष्य, देव और सिद्ध इन ५ को न माने, ये ५ असत्य हैं, हैं ही नही ऐसा स्वीकार करने का आग्रह करे तो उनके लिए फिर जीव कहा बताया जायगा ? इस कारण ये ५ विशेष है। इन विषयोमे अलग रहकर जीव रह नही सकता। क्या कोई जीव ऐसा मिलेगा कि जो नारकी, तिर्यन्च, मनुष्य, देव या सिद्ध किसी मे भी न मिले ? तो ५ से अतिरिक्त कोई जीव नही है, फिर भी ५ की दृष्टि न रखे और केवल उस एक शुद्ध जीवको जाने तो जाना जा सकता है। उपयोग द्वारा इन ५ का उल्लघन करके शुद्ध जीवको जाना जा सकता है, लेकिन ये ५ हैं ही नही, ऐसा कोई आग्रह करे तो वहा गति नही हो सकती है। इसी प्रकार जीवके ये ९ पदार्थ विशेष बताये गये हैं। ये ९ पदार्थ हैं ही नही, ऐसा कोई आग्रह करे तो फिर जीवको कहा बताया जायगा ? तो प्रयोजन रखता है ९ पदार्थों का कथन, इस कारण ९ पदार्थो का प्रतिपादन करना सगत है। इन्हें अवाच्य न कहा जायगा। दूसरा कोई शुद्ध पर्याय मे जीवको निरखनेकी बात समझना चाहे तो ऐसी शुद्धता भी अशुद्धताके बिना नही हो सकती है इसलिए भी अशुद्धका कथन प्रयोजनवान होता है।

ज्ञानचेतनाका स्वरूप देखिये, १९७ वें छदक प्रवचनमे—जिस समय आत्मा का ज्ञानगुण एक सम्यक अवस्थाको प्राप्त होता है याने जिस ज्ञानके साथ विकार नही रहते, ज्ञान जिस आधारमें है उस आधार मे भी विकार के विकल्प नही होते, ऐसा जब ज्ञान सम्यक अवस्थाको प्राप्त होता है तो वहा आत्मा की उपलब्धि है और ऐसा शुद्ध केवल आत्माकी उपलब्धिरूप जो अवस्था है उस ही का नाम ज्ञान चेतना है। मैं ज्ञानमात्र हू इस प्रकार का जो चेतन है उसे ज्ञानचेतना कहते हैं। करना भोगना क्या ? करने भोगनेकी प्रकृति मनुष्योमे है और करने भोगने से ये बडे परिचित हुए हैं, तो करने भोगने के रूपमे ही परिचय कराने का यत्न किया है। पर वस्तुमे करना क्या और भोगना क्या ? है और होता है। जब पदार्थ है तो प्रतिक्षण उसकी पर्यायें होती हैं। इसमें करनेकी क्या बात आयी ? और भोगनेकी क्या बात आयी ? लेकिन यह जीव इसी ज्ञानकी किसी विकला के बलपर यह करने भोगने जैसी बात समझ रहा था तो उसी समझ के द्वारा यहा के करने भोगने के विकल्पको मेटना है। जब यह कहा जाता कि यह आत्मा ज्ञानको करता है और ज्ञानको ही भोगता है, इस तरह से यहा चेतना करना है, पर इसको चेतनेमें यह विकल्प नही पडा है कि मैं ज्ञानका करता हू, व ज्ञानको भोगता हू। ज्ञान है, होता है यही उसकी एक चेतना है। तो वहा ज्ञान ज्ञानमे रहता है और ज्ञानका जानन बना रहता है, यही ज्ञानका जानन है। इसमे शुद्ध आत्माकी उपलब्धि है, न भोगता है, न विकार है, न मुक्तिकी चर्चा है। केवल आत्माके सत्त्वके कारण स्वभावत. जो है वह अनुभवमे है। इसी को कहते हैं ज्ञानचेतना। ज्ञानके अतिरिक्त अन्य भावमे किसी प्रकार का चेतना नही है। यो प्रतिषेध द्वारा भी ज्ञानचेतना का स्वरूप जाना जाता है और भेददृष्टिमे यह ज्ञानको ही करता है और ज्ञानको ही भोगता है और ज्ञानमे ही इस तरह का सचेतन है। इसे कहते हैं ज्ञानचेतना।

हितमार्गकी स्पष्ट झाकी देखिये २१२ वें छन्दके एक प्रवचनाशमे—मार्ग कितना स्पष्ट है कि अपने को शुद्ध चित्स्वरूपसे अतिरिक्त किन्ही भावमय मानलें तो कर्म बधन रहेंगे और उन सर्व परभावोमे विविक्त अपने ही सत्त्वके कारण जो अपना सहजस्वरूप है ऐसा शुद्ध चिन्मात्र, ज्ञानमात्र अपनी प्रतीति रहेगा तो कर्मबन्ध न होगा। अब इतना करने के लिए दूषित सस्कार वाले जीवको जिसका सस्कार अनादि से चला आ रहा है उसको तो बहुत पौरुष करना पडेगा। सत्सगतिमे रहना, ऐसा ही आत्मार्थी सतोमे चिरकाल सग रहना और ऐसे विविक्त एकान्त शान्त वातावरणमे रहना कि जहां उस शुद्ध [illegible] को [illegible] मे [illegible] जा सके, ऐसा [illegible] बनाने के लिए बहुत पौरुष करना होगा पर [illegible]

ध्यानमे रखना है कि अपने को चैतन्य शक्ति भावके अतिरिक्त अन्य भावरूप माननेमे चू कि वह सविकल्पताको स्थिति हुई, वहकर्मबन्ध है और एक मात्र चैतन्यस्वरूप ज्ञानमात्र, एक सामान्य-प्रतिभासमात्र, जाननमात्र जिसे सीधा गुण रूपसे न देख सके तो शुद्ध कार्य रूपसे देखे, क्योंकि शुद्ध कार्य की और गुण की एकता है अभेद है। तो उस द्वार से भी हम शुद्ध स्वरूपका अनुभव कर सकते हैं। मैं ज्ञानमात्र हू, सहज ज्ञानमात्र हू, ऐसे चिन्तनमे अगर दिक्कत आती है तो उसके विशुद्ध कार्य कार्य रूपसे चिन्तन करें, मैं सामान्यप्रतिभासमात्र हू, केवल एक जाननहार हू, इस तरह से जब अपने को सामान्यमे पहिचाना जाता है तब वहा ज्ञानचेतनाकी जागृति होती है। लोकमे तो तारीफ विशेषका हुआ करती है। यह पुरुष बहुत विशिष्ट है, इसमे ऐमी ऐसी विशेषतायें हैं, ऐसा बखान करके लोकमे उसकी तारीफ करते हैं और लाग उस विशेषको बडा आदर देते हैं, किन्तु अध्यात्म मार्गमे आत्मोन्नतिके मार्ग मे, आत्माको वास्तविक महान बना लेने के मार्ग मे, विशेषका महत्त्व नही दिया, किन्तु सामान्य का महत्व है, इस सामान्यपर लक्ष्य दें, इस सामान्यकी महिमा जानें, इस सामान्यसे रुचि लगावे, इस ही सामान्य आत्मद्रव्यका आलम्बन लें, यह आस्था, प्रतीति, आदर, आलम्बन, दृष्टि, लक्ष्य सब सामान्यका बताया जा रहा है। इस अध्यात्ममार्ग मे सामान्यका महत्त्व है, बल्कि विशेषका आलम्बन महिती अशुद्धोपलब्धि है। ये कर्मबन्धके कारण हैं, अशान्तिके कारण हैं, जन्ममरणरूप ससार परम्पराके कारण है, ऐसा बता कर विशेषको अनादेय बताया गया है। ता हमारा कर्तव्य है कि हम अपने उपयोगको सामान्य स्थिति मे रखे। लाकमे भो इस सामान्य स्थितिको कभी कभी बडे आदरकी दृष्टिसे देखते हैं। जैसे कभी किसी शहरमे झगडा फसाद हो जाय, सारे नगरमे खलबलो मच जाय, पर कुछ समय बाद जब उस झगड़े पर कुछ काबू पा लिया जाना है, मामला शान्त हो जाता है तो अन्य जगहो का समाचार दिया जाता है कि अब नगरका सामान्य स्थिति है, याने अब झगडा फिसादकी कोई बात नही रही। तो ये लौकिक जन जब कुछ कुट पिट सा जाते है तब सामान्यका भी महत्त्व दे देते हैं। अगर कुटना पिटना न होता ता इस सामान्यका आदर कौन करता? तो सामान्य का आलम्बन अपने आपमे विशुद्ध गुण और कार्य का लक्ष्य यह जीवके लिए हितकारो है। इस ही मे ज्ञान चेतना की पुष्टि है।

स्वभावमे कम व कर्मफलका अभाव, मनन कीजिये २२३ वें छन्दक एक प्रवचनांशमे—जब अपने आपकी शुद्ध शक्ति पर दृष्टि की जाती है तो प्रतीत होता है कि मेरो शक्ति विकार के लिए नही है। मेरा स्वभाव तो अपने सहज स्वभावरूप परिणमनोका रख रहा है। तो मेरा विकार कार्य न बने, मैंने विकार को नहीं किया, किन्तु विकार हो गया, उसे भूमि मिलती है इस चेतना को। अ यत्र यो विकार नही होते। जैसे दर्पणमे सामने कोई चोज आयी तो छाया बन गई, तो दर्पणमे इस प्रकारका प्रतिबिम्ब हो जाना, ऐसा दर्पण अपनी स्वच्छतामे स्वभाव लिए हुए नही है। दपणमे छाया प्रतिबिम्ब हो रहा मगर जब सन्निधान उपाधि सामने आयी तब दपण प्रतिबिम्बित हुआ। दर्पणमे ऐसी योग्यता है कि उसमे प्रतिबिम्ब आ जाता है। कही भीट आदिकमे ता प्रतिबिम्ब नही आता। ता दपण प्रतिबिम्बित हो गया, इतने पर भी वह प्रतिबिम्ब इस दर्पणका नही है। हो गया ऐसा। तो भूमिका दर्पण की है फिर भी दर्पणकी ओर दर्पणकी शक्ति मात्रने किया नही है ऐसा। अगर शक्ति मात्र करतो होतो प्रतिबिम्बित तो फिर प्रतिबिम्ब सदा सदा रहना चाहिए था। इसी प्रकार ये विकार मुझमे हुए हैं कर्मविपाक आया है, उदय आया है, विकार हुआ है, उस विकार की भूमिका मात्र होने पर मैंने इस शक्तिमे विकार किया नही। ये विकार और जगह उछल नही सकते, क्योंकि विकार की भूमिका अचेतनमे नही मिल पाती है। तो हुए हैं विकार, लेकिन इन्हे मैंने किया नहीं, ज्ञानीका ऐसा सचेतन होता है। मैं हू शक्तिमात्र, स्वभावमात्र, तो स्वभावसे, शक्तिसे स्वय जो कुछ बना वह है मेरा कार्य। तो ज्ञानी पुरुषको ज्ञानके

अतिरिक्त अन्य भावोमे अथवा पर पदार्थ मे करने की बुद्धि नही होती। इसी प्रकार ज्ञानी पुरुषके कर्म-फलके भोगने की भी बुद्धि नही होती। जैसे उसकी शुद्ध शक्ति मे, केवल शक्तिमे निरपेक्षतया यह सामर्थ्य नही है कि मैं विकारोको करलू, इसी प्रकार मेरी शुद्ध शक्तिमें, स्वभावमे यह सामर्थ्य नही है कि मैं क्षोभको भोगलू, पर जैसे विकार आते हैं और मेरी भूमिका यह आत्मा बनती है ऐसे ही ये सुख दु.खके भाव आते हैं और मेरी भूमिका यह आत्मा बन जाती है। ज्ञानी पुरुषने अपने आपके अन्त ऐसा प्रकाश पाया है कि ये सारे औपाधिक भाव मेरे लिए बोझ लगते है और उनके भोगने की भीतर बुद्धि नही जगती है, तो ऐसी चेतना जहा नही है और कर्मफल मे भोगने की बुद्धि चल रही है-मैं भोगता हू, मैं कैसा महान हू, मुझे कितना आराम है, कैसा सुख है, कैसा मेरा महत्व है, मेरी कैसी इज्जत है, इस प्रकार से अपने को परिणमन रूप भोगने का परिणाम मिथ्या दृष्टि जीव के होता है।

सम्यक्त्व और ज्ञानचेतनाकी शुद्धोपलब्धिके साथ अविनाभाविका परखिये २२७ वें छन्दके एक प्रवचनाशमे-उक्त विवेचनका साराश दूसरा यह भी है कि जब तक आत्माकी शुद्धोपलब्धि है तब तक सम्यक्त्व है और तब तक ही ज्ञानचेतना है। सम्यक्त्व होने पर भी कभी किया भूल होने इनका सम्यक्त्व नष्ट हो जाता है। मिथ्यात्वमे आ जाता है। तो उस जीवके और उस ही भवमे सम्यक्त्व उत्पन्न होनेपर उसके ज्ञानचेतना नही रहती। सम्यक्त्व छूटा, इसकी पहिचान है कि शुद्ध की उपलब्धि नहीं रही। शुद्ध की उपलब्धि दो प्रकार से है-एक प्रतीतिके रूपसे, एक उपयोगके रूपमे। तो प्रतीति के रूपसे भी शुद्धका उपलब्धि न रही। मैं आत्मा सबसे निराला केवल एक शुद्ध चैतन्यस्वरूप हू, इस प्रकार की प्रतीति न रहे तो वहा शुद्धोपलब्धि नही रहती, और ऐसी शुद्धोपलब्धि होने पर भी उपयोगमे ९ पदार्थ आये या अन्य कुछ आये तो ऐसी स्थितिमे भी उपयोगमे बुद्धकी उपलब्धि नही है, फिर भी उसकी प्रतीतिमे शुद्ध की उपलब्धि है और भान भी उसे अपने आपको सबसे विविक्त चैतन्यस्वरूपको समझने का बना हुआ है। इस कारण से ज्ञानचतन है, सम्यक्त्व है, लेकिन जहा प्रतीतिसे ऐसी शुद्धोपलब्धि न रहेगी वहा न सम्यक्त्व रहेगा न ज्ञान चतना। यह दूसरा साराश भी उक्त प्रकरणसे निकला।

ससारी प्राणियोमे दु खकी निरन्तरताका कारण पहिचानिये २५४ वें छन्दके एक प्रवचनाशमे-कहा जा रहा है कि ससारमे दु ख ही है सो इतना नही कि कभी कभी दु ख मिले, बल्कि ये दु ख सदा बने रहा करते है। जब तक कर्म का सम्बन्ध है, कर्मका विपाक है तब तक किसी न किसी रूपमे दु खका सबध रहता है और मोहनीय कर्मका जहा तक उदय है वहा तक तो दु ख है ही, कितने ही अशमे हो। अब यो तो किसी के बुखार चढा हो, मानो १०३ डि० बुखार चढा है तब तो बुखार का पता अच्छी तरह से पड जाता है, पर यदि ८०, ८५ अथवा ९० डि० बुखार हो तब तो बुखार का पता नही पडता, परन्तु क्या इतने डिग्री बुखार होता नही है? होता तो जरूर है, पर उसका पता नही पडता, होता तो १, २, ३ आदिक डि० भी बुखार है, क्योकि अगर १, २, ३ डि० बुखार कुछ होता ही नही तो ये ९८, ९९, १०० डि० आदिक कहा से हो जाये? तो जैसे कुछ न कुछ बुखार रहने पर भी यहा हम आप उस बुखार का मोटे रूपसे भान नही करते इसी प्रकार ये मोही जीव मोहजन्य दु खसे पीडित भी होते रहते है फिर भी मोटे रूपसे उसका कुछ ध्यान नही देते। तो ये दु ख क्यो बन रहे हैं? इसका कारण यह है कि इन्द्रिय सम्बन्धी विषयोमे इस जीवकी लालसा लगी हुई है, तृष्णा लगी हुई है। जिसको तृष्णा है उसका तो सदा दु ख है। जैसे प्यासके दु खकी बात देखिये-थोडी प्यास लगी हो तो वह भी एक दु ख ही है और अधिक प्यास लगी हो तो वह भी एक दु ख ही है। भूखकी वेदनासे भी कठिन वेदना प्यास

की होती है। देखा होगा कि गर्मी के दिनोमें थोड़ी थोड़ी देरमे प्यास लगती रहती है। अभी पानी पिया, पेट बिल्कुल भरा है फिर भी प्यास सताने लगती। प्यासकी वेदनाके चार विभाग हैं–१–मदतर, २–मद, ३–तीव्रतर, ४–तीव्र, जबकि भूख की वेदनाके केवल दो ही विभाग हैं–१–मद और २–तीव्र। तो जैसे पेटमे जगह खाली न होने पर भी प्यासको वेदना सताने लगती है, तो दुख तो वहा है ही, चाहे थोडा ही दुख हो। प्यासकी वेदनाका दुख एक बार मिटा लेनें पर भी जैसे कुछ न कुछ बना ही रहा करता है इसी प्रकार तृष्णाको वेदनाका दुख है। जिसे तृष्णा है वह निरन्तर दुखी रहता है। तृष्णा करके चाहे कितना ही कुछ सग्रह करता जाय फिर भी वह कभी सन्तुष्ट नही हो पाता, निरन्तर दुखी रहता है।

चारित्रमोह व दर्शनमोहके प्रभावोकी विभिन्नता देखिये २६७ वें छन्दके एक प्रवचनाशमे–चारित्र मोहके उदयमे भी एक प्रबल पीडा होती है और कभी अनन्तानुबधीका भी उदय रहे, उसमे भी इतनी व्यक्त प्रबल पीडा नही होती और कहो अनन्तानुबधी नही है और अप्रत्यास्थानावरण नही है तो उसमे व्यक्त ऐसी क्रीडाये देखी जा सकती है, जैसे द्रव्यलिंगी मिथ्यादृष्टि मुनि जिसकी क्रियायें बहुत साफ हैं, कषायें मन्द हैं, समितियोमे तत्पर रहता है, प्राणियोकी दया करता है, किसी को अपना विरोधी नही मानता, इतनी सब बातें होने पर भो अनन्तानुबधी कषायके उदयमे अथवा मिथ्यात्वके उदयमे वह इस पर्यायसे भिन्न अन्त विराजमान निज ज्ञायकस्वरूपको आत्मा रूपसे अनुभव नही कर पाता है और उसकी क्रिया ऊपर से देखो तो बडी मन्द मालूम होती है। अगर वह कोल्हू मे भी पेल दिया जाय तो भी उस शत्रुसे बदला लेनेका भाव नही करता। इतना होने पर भी उसके मिथ्यात्व माना गया है। अभिलाषा मानी गई है। वह कुछ चाह रहा है और उसकी अभिलाषा भीतर हो भीतर रह कर तीव्र होती रहती है। उसने समझ रखा है कि होती है कोई मुक्ति और उसे हमे चाहिए, बस जैसे लोग वैकुण्ठ, स्वर्ग, भोग–भूमि, सेठाई, राजापन आदिकी इच्छा करते हैं इसी ढगसे इस द्रव्यलिंगी मिथ्यादृष्टिने भी मुक्तिकी इच्छा करली, जिसको अपना यथार्थ स्वरूप अनुभवमे तो नही आया, मगर पढता है। ज्ञान भी बहुत है, तो उसे ज्ञानबलसे वे सब बातें समझमे आयी हैं कि सदा के लिए जन्म मरणके सकट छूट जाते हैं, वहा कर्म नही रहते हैं, अनन्त आनन्द रहता हैं इन सब बातोका ज्ञान करके भी और मुक्तिकी चाह करके भी उसका वह अभिलाषी कहलाता है, उसको वास्तविक वैराग्य नही जगा है। और, एक ज्ञानो सम्यग्दृष्टि पुरुषके अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्य ख्यानावरण कम के उदयमे घरमे रहता है, व्यापार भो करता है, कमाना, खाना, पालना पोषना आदिक की सब बात करते हुए भी वह निरन्तर सदा ही उन से विरक्त रहता है। अन्त ऐसी उसकी परिणति है तो बाह्यमे इतनी क्रियायें होने पर भो उसको निर–भिलाषी (अस्ताभिलाष) कहा जाता है।

इन्द्रियज ज्ञान असाह्य है, इसके अनेक कारण बताय गये हैं, उनमे से उदाहरणार्थ देखिये–एक कारण, २२४ वें छन्दके एक प्रवचनाशमे-यह इन्द्रियजज्ञान मिरगो रोगको तरह क्षण भरमे बढता है और क्षण भरमे ही घटता है। कभी मूर्छित हो जाता, कभी उल्टा बकता, इस तरह से यह इन्द्रियजज्ञान तो मूर्छित है जैसे जिसके मिरगीका रोग हो जाता है तो ऐसा पुरुष असाध्यरोग वाला कहलाता है, और प्राय करके देखा गया है कि जिसके यह मिरगीका रोग बढ गया है वह अन्तमे किसी बडी घटना मे मृत्युको प्राप्त होता है। जलमे डूब कर मरा हो कही से गिर कर मरा हो, हाथ पैर टूटकर गुजरा हो, यो बडो विचित्र स्थिति हो जाती है और उसके बेगकी स्थिति देखो–पड जाता है, दात कडकडाता है, मुखसे राल बहती है। जिसकी हालत देखकर लोग शोकमग्न हो जाते हैं, जैसे वहा ज्ञान घट रहा है,

उसका ज्ञान वेहोश है, उसकी बुद्धि गुम्फित हो जाती है, जब मिरगी रोगका बेग न हो तब भी वह स्वस्थ नही रह पाता है। उसका बेग बढता है, घटता है, मूर्छित होता है। इसी प्रकार यह इन्द्रियज-ज्ञान कभी घट गया, कभी बढ गया, यह आत्मा जब कभी क्रोधका बेग आता है तो इसके ज्ञानकी क्या हालत हो जाती है? बुद्धि काम नही करती है, और कभी कुछ से कुछ बक जाता है और जितना चेहरा विकृत हो जाता है। तो कषायका जब बेग होता है तो वह क्या है? इन्द्रियज्ञानका ही बेग है। यह सर्वविकारोका प्रतिनिधि बनकर ज्ञानका नाच रग बताया जा रहा है कि इस इन्द्रिय ज्ञानमे क्या क्या दोष आते हैं। जब क्रोध, मान, माया, लोभ आदिक कषाये हो तो यह बुद्धि भी बिगड जाती है। अपने आपकी इज्जत रखना और दूसरोको तुच्छ मानना, क्या है, कुछ भी नही है, यद्यपि ऐसी प्रवृत्ति मे इसकी ही खोट जाहिर होता है, इसका ही नीचापन लोगोको विदित होता है, पर इसकी उसे खबर नही रहती। उससे बढकर मूर्छा क्या कही जाय? मूर्छित लोग यो ही नाली मे गिर पडते हैं, पानी मे गिर पडते हैं, किन्तु उनकी मूर्छित क्रियामे उन्हे अपनी बरबादी की भी सुध नही है, ऐसे ही समझिये कि जब इन्द्रियज ज्ञानमे अपने आपकी बरबादी को भी सुध नही रहती, तो उससे बढकर मूर्छा क्या कही जायगी? यह इन्द्रियज ज्ञान मूर्छित है। जिस समय यह जीव मायाचारमे परिणत होता है तो मायाचारके वश होकर समझ रहा है कि मै दूसरोको उल्लू बना रहा हू, मैं अपना बहुत बडा काम कर रहा हू, लेकिन भीतरमे यह स्वय उल्लू बन रहा है, यह स्वय मूढ बन रहा है, अपने आपको बरबाद कर रहा है। तो इन्द्रियज्ञानके समय अपने आपकी बरबादीका ध्यान नही रहता। इसके अतिरिक्त और मूर्छा क्या कही जायगी? इसी तरह लोभ कषायके बेगमे भी इस जीवकी विचित्र हालत हो जाती है। क्या से क्या नही यह कर डालता है? इस स्थितिमे बडी बरबादी हो रही है इस जीवकी, लेकिन उस बरबादीकी सुध भी यह कैसे कर सके? इस इन्द्रियज्ञानके कारण इसके मूर्छाका बडा बेग आया हुआ है। यह इन्द्रियजज्ञान उस तरह से घटता और बढता है जिस तरह से मिरगी रोग वाले का रोग घटता और बढता है। अत यह इन्द्रियजज्ञान मूर्छित है, बेहोश है, अपने आपके स्वामी की सुध नही रख सकता है, इन सबका स्वामी यह मैं मूलमे आत्मा ही हू, लेकिन इसने अपना स्वामित्व बिगाड दिया है। इस इन्द्रियज ज्ञानने तो इस आत्माकी स्वच्छाको खतम कर दिया है। मत हो यह इन्द्रियजज्ञान, ऐसी भावना बने, मनकी प्रवृत्तिको रोके, इन्द्रियकी प्रवृत्तिको रोकें। इन प्रवृत्तियोसे, इन श्रमो के कारण यह जीव अनादिकालसे लेकर अब तक पिसता चला आया है। किसी भी क्षण इसने विश्राम नही पाया। चतुर्गतियोमे इसका परिभ्रमण ही चलता रहा। जब यह जीव विग्रहगतिमे गया तो यद्यपि वहा द्रव्येन्द्रिया नही है मगर वहा जो अब इन्द्रियोका क्षयोपशम बना है या आगे जिस गतिमे जायगा उसके अनुकूल जो कुछ उदय बना है उन सबके कारण यहा भीतर मे एक सुलगती हुई आग की तरह इसका सस्कार बना रहता है, वहा भी तो इसे चैन न मिली। जब यह शरीर न रहा, अगला शरीर भी नही मिला उस बीच भी चैन न मिला। ऐसा यह इन्द्रियजज्ञान कितना मूर्छित है, यह आत्मा को बेहोशी मे लाने वाला है। ऐसा जानकर कि मूर्छित निकृष्ट और कितने कितने ही दोष बताये गये है, इन सब दोषो का स्मरण करके यह भाव रखना चाहिए कि मुझे इस इन्द्रियजज्ञानसे छुट्टी मिले और वर्तमान मे भी इन इन्द्रियज ज्ञानो से अपना कोई हित न समझना, इनसे मेरा हटाव अब भी बना रहे ऐसा भावना रखना चाहिए और इन्द्रियज ज्ञान के बल पर जो बाहरी परिचय हुआ करते है उन परिचयो को भी समाप्ति करने का अपने मे ज्ञान पौरुष द्वार कोशिश होनी चाहिए।

इन्द्रियज ज्ञान अग्राह्य है, इसके अनेक कारण बताये हैं, इनमें से एक कारण देखिये २०४ वें छन्द के एक प्रवचनांशमें-इस प्रकार यहा इन्द्रियज्ञानके दोषोके कथनमे सर्वप्रथम बताया गया था कि यह इन्द्रियज्ञान

दु खरूप है। इसका उत्तर बताया गया था कि यह इन्द्रियज्ञान पराधीन है, सशय आदिक दोषो से सहित है, विरुद्ध है, अकल्याणरूप है, अपवित्र है, मूर्छित है और इतने पर भी इस ज्ञानकी रक्षा करने मे कोई समर्थ नही । जब कर्मोका तीव्र विपाक आता है तो यह स्पष्ट हो जाता है और इसके अति-रिक्त इस प्रकरणमे अन्तिम दोष बताया था कि यह इन्द्रियज्ञान अज्ञ है। अब इन सब दाषोके कथनके बाद एक दोष और भी बतला रहे हैं कि यह ज्ञान खण्डज्ञान है। पदार्थ सम्पूर्ण कितना है, उस सम्पूर्ण पदार्थ मे से कोई खण्ड खण्ड अश को ही जानता है, यह हमारा ज्ञान इन्द्रियजन्य ज्ञान है इस कारण उसके ज्ञान को खण्ड ज्ञान, अधूराज्ञान कहते हैं। जैसे इस लोकमे किसी को अधूरा ज्ञान हो तो उसे लाग कहते हैं पल्लवग्राही अर्थात् एक पत्तमात्रको छू सकने वाला। कोई पुरुष यदि ४-६ विषयो मे अपनी गति रख रहा हो और प्रत्येक विषयमे अधूरा ही है तो उसको जिन्दगी मे विडम्बना रहती है। वह किसी कामका नही रह पाता। अरे किसी भी एक विद्यामे तो कुशल हो। जो कई विद्यायें जानता है, पर है सबमे अधूरापन तो जैसे उसके लिए वह एक जीवनमे शल्य जसी बात होती है और शल्य ही नही, किन्तु एक खेदके लिए भी बात होती है तो अधूरापन यहा लोकमे भी अच्छा नही माना जाता। ऐसे ही यहा परमार्थ मे देखिये—ो कोई एक विषयमे भी पूरा सा बन गया हो, वह भी अधूरा ही है, यहा पूरा कोईनही होता। जब तक केवलज्ञानका लाभ नही है। तो ऐसे अधूरे ज्ञानपर क्याअहकार,क्या ममकार होना चाहिए ? तो यह ऐसा इन्द्रियज्ञान खण्डित ज्ञान है, भिन्न भिन्न ज्ञ न है और प्रतिनियत है। जैसे पुद्गलका ज्ञान किया तो उसमे केवल रूपको जाना, यह हुआ खण्डज्ञान। केवल रसको जाना, यह हुआ खण्डित ज्ञान। ये खण्डित ज्ञान भी तो बहुत सारे एक साथ नही हो पाते है। ये भिन्न भिन्न हैं। बल्कि इन्द्रियज ज्ञानमे तो यह क्रम बताया गया है कि किसी एक विषय का उपयोग नही है। एक दार्शनिकने एक ऐसी शका की कि यदि कोई तेलसे बनायी हुई लम्बी चौडी बेसन की पपडिया खावे तो देखो उस समय उसे सभी इन्द्रियज्ञान एक साथ हो रहे हैं-अरे लम्बी चौडी पपडिया पकडे हुए हैं हाथमे तो यह स्पर्शइन्द्रियका ज्ञान, उसे खा रहे हैं तो उसका स्वाद भी मिल रहा है, उसकी गध भी मिल रही है, क्योकि वह गध वाले तेलमे पकाई गई है और आखोसे उसे देख रहे ही हैं, अत चक्षुइन्द्रियका ज्ञान हो ही रहा है। और उसके कानेमे कुर्रकुर्र की जो आवाज आ रही है वह कर्ण-इन्द्रियका ज्ञान हो गया। तो देखलो उस एक क मके करते हुए में एक साथ सभी इन्द्रियोका ज्ञान हो रहा है ना, फिर क्यो कहा जा रहा है कि यह इन्द्रियज्ञान इस प्रकार दिया गया है कि ठीक है यो मोटे रूपसे तो ऐसा ही वहा प्रतीत होता है कि समस्त इन्द्रियो का ज्ञान एक साथ हो रहा है पर जरा और भी सूक्ष्मदृष्टिसे विचार करे तो पता पड जायगा कि वास्तवमे वे सब ज्ञान क्रम क्रम से हो रहे हैं। इसके लिए एक दृष्टान्त लीजिये-जैस १०० पानके पत्तानी एक ि ड्डी लगी हुई है, उसमे कोई अत्यन्त पेनी धार वाली सूई का बडा तेज प्रहार करे तो तुरन्त ही वे सारे पत्ते एक साथ छिद गये या क्रम से ? यो तो मोटे रूपसे दिखता है कि एक साथ ही तो छिदे पर ऐसी बात नही है। पहिले सूईकी नोक पहिले नम्बरके पत्तेमे पहुची, फिर दूसरे तीसरे आदिमे। यो क्रम क्रमसे हा १०० व पत्तेको सूई ने पार किया। तो जैसे वे सभी पत्ते क्रम क्रमसे छिदन पर भी मोटे रूपसे कह दिया जाता है कि सभी पत्ते एक साथ छिदे, इसी प्रकार ये इन्द्रियज्ञान क्रम क्रमसे होकर भी माटे रूपसे कह दिये जाते हैं कि ये एक साथ हुए। तो यह इन्द्रियजज्ञान खण्डित ज्ञान है। खण्ड खण्डको जानता है और इतने पर भी यह भिन्न भिन्न जान पाता है। उन खण्ड खण्ड का भी एक साथ नही जान पाता।

कर्मबद्ध जीवके सर्वदेशप्रकम्पी दु खका निर्णय—देखिये २२९ वें छन्द के एक प्रवचनाशमें-इतने उक्त विवेचनसे यहा तक यह निर्णय करके जो कर्मबद्ध जीव है उस जीवके जब तक कर्मो का रसोदय चल

रहा है, विपाक अनुभाग चल रहा है तब तक समझिये कि उसके सम्पूर्ण प्रदेशोमे कपा देने वाला दु ख है। देखिये-दु खके स्वरूपकी बात इस ओर से भी समझ सकते है कि यह दु ख आत्माके प्रदेशोको कपा देता है और यह बात बहुत कुछ स्पष्ट भी मालूम होती है कि जब दु ख होता है जीवके तो यह प्रदेशोमे कम्पित हो जाता है। और, कभी कभी तो शरीरके ऊपर भी इसका दृश्य दिखाई देने लगता है। यही बात वैषयिक सुखमे मिलेगी, सो उसे दु ख ही समझे। जीव प्रदेशके सम्पनके साथ अविनाभाव है दु ख का याने जहा दु ख है वह प्रदेशचलात्मकता अवश्य है। सो यहा यह तो नियम नही है कि जहा प्रदेश-प्रकम्पन् हो वहा दु ख अवश्य , किन्तु यह नियम है कि जिस जीवके दु ख और वैषयिक सुख हो रहा है उसके नियमसे प्रदेशको प्रकम्पता हो रही है। फिर तो जैसइन कर्मो के रसोदयमे प्रदेशप्रकम्पन होता है ऐसा प्रकम्पन वाला यहा दु ख पाया जा रहा है। तो प्रकम्पता को साथ लिए हुए यह दु ख है, जो कि लोग स्वय अनुभव भी कर सकते हैं। भोतरमे व्याकुल है, कैसा व्याकुल है ? उस व्याकुलताका यदि हम स्वरूप समझना चाहे तो यह खोलते हुए पानीको निरखकर समझलो। जसे कहते हैं कि यह पानी खोल रहा है, उस पानीमे खलबली मच जाती है, नीचेका पानी ऊपर तक पहुंच जाता है, उसी सिलसिले मे पानी मे छोटे छोटे बिन्दुओ का बडा तेज उबाल होता है। नोचेका पानी ऊपर जाता है और ऊपर का पानी नीचे जाता है। तो जैसे खोलते हुए जल मे एक तेज कम्पन होता है इसी तरह जब यह जीव खोलता है, दु खी होता है तो इसके ये प्रदेश कप जाते हैं। तो ऐसे दु ख हैं जीवोका, यह बात असिद्ध नही, किन्तु भली भाति सिद्ध है।

ज्ञान और आनन्दकी उद्भूति देहादि परद्रव्योसे नही हैं, किन्तु आत्मासे है, इसका दिग्दर्शन कीजिये ३५० वें छन्द के एक प्रवचनाशमे-ज्ञान और आनन्द आत्माके धर्म है. यह बात भला भाति सिद्ध है, क्योकि इनमे गुणका लक्षण पाया जा रहा है। गुण कहते हैं-गुण्यते भिद्यते अनयन स गुण , एक गुण अखण्ड सत् जिसके द्वारा भेदा जाय उसे कहते है गुण। भेदनेका अर्थ यह है कि वस्तु तो एक अखण्ड है, पर उसका जब हम प्रतिबोध करने के लिए कुछ समझायेंगे तो उसमे कुछ क्रम भेद करके ही समझायेंगे। जैसे आत्मा जो है एक ज्ञायकस्वभाव, जिसे शब्दो द्वारा कहा नही जा सकता, ज्ञायक शब्द द्वारा भी वास्तवमे कहा नही जा सकता और कुछ कहना तो चाहा, रख दिया रूढिमे इस शब्दको कि यह है आत्माका वाचक, क्यो नही कहा जा सकता वचनोसे कि जितने भी वचन होते हैं वे एक अर्थ को लिए हुए होते है। शब्दो मे सर्वज्ञदेवको बताने का सामर्थ्य नही है, ज्ञायक कहा तो उसका अर्थ जानने वाला हा तो रहा और जानन एक गुण रहा तो शब्द वस्तुका प्रतिपादन नही कर सकता, यह सब व्यवहार से ही प्रतिपादन होता है। खैर उस सद्भूत व्यवहार से भी प्रतिपादन चला तो वहा भी शक्तियो का, ज्ञानोका भेद करके वस्तुकी बात बतायी गई तो जा भेद करके कहा जाय उसका नाम गुण है, किन्तु ऐसा भेद कि द्रव्यके समान शाश्वत हो और अनादि अनन्त हो उसे कहते हैं गुण तो ज्ञान और आनन्द आत्माके धर्म हैं। गुण है एक वह चिद्द्रव्य, और आनन्द द्वारा विभक्त करके बताया गया है, इसकारण स ज्ञान और आनन्द आत्माके धर्म है और इसी कारण जिस किसी भी अवस्थामे कोई जीव हो उसका जो भी ज्ञान और आनन्द जगता है सो देह और इन्द्रियके बिना ही जग रहा है। चाहे ससारी जीव हो, देव हो, मनुष्य हो उन्हे भी जो ज्ञान जग रहा है वह शरीर और इन्द्रियके बिना जग रहा है। हमे इस ओर दृष्टिनही करना है कि इनके निमित्त बिना जग रहा है। अरे इन्द्रियपूर्वक जग रहा है उसका अर्थ है कि निमित्तके बिना जग रहा है। यह अर्थ कसे निकला ? निमित्त पूर्वक हो रहा है इसके मायने यह निकला कि निमित्तभूत पदार्थ का द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव स्वीकार किए बिना हो रहा है। जैसे घडा बन रहा है उस घडेके बननेमे निमित्त वह कुम्हार है, दड चक्रादिक हैं, मगर घडे मे जो निस्पन्न हो

रहा है वह दंड, चक्रादिकसे रहित होता हुआ बन रहा है, अर्थात् उस मिट्टीमे न कुम्हार घुसा है न दंड चक्रादिक। तो देह और इन्द्रिय निमित्त हो जाने मे भी यह बात है कि वहा जो ज्ञानविकास है, जो आनन्दविकास है वह तो केवल आत्माके उपादानसे अर्थात् अन्यके उपादान बिना हुई है। तब समझना चाहिए कि ज्ञान और आनन्द आत्माके धर्म ही हैं, और जब धर्म है तो सिद्ध हो गया कि ज्ञान और आनन्द के लिए किसी के अपेक्षाकी आवश्यकता नही है।

कर्मफलके दूर होने पर आत्माके विकारोका व्यय हो जाता है, इसका दिग्दर्शन कीजिये ३६५ वें छन्द के एक प्रवचनांशमे—जब कर्ममल दूर हो जाता है तो आत्माके विकारो की भी क्षति हो जाती है। विकार सहेतुक भाव है, कर्मउपाधिका निमित्त पाकर होने वाले भाव हैं, इस कारण कर्ममल दूर होने पर वे विकार भी दूर हो जाते है। ये विकार कर्मजभाव कहे गये हैं। यद्यपि रागादिकभाव आत्माके परिणमन हैं लेकिन जिनके साथ अन्वय व्यतिरेक देखा जाय कि जिसके होनेपर हो तो विकारहो और जिसकेन होने पर न हो तो उसे ही मुक्त होना कहा जाता। जैसे सनीमाके पर्दे पर जो फिलमका अक्स पडा है तो उस अक्स की उत्पत्ति किससे कही जायगी ? क्या पर्दे से अथवा क्या फिलमसे ? बात वहा यह है कि जो चित्रण हुआ, जो कि लोगोका दिख रहा है, वह फिलममे तो है नही, फिर भी अन्वय व्यतिरेक फिलमके साथ है। फिलमके सचेष्ट होने पर ही अक्स आता है और फिलमके हटने पर हट जाता है। तब उसे फिलमसे उत्पन्न हुआ कहा जायगा। ऐसे ही यहा देखो-ये रागादिक भाव उत्पन्न हो रहे हैं जीव मे लेकिन अन्वय व्यतिरेक इनका कर्मो के साथ है कर्मविपाक होने पर ही ये होते हैं, न होने पर नही होते। तो ये कर्मजभाव हैं और इसी कारण कादाचित्क हैं, क्योकि इनको निष्पत्ति का निमित्त अन्य पदार्थ है। यदि वही निमित्त हो और वही उपादान हो तब तो वे भाव सदा रह सकेंगे, लेकिन ऐसा तो नही है। निमित्त कर्मविपाक है, इस कारण कादाचित्क हैं और वे पर्यायमात्र हैं, इन्द्रजाल हैं, अध्रुवतत्त्व हैं, इस कारण कर्म मल के दूर होने पर इस आत्मा के विकारों की भी क्षति हो जाती है।

(२८७–२८८) पञ्चाध्यायी प्रवचन ११, १२ भाग

इसमे पंचाध्यायी ग्रन्थराज उत्तरार्द्ध के ३७१ वें श्लोकसे ८२२ वें श्लोक तक पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराजके प्रवचन हैं। सम्यग्दृष्टि पुरुषको इन्द्रियज सुखमे और इन्द्रियज ज्ञानसे विरक्ति रहती है इसका सदर्शन कीजिये ३७१ वें श्लोकके एक प्रवचनांशमे—सम्यग्दृष्टि ज्ञानी पुरुष अपने आत्माका दर्शी है ऐसा यह पुरुष सम्यग्दृष्टि वैषयिक सुखोमे और वैषयिक ज्ञानमे राग और द्वेषको छोडे (छोडता है) छोडे, ऐसी यहा विधिरूप क्रिया कही है, लेकिन जिनके प्रति भक्ति उमडता है उसे भी आशीर्वादात्मक शब्दोमे भक्त लोग कह बैठते है, आशीर्वाद दें, जयवन्त करें। इस तरह के आशीर्वादको कोई कहे कि इसे छोटे लोग या बडे लोग ही करते हैं, सो बात नही। यह तो अनुरागवश होता है। जैसे कहते हैं कि सिद्ध-प्रभु जयवन्त रहो—हम न कहे तो क्या उनका जयवन्तपना मिट जायगा ? नही मिटेगा। लेकिन जब भक्ति बढती है तो ऐसी ध्वनि निकलती है कि प्रभो तुम्हारे ऐसे आनन्दकी दशा शाश्वत रहे। तो इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि पुरुष पर ये ग्रन्थकार भी अनुरक्त हो रहे हैं, क्योकि सम्यक्त्व पदकी प्राप्ति अपने आपके उस शुद्ध अन्तस्तत्त्वका दर्शन होना, यह कोई साधारण बात नही है। ससार सकटोको समाप्त कर देने वाली बात है। तो उस पर यह ग्रन्थकार अनुरक्त है। तो कहता है कि रागद्वेषको छोडता है? किसके प्रति छोडना है ? वैषयिक सुखके प्रति, वैषयिक ज्ञानके प्रति न राग करना है न द्वेष करना है। देखिये इन वैषयिक ज्ञान व सुख की बडी लम्बी चर्चा इससे पहिले की गई है कि ये वैषयिक सुख

दु खरूप हैं, पराधीन है ये निकृष्ट हैं, इनका पाना कठिन है। यो कितनी ही बातें कही गई हैं। इतनी बात यदि कोई दूसरे को कह दे तो सदा के लिए ताता टूट जायगा, मित्रता खतम हो जायगी, लेकिन यहा वैषयिक सुखकी ज्ञानकी इतनी बात सुनकर भी वहा से चित्त न हटाया तो यह कितना एक मोहाधकारका विलास है। तो ये वैषयिक सुख और वैषयिक ज्ञानोसे सम्यग्दृष्टिजन उदासीन हो जाते हैं, इस बातका वर्णन इस गाथामे किया गया है।

दर्शनमोह के उदय और अनुदयमे कैसा आत्मप्रभाव होता है इसका दिग्दर्शन कीजिये ३८४ वें छन्दके प्रवचनांशमे–जैसे किसी पुरुषने मदिरा या धतूरा पी लिया है तो जब उसका विपाक आता है अर्थात् उसके विषैले अनुभागका विपाक आता है तो उस समय पुरुष मूर्छित हो जाता है और जब उसका नशा उतर जाता है, उसकी शक्ति अस्तगत हो जाती है तो वही पुरुष सुधमे (होशमे) आ जाता है। तो यहां इस दृष्टान्तमे यह वात जानना है कि कैसा निमित्त नैमित्तिक भाव है कि मद्यपान अथवा धतूरे के भक्षण से ज्ञान भी मूर्छित हो जाता है। कहा तो ज्ञान अमूर्तिक है और वह मद्यपानसे मूर्छित हो गया। यहा यह दृष्टान्त बताया जा रहा है कि जैसे धतूरा खाने से अथवा मद्यपान करनेसे जब उसका अनुभाग विपाक मे आता है तो उस समय मनुष्य मूर्छित हो जाता है और जब वह विपाक समाप्त हो जाता है तब वह मूर्छा रहित हो जाता है। तो मद्यपान अथवा धतूरे के भक्षण ने उसके सम्रागने ज्ञानको मूर्छित नहीं किया, पर ऐसा निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है कि उसका निमित्त पाकर जो ज्ञानके साधन हैं इन्द्रिय और मन, उनमे बिगाड होता है, और इन्द्रिय मनमे बिगाड होने के कारण फिर ज्ञानमे बेहोशी आती है। यद्यपि दृष्टान्त ऐसे ही सीधे दिये जाते हैं कि देखो धतूरे का भक्षण किया तो उससे ज्ञान बेहोश हो गया। हो तो गया बेहोश और उसका वह एक कारण भी हुआ, परन्तु किस विधिसे ज्ञान बेहोश हुआ कि उसका निमित्त पाकर यहा इन्द्रियमे अन्त करणमे असर हुआ और उस असरसे यह ज्ञान मूर्छित हुआ, और जब उस धतूरे का विष असगत हो जाता है, शक्ति क्षीण हो जाती है, जब वह निवृत्त हो जाता है तो वह पुरुष मूर्छारहित हो जाता है।

सम्यक्त्वकी पहिचानके जितने भी लक्षण कह सकते हैं वे सब परिचायक मात्र है, सम्यक्त्व तो निर्विकल्प है, इसका दिग्दर्शन कीजिये ३८८ वें श्लोकके एक प्रवचनांशमे–जिस प्रकार रोगीको निरोगता जानना बहुत कठिन है, भला किसी निरोग पुरुष की उस निरोगता का साक्षात् दर्शन करके तो बताइये–जैसे यह शरीर साक्षात् दिखता है ऐसे ही यह निरोगता भी साक्षात् दिखने वाली चीज है क्या ? और, अगर कोई निरोगताको बतावेगा तो समझिये कि वह मन, वचन, कायकी चेष्टाओमे उत्साह बनाये हुए, इस को देखकर बतावेगा कि यह नीरोग है, क्योकि जो रोगी होता है उसका मन भी कुन्द रहता है, वचन भी उसके शिथिल रहते हैं और शरीर भी उसका शिथिल रहता है, उससे पहिचाना जाता है कि यह पुरुष निरोग नही है रोगी है। तो निरोगता का साक्षात् लक्षण भी कोई बता नही सकता। अगर कोई बतायेगा तो मन, वचन, काय की चेष्टाओ से बतायेगा। तो जैसे निरोगता सीधे ज्ञान मे नहीं आती, वह तो मन, वचन, कायकी स्वच्छ प्रबल चेष्टाओसे विदित होती है इसी प्रकार सम्यक्त्व परिचयका सीधा कोई लक्षण विदित न होगा, किन्तु वह ज्ञानकी विशुद्ध परिणति द्वारा लक्ष्य मे लाया जाता है।

ज्ञानातिरिक्त अन्य आत्मगुणोको अनाकार कहने के कारण की जिज्ञासा, पढिये ३९३ वें श्लोकके प्रवचनमे और उसका उत्तर प्रवचन पुस्तकके ३९४ वें श्लोकके प्रवचनमें देख सकेंगे–अब यहा शकाकार कह रहा कि सत् सामान्य हो वह भी तो विशेष की तरह वास्तविक है, प्रकरण के अनुसार यहा सत् सामान्य का अर्थ ले

लीजिये, ज्ञानको छोडकर अनन्त धर्म, क्योकि वे केवल सत्‌रूप हैं, चहल पहल करने वाले नही है, जानने समझने वाले नही हैं, अर्थात् जहा चहल पहल नही उसमे वहा विशेषता क्या आयगी,? विशेषता तो ज्ञानमे आती है। तो यहा सत् सामान्यको कह लीजिये ज्ञानातिरिक्त शेष धर्म और विशेषको कह लीजिये ज्ञानधर्म। तो शकाकार यहा वह रहा है कि सत् सामान्य भी तो विशेषकी तरह वास्तविक है। आत्मामे जैसे ज्ञानगुण है उसी प्रकार अन्य पदार्थ भी हैं, फिर उनमे से किसी को अनाकार कहना और किसी को साकार कहना भी कठिन हो जाता है। शकाकार की शका का आशय इतना ही है कि जैसे ज्ञान धर्म न हो आत्मामे तो आत्माका सत्त्व न रहेग, इसी तरह शेष अनन्त धर्म भी ऐसे है जो कि वास्तविक सत्त्वके सूचक हैं, उनमे से यदि कोई न रहेगा तो आत्माका सत्त्व न रहेगा। जसे मान लो-आत्मा मे एक अमूर्तत्व गुण , भले ही वह साधारण असाधारण है, पर है तो सही। जरा ऐसा सोच कि आत्मामे सारे गुण तो मौजूद हो और एक अमूर्तपना हट जाय तो वे गुण सब भद भद गिरकर खतम हो जायेगे। इसी तरह साधारण भी, असाधारण भी सभी धर्म इसमे वास्तविक हैं, फिर विशेष को तो साकार वह रहे हो, ज्ञानको तो साकार बता दिया और शेष धर्मो को अनाकार बता दिया, यह अन्तर कैसे आ सकता है सो बताओ ?

प्रशम स्वरूप अवधारित कीजिये जो कि सम्यक्त्वसहित होने पर सम्यक्त्वका चिन्ह कहा गया हैं, पढिये ४३७ वें श्लोकके प्रवचनाशमे-अब इस श्लोकमे प्रशम गुण से जो व्यक्त काम होता है उसको बतानेके लिए प्रशमका एक दूसरा चिन्ह कहा जा रहा है। जिन जीवोने अपने साथ कोई नया अपराध किया हो या बारबार अपराध किया हो अथवा किसी भी समय अपराध किया हो तो भी उन जीवोके सम्बन्धमे उन के मारने आदिक विकारोके लिए बुद्धि न जगना सो प्रशम नामका गुण है। जिस जीवको सर्व जीवोके उस शुद्ध तत्त्वका स्वरूपका बाध हो गया है सभी जीव प्रभुके समान शुद्ध चैतन्यस्वरूप हैं अर्थात् चैतन्यस्वभाव वाले हैं, इस द्रव्यमे केवल एक सहज ज्ञानस्वरूप ही भरा हुआ है, ऐसे इन सब जीवोको जिसने निरखा है ऐसा सम्यग्दृष्टि ज्ञानी पुरुष कदाचित् किसी कषायवान जीवके द्वारा उपद्रुत भी हो जाय तो भी उसके बध आदिक का भाव चित्तमे नही लाता है और न यह भी बात चित्तमे लाता है कि यह बरबाद हो जाय, नष्ट हो जाय। किसी भी प्रकार की दुष्प्रक्रियाका भाव नही लाता है तो यह उसका एक प्रशम गुण है। इस प्रशम गुणके प्रसाद से ये ज्ञानी सम्यग्दृष्टि जन तत्काल भी सुखी रहते हैं और आगामी कालमे भी सुखी रहते हैं और यह भी है प्रशमका बाह्य चिन्ह कि कोई मनुष्य बार-बार अपराध करे तब भी उन जीवोके बध आदिक के विकार की बुद्धि न जगे उसे कहते है प्रशम गुण। कोई किसी का कुछ न कर सके और शान्त रह जाय यो तो वह प्रशम नही कहलाता, किन्तु उसके वध आदिक बरबादी के लिए भाव न उठे उसका नाम प्रशम गुण कहलाता है।

स्वानुकम्पाके अनुरोधका दिग्दर्शन कीजिये, ४५१ वें श्लोकके एक प्रवचनाशमे-रागादिक अशुद्ध भाव यदि है तब तो बध होता है और न रहे तो बन्ध नही होता। बन्धन, परतन्त्रता ये सब दिख ही तो रहे हैं। तो हमारा बन्धन यदि दृढ नही है, यदि बन्धनसे हटकर केवल अपने स्वातन्त्र्यमे आनेकी भावना हुई है, अपने आप पर कुछ कृपा हो गयी है तो उन रागादिक अशुद्ध भावोका, अशुद्ध भावोका लगाव न रखिये-रागरहित जो एक ज्ञानस्वभाव है उस ज्ञानस्वभावकी दृष्टि करे। इस स्वानुकम्पाके न होने से ऐसे कर्मोका बन्ध होता है जिसके कारण अन्य प्राणियोसे बैर होता है और उस बैर व्यवहारमे सक्लेश विडम्बना बनती है। तो अपने आपमे ही यदि अपनी सम्हाल करली जाय तो सारी सम्हाल अपने आप हो जाती है। और एक अपनी सम्हाल रखी न जाय और बाहरी पदार्थोकी सम्हाल रखी तो न

सकता। जो पदार्थ जिस स्वरूप है वह पदार्थ उस स्वरूप से विपरीत हो ही नही सकता है, ऐसा निश्चय करने वाले जीव को भय किस कारण से होगा ? यो इस सम्यग्दृष्टि जीवको जिसे इहलोकका भय न था वह जानता था कि यह मैं पूरा यही ज्योतिस्वरूप हू, इसी मे मेरा सब कुछ वैभव है, इसी मे मेरा सर्वस्व है। इसको कौन छीन सकता है ? इसमे कोई प्रकार का भय नही है, ऐसा जानकर इहलोक भय से मुक्त था, इसी प्रकार परलोक भी वही चैतन्यस्वरूपमात्र है। इस स्वरूप में कही कोई डर नही है। कोई परका प्रवेश नही है। ऐसा जानने वाले इस तत्त्वज्ञको परलोकका भय नही होता।

एक प्रश्न हुआ कि प्रयोजन के बिना तो भेदज्ञानी भी प्रवृत्ति नही करता, फिर वृत क्रियाका आचरण करने वाले ज्ञानीको अनाकाक्ष क्यो कहा जाता है ? इसका समाधान देखिये ४६१ वें श्लोकके प्रवचनमें—उक्त इतनी बडी शका का समाधान इस श्लोकमे दिया जा रहा है। शकाकार की उक्त शका असगत है, क्योकि पहिले यह भली भाति सिद्ध कर दिया गया कि इच्छा के बिना भी क्रिया हो सकती है, फिर शुभ क्रियाओमे और अशुभ क्रियाओमे विशेषता क्या रही ? इस प्रश्न का अवकाश कहा रहा ? यदि अभिलाषा है—दर्शनमोहकृत मलिनता है तो वहा वह शुभक्रिया बन्धफल वाली होगी। तो दर्शनामोहकृत भोग अभिलाषा इसके नही है ता वह क्रिया बन्धफलरहित होता है। जिस मनुष्यको बन्धफल की चाह नही होती उसके भी क्रिया देखी जाती है और ऐसी बात इस श्लोकमे भी देखने को आ रही है कि इच्छा नही है तब भी उसको करना पडता है। कदी चक्की पीसता है तो क्या वह अपने मनसे पीसता है ? अनेक ऐसे दृष्टान्त मिलेगे कि जिनमे इच्छा न होते हुए भी क्रिया करनी पडता है। तो ऐसी क्रिया को न शुभ कहेगे न अशुभ कहेगे। वह तो हो रही है। जो शुभ परिणाम से किया जाय वह तो शुभ क्रिया होती है और जो अशुभ परिणामसे किया जाय वह अशुभ क्रिया है। पर जहा क्रिया करने की इच्छा ही नही है वहा क्रियाको शुभ या अशुभ क्या कहा जा सकता है ? तो दर्शनमोहका अनुदय होने पर, अभिलाषाओका अभाव होने पर, फिर भी जो चारित्रमोहकृत क्रिया होती है वह ससार बन्धफल वाली नही होती है।

निर्विचिकित्सा अगके स्थलमें विचिकित्साका मार्मिक भाव देखिये ५७८ वें श्लोकके एक प्रवचनाशमे इस श्लोकमे विचिकित्साका ऐसा अनूठा लक्षण बताया है कि जिससे विचिकित्सा का जितना विस्तार है उसका आधार समझा जाय। विचिकित्सा का अर्थ है अपने मे अधिक गुण समझकर अपनी प्रशसा करना और दूसरे को हीनता सिद्ध करने की बुद्धि रखना इसको विचिकित्सा कहते हैं। प्रसिद्ध तो विचिकित्साका अर्थ ग्लानि है। ग्लानि भी कब होती है ? जब कभी अपने आपको अधिक गुणी समझा जा रहा हो और दूसरे को हीन समझा जा रहा हो। कोई रोगी पुरुष है उससे ग्लानि की जा रही है तो वासनामे यह जान रहा है कि मैं ऐसा साफ हू और दूसरे की उच्चता ध्यानमे नही रहती है ऐसी स्थितिमे विचिकित्सा होती है। विचिकित्सा के ढग की बात कहा तक बतायी जाय ? किसी पुरुषको गुरुमे विचिकित्सा हो सकता है। जो गुरुकी सेवा करने मे अपनी ग्लानि समझे। अरे गुरुवो की बात तो दूर रहो, भगवानकी पूजा करते हुए भी मोहीजनोके चित्तमे यह वासना मे बैठा हुआ है कि बडे हैं तो हम हैं और हम इन भगवानको बहका लेते हैं, इनमे कोई चतुराई नही है। हम तो बडे चतुर हैं तभी तो देखो हम इनकी भक्ति करके महावीर जी मे या और किसी क्षेत्रमे जाकर मुकदमोकी जीतकर लेते या सम्पत्ति बढा लेते हैं इस तरह की वासना उनकी वहा भी नही टूटती है। कुछ विचिकित्साकी परिणतिकी बात एक अनूठी ही भीतरमे समायी है मोही जीवोके। कहने का अर्थ यह है कि ग्लानिका

आधार भी अपने को गुणाधिक समझना है। जिसके चित्तमे यह बात आयी कि हमे तो पद पदपर अपनी नम्रता कराना है, अच्छे काम करते हुए। बुरे काम करके नीचे गिरना तो इस जीवकी अनादि कालकी टेक है। किन्तु अपने गुणोत्कर्ष के लिए हमे अपनी नम्रता करना है, इस तरह का कोई भाव रखता है तो वह विचिकित्सा दोषको दूर कर सकने वाला होता है। तो यहा विचिकित्सा का स्वरूप कहा गया है कि अपने को अधिक गुणी समझकर अपनी प्रशसा करना। प्रशसा वचनो से ही नही की जाती, किन्तु कायकी चेष्टाओसे भी होती है। अपने मे अपनी श्लाघा और दूसरोके अपकर्षमे बुद्धि जाना, इसका नाम है विचिकित्सा।

तत्त्वज्ञानीकी अमूढताकी एक झलक देखिये ५९१ वें श्लोकके प्रवचनमे-अनेक कुदृष्टिजनो ने जिन्होने आत्माके सहजस्वरूपका अनुमोदन नही कर पाया और जिस किसी भी परतत्त्वमे हित मान लिया ऐसे कुदृष्टिजनो द्वारा सूक्ष्म,अन्तरित दूरवर्ती पदार्थो के सम्बन्धमे भी कुछ उपदेश हुआ, लेकिन जिनका मूल ही भ्रमपूर्ण है उनकी अनेक उक्तिया किस तरह समीचीनताको लिए हुए हो सकती हैं ? तो कुधीजनो द्वारा सूक्ष्म-अन्तरित दूरवर्ती पदार्थो को भी किसी रूप बताया गया है, लेकिन उनमे भी यह सम्यग्ज्ञानी जीव मोहित नही होता। जो थोडी सी सत्य जानकारी रखता हो, वह उन कथनोमे मुग्ध न होगा। सूक्ष्म पदार्थो के सम्बन्धमे अतत्वज्ञ पुरुषने वर्णन किया है-जैसे शक्त्याश का ही परमाणु मान लेना। आजकल के वैज्ञानिक लोग शक्त्यात्याशको अणु मान रहे हैं और जिसे अणु समझ रहे हैं और जिससे काम ले रहे हैं वह स्कन्ध है। कहा तो अनेक परमाणुओके पिण्डको अणु समझ लेना और कहा किसी केवल शक्ति को ही अणु मान लेना ये सन्देह तुला पर चलती हुई धारणाय, ये सूक्ष्म तत्त्व के बारे में विपरीत श्रद्धान ही तो हैं अथवा केवल सूक्ष्म तत्त्वो के कारण क्या हैं ? किससे भिन्न हैं, किसमे अभिन्न हैं, इसका कुछ निर्णय न करके जैसा कुछ विकल्पमे आया बोल दिया, यह सूक्ष्मका विपरीत कथन है। अन्तरित राम, रावण आदिक हुए है और अनेक कथानक ऋषीसन्तोन गढे हैं, वे अन्तरित के बारे मे आख्यान हैं। उन्होने बहुत सी असम्भव बातोको भी कथानकके रूपमे गढ लिया है और जिन्हे यह कहकर छोड दिया गया है कि ईश्वर और उनके अवतारोकी लीलायें है, उन कथनोमे परस्पर विरोध भी जचता है। कभी कह दिया कि रावण बडा विद्वान था, तत्त्वज्ञ था, कुशल था तो कही ऐसा कह दिया कि वह तो राक्षस था, मासभक्षी था इस तरह परस्पर विरुद्ध और असम्भव कथानक रचना यह सब तो विपरीत प्रतिपादन है, दूरवर्ती पदार्थो के सम्बन्धमे जैसे १४ भुवन है अथवा अनेक यत्र तत्र द्वीपोकी रचनायें बताना, इस तरह दूरवर्ती पदार्थो के सम्बन्धमेभी विपरीत प्रतिपादन है, इस सबको सुनकर सम्यग्दृष्टि जीव उन कथानकोमे मुग्ध नही होता।

उपादान हेतुसे चारित्रकी क्षति व क्षति का निर्णय देखिये ६७९ वें श्लोकके एक प्रवचनांशमे-उन मुनि-राजोके आत्मामे जैसी ताकत है, जैसी योग्यता है उसके अनुसार बात बनेगी। यदि उपादान प्रबल है तो वहा चारित्रका लाभ है, रागद्वेषका अभाव है उपादान यदि कमजोर है तो वहा चारित्रका लाभ नही रहता और रागद्वेष आदिक भी उत्पन्न होते हैं। तो चारित्रका नाश होने मे बाहरी पदार्थ कारण नही है। जैसे कोई मुनिराज आज ही या कभी भी दीक्षित हुआ हो तो उसके सामने स्त्री पुत्रादिक परिजन भी आ जायें तो उनमे उसका राग न जगेगा। हा यदि उस मुनिका ही आत्मा अज्ञानी बन जाय तो राग आयगा। तो बाहरी पदार्थ होने से कही रागादिक नही आ जाते, इसीतरह बाहरी पदार्थ कही रागादिक मिटा नही देते। भीतरमे ज्ञानप्रकाश जगे तो ये रागादिक दूर होंगे। तो आचार्य पर-मेष्ठी बाहरमे साधुवोको आदेश देते है, पचाचारोका आचरण कराते हैं इससे कही उनके रागादिक न

हो जायेंगे। कहो आत्माकी सुध वहां समाप्त हो जायगी। वे अपने आत्माके ध्यानमें तत्पर रहा करते हैं। इस आत्माका यदि कोई वैरी है तो मोह रागद्वेषका सद्भाव ही वैरी है। जीव सब स्वतन्त्र हैं। सब की सत्ता न्यारी न्यारी है। कोई जीव किसी का न साधक है न बाधक। अज्ञानमें यह मान रखा है कि ये लोग मेरे मित्र हैं, ये लोग मेरे विरोधी हैं। वस्तुतः इस जीवका कोई मित्र बन सकता न कोई शत्रु। इसका कारण यह है कि वस्तुका स्वरूप ही ऐसा है कि वह अपने उपादानके अनुसार अपनी परिणतिया करता है। हा उन परिणतियोंमें जो विषम परिणतिया है उनमें बाह्य पदार्थ निमित्त हो जाते है, परन्तु परिणति होगी अपने उपादानके अनुसार। तभी कहते हैं लोग कि कोई ज्ञानी पडित हो और शत्रु हो तो भी भला है और कोई मित्र हो पर मूर्ख हो तो भी वह भला नही है। कारण क्या बताया है कि जो ज्ञानी पुरुष है वह शत्रुताकी भी बात करेगा तो भी अहित हो जाय, ऐसी बात न कर सकेगा। कषायके उदयमें भले हो थोड़ा क्रोधरूप प्रवृत्ति हो जाय मगर उसका अहित न करेगा, और जो मूर्ख पुरुष है वह चाहे दूसरेका हित सोचता हो, लेकिन अपनी मूर्खताके कारण उसकी कोई ऐसी प्रवृत्ति बनेगी कि उस दूसरेका अहित ही हो जायगा। तो अपने अपने उपादानके अनुसार अपना अपना भविष्य बनता है। तब यदि शान्ति चाहिए, अपने आपको आनन्द चाहिए तो अपने आत्माको विशुद्ध बनानेका प्रयत्न करें।

मुनिअवस्थामें सज्वलनकषायका उदय भले हो, किन्तु वह सम्यक्त्वका घात करनेमें समर्थ नहीं है, वह तो चारित्रविकासको कम करने मे ही समर्थ है, इसका दिग्दर्शन करें ६८६ वें श्लोकके प्रवचनमें—उक्त विवेचनमें प्रधानतया यह सिद्ध किया गया है कि सज्वलनकषायका उदय शुद्धात्माके अनुभवमें अकिञ्चितकर है अर्थात् आत्मानुभवमें बाधा नही दे सकता है। यद्यपि यह बात ठीक है कि चारित्रमोहनीयका उदय अकिंचितकर है लेकिन सर्वथा अकिंचितकर हो सो बात नही है। हा चारित्र मोहका उदय दर्शनमोहके कार्य करने मे असमर्थ है, पर चारित्र मोहके उदयमें जो कुछ कार्य होता है उस कार्य मे तो वह समर्थ ही है। तो सज्वलन कषायका तीव्र उदय चारित्र में कुछ अशोंमें दोष उत्पन्न करदे यह तो बाधा हो सकती है, पर शुद्ध आत्मतत्त्वमें बाधा नही आ सकती है। तब शकाकारका यह कहना कि आचार्य महाराज जब साधुसघको पचाचारका आचरण कराते हैं तब उस ओर राग हो जाने से उनके शुद्धात्मा का अनुभव न होगा, यह कथन असगत है।

आठ मूल गुणोंसे रहित मनुष्यके व्रत व सयम-तकी असभवता ७२४ वें श्लोकके प्रवचनमें पढकर निश्चित करें फिर देखिये यह ७२५ वें श्लोकका प्रवचन—अष्टमूलगुण धारण किये बिना यह नामका भी श्रावक नहीं है—अष्टमूल गुण धारण किए बिना तो श्रावक नाम का भी नही कहा जा सकता। फिर अष्ट मूल गुणो से रहित पुरुष को पाक्षिक गूढ नैष्ठिक अथवा साधक आदि कुछ भी तो नही कहा जा सकता। पाक्षिक श्रावक उसे कहते हैं कि प्रतिमारूपसे व्रत धारण न करे किन्तु जैनशासनका श्रद्धान हो, जैनशासनका पक्ष ग्रहण किए रहे, ऐसे सम्यग्दृष्टि अविरत पुरुष को पाक्षिक श्रावक कहते हैं। गूढ श्रावक उसे कहते हैं कि जो व्रतोंका अभ्यास कर रहा है, प्रकट नियम रूप कुछ नही लिया है ऐसा सदाचार पाक्षिक श्रावक गूढ श्रावक कहलाता है। जिसने प्रतिमारूप व्रत ग्रहण किया है उसे नैष्ठिक श्रावक कहते हैं, और जो मरणकाल आने पर सन्यासकी विधिपूर्वक चेष्टा कर रहा हो उसे साधक कहते हैं। तो ये चार प्रकार के मूल गुण बताये हैं, इन गुणोको जो धारण नही करता उसे नाम मात्रका भी श्रावक नही कहा जा सकता। इस कारण श्रावक व्रत ग्रहण करने वाले पुरुषको अष्टमूलगुणको अवश्य ही धारण करना चाहिए।

बाह्यव्रत व कषायत्यागरूप अन्तर्व्रतमे यथार्थ आत्मकृपा है इसका दिग्दर्शन कीजिये ७५३ वें श्लोक के प्रवचनमे–व्रत दो तरह के होते है–(१) अतरगव्रत और (२) वहिरगव्रत। याने भीतरी परिणामोमे व्रत और बाहरमे जीवहिंसा न होसके इस प्रकार का व्रत। तो प्राणियोमे दया करना, किसी प्राणोके प्राणो का विनाश न होने देना, यह तो कहलाता है बाह्यव्रत और अत कषाये न होना, विषय कषायके परिणामका त्याग होना वह कहलाता है अतरगव्रत। तो अब यहा सोचिये कि अपने आपकी अपने आत्मा पर कृपा क्या कहलायगी ? भीतर विषय कषायोके परिणाम न होना और शुद्ध ज्ञायकस्वरूप आत्मतत्त्वका अनुभव बनाना वह है आत्मापर सच्ची कृपा। तो अन्तर्व्रत आत्मापर सच्ची दया कहलाती है और अन्तर्व्रतके होते सनते व ह्य व्रत भी धर्म मे सहयोगी बनता है। यदि केवल बाह्यव्रत ही हो और भीतर मे विषय कषायोका त्याग न हो वह व्रत नही कहलाता।

उपवृंहणगुणधारी लौकिक कार्योमे अप्रयत्नवान क्यो है, इसका दिग्दर्शन कीजिये ७८० वें श्लोक के प्रवचन मे–उपवृंहणगुणधारी सम्यग्दृष्टि जीव लोकव्यवहारमे सब कुछ जानता है, पर वह सब विना विकल्प किए, उसमे परिश्रम उठाये विना यो ही जान लेता है। उन लौकिक बातोमे आत्मामे कोई प्ररणा नही करना है अर्थात् लौकिक वृत्तियोसे उसकी आत्मा प्रेरित नही है, किन्तु परिस्थितिवश व्यवहार हो जाता है। इस ससार सम्बन्धी बातोको प्राप्त करने के लिए यह ज्ञानी पुरुष पुरुषार्थपूर्वक प्रयत्न नही करता है, क्योकि इस ज्ञानकी दृष्टि आत्मा की शक्तियाके बढाने मे ही लग गई है। यह निर्णय किए हुए ज्ञानी पुरुष कि मेरे आत्माका उद्धार, अतुल आनन्द प्राप्त हो सके।। तो अपने आपकी शक्तियो की वृद्धिसे प्राप्त हो सकेगा। आत्मशक्तिमे बाधा देने वाला है रागद्वेषमोहभाव। जहा आत्मामे किसी इष्ट विषयमे राग हुआ अथवा द्वेष हुआ वहा ही आत्मामे दुर्बलता आ जाती है और उस दुबलता मे दर्शनज्ञान, चारित्र हीन हो जाते हैं, बस यही इस पर आपत्ति है और इसी आपत्तिके मारे यह ससारमे अब तक रुला चला आया है।

धर्मवत्सल ज्ञानी पुरुषकी प्रकृति देखिये ८०९ वें श्लोकके प्रवचनमे–जसे किसी पुरुषके मन्त्र शस्त्र आदिक किसी भी प्रकार का बल हो तो उस समस्त बलके द्वारा पूज्य जनोके उपसर्ग को दूर करने मे समर्थ रहता है, लेकिन जिसके पास यन्त्र आदिकका सामर्थ्य भी न हो तो भी वह उन आदरणीय पुरषो और साधनो के प्रति बाधा को सहन मे समथ नही होता। यहा वात्सल्य की बात कही जा रही है। वात्सल्य का सम्बन्ध अन्तरग भावना से है। जिसके हृदयमे वात्सल्य भरा हुआ है वह पुरुष अपनी सामर्थ्य भर पूज्य पुरुषो की आपदाओका निवारण करता है और वाह्य सामर्थ्य न रहो हो तो भी वह बाधा को सहन नही कर सकता है। ऐसा वात्सल्यभावका उन ज्ञानी विवेकी पुरुषोपर प्रभाव रहता है।

प्रभावनागका मार्मिक विधान, पढिये ८१४ वें श्लोकके प्रवचनमे–धर्मकार्यका उत्कर्ष करना ही प्रभावना है। पापरूप अधर्ममे किञ्चितमात्र भी उत्साह और चिन्तन न रखना चाहिए, क्योकि अधर्म का उत्कर्ष बढाने से धर्म के पक्ष की हानि होती है और हिंसारूप अधर्म का उत्कर्ष होगा। वहां धर्म नहीं ठहर सकता। धर्म नाम है सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्‌चारित्रका। जिस प्रकार सम्यक्त्व ज्ञान और चारित्रका उत्कर्ष हो और दूसरे लोग भी अपने सम्यक्त्व, गुण, चारित्र के उत्कर्ष के लिए यत्न कर सकें उसको प्रभावना अग कहते है। सो प्रभावनामे रत्नत्रयरूप धर्म की उन्नति ही अभीष्ट है। अधर्म कार्य मे उत्कर्ष तो क्या, चित्तमे विचार भी लाना चाहिए, ऐसे विशुद्ध अभिप्राय वाले सम्यग्दृष्टि जीवके प्रभावना अग होता है।

(२९९-३००) पञ्चाध्यायी प्रवचन १३, १४ भाग

इस पञ्चाध्यायीके ८२३ वें श्लोकसे अन्तिम श्लोक तक पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराजके प्रवचन हैं। सम्यग्दृष्टिके मुख्य ज्ञानचेतना है, इसमे सर्व सद्गुणोका पूरण है देखिये ८२४ वें श्लोकका प्रवचन– ज्ञानचेतनामे श्रद्धानादि सर्वगुणोका पूरकत्व–श्रद्धान आदिक जो सम्यग्दृष्टिके गुण कहे गये हैं वे सब बाह्य पदार्थका उल्लेख करके कहे गये हैं, वस्तुत जो सम्यग्दृष्टिका एक ज्ञानचेतन ही लक्षण है। ज्ञान–चेतनामे सर्वगुण गर्भित हो जाते हैं। अगोमे जो कुछ बत या गया है उनमे ज्ञानो के ज्ञानरूपसे चेतना ही चल रही है, यह बात दिखाई गयो है। इस तरह सम्यग्दृष्टिका कोई प्रधान गुण यदि कहा जाता है तो जैसे पहिले स्वानुभूति कहा था इसी तरह समझना चाहिए कि यह ज्ञानचेतना है, क्योकि ज्ञानचेतना तो सम्यग्दृष्टि जीवके निरन्तर रहती है अर्थात् अपने आपको ज्ञानरूप हू इस प्रकार की प्रतीति और इसका ही कर्तृत्व भोक्तृत्व सब इसी को लिए रहता है। ज्ञानचेतना ज्ञानीके निरन्तर रहती है और स्वानुभूति इस ज्ञानचेतनाका एक अनुभव वाला रूप है।

ज्ञानचेतनामें अन्य क्षायोपशमिक ज्ञानोकी तरह विषय (अर्थ) सक्रमण नही है। ज्ञानचेतना का विषय सदा आत्मा ही होता है। इस प्रकरणको कारण सहित देखिये ८५३ वें श्लोकके प्रवचनाशमे–उक्त श्लोकमे बताया गया है कि सम्यग्दृष्टि जीवके ज्ञानचेतना की सदा उपलब्धि है। इस छन्दमे यह बतला रहे हैं कि इसका क्या कारण है कि सम्यग्दृष्टि जीवके ज्ञानचेतना सदा पायी जाता है। इसका कारण यह है कि सम्य–क्त्वके साथ अविनाभाव रूपसे होने वाली समोचीन ज्ञानचेतना सदा पायी जाती है। ज्ञानचेतना होने का कारण है स्वानुभूत्या वरणका क्षयोपशम। तो यह आत्मा सहज जिस स्वरूपमे है उस स्वरूपके ज्ञान होना, क्षयापशम होना, उसका नाम है ज्ञानचेनना। लब्धिमे सहज आत्मतत्त्व भी पदार्थ है उसका आवरण करने वाले कर्मका क्षयोपशम हुआ तो इस सहज आत्मस्वरूपको जाननेकी लब्धि सदा रही। अब उपयोग की बात है कि जब उपयोग हुआ स्वात्मतत्त्व पर तो वहा सद्भूत होता है, उपयोग न हो तो परका परिचय हाता है, लेकिन ज्ञानचेतनाकी लब्धि सम्यग्दृष्टिके सदा रहती है। यद्यपि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान उत्पत्तिकी दृष्टिसे एक हा काल है, जिस ही कालमे सम्यग्दर्शन होता है उस ही कालमे सम्यग्ज्ञान है, फिर भी इन दोनोका कार्य कारण भाव है, याने सम्यग्दशनके होने पर ज्ञानमे सम्यक्पना आता है तो सम्यग्ज्ञान हुआ कार्य और सम्यग्दशन हुआ कारण। तो सम्यग्दर्शन के होने पर ही ज्ञान मे सम्यकपना आया, इसका कारण यह है कि जिस समय मिथ्यात्वकर्मका उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम होता है उसी समय याने मिथ्यात्वके अभावके साथ ही स्वानुभूत्यावरण नामक मतिज्ञानावरणका क्षयोपशम हो ही जाता है। यही कारण है कि जिस कालमे सम्यक्त्व उत्पन्न होता है उस ही कालमे सम्यग्ज्ञान हो जाता है। सम्यक्त्व और सम्यग्ज्ञान के बाधक क्या हैं ? सम्यक्त्व के बाधक तो है मिथ्यात्वकर्म, अथवा कहो अनन्तानुबन्धी चार कषायें–मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यग्प्रकृति और सम्यग्ज्ञान बाधक है स्वानुभूत्यावरण। तो दानो ही कर्मो का एक साथ व्यय होता है, इस कारण सम्यक्त्वको और सम्यग्ज्ञानकी एक साथ उत्पत्ति होती है। सो जब तक सम्यक्त्व रहता है तब तक यह लब्धिरूप ज्ञानचेतना भो अखण्ड धारा से प्रवाह रूपसे निरन्तर अवश्य ही रहती है। इस कारण सम्यक्त्व के साथ ज्ञानचेतना का नित्य सम्बन्ध सिद्ध होना है। तभी ज्ञानचेतना को नित्य कहा गया है जब स्वानुभूत्यावरण का क्षयोपशम हुआ है तब ही सम्यग्दर्शन हो गया है। तो अब तक सम्यग्दर्शन रहेगा तब तक ज्ञानचेतना भी निरन्तर रहेगी और क्षायिकसम्यक्त्व होने पर तो संदेह ही नही कि ज्ञानचेतनाका कभी अभाव हो।

प्रमत्त अवस्थामें सम्यग्दृष्टिके भी पर पदार्थ की एक और उपयोग होता है, पर इस परोपयोगसे सम्यक्त्व का घात नही होता है, क्योकि उपयोग गुण दोषकी निष्पत्तिके लिए समर्थ नही, इसका दिग्दर्शन कीजिये ८७३ वें श्लोकके प्रवचनांशमे–ऊपर अनेक श्लोकोमे यह वर्णन चल रहा था उसी का यहा निष्कर्षरूप कथन कर रहे हैं कि इस प्रकार ऊपर कहे हुए गुण और दोषोमे कारण उपयोग नही होता और न वह उन दोनोमे से किसी का हेतु होता और न उपयोग गुण दोषका सहकारी भी होता, तीन बातोका यहा निषेध किया जा रहा है। उपयोग गुण दोषका कारण नहीं है। कारण कहते है उसे जिससे कार्य उत्पन्न हो। जैसे अग्निसे धूम उत्पन्न हुआ तो अग्नि धूमका कारण है, इस तरह गुण और दोष उपयोगसे उत्पन्न हो ऐसी बात नही है, अतएव गुण दोष का कारण उपयोगको नही कहा जा सकता। कारण दो प्रकार के होते हैं–उत्पादक और साधक। यहा कारण शब्दसे उत्पादक का अर्थ लगाना और जिसे साधक कारण कहा उसका नाम यहा हेतु रखा गया है। उपयोग गुण दोषका हेतु नही है यानि गुण दोषका साधक नही है, ज्ञापक नही है। जैसे धूम देखने मे अग्निका ज्ञान होता है तो धूम साधक है और अग्नि साध्य है। धूम ज्ञापक है और अग्नि वहा जानो जा रही है तो ज्ञापक भी हेतु कहलाता है, उपयोग ज्ञापकभी नही है, परका उपयोग है इससे दोष सिद्ध हो और स्वका उपयोग है इसलिए गुणका उत्कर्ष सिद्ध हो ऐसा साधक भी नही है, अतएव उपयोग गुण और दोषका हेतु भी नहीं है। सहकारी उसे कहते हैं कि जो कुछ कार्यमे सहयोग दे। जो साथ रहता हो उसे कहते है सहकारी। तो उपयोग गुण दोषका सहकारी भी नहीं हैं। जैसे घडा बनाते समय कुम्हारका दण्ड चक्र आदिक सब सहकारी हैं तो इस तरह उपयोग गुण दोषका सहकारी भी नही है। तब उपयोगका ओर से गुण दोषका निर्णय न करें कि परमे उपयोग है तो दोष हो रहा, स्वमे उपयोग है तो गुण हो रहा। जो रागभरा उपयोग है, जिसके साथ अनेक रागद्वेषकी कल्पनायें भी लगी है उस उपयोग वाले को तो यह उपदेश दिया जाता। वहा से चित्त हटाओ, पर से अलग हटाकर अपने मे उपयोग लगाओ। वहा भी सूक्ष्मतया अर्थ यह है कि रागद्वेष हटाओ, पर चूंकि उपयोग ऐसे साथ साथ रह रहे हैं तो जैसे कल बताया था कि रागद्वेषके सबधके कारण इस उपयोगको भी गालिया सहनी पडती हैं, जो बेचारा निरपराध है, जिसका काम प्रतिभासमात्र है, उस पर भी दोष मढा जाता है। तो जब जब उपयोगको स्वोपयोगी करने के लिए उपदेश किया गया हो वहा भाव और प्रयोजन यह लेना कि रागद्वेष विकल्प मिटाओ, इससे आत्माका लाभ होगा।

राग और ज्ञानमे एकार्थता नही है, इसका कारण ८८५ वें श्लोकके प्रवचनमे पढकर ८८६ वें श्लोकके एक प्रवचनांशमे उनका साक्षात् अन्तर देखिये–रागका कारण भिन्न है, उपयोगका कारण भिन्न है तब राग और उपयोगकी समव्याप्ति कैसे बनायी जाय? राग अपने कारण से होता है, उपयोग अपने कारणसे होता है। राग और ज्ञान इन दोनोमे स्वरूपभेद है, दोनोका एक अर्थ है। जैसे मीठा, रूखा, अनेक प्रकार का भोजन आपके सामने है, पर विवेक करके उसका अलग अलग स्वाद ले लेगे लोग, किन्तु हाथीका एक दृष्टान्त देते है। जैसे हाथीके सामने घास डाल दो, हलुवा डाल दो, या और कोई मिठाई डाल दो, रोटी डाल दो तो वह उन सभी चीजोको एक मे ही लपेट कर एक साथ खा जायगा, वह उनका अलग अलग स्वाद न ले सकेगा, यो ही समझिये कि आत्मा के आहार के लिए, अनुभवनके लिए दो चीजें हैं–राग और ज्ञान। अब ज्ञानी पुरुष तो रागका रागरूप और ज्ञान का ज्ञानरूप परख कर लेते है। वह दोनोमे हित अहितका निर्णय कर लेगा। एक साथ दोनो धारायें चलने पर भी उनके स्वरूप भेदको समझ लेगा, पर अज्ञानी जीव उपयोग और रागके स्वरूपका ज्ञान न कर सकेगा, उसके लिए क्या राग और क्या ज्ञान? जो भी एक पर्याय गुजर रही है उसने हा मान [illegible]

भेदविज्ञानमे यह बहुत उपयोगी बात है समझने के लिए। आत्मामें जो रागधारा, ज्ञानधारा चल रही है और चल रही है दोनो एक साथ। राग भी काम कर रहा और ज्ञान भी काम कर रहा, मगर ज्ञान का काम कितना है? एक बल्ब के ऊपर हरा कागज लगा दिया, अब उसमे जो प्रकाश चल रहा वह बात तो एक चल रही है वहा, मगर उस प्रकाशको देखकर विवेकी क्या यह ज्ञान नही कर सकता कि उस बिजली के बल्बका, उस प्रकाशनका काम तो प्रकाशन मात्र है जिसमे कि कुछ देखा जाय, पर जो यह हरा भरा हो रहा वह बल्बका, बिजलीका प्रकाशनका कार्य नही है। यह तो किसी हरी चीज की उपाधिका काम है। चलो यह तो कागज लगे की बात है। बल्ब भी आप रगीन ले आयें और उसमे भी जो प्रकाश होगा उसमे भी तो यह भेद पडा है कि दोनो का काम तो प्रकाशना है। यह हरापन नही है, ऐसे ही समझिये कि जीवमे जो कुछ बात इस समय चल रही है उसमे जो प्रतिभासन है वह तो उपयोगका काम है और विकार, आकुलता, वासना आदिक जो कुछ भी बातें साथमे लग रही है यह उपयोगका कार्य नही है। यह रागद्वेषादिक भावोका कार्य है। ऐसे दो भेद ध्यानमे आये। उन्हे अपने आपके विषयमे घटित करें। जो बात चल रही है उसमे जो विकल्पाश है, ज्ञयाश है, सुख दुख, आकुलता, व्यग्रता आदिक जो कुछ कार्य है वह सब रागद्वेषादिक भावोका विकार है। ज्ञानका कार्य तो प्रतिभासना है। ज्ञान तो मेरे गुणमे है। राग मेरे गुणमे नही है। तो प्रतिभासन तो मेरा कार्य है, पर आकुलता सुख दुःख रागद्वेष ये मेरे कार्य नही हैं। वह प्रतिभासन तो मेरी करतूत है, मेरी चीज है। ये रागद्वेष मेरी चीज नही है। प्रतिभासन मेरे अनर्थ के लिए हो ही नही सकता, क्योकि वह मेरा तत्त्व है, मेरा कर्तव्य है, लेकिन रागादिक भाव तो अनर्थ के लिए ही होगा, क्योकि यह परभाव है, औपाधिक भाव है, मेरे स्वरूपकी चीज नही। ये तो मेल कहलायेंगे ही। परभावका, परद्रव्यका सबध होने का नाम मेल है। चाहे वह सफेद चिकनी बढिया चीज दूसरे म लगी हो तो वह दूसरे पदार्थ के लिए मेल ही हैं। जैसे यहा मनुष्य इन गाय, भैस, घोडा आदि को देखकर ऐसा समझते है कि ये कुछ नही हैं। उनमे कुछ ऐसी खास बुद्धि नही जगती, ये मेरे लिए कोई खास रागके लायक उपयोगी नहीं हैं, इन्द्रियविषयोके उपयोगी नही है, ऐसे ही गाय बैल आदिक इन आदमियो को देखकर समझ होंगे कि ये कैसी अटपट चीजे हैं, कैसा ये दो टागोसे खडे हैं, कैसा सीधे चल रहे है। ये तो सब बडे अटपटे से लग रहे है, ऐसा अटपट क्या उन गाय, भैंस आदिक पशुओको न लगता होगा? तो अपने लिए पर का सम्पर्क मेल ही है। चाहे वह बढिया हो, घटिया हो, उस वस्तुके लिए ये समस्त पर मेल है, इसी तरह मुझ आत्मवस्तुके लिए ये समस्त रागादिक भाव मेल हैं और उपयोग यह ज्ञान प्रतिभास, यह जानन, यह मेरा गुण है, मेरी चीज है। सूक्ष्मदृष्टि से वहा पर भी भेद आयगा। यह इन्द्रियज ज्ञान मेरे लिए मेल है, मेरा स्वरूप नही है, पर थोडा एक स्वक विकासमे हुआ है। इस दृष्टिमे कहा जाता है। तो रागके भिन्न कारण हैं, ज्ञानके भिन्न कारण है, स्वरूपभेद है, विधिभेद है, ज्ञान पर चीज के हटने से हुआ, राग परचीजके आने से हुआ। तो जहा ये सारे भेद प्रतिपक्षरूपसे चलते हो वहा राग और ज्ञान को एक कैसे कहा जा सकता है?

परोपयोग अथवा राग होने से ज्ञानचेतना मिट जायगी, ऐसा सन्देह जिनको हो वे ६२२ वें श्लोकका एक प्रवचनाश पढकर सन्देह दूर करलें—राग कैसे होता है? किसी कर्मके उदयका निमित्त पाकर। कौन से कर्म के उदयके निमित्तसे? चारित्रावरणके उदयसे, अथवा कहो चारित्रमोहनीय कर्म के उदयसे राग-भाव होता है, सो उस रागभावसे अथवा कहो चारित्र मोहनीय के उदय से सम्यक्त्वका घात नही हो सकता। रागभावका यह अधिकार नही है कि वह दर्शनमोहनीय कर्म के बारे मे कुछ कर सके। इसी कारण तत्वार्थसूत्रमे ८ वे अध्यायमे जहा कर्म के नाम लिए गये है वहा मोहनीयका नाम दो भेदो मे

लिया है। दर्शनमोह और चारित्रमोह दर्शनमोहके उदयसे मिथ्यात्व होता है, रागभाव के कारण या चारित्रमोहके उदयसे मिथ्यात्व नही होता, यहा वस्तुस्वरूप बताया जा रहा है। कही यह बात न ग्रहण कर लेना कि देखो यह कहा जा रहा है कि रागभाव भी रहे, सम्यक्त्व भी रहे, कोई विरोध नही, तो हम तो घरमे रहकर खूब डटकर रागभाव करेंगे, क्योकि बताया ही जा रहा कि राग भी रहे, सम्यक्त्व भी रहे। अरे जिसके सम्यक्त्व रहता है वह कर्म के उदयमे रागभाव हो तो उससे भी विरक्त रहता है। यह बात तो अपने आपमे परखलो कि अपने आपमे जो राग जगता है उस रागसे आपको घृणा है या नही। जो कुटुम्ब, परिवार वैभव, घर सम्बन्धी राग जगता है चित्तमे उस रागसे आपको ग्लानि है या नही? उस राग से हटने के लिए आपको भीतर मे तडफन है या नही? यदि उस राग को भला मान रहे हैं तो तो सम्यक्त्व नही है। राग दो किस्मके मान ले-एक तो विषयोका राग और एक उन रागो का राग। उदय आया, न सह सके, विषयो मे लग गये, यह हुआ राग, इतना तक तो सम्यग्दृष्टि के सम्भव है, लेकिन उस राग मे भी राग रहे, उस राग से भी ग्लानि न आये तो ऐसा राग सम्यग्दृष्टि के नही होता। ऐसे रागको मिथ्यात्व कहते हैं जो रागमे राग बनाये। राग तो मात्र राग है, रागभाव सम्यक्त्वका विघातक नही। दर्शन मोह का उदय ला सकने वाला नही। गुण दो है-चारित्रगुण और सम्यक्त्व गुण। सम्यक्त्व गुणकी प्रक्रिया उस ही मे होगी, चारित्र गुण की प्रक्रिया उस ही मे होगी, तब शकाकार का यह कहना कि रागकी ऐसी शक्ति है कि वह दर्शनमोहका उदय ला सकता है, यह कहना युक्त नही।

औपशमिक, क्षायोपशमिक व क्षायिक सम्यक्त्वमे स्वानुभूत्यात्मकरसास्वादका भेद नही है, मनन कीजिये ९३६ वें श्लोकके एक प्रवचनांशमे-सम्यक्त्वके तीन भेद है-औपशमिक, क्षायोपशमिक, क्षायिक ये भेद स्थितिके भेद से है, अथवा कर्मो की दशाके भेद से है, किन्तु सम्यक्त्वमे स्वय मे कोइ भेद नहीं पडा है। किसी का स्वाद जो कोई खायगा उसको वैसा ही आयगा जैसा सबको आता है। कभी कभी आहार करते समय जब कोई मा यह कहती है कि यह चीज अमुक चीजके साथ खावो महाराज, तो हमे थोडा मनमे यह हसी आ जाती कि देखो-इनके मनमे है कि जैसा स्वाद हम लेते हैं वैसा ही स्वाद इनको आ जायगा। तब ही तो वह ऐसा कहती हैं। तो जो मिश्री खायगा उसका स्वाद भी वैसा ही आयगा। किसी को कम मिश्री मिली है तो वह कम देर तक स्वाद लेगा, जिसे अधिक मिश्री मिली है तो वह अधिक देर तक स्वाद लेता रहेगा, मगर मिश्री के स्वादमे तो अन्तर न आ जायगा। कही ऐसा तो न हो जायगा कि थोडी मिश्री खाने वाले को करेला जैसा स्वाद आये और अधिक खाने वाले का और तरह का स्वाद आये। सबको स्वाद एक किस्मका आयगा। ऐसे ही सम्यक्त्वका स्वाद स्वानुभूति स्वरूप है। स्वाद सबमे एकसमान है। चाहे औपशमिक सम्यग्दृष्टि हो चाहे क्षायिक सम्यग्दृष्टि हो अथवा क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि हो, सभीको स्वानुभूत्यात्मक आनन्द आता है। जब अपने आपका मैं ज्ञानमात्र हू, इस प्रकार से अनुभव मे लेते है उस समय वही अमीर है। उसके समान लोकमे कोई पुरुष नही। अपने आत्मापर श्रद्धा करो, मोक्षमार्गपर श्रद्धा करो, जीवन सफल हो जायगा।

ज्ञानचेतना के लाभ के सामने त्रिलोकसम्पदालाभ भी तुच्छ है, पढिये ९३६ वें श्लोकके एक प्रवचनांशमे-देखो भैया, हो गया ढेर लाख करोडका, तुम तो अकेले ही हो, निराले हो, शरीर छोडकर जाना पडेगा, मरण होगा और जब है तब भी तुम्हारा कुछ नही है। उसमे क्या सार है? एक आत्मस्वरूपका भान हो, आत्मस्वरूपकी दृष्टि हो तो इससे बढकर जगतमे कही कुछ वैभव नही। एक मेरी आत्मदृष्टिके कार्य हो छोडकर बाकी सारे काम सारे लोग, सारी वस्तुवे किसी भी प्रकार परिणमे, मेरा उनसे

को दखल नही है । मेरे को उनमे कोई क्षोभ न होना चाहिए । *यह ज्ञानचेतना का वैभव जिसने पाया* वह वास्तवमे अमीर है, शेष तो गरीब हैं, तृष्णावान है और फिर उन तृष्णावानोमे जो कृपण हैं वे तो दयापात्र हैं । जिन्होने आत्म-स्वरूपका अनुभव नही किया वे पुरुष दु खमे ही रहेगे, चाहे राष्ट्रपति बन जायें, चाहे सर्वविश्वराष्ट्रसघके प्रधानमंत्री बन जाये, या कोई भी बडा से बडा पद मिल जाय, जो कि लोकव्यवहारमे माना जाता हो, तो वह भी दु खी रहता, व्याकुल रहता । तो एक ज्ञानचेतना वैभव प्राप्त हो इसके लिए यत्न करो । आपको इसका महत्व दिलमे समाया है इसकी निशानी यह है कि आप सोचें कि जैसा तन, मन, धन, वचन परिवारके लिए लुटा रहे है, दुनियामे इज्जत पाने के लिए लुटा रहे हैं उतना तन, मन, धन, वचन एक ज्ञानके खातिर हम समर्पण करने के लिए तैयार हैं या नही ? यदि तैयार है तो समझो कि इस ज्ञानचेतनाका महत्त्व हमारे चित्तमे समाया है । उस ज्ञानचेतना के सम्बन्धमे यह प्रकरण चल रहा है कि ज्ञानचेतनाका विघात होगा तो सम्यक्त्वके विघात के साथ होगा । सम्यक्त्वका विघात दर्शनमोहके उदयमे होगा । बचे खुचे रागभाव सम्यक्त्वको, ज्ञानचेतना को मिटानेमे समर्थ नही हैं ।

वैभाविकी शक्तिके वर्णनके प्रसगमे विभावोकी चार प्रश्नोमे जिज्ञासा हुई थी, उस स्थलसे सम्बन्धित पाच भावोके वर्णनमे देखिये पारिणामिक भावके स्थलमे सहजपरमात्मतत्त्वकी महत्ता, ९७२ वें श्लोकके एक प्रवचनांशमे— जिसके चित्तमें यह भाव नही भरता कि इस धनवैभवसे बढकर मेरा सहज भाव है उसको धर्मकी बात मिल ही नही सकती । या तो दिल बहलाना, तफरी आदिक करना, यह तो कुल परम्परासे चला आया है । मन्दिर जाना चल रहा है, आदत बनी हुई है कर रहे हैं धर्मको बात । मगर मोक्ष मार्गका लाभ नही मिलता । मोक्षमार्गका लाभ जगतके सारे वैभवोकी उपेक्षा तब तक न हो तब तक आत्मरुचि क्या ? और जब आत्मरुचि नही तब मोक्षमार्ग भी नही ? जितने दिखने वाले लोग है, जिनके बीच आप कुछ व्यवहार करते है सबके सब ये मूर्तिया आपको यह जचने लगे कि ये तो मायामय हैं, ये तो असमानजातीय द्रव्यपर्यायें हैं, वास्तविकता इनमे क्या है ? जब तक हम यो न समझें तब तक समझो कि हमने अभी धर्मका मार्ग नही पाया । मेरे लिए मैं ही हू, इसी को ही निगाहमे रखकर बोलो—तुमही माता हो, तुम ही पिता हो, तुम ही गुरु हो, तुम ही बन्धु हो, तुम ही रक्षक हो, सब कुछ तुम ही हो, ऐसी अपनी ओर दृष्टि करके अपने आपमे विराजमान प्रभुकी भक्तिमे तो आये हमारे पूज्य परमात्म-देवकी दिव्यध्वनिमे यह ही उपदेश हुआ है । उन्होने यह कभी उपदेश नही किया कि तुम मेरी ही भक्ति मे रहो । मेरे से ही गिडगिडाते रहो मेरे से प्रार्थना करते रहो तो तुमको सुख मिलेगा, मुक्ति मिलेगी । जबकि अन्य लोगो ने डटकर केवल यह ही कहा कि तुम बस मेरे को भजो, जरा भी और कुछ मत सोचो, तुमको मुक्ति दिला दगे । कैसा यह निष्पक्ष अनुशासन है, इसे पाकर भी यदि जड से प्रीति नहीं मिट रही और अपने चैतन्यस्वरूपसे प्रीति नही जग रही तब क्या ठिकाना होगा ? देखो—अपने आपमें अपने प्रभुको । यह है पारिणामिक भाव । आत्मद्रव्यकी जो निज सहज प्रकृति है, स्वभाव है, स्वरूप है वह है *पारिणामिकभाव । यह भाव न उदय से है, न कर्म के उपशमसे है, न क्षयसे है, न* क्षयोपशमसे है ।

विपरीत बुद्धि ही मोहिनी विपत्ति है, इसका दिग्दर्शन कीजिये ९९०-९९१ वें श्लोकके एक प्रवचनांशमे— प्रसग यह चल रहा है कि दर्शनमोह के उदयमे जीवके मिथ्यात्वभाव होना है । जीवकी श्रद्धा विपरीत हो जाती है, उसी सम्बन्धमे दृष्टान्तपूर्वक कहा जा रहा है कि जैसे मदिरा पीने वाले पुरुषकी बुद्धि मदिराका नशा चढ जाने पर भ्रष्ट हो जाती है तब ही तो मद्यपायी पुरुष या धतूरा खाने वाला

पुरुष शख आदिक सफेद चीजोको पीला समझता है, उसकी बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है, उल्टा जानता है, और कदाचित् कभी कुछ कठिन भी कह दे तो भी मदिरापायी पुरुषकी बात सही नहीं मानी जाती। सूत्र जी मे बताया है कि उन्मत्त पुरुषकी भाति विपरीत ज्ञानोमें बुद्धि हो जाती है, वह कभी स्त्रीको मा भी कह देता, कभी मा को स्त्री भी कह देता और कदाचित् मा को मा भी कह देता तो भी वह मिथ्या ही माना जायगा, क्योकि वहा दृढता नही है, स्वच्छता नही है। तो जैसे मदिरापायी पुरुष यथार्थ बुद्धि नही रख पाते, इसी प्रकार दर्शनमोह कर्म के उदयसे यह जीव यथार्थ बुद्धि नही रख पाता। बस ससार मे दुख है तो इतना ही है कि हमारा ज्ञान व्यवस्थित नही रह पाता। कष्ट और कुछ है ही नही। घर गिर गया तो गिर जाने दो, दुनिया के सभी घर गिरा करते है। कोई परिजन गुजर गया तो क्या करे, सब जीव यहा गुजरते ही है। ससारकी रीति ही यह है। खुद गुजर गये, देहसे अलग हो गये तो यह तो होना ही पडेगा। आयुकर्मका उदय जब तक है तब तक देहमे है, जब न रहा तो देहसे निकल भागे। इसमे कष्टकी बात क्या? घर छूट गया तो क्या नुकसान? छूट गया तो आगे कही जायेगे। तो ससार मे दुख किसी बातका नही है। दुख है तो एक इस विपरीतबुद्धिका। विपरीत बुद्धि कहो अथवा मोह कहो, सारा दुख मोहका है, और इसी कारण जिसने मोह पर विजय पाया है, वह ही सन्त कहलाता है, वह ही उत्तम पुरुष कहलाता है। देखो मोहियोके पैर मोही भी नही पडता और निर्मोह के पैर निर्मोह भी पडते और मोही भी पडते। भले ही मोही कुदेवोकी पूजा करने वाले कुछ लोग है लेकिन यह मोही है, ऐसा जानकर वे भी नही पूजते। वे उन्हे भगवान समझते है कुछ भली बात मनमे रखते हुए है। भलेही उन्होने स्वरूप सही नही जान पाया इसलिए मिथ्यात्व है, लेकिन बात यह कही जा रही कि मोह अच्छी चीज नही होती, अन्यथा मोहियोकी पूजा होती। प्रभु पूजा हो क्या है कि निर्मोह अवस्था उत्तम चीज है।

आवृत अवस्थामे भी अन्तस्तत्त्वकी अन्त प्रकाशमानता परखिये ९९४ वें श्लोकके एक प्रवचनागमे—जैसे मेघो से आच्छन्न सूर्य उसका प्रकाश नही है, लेकिन सूर्य मे स्वय मे प्रकाश है कि नहीं? मेघोकी घटा आ गई। अब यहा रुका। रुक गया, तो रुक गया, तो रुक तो गया प्रकाश, लेकिन सूर्य मे स्वय क्या यहा अधेरा है? वह अपने मे प्रकाशमान है। तो इसी तरह द्रव्यदृष्टि से यदि निरखे तो आत्मा अपने स्वभावसे स्वय ज्ञानस्वरूप है, पर आ गया है ज्ञानावरण, तो यह ज्ञानस्वरूप आत्मा प्रकाशमे नही आ रहा है। जैसे इन बादलोके ऊपर हवाई जहाज चलता है, बादल बहुत नीचे रह जाते हैं, ऊपर हवाई जहाजसे चलने वाले लोगोको क्या तकलीफ है? बल्कि उसमे बैठे हुए तो नीचे के बादलोका नजारा देख देखकर खुश होते चले जाते है। उन्हे कष्ट क्या? तो इस तरह इन सब कर्मकलक आवरण, इन सबसे परे जो आत्मा निजज्ञानस्वरूप है उस ज्ञानस्वरूप तक जो पहुच गया, वहा जो विहार कर रहे उनको क्या अडचन है, वे तो कर्म और कर्मफलका दृश्य देखकर ज्ञाता दृष्टा रहते हैं। तो यो इन सब आवरणकर्म, नोकर्म इन सबसे परे जो मेरा अन्त ज्ञानज्योतिस्वरूप है उस स्वरूप तक पहुचनेका पौरुष करले। ये दिखने वाले मायामयी दृश्यमान पदार्थ तेरे साथ सदा न रहेगे। इनके परिचय मे तथा मन, वचन, कायकी जो क्रियाये होती हैं उनमे भी यह आस्था मत रखे कि ये मेरी चीज हैं। तत्त्वज्ञानी पुरुष जानता है कि मैं जो कुछ कर रहा हू या जो कुछ मैने अब तक किया वह एक अज्ञानमय चेष्टा है। कैसा निराला है यह ज्ञान। करना भी करते हैं, सिर भी झुकाते है, पर विवेक है कि यह तो सब अज्ञानकी लीला है। यो करना, यो चलना, ये सब अज्ञानकी चेष्टाये है और भीतर जो एक ज्ञानज्योति स्वरूप अन्तस्तत्त्व है, उसका जो किरण है, जो जगमगाहट है वह है एक ज्ञानचेष्टा। यहा तक जिसकी विरक्ति है, उपेक्षा है, धर्मका मर्म तो उसने पाया। और, यहा थोडा बहुत धर्म की बात सीख लेने वाले

य कुछ ऊपरी बातें करने वाले यहीं खुश हो रहे, समझ लेते कि मैंने बहुत धर्म कर लिया और दूसरों को मैं बहुत धर्म मे लगा देता हू। अरे धर्म मे लगना क्या और लगाना क्या-पहिले तो यही जानो। कितना गम्भीर और कितना शान्त मैं अन्तस्तत्त्व हू। तो वर्तमान पर्याय जो कुछ भी है वह सन्तोप का साधन न कबूल करें। इससे तो हटना है यह पर्याय-इससे हटकर आगे बढना है। यह मेरा कोई परम धाम नही है।

सम्यक्त्वगुण और सम्यक्त्वघातक दर्शनमोहनीय कर्मका अस्तित्व परखिये १००६ वें श्लोकके प्रवचनमे- सम्यक्त्वगुण जब पृथक् है, उसका स्वरूप निराला है, भिन्न लक्ष्य है, भिन्न लक्षण है याने ज्ञानसे जुदा है और ज्ञानके लक्षणसे जुदा लक्षण है उसका तब दर्शनमोहनीय कर्म भो जुदा लक्षणवाला है, इस कर्मका किसी कर्म मे अन्तर्भाव नही किया जा सकता। किसी भी नयसे दर्शनमोहनीय कर्म को किसीमे शामिल नही कर सकते। यो समझ लोजिये-जैसे कोई सवारी चलती है माना जहाज चला तो उसके चल सकने मे एक दिशाप्रदर्शक होना चाहिए-चाहे वह नक्शो द्वारा हो, चाहे लाइट लगी हो चाहे बडा झडा गडा हो, दिशाप्रदर्शन हुए विना जहाजका चलना नही बनाया जा सकता। पानीके जहाज का भी चलना देखलो-उसमे भी दिशाप्रदर्शनके संकेत रहते हैं। किस ओर ले जाना है जहाजको और ज्ञान भी हो सब बातो का और उसे चलाये भी तो अपने लक्ष्यपर पहुचता है, इसी तरह जो हमारे लिए दिशा-प्रदर्शन की बात है वह मिलता है सम्यग्दर्शन से। इससे चलना नही होता, चलना होता है सम्यक्-चारित्र से। मोक्षमार्ग मे चलना, बढना, पर दिशाप्रदर्शन न हो तो चलने का काम नही बन सकता। चलेगा तो उल्टा चलेगा, खतरा होगा, धोखा खायगा। देखिये जब कभी स्टेशनोका फोन खराब हो जाता है, बीचके तार वगैरह टूट जाते हैं तब गाडी आगे नही चलती। बीचमे ही किसी स्टेशन पर रोक दी जाती है, और कभी कोई ऐसा ही समय आ जाय और बहुत देर हो जाय तो इजनवाला अगर दयालु हो तो खुद खतरा मोल लेकर गाडी को स्टेशन पर छोडकर खाली इजनको आगे के स्टेशन तक ले जाता है। वहां स्टेशनमास्टरसे लिखा लेगा कि कोई गाडी नही आ रही है, न आवेगी, तब वह इजनको वापिस लाकर गाडीको जोडकर ले जाता है। तो यह दिशाप्रदर्शनका, लाइनक्लियरका साधन न रहे तो कोईकाम नहीं बन सकता। तो चलनेमे दिशाप्रदर्शनकी बात कितनी सहायक है। सम्यग्दर्शन ऐसा ही दिशाप्रदर्शन करता है। यहा चलो, यहा रमो, यही स्वच्छता है, यही हित है। बाहरमे सर्वत्र तेरी बरबादी है, इस सम्यक्त्वको ही माता, पिता, गुरु अथवा रक्षक सभी कुछ कह सकते हो। इस भूले भटके जीवका सहारा यही एक सम्यक्त्व है। सम्यक्त्वके कारण ही यह समझ बठती है कि किसी भी बाह्य पदार्थ मे सारपनेका विश्वास न करे, किसी से भी अपना हित न समझे। तुम स्वय एक स्वच्छ ज्ञानज्योति स्वरूप हो। अपने आपमे रमो। बठो, ऊधम न करो। आरामसे बैठ जावो-यह उपदेश हमे यह सम्यक्त्व देता है। कुछ लहर उठना, कुछ तरग चलाना, विकल्प करना, चुलबुल मचाना यह सब ऊधम है, पर मोही मोही जहा सारे ऊधम मचा रहे हो तो फिर कौन किसे ऊधमी कहे? सत्य तो इतना है कि जितना यह ज्ञानमात्र अतस्तत्त्व है। बस जो है सो है, यह दिशा बताता है हमे सम्यक्त्व। ऐसे सम्यक्त्वगुणका जो घात करता है उसे कहते हैं दर्शनमोहनीयकर्म।

(३०१) परमानन्दस्तोत्र प्रवचन

परमानन्द स्तोत्र पर पूज्य श्री १०५ क्षु० सहजानन्द जी वर्णी महाराज द्वारा किये गये प्रवचन इस पुस्तक मे है। कुछ प्रवचनांशोको पढकर इसका हृदय परखिये-निर्विकल्पसमुत्पन्न ज्ञान सुधा रस का पान-निर्विकार पद्धति से उत्पन्न हुआ ज्ञान ही अमृत रस कहलाता है से इस ज्ञानामृत को बुद्धिमान लोग विवेकरूपी

अजुलो करके पिया करते है। अमृत की चर्चा कथाओ मे बहुत बहुत आया करतो है। कोई कहता है कि किसी ने अमृतफल दिया वह अमर हो गया। तो वह अमृतफल किस तरह का होता होगा ? कोई फल जैसा है या अमृतरस कोई शर्बत जैसा है ? कहा से मिलता है और पीने से अमर हो जाता है ? वे सब कथाये केवल उपन्यास जैसी हैं। उनमे सच्चाई नही है। अमृतरस कही नही पडा है व अमृतफल कही नही है जो कही पेडो से मिलता हो या कोई ढेला के रूप मे कही पाया जाता हो। तब फिर वह अमृत क्या है ? निर्विकार पद्धति से उत्पन्न हुआ ज्ञान ही अमृत है, हम आप सब ज्ञानस्वरूप है। ज्ञान के सिवाय हम आपमे कोई स्वरूप नही भरा है। जब हम ज्ञान ही ज्ञान मात्र हैं। इस विधि से अपना चिन्तन करते हैं और ज्ञान मे केवल ज्ञान स्वभाव को ही धारण करते है उस समय ज्ञान मे ज्ञान स्वरूप ही विषय रहने के कारण एक निर्विकल्पना जगती है और उस निर्विकल्प पद्धति मे जो ज्ञान जगता है बस वही अमृतरस है। लोग कहते हैं कि अमृत को पाने से अमर हो जाता है। 'लो वह अमृत क्या है ?' बस अपना शुद्ध ज्ञान। शुद्ध ज्ञानदृष्टि हो। मैं ज्ञानमात्र हू इस प्रकार की प्रतोति अनुभूति हो तो वह अमर हो गया।

ज्ञान सुधारस पान से अमरत्व प्राप्ति–विशुद्ध ज्ञानानुभूति सुधारस के पान से अमरत्व कैसे हो गया सो देखिये–आत्मा तो अमर है, आत्मा का स्मरण है हो नही, लेकिन इसको सुध न होने से मैं मर जाता हू। मर जाऊगा इस प्रकार की शका लोगो का बनी रहती है। इससे अमर नहो कहलाते। जसे किसी के घर मे धन गडा हुआ है और उसका पता नहो है तो वह तो गरीब है और पता हो जाने पर चाहे वह मिल नही पाया अभी तक लेकिन उसका ज्ञान हो जाने पर यह बात आ गई कि मेरे घर मे इतना धन गडा है तो इतना ज्ञान होने से ही उसके भावो मे परिवर्तन हो गया। कुछ ढसक सी आ जाती है। धन मिलने पर तो अमीर है ही। इसी तरह यहा भी समझिये कि यद्यपि मैं आत्मा अमर हू कोई भी पदार्थ हो सभी अमर हैं किसी का विनाश नहो होता। आत्मा भी सद्भूत हू, मेरा भो विनाश नहो होने का, लेकिन ऐसे सद्भूत आत्मा का परिचय जब अज्ञानी जीव को नही रहता तब वह पद-पद पर मरण की शका देखता है। सभो लोग अनुभव कर सकेगे। अगर मरण को कोई बात आती है ता घबडाहट होती कि नही ? हाय मैं मरा, मेरा यह सब कुछ छूट रहा तो मरने पर यह घबडाहट क्यो है' उसके दो कारण हैं (१) अहकार (२) ममकार। शरीर मे अहबुद्धि लगी है यह मैं हू, और बाह्य पदार्थो मे ममता लगी है। यह मेरा है उसका भी ख्याल आता है कि ये मेरे इतने पदार्थ बिछुड या दुखी होते है। ये दोनो बातें भ्रम मे न रहे, इनका यथार्थ वोध हो। मैं आत्मा देह से निराला ज्ञान-स्वस्थ हू, जिसे कोई नहीं समझ रहा ऐसा मैं ज्ञान सामान्यात्मक आत्मा यहा न रहा, और को चला गया, पर मैं तो अमर हू। यहा से चले जाने मे मेरा कोई विगाड नही। यह वात जव तक समझ मे नहो आती तब तक मरने की शका मिट नही सकती।

देह से आत्मा की भिन्नता परखिये ७ वें श्लोक के एक प्रवचनाशमे–कमलिनो पत्र मे जल की तरह देह मे रहकर भी आत्मा की भिन्नता–जैसे पानी कमलपत्र पर नही ठहरता है, कमल पत्र में पानी भरा हो तब भी वह पानी कमलपत्र से निराला है इसी प्रकार यह आत्मा देह मे रहता हुआ भी इस देह से निराला है। यद्यपि पानी सभी पत्तो से निराला है किसो भो पत्ते मे पानी का प्रवेश नही और पानी मे पत्ते का प्रवेश नही। तो स्वरूप दोनो का पृथक है फिर भी कमलपत्र का जो दृष्टान्त दिया है वह एक शीघ्रता से समझने के लिए दिया है। कमलिनी का पत्र ऐसा खास होता है कि उस पर पानी का चिपकाव होता हो नही है। इतना चिकना पत्र है कि उस पर पानी ढुलकता रहता है। चिपकता नहो

है। जैसे कि अन्य पत्रो पर पानी पडा हो तो कुछ पानी का अंश है पत्ते पर यह दिखता है, पहिचान सब ने है, पर कमलिनी का पत्र पानी मे डुबा देने पर बाहर निकाला जाय तो तुरन्त ही निकाला जाने पर भी कोई नही पहिचान सकता कि यह पत्ता पानी मे था। इतना चिकना होता है कि पानी की एक बूंद भी उस पर ठहरती नही है तो शीघ्रता से समझने के लिए यह दृष्टान्त दिया है कि देखे जैसे पानी कमलिनी-पत्र मे रहता हुआ भिन्न ठहर रहा है इसी प्रकार यह आत्मा स्वभावत देह मे रहता हुआ भी भिन्न है। जबअपने आपके ज्ञानस्वरूप पर दृष्टि दी जाती है तो यह ज्ञानमय आत्मा ही केवल नजर आता है शरीर के साथ नजर नही आता । बाहर इन्द्रियो से कुछ निरखते है तो वहा ऐसा मालूम होता कि यह ही तो जीव है और देह से निराला जीव है ऐसी पहिचान नही हो पाती, लेकिन जीव नियतत स्वभाव से देहसे निराला है अन्य सब पदार्थो से निराला है। मेरा स्वरूप किसीभी वस्तुसे मिला हुआ नही है।

अपना एक मात्र सार कर्तव्य देखिये २० वें श्लोक के एक प्रवचनांशमे—अपने को ज्ञानस्वरूप अनुभव करने का कर्त्तव्य—हम आपको यह ही अनुभव करना चाहिए अधिक समय कि मैं आत्मा ज्ञानस्वरूप हू, उत्कृष्ट आनन्दमय हू। प्रभु जो कोई हुआ है वह मेरा ही जैसा आत्मा था और उन्होने भेद विज्ञान किया। पर को पर जाना, निज को निज जाना, पर से उपेक्षा की, निज मे अनुराग किया और अपने आपमे केवल एक ज्ञानज्योति स्वरूप का अनुभव किया। मैं ज्ञानमात्र हू। ज्ञान के सिवाय मेरा और कोई स्वरूप नही। बस इस ध्यान के प्रताप मे उनका कर्ममल दूर हुआ और प्रभु बन गए। तो यह ही विधि मैं करू तो क्यो न प्रभुता पा सकू गा। मेरा जीवन मे प्रोग्राम केवल एक यह है कि मैं प्रभु बनू, मैं अरहत होऊ, परमात्मा बन जाऊ, ऐसा अपना प्रोग्राम सोचना चाहिए। मुझे और कुछ नही बनना है, क्योकि अन्य कुछ बनने मे मेरे को सार कुछ न मिलेगा। सब स्वप्नवत् असार बाते हैं इसलिए मैं और कुछ नही बनना चाहता मुझे तो परमात्मा स्वरूप पाना है। प्रभु होऊ गा, ऐसा अपनी प्रभुता का प्रोग्राम यदि चित्त मे है तो ज्ञान की बात, धर्म की बात, मुक्ति की बात अब सुहाने लगेगी और अपने मे प्रभुता का प्रोग्राम नही है तो धर्म कितना ही करते जावो, वह एक करना ही है, पर वास्तविक लाभ नहीं मिल सकता। इसलिए अपने आपको ऐसा सोचें कि जो अरहन्त का स्वरूप है सो मेरे स्वरूप मे है। मैं अपने को ज्ञान मात्र निर्दोष वीतराग आनन्दमय निरखता रहू और किसी पर वस्तु को महत्त्व न दू तो मैं अपने इस ज्ञानमय आत्मतत्त्व ध्यान के प्रताप से परमात्मस्वरूप हो सकू गा। तो ऐसा अपना ख्याल बनना चाहिए कि मैं मनुष्य हुआ हू तो इसलिए हुआ हू कि ऐसा उपाय बना ले कि शरीर कर्म, विभाव, जन्म मरण आदि सारे मेरे सकट समाप्त हो जाय। मैं मुक्त हो जाऊ निकटकालमे और सदा के लिए कृतकृत्य हो जाऊ। जब तक मैं मुक्त न होऊगा तब तक मैं कृतार्थ नही हो सकता हू इससे मेरे को यहा किसी समागम मे रूचि नही है। केवल अपना अन्त समाये हुए परमात्मस्वरूप के दर्शन करके इसी स्वरूप का प्राप्त करू गा, ऐसा अपना लक्ष्य बनाना चाहिए।

आत्मामे परमात्मत्वका दर्शन करने आइये २३ वें श्लोक के एक प्रवचनांशमे—दूध मे घृत की तरह आत्मा मे परमात्मत्व की उपलब्धि—अब दूसरा दृष्टान्त लीजिए। दूध मे घी रहता है कि नही? जो दूध अभी दुहा गया, मानो ५ किलो दूध दुहा गया तो बताओ उसमे घी है कि नही? अगर न हो तो किसी भी तरह वहा से घी निकाला नहीं जा सकता। मगर घी वहा आखो दिखता तो नही। और दूध मे घी अवश्य है तो आपने उसे किस तरह जाना? एक ज्ञान द्वारा जाना कि इस दूध में घी है और यह भी परख लेते हैं कि इस दूध से करीब ५ छटाक घी निकलेगा, इसमे करीब ७ छटाक घी

निकलेगा तो यह निश्चित है कि दूध मे घी है अगर व्यक्त नही है उसे प्रकट करने की विधि यह है कि उसको मथो या दही वनाकर मथो यह विधि है इसी तरह इस मेरे शरीरमे आत्मा है और आत्मा मे परमात्मस्वरूप है अव हम अपने आत्मा मे परमात्मस्वरूप को प्रकट करना चाहे तो उसकी विधि है कि हम अपने आत्मा को ज्ञानद्वारा मथे, उसमे प्रवेश करे, आत्मा मे तृप्त रहे। प्राप्त पदार्थों से सतोष न माने वहा तृप्ति न करे। ये बाह्य पदार्थ मेरे लिए अनर्थ है। मेरे लिए दुख के हेतु भूत है। मेरा आत्मा स्वय आनन्दस्वरूप है वही मेरा सर्वस्व है। अपने आत्मा मे तृप्त कर सन्तोष करे, अपने मे ही रत रहे देखो कैसे नही परमात्मा स्वरूप का दर्शन होगा ? तो जैसे दूधमे घी है, किन्तु वह अव्यक्त है पर उसे विधि पूर्वक प्रकट कर तो प्रकट हो सकता है इसी प्रकार मेरे आत्मा मे वह परमात्मस्वरूप है जिसकी वन्दना करने के लिए हम सुबह-सुबह मन्दिर मे आते है 'पूजन करते हैं' दर्शन करते हैं वह स्वरूप मेरे आत्मा मे है उस आत्मा में उस स्वरूप को देखने का विधि है भेद विज्ञान करें असार को छोडे, सार पर दृष्टि लगावे तो जैसे दूध मे घी है उसी प्रकार मेरे आत्मा मे वह भगवत स्वरूप है।

(३०२) स्वरूपसबोधन प्रवचन

१– परमपूज्य श्री भट्टाकलकदेव विरचित स्वरूपसम्बोधन पर हुए पूज्य श्री सहजानन्द वर्णी महाराज के प्रवचन इस पुस्तक मे है। प्रथम श्लोक के एक प्रवचनाश से देखिए–आत्मतत्त्व के यथार्थ परिचय से अनेक समस्याओं का समाधान–आत्मतत्त्व की वास्तविक मुक्तामुक्तरूपता का परिचय होने पर कर्तव्य भोक्तृत्व आदि समस्याओका सहज समाधान–मैं मुक्त हू, पर मुक्ति पनेका एकान्त नही है कि यह मैं आत्मा सभी बातो से मुक्त हू। यह मैं आत्मा अपने आपके ज्ञान और आनन्द से अमुक्त हू। स्वरूप तो मेरा प्राणभूत है। यदि ज्ञान और आनन्दस्वरूप मेरा मिट जाय तो फिर मै ही क्या रहूगा ? कोई भी पदार्थ अपने स्वरूप से मुक्त नही रह सकता मेरा स्वरूप है सहजज्ञान और सहज आनन्द। उस स्वरूप से मैं अमुक्त हू। निरन्तर ज्ञानस्वरूप हू और आनन्दस्वरूप हू। जब किसी आत्माका अपने इस स्वरूपका पता होता है कि यह मै कर्मो से रहित हू शरीर से रहित हू और अपने ज्ञानानन्द स्वरूप मे ही मग्न हू। तो उस को ये सब दिशाये मिल जाती हैं कि व्यवहार मे किसी का कुछ नही करता हू। मैं अपने ज्ञान का ही परिणमन किया करता हू और आनन्द का ही अनुभव किया करता हू। इसके अतिरिक्त मैं जगतमे अन्य कुछ भी कार्य नही करता हू। ऐसे ज्ञानानन्दमय अपने आत्मा की सुध होने पर जीव अपने इस ज्ञानानन्द स्वरूप की सुध नही ले रहे हैं, इस कारण से अपने स्वरूप से विमुख होकर बाहरी पुद्गलो मे प्रीति जोडे हुए हैं, और क्रोध, मान, माया, लोभ आदिक कलाये नाना प्रकार की इच्छाये जो सब कर्मो के उदयमे हुआ करती है उन सब स्वरूप रूप अपने को समझ रहे हैं और इसी मूल मे ये जीव नाना दुर्गतियो मे भटक रहे है। अहो, जब ही यह प्रकाश मिला कि मैं तो मूर्त केवल ज्ञान और आनन्द स्वरूप हू, मैं परिणमन रहता हू। ज्ञान और आनन्द के रूप मे ही इसके अतिरिक्त मेरा कोई व्यवसाय नही है ऐसा स्वरूप बोध होने पर इसका झुकाव इस ही स्वरूप की ओर होता है। तो स्वरूप को नमस्कार करने से पहिले उस स्वरूप के विशेषण इस ही प्रकार के दिए गए हैं जिससे स्वरूप की ओर झुकना इस जीव का सहज बन जाय। यह मैं आत्मा कर्म विभाव आदिक सभी से मुक्त हू।

२– ज्ञानमय आत्मा मे तृप्त होने की भावना कीजिए, तृतीय श्लोक के एक प्रवचनाश मे–ज्ञानमात्र आत्मा मे तृप्त होने परभावना पर–सब जगह यह मैं आत्मा अकेला ही रहता हू, तो अकेले को ही कुछ,

अकेले से ही निरखे, और अकेले ज्ञानमात्र आत्मा मे ही तृप्त हू। आचार्य अमृत चन्द्र जी कहते हैं कि जितना यह ज्ञानास्वरूप हैं यह ही तो मैं आत्मा हू, इससे रति बने, यह ही मैं निज हू, यही मेरा सर्वस्व है, जितना यह ज्ञान है उतना ही तो मेरे लिए आशीर्वाद है, हम दूसरे से कहते हैं कि मुझे आशीर्वाद दो। अरे यह ही आशीर्वाद उस आत्मा को है कि बस ज्ञानरूप अपने को निरखें। बस सब आशीर्वाद गया। सब कल्याण हो गया, सब कष्ट दूर हो गए। जितना यह ज्ञान है उतना ही यह सत्य अनुभव करने की चीज है और चीज दिल मे मत लावें। तो इस ज्ञानमात्र स्वरूप मे ही रमकर तृप्ति पा लें, कोई दूसरा सुख देने न आयेगा। एक वेदान्त की कथा मे लिखा है कि किसी नई बहू के पहिली ही बार बच्चा पदा होने को था तो वह अपनी सास से बोली कि माता जी जब बच्चा पैदा होने लगे मुझे जगा लेना; कही ऐसा न हो कि मैं सोती ही रहू और मुझे पता न पडे। तो वह सास बोली अरी, बहू इसकी चिन्ता न कर। अरे जब बच्चा पैदा होगा तो वह तो तुझे जगाता हुआ ही पैदा होगा। चाहे तू सो रही हो फिर भी बच्चा पदा होते समय तू जग जायेगी। तो ऐसे ही समझिये कि कोई पूछे कि मुझे आत्मा का अलौकिक आनन्द आये तब बता देना, तो भाई कौन बतायगा ? अरे वह आनन्द आयगा तो स्वय ज्ञान का अनुभव हाता हुआ ही आयेगा। तुम स्वय उसका अनुभव करते हुए हो आनन्द पावोगे। किसी दूसरे से क्या तुछना ? तो आत्मा को ज्ञानरूप मे अनुभव करें और सत्य आनन्द पा लें।

३– स्वरूप संवेदन के विना आत्मोद्धार की असभवना की जानकारी कीजिए चठवें श्लोक के एक प्रवच–नाश मे–स्वरूपसंवेदन के विना आत्मोद्धार असभवता–उद्दण्डता ही तो है, इस उद्दण्डता के सिवाय और कष्ट क्या है इसे ? कोई जीव दु खी नही है सब सुखी है, पर इतना मोह लगा है। रागद्वेष लगे हैं कि जिनसे ये अपने को दु खी रख रहे हैं कि आप कहेगे कि ऐसा कसे हो सकता है कि ये रागद्वेष मिट जाये। तो सुनो पुराण पुरूषो के चरित्र देख लो सुकुमाल, सुकौशल, गजकुमार। इन सबका राग मिटाना। भरी जवानी मे सब कुछ छोड दिया। उन्हे जाने दो, आजकल भी अनक गृहस्थ ऐसे मिलते है जो कि अपने मन मे बहुत तृप्त रहते है चिन्ता करे तो भी वही बात चलेगी, चिन्ता न रखे और आत्मदर्शन करें प्रभुदर्शन करे धर्मध्यान मे रहे तो भी वहा बात चलेगी, बल्कि धर्म ध्यान मे रहने वाले के और अच्छे ढग से चलेगी। भया स्वरूप सम्वेदन बिना अपने आत्मा के परिचय बिना सुख पाने की कला ही नही मिल सकती। तृष्णा कर करके दु खी रहेगे। जसे गर्मी के दिनो मे रेतीले मैदान मे कोई हिरण दोपहर के समय मे प्यासा हो जाता है। वह अपनी प्यास बुझाने के लिये जलकी खोज करता है। जब दृष्टि उठाकर दूर देखा तो इसको चमकती हुई रेत जल जसी लगी, वहा पहुचा तो देखा कि जलका नाम नही, फिर मुख उठाकर देखा ता दूर का चमकता हुई रेत जल जैसो मालूम हुई। फिर दौड लगाया। वहा जाकर देखा तो जलका नाम नही। यो वह दौड लगा लगाकर अपनी प्यास की वेदना को और भी बढा लेता है और अन्त मे तडफ तडफ कर मर जाता है। ठीक ऐसे ही यह ससारी प्राणी बाह्य पदार्थो ले सुख की आशा करके उनके पीछे दौड लगाता है, उनका सचय करता है, उनकी तृष्णा करता है, उनके पाछे रातदिन हैरान रहता है, यो वह अपना उद्यम करता है शान्ति पाने का. पर होता क्या है कि उसको अशान्ति की वेदना और भी बढती जाती है। यो ही वह अपना सारा जीवन व्यर्थ हो गवा देता है। लाभ कुछ नही प्राप्त कर पाता। अरे इन बाह्य पदार्थो से अपने चित्तको हटाकर सम्यग्ज्ञान को प्राप्ति के लिये अपना उद्यम करना होगा। बाकी तो यहा उदयानुसार सब कुछ होता रहेगा। कमाई, भरण पोषण ये सब विधिवत होते रहेगे। थोडा वहा भी ध्यान दे मगर मुख्य उद्देश्य हो जीवन मे सम्यग्ज्ञान के अर्जनका। अपने स्वरूप के अनुभवनका। मैं ज्ञानमात्र हू। केवल

ज्ञान स्वरूप हू, ज्ञान जो ज्योतिस्वरूप मैं हू ? इसके अतिरिक्त कुछ नहीं। तो इस ज्ञान ज्योति से कुछ बाहरका चिपका है क्या ? इस ज्ञान में कोई उपक्रम आयगा क्या ? अरे मैं ही विकल्प करके कल्पनायें बनाकर दुःखी होता हू। स्वरूपतः तो मैं आनन्दरूप हू।

हितदायक सम्यक् चारित्रका स्वरूप निरखिये १३ वें श्लोक के एक प्रवचनांश मे-उत्तरोत्तरभावी दर्शन ज्ञान चारित्र मे स्थिर आलम्बन का सम्यक् चारित्ररूपता के प्रसंग मे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान का स्वरूप तो बताया जा चुका है। इस श्लोक मे सम्यक्स्वरूप बतला रहे हैं। आत्मा मे दर्शन, ज्ञान चारित्र ये तीन गुण हैं, और, इन तीन गुणों के परिणमन भी प्रतिक्षण चलते रहते हैं। मेरे मे विश्वास करने का गुण है तथा उसका भी निरन्तर परिणमन चल रहा है। विश्वास करते हुए जिसे अन्तः सहज प्रतिभासस्वरूप समझा है मेरे मे वह ज्ञान गुण है तो ज्ञान गुण का भी परिणमन निरन्तर चल तो रहा है, जानता तो रहता है इसी प्रकार चरित्र गुण है तो उसका भी परिणमन निरन्तर चलता रहता है। चाहे चारित्र गुण का परिणमन किसी रूप हो, कषायरूप हो तो, आत्मा मे रमणतारूप हो तो, प्रत्येक गुण प्रतिक्षण परिणमते रहते हैं। चाहे वे विभाव रूप परिणमन रहे हो चाहे स्वभाव रूप वे निरन्तर इसके परिणमन चलते है। तो उत्तरोत्तर होने वाले सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र मे स्थिरतर होना, आलम्बन होना, इसका नाम है सम्यक्चारित्र। जो आत्मा का स्वरूप है और आत्मा का निरन्तर परिणमन चल रहा है उस स्वरूप मे स्थिरतर होने का नाम सम्यक्चारित्र है। जैसा कि बताया गया है-आप रूप मे लीन रहे स्थिर सम्यक चारित्र सो ही आत्मा के स्वरूप में स्थिरतरता से लीन होने का नाम है-सम्यक्चारित्र।

परखिये कषायरञ्जित चित्त की परिस्थिति, १७ वें श्लोक के एक प्रवचनांशमे-कषायरञ्जित चित्त मे तत्त्वावगाहन की असम्भवता-अपनी सद्भावना के लिये पहिली बात क्या कही गई है कि कषायों का दूर करे, विरोध भावना दूर करे और एक विरोधभाव की ही बात नहीं, राग और विरोध दोनों दूर करे। क्रोध, मान माया, लोभ ये चार कषाये है, ये हमको परेशान कर रही है और इन चारों कषायों के बढने का जड क्या है ? मैंने पर्यायबुद्धि कर रखी है। मैं मनुष्य हूं। मैं अमुक नाम का हू। त्यागी हू, गृहस्थ हू। इस प्रकार की जो अपनी श्रद्धा बना रखी है यह है खोटी प्रतीति, क्षुब्ध प्रतीति। मैं चित्स्वभाव हू, ऐसा जाने समझा नही इसलिये कषायें बढेगी ही। ये तो सही सही बाते है। तो कषायों से जिसका हृदय भरा हुआ है वह तत्त्वका अवगाहन नही कर सकता। तत्त्वका अवगाहन मायने सहज ज्ञान स्वभाव जो आत्मतत्त्व है उसमे ज्ञान का प्रवेश होना, ज्ञान मे वह सहज ज्ञान स्वभाव की झलक होना, परिचय होना यह कहलाता है तत्त्वका अवगाहन। तो जिसका चित्त कषायों से रंगित है वह तत्त्वका अवगाहन नही कर सकता कोशिश यह करना है कि एक बार तो सकल्प करते चले कि मैं मनुष्य हू तो ऐसा होते हुए कि मैं मोक्ष का मार्ग बना हू और कभी मुक्ति पा लू और बात के लिये नही हुआ हू। और जो कुछ मिला है परिवार वैभव कुटुम्ब सब कुछ यह तो चलते हुए मुसाफिर के लिये पेड की छाया की तरह है। जो मुसाफिर जा रहा है रास्ते मे पेडो की छाया मिलती। उस छाया मे गुजरता जाता है ना यह तो गुजरने वाली बात है यहा मे मैं गुजर रहा हू अब गुजरते हु। मे जितनी [illegible] मुसाफिर रास्ते मे जा रहे है तो पेडो की छाया का कितनी देर का सम्बन्ध ? ऐसे ही समझो कि यहा जो इस घर मे हू, इस कुटुम्ब मे हू, जिस सग मे हू वह सम्बन्ध कितनी देर का है [illegible] ऐसा जानकर इसमे रति न करे। इसमे सन्तोष न माने, तृप्ति न करे। विषयसम [illegible] का क्या है ? संसार मे जन्म मरण करे, मरे। यह ही [illegible] फल

है। अन्य फल नहीं।

आंकाक्षाओंके विरुद्ध आंदोलन करने आईये २१ वें श्लोक के एक प्रवचनाश मे–आकाक्षाओंकी योजना के विरुद्ध आन्दोलन–दु.ख का मूल है ये आकांक्षा। राग अवस्था मे आकाक्षा से अलग हम नही हट सकते तो उस स्थिति मे यह भेद डाल दिया गया कि चलो पूजा मे, स्वाध्याय मे, ध्यान में आकाक्षा होना अच्छा है और विषय कषायो मे आकाक्षा जगना बुरा है और आगे बढ़ तो मोक्ष की आकाक्षा करना अच्छा है पर ससार मे इच्छा रखना बुरा है। लेकिन वस्तु स्वरूप से देखें तो आकाक्षा का अभ्युदय मात्र ही मोक्ष का बाधक है इसीलिये आचार्य देव कहते हैं कि मोक्ष को भी जिसके आकाक्षा नही वह मोक्ष को प्राप्त होता है। यह स्थिति होती है मोक्ष प्राप्त करने वाले को। जब अपना एक यही प्रोग्राम है मुक्ति का प्रोग्राम हमारा। मोक्ष का उद्यम करो, मोक्ष को चाहो और ऐसा होना ठीक है। जहा लोग सासारिक बातो मे स्वपच रहे है। वहा उन जोवो को मोक्ष की अगर आकाक्षा जगे तो उनकी कितनी विशुद्धि कितनी निर्मलता कितना उत्थान समझिये पर मोक्ष की प्राप्ति जिसको हुई हैं उस प्राप्ति से पूर्व उनकी क्या स्थिति होती है? निर्विकल्प स्थिति मोक्ष को भी आकाक्षा नही ऐसा निराकाक्ष पुरुष है। और जब वस्तुस्वरूप की श्रद्धा हो भखना हो तो वहा तो ज्ञातादृष्टा जैसी स्थिति बनेगी। वहा भी मोक्ष की आकाक्षा वाली बात नही बनती है।

(३०२) पात्रकेसरीस्तोत्रप्रवचन

पात्रकेशरी स्तोत्र पर हुए पूज्य श्री सहजानन्द जी वर्णी महाराज के इसमे प्रवचन हैं। इस स्तोत्र मे युक्ति–पुरसर प्रभुता की गवेषण की है। प्रथम छन्द के एक प्रवचनांश मे देखिये जिनेन्द्र गुणस्तवन का प्रयोजन–जिनेन्द्र गुणस्तवन से कर्मक्षय की बात बनने के निश्चय पर गुणस्तवन के प्रयत्न–देखिये कर्म आते हैं तो क्रोध, मान, माया, लोभ कषाय के द्वार से आते है। कषाये को, कर्म बन्ध हुआ। तो कर्म रुके या जो पहिले बधे हुए कर्म हैं उनका विनाश हो तो वह भी इस उदय द्वारा हो सकेगा कि कषाय न करें कर्म अपने आप दूर हो जायेगे। अब कषायें न करे। इसके लिए उपाय सरल यही है। पहिले तो जिसमे कषायें नहीं रही ऐसे जो प्रभु हैं उनके गुणो का ध्यान रखें। यह हमारा आपका आत्मा भी कषाय रहित है, इसमे कषाय का स्वभाव नही पडा हुआ है। स्वभाव तो ज्ञान और आनन्द का है जो कभी भी न टलता हो। तो भगवानका आत्मा भी ज्ञानानन्द स्वभाव वाला था। सो जब कषाय दूर हो गयी तो वही स्वभाव पूर्णरूप से प्रकट हो गया। जब भगवान के वीतराग सवा स्वरूप का दृष्टि करते है तो कितनो ही मोह ममता दूर हो जाती है कितनी हो विकल्प विडम्बनाये समाप्त हो जाती हैं। तो अपने आप अपने आत्मा के गुणो पर दृष्टि पहुंचता है, यही सन्तोष होता है। समता उत्पन्न होती है, ज्ञान–भाव बनता है। तो आत्मा जब ऐसे स्वच्छ ज्ञान प्रकाश मे आ जाय तो कर्म अपने आप खिर जायेंगे। तो आचार्य कहते हैं कि हमने यह निश्चय कर लिया कि हे जिनेन्द्र देव। तुम्हारो की हुई थोडी भी स्तुति सर्व कर्मो के बिनाश के लिए कारण है, इसलिए हम बडे हा आदर विनय से आपके गुणोकी ओर झुकते हुए बडे हा नम्र होकर हे देव हम आपकी स्तुति को करेंगे।

प्रभु की स्वयभुता व दिव्यचक्षुष्मत्ता देखिये द्वितीय छन्द के एक प्रवचनाश मे–प्रभु ने मोक्ष पदवी को स्वय जान लिया इसी कारण हे भगवान आप स्वय कहलाते हैं। खुद अपने आप तत्व का निर्णय कर लेते हैं और खुद अपने आपमे अपने आपको जोडकर स्वय ही आप परमात्मा हो जाते हैं आप स्वयभू कहलाते हैं। स्वयभू का अर्थ है जो खुद हा जाय। भगवान तीर्थंकर जो परमात्मा हुए हैं तो क्या किसी दूसरे की मदद से हुए हैं? यदि कोई धर्म करना चाहता है। इसलिए कि मैं ससार के सर्व

सकटो से छूट्, तो उसे धर्म करने के लिए क्या किसी दूसरे को जरूरत होती है ? हा थोड़ा समझने सीखने के लिए जरूरी भी है मगर धर्म जो मिलेगा वह खुद को अपने आपमे मिलेगा, किसी दूसरे की मदद से न मिलेगा। तो प्रभु आप तो धर्म मूतत हैं। धम हो धम प्रकट है इस कारण से स्वयभू कहलाते है। ऐसे दिव्यचक्षु जिस भगवान के ज्ञान है ऐसा ज्ञान यहा हम लागो के नहीं पाया जा रहा। इस लोक मे भी बडे-बडे वैभवशाली पुरूष हैं नारायण, प्रति-नारायण, चक्रवर्ती, बलाभद्र आदि की जिनके अतुल वैभव पाया जाता है। बडे-बड़े पुण्य के ठाठ पाये जाते हैं, छ हो खण्ड का राज्य जिनके अधिकार मे है, जो सर्व वैभवो के स्वामी हैं ऐसे-ऐसे बडे-बडे पुण्यवान पुरूष भी इस लोक मे मिलेगे, लेकिन उनमे भी वे दिव्यतेज नही है जो कि तीर्थंकर भगवान के गर्भ मे, जन्म समय मे और गृहस्थावस्था मे भी थे। ऐसे दिव्यचक्षु इस समय हम आप लोगो के नही पाये जा रहे हैं।

परमपुरूष का पुरूषार्थ सार निरखिये चतुथ छन्द के एक प्रवचनाश मे-परमपुरूष का पुरूषार्थ-हे प्रभो, आपने उत्कृष्ट तप का आश्रय लिया था। ऐसे उत्कृष्ट तपका आश्रय लेने वाले आपको केवल-ज्ञान उत्पन्न हुआ। जो केवलज्ञान समस्त पदार्थो को विषय करने वाला है। जो भी सत् दुनिया मे है उसके जाननहार हैं। देखो हम लोगों के जानने की तो इच्छा रहती है और जानकारी हो नही पाती इसीलिए तो दु खी है। जैसे आनन्द नही मिला उससे हम दु खी हैं। उसी प्रकार जानने की इच्छा तो होती है पर जानना बन नही पाता तो दु.खी होते हैं। देखो-आनन्द जो हमे प्राप्त नही हो रहा उसका एक कारण यह भी है कि हम जानना तो चाहते हैं सारे विश्व को मगर जानना हो नही रहा है। तब प्रभु को देखो-वे सारे विश्व को, लोकालोक का, भूत, भविष्य, वतमान को सबको एक साथ स्पष्ट जानते हैं। जो सबको जान जाय उसको जानने की इच्छा क्यो होगी ? और जो सबको जान रहा है उसे किसी प्रकार की आकुलता क्यो मचेगी ? तो प्रभु सर्व विश्व के जाननहार है सो आपने एक परम आध्यात्मिक तपश्चरण किया था, उसका प्रभाव है कि आपके केवल ज्ञान उत्पन्न हुआ। कैसा है वह केवलज्ञान ? इन्द्रिया-तीत है। इन्द्रिय द्वारा नही जाना जाता कुछ, किन्तु इन्द्रिय से परे केवल आत्मा के बोध से ही सर्व कुछ पहिचाना जा रहा है तो आपका वह केवलज्ञान अतीन्द्रिय है, फिर भी वह केवलज्ञान नष्ट होने वाला नही है। केवलज्ञान तो अनन्त काल तक वैसा केवल ज्ञान हो वर्तता चला जायगा। तो ऐसा वह केवलज्ञान अविनाशी है और अपने आत्मा से उत्पन्न होता है। देखो अतुल ज्ञान निधि, अतुल आनन्द सब कुछ आत्मा मे सदा हाजिर हैं किन्तु उसके लिए दृष्टि बनायी है। क्या कि परकी ओर दृष्टि लग रही है इसलिए हैरानी हो रही, परेशानी हो रही। जो अपने आत्मासे उत्पन्न हुआ ज्ञान है वह ज्ञान तो सारे लोकालोक का जाननहार है और इन्द्रिय या अन्य साधनो की अपेक्षा कर करके जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह ज्ञान थोडा जानता है, सबको नही समझता। हे प्रभु आपने परम तपश्चरण का आश्रय किया अतएव वही केवलज्ञान उत्पन्न हुआ। आपका केवलज्ञान सर्व को जानता है, इन्द्रिय से परे है फिर कभी नष्ट होता नही अपने आत्मा से उत्पन्न हुआ है और निर-वरण है तथा एक साथ जानने वाला है।

प्रभु की निर्दोष वाणी से प्रभुकी आप्तता का परिचय पढिये २४ वे छन्द के एक प्रवचनाश मे-प्रभु की निर्दोष वाणी से प्रभु की आप्तता का परिचय-यही आचार्यदेव भगवान की स्तुति कर रहे हैं भगवान की स्तुति के मायने यह है कि भगवान के स्वरूप मे भक्ति उपजना। देखो जब भगवान के माता पिता का, वश का, कुल का नाम लेकर भगवान की स्तुति की जाती है तो उससे कई गुना रूचिपूर्वक भगवान

का परिणाम है। वस्तुस्वरूप के वर्णन करने की और तुलना करने की पद्धति मे हे भगवान आप बडे हितैषी हैं, बडे निर्दोष हैं, सत्य है, पवित्र हैं, आपकी वाणी मे कही भी दोष नही आ रहा है। किसी मनुष्य को बुखार हो, खासी हो, नजला हो। तो उसको आवाज से पहिचान लिया जाता है कि यह मनुष्य तो रोगी है और उसी की आवाज से यह भी पहिचान सकते कि अब यह निरोग हो गया। तो जैसे आवाज निरोगता की पहिचान करा देती है इसी प्रकार वाणी और वचन वक्ता के निर्दोपता की पहिचान करा देते हैं। और, वक्ता निर्दोप ज्ञान मे आये तव ही तो भक्ति उमडेगी। तो उस निर्दोपता का परिचय मिलता है वचनो से और वचन ये सही हैं इसीलिए यह निर्णय चल रहा है कि अन्य जनो ने शासन गढा है वह जीव के लिए हितकारी नही है। वही कोई शान्तिका मार्ग नही मिलता है पर हे प्रभो स्याद्वाद विधि से आपने जो कुछ भी वर्णन किया है वह सत्य है, निर्दोप है और हितकारी है।

वीतराग प्रभु के सिवाय अन्यत्र आ प्रपने की अयुक्ता देखिये ३४ वें छन्द के एक प्रवचनाश मे—प्रसन्न, क्रोध, दु खी, रोगी, भूखे, प्यासे, जन्म मरण करने वाले मे आप्तपना मानने की अयुक्तता—हे इन्द्रिय विजय करके रागद्वेष पर विजय प्राप्त करने वाले वीतराग सर्वज्ञ देव आपको छोडकर अन्य प्राणियो मे आप्तपना कैसे युक्त हो सकता हू ? जबकि देखा जा रहा है कि आपके सिवाय अन्य वह पुरूष जि। मे देवयने की प्रसिद्धि हुई है वह कभी प्रसन्न होता है क्रुध हो जाता है तो यह नियम है कि ऐसा यदि कोई पुरूष हो तो वह नियम से दु खी है तभी तो वह कभो खुश हो गया कभी क्रुद्ध हो गया। ता जो आत्मा प्रसन्न होते हैं, क्रुद्ध होते हैं उनमे दु खीपना नियम से सिद्ध होता है। और वे मुग्ध हैं किसी मे वव ही तो प्रसन्न होते हैं अथवा किसो से वे विरोध रखते हैं तब ही तो दूसरे पर क्रुद्ध हुए हैं। साथ ही कोई उन्हे रोग हो जाय, कोई कठिन घटना आ जाय तो उनके भय और उपद्रव भी देखा गया है। तभी वह तृष्णा से आमुल होता। जैसे किन्ही ने पता डाला है कि कोई भगवान जगलमे पहुचे, वहा उन्हे प्यास लगी, तो उनका वडा भाई पास की नदी मे पानी लेने चला वहा जिस समय पानी भरने के लिए वह भाई गया। तो एक शिकारो ने देखा कि वृक्ष के नीचे यह कोई हिरण बैठा है, बस शिकारी ने तीर मार दिया भगवान का मरण हो गया। तो लोगो ने ऐसे को भो भगवान मान डाला। भला बतलाओ जिन लोगो को क्षुधा तृष्णा आदि की वेदनायें हो, जो किसी के द्वारा मारे जायें उनको भगवान कैसे कहा जा सकता है ? अरे जिसके अभी शरीर की पारपाटी चल रही है उस मे आप्तपने की वात कहना कैसे युक्त हो सकता है ?

परखिये प्रभुशासन मे त्यागका महत्व ४१ वें छन्द के एक प्रवचनाश मे—प्रभुशासन मे त्यागका महत्व—कुछ लोग आराम की चीजो को उपकरण नाम देकर अपने आपके धर्मात्मा प्रसिद्ध करने के लिए युक्तियो से अपना आराम बना लिया है। वस्त्र रखना, बर्तन रखना, पात्र रखना ये उपकरण हैं। साधुवो को ये रखना चाहिए, इस तरह का जो उपदेश किया गया है से साधुजनो ने सुख का कारण सोचकर स्वय रचा है, कल्पना किया है, किन्तु आपने उपदेश ऐसा नही किया। इतने बस्त्र रखो, इतने बर्तन रखो, इतना अमुक रखा, और जो—जो भी आराम के साधन है—लाठी आदिक जो उपकरण की वातें प्रचलित हुई हैं वे स्वय अशक्त पुरूषो ने अपने आप कल्पना किया है। यदि यह सत्पथ होता तब तो तुम्हारी नग्नता व्यर्थ है। तीर्थंकरो को नग्न दिगम्बर श्वेताम्बरो ने भी माना, स्वय उन्होने अपने शास्त्रो मे कहा है तो स्वय तो नग्न रहकर साधना करें और दूसरो को बताये कि तुम ऐसे—ऐसे आराम के साधन रख लो तो यह कसे युक्त हो सकता है ? यदि वस्त्र, बर्तन आदि रखते हुए भी धर्म हो जाता

तो फिर नग्नताकी क्या आवश्यकता थी ? जैसे छाया यो ही हस्त सुलभ प्राप्त हो जाय तो फिर किसी वृक्ष के नीचे ठहरने की आवश्यकता क्या ? ऐसे ही यदि परिग्रह के बीच रहते हुए ही मोक्ष मिल जाय तो फिर निर्ग्रन्थता का आश्रय करने की आवश्यकता क्या ? जो कुछ यह रचा गया है परिग्रह का सम्पर्क का उपदेश, वह स्वय कमजोर पुरूषो ने किया है। आपका उपदेश किया हुआ मार्ग तो केवल कैवल्य का मार्ग है। इस बाह्य और अन्त कैवल्य मे रहो और उस विधि से केवलज्ञान प्राप्त होने का आपका उपदेश है।

(३०४) द्वात्रिंशतिक: प्रवचन

पूज्यश्री अमितगति आचार्य द्वारा विरचित द्वात्रिंशतिका परम पूज्य श्री सहजानन्द जी वर्णी महाराज के प्रवचन इस पुस्तक मे है। इनमे समता की भावना की गई है। मैत्रीभावना की एक झाकी कीजिये प्रथम छन्द के एक प्रवचनाशमे–मैत्री भावना मे प्रशम की भांति सवेग अनुकम्पा आसतक्य का भी अपूर्व सहयोग–मैत्री सद्भावना रखने वाले आत्मा के सम्वेग भाव भी प्रथमके साथ–साथ सवेग का अर्थ है धर्म में अनुराग होना। धर्म है आत्मा का ज्ञान दर्शन आनन्द आदिका उसमे जब भावना जगे, प्राति जगे स्वय के धर्ममे प्रीति जागे वहा ही सब जीवो के प्रति मैत्री भाव जगता है। मैत्री भाव मे दु ख उत्पन्न न होने की अभिलाषा या दु.ख उत्पन्न न होने की इच्छा बनने से यह बात धर्मानुरागी पुरूष के होती ही है। अनु-कम्पाभाव स्वय पर दया हो तो दूसरे पर मैत्री भावना बने। जो जीव दूसरे के प्रति सुख को भावना नही रखता, मैत्री भावना नही रखता वह अपने आप पर भी दयाहीन हो रहा है। स्वानुकम्पा जिसके जगती है, जो स्व की तरह सबको निरखता है तो वहा पर भी दु ख उत्पन्न न हो ऐसी अभिलाषा जगती है आस्तिक्यभाव ता प्रकटही है जीव यह ज्ञानानन्द स्वरूप है। वह अपने ज्ञान आनन्द परिणाम से ज्ञानी और आनन्दस्वरूप बनेगा। सब प्रकार के इसके आस्तिक्य है तब ही यह भावना जग रही है कि सब सुखी हो, किसी को दु ख उत्पन्न न हो। हे प्रभो, मेरे मे यह भावना रहे कि सब जीव सुखी हो, किसी से दु.ख उत्पन्न न हो। सब के प्रति मित्रता का भाव जगे। जब कभी कोई विषयभाव जगता है तो उस कषायभाव मे यह स्वय तिलमिला जाता है और उस कषायभाव में दूसरे के प्रति विरोध भाव रखने लगता है तो यह उसका मूढता भरा प्रयत्न है। और जीव जीव सब समान हैं। कौन जीव मेरा विरोधी है ? जिसे आज विरोधी समझ रहे वह अनेक बार मित्र अथवा कुटुम्बी हो चुका है। किसी जीव को अपना विरोधी क्यो मान लिया उसमे विरोध क्यो ? अरे सभी जीव अपने–अपने पूरे स्वरूप को लिए हुए हैं। उसमे विरोध की बात कहा से जगी ? हम सब अपने विषयो के अनुकूल बाहर मे बात नहा पाते तो उसे अनिष्ट समझने लगते हैं। वस्तुत कोई जीव मेरा विरोधी नही। सब जीवो के प्रति मैत्री भाव रखना, यह सब अपने हित की बात कही जा रही हैं। आत्मकल्याण स्वय ही तो पायगा। तो ऐसी मैत्री भावना हे प्रभो मेरा आत्मा सदा धारण करे।

निजात्माको शरीर से भिन्न करने की भावना देखिये दूसरे छन्द के एक प्रवचनाशमे–अपास्तदोष निजा-त्मा को शरीर से भिन्न करने की भावना–यह आत्मा ज्ञानावस्थ है, इसके स्वभाव मे मान, माया. लोभ विषय कषायो के बन रहे हैं वह दोष औपाधिक है आत्मा के स्वभावरूप नही है। जैसे किसी फिल्म के पर्दे पर फिल्म का अक्स दिया जाता है सनीमा मे सफेद पर्दे पर फिल्म का अक्स फेका ज.ता है उस अक्स मे लडाई, झगडा, चलना, नदी, पहाड आदि का सब दृश्य दिख जाते हैं और उस काल मे जो कुछ भी रग है, जो कुछ भी आकार है जो चित्र का है वह उस समय उस पर्दे का चित्रण हो

रहा है फिर भी पर्दे मे चित्रण का स्वभाव नहीं है। वह औपाधिक चीज है जैसे ही उसको कारण हटे कि वह चित्रण भी दूर हो जाता है इसी प्रकार आत्मा मे जो राग के विषय कषाय आदिक के चित्रण होते हैं वे हैं आत्मा के परिणमन वर्तमान मे, किन्तु वे औपाधिक भाव हैं, कर्म उपाधि के विपाक से उत्पन्न होते है जहा कर्मविपाक दूर हुए वहा यह चित्रण नहीं रहता। तो यह आत्मा स्वरूपसे दोषरहित हैं लेकिन अनादि काल से उपाधि का सम्बन्ध होने से यह दोषरूप परिणाम रहा है तो यह निर्दोष रह सके ऐसी मेरे मे शक्ति आये। इस निर्दोष आत्मा को शरीर से भिन्न करने के लिए मेरे मे शक्ति उत्पन्न हो।

सर्वत्र समता की भावना अवधारित कीजिये तीसरे छन्द के एक प्रवचनांशमे—सर्वत्र समता की भावना—भगवान के गुणस्तवन मे अपने लिए भावना की जा रही है कि हे नाथ मेरे सदा समता भाव रहे। मेरा मन सब घटनाओ मे सब पदार्थो मे रागद्वेष रहित होकर समता भाव मे रहे और यह बात बन सकती है तब जब ममत्व बुद्धि न हो। ममता होने से किसी चीज मे राग होगा किसी चीज मे द्वेष होगा। जो इष्ट विषय होगा उसमे राग बनेगा और जो बाधक विषय है उसमे द्वेष बनेगा। तो सर्वप्रथम काम यह है कि ममत्व बुद्धि अपनी हटानी चाहिए। अब देखो ममत्व बुद्धि बिल्कुल बेकार ही की जा रही है जो कोई ममता कर रहा है उस ममता से कोई काम नही बनने का। जिनसे ममता कर रहे वे भिन्न जीव हैं, सारे पदार्थ भिन्न है, उपयोग मे यह मान रहे हैं कि यह मेरा है तो मानते जावो। होने का तो अपना नही और निकट ही समय ऐसा आने को है कि मरण हो जायगा, इस शरीर तक से भी न्यारा बन जायगा। तब फिर बाहरी पदार्थ अपने क्या होते ? लेकिन मोह की ऐसी मदिरा चढी है कि धर्म की बात सुनने का न तो किसी के पास समय है और न उसकी ओर उपयोग है। रात दिन उसी मोह ममता मे पडे रहते हैं ऐसा अज्ञान छाया है कि अपने आत्मा का ज्ञान—प्रकाश नही कर रहे हैं। तो हे प्रभो समस्त पदार्थो मे मेरी ममता बुद्धि दूर हो और फिर ऐसा मुझ मे बल प्रकट हो कि सभी कामोमे घटनाओमे, पदार्थो मे समता को धारण करे।

सर्वकल्याण के मूल बोधिलाभ की भावना के लिये आइये ११ वें छन्द के एक प्रवचनांश मे—बोधिलाभ की भावना—यह जो ज्ञानप्रकाश है, ज्ञान ज्योति है, ज्ञान पाने की जो विधि है, ज्ञान स्थिति ही जिसकी समता है उसे कहते है सरस्वती तो हे देवी, हे ज्ञानलक्ष्मी तुम ही एक चिन्तामणि हो याने जो वस्तु चिन्तित हो, जिसका विचार किया गया हो उस वस्तुके देने मे चिन्तामणि हो, जैसे चिन्तामणि रत्न जिसके पास हो तो यह प्रसिद्धि है कि जो विचारो मे मिलता है इसी प्रकार हे ज्ञान देवता। तुम चिन्तामणि की तरह हो तो मैं कुछ चाह रहा हू उस चाह की मेरी पूर्ति करो मैं चाहता हू कि मेरे को बोद्धि प्राप्त हो। बोधि कहते हैं सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को। सम्यक्त्व जगा हो, समस्त पर वस्तुओ से निराला आत्मा का जो ज्ञान स्वरूप है वह जिसकी दृष्टिमे समाया हो उसे कहते हैं सम्यक्त्व अब आप यह अन्दाज करे कि जब मेरे क्रोध, मान, माया, लोभ आदि कषायें नही जग रही है। शान्ति है उस समय कितना आनन्दमय हमारी स्थिति रहती है और जब किसी प्रकार ये कषायें तीव्र हो जाती है तो मैं कितना दुःखी हो जाता हू। तो जहा कषायें न रहे कषाय रहित आत्म—स्वरूप की जहा दृष्टि हो ऐसी स्थिति तो उत्कृष्ट स्थिति हैं। उसकी ही वहा प्रार्थना की जा रही है कि हे देव मैं तुमको वन्दना करता हू तुम मेरा बोधि उत्पन्न करो। तेरे प्रसाद से मेरे सम्यक्त्व ज्ञान चारित्र की प्राप्ति हो उस ज्ञान स्वभाव से ही प्रार्थना की जा रही है कि हे ज्ञान देवता तुम मेरे को बोधि दो।

भवदु ख जाल से अतीत देवदेव की उपासना पढ़िये १४ वें छन्द के एक प्रवचनांश में–ऐसा देवाधिदेव वीतराग सर्वा पर आत्मतत्व मेरे हृदय मे निरन्तर विराजे जो ससार के दु ख समूह को नाश कर डालता है, जिसके ससार का दु.ख जाल लगा है वह मेरे लिए परमात्मा तो नही है प्रभु तो नही है। वह तो मेरे हो समान दु.खी पुरूप है उसको हृदय मे विराजमान करने से क्या फायदा होगा ? जो निर्दोष है शुद्ध है परिपूण ज्ञानी है, अनन्त आनन्दमय है ऐसा ही प्रभु है वह कब ऐसा हुआ कि जब उसने ससार के समस्त दु खो को विलीन कर दिया। आत्मा ज्ञानस्वरूप है उपयागरूप है जब उपयोग हमारा इन दु.खो के बनाने के ढग से बनता है तो यहा दु.ख जाहिर होता है और जब यह अपने ज्ञान स्वभाव का ग्रहण करता है तब ज्ञान में सहहज्ञान स्वभात ही रहता है उसका दु ख जाल विलीन हो जाता है। जैसे आप जब रज कर रहे हो तो सुख गायब और जब सुख मान रहे हा तो रज गायब। जव कषाय कर रहे हो तो शान्ति गायब और जब शान्ति मे हो तब कषाय गायब ता वह आपके ज्ञान की परिणति ही तो है। जब ज्ञान को शुद्ध परिणति हुई तो सब अशुद्धतायें विलीन हा जाती है। तो प्रभु ने निज ज्ञापय स्वभाव के अवलम्बन से ससार के समस्त दु.ख समूह को नष्ट कर दिया तो जो ससारके दु ख जालो को नष्ट कर चुका ऐसा परमात्मदेव मेरे हृदय मे विराजमान हो।

समाधि साघना का अनिवाय साधन अध्यात्म-ससार है इसका दिग्दर्शन कीजिय–अध्यात्म संस्तर का स्मरण–समता परिणाम ही जीव का हित कर सकने वाला है। राग हो अथवा द्वेष हो, ये दोनो ही भाव आकुलता के साधन होते हैं और साधन क्या ? खुद आकुलता स्वरूप है रागद्वेष न होना, समता परिणाम होना ही जीव का हित कर सकने वाला भाव है ता समता परिणाम का ही रूप है समाधि रागद्वेष तजकर अविकार ज्ञान स्वभाव आत्मा के ध्यान मे रहना इसको कहते है। समाधि और समाधि को प्रथा प्राय: मरण समय मे है। यद्यपि समाधि करे सदा जोवनमे भो मरण कालमे भो लेकिन मरण काल मे समाधि अति आवश्यक बात है लेकिन उस ही पर अगले जन्म का हानि लाभ का हिसाब है इस कारण समाधि का वहुत महत्व है तो समाधि की विधि मे वताया है कि इसका आसन सस्तरा योग्य वनाया जाता है जिस पर समाधि मरण की प्रतिज्ञा लेने वाला व्यक्ति लेटा रहता है उस ही पर वह बना रहता है तो उस सस्तरा के वारे मे बताया जा रहा है कि वास्तव मे देखा जाय ता परमार्थन सस्तरा है क्या चीज ? जिसपर वह भव्य लेटकर बठकर समाधि मरण की प्रक्रिया करता है वह न वास्तव मे पत्थर है, न तृण है न पृथ्वी, न बड विधान से बनाया गया काठ है। वास्तव मे सस्तरा ता विद्वानो ने बताया है कि अपना आत्मा ही सस्तरा है। किस पर लेटना, किसमे आराम करना किसमे बैठना। वह है आत्मस्वरूप। पर ऐसा आत्मस्वरूप निर्मल सस्तरा कहा बन सकता है। जिसने इन्द्रिय विजय और कषायओ को जीत लिया है रागद्वेष पर जिसने विजय प्राप्त किया है ऐसे महापुरूष का सस्तरा है अपना आत्मा। इस छद मे यह बताया है कि समाधि की साधना करने वाले पुरूषो को यह निश्चय करना चाहिए कि मै आत्मा मे हू। आत्मा पर ही सोया हू याने आत्मा मे ही स्थित हू और आत्माओसे ही उसकी सारो समाधि की विधि बनती है। इस तरह निश्चय दृष्टिसे आत्मा ही वास्तवमे सस्तरा है।

–. समाप्त .–

अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री सहजानन्द महाराज द्वारा रचित

卐 आत्मरमण 卐

मैं दर्शनज्ञानस्वरूपी हू, मैं सहजानन्द स्वरूपी हू ।।टेक।।
हू ज्ञानमात्र पर भाव शून्य, हू सहज ज्ञानघन स्वय पूर्ण ।।
हू सत्य सहज आनन्दधाम, मैं सहजानन्द । मैं दर्शन ।।१।।
हू खुद का ही कर्ता भोक्ता, परमे मेरा कुछ काम नही ।।
पर का न प्रवेश न कार्य यहा, मैं सहजानन्द । मैं दर्शन ।।२।।
आऊ उतरू रमलू निजमे, निजकी निजमे दुविधाही क्या ।।
निज अनुभवरससे सहजतृप्त, मैं सहजानन्द । मैं दर्शन ।।३।।

卐 आत्मभक्ति 卐

मेरे शाश्वत शरण, सत्य तारणतरण ब्रह्म प्यारे ।
तेरी भक्ति मे क्षण जाय सारे ।। टेक ।।
ज्ञानसे ज्ञानमे ज्ञान ही हो, कल्पनाओ का इकदम विलय हो ,
भ्रान्तिका नाश हो, शान्तिका वास हो, ब्रह्म प्यारे । तेरी ।।१।।
सर्व गतियो मे रह गति से न्यारे, सर्व भावो मे रह उनसे न्यारे ।
सर्वगत आत्मगत, रत न नाही विरत, ब्रह्म प्यारे । तेरी ।। २ ।।
सिद्धि जिनने भी अब तक है पाई, तेरा आश्रय ही उसमे सहाई ।
मेरे सकटहरण, ज्ञान दर्शन चरण, ब्रह्म प्यारे । तेरी ।। ३ ।।
देह कर्मादि सब जगसे न्यारे, गुण व पर्ययके भेदोसे पारे ।
नित्य अन्त अचल, गुप्त ज्ञायक अमल, ब्रह्म प्यारे । तेरी ।।४।।
आपका आप ही प्रेय तू है, सर्व श्रेयो मे नित श्रेय तू है ।
सहजानन्दी प्रभो, अन्तर्यामी विभो ब्रह्म प्यारे । तेरी ।।५।।

卐 आत्म कीर्तन 卐

हू स्वतन्त्र निश्चल निष्काम, ज्ञाता दृष्टा आतम राम ।। टेक ।।
मैं वह हू जो है भगवान, जो मैं हू वह हैं भगवान ।।
अन्तर यही ऊपरी जान वे विराग यह राग वितान ।। १ ।।
मम स्वरूप है सिद्ध समान, अमित शक्ति सुख ज्ञान निधाम ।।
किन्तु आश वश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अजान ।।२।।
सुख दुख दाता कोइ न आन, मोह राग रुष दुख को खान ।।
निजको निज परको पर जान, फिर दुखका नहि लेश निदान ।३।।
जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम ।।
राग त्यागि पहुचू निज धाम, आकुलता का फिर क्या काम ।।४।।
होता स्वय जगत परिणाम, मैं जग का करता क्या काम ।।
दूर हटो पर कृत परिणाम 'सहजानन्द' रहू अभिराम ।।५।।

शान्तिकी निर्भरता—भैया, दिमाग सही है, बुद्धि व्यवस्थित है, ज्ञानपर दृष्टि है तो आनन्द अपने पास है। दिमाग बिगड गया, बुद्धि बिगड गई, ज्ञानदृष्टि न रही तो मेरे मे क्लेशोका आना प्राकृतिक बात है। आनन्दका मिलना बाह्य वस्तुओके आधीन नही है, किन्तु ज्ञानकी स्वच्छताके आधीन है। गरीब हुए तो क्या बिगडा ? यदि ज्ञान स्वच्छ है, व्यवस्थित है तो आनन्द मुझे अवश्य है। इतना ही तो है कि न मिठाइया खाई, मूखा भोजन खाया। अन्तर क्या आया ? शरीर घट जायगा क्या ? बल्कि भारी रसीला भोजन करनेसे शरीर घट जाता है, मदाग्नि हो जाती है, बीमारी घेर लेती है। ज्ञानकी स्वच्छताही वास्तविक आरोग्य है। बाह्य विषयोके न मिलनेसे क्या नुकशान है ? ज्ञान व्यवस्थित है तो वह सुखी है।

साधुकी अपरिग्रहता तो देखो उपदेशश्रवणको भी उपाधि समझा है, यद्यपि वह अप्रतिसिद्ध। तब अन्य वस्तुओके रखनेमे तो साधुता ही नही रहती। पढ़िये पृ० ३८-अप्रतिसिद्ध उपाधि—भला बताओ कि जिसको लोग बडा महत्व देते हैं ऐसा सत्सग हो, गुरुवचन हो, विनय हो, अध्ययन हो, यह भी जहा अपवाद बताया गया है फिर तो जटा रखना, चमीटा रखना, उनकी तो कहानी कौन कहे ? यहा उस उपाधि को अपवाद कहा गया है जो उपाधि टाली न जा सके। स्थिति देखलो कल्याणकी इच्छा है और प्रबल उपादान नही है कि ज्ञानधारामे भी रह सके तो गुरु वचन सुनना बडा आवश्यक हो जाता है और ये शिष्यजनभी इस बातमे अपनेको धन्य मानते हैं कि मुझपर गुरु प्रसन्न हैं और मुझे ये शिक्षा देते हैं। इतने महत्व वाली चीजभो अपवाद धर्म है। सो वही अपवाद साधुजन ग्रहण करते हैं कि जिसके बिना आत्माका काम चलही नही सकता है। तो जो अप्रतिसिद्ध उपाधि है वह अपवाद है। वह साराका सारा अपवाद श्रामण्य पर्यायका सहकारी कारण है इसलिए उपकारक है। और वह उपकरण माना जाता है। किन्तु अन्य कुछ उपकरण नही माना जा सकता है।

साधुवोके आहार विहारका क्या प्रयोजन है, इसका समाधान पढे पृ० ४८-साधुवोके आहार विहारके प्रयोजनका प्रदर्शक एक दृष्टान्त—जैसे दीपक जलाते हैं तो दो काम अपन लोग क्या करते हैं ? एक तो उसमे तेल डालना और एक बातीका उसकाना। सरसोके तेलका पहिले दिया जलाते थे। वह दीप बडा लाभप्रद होता था तो उसके जलानेकी विधिमे दो बातें मुख्य थी। तेल डाल दो क्योकि तेल कम हो गया तो यह दीपक बुझ जायगा, तो उसमे तेल डाल दिया और साथही उसकी बातीऊचे उठावो,दीपक बढिया जलेगा। तो जैसे दीपकमे तेलको डालना और बातीका उकसाना किसलिए है कि अर्थसमूह दिखता रहे, प्रकाश बना रहे। परिच्छेद्य अर्थकीय प्राप्तिके लिए जैसे चिरागमे तेलको डालना और बातीका उसकाना होता है इसी प्रकार आत्मशुद्धिके लिए पेटमे भोजन डालना और हाथपैरका उस-काना है अर्थात् विहार करना है। भोजन लेना तो तेल डालनेकी तरह है और वह जो विहार है वह बाती उसकानेकी तरह है। दूसरा कोई प्रयोजन नही।

उत्सर्ग व अपवादमार्गकी मैत्रीकी परख कीजिये—पृ० ६९-उत्सर्ग और अपवादमार्गको मैत्री—साधुजन उत्सर्ग और अपवाद इन दोनो साधनोमे चलते हैं। इन दोनो मार्गोकी परस्पर मित्रता होती है अर्थात् उत्सग मार्गतो अपवादको अपेक्षा रखता है और अपवाद मार्ग उत्सर्गकी अपेक्षा रखता है। याने ढिलाई तो कडाईकी उपेक्षा रखकर होती है और कडाई ढिलाईकी उपेक्षा रखकर होती है तो काम आगे के लिए चलता है। केवल कडाईका मार्ग विगड जायगा केवल ढिलाईका मार्ग बिगड जायगा। जो लोग किसोभी बातकी सोमातोत कडाई करते हैं उन्हे कुछ समयके बाद बडी ढिलाईमे आना पडता है और फिर पोछे बडो विडम्बना और खेद होता है। जो लोग सयम और व्रतमे ढिलाईसे चलते हैं उनकी

तो फिर आलोचना ही क्या करे ? वे तो भ्रष्ट हैं ही जो कि निरपेक्ष ढिलाई वाले आचरणमे पहुंच गये।

साधु अपवादमार्गको क्यो ग्रहण करते है ? देखिये पृ० ७१–अपवादका प्रयोजन उत्सर्ग मार्गकी सिद्धि–साधुजन अपने उत्सर्गकी सिद्धिके लिए ही कदाचित् अपवाद मार्गपर चलते है, किन्तु अपवादके लिए अपवादमार्गपर नही चलते है। ये अपवादमार्गसे उल्टा सीधा काम नही लेते, किन्तु आगमके अनुकूल उन प्रवृत्तियोसे चलते हैं जिस प्रकार कि उत्सर्गकी अपेक्षा रखते हुए अपवादका व अपवादकी उपेक्षा रखते हुए उत्सर्गका वर्णन आगममे किया है अपवादमार्गमे भी साधु उत्सर्गकी उपेक्षा नही छोडगे।

साधुजनोके कर्तव्यमे आगमाभ्यासको प्रधानताहै–देखिये पृ० ८९-आगमचेष्टाका महत्त्व–साधुके जीवन मे सबसे जेठी चर्या है तो आगमका अभ्यास है। सारे काम करे साधुजन, जीवहिंसासे बचे, महाव्रतका पालन करे, दुर्धर तपस्या भी करले, जिससे हड्डियां भी निकल आये, समताका व्यवहार भी रखें, कोई निन्दा करता हो, गाली देताहो उसपर गुस्सा भी न होता हो, कोई प्रशसा करता है, पूजा करता है तो स्नेह भी न हो, ये सब चीजें करलें, इतने पर भी यदि आत्माके जाननस्वभावका अनुभव न हो, कि मैं सहज कैसा हू, ऐसा अनुभव न जगा तो इन सब श्रमोसे भी उसको मुक्तिका मार्ग नही मिलता है तो इन सब उन्नतियोका मूल उपाय जो आत्मज्ञान है, आगमज्ञान है, उसमे ही अधिकाधिक प्रगति करना चाहिए।

धर्महीन पुरुषकी स्थिति क्या है ? इसका अवलोकन कीजिये–पृ० १११–धर्महीन पुरुषकी स्थिति–देखो मनुष्यकी पशुओसे उपमा दी जाती है तो पशु बडे हुए कि मनुष्य ? पशु बड हुए। यह मनुष्य कैसा बलवान है ? जैसे शेर। इस मनुष्यकी चाल कैसी है ? जैसे हसकी। इस मनुष्यकी नाक कैसी है? जैसे सुवाकी नाक। इस मनुष्यका स्वर कोयलके स्वरके समान है। इस मनुष्यकी कमर सिंहकी कमर की तरह है। देखलो प्रत्येक बातमे मनुष्योकी पशुओसे उपमा दी जाती है। तो जिसकी उपमा दी जाती है वह बडा है कि नही ? जैसे इसका मुख चन्द्रमाकी तरह है। तो चन्द्रमा बडा कहलाया। तो यो मनुष्य से पशु बडे हुए। मनुष्यका बडप्पन तो सम्यग्ज्ञानसे है और यदि यह ज्ञान न रहे तो फिर मनुष्य बडा नही हुआ। जैसे कहते हैं ना कि धर्मेण हीन पशुभि: समान। आप हमसभी मनुष्य मनुष्य हैं। इसलिए धर्महीन मनुष्यको पशुके समान कह दिया है। ईमानदारीके भावसे तो यह कहा जाना चाहिए कि धर्म हीन जो मनुष्य है वह पशुओमे भी गया बीता है।

वास्तविक ज्ञान अपनी किस बातमे है, मनन कीजिये–पृ० ११२–वास्तविक शान–भैया, हर एक लोग अपनी शान चाहते है। अरे शान ऐसी बनाओ कि अगले भवमे भी वह शान बनी रहे। शान तो वही है जोकि परभवमे भीरहे। शानतो तो धर्मकी हो। धर्मको शान ज्ञानसे ही है। दूसरे जीवोको देखकरघमड आ गया, क्रोध आ गया, लोगोने प्रशसा करदी यह शान नही है। इससे तो आत्माका पूरानही पडता। धर्मसेवन ही ऐसी शान है कि परभवमे भी शान बनी रहती है। जिसके धर्मकी शान बनी रही वह स्वय मुक्तिमे अपने आपको ले जाकर, अपनेको कर्मो से छुटाकर अनन्त ज्ञान एव आनन्दका भोक्ता बना रहता है।

(१२४) प्रवचनसार प्रवचन एकादशभाग

इस पुस्तकमे पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी सहजानन्द महाराजके प्रवचन प्रवचनसारकी गाथा २४५ से

अन्तिम गाथा २७५ तक हैं। प्रथम प्रवचनमे कहा गया है कि शुभोपयोगी मुनिके भी मुनित्व है, प्रवचनाश पृ० ३—शुद्धोपयोगप्रधानी मुनिके समकक्ष न होकर भी शुभोपयोगी मुनिके मुनित्वका श्रद्धान—कोई पुरुष साधु बनकर तुरन्त ही शुद्धोपयोगी बने और फिर ऐसा ही रह जाय यह तो नही है। सो वह यदि शुद्धोपयोग की साधनामे लगा है तो इस शुभोपयोगके मुनिको मुनि कहेगे या नही ? उत्तर यह देंगे कि कहेगे, क्योकि धर्मके साथ एक अर्थमे, एक आत्मामें शुभोपयोगका सद्भाव पाया जाता है। इस कारण शुभोपयोगी यह साधु शुद्धधर्मके सद्भावसे श्रमण तो हो जायेगा, किन्तु उसकी समानता शुद्धोपयोगियोके साथ न होगी। शुद्धोपयोगीके समान कक्षा शुभोपयोगीकी नही हो सकती है, क्योकि शुद्धोपयोगी श्रमण तो समस्त कषायोंको दूर कर देनेके कारण आश्रवरहित ही होता है, किन्तु यह शुभोपयोगी साधु चू कि कषायकणोको फेंक नही सका है, इस लिए आश्रवसहित है।

लगने और हटनेकी रुचिका महान अन्तर देखिये—पृ० ७—केवलकी दृष्टिसे ही कल्याण होना है, दृष्टि की निरन्तरता ही चारित्र है। तो यह दृष्टि क्यो नहीं इस प्रकार की जा सकती, इसका कारण है कि मोहका रग गहरा है, नही तो बाबा कही कुछ नही। वही घर है, वही दुकान है, वही लोकव्यवस्था है, समस्त काम आप कीजिये, कोई काम छूट नही रहा है, पर दृष्टि बदल जानेसे आपका उनमे आदर नही रहेगा। आपकी दृष्टि मोक्षमार्गके लिए है। एक सम्यग्दृष्टि गृहस्थके भी यह सब परिवार है और जैसे एक सम्यग्दृष्टि जीवको घरमे सब कुछ करना पडता है, बच्चोको खिलाना, पुचकारना सो वह सम्यग्दृष्टि करता है, पर मिथ्यादृष्टि इस प्रवृत्तिमें सलग्न है और सम्यग्दृष्टिके गृहकायोमे निवृत्तिकी मुख्यता, कब इस जालसे छूटें, ऐसा आशय रखते हुए घरमे रह रहा है सद्गृहस्थ। वह खेद मानते हुए रह रहा है और यह पर्यायबुद्धि वाला उसमे मौज मानता हुआ रह रहा है।

सावधान होकर निजनाथको खोजिये, मिलेगा फिर उससे मनभर बात कीजिये, इसका समाचार पढिये—पृ० १३ पर—निज नाथके खोजनेको सावधानी—भैया, निजनाथके खोजनेकी गली सकरी है, गुप्त है। इस गलीसे चलकर ही इस जीवको वह निजनाथ मिलेगा। अब तुम लम्बी चौडी सडको पर घूमा कर, जहा विषय कषायोकी पब्लिक बस रही है। उन सडकोमे अपने उस प्रभुको खोजना चाहते हो तो वह कैसे मिलेगा ? सकल्प, विकल्पोको त्यागकर केवल समताकी गलीसे जो बडी सकरी है,रच असावधानी हो गई हो तो या तो रागोकी ओर गिरेंगे या द्वेषोकी ओर गिरेंगे, उस गलीसे चलकर और कुछ निहारो तो निज नाथका दर्शन होगा और उस दर्शनसे जो चमत्कार और आनन्दका अनुभव होगा उस से तृप्त होकर फिर यह कहेगे कि हे निज नाथ, अनन्तकाल तुमने मुझे यो ही सताया। पहले कभी दर्शन दे देते तो हमारा भी उद्धार हो जाता। अब मुमुक्षु कुछ निज नाथकी अकृपापर झुझलाया फिर जैसे किसी बडे आदमीसे भिखारीको कोई इष्ट चीज मिल जाये तो भिखारी भी उसे आशीर्वाद देता है। देखो छोटे आदमी भी बडेको आशीर्वाद देते है। दूधन फलें, पूतन फले, खूब सम्पदा बढे। तो यह उपयोग—भिखारी इस निज नाथकी दृष्टिसे अनुगृहीत होकर यह उसको क्षमा करता हुआ कहता है—खैर जब तुम दर्शन दोगे तभी भला है। बहुत हम तुम पर झुझला गये थे—तुमने बडी कृपा की कि अनन्तकालमे अब दर्शन दिया। हे निजनाथ पहले आप दर्शन दे देते तो आपका क्या बिगडता था ? जैसे मानलो इसने निज प्रभुका अपराध क्षमा कर दिया हो। खैर जब दर्शन दो तब ही सही।

साधुसेवा की जानेका कारण विशिष्ट धर्मानुराग होता है इसको परखिये गाथा २५२ के प्रवचनाशमे—पृ० १९—साधुसेवाका कारण विशेष धर्मानुराग-साधुजन व्यग्र नहीहुआ करते, फिर भी कभी अपने श्रामण्यसे च्युत होनेका कोई उपसर्ग हो जाय तो उसमे उन्हे कुछ खेद होता है। उस समय शुभोपयोगी पुरुषको

उसकी अपनी शक्तिके अनुसार वैयावृत्ति करना चाहिए। जोपुरुष अपनेको मोक्षमार्गमे ले जाना चाहता है उसे यदि दूसरा मोक्षमार्गी पुरुष मिल जाय तो उसको देखकर उसको कितना प्रमोद होता है,इसका अदाज वही कर सकता है जो स्वय मोक्षमार्गी है। तास खेलनेकी रुचि वालेको तास खेलने वाला मिल जाय तो कैसे गले लगते है। यार बैठो, दो हाथ तो हो ही जाने दो। उसकी सेवा करते हैं, अपना खर्च करते है और उसे मिठाई खिलाते हैं, क्योकि उसका दिल उनके लक्ष्यके अनुसार रम गया ना, इसी तरह जो मोक्षमार्गी पुरुष है जिसे सदा मुक्त सहज ज्ञानस्वरूप निज आत्मतत्वकी रुचि जगी है और जो ससारके सर्व भोगोसे विरक्त है ऐसा कोई पुरुष मिल जाय तो वह कितना वात्सल्य करता है, इसकी उपमा अन्यत्र नही मिल सकती है। ज्वारी ज्वारीके प्रेमसे भी घनिष्ट प्रेम इन मुमुक्षुओमे है। पति पत्नीके प्रेमसे भी विशिष्टतर वात्सल्य इन मुमुक्षुओमे परस्पर है।

देव शास्त्र गुरुके निर्णयकी मुमुक्षुको कितनी परमावश्यकता है इसके सम्बन्धमे देखिये २५५ वी गाथाका एक क्रातिमय प्रवचनाश-पृ० २९-३०-जिनको आत्मसमर्पण किया जाये, उनके निर्णयकी अनिवार्य आवश्यकता-भैया, भक्ति तो की जाय, शुभोपयोग तो किया जाय, किन्तु किसका आश्रय करके शुभोपयोग करना है ? इसका निर्णय कर लिया जाय। बाजारमे एक आनेकी हडी खरीदना है तो उसकी भी परीक्षा करके खरीदते है। पहिले ठोकापीटी कर लेते है, जब वह निर्णय हो चुकता है कि यह हडी का मटका पक्का है तब उसे खरीदते हैं। जरासी ठोकरसे फूट जानेवाले और अत्यन्त अल्पमूल्य वाली चीजकी तो परीक्षा कर लेते हैं और जो आश्रय हमारे दुखोका और आनन्दका फैसला करनेवाला है, सदाके लिए ससारमे रुलाता है, या सदाके लिए ससारसे छुडा दे, ऐसा आश्रयभूत जो देव, शास्त्र, गुरु हैं उनका बिना निर्णय किये, बिना परीक्षा किये उनसे अपना सिर नारियलकी तरह फोडते रहे तो सोचो तो सही, क्या तुम विवेकका काम कर रहे हो ? ऐसा निर्णय तो होना ही चाहिए कि मेरी भक्ति का आश्रय होने योग्य कौन हो सकता है और शास्त्र एव गुरु कौन हो सकता है ?

शिक्षा ग्रहण करनेके लिए विनयको कितना महत्व दिया है, इसका हृदय २६७ वीं गाथाके इस प्रवचनाशसे परखिये-पृ० ६०-आदरपूर्वक ही शिक्षाग्रहणसे दृष्टान्त-अभी आपही लोग किसी छोटे आदमीसे कोई विद्या सीखे, मुनीमी सीखे या कोई साइन्सकी बात सीखें और छोटे बिरादरी वालेसे सीखें, चाहे आप उसे कोई वेतन देते हो या कुछ न देते हो, पर उस सिखानेवाले छोटे आदमीका आदर करके ही सीखते हो या डाट करके सीखते हो ? क्या उसे ऐसी ऐंठ बताते हो कि अरे तू बैठा है, सिखाता नही है। यह तो एक लौकिक विद्याकी बात हुई। फिर तो जो मोक्षमार्गकी विद्या सीखना चाहते हैं, आत्मविद्या सीखना चाहते हैं वे पुरुष चारित्रमे और तपमे बहुत वृद्ध हो, पुराने हो, बढे चढे हो, किन्तु ज्ञानगुणकी वृद्धिके लिए नवदीक्षित बहुश्रुत साधुको वदनादिकमे लगते हो तो वहा शुद्ध प्रयोजन होनेसे दोष नही है। पर ज्ञानगुणकी वृद्धिके प्रयोजनके सिवाय अपनी ख्याति प्रसिद्धि भावसे करे तो वहाउसे दोष लगता है, क्योकि बहुज्ञानियोके पास समाजमे बहुतसे लोग आते हैं और उनके बीचमे पहुचनेपर हमारी ख्याति पूजा लाभ वगैरह होगा या लोग कहेगे कि देखो यह साधु कितना निरभिमानी है, कितना सरल है कि अपने छोटे साधुके पासभी विनयपूर्वक बैठता है, ऐसी किसी भी प्रकारकी कल्पनासे यदि तपस्वी वन्दना करता है तो उसके लिए दोष है।

ससारतत्त्व, मोक्षतत्त्व व मोक्षतत्त्वका साधनतत्त्व वर्णन करके चौथा रत्न बताते हुए पूज्य श्री अमृतचद सूरिने कहा है-अब मोक्षतत्त्वके साधनतत्त्वका ही सर्वमनोरथस्थ नपनेसे अभिनन्दन करते हैं। इस अभिनन्दन शब्दके प्रयोगमे क्या मर्म भरा है इसका दिग्दर्शन कीजिये २७५ वीगाथाके उत्थानिकाके प्रवचनोमेसेएक प्रवचनाशका,पृ० ९७-

अभिनन्दनका दिग्दर्शन—अभिनन्दन किसे कहते हैं कि बात बताते हुए खुदमे भी आनन्दसे भरपूर हो जाना। कहना, बोलना, वर्णन करना, विवरण करना, प्रकट करना प्रकाश करना, उद्योतन करना, घट्घाटन करना, अ लक्षण करना, दिखना, व्याख्यान करना, श्रद्धान कराना, साधना, अवधारण कराना, आसूत्रण कराना, समर्थन करना, नियमित करना, अनुशासन करना, व्यापार करना, उपदेश करना, आवेदन करना, आलोचना करना, निश्चय करना, निर्णय करना, प्रसिद्ध करना, उन्मीलन करना, खोलना, उपन्यस्त करना, उपलक्षित करना, उद्भावन करना, घोषणा करना, दृढ करना, विचार करना, अवस्थित करना, चिन्तन करना, अभिनन्दन करना, व्यक्त करना, भावित करना इत्यादि शब्द कहनेके अर्थमे प्रयुक्त होगे, उन शब्दोका रहस्य प्रकट किस किस ढगसे होता है, इन सब शब्दोमें जुदा जुदा क्रान्ति और रहस्य छुपा हुआ है। यहा कह रहे हैं कि उस मोक्षतत्त्वके शुद्ध तत्त्वका सर्व मनोरथोके स्थान होनेके साधनरूपसे अभिनन्दन करते हैं, मायने बोलते जाते हैं और आनन्द लूटते जाते है।

जितनी क्रियाओके नाम ऊपर लिखे गये हैं उन सब क्रियाओके प्रयोग प्रवचनसारकी गाथाओकी उत्थानिका मे किये गये हैं, वे बडे मर्म और वक्तव्यके सम्बन्धको बताती हैं। इन सब क्रियावोके मर्म पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी सहजानन्द महाराजने अपने पवचनमे स्पष्ट किये हैं—उनमे से—उद्योतयति, इस क्रियाका भाव देखिये २७४ वी गाथा का प्रवचनाश—पृ० १३१—उद्योतयति—ज्ञान तो सर्वगत है, ऐसा जहा वर्णन आया है उस गाथाकी उत्थानिकामे सूरि जी महाराजने यह कहा था कि ज्ञान सर्वगत है, इस बातको 'अब कहते हैं' यो न कहकर क्या कहा कि अब ज्ञानकी सर्वगतताको उद्योतित करते हैं। समझो शब्दमे कितना फोर्स है और एफेक्ट है ? पता है इस मुमुक्षुको कि ज्ञानका स्वभाव वर्द्धनशील है और ऐसा सर्वगत हो जाना यह मेरे स्वभावमे पडा हुआ है। वह है। अब उसको क्या करते हैं ? उद्योतित करते है।

(१६५) आत्मपरिचयन

आत्माके सम्बन्धमे सन १९६२ वर्षायोगमे पूज्य श्री सहजानन्दजी वर्णी महाराजके कुछ फुटकर प्रवचन हुए उनका इस पुस्तकमे सकलन है। १९–९–६२ के प्रवचनोमे से एक प्रवचनाश देखिये—पदार्थो के जाननेके प्रसगमे ३ बातें हुआ करती हैं (१) शब्द पदार्थ, (२) अर्थ पदार्थ, (३) ज्ञान पदार्थ। जैसे यह चौकी है तो यह तीन तरह की होगी, (१) शब्द चौकी, (२) अर्थ चौकी और (३) ज्ञान चौकी। घरमे भी शब्द-घर अर्थघर और ज्ञानघर, ये तीन हुआ करते हैं। शब्द चौकीके मायने चौ की ये दो अक्षर, मुखसे जो बोला जा रहा है कि यह तो चौकी है या किसी कागजपर लिख दिया जाय कि चौकी ? तब अगर आपसे पूछा जाय कि यह क्या है, तो क्या कहोगे। यह चौकी, यह शब्द चौकी है। यह काम करनेवाली चौकी नही है। और तोसरा दृष्टान्त लें—जैसे रोटी, उसमे भी शब्द रोटी, अर्थ रोटी, ज्ञान रोटी ये तीन प्रकार समझना चाहिये। रोटी शब्द किसी कागजपर लिख दिया जावे और आपसे पूछा कि यह क्या है, तो आप कहोगे कि रोटी है। यह रो टी किसी कामको नही है। इससे क्या आपका पेट भर जायगा, क्या भूख मिट जायगी। वह अर्थ रोटी नही है। वह तो शब्द रोटी है। अर्थ रोटी तो वह है जो बनी हुई होती है, जिसको खाते हैं। और ज्ञान रोटीके मायने यह है कि जिस रोटीके बारेमे ज्ञान होता है वह ज्ञान ज्ञान रोटी है। इसी तरह अर्थ चौकी वह है जिसपर पुस्तक रखते हैं। और ज्ञान चौकी वह है जो चौकीके बारेमे ज्ञान होता है उस ज्ञानका नाम है ज्ञान चौकी।

इत्यादि बहुत विस्तारके बाद समझाकर यह सिद्ध किया है कि वास्तवमे भगवान निश्चयसे मेरे लिये न तो शब्द है न मुक्त आत्मा है, किन्तु मेरेमे जो ज्ञान होता है भगवानके बारेमे स्वरूप जैसा वह ज्ञान भगवान मेरा भगवान है।

(१२६) पञ्चसूत्री द्वादशी

इस पुस्तकमे सहजानन्द महाराज द्वारा रचित पञ्च पञ्च वाक्योंमे १२ अध्यात्मभावना है देखिये–प्रथम भावना–(१) मै देहसे निराला अमूर्त ज्ञानमात्र हू। (२) मैं ज्ञानको ही करता हू व ज्ञानको ही भोगता हू। (३) ज्ञानका भी करना भोगना क्या ? जानन परिणमन होता रहता है। (४) परमार्थत मैं अविकार ज्ञानस्वभाव हू। (५) हे अविकार ज्ञानस्वभाव! प्रसन्न होओ और जन्म मरणका सकट दूर करो। ओ शुद्ध चिदस्मि।

देखिये सप्तम अध्यात्मभावना–(१) मेरेमे कष्टका क्या काम मेरा तो आनन्द स्वभाव है। (२) जो भी विवशता व आकुलता अनुभवमे आती है उसका कारण किसी न किसी बाह्य वस्तुमे इच्छा होना है। (३) धन, यश व इन्द्रियविषय इनकी इच्छा न हो तो कष्टका फिर कोई भी स्रोत नही रहता। (४) आत्मन्! कोई कष्ट मत उठाओ, सत्य ज्ञान जागृत करो और अपनेको ज्ञानमात्र एव निर्भार अनुभव करो। (५) मैं सहजसिद्ध, ज्ञानघन, आनन्दस्वरूप, निरञ्जन, पावन चिज्ज्योति हू। ओ शुद्ध चिदस्मि।

(१२७) देवपूजा प्रवचन

इस पुस्तकमे महाराज श्री के देवपूजापर प्रवचन हैं। पूजक पुरुषके भावोमे विशुद्धि सर्वकाल रहती है। देखिये प्रस्तावनाके प्रवचनोमे से एक प्रवचनाश–जो पूजा करता है, अतरगसे पूजाका भाव जिसके होता है, उसके शुभ भाव मन्दिरमे पहुंचकर ही नही होते, उसके सस्कार तो चौबीसो घटे उसकी विशुद्धिके कारण होते हैं। सवेरे शय्यासे उठनेके साथ ही देवपूजाका प्रोग्राम उसके मनमे बन जाता है और उसके भावोंकी जो निर्मलता होती रहती है उससे पुण्यबध और उस अवस्थामे भी स्वाशिक अशोमे सवर तथा निर्जरा भी होती है क्योकि जब वीतरागकी पूजाका लक्ष्य पहुँचता है, वीतरागके स्वरूपमे ध्यान जब टिकता है तब भाव वीत–रागता रूप हुए बिना नही रहते। पूजक जब शारीरिक क्रियासे निवृत होकर घरसे मन्दिरजी को चलता है तब तो परिणामोमे और भी निर्मलता बढती है। उसके भावोमे गभीरता, वचनमे समिति और चलनसे सावधानी और दयाकी दृष्टि होती है। घरसे अष्ट द्रव्यको सजोकर मन्दिरको जा सकता है लेकिन शिथिलता आनेसे रूढि यही है कि सूखी द्रव्य घरसे ले जाते हैं और मन्दिरमे अष्ट द्रव्य तैयार कर लेते है। वहा सरलता और पवित्रता पूर्वक अष्ट द्रव्य तैयार हो जाते हैं। अत घरसे तैयार कर ले जानेकी प्रथा नही है. लेकिन किसीको घरसे तैयार ले जानेमे सुविधा हो और उसमे कोई तरहकी शिथिलता न हो तो घरसे भी द्रव्य बनाकर ले जा सकता है। मार्गमे चलते समय उसका भाव चैतन्यताको उत्सुकतासे भरा हुआ होता है।

प्रभुभक्तका अन्तस्त्याग देखिये स्वस्तिवाचन प्रवचनके इस प्रवचनाशमे–भक्तका अन्य प्रोग्राम ही नही। अत भक्त कहता है कि मैं इस जाज्वल्यमान केवल ज्ञानरूपी अग्निमे एकचित्त होकर, सम्पूर्ण पुण्यको स्वाहा करता हू। जैसे अग्नि कूड कचरेको साफ कर देती है। उसी तरह ज्ञान रूपी अग्नि राग द्वेष, आदि मलोको साफ कर देती है। यहा अरहत सिद्धकी भक्ति पक्षमे उनके ज्ञानमे मनको लीन करके रागद्वेष हटानेका भाव है और आत्मपक्षमे, ज्ञेयरूपसे केवलज्ञान जिसमे आया ऐसा यह अपनाही ज्ञान है जिसमे राग द्वेषके विकल्पोको दूर करना है, रागद्वेषके विकल्पोको हटानाही उसका स्वाहा करना है। भक्त यह भी कहता है कि मै समस्त पुण्य उस ज्ञान अग्निमे अर्पित करता हू। लोकोंको दिखनेमे आने वाला पूजन द्रव्य ही वहा सामने पुण्य (पवित्र) वस्तुऐं है। यहा यह प्रश्न हो सकता है कि यह तो अल्प

मूल्यके वस्तुएं हैं। इनके त्यागमे आपकी उदारता ही क्या ? उत्तर यहा भक्तका यह भी आशय है कि धन, मकान आदि सर्व पुण्य वैभव आदिको भी मैं त्यागता हू, क्योकि सबसे प्रथम अपनी श्रद्धासे ही परमात्माका भक्त हुआ है। पुन प्रश्न हुआ कि सर्व वैभव भी तो अत्यन्ताभाववाले भिन्नक्षेत्रवर्ती अचेतन पदाथ हैं वे तो पहलेसे हो छूटे हुए है, उनका त्यागनेकी बात कहना रिपट पडे हर गगाकी कहावत को याद दिलाना मात्र है। तब भक्तकी निर्मलताकी दृष्टिने उत्तर दिया कि जिस पुण्यके उदयसे वैभव मिलता है उ। मूलका भी मैं स्वाहा करता हू। इतनेपर भी वही प्रश्न हो सकता है क्योकि एक क्षेत्रावगाह होकर भी ये कर्म हैं तो अत्यान्ताभाव वाले पुद्गलपिण्ड। तब भावव्यक्ति होती है कि प्रभो जिस मदकपायरूप भावपुण्यके निमित्तसे द्रव्य पुण्यबन्ध होता है, मैं उस चेतन पुण्यको त्यागता हू। इसमे समस्त शुभ भाव दान उपवास आदिसे लेकर अहद् भक्ति तक सभी सम्मिलित हैं।

सिद्ध पूजामे पुष्पके छन्दमे पढिये परमयोगबलवशीकृत सहज-सिद्धका परिपूजन एकप्रवचना मे-जिन सहज-सिद्धका यहा पूजा जा रहा है। वे देव कसे हैं' परमयोगबलेन वशीकृत-परमयागके बलसे जो वशीकृत हैं, वे भगवान किसके वशमे होते हैं ? किसीके भी नही क्योकि वे तो भगवान ही हैं। किन्तु पुद्गलका एक अणु भी किसीके वशमे नही होता। सब परमाणु व सब द्रव्य स्वतन्त्र है। जीवको उपचारसे ससारी अवस्थाओमे कर्मके वश कहा जाता है लेकिन निश्चयसे कर्मवर्गणाओका और आत्मप्रदेशोका चतुष्टय अपना अपना पूण स्वतत्र है और फिर कर्मयुक्त सिद्ध भगवान तो उम औपचारिक परतत्रतासे भी रहित हैं। तो वे भगवान ह ।।री दृष्टि-मे बने रहे, यही हमारे वशमे होनेका मतलब है और भगवानको अपनी दृष्टिमे करनेका मतलब है परमयोगरूप अद्वैत दृष्टि व स्थिति, क्योकि परयोगमे द्वैतदृष्टि नही रहा करती। तो अद्वैत परम समाधिरूप हमारे उपयोगमे जो बैठे, अनुभवमे आवे उसकी मैं पूजा करता हू। मेरा कुटुम्ब नगर और स्थान मैं ही हू। यह नगर कितना सुन्दर है विवेक ज्ञान आदि जहा अनेक मन्त्री हैं। सयमादिक रक्षपाल हैं जो कि अपनी शक्तियोको लुटाने नही देते। ज्ञान की पर्यायें यही प्रजाजन हैं। ऐसे मुझ राजाकी नगरी मुझसे बाहिर नही है। मेरी कोई भी चीज मुझसे बाहिर नही है ऐसी शुद्ध परिणतिसे मैं भगवानकी पूजा करता हू।

सिद्ध पूजाकी जयमालाके एक प्रवचनाशमे देखिये-सदोदय सहजसिद्धकी उपासना ओ सदोदय, हे भगवान आप सदा उदितरूप हो कर्मक्षयसिद्धभगवान पर्यायसे भी सदा उदितरूप हो, देखो इस चैतन्यतत्त्वके बारेमे अनेको रूप दार्शनिकोने माने है। कोई कहता है कि सारे ससारका मूल एक व्यापी सदाशिव और अमूर्त है। यह कहना चैतन्यकी कलाको कितना प्रगट करता है। यदि सृष्टि-कर्तृत्वका विशेष न करके दृष्टि अपेक्षासे उसका हम समथन करना चाहे तो भी कर सकते हैं। उक्त चारो बाते आत्मापर घटाओ। सदाशिव भगवानको जो एक मानते उम एकपनेपर ख्याल करें तो अपनी आत्मा एक ही है। जिसकी वे नारकी आदि पर्यायें चलती रहती जिसकी पर्यायें चलती है उसे यथार्थतया देखे परिणमनके सम्पर्कसे देखे तो न देख सकेंगे उसे तो पर्यायको गौणकर सामान्य दृष्टिसे देखें तो अनुभवमे आ सकता है, ऐसा अनुभव भर आनेवाला जब पर्यायसे नही दिखता स्वभावसे दिखता तो मिल गया सदाशिव। अन्यत्र नही खुदमे खुद है वह। और उस सामान्यमे हमारा और आपका आत्मा ऐसा भिन्न विकल्प तब होता जब इसकी व्यक्तिपर नजर होती। और व्यक्तिकी नजर याने पर्यायकी नजर कहलाई और पर्याय दृष्टिको करना नही चाहते। तो अपना और परका सदाशिव ऐसी कल्पना नही होती। आवान्तरसत्ता ग नही उसमे महासत्ताका अनुभव होगा। अत उसको सामान्य सत्तासे समझानेके लिये यह कहेगे कि वह सदाशिव १ है। यह एक सामान्य सत्की

दृष्टिसे एकरूप है। आगे अपनी सृष्टिका कर्ता स्वय आप है। इसको रूपी और अरूपीमे से देखो तो अरूपी ही है। आत्मा शरीराकार है क्या ? नही, शरीर पुद्गलका आकार है आत्माका नही उपचार से भले ही शरीराकार कहो। भगवान सिद्धको समझनेके लिये दृष्टिको गम्भीर बनानी होगी अमूर्त या अरूपी आत्माको उसी ज्ञान स्वभावके रूपसे परखना होगा जो ध्रुव एक है। ऐसे गुणवाला आत्मा रहता कहा है ? जब सत् सामान्यमे जीवसमुदायको एक रूपसे देखा तो यहा भी एक जीवका विचार न कर सब जीवोंके ख्यालसे देखना चाहिये तबसारे ससारमे जीव ठसाठस भरेहुए है, अत चेतन्यभगवान सर्वव्यापक भी है। ऐसा प्रभु सहजसिद्ध है। वह तथा कर्मक्षयसिद्ध हमपर प्रसन्न हो। वस्तुत प्रसन्न निज सहजसिद्ध भगवान ही हो सकता।

पूजक पूजा करनेके पश्चात् लोकमगलके लिये क्या अभ्यर्थना करता है इसका दिग्दर्शन कीजिये एक प्रवचनागमे–पूजक शान्तिके लिये आगे कहता है कि सब सुखोका देनेवाला या सम्पूर्ण प्राणीमात्रको सुख देनेवाला जिनेन्द्र वीतराग सर्वज्ञ देवके द्वारा प्रणीत अहिंसा धर्म निरन्तर प्रवर्धमान रहे कि जिससे मानसिक विकारोका जो कि शातिमे बाधक ही नही, स्वय अशान्ति रूप है, यथा सम्भव उन्मूलन हो जाय। अशातिकी जड कट जाय, मानसिक शान्तिके लिये अधार्मिकताका हटना नितात आवश्यक है। बाहरमे सब सुख सुविधायें हो कोई तरहकी आकस्मिक घटनायें न हो फिर भी उनकी अधार्मिकता शात न रखने देगी, अशाति पैदा करनेवाला कोई न कोई फितूर खडा हो रहेगा और फिर बाहिर कलह उपद्रव हो तो अशाति नही है। भीतर आत्मामे जो चचलता आकुलता व्याकुलता होती है वही तो अशाति है। अशान्तिको हटाना कल्याणको चाहना इसका मतलब है कि मनके इन सकल्प विकल्पोको दूर किया जाय और इनका दूर होना धर्म आनेपर निर्भर है। धर्म आत्माका स्वभाव है स्वभाव अस्तित्व तो कभी खतम नही होता फिर भी जब तक उसे पहिचाने नही, माने नही उसमे रहे नही, तब तक धर्म नही आया कहलाता अत कल्याण चाहनेके लिये मूलतत्त्व है धर्मकी प्राप्ति। वह आने पर बाह्य उपद्रव रोग मारी अतिवृष्टि अनावृष्टि दुर्भिक्ष आदि भी न आवेगे क्योकि ये सब अनिष्ट प्रसग पापके कारणसे उपस्थित होते हैं। फिर भी पूजक कहता है कि ये बाह्यपदार्थ उपद्रव क्लेश करने वाले नही चाहने का भी मतलब अपना पुण्य जीवन बनानेका है। जगतका क्षेम चाहना स्वय क्षेम रूप रहनेका द्योतक है। हम दूसरोको सुखी देखना चाहते हैं यह निर्मलता उदात्त भावनाओका रूप है। जिनका हृदय कुटिल है, कठोर पापी और स्वार्थी है उसको क्या गरज पडी दूसरेके सुखके चाहकी। अत हे भगवान मैं स्वय तथा सभी सभी प्राणी कल्याणके मार्गमे लगे रहे कल्याणमय हो, स्वय तथा दूसरोके लिये कल्याणकर हो। किसीको किसी भी तरहका कष्ट न हो। रोग तथा और उपद्रव आवे हो नही। यदि आवे तो उन्हे समतापूर्वक सहन करनेकी हममे क्षमता हो जिससे कि हमारा कल्याण पथ प्रशस्त बनता जाय और हम पूर्ण कल्याणरूप हो।

(१२८) श्रावकषट्कर्मप्रवचन

इस पुस्तकमे गृहस्थके षट्कर्तव्योपर पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी सहजानन्द महाराजके प्रवचन है। देवपूजा विषयके प्रसगमे एक स्थलपर देखिये देवका स्वरूप कितने सक्षेपमे व्यावहारिकताके साथ बताया है, पृ० १५–देवका स्वरूप क्या है ? वीतरागता और सर्वज्ञता। जो वीतराग नही अर्थात् रागी है, उसके कारण स्त्री,पुत्र सवारी शस्त्र आदिक रखने पडते है और अपनेको देवरूपमे प्रकट करता वह हम रागियोसे विलक्षण क्या हुआ ? तथा जो सर्वज्ञ नही, अल्पज्ञ है, आगे ही कर्तव्य व होनहार को भी नही जान

सकता है, जिसके कारण स्वय जिसे अन्य प्राणियोसे विपत्तिहरणकी प्रार्थना करनी पडती है वह हमे रागियोसे विलक्षण क्या हुआ ? रागी द्वेषी अज्ञ प्राणियोकी भक्तिसे कल्याण नही होगा। भैया देवके स्वरूपके बारेमे अति शुद्ध दृष्टि होना चाहिए। देव वही है जो शुद्ध पूर्ण विकासमय हो, सर्वदोषमुक्त हो। शुद्ध परमात्मदेवके भजनमे यह मानवक्षण व्यतीत हो, अन्य परके विचारमे स्वभावकी क्षति है। परमात्माके विचारमे निर्दोष स्वरूपका विकास होगा यही महान लाभ है। जन्म तो तभी सफल है जब जन्म मरणके छूटनेका पद पा लिया जावे।

गुरूपास्तिके विषयके प्रवचनके प्रसगमे बताया है कि गुरुकी उपासना क्यो करना चाहिए और कैसे करना चाहिए ? पृ० २०–२१–वास्तवमे आत्माका गुरु आत्मा ही है। ससारके अन्य पदार्थो मे जबउसका कोई सम्बन्ध ही नही है तो फिर उसका गुरु कौन हो सकता है ? अत हमे आत्माकी भी उपासना, उसकी भी श्रद्धा करना चाहिए, इससे इस आत्माकी मलिनता नही। हमारे अत करणमे विराजमान जो चित्स्वभावी चिदानन्द रागद्वेषसे परे जो आत्मतत्त्व है वही आत्माका उपासनीय एव पूजनीय गुरु है। हमे उसको पूजा करना चाहिए। और इसी निमित्त जिनकी दृष्टि सहजानन्दमय आत्मतत्त्वपर है, विषयकषायोसे जिन्होने मुख मोड लिया है, रत्नत्रयके जो धारक हैं, ऐसे गुरुवोकी उपासना करना गुरूपासना है। उस गुरूपासनाका प्रकार क्या है, थोडा इसपर भी दृष्टिपात करे। इनकी उपासनाका साधन जुटाना, जिससे वे अधिकसे अधिक धर्मसाधना कर सके, उनके ऐसे आहारका सविभाग करना जिस आहारके करनेसे उनके स्वाध्याय, आत्मचिन्तन आदि कार्यो मे बाधा न आये, ऐसे साधन जुटाना जिससे उनको प्रसाद हो। हमे उनके निर्देशित या जिस पर वे स्वय चल रहे उस पथका अनुसरण करना चाहिए तथा पूर्ण श्रद्धा, भक्ति और विश्वाससे उनकी उचित मार्गसे उपासना करना चाहिए। आपकी ऐसी श्रद्धा भक्ति विश्वास दृढता एव ऐसा सुन्दर चरित्र देखकर उन्हें प्रसन्नताका अनुभव होगा यदि आपको ओर दृष्टि करेगे। तो उनके शरीरकी सेवा सुश्रुषा परिचर्या वैयावृत्ति करना तथा अधिक समय तक इनके सम्पर्कमे आना भी गुरूपासना ही है।

स्वाध्याय कर्तव्यके प्रवचनमे एक स्थलपर बताया है कि हमे शास्त्रस्वाध्यायसे क्या लक्ष्य सिद्ध कर लेना चाहिए। पृ० १०–हमे शास्त्र रूपी समुद्रसे क्या निकालना है ? चैतन्य रत्न। जैसे सारे समुद्रमे डुबकी लगाते फिरो और लक्ष्यशून्य होनेसे वहासे कुछ भी हाथ न लेकर बाहर निकल आये तोवह केवल परि–श्रम करनेवाला हो रहा। फल कुछ प्राप्त नही किया। समय व शक्तिका दुरुपयोग किया। इसी प्रकार समस्त शास्त्रोका अवगाहन करनेपर भी लक्ष्यशून्य होकर कुछ भी हाथ नही आवेगा। क्षायोपशमिक व्यक्ति बुद्धि इस भवमे छूटेगी। शास्त्रसे हमे चैतन्यरत्न निकाल लेना चाहिए। यह भी व्यवहार भाषा है। शास्त्र ज्ञान नही है। उसमे चैतन्यरत्न नही रखा। हम ज्ञानमय हैं हममे चैतन्यरत्न है। इस चैतन्य को प्राप्त करनेका ध्यान रखे। जिनवाणी गुरुवचन बाचकर, सुनकर भी इस चैतन्यमे पुण्य पापकी वृत्ति नही है। मात्र अशुद्ध अवस्थामे परकी उपाधिका यह विकार प्रतिभास है। इससे कही चैतन्यका स्वरूप नही बिगडता। इस चैतन्यमे पर पदार्थोका तो अभाव है ही, और मन, वचन इन पर पदार्थोका भी अभाव है। रागद्वेष वृत्ति व अपूर्ण विकासका भी स्वभाव नही है। पूर्ण विकासमे भी यह विकासरूप नही, किन्तु ध्रुव स्वलक्षणात्मक है।

सयम कर्तव्यके प्रवचनके प्रसगमे सयमके मर्मका उद्घोषण किया है पढिये एक प्रवचनाशमे, पृ० ७४–सयम वह है जिससे आत्मस्वभावका विकास बने। सच पूछो तो सयम वहासे प्रारम्भ होता है जबकि असत्य और कटुक वचनका त्याग कर दिया जावे। आत्मबल प्रकट करनेका वही अधिकारी है जिसका

व्यवहार सत्य बने। करे कुछ, सोचे कुछ, वेष व्रतका हो, मनमें परिग्रह हो तो वहा संयमका उदय नही हो सकता। देखो जैसे आदमी काचके द्वारा सूर्यकी किरणोको केन्द्रित कर देनेपर वहा शक्ति आती है कि नीचे रखा पदार्थ भस्म होने लगे, इसीप्रकार अपने उपयोगको केन्द्रित करले अर्थात् सत्य संयमा बना ले उसमे वह शक्ति आ जाती है कि ये सब विकल्प ईन्धन और कर्म ईन्धन भस्म हो जाता है और संयम ही जिन्हे प्यारा है उन पवित्र आत्माओकी कौन प्रशंसा कर सकता है? वह अपने सत्य सुखको पानेमे सफल हो रहा है। संयमका आदर कर जीवन सफल करलो। सत्य वचन बोलकर संयमकी नीव बना लो। सत्यव्यवहार करके संयमके पथपर अडिग चलनेकी शक्ति बनालो।

तप इच्छा निरोधको कहते हैं, इसकी मौलिक भूमिका देखिये एक प्रवचनांशमे–पृ० ८०-ध्रुव चैतन्य-स्वभाव आत्माके जाने बिना उसके चिदानन्दरूपको पहिचाने बिना बाह्यपदार्थोमे उपेक्षा नही हो सकती। परको हितकारी समझकर उसमे उपयोग लगानेसे चित्त चचल रहता है। अस्थिर रहता है। उसमे आकुलता और अशांति रहती है। अहिंसा आत्माको उस उपयोगकी अस्थिरतासे बचाता है। अहिंसा अपने ऊपर दया करती है। अपने ऊपर दया करना आत्माके कल्याणकी साधना करना सबसे बडा ज्ञान है। धर्म मार्गमे अनेक लौकिक बाधाये आती है। उनकी ओर ध्यान न देकर निजस्वभावमे तपना सो तप है। हमारा देशमे स्थान नही, जातिमे स्थान नही, प्रजामे स्थान नही, धनी होनेका कोई उपाय नही, ऐसे विचार, ऐसी कल्पनायें मनमे न आने देना चाहिए।

दानके प्रकरणके प्रवचनमे विस्तृत प्रवचन करनेके पश्चात् ज्ञानदानकी महत्ता का संकेत कितने संक्षिप्त शब्दोमे मिल रहा है, पढिये एक प्रवचनांशमे-पृ० ११४–आत्माका भ्रम मिटे और स्वरूपकी पहिचान हो, ऐसा उपदेश देना सबसे महान दान है। जो वचन सदाका क्लेश मिटा दे उससे बढकर अन्य क्या हो सकता है? वीतराग महर्षियोने अपने वचनोको ग्रन्थोमे साकार बना दिया। इससे देखो आज कितना महोपकार हो रहा है। यदि महर्षियोके वचन हमे आज न मिलते तो धर्म मार्ग भी हमे न मिलता और ऐसी अवस्थाये मनुष्य होनेका मतलब ही क्या रहता? फिर तो पशु और नरकमे अन्तर ही न रहता।

१२९–१३० समयसार प्रवचन प्रथम व द्वितीय भाग

समयसार ग्रन्थपर पूज्य श्री १०५ मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराज के जो प्रवचन हुए थे उनमे से १३ गाथा तक प्रथम भागमे व आगे ३८ वी गाथा तक के प्रवचन हैं। इनमे कारणसमयसार अन्तस्तत्त्वकी उपासना की उमग मिलती है। कारण समयसारकी एक झलक १६ वें अनुच्छेदमे देखिये–अपनेमे सार तत्त्वके अवलोकन का कर्तव्य–हमे प्रत्येक आत्मामे सार नही देखना है किन्तु स्वयकी आत्मा मे सार देखना है और उसीसे अनुमान कर लेना है कि जो सार मेरी आत्मामे है वही प्रत्येक आत्मामे है। जब तक हमे स्वात्माका ज्ञान नही होगा तब तक हम अन्यकी आत्माका परिज्ञान नही कर सकते। इसलिये हमे पहले अपनी आत्माका सार देख लेना चाहिये और वह सामान्य विशेषके द्वारा निर्णय करके ऊर्ध्वता सामान्यमे देखें। जब हम ऊर्ध्वता विशेषकी दृष्टिसे देखेंगे तो वह हमारी गडबडियोको बतायेगा किन्तु सामान्य दृष्टिसे जब हम आत्माको देखते हैं तो हमे एक सामान्य भाव दिखता है वह है ज्ञायक भाव। णवि होदि अप्पमत्तो ण पमत्तो जाणओ दु जो भावो। एवं भणंति सुद्धं णाओ जो सोउ सो चेव। इस गाथाके अनुसार आप जल्दी समझेंगे जो ज्ञायक भाव है वह अप्रमत्त भी नही है और न प्रमत्त ही है इस प्रकार उसे शुद्ध कहते हैं और जो ज्ञायक भावसे जान लिया वह वही है अन्य कोई नही। आज हम जितने भी

व्यवहार देखे हैं वे सभी व्यवहार पर्यायका पर्यायके साथ है। द्रव्यका व्यवहार द्रव्यसे नहीं चलता है। अपना निजो सृष्टिकर्त्ताकी उपासना करके उसे प्रसन्न करना चाहिये जिसके आगे भवसृष्टि न हो किन्तु शिवसृष्टि हो। यहा प्रसन्नका अर्थ है निर्मल। यह अर्थ व्याकरणके अनुसार है। अत हमे अपनो आत्मा को निमल बनाना चाहिये जिसमे हमे आगे शिवसृष्टि ही मिले।

विभावोकी अटकको मूल विघ्न बताया हैं पढिये १६१ वें अनुच्छेदमे–विभावको अटक सब अटकोकी मूल–बाह्य अर्थकी अटकसे भो वर्ज्ञानके द्वारा निकलता तो मोहमे उपयोग रमा लेता, सकल्पमे कटिबद्ध हो जाता, राग द्वेष भावोमे अटक जाता। इनसे भी हटता तो विज्ञानमे अटक जाता है। स्वरूप परिचय होनेपर इन सब अटकोमे छूट परमानन्दनिधान निजज्ञायक स्वरूपमे विश्राम करता है। यही सहज आनन्दका अमोघ उपाय है। अभी प्राणी राग द्वेष रूपी विलायतमे हैं इसलिये किसी सद्गुरुका उपदेश मिलेगा तभी इस विलायतसे छुटकारा पाकर अपने आत्मा रूपी घरमे बैठनेका उत्साह कर सकेगा, व तभी विश्राम प्राप्त कर सकेगा, तभी कल्याण होगा, अन्यथा कुछ भला होनेका नही है। और आप भी विचार लो धन जुड गया तो आपकी आत्माको क्या शाति मिल जावेगी ? भैया! शान्तिमय तो आपका स्वभाव हो है, स्वभावका अज्ञान मिटावो, अशान्ति तो रह नही सकतो। जो चीज जैसी है उसे वैसी जान जाओ, बस इतना हो सुखके स्वलगावके लिये रोजगार करना है। अन्य विकल्प रूप टोटेका रोजगार क्या करते हो ? मैं ज्ञायक स्वरूप एक हू, ध्रुव हू इसी स्वरूपकी दृष्टि केवल ज्ञानका कारण बनेगी।

भूतार्थसरणीका एक सकेत ५२३ वे अनुच्छेदमे पढिये–अभेदको ओर ढलना ही भूतार्थसरणी है–जितने भी स्कन्ध हैं वे अभेद वस्तु नही हैं, अभेद अनेक वस्तुओके पिण्ड हैं। उनमे पहिले तो भेद करके भिन्न भिन्न एक वस्तुको (परमाणुको) देखना, फिर अभेद वस्तुका उपयोग करना। इतने पर भी शुद्ध अभेद न आवे तो उसमे भी जो गुण पर्यायभेद व गुणभेद है उन सबको गौण करके एक अभेद स्वभावकी ओर ढलना। इसी प्रकार जो आत्मा भी आज किसी गति इन्द्रियादि दशामे है व परिवार मित्र आदिके स्नेह आदिकी अवस्थामे हैं उस आत्माको अन्य अन्य आत्माओसे व देहादिसे भिन्न ग्रहण करना। इतने पर भी शुद्ध अभेद न आवे तो एक उस आत्मामे या निज आत्मामे जो गुणपर्यायभेद हैं व गुणभेद हैं उन सबको गौण करके एक अभेद स्वभावकी ओर ढलना। मैं सहज चतन्यस्वरूप हू, एक चित्स्वभावमात्र हूं इस प्रकार पर्यायभेद व गुणभेदसे परे चैतन्यशक्तिमात्र अपन आपकी ओर ढलना सो भूतार्थसरणी है। कल द्रव्य क्षेत्र कालादिकी अपेक्षा आत्माके सहज शुद्ध स्वभावका वर्णन किया था। उस त्रिकाल–वर्ती सहज शुद्ध स्वभावको दृष्टि ही सम्यग्दर्शन है। वह स्वानुभव क्या है ? यह कहा नही जा सकता है। गुण पृथक् पृथक् नही है, समझनेके लिये उनमे भेद कर लिये जाते हैं। जिज्ञासुकी जिज्ञासाके अनु–रूप जिस तरह वह समझ सकें, समझा दिया जाता है। आत्मा तो एक अखण्ड द्रव्य है। उसके कुछ टुकडे मत समझना। यह स्वभावकी दृष्टि इतनीसरल और सहज है कि उसे पानेको किसो भी पराश्रय को आवश्यकता नही है।

लोकोत्तर आनन्दके लिये लोकोत्तर तत्त्वकी धारणा अवधारित कीजिये ८१० वें अनुच्छेदमें–खेद न हो आत्मामे, क्लेश न जगे, चिन्ता और व्याकुलता न उठे, इसका और वास्तविक उपाय क्या है ? जो इच्छा हुई उसके अनुसार साधनोमे जुट गए। लाख करोड सम्पदाकी इच्छा है, उसका जोड लिया, इतने पर भी शान्ति तो नही मिल सकती, क्योकि शान्तिका कारण बाह्य पदार्थ नही है। बाह्य पदार्थो से शान्ति निकलकर मेरे आत्मामे नही आती है। शान्तिका उपाय ही कुछ दूसरा है, कर रहे कुछ

दूसरा उपाय। शान्ति कैसे मिले ? शान्तिका उपाय एकत्वविभक्त अन्तस्तत्त्वका दर्शन करना है। मैं अपने स्वरूपसे हू, अखण्ड हू जिस प्रकार ज्ञानानन्दस्वरूपसे रचा हुआ हू वही हू, अवक्तव्य हू, उसका वर्णन न किया जा सकेगा। वर्णन करनेके लिए कोई तैयार होगा तो भेद करके, अंश करके उसका वर्णन कर पायगा। मैं सबसे निराला केवल अपने चित्स्वरूपमात्र हू, निराला हू। यह तो विभक्तपना है, स्वरूपमात्र हू यह एकत्वपना है ऐसे एकत्वविभक्त अन्तस्तत्त्वका दर्शन ही शरण है, मंगल है लोको-त्तम है, अन्य कुछ मेरे लिए हितरूप नही है, ऐसी दृढतम श्रद्धाको ही तो निश्चल सम्यक्त्व कहते हैं, दूसरी बात कोई कितना ही समझाये, बाहरी घटनाओके चमत्कार कितने ही देखनेको मिलें, फिर भी वह ज्ञानी आत्मा सत्य श्रद्धासे विचलित न होगा। मैं यह हू। शान्तिका मार्ग यही है। उसका निजी स्थान यही है। मेरा मेरेसे बाहर कुछ नही है। ऐसा जो निर्णय कर लेता है वह पुरुष शान्त होता है। उसमे हिम्मत भी इतनी होती है कि ऐसी भी आपत्तिया आयें कि सब कुछ वैभव भी नष्ट हो जाय लेकिन वहा भी वह अपना कुछ भी बिगाड नही मानता। वह तो उस समय भी यही विचारता है कि मैं तो वही का वही शुद्ध ज्ञान मात्र हू, मेरेमे तो कुछ भी बिगाड नही हुआ।

द्रव्येन्द्रियोपर विजय करके भावेन्द्रियोपर विजय कैसे प्राप्त होती है इसका मनन कीजिये ८२१ वे अनुच्छेद मे-भावेन्द्रयोपर विजय-दूसरी करना है हमे बुद्धिपर विजय, भावेन्द्रियोपर विजय। तो उसके सम्बन्ध मे विचारें कि हम जो भीतरमे किसी विषयका भोगनकी बुद्धि बनाते है तो उस समय हमारा ज्ञान खण्डित हो गया। खण्डितके मायने यह है कि ज्ञान तो मेरा ऐसा अखण्ड है कि समस्त लोक, समस्त काल, समस्त पदार्थ एक साथ प्रतिभासमे आया करें। ऐसा निर्मल अखण्ड परिपूर्ण ज्ञान है। अथवा स्वभावको देखो तो मेरा ज्ञान अखण्ड है। लेकिन इस समय यदि मीठे रसमे बुद्धि चल रही है तो हम मीठे रसको पकडे हुए है, बाकी पदार्थोको छोडे हुए है। थोडी देर बाद मीठे रसको भी छोड देंगे, किसी और विषय पर पहुच जायेगे। फिर ठडा पानी रुचिकर हो रहा यह विषय लग गया। तो जिस समय जिस विषयमे हमारा ज्ञान लगता है उस विषयको जान रहे वह कितना सा ज्ञान है। हममे जो ज्ञान स्वभाव है, जिसके द्वारा मैं सारे विश्वको एकसाथ जान सकता हू। उस परिपूर्ण विशाल स्वभाव के समक्ष यह ज्ञान कितना सा है ? बहुत छोटा ना, खण्डित हो गया। जो ज्ञान विशाल था वह एक अंशमे रह गया। मेरा खण्डज्ञान करना स्वभाव नहो, मैं अखण्ड स्वभावी हू। जब यह समझें कि मैं इन विषय रूप नही हू, विषयोमे जो बुद्धि लगता है उस रूप मैं नही हू, मैं अखण्ड ज्ञानस्वभावरूप हूं, तब उनमे चित्त तो न अटकेगा। ये दो पक्ष बताये गये। द्रव्येन्द्रियपर विजय तो इस तरह है कि मैं द्रव्येन्द्रिय नही हू, इनपर मेरा अधिकार नही है, इनमे मैं क्या करू, ये मेरे किस कामके ? भावेन्द्रिय पर विजय किस तरह कि यह जो बुद्धि लगती है विषयोमे खाने-पीनेमे, अन्य आरामोमें, तो यह ज्ञान खण्ड खण्ड हो गया। मेरा ज्ञान प्रभुकी तरह व्यापक स्वभाव वाला है लेकिन एक टुकडेमे अटक गया तो यह खण्ड ज्ञान करना मेरा स्वरूप नही है, मेरा स्वरूप अखण्ड है जब ऐसे स्वरूपको जाना तो इस बुद्धिमे फिर अटक नही रहती। इससे मेरा प्रयोजन नही बल्कि ये बरबादीके कारण हैं।

ज्ञानस्वभावकी निश्चलता मनन करें ८६५ वें अनुच्छेदमे-ज्ञानस्वभावकी टकोत्कीर्णवत् निश्चलता-जैसे टाकेसे उकेरी गई प्रतिमा निश्चल है, जो अग बन गया उसे टससे मस नही कर सकते, वह जरा भी चलायमान नही हो सकती, इसी प्रकार यह परमात्मा जिसे क्षीणमोह बनकर प्राप्त किया है, वह भी निश्चल होगया है। अन्यच्च-वह परमात्मा जिसे प्राप्त किया है वह जीवके अन्दर शुरूसे ही है। जैसे कोई बडा पहाड है, उनमे से यदि कोई मूर्ति निकाली जाये, वह उसमे अब भी मौजूद है। वह

स्पष्ट इसलिए नहीं दिखाई दे रही है कि वह अगल बगलके पत्थरोसे ढकी हुई है। कारीगर मूर्ति नहीं बनाता बल्कि वह मूर्तिके ढकनेवाले पत्थरोको निकाल देता है तो मूर्ति स्पष्ट दिखाई देने लगती है। इसी प्रकार परमात्मा पदको कोई नही बनाता, परमात्मस्वरूप पहलेसे ही था आत्माके बीचमे आये हुए राग-द्वेषको दूर कर दो, परमात्म पद प्रकट हो ही जायेगा। इसकी उपाय भाव्यभावक भावका अभाव है। अत भाव्य भावकको नष्ट करो। पहले दर्शन मोहका भाव्य भावक नष्ट हुआ फिर ज्ञेय-ज्ञायकसंकर नष्ट हुआ। तदनन्तर चारित्रमोहका भाव्यभावक नष्ट हुआ। इस विधानसे आत्मा सर्वज्ञ और आनन्दमय हो जाता है देह और इन्द्रियोसे ज्ञान और आनन्द नही होता है, परन्तु ज्ञान और आनन्द ज्ञान और आनन्दसे ही होता। आनन्द ज्ञान तो आत्माके धर्म हैं, क्योकि वे द्रव्योपजीवी हैं। जो शुरूसे आखिर तक द्रव्यमे तन्मय रहें, उसे द्रव्योपजीवी कहते हैं।

(१३१-१३३) समयसारप्रवचन ३, ४, ५ भाग

इन तीन भागोमे समयसारकी ३९ वी गाथासे १४४ वी गाथा तक पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराजके प्रवचन हैं। इन जीवाजीवाधिकारकी प्रथम ४ गाथाओमे कई प्रकारके आत्माओको आत्मा माननेकी मूर्खता दिखाई गई है, वे सब आत्मा क्यों नही हैं, इसका समाधान देनेवाली ४४ वीं गाथाका एक प्रवचनांश देखिये-
ये समस्त भाव पुद्गलद्रव्यके परिणामसे निष्पन्न हैं ऐसा केवली जिनेन्द्र भगवानके द्वारा कहा गया है। अत वे जीव है ऐसा कैसे कहा जा सकता है? कोई कहते है कि जो हममे रागद्वेष उठ रहे हैं, वही जीव है। यदि राग द्वेषादिकको जीव न माना तो रागादिसे छुटकारा मिल सकता है। जहा रागद्वेष मैं हू, वहा "मैं" को कैसे मिटाया जा सकता है, इस प्रकार बन्धन नहीं छूटता है। इन परभावोमे कुछ तो चीजें ऐसी है, जो पुद्गलके निमित्तसे हुई हैं और कुछ ऐसी हैं कि जो पुद्गल द्रव्यका परिणमन है। अज्ञानी इन दोनोको जीव मानता है। पुद्गल द्रव्यके निमित्तसे रागद्वेष, साता असाता, शुभाशुभ भाव होते हैं, ये पुद्गल द्रव्यके निमित्तसे हुए परिणमन हैं। पुद्गल द्रव्यके निमित्तसे हुए वे भी जीव नहीं हैं, जो पुद्गल द्रव्यके परिणमन हैं, वे भी जीव नही है, सबसे पहिले यह श्रद्धा करनी है कि शरीर मैं नही हू। यह बात जल्दीसे सीखी जा सकती है, क्योकि औरोके शरीर जलाते प्रतिदिन देखे जाते हैं। बहुतसे लोगोको यह अनुभव होता है कि जैसी हमारी बुद्धि होती है वैसी किसी की है ही नही। जैसा हमारा पुण्य है वैसा किसी का है ही नही। मरने वाले तो और कोई होंगे। मैं सदा जिन्दा रहूगा, परन्तु यह सब अज्ञानोकी कल्पना है। भिखारी भी यही मानते हैं कि जैसी हममे चतुराई है वैसी किसीमे है ही नही। जीवको अपने अपने बारेमे ऐसी श्रद्धाये जमी हुई हैं। सम्भव है कि जिनमें आज बुद्धि नही है वे इसी पर्यायमे या किसी अन्य पर्यायमे हमसे अधिक ज्ञानी बन सकते हैं। रागमे कोई सफल नही होता है, परन्तु वह मानता है कि मैं रागमे सफल हो गया।

आत्महितके लिए आलंबन किये जानेके योग्य तत्त्व क्या है, देखिये ८६ वी गाथाके एक प्रवचनांशमे-
जिसका अवलम्बन करके म सम्यक्त्व प्राप्त कर सकते हैं वह चीज जीवमे अनादिसे ही है। जीवको जब उस अनादि अनन्त चीजका ज्ञान होता है तभी सम्यक्त्व होता है। उसका आलम्बन लिया समझो, सम्यक्त्व पैदा हो गया। उस अनादि अनन्त चैतन्य स्वभावके अवलम्बन न लेनेसे सम्यक्त्व नही उत्पन्न होता है। वह अपने अन्दर अनादिकालसे मौजूद है और सदा तक बना रहेगा। जिसके आलम्बनसे सम्यक्त्व जगता है, उसे कारणसमयसार कहते है। उसका आलम्बन लो या न लो, फिर भी वह चीज अनादिकालसे अपने अन्दर है, और सदा तक बनी रहेगी। जिस तरह पत्थरोमे से जो मूर्ति निकालनी है वह उसमें पहिलेसे ही विद्यमान है। पत्थरमे जो परमाणु स्कध मूर्तिको ढके हुए है, चारो ओर लगे

हैं उस मूर्तिको ज्योकी त्यो निकालनेके लिए उन पत्थरोंको हटाना पडता है। जो मूर्ति उस पत्थरमे से प्रकट होगी, वह उसमे पहलेसे हो विद्यमान है। इसी तरह वह स्वभाव जो कि प्रकट होनेपर भगवान कहलाता है. आत्मामे पहलेसे ही विद्यमान है, किन्तु उसके आवरक रागद्वेष आदि भाव है उन्हे हटा देनेपर स्वय प्रकट हो जाता है। स्वभावके समान पर्यायका होना सिद्ध अवस्था है। स्वभावसे विषम अवस्थाओका होना ससार अवस्था है। हम चैतन्यस्वभावका अवलम्बन ले तभी हम शुद्ध बन सकते है। चैतन्यस्वभावके अवलम्बनसे ही सम्यक्त्व जागृत होता है। सत्सग, पूजा, भक्ति, ध्यान ये विकल्प साक्षात् धर्म नही है। जिसके आलम्बनसे धर्म होता है, सम्यक्त्व जगता है, वह हमारेमे पहलेसे ही स्वभावमे है। चैतन्यस्वभाव ही जोव है, इस बातको लेकर, रागादिक जीव है, इस बातका खण्डन किया गया है।

उपयोग नाट्यभूमिपर ज्ञानपात्रके आते ही दर्शकोको आनन्द होता व मोह अन्यायीका विलय होता। इस अलकारमे अपना आन्तरिक चित्रण कीजिये ४८ वी गाथाके भूमिकामय प्रवचनांशमे—ज्ञानपात्रके आते ही आततायी मोहके हौसले खतम हो जाते है—वह ज्ञान नाट्यभूमिपर उपस्थित हुआ तो आतेही उसने उपसर्गो के बन्धन ढोले कर दिये, केवल विश्वास ही नही दिलाया, अपितु उस मचपर रहनेवाले आततायियोके भी हौसले बिगड गये और दर्शकोको भी प्रसन्नता हुई। जिस प्रकारसे अन्यायको दूर करनेवाला पात्र स्टेजपर उपस्थित होता है तो आततायियोके हौसले ढोले हो जाते हैं. उसी प्रकार जब यह ज्ञान नाट्यभूमिपर आया तो अनादि कालसे बधे हुए इन कर्मो के तो हौसले बिगडे और दर्शक अपन लोगो को आनन्द आया। जीवके विवेककी पुष्कल दृष्टिके द्वारा सभ सदोको विश्वास दिलाता हुआ ज्ञान प्रकट हुआ तब स्टेजकी शोभा बढी, आततायियोके हौसले बिगडे और स्टेजपर चमत्कार सा भी छा गया। इसी प्रकार यह मोह आत्मापर अन्याय करता आ रहा था, और भी बडे उपद्रव हो रहे थे, इस पर मोह बडा भारो अन्याय कर रहा था, ऐसी स्थितिमे जब स्टेजपर ज्ञान आया, कुछ विशुद्धता जचने लगी, दर्शकोको कुछ शान्ति मिली, दर्शकोको आनन्द आया और बन्धनके हौसले बिगडे।

सम्यग्दृष्टि जीवके निज अन्तस्तत्त्वकी प्रतीति सतत रहती है, चाहे वह किसी पर पदार्थमे उपयोग दे रहा है, इस तथ्यको देखिये—पृ० ८—जिस प्रकार जिस समय आत्मा अपने विषयमे उपयोग करता है उस समय आत्माका आत्मज्ञान कहलाने लगता है। और आत्मा ज्ञेय हो जाता है वहा पर भो वह स्वको जानता, परमे उपयोग हो तब भी वह स्वको प्रतीतिसे च्युत नही होता। ज्ञेय वहा पर वही खुद होता है। जैसे देहातोमे बच्चे खेलने चले जाते हैं, रात होनेपर घर आना ही पडता है, जब वे खेलमे थे तब भी उनकी प्रतीति थी कि हमारा घर यहा नही है परन्तु उपयोग खेलनेमे था। यदि उनकी प्रतीति ही नष्ट हो जातो तो उनको घरकी याद आनी न चाहिए थी। यही बात सम्यग्दृष्टिके है, प्रतीति बनी रहती है और उनका उपयोग अन्यत्र रह रहा है। सम्यग्दृष्टिके राग होता रहता है, परन्तु उनकी प्रतीति ऐसी है कि हमारा राग नही है।

६८ वीं गाथाके एक प्रवचनांशमे पढिये एक हितकारी सदेश—धर्मका फल तो निराकुलता शान्ति व मुक्ति है। पुण्यका फल ऐहिक सुख है। पापका फल दु ख है। इनमे से ऐहिक सुख व दु ख दोनो आकुलता से परिपूर्ण है। इनका निमित्तभूत पाप व कर्म भी पौद्गलिक, अज्ञानमय परपदार्थ है। पुण्य, पाप कर्मका निमित्तभूत पुण्यभाव व पापभाव दोनो पराश्रयज भाव है। केवल धर्मभाव ही स्वाश्रयज है। स्वके पडोसमे, समीपमे रहनेवाले कौन कौन परभाव हैं, उनका इस अजीवाधिकारमे सकेत करके उनका निषेध किया है। उनपर भावोके आश्रयसे धर्मभाव नही हो सकता। धर्मभावके बिना आत्माकी

सिद्धि समृद्धि नही हो सकती है। अतः इन सब परभावोकी दृष्टि त्याग करके एक अखण्ड, सनातन शाश्वत ध्रुव परमपारिणामिकभावमय ध्रुव चैतन्य स्वभावी स्वका अनुभव करो।

कर्तृकर्माधिकारमे क्या कहा जायगा इसकी झलक लीजिये—जीव और अजीव इन दोनोका अनादिसे सम्बन्ध चला आ रहा है। जीवकी विविध दशायें बन रही हैं अजीवका ससर्ग पाकर। इस पर भी जीवका अजीव कुछ नही कर रहा और अजीवका जीव कुछ नही कर रहा। जो अपना परमे कर्तृत्व मानते हैं वे सयोग दृष्टिवाले मिथ्याबुद्धि है और जो स्वको परका कर्ता नही मानते वे सम्यक्बुद्धिवाले हैं। नाटक चल रहा है। कर्ता कर्म जीव अजीव ऐसा मोह लिए चले आ रहे थे। ऐसा हुआ नही कि जीवने अजीवकी परिणति की हो और अजीवने जीवकी परिणति की हो। अनादि कालसे दोनोकी अवस्थायें चली आ रही है। ज्ञानी जीव इन दोनोमे भेद करता है जब कि अज्ञानी यह मानता है कि क्रोध आदि मेरे करनेके काम हैं। कर्म भी मेरे नही, क्रोधादिक भी मेरे काय नही। मै तो एक ज्ञान-स्वभावमात्र हू। कार्यकारणमे रहित हू। न मैं किसीके द्वारा किया जाता हू, न किसीका करता हू। ज्ञानी तो इस तरह चैतन्यभावकी दृष्टि लाता है। तो यह कर्ता कर्म की सतान चली आ रही थी वह समाप्त हो जाती है।

आत्मा क्रोधादिक भावोमे क्यो लग रहा है, उसकी स्प्रिट क्या बन रही है, इसका दिग्दर्शन करें—जैसे कि यह आत्मा अथवा ज्ञानी आत्मा तादात्म्यसिद्ध सम्बन्ध वाले आत्मा और ज्ञानमे अविशेष होनेसे भेद नही देखता हुआ नि.शक होकर आत्मरूपसे ज्ञानमे वर्तता है और ज्ञानमे आत्मरूपसे वर्तता हुआ वह जानता ही है, क्योकि जानना तो स्वभावभूत क्रिया है, उसका तो प्रतिषेध नही किया जा सकता। देखो—ज्ञान और आत्माका तादात्म्यसिद्ध सम्बन्ध है अर्थात् आत्मा व ज्ञान भिन्न भिन्न अर्थ नही और जबसे यह सत् पदाथ है तभीसे ज्ञान है अथवा ज्ञान व आत्माका भेद वस्तुत्व समझनेके लिए गुण गुणी भेद करके बताया गया है। अब एक बात देखो अपने एकत्वकी भावनासे ज्ञानी तो जाननरूप वर्तता ही है। यह तो सत्यपद्धति है। परन्तु अज्ञानी की बात तो देखो—वह सयोगसिद्ध सम्बन्ध वाले आत्मा व क्रोधादिक आस्रवमे स्वय अज्ञानसे विशेषको न जानता हुआ जब व जब तक भेद (अन्तर) नही देखता है तब व तब तक नि शक होता हुआ क्रोधादिकमे आत्मरूपसे वर्तता है और उन क्रोधादिक आस्रवोमे आत्मरूपसे वर्तता हुआ यह अज्ञानी जीव, यद्यपि वे क्रोधादिक आस्रव परभावभूत होनसे प्रतिषिद्ध हैं तथापि स्वभावभूतपनेका अध्यास होनेसे, क्रोध करता है, राग करता है, मोह करता है। इस प्रकार अज्ञानी ससारपरम्परा बढाता है।

वैराग्यका मूल तत्त्वज्ञान है, इसकी एक नये तुले अतिसक्षिप्त शब्दोमे परख करें-मैं शुद्ध चेतनामात्र वस्तु हू। रागादिकको निमित्त पाकर मोहादिक रूप परिणमन कर रहा है। मैं ध्रुव हू, रागादिक अध्रुव हैं, रागादि आकुलताके साधन हैं, मैं अनाकुल स्वभाव हू। जो ज्ञानका होना है वह रागादिकका होना नहीं है और जो रागादिकका होना है वह ज्ञानका होना नही है। यह अन्तर जाननेपर पुद्गल कर्म स्वय रुक जाता है। वैराग्य न पदार्थसे होता है और न रागसे होता है। तत्त्वज्ञान ही वैराग्यका मूल है। मोही क्यो दुःखी है ? मोहियोको असलमे पर्यायसे राग है।

आत्माकी लगन ही एक मात्र शकुन है लोकमे, बाकी तो इसके सूचक होनेसे शकुन कहलाने लगे। देखिये—शकुन शास्त्रमे बताया है—अगर मुद्रा मिले तो शकुन है। जिसमे वैराग्य बढे, तत्त्वकी बात मिले वही तो शकुन होता है। भरा घडा शकुन माना है। मिट्टी और पानी का सयोग, किन्तु शकुन कैसा ? जिस तरह बर्तनमे पानी समरस छलकता हुआ निर्मल भरा है उसी तरह आत्मामे समता भरी है तो इस

विचारका उदाहरण हुआ तो लो घट शकुन हो गया। गायको चूसता हुआ बछड़ा मिल जावे तो शकुन कहा है, इतना शकुन कि मान लिया रास्तेमे व्यापारको जाते मिल जावे तो लक्ष्मीका लाभ होवे। तो धर्ममे पग-पग पर बताया है-धर्मी सो गोबच्छ प्रीति सम, गो बछडेसे कुछ मागती नही है, किन्तु वह स्वभावसे प्रेम करती, चाटती चूमती है। उसी तरह लौकिक कार्यो की आशा न करके धर्मात्मा पुरुषो की सेवा सुश्रुषा विनय आदर सत्कार करना चाहिए। यह अन्तरग धर्मकी बातोको लौकिक क्रियाओ पर घटित कर लिया, जिससे बाहरी बातें सगुन बनी। उसमे अपनेको सर्वांग लगा देवे तो यही उपाय भवजालसे छूटनेका सच्चा सार बन जावे। तभी जीवनमे अन्य कार्यो की सफलता है। यदि इन सगुनो का देखकर तत्त्वज्ञान व वैराग्यकी दृष्टि हो तब तो सगुन है, अन्यथा कुछ नही।

ज्ञानीकी स्वशुद्धत्वभावनाकी पद्धति देखें-पृ० ५५-५६-मै एक हू, शुद्ध हू। शुद्धके सम्बन्धमें बताया है कि वह केवल आत्मस्वरूपके सम्बन्धमे भावना करता है) मैं ममतारहित हू। देहसे, रागसे, मोहसे, लोभसे रहित हू। शरीरभी मेरा नही है इत्यादि बातें बहुत आई, किन्तु यहा उन सबको भी दूर कर रहा हू, क्योकि इन भावनाओका स्वामी भी मैं नही हू। मेरेमे जो तरग उठ रही है, वह भी मैं नहीं हू। मैं चाहू कि ये रागद्वेष जा रहे हैं, एक समय तो रागद्वेषको रोक लू, ह भी नही रुकता, जिसके होनेपर हो और जिसके न होनेपर नही हो वह उसका स्वामी हो सकता है। वह क्या है। जिसका स्वामी पुद्गल कर्म है ऐसे क्रोधादिक क्या आत्माके हो सकते है? यह कर्म प्रकृतिके होनेपर होते हैं और नही होनेपर नही होते हैं तो पुद्गल स्वामी कहलाया तथा जीवके होनेपर क्रोधादिक हो और जीवके न होनेपर नही हो तो जीवको स्वामी समझ। सो जीव तो हमेशा रहता है, किन्तु राग कहा रह पाते, इसी कारण रागादिकका स्वामी आत्मा नही रह सकता। क्रोधादिक पौद्गलिक है, मैं उन रूप कैसे हो सकता हू? रागका स्वामी मैं नही हू।

रागद्वेष भाव आश्रव है, दुखरूप है, ज्ञानी इनसे दूर हो जाता है। किस विधिसे दूर होता है सो देखिये- यहा ज्ञानी किस विधिसे आस्रवोसे हट जाता है यह दिखाया जा रहा है। यह मैं आत्मा प्रत्यक्ष, अखण्ड, अनन्त चिन्मात्र ज्योति हू, अनाद्यनन्त नित्य विज्ञानघन स्वभाव होनसे एक हू, मैं स्वकीय चेतन्यात्मक हू। यह मैं आत्मा समस्त कारकसमूहकी प्रक्रियासे उत्तीर्ण (परे) हू, निर्मल अनुभूति मात्र होनेसे शुद्ध हू। मुझमे कुछ भी द्वन्द्व नही है यह मैं आत्मा क्रोधादि विश्वरूपताके स्वामी रूपसे कभी परिणम हो नही सकता हू, क्योकि क्रोधादि विभावोका स्वामी पुद्गल है। जब क्रोधका स्वामी मैं हू ही नही तब मैं निष्क्रोध हू, जब मानका स्वामी मैं हू ही नही तब मैं निर्माण हू जव मैं मायाका स्वामी हू ही नही तब मैं निर्माय हू, जब मैं लोभका स्वामी हू ही नही तब मैं निर्लोभ हू। जब मैं ममताका स्वामी हू ही नही तब मैं निर्ममत्व हू। अथवा जब क्रोधादिविश्वरूपका मैं स्वामी ही नही तब ये सब विभाव मेरे नही हैं, अत निर्ममत्व हू याने निर्ममत (ममतारहित) हू। फिर हू कैसा? मैं चैतन्यमात्र तेज हु और चैतन्यमात्र तेज वस्तुस्वभावसे ही सामान्यविशेषणात्मक है, जो उसकी सामान्यात्मकता है वह दर्शन है, जो उसकी विशेषात्मकता है वह ज्ञान है। अत दर्शन ज्ञानात्मक हू अथवा दर्शनज्ञान-समग्र हू याने दर्शन ज्ञान ही है समग्र सवस्व जिसका ऐसा मैं हू। सो कहने कहने को बात नहीं, आकाशादि की तरह एक पारमार्थिक वस्तु विशेष है। तब लो, अब मै इस समय इस ही आत्मामें समस्त परद्रव्योकी प्रवृत्ति द्वारा निश्चल ठहरता हुआ, समस्त परद्रव्योके निमित्तसे होनवाली विशेष चेतनकी चचल तरगोके निरोधसे इस ही मुझको चेतता हुआ, अपने अज्ञानसे अपनेमे ठहरने वाले इन सारे विभावोको मैं दूर करता हू, क्षपित करता हू। इस प्रकार आत्मामे निश्चय करके यह ज्ञानी

आत्मा तुरन्त ही समस्त विकल्पोका वमन करके अकल्पित, अचलित अपने आपका आलम्बन करता हुआ, विज्ञानघन, रसात्मक होता हुआ आस्रवोसे निवृत हो जाता है।

परस्पर प्रशसा करते रहनेकी वेवकूफीका चित्रण देखे–कथानक है, परस्पर प्रशसन्ति, अहो रूप अहो ध्वनि। एक दूसरे की प्रशसा करते हैं कि तुम्हारा रूप अच्छा है तो तुम्हारी ध्वनि (स्वर) अच्छा है। ऊटका विवाह हो रहा था। गधोको गीत गानेका बुलाया गया। गधे कहते ऊटसे–आपका रूप बडा ही सुहावना है, तथा गधोकी चिल्ल यो सुनकर ऊट कहता–आपका पचम स्वर किसे मोहित नही कर लेता है, इसी तरह हम मोही जीव ऊटको, गधोकी तरह इन मोहक मनुष्योकी पदार्थोकी दिल खोल-कर प्रशसा करते हैं तथा एक दूसरे अपनेको कृतार्थ मान लेते हैं।

जीव और कर्म दोनोके परिणमनका स्वातन्त्र्य देखिये–मनुष्य कहते हैं, हे जिनेन्द्र भगवान, आपने कर्म कलकको काट डाला है, उनके बन्धनोको हटा दिया है, किन्तु भगवानने कर्मो को कहा काटा ? उनमे तो निर्मल परिणाम मात्र आये। निर्मल भावोसे कर्म अपने आप छूट गये तथा ससारी जीवोके बारेमे कहते हैं–अज्ञानमे ससारी प्राणियोने अनेक कर्म बाध डाले। उन्होने अपना विकल्प ही बनाया, और कुछ नही किया। निश्चयसे भगवानने कर्मो को काटा नही और न किसीने कर्मो का उत्पाद किया है। निमित्त नैमित्तिक भावसे ऐसा हो रहा है। यहा अज्ञानी शब्द क्यो किया है ? वह दो द्रव्योको कर्ता कर्म भावसे देख रहा है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्यको कर देता है, यह दोष बुद्धिका है।

जो जीव यो जानता है कि मैं अपना भी परिणमन करता हू और पुद्गलकर्म, देह आदि का भी परिणमन करता हू वह मिथ्यादृष्टि है। इसके समर्थनका एक प्रवचनाश देखिये–गाथा ८६ मे–देखो, परखो और निरखो–आत्मा केवल अपनेही भावोको करता है। पर पदार्थ केवल अपने (स्वयके) भावोको ही करता है। और, वे आत्मभाव आत्मासे जुदे नही, अतः आत्मा ही है तथा वे परभाव परसे जुदे नही सो वे पर ही हैं। समस्त शासनकी शिक्षा यही है कि हे आत्मन् अपने वैभवोको परखकर अपने सहजस्वरूपका परिचय प्राप्त करो, अनुभव प्राप्त करो।

कर्तृत्वबुद्धि की विपदा आत्मा पर छाई है, इसका एक चित्रण देखिये गाथा ९० के प्रवचनाशमे–अहो, यह उपयोग तो चिन्मात्र स्वभावका होना बन रहा था। खुदके आश्रयभूत आत्मद्रव्यमे उत्पन्न होनेवाली तरगोको ग्रहण कर लेनेका इतना कठोर परिणाम हुआ कि बेचारा उपयोग अज्ञानीभूत होकर कर्तृत्वके भारको ढो रहा है। हे उपयोग, इतनी तो हिम्मत कर, जितना जब बश चले कि पदार्थके यथार्थ स्व-रूपको जान और अपन स्वरूपको यथाथ जान और जितना भी टिक सके उतना इस तत्त्वज्ञनमे टिक। देख तेरा कल्याण होगा, मेरा कल्याण होगा, अन्यथा तू भी क्लिष्ट है, मैं भी क्लिष्ट हू। हे उपयोग, तू और मैं कोई दो चीज नही एक अभिन्न सत् है, परन्तु जब कुमति छा जाती है तो दो न होकर भी दो से हो जाते हैं। हाय कितनी बडी विपदा है आत्मदेवपर।

तात्विक भेदविज्ञ न होनेपर विकार निवृत होते ही है, यह समाचार पढिये ७२ वीं गाथाके एक प्रवचनाश में–यह ज्ञान ज्ञानस्वरूप है या अज्ञानरूप। अज्ञानरूप। अज्ञानरूप नही, क्योकि रागादिक स्वय अज्ञान-रूप है और रागादिकमे और आत्माके स्वरूपमे जो भेदविज्ञान होता है वह अज्ञान है। वह अज्ञान है तो इसके माने वह विकार है। उसकी तो चर्चा ही नही कर रहे हैं। आत्मामे और विकारमे जो भेद नजर आता है, रागादिक अशुचि हैं मै आत्मा पवित्र हू, स्वयके स्वरूपरूप हू, जब भेदविज्ञान होता है तो देख लो, आस्रवके विकारमे लग लगकर ज्ञान बनता है या विकारोसे हटता हुआ यह ज्ञान बनता

है ? विकारोमे लगता हुआ नही बनता, फिर वह भेद विज्ञान ही क्या ? और हटता हुआ रहता है तो इससे सिद्ध हुआ कि ज्ञानसे बंधका निरोध होता है। देखिये-कितनी सुगम स्वाधीन कल्याणकी बात है कि सारा उपद्रव ज्ञानभावसे टल जाता है। यह बताया गया है। निजमे और परमे भेदविज्ञान करके निजके यथार्थ स्वरूपका ज्ञान बनाये रहना यह समस्त विपत्तियोके टालनेकी कुंजी है। हम शान्तिके लिए बहुत प्रयत्न कर रहे हैं, व्यापार करना, धन सम्पदा जोडना आदिक शान्तिका कारण समझा तो उसमे डटकर लग जाते हैं। शान्तिका जो कारण समझ उसमे यह जीव लगता है, पर शातिका कारण हो तब तो उसमे लगनेसे शाति मिले। पर हो तो अशातिका कारण और मान लिया शातिका कारण, तो अपना कुछ मान लेनसे कही वस्तुस्वरूपमे फर्क तो न आ जायगा। शान्तिका कारण केवल शुद्ध निज ज्ञानकी दृष्टि है। शान्तिके लिए प्रयत्न तो बहुत करते है, पर भीतरमे निर्णय ठीक नही रख रहे हैं, शातिके विचारसे हम धर्म भी करते है, मन्दिर आना, पूजा करना, स्वाध्याय करना, जाप देना, पर इतना करके भी यदि शान्ति प्राप्त नही हो रही है तो समझना चाहिए कि हमने सही ढगसे धर्म नही किया है। धर्म यह ज्ञानस्वभाव है। अपने आपके स्वरूपका यथार्थ भान रखना सो ज्ञानभाव है और ज्ञानभावसे ये कर्म रुकते हैं, शान्तिकी प्राप्ति होती है।

विकार दुःख है और स्वभाव आनन्दरूप है, जरा दुःखसे हटने और आनन्दमे आने की विधि देखिये ७४ वीं गाथाके एक प्रवचनांशमे-किन्ही भी दो बातोके प्रसगमे एक से हटना, एकमे लगना यह कब होता है कि उन दोनोमे अन्तर मालूम पडे और जिससे हटना है उसकी असारता मालूम हो और जिसमे लगना उसका सारपना मालूम हो तो असारसे हटकर सारमे लगना होता है। जैसे चावल सोधे जाते है तो कूडा ककडको हटाना और चावलको ही ग्रहण करना यह बात उसके ही तो बनती है जिसके चित्तमे चावल और अचावलका याने कूडा ककडका अन्तर मालूम होता है। यह चावल है और यह चावलसे भिन्न चीज है। साथ ही यह भी विदित है कि यह कूडा अत्यन्त भिन्न असार चीज है, और चावल सारभूत हैं। तो इसी प्रकार यहा सामने दो बाते आयी है। ज्ञानस्वभाव और रागादिक विकार। इन रागादिक विकारोसे हटना है और ज्ञानस्वभावमे लगना है तो इसका उपाय यही है कि पहिले तो इन दोनोका अन्तर जान लिया जाये कि रागादिकका तो ऐसा स्वरूप है ऐसी आदत है और ज्ञानस्वभाव का ऐसा स्वरूप है और इसकी ऐसी महिमा है, इस अन्तरके जाननेके साथ ही यह बुद्धि आयगी कि यह असार है और यह सारभूत है। बस इतना ज्ञान होते ही ज्ञानी असारसे हट जाता है और सारमे लग जाता है, इसलिए उन्ही दोनोका स्वरूप बतला रहे हैं।

उपदेशका लक्ष्य शुद्ध आत्मतत्त्वकी ओर आकर्षण कराना होता है, इसको घटित कीजिये ८३ वीं गाथाके एक प्रवचनांशमे–प्रत्येक कथनका तथ्यभूत उपदेशसे अपना उद्देश्य निकाल लेना है। कथन आया था कि ये रागादिक विकार जीवके नही हैं ये कर्मोके हैं, क्योंकि पुद्गलके परिणामसे निष्पन्न हुए हैं। यहा यद्यपि पुद्गलका रागादिक विकारके साथ निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है, उपादान उपादेय सम्बन्ध नही, तिस पर भी चूकि आत्माके शुद्धस्वरूपको जीव लखा जा रहा है–जीव क्या है ? जिसका सर्वस्व सार है चैतन्यशक्तिमे व्याप कर रहता है वह जीव है। ऐसा विशुद्ध स्वरूप दृष्टिमे रखकर जब रागा–दिक विकारोका निर्णय करने चले कि ये किसके हैं जो उस जीवके नही कहे जा सकते, क्योकि यहा स्वभावदृष्टिकी धुन रखनेका प्रसग है, और तब इस विशुद्ध चैतन्यस्वभावसे व्यतिरिक्त विविक्त समझने के लिए रागादिक विकारोको यो निरखा जा रहा है कि देखो ये तो सब कर्मोके हैं, पौद्गलिक हैं, ये जीवके नही है। यहा निश्चयदृष्टिसे रागादिक विकारोको जीवकृत कहा जा रहा है, कर्मकृत नही। जो

आत्मा तुरन्त ही समस्त विकल्पोका वमन करके अस्खलित, अचलित अपने आपका आलम्बन करता हुआ, विज्ञानघन, रसात्मक होता हुआ आस्रवोसे निवृत हो जाता है।

परस्पर प्रशसा करते रहनेकी बेवकूफीका चित्रण देखें–कथानक है, परस्पर प्रशसन्ति, अहो रूप अहो ध्वनि'। एक दूसरे की प्रशसा करते हैं कि तुम्हारा रूप अच्छा है तो तुम्हारी ध्वनि (स्वर) अच्छा है। ऊटका विवाह हो रहा था। गधोको गीत गानेका बुलाया गया। गधे कहते ऊटमे–आपका रूप बडा ही सुहावना है, तथा गधोकी चिल्ल यो सुनकर ऊट कहता–आपका पचम स्वर किसे मोहित नही कर लेता है, इसी तरह हम मोही जीव ऊटको, गधोकी तरह इन मोहक मनुष्योकी पदार्थो की दिल खोल-कर प्रशसा करता है तथा एक दूसरे अपनेको कृतार्थ मान लेते है।

जीव और कर्म दोनोके परिणमनका स्वातत्र्य देखिये–मनुष्य कहते हैं, हे जिनेन्द्र भगवान, आपने कर्म कलकको काट डाला है, उनके बन्धनोको हटा दिया है, किन्तु भगवानने कर्मो को कहा काटा? उनमे तो निर्मल परिणाम मात्र आये। निर्मल भावोसे कर्म अपने आप छूट गये तथा ससारी जीवोके बारेमे कहते हैं–अज्ञानमे ससारो प्राणियोने अनेक कर्म बाध डाले। उन्होने अपना विकल्प ही बनाया, और कुछ नही किया। निश्चयसे भगवानने कर्मो को काटा नही और न किसीने कर्मो का उत्पाद किया है। निमित्त नैमित्तिक भावसे ऐसा हो रहा है। यहा अज्ञानी शब्द क्यो किया है? वह दो द्रव्योको कर्ता कर्म भावसे देख रहा है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्यको कर देता है, यह दोप बुद्धिका है।

जो जीव यो जानता है कि मैं अपना भी परिणमन करता हू और पुद्गलकर्म, देह आदि का भी परिणमन करता हू वह मिथ्यादृष्टि है। इसके समर्थनका एक प्रवचनाश देखिये–गाथा ८६ मे–देखो परखो और निरखो–आत्मा केवल अपनेही भावोको करता है। पर पदार्थ केवल अपने (स्वयके) भावोको ही करता है। और, वे आत्मभाव आत्मासे जुदे नही, अतः आत्मा ही है तथा वे परभाव परसे जुदे नही सो वे पर ही हैं। समस्त शासनकी शिक्षा यही है कि हे आत्मन् अपने वैभवोको परखकर अपने सहजस्वरूपका परिचय प्राप्त करो, अनुभव प्राप्त करो।

कर्तृत्वबुद्धि की विपदा आत्मा पर छाई है, इसका एक चित्रण देखिये गाथा ६० के प्रवचनाशमे–अहो, यह उपयोग तो चिन्मात्र स्वभावका होना बन रहा था। खुदके आश्रयभूत आत्मद्रव्यमे उत्पन्न होनेवाली तरगोको ग्रहण कर लेनेका इतना कठोर परिणाम हुआ कि बेचारा उपयोग अज्ञानीभूत होकर कर्तृत्वके भारको ढो रहा है। हे उपयोग, इतनी तो हिम्मत कर, जितना जब वश चले कि पदार्थके यथार्थ स्व-रूपको जान और अपने स्वरूपको यथार्थ जान और जितना भी टिक सके उतना इस तत्त्वज्ञानमे टिक। देख तेरा कल्याण होगा, मेरा कल्याण होगा, अन्यथा तू भी विलष्ट है, मैं भी विलष्ट हू। हे उपयोग, तू और मैं कोई दो चीज नही, एक अभिन्न सत् है, परन्तु जब कुमति छा जाती है तो दो न होकर भी दो से हो जाते हैं। हाय कितनी बडी विपदा है आत्मदेवपर।

तात्विक भेदविज्ञ न होनेपर विकार निवृत होते ही है, यह समाचार पढ़िये ७२ वी गाथाके एक प्रवचनाश में–यह ज्ञान ज्ञानस्वरूप है या अज्ञानरूप। अज्ञानरूप। अज्ञानरूप नही, क्योकि रागादिक स्वय अज्ञान-रूप है और रागादिकमे और आत्माके स्वरूपमे जो भेदविज्ञान होता है वह अज्ञान है। वह अज्ञान है तो इसके माने वह विकार है। उसकी तो चर्चा ही नही कर रहे हैं। आत्मामें और विकारमे जो भेद नजर आता है, रागादिक अशुचि हैं, मै आत्मा पवित्र हू, स्वयके स्वरूपरूप हू, जब भेदविज्ञान होता है तो देख लो, आस्रवके विकारमे लग लगकर ज्ञान बनता है या विकारोसे हटता हुआ यह ज्ञान बनता

है ? विकारोमे लगता हुआ नही बनता, फिर वह भेद विज्ञान ही क्या ? और हटता हुआ रहता है तो इससे सिद्ध हुआ कि ज्ञानसे बधका निरोध होता है। देखिये-कितनी सुगम स्वाधीन कल्याणकी बात है कि सारा उपद्रव ज्ञानभावसे टल जाता है। यह बताया गया है। निजमे और परमे भेदविज्ञान करके निजके यथार्थ स्वरूपका ज्ञान बनाये रहना यह समस्त विपत्तियोके टालनेकी कुजी है। हम शान्तिके लिए बहुत प्रयत्न कर रहे हैं, व्यापार करना, धन सम्पदा जोडना आदिक शान्तिका कारण समझा तो उसमे डटकर लग जाते हैं। शान्तिका जो कारण समझ उसमे यह जीव लगता है, पर शातिका कारण हो तब तो उसमे लगनेसे शाति मिले। पर हो तो अशातिका कारण और मान लिया शातिका कारण, तो अपना कुछ मान लेनेसे कही वस्तुस्वरूपमे फर्क तो न आ जायगा। शान्तिका कारण केवल शुद्ध निज ज्ञानकी दृष्टि है। शान्तिके लिए प्रयत्न तो बहुत करते हैं, पर भीतरमे निर्णय ठीक नही रख रहे हैं, शातिके विचारसे हम धर्म भी करते है, मन्दिर आना, पूजा करना, स्वाध्याय करना, जाप देना, पर इतना करके भी यदि शान्ति प्राप्त नही हो रही है तो समझना चाहिए कि हमने सही ढगसे धर्म नही किया है। धर्म यह ज्ञानस्वभाव है। अपने आपके स्वरूपका यथार्थ भान रखना सो ज्ञानभाव है और ज्ञानभावसे ये कर्म रुकते है, शान्तिकी प्राप्ति होती है।

विकार दुख है और स्वभाव आनन्दरूप है, जरा दुखसे हटने और आनन्दमे आने की विधि देखिये ७४ वीं गाथाके एक प्रवचनांशमे-किन्ही भी दो बातोके प्रसगमे एक से हटना, एकमे लगना यह कब होता है कि उन दोनोमे अन्तर मालूम पडे और जिससे हटना है उसकी असारता मालूम हो और जिसमे लगना उसका सारपना मालूम हो तो असारसे हटकर सारमे लगना होता है। जैसे चावल सोधे जाते है तो कूडा ककडको हटाना और चावलको ही ग्रहण करना यह बात उसके ही तो बनती है जिसके चित्तमे चावल और अचावलका याने कूडा ककडका अन्तर मालूम होता है। यह चावल है और यह चावलसे भिन्न चीज है। साथ ही यह भी विदित है कि यह कूडा अत्यन्त भिन्न असार चीज है, और चावल सारभूत हैं। तो इसी प्रकार यहा सामने दो बातें आयी है। ज्ञानस्वभाव और रागादिक विकार। इन रागादिक विकारोसे हटना है और ज्ञानस्वभावमे लगना है तो इसका उपाय यही है कि पहिले तो इन दोनोका अन्तर जान लिया जाये कि रागादिकका तो ऐसा स्वरूप है ऐसी आदत है और ज्ञानस्वभाव का ऐसा स्वरूप है और इसकी ऐसी महिमा है, इस अन्तरके जाननेके साथ ही यह बुद्धि आयगी कि यह असार है और यह सारभूत है। बस इतना ज्ञान होते ही ज्ञानी असारसे हट जाता है और सारमे लग जाता है, इसलिए उन्ही दोनोका स्वरूप बतला रहे हैं।

उपदेशका लक्ष्य शुद्ध आत्मतत्त्वकी ओर आकर्षण कराना होता है, इसको घटित कीजिये ८१ वीं गाथाके एक प्रवचनांशमे—प्रत्येक कथनका तथ्यभूत उपदेशसे अपना उद्देश्य निकाल लेना है। कथन आया था कि ये रागादिक विकार जीवके नही हैं ये कर्मोके हैं, क्योकि पुद्गलके परिणामसे निष्पन्न हुए हैं। यहा यद्यपि पुद्गलका रागादिक विकारके साथ निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है, उपादान उपादेय सम्बन्ध नही, तिस पर भी चूकि आत्माके शुद्धस्वरूपको जीव लखा जा रहा है—जीव क्या है ? जिसका सर्वस्व सार है चैतन्यशक्तिमे व्याप कर रहता है वह जीव है। ऐसा विशुद्ध स्वरूप दृष्टिमे रखकर जब रागादिक विकारोका निर्णय करने चले कि ये किसके हैं जो उस जीवके नही कहे जा सकते, क्योकि यहा स्वभावदृष्टिकी धुन रखनेका प्रसग है, और तब इस विशुद्ध चैतन्यस्वभावसे व्यतिरिक्त विविक्त समझने के लिए रागादिक विकारोको यो निरखा जा रहा है कि देखो ये तो सब कर्मोके हैं, पौद्गलिक हैं, ये जीवके नही है। यहा निश्चयदृष्टिसे रागादिक विकारोको जीवकृत कहा जा रहा है, कर्मकृत नही। जो

बात पहिले शुद्धनयसे सिद्ध कर रहे थे वही बात यहा पर इस निश्चयनयके प्रसगमे प्रतिष्ठा नही पा रही। ये रागादिक विकार चूकि पुद्गल कर्मके अन्तर्व्याप्यव्यापक होकर नही रहते अत इसका कर्ता कर्म नही है। इन विकारोका कर्ता निश्चयसे आत्मा है। इस प्रकार जब कर्मोदयका अभाव हो और जीवमे नि ससार अवस्था आये, शुद्ध परिणमन चले तो उस समय कर्मविपाकके अभावके निमित्तसे यह शुद्ध नि ससार अवस्था हुई इतने पर भी इस कर्मका जीवकी इस अवस्थामे व्याप्य व्यापक सम्बन्ध नही है। अतः ये कर्म अभावरूपसे होकर भी जीवकी नि ससार अवस्थाके करनेवाले नही है, क्योकि स्वयकी अवस्थाका ही जीवमे अन्तर्व्याप्य व्यापक भाव है, अत उस नि ससार अवस्थाका कर्ता भी जीव ही है। जैसेकि हवाके चलनेके निमित्तसे समुद्रमे निस्तरग अवस्था हुई तिस पर भी उस निस्तरग अवस्थामे हवा का व्याप्य व्यापक सम्बन्ध नही है। अत उस अवस्थाका कर्ता हवा नही है। उसका भी कर्ता यह समुद्र है। उसका समुद्रमे ही व्याप्य व्यापक भाव है।

द्रव्य दो (स्व व पर) द्रव्योकी क्रियाओको करता है, इस मान्यताको द्विक्रियावाद कहते है, यह मान्यता मिथ्या है, इसका कारण समझिये ८६ वी गाथाके एक प्रवचनाशमे—एक पदार्थकी दो क्रियायें करे, इस तरह समझने वाला पुरुष मिथ्यादृष्टि क्यो कहलाता है, उसका उत्तर इस गाथामे दिया गया है कि चूकि इस अज्ञानीने अपने आत्माको ऐसा माना है कि यह मैं आत्मा अपना परिणमन भी करता हू और पौद्-गलिक कर्मोका परिणमन भी करता हू, इस ही का अर्थ तो है ना द्विक्रियावाद। तो ऐसी जो दो क्रियावोको मानते है वे मिथ्यादृष्टि जीव है। यह सिद्धात है। मिथ्यात्व ही जीव पर बडी भारी विपदा है। अन्तरगमे यदि किसी प्रकार की आकुलता अशान्ति बनी है तो समझना चाहिए कि हमारा मिथ्यात्व अभी गया नही है। थोडी बहुत अशान्ति आकुलता तो ज्ञानीके भी हो जाती है, लेकिन वह धुल जाती है। उसे उपयोगमे बसाये रहे और उससे बेचैन रहा करे ऐसी बात ज्ञानीमे नही होती। तो यह मिथ्यात्व ही घोर सकट है। जिसको इस प्रसगमे भी समझ लीजिये कि दो क्रियावोके करने वाले रूप आशय घोर सकट है। कही भी किसीको एक द्रव्यके द्वारा दो द्रव्योका परिणमन हुआ, प्रतिभासमे नहीं आया। जैसे कोई बहुत सकटमे डालने वाली बात होती है ये जगतके प्राणी उसके प्रति यहभावना करते है कि यह बात किसीपर मत गुजरे। तो यहा सकट दीख रहा है यह कि एक द्रव्य दो द्रव्योका परिणमन करता है तो यहा जो सकट देख रहा है ऐसा ज्ञानी पुरुष समस्त प्राणियोके प्रति यह भावना करता है कि एक द्रव्यके द्वारा दो द्रव्योका परिणमन प्रतिभासित मत होओ। एक द्रव्य दो द्रव्योका परिणमन करदे यह बात असगत कैसे है ? तो दृष्टान्तसे देखिये—जैसे कुम्हार कलशकी उत्पत्तिके अनु-कूल अपने हाथोका व्यापार कर रहा है, लेकिन वह भी वास्तवमे जिस प्रकार अपनसे भिन्न परिणति कर रहा है उसी प्रकार मिट्टीके कलश परिणाममे भी अभिन्न है और इस तरह निरखे कोई कि मिट्टीसे अभिन्न रूप क्रियासे यह कुम्हार मिट्टीके परिणमनको भी कर रहा है तो यही कहलाता है दो क्रियावोके द्वारा होना। ऐसा जो निरखता है वह अज्ञानी है।

पचम भागमे समयसारकी ६९ वी गाथासे १४४ वी गाथा तक प्रवचन है। जरा सिहवृत्ति व श्वानवृत्तिकी विशेषता देखिये—ज्ञानीकी सिह वृत्ति बताई है। सिहको कोई तलवार मारे तो वह सिह इतना विवेकी सहज होता है कि तलवार पर कुछ भी रोष न करके किन्तु तलवार मारने वाले पर आक्रमण करता है। उसी तरह ज्ञानी अपनी विकार परिणति पर ज्ञान परिणतिमे आक्रमण करके उसे मिटा देता है। अज्ञानी की श्वानवृत्ति होती है अर्थात् जैसे कुत्ता लाठी मारनेवाले पर क्रोध न करके लाठी पर रोष करके उसे चबाता है वैसे ही अज्ञानी अपनी क्रोध परिस्थिति पर हेय दृष्टि न कर दूसरे को ही दोषी

मानकर उसे दबाने मिटानेका प्रयत्न करके व्यर्थ विफल हो जाता है।

एक द्रव्य न दूसरे द्रव्यका उत्पादक है और न दूसरेके गुणका उत्पादक है, इससे सम्बन्धित प्रवचनांश देखिये-अभी तक वर्णन था कि परद्रव्य दूसरे द्रव्यका कुछ नही कर सकता है अब यह भी समझाते हैं कि परद्रव्य परगुणोका उत्पादक नही। रोटीमे जो स्वाद है वह बनाने वाली या चूलहा ईन्धन चकले बलाका व बनानेवाली का नही है। स्वाद है आटेका, आटा है गेहूका। बनानेवाली का गुण रोटीमे एक भी नही अन्यथा बनानेवाली के देह और आकारका गुण रोटीमे स्पष्ट दिखना चाहिए सो दिखता नही। इसी भाति घडेमे भी कुम्हारका स्वभाव विल्कुल नहो किन्तु मिट्टीके ही परिणामो स्वभावसे घटाकार परिणमन हुआ। इसी तरह तुम्हारे परिणामोमे रागद्वेप पैदा करके निश्चित कारण मित्र शत्रु नही हैं, किन्तु अपने ही गुणका जब विकार रूप परिणमन होता है तो रागद्वेप पैदा हो जाते हैं। अत एक क्षण भी स्वानुभवसे मत चूको। उगलीसे कागज फटा तो ऐसा न समझना कि फटनेकी सामर्थ्य या परिणमन कागजमे नही होनेपर भी उगली ने ही सब कुछ कर दिया। सभी द्रव्य अपने स्वभावसे परिणम रहे है, निमित्तभूत द्रव्यान्तरोकी प्रेरणासे नहीं। मा ने वच्चेको मारा सो बच्चा रोया तो किन्तु रोया वह बालक अपन विकार परिणमनसे। गुणका परिणमन ही आकार है। अपने स्वभावसे ही द्रव्यके परिणमनका उत्पाद है, दूसरे द्रव्यान्तरके स्वभाव उसके उत्पादक नही।

व्यवहारकी अनेक उपयोगिता होनेपर भी सम्यक्त्वका प्रादुर्भाव भूतार्थनयके विषयके आश्रयसे ही होता है, इससे सम्बन्धित एक प्रवचनांश देखिये-यद्यपि व्यवहारधर्मकी प्रवृत्तिके लिए जीवादि तत्त्व व्यवहारनय कर कहे गये हैं तथापि उनमे एकपना प्रकट करनेवाले भूतार्थनयसे एकपना आत्माकी अनुभूति प्रकट होती है। वाह्य दृष्टिकर देखनेसे जीव पुद्गलकी अनादि वन्ध पर्यायको प्राप्त कर ये ९ भेद भी भूतार्थ है, सत्य है, किन्तु एक जीवद्रव्यके स्वभावको लेकर अनुभव करनेसे ९ भेद अभूतार्थ असत्य हैं। इन ९ तत्त्वोमे भूतार्थनय कर जीव एक रूप ही प्रकाशमान है। इस मुख्य जीवतत्त्वके बिना शेष ८ पदार्थ नही बनते हैं। निमित्त नैमित्तिक भावसे ये ९ पदार्थ बन जाते है अथवा पर्यायबुद्धिसे ९ भेद हैं। अन्तर्दृष्टिसे देखने पर ज्ञायकभावरूप जीव है और जीवके विकारका कारण अजीव है। जीवके विकार ही आस्रव बंध पुण्य, पाप है। जो नय आत्माको बंधरहित, स्पर्शरहित, अन्यपनेसे रहित, नियत अविशेष और अयुक्त अनुभव करता है सो शुद्धनय है।

शुद्ध उपादान व योग्य उपादानका विश्लेषण समझिये १०२ वी गाथाके एक प्रवचनांशमे-निमित्त नैमित्तिक भावोकी विधिमे निमित्त भी पर्यायसयुक्त द्रव्य है और उपादान भी पर्यायसयुक्त द्रव्य है। द्रव्यका द्रव्य न निमित्त होता है और न उपादान होता है। खाली द्रव्य, त्रिकालवर्ती अनादि अनन्त सामान्यरूप द्रव्यत्व न उपादान होता, न कार्यका, न निमित्त होता, पर्यायपरिणत द्रव्य ही उपादान कहलाता। पर्यायपरिणत द्रव्य निमित्त बन सकेगा। अब शुद्ध उपादानके मायने यह है कि खालिस द्रव्य। सामान्य द्रव्य। एक आत्मामे ही पर्यायपरिणति आनेपर योग्यता आती है अन्य द्रव्यसे नही आती। शुभ अशुभ भावोको योग्यता आत्मामे ही आती है, पुद्गलमे नही आता। इस नियमके कारण आत्मा उपादान है, आत्मद्रव्य उपादान है, पर कार्यके नाते पूर्व पर्यायपरिणत आत्मा उपादान है। यहा जो शुद्ध उपादानका प्रयोग किया जा रहा है इसका मतलब शुद्ध पर्यायपरिणत आत्मासे नही है, किन्तु अनादि अनन्त सामान्यरूप जो आत्मद्रव्य है उसको कह रहे हैं शुद्ध उपादान। यह द्रव्यरूप शुद्ध उपादान है और सिद्ध भगवान पर्यायरूपसे शुद्ध उपादान है।

एक द्रव्य दूसरे द्रव्यको नही कर सकता, फिर कर्मको जीवने किया यह कैसे युक्त हो सकता, लेकिन कहा तो जाता है कि जीवने कर्मको किया, यह कथन उपचार से है, इसका उपचारका कारण देखिये १०५ वी गाथाके एक प्रवचनांशमे—पौद्गलिक कर्मका बन्ध होनेमे जीवका विभाव परिणाम निमित्तभूत है सो निमित्तभूत जीवके विभाव परिणाम होनेपर कर्मद्रव्यके परिणामको देखकर लोग कहते हैं कि जीवने कर्म किया। सो यह कथन उपचारसे समझना चाहिए। यद्यपि बात ऐसी बहुत स्पष्ट जच रही है कि जीवमे रागादिक भाव हुए तो उनका निमित्त पाकर कर्मबन्ध होता है, ऐसा निमित्त नैमित्तिक भाव है तो भी वस्तुस्वरूपकी दृष्टि करके निरखने पर जीवका सब कुछ जीवके चतुष्टयमे निरखा जायगा। कर्मका सब कुछ कर्मके चतुष्टयमे निरखा जायगा। विभाव आदिक परिणामोका आश्रय है जीव और कर्मो का आश्रय है कार्माणरूप वर्गणारूप पुद्गलस्कंध। दोनोमे जो कुछ है उस ही का निरखना सो निश्चयदृष्टि का काम है। पृथक् पृथक् निरखना जीवका परिणमन, जीवका गुण, जीवके प्रदेश, जीवका सवस्व जीवमे निरखना, चाहे कैसा ही परिणमन हो और पुद्गलका परिणमन उसके प्रदेश, उसके गुण, उसका सवस्व उसमे निरखना यह कहलाता है वस्तुस्वरूपका दर्शन। तो वस्तुस्वरूपकी दृष्टिसे जीवने कर्ममे कुछ नही किया, कर्मने जीवमे कुछ नही किया। अहो, कैसा कठिन निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है कि अनादि कालसे यह जीव भटकता चला आया है, नाना जन्म मरणके सकटोमे उलझा हुआ चला आया है तिस पर भी वस्तुस्वरूपकी दृष्टि यह बतलाती है कि प्रत्येक पदार्थ स्वतत्र परिपूर्ण अपने आपमे अस्तित्वको लिए हुए हैं। निमित्त नैमित्तिक भावकी बात देखो तो पौद्गलिक कर्मके बन्धन होनेमे जीवद्रव्य क्या स्वभावसे निमित्तभूत है फिर भी अज्ञान भावसे बधके निमित्तभूत अज्ञानभावसे परिणम रहा है तो निमित्त होनेपर बन्ध हुआ ना, अतएव उपचारसे कहा जाता है कि आत्माने पौद्गलिक कर्म किया। यह निर्विकल्प विज्ञानघन समाधिभावसे भ्रष्ट हुए विकल्पोमे लगे हुए अन्य पुरुषोका विकल्प है, सो वह उपचारकी बात है, परमार्थकी बात नही है। वह आत्मा धन्य है जिस आत्माने यह कुन्जी प्राप्त की यह अपनी आदत बना ली, ऐसी धुन बना ली कि प्रत्येक पदार्थमे उसके ही स्वरूप सर्वस्वको निरखेगा। निमित्त नैमित्तिक भाव होनेपर भी वस्तुके स्वतत्र स्वरूपको निरख लेना यह बडे ज्ञानबल का कार्य है।

वस्तुकी परिणमनशीलता जैनदर्शनका मूल सिद्धान्त है, इसे मानकर आगे बोध बढायें तो सब समस्यायें सुलझ जावेंगी, मूल सिद्धान्तका सकेत देखिये १२६ वी गाथाके एक प्रवचनांशमे—प्रत्येक पदार्थ स्वय ही परिणमनेका स्वभाव रखता है। जैन सिद्धान्तका सब कुछ रहस्य जाननेके लिए और अपने आपको कल्याणमय बनानेके लिए मूल श्रद्धान यह होना ही चाहिए कि प्रत्येक पदार्थ स्वय परिणमनेका स्वभाव रखता है। इस सिद्धान्तके आधारपर वस्तुविवेचन और मोक्षमार्गका उद्यम है। यहा कोई प्रश्न कर सकता है कि प्रत्येक पदार्थ परिणमनका स्वभाव रखता है यह बात क्या अन्य दर्शनोमे नही मानी गई? इसपर जरा विचार कर। जो सिद्धान्त पदार्थको क्षणिक मान रहा, एक क्षणको पदार्थका आत्मलाभ है, द्वितीय क्षणमे वह नही है तब उसमे परिणमन स्वभावकी बात ही क्या आयी? जब एक क्षणसे दूसरे क्षण वस्तु ही न रही, उसका अन्वय ही न रहा तो परिणमन स्वभाव है यह बात कैसे घटित होगी? जो लोग पदार्थको सर्वथा नित्य मानते हैं वहा पर भी परिणमनेका स्वभाव कैसे घट सकता है? नही तो सर्वथा नित्य न कहलायेगा। जो मन्तव्य इस समस्त जगतको ईश्वरकृत मानता है उस मन्तव्यमे भी पदार्थमे परिणमनेका स्वभाव नही पडा हुआ है। यदि पदार्थमे परिणमनेका स्वभाव मान लिया जाता तब फिर ईश्वर कर्तृत्वकी कोई महिमा न रही। जितने भी अन्य मन्तव्योको निरखें यथ यतया उनमे यह न माना जा सकेगा कि पदार्थो मे परिणमन करनेका स्वयमेव स्वभाव पडा हुआ

है, यह तो हुई दर्शन शास्त्रकी बात।

आत्मतत्त्वके निकट पहुंचना अपना स्वरूपपरिपोषण है, समझिये १३०-१३१वीं गाथाके एक प्रवचनांशमें—ज्ञानस्वरूप निज आत्मतत्त्वकी चर्चा करनेका, निज आत्मतत्त्वके निकट रहनेका उद्यम एक ऐसा अपना पोषण है जैसे कि फागके दिनोंमें पचासों आदमियोंसे भिड़कर रंग, कीचड़, मिट्टी आदिकसे खराब होकर फिर अपने घरमें कुवा पर या नलके नीचे जलसे नहाते है साबुनसे धोते हैं, अपनेको साफ करते हैं इसी प्रकार २२-२३ घंटा यहां वहां फिरकर, मोहियोंसे व्यवहार करके, यत्र तत्र विकल्प बनाकर, लुट पिटकर थोड़े समयको आत्मविशुद्धि बनानेके लिए एक पोषणमें लगते हैं, अपनी स्वच्छता करनेके लिए बैठते हैं, अपनी स्वच्छता अपने सहजस्वरूपके निहारनेमें है, यह वस्तु अधिकार है। मेरे स्वभावमें विकार नहीं है। कितना महत्त्व है मेरे स्वरूपमें इसको स्पष्ट समझना है तो कर्ममुक्त, देहमुक्त कैवल्य अवस्थामें विराजमान सिद्ध प्रभुके स्वरूपका निहारकर समझ सकते हैं। वे भी जीव है, मैं भी जीव हूं, स्वरूपमें रंच अन्तर नहीं है। फिर यदि अपने आपको सम्हाल लूं अपनी ओर लगन करूं तो प्रभु जैसा मैं कैसे नहीं हो सकता हूं? अज्ञानभावका ही निमंत्रण देते रहे, विषयकषायोंमें ही प्रीति बनाये रहे तो यह बात तो स्वप्न जितनी भी नहीं रहती।

दुनियाके मायामय सम्पर्कका एक चित्रण देखिये—१३५-१३६ गाथाओंके एक प्रवचनांशमें—दुनियाका यह परस्परका सम्बन्ध तो ऐसा है कि जैसे कवि लोग कहते हैं कि ऊंटोंके विवाहमें बहुतसे जानवर आये। गधे भी आये। तो वहांपर गधे लोग ऊंटकी प्रशंसा करते हैं और ऊंट गधोंकी प्रशंसा करते हैं। गधे कहते—अहो कैसा सुन्दर तुम्हारा रूप है। ऊंटोंमें कोई सुन्दरता तो नहीं होती, उनके शरीरके अंग टेढ़े मेढ़े होते हैं, पर गधे लोग ऊंटोंके रूपकी बड़ी प्रशंसा कर रहे थे, और ऊंट भी कहते—और कैसी तुम्हारी सुराली आवाज है। गधोंका स्वर सुहावना तो नहीं होता, और पशु पक्षियोंकी अपेक्षा गधोंका बोल सबसे गया बीता, असुहावना लगता है, मगर ऊंट लोग गधोंके स्वरको बड़ी प्रशंसा कर रहे थे। तो दोनों हो एक दूसरे की प्रशंसा करके खुश हो रहे। तो यह जगत ऐसा ही है। यहां एक मोही दूसरे मोही को प्रशंसा करता है और वे अपनी प्रशंसा सुनकर बड़े खुश होते हैं. पर इस झूठी प्रशंसासे आत्मामें कुछ भी उत्कर्ष नहीं होता। मैं ही स्वयं अपनेको जानकर अपने सम्यग्ज्ञान और चारित्रमें रहूं तो यहां मेरी रक्षा है और मैं अपने रत्नत्रयका कार्य न कर सका तो यहां मेरी कुछ भी रक्षा नहीं है। बड़ा खेद करना पड़ेगा। मरणके बाद जैसा बन्ध किया उसमें तुरन्त जाना होगा।

१४२ वीं गाथामें नयापक्षातिक्रान्तका वर्णन हैं। २० नयपक्षोंको सप्रतिपक्ष बताकर उनसे अतिक्रान्त होने के परमपदका संकेत किया है। उन २० नयपक्षोंमें से एक चैत्यपक्षका उदाहरण देखिये—आत्मामें है चैतन्यस्वभाव और वह स्वभाव, वह चैतन्यतत्त्व है सामान्य-विशेषात्मक, अर्थात् चैतन्यभावके कारण जो आत्मामें प्रतिभास हुआ वह प्रतिभास सामान्यरूपसे भी है और विशेषरूपसे भी है। तब उसमें ज्ञान और दर्शन दो गुण आ गये तो इसके मायने है कि यह जीव प्रतिभासमें आ गया। यों चैतन्यभावसे सम्बन्धित यहां ४ प्रकारके विकल्प बन जाते हैं। चेतनेमें आनेवाला, ज्ञानमें आनेवाला, दर्शनमें आनेवाला और प्रतिभासमें आनेवाला. किसीके आशयमें से यह आत्मा चेतने योग्य है ऐसा आता है। तो दूसरे पक्षमें यह चेतन योग्य नहीं है ऐसा आता है। पहिला है व्यवहारपक्ष, दूसरा है निश्चयपक्ष। कितनी सूक्ष्म-चर्चा की जा रही है। आत्माके चेतनेमें अन्तस्तत्त्व आया, आत्मा आया ऐसा जो चैत्यपना है यह भी जहां व्यवहारका विषय किया जा रहा है तो निश्चयके विषयमें तो इससे भी और सूक्ष्म बात होगी, उसी दिग्दर्शन यहां है। आत्मा चैत्य है, चेतने योग्य है. आत्मा चैत्य नहीं है. ऐसे यहां दो पक्ष हुए हैं,

किन्तु जो तत्त्वज्ञानी पुरुष है वह तो विकल्पमात्रको भी पसन्द नहीं करता। चैत्य है यह भी विकल्प है, आत्मा चैत्य नहीं है यह भी विकल्प है। इन दोनों विकल्पोंसे च्युत होकर तत्त्वज्ञानी जानता है कि वह तो जो चित् है सो चित् ही है।

कर्तृकर्माधिकारकी अन्तिम गाथा १४४ वीं में एक प्रवचनांशमें पढ़िये–चिन्मात्र अन्तस्तत्त्व उपासनाका क्या महान् लाभ है–देखो भैया, इस मुझ चैतन्यमात्र आत्माको कौन जानता है ? जब कोई समझता ही नहीं है तो न समझने वालोंको हम कुछ जतानेका क्यों प्रयत्न करें ? जैसे न समझनेवाले बेचारे भींट खम्भा आदिक हैं तो इनके सामने तो हम आप अपनी शान नहीं बगराते कि ये मेरा कुछ बड़प्पन जान जायें। ये मुझे, समझ जायें कि मैं कुछ हूं, क्यों नहीं जतानेका प्रयत्न करते ? इसलिए कि हम आप यह जानते हैं कि ये भींट खम्भा आदिक तो कुछ मुझे जानते ही नहीं है, ये मुझे पहिचानते ही नहीं हैं। इसी प्रकार ज्ञानी पुरुष समझता है कि ये समस्त दृश्यमान जो प्राणी हैं ये मुझ चैतन्यात्मक आत्माको समझते ही नहीं हैं। जब ये कुछ समझते नहीं तो इनके सामने मैं क्या शान बगराऊं। इनको मैं क्या दिखाने चलूं कि मैं कुछ हूं। जैसे न समझने वाले अचेतन पदार्थोंको हम समझानेकी चेष्टा नहीं करते, इसी प्रकार ज्ञानी जन जानते हैं कि ये सब लोग तो इस मुझ आत्माको पहिचानते ही नहीं है, जानते ही नहीं है। यदि कोई मुझ आत्माको जान जाय तो वह तो स्वयं अपने चित्स्वरूप का अनुरागी हो गया। अब वह व्यक्ति न रहा, वह तो स्वयं चित्स्वरूप रह गया। तो मुझ व्यक्तिको उसने नहीं समझा। मुझे यहां कोई नहीं समझता। ज्ञानी पुरुष चित्स्वरूपको समझता है। अज्ञानी जीव अपने स्वरूपको किसी भी प्रकार समझता ही नहीं। तब अज्ञानीको अपना महत्त्व बतानेकी गुंजाइश क्या ? ज्ञानियों को हम क्या बतावें ? वे तो स्वयं चित्स्वरूपके अनुरागी हैं। इस तरह जानकर ज्ञानी जीव विकल्पोंको हटाता है और विवेक द्वारा अपने आपके इस स्वरूप तक पहुंचता है जिस स्वरूपमें मग्न होनेपर फिर किसी भी प्रकारके विकल्प नहीं रहते। योंज्ञानी कर्ता कर्म भावसे हटता है और विकल्प भावोंसे हटकर वह शीघ्र ही साक्षात् समयसार हो जाता है।

(१३४–१३७) समयसार प्रवचन ६, ७, ८, ९ भाग

इस पुस्तकमें समयसारकी ९९ वीं गाथासे २६६ वीं गाथा तक पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराजके प्रवचन हैं। सर्वकर्मोंसे मुक्त होनेमें ही आत्माका शील है, कल्याण है। संसारमें तो चाहे पुण्यकर्म हो चाहे पापकर्म हो दोनों ही कुशील हैं, देखिये १४५ वी गाथाके एक प्रवचनांशमें–पापकर्म कुशील कहलाता है और पुण्यकर्म सुशील कहलाता है, पर वह पुण्यकर्म सुशील कैसा जो संसारमें प्रवेश कराता है ? पापकर्मको तो सभी बुरा कहते। पापके उदयमें दरिद्रता हो, आपत्तियां आयें, खोटी गतियां आयें, सो पापकर्म तो बुरा है, सभी लोग जानते हैं, और लोग कहा करते हैं कि पुण्यकर्म भला है, किन्तु यहां ज्ञानी संत यहकह रहेहैं कि वह पुण्यकर्मभी सुशीलकैसा जो आत्माको संसारमें प्रवेशकराता है। पुण्यका उदय हुआ,सम्पदा मिली औरसम्पदा मिलती है तब क्याहोता है, सो प्राप्तकरके देखो, क्रोधभी बढ़ जाये, मायाचारभी बढ़ जाये, लोभभी बढ़जाताहै। अभी लाखकोसम्पदा है तो पेटनहीं भरा क्या? डेढ़ बैथाका पेटचार लाखकी सम्पदासे होगया ? पर सोचते हैं कि मैं करोड़पति हो जाऊं। करोड़पतियोंके यहां जाकरदेखो, उनकाक्या हाल हो रहा है। सम्पदासे होता क्या है ? चिंतायें, संक्लेश बढ़ जाते हैं। संक्लेश करना, विकल्प करना, नाना चिंतायें करना, इसके फलमें क्या होगा कि पापकर्म बंधेगा। फिर दुर्गतियां होंगी।

मनुष्यको कर्तृत्वका अहंकार होनेमें एक कारण यह भी है कि वह दूसरे जीवके भाग्यको नहीं समझता है, देखिये १४६ वीं गाथाके एक प्रवचनांशमें–भैया, हम सबकी जिम्मेदारी अपने पर लादते हैं, किन्तु घरमें जो

आज बालक बैठे हों कहो उनका पुण्य आपसे भी बड़ा हो और उनके उस बड़े पुण्यके कारण ही तो आपको उनकी खुशामद करनी पड़ती है। किसका भार समझते हो ? तुम तो निर्भार हो, शरीरसे भी न्यारे हो, इस चैतन्यस्वरूपको तो निरखो। यहां किसी भी प्रकार का कष्ट नहीं है, पर ऐसी जो अपनी अलौकिक दुनिया है वहां तो यह रमना नहीं चाहता, सो अध्रुवको ध्रुव माना, मिटनेवाली चीजको सदा रहनेवाली मान लिया तो उसका फल तो क्लेश ही है।

जीवको बन्धन अपने आधार से है, पढ़िये १५० वीं गाथाके एक प्रवचनांशमें-जो रागी जीव है वह अवश्य ही कर्मोंको बांधता है। जो विरक्त जीव है वह ही कर्मों से छूटता है। तो सामान्यरूपसे शुभकर्म और अशुभकर्म रागका ही निमित्त है। सो वे सामान्यतया सबको बांधते हैं, बन्धके हेतुपनेको सिद्ध करते हैं। सो ये दोनों ही कर्म प्रतिषेधके योग्य हैं। बाल बच्चे परिवार आपको सुहावने लग रहे हैं। इन सुहावने लगने वालोंसे तुम्हारा क्या पूरा पड़ जायगा ? वे सदाको तो अमर हैं नहीं। मरना तो पड़ेगा ही। क्या परभवमें भी ये कुछ मदद कर देंगे ? नहीं। परभवकी तो बात छोड़ो, इस ही भवमें क्या वे कुछ मदद कर सकते ? नहीं। सिरका दर्द हो जाय तुम्हें और उन बच्चोंसे कहो कि देखो हम तुम्हें कितना खिलाते पिलाते हैं, तुम हमारे सिरका दर्द १ आना ले लो, १५ आने हम भोग लेंगे, तो क्या ले सकते हैं ? अरे इस वक्त भी कोई तुम्हारी सहायता नहीं कर सकता है, फिर काहे को बन्धन लगा लिया ?

प्रभुकी ढूंढ़ और मिलन देखिये १५३ वीं गाथाके एक प्रवचनांशमें-इसी तरह हमारे भगवान हमारी आंखें मिचेमें हमारे ही अन्दर कहीं छुपकर विराजे हैं। हम उन्हें ढूढ़नेके लिए व्यग्र हो रहे हैं। और, ऐसे व्यग्र हो रहे हैं कि जहां सम्भावना भी नहीं है ऐसी जगह ढूढ़ते फिरते हैं। मिल जाय तो कहीं। बड़े व्यग्र होकर ढूढ़ते हैं मन्दिरमें, शास्त्रोंमें, गुरुवोंमें ढूढ़ते हैं, पर भगवान तो आनन्दका नाम है। सो उस भगवानको दाल रोटीमें, विषयोंमें, दुकानमें सब जगह ढूढ़ते फिरते हैं, यदि कहीं भगवान निकटमें आ जाय, पता पड़ जाय कि लो यह हैं भगवान छिपे, तो देखने वाला भी प्रसन्न होगा और वह भगवान भी प्रसन्न हो जायगा। देखने वाला तो प्रसन्न होगा ही क्योंकि निर्मल बना और भगवान भी जो अनादिकालसे दुःखी बैठे थे छिपे हुए, तो उनका भी तो उद्धार होता है। जब हम अपने उपयोगसे भगवानको दृष्टिमें लेते हैं तो भगवानका ही तो उद्धार होता है। तो भगवान भी प्रसन्न हो जाता है। तो अब इस सबमें आंख मिचौनी हो रही है, पर जिसके लिए आंख मिचौनीका खेल बना है उसे ढूंढ़ा पर अब तक नहीं पाया है। व्यग्र होता हुआ यत्र तत्र ढूढ़ रहा है। लो ज्ञानात्मक यह ध्रुव अचल आत्मतत्त्व यह है भगवान। तो यह मोक्षका कारण है।

देखिये मोक्षकी एक द्रव्यस्वभावरूपता, १५६ वीं गाथाके एक प्रवचनांशमें-मोक्ष मायने छूटना अर्थात् अलग होना अलग हुए द्रव्यके स्वभावरूप है। दूसरे वस्तुके स्वभावरूप नहीं है। जैसे हाथका हाथसे यह बन्धन है। एक हाथमें दूसरा हाथ छूट गया तो इसका जो छूटना है वह किसके स्वभावरूप है सो बताओ ? आप कहेंगे कि इस कमरेमें बैठा हूं तो इस कमरेके रूप है हाथसे हाथका छूटना। क्या यह उत्तर आपको जचा ? नहीं। आप कहेंगे कि इतने श्रोता लोग सामने बैठे हैं सो यह मोक्ष इन श्रोतावोंके स्वभावरूप है, तो क्या यह छूटना इन श्रोतावोंके स्वभावरूप है ? नहीं। तो इस कमरेके स्वभावरूप है ? नहीं। दूसरोंके स्वभावरूप है ? नहीं। और कदाचित दूसरा आदमी इस एक हाथको पकड़कर मानो छोड़े तो उस दूसरे आदमीके स्वभावरूप भी नहीं है इस हाथका छूटना। इस हाथकी मुक्ति इस हाथके ही स्वभावरूप है, इसी प्रकार आत्मामें कर्मोंका बन्धन लगा है और उस प्रसंगसे आत्मा छूट

जाय तो आत्माका यह छूट जाना कर्मोंके स्वभावरूप है या व्रत एवं तपस्यावोंके स्वभावरूप है ? या आत्माके स्वभावरूप है ? यह आत्माका छूटना आत्माके स्वभावरूप है ।

सम्यग्ज्ञानका बाधक भाव देखिये १५८ वीं गाथाके एक प्रवचनांशमें—इसमें यह बता रहे हैं कि आत्मा का सम्यग्ज्ञान जो परिणाम है उसका घात करनेवाले कौन हैं ? जैसे पूछा जाय कि यह अंगुली सीधी है और टेढ़ी किए जाने पर बतलावो कि इस अंगुलीके सीधेपनका घात किसने किया ? यह तो सामने की बात है और सीधी बात है । इस अंगुलीका सीधापन किसने मिटाया ? इस अंगुलीके सीधेपनको टेढ़ापनने मिटाया । तो आत्माके सीधेपनको किसने मिटाया ? आत्माके टेढ़पनने मिटादिया । आत्माके वैराग्य परिणामको किसने मिटाया ? विषय कषायके परिणामोंने मिटाया । यह खूबरूह साक्षात् बात चल रही है. फिर निमित्तकी बात लेना है । आत्माका सब सही सही जान जाना स्वभाव परिणमनकी बात है । स्वरसतः आत्मामें ऐसी कला है कि वह पदार्थोंको सही सही जान लिया करे । इस सीधे और भोले काममें बाधा डालने वाला कौन है ? अज्ञान । वस्तुकी सही जानकारी न होना यही है वस्तुकी सही जानकारीका बाधक । जैसे वस्त्रका श्वेत परिणमन मलके द्वारा ढक जाता है तो सफेदीका घात हो जाता है, इसी प्रकार आत्माका सम्यग्ज्ञान अज्ञानरूपी मैलसे ढक जाता है तो सम्यग्ज्ञान प्रकट नहीं होता है । सम्यग्ज्ञान बनाना है तो वस्तुस्वरूपका सही सही ज्ञान करनेमें लग जावो ।

अलौकिक पात्र देखिये जो अलौकिक उदारताका स्वामी है, गाथा १६४–१६५ का एक प्रवचनांशमें—भैया, इन सब भेष बनाने वाले सैकड़ों पात्रोंमें कौनमें कौन सा पात्र उदार है ? क्या राग उदार है ? नहीं । द्वेष मोह आदि उदार हैं क्या ? नहीं । कामादि विकार उदार हैं क्या ? नहीं । ये अत्यन्त अनुदार हैं । ये दूसरोंके जानकी भी परवाह नहीं करते और खुदके प्रभुके प्राणोंकी भी परवाह नहीं करते । ये विकार अनुदार हैं । ये उत्तम पात्र नहीं कहला सकते हैं । नाटकमें उत्तम पात्र वही कहला सकता है जो उदार हो । यह ज्ञान उदार है और गम्भीर भी है । क्षोभमें नहीं आता । ये रागद्वेष क्रोध, मान, माया, लोभ, काम ये सब क्षोभसे भरे हुए हैं । यह स्थिर नहीं है किन्तु रागभाव गम्भीर है, स्थिर है, धीर है । यहां चर्चा चल रही है कि इस उपयोगके रंगमंचपर ज्ञानभूमिपर कौन कौन भाव कितना विचित्र नाटक कर रहे हैं, कैसे कैसे परिणाम प्रकट हो रहे हैं । कभी शुभ भाव है, कभी वैराग्यमें आकर भगवानके निकट पहुंचते हैं, कभी कषायसे पीड़ित हुआ करते हैं, कितने प्रकारके कर्म बताये हैं । कितनी तरहके भेद इस आत्मामें अपना लेते हैं । उन सब परिणमनोंमें से कौन सा परिणमन उत्कृष्ट पात्र है उसकी बात यहां चल रही है । यह ज्ञान उत्कृष्ट मात्र है, उदार है ।

आत्मक्रान्ति निरखिये गाथा १६४–१६५ के एक प्रवचनांशमें—अब कुछ क्रान्ति लाइये और अपनेको अकेला, अपनेको अपना जिम्मेदार मानकर कुछ प्रगतिशील भावोंमें चलिये । इस मायामय जगतमें किसीका कुछ नहीं निहारना है । किसीसे कोई आशा नहीं रखना है । यह जीव स्वयं जैसे परिणाम करता है वैसे ही सुख दुःख पाता है । यह आश्रवकी थ्योरीका प्रकरण चल रहा है । इन आश्रवोंमें अनन्त कार्माणवर्गणायें ठसाठस भरी है । और, संसारमें प्रत्येक जीवके प्रदेशमें विस्रसोपचयरूप और कर्मरूप अनेक कार्माणवर्गणायें भरी पड़ी हैं । यह इतना बड़ा मेल, इतना बड़ा जमाव आ कैसे गया ? यह आ गया खुदकी गल्तीसे । कोई बूढ़ा पहिले तो अपने पोतोंसे बड़ा प्रेम दिखाता है और जब वे पोतापोती उस बूढ़े पर खेलने लगते हैं और उस बूढ़ेको तकलीफ होती है । कभी सिर पर चढ़ गये, कभी कांधे पर चढ़ गये, कभी रोते हैं तो उस बूढ़ेके ऊपर आफत सी आ जाती है । तो उस बूढ़ेने यह आफत अपने आप डाल ली । अब दुःखी हो रहा है । यह कर्मोंका जो जमाव हम और आप पर बन

गया है यह अपनी गलतीसे बना है, अपने स्वरूपकी कदर न करके अपनेको दीन हीन समझ रहे हैं। हम तो न कुछ हैं। हमारे पालने वाले दूसरे हैं, हमारी रक्षा करनेवाले दूसरे हैं। हममें तो कोई शक्ति ही नहीं है। अरे तुझमें तो प्रभुवत् अनन्तज्ञान शक्ति है, अनन्त आनन्दकी शक्ति है। तू अपनी शक्तिको नहीं समझता इसलिए भूले हुए सिंहकी तरह बन्धनमें पड़ा है।

देखिये, ज्ञानी देखता है, कर्म कार्माणशरीरसे बंधे हैं १६६ वीं गाथाके एक प्रवचनांश में-ज्ञानी जीवके पूर्वकालमें बंधे हुए जो कर्म है वे यद्यपि आत्मामें अपनी सत्ता रखे रहते हैं, तो भी वे पृथ्वी पिण्डके समान हैं, वे सबके सब कर्म, कार्माण शरीरसे बंधे हैं। आत्मासे नहीं बंधे हैं। देखिये एक गायको आप बांधते हैं तो किस प्रकार बांधते हैं ? एक हाथसे गायका गला पकड़कर रस्सीके एक छोरसे दूसरे छोर को बांधते हैं। क्या गायके गलेको रस्सीसे बांधते हैं ? नहीं। रस्सीका एक छोर पकड़कर दूसरे छोरसे बांधते हैं। गायके गलेको आप रस्सीसे बांधे तो गाय मर जायगी। रस्सीका एक छोर दूसरे छोरमें ऐसा बांधते हैं कि गायका गला बिल्कुल सुरक्षित रहता है। तो रस्सीसे गाय नहीं बंधी है, बल्कि रस्सी से रस्सी बंधी हैं, किन्तु इस प्रकार की रस्सीका निमित्त पाकर गाय बन्धनको प्राप्त हो जाती है, ऐसी ही बात इस अपने आत्माकी देखिये-

ज्ञानीके बुद्धिपूर्वक रागादिभाव न होनेसे निरास्रव कहा गया है, उसके अनन्त संसारका उच्छेद हो गया है, देखिये, १७२ वीं गाथाके एक प्रवचनांशमें-जैसे लाखोंका कर्जा वाला पुरुष सब कर्जा चुका ले, केवल एक रुपया कर्जा रह जाय तो उसे लोग कर्जेमें शामिल नहीं करते हैं। वस्तुतः तो एक पाई भी कर्जा हो तो कर्जा कहलाता है। जहां ६६ हजार ६६६ और ६. नये पैसेका कर्जा चुका दिया वहां एक नये पैसे की गिनती ही क्या होती है ? इसी प्रकार अनन्त कालका बन्ध मिट चुका हो केवल कुछ वर्ष संसारमें रहना शेष है, मामूली स्थिति बनती है, ऐसा बननेके आस्रवका आस्रव नहीं गिना गया। करणानुयोगके अनुसार तो कषाय व योग तक आस्रववान है और द्रव्यानुयोगके अनुसार ज्ञानीको आस्रववान नहीं कहा गया। जो रागादिकसे विरक्त रहता है और अपनेमें उत्पन्न हुई अबुद्धिपूर्वक रागादिक विकारोंको भी जीतनेके लिए शक्तिका स्पर्श कर रहा है वह ज्ञानी समस्त परवृत्तियोंका उच्छेद करता है। वह तो निरास्रव है। तब ज्ञानी बुद्धिपूर्वक रागसे तो विरक्त है और अबुद्धिपूर्वक रागको जीतनेके लिए अपनी शक्तिका स्पर्श करता है इससे उसे निराश्रव कहा गया है। कर्मोको जीतना, कषायको दूर करना, अनादि अनन्त नित्य अंतः प्रकाशमान इस चैतन्यस्वभावके स्पर्श बिना नहीं हो सकता।

लोग अपना अपराध तो देखते नहीं, परपरिणमनसे लेखा जोखा लगाते हैं, इस पर दृष्टिपात करें, गाथा १७६-१८० के एक प्रवचनांशपर-नाच न आवे आंगन टेढ़ा-भैया, सब जीव स्वतंत्र हैं, वे अपनेमें अपना परिणमन करते हैं। वे अपनी शान्तिके लिए अपनी कषायकी चेष्टा करते हैं। हम आप अपनी ही कल्पनायें बनाकर अपने आपमें चिन्ता और शल्य बनाते हैं और परका नाम लगाते हैं कि इसने मुझे दुःखी किया। जैसे एक कहावतमें कहते हैं-नाच न आवे आंगन टेढ़ा। यह बहुत बढ़िया मन्दिर बना है, नाप तौलसे कोई कसर तो नहीं है और इसमें नृत्य शुरूकर दिया जाय संगीत द्वारा। नाचने वाला कभी सफल होता है और कभी नहीं सफल होता है। यदि उनका नाच न जमे तो अपनी कलाका दोष छिपानेके लिए कहता है कि अजी आज तो नाच जमेगा नहीं। यह आंगन तो ढंगका नहीं है, यही है नाच न आवे आंगन टेढ़ा।

समयसार प्रवचन अष्टम भागके संवर प्रकरण में ज्ञानका ही ज्ञानमें आधार आधेय भाव है, देखिये १८२ वीं गाथाके एक प्रवचनांशमें-एक ही ज्ञानको जिस कालमें अपनी बुद्धिमें रखकर आधार आधेय भाव लिया

जायगा तो और द्रव्यंतरों का अधिरोप रुक जायगा, इसलिए कुछ बुद्धिमें भिन्न आधार न मिलेगा। ज्ञान किसमें रहता है ? ज्ञान, ज्ञानमें रहता है। ज्ञान आत्मामें रहता है, यह भी सिद्ध है, पर और सूक्ष्म-दृष्टिसे देखें तो ज्ञान ज्ञानमें रहता है और इससे भी अधिक सूक्ष्म दृष्टिमें जावो तो यह कहा जायगा कि आपको ऐसा प्रश्न ही न करना चाहिए कि ज्ञान कहां रहता है? ज्ञानमें ज्ञान है। उसमें षट्कारक की बात लगाना भी व्यवहार है। यद्यपि वह परमार्थनिर्देशकव्यवहार है, लेकिन व्यवहार ही तो है, इसका कारण यह है कि भिन्न षट्कारकोंके परिचय वाले मनुष्योंके समझनेके लिए अभिन्न षट्कारकका उपाय बताया है। तो ज्ञानका कोई भिन्न अध्ययन न मिलेगा। जब कोई भिन्न अध्ययन नहीं मिलता तो एक ही ज्ञानमें ज्ञानस्वरूपमें प्रतिष्ठित करने वाला ज्ञान है। वहां अन्य आधार और आधेय प्रतिभात नहीं होता।

संवरका कारण देखिये १८६ वीं गाथाके एक प्रवचनांशमें—इससे यह सिद्ध है कि शुद्ध आत्माकी उपलब्धिसे ही संवर होता है और सम्वरतत्त्व अद्भुत अद्वितीय है। मित्र कहो, पिता कहो, ईश्वर कहो, रक्षक कहो, यह एक सम्वर परिणाम है। स्वामी समंतभद्राचार्य ने कहा है कि यदि पाप रुक गया है तो और सम्पदासे क्या प्रयोजन है ? सबसे अतुल महिनीय सम्पदा है तो पापनिरोध है। पर यदि पाप नहीं रुकता है, आता है तो अन्य सम्पदासे क्या प्रयोजन ? क्योंकि पाप तो कर रहे हैं। उस के फलमें तो आकुलता ही होगी। और, कर्मविपाकके समयमें भी आकुलतायें होंगी। सो भैया अपने आपको इस प्रकार देखना चाहिए कि मैं अकेला हूं, घररहित हूं, शरीररहित हूं और की क्या बात क्या, अपने आपमें जो ममता, रागद्वेष विभाव परिणाम होते हैं उन परिणामोंसे भी रहित हूं। मेरे सहज सत्त्वके कारण इस सहजस्वरूपमें केवल चैतन्य चमत्कारका स्वरूप विकसित होता है। मैं शुद्ध हूं, ज्ञानानन्दघन हूं, इसे योगीन्द्र ही समझ सकते हैं। ज्ञानी पुरुष ही जान सकते हैं। ये सब संयोगजन्य भाव विभाव ये बाह्य चीज हैं। वे वस्तुयें मुझसे सर्वथा भिन्न हैं। ये तो चेतन अचेतन प्रत्येक द्रव्य प्रदेशोंसे भी भिन्न है और ये रागादिक भाव यद्यपि आत्मप्रदेशोंमें होते हैं, किन्तु कुछ समयके लिए होते हैं, निमित्त पाकर होते, इस कारण वे भी बाह्य भाव हैं। वे मुझसे भिन्न हैं। इसे प्रकार भेद विज्ञान करने से जो अनात्मा है उससे उपेक्षा हो जाती है, और जो आत्मतत्त्व है उसमें प्रवेश होता है। इस प्रकार शुद्ध आत्माका उपयोग द्वारा यदि आलम्बन है तो कर्मोंका सम्वर होता है।

ज्ञानीका उपभोग भी निर्जराहेतु बताया है, जरा इसके मर्मका विचार करें १९३ वीं गाथाके एक प्रवचनांशमें—कहते हैं कि चेतन और अचेतन द्रव्योंका इन्द्रियोंके द्वारा जो उपभोग करते हैं सम्यग्दृष्टि वह सब निर्जराका निमित्त होता है, सभी कहते हैं कि बंधे हुए कर्म बिल्कुल छोड़ देते हुए नहीं झड़ते हैं। उदय से एक समय भी पहिले, यदि उसका संक्रमण कर देते हैं तो उसमें अन्तर आ सकता है। ऐसे कर्मोंका निष्फल कर देनेमें समर्थ, एकत्वनिश्चयगत समयसारका आलम्बन है। एकत्वभावना अन्य भावनाओंमें प्रधान भावना है। इस एकत्वको कितने पदोंमें जीव भाया करते हैं। पहले सब बाह्य पदार्थोंसे अपनेसे पृथक् मानो, फिर शरीरसे पृथक् कर्मों से पृथक् मानो, रागादिक विकारोंसे अलग अपनेको मानो। अपनेमें जो विचार वितर्क उत्पन्न होते हैं उन परिणतियोंमें से भिन्न अपने आपके स्वरूपका अनुभव करो। बहुत अन्तरमें प्रवेश करनेवाले ज्ञानीके पूर्वबद्ध कर्मोंके उदयसे कुछ रागादिक पीड़ा होती है। जब भेदज्ञान होता है तब उसे वह आफत समझता है और अपने एक अविनाशी ज्ञान-स्वभावकी ओर लिप्सा बनी रहती है इसही कारण उन अचेतन और चेतन द्रव्योंमें उपभोग किए जाने

फिर भी यह सम्यग्दृष्टि जीव कर्मोंकी निर्जरा करता है।

रागकी अपनायतमें सम्यक्त्व नहीं रहता, देखिये गाथा २०१-२०२ के एक प्रवचनांशमें–जिस जीवके परमाणु मात्र भी राग है, रागादिक विकारका अंश मात्र भी है वह समस्त आगमोंका धारी होकर भी आत्माको नहीं जानता है। यहां किस रागका निषेध किया जा रहा है ? जिनकी श्रद्धा भी रागसे रंगी है अर्थात् जो रागकी कणिका मात्रको भी आत्माका स्वरूप या हेतु जानते हैं, रागरहित शुद्ध ज्ञानका स्वरूप परिचय नहीं पाते हैं ऐसे जीव जितने सर्व आगमको द्रव्यलिंगी मुनि भी ज्ञात कर सकते हैं इतने सब आगमको धारण करके भी वे आत्माको नहीं जानते हैं और जब अपने आपके स्वरूपको नहीं जानते हैं तो अनात्माको भी वे नहीं जानते हैं। जो जीव आत्मा और अनात्माको नहीं जानता है अर्थात् जीव और अजीवको नहीं जानता है वह सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकता है ?

देखिये २०३ वीं गाथाके एक प्रवचनांशमें आत्माके परमविकासका कारण, निर्विशेष उपयोग–यह ज्ञानी संत विशेषका उदय नष्ट करता है अपनेको किसी विशेषरूप नहीं मानता, और सामान्यका ही कलन करके, सामान्यका ही अनुभव करके यह समग्र ज्ञानकी एकताको प्राप्त करता है अर्थात् स्वयंको यह एक ज्ञानरूप अनुभव करता है। यही आत्माका निजपद है और इस ही निज पदमें कल्याण है। इसीसे ही मोक्षमार्ग मिलता है। यही अरहंत भगवन्तोंने किया था जो आज उत्कृष्ट पदमें अवस्थित हैं, जिनकी बड़ी भक्तिसे हम उनकी पूजा करते हैं। उन्होंने इस ही एक ब्रह्मस्वरूपके अनुभवका मार्ग अपनाया था। इस ही आत्मस्वभावकी उपासनाकी परिणतिसे ये कर्म ध्वस्त होते हैं, संसार मिटता है और शिवपद की प्राप्ति होती है इसलिए सर्व प्रयत्न करके इस क्षणिक भावको छोड़कर ध्रुव जो आत्मीय चैतन्य-स्वभाव है, ध्रुव स्वभावका हमें अनुभव करना चाहिए और हम उस अनुभवके पात्र रह सकें इसके लिए न्यायरूप अपनी प्रवृत्ति करना चाहिए।

अध्रुवको छोड़कर ध्रुवकी दृष्टि करनेमें ही आत्महित है, इस तथ्यको देखिये २०४ वीं गाथाके एक प्रवचनांशमें–भैया, परिणतियां तो मिटती हैं पर परिणतियोंका जो स्रोत है, जिसकी ये दशायें हो रही हैं वह मैं हूं। वह नहीं मिटता, तो इन समस्त ज्ञानोंमें जो मूल ज्ञानस्वभाव है, यह ज्ञानस्वभाव नहीं मिटता है। यही परमार्थ है और इस परमार्थको ही प्राप्त करके जीव मुक्तिको प्राप्त करता है। किस का हम चिन्तन करें तो मोक्ष मिले, इसका वर्णन इस गाथामें है। सारतत्त्व शरण क्या है ? परमार्थ यह ज्ञानपद शरण है। हितके लिए इसके आगे और कुछ देखनेकी जरूरत नहीं है। आत्मा परमार्थ है और वह ज्ञानमात्र है। आत्मा एक ही पदार्थ है। मैं आत्मा एक ही पदार्थ हूं। जैसे कि पशु पक्षी नारकी मनुष्य आदि बने रहनेसे आत्मा अन्य अन्य नहीं हो जाता। मैं वही का वही हूं। सो मैं आत्मा एक ही हूं। जब मैं आत्मा एक ही पदार्थ हूं तो आत्मा है ज्ञानस्वरूप। वह ज्ञान भी एक ही पद है। इस ही एक परम पदार्थका शरण गहो।

यथार्थ ज्ञानसे ही संकट छूट सकते हैं, अवधारण कीजिये २०६ वीं गाथाके एक प्रवचनांशमें–भैया, संकट जगतमें कुछ नहीं है। केवल विकल्प ही संकट है। कोई गुजर जाय, किसी इष्ट पुरुषका वियोग हो जाय और होगा वियोग नियमसे। ऐसा कोई अनोखा नहीं है कि जिसके मां बाप स्त्री पुरुष सदा रहेंगे। वियोग अवश्य सदा होगा और वियोगके समयमें दुःख होगा। जिसका संयोग हुआ उसका वियोग नियमसे होगा। चाहे खुद पहिले गुजर जायें, चाहे मां बाप आदि गुजर जायें, वियोग अवश्य होगा। वियोग होता है तो हो, वे सब पर पदार्थ हैं, मूढ़ बुद्धि बस रही है। जगतके अन्य जीवोंमें से दो चार जीवोंको छांट लिया कि ये मेरे हैं तो उसके फलमें उसे दुःख अवश्य होता है। मुझे दुःखी

जायगा तो और द्रव्यांतरोंका अधिरोप रुक जायगा, इसलिए कुछ बुद्धिमें भिन्न आधार न मिलेगा। ज्ञान किसमें रहता है? ज्ञान, ज्ञानमें रहता है। ज्ञान आत्मामें रहता है, यह भी सिद्ध है, पर और सूक्ष्म दृष्टिसे देखें तो ज्ञान ज्ञानमें रहता है और इससे भी अधिक सूक्ष्म दृष्टिमें जावो तो यह कहा जायगा कि आपको ऐसा प्रश्न ही न करना चाहिए कि ज्ञान कहां रहता है? ज्ञानमें ज्ञान है। उसमें षट्कारक की बात लगाना भी व्यवहार है। यद्यपि वह परमार्थनिर्देशक व्यवहार है, लेकिन व्यवहार ही तो है, इसका कारण यह है कि भिन्न षट्कारकोंके परिचय वाले मनुष्योंके समझनेके लिए अभिन्न षट्कारकका उपाय बताया है। तो ज्ञानका कोई भिन्न अध्ययन न मिलेगा। जब कोई भिन्न अध्ययन नहीं मिलता तो एक ही ज्ञानमें ज्ञानस्वरूपमें प्रतिष्ठित करने वाला ज्ञान है। वहां अन्य आधार और आधेय प्रतिभाव नहीं होता।

संवरका कारण देखिये १८६ वीं गाथाके एक प्रवचनांशमें—इससे यह सिद्ध है कि शुद्ध आत्माकी उपलब्धिसे ही संवर होता है और सम्वरतत्त्व अद्भुत अद्वितीय है। मित्र कहो, पिता कहो, ईश्वर कहो, रक्षक कहो, यह एक सम्वर परिणाम है। स्वामी समंतभद्राचार्य ने कहा है कि यदि पाप रुक गया है तो और सम्पदासे क्या प्रयोजन है? सबसे अतुल महिनीय सम्पदा है तो पापनिरोध है। पर यदि पाप नहीं रुकता है, आता है तो अन्य सम्पदासे क्या प्रयोजन? क्योंकि पाप तो कर रहे हैं। उस के फलमें तो आकुलता ही होगी। और, कर्मविपाकके समयमें भी आकुलतायें होंगी। सो भैया अपने आपको इस प्रकार देखना चाहिए कि मैं अकेला हूं, घररहित हूं, शरीररहित हूं। और की क्या बात क्या, अपने आपने जो ममता, रागद्वेष विभाव परिणाम होते हैं उन परिणामोंसे भी रहित हूं। मेरे सहज सत्त्वके कारण इस सहजस्वरूपमें केवल चैतन्य चमत्कारका स्वरूप विकसित होता है। मैं शुद्ध हूं, ज्ञानानन्दघन हूं, इसे योगीन्द्र ही समझ सकते हैं। ज्ञानी पुरुष ही जान सकते हैं। ये सब संयोगजन्य भाव विभाव ये बाह्य चीज हैं। वे वस्तुयें मुझसे सर्वथा भिन्न हैं। ये तो चेतन अचेतन प्रत्येक द्रव्य प्रदेशोंसे भी भिन्न हैं और ये रागादिक भाव यद्यपि आत्मप्रदेशोंमें होते हैं, किन्तु कुछ समय के लिए होते हैं, निमित्त पाकर होते, इस कारण वे भी बाह्य भाव हैं। वे मुझसे भिन्न हैं। इसी प्रकार भेद विज्ञान करने से जो अनात्मा है उससे उपेक्षा हो जाती है, और जो आत्मतत्त्व है उसमें प्रवेश होता है। इस प्रकार शुद्ध आत्माका उपयोग द्वारा यदि आलम्बन है तो कर्मोंका सम्वर होता है।

ज्ञानीका उपभोग भी निर्जराहेतु बताया है, जरा इसके मर्मका विचार करें १९३ वीं गाथाके एक प्रवचनांशमें—कहते हैं कि चेतन और अचेतन द्रव्योंका इन्द्रियोंके द्वारा जो उपभोग करते हैं सम्यग्दृष्टि वह सब निर्जराका निमित्त होता है। सभी कहते हैं कि बंधे हुए कर्म बिल्कुल छोड़ देते हुए नहीं झड़ते हैं। और उदय से एक समय भी पहिले यदि उसका संक्रमण कर देते हैं तो उसमें अन्तर आ सकता है। ऐसे कर्मोंको निष्फल कर देनेमें समर्थ एकत्वनिश्चयगत समयसारका आलम्बन है। एकत्वभावना अन्य भावनाओंमें प्रधान भावना है। इस एकत्वको कितने पदोंमें जीव भाया करते हैं। पहले सब बाह्य पदार्थोंको अपनेसे पृथक् मानो, फिर शरीरसे पृथक् कर्मोंसे पृथक् मानो, रागादिकके विकारोंसे अलग अपनेको मानो। अपनेमें जो विचार वितर्क उत्पन्न होते हैं उन परिणतियोंमें से भिन्न अपने आपके स्वरूपका अनुभव करो। बहुत अन्तरमें प्रवेश करनेवाले ज्ञानीके पूर्वबद्ध कर्मोंके उदयसे कुछ रागादिक पीड़ा होती है। जब भेदज्ञान होता है तब उसे वह आफत समझता है और अपने एक अविनाशी ज्ञान-स्वभावकी ओर लिप्सा बनी रहती है इसही कारण उन अचेतन और चेतन द्रव्योंमें उपभोग किए जाने

फिर भी यह सम्यग्दृष्टि जीव कर्मों की निर्जरा करता है।

रागकी अपनायतमें सम्यक्त्व नहीं रहता, देखिये गाथा २०१-२०२ के एक प्रवचनांशमें-जिस जीवके परमाणु मात्र भी राग है, रागादिक विकारका अंश मात्र भी है वह समस्त आगमोंका धारी होकर भी आत्माको नहीं जानता है। यहां किस रागका निषेध किया जा रहा है ? जिनकी श्रद्धा भी रागसे रंगी है अर्थात् जो रागकी कणिका मात्रको भी आत्माका स्वरूप या हेतु जानते हैं, रागरहित शुद्ध ज्ञानका स्वरूप परिचय नहीं पाते हैं ऐसे जीव जितने सर्व आगमको द्रव्यलिंगी मुनि भी ज्ञात कर सकते हैं इतने सब आगमको धारण करके भी वे आत्माको नहीं जानते हैं और जब अपने आपके स्वरूपको नहीं जानते हैं तो अनात्माको भी वे नहीं जानते हैं। जो जीव आत्मा और अनात्माको नहीं जानता है अर्थात् जीव और अजीवको नहीं जानता है वह सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकता है ?

देखिये २०३ वीं गाथाके एक प्रवचनांशमें आत्माके परमविकासका कारण, निर्विशेष उपयोग-यह ज्ञानी संत विशेषका उदय नष्ट करता है अपनेको किसी विशेषरूप नहीं मानता, और सामान्यका ही कलन करके, सामान्यका ही अनुभव करके यह समग्र ज्ञानकी एकताको प्राप्त करता है अर्थात् स्वयंको यह एक ज्ञानरूप अनुभव करता है। यही आत्माका निजपद है और इस ही निज पदमें कल्याण है। इसीसे ही मोक्षमार्ग मिलता है। यही अरहंत भगवन्तोंने किया था जो आज उत्कृष्ट पदमें अवस्थित हैं, जिनकी बड़ी भक्तिसे हम उनकी पूजा करते हैं। उन्होंने इस ही एक ब्रह्मस्वरूपके अनुभवका मार्ग अपनाया था। इस ही आत्मस्वभावकी उपासनाकी परिणतिसे ये कर्म ध्वस्त होते हैं, संसार मिटता है और शिवपद की प्राप्ति होती है इसलिए सर्व प्रयत्न करके इस क्षणिक भावको छोड़कर ध्रुव जो आत्मीय चैतन्यस्वभाव है, ध्रुव स्वभावका हमें अनुभव करना चाहिए और हम उस अनुभवके पात्र रह सकें इसके लिए न्यायरूप अपनी प्रवृत्ति करना चाहिए।

अध्रुवको छोड़कर ध्रुवकी दृष्टि करनेमें ही आत्महित है, इस तथ्यको देखिये २०४ वीं गाथाके एक प्रवचनांशमें अगर परिणतियां तो मिटती हैं, पर परिणतियोंका जो स्रोत है, जिसकी ये दशायें हो रही हैं वह मैं हूं। वह नहीं मिटता। तो इन समस्त ज्ञातोंमें जो मूल ज्ञानस्वभाव है यह ज्ञानस्वभाव नहीं मिटता है। यही परमार्थ है और इस परमार्थको ही प्राप्त करके जीव मुक्तिको प्राप्त करता है। किस को हम चिन्तन करें तो मोक्ष मिले, इसका वर्णन इस गाथामें है। सारतत्त्व शरण क्या है ? परमार्थ यह ज्ञानपद शरण है। हितके लिए इसके आगे और कुछ देखनेकी जरूरत नहीं है। आत्मा परमार्थ है और वह ज्ञानमात्र है। आत्मा एक ही पदार्थ है। मैं आत्मा एक ही पदार्थ हूं। जैसे कि पशु पक्षी नारकी मनुष्य आदि बने रहनेसे आत्मा अन्य अन्य नहीं हो जाता। मैं वही का वही हूं। सो मैं आत्मा एक ही हूं। जब मैं आत्मा एक ही पदार्थ हूं तो आत्मा है ज्ञानस्वरूप। वह ज्ञान भी एक ही पद है। इस ही एक परम पदार्थका शरण गहो।

यथार्थ ज्ञानसे ही संकट छूट सकते हैं, अवधारण कीजिये २०६ वीं गाथाके एक प्रवचनांशमें-भैया, संकट जगतमें कुछ नहीं हैं। केवल विकल्प ही संकट है। कोई गुजर जाय, किसी इष्ट पुरुषका वियोग हो जाय और होगा वियोग नियमसे। ऐसा कोई अनोखा नहीं है कि जिसके मां बाप स्त्री पुरुष सदा रहेंगे। वियोग अवश्य सदा होगा और वियोगके समयमें दुःख होगा। जिसका संयोग हुआ उसका वियोग नियमसे होगा। चाहे खुद पहिले गुजर जायें, चाहे मां बाप आदि गुजर जायें, वियोग अवश्य होगा। वियोग होता है तो हो, वे सब पर पदार्थ हैं, मूढ़ बुद्धि बस रही है। जगतके अन्य जीवोंमें से दो चार जीवोंको छांट लिया कि ये मेरे हैं, तो उसके फलमें उसे दुःख अवश्य होता है। मुझे दुःखी

करने वाला कोई नहीं है। सो छिदो, भिदो, कोई कहीं ले जावो, अथवा नाशको प्राप्त हो, कहीं जावो तो भी मैं पर पदार्थों को ग्रहण नहीं करता। मैं सदा अपने आपके रूपमें रहता हूं, अपनी शक्तिमें रहा करता हूं, जिस कारण परद्रव्य मेरे स्व नहीं हैं। तो मैं परद्रव्योंका स्वामी हूं।

२१७ वी गाथाके एक प्रवचनांशमें ज्ञानीकी रागरस रिक्तता देखिये—ज्ञानी जीवके ये समस्त कर्म चूंकि ज्ञानी रागरससे रिक्त है इस कारण परिग्रहभावको प्राप्त नहीं होता है। स्त्री पुत्रादिकके पालनके परिग्रह भावको नहीं प्राप्त होता है; क्योंकि उसके पालनेकी प्रवृत्तिमें रागरस नहीं है। पालना पड़ता है। जैसे कभी परिवारमें या सद्गोष्ठीमें, मित्रोंमें रागरस न रहे तो कायदे कानूनके अनुसार बोलना पड़ रहा है, पर परिग्रह नहीं रहता है। परिग्रहभाव रहे तो शल्य रहती है, खिन्नता रहती है, बन्धन रहता है, पर रागरससे रिक्त रहनेके कारण उसमें परिग्रहभाव नहीं रहता। जैसे जो वस्त्र अकषायित हो तो उसमें रंगका सम्बन्ध हो फिर भी रंग बाहर बाहर लौटता है। वस्त्र रंगनेके लिए पहिले मजीठा वगैरहमें भिगोया जाता है। जैसे आजकल केवल फिटकरीमें भिगो दिये जाते हैं और फिर उनपर रंग चढ़ाया जाता है। यदि किसी वस्त्रको हर्रा और फिटकरीके पानीमें न भिगोया जाय, खाली पानीमें भिगोया जाय तो वस्त्र पर रंग न चढ़ेगा। अगर उसे फींचकर धो दो तो रंग छूट जाता है। इसीलिए यह कहावत है कि हर्रा लगे न फिटकरी, रंग चोखा हो जाय—सो ऐसा नहीं हो सकता है जिस वस्त्रमें कषायित्व नहीं किया गया है उस वस्त्रमें रंग चढ़ता नहीं है। इसी प्रकार जिस पुरुषमें रग रस नहीं है उस पुरुषमें कर्म और बाह्य उपाधि परिग्रह नहीं बन सकते हैं। यह परिग्रह केवल बाहर लौटता है, दिखता है। सम्बन्ध किया जाता है फिर भी अन्तरमें मिली नहीं है, इसका कारण क्या है कि ज्ञानी पुरुष स्वभावसे ही स्वरसतः ही सर्व रागसे हटे हुए स्वभाव वाला है। इस कारण ज्ञानी पुरुष कर्मों के मध्यमें पड़ा हुआ भी तन, मन, वचनकी क्रियावोंके बीचमें पड़ा हुआ भी उन सर्व कर्मोंसे लिप्त नहीं होता है।

निष्काम कर्मयोगकी झलक देखिये २२७ वीं गाथाके एक प्रवचनांशमें—जिसने फलकी चाह छोड़ दिया उसे जो करना पड़ता है उसको किया गया नहीं कहा जा सकता। वह अकृत की तरह है। जैसे किसी नौकरको आपका काम करनेका भाव नहीं है। आप सामने होते हैं तो थोड़ा थोड़ा करता है, आप मुख मोड़ लेते हैं तो वह काम बन्द कर देता है। आपके खड़े होनेपर उसे विवश होकर करना पड़ रहा है। जब इच्छा ही नहीं है करने की तो आप कह बैठते हैं कि यह तो काम ही नहीं करता है। अरे कुछ तो कर रहा है, पर कुछ किया गया काम न किए गये में शामिल है, क्योंकि उसकी भावना आपपर असर डालती है। जब उसकी भावना काम करने की ही नहीं है तो यह न करता कहलाता है। सम्यग्दृष्टि जीवके जब भोग अथवा अन्य कोई चेष्टायें भोगनेका भाव ही नहीं है और भोगनेमें आ रहा है, करना पड़ रहा है तो मैं तो उसके अस्निग्धभावोंकी ओरसे कह रहा हूं कि वह करता ही नहीं है।

ज्ञानीके अत्राणमय नहीं होता, पढ़िये २२८ वीं गाथाका एक प्रवचनांश—ज्ञानी पुरुषको भय नहीं रहता है। इस प्रकरणमें आज अत्राणका भय ज्ञानी पुरुषको नहीं रहता है इसका वर्णन होगा। जो पदार्थ सत् है वह नाशको प्राप्त नहीं होता है। यह वस्तुकी स्थिति है। जो सत् है वह सत्के कारण अविनाशी हुआ करता है। यहां उसका सर्वथा अभाव कैसे किया जा सकता है? चाहे पानीका हवा हो जाय, हवाका पानी हो जाय फिर भी सद्भूत तत्त्व तो रहता ही है। सत्का कभी अभाव नहीं होता। ज्ञान स्वयं सत् है। यहां ज्ञानके कहनेसे ज्ञानमय द्रव्यको ग्रहण करना चाहिए। यह ज्ञानमय आत्मतत्त्व स्वयमेव सत् है, फिर दूसरे पुरुषोंसे इसकी क्या रक्षा कराना है। अज्ञानी जीवको यह भय रहा करता है कि मेरी रक्षा

हुई या न हुई, मेरी रक्षा किससे होगी ? पराधीन भाव वह बनाये रहता है, परोन्मुख रहता है। ज्ञानी सोचता है कि इसका तो कभी नाश हो नहीं होता है, क्योंकि यह सत् है, फिर दूसरेसे क्या रक्षाकी याचना करना ? अतः ज्ञानीके अत्राणका भय नहीं होता।

२३० वीं गाथाके एक प्रवचनांशमें निःकांक्षता पानेकी रीति देखिये-मोही जीवोंको जो अपनेको पर परिणति प्रतिकूल लगता है उसे तो समझते हैं कि यह अनहानी हो रही है और जो परपरिणति अपने को अनुकूल जचती है उसे मानते हैं कि यह बात तो मेरे जैसे नवाबके लिए होना ही चाहिए, पर ये सारे विभाव आत्मापर क्लेशके लिए ही आये हुए हैं। ये सब किसी पर पदार्थसे नहीं आये, कर्मोंसे नहीं आये हैं। कर्मों का उदय तो निमित्त मात्र है। ये विभाव मेरे ही अज्ञान परिणतिसे उठे हुए हैं। मुझपर कोई विपत्ति आती है तो मेरे ही अज्ञान परिणमनसे आती है, किसी अन्य पदार्थसे नहीं आती। हम अपनेको सम्हाले रहे, सावधान बनाये रहे और फिर मेरे ही किसी परिणामसे मुझे विपत्ति आ जाय सो ऐसा भी आकस्मिक उपद्रव नहीं है।

निर्जुगुप्सा अंगके वर्णनमें देखिये २३१ वीं गाथाके एक प्रवचनांशमें परमार्थ जुगुप्सा एक महान् अपराध है-अपने आपकी प्रभुताके स्वरूपसे प्रतिकूल रहना यह सबसे बड़ा दोष है। यही परमार्थसे जुगुप्सा है। धर्मस्वरूपमय निज परमात्मतत्त्वसे ग्लानि करना, मुख मोड़े रहना यह महान् अपराध है, और केवल अपने आपके प्रभु पर अन्याय करने मात्रका ही अपराध नहीं है, किन्तु जगतके समस्त जीवोंपर, सर्व प्रभुवोंपर यह अन्याय है। अपने आपके स्वरूपका पता न हो सकें यही निज प्रभु पर अन्याय है अनन्त प्रभुवोंपर अन्याय है। सम्यग्दृष्टि पुरुषअपने आपके स्वभावसे विमुख नहीं होता, अपने स्वरूपसे जुगुप्सा नहीं रखता, किन्तु रुचि रखता है। इस धर्ममय आत्मप्रभुकी सेवामें रहकर कोई कष्ट भी भोगना पड़े, उपद्रव उपसर्ग भी सहना पड़े तो भी उनमें विषाद नहीं मानता। अपने परिणामोंकी ग्लान नहीं करता, ग्लान नहीं होता। यही है परमार्थसे निर्विचिकित्सक अंगका दर्शन।

ज्ञानीकी वास्तविक प्रभावना देखिये २३६ वीं गाथाके एक प्रवचनांशमें-सम्यग्दृष्टि जीव टंकोत्कीर्णवत् निश्चल एक ज्ञायक भावस्वरूप है। उसने अपने ज्ञानसे समस्त शक्तियोंको लगाकर, जगाकर अपनी पर्यायके अनुरूप अपनेको विकसित किया, इसलिए वह प्रभावनाकारी जीव है। जैन धर्मकी अथवा वस्तुविज्ञानकी मोक्षमार्गकी प्रभावना यह जीव रत्नत्रय तेजसे ही कर सकता है। कहते हैं धर्मकी प्रभावना करो-किसकी प्रभावना करना है ? धर्मकी। तो धर्मका जो स्वरूप है वह जीवोंकी समझमें आये यही प्रभावना कहलायेगी। समारोह होना, उत्सव मनाना ये सब इस प्रभावनाके सहकारी कारण हैं। ये स्वयं प्रभावना नहीं हैं। जिसकी प्रभावना करना है वह लोगोंके चित्तमें बैठे तो प्रभावना कहलाती है। प्रभावना करना है धर्म की। धर्म कहते हैं वस्तुके स्वभावको। उपदेशके द्वारा अथवा साधु पुरुषोंकी मुद्राके द्वारा जो जीवोंपर यह छाप पड़ी, प्रभावना पड़ी कि अहो, सर्व विकल्पोंसे पृथक् ऐसे साधु हैं, ऐसा ज्ञान और आनन्द रह जाना ही धर्मका पालन है। यह बात जिन उपायोंसे प्रसिद्ध हो सके बस उन ही उपायोंके करनेका नाम प्रभावना है।

(१३८) समयसार प्रवचन दशमभाग

समयसार ग्रन्थकी २३७ वीं गाथासे लेकर २६४ वीं गाथा तक के पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराजके प्रवचन इस भाग में हैं। बन्धाधिकारमें यह सिद्धान्त रखा कि कर्मबन्ध अन्य अन्य कारणोंसे नहीं, किन्तु रागादिको उपयोग भूमिमें ले जाना बन्धका कारण है, इस बातकी सिद्धि करते हुए प्रसंगवश यहां यह कहा जा रहा है एक आत्मामें ज्ञातृत्व व कर्तृत्व दोनोंके रहनेका परस्पर विरोध है, पढ़िये-पृ० १४-भैया, कर्मयोग जितना

साथ लगा है यह तो दोष है, दण्ड है। इस ज्ञानी जीवके चूंकि ऐसी स्थिति है कि मिथ्यात्व तो रहा नहीं, विपरीत आशय तो है नहीं; अपने ही स्वरूपका परिचय बना हुआ है, फिर भी कुछ समय तक ही पूर्वकालमें जो अज्ञानसे बन्धन किया था उन बन्धनोंमें जो बन्धन शेष है उसके विपाकमें इसके अभी प्रवृत्ति चल रही है; कर्मयोग हो रहे हैं, पर वे कर्मयोग बन्धके कारण नहीं हैं; क्योंकि निष्कामताका वहां साथ है। सो इस प्रकार ज्ञानी जीवके ये दोनों बातें विरोधको प्राप्त नहीं होती कि वह कुछ करता भी है और जानता भी है।

४९ स्वातंत्र्य और निमित्तनैमित्तिक भाव इन दोनोंसे लोककी व्यवस्था बनी हुई है। यदि इनमें से कोई एक न हो तो लोकव्यवस्था नहीं रह सकती; इसको समझनेके लिए निम्नलिखित प्रवचनांश पढ़कर फिर उस पुस्तकके कुछ आगे भी पढ़िये—प्रवचनांश गाथा २४९ पृ० ३१—लोकव्यवस्था—यह वस्तुके स्वरूपास्तित्वको निरखकर ध्यानमें लाना है। प्रत्येक द्रव्य मात्र अपने गुणोंमें अपना परिणमन कर पाते हैं और इसी कारण यह लोक व्यवस्था बनी हुई है। निमित्त नैमित्तिक भावका होना और प्रत्येक पदार्थका मात्र अपने गुणोंमें ही परिणमन कर सकना, इन दो बातोंकी वजहसे यह लोक टिका हुआ है, व्यवस्था बनी हुई है। इनमें से यदि कोई एक अंश निकाल दिया जाय, प्रत्येक द्रव्य अपने में अपने गुणोंसे परिणमता है, यह एक अंश और परस्पर एक दूसरेको निमित्तको पाकर यह सब दृश्यमान रचना चल रही है, यह एक अंश इन दोनों अंशोंमें से यदि कोई अंश निकाल लिया जाय तो लोकव्यवस्था नहीं बन सकती।

अज्ञानके मूल प्रवाहमें रागद्वेषकी दो धारायें कैसे बनती। इसे देखिये गाथा २४९ के इस प्रवचनांशमें, पृ० ३८—परको अटकमें उपयोगकी दो धारा—भैया, यह उपयोग एक प्रकार का है, किन्तु जब यह अपने स्रोतको छोड़कर बाहरसे अपनी धाराका प्रवाह लेता है तो बाह्य विषयोंसे अटककर इसकी दो धारायें बन जाती है। जैसे स्रोतस्थानसे चली आई हुई एक मोटी धारा किसी चीजसे टकराकर दो धाराओंके रूपमें बन जाती है इसी प्रकारसे वह परिणाम आत्माकी बाह्य वृत्ति, बाह्य विषयोंसे टकराकर दो धाराओंमें वह निकलता है कुछ रागरूप और कुछ द्वेषरूप। न हो किसी बाह्य विषयोंका ख्याल, न किया जाय किसी परवस्तुका ध्यान, तो इस उपयोगमें दो धारायें कैसे बन जायेंगी—रागरूप बन जाना और द्वेषरूप बन जाना। जब राग और द्वेषरूप दो धारायें हो जाती हैं तो इनकी छटनी होने लगती है, कौन उसे भला है, कौन उसे बुरा है।

हितार्थीको उपादान निमित्तके सम्बन्धमें कैसा निर्णय है और किसका लक्ष्य है इसकी एक झांकी गाथा २५६ के इस संक्षिप्त प्रवचनांशमें देखिये—पृ० ६६ हितार्थीका लक्षितव्य—सुख दुःखका मूल है तो मोह भाव है। सो यद्यपि वर्तमान स्थिति विकारकी है; विकार निमित्त पाये बिना नहीं होते, लेकिन अब हम और आप करें क्या? निमित्तकी सिद्धिमें, निमित्तकी चर्चामें, निमित्तकी दृष्टिमें हम अपने क्षण गुजारें तो हितकी बात तो नहीं मालूम देती है। यह सब तो निर्णय किये जानेका काम है। हो गया निर्णय, परदृष्टि किस ओर लगाना है? इसके लिए प्रकट यह उपदेश दिया गया कि हे कल्याणार्थी तू अपनी ओर ही दृष्टि दे, तू केवल अपने आत्माकी ओर ही दृष्टि रख। क्या यह आत्मा किसी परके स्वरूपको लपेटे हुए है? इसके स्वभावको निरखो। प्रत्येक पदार्थ मात्र अपना स्वरूप ही रखता है।

मेरे को दुःखी करने वाला कोई अन्य नहीं है, मेरे को दुःख मेरे ही अपराधसे होता है, यह निष्कर्ष निकाल लीजिये गाथा २५६ के निम्नांकित प्रवचनांशसे—पृ० ७१—भैया, जो भी दुःखी होता है वह अपने अपराधसे दुःखी होता है। यदि यह जीव निरपराध हो तो दुःखी नहीं हो सकता है। जगतकी ओर दृष्टि की यह ही प्रथम अपराध है। किसीने कोई अपमानजनक वचन कहा उसको सुनकर हम दुःखी होते हैं। तो

यह लगाव रखकर ही तो दुःखी होते हैं कि इन चार आदमियोंमें इसने मेरी तोहीन की है। अरे इन चार आदमियों पर अपने सुखके लगावको दृष्टिसे निगाह रखना प्रथम तो यह अपराध किया और इस अपराधके कारण विकल्प हुआ, उन विकल्पोंसे यह दुःखी हुआ, उस अपमानजनक शब्द बोलने वालेने दुःखी नहीं किया वह तो अपने कषायके अनुकूल अपना परिणमन करके अपनेमें ही समाप्त हुआ, उससे मुझे दुःख नहीं आया, किन्तु मैं ही कल्पनायें बनाकर दुःखी हुआ। ऐसी कल्पनायें बनाना यही मेरा अपराध है और उस समय उस प्रकारके कर्मोदयका निमित्त है।

निमित्त नैमित्तिक सम्बन्धके वर्णनमें भी भयका अनवकाश, इस वृतान्तको पढ़िये—गाथा २५६ के प्रवचनांश में--पृ० ९२—भैया, इस बातसे घबड़ाकर कि कहीं आत्माके स्वभावकी स्वतंत्रता नष्ट न हो जाय, निमित्त को न मानें अथवा निमित्तको एक अलंकार रूपमें ही शास्त्रोंमें कहा है, इस प्रकार की दृष्टि करके निमित्तको न समझाना, न समझना या उड़ा देना यह कोई बुद्धिमानी नहीं है, किन्तु यह जानना चाहिए कि निमित्तका वर्णनभी आचार्योंने हमारी मंसाकी पूर्तिके लिए किया है। हमारी मंसा है अपने शुद्ध स्वतंत्र स्वभावको निरखना। यही तो चाह है ना सभी कल्याणार्थियोंकी जो अपने केवल स्वभाव को नहीं देखना चाहता है वह तो कल्याणार्थी नहीं है। जहां यह वर्णन आता है कि ये सब सुख दुःख, ये सब व्यवस्थायें, ये सब रागद्वेष मोह सब विकार कर्मोंके उदयके विपाकसे प्रभव हैं। इतनी बात सुनकर तुरन्त यह ज्ञान होता है और उत्साह होता है कि यह मेरा स्वभाव नहीं है। मैं तो टंकोत्कीर्ण—वत् निश्चल एक शुद्ध ज्ञायकस्वभावमात्र हूं।

अध्यवसायोंसे स्वयंका अनर्थ होता है इसका एक चित्रण देखिये २६१ वीं गाथाके इस प्रवचनांशमें—पृ० १०१–१०२—अध्यवसायोंसे स्वयंका अनर्थ—जैसे कोई बूढ़ी, पुरानी देहाती बुढ़िया जो पुराने दिमाग की है, असभ्य है वह अपने ही घरमें बैठे हुए दांत किटकिटाती हुई दूसरेको कोसती रहती है जिससे उसे क्लेश होता हो, उसे जो दुश्मन दिखता हो। तो देखनेवाले लोग उसे अज्ञानी देखते हैं। कैसा अपने शरीरको कष्ट पहुंचा रही है। इसकी इस क्रियाको करनेसे वहां कुछ होता नहीं है, बल्कि ईश्वरसे प्रार्थना करती है हाथ पीट पीटकर कि हे भगवान् इसका विनाश करदो। तो ये सब चेष्टायें क्या उस दूसरे जीवके अहितके कारणभूत बनती हैं? उसका ही उदय अशुभ होगा तो क्लेश आयगा, पर इसके सोचनेसे दूसरेको क्लेश नहीं होता। दूसरे जीवका सब कुछ जीवन मरण, सुख और दुःख उसके उपार्जित किये हुए कर्मोदयके आधीन है, दूसरे जीवके विचारके आधीन नहीं है।

पुण्य व पाप दोनोंके बन्धमें कारण अध्यवसाय है, इसका दिग्दर्शन कीजिये गाथा २६४के इस प्रवचनांशमें—पृ० १११–११२—सर्वत्र अध्यवसायकी बन्धहेतुता—अध्यवसायको बन्धनकी दृष्टिसे देखा जाय तो पापमें भी वही पद्धति हुई और पुण्यमें भी वही पद्धति हुई, अर्थात् कहीं ऐसा नहीं है कि पापका बन्ध अध्यव—सायसे होता हो और पुण्यका बन्ध रत्नत्रयके पालनसे होता हो, रत्नत्रयके पालनसे निर्जरा है, बन्ध नहीं है। बन्ध अध्यवसायसे ही होता है। हिंसा, झूठ आदिसे बन्ध हो तो पाप होगा और अहिंसा, दया, सत्य पालना, ब्रह्मचर्यका पालना, परिग्रहका त्यागना इनका अध्यवसाय हो तो पुण्यबन्ध होता है। जैसे पराश्रयक परिणामोंमें लगाव, किसी परविषयक उपयोग परिणमन उस पापबन्धमें हुआ है, इसी प्रकार पराश्रयक परिणामोंका लगाव किसी परके विषयमें उपयोगका योजन इस पुण्यबन्धमें भी हुआ है।

(१३९) समयसार प्रवचन एकादश भाग

इस पुस्तकमें समयसार ग्रन्थकी २६५ वीं गाथासे २८६ गाथा तक के पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी

सहजानन्द महाराजके प्रवचन हैं। परवस्तुके कारण बन्ध नहीं होता, किन्तु जीवके रागद्वेष आदि अध्यवसानके कारण बन्ध होता है, इससे सम्बन्धित २६५ वीं गाथाका एक प्रवचनांश पढ़िये–पृ० १–पराश्रयतापूर्वक अध्यवसानका निर्माण–उस बन्धके कारणभूत आत्माके जो अध्यवसान हुए हैं उन अध्यवसानोंमें ऐसा निर्माण है कि किसी न किसी परवस्तुका आश्रय किये बिना राग हो जाय तो उस रागका स्वरूप क्या? क्या हुआ वहां? रागमें तो किसी वस्तुविषयक स्नेह होता है और कोई वस्तु इसने उपयोगमें ली नहीं तो राग क्या हुआ? यावन्मात्र अध्यवसान होता है, वह पर पदार्थोंका आश्रय करके होता है, इस कारण यह भ्रम न करना कि परवस्तुने मुझे बांधा है। परवस्तु तो मेरे बन्धनमें आश्रयभूत है, बन्धन तो मेरा मेरे परिणामसे है। अध्यवसान ही बन्धका कारण है। बाह्य वस्तु तो बन्धके कारणका कारण है।

अध्यवसानभाव मिथ्या हैं, क्योंकि वे अर्थक्रियाकारी नहीं हैं, इसका दिग्दर्शन करें २६६ वीं गाथाके एक प्रवचनांशमें–पृ० ११–परविषयक सर्वविकल्पोंका मिथ्यापन–इस कारण मैं दूसरेको दुःखी करता हूं, सुखी करता हूं, बांधता हूं, छुड़ाता हूं, ऐसा सोचना मिथ्या है। जैसे कोई कहे कि मैं तो आज आकाशके फूल तोड़ूंगा तो जैसे उसका यह कहना बावलापन लगता है इसी प्रकार यह भी बावलापन है कि मैं दूसरेंको दुःखी करता हूं, सुखी करता हूं, क्योंकि परके लिए, ये परमें काम नहीं हो सकते हैं। जैसे कि आकाशसे फूल तोड़नेके परिणाममें कोई अर्थक्रिया नहीं है इसी तरह दूसरेके दुःखी सुखी करने की, बिगाड़की काई अर्थक्रिया नहीं है। इस कारण यह विकल्प करना मिथ्या है।

२६८ वीं गाथामें बताया है कि जीव अध्यवसानसे अपनेको देव, नारक, तिर्यंच, मनुष्य, पुण्य, पाप आदि नाना रूप कर लेता है। इसके एक प्रवचनांशमें बताया है कि जीवको अनुभव अपनी प्रतीतिकी पद्धतिके अनुसार होता है–पढ़िये पृ० २४–अध्यवसानके अनुभव–साधारणतया तो सभी जीव निरन्तर अपने आपके किसी न किसी विषयमें किसी न किसी अवस्थारूप मानते चले जा रहे हैं। तिर्यन्च हो, बैल हैं, घोड़ा, ये अपनेको उस ही रूपसे बराबर मानते हैं जैसे कि यह मनुष्य प्रायः रात दिन यह बात अपने उपयोगमें बैठाये है कि मैं इन्सान हूं। अरे यह जीव इन्सान है कहां? यह जीव तो चैतन्यस्वरूप मात्र है, भीतरी उपयोगकी दृष्टिमें बात की जा रही है। यह तो ज्ञानमात्र एक चैतन्यपदार्थ है। यदि यह इन्सान हो तो निरन्तर इसे इन्सान बने रहना चाहिए। मिट क्यों जाता है? ये पशु कहां हैं? यदि ये जीव पशु होते तो निरन्तर पशु ही बने रहते। यह जीवके असाधारण ज्ञानस्वभावकी ओर से बात कही जा रही है।

अध्यवसानोंमें तो अन्धेरा ही अन्धेरा है इसमें हितका मार्ग नहीं मिलता, इसका दिग्दर्शन करें २७० वीं गाथाके एक प्रवचनांशमें–पृ० ४१–अध्यवसानोंका अन्धकार–उन अध्यवसानोंको तीन भागोंमें विभक्त किया है। एक तो औपाधिक क्रियाओंसे अपनेको भिन्न न मान सकना और दूसरे अपनी जो पर्यायें हुई उन पर्यायोंसे अपनेको पृथक न समझ सकना, कुछ समाधानसहित ध्यानमें लाइये और तीसरी बात–जो जाननेमें आ रहा है, ऐसे पदार्थोंसे जिसके समय जो विकल्प हैं उस समय उन विकल्पोंसे अपनेको जुदा न समझ सकना, ये तीन तरहके अंधेरे होते हैं, जिन अंधेरोंमें रहकर अपने आपके स्वरूपमें स्थित जो कारण समयसार है, परमात्मतत्त्व हूं? शुद्धस्वरूप है वह विदित नहीं हो सकता। यह गाथा बहुत गम्भीर है और अत्यन्त मर्ममें पहुंचाने वाली है। मोक्षमार्ग जैसा शिवमय पानेके लिए हमें कितनी पैनी दृष्टि करके अपने सहज स्वरूपको निरखना है, यह इसमें बताया गया है।

२७१ वीं गाथामें बन्ध और मोक्षकी मूल कुन्जी–एक प्रवचनांशमें पढ़िये–पृ० ६३–भैया, गत गाथाओंमें यह प्रकरण चल रहा था कि मैं जिलाता हूं, मैं मारता हूं, दुःखी सुखी करता हूं, ऐसा जो लगाव है,

राग है, अध्यवसान है वे सबके सब बन्धके कारण हैं। और, मोक्षका कारण तो अपने ज्ञायकस्वरूपको, अपने स्वभावको जैसा कि वह अपने आपकी सत्ताके कारण है उस रूपमें निरखना और मैं यह हूं-ऐसा दर्शन करनेके कारण जो परका आश्रय टूटता है और आत्माका आश्रय होता है यह है मोक्षका कारण। ऐसा जानकर हे मुनिजनों, निश्चयनयमें लीन होकर निर्वाणको प्राप्त करो। शुद्ध आत्मद्रव्यका दर्शन करना सो निश्चयका आलम्बन है और अपने आपके सत्से भिन्न अर्थात् किन्हीं पर सत्का आश्रय करके भाव बनाना सो व्यवहारनय है।

देखिये व्यवहारनयकी करुणा २७७ वीं गाथाके एक प्रवचनांशमें–पृ० ८४–व्यवहारकी करुणा–देखो भैया, निश्चयका स्थान देकर यह व्यवहार फिर हट जाता है। व्यवहार है प्रतिषेध्य, पर व्यवहार कितना उपकारी है कि व्यवहारका फलभूत जो निश्चय है उस निश्चयको उत्पन्न करके यह व्यवहार खुद मिट जाता है। ऐसा कोई दयालु है जो अपना विनाश करके दूसरेको जमा जाय? वह व्यवहार ही ऐसा है कि अपना विनाश करके निश्चयको जमा जाता है, ऐसा निश्चय, दर्शन, ज्ञान, चारित्र जब उत्पन्न होता है तो व्यवहार हट जाता है और ऐसी अनुभवकी स्थिति तब होती है कि वहां मात्र अपना आत्मा ही दृष्ट होता है। जाननमें, श्रद्धानमें, स्पर्शनमें, रमणमें जो रहा करता है ऐसा निश्चयभूत जो रत्नत्रय है वह व्यवहारके रत्नत्रयका प्रतिपादक है। व्यवहार रत्नत्रय कार्यकारी है। जब तक निश्चय रत्नत्रय की प्राप्ति नहीं होती तब तक दृढ़ता नहीं होता।

वस्तुके वास्तविक ज्ञाताके बन्ध नहीं होता, इसका सन्देश देखिये २७९ वीं गाथाके एक प्रवचनांशमें–पृ० ९४–वस्तुविज्ञानीके बन्धका अभाव–इस जीवमें जो रागभाव आते हैं उनका निमित्त यह जीव स्वयं नहीं है। उसके पर पदार्थोंका संग निमित्त है। यह आत्मवस्तुका स्वभाव है कि प्रत्येक जीव अपनी ओर से ज्ञानरूप बनता है। परपदार्थोंका संग होनेसे यह अज्ञानरूप बन जाया करता है। इस प्रकार वस्तुके स्वभावको अपने आपके स्वरूपको ज्ञानीजन जानते हैं, इस कारण ज्ञानी जनोंके पूर्वभवोंके बांधे हुए कर्मोंके उदयसे रागादिक भाव भी आयें तो भी अपनेको रागादिक रूप नहीं बनाते। सो वे रागादिकके कर्ता नहीं होते। देखो अपने आप रागद्वेष आयें तो हम मानलें कि ये रागद्वेष मेरे स्वरूप हैं, मेरे सम्बन्धी हैं, किन्तु ऐसा तो है ही नहीं। जो सबसे भिन्न केवल ज्ञानमात्र अपने स्वरूपको जानते हैं जीव रागादिकके करनेवाले नहीं हैं, वे कर्ता नहीं हैं। उनके कर्मोंका बन्ध नहीं होता।

ज्ञानके बिना हित संभव ही नहीं, उस ज्ञानका प्रमुख उपाय एक स्वाध्याय है। सो जरा स्वाध्यायकी विधि २८० वी गाथाके एक प्रवचनांशमें पढ़िये–पृ० १०२–स्वाध्यायविधि–इस जीवको संसारकी आकुलताओंसे बचानेमें समर्थ सम्यग्ज्ञान है। अनेक यत्न करके इस सम्यग्ज्ञानकी उपासना करो। जो ग्रन्थ अपनी समझमें आवें उन ग्रन्थोंका स्वाध्याय करो। जिस ग्रन्थका स्वाध्याय करो उसका ही स्वाध्याय करो जब तक कि ग्रन्थ पूर्ण न हो जाय। आज कोई ग्रन्थ उठा लिया, कल कोई ग्रंथ उठा लिया, यह ज्ञान–वृद्धिका तरीका नहीं है। जिस ग्रन्थका स्वाध्याय शुरू करो उसीका स्वाध्याय अन्त तक करलो। उसके बाद कर्तव्य तो यह होना चाहिए कि वही ग्रन्थ दुबारा फिर पढ़ लो। एक बार पढ़ लेनेके बाद दुबारा पढ़नेसे सभी बातें स्पष्ट समझमें आती रहती हैं। स्वाध्याय करनेके साथ ही दो नोटबुक रखनी चाहिए। एक नोटबुकमें जहां जो समझमें न आया उसे नोट कर लिया और एक नोटबुकमें जो बहुत बहुत ही आत्माको छूती है, जिससे शांति और संतोष मिलता है उस बातको नोट कर लिया। इसतरह से शुरूसे अन्त तक उसी ग्रन्थका स्वाध्याय कर लेनेसे ज्ञानमें वृद्धि होती है।

(१४०) समयसार प्रवचन द्वादश भाग

इस पुस्तकमें समयसारकी २८८ वीं गाथासे ३०७ गाथा तक के पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराजके प्रवचन हैं। २९० वीं गाथाके एक प्रवचनांशमें उसका साधकतम है आत्मस्पर्श, पढ़िये–पृ० ६–मुक्तिका साधकतम आत्मस्पर्श–मोक्ष कैसे मिलता है इसका वर्णन चल रहा है। कोई लोग कहते हैं कि बन्धका स्वरूप जानलो, उसका ज्ञान होनेसे मोक्ष मिल जायगा। आचार्य देव कहते हैं कि बन्धका स्वरूप जानने मात्रसे मोक्ष नहीं मिल सकता है। किन्तु बन्धके दो टुकड़े कर देनेपर अर्थात् आत्मा और कर्म ये दो किए जानेपर मोक्ष मिलता है, तो आत्मा और बन्धके दो टुकड़े कैसे हों उसका उपाय है ज्ञान और ज्ञानकी स्थिरता। कितने ही लोग शास्त्रज्ञान बढ़ा लेते हैं बढ़ाना चाहिए, पर उन्हें मात्र शास्त्रके ज्ञानमें ही संतोष हो जाता है। कर्मोंकी बहुतसी बातें जानलें, कर्म ८ तरहके हैं उनके १४८ भेद हैं, उन में इस तरह वर्ग हैं, वर्गणा हैं, निषेक हैं, स्पर्धक हैं, उनकी निर्जराका भी ज्ञान कर लिया, कि इन गुण-स्थानोंमें इस तरह निर्जरा होती है। ऐसा वर्णन करनेके कारण उन्हें मोक्षका मार्ग मिल जाय सो नहीं होता है। ज्ञान करना ठीक है, पर उसके साथ भेदविज्ञानके बलसे आत्माका स्पर्श हो सके तो उन्हें मोक्षका मार्ग व मोक्ष मिलता है।

बन्धविच्छेदका उपाय नहीं बना पाते हैं उनका एक प्रतिबोधन २९१ वीं गाथाके एक प्रवचनांशमें पढ़िये–पृ० १२–धर्मध्यानांधबुद्धिना–बन्ध कैसे छूटे, रागादिक कैसे मिटें, ऐसे बन्धके चिन्तनसे मोक्ष नहीं होता है। कर्मबद्ध जीव बन्धका चिन्तन करे अथवा उपायविचयनामक धर्मध्यान करे, अथवा ये रागादिक कैसे दूर हों, यह भावजगत कैसे दूर हो, जन्म मरण कैसे मिटें, नाना धर्मध्यानरूप चिन्तन भी चले तो भी इस धर्मध्यानमें हो जिनकी बुद्धि अन्ध हो गई है, धर्मध्यान अच्छी चीज है, मगर इससे आगे हमारी कुछ कार्यार्थता है यह बोध जिनके नहीं है, विशुद्ध, मात्र, केवल, सिर्फ धर्मध्यान, उस ही में जो अटक गये हैं, ऐसे जीवोंको समझाया गया है कि कर्म बन्धके विषयमें चिन्ता करने रूप परिणामसे भी मोक्ष नहीं होता है। जैसे कोई बेड़ीसे बंधा हुआ पुरुष है और वह बेड़ीके विषयमें चिन्ता करे कि बेड़ी छूट जाय तो ऐसी चिन्ता करने मात्रसे बेड़ी नहीं छूट जाती। इसी तरह अपने आपके बन्धनके सम्बन्धमें चिन्ता करें, कब छूटे, कैसे छूटे तो इतना मात्र चिन्तन करनेसे बन्धन नहीं छूट पाता है। वह तो बन्धन के छेदने भेदने काटनेसे ही छूट सकता है और बन्धच्छेदका उपाय है आत्मस्पर्श।

परतंत्रदशामें भी स्वरूपस्वातंत्र्यदृष्टिके स्वादका वृत्तान्त। २९२वीं गाथाके एक प्रवचनांशमें देखिये–पृ० १७–पारतंत्र्य स्थितिमें स्वातंत्र्य दृष्टिके स्वादकी शक्यता–होलीके दिनोंमें आदमियोंको विचित्र रंगोंसे रंग देते हैं, आधा मुंह काला कर दिया, आधा नीला कर दिया, ऊपरसे लाल कर दिया, पहिचानमें नहीं आता, ऐसी सूरत बना देते हैं, पर यदि मिठाई खावे तो उसे स्वाद आयगा कि नहीं आयगा ? मिठाई का स्वाद उसे आयगा ही। बाहरसे देखनेमें तो यह जीव गन्दे वातावरणमें है, परतन्त्र है, पर भीतरसे यह अपने लक्ष्यको अपने स्वरूपमें ले जाय तो उसे ज्ञानका स्वाद मिल सकता है कि नहीं ? मिल सकता है। तो ज्ञानमात्र आत्मतत्त्वको लक्ष्यमें लेनेसे परतंत्र अवस्था दूर होती है। संसारसे छुटकारा पानेका यही उपाय है।

बन्धविच्छेदसे मुक्ति होती है, यह इस अधिकारमें मुख्य विषय है, तो बन्धच्छेद किस साधनसे होता है, उसका समाधान २९४ वीं गाथामें है। उससे सम्बन्धित एक प्रवचनांश देखिये–जिसमें बताया है कि प्रज्ञासे ही बन्धका छेद है फिर प्रज्ञासे ही उपादेयका ग्रहण है, पढ़िये–पृ० २०–प्रज्ञा द्वारा भेदन और उपादेयका

उपादान–प्रज्ञाके दोनों काम हैं जुदा–जुदा कर देना और उनमें से जो अपना उपादेय तत्त्व है उसको ग्रहण कर लेना। जैसे चावल सोवते हैं तो सोवने वालेको यह ज्ञान रहता है कि यह तो चावल है और इसके अलावा जो कुछ भी है वह सब गैर चावल है। कोड़ा हो, धानकी छिलको हो या और भी अनाज हो, घासका दाना हो वह सब गैर चावल है, तो उसे यह ज्ञान है कि यह चावल है और ये सब गैर चावल हैं तब वह गैर चावलोंको अलग करता है और चावलको ग्रहण करता है। इसीतरह अपने आपके आत्मामें जैसा यह ज्ञात है कि चैतन्यचमत्कारभाव तो मैं आत्मा हूं और बाकी रागादिक विकार अनात्मा हैं, पर चोज है तब उनपर तत्त्वोंको छोड़कर अपने चैतन्य स्वभावमात्र आत्माको ग्रहण करता है।

अपना दिल किसको समर्पित कर दिया जाना चाहिए, इसका समाधान पाइये इस प्रवचनांशमें पृ० ३५–समर्पण–भैया, अपना दिल समर्पण करो तो केवल एक निज ज्ञायकस्वरूपको समर्पण करो और इसके ही समर्पणके हेतु पंचपरमेष्ठी भगवानको अपना मन समर्पण करो। अपना मन बेंच दो, लगावो, सोपो तो केवल दो ही स्थानोंको–पंचपरमेष्ठीको या आत्मस्वरूपको। तीसरी कौन सी चीज है जिसको अपना दिल दिया जाय? अपना उपयोग सौंपा जाय? और जिन जगतके जीवोंको दिल दिया जा रहा है तो समझो कि यह मेरे करनेका काम नहीं है। यह तो कर्मोंके उदयके डंडे लग रहे हैं। सो सर्व यत्न पूर्वक अपने आपके आत्मज्ञानकी ओर आयें और इस ही विधिसे बढ़नेका यत्न करें, ये सारी चीजें तो अपने आप छूटेंगी।

किसका आलम्बन करनेमें हित है इसका समाधान पाइये इस प्रवचनांशमें–पृ० ३७–निजसहजस्वरूपका आलम्बन–इस अध्यात्मयोगके प्रकरणमें यह बात चल रही है कि हम कैसे शुद्ध स्वरूपका आलम्बन करें कि हमें मुक्तिका मार्ग मिले। जो अत्यन्त शुद्ध है ऐसा प्रभु, उनका हम आश्रय कभी कर ही नहीं सकते। हमारे आश्रय किये जानेवाले गुण परिणमनका विषय तो प्रभु बन गया है, पर आश्रय नहीं किया जा सकता, क्योंकि प्रत्येक वस्तुका सत्त्व जुदा है। एक पदार्थ किसी दूसरे पदार्थका आलम्बन नहीं कर सकता, स्वरूप ग्रहण नहीं कर सकता, तब निज सहजस्वरूपका आलम्बन ही हित है।

भगवान और भगवतीका परिचय कीजिये २ ८ वीं गाथाके इस प्रवचनांशमें–पृ० ७१–भगवान आत्मा और भगवती प्रज्ञा सो कल्पना से यह जीव देवी देवताओंको कुछ न कुछ रूपमें मान लेता है, किन्तु ये सब इस भगवती प्रज्ञाके रूप हैं। भगवती मायने इस भगवान आत्माको शुद्धारिणी। कहीं मास्टर मास्टरनी की तरह, बाबू बबुआनी की तरह भगवान और भगवती नहीं होते। भगवान तो एक शुद्ध ज्ञानका नाम है और शुद्ध ज्ञानकी जो वृत्ति जगती है उसका नाम है भगवती। लोग कहते हैं कि भगवानकी स्त्री आधे अंगमें है। शिवका आधा अंग तो पुरुष है और भगवती स्त्री आधे अंगमें है, और चित्र भी ऐसा बना लेते हैं कि दाहिना अंग तो पुरुषका जैसा जानो। पुरुष जैसा एक पैर, पुरुष जैसा आधा पेट, व वक्षस्थल और आधे अंगमें एक टांग स्त्री जसी, आधा पेट, वक्षस्थल आदि स्त्री जैसी। अर्द्धांगकी कल्पना है। अरे भगवानकी परिणति भगवती अर्द्धांगमें नहीं रहती है किन्तु सर्वांगमें रहती है। जितने में भगवान है उन सब प्रदेशांमें यह प्रज्ञा भगवती है।

सर्वदोष अपराध संकट जिस दृष्टि द्वारा दूर हो जाते हैं उस दोषनिवारणी दृष्टिका अध्ययन करें ३०५ वीं गाथाके इस प्रवचनांशमें, पृ० १०५–दोषनिवारिणी दृष्टि–इस प्रकरणमें बात चल रही है कि जो जीव अपने सहज शुद्ध चैतन्य स्वभावकी दृष्टि रखता है, चैतन्यमात्र मैं हूं और ऐसा ही जाननेमें उपयोगी रहता है वह तो है निरपराध आत्मा और जो अपने स्वरूपमें अपनेको न लखकर बाह्य परिणमनों रूप अपनेको

(१४७) समयसार प्रवचन द्वादश भाग

इस पुस्तकमें समयसारकी २८८ वीं गाथासे ३०७ गाथा तक के पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराजके प्रवचन हैं। २९० वीं गाथाके एक प्रवचनांशमें उसका साधकतम है आत्मस्पर्श, पढ़िये–पृ० ६–मुक्तिका साधकतम आत्मस्पर्श–मोक्ष कैसे मिलता है इसका वर्णन चल रहा है। कोई लोग कहते हैं कि बन्धका स्वरूप जानलो, उसका ज्ञान होनेसे मोक्ष मिल जायगा। आचार्य देव कहते हैं कि बन्धका स्वरूप जानने मात्रसे मोक्ष नहीं मिल सकता है। किन्तु बन्धके दो टुकड़े कर देनेपर अर्थात् आत्मा और कर्म ये दो किए जानेपर मोक्ष मिलता है, तो आत्मा और बन्धके दो टुकड़े कैसे हों उसका उपाय है ज्ञान और ज्ञानकी स्थिरता। कितने हो लोग शास्त्रज्ञान बढ़ा लेते हैं बढ़ाना चाहिए, पर उन्हें मात्र शास्त्रके ज्ञानमें ही संतोष हो जाता है। कर्मोंकी बहुतसो बातें जानलें, कर्म ८ तरहके हैं उनके १४८ भेद हैं, उनमें इस तरह वर्ग हैं, वर्गणा हैं, निषेक हैं, स्पर्धक हैं, उनकी निर्जराका भी ज्ञान कर लिया, कि इन गुणस्थानोंमें इस तरह निर्जरा होती है। ऐसा वर्णन करनेके कारण उन्हें मोक्षका मार्ग मिल जाय सो नहीं होता है। ज्ञान करना ठीक है, पर उसके साथ भेदविज्ञानके बलसे आत्माका स्पर्श हो सके तो उन्हें मोक्षका मार्ग व मोक्ष मिलता है।

बन्धविच्छेदका उपाय नहीं बना पाते हैं उनका एक प्रतिबोधन २९१ वीं गाथाके एक प्रवचनांशमें पढ़िये–पृ० १२–धर्मध्यानांधबुद्धिता–बन्ध कैसे छूटे, रागादिक कैसे मिटें, ऐसे बन्धके चिन्तनसे मोक्ष नहीं होता है। कर्मबद्ध जीव बन्धका चिन्तन करे अथवा उपायविचयनामक धर्मध्यान करे, अथवा ये रागादिक कैसे दूर हों, यह भावजगत कैसे दूर हो, जन्म मरण कैसे मिटें, नाना धर्मध्यानरूप चिन्तन भी चले तो भी इस धर्मध्यानमें हो जिनकी बुद्धि अन्ध हो गई है, धर्मध्यान अच्छी चोज है, मगर इससे आगे हमारी कुछ करतूत है यह बोध जिनके नहीं है, विशुद्ध, मात्र, केवल, सिर्फ धर्मध्यान, उस ही में जो अटक गये हैं, ऐसे जोवोंको समझाया गया है कि कर्म बन्धके विषयमें चिन्ता करने रूप परिणामसे भो मोक्ष नहीं होता है। जैसे कोई बेड़ीसे बंधा हुआ पुरुष है और वह बेड़ीके विषयमें चिन्ता करे कि बेड़ी छूट जाय तो ऐसो चिन्ता करने मात्रसे बेड़ी नहीं छूट जाती। इसी तरह अपने आपके बन्धनके सम्बन्धमें चिन्ता करें, कब छूटे, कैसे छूटे तो इतना मात्र चिन्तन करनेसे बन्धन नहीं छूट पाता है। वह तो बन्धनके छेदने भेदने काटनेसे ही छूट सकता है और बन्धच्छेदका उपाय है आत्मस्पर्श।

परतंत्रदशामें भी स्वरूपस्वातंत्र्यदृष्टिके स्वादका वृतान्त २९२वीं गाथाके एक प्रवचनांशमें देखिये–पृ० १७–पारतंत्र्य स्थितिमें स्वातंत्र्य दृष्टिके स्वादकी शक्यता–होलीके दिनोंमें आदमियोंको विचित्र रंगोंसे रंग देते हैं, आधा मुंह काला कर दिया, आधा नीला कर दिया, ऊपरसे लाल कर दिया, पहिचानमें नहीं आता, ऐसी सूरत बना देते हैं, पर यदि मिठाई खावे तो उसे स्वाद आयगा कि नहीं आयगा ? मिठाईका स्वाद उसे आयगा ही। बाहरसे देखनेमें तो यह जोव गन्दे वातावरणमें है, परतन्त्र है, पर भीतरसे यह अपने लक्ष्यको अपने स्वरूपमें ले जाय तो उसे ज्ञानका स्वाद मिल सकता है कि नहीं ? मिल सकता है। तो ज्ञानमात्र आत्मतत्त्वको लक्ष्यमें लेनेसे परतंत्र अवस्था दूर होती है। संसारसे छुटकारा पानेका यही उपाय है।

बन्धविच्छेदसे मुक्ति होती है, यह इस अधिकारमें मुख्य विषय है, तो बन्धच्छेद किस साधनसे होता है, उसका समाधान २९४ वीं गाथामें है। उससे सम्बन्धित एक प्रवचनांश देखिये–जिसमें बताया है कि प्रज्ञासे ही बन्धका छेद है फिर प्रज्ञासे ही उपादेयका ग्रहण है, पढ़िये–पृ० २०–प्रज्ञा द्वारा भेदन और उपादेयका

उपादान-प्रज्ञाके दोनों काम हैं जुदा-जुदा कर देना और उसमें से जो अपना उपादेय तत्त्व है उसको ग्रहण कर लेना। जैसे चावल सोधते हैं तो सोधने वालेको यह ज्ञान रहता है कि यह तो चावल है और इसके अलावा जो कुछ भी है वह सब गैर चावल है। कोड़ा हो, धानकी छिलको हो या और भी अनाज हो, घासका दाना हो वह सब गैर चावल है, तो उसे यह ज्ञान है कि यह चावल है और ये सब गैर चावल हैं तब वह गैर चावलोंको अलग करता है और चावलको ग्रहण करता है। इसीतरह अपने आपके आत्मामें जैसा यह ज्ञात है कि चैतन्यचमत्कारभाव तो मैं आत्मा हूं और बाकी रागादिक विकार अनात्मा हैं, पर चीज है तब उनपर तत्त्वोंको छोड़कर अपने चैतन्य स्वभावमात्र आत्माको ग्रहण करता है।

अपना दिल किसको समर्पित कर दिया जाना चाहिए, इसका समाधान पाइये इस प्रवचनांशमें पृ० ३५-समर्पण-भैया, अपना दिल समर्पण करो तो केवल एक निज ज्ञायकस्वरूपको समर्पण करो और इसके ही समर्पणके हेतु पंचपरमेष्ठी भगवानको अपना मन समर्पण करो। अपना मन बेंच दो, लगावो, सोंपो तो केवल दो ही स्थानोंको-पंचपरमेष्ठीको या आत्मस्वरूपको। तीसरी कौन सी चीज है जिसको अपना दिल दिया जाय? अपना उपयोग सौंपा जाय? और जिन जगतके जीवोंको दिल दिया जा रहा है तो समझो कि यह मेरे करनेका काम नहीं है। यह तो कर्मोंके उदयके डंडे लग रहे हैं। सो सर्व यत्न पूर्वक अपने आपके आत्मज्ञानकी ओर आयें और इस ही विधिसे बढ़नेका यत्न करें, ये सारी चीजें तो अपने आप छूटेंगी।

किसका आलम्बन करनेमें हित है इसका समाधान पाइये इ। प्रवचनांशमें-पृ० ३७-निजसहजस्वरूपका आलम्बन-इस अध्यात्मयोगके प्रकरणमें यह बात चल रही है कि हम कैसे शुद्ध स्वरूपका आलम्बन करें कि हमें मुक्तिका मार्ग मिले। जो अत्यन्त शुद्ध है ऐसा प्रभु, उनका हम आश्रय कभी कर ही नहीं सकते। हमारे आश्रय किये जानेवाले शुद्ध परिणमनका विषय तो प्रभु बन गया है, पर आश्रय नहीं किया जा सकता, क्योंकि प्रत्येक वस्तुका सत्त्व जुदा है। एक पदार्थ किसी दूसरे पदार्थका आलम्बन नहीं कर सकता, स्वरूप ग्रहण नहीं कर सकता, तब निज सहजस्वरूपका आलम्बन ही हित है।

भगवान और भगवतीका परिचय कीजिये २९८ वीं गाथाके इस प्रवचनांशमें-पृ० ७१-भगवान आत्मा और भगवती प्रज्ञा-लोग कल्पना से यह जीव देवी देवताओंको कुछ न कुछ रूपमें मान लेता है, किन्तु वे सब इस भगवती प्रज्ञाके रूप हैं। भगवती नाम है भगवान आत्माकी शुद्धपरिणतिका। कहीं मास्टर मास्टरनी की तरह, बाबू बबुआनी की तरह भगवान और भगवती नहीं होते। भगवान तो एक शुद्ध आत्माका नाम है और शुद्ध आत्माकी जो वृत्ति जगती है उसका नाम है भगवती। लोग कहते हैं कि भगवानकी स्त्री आधे अंगमें है। जिनका आधा अंग तो पुरुष है और भगवती स्त्री आधे अंगमें है, और चित्र भी ऐसा बना देते हैं कि दाहिना अंग तो पुरुषका जैसा आधे। पुरुष जैसा एक पैर, पुरुष जैसा आधा पेट, व वक्षस्थल और आधे अंगमें एक टांग स्त्री जैसी, आधा पेट, वक्षस्थल आदि स्त्री जैसी। अर्धांगनी कहलाता है। पर भगवानकी परिणति भगवती अर्द्धांगमें नहीं रहती है किन्तु सर्वांगमें रहती है। जितने में भगवान है उन सब प्रदेशोंमें वह प्रज्ञा भगवती है।

सर्व दोष अपराध संकट जिस दृष्टि द्वारा दूर हो जाते हैं उस दोषनिवारणी दृष्टिका अध्ययन करें ३०५ वीं गाथाके इस प्रवचनांशमें, पृ० १०५-दोषनिवारिणी दृष्टि-इस प्रकरणमें बात चल रही है कि जो जीव अपने सहज शुद्ध चैतन्य स्वभावकी दृष्टि रखता है, चैतन्यमात्र मैं हूं और ऐसा ही जाननेमें उपयोगी रहता है वह तो है निरपराध आत्मा और जो अपने स्वरूपमें अपनेको न जानकर बाह्य परिणमनों रूप अपनेको

तक रहा है कि मैं पुरुष हूं, मैं स्त्री हूं, मैं अमुक जातिका हूं, अमुक कुलका हूं, अमुक पोजीशनका हूं आदिक रूपसे जो अपनेको देखता है वह अपराधी है। जो अपराधी होता है वह कर्मोंको बांधता है, जो निरपराध होता है वह कर्मोंसे नहीं बंधता। इस प्रकरणसे शिक्षा यह मिलती है कि धर्मके लिए, संतोषके लिए, संकटोंसे छूटनेके लिए अपना जो वास्तविक अपने अस्तित्वके कारण जैसा हूं उसी रूप अपनेको लखते रहें, इससे सर्व दोष दूर हो जायेंगे।

३०६ वीं गाथामें बताया है कि प्रतिक्रमण आदि विषकुम्भ है और ३०७ वीं गाथामें बताया है कि अप्रति-क्रमण आदि अमृतकुम्भ है, इनके प्रवचनोंमें यह प्रकाश डाला गया है कि अज्ञानी जनोंका अप्रतिक्रमण तो विषकुम्भ है ही, किन्तु द्रव्यप्रतिक्रमण भी शुद्धोपयोगके मुकाबलेमें देखो तो विषकुम्भ है, इन दोनों स्थितियोंसे उत्कृष्ट जो अप्रतिक्रमण है वह अमृतकुम्भ है। इस प्रकरणको सुगमतया समझनेके लिए एक प्रवचनांशमें इन तीनोंके नाम जैसे बताये हैं सो पढ़िये-पृ० १८७-

सुबोधके लिए नामान्तर-तीन दशायें होती हैं—अप्रतिक्रमण, प्रतिक्रमण और अप्रतिक्रमण। अच्छा यों न बोलो-यों कहो पहिला अप्रतिक्रमण, दूसरा व्यवहारप्रतिक्रमण और तीसरा निश्चयप्रति-क्रमण। यह भाषा मर्म समझनेमें शुद्ध रहेगी। ज्ञानी जनोंके वर्णनमें तो ज्ञानात्मक ढंगका वहीं वर्णन था अप्रतिक्रमण, प्रतिक्रमण और अप्रतिक्रमण। पर सुबोधके लिए इस प्रकार रखिये अप्रतिक्रमण, व्यवहारप्रतिक्रमण और निश्चयप्रतिक्रमण। अर्थ खुलासा बतायेंगे इसलिए इस अनुत्साहमें न बैठे कि क्या कहा जा रहा है, यह तो ऊंची चर्चा है। चित्त देनेसे सब समझमें आता है और चित्त न देनेसे दाल रोटी बनानेका तरकीब भी समझमें नहीं आती।

(१४१) समयसार प्रवचन त्रयोदश भाग

इस पुस्तकमें समयसार ग्रन्थकी ३०८ वीं गाथासे ३२७ वीं गाथा तक के पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराजके प्रवचन हैं। सर्वविशुद्ध ज्ञानाधिकारी आदि गाथाओंमें सर्वविशुद्धता व स्वतंत्रताका दर्शन कराया है। उन प्रवचनोंमें से एक यह प्रवचनांश पढ़िये-पृ० ३०-स्वतन्त्रता सत्तासिद्ध अधिकार-यहां सर्व-विशुद्ध भावको दिखाया जा रहा है और सबसे न्यारा केवल सत्त्वमात्र स्वरूपको दृष्टि की जा रही है। इस दृष्टिमें इस जीवमें केवल जीव ही जीव नजर आते हैं। ऐसा है वस्तुका स्वातंत्र्य सिद्धान्त। भारत की आजादीके लिए सबसे पहिला नारा था तिलकका, और भी हों तो हम नहीं जानते। तो प्रथम नारा यह हुआ कि आजादी हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है। जब हम भी मनुष्य हैं और अंग्रेजो, तुम भी मनुष्य हो और मनुष्योंका आजाद रहना उनका जन्मसिद्ध अधिकार है तो परिस्थितियां भले ही बन जाया करती हैं, पर मनुष्य क्या गुलाम रहनेके लिए पैदा होता है? उसे तो आजाद रहनेका जन्मसिद्ध अधिकार है। जैनसिद्धान्त इससे बढ़कर बतलाता है कि वस्तुकी आजादी होना सत्तासिद्ध अधिकार है। जन्मकी बात तो जाने दो, वह तो ४०-५० वर्ष पहिले हुआ, पर हमारा आपका आजाद रहना तो सत्तासिद्ध अधिकार है कि हम आप स्वतंत्र हों।

स्वतंत्र परिणमनका एक चित्रण, गाथा ३१३ का एक प्रवचनांश पढ़िये-पृ० ५८-स्वतंत्र परिणमन-भैया, जीव जो करेगा सो अपना कार्य करेगा। कर्मोंमें जो परिणमन होगा सो उसका अपना होगा, पर इन दोनोंमें परस्पर निमित्त नैमित्तिक भाव है। जैसे मोटे रूपमें अभीका दृष्टान्त लो—आपने पूजा वालों का राका तो वे और जोरसे बोलने लगे। और, पूजा वाले जोरसे बोलने लगे तो आपमें और रोष आने लगा। इस सम्बन्धमें आपका पूजकोंने कुछ नहीं किया, आप अपनेमें ही कल्पनायें बनाकर हाथ पैर

पीटकर बैठगये औरपूजकोंका आपने कुछनहीं किया, वे भी अपनी शान समझकर अपनी कल्पनासे अपने आप जोरसे चिल्लाने लगे। हम आप अपने परिणमनसे अपनी चेष्टा करने लगे, वे अपने परिणमनसे अपनी चेष्टा करने लगे। ऐसा ही सब जगह हो रहा है। घरमे भी ऐसा ही होता है। एक पदार्थ दूसरे पदार्थका कुछ भी परिणमन कर सकनेमें समथ नहीं है पर निमित्त नैमित्तिक भावका खण्डन भी नहीं किया जा सकता। न हो निमित्तनैमित्तिक भाव तो बतलावो यह सारा संसार कहांसे आ गया? कसे हो गया?

अज्ञानमें किसका आदर होता है और ज्ञानमें किसका आदर होता है-देखिये ३१५ वीं गाथाका एक प्रवचनांश-पृ० ६३-अज्ञान और ज्ञानमें आदरका विषय-भैया, अज्ञान दशामें विकल्पोंका आदर था चेतन अचेतन संगका आदर था, परन्तु ज्यों ही उसके निर्विकल्प अवस्थामें हितकी बुद्धि प्रकट हुई और निःशंक अत्यन्त एकाकी स्वरूपमें रहनेका भाव हुआ, अब वह अपने स्वरूपमें समानेकी धुनमें लग गया है तो जब तक यह जीव अज्ञानी रहता है तब तक तो यह कर्ता कर्मभाव समाप्त हो जाता है और जैसे कर्तापन जीवका स्वभाव नहीं था, पर अज्ञानसे कर्मका कर्ता बन गया, इसी तरह भोक्तापन भी जीवका स्वभाव नहीं था किन्तु अज्ञानसे यह कर्मफलका भोक्ता बन रहा है। अज्ञान न रहे तो यह स्वरस भोक्ता होकर अपने अनन्त आनन्दमें मग्न हो जायगा। बस, दो ही तो निर्णय हैं-एक ज्ञानका विलास और एक अज्ञानका विलास।

व्यवहारनयसे हम क्या शिक्षा प्राप्त कर सकते हैं, देखिये एक प्रवचनांश-पृ० ७३-व्यवहारनयसे शिक्षा-व्यवहारनयने यह बताया कि ये रागद्वेष भाव पुद्गलका निमित्त पाकर उठे हैं। इनसे हमें क्या शिक्षा लेनी है कि ये मेरे स्वभावसे नहीं उठे हैं। मेरा स्वभाव तो शुद्ध ज्ञानस्वरूप है। इस शुद्ध ज्ञानस्वरूपका आलम्बन करानेके लिए व्यवहारनयका उद्गमन हुआ है। कुनयके परिज्ञान तकसे हम किसी प्रकार कल्याणमार्ग पर जा सकते हैं और कुनयको यदि हम सुनय समझलें तो मेरी फिर दृष्टिमें कुनय है ही नहीं, फिर उस दृष्टिसे हितमार्गमें नहीं जा सकते हैं।

आनन्दविघातका कारण तो कषायका भार है, इस विषयका एक चित्रण ३१६ वीं गाथाके एक प्रवचनांशमें देखिये-पृ० ७६-आनन्दविघातका हेतु कषायका भार-जैसे तीन मेंढक हों और एक के ऊपर एक चढ़े हुए हों, चढ़ जाते हैं ना मेंढक एक के ऊपर एक? तो उन तीनों मेंढकोंमें सुखी कौन है? ऊपरका मेंढक, और वह कहता है कि-हेच न गम, मुझे कोई परवाह नहीं, अच्छे कोमल गद्दे पर बैठे हैं, तो बीचका बोलता है कुछ कुछ कम। पूरा आनन्द तो नहीं है मगर एक ऊपर चढ़ा हुआ है, मेरी इसलिए कुछ कुछ कम चैन है। है थोड़ी थोड़ी जरूर, पर नीचेका कहता है कि मरे तो हम। नीचे कंकड़ों पर पड़ा है, जमीन पर पड़ा है और ऊपरसे बोझ लदा है, सो ऐसी तीन तरह की परिस्थितियां होती हैं जो अशुद्ध को जाने ही नहीं क्या मतलव? दृष्टि ही नहीं देता है उसको-हेच न गम, और एक अशुद्धमें पड़ गया, परन्तु उससे हटा हुआ रहता है, वह कहता है कुछ कुछ कम। और, जो अज्ञानी बोझसे लदा हुआ है, परको अहं रूपसे अनुभवता है उसकी दशा है मरे तो हम जैसा।

ज्ञानकलाका प्रताप देखिये एक प्रवचनांशमें-पृ० ८५-मैं ज्ञानमात्र हूं, और कुछ हूं ही नहीं, बाहरी परिग्रह छिदजायें, भिदजायेंकहीं जीवविलयको प्राप्तहो, वह तो मेरा कुछही नहीं, उसका परिग्रहनहीं है, ऐसा निर्णय रखनेवाला जो ज्ञानी पुरुष अपनेको अपनेमें ले जाय तो सारे दुःख संकट ये उसके एक साथ समाप्त हो जाते हैं। उनमें यह क्रम भो नहीं होता कि पहिले अमुक दुःख मिटेगा। एक इस कलाका अभ्यासी अपनेको बनाना यही एक काम करना है। बाहरी बातोंको उदय पर छोड़िये क्योंकि जब

मानते हुए भी [illegible] अनुसार बाहरमें कुछ काम होता नहीं है तो उस कामके पीछे क्यों पड़ा जाय,
उसे छोड़ो इच्छानुसार जो काम स्वाधीन है, आत्महितके कामोंकी ओर दृष्टि दीजिये।

[illegible] कर्मोदय व रागादिक भावोंका कर्ता आत्मा नहीं है, ऐसा न मानकर जो आत्माको ही रागादिका [illegible] कर्ता मानते हैं वे उन्हीं अज्ञानियोंके समान हैं जो प्राणियोंका कर्ता ईश्वरको मानते हैं, इस विषयका दिग्दर्शन कीजिये ३२३ वीं गाथाके एक प्रवचनांशमें–पृ० ११२–कर्तृत्वव्यामोहकी समानता–भैया, लौकिक पुरुषोंने तो परमात्माको कर्ता माना है हम सबकी अवस्थाओंका। सो वह कर्ता है तो नित्य कर्ता कहलाया, और यहां श्रमणजनोंने भी अपने आत्माको नित्य कर्ता माना है। तो लौकिक पुरुषोंके व इन लोकोत्तर श्रमणोंके भी मोक्ष नहीं होता है। परद्रव्यमें और आत्मतत्त्वमें रंच मात्र भी सम्बन्ध नहीं है, पर मोहका नशा ऐसा जड़ा हुआ है जगतके जीवोंपर कि चित्तसे हटता ही नहीं है। मेरे भाई हैं, मेरा परिवार है, मेरा धन है, मेरा शरीर है और तो बातें जाने दो, मेरी बात है, मेरी बात नहीं मानी गयी, अब हो गये बीमार। दुःखी हो गये, कष्टमें आ गये, अरे तेरी तो कुछ बात भी नहीं है। तेरा तो निस्तरंग चैतन्यस्वरूप है। अहो कैसा नशा है बातका, मोहका। बातके पीछे लोग अपना घर भी बरबाद कर देते हैं।

देखिये व्यवहार भाषाका क्या प्रयोजन है और उसका व्यवहार किस प्रकार होता है पढ़िये–गाथा ३२४ का एक प्रवचनांश–व्यवहारभाषाके व्यवहार और उसके प्रयोजन–जैसे धर्मशालामें आप दो दिनको ठहर जायें और जिस कमरेमें ठहरें तो आप लोगोंसे कहते हैं कि चलो हमारे कमरेमें, चलो हमारी धर्मशाला में। लो, अब वह आपका कमरा हो गया। तो क्या ज्ञानमें यह बात है कि मेरा कमरा है? नहीं है। और, व्यवहारभाषामें यह बात बोल रहे हैं कि यह मेरा कमरा है। घी का डिब्बा। क्या आपके ज्ञानमें भी यह बात बसी है कि घी से रचा हुआ यह डिब्बा है? नहीं। आप जानते हैं कि यह टीनका डिब्बा है और इसमें घी रखा है। जिस लोटेसे आप टट्टी जाया करते हैं–आप बोलते हैं कि यह टट्टीका लोटा है, यह पीतलका लोटा है, यह चौकेका लोटा है। आपके ज्ञानमें क्या यह रहता है कि यह टट्टीका लोटा है? नहीं आप तो जानते हैं कि यह पीतलका लोटा है, इसको संडासमें ले जाया जाता है, इसलिए इसका नाम टट्टीका लोटा है। अब जल्दी जल्दीमें क्या बोलें? क्या यह बोलें कि देखो जिस लोटेके आधारमें पानीको लेकर संडासमें जाया जाता है वह लोटा दो। क्या कोई इतना बड़ा वाक्य बोलता है? नहीं। तो व्यवहारभाषा किसी मर्मको संक्षेप करनेके लिए होती है और निश्चयका ज्ञान उससे भी अति संक्षेपको लिए हुए होता है।

निश्चयतः राग अपनी परिणतिमें होता है बाहर नहीं, इस तथ्यका चित्रण देखिये–३२६ वीं गाथाके एक प्रवचनांशमें–पृ० १३३–बेटाकी त्रितयता–बेटे भी तीन हैं जिसके तीन बेटे हों उनको नहीं कह रहे हैं (हंसी)। शब्दबेटा, अर्थबेटा और ज्ञानबेटा। एक कागज पर लिख दे–बे और टा और आपसे कहें कि यह क्या है? आप कहेंगे बेटा। जैसे एक कागज पर लिख दिया कि हम मूरख हैं, पढ़े नहीं हैं और ७–८ क्लास वाले लड़कोंसे पढ़ावें कि पढ़ो इसे पढ़ना है– तो वह पढ़ता है कि हम मूरख हैं, पढ़े नहीं हैं। –अरे तो पढ़ तो। –हम मूरख हैं पढ़े नहीं हैं। अरे भाई पढ़ा तो वही जो लिखा है। तो शब्दबेटा तो आपके काममें नहीं आ सकता। बूढ़ हो जाय तो लाठी पकड़कर ले जाय, यह काम तो शब्दबेटा न कर सकेगा। प्यास लगी हो तो गिलास ले आये, पानी पिला दे, यह काम शब्दबेटा नहीं कर सकता और अर्थ-बेटा, मायने जिसके दो टांग हैं, जो घरमें रहता है या यहां बैठा है वह है अर्थ-बेटा। मायने पदार्थभूत। सो यह अर्थ-बेटा भी आपसे अत्यन्त जुदा है। उसके परिणमनसे आपमें कुछ नहीं होता

है। ज्ञानवेटा क्या ? उस वेटाके सम्बन्धमें जो आपका विकल्प बन रहा है वह विकल्प है ज्ञानवेटा। आप राग कर रहे हों तो ज्ञानवेटामें कर रहे हो, न अर्थ-वेटामें राग करते हो, न शब्दवेटामें राग करते हो।

(१४२) समयसार प्रवचन चतुर्दशतम भाग

इस पुस्तकमें समयसार ग्रन्थकी ३२८ वीं गाथासे ३७१ वीं गाथा तकके पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराजके प्रवचन हैं। सर्वविशुद्ध अधिकारमें यह बताया गया है कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्यमें कुछ भी गुणत्पाद नहीं करता, निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध होता अन्य बात है। इसका संकेत करनेवाला ३२८ वीं गाथाका एक प्रवचनांश देखिये-पृ० ४-प्रभाव, प्रभावक व निमित्तका विश्लेषण-भैया, इस प्रकार प्रत्येक उपादान विभावरूप बनाता है तो किसीपर द्रव्यका निमित्त पाकर ही बना पाता है। वह प्रभाव निमित्तभूत वस्तुका नहीं है किन्तु वह उपादानका ही है। इस कारण यह जीव अपने सम्यक्त्व परिणमनसे च्युत होकर जो मिथ्यात्वरूप परिणमन करता है उस मिथ्यात्व परिणमनमें प्रभाव उस ही परिणमने वालेका है। मिथ्यात्व नामक प्रकृतिके उदयका निमित्त पाकर वह प्रभाव बना है। अतः स्वरूपदृष्टिसे देखो तो आत्मा और कर्ममें सम्बन्ध नहीं है, फिर भी निमित्त नैमित्तिक भावका सम्बन्ध है, निमित्त नैमित्तिक अत्यन्ताभाव वाले पदार्थमें होता है। और, जहां एक द्रव्यमें भी एक गुणके परिणमनका निमित्त पाकर अन्य गुणमें परिणमन होता है, भेददृष्टिसे कथन होता है, जैसे कि आत्मामें इच्छा परिणमनका निमित्त पाकर आत्मामें योगपरिणमन होता है। वहां यद्यपि इन दोनों गुणोंका आधारभूत पदार्थ एक है तो भी उन गुणोंके स्वरूपका परस्परमें अभाव है।

वस्तुस्वरूपका परिचय स्याद्वाद द्वारा होता है। स्याद्वाद कितना ठोस विज्ञान है इसकी झांकी इस प्रवचनांशमें देखिये-पृ० १५-अपेक्षा और निश्चयसे धर्मकी प्रधानता- भैया, यह पहाड़ की कठिन चढ़ाई है। चढ़ाई करनेमें रेलमें २ इंजन लगते हैं, एक आगे और एक पीछे। यह दुर्गम है वस्तुस्वरूपका प्रवेश। दुर्गम है यह स्याद्वादका सिद्धान्त। गाड़ी यहां चढ़ाई जा रही है। इसमें दो इंजन लगा दिया-आगे स्यात् और पीछे एव। तब वह धर्मकी गाड़ी सम्हल रही है। अगर एक ही इंजन लगा दें तो गाड़ी लुढ़क जायगी। एव न लगानेसे संशय आ गया और स्यात् न लगानेसे एकान्त आ गया। यहीं घटाकर देख लो। एक बालक में जिसका नाम कुछ रखलो, मानो रमेश रख लिया है और रमेशके बापका नाम है अशोक। तो यह रमेश अशोकका लड़का ही है। हो लगावेंगे ना कि भी लगावेंगे, कि यह अशोकका लड़का भी है ? यह कितना अशोभनीय होगा। और, अपेक्षा लगाते जावो तो चाहे बहुत सा बातें कहते जाओ, यह बालक अमुकका भांजा ही है, अमुकका भतीजा ही है। अपेक्षा लगाकर ही लगाना चाहिए, तब स्याद्वादका रूपक बनता है।

आत्मा कर्ता कब है व अकर्ता कब है, इसका विश्लेषण देखिये ३४४वीं गाथाके एक प्रवचनांशमें-पृ० ५८-कर्तृत्व और अकर्तृत्वका स्पष्ट विश्लेषण यहां तक स्पष्ट शब्दोंमें यह बता चुके हैं कि भेदविज्ञान होने से पहिले इस जीवको तुम कर्ता समझो। यहां परके कर्तापनके विकल्प की बात कही जा रही है। पर का कर्ता तो कोई हो ही नहीं सकता। चाहे कैसा ही अज्ञानी हो। यदि अज्ञानी जीव परका कर्ता बन जाय तो उसमें भगवानसे भी अधिक सामर्थ्य आ गयी। भगवान किसी परको नहीं कर सकता, ताकत ही नहीं। और, इसके मंतव्यमें इस अज्ञानीमें इतनी ताकत आ गयी कि वह परको करने लगा। अपने आत्मामें जो रागादिक भाव परिणमन होता है उसका और अपने स्वरूपका जिसे भेदी ज्ञान नहीं है ऐसा

अज्ञानी जीव अपने ज्ञानस्वरूपके आलम्बनको छोड़कर यह मानता है कि मैं रागादिकका कर्ता हूं और वह रागादिकका कर्ता है, किन्तु ज्योंही इस जीवको भेदविज्ञान होता है मेरा तो मात्र ज्ञायकस्वरूप है, ये रागादिकपरिणमन हो तो रहे हैं-पर औपाधिक हैं, यों ही, इस ज्ञानके होते ही जीव उनका अकर्ता हो जाता है, फिर भी कुछ काल तक ये होते हैं।

अपरिणामिवाद क्षणिकवाद आदि सिद्धान्तोंके विवेचनके प्रसंगमें ३४७ वीं गाथाके एक प्रवचनांश में बताया है कि जितने भी दर्शन सरितायें हैं वे स्याद्वादसिन्धुसे निसृत हुई है, भले ही एकान्तवादमें रुक जानेसे उनका जल अनुपयोगी हो गया है, इसका दिग्दर्शन कीजिये-पृ० ६२-स्याद्वादसिन्धुसे सिद्धान्तसरिताओंका सरण-स्याद्वाद की कुंजी बिना सिद्धान्तोंका जाल इतना गहन है कि सीधी सामनेकी बात तो न मानी जाय और टेढ़ी मेढ़ी जिसको सिद्ध करनेमें जोर भी पड़ता है बातें भी ढूढ़नी पड़ती हैं. ऐसी बात माननेमें अपनी बुद्धि-मानी समझी जाती है। ठीक है। कौमत तो तब बढ़ेगी कि जैसा सीधा जानते हैं वैसा न कहकर कोई विचित्र बात बतायी जाय तभी तो बुद्धिमान बन पावोगे। तो ऐसा वाग्जाल एकान्त सिद्धान्तका हुआ है। अथवा वाग्जाल नहीं है। ये सब सिद्धान्त स्याद्वाद सिन्धुसे निकले हैं। कौनसा सिद्धान्त ऐसा है जो वस्तुमें सिद्ध न होता हो ? किन्तु दृष्टि और अपेक्षा लगानेको सावधानी होनी चाहिए।

एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कुछ नहीं करता, इस विषयका एक सुगम दृष्टान्त द्वारा ३४९ वीं गाथाके एक प्रवचनांशमें स्पष्टीकरण देखिये पृ० ७३-परके सम्बन्ध पर एक दृष्टान्त-इस प्रकरणमें एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ भी नहीं करता, यह सिद्ध करनेके लिए एक दृष्टान्त दिया जा रहा है। जैसे सोनेका आभूषण बनानेवाला सुनार जबकि कुछ गहना बना रहा हो, उस समय बतलावो वह सुनार क्या करता है ? क्या सोनेको हलका बड़ा करता है ? नहीं। वह तो केवल अपनी चेष्टा कर रहा है। हाथ उठाया, नीचे किया, अगल किया, बगल किया देखते जावो, वह अपने शरीरकी मात्र चेष्टा करता है, वह स्वर्णमें तन्मय नहीं हो जाता। तो जैसे स्वर्णकार केवल अपना काम करता है, दूसरे पदार्थका कुछ नहीं करता। तो स्वर्णकार जैसे सोनेमें तन्मय नहीं हो जाता, इसी प्रकार यह जीव कर्ममें तन्मय नहीं हो जाता।

तन्मयता तो परिणाम परिणामीमें होती है, निमित्त उपादानमें नहीं। अतएव निश्चयतः आत्मा अपने ही परिणामको करता व भोगता है, इस विषयका सरल संक्षिप्त शब्दोंमें स्पष्टीकरण गाथा ३५४ के एक प्रवचनांशमें देखिये-पृ० ८१-परिणाम परिणामीमें तन्मयता-भैया, परिणामपरिणामीभावकी अपेक्षासे देखा जाय तो जीव परिणामी अपने परिणाममें तन्मय होता है। सो वहां उस स्वर्णकारने अपनेको ही किया, अपने को ही भोगा। वह सुनार ही कर्ता है, सुनार ही कर्म है, सुनार ही भोक्ता है, सुनार ही भोग्य है। इस प्रकार यह आत्मा जो कुछ करने की इच्छा करता है इसने अपनी चेष्टाके अनुकूल अपने परिणामोंरूप कर्मको किया और उस कालमें दुःखरूप जो अपने आत्माका परिणाम है उस फलको भोगा। चूंकि वह आत्मा और आत्माका वह परिणमन एक द्रव्य है, उसमें ही वह अभिन्न है; उसमें ही उस कालमें तन्मय है। सो परिणाम परिणामी भाव चूंकि एकमें होते हैं तो इस आत्मामें ही आत्माका कर्म हुआ और आत्मामें ही आत्माका भोग हुआ। बाहर आत्माने कुछ कर्म नहीं किया और न भोगा। ऐसा निश्चयनय से प्रमाण करते हैं।

ज्ञाता ज्ञाता है, ज्ञेय ज्ञेय है, ज्ञाता ज्ञेयका कोई स्वामित्वसम्बन्ध नहीं, इस विषयका दिग्दर्शन कीजिये ३५५ वीं गाथाके एक प्रवचनांशमें-पृ० ९०-ज्ञायकका स्वामित्व-तो फिर भैया, यह ज्ञायक किसका ज्ञायक है ? देखो अभी यहां ज्ञायक सुनकर जाननेवाला यह अर्थ नहीं करना, किन्तु ज्ञायक मायने चैतन्य

स्वभावी आत्मद्रव्य। क्या यह ज्ञेयका ज्ञायक है? नहीं। तब फिर ज्ञायक किसका है? यह ज्ञायक ज्ञायकका ज्ञायक है। वह दूसरा ज्ञायक कौन? जो ज्ञायक है वह दूसरा ज्ञायक कौन? जिसका यह ज्ञायक है। वह कोई भिन्न चीज नहीं है, एक ही है। तो फिर ऐसा कहनेका प्रयोजन क्या है? भाई प्रयोजन तो कुछ नहीं है, किन्तु जिसकी बुद्धि स्वस्वामी सम्बन्धमें लगी हुई है उनको समझानेके लिए इस तरह कहा जा रहा है। अर्थ तो यह है कि ज्ञायक ज्ञायक ही है। यह घर किसका है? तो कोई कह उठेगा कि यह घर हमारा है। तो जो जिसका होता है वह उसमें तन्मय होता है। तो घर रह गया, तुम्हारा विनाश हो गया, पर है तो नहीं विनाश, इस कारण तुम्हारा घर नहीं है। तो तुम्हारा कौन है? तुम्हारे तुम ही हो। वह तुम कौन? जिसके स्वामी हो और वह कौन तुम जो स्वामी हो। कोई अलग दो तुम तो नहीं हो, फिर ऐसा बतानेका प्रयोजन क्या? प्रयोजन कुछ नहीं। प्रयोजन माना है कि जिसकी यह भ्रमबुद्धि लगी है कि यह घर मेरा है। उसका समझानेके लिए इतना बोलना पड़ा है कि तुम तो तुम ही हो और घर घर ही है। बाह्य वस्तु सुधार बिगाड़ करना कुछ नहीं पड़ा, वहां कुछ भी उद्यम करना व्यर्थ है। आत्म हितके लिए अपने आपमें अपनी प्रज्ञाका प्रयोग करो, इससे सम्बन्धित ३६७ वीं गाथाका एक प्रवचनांश देखिये—पृ० १६१—परमें व्यर्थका उद्यम विकल्प—ज्ञान, दर्शन और चारित्र अचेतन विषयोंमें नहीं है। यह बतानेका प्रयोजन यह है कि हे मुमुक्षु जीव, तू द्रव्योंमें कुछ विनाश करने की मत सोच। पर द्रव्योंमें दर्शन, ज्ञान, चारित्रके विकार नहीं हुआ करते हैं। जीवोंको भ्रांति इन तीनों जगह है अपने सुधार और बिगाड़में—विषयमें, कर्ममें और देहमें। सो इनमें संहार उद्धारका विकल्प करके यह मोही अपना संहार कर रहा है। निर्मल शान्त होनेके लिए अपनेमें ही अपनी प्रज्ञाका अपने पर प्रयोग करो।

(१४३) समयसार प्रवचन पन्द्रहवां भाग

इस पुस्तकमें समयसारकी ३७२ वीं गाथासे अन्तिम गाथा ४१६ वीं गाथा तकके पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराजके प्रवचन हैं ३७२ वीं गाथामें यह प्रकट किया गया है कि अन्य द्रव्योंके द्वारा अन्य द्रव्यमें गुणोत्पाद नहीं किया जा सकता। सिद्धान्त तो यह है, किन्तु एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कुछ करता है ऐसा भ्रम हो क्यों गया? इसका दिग्दर्शन कीजिये एक प्रवचनांशमें—पृ० १-सिद्धान्त और भ्रमका कारण—अन्य द्रव्यके द्वारा अन्य द्रव्यके गुणका न तो उत्पाद किया जाता है और न विघात किया जाता है, क्योंकि समस्त द्रव्य अपने अपने भावसे ही उत्पन्न होते हैं। लोगोंको भ्रम इस कारण हो जाता है कि एक द्रव्य विभाव परिणमनमें परद्रव्य निमित्तभूत है, सो हुआ तो वह बहिरंग निमित्तभूत, क्योंकि अन्य द्रव्यके द्वारा उपादानरूप अन्य द्रव्यका गुण नहीं उत्पन्न किया जाता है और न मेटा जाता, किन्तु इतने मात्र सम्बन्ध से आगे बढ़कर कर्तृत्वका भ्रम कर लिया जाता है। जैसे घड़के बनानेमें कुम्हार बहिरंग कारण है, तो बहिरंग कारण कुम्हारके द्वारा व उन चकादिकके द्वारा मिट्टीमें कोई गुण पैदा नहीं किया जाता है। मिट्टीका स्वरूप, मिट्टीका गुण, किसी अन्य द्रव्यके द्वारा नहीं डाला जाता है। ये बहिरंग निमित्तभूत हैं अर्थात् कुम्हार अपने गुण मिट्टीमें डालकर मिट्टी रूप बन जाय, ऐसा तो नहीं है, फिर मात्र निमित्त सम्बन्धसे आगे बढ़कर लोग कर्तृत्वका भ्रम कर डालते हैं।

मोही की परवस्तुओंसे बेमेल सगाईका चित्रण देखिये—गाथा नं० ३७५ का एक प्रवचनांश—पृ० १६—बेमेल सगाई—ये शब्द हमें प्रेरणा नहीं करते कि तुम क्यों खाली बैठे हो, और यह आत्माभी उन शब्दों का सुननेके लिए नहीं जाता, किन्तु आत्माके साथ ज्ञान ज्ञेयका सम्बन्ध है, फिर क्यों यह जीव अज्ञानी बनकर उन शब्दोंके खातिर रोष व ताप करता है। देखो यह अध्यात्मका चरणानुयोग ही भरा हुआ

है। क्यों उन विषयोंमें अपना घात करते हो ? इस विषयको बहुत लम्बे समयसे बताया जा रहा है कि तुम्हारा कोई सम्बन्ध ही जब इन विषयोंसे नहीं है तो क्यों उनसे सगाई करते हो। सगाई मायने स्व-कीयता, स्व मान लेना। सगाई स्वशब्दसे बनी है, अपना मान लिया। अभी शादी नहीं हुई। सगाईका अर्थ है परवस्तुको अपनी मान लेना और शादीका अर्थ है खुश होना। शादी शब्द विषादसे निकाल लो तो शादी मायने दुःख, विषाद मायने दुःख। शादीका नाम विषाद है। तो यह मोही जीव सभी वस्तुओं के साथ सगाई भी किये है और शादी भी किये है अर्थात् इन्हें अपना भी मानता है और दुःखी भी होता जाता है।

विषयका और आत्माका कोई नाता नहीं, फिर भी अज्ञानसे विषयोंमें यह जीव प्रवृत्ति करता है वह सब अज्ञान है इसको ३७८ वीं गाथाके एक प्रवचनांशमें गंधविषयका उदाहरण है इसी प्रकार रूप, रस, स्पर्श, शब्दमें लगाना। उद्धरण-पृ० २२-अज्ञानज विकार-यह गंधविषय न तो आत्माको प्रेरित करता है कि मुझे सूंघो, बेकार क्यों बैठे हो ? और न यह आत्मा अपने स्वरूपसे चिगकर उन गंधोंको ग्रहण करनेके लिए डोलता फिरता है, किन्तु विषयविषयीका सम्बन्ध है, इसका ज्ञानमें गंधविषय आता है, पर इतने मात्र से इस आत्मामें विकाररूप परिणति नहीं हो जाती। यह तो अपने आपके परिणमनकी कला है। फिर भी यह जीव उन सब शुभ अशुभ गंधोंको सूंघकर अपनेमें इष्ट अनिष्ट भाव लगाता है, रागद्वेष करता है, यह सब अज्ञानका प्रसाद है। ज्ञानी जीव तो अपने आपके सहज स्वरूपकी प्रतीतिके बलसे अपने स्वरूपके दर्शनमें उत्सुक रहता है।

घटादि पदार्थोंकी तरह ज्ञेय गुण भी ज्ञानपर जबरदस्ती नहीं करता कि तुम मुझे जानो ही, न ज्ञान अपने प्रदेशसे हटकर उन्हें जानने जाता, किन्तु स्वभाव है, ज्ञान अपने स्वरूपसे प्रकाशित होता है, फिर ज्ञानकी चर्चा की घटनामें जो कलह हो पड़ते हैं वह व्यामोहकी महिमा है, इसका चित्रण देखिये ३८१ वीं गाथाके इस प्रवचनांशमें-पृ० ३०-धर्मचर्चामें भी झगड़ा हो जानेका कारण-कोई द्रव्यानुयोग जैसे ज्ञान और वैराग्यके विषयवाला चर्चा की जा रही हो। उस प्रसंगमें गुणोंके स्वरूपकी पद्धतिसे किसी समय कोई मतभेद हो जाय तो गुणोंकी चर्चा करते करते कषाय जग जाती है, कलह हो जाती है. वह अज्ञानका परिणाम है। गुणोंके सम्बन्धमें जो जानकारी बतायी जा रहा है उन विकल्पमें इस मोहीको आत्मीयबुद्धि हो गयी है, अब मेरा यदि यह मत स्थिर नहीं रह सकता है तो हमारा ही नाश हो जायेगा. ऐसे अपने विकल्पोंमें आत्मसर्वस्वका जोड़ किया है, यही तो राग और द्वेषका उत्पादक हुआ। रागद्वेष वृक्षकी शाखा की तरह हैं और मोह जड़की तरह है। विभाववृक्षकी शाखायें ये कषाय हैं और विभाववृक्षको जड़ मोह है। जैसे जड़ पानी मिट्टी आदिका आहार लेकर शाखाओंको पल्लवित बनाये रहती हैं, उन्हें मुरझाने नहीं देता इसी प्रकार ये विभाव मोह भावके द्वारा परवस्तुओंको अपनाकर इन रागद्वेषको पल्लवित बनाये रहते हैं, रागद्वेषको सूखने नहीं देते हैं। तो सब ऐबों की जड़ तो मूलमें मोहभाव है।

पापोंके दूर करनेका उपाय प्रतिक्रमण व प्रायश्चित है। वास्तविक प्रतिक्रमण क्या है जिससे पाप अवश्य ही दूर हो जाते हैं, इसकी झांकी पाइये ३८३ वीं गाथाके इस प्रवचनांशमें-पृ० ६१-साक्षात् प्रतिक्रमणमयता-अपराध बहुत किया है। अपने आपके स्वभावदृष्टिसे अलग रहनेका नाम अपराध है। यह अपराध अनादिसे किया जा रहा है। इस अपराधसे दूर होनेकी स्थिति यह है कि संकल्प विकल्प रहित शुद्धज्ञान दर्शन स्वाभावात्मक तत्त्वके सम्यक् श्रद्धान ज्ञान और अनुभवनरूप जो अभेद रत्नत्रयरूप धर्म है उस धर्ममें अपने उपयोगको स्थित करना, सो जब ऐसा ज्ञान रस करि भरपूर समतारस करि परिपूर्ण कारणसमयसारमें स्थित होकर जो पुरुष पूर्वकृत कर्मों से अपने आत्माको निवृत्त कर लेता है वह पुरुष

साक्षात् प्रतिक्रमणरूप है।

कर्मफल चेतनाकी विपदासे दूर होनेके भगवतीसे अभ्यर्थना की पद्धति अपनाइये, इस भावका दिग्दर्शन करें गाथा ३८९ के इस प्रवचनांशमें—पृ० ७४—कर्मफलचेतनाके सन्यासके लिए भगवती ज्ञानचेतनासे अभ्यर्थनाथ में अन्य पदार्थोंको भोगता हूं, इस प्रकार की चेतना संसारका वीज है, दुःखका कारण है, ऐसा जानकर जो संकटोंसे छूटनेका अभिलाषी हो उस पुरुषको इस अज्ञानचेतनाका प्रलय करनेके लिए जैसे कर्म—चेतनाके सन्यासका भाव किया था इसी प्रकार सकलकर्मफलके भी सन्यासकी भावना करे और स्वभाव भूत भगवती ज्ञानचेतनाका आराधन करें। भगवान अर्जी न सुनें तो इस भगवतीसे अर्जी करो। लोकमें कुछ ऐसी चलन है कि जो वात गुरू जी से कहकर सिद्धिमें न आती हो तो गुरुवानीसे कह देता है वालक। तो भगवानने तुम्हारी न सुनी हो तो इस भगवतीसे अपनो अर्जी करो। कौन सी भगवती? वह ज्ञानचेतनारूप भगवती। जैसे गुरुवानोके जोरसे गुरु भो मान जायेगा ऐसे ही इस ज्ञानचेतनाके ओर से यह भगवान भी मान जायेगा, मैं ज्ञायकस्वरूप हूं, ज्ञानको ही करता हूं, ज्ञानको ही भोगता हूं, इस प्रकार का अनुभवन करना, सो ही भगवती ज्ञानचेतनाकी आराधना है।

३९१ वीं गाथासे ४०२ गाथा तक शब्द, रूप, कर्म, आकाश, अध्यवसान आदिसे भिन्न ज्ञान को वताया है। उन सवके प्रवचनोंके अनन्तर ४०४ नं० की गाथाके प्रवचनोंमें एक स्थलपर—अनादिकी भूल और अचानक भक्काटा का दिग्दर्शन कीजिये—पृ० १२३—अनादिकी भूल और अचानक भक्काटा—भैया, इस जीवपर मिथ्यात्वका विकट भार अनादिकालसे चला आ रहा है। अपने आपकी कुछ सुध भी नहीं रही। किस किसे वाह्य पदार्थको यह अपनाता रहा, आज भी बता नहीं सकता। अनन्त शरीर पाये और अनन्त भवोंमें परिजन, वच्चे मित्र, अचेतन आदि समागम सर्वकुछ मिला, इस ३४३ घनराजू प्रमाणलोकमें प्रत्येक प्रदेशपर यह जन्मता रहा, मरता रहा, अनेक कर्मोंके बीच पड़ा पड़ा यह परकी ओर दृष्टि बना कर अपनेको भूला रहा। कितना मिथ्यात्वका इस पर बोझ था? जहां ही ज्ञानानन्दरस मात्र अमूर्त भावस्वरूप एक निज तत्त्वका श्रद्धान हुआ कि अब झक्काटा हुआ, वह सब अन्धेरा विलीन हो गया, एकदम स्पष्ट दोखने लगा कि सर्व परपदार्थ मुझसे अत्यन्त भिन्न हैं। किसी भी परपदार्थका मुझसे रंचमात्र सम्बन्ध नहीं है, सब जुदे हैं। जहां यह प्रकाश हुआ कि मोह समाप्त हुआ। मोह जहां नहीं रहा जो ज्ञानका परिणमन है उसका ही नाम है सम्यग्दर्शन।

आत्मानुभव ही एक मात्र श्रेष्ठ कार्य है, वह प्राप्त होगा आत्मसेवासे, इससे सम्वन्धित ४१२ वीं गाथाका यह प्रवचनांश पढ़िये—पृ० १५३ आत्मसेवामें ही आत्मानुभव—विशुद्ध ज्ञानदर्शनस्वभावी आत्मतत्त्वका श्रद्धान, ज्ञान और आचरण होना ही मोक्षका मार्ग है, यह वात पूर्णतया नियत है। मुक्तिका उपाय अन्य कुछ नहीं है। जो पुरुष उस ही मोक्षमार्गमें स्थिति करता है उसका ही सदैव ध्यान करता है उसको ही चेतता है और इस ही आत्मविलासमें विहार करता है, ऐसे परम अनुरागके साथ किसो भी द्रव्यान्तर को, किसी भी भावान्तरको न छूता हुआ अपनेमें रमाता है, वह नियमसे अपने आत्माका जो निज सहजस्वरूप है उसका अनुभवन कर लेता है।

मुक्तिसाधक परमार्थभूत लिंग क्या है? इसका मनन कीजिये ४१४ वीं गाथाके इस प्रवचनांशमें—पृ० १६०—मुक्तिसाधक परमार्थभूत लिंग—भैया, तव फिर परमार्थरूप लिंग क्या है, मोक्षमार्ग क्या है? श्रमण और श्रमणोपासक इन दोनों प्रकारके विकल्पोंसे परे दर्शन, ज्ञान, आचरणमात्र शुद्ध ज्ञानस्वरूप यह एक है ऐसा वेलाग सचेतन करना सो परमार्थ है। अपने आपके अंतस्तत्त्वको वेलाग और वेदाग अनुभवन करना सो ही मोक्षका मार्ग है वेलाग तो यों कि इसमें शरीरके लगावका कुछ भी ध्यान न हो

है। क्यों उन विषयोंमें अपना घात करते हो ? इस विषयको बहुत लम्बे समयसे बताया जा रहा है कि तुम्हारा कोई सम्बन्ध ही जब इन विषयोंसे नहीं है तो क्यों उनसे सगाई करते हो। सगाई मायने स्व-कीयता, स्व मान लेना। सगाई स्वशब्दसे बनी है, अपना मान लिया। अभी शादी नहीं हुई। सगाईका अर्थ है परवस्तुको अपनी मान लेना और शादीका अर्थ है खुश होना। शादी शब्द विषादसे निकाल लो तो शादी मायने दुःख, विषाद मायने दुःख। शादीका नाम विषाद है। तो यह मोही जीव सभी वस्तुओं के साथ सगाई भी किये है और शादी भी किये है अर्थात् इन्हें अपना भी मानता है और दुःखी भी होता जाता है।

विषयोंका और आत्माका कोई नाता नहीं, फिर भी अज्ञानसे विषयोंमें यह जीव प्रवृत्ति करता है वह सब अज्ञान है इसको ३७८ वीं गाथाके एक प्रवचनांशमें गंधविषयका उदाहरण है इसी प्रकार रूप, रस, स्पर्श, शब्दमें लगाना। उद्धरण—पृ० २२—अज्ञानज विकार—यह गंधविषय न तो आत्माको प्रेरित करता है कि मुझे सूंघो, बेकार क्यों बैठे हो ? और न यह आत्मा अपने स्वरूपसे बिगकर उन गंधोंको ग्रहण करनेके लिए डोलता फिरता है, किन्तु विषयविषयीका सम्बन्ध है, इसका ज्ञानमें गंधविषय आता है, पर इतने मात्र से इस आत्मामें विकाररूप परिणति नहीं हो जाती। यह तो अपने आपके परिणमनकी कला है। फिर भी यह जीव उन सब शुभ अशुभ गंधोंको सूंघकर अपनेमें इष्ट अनिष्ट भाव लगाता है, रागद्वेष करता है, यह सब अज्ञानका प्रसाद है। ज्ञानी जीव तो अपने आपके सहज स्वरूपकी प्रतीतिके बलसे अपने स्वरूपके दर्शनमें उत्सुक रहता है।

घटादि पदार्थोंकी तरह ज्ञेय गुण भी ज्ञानपर जबरदस्ती नहीं करता कि तुम मुझे जानो ही, न ज्ञान अपने प्रदेशसे हटकर उन्हें जानने जाता, किन्तु स्वभाव है, ज्ञान अपने स्वरूपसे प्रकाशित होता है, फिर ज्ञानकी चर्चा की घटनामें जो कलह हो पड़ते हैं वह व्यामोहकी महिमा है, इसका चित्रण देखिये ३८१ वीं गाथाके इस प्रवचनांशमें—पृ० ३०—धर्मचर्चामें भी झगड़ा हो जानेका कारण—कोई द्रव्यानुयोग जैसे ज्ञान और वैराग्यके विषयवाला चर्चा की जा रही हो। उस प्रसंगमें गुणोंके स्वरूपको पद्धतिसे किसी समय कोई मतभेद हो जाय तो गुणोंकी चर्चा करते करते कषाय जग जाती है, कलह हो जाती है, वह अज्ञानका परिणाम है। गुणोंके सम्बन्धमें जो जानकारी बतायी जा रही है उन विकल्पमें इस मोहीको आत्मीयबुद्धि हो गयी है, अब मेरा यदि यह मत स्थिर नहीं रह सकता है तो हमारा ही नाश हो जायेगा. ऐसे अपने विकल्पोंमें आत्मसर्वस्वका जोड़ किया है, यही तो राग और द्वेषका उत्पादक हुआ। रागद्वेष वृक्षकी शाखा की तरह हैं और मोह जड़की तरह है। विभाववृक्षकी शाखायें ये कषाय हैं और विभाववृक्षको जड़ मोह है। जैसे जड़ पानी मिट्टी आदिका आहार लेकर शाखाओंको पल्लवित बनाये रहती हैं, उन्हें मुरझाने नहीं देता इसी प्रकार ये विभाव मोह भावके द्वारा परवस्तुओंको अपनाकर इन रागद्वेषको पल्लवित बनाये रहते हैं, रागद्वेषको सूखने नहीं देते हैं। तो सब ऐबों की जड़ तो भूलमें मोहभाव है।

पापोंके दूर करनेका उपाय प्रतिक्रमण व प्रायश्चित है। वास्तविक प्रतिक्रमण क्या है जिससे पाप अवश्य ही दूर हो जाते हैं, इसकी झांकी पाइये ३८३ वीं गाथाके इस प्रवचनांशमें—पृ० ४१—साक्षात् प्रतिक्रमणमयता—अपराध बहुत किया है। अपने आपके स्वभावदृष्टिसे अलग रहनेका नाम अपराध है। यह अपराध अनादिसे किया जा रहा है। इस अपराधसे दूर होनेकी स्थिति यह है कि संकल्प विकल्प रहित शुद्धज्ञान दर्शन स्वाभावात्मक तत्त्वके सम्यक् श्रद्धान ज्ञान और अनुभवनरूप जो अभेद रत्नत्रयरूप धर्म है उस धर्ममें अपने उपयोगको स्थित करना, सो जब ऐसा ज्ञान रस करि भरपूर समतारस करि परिपूर्ण कारणसमयसारमें स्थित होकर जो पुरुष पूर्वकृत कर्मोंसे अपने आत्माको निवृत्त कर लेता है वह पुरुष

साक्षात् प्रतिक्रमणरूप है।

कर्मफल चेतनाकी विपदासे दूर होनेके भगवतीसे अभ्यर्थना की पद्धति अपनाइये, इस भावका दिग्दर्शन करें गाथा ३८६ के इस प्रवचनांशमें–पृ० ७८–कर्मफलचेतनाके सन्यासके लिए भगवती ज्ञानचेतनासे अभ्यर्थनाथ मैं अन्य पदार्थोंको भोगता हूं, इस प्रकार की चेतना संसारका बीज है, दुःखका कारण है, ऐसा जानकर जो संकटोंसे छूटनेका अभिलाषी हो उस पुरुषको इस अज्ञानचेतनाका प्रलय करनेके लिए जैसे कर्म–चेतनाके सन्यासका भाव किया था इसी प्रकार सकलकर्मफलके भी सन्यासकी भावना करे और स्वभाव भूत भगवती ज्ञानचेतनाका आराधन करें। भगवान अर्जी न सुनें तो इस भगवतीसे अर्जी करो। लोकमें कुछ ऐसी चलन है कि जो बात गुरु जी से कहकर सिद्धिमें न आती हो तो गुरुवानीसे कह देता है बालक। तो भगवानने तुम्हारी न सुनी हो तो इस भगवतीसे अपनी अर्जी करो। कौन सी भगवती? वह ज्ञानचेतनारूप भगवती। जैसे गुरुवानीके जोरसे गुरु भी मान जायेगा ऐसे ही इस ज्ञानचेतनाके ओर से यह भगवान भी मान जायेगा, मैं ज्ञायकस्वरूप हूं, ज्ञानको ही करता हूं, ज्ञानको ही भोगता हूं, इस प्रकार का अनुभवन करना, सो ही भगवती ज्ञानचेतनाकी आराधना है।

३९१ वीं गाथासे ४०२ गाथा तक शब्द, रूप, कर्म, आकाश, अध्यवसान आदिसे भिन्न ज्ञान को बताया है। उन सबके प्रवचनोंके अनन्तर ४०४ नं० की गाथाके प्रवचनोंमें एक स्थलपर–अनादिकी भूल और अचानक भक्काटा का दिग्दर्शन कीजिये–पृ० १२३–अनादिकी भूल और अचानक भक्काटा–भैया, इस जीवपर मिथ्यात्वका विकट भार अनादिकालसे चला आ रहा है। अपने आपकी कुछ सुध भी नहीं रही। किस किस बाह्य पदार्थको यह अपनाता रहा, आज भी बता नहीं सकता। अनन्त शरीर पाये और अनन्त भवोंमें परिजन, बच्चे मित्र, अचेतन आदि समागम सर्वकुछ मिला, इस ३४३ घनराजू प्रमाणलोकमें प्रत्येक प्रदेशपर यह जन्मता रहा, मरता रहा, अनेक कर्मोंके बीच पड़ा पड़ा यह परकी ओर दृष्टि बना कर अपनेको भूला रहा। कितना मिथ्यात्वका इस पर बोझ था? जहां ही ज्ञानानन्दरस मात्र अमूर्त भावस्वरूप एक निज तत्त्वका श्रद्धान हुआ कि अब भक्काटा हुआ, वह सब अन्धेरा विलीन हो गया, एकदम स्पष्ट दीखने लगा कि सर्व परपदार्थ मुझसे अत्यन्त भिन्न है। किसी भी परपदार्थका मुझसे रंचमात्र सम्बन्ध नहीं है, सब जुदे हैं। जहां यह प्रकाश हुआ कि मोह समाप्त हुआ। मोह जहां नहीं रहा जो ज्ञानका परिणमन है उसका ही नाम है सम्यग्दर्शन।

आत्मानुभव ही एक मात्र श्रेष्ठ कार्य है, वह प्राप्त होगा आत्मसेवासे, इससे सम्बन्धित ४१२ वीं गाथाका यह प्रवचनांश पढ़िये–पृ० १५३ आत्मसेवामें ही आत्मानुभव–विशुद्ध ज्ञानदर्शनस्वभावी आत्मतत्त्वका श्रद्धान, ज्ञान और आचरण होना ही मोक्षका मार्ग है, यह बात पूर्णतया नियत है। मुक्तिका उपाय अन्य कुछ नहीं है। जो पुरुष उस ही मोक्षमार्गमें स्थिति करता है उसका ही सदैव ध्यान करता है उसको ही चेतता है और इस ही आत्मविलासमें विहार करता है, ऐसे परम अनुरागके साथ किसी भी द्रव्यान्तर को, किसी भी भावान्तरको न छूता हुआ अपनेमें रमाता है, वह नियमसे अपने आत्माका जो निज सहजस्वरूप है उसका अनुभवन कर लेता है।

मुक्तिसाधक परमार्थभूत लिंग क्या है? इसका मनन कीजिये ४१४ वीं गाथाके इस प्रवचनांशमें–पृ० १६०–मुक्तिसाधक परमार्थभूत लिंग–भैया, तब फिर परमार्थभूत लिंग क्या है, मोक्षमार्ग क्या है? श्रमण और श्रमणोपासक इन दोनों प्रकारके विकल्पोंसे परे दर्शन, ज्ञान, आचरणमात्र शुद्ध ज्ञानस्वरूप यह एक है ऐसा चेतना सचेतन करना सो परमार्थ है। अपने आपके अंतस्तत्त्वको चेतना और चेतना अनुभवन करना सो ही मोक्षका मार्ग है चेतना तो यों कि इसमें शरीरके लगावका कुछ भी ध्यान न हो

और बेदाग यों कि रागद्वेषादिक जो अन्तर्मल हैं उन दागोंका अभाव हो ऐसे ज्ञानमात्र तत्त्वका निष्तुप संचेतन करना सो ही परमार्थ है। जैसे कोई चतुर व्यापारी धानके भीतर ही यद्यपि चावल अवस्थित है किन्तु अपने ज्ञानबलसे उस चावलको वह निष्तुष संचेतन करता है। छिलके से ढका हुआ होकर भी छिलका से रंच सम्बन्ध नहीं है, इस प्रकार से चावलको अन्तरमें निरख लेता है। ऐसे ही द्रव्यलिंगमें अवस्थित होकर भी साधुजन अपने आपको द्रव्यलिंगसे अत्यन्त दूर केवल शुद्ध ज्ञानस्वभावमात्र निरखते हैं। यही मोक्षमार्ग है। व्यवहारनय दोनों लिंगोंको मोक्षपद मानता है, परन्तु निश्चयनय सभी लिंगोंको मोक्षमार्गमें रंच भी इष्ट नहीं करता है।

(१४४) परमात्मप्रकाश प्रवचन प्रथम भाग

परमपूज्य श्रीमद्योगीन्दुदेव द्वारा प्रकृत दोहोंमें विरचित परमात्मप्रकाश ग्रन्थ पर पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराजने प्रवचन किये हैं। इसमें कारण परमात्मतत्त्वकी दृष्टि करानेके लिए बहुत ही अच्छा आत्मसम्बोधन किया है। प्रथम प्राकृत दोहोंमें कार्य परमात्माको नमस्कार किया है। इस प्रकरणमें कार्य परमात्मा व कारण परमात्माका स्वरूप कहकर निजमें कारणपरमात्मतत्त्वकी सुगम झांकी एक प्रवचनांशमें दी है। पृ० ३-४- लोकमें भी ऐसी प्रसिद्धि है कि परमात्मा घट घटमें रहता है अर्थात् देहोंमें बसता है। सो इन देही आत्माओंसे भिन्न कोई एक परमात्मा इन देहोंमें नहीं बस रहा है, क्योंकि यदि ऐसा कोई इन देहोंमें बस रहा होवे तो पृथक् पृथक् देहोंके बीचमें अन्तराल होनेसे परमात्मा खण्ड खण्ड रूपमें हो जायगा। ये आत्मा (देही) ही परमात्मस्वभावको रख रहे हैं यह परमात्मस्वभाव हम सबमें शक्ति रूपसे है, व्यक्तिरूप (पर्यायरूप) से तो हम सब अभी संसारी हैं। फिर भी जो महात्मा अपनेमें अनादिसिद्ध बसे हुए शक्तिरूप परमात्मतत्त्वका दर्शन अन्तर्ज्ञानसे कर लेते हैं वे आनन्द-मग्न हो जाते हैं। ऐसा कारण परमात्मा हम सबमें, घट घटमें रहता है। उसके दर्शनका उपाय अन्तर्ज्ञान है।

आत्मस्वभावके परिचयमें ही सम्पन्नताका संकेत प्रवचनांश दोहा ५-पृ० ३३-निश्चयसे भगवान अपनेमें स्थित है और व्यवहारसे लोक अलोकके पदार्थोंको जानते हैं, किन्तु फिर भी उनमें तन्मय नहीं होते। हम भी परमें तन्मय नहीं हैं, केवल कल्पनासे ही यह सब होता है। यह जो सहजस्वभाव है यदि इसका पता लग जावे तो इससे बड़ा वैभव दुनियामें क्या है? मेरा मेरा बाह्य पदार्थोंमें कुछ भी तो नाता नहीं है। उनके घटनेसे न मेरा कुछ घटता है न उनके बढ़नेसे मेरा कुछ बढ़ता ही है। यदि मेरी समझ में मेरा सहजस्वभाव आ गया तो सम्पन्न हूं अन्यथा तो नर कीट ही हूं।

कारण परमात्मतत्त्वके परिचयसे सत्य समताका जागरण होता है इसका मनन कीजिये, दोहा ८ के एक प्रवचनांशमें-पृ० ५२-जो मैं हूं वह हैं भगवान, मैं वह हूं जो हैं भगवान, अर्थात् मैं वही हूं जो भगवान हैं और जो मैं हूं वही भगवान हैं। प्रत्येक जीव सिद्ध जैसे स्वभाववाला है। अतः यदि कोई किसी जीवका अपमान करता है तो वह भगवानका अपमान करता है। उसको वेदना हुई यह बात तो अलग है, उस को तो अलग ही दोष लगा, किन्तु वह जो अपमान हुआ वह अलग। अतः सब प्राणियोंपर समताभाव रखो। यदि कोई अपनेको प्रतिकूल बात भी कह देता है तो भी उसमें क्लेश न कर उस पर करुणा ही रखो और यह सोचो कि यह भी तो चैतन्यस्वरूप है, किन्तु कर्मोंके कारण, अज्ञानके कारण इसकी ऐसी दशा हो रही है। फिर यह तो मुफतमें ही काम हो गया जो वह कुछ कहकर प्रसन्न हो गया।

समाधिके अभावमें ही सारे संकट सहने पड़ते हैं-देखिये दोहा-१-१० के प्रवचनांशमें-पृ० ६१-जो परसमाधि है, समता परिणाम है वही पार लगाने वाला है, अन्य कुछ नहीं। परभवमें सम्यक्दर्शन,

सम्यक्ज्ञान, सम्यक्चारित्रको साथ ले जाना सो समाधि है। अतः समाधिके दो अर्थ हुए–एक तो समता परिणामका नाम समाधि है, दूसरा अपने रत्नत्रयको परभवमें भी साथ ले जाना सो समाधि है। और, उसी अवस्थामें प्राण त्याग करनेसे समाधिमरण है। यदि समाधि नहीं है, आधि व्याधि उपाधिका लगाव है तो उसका कटुफल होगा। एक व्यक्ति एक को मार देता है तो उसे फांसीकी सजा होती है और यदि वह कई आदमियोंको मारे तो भी यहां तो फांसी ही होगी, लेकिन इतने बड़े पापकी सजा कौन देगा ? वह कर्मके अनुसार स्वयं ही विकट दुःख पावेंगे। कोई किसीको दुःख सुख देने वाला नहीं है। अपने परिणामोंके कारण ही सब दुःखी होते हैं। समाधिके न होनेसे नरक तिर्यन्च मनुष्य और देव इन चारों गतियोंके दुःखोंको यह जीव सहता रहता है।

परमात्मत्वप्राप्तिका उपाय शुद्धात्मतत्त्वकी उपासना है, इसका संदेश देखें दोहा–१–१४ के एक प्रवचनांशमें पृ० ७५–परमात्मा कौन होता है ? जो समस्त परद्रव्योंको छोड़कर केवल ज्ञानमय, कर्मरहित, शुद्धात्मा को उपयोग द्वारा प्राप्त करता है वही परमात्मा होता है। यहां शुद्धात्माका अर्थ है निराला, अविकारी। शुद्ध पर्यायों वाला नहीं, किन्तु आत्माके अस्तित्त्व वाला, भिन्न तत्त्वों वाला, परद्रव्योंसे रहित अपने स्वरूपास्तित्त्वमात्र निजतत्त्वका शुद्धात्मा कहते हैं। केवल अपनेको सबसे निराला भर देखना है तो स्वरूप भी अवगत हो जायगा। सबसे निरालेका नाम शुद्ध है। जिसे इंगलिशमें कहते हैं प्योर। प्योर का अर्थ है खालिस, केवल। इसे ही शुद्ध कहते हैं और शुद्ध होनेके लिए उपाय भी यही किया जाता है। जैसे चौकी पर चिड़िया वगैरह की बीट लग गयी है तो वहां कहते हैं कि चौकी को शुद्ध करो। वह मनुष्य क्या करता है ? चौकीके अतिरिक्त जितने पर पदार्थ हैं, जितने परद्रव्य इस चौकीसे चिपके हैं उन सबका अलग करता है। यही चौकीको शुद्ध करनेका उपाय है। केवल खालिस रह जाने को ही शुद्ध कहते हैं। जो परद्रव्योंको छोड़कर अर्थात् समस्त परद्रव्योंको अपनेमें न मानकर केवल ज्ञानमय शुद्धआत्मतत्त्व देखता है, वह परमात्मा होता है।

आत्मतत्त्वकी पूर्णताके प्रतिपादनमें एक मार्मिक दर्शन करें दोहा–१–१६ के प्रवचनांशमें–पृ० ८२–भैया, इस श्लोकमें कहते हैं पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते। पूर्णात् पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते वह पूर्ण है, यह पूर्णसे पूर्ण निकलता है। पूर्ण से पूर्ण ग्रहण करके, हटा करके भी पूर्ण शेष रहता है। यह श्लोक वेदान्त सम्मत है, इसमें आध्यात्मिकता तो देखो। यह आत्मा पूर्ण है। यह स्वभाव पूर्ण है, पूर्ण का अर्थ पूरा है। यहां पूरे का अर्थ ऊधमी नहीं समझना। जैसे किसी बच्चेको समझते हैं कि यह भगवानका पूरा है। पूर्णका अर्थ है पूर्ण सत्। अधूरा नहीं। ऐसा कुछ भी पदार्थ नहीं है जो आधा बन पाया हो और कुछ न बन पाया हो। जितने भी सत् हैं वे सब पूर्ण सत् हैं। यह मैं पूर्ण हूं। यह मेरा स्वभाव पूर्ण है। इस पूर्ण आत्मपदार्थमें से जो भी परिणमन प्रकट होता है वह परिणमन भी पूर्ण है। पर्याय कोई अधूरी नहीं होती। पर्यायका समय एक है। एक क्षण में वह पर्याय पूर्ण होती है। पर्यायके बननेमें दूसरा समय नहीं लगता। इस पूर्णमें से पूर्ण ग्रहण कर लिया जाय तो भी यह पूर्ण हो बचा रहता है। अर्थात् पूर्ण द्रव्यसे पूर्ण पर्याय होकर विलीन हो जाती है, फिर भी वह पूर्ण ही रहता है। यह समस्त पदार्थोंका स्वरूप है।

अपने घरका पूरा पता करो, देखो दोहा–१–१८ के एक प्रवचनांशमें, पृ० ८९–भैया, अपने निजी घर की बात समझमें नहीं आती। तुम्हारा घर कहां है ? सोचो तो सही। अपना घर कहां है ? कहां जावोगे ? कौन सा घर है ? वह घर बतलावो जो घर अपनेसे कभी नहीं छूटता ? कहीं जावो अपना घर ही पासमें रहता है। वह घर है अपना स्वरूप, अपना प्रदेश, उसकी ओर दृष्टि न दो और बाहरमें

बाहरी पदार्थोंसे नाना आशायें रखें तो बताओ किसके लिए नच रहे हो ? किसके लिए बकते जा रहे हो ? सब भिन्न हैं। उनका कर्म प्रबल है। उदय अच्छा है सो आपको उनका दास बनना पड़ रहा है। किसके लिए धन बढ़ाते हो ? किसके लिए श्रम कर रहे हो ? यह मोह और यह इतना विकल्प क्यों मचा रहे हो ? आपसे भी अधिक भाग्यवान वे बच्चे हैं जिनके लिए रात दिन श्रम कर रहे हो, जिनके लिए दास बनकर अधिक श्रम करना पड़ रहा है। शिवस्वरूप, कल्याणस्वरूप तो अपना आत्म-स्वरूप है। सर्वकल्पनाजालोंको छोड़कर अपने आपमें अपने आपके स्वरूपको निहारो, तो ऐसे ज्ञानस्वभावी प्रभुका दर्शन होगा कि फिर उससे शान्ति और आनन्द निरन्तर झरता ही चला जायगा।

कारणपरमात्मतत्त्वका ज्ञान व अनुभव ही करने योग्य काम इस जीवनमें है-इसकी प्रेरणा पायें-दोहा-१-२२ के इस प्रवचनांशसे, पृ० ११०-भैया, एक ही काम है इस जिन्दगीमें। जो करता हो सो पार होगा। किसी बाह्य वस्तुमें मूर्छा ममत्व न रखे। सबको विनाशीक जानें अपनेसे भिन्न समझे और अपने आप को सबसे निराला जानकर इसमें बसा हुआ जो ध्रुव चैतन्यस्वरूप है वही मैं हूं-यों इस कारण परमात्माके स्वरूपकी प्रतीति करे बस यही एक जीवनमें करनेका काम है। यह परमात्माका प्रकाश है। परमात्मा दो प्रकारसे देखा जाता है। एक तो कार्य परमात्मा और एक कारणपरमात्मा। कार्य-परमात्मा तो वह कहलाता है कि जिसके अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख, अनन्तचतुष्टय प्रकट हों और कारणपरमात्मा वह कहलाता है जो सभी जीवोंमें परमात्मा बननेकी शक्ति है अथवा जो सहज-ज्ञान, सहजदर्शन, सहजआनन्द, सहजशक्तिमय है वह है कारण परमात्मा। कारणपरमात्माका ध्यान करनेसे कार्यपरमात्मा बनता है याने अपने आपके आत्मामें जो शुद्ध जाननेकी शक्ति है उस शक्तिका ध्यान करनेसे भगवान् होना है, अपने आपमें जो कषायके विकार लगे हैं वे दूर होते हैं अपने कारण-परमात्माका ध्यान करनेसे।

(१४५) परमात्मप्रकाशप्रवचन द्वितीयभाग

बाहरी पदार्थोंसे नाना आशायें रखें तो बताओ किसके लिए नच रहे हो ? किसके लिए बकते जा रहे हो ? सब भिन्न हैं। उनका कर्म प्रबल है। उदय अच्छा है सो आपको उनका दास बनना पड़ रहा है। किसके लिए धन बढ़ाते हो ? किसके लिए श्रम कर रहे हो ? यह मोह और यह इतना विकल्प क्यों मचा रहे हो ? आपसे भी अधिक भाग्यवान वे बच्चे हैं जिनके लिए रात दिन श्रम कर रहे हो, जिनके लिए दास बनकर अधिक श्रम करना पड़ रहा है। शिवस्वरूप, कल्याणस्वरूप तो अपना आत्म-स्वरूप है। सर्वकल्पनाजालोंको छोड़कर अपने आपमें अपने आपके स्वरूपको निहारो, तो ऐसे ज्ञानस्वभावी प्रभुका दर्शन होगा कि फिर उससे शान्ति और आनन्द निरन्तर झरता ही चला जायगा।

कारणपरमात्मतत्त्वका ज्ञान व अनुभव ही करने योग्य काम इस जीवनमें है-इसकी प्रेरणा पायें-दोहा-१-२२ के इस प्रवचनांशसे, पृ० ११०-भैया, एक ही काम है इस जिन्दगीमें। जो करता हो सो पार होगा। किसी बाह्य वस्तुमें मूर्छा ममत्व न रखे। सबको विनाशीक जानें अपनेसे भिन्न समझे और अपने आप को सबसे निराला जानकर इसमें बसा हुआ जो ध्रुव चैतन्यस्वरूप है वही मैं हूं-यों इस कारण परमात्माके स्वरूपकी प्रतीति करे बस यही एक जीवनमें करनेका काम है। यह परमात्माका प्रकाश है। परमात्मा दो प्रकारसे देखा जाता है। एक तो कार्य परमात्मा और एक कारणपरमात्मा। कार्य-परमात्मा तो वह कहलाता है कि जिसके अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख, अनन्तचतुष्टय प्रकट हों और कारणपरमात्मा वह कहलाता है जो सभी जीवोंमें परमात्मा बननेकी शक्ति है अथवा जो सहज-ज्ञान, सहजदर्शन, सहजआनन्द, सहजशक्तिमय है वह है कारण परमात्मा। कारणपरमात्माका ध्यान करनेसे कार्यपरमात्मा बनता है याने अपने आपके आत्मामें जो शुद्ध जाननेकी शक्ति है उस शक्तिका ध्यान करनेसे भगवान् होना है, अपने आपमें जो कषायके विकार लगे हैं वे दूर होते हैं अपने कारण-परमात्माका ध्यान करनेसे।

(१४५) परमात्मप्रकाशप्रवचन द्वितीयभाग

इस पुस्तकमें परमात्मप्रकाश ग्रन्थके प्रथम महाधिकारके ३९ वें दोहासे ६६ वें दोहा तक के पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराजके प्रवचन है। परमात्मतत्त्वकी पहुंचमें अमृतका झरन और योगी द्वारा गुप्त ही गुप्त रहकर उसके आनन्दका अनुभवन, इसका मनन कीजिये प्रवचनांश दोहा-१-३९-पृ० १-जैसे विशाल मीठेके ढेरसे उसे कितना ही निकालते जायं और भीतर देखते जायें मिठास समाप्त नहीं होता है, नया नया मिठास मिलता है, इसी तरह इस निज आत्मामें निर्विकल्प ढंगसे व्यर्थके रागद्वेषकी उलझनोंको हटाते हुए ज्ञानको निरखते जायें, उस परमात्मतत्त्वमें, तो ज्यों ज्यों गहरे पहुंचते जायेंगे त्यों त्यों वहां अमृत आनन्द झरता जायगा। योगीजन निर्जनस्थानमें बिल्कुल अकेले खड़ी शान्त मुद्रामें विराजे हुए अपने आपमें ऐसा तत्त्व निरखते हैं कि उनका ऊब नहीं आती कि हाय हम इस जंगलमें अकेले हैं, कोई साथी तो चाहिए। उन्हें साथीका मिलना अनिष्ट है। एक से कोई दूसरा हुआ तो उससे वह अपने काममें बाधा समझता है। तो योगी बाहरमें भी एकाकी और अन्दरमें भी एकाकी रहना चाहता है।

ज्ञानी और अज्ञानीके भावका अन्तर देखिये-प्रवचनांश दोहा-१-३९, पृ० ४-जानन रागद्वेष संकल्प-विकल्पको छोड़कर मात्र प्रतिभासरूप है और विचार जाननको अपने पेटमें चबाकर उसको बिगाड़ देने वाले रागका काम है। कुछ भी विचार राग बिना नहीं होता है तो जितना मैं विचार करता हूं, जितनी मैं शरीरकी चेष्टा करता हूं, और जितने मैं वचन बोला करता हूं, ये सब अज्ञानकी चेष्टायें हैं। ज्ञानको

छोड़कर अन्य तत्त्वोंकी चेष्टायें हैं, ज्ञानकी चेष्टा नहीं है। ज्ञानकी चेष्टा निर्विकल्प, निष्कलंक, क्षोभ-रहित शुद्ध प्रतिभासमात्र है। तो ये अन्य तत्त्वोंकी चेष्टायें हैं। सारे आवश्यक कार्योंको करता हुआ भी साधु पुरुष यह जान रहा है कि यह सब अज्ञानकी चेष्टा है। ज्ञानकी चेष्टा तो शुद्ध जाननमात्र है। कहां तो ऊंचे ऊंचे ज्ञानी पुरुष अपने इन आवश्यक कार्योंकी चेष्टामें भी ज्ञानातिरिक्तता देखते हैं और कहां लोग घरमें फसे हुए यह मानते हैं कि हम बुद्धिमानीका कार्य कर रहे हैं, हम ज्ञानका काम कर रहे हैं। तब सोचो तो सही कि ज्ञानी और अज्ञानीके भावमें कितना अन्तर।

परमात्माके ज्ञानमें सर्वजगत आ गया अथवा कहिये सर्व जगतमें ज्ञान चला गया, तिस पर भी जगत जगत ही है, ज्ञान ज्ञान ही है। परमात्मा जगतरूप नहीं बन सकता। इसी प्रकार की कला ज्ञानमें स्वरसतः होती है, इस का विवरण १-४१ दोहाके प्रवचनांशमें पढ़िये। पृ० १८-जैसे हमारी आंखें रूपके विषयमें रहा करती हैं पर आंखें कभी रूपमय नहीं बन जाती हैं। आंख आंख ही रहती है और रूप रूप ही रहता है। वह किसी अन्य पदार्थके आकार रंग रूपमें नहीं बन जाती इस प्रकार यह ज्ञान सारे जगतको जानता है मगर ज्ञान, ज्ञानरूप ही रहता है और यह सारा जगत अपने रूप ही रहता है। तन्मय नहीं होता, ऐसा यह निराला आत्मतत्त्व है। जैसे पानीमें मिट्टीका तेल डालदें तो वह तेल पानीपर तैरता रहता है। पानी पानी है और तेल तेल है। पानी तेल नहीं हो सकता और तेल पानी नहीं हो सकता, यह ज्ञान जगतपर तैर रहा है, कि ज्ञान ज्ञान ही है जगत जगत ही है। हां हम ही ज्ञानी अपने ज्ञानस्वरूपको छोड़कर रागद्वेषमें जायें तो हम अपने ही अपराधसे अपनेको मलिन कर डालते हैं।

जिसके देहमें बसने पर इन्द्रियग्राम आबाद होता है और जिसके निकल जानेपर इन्द्रियग्राम ऊजड़ हो जाता है उसे परमात्मा (भगवान आत्मा) जानो, इस रहस्यका प्रतिपादन करनेवाले १-४४ वें दोहाके प्रवचनोंमें से एक प्रवचनांश पढ़िये तो, कारणपरमात्माको ही कहा जा रहा है, यह विदितकर लोगे। पृ० ३३-जब यह जीव भवान्तरको चला जाता है, मरण कर जाता है तो यह इन्द्रियग्राम ऊजड़ हो जाता है। अर्थात् फिर ये इन्द्रियां अपने अपने विषयके दुःखमें प्रवृत्त नहीं होती है। यह चिदानन्द आत्मा भगवान एकस्वभाव वाला है, किन्तु यह निमित्त नैमित्तिककी साइन्स भी बहुत बड़ा विषयवाला है। इस ज्ञायकस्वभाव परमात्माने अपनी बेहोशी की और कषायका परिणमन किया फिर देख लो ये सारे जाल, ये समस्त संकट कैसे अपने आप इस पर सवार हो जाते हैं। उनमें आपका क्या श्रम लगता है? इसके आगे फिर आप क्या करते हैं? सारे काम एटोमेटिक होते रहते हैं। इस तरह यह स्वयं परमात्मा अपने शुद्ध चैतन्यस्वभावके उपयोगको छोड़कर कुछ विषय कषायमें लग गया। जब अपने आप गड़बड़ीकी सारी बातें होती हैं। इन्द्रियग्राम बन गया, शरीर बन गया, इन्द्रियां हो गईं, जिसमें कि अब से फंसे हैं और आकुलित होते हैं।

सम्यग्ज्ञानके बिना संयम, व्रत आदि फिट नहीं बैठ पाते, इसका थोड़े शब्दोंमें विवरण देखिये-दोहा-१-४६-का प्रवचनांश-पृ० ७६-एक बाबू जी ने कुम्हारको एक पायजामा इनाममें दे दिया। पायजामाका मतलब पा और जामा, अर्थात् जिसमें पांव जम जाय। अब कुम्हार उसे कमरमें लपेटे तो फिट न बैठे, कभी हाथोंमें लपेटे तो फिट न बैठे। एक बार उसने पैर डाल दिया तो पैर डालते ही कुछ फिट होने लगा, फिर दूसरा पैर डाल दिया, लो पूरा फिट बैठ गया। अब कुम्हारने समझा कि यह यहां फिट होनेवाली चीज है। सो हम ज्ञानके लिए श्रम करते हैं किन्तु अभी ये संयम, व्रत, तप, पूजा, स्वाध्याय आदि फिट नहीं बैठ रहे, फिट बैठने की निशानी शान्ति है, सो नहीं मिली, किन्तु घबड़ानेकी बात नहीं, धैर्य पूर्वक धर्मपालनमें लगे रहो कभी तो यह उद्यम फिट बैठ ही जायगा। अब फिट होना तब बेड़ा पार है। ज्ञान

को उद्यम करे तो फल उसका अच्छा होगा, संयम आदि सब फिट बैठ जायेंगे।

'सहजानन्द साहित्य ज्योति प्रथम भाग'

सत्श्रद्धाविहीन हृदयमें धर्मकी वृत्ति नहीं जग सकती, इसका संक्षिप्त विवेचन पढ़िये–दोहा–१–५८ के प्रवचनांशमें–पृ० १३८–जैसे भैया, चित्रकारी उस भीतपर आती है सो भींत बहुत पक्की दृढ़ और चिकनी हो और जो भींत मैली है, गन्दी है उसमें चित्रकारी कभी नहीं आती, इसी प्रकार जिसके हृदयमें श्रद्धा नहीं भरी है उसमें धर्म कैसे आयेगा ? सो प्रथम तो अपने आपमें श्रद्धा करो कि यह मैं आत्मा सबसे न्यारा निराला चैतन्यस्वरूप हूं व परिपूर्ण हूं। हममें किसी बाहरके पदार्थसे कुछ नहीं आता, हमसे निकलकर किन्हीं बाहरी पदार्थोंमें कुछ नहीं जाता। यह परिपूर्ण है और परिणमता रहता। ऐसे ज्ञान–चमत्कारमय अपने ज्ञानस्वरूपको न जाना तो हमने किया क्या ? जिसने अपना परिचय पा लिया वह सर्वत्र स्वतंत्र है। कदाचित् उस ज्ञानीको कोई राजा या राजसंघ जबरदस्ती गिरफ्तार करले और जेलखानेमें भी बन्द करदे तो भी यह ज्ञानी वहां भी स्वतंत्र है। शरीर ही है एक सोमाके भीतर, पर ज्ञानका उपयोगी यह किसीके द्वारा गिरफ्तार ही नहीं किया जा सकता। वह तो अपने आपमें ही अपने आप है, उपयोगमें है। यहां भी यह सबसे निराला केवल ज्ञानमात्र अपने आत्माको देख रहा है, प्रसन्न है, संतुष्ट है। उसे वहां कोई तकलीफ नहीं है। जबकि अज्ञानीजन घरकी गद्दीपर बैठे हैं और वहां ही यह विकल्प, वह विकल्प यह क्यों हुआ इस तरह की दृष्टियां लगाकर बन्धनमें पड़े रहे हैं दुःखका अनुभव करते हैं।

अभिलाषामें चैन नहीं मिल सकता, निरभिलाष ज्ञानी पुरुष ही शान्त रह सकते हैं, इसका अध्ययन करें–दोहा–१–९६ के प्रवचनांशमें–पृ० १८७–भैया, न पंडितको चैन और न मूरखको चैन। पंडितको यों चैन नहीं कि उनको अपने पोजीशनकी पड़ी है, लोगोंने प्रश्न किया उनका समाधान करें। सो कहीं हम हार न जायें, निरुत्तर न रह जायें सो रात दिन ग्रन्थ देखते हैं, पढ़ते ही रहते हैं। कहां चैन है ! और मूरख उसकी महिमाको देखकर जलते भुनते हैं। स[illegible] सुखी और कौन दुःखी है सो बताओ ? सुख तो केवल उसे है जो संसारमें कुछ नहीं चाह[illegible] ज्ञानस्वरूप आत्मा उपयोगमें रहे इतनी ही जिसकी अभिलाषा है वह पुरुष [illegible] सुखी नहीं प्रभुदर्शन करने जाते हैं, हमें इससे यही शिक्षा मिलती है कि घबड़[illegible] तेरा तो ज्ञानस्वरूप आत्मा ही है। परवस्तुओंके, बाह्य पदार्थोंके छूट जानेसे [illegible] करो। तू मुझ सरीखा ही अनन्त वैभवशाली है [illegible] मांगकर उदर भ[illegible] सुखिया सम्यग्ज्ञान चाहे किसी प्रकार [illegible] लो मगर इ[illegible] जैसे भोगोंको भी विष्टाके समान [illegible]

भावकी दृष्टिसे, शुद्ध द्रव्यार्थिकनयसे यह आत्मा कुछ नहीं करता। शुद्ध पारिणामिक भाव उसे कहते हैं जिस शक्तिके परिणमन विभिन्न भी हो रहे हों पर सब शक्तिकी आधारभूत जो एक शक्ति है वह शक्ति परमपारिणामिक भाव कहलाती है। उस भावको ग्रहण करनेवाले शुद्ध द्रव्यार्थिकनयसे न आत्मा जन्म करता है, न मरण करता है, न बन्ध करता है और न मोक्ष करता है। वह तो शुद्ध ज्ञानस्वरूप शाश्वत विराजमान रहता है, ऐसे ही इस परमात्मतत्त्वके बारेमें यहां विचार किया जा रहा है।

यथार्थ आत्मस्वरूपको जाने पर वास्तवमें अहिंसकता व दयालुपना बनता है, इसका दिग्दर्शन कीजिये-दोहा १-६९ के इस प्रवचनांशमें-पृ० १—भैया अपने आपको नहीं जानते यह बहुत बड़ा आक्रमण है अपने प्रभु पर और फिर कषायोंकी धुनमें रहना हमारा तीसरा आक्रमण है अपने नाथपर। जहां इतना आक्रमण किया जा रहा है वहां हम अपनेको अहिंसक कह दें तो कैसे कहा जा सकता है? ऊपरी दिखावटी दयासे कहीं अहिंसाका लाभ न होगा। कुछ लौकिक परम्परा ऐसी है कि जिसमें छोटे छोटे कीड़ा मकोड़ोंकी हिंसाका बचाव चला आ रहा है। ठीक है, पर इतने मात्रसे अहिंसाका पालन नहीं होगा। आप अपने स्वरूप को जानो फिर अपने स्वरूपके समान ही जगतके सब जीवोंको जानो। जगत के जीवोंको देखकर हमें वह ज्ञान—शुद्धस्वरूप समझमें आये, बादमें फिर पर्यायोंके संक्लेश से बचानेकी बात आये तो वह पैने ज्ञानकी कला है। और, देखते ही हो ये सब पर्यायें, दशायें, पाप पुण्य बहुत फैले नजर आये और समझाये-समझाये भी दिल लगाये लगाये परमात्मस्वरूपकी बात समयमें न आये यह तो अपने आपकी हिंसा है।

समस्त संकटोंका कारण शरीर सम्पर्क जानकर शरीरसे उपेक्षा करके आत्मस्वभावकी आराधना करनेका अपनेसे अनुरोध कीजिये, दोहा १-७२ के प्रवचनांशमें पढ़िए-पृ० २४—भैया, शरीर तो मिलता रहता है और शरीरको क्यों चाहते हो? शरीरका मिलना बड़ा कठिन उपद्रव है। यह शरीर मिला, तब अहमबुद्धि हुई, यह मैं हूं, और जब माना कि यह मैं हूं। तो मोहीपर शरीरको मानता कि यह मेरी स्त्री है, यह मेरा पुत्र है इत्यादि। और, फिर उन सबका राजी रखने के लिए धनका संचय किया और फिर उस धनमें जो बाधक होने लगा, उनमें लड़ाई लड़ने लगा, और तरह रागद्वेषमय क्षोभकी वृत्ति बनाई किस बातपर? एक शरीर मिला है इस बात पर। क्या यह शरीर चाहिए आपको? नहीं चाहिए ना? तो वर्तमानमें भी इस शरीरके अनुरागी न बनो। इस मनको पापोंसे बचानेके लिए इस शरीरसे अधिकाधिक उपकार करो। जैसा होना हो, शरीर छिदता हो छिदे, भिदता हो भिदे, किसी भी हालतको प्राप्त होता हो, पर अपने शुद्ध ज्ञानस्वरूपकी भावना न छोड़ो।

ज्ञानकी पूजामें परमात्मत्वकी पूजा देखिये-दोहा—१—७७ का एक प्रवचनांश, पृ० ४०—हम यदि ज्ञानको पूजा करें तो परमात्माको पूज लिया समझ लीजिये। नामसे क्या है? जिसका नाम है वह भगवान नहीं और जो भगवान है उसका नाम नहीं। वीर प्रभुको जब तक महावीर की निगाहसे देखते हो तो ऐसा लगता है कि यह किसीका लड़का है, ऐसा सुहावना है, इतना बड़ा है, घर छोड़कर चल दिया, यह ही देखोगे। पर यह तो भगवान नहीं। भगवान तो शुद्ध ज्ञायकस्वरूप अनन्त गुणमय है। जो शुद्ध केवल ज्ञानमय है, उस प्रभुका तो कोई नाम ही नहीं है। ये वीर हैं ये ऋषभदेव हैं, ये चन्द्रप्रभु हैं। क्या उस ज्ञानमय प्रभुका कोई नाम है? जब तक नामकी दृष्टि है तब तक भगवानका मर्म पहिचाना नहीं जा सकता। और, जहां भगवान के मर्म में पहुंच गये फिर नाम से कोई सम्बन्ध नहीं रह गया।

मोह व भ्रमका कष्ट सहने वालोंको सम्बोधन—दोहा १—७८ के प्रवचनांशमें पृ० ४६—मोह करना हमें

का उद्यम करे तो फल उसका अच्छा होगा, संयम आदि सब फिट बैठ जायेंगे।

सत्श्रद्धाविहीन हृदयमें धर्मकी वृत्ति नहीं जग सकती, इसका संक्षिप्त विवेचन पढ़िये–दोहा–१–५८ के प्रवचनांशमें–पृ० १३८–जैसे भैया, चित्रकारी उस भीतपर आती है सो भींत बहुत पक्की दृढ़ और चिकनी हो और जो भींत मैली है, गन्दी है उसमें चित्रकारी कभी नहीं आती, इसी प्रकार जिसके हृदयमें श्रद्धा नहीं भरी है उसमें धर्म कैसे आयेगा ? सो प्रथम तो अपने आपमें श्रद्धा करो कि यह मैं आत्मा सबसे न्यारा निराला चैतन्यस्वरूप हूं व परिपूर्ण हूं। हममें किसी बाहरके पदार्थसे कुछ नहीं आता, हमसे निकलकर किन्हीं बाहरी पदार्थों में कुछ नहीं जाता। यह परिपूर्ण है और परिणमता रहता। ऐसे ज्ञान–चमत्कारमय अपने ज्ञानस्वरूपको न जाना तो हमने किया क्या ? जिसने अपना परिचय पा लिया वह सर्वत्र स्वतंत्र है। कदाचित् उस ज्ञानीको कोई राजा या राजसंघ जबरदस्ती गिरफ्तार करले और जेलखानेमें भी बन्द करदे तो भी यह ज्ञानी वहां भी स्वतंत्र है। शरीर ही है एक सीमाके भीतर, पर ज्ञानका उपयोगी यह किसीके द्वारा गिरफ्तार हो नहीं किया जा सकता। वह तो अपने आपमें ही अपने आप है, उपयोगमें है। यहां भी यह सबसे निराला केवल ज्ञानमात्र अपने आत्माको देख रहा है, प्रसन्न है, संतुष्ट है। उसे वहां कोई तकलीफ नहीं है। जबकि अज्ञानीजन घरकी गद्दीपर बैठे हैं और वहां ही यह विकल्प, वह विकल्प यह क्यों हुआ इस तरह की दृष्टियां लगाकर बन्धनमें पड़े रहे हैं दुःखका अनुभव करते हैं।

अभिलाषामें चैन नहीं मिल सकता, निरभिलाष ज्ञानी पुरुष ही शान्त रह सकते हैं, इसका अध्ययन करें–दोहा–१–६६ के प्रवचनांशमें–पृ० १८७–भैया, न पंडितको चैन और न मूरखको चैन। पंडितको यों चैन नहीं कि उनको अपने पौजीशनकी पड़ी है, लोगोंने प्रश्न किया उनका समाधान करें। सो कहीं हम हार न जायें, निरुत्तर न रह जायें सो रात दिन ग्रन्थ देखते हैं, पढ़ते ही रहते हैं। कहां चैन है ! और मूरख उसकी महिमाको देखकर जलते भुनते हैं। सो उनमें कौन सुखी और कौन दुःखी है सो बताओ ? सुख तो केवल उसे है जो संसारमें कुछ नहीं चाहता है। केवल मेरा यह ज्ञानस्वरूप आत्मा उपयोगमें रहे इतनी ही जिसकी अभिलाषा है वह पुरुष तो सुखी है और बाकी कोई सुखी नहीं प्रभुदर्शन करने जाते हैं, हमें इससे यही शिक्षा मिलती है कि घबड़ाओ मत, मूढ़बुद्धिको छोड़ो, तेरा तो ज्ञानस्वरूप आत्मा ही है। परवस्तुओंके, बाह्य पदार्थों के छूट जानेसे अपनेमें कष्टका अनुभव मत करो। तू मुझ सरीखा ही अनन्त वैभवशाली है। भीख मांगकर उदर भरे, न करे चक्रीका ध्यान, जगतमें देखे सुखिया सम्यक्ज्ञान चाहे किसी प्रकार अपना पेट भर लो मगर इन्द्र के भी वैभवका ध्यान न करो। इन्द्र के जैसे भोगोंको भी विष्टाके समान समझना है।

(१४६) परमात्मप्रकाशप्रवचन तृतीयभाग

इस पुस्तकमें परमात्मप्रकाशके प्रथम महाधिकारके ६७ वें दोहासे ९२ दोहा तक के पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराजके प्रवचन है। इसकें शुद्ध आत्मतत्त्वका विवेचन किया गया है। जिसका आश्रय लेनेसे आत्मा प्रकट शुद्ध परमात्मा हो जाता है। इस शुद्ध आत्मतत्त्वको परखिये दोहा–१–६८ के इस प्रवचनांशमें पृ० ६–हे योगी पुरुष, परमार्थसे तो यह जीव न तो उत्पन्न होता है और न मरता है फिर बन्ध और मोक्षको तो करेगा क्या ? अर्थात् शुद्ध निश्चयनयसे यह जीव बन्धसे व मोक्षसे रहित है, ऐसा जिनेन्द्र देवका कहना है। जब यह मुझमें शुद्ध आत्मतत्त्व अनुभूत नहीं होता है तब शुभ और अशुभ उपयोगकी परिणति रहती है और जीवन मरण शुभ अशुभ पुण्य पाप बन्धोंको करता है, पर शुद्ध आत्माका अनुभव हो जानेपर यह जीव शुद्धोपयोगको प्राप्त कर मोक्षको प्राप्त कर लेता है तो भी शुद्ध परमपारिणामिक

भावकी दृष्टिसे, शुद्ध द्रव्यार्थिकनयसे यह आत्मा कुछ नहीं करता। शुद्ध पारिणामिक भाव उसे कहते हैं जिस शक्तिके परिणमन विभिन्न भी हो रहे हों पर सब शक्तिकी आधारभूत जो एक शक्ति है वह शक्ति परमपारिणामिक भाव कहलाती है। उस भावको ग्रहण करनेवाले शुद्ध द्रव्यार्थिकनयसे न आत्मा जन्म करता है, न मरण करता है, न बन्ध करता है और न मोक्ष करता है। वह तो शुद्ध ज्ञानस्वरूप शाश्वत विराजमान रहता है, ऐसे ही इस परमात्मतत्त्वके बारेमें यहां विचार किया जा रहा है।

यथार्थ आत्मस्वरूपको जाने पर वास्तवमें अहिंसकता व दयालुपना बनता है, इसका दिग्दर्शन कीजिये- दोहा १-६९ के इस प्रवचनांशमें-पृ० १-भैया अपने आपको नहीं जानते यह बहुत बड़ा आक्रमण है अपने प्रभु पर और फिर कषायोंकी धुनमें रहना हमारा तीसरा आक्रमण है अपने नाथपर। जहां इतना आक्रमण किया जा रहा है वहां हम अपनेको अहिंसक कह दें तो कैसे कहा जा सकता है? ऊपरी दिखावटी दयासे कहीं अहिंसाका लाभ न होगा। कुछ लौकिक परम्परा ऐसी है कि जिसमें छोटे छोटे कीड़ा मकोड़ोंकी हिंसाका बचाव चला आ रहा है। ठीक है, पर इतने मात्रसे अहिंसाका पालन नहीं होगा। आप अपने स्वरूप को जानो फिर अपने स्वरूपके समान ही जगतके सब जीवोंको जानो। जगत के जीवोंको देखकर हमें वह ज्ञान-शुद्धस्वरूप समझमें आये, बादमें फिर पर्यायोंके संक्लेश से बचानेकी बात आये तो वह पैने ज्ञानकी कला है। और, देखते ही हो ये सब पर्यायें, दशायें, पाप पुण्य बहुत फैले नजर आये और समझाये-समझाये भी दिल लगाये लगाये परमात्मस्वरूपको बात समयमें न आये यह तो अपने आपकी हिंसा है।

समस्त संकटोंका कारण शरीर सम्पर्क जानकर शरीरसे उपेक्षा करके आत्मस्वभावकी आराधना करनेका अपनेसे अनुरोध कीजिये, दोहा १-७२ के प्रवचनांशमें पढ़िए-पृ० २४-भैया, शरीर तो मिलता रहता है और शरीरको क्यों चाहते हो? शरीरका मिलना बड़ा कठिन उपद्रव है। यह शरीर मिला, तब अहमबुद्धि हुई, यह मैं हूं, और जब माना कि यह मैं हूं। तो मोहीपर शरीरको मानता कि यह मेरी स्त्री है, यह मेरा पुत्र है इत्यादि। और, फिर उन सबका राजी रखने के लिए धनका संचय किया और फिर उस धनमें जो बाधक होने लगा, उनमें लड़ाई लड़ने लगा, और तरह रागद्वेषमय क्षोभकी वृत्ति बनाई किस बातपर? एक शरीर मिला है इस बात पर। क्या यह शरीर चाहिए आपको? नहीं चाहिए ना? तो वर्तमानमें भी इस शरीरके अनुरागी न बनो। इस मनको पापोंसे बचानेके लिए इस शरीरसे अधिकाधिक उपकार करो। जैसा होना हो, शरीर छिदता हो छिदे, भिदता हो भिदे, किसी भी हालतको प्राप्त होता हो, पर अपने शुद्ध ज्ञानस्वरूपकी भावना न छोड़ो।

ज्ञानकी पूजामें परमात्मतत्त्वकी पूजा देखिये-दोहा-१-७७ का एक प्रवचनांश, पृ० ४०-हम यदि ज्ञानको पूजा करें तो परमात्माको पूज लिया समझ लीजिये। नामसे क्या है? जिसका नाम है वह भगवान नहीं और जो भगवान है उसका नाम नहीं। वीर प्रभुको जब तक महावीर की निगाहसे देखते हो तो ऐसा लगता है कि यह किसीका लड़का है, ऐसा सुहावना है, इतना बड़ा है, घर छोड़कर चल दिया, यह ही देखोगे। पर यह तो भगवान नहीं। भगवान तो शुद्ध ज्ञायकस्वरूप अनन्त गुणमय है। जो शुद्ध केवल ज्ञानमय है, उस प्रभुका तो कोई नाम ही नहीं है। ये वीर हैं ये ऋषभदेव हैं, ये चन्द्रप्रभु हैं। क्या उस ज्ञानमय प्रभुका कोई नाम है? जब तक नामकी दृष्टि है तब तक भगवानका मर्म पहिचाना नहीं जा सकता। और, जहां भगवान के मर्म में पहुंच गये फिर नाम से कोई सम्बन्ध नहीं रह गया।

मोह व भ्रमका कष्ट सहने वालोंको सम्बोधन-दोहा १-७८ के प्रवचनांशमें पृ० ४६-मोह करना हमें

आसान लगता है क्योंकि घर मिला है ना तुमको, घरमें रहने वाले जो दो चार जीव हैं वे अधिकारमें हैं ना ? सो खूब मोह करो, खूब श्रम करो, पर इसका फल क्या होगा सो अन्दाज करलो। इसका फल मिलता है इन चौरासी लाख योनियोंमें जन्म मरण करना। यह सब होता है अपनी गलतीसे। बन्दर होता है ना। बन्दर याने जो वनको दर देवे, वनमें ये डाली डाली तोड़ देते है ना ? जो वनको उजाड़ दे उसे कहते हैं बन्दर। भैया, देखा है तुमने बन्दर ? हां, जरूर देखा होगा। एक घड़ेमें अच्छे छोटे छोटे लड्डू भरकर रखलो और फिर उसे छत पर रख दो तो बन्दर आयेगा और उस घड़ेमें दोनों हाथ डालेगा। दोनों हाथोंसे लड्डू पकड़ लेगा। वह दोनों मुट्ठी न खोलेगा, यों ही बाहरको खींचेगा और उछल उछल कर बाहरको भागेगा। उसे यह ध्यान है कि मुझे घड़ेने पकड़ लिया है, वह अपने दोनों हाथ नहीं निकाल पाता है किन्तु भ्र। उसके यही लग गया कि मुझे घड़े ने पकड़ लिया है, वह अपने दोनों हाथ नहीं निकाल पाता है, कि भ्रम उसके यही लग गया कि घड़े ने पकड़ लिया है सो वह बाहर को भागता है। इसी प्रकार हम आपके कोरा भ्रम लगा है, सो व्यर्थ ही कष्ट पा रहे हैं।

आत्माकी पुष्टि किस वृत्तिमें है, देखिये दोहा १-८० के प्रवचनांशमें, पृ० ५७-५८-देखो तो भैया, इसका इतराना, यह सब मानता है कि मैं मोटा हो गया हूं तो बड़े गर्वसे अपनी भुजाको तकता है, हाथ उठाता है, मैं बड़ा पुष्ट हो गया हूं, आइनेको देखता है। छोटा दर्पण कोई देखनेको ला दे तो वह फेंक देता है। अजी बड़ा दर्पण क्यों नहीं लाये ? बहुत बढ़िया दर्पण मिले जिसमें अपने शरीर की शक्ल पूरी तौरसे देखकर मूछ ऐंठकर सिरपर हाथ फेरकर अपने आप गर्वसे मौज मान ले कि मैं पुष्ट हो गया हूं। अरे आत्माकी ओर तो विचारकर। तू तो तब पुष्ट कहलायगा जब शुद्ध ज्ञानप्रकाशका अनुभव हो और आत्मामें हो तेरा निवास हो, शुद्ध आत्मतत्त्वकी ओर तेरा झुकाव हो, वहां तू पुष्ट अपनेको समझ और किसी शरीरादिकके बाह्यपदार्थोंसे अपनी पुष्टि न मानो।

पापी जगतमें बड़प्पनकी चाह करना मूढ़ता है, बड़प्पन चाहो तो ऐसा चाहो कि जिसे अनन्तज्ञानी परमात्मा जान जायें, मनन कीजिये-दोहा-१-८५-के प्रवचनांशमें, पृ० ७३-जो स्वयं पापी हैं, मलिन हैं, जन्म-मरणके चक्रमें फसे हैं अज्ञानी हैं ऐसे पुरुषोंमें अपना बड़प्पन रखनेसे क्या लाभ है ? इनकी अपेक्षा तो एक ज्ञानी पुरुषकी दृष्टिमें बड़ बन जावो तो वह ज्यादा लाभदायक है। हजारों लाखों अज्ञानियोंकी दृष्टिमें हम बड़े बन जायें इसकी अपेक्षा एक दो ज्ञानियोंकी दृष्टिमें हम अच्छे कहला सकें यह ज्यादा लाभप्रद बात है। और, फिर देखिये एक दो ज्ञानियोंकी बात क्या, यदि रत्नत्रयरूप परिणति रहेगी, ज्ञान व्यवस्थित रहेगा, निर्मल परिणमन होगा तो मैं अनन्तज्ञानियों की दृष्टिमें भला होऊंगा। हजारों मोही अज्ञानी, दुःखी, पापी पुरुषोंमें भला दिख जानेसे फायदा क्या है ? भला दिखें तो उन अनन्त ज्ञानियोंकी दृष्टिमें भला दिखें तब तो बड़प्पन है। वे स्वयं मोही हैं, मलिन हैं उनको निगाहमें भला कहलानेसे कुछ बड़प्पन नहीं है।

बाहरी देशसे चित्त हटाकर अन्तः प्रकाशमान प्रभुस्वरूपकी आराधना करने की प्रेरणा लीजिये, दोहा-१-८८ के प्रवचनांशमें, पृ० ८३-यह आत्मा वन्दक नहीं है, मायन बौद्ध नहीं है। क्षपण नहीं है याने दिगम्बर नहीं है, गुरव नहीं है याने श्वेताम्बर नहीं है। यह साधुओंका जो भेद है कि जैन साधु, बौद्धसाधु, अमुक साधु यह भेद आत्मामें नहीं पड़ा। आत्मा तो एक अमूर्त चैतन्यमात्र तत्त्व है, परिणतिका भेद तो अवश्य है, किन्तु यह आत्मा स्वयं भेदवाला नहीं है। आत्मा न बौद्ध है, न क्षपणक है अर्थात् न दिगम्बर है और न और और जितने चाहे ले लो। श्वेताम्बर हैं, दण्ड लेने वाले हंस है, परमहंस हैं, सन्यासी हैं, जटा रखने वाले योगी हैं, हड्डीकी माला पहिनने वाले हैं, कोई तिलक लगाये हैं, कोई कमरमें मोटा रस्सा लपेटे हैं, कोई भभूत लगाये हैं, अनेक प्रकारके साधुजन होते हैं पर आत्माका यह विभिन्न स्वरूप

नहीं है। जिसने आत्माके स्वरूपका ज्ञान किया है वह आत्माकी उपलब्धिके लिए बाहरी पदार्थ हटाने का तो काम करेगा मगर लगानेका काम न करेगा। आत्माको क्या चाहिए ? समताभ निर्विकल्प आनन्द। वह परको हटानेसे मिलेगा। पर, परको लगानेसे न मिलेगा। आत्महितके कुछ भी चीजें शरीरपर रखनेकी आवश्यकता है क्या ? जिसे आत्मसाधना करनी है, भस्म हो, म हो, जटा हो, कुछ भी हो, ये सब परपदार्थ हैं। इनके सचय और संग्रहसे आत्मामें क्या कोई भलाई नहीं। वे सब विकल्प हैं।

(१४७) परमात्मप्रकाश प्रवचन चतुर्थ भाग

इस पुस्तकमें परमात्मप्रकाशके प्रथममहाधिकारके ९३ वें दोहासे १२५ वे दोहा तकके पूज्य श्री मनोहर वर्णी सहजानन्द महाराजके प्रवचन हैं। दोहा १-९४ के एक प्रवचनांशमें देखिये जितने आत्माके लिए उत्तम का ह सब आत्मस्वरूप हैं-पृ० १३-जितने भी करने योग्य काम हैं वे सब इस आत्मस्वरूप ही हैं। यही आ संयम है, यही आत्मा शील है, यही आत्मा दर्शन है, यही आत्मा अपने आपमें शुद्ध आत्मस्वरूप उपा है-इस प्रकार की बुद्धिसे अपनी ओर झुकता है। इसी कारण यह आत्मा सम्यक्त्व है, रागद्वेषरा निज आत्मतत्त्वके ज्ञानका अनुभव इस आत्माको ही है। इसलिए यह निश्चय ज्ञान है। मिथ्यात्वराग दिक समस्त विकल्पजालोंका त्यागके द्वारा परमात्मतत्त्वमय परमसमतारूप भावोंसे यही परिणमता इसलिए यही मोक्षमार्ग है। सारांश यह है कि यह शुद्ध आत्मा ही उपादेय है, क्योंकि स्वाधीन पर उपादेय आनन्दका साधक आत्मा ही है। यह साधक कैसे बन जाता है ? अपना जो शुद्ध स्वरूप है का अनुभवरूप भाव संयम बनता है। इस कारण यह ही आत्मा अपने स्वाधीन सुखका साधक है, ही आत्मा उपादेय है।

आत्माके जाननेपर सबको जाना हुआ ही समझो, देखो दोहा-१-९९ के प्रवचनांशमें पृ० २५-भैय सब कुछ बलिहारी है इस आत्मज्ञानकी। इस कारण तन, मन, धन, वचन, न्यौछावर करके भी य आत्माका बोध प्राप्त होता है तो वह सब कुछ वैभव प्राप्त कर लेता है। केवल मात्र जाननेका क है। सो जानने वाला है उसको जानो। जो जाननका स्वरूप है उसको जानो। केवल जाननका ही स पुरुषार्थ करना चाहिए। ज्ञानसे बढ़कर तप क्या होता है ? आत्माको जान लेनपर सब कुछ ज्ञात जाता है, अथवा यह आत्मा स्वपरके रूपसे सारे लोकालोकको जानता है। जैसे कोई कहे कि च अमेरिका ले चलें, दिखायेंगे आपको कि वहां कितना अच्छा है ? कहेगा कि हमने देख लिया। वहां ज पुद्गल होंगे, रूप, रस गन्ध, स्पर्शके पिण्ड होंगे। हम सब जानते हैं। इस प्रकार जिसका केवल आत्म से प्रयोजन होगा वह कहेगा। सब अनात्माय इसके लिए पर हैं। इनने रूपसे सबको जान जाता है इस तरह यह समस्त लोकालोकको जानता है। तब यह बात हुई ना कि आत्मा ज्ञात हो जाय तो स कुछ ज्ञात हो जाता है।

बाहर कहीं विपदा नहीं, मोह त्यागकर अपनेमें प्रभुताके दर्शन करलो, सब संकट मिट जायेगा, इसप्र प्रेरणा लीजिये दोहा-१-१०१ के प्रवचनांशमें-पृ० ३६-कितनी चिन्तायें हैं अपने को, जरा एक कापीमें लिख लो। अमुक बीमार है, न जाने यह मर जायेगा तो फिर क्या होगा ? अमुक मुकदमा है, कह इसमें १० हजार चले जायें, अमुक घरमें बिगड़ रहा है, न जाने यह रूठ ही जाये। एक बारमें ही स कबूल लो। वैभव गया भाड़में। यह गुजरता है तो गुजर जाये। जितनी भी अनिष्ट शंकायें हैं उन स का कबूल करलो और एक औषधि पी लो कि आखिर ये सब परद्रव्य ही तो हैं। इनमें यदि कुछ ह

गया तो क्या हुआ ? कौन सी बात मेरे स्वरूपमें घट गई ? किसी भी प्रकार की बात सामने आये तो अपनेको निर्भार अनुभव करलो। केवल एकत्वस्वरूपमग्न, ज्ञानप्रकाश, आकाशकी तरह अमूर्त निर्लेप अनुभव करलो। इससे ही प्रभुताके दर्शन होते हैं। उस प्रभुताको भेंट होनेपर फिर यह निश्चित हो जाता है कि अब संसारके जन्ममरण न रहेंगे।

परमानन्दमय शुद्ध आत्मतत्त्वको जाननेकी प्रेरणा दोहा—१–१०८ के प्रवचनांशमें, पृ० ४५—निज शुद्ध आत्मा ज्ञान द्वारा ही गम्य है। शुद्ध आत्माका अर्थ है कि मेरे आत्माका अपने आपके सत्त्वके ही कारण जो स्वरूप होता है वह है शुद्ध आत्मा, खालिस आत्मा। बिना परपदार्थोंके संयोगके आत्मा स्वयं जैसा हो सकता है वह कहलाता है शुद्ध आत्मा। वह ज्ञानसे ही जाना जा सकता है। जब तक इस शुद्ध आत्माका ज्ञान न हो तब तक सम्यग्दर्शन नहीं होता और जिसके सम्यग्दर्शन नहीं है उसको अरबों की भी सम्पदा मिल जाय फिरभी गरीब है। सम्पदासे क्या होता है ? वह आनन्दका जनक नहीं है। निज शुद्ध आत्मस्वरूपपर दृष्टि जाये तो वहांका आनन्द विचित्र आनन्द है। हम अरहंत सिद्ध भगवंतको क्यों पूजते हैं ? क्योंकि वह आनन्दमय है। सब जीवोंका ध्येय एक आनन्द होता है। ज्ञानकी भी लोग उपेक्षा कर सकते हैं। हमें ज्यादह ज्ञान न हो, न सही, क्या लेना देना, पर आनन्द तो ज्ञान और आनन्द इन दो में से छटनी जीव किसकी करेगा ? आनन्द की। किसी से कहा कि तुम्हें बहुत ज्ञान चाहिए या आनन्द ? तो वह क्या मांगेगा ? वह आनन्द मांगेगा ? हालांकि आनन्द ज्ञान बिना नहीं हो सकता है, इस कारण ज्ञान तो आ हो जायगा, पर पाने की इच्छा आनन्द की होती है। तो तुम्हारा आदर्श आराधनीय वही आत्मा हो सकता है, जो शुद्ध अविनाशी परम आनन्दमय हो।

परलोक याने उत्कृष्ट लोकमें पहुंचनेका प्रोग्राम करिये, मनन कीजिये दोहा—१–१११ के प्रवचनांशमें, पृ० ५८—वह परलोक है—ऐसा पर लोग कहते हैं; अर्थात् उत्कृष्ट पुरुष इस उत्कृष्ट लोकको बताते हैं। जिस भव्य जीवके जैसी मति बस गई है अथवा जैसी गति होती है वैसी ही ज्ञानकी स्थिति होती है। जिसका चित्त निज परमात्मस्वरूपमें बस रहा है, विषय कषायके विकल्पोंका त्याग करनेके उपायसे जिसका चित्त निज ज्ञानस्वरूपमें स्थिर हो रहा है उसको तुम परलोक जानो। कोई बड़ी बढ़िया बात सुनाई जाय तो कहते हैं, वाह, तुमने तो अलौकिक दुनियामें मुझे पहुंचा दिया। तो सर्वोत्कृष्ट बात है अपने आत्माके शुद्ध स्वरूपकी, जिसके जान लेनेपर संसारके समस्त संकट सदाके लिए विदा हो जाते हैं। उस स्वरूपमें पहुंच जाये तो वही तो कहलायेगा कि लो यह उस अलौकिक दुनियामें पहुंच गया। यह मन अलौकिक दुनियामें कैसे पहुचता है ? इसका उपाय है स्वसम्वेदन, ज्ञानका ज्ञान। शुद्ध स्वरूप के पहुचनके उपायमें आपको पहिले बहुत सी बातें जाननी होगी।

सर्वविविक्त ज्ञानमात्र आत्माके अनुभवकी प्रेरणा प्राप्त करें—दोहा—१–११३ का प्रवचनांश पढ़िये—पृ० ६८—देखो भैया, ये सब पदार्थ जीवसे चिपटे नहीं हैं। घर भी आपसे चिपटा हुआ नहीं है, कि आप चलें तो आपके साथ घर भी चल दे। अगर ऐसा होता है तो आपको कोई डर हो न था। देश विदेश हो क्या कहलाता ? जहां जाते तहां ही घर चिपटा रहता। तो घर चिपटा है क्या ? नहीं। परिवारका कोई चिपका है क्या ? नहीं। शरीर भी आत्मासे चिपका है क्या ? नहीं। अगर शरीर आत्मासे चिपका होता तो कभी मृत्यु न होती। शरीरके साथ हो आत्मा बना रहता है और आत्माके साथ रागद्वेष विकार चिपके हैं क्या ? यदि आत्मासे ये रागादिक चिपके होते तो आत्माके साथ सदा रहते। तो मैं इन सब परभावोंसे अत्यन्त भिन्न हूं—ऐसे भावकर्म, द्रव्यकर्म, नोकर्मसे रहित केवल ज्ञानप्रकाशमात्र

जो अपने आपकी श्रद्धा करता है वह जीव सम्यग्दृष्टि है, निकटभव्य है, संसारसे पार हो जाने वाला है।

आत्माके विरोधी रागादि भावोंसे आप स्नेह रखेंगे तो आप पर परमात्मा कैसे प्रसन्न होंगे, विचार कीजिये–दोहा–१–१२० के प्रवचनांशमें, पृ० ८३–अभी यहां पर हो किसीके विरोधीसे आप स्नेह लगायें तो उसका प्रेम कम हो जायेगा तो यह तो भगवान् है, परमात्मत्व है, उसके विरोधी हैं काम क्रोधादि कषाय, तो यदि यह विरोधियोंसे अपनी मित्रता बढ़ाये तो उस उपयोगमें परमात्मा नहीं दिख सकता है और जिस उपयोगमें परमात्माके दर्शन नहीं है, पुत्र मित्र परिवार आदिका ही जहां लगाव है, आत्मा के उद्धारका वहां कोई अवसर नहीं है। ये लोग खुद असहाय हैं पापका उदय आ जाये तो ये विह्वल ही हो जायेंगे। तो जो विह्वल हो जाये, जिसके पापका उदय आ सकता है। ऐसे जीवोंसे हम क्या आशा रखें कि ये मेरे शरण हो जायेंगे।

स्वच्छ हृदयमें ही प्रभुका वास हो सकता है, पढ़िये–पृ० ८७–भगवानसे कौन मिल सकता है? वही पुरुष भगवानसे मिल सकता है, जिसने अपने हृदयको निर्मल बनाया हो। हृदयमें तो विषय भरे हों और परमात्मस्वरूपसे मिलन करलें, यह कभी नहीं हो सकता है। मले घरमें तो पड़ौसीको भी आप नहीं बैठालना चाहते। कोई छोटा अफसर आ जाय और एक आध घंटे पहिले मालूम पड़ जाये, तो आप बड़ी सफाई करते हैं और अपने मकानको बड़े सुन्दर ढंगसे सजाते हैं। अगर घरके एक कोनेमें हड्डियां रखी है तो उनके आगे सफेद पर्दा लगा देते हैं। तो आप एक आफीसरसे मिलनेके लिए तो घर को साफ और स्वच्छ बनाते हैं और जो भगवान तीनों लोकोंका अधिपति है, शुद्ध है, सब लोकोंका ज्ञाताद्रष्टा है, दोषोंसे अत्यन्त परे है–ऐसे प्रभुको आप अपने घरमें बैठाना चाहें और घरको गन्दा रखें तो क्या प्रभु आपके घरमें आयगा? नहीं आ सकता है। जिसका हृदय अत्यन्त स्वच्छ हो, रागद्वेष–रहित, क्रोध, स्वार्थ, वासना कुछ भी न हो, केवल शुद्धस्वरूपकी जिज्ञासा के लिए अपना लक्ष्य बनाया हो तो प्रभु मिल सकता है।

व्यग्रताका फल उत्तम नहीं, किसी भी उद्देश्यमें व्यग्र मत होओ, समतापूर्वक मुक्तिमार्गमें बढ़ो, यही उत्तम कार्य है, इससे सम्बन्धित प्रवचनांश पढ़िये दोहा–१–१२१, पृ० ९४–भैया, वर्तमानमें इतनी व्यग्रता न होनी चाहिए। कोई सोचे कि महीने दो महीने खूब व्यग्र होलें और फिर शान्तिसे समय निकलेगा तो जो अभीसे व्यग्र हो रहा है उसको शान्तिका समय मिलनेका विश्वास क्या है? थोड़ा सा कष्ट भोगलें, फिर आरामसे रहेंगे। यदि ऐसा सोचना है तो मोक्षके लिए सोचो कि थोड़े समयका दुःख भोगलें, ज्ञान का, तपका, व्रतका, ब्रह्मचर्यका, अकेले रहनेका, थोड़े समयको कष्ट भोग लो, फिर सदा के लिए सर्व प्रकार का आराम रहेगा। सीधा अपना जो स्वरूप है उस स्वरूपरूप अपने को मान लो। दुःख तो यहां है नहीं। दुःख तो बनाये जाते हैं, दुःख बनाना छोड़ दो, सुखी अपने आप हो जावोगे, दुःख बनता है तो परपदार्थोंकी आसक्तिसे। परकी आसक्ति छोड़ दो, बस सब आराम हो गया। लोग पापके फलसे डरते हैं मगर पाप नहीं छोड़ना चाहते और पुण्यसे फलको चाहते हैं मगर पुण्य नहीं करना चाहते हैं। मोहमें दोनों ही तरफके अकल्याणका वातावरण बन जाता है। इस तरह का उत्तम समागम पाकर ज्ञानार्जन का अधिक लाभ उठालें, इससे बढ़कर उत्तम कार्य अपने लिए और कुछ नहींहो सकता है।

(१४८) परमात्मप्रकाश प्रवचन पंचम भाग

इस पुस्तकके परमात्मप्रकाश ग्रन्थके द्वितीय महाधिकारके प्रथम ३५ दोहों पर पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी

सहजानन्द महाराजके प्रवचन है। प्रथम महाधिकारमें परमात्मतत्त्वका उपदेश प्राप्त करने के बाद इस द्वितीय महाधिकार के प्रथम दोहामें मोक्ष, मोक्षका कारण व मोक्षका फल पूछा जा रहा है। इसी प्रश्नका संक्षिप्त विवेचन पढ़िये–दोहा–२–१ के प्रवचनांशमें, पृ० १–यहां प्रभाकर भट्ट योगीन्दुदेवसे उपदेश चाह रहे हैं। हे श्री गुरु, योगीन्दुदेव मेरे को मोक्ष, मोक्षका कारण और मोक्षका सम्बन्धी सर्वफल कहियेगा, जिससे मैं परमार्थ हितको जानूं। इस दोहे में शिष्य भट्ट श्री योगेन्दुदेवसे प्रार्थना कर रहे हैं अर्थात् मोक्ष, मोक्षका फल, और मोक्षका कारण इन तीनों बातोंको पूछ रहे हैं। यह दोहा द्वितीय महाधिकारकी भूमिकारूप है। कोई सा भी संकट आया हो किसी जीव पर तो उसे तीन बातोंकी जिज्ञासा रहा करती है। इन संकटोंसे छूटनेकी स्थिति क्या है और संकटोंसे छूटनेका उपाय क्या है और संकटोंसे छूटनेपर वातावरण या फल क्या मिलेगा–ये तीन बातें उसकी जानकारी के लिए रहती हैं। यह संसारका महासंकट जीव पर छाया है। जो भव्य जीव है, जो संकटोंसे छूटनेको लालसा रखता है वह तीन बातोंको अवश्य जानना चाहता है। जो अभिलाषी है, संकटोंसे छूटनेका, उसको ये तीन बातें जाननी चाहिए। उन्हीं तीन बातोंका प्रश्न योगीन्दुदेव प्रभाकर भट्टने किया है।

उक्त प्रश्नमें पूछी गई तीन बातोंका उल्टा काम भी है जो अभी चल रहा है; उसके सम्बन्धमें भी देखिये–पृ० १–२–इन तीनोंके मुकाबलेमें उल्टी तीन बातोंमें तो यह जीव गुजर ही रहा है। मोक्षका उल्टा क्या है? संसार। संसारका स्वरूप, संसारका कारण और संसारका फल। यह भी इन्हें विदित है कि यह संसारका स्वरूप है। विकल्पोंमें लगे रहना, संकट बनाकर दुःखी रहना, जन्म मरणके दुःख भोगना यह सब संसारका स्वरूप है। संसारका कारण हैं मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र। यही है संसार का फल, यही है दुःखोंका भोगना। रोगी पुरुषकी ६ बातें ज्ञातव्य हैं। यह रोग कैसा है? यह किस कारणसे हुआ है और रोगके फलमें क्या पा रहे हैं। तीन तो ये बाते हैं और तीन बातें ये हैं–रोगसे छूटनेका स्वरूप क्या है, रोगसे छूटनेका कारण क्या है और रोगसे छूटनेपर परिणमन क्या होगा? फल क्या मिलेगा? यों ६ बातें ज्ञातव्य हैं। और, तीन बातें तो भोग ही रहे हैं, उनको तो पूछा ही था। सो शेष तीन बातें मोक्ष, मोक्ष का कारण और मोक्ष का फल यहां पूछा जा रहा है।

उक्त तीनों प्रश्नोंका उत्तर इस ग्रन्थमें क्रमशः दिया जायगा, फिर भी संक्षेपमें उनका दिग्दर्शन अभी २–२ दोहाके कुछ प्रवचनांशोंमें कर लीजिए–पृ० २–तू शुद्ध आत्माको उपलब्धिरूप मोक्षका जान। मोक्षके मायने क्या है? छूट जाना। छूट जानेमें होता क्या है? जो जैसा है वैसा अकेला रह जाता है। अकेला रह जानेका नाम है मोक्ष। दो रस्सी आपसमें बन्धी हैं, उन दोनों रस्सियोंके मोक्षका नाम क्या? अकेले अकेले रह जाना, इसका नाम है मोक्ष रस्सीका। इसी प्रकार जीव और कर्मका अकेले अकेले रह जाना इसका नाम है मोक्ष। अकेलेका रह जाना अच्छा है या दुकेले, चौकेले, अटकेले रहना अच्छा है? दिलसे बताओ, झूठ नहीं कहना। अकेले कोई नहीं रहना चाहता। चाहते हैं कि स्त्री हो, पुत्र हो, मकान हो, मित्र हों। अकेले रहनेमें बड़ी घबड़ाहट पैदा करते हैं, अपनेको अशरण समझते हैं, किन्तु लाभ है अकेले रहनेमें। जो बिल्कुल अकेला रह गया है उसका ही तो हम और आप सुबह ही आकर पूजन वन्दन करते हैं। अकेले रह जाना बुरा होता तो यहां सुबह ही आकर मन्दिरमें माथा क्यों रगड़ते? जिसके आगे आप माथा रगड़ते हो वह अकेला रह गया है। कितना अकेला? घर छोड़ दिया, कुटुम्ब छोड़ दिया, और अब तो सिद्ध है ना। शरीरसे भी छूट गये, कर्म भी छूट गये। खालिस आत्मा, आत्मा रह गया। तो ऐसा अकेला रह जानेका नाम मोक्ष है।

मोक्षका फल और मोक्षका मार्ग (कारण) क्या है–पढ़िये पृ० ३–मोक्षका फल है समस्त विश्वको

जानना और समस्त विश्वको जानते हुए उस आत्माका स्पर्श होना और अनन्त शक्ति होना। वह मोक्ष का फल है। ज्ञान और आनन्दकी सभी चाह करते हैं। वह अनन्त ज्ञान कहां मिलेगा ? केवल आनन्दमें मिलेगा। आनन्दको आशासे हम बाह्य पदार्थोंमें अपना आकर्षण रखते हैं तो जैसे यहां बाह्य पदार्थोंमें आसक्ति रखी, समझो कि हमारा आनन्द वहां समाप्त हो जाता है। मोक्षका मार्ग क्या है ? सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र मोक्षका मार्ग है।

भगवानको नमस्कार करने की दो विधियोंमें कार्य परमात्मा व कारणपरमात्माके धामका संकेत देखिये—दोहा—२—५ के प्रवचनांशमें—पृ० ८—एक कविने कहा है कि प्रभुकी तस्वीर इस हृदयके आइनेमें है। जरा गर्दन झुकावो और अपने इस हृदयके दर्पणमें उस प्रभुको देखलो। भगवानको जो कोई निरखना चाहता है, यह या तो बहुत ऊंचा मुंह करके देखता है या बिल्कुल अंतरंगमें मुंह करके देखता है। अन्य दिशाओंमें या नीचे मुंह लगाकर कोई भगवानको नहीं देखता है। कोई विपत्ति पड़ जाये तो ऊंचा मुंह उठाकर कहते हैं या फिर अपने आत्मामें गड़ करके भगवानको देखते हैं ऐसी जो दो पद्धतियां हैं उसका भाव यह है कि या तो ऊपर सिद्ध लोकमें विराजमान जो मुक्त आत्मा है या तो उसको कहा जा रहा है या फिर अपने आपके आत्मामें बसा हुआ जो ज्ञानस्वभाव है उस ज्ञानस्वभाव को कहा जा रहा है।

सम्यग्दर्शनका स्वरूप और उसके पाने की युक्ति कितने संक्षिप्त शब्दोंमें प्रकट कर दी गई है, पढ़िये दोहा—२—१३ के एक प्रवचनांशमें, पृ० ४४—४५—सम्यग्दर्शन पाने की कई भावनायें और छोटी छोटी युक्तियां हैं। यह मैं सबसे न्यारा केवल अकेला शुद्ध आत्मा ही उपादेय हूं। यह मैं शुद्ध आत्मा ही उपादेय हूं—ऐसी बार बार भावना करके रुचि बनाना सो सम्यग्दर्शनका उपाय है। यह मैं शुद्धात्मा अर्थात् शरीररहित, वैभवरहित, विकल्परहित, सर्वमलिनताओंसे परे केवल प्रतिभासमात्र आकाशकी तरह निर्लेप यह मैं आत्मा ही उपादेय हूं, ऐसी रुचि करना सो सम्यग्दर्शन है।

निश्चयमोक्षमार्ग व व्यवहारमोक्षमार्गकी परख करिये, दोहा—२—१५ के एक प्रवचनांशमें—पृ० ५०—हे जीव जो निश्चय मोक्षमार्गका साधक है उसको तू व्यवहार मोक्षमार्ग जान। सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्ररूप निश्चय रत्नत्रय ही मोक्षका कारण है। परद्रव्योंसे जुदा ज्ञानमात्र आत्माके स्वरूपमें रुचि होना सो सम्यग्दर्शन है और अपने आपके स्वरूपके प्रति ज्ञान होना, विशेषरूपसे यथार्थ गुण पर्यायका परिज्ञान होना सो ज्ञान है और इस ही आत्मस्वरूपमें लीन होना सम्यक्चारित्र है। ऐसा जानने से तू क्या बन जायगा ? परम्परासे पवित्र परमात्मा हो जायेगा। व्यवहार मोक्षमार्ग ही इस जीवका प्रथम पुरुषार्थ है। उसके प्रतापसे ही उत्तरोत्तर विकास होकर निश्चयमोक्षमार्ग प्रकट होता है। वीतराग सर्वज्ञदेवके द्वारा प्रणीत जीव, अजीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, कालका सम्यक् श्रद्धान होना, ज्ञान होना और आत्मसंयमके लिए व्रत आदिका अनुष्ठान होना—यह सब व्यवहार मोक्षमार्ग है और निज जो सहजशुद्ध आत्मस्वरूप है ज्ञानमात्र ध्रुव उस स्वरूपका वास्तवमें स्वरूपरूप आत्मतत्त्वका सम्यग्दर्शन होना, ज्ञान होना और अनुष्ठान होना यह है निश्चयमोक्षमार्ग।

हम अर्थभगवान, शब्दभगवान व ज्ञानभगवान इन तीन में से किसकी भक्ति किया करते हैं, इसका समीक्षण कीजिये दोहा—२—२१ के एक प्रवचनांशमें, पृ० ६६—भगवानको तीन रूपोंमें निरखो—अर्थभगवान, शब्दभगवान और ज्ञानभगवान। अर्थभगवान और शब्दभगवानसे आपका कोई सम्बन्ध नहीं है। वह अपनी जगह पर है, हम अपने प्रदेशोंमें हैं। आप हम यहां चिल्लाते रहें तो उससे उस भगवान पर कुछ नहीं गुजरता है। वह प्रभु रागमें आकर, अपने उत्तम पदसे आकर हम आप जैसे लटोरे खचोरोंको हाथ

पकड़कर तारने नहीं आता है। वह सकल ज्ञेय ज्ञायक और निजानन्द रसलीन है और शब्दभगवान-भ ग वा न, यों चार वर्ण लिख दिया गया हो अथवा बोला गया हो वह है शब्द भगवान। सो शब्द भगवानसे हमारा वास्ता क्या ? शब्द भगवान की हम भक्ति नहीं करते। अर्थभगवानके सम्बन्धमें जो हमने ज्ञान बनाया, जो कुछ समझा, वह है मेरा ज्ञान भगवान। तो हम अर्थभगवानकी भक्ति नहीं करते हैं, किन्तु ज्ञान भगवानकी भक्ति करते हैं। भगवानकी मूर्तिके सामने खड़े होकर भी यदि अपने हृदयमें, ज्ञानमें, घर वैभव बसा हुआ हो तो हम वहां किसकी भक्ति कर रहे हैं ? ज्ञानकी, ज्ञानपुत्रकी, जड़ज्ञानकी भक्ति कर रहे हैं तो भगवद्भक्ति नहीं कर रहे हैं। आयें अर्थात् उस ज्ञानमें भगवानके गुण बस रहे हों, उनके गुणोंका स्मरण कर रहे हों, ऐसी शुद्ध स्थितिमें यदि हम रहते हैं तो हमने भगवानकी भक्ति की अन्यथा जो भी बस रहा हो उसकी पूजा हो रही है। जो हृदयमें बसा हुआ हो, उसकी ही चाह कर रहे हैं। जिनमें मोह बस रहा है वे खुश रहें, ऐसा बुद्धिसहित पूजा है तो भगवानको कुछ नहीं चढ़ रहा है वह उनको ही चढ़ रहा है।

कालद्रव्यका स्वरूप प्रतिपादन करने वाले-२-२१वें दोहाके प्रवचनोंमें एक प्रवचनांशमें गृहस्थोंको निर्ममत होकर घरमें रहने की दिशा दी है उस प्रवचनांशपर ध्यान दीजिये-पृ० १२ :-जैसे हम और आप कुछ दिनोंसे एक साथ हैं साथ रहते हुए में जितना चाहिए उतना हम आपसे अनुराग व्यवहार करते हैं और जितना आपको चाहिए हमसे उतना व्यवहार अनुराग करते हैं, पर भीतरमें आपकी हमसे ममता है और न हमें आपको ममता है और व्यवहार भी ठीक चल रहा है जैसा कि करना चाहिए, पर अन्तरमें ममता है, चाह क्या किसी के नहीं है-दो चार दिन और बीतेंगे, खुशी खुशीसे आप अपने घर जायेंगे, हम भी कहीं भ्रमण कर जायेंगे। देखो सम्बन्ध बन गया है लेकिन ममता नहीं है। तो क्या यह बात घरमें नहीं हो सकती है ? कि सम्बन्ध बना रहे और ममता न रहे ? सम्बन्ध होते हुए भी ममता नहीं है ऐसा घरमें किया जा सकता है। दृष्टिका प्रताप तो सब जगह है। तो हमारे परिणमनमें जो खोटे और विकारके प्रयत्न होते हैं उनमें तो बाहरी पदार्थ भी निमित्त होते हैं और काल द्रव्य तो हैं ही, और खोटे परिणाम न हो, विकार के परिणाम न हो, शुद्ध परिणाम हों तो उसमें सिर्फ कालद्रव्य निमित्त है। दूसरे और द्रव्य निमित्त नहीं हैं।

(१४८) परमात्मप्रकाश प्रवचन षष्ठ भाग

इस पुस्तकमें परमात्मप्रकाशके द्वितीय महाधिकारके ३६ वें दोहोंसे ९४ वे दोहा तकके पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराजके प्रवचन हैं। वह आत्मा संवर निर्जरा रूप है, सकलमंगलरूप है जो समतासे परिपूर्ण है, आत्मस्वरूपमें लीन है, सकलविकल्पोंसे विहीन हैं, पढ़िये दोहा २-४३८ का एक प्रवचनांश, पृ० :-मुनिराज जितने समय तक आत्मस्वरूपमें लीन हुए रहते हैं अर्थात् वीतराग नित्यानन्द परम समरसी भावसेपरि-णमते हुए आत्मस्वभावमें लीन रहते हैं उतनेसमय हे प्रभाकरभट्ट तू उनको समस्त विकल्पोंसे रहित संवर और निर्जरा रूप जानो। महिमा है आत्मस्वरूपमें लीन होनेकी। आत्मस्वरूपमें लीन वहीपुरुष होता है जोअपनेको ज्ञानस्वरूप मानकर रहता है। मैं केवल ज्ञानस्वरूप हूं, मात्र ज्ञानरूप हूं। ऐसी बराबर भावनाके परि-णाममें जीवको ऐसी स्थिति हो जाती है कि वहां संकल्प विकल्प नहीं रहते है। ऐसे संकल्प विकल्पसे विहीन उस मुनिराजको तुम साक्षात् संवर और निर्जरा जानो। विकल्प जालोंमें कौन विकल्पजाल तो खोटा और बाधक होता है और कौन विकल्पजाल कर्मोंके विपाकसे उत्पन्न होता है, पर जीवके मोक्ष-मार्गमें बाधक नहीं होता। सूक्ष्म दृष्टिसे तो सभी बाधक हैं, पर मुख्य रूपसे सब अनुराग विशेष बाधक नहीं होते हैं। अपनी जगतमें ख्यातिकी चाह हो तो यह बहुत बड़ा बाधक विकल्प है।

ज्ञानी संत पुरुष जीवन मरण लाभ अलाभमें समताभाव रखते हैं, इनमें आत्माका लाभ नहीं है, विकल्प-त्यागमें लाभ है। सत्यलाभकी प्रेरणा कीजिये दोहा २-३६ का एक प्रवचनांश, पृ० ६—ज्ञानी पुरुष जीवन और मरणको एक समान गिनते है, इसी प्रकार किसी का लाभ हो तो दोनों ही स्थितियोंमें एक समान मानते हैं। धन वैभव इज्जत प्रशंसा आदि किसी बात का लाभ हो गया तो उसमें आत्माका क्या बढ़ गया बल्कि घट गया, और लाभ न हुआ कुछ तो इससे आत्माका क्या घट गया। परवस्तुके परिणमनसे इस आत्माको न लाभ है और न अलाभ है। यह विकल्प करे तो अलाभ है और विकल्प त्याग दे तो लाभ है। लाभ और अलाभ में ज्ञानी संत पुरुषों के समान-बुद्धि है। अच्छा गृहस्थावस्थामें यदि धन बढ़ गया तो कौन सा बड़प्पन पाया और धन घट गया तो कौन सी आत्माकी बात बिगड़ गई? यह जो लौकिक व्यवहार हैं वह मायामय है, असार है। किसी ने भला कह दिया तो उससे कुछ मिलता नहीं और किसी ने बुरा कह दिया तो उससे कुछ गिर नहीं जाता। लाभ अलाभ उस ज्ञानी संत पुरुषके एक समान होता है। कोई सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्रका धारण और पोषण करे तो यह आत्माके लाभकी बात है।

आन्तरिक भेदविज्ञानमें सम्यग्ज्ञानका लाभ है, इसका मनन कीजिये—दोहा-२-४० के एक प्रवचनांशमें; पृ० १४-१५—मैं ज्ञानमात्र हूं, अन्य किसी रूप नहीं हूं। यदि उपयोगमें कोई अन्य अन्य रूप भी आये तो उनका निषेध करते जाइये, इस रूप मैं नहीं हूं। मैं तो शुद्ध सहज ज्ञानमात्र हूं, ऐसे अपने इस शुद्ध ज्ञान-स्वरूप आत्मतत्त्वके सम्वेदनसे उत्पन्न हुआ वीतराग आनन्द मधुर रससे स्वादमय यह मैं आत्मा कहां तो ऐसा अलौकिक निधिवान और कहां ये कटुकरस वाले क्रोधादिक विकार। जैसे किसी गाड़ी में ऊंट और गधा दोनों एक साथ जोते जायें तो देखने वाले हंसगे कि खुश होंगे? एक बड़ी गाड़ी है, एक तरफ गधा और एक तरफ ऊंटका जोतना यह तो बेजोड़ मिलान है इसी प्रकार एक ओर तो यह आत्मा सहज शुद्ध ज्ञायकस्वरूप भगवान है, यदि उसके साथ लगा दिये गये कामक्रोधादिक विकार हैं तो यह बेजोड मिलान हैं। ज्ञानी जन तो इसे देखकर हंस ही देंगे। अज्ञानी को क्या खबर है? वह तो स्वरूप और ज्ञेय दोनोंको एकमेक मिला कर के अनुभव करता है। ऐसे आत्मस्वरूप और निरन्तर आकुलताओंके उत्पादक कटुक जिनका फल है ऐसे काम क्रोधादिकमें भेद विज्ञान बनाना सो ही सम्यग्ज्ञान है।

पारिणामिक भावका व्युत्पत्ति के अनुसार मर्म परखिये वस्तुस्वातंत्र्यकी झलक मिलेगी, पढ़िये २-४३ दोहा का एक प्रवचनांश पृ० २१—पारिणामिक भावका अर्थ क्या है? जिसका परिणाम प्रयोजन हो, स्वयं तो निश्चल है, स्वयं तो बदल नहीं जाता चेतन से अचेतन नहीं, अचेतन से चेतन नहीं होता, स्वयं तो अपरिणामी है, पर निरन्तर परिणमते हुए रहना प्रयोजन है। कोई किसी वस्तु से पूछे कि तुम क्यों हो जी? तुम्हारे होने का क्या मतलब है? तुम किसलिए अस्तित्व रखते हो? तुम्हें तो कुछ आवश्यकता नहीं, तुम्हारे अस्तित्व रखनेका क्या प्रयोजन है? तो उनका उत्तर है-हम मोड़ाफाई करें, हम इसलिए हैं। सर्वत्र हम परिणमते रहने के लिए हैं। हमारे होनेका कोई दूसरा प्रयोजन नहीं है। सभी वस्तुओं की ओर से यह उत्तर मिलेगा। तो सब वस्तुएं है और अपने में ही परिणमती हैं, दूसरे पदार्थों का द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव कुछ भी ग्रहण नहीं कोई दूसरा करता है। तो सभी द्रव्य सदा मुक्त हैं।

साधुके समता परिणामका अलंकार भाषामें स्तवन पढ़िये; दोहा २-४४ का एक प्रवचनांश पृ० २६—जो साधु समता परिणामको करता है उस साधुमें दो दोष उत्पन्न हो जाते हैं। क्या? एक तो अपने बन्धुको नष्ट कर देता है और दूसरे-जगतके प्राणियोंको पागल बना देता है। अब की तो जा रही है स्तुति पर

सुनने में लग रहा होगा कि निन्दा की जा रही है। जो समता परिणामको करते हैं वे बन्धुको नष्ट करते हैं। बन्धु शब्द प्राकृतमें दो अर्थ रखता है–बन्धु मायने घरके लोग और दूसरे–कर्म का बन्धन। जो समता परिणामको करते हैं वे बन्धुका खतम करते हैं, वे कुटुम्बके लोगोंको नहीं खत्म करते, कर्मों को खत्म को खत्म करते हैं। शब्द सुनने में ऐसा लगता है कि यह बन्धु को खतम करता है। दूसरा दोष बतलाया है कि जगतको बहल कर देता है, जगतको पागल बना देता है। जो कोई इनके उपदेश सुनते हैं, वस्त्राभूषण त्यागकर घरद्वार छोड़कर साधु बन जाते हैं ऐसा लोगोंको दिखता है कि इनके उपदेश ने तो इसे पागल बना दिया है। जैसे किसी साधु के उपदेशको सुनकर अपना लड़का भी साधुके पास रहने लगे या घर की परवाह न करे तो कहते है कि साधु महाराज ने तो इस लड़के को पागल बना दिया, उसका न घरमें मन लगता न किसी काममें चित्त लगता, उसे तो सत्संगमें ही रहना सुहाता है, दिमाग फेल हो गया है, तो दूसरा दोष यह बताया है साधु पुरुषका। पर यह क्या दोष है? यह तो स्तवन है।

साधुको समतापरिणामका कितना महान लाभ मिलता है इसका चित्रण एक अलंकार भाषामें देखिये–दोहा २–८६ का एक प्रवचनांश पृ० २८–२९–यह बहुत बड़ा दोष कहा जा रहा है। उस साधु पुरुषके जो समता परिणाम करता हो उसे एक और दोष होता है। वह क्या होता है? कि वह बड़ा विकल होकर इस जगतके ऊपर चढ़ता है। इसमें कितनी निन्दा है कि वह तपस्वी साधु विकल होकर जगतके ऊपर चढ़ता है। इसका अर्थ देखो–विकल होकर अर्थात् शरीर रहित होकर वि मायने रहित और कल मायने शरीर जो समता परिणाम करता है वह शरीर रहित होकर अकेला जगतके ऊपर लोकके शिखर पर चढ़ता है मायने लोकके अन्तमें चढ़ता है और इसमें दोष रूप वर्णन तो प्रकट शब्दमें भरा है। विकल हो कर इस जगत के ऊपर चढ़ता है। जैसे कोई अधनी पुरुष अपने पर हमला करे तो उसे कहते है कि यह इतना उदण्ड है कि हमारे ऊपर चढ़ता है, इसी प्रकार यह समता परिणाम वाला साधु कैसा है कि लोक के ऊपर चढ़ जाता है। प्रशंसा का अर्थ यह है कि लोकशिखर के ऊपर चढ़कर सिद्ध बन जाता है। यहां यह अभिनन्दन है कि तपस्वी रागादिक विकल्पसे रहित परम उपशम रूप निज शुद्ध आत्माकी भावनाको करता है वह कल अर्थात् शरीरको छोड़कर लोकके ऊपर विराजमान हो जाता है। इस शब्द से स्तुति प्रकट होती है। कल मायने शरीर जो भारी वादविवाद करे, वचनालाप करे उसे कहते हैं कल कल कर रहा है, मायने वे शरीर शरीर आपसमें भिड़ रहे हैं। वचनों से लड़ाई हो रही हो उसे कहते हैं कल कल। जहां आत्माकी बात न हो, विवेककी बात न हो वहां तो कलकल है। लड़ाई भिड़ाई के जहां वचन बोले जाय उसे कलकल कहते हैं। तो ऐसे कलकल को छोड़कर लोकके ऊपर समता परिणाम वाले मुनि ठहरते हैं, इस कारण से तो हो गई स्तुति।

ज्ञानी पापोदय व पुण्योदय दोनोंमें एक सम न है, इसकी एक झांकी कीजिये २–५६ दोहाके एक प्रवचनांश में–पृ० ५८–हे जीव जो पापके उदयमें दुःख आयें और वह दुःख शीघ्र ही मोक्षमार्गके उपायकी बुद्धि कर दे तो वह पाप भी बहुत अच्छा है ऐसा अज्ञान ज्ञानीजन कहते हैं। यह उनका प्रत्युत्तर है जो लोग इस दृष्टिमें बैठे हों कि पुण्यविना तो धर्म किया हो नहीं जा सकता, दान करना, पूजा करना, शुद्ध भोजन करने की भी जब बात छिड़ती है तो सब अधिक देखा जाता है, शुद्ध भोजन करना, पूजन करना या दान करना या किसी को आहार कराना ये बातें पैसे विना कैसे होंगी? पैसा मिलता है पुण्यसे तो पुण्यका धर्म के कार्योंके लगनेमें बड़ा हाथ है ऐसी जिनकी दृष्टि है उनको उत्तर दिया जा रहा है कि देखो पापका भी कितना बड़ा हाथ है–जीवको धर्ममें लगाने में कि जिस पापके कारण जीवको दुःख

उत्पन्न होता है, इसलिए उसकी शीघ्र ही मोक्षमें जाने योग्य बुद्धि हो जाती है। पुण्यसे भी कई गुने भले की बात इस पाप ने करदी। भैया ऐसा कहकर कहीं पापको एकान्ततः भला नहीं बता दें, किन्तु पुण्य जिनकी दृष्टिमें भला जचता हो उनको दृष्टिमें समाधान दिया जा रहा है। लो यों देख लो अब तो जान जावोगे कि पुण्य और पाप दोनों ही समान होते हैं। जिस दुःखमें उस दुःखके विनाश के लिए जहां भेद और अभेद रत्नत्रयात्मक श्री धर्म की प्राप्ति जीव करता है वह वास्तवमें पापके द्वारा उत्पन्न हुआ दुःख भी श्रेष्ठ है।

पापकर्म व पुण्यकर्म की समानताकी एक झलक ले लीजिये दोहा २–६० के एक प्रवचनांशमें, पृ० ७१– जैसे लोग कहते हैं कि यदि पुण्य हो, आजीविका के साधन हों तो धर्म करते बनता है। फिर चित्त भी धर्ममें लगता है, तो देखो खाने पीने वगैरहा की सुविधा युक्त पुण्य हो तब तो धर्मका भी समय निकले, खाने पीनेके ही लाले पड़े रहते हैं, रात दिन विकल्प मचाकर खाने पाने को ही सुविधा नहीं बनायंगे तो क्या आगे बढ़ेंगे? तो देखो पुण्य अच्छा है कि नहीं? कुछ समझमें आया, हां पुण्य अच्छा तो हुआ। अच्छा तो इस ओर देखो कि पापका उदय है, दुःखसे दुःख पैदा होते हैं, दुःखोंके विनाशका उपाय धर्म है, दुःखोंके विनाशके लिए धर्म को ओर चित्त जा रहा है, तो देखो पापका उदय भला हुआ कि नहीं? हां समझमें आया कि यह भी भला है। अच्छा पाप बुरा है ना? हां बुरा है, क्योंकि पापके कारण दुर्गतिमें जाना पड़ता है, बड़े बड़े कष्ट भोगने पड़ते हैं। अच्छा जरा इस ओर देखें–पुण्यसे मिला वैभव, वैभवसे हुआ अहंकार, अहकारसे बुद्धि भ्रष्ट भी हुई और बुद्धि भ्रष्ट होनेसे पाप हुए और उससे मिला नरक। तो पुण्यने कहां पहुचाया? खोटी गतिमें। सो पुण्य भी बुरा है। कितने ही दृष्टान्तोंसे निरखते जाओ–पुण्य और पाप दोनों समान मिलते चले जायेंगे। यह ज्ञानी पुरुषका चिन्तन है और यह कथन उन्हींको शोभा देता है जो पापको छोड़कर शुभ परिणतियोंमें आ गये हैं। और जो पुण्यको छोड़ बैठे हैं, पापमें रत हैं उन्हें वह शोभा नहीं देता है कि पुण्य और पाप दोनों समान हैं।

जिस कारण समयसारकी प्रतीतिसे रहित पुरुषके जप तप आदि शिवप्राप्तिमें कुछ भी सहयोग नहीं दे सकते, इसका परिचय कीजिये २–६५ के एक प्रवचनांशमें। पृ० ८६–यद्यपि आगमोक्त शुद्ध विधानसे वन्दन निन्दन, प्रतिक्रमण, आलोचना आदि किये जायें तो वे भी फलदायक हैं तथापि ये सब किसलिए करना चाहिए उस भावका लक्ष्य नहीं है तो ये वन्दन प्रतिक्रमण आदिक एक कल्पित धुनिकी पूर्ति करके समाप्त हो जाते हैं। जैसे किसी असमर्थ फटाके में आग देनेसे फुस होकर वह खत्म हो जाता है, अपना कार्य पूर्ण नहीं कर पाता है, इसी तरह एक ज्ञानमय भावकी झलक बिना और क्या रहना चाहिए–ऐसा निर्णय बिना ये वन्दन, प्रतिक्रमण, ध्यान, पूजन, तप, संयम आदि फुस होकर समाप्त हो जाते हैं अर्थात् जितना कल्पनामें समझ रखा है उतनी ही इति श्री करके रह जाते हैं। इस उत्कृष्ट तत्त्वका ज्ञान होना, लक्ष्य होना सबके लिए आवश्यक है। साधु हो अथवा गृहस्थ हो लक्ष्य विशुद्ध हुए बिना मुक्तिके मार्गमें कदम उठाया ही नहीं जा सकता है।

(१५०) परमात्मप्रकाश प्रवचन सप्तम भाग

इस पुस्तकमें द्वितीय महाधिकारके ९५ वे दोहासे १५२ दोहा तकके पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराजके प्रवचन हैं। २–९५ वें दोहामें कहा है कि रत्नत्रयभक्त मुनिका यह लक्षण कि वह देहके भेदसे जीवमें भेद नहीं डालता है याने सर्व जीवोंको एक समान मानता है, देखिये एक प्रवचनांशमें, पृ० १–जो मुनि रत्नत्रयका भक्त है उसका यह लक्षण जानना कि वह किसी भी कुटीमें शरीरमें कोई जीव रहो, उस जीवमें यह ज्ञानी पुरुष भेद नहीं करता है। अर्थात् शरीरके भेदसे जीवोंमें भेद नहीं डालता है। यह सब दृष्टिका

प्रताप है। जहां जीवके सहजस्वरूपपर दृष्टि है वहां एक ही स्वरूप सर्वत्र दृष्ट होता है। शरीरके भेदसे जीवका भेद नहीं ज्ञात होता। अद्वैतवादमें और जैनसिद्धान्तके एकत्ववादमें अन्तर इतना ही है कि जैन सिद्धान्त तो स्वभावमें दृष्टिको लेकर अद्वैतका वर्णन करता है और अद्वैतवाद सर्वप्रकार से सर्वत्र सर्वदा एक ही अद्वैतका कथन करता है। जैसा सर्वथा अद्वैतवादका सिद्धान्त है–सर्वत्र जीव एक है, उसमें भेद नहीं है, शरीरके भेदसे भेद करना उपचार है। तो इस स्वभावदृष्टिके अद्वैतवादमें इस स्वभावके अनुभवी पुरुषको स्वभावमात्र दृष्ट हो रहा है। उसके तो फिर इस एकपनेका भी विकल्प नहीं है, किन्तु निज अद्वैतका अनुभव है।

समभावस्थित सर्वजीवोंको समान परखने वाला मुनि अपने जीवन मरणमें साम्यभाव रखते हैं, इसका दिग्दर्शन कीजिये–२–१०० दोहा के एक प्रवचनांशमें, पृ० ११–मुनिजन वीतराग निजानन्द एकस्वरूप निज शुद्ध आत्मद्रव्यकी भावना किया करते हैं और इस भावनाके विपरीत रागादिकका परित्याग करते हैं। वे समस्त जीवोंको ज्ञान दर्शन स्वरूपकी ओर से एक समान जानते हैं, वे ही पुरुष सम्भावनास्थित हैं। उनके जीवन और मरण एक समान हैं। ये मनुष्य क्यों जीना चाहते हैं। केवल पर्यायबुद्धि करके ऐसा मान लिया कि मैं इस लोकमें कुछ हूं, इस लोकमें मेरा सम्मान है, इज्जत है, ऐसा जानकर अपनी इज्जत व अपने सम्मानसे मोह होता है। उसके कारण यह जीना चाहता है। उन सब समागमोंसे प्रीति होती है, जो समागम मिले हैं उन्हें छोड़ नहीं सकते हैं। इच्छासे जीना चाहते हैं, किन्तु जिस आत्माने जान लिया कि मेरा स्वरूप केवल ज्ञानमात्र है और उस ज्ञानको ही कर पाता हूं, ज्ञानको ही भोग पाता हूं तो उसको इस लोकमें जीने की इच्छा न होगी। यहां रहें तो क्या, कहीं गये तो क्या? हम तो अपने आपमें ही हैं। ऐसे ज्ञानवाले मुनिजनोंको जीवन और मरण दोनों एक समान हो जाते हैं।

धंधाका अन्धाधुंध काम है, जरा २–१२३ में दोहाके एक प्रवचनांशको पढ़िये–पृ० ६९–यह जीव लोक–धन्धमें पड़ गया। धन्धा किसे कहते हैं–जो आत्माके स्वरूपकी चीज न हो और किसी निमित्त अथवा धुनसे उत्पन्न हुआ हो उसे धन्धा कहते हैं। अथवा खोटे ध्यानोंके कारणभूत पदार्थोंका व्यासंग करे, संग्रह करे, तत्सम्बन्धी अनेक चिन्तायें रखे, इन सबको धन्धा कहते हैं। जैसे कोई लोग पूछते हैं कि भाई साहब आप क्या धन्धा करते हैं? तो उसके पूछने का शब्दोंसे यह अर्थ निकलता है कि भाई साहब आप कौन कौन से ख्याल बनाकर अपनेको दुःखी किया करते हैं? धन्धा कहते हैं खोटे ध्यानको, व्यासंगको। जो मलिन आशय बनाता है उसका नाम धन्धा है।

मरनेका क्या डर मानना, मरने वालेको टोटा नहीं रहता, टोटा तो जिन्दा बचे रहने वालेको है, यह रहस्य देखिये दोहा २–१२६ के प्रवचनांशमें पृ० ८–भैया, मरने वाले से ज्यादह दुःख बचने वाले को है। मरने वाला तो मर गया, नया जन्म पा गया। जहां गया होगा उसे नई दुनिया दिख रही होगी। हम लोगों का ध्यान न होगा, और जो घरमें जिन्दा बच गया है उसके ज्ञानमें तो सारी बातें ही हैं–हमारा यह गुजर गया, कितना अच्छा बोलता था, कितना अच्छा गुण, कैसा हुआ था। सारी बातें विदित हैं ना, तो उसका वियोग होने पर जो बच गया है उसको दुःख है। तो टोटे में यह बचने वाला ही रहा। मरने वाला टोटे में नहीं रहा। मरने के कारण, वियोग के कारण मरने वाला टोटेमें नहीं रहा। उसने यदि अपने जीवन में अन्याय किया, पाप किया, छल किया तो इस कारण से वह टोटे में रहा, पर मरने के कारण वह टोटे में नहीं है। जो यह जिन्दा रह गया है वह वियोगकी घटना गुजरने के कारण टोटे में है।

अध्रुव देहमें विराजमान ध्रुव कारणपरमात्मतत्त्वकी भावनामें अनित्यभावनाके उद्देश्यकी पूर्ति पढ़िये, दोहा २–१३३ के प्रवचनांशमें, पृ० १०१–भैया, अनित्य भावना पानेमें, केवल अनित्य ही अनित्य समझनेसे लाभ नहीं मिलता, किन्तु नित्य क्या है, यह दृष्टिमें रखकर फिर इन पदार्थोंको अनित्य समझनेसे लाभ मिलता है। जैसे जानते जायें कि यह मकान मिटेगा, धन मिटेगा, शरीर मिट जायगा, जो है सो मिट जायगा–ऐसा सुनकर तो इस अनित्यकी भावनासे और घबड़ा जायेंगे। मकान मिट जायगा, देह मिट जायगा, तो इससे तो आकुलता ही बढ़ने लगेगी, पर अनित्य भावनाके बीचमें ज्ञान यह भरा हुआ है कि तुम यह जानो कि जितना जो कुछ दिखता है, जिस पदार्थ रूपमें वे सब विनाशीक है, किन्तु इन सबके अन्तर परमार्थभूत जो जीवतत्त्व है, आत्मतत्त्व है वह अविनाशी है और बाहरके अनात्मतत्त्वोंको दृष्ट करनेसे मिलेगा क्या ? अपने आपका जो शुद्ध जीवस्वरूप है वह ध्रुव है। उस ध्रुवको इस दृष्टि में लेकर, उस ध्रुवकी भावना करके इन सब अध्रुव पदार्थोंकी प्रीति छोड़नी चाहिए।

योगी पुरुषका परिचय पाइये दोहा २–१४० के एक प्रवचनांशमें पृ० ११८–योगी पुरुष वही है जो पंचेन्द्रियसे अलग होकर अपने निश्चय रत्नत्रयरूप आत्माका ध्यान करता है। ये इन्द्रियां पंचमगतिके सुखका विनाश करने वाली हैं। यद्यपि ५ वीं कोई गति नहीं होती मगर चार गतियां जब नहीं रहती है, ऐसी अवस्थाका नाम पंचम गति रक्खा है। ये पंचेन्द्रियां शुद्ध आत्माकी भावना की विरोधी हैं। सो इन इन्द्रियोंसे दूर होकर जो अपने आत्मस्वरूपका ध्यान करते हैं वे ही योगी कहलाते हैं। योगीका अर्थ है जो समाधिस्थ हो। जो अपने आपको चेते उसे योगी कहते हैं। योगका अर्थ जोड़ है। जैसे कइ संख्या लिखकर जोड़ते है तो नीचे लिखते है योग। तो योग मायने जोड़ देना, मिला देना। अनेकता न रहने देना। दस रकमें हैं उन्हें जोड़ दिया, वही योग हो गया। तो योग का अर्थ जोड़ना है। तो जो पुरुष अपने उपयोगको अपने शुद्ध आत्मामें जोड़ता है उसको कहते हैं योगी। अर्थात् वीतराग निर्विकल्प समाधिस्थ जीव अथवा अनन्तज्ञानादि जो स्वरूप है उस शुद्ध स्वरूपमें परिणम जाना, इसका नाम योग है। और योग जिन जीवोंके होता है उन्हें योगी पुरुष कहते हैं। अर्थात् ध्यानी और तपस्वी कहते हैं।

पंचमकालमें भी कारणपरमात्मतत्त्वकी उपासना करने वालोंकी प्रशंसाकी एक झांकी–दोहा–२–१४२ में देखिये–पृ० ११८–भैया, चतुर्थकालमें तो अरहंत भी देखनेको मिलते थे, ऋद्धिधारी मुनि भी दर्शनके लिए मिलते थे, देवोंका भी आगम न था। उनको देखकर धर्मको रुचि होती थी। अवधिज्ञानी पुरुष थे, धर्म का साक्षात् प्रभाव भी देखनेको मिलता था। दूसरोंको अवधिज्ञान हो, मनः पर्यय ज्ञान हो, केवलज्ञान हो, इस बातको देखकर अपनेको भी सम्यक्त्वको भावना जगती थी। और जब निरखते थे ऐसे परम देवोंको तो उनके चरणोंमें बड़े बड़े राजा, चक्रवर्ती मुकुटधारी सेवा करने आये थे और बड़े बड़े राजा महाराजा धर्ममें रत दिखते थे। बलभद्र चक्रवर्ती जैसे महापुरुष भी थे जो धर्ममें प्रमुख थे, ऐसी ऐसी बातें जहां दिखतो थीं वहां धर्म में कोई लग जाय, विरक्त हो जाय तो कोई आश्चर्यको बात न थी, किन्तु आज जैसे रीतिकालमें जहां न कोई अरहत मिले और न कोई ढंगसे साधु मिले, न कोई धर्ममें बहुत लवलीन रहने वाले ऐसे राजा महाराजा बड़े पुरुष मिलें और फिर भी किसीको अपने आपमें ज्ञान जगे, विरक्ति जगे, विषयों की प्रति हटे, विषयोंका परित्याग करे तो यह बहुत ही बड़ी प्रशंसा की बात है।

आत्महितके लिए ज्ञानमय कारणपरमात्मतत्त्वकी दृष्टि करनेका आदेश देखिये–दोहा–२–१५२ के एक प्रवचनांशमें पृ० १०२–भैया, अपनी सृष्टि "मैं" के निर्णय पर निर्भर है। मैं अपनेको किस रूप मानता हूं,

बस सारी सृष्टि इसके आधार पर चलती है। यह देहादि पर द्रव्योंमें मैं की बुद्धि जगे तो जन्म मरणकी परम्परा ही इसकी सृष्टि बनती है। और, केवल ज्ञानमात्र स्वरूप इस आत्मज्योतिमें ऐसी सृष्टि बने कि मैं तो यह ज्ञानज्योति मात्र हूं ऐसी दृष्टि बने तो जिसकी दृष्टि ऐसी बन गई, जिसकी इस ओर लगन हो गई, उसकी जन्म मरणकी परिपाटी दूर होकर ज्ञानविकास, आनन्दविक संस्वरूप मोक्षमार्गकी ओर मोक्षकी सृष्टि होगी–ऐसा तू अपने आपका निर्णय कर। इस देहसे अत्यन्त निराले स्वरूपवाला है; देह तो लोग मरने पर जला डालते हैं, तो क्या तू जलाये जाने वाली चीज है? इस देहसे न्यारा जो ज्ञानमय स्वरूप है उस आत्माको तू देख।

(१५१) परमात्मप्रकाश प्रवचन अष्टम भाग

इस पुस्तकमें परमात्मप्रकाश ग्रन्थके द्वितीय महाधिकारके १५४ वें दोहे से लेकर अन्तिम छन्द २१४ वें तक के पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराजके प्रवचन हैं। १५४ वें दोहामें आत्माधीन सुखमें सन्तोष करने का आदेश दिया है, पढ़िये एक प्रवचनांश पृ० १–हे वत्स, जो आत्माधीन सुख है उससे हो तू सन्तोष कर। इन्द्रियाधीन सुखको चिंतने वालेके हृदयमें दाह नहीं मिटती है। पराधीन सुखकी इच्छामें चित्तमें दाह बना रहता है। इच्छा ही स्वयं दाह है और इच्छा के अनुकूल बात न हो तो उस दाह की ओर वृद्धि होती है। कदाचित् इच्छाके अनुकूल सिद्धि भी हो गई तो उसे भोगनेकी आकुलता रहती है। इन्द्रियाधीन सुख सुख नहीं है। वह तो विडम्बना है। एक आत्माधीन सुख ही वास्तविक सुख है। इसमें कई गुण हैं। प्रथम तो यह आत्माधीन सुख आत्मासे ही उत्पन्न होता है। उसे किसी पर की आधीनता न चाहिए। अन्य द्रव्योंकी अपेक्षा न निरखनेसे उत्पन्न हुआ वह सुख है। दूसरे वह सुख गुणोंका जगाता हुआ उत्पन्न होता है। ज्ञानसे सम्बन्ध रखते हुए वह आनन्द है। भूल भुलावे का वह मौज नहीं है। जैसे संसारी मौज है तो वह भूल भुलावेको बढ़ाता हुआ होता है. किन्तु वह आत्मीय आनन्द ज्ञानभावको जगाता और बढ़ाता हुआ होता है। यह शुद्ध आत्माके सम्वेदनसे उत्पन्न होता है। ऐसा जो आत्माधीन सुख है, हे वत्स तू उस सुखमें ही संतोषकर।

अपने उपयोगको अपने कारणपरमात्मतत्त्वमें मिला देनेमें धर्मपालन है, कल्याण है इसी से मानव जीवन सफल है। इसकी प्रेरणा लीजिये दोहा १५७ के एक प्रवचनांशमें, पृ० ६–यह सविकल्प आत्मा यदि परमात्मामें नहीं मिलाया जाता–यहां किसी दूसरे परमात्माको मिलाये जाने की बात नहीं कही है, किन्तु यह कहा जा रहा है कि यह सविकल्परूपसे उपस्थित हुआ निजात्मा और स्वभावदृष्टिसे अनादि अनन्त अहेतुक विराजमान शुद्ध चैतन्यस्वरूप भगवानमें अपनेको नहीं जोड़ते हैं तो उसका और धार्मिक क्रियाओंके योगका क्या नफा मिलेगा? जब तक यह अपनी धुनका पक्का न हो सकता तब तक यह अपने कार्यमें सफल नहीं होता। जीकर करना क्या है? धन जुड़ गया लाखोंका, करोड़ों, मगर उससे मिलेगा क्या? मृत्यु होगी, अकेला ही जायगा और अकेला ही संसारके सुख दुःख भोगेगा। क्या मिलता है? यहां किसी के व्यवहार करनेसे, किसी के अनुरागमें, प्रेमालापमें अपना समय खो देने से इस जीवके हाथ कुछ नहीं आता है–बल्कि कुछ ही समय बाद जो राग वश समय खोया है उसका इसे पश्चाताप होता है।

मनको मार जाना ही मनकी उत्कृष्ट स्थिरता है और स्थिर मनमें ही धर्मका वास सम्भव है, देखिये २–१६१ दोहाका एक प्रवचनांश–पृ० २१–जैसे इच्छाकी पूर्ति परीक्षाका नाश–ये दो चीजें अलग नहीं हैं। इच्छाके नाशका ही नाम इच्छाकी पूर्ति है। बस हमारी तो इच्छा पूर्ण हो गई। इसका अर्थ यह है कि

हमारी वह इच्छा नहीं रही। इच्छाकी पूर्ति जैसे किसी कपड़ेके बोरेमें अनाज भर दिया जाय इस तरह से इच्छा की पूर्ति नहीं होती। इच्छा बनाओ, मजबूत करो, खूब इच्छा भग लो, उससे इच्छाकी पूर्ति नहीं होती। इच्छा न रहो, यही इच्छा की पूर्ति है। कोई भी आराम या विषयसाधन क्रिया, जिसमें यह जीव इच्छा की पूर्ति मानता है। तो जब उसकी इच्छा पूर्ण होती है उस समयकी उसकी क्या स्थिति होती है कि उस तरह का ख्याल नहीं रहा। इच्छा नहीं रही। तो जैसे इच्छाके विनाश का ही नाम इच्छाकी पूर्ति है इसी तरह मन के मर जाने का ही नाम मन की स्थिरता है। भैया, एक ओर अपना उपयोग लग गया तो मन का जो काम था वह नहीं चल रहा है। मन का काम है चंचलता। विकल्प जालसे उठा उठा फिरता रहे।

जिसका अम्बर में निवास है उसका मन मर जाता है, प्रवासनिः श्वास टट जाता है, केवलज्ञान रूप भी वह परिणमि जाता है, इस विवरणका उपसंहार देखिये २–१६३ दोहाके प्रवचनांशमें पृ० ३०–अब यह बतला रहे हैं कि मुनिका उपयोग जब अम्बरमें रहता है. अम्बर का अर्थ है रागद्वेषरहित निजस्वरूप, निजस्वरूपमें रमता रहता है उस समय मोह टूट जाता है। मन भर जाता है और श्वांस रुक जाती है। तो अम्बर का अर्थ यहां आकाश नही लगाना, क्योंकि आकाशके जाननेसे मोह नहीं मिटता है और भाव यह लेना है कि जैसे आकाशमें पोल है सूनापन है, इसी प्रकार आत्मामें सूनापन है। रागादिक भाव नहीं हैं। उसका ही मात्र उसमें स्वरूप है। और श्वांस रोकनें का अर्थ लेना कि बिना चाही वृत्तिसे सूक्ष्मरूपसे यह श्वांस तालू से भी निकलती है और नाकसे भी निकलती है, ऐसी स्थिति निर्विकल्प समाधिमें होती है और उस निर्विकल्प समाधिसे केवल ज्ञान प्राप्त होता है।

कोई मेरे अवगुण ग्रहण करके संतुष्ट होता है तो मैं इसमें लाभ मानता हूं, देखिये इसकी युक्ति दोहा २–१८६ के प्रवचनांशमें–पृ० ६८–मेरे अवगुण ग्रहण करनेसे यदि किसी जीवको संतोष होता है तो मैं यही तो लाभ मानता हूं कि मैं दूसरे जीवोंके सुखका कारण तो बना, ऐसा ही मनमें विचार करो। मैं दूसरे के सुखका कारण तो बन गया। सो ऐसा मानकर गुस्साको दूर करो। कोई जीव धन खर्च करके दूसरों को सुखी करता है, कोई जीव अपनी ओर से सेवा करके शरीरकी खुशामद करके दूसरेको सुखी करता है तो कोई जीव मेरे को लक्ष्यमें लेकर गाली देकर खुश होता है तो मैं आज उसके सुखका कारण तो बना। ऐसा जानकर रोष न करो। किसी के निष्ठुर वचन सुनकर गाली भरी बात सुनकर अपने को क्या क्या करना चाहिए इसका आज प्रकरण है।

उपयोगकी उत्कृष्टताकी ओर का क्रम देखिये दोहा २–२०८ के प्रवचनांशमें, पृ० १०१–भैया, अशुभोपयोगके बाद शुद्धोपयोग किसीके नहीं होता. शुभोपयोगके बाद शुद्धोपयोग होता है, पर शुभोपयोगके बाद शुद्धोपयोग उनके हो सकता है जो शुभोपयोगमें रहकर भी शुद्धोपयोगका लक्ष्य रखते हैं। दृष्टि बनाते हैं। तो इस तरह जब पहिली पदवीमें रहने वाले जन हैं उनमें व्यवहारका आलम्बन अधिक होता है और निश्चयका आलम्बन कदाचित होता है। वे ज्ञानी व्यवहारमें रहकर भी दृष्टि रखते हैं आत्मस्वभावकी ओर जैसे उनका विकास होता है वैसे ही उनके व्यवहारका आलम्बन कम होता है और पश्चात् ऐसी स्थिति आती है कि व्यवहारका आलम्बन कतई नहीं रहता है। एक निश्चय ही आलम्बन रहता है। पश्चात् ऐसी स्थिति होती है कि निश्चयनयका आलम्बन भी छूटता है और यथार्थ जसा स्वरूप है वैसा परिणमन होता है। वही परिणमन अरहंतप्रभुका है।

प्रभुस्वरूप प्रकट करने के दो तरीके देखिये–२–२०९ दोहाके एक प्रवचनांशमें, पृ० ११२–भैया, अग्नि जलानेके दो तरीके हैं–एक तो आग से ईन्धनको छुवा देना, जैसे दीपक जलानेका तरीका बत्तीको जले

हुए दिया से छुवा दें तो वह पाती जलती ही रहती है। कोयलामें आग जला दिया तो कोयला जलने लगता है। तो आग जलानेका पहला तरीका यह है कि उस ईन्धनमें आग डालदें। आगसे ईन्धनका सम्बन्ध कर दिया तो आग जलती रहती है और आग जलानेका दूसरा तरीका क्या है कि जंगलमें खड़े हुए बांस बड़ी तेज हवा चलने से एक दूसरे में रगड़ते है तो बांसोंका आपसमें रगड़ने से आग पैदा हो जाती है, पत्थरमें पत्थर मारते हैं तो आग जलता है। चमक होता है ना, उसे पत्थरमें मारते हैं तो आग जलने लगती है। वहां आग का सम्बन्ध नहीं है, मगर परस्परमें रगड़नेसे आग जल उठती है, इसी तरह प्रभुस्वरूप प्रकट करने के दो तरीके हैं–तरीका तो आखिरी उनमें एक ही है, मगर एक कुछ पूर्वका तरीका और कुछ पूर्वका भी और अन्तका भी तरीका। तो प्रभुता प्रकट करने के दो तरीके हैं–पहिला तो यह है कि जो परमात्माका स्वरूप है, अरहंत सिद्धका स्वरूप है उनके स्वरूपमें अपने उपयोग को ले जायं यह तो हुआ इस तरह कि जैसे ईन्धनको आगसे छुवाया और आग जल उठे, इसी तरह अपने उपयोग को परमात्माके स्वरूपमें लगाये तो परमात्मस्वरूप प्रकट हो जायगा और दूसरा तरीका यह है कि अपने आपके आत्माका जो सहजस्वरूप है उस स्वरूपको ही अपने उपयोगमें लगायें तो परमात्मतत्त्व प्रकट हो जाता है। यह परमात्मा पद अपने आप की उपासना से प्रकट हो जाता है।

दोहा–२–२१४ के एक प्रवचनांशमें बताया है कि शब्दोंकी सीखसे आत्मज्ञान नहीं होता, किन्तु स्वसंवेदन ज्ञानके यत्नसे ही आत्मज्ञान हो सकता है, इस एक दृष्टान्तमें पढ़िये–जैसे किसी बच्चे को तैरने की सारी बातें सिखा दें–पानीमें यों गिरना, हाथोंका यों चलाना, पानीको यों फटकारना, सिखा दिया बच्चेको। अब पानीमें छोड़ दा, सिखा तो दिया ही है। अब वह बच्चा ठीक ठीक तैर लेगा क्या ? तो बचनोंसे सीखा हुआ बच्चा पानीमें तैर नहीं सकता। पानीमें गिरकर पड़कर कौशिश करता है सीखा हुआ मनुष्य ही पानीमें तैर सकता है, इसी प्रकार शब्दों द्वारा ऐसी बात सीख ली जाने पर भी आत्माको पकड़ नहीं होती। शब्दों से सीखा हुआ हो अथवा न सीखा हुआ हो, जो स्वसंवेदन ज्ञानका यत्न करेगा वही इस आत्मा को जान सकेगा।

(१५२) सुख यहां प्रथम भाग

पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराजने सहजानन्द गीताकी रचना की, जिसमें आध्यात्मिक अनेक ऐसी युक्तियां अति संक्षेपमें प्रत्येक संस्कृत श्लोकमें रचकर समझाई, जिनमें यह प्रेरणा मिलती है कि अपने में अपने लिए स्वयं सुखी होना ही तथ्य है, इसमें ३६५ श्लोक हैं प्रत्येक श्लोकका चौथा चरण –स्यांस्वस्मै एवं सुखी स्वयं है। इस विरचित सहजानन्द गीता पर आपके प्रवचन भी हुए हैं। इस प्रथम भागमें प्रथम अध्यायके ६१ (सब) श्लोकोंका प्रवचन है। श्लोक नं० १–२ बताया है कि जैसा सिद्धात्माका स्वरूप है वैसा निजात्माका भी है, भ्रमसे ही मैं दुःखी हुआ, अब भ्रम दूर करके अपनेमें अपने लिए स्वयं सुखी होऊं। इससे सम्बन्धित एक प्रवचनांश देखिये-पृ० ११–उत्पाद व्यय ध्रौव्यरहित कोई द्रव्य नहीं है। मेरे अज्ञानपर्यायका व्यय होकर ज्ञानपर्यायका उत्पाद होकर निज स्वभावमें आनन्द वर्तेगा, अतः अपने आपमें विश्वास बना लेना चाहिए कि जो मैं हूं वह भगवान है तथा मैं वही हूं जो भगवान हैं मैं वह हूं जो हैं भगवान जो मैं हूं वह है भगवान। इससे आत्मबल बढ़ता है, इससे ज्ञाता दृष्टा रहनेकी शक्ति प्राप्त होती है, चिन्तायें दूर होती हैं। सिद्ध प्रभुकी तरह केवल ज्ञानमय बननेका क्या उपाय है? अपने आपको केवल निरखना, ज्ञानमय निरखना, केवलज्ञानी बननेका उपाय है। हम अपनेको जिस रूपमें निरखेंगे उस रूपकी प्राप्ति होगी। अतः हम अपने को यथार्थ सहज निज स्वरूप जैसा है वैसा ही चित्स्वभावरूप अपनेको अनुभवें। मैं स्वतः सिद्ध सत्

हूं। स्वतः परिणामी हूं, स्वतंत्र हूं। विज्ञानानन्दघन स्वच्छ अविनाशी हूं, इसप्रकार अपना अनुभव करो। सत्य सुखी होनेका यही एक उपाय है।

लोग कर्तृत्वबुद्धि रखकर आकुलित होते रहते हैं, श्लोक १–५ कर्तृत्वबुद्धि को मिथ्या बताया है, इससे सम्बन्धित प्रवचनांश देखिये–पृ० १६–मैं अपने अंतरंगकी वेदनासे बोधा गया होकर अपनी शान्ति के लिए चेष्टा कर रहा हूं। स्वयं की जो मेरी पीड़ा है उसे सहन न कर पाने के कारण ही शान्ति प्राप्त करने की चेष्टा कर रहा हूं। इससे मैं किसी का उपकार नहीं कर रहा हूं। ग्रन्थकार भी ग्रन्थ लिखनेका यही कारण बताते हैं कि संसारी जोवों का दुःख देखकर मुझे दुःख हुआ। अतः अपनो वेदना को शांत करने के लिए ही मैंने ग्रन्थ लिखा है। इसमें परोपकार कैसा ? मैंने जो कुछ किया है वह अपनी शान्तिके लिए ही तो किया। किसी द्रव्यका किसी अन्य द्रव्यमें परिणमन हो ही नहीं सकता। फिर किसी भी पदार्थमें इष्ट अनिष्ट बुद्धि व कर्तृत्वबुद्धि क्यों हो। वीतरागविज्ञान अर्थात् रागद्वेषरहित ज्ञान न होने के कारण क्लेश हों हैं।

आत्माकी अन्य सर्वविविक्तताका चिन्तन देखिये श्लोक १–६ के प्रवचनांशमें, पृ० ३७–मैं स्वयं तो सब कल्याणमय हूं, सत् हूं, अतः अमर हूं, किन्तु प्राकृतिक मायारूप प्रभावोंको अपनाकर अपने को मरने वाला समझ लिया, इसी कारण मैं मरणके दुःखसे तृस्त होता हूं। मैं अनादि सिद्ध सत् हूं परिपूर्ण हूं, मेरे जन्मकी आवश्यक्ता भी नहीं, और न मेरा जन्म होता है, किन्तु प्रवृति जन्म (कर्मोदय प्रभाव) स्कंधोंका संयोग व उस बीच अपने आपको समझकर मैं जन्म का भ्रम कर लेता हूं और इससे दुःखी रहता हूं। मेरा तो मेरा चैतन्यस्वरूपमात्र है, मेरे शरीर कहां है ? जब शरीर ही मेरा नहीं तो रोग मेरे कहांसे होंगे ? अर्थात् जब शरीर ही मेरा नहीं है ता अन्य चीजोंकी तो कथा ही क्या ? इस कारण न मेरा यह जगत है और न जगतका मैं हूं। ऐसे सबसे निराले अद्वैत ज्ञायकस्वरूपमात्र अपने आपमें रहूं और आनन्दमय बनूं।

रागभाव हटाकर अपनी स्वतंत्रता पाने के लिए मार्गदर्शक एक प्रवचनांश पढ़िये, श्लोक–८–१७ पृ० ६८– देखो यह रागभाव जो कि दुस्त्याज्य बन रहा है क्या है ? केवल कल्पनाका बुलावा है। वस्तुका विचार करो तो राग न तो आत्माकी चीज है, न कर्मों की चीज है और न विषयों की चीज है. फिर भी इस मायामें कैसा बाधक बन रहा है कि विषयोंका तो आश्रय है, कर्मोदयका निमित्त है और आत्मा उस क्षणका वह एक परिणमन है। परमार्थ देखो तो कुछ भी तथ्य नहीं है। ये विषय भी छूटेंगे, टलेंगे। जो परपदार्थ हैं, इनका संयोग अलग है; कोई कायदेसे या सलाहसे या खातिरीसे नहीं है। वे कर्मोदय भी उसी क्षण मिट जाते हैं जिनका कि निमित्त पाकर ये रागादिकभाव होते हैं, अगले क्षण अन्य कर्मोदय हो जाते हैं। इतनी विडम्बना रहती है जिसका परिणाम यह है कि बन्धन चलता रहता है। ये रागादिक भाव भी एक क्षण होकर मिट जाते हैं। यह बात और है कि और और रागादिक भाव निरन्तर होते चले जाते हैं। इन भावोंमें तथ्य कुछ नहीं है। रागादिक भाव असार हैं, दुःखरूप हैं, मिटते तो ये हैं ही, ज्ञानबलसे खुद मिटा दिया जाय तो आनन्दमय प्रभुके दर्शन भी होंगे। इन रागादिक भावोंके कारण ही स्वतंत्रताका विनाश है। वास्तविक स्वतंत्रताका विनाश होने पर भगवानका दर्शन असम्भव है। आत्मदर्शन असम्भव है। सो अब रागादिक भावोंसे भिन्न अपने ज्ञायकस्वरूपको लक्ष्यमें लेकर स्वतंत्र होऊं और स्वयं स्वयंमें आनन्दमग्न होऊं।

अपनेको मात्र ज्ञाता द्रष्टा देखनेमें शान्तिका लाभ है इसकी झांकी श्लोक–१–१६ के एक प्रवचनांशमें देखो–पृ० ६६–यदि अपने आपको केवल द्रष्टा देखें और सब प्रकारकी विधिसे अपनेको प्राप्त कर

रहे, याने सामान्यरूप रहे तो अपने आप कुछ सुखी हो सकते हैं। सुखस्वरूप तो हम हैं ही, सो यदि सुखस्वरूप अपने को जानें तो यह पूर्ण सुखी हो जायगा मैं केवल ज्ञानमात्र हूं, इस आत्माका किसी भी पदार्थ से किसी भी प्रकार का सम्बन्ध नहीं है। मैं स्वतंत्र हूं, अविनाशी हूं ऐसा अपने को भावनेका निरन्तर प्रयत्न करना चाहिए।

जहां समस्त पदार्थ प्रतिभासित होते हैं वह मैं हूं, फिर भी प्रतिभास पदार्थोंसे निराला स्वतंत्र हूं, पृ० ८८—मैं क्या हूं, जहां यह सारा विश्व प्रतिभासित होता है वह मैं हूं। ज्ञानका काम जानना है, थोड़ा जानना नहीं, बस जानना है, सब जानना है, क्योंकि आत्मा का स्वभाव जानना है। उस जानने में कोई सीमा नहीं है। कितना जानना ? उसका तो जाननेका स्वभाव है और जानना कोई सापेक्ष नहीं है कि सामने की ही जाने, जान जावो सामने को ठीक है किन्तु उसके हिसाबसे जानना नहीं है, किन्तु यदि कोई वस्तु है उसका जानना है सत् के हिसाब से जानना है। सामने के हिसाबसे जानना नहीं है। दस बीस कोस के हिसाबसे जानना भी नहीं है। किन्तु है तो वह सब जाननेमें आता। चाहे वह क्षेत्र कालकी दूरीके रूपसे है, चाहे किसी तरह से है, है तो जान लेना। फिर आत्माके ज्ञानका कितना जानने का स्वभाव है। कितना है ? कितना जाननेका काम है ? सर्व। जो कुछभी सुख होता है वह सब जाननेमें है, किन्तु यहां मुझमें जगत नहीं है और आत्मामें जो यहां आकार बन गया, आत्मामें ज्ञेयाकार बन गया, प्रतिभास बन गया, वह भी मैं नहीं। ऐसा मैं शाश्वत हूं, किन्तु दुःखकी बात यह है कि उस पर दृष्टि नहीं, जहां पर सारा विश्व प्रतिभासमान होता है। जहां सारा विश्व प्रतिभासित होता है, वह तो मैं हूं, पर मैं प्रतिभास नहीं, क्योंकि मैं आनन्द निधि ज्ञानचेतनामात्र हूं, शक्ति मात्र हूं।

भ्रमसे होने वाला क्लेश भ्रमविनाशसे ही नष्ट हो सकता है इससे सम्बन्धित एक प्रवचनांश श्लोक १–३४ में देखिये—पृ० १३३—जितना भी क्लेश होता है वह सब भ्रमसे होता है। तो अपने आप ऐसा अनुभव करो, ऐसा उपयोग बनाओ कि मैं अपने सत्त्व मात्र हूं, ज्ञान और आनन्दानुभव मात्र हूं, शरीरसे न्यारा हूं, सब पदार्थोंसे निराला हूं, केवल मैं आनन्द को करता हूं और ज्ञानानन्द को ही भोगता हूं। ज्ञानानन्दमें रहने के अतिरिक्त और मैं कुछ नहीं हूं। इसी तरह से तू अपने स्वरूपका अनुभव कर तो वहां कुछ क्लेश नहीं है, कोई विपत्ति नहीं है। विपत्तितो भ्रमसे बनती है। भ्रम समाप्त हो जाते ही विपत्ति समाप्त हो जाती है, पदार्थ उसे दुःखित नहीं करते। पदार्थ तो पड़े हैं जहां हैं तहां हैं। वे अपना स्वरूप व परिणमन लिए हुए हैं निरन्तर परिणमन करते रहते हैं, कोई भी पदार्थ हमें दुःखी नहीं करता। न वे दुःखी करते थे और न वे सुखी करेंगे। यह जीव अपने आप स्वयं भ्रम बना बना करके नाना कल्पनायें करके अपने आप दुःखी होता है।

आनन्दका धाम एकान्तस्थानको परखले श्लोक–१–३८ के एक प्रवचनांशमें पृ० १५८—ऐसा कौन सा स्थान है जहां रहने में क्षोभ नहीं। तो वह स्थान बाहर कहीं भी नहीं मिला, क्योंकि बाह्य से अपने आपसे कोई सम्बन्ध नहीं। बाह्य पदार्थ न तो क्षोभका कारण होता है और न शान्तिका कारण होता है। वह स्थान तो स्वयं यह ध्रुव आत्मा है। जो अपने सब परिणमनों का स्रोत है, आधार है वह मैं ही हूं, यह मैं सबसे निराला शुद्ध चैतन्यमात्र भगवान आत्मा हूं, ज्ञानमय हूं। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान आदि रूप मेरा परिणमन होता है, किन्तु ये सब पर्यायें हैं, दूसरे क्षण नहीं रहती हैं। इन सब रूप पर्यायें जिस शक्तिकी होती हैं वह शक्ति मैं हूं। वह है ज्ञानशक्ति। वह ज्ञानशक्तिमात्र मैं हूं। ऐसा यह मात्र ज्ञानस्वरूप मैं स्वयं एकान्त हूं, इस एकान्तमें मैं बसूं तो वहां कोई क्षोभ नहीं है। ऐसे इस निज सहज ज्ञायकस्वभावमें अपने आपमें रहूं और स्वयं स्वयं मैं सुखी रहूं।

(१५३) सुख यहां द्वितीय भाग

इस पुस्तकमें सहजानन्द गीताके द्वितीय व तृतीय अध्यायके श्लोकोंपर प्रवचन हैं। श्लोक २–६ के एक प्रवचनांशमें भावनाका निर्णय करिये कि अपने को देहसे मिला हुआ ही रहना है या देहसे अलग होना है। पृ० २३-अब तो निर्णय करलो कि संसार से न्यारा रहना है या जगतसे मिलकर रहना है। यदि मुझे जगतसे भिन्न रहना है तो अपने को जगतसे भिन्न देख। और यदि अपने को जगतसे मिला हुआ रखना है तो अपने को जगतसे मिला हुआ देख। यदि जगतसे मिला हुआ रहता तो उसे सकर कहते हैं। तो तू अपने को जगतसे भिन्न रखनेका प्रयत्न कर। जगतसे भिन्न रखनेका एक सही उपाय यह है कि तू अपने को जगतसे भिन्न देख। जो अपनको जगतसे भिन्न देखता है वह भिन्न हो जाता है और जो अपन को संकर याने जगतसे मिला हुआ मानता है वह संकर अर्थात् जगतसे मिला हुआ रहता है। भाई कल्याणका बड़ा सरल उपाय है। केवल अन्तरमें अपने आपको मानना है कि मैं ज्ञानमात्र हूं, निर्मल हूं, जगतसे न्यारा हूं। भाई अपने आपमें ऐसी दृष्टि बनाना कुछ कठिन है क्या? अरे यह तो अत्यन्त सरल है, मगर अंतरग संयम चाहिए। अपनी अंतरग आत्माको संयत कर सको, ऐसा ज्ञान चाहिए।

मोहकी बेवकूफी दूर होने पर वास्तविक आनन्दामृतका पान होता है, देखिये इससे सम्बन्धित एक प्रवचनांश श्लोक–२-१५ पृ० ७४–भैया, अपने मोह को बेवकूफी देखना कठिन है तो दूसरेलोगोंकी मोहको बेवकूफी का स्वरूप जान लो। व्यर्थ ही लोग विकल्प करके परेशान होते हैं और व्यर्थ ही तुम विकल्प करके परेशान होते हो। जिसे तुम अपना लड़का बताओ उससे तुम्हारा क्या सम्बन्ध है? वे तो जुदा जुदा हैं। उनसे तुम्हारा कोई सम्बन्ध नहीं है यदि तुम्हारे घरमें दूसरा कोई पैदा होता है तो उससे तुम मोह करने लगते। अरे जो पैदा हुआ उसका तुम कुछ कर लेते हो क्या? यह मेरा है, यह आशय आना ही दुःखका कारण है, दूसरा कुछ दुःखका कारण नहीं है। अपने बारेमें यह विश्वास करो कि मैं अपने आपमें हूं, स्वतंत्र हूं, मैं ही अपना कारण हूं, मैं ही अपना कार्य हूं। मैं जो कुछ कर सकता हूं अपने को ही कर सकता हूं, मैं अपने को ही भोग सकता हूं। अपने स्वरूपसे बाहर दूसरे को कुछ न कर सकता हूं और न भोग सकता हूं, और दूसरे लोग भी मेरा कुछ नहीं कर सकते हैं। सब वस्तुमें अपने अपने स्व–रूपमेंहैं ऐसा यदि अपने आपका विश्वास हो तो अमृतभावका पान कर सकता है। जिसने इस अमृतभाव का अमृतपान किया उसको आनन्द है। हे नाथ धन्य है वह क्षण जब सबको छोड़कर अपने आपपर शुद्ध नजर करोगे। यदि बाह्यमें ही फसे रहे तो बरबादी होगी। इन जीवोंमें जिसके पीछे पड़ रहे हो वे अशुद्ध जीवपदार्थ है। वे अपने आपके स्वार्थ के लिए अपनी चेष्टा कर रहे हैं। इस मायामय जगतके पीछे मोहमें पड़कर मोही व्यर्थ बरबाद हो रहे हैं। अर्थात् अपना ख्याल बनाकर अपनी कल्पनायें बना–कर ही दुःखी हो रहे हैं। तो जगतका स्वरूप जब जान लिया तो फिर कष्ट ही क्या है? जो जैसा है वैसा जानते जायें तो स्वरूपरमण होना सुगम ही है। सो अब मेरी ऐसी ही भावना हो कि अब मैं तो अपने ही स्वरूप की रुचि करके अपने लिए अपने आपको पाकर विश्राम पाऊं और सुखी होऊं।

इच्छाओंको लताड़ लगायें, पढ़ें श्लोक २–२० का एक प्रवचनांश–पृ० ११८–भैया, इन इच्छाओं को हटा दो, इनसे कोई मतलब नहीं निकलता। कुछ भी इच्छा करो उससे लाभ नहीं मिलने का है इच्छाओंका पता भी नहीं कि अब क्या इच्छा उत्पन्न हो जाय। जैसे ऊंटका पता ही नहीं रहता कि वह किस करवट बैठे। बैठते भी हैं पता नहीं रहता कि यह किस तरफको बैठ रहा है। पहले तो वह जरा सा झुकेगा फिर पैर लगाकर बैठ जाता है। अब वह बैठ जाता है किसी तरह से तो फिर पता

रहें, याने सामान्यरूप रहे तो अपने आप कुछ सुखी हो सकते हैं। सुखस्वरूप तो हम हैं ही, सो यदि सुखस्वरूप अपने को जानें तो यह पूर्ण सुखी हो जायगा मैं केवल ज्ञानमात्र हूं, इस आत्माका किसी भी पदार्थ से किसी भी प्रकार का सम्बन्ध नहीं है। मैं स्वतंत्र हूं, अविनाशी हूं ऐसा अपने को भावनेका निरन्तर प्रयत्न करना चाहिए।

जहां समस्त पदार्थ प्रतिभासित होते हैं वह मैं हूं, फिर भी प्रतिभात पदार्थोंसे निराला स्वतंत्र हूं, पृ० ८८८ मैं क्या हूं, जहां यह सारा विश्व प्रतिभासित होता है वह मैं हूं। ज्ञानका काम जानना है, थोड़ा जानना नहीं, बस जानना है, सब जानना है, क्योंकि आत्मा का स्वभाव जानना है। उस जानने में कोई सीमा नहीं है। कितना जानना? उसका तो जाननेका स्वभाव है और जानना कोई सापेक्ष नहीं है कि सामने की ही जाने, जान जावो सामने को ठीक है किन्तु उसके हिसाबस जानना नहीं है, किन्तु यदि कोई वस्तु है उसका जानना है सत् के हिसाब से जानना है। सामने के हिसाबसे जानना नहीं है। दस बीस कोस के हिसाबसे जानना भी नहीं है। किन्तु है तो वह सब जाननेमें आता। चाहे वह क्षेत्र कालकी दूरीके रूपसे है, चाहे किसी तरह से है, है तो जान लेना। फिर आत्माके ज्ञानका कितना जानने का स्वभाव है। कितना है? कितना जाननेका काम है? सर्व। जो कुछ भी सुख होता है वह सब जाननेमें है, किन्तु यहां मुझमें जगत नहीं है और आत्मामें जो यहां आकार बन गया, आत्मामें ज्ञेयाकार बन गया, प्रतिभास बन गया, वह भी मैं नहीं। ऐसा मैं शाश्वत हूं, किन्तु दुःखकी बात यह है कि उस पर दृष्टि नहीं, जहां पर सारा विश्व प्रतिभासमान होता है। जहां सारा विश्व प्रतिभासित होता है, वह तो मैं हूं, पर मैं प्रतिभास नहीं, क्योंकि मैं आनन्द निधि ज्ञानचेतनामात्र हूं, शक्ति मात्र हूं।

भ्रमसे होने वाला क्लेश भ्रमविनाशसे ही नष्ट हो सकता है इससे सम्बन्धित एक प्रवचनांश श्लोक १-३४ में देखिये-पृ० १३३-जितना भी क्लेश होता है वह सब भ्रमसे होता है। तो अपने आप ऐसा अनुभव करो, ऐसा उपयोग बनाओ कि मैं अपने सत्त्व मात्र हूं, ज्ञान और आनन्दानुभव मात्र हूं, शरीरसे न्यारा हूं, सब पदार्थों से निराला हूं, केवल मैं आनन्द को करता हूं और ज्ञानानन्द को ही भोगता हूं। ज्ञानानन्दमें रहने के अतिरिक्त और मैं कुछ नहीं हूं। इसी तरह से तू अपने स्वरूपका अनुभव कर तो वहां कुछ क्लेश नहीं है, कोई विपत्ति नहीं है। विपत्तितो भ्रमसे बनती है। भ्रम समाप्त हो जाते ही विपत्ति समाप्त हो जाती है, पदार्थ उसे दुःखित नहीं करते। पदार्थ तो पड़े हैं जहां हैं तहां हैं। वे अपना स्वरूप व परिणमन लिए हुए हैं निरन्तर परिणमन करते रहते हैं, कोई भी पदार्थ हमें दुःखी नहीं करता। न वे दुःखी करते थे और न वे सुखी करेंगे। यह जीव अपने आप स्वयं भ्रम बना बना करके नाना कल्पनायें करके अपने आप दुःखी होता है।

आनन्दका धाम एकान्तस्थानको परखले श्लोक-१-३८ के एक प्रवचनांशमें पृ० १५८-ऐसा कौन सा स्थान है जहां रहने में क्षोभ नहीं। तो वह स्थान बाहर कहीं भी नहीं मिला, क्योंकि बाह्य से अपने आपसे कोई सम्बन्ध नहीं। बाह्य पदार्थ न तो क्षोभका कारण होता है और न शान्तिका कारण होता है। वह स्थान तो स्वयं यह ध्रुव आत्मा है। जो अपने सब परिणमनों का स्रोत है, आधार है वह मैं ही हूं, यह मैं सबसे निराला शुद्ध चैतन्यमात्र भगवान आत्मा हूं, ज्ञानमय हूं। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान आदि रूप मेरा परिणमन होता है, किन्तु ये सब पर्यायें हैं, दूसरे क्षण नहीं रहतीं हैं। इन सब रूप पर्यायें जिस शक्तिकी होती हैं वह शक्ति मैं हूं। वह है ज्ञानशक्ति। वह ज्ञानशक्तिमात्र मैं हूं। ऐसा यह मात्र ज्ञानस्वरूप मैं स्वयं एकान्त हूं, इस एकान्तमें मैं बसूं तो वहां कोई क्षोभ नहीं है। ऐसे इस निज सहज ज्ञायकस्वभावमें अपने आपमें रहूं और स्वयं स्वयं मैं सुखी रहूं।

(१५३) सुख यहां द्वितीय भाग

इस पुस्तकमें सहजानन्द गीताके द्वितीय व तृतीय अध्यायके श्लोकोंपर प्रवचन हैं। श्लोक २-६ के एक प्रवचनांशमें भावनाका निर्णय करिये कि अपने को देहसे मिला हुआ ही रहना है या देहसे अलग होना है। पृ० २३- अब तो निर्णय करलो कि संसार से न्यारा रहना है या जगतसे मिलकर रहना है। यदि मुझे जगतसे भिन्न रहना है तो अपने को जगतसे भिन्न देख। और यदि अपने को जगतसे मिला हुआ रखना है तो अपने को जगतसे मिला हुआ देख। यदि जगतसे मिला हुआ रहता तो उसे संकर कहते हैं। तो तू अपने को जगतसे भिन्न रखनेका प्रयत्न कर। जगतसे भिन्न रखनेका एक सही उपाय यह है कि तू अपने को जगतसे भिन्न देख। जो अपनेको जगतसे भिन्न देखता है वह भिन्न हो जाता है और जो अपने को संकर याने जगतसे मिला हुआ मानता है वह संकर अर्थात् जगतसे मिला हुआ रहता है। भाई कल्याणका बड़ा सरल उपाय है। केवल अन्तरमें अपने आपको मानना है कि मैं ज्ञानमात्र हूं, निर्मल हूं, जगतसे न्यारा हूं। भाई अपने आपमें ऐसी दृष्टि बनाना कुछ कठिन है क्या ? अरे यह तो अत्यन्त सरल है, मगर अंतरग संयम चाहिए। अपनी अंतरग आत्माको संयत कर सको, ऐसा ज्ञान चाहिए।

मोहकी बेवकूफी दूर होने पर वास्तविक आनन्दामृतका पान होता है, देखिये इससे सम्बन्धित एक प्रवचनांश श्लोक-२-१५ पृ० ७४-भैया, अपने मोह की बेवकूफी देखना कठिन है तो दूसरेलोगोंकी मोहकी बेवकूफी का स्वरूप जान लो। व्यर्थ ही लोग विकल्प करके परेशान होते हैं और व्यर्थ ही तुम विकल्प करके परेशान होते हो। जिसे तुम अपना लड़का बताओ उससे तुम्हारा क्या सम्बन्ध है ? वे तो जुदा जुदा हैं। उनसे तुम्हारा कोई सम्बन्ध नहीं है यदि तुम्हारे घरमें दूसरा कोई पैदा होता है तो उससे तुम मोह करने लगते। अरे जो पैदा हुआ उसका तु। कुछ कर लेते हो क्या ? यह मेरा है, यह आशय आना ही दुःखका कारण है, दूसरा कुछ दुःखका कारण नहीं है। अपने बारेमें यह विश्वास करो कि मैं अपने आपमें हूं, स्वतंत्र हूं, मैं ही अपना कारण हूं, मैं ही अपना कार्य हूं। मैं जो कुछ कर सकता हूं अपने को ही कर सकता हूं, मैं अपने को ही भोग सकता हूं। अपने स्वरूपसे बाहर दूसरे को कुछ न कर सकता हूं और न भोग सकता हूं, और दूसरे लोग भी मेरा कुछ नहीं कर सकते हैं। सब वस्तुमें अपने अपने स्व-रूपमेंहैं ऐसा यदि अपने आपका विश्वास हो तो अमृतभावका पान कर सकता है। जिसने इस अमृतभाव का अमृतपान किया उसको आनन्द है। हे नाथ धन्य है वह क्षण जब सबको छोड़कर अपने आपपर शुद्ध नजर करोगे। यदि बाह्यमें ही फसे रहे तो बरबादी होगी। इन जीवोंमें जिसके पीछे पड़ रहे हो वे अशुद्ध जीवपदार्थ है। वे अपने आपके स्वार्थ के लिए अपनी चेष्टा कर रहे हैं। इस मायामय जगतके पीछे मोहमें पड़कर मोही व्यर्थ बरबाद हो रहे हैं। अर्थात् अपना ख्याल बनाकर अपनी कल्पनायें बना-कर ही दुःखी हो रहे हैं। तो जगतका स्वरूप जब जान लिया तो फिर कष्ट ही क्या है ? जो जैसा है वैसा जानते जायें तो स्वरूपरमण होना सुगम ही है। सो अब मेरी ऐसी ही भावना हो कि अब मैं तो अपने ही स्वरूप की रुचि करके अपने लिए अपने आपको पाकर विश्राम पाऊं और सुखी होऊं।

इच्छाओंको लताड़ लगायें, पढ़ें श्लोक २-२० का एक प्रवचनांश-पृ० ११८-भैया, इन इच्छाओं को हटा दो, इनसे कोई मतलब नहीं निकलता। कुछ भी इच्छा करो उससे लाभ नहीं मिलने का है इच्छाओंका पता भी नहीं कि अब क्या इच्छा उत्पन्न हो जाय। जैसे ऊंटका पता ही नहीं रहता कि वह किस करवट बैठे। बैठते भी हैं पता नहीं रहता कि यह किस तरफको बैठ रहा है। पहले तो वह जरा सा झुकेगा फिर पैर लगाकर बैठ जाता है। जब वह बैठ जाता है किसी तरह से तो फिर पता

लगता है कि ऊंट किस करवट से बैठा। पुद्गलोंका ऐसा अन्जान मामला नहीं है। पुद्गलोंके चाहे लट्ठ चलो, चाहे तलवार, अदनद वहां कुछ नहीं होगा और इस मनुष्यकी तरफ जरा देखो। इस मनुष्यका पता ही नहीं कि इसका एक मिनटमें ही क्या दिमाग बदल जाय, या कुछ समय बाद क्या बदले। उसका कुछ पता नहीं रहता है। यह अपना भूलके कारण ही गल्तियां कर डालता है। इन गल्तियोंके कारण ही इच्छायें हो जाती हैं। इन इच्छाओंको गल्तियोंको अगर अपने से निकाल दें तो दुःखके बन्धन टूट जायेंगे। दुःख तो इच्छाओंसे ही होते हैं। इच्छायें न हों, केवल ज्ञाता द्रष्टा मात्र मैं होऊं तो उस ज्ञानसे हो मेरा पूरा पड़ेगा। इच्छाओंसे मेरा पूरा नहीं पड़ेगा। देख लो सब ठीक है, परन्तु कोई इच्छा हो गई तो बैठे हो बैठे विपदाओंसे दब गये।

अपने सत्य स्वरूपके आग्रहमें ही कल्याण होगा इससे सम्बन्धित एक प्रवचनांश पढ़ो—श्लोक—२—३१—पृ० १२७—भाई अपना शुद्ध आग्रह करो तो भला होगा नहीं तो भला न होगा। परपदार्थोंका आग्रह करने पर अशान्ति प्राप्त होगी, अपने आत्मस्वरूपका अनुभव नहीं हो पायगा। अपने उपयोगमें लगनेसे भलाई है। मैं अपने आपके स्वरूपमें ही अपने उपयोगको लगानेकी कोशिश करूं तो मेरा कल्याण होगा अन्यथा नहीं होगा। जैसे कहते हैं ना कि वहां न जावो, वहां पर क्लेश ही क्लेश है। ऐसे ही पर पदार्थोंमें न जावो, वहां विपदायें ही विपदायें है। तो मैं अपने आत्माके सत्यके आग्रहमें ठहरानेकी कोशिश करूं और अपनेमें अपने लिए अपने आप स्वयं सुखी होऊं।

असार खतरे वाले सुखोंसे हटनेकी प्रेरणा लीजिए श्लोक ३—१ के एक प्रवचनांशमें—पृ० १६३—इस संसारके सुखोंमें सार रंच भी नहीं है। हे आत्मन् देख तू ज्ञानस्वरूप है, ज्ञानमय है, ज्ञान ही तो तेरा काम है। ज्ञानके अतिरिक्त और तेरा कोई काम नहीं है। यदि संसारके सुखोंसे ही प्रीति रही तो संसार में रुलना ही रुलना बना रहेगा। हे आत्मा तू ज्ञानमय होकर भी यदि संसारके सुखोंसे प्रीति करे तो बेकार है यह जीवन। भैया इन संसारके सुखोंकी प्रीति छोड़ दो। तू तो स्वयं ही आनन्दस्वरूप है। परकी ओर दृष्टि जाय तो विघ्न ही हैं। संसारके सब सुखोंसे अपने उपयोगको बाहर हटाओ, केवल अपने स्वरूपको ही देखो तो वहां क्लेशका नाम ही नहीं है।

असार शरीरसे उपेक्षा करके निज आनन्दधाममें आने की प्रेरणा लीजिये—पृ० १६१—आप लोग कहेंगे कि शरीरमें साबुन और तेल लगाने से शरीर अच्छा तो लगता है, अरे अगर नहाने के बाद भी नाक की बत्ती बह गई तो फिर शरीर वैसा का वैसा ही हो जायगा। तो इस शरीरमें सार की चीज कुछ भी तो नहीं है। इसलिए इस देह से विरक्त होओ। इससे प्रीति न करो। दूसरे जीवों से सम्बन्ध न करो। कोई ऐसा काम करो जिससे आगे भी तरक्की हो। इसलिए भैया, इस शरीर से विरक्त होकर अपने घरमें आवो, अपने स्वरूपको देखो। यह जीव यह आत्मा तुम्हारा घर हो है। सो अब अपने घर की पहिचान रखो। बाह्य पदार्थोंमें आशक्ति न होने दो, अपने घर के जो दो चार प्राणी हैं उनकी भी व्यवस्था करो, उन पर ही सारा खर्च करो और उन पर ही दिमाग लगाओ तो यह मोह है।

समस्त दुःखोंका आश्रय तो यह शरीर है, शरीरका मोह करने से ही सारे झंझट खड़े होते हैं। अतः शरीर से विरक्त होने में ही हित है। इससे सम्बन्धित एक प्रवचनांश देखिये—श्लोक—३—२६—पृ० २४२—लोग देह की व्यवस्थामें जुटे हैं। साम्यवाद करना चाहते हैं तो इस देहकी व्यवस्थाके लिए ही करना चाहते हैं। अन्य जितने भी काम हैं वे सब भी इस देहकी व्यवस्थाके लिए ही किये जाते हैं। जितने भी दुःख हैं उन दुःखोंका कारण ही यह शरीर है। मेरा अपमान हो गया, मुझे भोजन नहीं मिला, मुझे यह करना है आदि आदि से ही अपने शरीरका ख्याल बनाकर दुःखी हो जाते हैं। अगर किसी ने गालियां दे दी

तो दुःखी हो जाते हैं। जो अपमानके दुःख हैं उनका भी कारण यह शरीर है, जो मानसिक दुःख हुए उनका भी कारण यह शरीर है। यह शरीर ही सारे दुःखोंका आश्रय है। इस शरीर से ही सारी विपदायें हैं। एक दूसरे का कोई दुश्मन नहीं होता। इस शरीर को देखकर ही दुश्मन बन गये। इस आत्मा में दुःख नहीं है। तुमको तो केवल शरीर ही नजर आता है। यह अमुक व्यक्ति है, इसका यह नाम है इत्यादि। इन झंझटोंका कारण शरीर है। ये जो व्यसन आते हैं वे भी इस शरीर के ही कारण आते हैं। इसलिए इस देह से विरक्त होना ही ठीक है। देह से विरक्त होने का यह मतलब समझो कि मैं यह देह नहीं हूं। यह तो पौद्गलिक है। यह देह तो जड़ है। मैं मैं हूं, चेतन स्वरूप हूं। मैं सबसे जुदा हूं ऐसा यथार्थ अपने को जान लो। इस देहके संसर्ग से तो दुःख ही है। इस देह से संसर्ग रखने से तो पूरा नहीं पड़ेगा।

(१५४) सुख यहां तृतीय भाग

इस पुस्तकमें सहजानन्द गीता के चौथे व पांचवें अध्याय पर प्रवचन हैं। श्लोक ४–३ में बताया है कि कीर्ति की इच्छा का त्याग कर मैं स्वयं सुखी होऊं। इससे सम्बन्धित एक प्रवचनांश देखिये–पृ० ६– –भैया, सारा जगत इज्जतके पीछे मर रहा है। किसको इज्जत दिखाना चाहते हैं? किसको अपनी महत्ता दिखाना चाहते हो? तुम तो अदृष्य हो, तुमको तो कोई जानता ही नहीं है। तुम तो ज्ञानस्वरूप हो। अपने आपको विचारो कि मैं तो अदृष्य हूं, ज्ञानमात्र हूं। इस लोकमें मैं क्या कीर्ति चाहूं। यदि कीर्तिकी चाह का त्याग हो जाय तो वास्तवमें आजादी मिले। कीर्ति की चाह रहे तो आजादी खत्म हो जाती है। क्योंकि कीर्ति चाहोगे तो उसे परके अनुकूल यत्न करना ही पड़ेगा। इसलिए इस कीर्तिकी चाह की त्यागमें ही स्वतंत्रता है। और स्वतंत्रतासे बढ़कर कोई सुख नहीं है। स्वतंत्रता ही एक महान सुख है। सो स्वतंत्र ज्ञानधन आनन्दमय अपने स्वरूपको निरखकर अपने आप सुखी होऊं।

विषयोंकी आशा ही बन्धन है। विषयाशाके त्यागमें स्वतंत्रता है और इस स्वतंत्रतामें वास्तविक आनन्द है। इससे सम्बन्धित एक प्रवचनांश देखिये, श्लोक ४–४ में, पृ० ७–विषयोंकी आशा ही एक बन्धन है। जो फंसता है वह विषयोंकी आशासे ही फंसता है। गृहस्थीका बन्धन कहां है? आशा ही केवल बन्धन का आधार है। इसलिए वास्तविक बन्धन आशा है। बाहरी चीज बन्धन नहीं है। सो विषयोंकी आशा ही इस जीवका बन्धन है। आशा का बन्धन छूटे तो स्वतंत्रता मिले। नहीं तो स्वतंत्रता न मिलेगी। आशा के पीछे ही सबकुछ को कष्ट भोगना पड़ता है। कितना भी अधिक परिश्रम करो, ये जितने भी क्लेश हैं, नटखट हैं, नृत्य है वे सब इस आशा पर ही अवलम्बित हैं। आशा मिटे तो सारे क्लेश खत्म। विषयोंकी आशा का त्याग हो तो आजादी है अन्यथा आजादी नहीं है। वह वास्तविक स्वतंत्रताकी बात यहां कही जा रही। यह जीवोंकी स्वतंत्रता की बात चल रही है। जब यह जीव परकी आशा न रखे तो यह जीव स्वतंत्र कहलाता है। आशा रखी तो उस बन्धनमें बन्ध गया। तो बन्धन आशा ही है। अन्य कोई बन्धन नहीं। सो इस आशा का परित्याग होने में ही वास्तविक स्वतंत्रता मिलती है।

विषयवृत्तिकी लताड़ देखिये श्लोक ४–१९ के एक प्रवचनांशमें पृ० ४७–हे आत्मन्, जरा अपने हितकी बात तो सोचो कि इन विषयोंसे किसी का पूरा पड़ा है? इन जीवनमें विषयोंमें ही जुते, बड़ी उमर के हुए, वृद्ध हो गये, बाल पक गये, शरीरमें झुरियां पड़ गई, बताओ कौन सा लाभ इस मनुष्यभवको पाकर पाया। वे अपने जीवनकी क्षण व्यर्थ में ही गुजार देते हैं। वह विषयोंका ही तो असर है। ये

विषय ही इस जीवके वास्तविक दुश्मन है। इन विषयोंको जिसने जीता है वह ज्ञानी है, वही विजयी है। जगतके सभी जीव अपने समान हैं। तुम्हारे और सब जीवोंके स्वरूपमें कोई अन्तर नहीं है। सभी जीवोंका स्वरूप अत्यन्त जुदा है। सभी जाव मेरे स्वरूपसे अत्यन्त समान है, फिर इन जीवोंमें यह छटनी कर लेना कि यह मेरा है, यह पराया है, यह गैर है—ऐसी छटनी कर लेना क्या यही पारमार्थिक चतुराई है? यह सब मोह को लीला है। जो विषयोंके साधक प्रतीत होते हैं, उनको ही इस जीवनमें अपना मान लिया और जो विषयोंमें बाधक हैं उनको ही इस जीवने दुश्मन मान लिया, पराया मान लिया, ऐसी वृत्ति लेना ही अज्ञान है।

दुःखका कारण आशा ही है, उससे दूर होने में ही बुद्धिमानी है, पढ़िये श्लोक–४–२८ के एक प्रवचनांशमें, पृ० ७०–ज्ञानी विवेकी कहते किसे हैं? जो परकी आशा न करे उसे ज्ञानो विवेकी कहते हैं। धन बढ़ा बढ़ा कर कोई महापुरुष बन सकता है क्या? इतिहास में देख लो, पुराणोंमें देख लो, युक्तिसे सोचलो, जो भी महान पुरुष हुए हैं उनकी आत्मा खुद महान हुई है तो महान हुए हैं। तुम्हारी महत्ता को तो इस आशा ने बरबाद कर दिया है। दुःखोंका कारण केवल आशा ही है। यह मैं कैसी भी आशायें करू तो कुछ मेरा है क्या? खूब सोच लो। जिसपर आपको भरोसा है कि ये मेरे हैं, कितना भी भरोसा रख लो कि ये मेरे पिता हैं, ये मेरे भाई हैं, पर उनसे तुम्हारा जरा भी स बन्ध नहीं है। वस्तुस्वरूपको इजाजत ही नहीं है कि कोई किसीका बन जाय। आपकी कल्पनायें बड़ी हैं कि वस्तुका स्वरूप बड़ा है? यदि कल्पनाओंसे ही काम होने लगेगा तो एक साधारण आदमी ही सारी दुनियाको वशमें करना चाहेगा। फिर तो सारा मामला ही खत्म हो जायगा।

अमृतपान करलो, दुःखी मत होओ, यह प्रेरणा पाइयें श्लोक ४–३० के प्रवचनांशमें, पृ० ७५–भैया, साहस बना लो यहां के बाह्य पदार्थों से मुख मोड़ना होगा। धन वैभवमें अपना मन लगाना और सत्य अमृतका पान करना ये दोनों बातें एक साथ नहीं हो सकती है। या तो मोह बना लो, दुःखी होओ, घबड़ा लो या मोह छोड़कर अपने आपके स्वरूपको देखो—जो पंथ चाहो चल लो। लोग मर जाने का इतना दुःख नहीं मानता जितना पर चीजों के छूट जाने से कल्पनायें बना लेने से दुःखी हो जाते हैं। सो दुःखी ही क्यों होवें? अमृत पीलें और अमर हो जावें, पर अमृत कोई अलग चीज नहीं है। अमृत तो वह ज्ञानस्वरूप है जो मरे नहीं, जिसका विनाश न हो, जिसका वियोग न हो, उसका नाम अमृत है। वह अमृत है ज्ञानस्वरूप। सो जब हम यह निर्णय करलें कि मैं तो अविनाशी हूं, ज्ञानस्वरूप हूं, ज्ञानमात्र हूं, सदा इसी में तन्मय हूं, ऐसा विश्वास करलो तो कुछ भी भय नहीं रहता।

सुखके लिए दूसरे की प्रतीक्षा करना यही सुखकी हत्या है पढ़िये श्लोक ४–४० का एक प्रवचनांश–पृ० ९२–सुखके लिए दूसरे पदार्थों को प्रतीक्षा करना बस यही तो सुखकी हत्या करना है। यह आत्मा तो स्वयं सुखसे भरा है। इसका स्वरूप ही आनन्द है। इसको आनन्द कहीं बाहर से नहीं लाना है। सो पर पदार्थों से मुझे सुख मिलेगा ऐसी आशा करना यही तो संकट है। बाहरी पदार्थों के चाहने से सुख नष्ट होता है और बाह्य पदार्थों से सुख न चाहे तो सुख तो स्वयं मैं हो भरा हुआ है। मैं स्वय सुख से परिपूर्ण हूं, परन्तु जीवोंमें ऐसा मोह लगा है कि अपने आपको रीता समझते हैं। अपने आपको न कुछ समझते हैं अपने आपकी कोई कीमत नहीं मानते हैं।

आशा न रहने में ही सुख है, आशा कषायरहित आत्मस्वभावको देखो, वही तृप्त होओ, इसी में कल्याण है, देखिये श्लोक–४–४० का एक प्रवचनांश पृ० १०१–भैया, मजदूर तो सुखी रहते हैं, क्योंकि उन्हें तो दो रूपये से ज्यादहकी आशा ही नहीं है। सेठको किसी दिन लाख बच जायें, किसी दिन हजार बच जायें,

टोटा पड़े तो किसी दिन ५० हजार का टोटा पड़े तो किसी दिन ७० हजार का टोटा पड़े इस तरह का उतार चढ़ाव रहता है। सदा बेचैनी बनी रहती है। यदि आशा न रहे तो सुख है। और यदि आशा है तो दुःख है। तब दुःख मिटानेमें क्या चाहिए ? आशा न रहे यही तो चाहिए। आशा न रहे इसका कोई उपाय है ? इसका उपाय है कि आशा जिसका स्वरूप नहीं है, आशा जिस आत्माका स्वभाव नहीं है उसमें ऐसी दृष्टिहो कि यही तो मैं चैतन्यमात्र हूं, इसमें आशाकी कोई तरंग ही नहीं है। इसका काम तो केवल देखने जानने का है, ज्ञाता दृष्टा रहनेका है, ऐसी आशारहित अपने स्वभावकी दृष्टि करें तो उसके आशा नहीं रहती है। जो अपने को आशा रहित बनाले वह सुखी हो जाता है।

आकिंचन्यभावनासे स्वास्थ्य बनता है, अस्वास्थ्य रहनेमें विपदा ही विपदा है, पढ़िये श्लोक ५–३ के एक प्रवचनांशमें पृ० ११५–जगतमें कहीं भी अपना कुछ माना तो वहां विपदायें हैं। बतलाओ जरा अपने में इतने संकट कहां से पैदा हो गये ? अपनी ही गलती से तो–ये सारे संकट खड़े हो गये। भीतरमें यह बुद्धि आये कि यह मेरा है, यह उसका है तो केवल भाव ही तो किया, पदार्थ का नहीं बिगाड़ा और कुछ ऐब नहीं किया, बाहरमें किसीका नाश नहीं किया भीतरमें यह सोच लिया कि मेरा कुछ है, इतने में इतना बड़ा संकट हो गया कि ये सारे बन्धन हो गये, फसाव हो गये। मिलेगा क्या ? केवल पाप। यह मेरा है, यह उसका है, खूब मानो, पर मेरा तो वह बनने का नहीं, क्योंकि वे भिन्न पदार्थ हैं। उन भावोंसे मिलेगा क्या ? केवल पाप, केवल कर्मबन्ध, केवल दिलमें दुःखी होना। मिलना कुछ नहीं। इसलिए जो कुछ चाहते हो उसमें मिलेगा क्या ? केवल खाक। और कुछ नहीं हाथ आता।

बाहर कुछ छानना मूढ़ता है, संकट है, इसका चित्रण देखिये श्लोक ५–२४ के एक प्रवचनांशमें, पृ० १६१–जैसे कि मानो, ऊंटका विवाह हो रहा था। उसकी शादीमें गाने बजाने के लिए गधोंका बुलाया गया। गधे बहुत गीत गाते हैं, उनकी दोहरी आवाज होती है। वे सांस भीतर करे तो बोलते, बाहर करें तो बोलते। सो गाना गानेको गधा व गधी को बुलाया। सोवे गधा गधी ऊंटको गीतमें क्या कहते है कि ऊंट तेरा रूप धन्य है, तू बहुत सुन्दर है, ऊंटकी गर्दन टेढ़ी, टांगे टेढ़ी, मुख टेढ़ा, कुछ भी सीधा नहीं, पर गाना गाने वाले कहते कि तेरा कितना अच्छा रूप है। तो ऊंट कहते है कि धन्य है तेरा स्वर। धन्य है तेरा राग। गधा और गधी ऊंटकी प्रशंसा करते और ऊंट गधा और गधीकी प्रशंसा करता है। इसी तरह से ये जगतके जीव एक दूसरे की प्रशंसा किया करते हैं। उसमें सार की चीज कुछ नहीं है। जब अपने आपसे अपने आपके स्वरूपकी बात जचे, सन्तोष पावे, ज्ञान पावे, सो वह सार की बात है। सो जहां तक हम आप अपने स्वास्थ्यको न देख सकेंगे तब तक द्वेषोंको न मिटा सकेंगे। दुःख न मिटेंगे। शंका, शल्य आदि भी न मिलेंगे, इसलिए अपने आपमें रहकर बाहर में यह देखो कि मेरा कहीं कुछ नहीं है। ऐसा निश्चय करा तो अपने आपमें अपने लिए अपने आप स्वयं सुखी हो सकते हो।

(१५५) सुख यहां चतुर्थ भाग

इस पुस्तकमें सहजानन्द गीताके छठें सातवें अध्याय पर प्रवचन है। श्लोक ६–९ में एक प्रवचनांशमें बताया कि चाहे सम्पदा आवे या विपदा आवे उससे मेरा क्या, मेरा तो सर्वस्व मुझमें है। पढ़िये पृ० १–चाहे सम्पदा हो जाय चाहे आपदा आये ये सब बातें बाहर की हैं। मैं तो ज्ञानमय हूं। इस निज आत्माको तो देखो कि यह कितना है और यह ऐब करे, ऊधम करे तो यह कितना क्या कर सकता है ? केवल अपने सत्त्वको देख करके यह अपनेमें जो चाहे परिणमन करे। इतनी ही तो बात है। अब वह परिणमता है तो सुख होता है। मैं तो ज्ञानमात्र हूं। किसपर सन्तोष करूं और किसमें रोष करूं ? [illegible]

विपत्ति जीवपर अज्ञान की है, मोह की है, भ्रम की है। वास्तवमें विपत्ति एक ही है। इस एक ही विपत्तिके विषयभूत से अनेक रूप बन जाते हैं।

मायामय पुरुष सभी हैं, क्योंकि पर्याय ही यह मायारूप हैं। ये मायारूप पुरुष चाहे खुश हों तो क्या, रुष्ट हों तो क्या, इसका श्लोक ६-११ के एक प्रवचनांशमें चित्रण देखिये-पृ० ७-जैसे पिता अपने बेटों पर कितना खुश रहता है, इस खुश रहने के परिणाममें वह क्या करता है कि बच्चोंको चौथी कक्षामें यदि मास्टरने पीट दिया तो वह बोलता है कि हमें अपने बच्चे को नहीं पढ़ाना है, यह उन पर खुश हो गया है और आगे चलो तो जल्दी ब्याह कर देते हैं, और और विषयों के साधन जुटा देते हैं, दुकान कराते हैं, और और भी अनेक काम कराते, ये सब साधन उसके मोह बढ़ाने के साधन हुए या ज्ञान बढ़ाने के साधन हुए? कौन सा पिता ऐसा होता है जो यह सोचे कि मेरा बच्चा आनन्दकी दृष्टि पा ले तो अच्छा है? ऐसा यदि कोई बाप हो तो हमें पता नहीं, पर प्राय: हमें यों दिखते हैं कि वे पुत्रके आत्माके हितकी बात तो नहीं देखते, किन्तु अपने कषायोंकी बात देखते हैं। तो यह मायास्थ पुरुष खुश हों तो क्या, रुष्ट हों तो क्या?

स्तुति और निन्दामें समान रहने के लिए प्रेरणा पाइये श्लोक ६-१४ के एक प्रवचनांशमें-पृ० ९-जो स्तवन करते हैं, प्रशसा करते हैं और निन्दा करते हैं वे इस दिखने वाले पुतलेका ही लक्ष्य बनाकर प्रशंसा करते हैं और निन्दा करते हैं, पर जो परमार्थ सत् मैं हूं उसकी न तो प्रशंसा वे करते और न निन्दा करते। मुझे तो वे जानते ही नहीं हैं। तो उस ज्ञायकस्वभाव मुझ आत्मतत्त्वको वे जानते ही नहीं। तो उनके इस ज्ञानमें यह व्यक्ति ही नहीं ठहरता किन्तु एक शुद्ध ज्ञानस्वरूप बर्तता है। ऐसी स्थितिमें वे क्या प्रशंसा कर सकेंगे, क्या निन्दा कर सकेंगे? और जिसने मुझे देखा ही नहीं, इस दृश्य पुतले को ही निहारते हैं, तो जिसको देखकर उसने गाली दी वह गाली उसी की हुई, मेरे को नहीं हुई।

सुख और दुःखमें समान रहने के लिए प्रेरणा पाइये श्लोक ६-२६ के एक प्रवचनांशमें, पृ० २८-सुख और दुःखमें कोई अन्तर नहीं है। दोनों ही स्थितियोंमें आकुलताओंका अनुभव होता है। सुख कहते हैं इन्द्रियोंको जो विषय सुहावना लगे। सुहावना लगनेकी स्थितिमें आकुलता होती ही है। यदि आकुलता न होवे तो इन्द्रियके विषयोंमें प्रवृत्ति ही क्यों करे? इन्द्रियके विषयोंमें जीव तब ही प्रवृत्ति करता है जब उसे कोई दुःख हो। जिसे फोड़ा फुन्सी नहीं है वह मल्हम पट्टी ही क्यों लगायगा, इसी तरह किसी प्रकार की अशान्ति नहीं है तो वह इन्द्रियके विषयोंमें क्यों लगेगा? जो जीव विषयोंमें हैं उनको आकुलतायें ही हैं, अथवा विषयोंसे उनका आदर नहीं होता। तो उस सुखमें आकुलताय ही पायी जाती है और दुःखमें भी आकुलतायें ही पायी जाती हैं। इस कारण सुख और दुःख दोनों की कल्पनाको छोड़ो। न तो सुखकी चाह करने का सुख हो और न दुःखसे भयभीत होऊं। दुनियामें दुःख कहां नहीं है। दुःख मात्र अपनी कल्पनाओंमें है। सब कुछ सम्पन्न होते हुए भी यदि एक कल्पना बना ली कि मेरी कुछ शान नहीं है, मेरी कुछ इज्जत नहीं है। लोग मेरा कुछ कहना नहीं मानते तो इससे क्लेश ही प्राप्त होंगे।

परके प्रति मोहराग मत करो, इस भावकी प्रेरणा लीजिये, श्लोक-७-१० के एक प्रवचनांशमें, पृ० ८०-यह जीव स्वयं आनन्दस्वरूपको लिए हुए है पर ऐसा ही मान कर रहे तो इसे आनन्द प्राप्त हो, किन्तु यह अपने आपके ज्ञानानन्दस्वरूपको तो मानता ही नहीं, इसके यह समझ बनी है कि मेरा सुख मेरे बच्चों के आधीन है। इन बातोंसे अपना बड़प्पन समझते हैं, फिर बताओ-मिथ्या भावोंसे शान्ति कैसे

आवे ? जीव तो सब पूरे हैं, अपने स्वरूपसे भरपूर हैं, कृतार्थ हैं। प्रत्येक जीवका चैतन्यस्वरूप है। सो कितना बड़ा यह अपराध है कि हम अपने को अधूरा मानते और दुःखी हुआ करते हैं। अचेतन पदार्थ तो कोई नहीं दुःखी होता। पुद्गल है, जल जाये तो जल गया, उसको क्या कष्ट है ? धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य, आकाश द्रव्य और कालद्रव्य हैं, जैसे भी हो वे हैं और परिणमते हैं, मगर जीव है सब द्रव्योंमें सरताज। सब द्रव्योंकी व्यवस्था करने वाला है। ज्ञानमय है, लेकिन ये सब भूल से अपने दुःख बना रहे हैं। कुछ हो, ज्ञाता दृष्टा रहो और प्रसन्न रहो, यही भगवानका उपदेश है। जो भगवानका उपदेश नहीं मानेगा वह कितना ही ऊधम मचावे, जब तक पुण्यका उदय है, आखिरी परिणाममें उसे क्लेश ही होंगे।

प्राप्त समागमों को विनश्वर मान लेने से आकुलता नहीं रहती, इ का अध्ययन कीजिये श्लोक– –२९ के एक प्रवचनांशमें, पृ० १०७–जैसे वृक्षपर सामके समय चारों दिशाओंसे पक्षी आ कर बैठ जाते हैं और रात्रि व्यतीत होने पर वे पक्षी अपनी अपनी कल्पना अनुसार अपने अपने प्रयोजनसे जुदे जुदे दिशाओंमें उड़ जाते हैं इसी प्रकार संसारके ये प्राणी अपने भावोंके अनुसार बांधे हुए कर्मोंके उदयका निमित्त पाकर जुदी जुदी गतियोंमें जाकर जन्म ले लेते हैं। यह जो मेल हो गया है वह कोई ध्रुव नहीं है। अपने अपने कर्मोंके अनुसार आये हैं और अपने अपने कर्मोंके अनुसार ही चले जायें। अपने आपमें यह विश्वास रखो कि इन सबका वियोग जरूर होगा। यदि यह विश्वास रखोगे तो वियोग होनेके समय आप विह्वल न होंगे। सब परिवार में किसी का वियोग होगा तो आप ऐसा सोचेंगे कि जहां संयोग होता है वहां वियोग होता ही है। मैं तो समझता ही था कि किसी दिन मरण हो ही जायगा। अगर यह पूर्ण निर्णय है कि जो जन्मा है वह नियम से मरण करेगा तब मेरे विश्वास–योग्य ये कौन हैं? जिस पदार्थ पर आपकी बड़ी प्रीति है वह आपके देखते देखते ही तो मरण कर सकता है और उस समय आप किसका सहारा लेंगे ? अपने आपके प्रभुके दर्शन का सहारा लेते तो बाह्य पदार्थोंके उप–भोगका दुःख नहीं भोगना पड़ता।

(१५६) दशप्रथमप्रथमसूत्र प्रवचन

इस पुस्तकमें मोक्षशास्त्रके दसों अध्यायके प्रथम प्रथम सूत्रपर पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराजके प्रवचन हैं। इस ग्रन्थके मंगलाचरणके अर्थ लिखकर मोक्षमार्गका नेतृत्व किस प्रकार है सो बताया है। पृ० ३–इसमें पहिला विशेषण मोक्षमार्गके नेताका दिया। नेता वह कहलाता जो अपने लक्ष्यकी ओर ले जाय, ले जाने वाला स्वयं जाता और दूसरोंको उस अभीष्ट तक ले जाता। नेता का अर्थ पहुंचा देने वाला नहीं होता। क्योंकि पहुंचा देने वालेमें वह नेतृत्व शक्ति नहीं होती। नेता तो वही है जो स्वयं उस को प्राप्त करे या उस पर चले और दूसरों को भी उनमें ले जाय। मोक्षमार्गपर जो स्वयं न चला हो, स्वयं उस भावको जिसने प्राप्त न किया हो तो दूसरोंको मोक्षमार्ग में ले जाने का निमित्तत्व उसमें नहीं हो सकता। अरहंत आप्तमें यह नेतृत्व पूर्णरूपसे पाया जाता है। इसके साथ ही जो पूर्णरूपसे रागद्वेषरहित वीतरागी हो और पूर्ण ज्ञानी सर्वज्ञ हो वही वास्तविक मोक्षमार्ग का नेता हो सकता है।

प्रथम सूत्रके प्रवचनमें राष्ट्रीय झण्डेका संकेत देखिये–पृ० २०–राष्ट्रीय तिरंगाझंडामें रत्नत्रय की कल्पना घटित होती है। साहित्यकार रुचिका वर्णन पीले रंगसे करते हैं और जैन धर्म में रुचिको सम्य–ग्दर्शन कहते हैं। हरा रंग हरे भरे पनका द्योतक है। यह सम्यक्चारित्रको बतलाता है, क्योंकि उससे

शुद्ध आत्मपर्यायकी उत्पत्ति होती है। और ज्ञानका वर्णन सफेद रंगसे किया जाता है, तब सफेद रंग सम्यग्ज्ञानका प्रतीक हुआ। इस तरह रत्नत्रयका प्रतीक पीला, हरा और सफेद रंगवाला तिरंगा झंडा (राष्ट्रीय) झंडा है। उसमें जो चक्रका चिन्ह है उसमें २४ आरे रहते हैं, जिनका अर्थ होता है कि उस मोक्षमार्गरूप रत्नत्रयको २४ तीर्थंकरोंने प्रकट किया है। तिरंगा झंडा २४ तीर्थंकरों द्वारा प्ररूपित, प्रदर्शित आत्माके रत्नत्रय-धर्मको या कहिये मोक्षमार्गको स्मरण कराता है। हमको उस मोक्षमार्ग में पुरुषार्थ प्रकट करना चाहिए। इस भवसे नहीं तो अगले भवोंसे हम मोक्ष पाने के अधिकारी हो जावें। मनुष्यजीवनमें यह सबसे बड़ा काम है।

तृतीय अध्यायके प्रथम सूत्रके प्रवचनमें पांच भावोंके क्रमका प्रयोजन देखिये-पृ० ६७-ये पांच भाव क्रम से कहे गये हैं उन क्रम के करने के कई कारण हैं। एक कारण तो यह कि जीवके मोक्षमार्ग में आने के समय सबसे पहिले औपशमिक भाव होते हैं पश्चात् मिश्र सम्यक्त्व होकर ही क्षायिक सम्यग्दर्शन होता है और मोक्ष प्राप्त करने के लिए क्षपक श्रेणी माड़ने के समय चारित्र सम्बन्धी क्षायिकभावका आरम्भ होता है व १२ वें गुणस्थानमें यथाख्यात चारित्र प्रकट होता है और १३ वें गुणस्थानमें क्षायिकज्ञान आदि होते हैं तथा औपशमिक भावसे लेकर आगे आगे जो भाव बताये हैं उनका काल अधिक अधिक है (संसारी पर्यायकी अपेक्षासे) अर्थात् औपशमिकसे क्षायिकका, क्षायिकसे क्षायोपशमिकका, उससे औदयिकका और औदयिकसे पारिणामिकका समय अधिक है तथा एक कारण यह भी है कि औपशमिकभाव वाले सबसे कम हैं, उससे भी ज्यादह औदयिक आदि वाले व सबसे ज्यादह पारिणामिकभाव वाले हैं, उससे ज्यादह क्षायिकभाव वाले। इसलिए भी इस क्रमसे रखनेकी सार्थकता है।

तृतीय अध्यायके प्रथम सूत्रके प्रवचनमें वैज्ञानिक ढंगसे पृथ्वीकी स्थिरता सिद्ध करके यह बताया है कि लोगोंको आजकी पृथ्वी गोल क्यों मालूम होती है। पृ० ६०-इस भरत क्षेत्रके आर्यखण्ड पर कुछ कम एक योजनका अर्थात् दो हजार कोशका मुलम्मा उठ गया है जो कि प्रलयकालमें साफ होगा। यह मुलम्मा उत्तरकी ओर झुका हुआ उठा है जिससे कि इतना हिस्सा जमीन पर कुछ गोल सा हो गया है। नीचे वह विस्तृत पृथ्वी है। इस भागके ऊंचे उठे हुए होने से इसके पूर्व भाग पर जल्दी प्रकाश आता है सूर्यके निषधाचल पर पहुंचते ही तथा भरतक्षेत्रसे सूर्यके मुड़ते ही पूर्व भाग पर अंधेरा हो जाता है व पश्चिम भागपर शीघ्र प्रकाश आ जाता है, इससे प्रलयसमय तक यह व्यवस्था है।

चतुर्थ अध्यायके प्रथम सूत्रके प्रवचनमें स्वर्गादिककी रचना बताकर देवगतिमें जन्म लेने के कारणों पर कुछ प्रकाश डाला है, पढ़िये-पृ० ७४-७५-नरकोंमें जीव जैसे पापकी बहुलतासे पैदा होते हैं, वैसे देवपर्याय पुण्यकी बहुलतासे मिलती है। इसमें भी भवनत्रिक पर्यायसे वैमानिकदेव पर्याय पानेके लिए विशेष पुण्य आवश्यक है। मिथ्यादृष्टि-तिर्यंच अधिक से अधिक १२ वें स्वर्ग तक पैदा हो सकते हैं। इससे ऊपर के स्वर्गोंमें वा कल्पनातीत विमानोंमें मनुष्योंको ही ध्रुव है। जो प्राणी अपने परिणाम सरल और शुभ रखता है, पापोंका भक्ति सेवा दीन दुःखियों को दया से दान देता है, देवशास्त्रगुरुकी पूजा भक्तिमें तत्पर रहता है, पञ्च इन्द्रियोंके विषयोंको रोककर मनको वशमें करता है, जीवोंकी दया पालता है, दुःखोंको समतासे सहता है, बारह प्रकारके तपोंको तपता है, परोपकार और परदुःखहरणमें रुचि रखता है, बाह्य पदार्थोंसे मूर्छा और ममता त्यागकर आत्मवैभवमें जो उपयोग लगाता है, जो उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव आदि दस धर्मोंका पालन करता है, दर्शनविशुद्धि आदि षोडश कारण भावनाओंकी भाता है. संसारसे रुचि हटाकर जो मोक्षमार्गमें अपना उपयोग लगाता है वह ऐसी ही उदार वृत्तियोंसे देवपद पाता है।

पंचम अध्यायके एक प्रवचनांशमें द्रव्योंका संक्षेपमें परिचय दिया है, देखिये पृ० ६५–पदार्थ कभी न नहीं होता, उसकी अवस्थायें बदला करती हैं और वे अवस्थायें सूक्ष्मरूपसे प्रति समय, प्रतिक्षण बद हो करती हैं, चाहे इन्हें हम समझ पावें या नहीं, अतः न कोई द्रव्य कूटस्थ नित्य है और न सर्व क्षणध्वंसी। प्रत्येक द्रव्यकी द्रव्यता उसी द्रव्यके अनुरूप कायम रहकर ही उसमें परिणमन प्रतिसम होता रहता है। जीव और पुद्गल द्रव्य ऐसे हैं कि इनमें आपसके संयोगी परिणमन भी होते हैं, कहिये वैभाविक विकारी परिणमन भी होते हैं और स्वाभाविक भी होते हैं। शेष ४ द्रव्योंमें स्वाभावि ही परिणमन होता है।

छठवे अध्यायमें आस्रवोंका परिचय कराया है, उसमें हमें यह शिक्षा लेनी है कि अशुभ आस्रवसे तो ब वचना ही चाहिए, वे क्या हैं पढ़िये पृ० १११– हतकारी, दुःखदायी, कठोर, असत्य वचन बोलना, दूसरे निन्दा तिरस्कार करना, धर्म वा धर्मात्माके प्रति अयोग्य मद भरे वचन कहना, अविनयपूर्वक वच बोलना, काम, क्रोध, लोभ और हसी मजाकके वचन कहना, कुमार्गोमें लगा देने वाले वचन कहन अपने विषयपुष्टिके वचन कहना आदि अशुभ वचनयोग हैं। लात, मुक्का आदि से किसी को पी देना, जीवका घात कर देना, बड़ोंके प्रति उद्दण्डताका, अहंकारका व्यवहार करना, शरीर द्वारा शास्त्र गुरुका अविनय करना, शरीरसे असावधान रूप प्रवृत्ति करना आदि अशुभ काययोग हैं।

दशम अध्यायके प्रथम सूत्रके एक प्रवचनांशमें संक्षिप्त सम्मति देखिये–पृ० १७८–कल्याण करना है अपना एक प्रियत्तम बनालो। प्रियतमके माने जो सबसे अधिक प्रिय हो। सबसे अधिक प्रिय अप आत्मा ही है। बाह्य में अरहंत और सिद्धही हो सकते हैं और दूसरा कौन प्रियतम बन सकता है? आ को प्रियतम बनाने पर तो एक दिन सब कर्मों का क्षय हो जावगा।

(१५७) भक्तामर स्तोत्रप्रवचन

इस पुस्तकमें पूज्यवर मुनि श्री मानतुंगस्वामी जी द्वारा रचित भक्तामरस्तोत्र पर पूज्य श्री मनोहरजी व सहजानन्द महाराज के प्रवचन है। तृतीय छन्द के प्रवचन में स्तवन की अशक्ति दिखाई गई है, इसके कारण कैसा चित्रण किया है एक प्रवचनांशमें पढ़िये–पृ० ६–भक्तके चित्त प्रभुगण की महत्ता समाई हुई है। उस भक्त महान आनन्दित है। आनन्द से आनन्दित पुरुष एक तो वैसे ही स्पष्ट बोल नहीं सकता। दूस जितना ज्ञान होता है उसमें वाचक शब्द ही नहीं होते हैं, तीसरे प्रभु के गुण असीम है उनका वर्णन यथानुरूप नहीं कर सकता हूं किन्तु आपके गुणोंका अनुराग प्रबल है, इस कारण संकोच को मै छोड़व आपकी स्तुति करने के लिए प्रवृत्त हुआ हूं।

पञ्चम छन्दमें देखिये संक्षेपमें प्रवचनांशमें बताया है कि मैं स्तुति करनेमें असमर्थ हूं फिर भी क्यों ब रहा हूं: पृ० ७–आपने हो ज्ञानआनन्द का विकास और अनुभव जो विदित होता है उसका भी शब्द द्वारा वर्णन नहीं हो सकता फिर भी ज्ञान और आनन्द का विकास जो कि अनन्त है उसका कहा ह कैसे जा सकता फिर भी जैसे शुभस्पतत्व की रूचि के कारण चारित्र मोह के उदय में आत्मवृत्ति व विकास होने पर भी शुद्धात्मतत्व की उपलब्धि के यत्न में शुद्धात्म प्रभा रहा हा है। वस ह शुद्धानुराग के कारण वर्णन करनेका अयोग्य होने पर भी हे नाथ मैं आपकी स्तुति करने का प्रवत हुआ हूं।

७ वें छन्दमें बताया है कि प्रभुस्तवनसे भव भवके पाप क्षणमें निर्जीर्ण हो जाते हैं, इसका संक्षिप्त स्पष्टी करण देखिये–पृ० ९–हे नाथ तुम्हारा स्तवन करने से भव भवके बंधे हुए पाप क्षण भरमें ही नष्ट हो जा

हैं। प्रभु तेरा स्वरूप मात्र आनन्द और ज्ञान ही तो है। ज्ञानका जो पूर्ण विकास है वह तो तेरा स्वरूप है। और आनन्दका जो अन्तिम विकास है, चरम सीमा है वह भी तेरा स्वरूप है। ऐसे ज्ञानानन्दस्वरूपमें जिसकी दृष्टि होती है वह भी ज्ञानानन्दमें गो: लगाता है। परिणाम निर्मल करता है. ऐसी भक्तिसे जिसका उपयोग ज्ञानानन्दस्वरूपमें डूबा रहता है उसके एक भवके जन्ममें भव भवके पाप नष्ट हो जाते हैं, इसमें कोई आश्चर्य नहीं। जैसे रात्रिको महान अन्धकार हो, जो इतना विकट अन्धेरा हो कि इस लोक को व्याप ले भ्रमर के समान नीली, काली रात्रि हो मगर सुबह होते ही, पौ फटते ही सूर्य की किरणोंके आगमनसे ही अन्धकार नष्ट हो जाता है, इसी प्रकार जब भक्तिसे चित्तमें ज्ञानका उदय होता है, और ज्ञानस्वरूप भगवानकी पूजा भक्तजन करते हैं। भगवानके गुणोंपर न्योछावर हो जाते हैं तो भव भवके पाप कट जाते हैं।

१३ वें छन्द में भगवानके वक्त्रकी (मुखकी) उत्तमता बताई गई है, सो वक्त्र शब्द कहने का क्या रहस्य है, इसे पढ़िये इस प्रवचनांशमें–पृ० १६–कहते हैं कि नाथ कैसे हैं ? जिनका मुख चन्द्र से भी उज्ज्वल है। यहां मुख न कहकर मुख के बजाय वक्त्र कहा है। कोषमें मुखके अनेक नाम बताये हैं। आपका ऐसा वक्त्र, आपका ऐसा मुख, आपका ऐसा आस्य, आपका ऐसा लपन आदि ये सब मुखके नाम हैं, मगर शब्दार्थ जुदा जुदा है। वक्त्र उसे कहते हैं जिससे बात बोली जाय। मुख किसका नाम है जिसके द्वारा वस्तु खाद्यवस्तु दी जावे उसे मुख कहते हैं। जिससे लार बह जाया करती है वह आस्य है। लपन किसे कहते हैं–जिसमें जीभ अथवा जिससे लोग खानेमें लप लप किया करते हैं या बहुत लप लप बोला करते हैं। एक शब्दके प्राय: एकार्थक अनेक पर्यायवाची शब्द हैं, किन्तु यह तारीफ है कवियों और आचार्यों को कि कैसे, कहां कौन शब्द रखे जावें। एक शब्दके पर्यायवाची दसों शब्द हैं, पर कौन सा शब्द फिट बैठता है ? हिन्दी वाले इस औचित्यको कम लगाते हैं, पर संस्कृत वाले विशेष लगाते हैं। इंगलिश मातना वाले इसका और भी ध्यान रखते हैं। तो यहां वक्त्र कहा है। वक्त्र मायने वह, जिससे वचन, दिव्यध्वनि निकले। ऐसा अद्भुत वक्त्र आपका है। उसकी चन्द्र से क्या उपमा हो सकती है। कहां यह कलंकी, दिनमें निस्तेज होने वाला चन्द्र है और कहां प्रभुका लोकोत्तर वक्त्र।

४६ वें छन्दमें कहा है कि प्रभुके ध्यानके प्रतापसे कठिन भी बन्धन टूट जाते हैं इसके प्रवचनके उपसंहार का एक प्रवचनांश देखिये–पृ० ५६–प्रभुकी भक्ति करते हो उस पूजासे अनेकों देवी देवता अनेक सज्जन मनुष्य प्रसन्न होकर भक्तको वर देना चाहते हो वह सब भगवानके स्वरूप भक्तिके कारण इस भक्तपर आत्मरुचिका असर है। उसे अन्य कुछ चाहिए ही नहीं। उसे तो केवल भगवानका स्वरूप सुहा गया। कृष्ट हो गया। भक्तका दिल अन्यत्र कहीं नहीं जाता। भगवानके पवित्र स्वरूपकी भक्तिके बाद तो अन्यत्र दिल ही नहीं लगता है। ऐसी शुद्ध भक्तिका चमत्कार हो जाय वह सब साधारण बात है। प्रभो भव भवमें अनेकों से परिचय हुआ, अनेकों से स्नेह हुआ, परन्तु हे भगवन् तेरे स्वरूपका परिचय पाये बिना यह प्राणी जगतमें विचरता हो रहा। प्रभुकी शरण ही सच्ची शरण है। कैसे भी बन्धनमें कोईभी फसा हो, पर हे नाथ आपके नामके स्मरणसे ही वह व्यक्ति बन्धनरहित हो जाता है।

४८ वें छन्दके प्रवचनके पश्चात् कष्टसहिष्णुता व लोकसुखकी उपेक्षा करने पर ध्यान दिलाया है, अवधारण कीजिये–पृ० ६३–कोई बड़ी तेज नींदसे सो रहा हो और किसी मनुष्यने कह दिया उठो, नींद तेज थी; अरे उठिये उठिये, देर हो गई, फिर सो गये, तो उन्हें बार बार जगाने वाला जगाता रहता है, पीछा नहीं छोड़ता, बार बार जगाता है, इसी तरह इस रागकी नींदमें सोये हुए ये मनुष्य हैं, सो गये, विपदा ने जगाया, फिर सो गये, फिर विपदा ने जगाया, इसलिए हे विपदे, हम तुमसे बड़ी आशा करते

हैं, अतः हे विपदाओ मेरेपास आवो, और रागनींदमें सोये हुए इसको बारबारजगाओ। दुःख आते हैं सो इनका स्वागत करो और सुख आता है तो उसकी उपेक्षा करो। ऐसा हो करके आनन्द प्राप्त होगा। लाभ तो बड़ी पूंजी लगाकर ही मिलता है। पहले दो चार साल नुकसान किया, फिर बादमें जब यत्न पूरा बन जाता है तभी लाभ मिलता है, तो भाई यह लाभ तो आत्मीय आनन्द है, शुद्ध आनन्द है। मोक्षमार्ग का लाने वाला है। इसकी प्राप्ति के लिए बहुत विपदायें भी सहना पड़ें तो सहना चाहिए।

(१५८) मेरा धर्म

इस पुस्तिकामें श्री दि० जैन सभा शिमला द्वारा आयोजित सर्वधर्म सम्मेलनमें अध्यक्ष पदसे पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराजका प्रवचन हुआ था। इसमें बड़ी शैली से जनसमुदायको धर्ममार्ग बताया गया है। धर्मके स्वरूपका सरल पद्धतिमें परिचय करिये इस प्रवचनांशमें, पृ० ६–जैसे एक मोटा दृष्टान्त लीजिये–अग्निका स्वभाव उष्णता है, वह उष्णता अग्निका धर्म है, और गहराई पर जावें तो देखे पुद्गलका स्वभाव रूप रस गंध स्पर्श है। तो यह चतुष्टय पुद्गलका धर्म है। अब अपने विषय पर आवें। मेरा धर्म, मेरा अर्थात् इस शरीर, विचार और वाणी, चेष्टासे भी अलग, मुझ आत्माका स्वभाव है ज्ञान। ऐसा ज्ञान जो केवल शुद्ध ज्ञान हो, ज्ञानके साथ मोह, काम, क्रोध, मान, माया, लोभ न हो क्योंकि यह सभी दोष कोई भी आत्माके स्वभाव नहीं है। इससे यह सिद्ध हुआ कि मोह, काम, क्रोध, मान, माया, लोभ का बिकार न होना, अथवा शुद्ध जानना बना रहना धर्म है।

एक स्थल पर तीन बातों पर विचार किया गया है। (१) दिखने वाला सर्वजगत (२) जानने वाले अन्य पदार्थ (आत्मामें) (३) मैं स्वयं और मेरा स्वभाव। इनमें तीसरी बातका परिचय करिये इस प्रवचनांशमें–पृ० ९–१०–अब अपने विषय में विचार करें कि मैं क्या हूं, मैं दूसरोंके अनुभवोंसे पृथक अनुभव वाला हूं, स्वतंत्र हूं, मेरा स्वभाव ज्ञान है, उससे मैं कभी अलग नहीं होता। मेरा स्वभाव इच्छा, राग, द्वेष करने या पशु मनुष्यादि जन्मोंमें भटकनेका नहीं है, किन्तु कर्मोदय और बाह्य पदार्थोंके निमित्तसे मेरे अज्ञान के कारण ये दशायें होती हैं। मेरा स्वभाव तो जानने का है। मैं अपने को यथार्थ देखूं तो जो मेरा स्वरूप है वह परमात्माका है। केवल अन्तर यह हो गया है कि उसमें राग नहीं है, इसी कारण अनन्त–ज्ञानी और अनन्त सुखी है। यहां रागका विस्तार है इसीलिए अल्पज्ञानी व अल्पसुखी हूं। यदि मेरे भी राग न हो तब परमात्माका और मेरा स्वरूप खुले रूपमें एक है। यह राग तभी नष्ट हो जावेगा जब यथार्थ ज्ञानके बलसे आशा दूर हो जावेगी।

स्याद्वादके सबके धर्म विचारोंका समन्वय होता है, इसका मर्म देखिये–पृ० १२–बन्धुवर, मेरा धर्म, समझने के लिए बाह्य विज्ञानकी कसौटीसे भी अपनी तर्कणाओंको कसिये, वह कसौटी है स्याद्वाद, अभी अभी आपके समक्ष विविध प्रवक्ताओंने अपने अपने मन्तव्य व्यक्त किये। यहां कोई थियेटर तो है नहीं जो अपना अपना पार्ट अदा कर गये हों यहां तो एक महत्वपूर्ण सर्वधर्म सम्मेलन हो रहा है। वे सभी प्रवक्ता अपने अपने ज्ञानकी हार्दिक बात बता गये हैं। यदि प्रत्येक प्रवक्ता के विचार को दृष्टियों द्वारा देखें तो आप सभी यह कह उठेंगे इसमें सभी ने सत्य कहा परन्तु इन्होंने इस दृष्टिसे और इन्होंने इस दृष्टिसे।

प्रवचनके अन्तमें शिक्षाप्रद बातका अवधारण करिये–पृ० १४–१५–अन्तमें मेरा आप सब बन्धुओं से यही कहना है कि आप हमने शान्तिके अर्थ बहुत प्रयत्न कर डाले, अब एक यह भी प्रयत्न करके अनुभव कर लीजिये कि जो वस्तुको विविध दृष्टियोंसे यथार्थ जानकर, अपने आत्मा के स्वरूप को यथार्थ

जानकर मोह, राग, द्वेष दूर करे। हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह आदि पापोंसे दूर रहे, मिथ्यात्व अन्याय अभक्ष्य का त्याग करें, आत्मनः प्रतिकूलानि परेषाम् न समाचरेत्–अर्थात् जो अपनेको बुरा लगे वह दूसरों के लिए न करें, शराब, मांस, शहद, बड़, कठूमर आदि उदम्बर फलका भक्षण न करें। जुआ खेलना, मांस खाना, शिकार खेलना, चोरी करना, परस्त्री सेवन करना, वेश्यागमन करना इन व्यसनों को छोड़ें, सदा अपने ज्ञानस्वभावका ध्यान रखें यही मेरा धर्मपालन है, यही आत्मधर्म है, यही विश्व–धर्म है, यही वस्तुधर्म है. इसका तो जैन धर्म इसलिए नाम पड़ गया कि जिन्होंने राग, द्वेष, मोह को जीता वह जिन है परमात्मा है, उस जिनदेवके उपदेशमें यही वस्तु धर्म कहा गया है इसलिए जैन धर्म कहा जाने लगा।

(१५९) ब्रह्म विद्या

थियासॉफिस सोसाइटीके सदस्योंके बीच पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराजका जबलपुरमें एक प्रवचन हुआ था, ब्रह्मविद्याके नामसे प्रकाशित हुआ है। दार्शनिक पद्धतिसे यथाक्रम हुए इस प्रवचनमें उन सदस्योंने लाभ उठाया, प्रत्येक पाठक सरलतासे इस प्रवचनसे आत्महितका लाभ ले सकते हैं। पदार्थके विषयमें ही सब वर्णन किया जाताहै सो पहिले पदार्थका स्वरूपही प्रवचनमें बताया है। उसके एकअंशमें पदार्थकी विशेषता देखिये-पृ० १२-पदार्थकी विशेषतायें-पदार्थ अविभक्त होता है और उसकी यह विशेषता है कि वह निरन्तर बनता है, बिगड़ता है और बना रहता है, क्योंकि पदार्थ किसी न किसी अवस्थाको लिए हुए रहता है। अतः जो अवस्था वर्तमान है वह तो हुआ बनना और उससे निकट पहिले की अवस्था नहीं रही, यह हुआ बिग–ड़ना तथा जो बना व बिगड़ा वह एक वही है। यह हुआ बना रहना। जैसे स्वर्ण की एक चेन है, उस का मेडिल बना लिया तो मेडिलका तो बनना हुआ और चेनका बिगड़ना हुआ और स्वर्णका बना रहना हुआ। इसे दृष्टान्तमें देखता। वस्तुतः स्वर्ण भी पदार्थ नहीं, पदार्थों का समूह है। इस बनने, बिगड़ने और बने रहने का कहते हैं उत्पाद व्यय और ध्रौव्य याने मेनीफिकेसन, डिसएपियरेन्स और परमा–नेन्स।

विचारोंका महत्व देखिये एक प्रवचनांशमें–पृ० ५–विचारों की भी बड़ी शक्ति होती है। विचार जैसे करेंगे वैसे आप हो जावेंगे। जैसे गांवके किसी वासिन्देको मालूम हो जाय कि उसे भूत लगे हैं, उस ने ऐसी कल्पना करली कि मैं भूत हूं। इस विचारसे वह यह भूल जाता है कि वह आदमी है। अपने आपको भूत समझ लेने का वह परिणाम होता है–वह उछलने लगता है, भूत जैसी क्रियाओंको करने लगता है। इसी प्रकार कोई भोगके अनुकूल विचार बनाता है तो वह सुखका अनुभव करता है। यदि कोई आत्मधर्मके अनुरूप भाव करता है तो वह सहज परम आनन्द का अनुभव करता है। इस कारण मित्र, बाह्यका तो कोई कुछ कर नहीं सकता, क्योंकि कोई द्रव्य किसी दूसरे द्रव्यरूप परिणमता ही नहीं है, सो अब अपना ही सुधार करना रह गया है।

आत्महितके मार्गमें सामान्य तत्त्वका कितना महत्व है, पढ़िये एक प्रवचनांशमें–पृ० १७–लोग विशेषमें ही अटके हैं, विशेषको ही महत्व देते हैं परन्तु शान्ति मार्गमें तो सामान्यका महत्व है. सामान्य दृष्टिका महत्व है। लोकमें भी देखलो, जैसे अभी ये सब भाई बैठे हैं, इन्हें यदि कोई विशेष दृष्टिसे देखे कि ये धनी हैं, ये गरीब हैं, ये पंडित हैं, ये मूर्ख हैं, ये ब्राह्मण हैं, ये वैश्य हैं, आदि आदि तो उसे आकुलता ही प्राप्त होती है। यदि कोई सबको एक समान मनुष्य दृष्टिसे ही देखे तो उसे आकुलता नहीं होती। अब एक ही मनुष्य पर घटावें। मनुष्यको बालक, जवान, बूढ़ा आदि अवस्थावोंमें देखो तो नाना विकल्पोंका

शिकार बनना पड़ता है। यदि सब अवस्थाओंमें रहने वाले एक मनुष्य सामान्यकी दृष्टिसे देखो तो बिकल्पोंका उद्यम ही नहीं होता।

इच्छासे सुख नहीं, किन्तु इच्छाके अभावसे सुख है ज्ञानगुणसे ज्ञानकी निष्पत्तिकी भांति सुखकी भी निष्पत आनन्द गुणसे है, इसका दिग्दर्शन कीजिये, पृ० २१–ज्ञान और आनन्द आत्मा से ही और आत्मामें ही प्रकट होते हैं। जिस द्रव्यका जो गुण प्राप्त है वह उसी द्रव्यमें होता है। ज्ञान गुरु या शास्त्रसे नहीं आता, वे निमित्त मात्र अवश्य हैं। परन्तु उनसे आनन्द नहीं मिलता। ज्ञान आत्माका गुण है। आत्मा से ही प्रकट होता है। यदि गुरु से ज्ञान आता है तो सौ दो सौ शिष्योंको ज्ञान देने पर गुरु ज्ञानसे खाली हो जायगा। यदि शास्त्र से ज्ञान आता है तो किसी वाक्यका अर्थ समझमें न आने पर समझने के लिए अपने आपपर जोर क्यों लगाते हैं? पत्र क्यों नहीं मोड़ने लगते? आनन्द आत्माका गुण है, आत्मासे ही प्रकट होता है। यदि आनन्द लड्डुवों से आता है तो लड्डुवोंको पीछे छोड़ते क्यों हैं? मुख तक लड्डु भर लिए जावें। आनन्द तो इच्छाके अभावमें है। कोई लड्डु खाने की इच्छा नहीं करता। वह सहज आनन्द कौन है? खाने आदि की इच्छा और प्रयत्नमें तो आकुलता ही है।

(६०) कष्टोंसे कैसे छूटें

दिनाङ्क ५–६–१९६५ सुगन्धदशमीको मुजफ्फरनगरमें दिया हुआ यह श्री सहजानन्द वर्णी जी महाराजका प्रवचन हैं। देखिये एक प्रवचनांश–भगवानका शासन हमें यह शिक्षा देता है कि कष्ट सहिष्णु बनो, परिणामोंके निर्मल रखो, धन यश नाममें वाधा होनेको विपदा मत समझो। वास्तवमें विपदा तो परिणाम में मलिनता होना है और कुछ नहीं। यदि परिणाम निर्मल न हुए तो भव भवमें कष्ट मिलेंगे, उनकी परम्पराको कौन मिटायगा, कु योनियोंमें भटकना पड़ेगा। यहां दो तीन दिनके आरामके लिये मनचाहे विषय साधनोंका उपयोग बना रहे हो, परन्तु यह खबर नहीं, हम अनन्तकालसे वेदना सहते चले आये हैं और भविष्यमें भी कष्ट ही मिलेंगे, यदि निज अन्तस्तत्त्वकी ओर दृष्टि नहीं दी तो। एक ही प्रोग्राम अपन जीवनका बनाओ. कष्ट सहनेकी सामर्थ्य पैदा हो और किसी भी मूल्य पर परिणामोंमें मलिनता न आने पावे। यदि हम इसमें सफल हो गये तो समझ लो, हमने कष्टोंको जीत लिया, उनसे छुट्टी मिल गई।

अन्तिम दो प्रवचनांश पढ़िये–भैया! इन थोड़े दिनोंके मौजमें आसक्त होनेके समान विपदा, मूढ़ता और क्या हो सकती है। यदि विपदाओंसे बचना है तो एक यही मात्र उपाय है–अपने उपयोगको अपने स्वभावमें स्थिर कर दो, बस संकट दूर हो जावेंगे। देखो–नदीमें कछुआ सिर उठाकर तैरता जा रहा हो तो उसके ऊपर बीसों पक्षी उसे चूंटने खाने झपटते हैं, किन्तु वह कछूआ अपनी नैसर्गिक एक कलाके बलसे सब पक्षियोंके उपसर्गको नष्ट कर देता है। वह कला क्या है? ४–५ अंगुल भीतर पानीमें मग्न हो जाना। ऐसे ही जब जीव निज ज्ञानस्वभावमें मग्न होने की नैसर्गिक कलाका प्रयोग कर देता है तो समस्त संकट विनष्ट हो जाते हैं।

कष्टोंको सहन करनेकी क्षमता पदा करो, परिणामोंमें कभी भी मलिनता न आने दो। और अधिक क्या कहें, बस जीवनका यही प्रोग्राम बनाओ, कष्ट विदा हो जायेंगे, कष्टोंसे छुट्टी मिल जायगी। कष्टो! लो, तुम्हें बस अब अलविदा।

(१६१) नियमसार प्रवचन प्रथम भाग

इस पुस्तकमें नियमसारकी प्रथम गाथासे १९ गाथा तक के पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराज

के प्रवचन हैं। प्रथम गाथामें उपयोगी विवेचनके बाद एक प्रवचनांश देखिये, उपदेशका ध्येय क्या होता है इसका प्रायोगिक विवेचन, पृ० ११–१२–उपदेशका ध्येय शिवमार्ग व शिवमार्गफल–जिन शासनमें इन दो बातोंका वर्णन है–मार्ग और मार्गफल। मार्ग तो मोक्ष का उपाय है। किसे मोक्ष दिलाता है? अपने आत्माको। जिसे मोक्ष दिलाना है उसका स्वरूप तो जानो। उसकी श्रद्धा हो और जिस छूटता है उस रूपमें इसका अंतरंग हो तो मोक्ष का मार्ग बनता है, और उसका फल है–निर्वाणकी प्राप्ति। मोक्षकी तो लोग बड़ी प्रार्थना करते हैं, पूजामें, पाठमें, विनतीमें बोल जाते हैं कि हमें छुटकारा मिले। काहे से छुटकारा मिले? कर्मोंसे छुटकारा मिले। देहके बन्धनसे छुटकारा मिले। छुटकारे के लिए बड़ी प्रार्थना करते हैं। और, क्यों जी यदि थोड़े पैसोंसे छुटकारा हो जाय तो उसमें खेद क्यों मानते हो? विनती में तो कहते हो कि छुटकारा मिले, पर जरा सा पैसोंसे छुटकारा हो जाय तो उसमें खेद काहे को मानते हो? मानते हो ना, फिर तो यह सब ढोंग ढपारे की बात रहा। जब व्यवहार के कार्योंसे छुटकारा पाने में धैर्य नहीं रख पाते हो तो उस बड़े मोक्षकी बात तो एक स्वप्न देखने की जैसी बात है।

गाथा नं० २ के एक प्रवचनांशमें मार्गका अर्थ देखिये जिस पर अपने को चलना है। पृ० २५–मार्गका अर्थ–मार्ग किसे कहते हैं? जो खोजा जाय वह मार्ग है, या जिस पर गमन करके इस स्थान पर पहुंचा जाय उसे मार्ग कहते है। इस मार्ग का नाम आज कल क्या रखा? सड़क। सड़क शब्द अशुद्ध है। सड़क नहीं बल्कि सरक। अब देखो कि सरकता तो आदमी है और उस रास्तेका नाम सरक रखा। जहां आदमी सरकते हों उसका नाम सरक है। जिसके आधार से यह संसारी जीव इस वन से सरककर ऊपर पहुंचे उसका नाम है सरक। तो यह है मार्ग पथ, अपने आपके विशुद्ध ज्ञानदर्शनस्वरूपी आत्मतत्त्वका यथार्थ श्रद्धान होना और ऐसाही उपयोग बनाये रहना, उसमें ही रत रहना यही अभेद रत्नत्रय है और इसका फल है मोक्ष। एक शब्दमें मोक्षका उपाय कहें तो कह लीजिये परम निरपेक्ष होकर एक निज सहज स्वभावका उपयोगमें तन्मय होना यही है मोक्षमार्ग।

ज्ञानकी गति कैसी अबाध होती है, इसका दिग्दर्शन कीजिये गाथा ३ के एक प्रवचनांशमें, पृ० ३६–ज्ञान की अबाध गति–यह कारण समयसार चाहे परिणमनमें अशुद्ध है पर ज्ञानकी ऐसी पैनी दृष्टि होती है कि यह ज्ञान अशुद्ध अवस्थामें भी अशुद्धमें न अटककर, अशुद्ध को छोड़कर भीतर गमन करता है और शुद्धको ग्रहण कर लेता है। जैसे हड्डीका फोटो लेने वाला यंत्र कपड़ाको, चमड़े को खून को, मांसको न ग्रहण करके केवल हड्डीका फोटो ले लेता है, जैसे आपकी कोई कीमती चीज तिजोरी में बक्सके अन्दर पोटलीमें बन्धी है, मोती, हीरा आदि कुछ भी हो, आप यहां बैठे बैठे एकदम उपयोगसे हीराको ज्ञानसे पकड़ जाते हैं। घरके किवाड़ लगे हों तो आपका ज्ञान दरवाजे पर न अटक जायगा कि किवाड़ खुलें तो हम भीतर जायें। तिजोरी के फाटकमें न अटक जायगा। सीधा वहीं पहुंच जाता है। इसी प्रकार इस अशुद्ध अवस्था में ही भेदविज्ञानके बलसे अपने लक्षणका आलम्बन करके यह उपयोग उन सब परिणमनोंको छोड़कर अन्तः शुद्ध चैतन्यस्वरूपको ग्रहण कर सकता है। इस शुद्ध चित्स्वभावके आश्रयसे शुद्ध परिणति होती है।

शुभरागमें भी क्षोभ होता है, इसका दिग्दर्शन कीजिये तथा शुभ रागीको जो अच्छा कहनेका व्यवहार है उसका कारण देखिये निम्नांकित प्रवचनांशसे–पृ० ६–५०–शुभराग में भी क्षोभका स्थान–भैया, फिर भी उपयोग चूंकि अपने स्वामीको छोड़े हुए हो और बाहर में भी किसी शुद्ध तत्त्वका भी ध्यान कर रहा हो तो विकारोंका बहिर्गमन बराबर है। बहिर्गमनमें ही यह कला है कि आकुलता रहती है। किसी को

शिखर जी जाने की मनमें इच्छा हुई तो उस इच्छासे अन्तः आकुलता हुई ना कि मुझे शिखर जी जाना है। यद्यपि और भी बहुत से काम हैं जिनसे आकुलता होती । यहां कुछ अच्छे ढंगकी आवश्यकता है सो बता रहे हैं। मन, वचन, कायका यत्न किसी न किसी आवश्यकता बिना नहीं होते हैं। कोई बुद्धि पूर्वक मनका यत्न करे तो वह क्षोभपूर्वक होता है, लेकिन मलिन क्षोभको मिटाने के लिए कोई शुभ क्षोभ हो तो उस क्षोभको भला समझिये। अल्प आकुलता में स्वस्थताका व्यवहार–जैसे किसीके १०५ डिग्री बुखार चढ़ा हो और उतरकर ९९ डिग्री रह जाय तो कहता है कि अब मेरा स्वास्थ्य बहुत अच्छा है। अरे, अच्छा कहां है ? वह तो १०५ डिग्री बुखार के सामने कम है। सो अपने स्वास्थ्यको अच्छा मानता है। यदि विषय कषायोंमें गया हुआ उपयोग है तो बहुत अस्वस्थताकी बात है और प्रभु या गुरु या चर्चा में लगा हुआ जो उपयोग है वह क्या स्वस्थताकी बात नहीं है ? है, किन्तु परमार्थसे स्वस्थता परमार्थप्रभु या गुरुमें उपयोग जाय वह है।

नामकी चाह करना कितना महान अपराध है इसका दिग्दर्शन कीजिये गाथा ६ के प्रवचनांशमें पृ० ६३– नामकी चाहका महा अपराध–भैया तुम जितना आज चाहते हो उतना भी मिल जाय तो भी सुख नहीं हो सकता, क्योंकि यहां तुमने एक जबरदस्त अपराध किया है उस अपराधका दण्ड तो जीवन भर मिलेगा। क्या अपराध किया है। यह अपराध किया है कि असार मायामय इस जगतमें भ्रम करके अपना नाम रखनेका भाव बना रहे हो, यह महान अपराध करते हुए तुम शान्तिकी आशा रखते हो। तो शान्ति मिल जाय यह कभी नहीं हो सकता। भगवानका हुकुम मानते जावो तो अशान्तिकी शंका नहीं है। भगवानका हुकुम है कि तुम सब पदार्थोंका प्रयोजन–भूत परिचय प्राप्त करो। दूसरा हुकुम यह है कि तुम गृहस्थावस्थामें हो तो अपना कर्तव्य निभावो। दुकान करते हो तो दुकान पर जाओ। समय पर वहां बैठो, उद्यम का काम करलो, कोई सर्विसका काम है तो सर्विसका काम ईमानदारीसे करलो, जो जो भी आजीविकाके कार्य हों उन्हें ईमानदारी से डटकर करलो, अब उसमें ही जो कुछ आय हो उसके विभाग बनालो और अपना गुजारा करो। पैसे की ओर दृष्टि नहीं लगाना है। क्योंकि वह तो आने जाने वाली चीज है। रहने वाली चीज नहीं है। आखिर मरते समय तो छोड़ना ही पड़ेगा।

भक्तिकी कस पर भक्तिकी परीक्षा करलो, गाथा ७ के एक प्रवचनांशमें–पृ० ७७–भक्ति की कस–यहां कोई घर पर भी आक्रमण हो और धर्मायतन पर भी आक्रमण हो तो धर्मायतन की उपेक्षा करके घर बचाने की कोशिश करते हैं। तो यह धर्मायतनमें भक्ति हुई या घरमें भक्ति हुई ? मुकाबलेतन दो चीजें रखलो, दोनोंका विनाश हो रहा है। उनमें से जिस एकको बचानेकी कोशिश हो समझो कि भक्ति उस की है। बस इस कसपर कसते जाइये कि तुममें प्रभुभक्ति विशेष है या घर परिवारमें या धनमें भक्ति विशेष है।

असहाय केवलज्ञानकी भक्तिमें सहायताकी निन्दागर्भता देखिये गाथा नं० ११–१२ के एक प्रवचनांशमें, पृ० ११७–सहायताकी निन्दा गर्भता–भैया, किसी के बहुत सहायक हों तो यह उसकी प्रशंसा है या निन्दा ? परमार्थसे वह निन्दा है अर्थात् वह स्वयं समर्थ नहीं है, स्वयं में इतनी प्रभुता नहीं है इसलिए इसके दसों सहायक हैं और तभी काम चल पाता है। यह तो लोककी व्यवस्था है। यों तो असहाय सहायोंसे भी लोकमें बुरे माने जाते हैं और उन्हें कहते हैं बेचारे। जिनका चारा नहीं है, गुजारा नहीं है, सहारा नहीं है उन्हें कहते हैं बेचारे। और कभी कभी तो दया करके साधु सन्तोंके प्रति भी लोग कह बैठते हैं कि बेचारे बड़े सीधे हैं। तो बेचारे माने असहाय, जिनका कोई चारा नहीं। तो लौकिक दृष्टि

में असहाय बुरा माना जाता है और ससहाय ऊंचा माना जाता है, पर वस्तुस्वरूपको ओर से देखा जाय तो ससहाय हलका है और असहाय सर्वोच्च है। यह केवलज्ञान असहाय ज्ञान है। इस तरह कार्य-स्वभावज्ञान केवल है इन्द्रियरहित है और असहाय है।

भोगकी कच्ची भूखमें अपथ्यसेवन मत कीजिये, प्रेरणाले गाथा नं० ११-१२ के एकप्रवचनांशमें-पृ० १३८-भोगकी कच्ची भूख एक महान धोखा-भैया, जैसे बीमारीमें कच्ची भूख लगती है तो पक्की भूख तो यह मनुष्य सह लेता है और उस कच्ची भूखमें जब न खाये, थोड़ा धैर्य रखे तो वह स्वस्थ हो जाता है। ऐसे ही इस संसारकी जन्म मरणकी लम्बी बीमारीमें भोगोंकी आकांक्षाकी कच्ची भूख लगती है। यह यदि एक ही भवमें गम खा जाय तो इसे मोक्षमार्ग मिल जाता है। अनेक भवोंमें तो भोग भोगा है, केवल एक भव हो ऐसा मान लो कि हम मनुष्य न होते तो हमारे लिए तो कुछ भी न था। सौभाग्य से मनुष्य हो गये तो अन्य कर्मों के लिए हम नहीं हैं, हम आत्महितके लिए हैं-ऐसा जानकर, साहस बनाकर इन भोगोंसे मोड़कर आत्मभावनामें अपना समय और उपयोग लगायें तो यही मेरे जीवनकी सफलताका उपाय है।

कारणसमयसारकी रुचि न होने से मनुष्य कैसा बाहर भटक जाता है उसका चित्रण देखिये गाथा १४ के एक प्रवचनांशमें-पृ० १६३-लक्ष्मीपती और लक्ष्मीपुत्र-भैया, कोई कहलाता है लक्ष्मीपति और कोई कहलाता है लक्ष्मीपुत्र। इन्हीं दो शब्दोंसे बोलते हैं-लक्ष्मीपति और लक्ष्मीपुत्र। लक्ष्मीपति वह कहलाता है जो लक्ष्मीको खर्च करे, दान करे, भोग करे, उसका नाम है लक्ष्मीपति, और लक्ष्मीपुत्र उसका नाम है कि जैसे पुत्र माताके चरण छूवे, हाथ जोड़े, पूजा करे, मां को भोग न सके, स्पर्श न कर सके। इसी तरह लक्ष्मीपुत्र, जिसका यह पुत्र है, उस लक्ष्मी मां को धन पैसे को पूजे, उसके चरण छूवे, उसकी सेवा करे, उसको आराधना करे, उसको हृदयमें स्थान दे, पर एक भी पैसा न खर्च कर सके, उसका नाम है लक्ष्मीपुत्र। वह तो लक्ष्मीका पुत्र है, उस लक्ष्मीका कैसे भोग करे? पुत्र होकर मां के साथ अन्याय करे, यह कैसे हो सकता है? ये ही सब व्यवहार-लक्ष्मीपुत्र कहे जाते हैं।

(१६२) नियमसार प्रवचन द्वितीय भाग

इस पुस्तकमें नियमसारकी २० वीं गाथासे ३७ वीं गाथा तक के पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी सहजानन्द महाराजके प्रवचन हैं। पुद्गलद्रव्यके वर्णनमें कार्यपरमाणु व कारण परमाणुका परिचय देखिये, इससे योगसम्मत भिन्न भिन्न कार्यपरमाणु व कारण परमाणु के सिद्धान्तका तथा निरपेक्ष नित्यानित्यके सिद्धान्तका स्वतः निराकरण हो जाता है देखिए २० वीं गाथा के एक प्रवचनांशमें, पृ० १-२-स्वभावपुद्गलके प्रकार-स्वभावपुद्गल भी दो प्रकार के हैं-एक कार्यपरमाणु और दूसरा कारणपरमाणु। बात वही एक है, कोई भिन्न भिन्न जगहमें ये दोनों पाये नहीं जाते कि कारणपरमाणु कोई और होता होगा और कार्यपरमाणु कोई और होता होगा। उसी प्रकार परमाणुमें कारणताकी मुख्यतासे कारणपरमाणुका व्यपदेश है तथा जो कुछ होगा उसमें परिणमन भी है। एक ही परमाणु रहकर उस परमाणुके स्वरूपका आश्रय करके जो होगा. वह कार्यपरमाणु है। जो परमाणुका सहजस्वरूप है उसका नाम है कारणपरमाणु और उस परमाणुका जो व्यक्तरूप है, जिसमें पांचों रसोंमें से एक रस है, पांचों वर्णों में से एक वर्ण है, दो गंधों में से एक गंध है और चार स्पर्शों में से दो स्पर्श हैं-ऐसे कार्यरूप परिणत परमाणु कार्य परमाणु कहलाते हैं। परमाणुसे अपना कोई वास्ता नहीं चल रहा है, इसलिए पुद्गलका स्वरूप भी जीव की तरह सूक्ष्म है और जैसे जीव अनेक चमत्कारों वाला है इसी तरह यह पुद्गल परमाणु भी अनेक चमत्कार वाला है।

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु इन चारो धातुओंमें रूप रस गंध स्पर्श की सिद्धि करके उन सबको पुद्गल बताने का कथन गाथा २५ वीं का एक प्रवचनांशमें, पृ० ६—प्रत्येक धातुमें गुणचतुष्कता—भैया, वास्तविक बात यह है कि पृथ्वीमें भी रूप, रस, गंध, स्पर्श चारो गुण हैं, जलमें भी चारो गुण हैं, अग्निमें भी चारो हैं और वायुमें भी चारो हैं। चाहे आपको कोई चीज मालूम पड़े अथवा न मालूम पड़े, यह नियम है कि इन चारो विषयोंमें से एक भी चीज हो तो वहां ये चारो ही होगे। अग्नि किसी ने चखी है क्या कि वह खट्टी होती है या मीठी ? ध्यानमे आकर कहीं चखने नहीं बैठ जाता। कोई रस तो अग्निमें नहीं चखा गया, फिर भी उसमें रस है, अव्यक्त है। चारो में चारो गुण पाये जाते हैं। पृथ्वीकी बात तो जल्दी समझमें आ जायेगी। जलमें गंध जल्दी नहीं मालूम होती, रूप दिख जाता है, रस दिख जाता है, स्पर्श दिख जाता है पर गंध नहीं मालूम पड़ता। पर गंध भी है उसमें। हवामें केवल स्पर्श मालूम होता है, पर हैं उसमें भी सब। एक हो कहो ऐसी बात नहीं है। ऐसेही अनुमान करलो कि जो चीज जिस चीज को बनाती है, जिसने बनाया, जो गुण होंगे वे कार्यमें भी गुण आगये। मिट्टीका घड़ा बनता है तो मिट्टी में जो गुण पाया जाय वह घड़ा बनने पर भी उसमें रहता है।

सब द्रव्योंमें साधारणतयापाये जाने वाले तत्त्वकी दृष्टिमे उदारता तो है, किन्तु व्यवस्था नहीं, इसका दिग्दर्शन कीजिये गाथा २६ के एक प्रवचनांशमें, पृ० २६—निसत्र योगीकी दृष्टिका प्रकृष्ट व प्रकृष्टतर विकास—जैसे सब जीवोंको एक चैतन्यस्वभावके नातेसे जब निरखा जा रहा है तो क्या उस दृष्टिसे यह संसार है, यह मुक्त है, यह भेद आता है ? नहीं आता। इसी प्रकार सब द्रव्योंसे पाया जाने वाला जो सत्त्वगुण है केवल उस सत्त्वगुण की दृष्टिसे निरखा जाय तो क्या वहां जीव चेतन है, पुद्गल अचेतन है, यह भेद निरखा जा सकता है ? वह तो जैसे सब जीवोंमें चैतन्यगुणकी निगाहसे देखना एक व्यापक और उदार दृष्टि है, ऐसे ही सब द्रव्योंको सब द्रव्योंमें साधारणतया पाये जानेवाले गुणकी दृष्टिसे देखा जाय तो वह दृष्टि व्यापक है और उदार है। इस ही दृष्टिसे मूलमें एकान्त नियम बनाकर जिसने पूर्ण वस्तुस्वरूप कायम किया है उसके मतमें यह सारा विश्व ब्रह्मरूप है। इस ब्रह्मका अर्थ सब पदार्थों में साधारणतया पाये जाने वाला सत्त्वगुण रूप है। तो उस दृष्टिको कायम न रखकर सब कुछ एक सद्—ब्रह्म है, यह बात रंच गलत नहीं है, पर व्यवस्था और व्यवहार, पुरुषार्थ, आगेका काम यह सब केवल इस दृष्टि पर नहीं बन सकता है।

ज्ञानीका ऐसा मौलिक परिज्ञान होता है कि उसके बलसे अन्तः अनकुल रहता है, इसका अध्ययन कीजिये गाथा नं० ३७ के एक प्रवचनांशमें—पृ० ७३—ज्ञानीका परिज्ञान व अन्तः प्रसाद—जिसने अपना स्वरूप संभाला—जिसने अपना स्वरूप संभाला, वस्तुकी स्वतंत्रताका भान किया, जो कि शान्ति और सन्तोषका कारण है। ममता न रही तो अब क्लेश किस बातका ? सारा क्लेश तो ममताका है। घरमें भी रहे तो भी कर्तव्य तो यह गृहस्थ ज्ञानी निभायेगा सेवा सुश्रूषा उपचार करेगा, पर आकुलित न होगा। हाय, अब क्या किया जाय ? हमें कुछ सूझता नहीं, ऐसी आकुलता न मचायेगा। वह तो जानता है कि हमें सब सूझता है कि कितनी निकट बीमारी है। या तो अच्छा हो जायेगा या मर जायगा। अच्छा हो जायेगा तो ठीक है और मर जायेगा तो ससारका यह नियम ही है। हम तो परिपूर्ण ज्योंके त्यों ही हैं। यहां कुछ घटता नहीं है। उसे यथार्थ परिज्ञान है क्योंकि मोह नहीं रहा। सबसे बड़ी कमाई यही है कि मोह न रहे, क्योंकि कमाईके फलमें चाहते हैं आप आनन्द, किन्तु बाह्य वस्तुओंके संचयमें आनन्द कहीं न मिल पायेगा और मोह नहीं रहा तो लो आनन्द हो गया।

(१६३) नियमसार प्रवचन तृतीय भाग

इस पुस्तकमें नियमसारकी गाथा नं० ३८ से ५५ गाथा तक पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द

में असहाय बुरा माना जाता है और ससहाय ऊंचा माना जाता है, पर वस्तुस्वरूपको ओर से देखा जाय तो ससहाय हल्का है और असहाय सर्वोच्च है। यह केवलज्ञान असहाय ज्ञान है। इस तरह कार्य-स्वभावज्ञान केवल है इन्द्रियरहित है और असहाय है।

भोगकी कच्ची भूखमें अपथ्यसेवन मत कीजिये, प्रेरणाले गाथा नं० ११-१२ के एकप्रवचनांशमें-पृ० १३८-भोगकी कच्ची भूख एक महान धोखा-भैया, जैसे बीमारीमें कच्ची भूख लगती है तो पक्की भूख तो यह मनुष्य सह लेता है और उस कच्ची भूखमें जब न खाये, थोड़ा धैर्य रखे तो वह स्वस्थ हो जाता है। ऐसे ही इस संसारकी जन्म मरणकी लम्बी बीमारीमें भोगोंकी आकांक्षाकी कच्ची भूख लगती है। यह यदि एक ही भवमें गम खा जाय तो इसे मोक्षमार्ग मिल जाता है। अनेक भवोंमें तो भोग भोगा है, केवल एक भव हो ऐसा मान लो कि हम मनुष्य न होते तो हमारे लिए तो कुछ भी न था। सौभाग्य से मनुष्य हो गये तो अन्य कार्यों के लिए हम नहीं हैं, हम आत्महितके लिए हैं-ऐसा जानकर, साहस बनाकर इन भोगोंसे मोड़कर आत्मभावनामें अपना समय और उपयोग लगायें तो यही मेरे जीवनकी सफलताका उपाय है।

कारणसमयसारकी रुचि न होने से मनुष्य कैसा बाहर भटक जाता है उसका चित्रण देखिये गाथा १४ के एक प्रवचनांशमें-पृ० १६३-लक्ष्मीपती और लक्ष्मीपुत्र-भैया, कोई कहलाता है लक्ष्मीपति और कोई कहलाता है लक्ष्मीपुत्र। इन्हीं दो शब्दोंसे बोलते हैं-लक्ष्मीपति और लक्ष्मीपुत्र। लक्ष्मीपति वह कहलाता है जो लक्ष्मीको खर्च करे, दान करे, भोग करे, उसका नाम है लक्ष्मीपति, और लक्ष्मीपुत्र उसका नाम है कि जैसे पुत्र माताके चरण छूवे, हाथ जोड़े, पूजा करे, मां को भोग न सके, स्पर्श न कर सके। इसी तरह लक्ष्मीपुत्र, जिसका यह पुत्र है, उस लक्ष्मी मां को धन पैसे को पूजे, उसके चरण छूवे, उसकी सेवा करे, उसको आराधना करे, उसको हृदयमें स्थान दे, पर एक भी पैसा न खर्च कर सके, उसका नाम है लक्ष्मीपुत्र। वह तो लक्ष्मीका पुत्र है, उस लक्ष्मीका कैसे भोग करे? पुत्र होकर मां के साथ अन्याय करे, यह कसे हो सकता है? ये हो सब व्यवहार-लक्ष्मीपुत्र कहे जाते हैं।

(१६२) नियमसार प्रवचन द्वितीय भाग

इस पुस्तकमें नियमसारकी २० वीं गाथासे ३७ वीं गाथा तक के पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी सहजानन्द महाराजके प्रवचन हैं। पुद्गलद्रव्यके वर्णनमें कार्यपरमाणु व कारण परमाणुका परिचय देखिये, इससे योगसम्मत भिन्न भिन्न कार्यपरमाणु व कारण परमाणु के सिद्धान्तका तथा निरपेक्ष नित्यानित्यके सिद्धान्तका स्वत: निराकरण हो जाता है देखिये २० वीं गाथा के एक प्रवचनांशमें, पृ० १-२-स्वभावपुद्गलके प्रकार--स्वभावपुद्गल भी दो प्रकार के हैं-एक कार्यपरमाणु और दूसरा कारणपरमाणु। बात वही एक है, कोई भिन्न भिन्न जगहमें ये दोनों बाये नहीं जाते कि कारणपरमाणु कोई और होता होगा और कार्यपरमाणु कोई और होता होगा। उसी प्रकार परमाणुमें कारणताकी मुख्यतासे कारणपरमाणुका व्यपदेश है तथा जो कुछ होगा उसमें परिणमन भी है। एक ही परमाणु रहकर उस परमाणुके स्वरूपका आश्रय करके जो होगा, वह कार्यपरमाणु है। जो परमाणुका सहजस्वरूप है उसका नाम है कारणपरमाणु और उस परमाणुका जो व्यक्तरूप है, जिसमें पांचों रसोंमें से एक रस है, पांचों वर्णो में से एक वर्ण है, दो गंधों में से एक गंध है और चार स्पर्शो में से दो स्पर्श हैं-ऐसे कार्यरूप परिणत परमाणु कार्य परमाणु कहलाते हैं। परमाणुसे अपना कोई वास्ता नहीं चल रहा है, इसलिए पुद्गलका स्वरूप भी जीव की तरह सूक्ष्म है और जैसे जीव अनेक चमत्कारों वाला है इसी तरह यह पुद्गल परमाणु भी अनेक चमत्कार वाला है।

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु इन चारों धातुओंमें रूप रस गंध स्पर्श की सिद्धि करके उन सबको पुद्गल बताने का कथन गाथा २५ वीं का एक प्रवचनांशमें, पृ० ६-प्रत्येक धातुमें गुणचतुष्कता-भैया, वास्तविक बात यह है कि पृथ्वीमें भी रूप, रस, गंध, स्पर्श चारों गुण हैं, जलमें भी चारों गुण हैं, अग्निमें भी चारों हैं और वायुमें भी चारों हैं। चाहे आपको कोई चीज मालूम पड़े अथवा न मालूम पड़े, यह नियम है कि इन चारों विषयोंमें से एक भी चीज हो तो वहां ये चारों ही होंगे। अग्नि किसी ने चखी है क्या कि वह खट्टी होती है या मीठी ? ध्यानमें आकर कहीं चखने नहीं बैठ जाता। कोई रस तो अग्निमें नहीं चखा गया, फिर भी उसमें रस है, अव्यक्त है। चारों में चारों गुण पाये जाते हैं। पृथ्वीकी बात तो जल्दी समझमें आ जावेगी। जलमें गंध जल्दी नहीं मालूम होती, रूप दिख जाता है, रस दिख जाता है, स्पर्श दिख जाता है पर गंध नहीं मालूम पड़ता। पर गंध भी है उसमें। हवामें केवल स्पर्श मालूम होता है, पर हैं उसमें भी सब। एक हो कहो ऐसी बात नहीं है। ऐसेही अनुमान करलो कि जो चीज जिस चीज को बनाती है, जिसने बनाया, जो गुण होंगे वे कार्यमें भी गुण आयेंगे। मिट्टीका घड़ा बनता है तो मिट्टी में जो गुण पाया जाय वह घड़ा बनने पर भी उसमें रहता है।

सब द्रव्योंमें साधारणतयापाये जाने वाले तत्त्वकी दृष्टिमें उदारता तो है, किन्तु व्यवस्था नहीं, इसका दिग्दर्शन कीजिये गाथा २६ के एक प्रवचनांशमें, पृ० २६-निराग्र योगीको दृष्टिका प्रकृष्ट व प्रकृष्टतर विकास-जैसे सब जीवोंको एक चैतन्यस्वभावके नातेसे जब निरखा जा रहा है तो क्या उस दृष्टिसे यह संसार है, यह मुक्त है, यह भेद आता है ? नहीं आता। इसी प्रकार सब द्रव्योंसे पाया जाने वाला जो सत्त्वगुण है केवल उस सत्त्वगुण की दृष्टिसे निरखा जाय तो क्या वहां जीव चेतन है, पुद्गल अचेतन है, यह भेद निरखा जा सकता है ? वह तो जैसे सब जीवोंमें चैतन्यगुणकी निगाहसे देखना एक व्यापक और उदार दृष्टि है, ऐसे ही सब द्रव्योंको सब द्रव्योंमें साधारणतया पाये जानेवाले गुणकी दृष्टिसे देखा जाय तो वह दृष्टि व्यापक है और उदार है। इस ही दृष्टिसे मूलमें एकान्त नियम बनाकर जिसने पूर्ण वस्तुस्वरूप कायम किया है उसके मतमें यह सारा विश्व ब्रह्मरूप है। इस ब्रह्मका अर्थ सब पदार्थों में साधारणतया पाये जाने वाला सत्त्वगुण रूप है। तो उस दृष्टिको कायम न रखकर सब कुछ एक सद्-ब्रह्म है, यह बात रंच गलत नहीं है, पर व्यवस्था और व्यवहार, पुरुषार्थ, आगेका काम यह सब केवल इस दृष्टि पर नहीं बन सकता है।

महाराजके प्रवचन हैं। द्वितीय भागमें अजीव पदार्थका वर्णन करके अब ३८वीं गाथामें हेय तत्त्व व उपादेय तत्त्व का संकेत है, जरा बहिस्तत्त्व व अन्तस्तत्त्व की परख की कसौटी देखिये एक प्रवचनांशमें–पृ० १–२–अन्तस्तत्त्व व बहिस्तत्त्वके परख की कसौटी–जीवादि बाह्य तत्त्व अर्थात् जीव, अजीव, आश्रव, बंध, सम्वर, निर्जरा मोक्ष ये ७ बाह्य तत्त्व हैं और हेय हैं। उपादेय तत्त्व आत्माका आत्मा है। इस कथनमें कुछ श्रद्धाको भंग करने जैसा बात लगती होगी कि भाई अजीव, आश्रव बन्ध ये हेय तत्त्व हैं, सो तो ठीक है, पर सम्वर निर्जरा अथवा जीव और मोक्ष ये तत्त्व भी बहिस्तत्त्व बताये गये। यह तो चित्तको न जचती होगी, पर इस कसौटीसे बाह्य तत्त्व और अंतस्तत्त्वका स्वरूप निर्धारित करें जिसपर हम निगाह लगायें और आत्मोपलब्धिका कार्य सिद्ध हो उसे तो कहेंगे अंतस्तत्त्व और जिसपर दृष्टि करनेसे कुछ भेद ही बने, स्वरूपमग्नता न हो उसे कहेंगे बाह्य तत्त्व।

जीवतत्त्व की बहिस्तत्त्वरूपता–अब इस कसौटीसे सब परख लीजिये कि जीवके सम्बन्धमें और अंतरंगमें प्रवेश करके जो कारण परमात्मतत्त्व दृष्ट हुआ करता है वह कारण समयसार तो अंतस्तत्त्व है, क्योंकि इस कारणसमयसारके आलम्बनसे कार्यसमयसार बनता है। एक इस अंतस्तत्त्वके अतिरिक्त अन्य सब जो विपरिणमन और व्यवहारकी बातोंसे अपना सम्बन्ध रखता है अथवा जो गुण पर्यायके रूपसे जीव समासोंके रूपसे अनेक प्रकारके भेदभावोंको लेकर जीवतत्त्वका परिज्ञान होता है वह सब बाह्य तत्त्व है।

नियमसार ग्रन्थमें किसका लक्ष्य करके वर्णन किया जा रहा है इसका दिग्दर्शन कीजिये ३८ वीं गाथाके एक प्रवचनांशमें–पृ० १३–कारणसमयसारका लक्ष्य–भैया इस नियमसारमें आद्योपांत एक ही लक्ष्य रक्खा गया है और वह लक्ष्य है उस नियमकी दृष्टि करना जिस नियमकी दृष्टिसे नियमसार प्रकट होता है अथवा उस नियमसारकी दृष्टि करना जिसकी दृष्टिसे नियम चलता है अर्थात् कारणसमयसारकी दृष्टि करना जिसमें कार्य समयसार प्रकट होता है, अपने आपके आत्मामें जो बात गुजर रही हो चाहे बुरी गुजर रही हो उस समस्त गुजरने वाले तत्त्वको ओझल करके जिस ज्ञानस्वभावपर ये तरंगें चलती हैं उस ज्ञानस्वभावको लक्ष्यमें लेना, जो कुछ यहां प्रशंसा गाई जा रही है वह तो अनादि अनन्त अहेतुक चित्स्वभावकी प्रशंसा गाई जा रही है, ऐसे भव्य जीवोंको यह अपना अंतस्तत्त्व उपादेय होता है।

अन्तस्तत्त्वका परिचय हुए बिना कितने भी जप तप किये जावें, मोक्षमार्गके लिए सब शून्य है और अन्तस्तत्त्वका परिचय होनेपर सभी क्रियाकलाप हितकार्यके सहयोगी हो जाते हैं, इसका दिग्दर्शन कीजिये गाथा नं० ४१ के एक प्रवचनांशमें, पृ० ३८–अंतस्तत्त्वके परिचय बिना मोक्षमार्गका अभाव–जैसे मूलमें एक अंक हो तो उसपर जितने भी शून्य रखे जायेंगे वे दस दस गुना मूल्य बढ़ा देंगे, एकपर एक बिन्दी रखें तो दस गुना हो गया याने दस। दसपर एक बिन्दी रखें तो उसका दस गुना हो गया याने १००। १०० पर एक बिन्दी रखें तो उसका दस गुना हो गया याने १०००। १ के होते सन्ते बिन्दीको रखते ही दस गुना मूल्य बढ़ता है और १ का अंक न रहे तो इन बिन्दियोंका रखना एक अपना समय खोना है और व्यर्थ का श्रम करना है। बिना १ के अंकके उन बिन्दियोंका मूल्य कुछ नहीं निकलना है। इस ही प्रकार निज आत्मतत्त्वके सम्बन्धमें श्रद्धान हो, ज्ञान हो और अन्तरमें ऐसा हो स्वरूपाचरण चलता हो उस ज्ञानी जीवके जो मन, वचन, कायकी प्रवृत्ति होती है वह सब भी व्यवहारमें मूल्य रखती है और उसके सहारे एक धर्मतीर्थ चलता है और धर्मका मूर्त रूप संसारमें चला करता है। एक यह ज्ञानभाव ही न हो गांठमें तो ये सब क्रियायें भी शून्यकी तरह कीमत नहीं रखती हैं।

ज्ञानानुभूतिमें आत्मदर्शन होते हैं इससे सम्बन्धित ४२वीं गाथाका एक प्रवचनांश का मनन कीजिये-पृ० ८७-ज्ञानानुभूतिमें आत्मदर्शन-आत्माका दर्शन वहां ही है भैया, जहां ज्ञानानुभूति चल रही हो। किसी ने कहा-देखिये यह दशहरी आम कैसा है, तो वह क्या करेगा ? हाथमें लेगा और खा लेगा। अरे यह क्या कर रहे हो ? अरे तुम्हीं तो कहते हो कि देखो। तो देखनेको ही तो कहा, खानेको तो नहीं कहा। अरे तो आमका देखना मुखसे हो हुआ करता है आंखोंसे नहीं होता है। किसी चीजके परिचयका क्या तरीका है ? वे सब तरीके न्यारे न्यारे हैं। जो चीज केवल देखनेके लिए है उसका भोग नेत्रसे है, कोई कहे कि देखो जी यह कितना बढ़िया सेन्ट है, तो क्या वह बाहर खड़े खड़े तकता रहेगा कि वह है सेन्ट ? अरे सेन्टका देखना नाकसे हुआ करता है, अन्यथा परिचय हो नहीं हो सकता। किसीसे कहा-देखो जी यह रिकार्ड कितना सुन्दर है, तो बस देखता ही रहे अगल बगल, तो क्या उस रिकार्डका पता उसे पड़ेगा कि कैसा है ? नहीं पड़ सकता। उसके शब्द जब कानमें पड़ेंगे तब पता पड़ेगा। देखो जी यह आत्मस्वरूप कैसा है ? अरे अभी नहीं देख पाया। एक है यह-ऐसी विकल्प तरंग ही जब तक उठ रही है तब तक नहीं देखा जा रहा है। यह आत्मस्वरूप मनके विकल्पसे नहीं निरखा जाता है। यह तो मनका विकल्प है कि वह एक है, व्यापक है, अपरिणामी है, ध्रुव है। इन सब विकल्पोंसे परे है आत्मस्वरूप।

प्रभुमिलनपद्धतिमें तो देखिये ४३ वीं गाथाके एक प्रवचनांशमें, पृ० १०३-प्रभुमिलनपद्धति-अब इस आत्मतत्त्वका अनुभव मनके विकल्पसे परे है, इसके दृष्टान्तमें यों समझिये कि जैसे राजासे मिलनेका इच्छुक कोई पुरुष चलता है तो दरबारके दरबानसे वह कहता है कि मुझे राजासे मिला दो। तो दरबानका काम इतना ही है कि जहां राजा विराजे हैं वहां निकट स्थानपर पहुंचा देना। बादमें राजासे मिलना, स्नेह बनाना, काम निकालना, ये सब राजा और दर्शककी परस्परकी बात है। उसमें दरबान क्या करेगा ? इसी तरह कारणपरमात्मतत्त्वके दर्शनका अभिलाषी भक्त पुरुष इसके दरबान मनसे कहता है कि मुझे उस कारण परमात्मप्रभुके दर्शन करा दो, तो यह दरबान मन इस दर्शनार्थी उपयोग को ले जाता है। कहां तक जहां तक, इस समयसार प्रभुके दर्शन हो सकते हों उस सीमा तक वहां यह मन छोड़ आता है। लो इस जगह बैठा है परमात्मप्रभु। उस मनका काम यहां तक तो चला, अब इस के बाद प्रभुसे मिलना है और प्रभुमें एकरस होना, स्पर्श होना अनुभव होना, विशुद्धि बढ़ाना, मोक्ष-मार्गका काम निकालना यह तो भक्त और प्रभुके परस्परकी बात है। इसमें दरबान मन क्या करेगा ? फिर भी शुभ मनकी चेष्टा और प्रभुमिलनके अर्थ शुभ मनकी चेष्टा बहुत काम निकाल देता है।

आत्महितमें पर्यायबुद्धिताके रोगीको निश्चयकी परमौषधिरूपता, इसका मनन कीजिये गाथा नं० ४६ के एक प्रवचनांशमें। पृ० १७६-निश्चय परमौषधिकी प्रमुखता-इस जीवने अनादि कालसे व्यवहार व्यवहार को ही जकड़ा, निश्चयका तो कभी दर्शन ही नहीं किया और व्यवहारको ही सर्वस्व मानकर चला। यह इतना व्यवहारका पुराना रोगी है। जैसे पुराने तपेदिकका मिटाना बड़ा कठिन हो जाता है ऐसे ही अनादिकालीन पर्यायबुद्धिका यह रोगी है। इसका रोग मिटानेके लिए शुद्धनयकी औषधिकी अधिक कहना हो चाहिए, देना ही चाहिए, और इसी शुद्ध नीतिके अनुसार आचार्य देवने इस शुद्ध भावाधि-कारमें अब तक परमार्थदृष्टिसे परमब्रह्मका वर्णन किया। अब इस प्रकरणके अंतमें जबकि थोड़ा उप-संहारात्मक कहना विशेष रह गया जो कि अब ५ गाथाओंमें और आगे चलेगा। उसमें अव्यवहारिक भी कथन करके उसे निजके निकट करे। परजो वास्तविक बात है, स्वभावकी बात है वह बात टाली नहीं जा सकती। व्यवहारका वर्णन करके ही फिर निश्चयकी बात तुरन्त कहना ही पड़ता है। एक तो

यह बात है कि आचार्य देव इस शुद्ध आत्मस्वभावके रुचिया थे, किन्तु अनादि व्यवहार विमूढ़ रागके रोगीको सम्बोधनके प्रसंगमें कभी व्यवहार कथन भी इन्हें करना पड़ता है।

विकल्पोंकी थकान मिटानेके लिए सहज विश्राम लीजिये, इसका मनन कीजिये ५५ वीं गाथाके एक प्रवचनांशमें; पृ० २१८–सहजविश्राम–अहो, ऐसा सहजज्ञान जिसका निश्चय, जिसका परिज्ञान, जिसमें स्थिति, जिसका प्रताप मोक्षका हेतु है वह सहज ज्ञान ही हम आपका परम शरण है, चिन्ता कुछ मत करो, दुःख रच भी नहीं है। अपने आपको आराममें रखना यह सबसे ऊंचा काम है। अपना आराम मूढ़तामें आकर खो मत दो। इन २४ घंटोंमें किसी समय तो सच्चा आराम पावो। जैसे लोग थककर दस बीस मिनट का हाथ पैर पसार कर चित्त लेटकर आराम ले लिया करते हैं, यों ही विकल्पजालोंमें जो दुःखों को थकान होती है उस थकान को दूर करने के लिए सर्व परकी चिन्ताको छोड़कर निज सहज ज्ञानमात्र आत्मतत्त्वका दर्शन करिये और उस ही में रमण कीजिये, तृप्त होइये। ऐसा सच्चा आराम एक सेकेण्डको भी हो जाय तो यह भव भवके संचित कर्मकलंकको दूर करने में समर्थ है। सो इस निज स्मृतिके लिए साधनभूत अमोघ अभिन्न उपायका चार प्रकार से भेद कथन किया गया है।

(१६५) नियमसार प्रवचन चतुर्थ भाग

साधुवोंके उत्सर्ग मार्ग व अपवादमार्गका अभिप्राय पढ़िये ६४ वीं गाथाके एक प्रवचनांशमें–पृ० १२८–उत्सर्गमार्ग और अपवादमार्ग–उपेक्षा संयमी जीव परम उत्सर्ग मार्गका अनुसरण करता है। मार्ग दो प्रकार के हैं–उत्सर्ग मार्ग और अपवादमार्ग। साधुवोंका उत्सर्ग मार्ग तो यह है कि मन, वचन, कायकी चेष्टाओंकी प्रवृत्ति बन्द करे। परम उपेक्षा संयममें बर्तना हो, आहार विहार, विलास, समस्त क्रियायें जहां न रहें, केवल आत्मस्वभावकी उपासना चलें यह तो है उत्सर्ग मार्ग। साधुजन इसी मार्गका पालन करनेके लिए ही निर्ग्रन्थ होते हैं, किन्तु यह बात बड़ी कठिन है ना, किन्तु आरब्ध योगको यह बात कठिन है। सो उत्सर्ग मार्गमें नहीं रह पाते हैं और उसे आवश्यकता होती है कि वह आहार करे, विहार करे तो आहार विहार करता है, यह है अपवादमार्ग। यहां अपवादमार्गका अर्थ खोटा मार्ग न लेना, जुड़ा हुआ ऐसा अर्थ न करना, किन्तु सिद्धान्तके अनुकूल शुद्ध विधिसे जो चर्या की जाय, विहार किया जाय, यह है साधुवोंका अपवादमार्ग।

नग्नमुद्रामें निर्विकारताके दर्शन होते हैं, पढ़िये ६४ वीं गाथाका एक प्रवचनांश–पृ० १३७-नग्नमुद्रामें निर्विकारताका दर्शन–कुछ लोग उनकी नग्नमुद्राको देखकर अटपट कल्पनायें करके उनसे लाभ प्राप्त करनेसे दूर रहा करते हैं। कोई कहते हैं कि यह नग्न है, ऐसे न रहना चाहिए। अरे जरा उनके अन्तर के परिणामोंको तो देखो–साधुका अंतरंग परिणाम बालकवत है। जैसे बच्चेको कुछ पता नहीं है काम का, अन्यकी तरह विडम्बनाओंका, जैसे वह बच्चा निर्विकार है, ऐसे ही वह साधु पुरुष निष्काम, निर्विकार, अत्यन्त स्वच्छ है। नग्नताका रूप रख लेना साधारण बात नहीं है। उद्दण्ड होकर कोई नगा हो जाय उसकी बात नहीं कह रहे हैं, किन्तु नग्न होकर भी रंचमात्र भी विकार न आये और कल्पना तक भी न जगे ऐसी मुद्राका प्राप्त होना इस लोकमें अति दुर्लभ है, और साथ ही अपने ज्ञान–भाव द्वारा अपने सहज ज्ञानस्वरूपम नियत रह सके ऐसी स्थिति पाना बहुत ही सुन्दर भवितव्यकी बात है।

आत्मचारित्रके अर्थ अपना क्या कर्तव्य है इसे देखिये ६६ वीं गाथाके एक प्रवचनांशमें–पृ० १६८–आत्मचारित्रके अर्थ अपना कर्तव्य–भैया, अपने मनको अशुभ कार्योंसे हटाकर शुभ कार्योंमें लगाना यह अपना कर्तव्य है। किन्तु साथ ही सर्वोत्कृष्ट कर्तव्य यह है कि वस्तुस्वरूपका यथार्थ ज्ञान करके समग्र वस्तुवोंके यथार्थ सहज स्वरूपके ज्ञाता द्रष्टा रह सकना यह सर्वोत्कृष्ट कर्तव्य है। मुनिजन सब प्रकारके राग और द्वेषसे दूर रहते हैं। ऐसे समग्र अशुभ परिणाम रूपी आस्रवोंका परिहार करना ही मनोगुप्ति है। मन चूंकि बाह्य वस्तु है आत्माके स्वभावकी बात नहीं है, ऐसे उस मनको वशमें करने की बात यह सब व्यवहारचारित्र है। निश्चयचारित्र तो वह है कि यह मन गुप्त होकर जिस स्वच्छता को प्रकट करनेमें स्वच्छता बर्ते और अंतरंगमें स्वच्छता जब जागृत हो जाय तो वहां यह मनभी विलीन हो जाय। निश्चय चारित्र तो यह है।

(१६६) नियमसार प्रवचन पचम भाग

इस पुस्तकमें नियमसार ग्रन्थकी ६६ वीं गाथा तक के पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराजके प्रवचन हैं। मनोगुप्तिके प्रकरणमें प्रथम मनको शुभमें उपयुक्त कर देने की सम्मति दी है, पढ़िये ६६ वीं गाथाका एक प्रवचनांश–पृ० १६–मन मरकटको शुभमें उपयुक्त करने की आवश्यकता–अहो, यह मन बन्दरसे भी अधिक चंचल है। बन्दरोंको देखा होगा कि वे खाली नहीं बैठ सकते जब नींद आ जाय तो चाहे थोड़ी देर पड़े रहें पर जागते हों तो स्थिर नहीं रह सकते। स्थिर बैठ नहीं सकते। कहीं पैर हिलाया, कहीं हाथ हिलाया, और उनकी आंखें तो बड़ी ही विचित्र हैं। कैसी मटकती हैं कि जरा सी देरमें आंखोंमें

यह बात है कि आचार्य देव इस शुद्ध आत्मस्वभावके रुचिया थे, किन्तु अनादि व्यवहार विमूढ़ रागके रोगीको सम्बोधनके प्रसंगमें कभी व्यवहार कथन भी इन्हें करना पड़ता है।

विकल्पोंकी थकान मिटानेके लिए सहज विश्राम लीजिये, इसका मनन कीजिये ५५ वीं गाथाके एक प्रवचनांशमें, पृ० २१८–सहजविश्राम–अहो, ऐसा सहजज्ञान जिसका निश्चय, जिसका परिज्ञान, जिसमें स्थिति, जिसका प्रताप मोक्षका हेतु है वह सहज ज्ञान ही हम आपका परम शरण है, चिन्ता कुछ मत करो, दुःख रच भी नहीं है। अपने आपको आराममें रखना यह सबसे ऊंचा काम है। अपना आराम मूढ़तामें आकर खो मत दो। इन २४ घंटोंमें किसी समय तो सच्चा आराम पावो। जैसे लोग थककर दस बीस मिनट का हाथ पैर पसार कर चित्त लेटकर आराम ले लिया करते हैं, यों ही विकल्पजालोंमें जो दुःखों को थकान होती है उस थकान को दूर करने के लिए सर्व परकी चिन्ताको छोड़कर निज सहज ज्ञानमात्र आत्मतत्त्वका दर्शन करिये और उस ही में रमण कीजिये, तृप्त होइये। ऐसा सच्चा आराम एक सेकेण्डको भी हो जाय तो यह भव भवके संचित कर्मकलंकको दूर करने में समर्थ है। सो इस निज स्मृतिके लिए साधनभूत अमोघ अभिन्न उपायका चार प्रकार से भेद कथन किया गया है।

(१६४) नियमसार प्रवचन चतुर्थ भाग

इस पुस्तकमें नियमसार ग्रन्थकी ५६ गाथासे ६६ वीं गाथा तक के पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराजके प्रवचन हैं। हिंसा होनेमें पाप क्या है, इसका अध्यात्मदृष्टिसे समाधान लीजिये पृ० ७–अध्यात्मदृष्टिसे हिंसाके हेतुका प्रकाशन–देखिये यह जीव अनादि कालसे निगोद जैसी निकृष्ट अवस्थामें निवास करता आया है। वहांसे निकला तो कुछ मोक्ष मार्गके लिए कुछ प्रगतिको बात आयी। यद्यपि मोक्षमार्गका प्रारम्भ संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवसे होता है और कहीं मोक्षमार्गका प्रारम्भ नहीं होता, किन्तु संसार महागर्त से निगोद दशासे निकलकर यदि वह दोइन्द्रिय तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय जीव बना तो कुछ तो उसकी प्रगति हुई। अब देखिये किसी कीड़ेको मारा व मसला तो ऐसी स्थितिसे मरने वाले कीड़ेको संक्लेश प्राप्त होगा, यह बात तो सत्य है ना। जिस कीड़ेको पीटा जाय व मसला जाय तो उसके सक्लेश तो अधिक होगा। माना वह तीन इन्द्रिय कीड़ा है और वह अधिक संक्लेशसे मरा तो मरकर वह एकेन्द्रियका शरीरको पायगा। निम्नगतिमें जायगा। तो देखो ना कि इतनी प्रगतिका जीव जरासे तुम्हारे निमित्तसे इतनी प्रगतिसे लौटकर फिर अवनतिमें चला गया तो बताओ ऐसी अवनतिके भवमें पहुंचना यह जीवका बिगाड़ है ना, इस अध्यात्मिक दृष्टिसे कि जीवको हिंसा करना जीव पर अन्याय करना है।

साधुवोंके आहार विहारका क्या प्रयोजन है, देखिये ६३ वीं गाथाके एक प्रवचनांशमें, पृ० ८८–आहार विहारका प्रयोजन–जैसे सरसोंके तल वाले दिये में दो काम किये जाते हैं; तेल भरा जाता है और बाकी उसकेरी जाती है। सभी जानते हैं सरसोंके तेलका दिया जलावें तो उसमें बीच बीचमें बातीमें तेल चढ़ता है। जब सूख जाता है, कम हो जाता है तो उसमें तेल डालना पड़ता है। तो बातीका उसकेरना किसलिए किया जाता है कि यथावत प्रकाश बना रहे और तेल डालना इसलिए किया जाता है कि उसमें यथावत प्रकाश बना रहे। ऐसे ही प्रकाशपुंज साधु पुरुषमें बाती उस करने की तरह पैरोंके उसकेरने की जरूरत पड़ती है, अर्थात् विहार करनेको आवश्यकता होती है, और तेल डालनेकी अर्थात् पेटमें भोजन डालनेकी आवश्यकता होती है। यह आहार और विहार साधुजन इसलिए किया करते हैं कि यथावत शुद्ध ज्ञानप्रकाश मात्र बने रहें।

साधुवोंके उत्सर्ग मार्ग व अपवादमार्गका अभिप्राय पढ़िये ६४ वीं गाथाके एक प्रवचनांशमें–पृ० १२८–उत्सर्गमार्ग और अपवादमार्ग–उपेक्षा संयमी जीव परम उत्सर्ग मार्गका अनुसरण करता है। मार्ग दो प्रकार के हैं–उत्सर्ग मार्ग और अपवादमार्ग। साधुवोंका उत्सर्ग मार्ग तो यह है कि मन, वचन, कायकी चेष्टाओंकी प्रवृत्ति बन्द करे। परम उपेक्षा संयममें बर्तना हो, आहार विहार, विलास, समस्त क्रियायें जहां न रहें, केवल आत्मस्वभावकी उपासना चलें यह तो है उत्सर्ग मार्ग। साधुजन इसी मार्गका पालन करनेके लिए ही निर्ग्रन्थ होते हैं, किन्तु यह बात बड़ी कठिन है ना, किन्तु आरब्ध योगको यह बात कठिन है। सो उत्सर्ग मार्गमें नहीं रह पाते हैं और उसे आवश्यकता होती है कि वह आहार करे, विहार करे तो आहार विहार करता है, यह है अपवादमार्ग। यहां अपवादमार्गका अर्थ खोटा मार्ग न लेना, जुड़ा हुआ ऐसा अर्थ न करना, किन्तु सिद्धान्तके अनुकूल शुद्ध विधिसे जो चर्या की जाय, विहार किया जाय, यह है साधुवोंका अपवादमार्ग।

नग्नमुद्रामें निर्विकारताके दर्शन होते हैं, पढ़िये ६४ वीं गाथाका एक प्रवचनांश–पृ० १३७–नग्नमुद्रामें निर्विकारताका दर्शन–कुछ लोग उनकी नग्नमुद्राको देखकर अटपट कल्पनायें करके उनसे लाभ प्राप्त करनेसे दूर रहा करते हैं। कोई कहते हैं कि यह नग्न है, ऐसे न रहना चाहिए। अरे जरा उनके अन्तर के परिणामोंको तो देखो–साधुका अंतरंग परिणाम बालकवत् है। जैसे बच्चेको कुछ पता नहीं है काम का, अन्यकी तरह विडम्बनाओंका, जैसे वह बच्चा निर्विकार है, ऐसे ही वह साधु पुरुष निष्काम, निर्विकार, अत्यन्त स्वच्छ है। नग्नताका रूप रख लेना साधारण बात नहीं है। उद्दण्ड होकर कोई नंगा हो जाय उसकी बात नहीं कह रहे हैं, किन्तु नग्न होकर भी रंचमात्र भी विकार न आये और कल्पना तक भी न जगे ऐसी मुद्राका प्राप्त होना इस लोकमें अति दुर्लभ है, और साथ ही अपने ज्ञान–भाव द्वारा अपने सहज ज्ञानस्वरूपमें नियत रह सके ऐसी स्थिति पाना बहुत ही सुन्दर भवितव्यकी बात है।

आत्मचारित्रके अर्थ अपना क्या कर्तव्य है इसे देखिये ६६ वीं गाथाके एक प्रवचनांशमें–पृ० १६८–आत्मचारित्रके अर्थ अपना कर्तव्य–भैया, अपने मनको अशुभ कार्योंसे हटाकर शुभ कार्योंमें लगाना यह अपना कर्तव्य है। किन्तु साथ ही सर्वोत्कृष्ट कर्तव्य यह है कि वस्तुस्वरूपका यथार्थ ज्ञान करके समग्र वस्तुवोंके यथार्थ सहज स्वरूपके ज्ञाता द्रष्टा रह सकना यह सर्वोत्कृष्ट कर्तव्य है। मुनिजन सब प्रकारके राग और द्वेषसे दूर रहते हैं। ऐसे समग्र अशुभ परिणाम रूपी आस्रवोंका परिहार करना ही मनोगुप्ति है। मन चूंकि बाह्य वस्तु है आत्माके स्वभावकी बात नहीं है, ऐसे उस मनको वशमें करने की बात यह सब व्यवहारचारित्र है। निश्चयचारित्र तो वह है कि यह मन गुप्त होकर जिस स्वच्छता को प्रकट करनेमें स्वच्छता बर्ते और अंतरंगमें स्वच्छता जब जागृत हो जाय तो वहां यह मनभी विलीन हो जाय। निश्चय चारित्र तो यह है।

(१६६) नियमसार प्रवचन पंचम भाग

इस पुस्तकमें नियमसार ग्रन्थकी ६६ वीं गाथा तक के पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराजके प्रवचन हैं। मनोगुप्तिके प्रकरणमें प्रथम मनको शुभमें उपयुक्त कर देने की सम्मति दी है, पढ़िये ६६ वीं गाथाका एक प्रवचनांश–पृ० १६–मन मरकटको शुभमें उपयुक्त करने की आवश्यकता–अहो, यह मन बन्दरसे भी अधिक चंचल है। बन्दरोंको देखा होगा कि वे खाली नहीं बैठ सकते जब नींद आ जाय तो चाहे थोड़ी देर पड़े रहें पर जागते हों तो स्थिर नहीं रह सकते। स्थिर बैठ नहीं सकते। कहीं पैर हिलाया, कहीं हाथ हिलाया, और उनकी आंखें तो बड़ी ही विचित्र हैं। कैसी मटकती हैं कि जरा सी देरमें आंखोंमें

टोपी लग जाती है, जरा सी देरमें टोपी हट जाती है। कैसी विचित्र चंचलता है। उससे भी अधिक चंचल यह मन है। इस मनको किसी न किसी शुभ कार्यमें जुटाये रहना चाहिए, यदि अपना कल्याण चाहते हो। इसे शुभ कार्य न मिलेंगे तो अशुभ कार्यों में लग बैठेगा। इस तरह ज्ञान ध्यान पूजा, सत्संग, परोपकार, सेवा, इन कार्योंमें भी लगना चाहिए। इन शुभ कार्यों में मन लगा होगा तो यहां इतनी पात्रता है कि उन शुभ कार्यों का भी परिहार करके क्षणमात्र तो अपने आपके शुद्ध ज्ञायक स्वरूप का अनुभव कर सकेगा।

है। अब वे आत्मा बढ़ें या घटें। न कोई बढ़ने का कारण है और न कोई घटनेका कारण है क्योंकि बढ़ने और घटने का कारण प्रकृतियोंका उदय था। तो वृद्धि और हानिका हेतु न होनेसे वे सिद्ध भगवंत जिस देहसे मुक्त हुए हैं उसके आकार प्रमाण वहां रहते हैं।

आचार्य परमेष्ठीके ८ गुणोंमें सातवां अपरिश्रावित्व गुण पढ़िये, ७३ वीं गाथाके एक प्रवचनांशमें–पृ० ८९- आचार्यका अपरिश्रावित्व गुण–सातवां महागुण है आचार्य में अपरिश्रावित्व। आचार्य महाराजमें इतनी उदारता होती है कि कोई शिष्य कैसी ही आलोचना करे, उसके उस कथनको दोषको यों पी जाता है, अर्थात् किसी को प्रकट नहीं करता जैसे बहुत तपे हुए तवे पर बूंद गिरती है तो फिर उस बूंदका पता कहां रहता है ? जैसे वह बूंद सूख जाती है इसी तरह की गम्भीरता आचार्य परमेष्ठीमें होती है कि कोई भी दोष बताये, आचार्य महाराज कहीं भी बताते नहीं हैं, क्योंकि यदि बता दें तो उससे कितनी ही हानियां हैं। प्रथम तो यह किसी बड़े के अनुरूप बात नहीं है कि किसी के दोष प्रकट करें, कहे और करदे प्रकट तो पहले तो संगमें रहने वाले मुनियोंकी आस्था आचार्यसे हट जायगी, फिर अन्य कोई उन से आलोचना न करेंगे, यों फिर वे आचार्य न रह सकेंगे।

निश्चयचारित्र व व्यवहारचारित्रकी कल्याणप्रगतिमें उपयोगिता देखिये ७६ वीं गाथाके एक प्रवचनांश में, पृ० ११५–कल्याणप्रगतिके लिए निश्चयचारित्र व व्यवहारचारित्रका परस्पर सहयोग–यह निश्चय-चारित्र ही वास्तवमें शील है। अंग्रेजीमें सील कहते हैं वस्तुको यथास्थान अवस्थित कर देना दृढ़तासे। अपने आपका उपयोग अपने आपमें जमा रहे, फिर गड़बड़ी न हो ऐसा सील कर देना यही तो निश्चय-चारित्र है और यही आत्मस्वभाव है। निश्चयचारित्र परम निर्वाणका साक्षात कारण है और व्यवहार चारित्र परमनिर्वाणका परम्परा कारण है। व्यवहारचारित्रका काम निश्चयचारित्रकी पात्रता बनाये रखना है और निश्चयचारित्रका काम साक्षात् कर्मनिजरण करके मुक्त अवस्थाको प्राप्त कराना है। जैसे कोई दो बालक लड़ रहे हों वहां कोई तीसरा बालक आकर एक बालकका हाथ पकड़ ले, रोक ले तो मारने वाले बालकको अवकाश मिला कि पीट सकता है। कहनेको तो यह है कि उस तृतीय बालक ने उस बालकको तो नहीं पीटा परन्तु पिटानेमें परम्परया हेतु कारण हुआ। यों ही व्यवहारचारित्रने कर्मोंकी निर्जरा तो नहीं की लेकिन ऐसी स्थिति उत्पन्न की कि इस निश्चयचारित्रको मौका मिल गया। अब यह निश्चयचारित्र अपने मूल व्यवहारके साथ कर्मोंकी निर्जरा कर रहा है। ऐसे परम कल्याणके कारणभूत निश्चयचारित्रको हमारा अभिनन्दन हो।

(१९६) नियमसार प्रवचन षष्ठ भाग

इस पुस्तकमें नियमसार प्रवचनकी ७७ वीं गाथा तक के पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराजके प्रवचन हैं। निश्चयचारित्रके अधिकारमें पहिले परमार्थप्रतिक्रमणका वर्णन है। परमार्थ अन्तस्तत्त्वको जानने वाले ही निश्चयप्रतिक्रमणके अधिकारी होते हैं याने सर्व दोषों को मिथ्या करार कर देने के व हटा देने के अधिकारी हैं, अतः प्रथम परमार्थ दृष्टि कराई गई है, देखिये ७७ वीं गाथाके एक प्रवचनांशमें, पृ० ३–निजस्वरूपका विविक्तता–मैं नारकभावरूप नहीं हूं, तिर्यञ्च पदार्थ नहीं हूं, मनुष्य और देवपर्याय नहीं हूं। इन रूप भी मैं नहीं हूं और इनका करने वाला मैं नहीं हूं इनका कराने वाला भी मैं नहीं हूं और इनको जो कर रहे हों उन का अनुमोदने वाला भी नहीं हूं। ये बातें डर कर नहीं कही जा रही हैं किन्तु परमार्थस्वरूपकी रुचिके कारण कही जा रही हैं। यों न समझना कि जैसे स्कूलमें किसी लड़केसे कोई अपराध बन गया है तो वह मास्टर साहबसे कहता है मास्टर साहब मुझे कुछ पता नहीं है, मैंने कसूर नहीं किया है, न मुझे किसीने बहकाया है, न मैं उस घटना में शामिल ही था, ऐसा डर कर नहीं कहा जा रहा है किन्तु

टोपी लग जाती है, जरा सी देरमें टोपी हट जाती है। कैसी विचित्र चंचलता है। उससे भी अधिक चंचल यह मन है। इस मनको किसी न किसी शुभ कार्यमें जुटाये रहना चाहिए, यदि अपना कल्याण चाहते हो। इसे शुभ कार्य न मिलेगे तो अशुभ कार्योंमें लग बैठेगा। इस तरह ज्ञान ध्यान पूजा, सत्संग, परोपकार, सेवा, इन कार्योंमें भी लगना चाहिए। इन शुभ कार्योंमें मन लगा होगा तो यहां इतनी पात्रता है कि उन शुभ कार्योंका भी परिहार करके क्षणमात्र तो अपने आपके शुद्ध ज्ञायक स्वरूप का अनुभव कर सकेगा।

वचनगुप्तिके प्रकरणमें निश्चय व व्यवहार वचनगुप्तिका दिग्दर्शन कीजिये ६८ वीं गाथा के एक प्रवचनांश में, पृ० २६–निश्चय व्यवहार वचन गुप्ति–किसीभी प्रकारके वचनालापसे अन्तरमें कुछ राग उठा करता है, ऐसी स्थितिमें कुछ जान बूझकर सहज प्रयोजनके लिए जो वचन परिहार किया जाता है व्यवहार गुप्ति। और अज्ञान पूर्वक जबरदस्ती वचनोंका बन्द करना, ओंठमें ओंठ चिपकाये मौन रह जाना यह तो सब उसकी उपचार चेष्टायें हैं, किन्तु सहज स्वभावसे हो जो वचनालापका परिहार हो जाता है यह निश्चयवचनगुप्ति है। इस आत्माका स्वभाव वचन बोलनेका नहीं है। यह तो आकाशवत् निर्लेप ज्ञानमात्र अमूर्त तत्त्व है। यहां कहां भाषा पड़ी है? यहां कहां वचनालाप पड़े हैं? यह वचनोंसे अत्यन्त दूर है। ऐसे निरपेक्ष आत्मतत्त्वकी दृष्टि रखनेमें जो सहज वचनालाप बन्द हो जाता है उसका नाम है निश्चयवचनगुप्ति। ज्ञानी पुरुष बाह्य वचनोंका सर्वथा अन्तरंगसे परित्याग करता है।

गुप्तिकी साधना सहयोगी अन्तस्तत्त्वके स्वरूपकी भावना है, इससे सम्बन्धित एक प्रवचनांश पढ़िये गाथा ७० के प्रसंगमें, पृ० ४८–गुप्तिसाधनमें मूल भावना–जितने भी अवगुण हैं उनके विजयका उपाय उन अवगुणोंके विपरीत गुणों पर दृष्टि करना है। जैसे–इन्द्रियविजयमें जड़ जड़ द्रव्येन्द्रियका विजय चैतन्य स्वरूपकी दृष्टिसे होता है। मैं चैतन्यस्वरूप हूं। ये द्रव्येन्द्रिय अचेतन हैं। खण्डज्ञानरूप भावेन्द्रियका विजय अखण्ड ज्ञानस्वरूप निजकी प्रवृत्तिसे होता है और संगरूप विषयोंका विजय असंग आकिञ्चन्य निज अन्तस्तत्त्वके अवलोकनसे होता है। यों कायगुप्तिका विजय यह ज्ञानी सन्त इस भावनामें कर रहा है कि मेरा तो अपरिस्पंद स्वरूप है, योगरहितस्वरूप है। निष्क्रिय धर्म द्रव्यकी तरह जहां के तहां स्पद रहित होकर अवस्थित रहना ही मेरा स्वरूप है। जैसे मेरे स्वरूपमें ज्ञान, दर्शन, आनन्द आदिक गुण हैं तैसेमें परिस्पद रहित निष्क्रिय ज्ञानमात्र हूं। ऐसे इस योगरहित अन्तस्तत्त्वके योग कहां से होगा। यों भावना रखने वाले साधुके कायगुप्ति होती हैं। और कायगुप्ति ही क्या, तीनों गुप्तियां होती हैं।

सिद्धभगवन्तोंका आत्मक्षेत्र कितना है इसका प्रकाश पाइये ८३ वीं गाथाके एक प्रवचनांशमें–पृ० ८३–भगवन्तोंका आत्मक्षेत्र–भगवन्त सिद्ध जिस समय अपने उतने आकारमें विराजमान हैं जितने आकार वाले शरीर को छोड़कर वे मुक्त हुए हैं। यद्यपि आत्मामें आकार नहीं होता फिर भी जो कुछ भी द्रव्य है उस द्रव्यके निजी प्रदेश अवश्य होते हैं। आत्माके उन प्रदेशोंका विस्तार कितना है जिन प्रदेशोंमें समस्त शक्ति समूह मौजूद है, अथवा शक्तिका पुंज ही प्रदेशात्मकताको धारण किये हुए है। वह कितना है, यह सब जाननेके लिए जब इच्छा हो तब उसे यों ही कहना होगा कि जिस शरीर से वे छूटे हैं उस शरीरके परिमाण उनका आकार होता है। प्रश्न–वे शरीरसे कम या अधिक क्यों नहीं हो जाते हैं? उत्तर–प्रदेशके विस्तारका और संकोचका कारण आत्माका सत्त्व नहीं है, आत्माका स्वभाव नहीं है, किन्तु विशिष्ट जातिकी कर्मप्रकृतियोंका उदय है। अब चूंकि नामकर्म प्रकृतियां रही नहीं, अन्य प्रकृतियां रही नहीं, जिस देहको छोड़कर वे मुक्त हो रहे हैं उस देह आकारमें यह आत्मा

बंधन नहीं होता, किन्तु जो अपने आपको असत्यरूप मान रहा है वह अपराधी है। वह निरंतर अनन्त कर्मोंको बांधता रहता है। एक शुद्ध सहज स्वरूपमात्र आत्मतत्त्वकी दृष्टि प्रतीति उपासना करने वाले पुरुष निरपराध हैं और वे सर्व प्रकार के बन्धनों से मुक्त होते हैं। जो ऐसे कारण परमात्मतत्त्वका ध्यान करता है वही निरपराध अपने आपको निहारनेमें परमार्थ प्रतिक्रमण होता है।

प्रतिक्रमण अधिकार की अन्तिम गाथामें व्यवहारप्रतिक्रमणकी सफलता क्या है। इसे एक लोक दृष्टान्त द्वारा समझाया है एक संक्षिप्त प्रवचनांशमें, पृ० १५७–दृष्टान्तपूर्वक कर्तव्यकी सफलताका समर्थन–जैसे सीढ़ियों पर चढ़नेकी सफलता क्या है? ऊपर आ जाना। कोई मनुष्य सीढ़ियों पर ही चढ़े उतरे तो ऐसे मनुष्यको तो लोग विवेकी न कहेंगे। इसके क्या धुन समायी है, कहीं दिमाग खराब तो नहीं हो गया है, यों लोग सोचेंगे। तो सीढ़ियोंपर चढ़नेकी सफलता है ऊपर आ जाना। ऐसे ही व्यवहार प्रति-क्रमण की सफता है अप्रतिक्रमण और प्रतिक्रमण भावसे परे जो शुद्ध अंतःप्रतिक्रमण, उत्तमार्थप्रतिक्रमण है उसमें लीन हो जाना, इसका संकेत इस अन्तिम गाथामें किया गया है।

(१६७—१७१) नियमसार प्रवचन ७ से ११ भाग

इन पांच भागोंमें नियमसारकी ९५ वीं गाथासे लेकर अन्तिम १८७ वीं तक के पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराजके प्रवचन है। ७ वें भागमें प्रथम प्रत्याख्यान अधिकारकी ९५ वी गाथाके एक प्रवचनांशमे देखिये प्रत्याख्यानका अधिकारी कौन है? प्रत्याख्यानका अधिकारी–इस गाथामें यह बतला रहे हैं कि जो मुनि समस्त वचनालापों को छोड़कर भविष्यमें शुभ अथवा अशुभ सभी प्रकार के भावोंका परित्याग करके निवारण करके जो आत्माका ध्यान करता है उस मुनिके यह निश्चय प्रत्याख्यान होता है। यह प्रत्याख्यान समस्त कर्मोंकी निर्जरा का कारण है। प्रत्याख्यान बिना मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति नहीं हो सकती। यह तो मोक्षमन्दिर में पहुंचने के लिए सीढ़ी है। मुक्तिमें होनेवाली परम निराकुलताके वर्तनके लिए यह सर्वप्रथम उपाय है। निश्चय प्रत्याख्यान भी उस पुरुषके सम्भव है जिसने जिन मतके अनुसार विधिपूर्वक व्यवहार प्रत्याख्यानमें भी दक्षता पायी है। प्रत्याख्याता महामुनिके व्यवहार प्रत्याख्यानकी वृत्ति भी चलती है और उस सहज प्रत्याख्यान वृत्तिका करते हुए निश्चयप्रत्याख्यानकी ओर उनका चित्त रहता है।

प्रत्याख्यानका विधि व निषेध दोनों पद्धतियोंमें वर्णन होता है। इसका संकेत देखिये ९५ वीं गाथाके एक प्रवचनांशमें। पृ० ५–प्रत्याख्यानका विधि व निषेध मुखसे वर्णन–अहंकार ममकार विभावका परित्याग होना और ज्ञाता दृष्टारूप परिणमन होना–ये दोनों एक साथ होते हैं। इसका कारण यह है कि विधि और निषेध ये केवल अपेक्षा से कही जाने वाली चीजें हैं। जैसे अंगुली टेढ़ी हो और सीधी कर दी जाय तो उसको चाहे इन शब्दोंमें कह लो कि अंगुली की टेढ़ मिट गई और चाहे इन शब्दों में कह लो कि अंगुली में सीधा परिणमन हो गया। बात वहां एक है। उस एक ही विकासको हम विधि और निषेधसे कहते हैं। इसनिश्चय प्रत्याख्यानमें जो आत्मविलास है उसको चाहे यों कह लीजिये कि समस्त विभावों का परिहार हो गया और चाहे यों कह लीजिये कि यह मात्र ज्ञाता दृष्टा रूप परिणमन कर रहा है।

कारणप्रभुके सहज तेजका मनन कीजिये ९७ वीं गाथाके एक प्रवचनांशमें–पृ० १६–पापसमूहके विलयन में कारण प्रभुकी समर्थता–यह कारणप्रभु चैतन्यस्वरूप समस्त पापोंकी वृत्ति को जीतने में समर्थ है। आत्मक्षेत्रको छोड़कर अन्य पदार्थोंमें अपना बड़प्पन देखने की वासना करना यही है पापसमूह।

परमार्थस्वरूपको निरखकर जो बात यथार्थ अनुभवमें उतरी है उस बातको ये ज्ञानी सन्त निःशंक होकर प्रकट कर रहे हैं। मेरा स्वरूप तो वह है जो मेरे सत्त्वके कारण स्वतःसिद्ध हो। मैं नारक तिर्यन्च, मनुष्य देव कहां हूं ? मैं तो एक ज्ञायकस्वरूप चैतन्यस्वरूप चैतन्यमात्र अनुपम पदार्थ हूं।

संकटके आय व्ययका लेखा जोखा देखिये ७८ वीं गाथांके एक प्रवचनामें, पृ० ४५–४६–उपयोगसे संकटका आय और व्यय–भैया, क्या है संकट ? कितने हैं संकट ? जोड़ लो, अमुक आदमी मुझसे इतना वेभव छीनना चाहते हैं, धन मकानका हिस्सा बांट करना चाहते हैं, अधिक लेना चाहते हैं अथवा मुझे मुनाफा नहीं मिल रहा है, टोटा हो गया है, इतना नुकशान हो गया है, लोग रूठते जा रहे हैं। बनाते जावो–कितने सकट हैं। पहिले तो सारे संकटोंको जाड़ जोड़कर एक जगह धर लो और फिर धीरे से अपने एकत्वस्वरूपका दृष्टिरूप आग लगा दो, सारे संकट, वह [illegible] एक साथ सब स्वाहा हो

बंधन नहीं होता, किन्तु जो अपने आपको असत्यरूप मान रहा है वह अपराधी है । वह निरन्तर अनन्त कर्मोंको बांधता रहता है । एक शुद्ध सहज स्वरूपमात्र आत्मतत्त्वकी दृष्टि प्रतीति उपासना करने वाले पुरुष निरपराध हैं और वे सर्व प्रकार के बन्धनों से मुक्त होते हैं । जो ऐसे कारण परमात्मतत्त्वका ध्यान करता है वही निरपराध अपने आपको निहारनेमें परमार्थ प्रतिक्रमण होता है ।

प्रतिक्रमण अधिकार की अन्तिम गाथामें व्यवहारप्रतिक्रमणकी सफलता क्या है । इसे एक लोक दृष्टान्त द्वारा समझाया है एक संक्षिप्त प्रवचनांशमें, पृ० १५७–दृष्टान्तपूर्वक कर्त्तव्यकी सफलताका समर्थन–जैसे सीढ़ियों पर चढ़नेकी सफलता क्या है ? ऊपर आ जाना । कोई मनुष्य सीढ़ियों पर ही चढ़े उतरे तो ऐसे मनुष्यको तो लोग विवेकी न कहेंगे । इसके क्या धुन समायी है, कहीं दिमाग खराब तो नहीं हो गया है, यों लोग सोचेंगे । तो सीढ़ियोंपर चढ़नेकी सफलता है ऊपर आ जाना । ऐसे ही व्यवहार प्रतिक्रमण की सफता है अप्रतिक्रमण और प्रतिक्रमण भावसे परे जो शुद्ध अंतःप्रतिक्रमण, उत्तमार्थप्रतिक्रमण है उसमें लीन हो जाना, इसका संकेत इस अन्तिम गाथामें किया गया है ।

(१६७—१७१) नियमसार प्रवचन ७ से ११ भाग

इन पांच भागोंमें नियमसारकी ९५ वीं गाथासे लेकर अन्तिम १८७ वीं तक के पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराजके प्रवचन है । ७ वें भागमें प्रथम प्रत्याख्यान अधिकारकी ९५ वी गाथाके एक प्रवचनांशमें देखिये प्रत्याख्यानका अधिकारी कौन है ? प्रत्याख्यानका अधिकारी–इस गाथामें यह बतला रहे हैं कि जो मुनि समस्त वचनालापों को छोड़कर भविष्यमें शुभ अथवा अशुभ सभी प्रकार के भावोंका परित्याग करके निवारण करके जो आत्माका ध्यान करता है उस मुनिके यह निश्चय प्रत्याख्यान होता है । यह प्रत्याख्यान समस्त कर्मों की निर्जरा का कारण है । प्रत्याख्यान बिना मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति नहीं हो सकती । यह तो मोक्षमन्दिर में पहुंचने के लिए सीढ़ी है । मुक्तिमें होनेवाली परम निराकुलताके वर्तनके लिए यह सर्वप्रथम उपाय है । निश्चय प्रत्याख्यान भी उस पुरुषके सम्भव है जिसने जिन मतके अनुसार विधिपूर्वक व्यवहार प्रत्याख्यानमें भी दक्षता पायी है । प्रत्याख्याता महामुनिके व्यवहार प्रत्याख्यानकी वृत्ति भी चलती है और उस सहज प्रत्याख्यान वृत्तिको करते हुए निश्चयप्रत्याख्यानकी ओर उनका चित्त रहता है ।

प्रत्याख्यानका विधि व निषेध दोनों पद्धतियोंमें वर्णन होता है । इसका संकेत देखिये ९५ वीं गाथाके एक प्रवचनांशमें । पृ० ५–प्रत्याख्यानका विधि व निषेध मुखसे वर्णन–अहंकार ममकार विभावका परित्याग होना और ज्ञाता दृष्टारूप परिणमन होता- ये दोनों एक साथ होते हैं । इसका कारण यह है कि विधि और निषेध ये केवल अपेक्षा से कही जाने वाली चीजें हैं । जैसे अंगुली टेढ़ी हो और सीधी कर दी जाय तो उसको चाहे इन शब्दोंमें कह लो कि अंगुली की टेढ़ मिट गई और चाहे इन शब्दों में कह लो कि अंगुली में सीधा परिणमन हो गया । बात वहां एक है । उस एक ही विलासको हम विधि और निषेधसे कहते हैं । इसनिश्चय प्रत्याख्यानमें जो आत्मविलास है उसको चाहे यों कह लीजिये कि समस्त विभावों का परिहार हो गया और चाहे यों कह लीजिये कि यह मात्र ज्ञाता दृष्टा रूप परिणमन कर रहा है ।

कारणप्रभुके सहज तेजका मनन कीजिये ९७ वीं गाथाके एक प्रवचनांशमें–पृ० १६–अघसमूहके विलयन में कारण प्रभुकी समर्थता–यह कारणप्रभु चैतन्यस्वरूप समस्त पापोंकी वृत्ति को जीतने में समर्थ है । आत्मक्षेत्रको छोड़कर अन्य पदार्थोंमें अपना बड़प्पन देखने की वासना करना यही है पापसमूह ।

उसे बातको ये ज्ञानी सन्त निःशंक होकर परमार्थस्वरूपको निरखकर जो बात यथार्थ अनुभवमें उतरी है उस बातको ये ज्ञानी सन्त निःशंक होकर प्रकट कर रहे हैं। मेरा स्वरूप तो वह है जो मेरे सत्त्वके कारण स्वतःसिद्ध हो। मैं नारक तिर्यन्च, मनुष्य देव कहां हूं? मैं तो एक ज्ञायकस्वरूप चैतन्यस्वरूप चेतन्यमात्र अनुपम पदार्थ हूं।

संकटके आय व्ययका लेखा जोखा देखिये ७८ वीं गाथाके एक प्रवचनांश में, पृ० ४५–४६–उपयोगसे संकटका आय और व्यय–भैया, क्या है संकट? कितने हैं संकट? जोड़ लो, अमुक आदमी मुझसे इतना वेभव छीनना चाहते हैं, धन मकानका हिस्सा बांट करना चाहते हैं, अधिक लेना चाहते हैं अथवा मुझे मुनाफा नहीं मिल रहा है, टोटा हो गया है, इतना नुकसान हो गया है, लोग रूठते जा रहे हैं। बनाते जावो–कितने सकट हैं। पहिले तो सारे संकटोंको जोड़ जोड़कर एक जगह धर लो और फिर धीरे से अपने एकत्वस्वरूपका दृष्टिरूप आग लगा दो, सारे संकट, वह सारा ईन्धन एक साथ सब स्वाहा हो जायगा। कहां रहे संकट? जब शरीर ही मैं नहीं हूं ये रागद्वेष विकारभाव भी मैं नहीं हूं ये पोजोशन, ये भीतर की कल्पनायें ये सब भी मैं नहीं हूं तो मेरा बिगाड़ कहां है? क्या है मेरा बिगाड़? ज्ञानी पुरुषमें ही ऐसा साहस होता है कि कदाचित् कोई दुष्टवैरभाववश नाना प्रकार से उसके प्राण हरे ता यह स्पष्ट झलकता है कि मेरा तो कुछ भी बिगाड़ नहीं है। मैं तो ज्ञानानन्द मात्र हूं। लो यह मैं पूरा का पूरा यहांसे चला, उसे कोई प्रकार का सकट नहीं है। संकट तो मोह ममतासे बसे हुए हैं। हम संकटोंसे दूर होनेके लिए विरुद्ध प्रयत्न किया करते हैं। वह क्या उस मोह ममताकी रचना करते है? दुःख साधन बनानेसे कहीं दुःख टाले भी जा सकते हैं क्या? सोच लो।

दोषोंका प्रतिक्रमण परमार्थप्रतिक्रमणमें होता है, देखिये ८० वीं गाथाका एक प्रवचनांश, पृ० ५२–दोषों का प्रतिक्रमण–मैं राग नहीं हूं, द्वेष नहीं हूं, मोह नहीं हूं और रागद्वेष मोहका कारण भी नहीं हूं, उन का कर्ता भी नहीं हूं कराने वाला भी नहीं हूं और उनको करते हुए जो कोई भी हो उनका अनुमोदन भी नहीं हूं। परमार्थप्रतिक्रमण हो ही जाता है। जो विभाव लग चुका था, जो द्वेष किया गया था उस द्वेषका प्रतिक्रमण किया जा रहा है याने उस द्वेषको दूर किया जा रहा है।

परमार्थप्रतिक्रमणका प्रयोजन क्या है, यह संक्षेपमें समझ लीजिये ८२ वीं गाथाके एक प्रवचनांशमें-पृ० २-प्रतिक्रमणका प्रयोजन–प्रतिक्रमणकी आवश्यकता निर्दोष चारित्रकी सिद्धिके लिए है। निर्दोष चारित्र की सिद्धि समस्त आकुलताओं के मिटाने के लिए है। समस्त आकुलताओं का मिट जाना इस जीव का ध्येय है, मन्तव्य है, लक्ष्य है। चाहते यह हैं समस्त जीव लोक कि रंच भी पीड़ा न रहे, अनाकुलता की स्थिति कैसे आये? उसके उपायमें यह चारित्र शोधक परमार्थप्रतिक्रमणका वर्णन चल रहा है।

परमार्थ निरपराध होनेपर ही अनाकुलता हो ही सकती है, ८४ वीं गाथाके एक प्रवचनांशमें–पृ० ८४–निरपराधतामें अनाकुलताका स्वाद–जहां आत्मामें आराधना नहीं है वे सब अपराध हैं। जहां शुद्ध ममताका, अनाकुलताका स्वाद नहीं आ रहा है वे सब अनुभवन अपराध हैं। किसी भी बाह्य प्रसंगमें चाहे वे बड़ी सच्चाईके साथ भी जुट रहे हों, किन्तु उनसे पूछो कि क्या तुम इस समय निराकुलता में हो? तो उत्तर मिलेगा कि निराकुलता तो नहीं है। निराकुलता तो रागद्वेषरहित केवल ज्ञाता दृष्टा रहनेमें ही है। जहां निराकुलता है, वास्तविक सहज परम आल्हाद है वहां ही आत्माकी आराधना है और वही जीव निरपराध कहलाता है।

पुनश्च देखिये निरपराध दर्शनमें ही परमार्थप्रतिक्रमण होता है। पृ० ८७–निरपराध दर्शनमें परमार्थ-प्रतिक्रमण–ऐसे ज्ञानानन्दस्वरूप मात्र अपने आत्मतत्त्वको दृष्टिमें जो जगता है वह निरपराध है, उसका

बंधन नहीं होता, किन्तु जो अपने आपको असत्यरूप मान रहा है वह अपराधी है। वह निरन्तर अनन्त कर्मों को बांधता रहता है। एक शुद्ध सहज स्वरूपमात्र आत्मतत्त्वकी दृष्टि प्रतीति उपासना करने वाले पुरुष निरपराध हैं और वे सर्व प्रकार के बन्धनों से मुक्त होते हैं। जो ऐसे कारण परमात्मतत्त्वका ध्यान करता है वही निरपराध अपने आपको निहारनेमें परमार्थ प्रतिक्रमण होता है।

प्रतिक्रमण अधिकार की अन्तिम गाथामें व्यवहारप्रतिक्रमणकी सफलता क्या है। इसे एक लोक दृष्टान्त द्वारा समझाया है एक संक्षिप्त प्रवचनांशमें, पृ० १५७-दृष्टान्तपूर्वक कर्तव्यकी सफलताका समर्थन-जैसे सीढ़ियों पर चढ़नेकी सफलता क्या है? ऊपर आ जाना। कोई मनुष्य सीढ़ियों पर ही चढ़े उतरे तो ऐसे मनुष्यको तो लोग विवेकी न कहेंगे। इसके क्या धुन समायी है, कहीं दिमाग खराब तो नहीं हो गया है, यों लोग सोचेगे। तो सीढ़ियोंपर चढ़नेकी सफलता है ऊपर आ जाना। ऐसे ही व्यवहार प्रतिक्रमण की सफता है अप्रतिक्रमण और प्रतिक्रमण भावसे परे जो शुद्ध अंतःप्रतिक्रमण, उत्तमार्थप्रतिक्रमण है उसमें लीन हो जाना, इसका संकेत इस अन्तिम गाथामें किया गया है।

(१६७—१७१) नियमसार प्रवचन ७ से ११ भाग

इन पांच भागोंमें नियमसारकी ९५ वीं गाथासे लेकर अन्तिम १८७ वीं तक के पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराजके प्रवचन है। ७ वें भागमें प्रथम प्रत्याख्यान अधिकारकी ९५ वी गाथाके एक प्रवचनांशमें देखिये प्रत्याख्यानका अधिकारी कौन है? प्रत्याख्यानका अधिकारी-इस गाथामें यह बतला रहे हैं कि जो मुनि समस्त वचनालापों को छोड़कर भविष्यमें शुभ अथवा अशुभ सभी प्रकार के भावोंका परित्याग करके निवारण करके जो आत्माका ध्यान करता है उस मुनिके यह निश्चय प्रत्याख्यान होता है। यह प्रत्याख्यान समस्त कर्मों की निर्जरा का कारण है। प्रत्याख्यान बिना मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति नहीं हो सकती। यह तो मोक्षमन्दिर में पहुंचने के लिए सीढ़ी है। मुक्तिमें होनेवाली परम निराकुलताके वर्तनके लिए यह सर्वप्रथम उपाय है। निश्चय प्रत्याख्यान भी उस पुरुषके सम्भव है जिसने जिन मतके अनुसार विधिपूर्वक व्यवहार प्रत्याख्यानमें भी दक्षता पायी है। प्रत्याख्याता महामुनिके व्यवहार प्रत्याख्यानकी वृत्ति भी चलती है और उस सहज प्रत्याख्यान वृत्तिको करते हुए निश्चयप्रत्याख्यानकी ओर उनका चित्त रहता है।

प्रत्याख्यानका विधि व निषेध दोनों पद्धतियोंमें वर्णन होता है। इसका संकेत देखिये ९५ वीं गाथाके एक प्रवचनांशमें। पृ० ५-प्रत्याख्यानका विधि व निषेध मुखसे वर्णन-अहंकार ममकार विभाव का परित्याग होना और ज्ञाता दृष्टारूप परिणमन होना-ये दोनों एक साथ होते हैं। इसका कारण यह है कि विधि और निषेध ये केवल अपेक्षा से कही जाने वाली चीजें हैं। जैसे अंगुली टेढ़ी हो और सीधी कर दी जाय तो उसको चाहे इन शब्दोंमें कह लो कि अंगुली की टेढ़ मिट गई और चाहे इन शब्दों में कह लो कि अंगुली में सीधा परिणमन हो गया। बात वहां एक है। उस एक ही विकासको हम विधि और निषेधसे कहते हैं। इसनिश्चय प्रत्याख्यानमें जो आत्मविलास है उसको चाहे यों कह लीजिये कि समस्त विभावों का परिहार हो गया और चाहे यों कह लीजिये कि यह मात्र ज्ञाता दृष्टा रूप परिणमन कर रहा है।

कारणप्रभुके सहज तेजका मनन कीजिये ९७ वीं गाथाके एक प्रवचनांशमें-पृ० १६-अघसमूहके विलयन में कारण प्रभुकी समर्थता-यह कारणप्रभु चैतन्यस्वरूप समस्त पापोंकी वृत्ति को जीतने में समर्थ है। आत्मक्षेत्रको छोड़कर अन्य पदार्थोंमें अपना बड़प्पन देखने की वासना करना यही है पापसमूह।

विषयोंमें प्रवृत्ति करके अपने को सुखी मान लेने की वासना होना यही है पापसमूह। इन पापवैरियोंने अपनी विजय पताका इस जगतमें स्वच्छन्द होकर उद्दण्ड होकर फहरा दी है और इस समस्त बराक जीव उनकी पताकाओंके नीचें रहकर अपने को सशरण माने हुए हैं। ऐसे उद्दण्ड पाप बैरियोंकी इस पताका को लूट लेने में समस्थ निर्मूल नष्ट करने में समर्थ यह कारण परमात्मपदार्थ है। निर्दोष, निर्लेप स्वतंत्र आत्मतत्त्वकी भावना जगे वहां एक भी क्लेश एक भी पाप ठहर नहीं सकता है।

ममत्व परिहार व निर्ममत्व ग्रहण ये दोनों विधान प्रत्याख्यानके सहयोगी हैं इससे सम्बन्धित ९७ वीं गाथाका एक प्रवचनांश देखिये–पृ० २९–ममत्वपरिवर्जन और निर्ममत्वानुष्ठान ममत्वको छोड़ता हूं और निर्ममत्वको उपस्थित होता हूं अर्थात् मैं निर्ममत्व स्वभावमे ठहरता हूं। आत्मा ही मेरा आलम्बन है, अन्य समस्त पदार्थों को परभावोंको मैं छोड़ता हूं। ज्ञानीका ऐसा अतः सङ्कल्प है। इस अनुभूतिमें अनादि अनन्त अहेतुक चित्स्वभावमात्र आत्मतत्त्व का सरण ग्रहण किया है और उस ध्रुवस्वभावके अतिरिक्त अन्य जितने भाव हैं, स्वभाव हैं उन समस्त विभावोंके परित्यागको विधि प्रकट हुई है। यह मैं आत्मा ज्ञानदर्शन मात्र हूं, अकेला हूं, विविक्त हूं, मोह रागद्वेषादिक जो विभाव उत्पन्न होते हैं उनसे भी मैं रहित हूं। ऐसे निर्ममत्व आत्मतत्त्वको प्राप्त होना, ममताके परिहारकी विधि है। पर ममता का परिहार होना आत्मतत्त्वके पाने की विधि हैं।

कायरता आये विना भोगोंका सेवन नहीं होता है, १०० वीं गाथाकें एक प्रवचनांशमें–पृ० ३९–कायरता में भोगसेवन विषयाभिलाषी पुरुष इस सुखके पीछे दूसरे जीवोंके आगे कायर बन जाते हैं। इन्द्रियके विषय वीरता पूवक कैसे मिल सकते हैं। कायर हाकर ही ये विषयसुख मिला करते हैं। खैर किसी तरह से भोगें, पर इतना तो समझना ही चाहिए कि बिना कायरताके ये विषयसुख नहीं भोगे जाते हैं। स्पर्शनइन्द्रियका विषय कायर बनकर ही भोगा जाता है। सभी इन्द्रिय और मनके विषयोंका सब कुछ भोग कायर बनकर ही किया जाता है। यह अज्ञानी परवस्तुओंसे अपना हित मानकर कायर होता हुआ अपना जीवन व्यर्थ गमा रहा है। उसे यह पता नहीं है कि मेरा तो मात्र मैं ही हूं और यह मैं विशुद्ध ज्ञानानन्द स्वभावसे परिपूर्ण हूं, इसमें क्लेशका नाम भी नहीं है। इसका ऐसा उत्कृष्ट स्वभाव है कि सारे विश्वका यह जाननहार बन जाय।

प्रत्याख्यान नाम विकल्पोंके त्यागका है, यह प्रत्याख्यान ज्ञानरूप ही तो कहलाता है। मनन कीजिये १०१ वीं गाथाके एक प्रवचनांशमें–पृ० ५२–ज्ञानकी प्रत्याख्यानरूपता–भैया परित्याग तो परमार्थसे भीतर ज्ञानमें बसा हुआ है। किसी चीजको यहां से वहां उठाकर रख दो ऐसे हटा देने से त्याग नहीं बन गया। त्याग तो वास्तवमें भीतरमें ऐसा प्रकाश जगे कि यह मैं मात्र इतना ही हूं, ज्ञानातिरिक्त मेरा कुछ नहीं है, ऐसा भीतरमें प्रतिबोध हो उसका नाम त्याग है। और उस त्यागमें ही इस जीवके विशुद्धि जगती है। ऐसा परमार्थ प्रत्याख्यानमय एकस्वरूप निहारने पर निश्चय प्रत्याख्यान होता है। यह जीव सर्वत्र अकेला है। जन्मते अकेला, बड़ा होने पर अकेला, विकल्पकार्य किया तो वहां पर भी अकेला है, इसका काम तो सर्वत्र अपना गुण परिणमन करते रहना है।

प्रत्याख्यानके प्रसंगमें ज्ञानी साकार रत्नत्रयको निराकार रत्नत्रय बनानेका एक शिव संकल्प तो निरखिये, गाथा १०३ के एक प्रवचनांशमें, पृ० ६८–साकार रत्नत्रयका निराकारी कारण साकार पूजा, साकार भक्ति, साकार रत्नत्रय ये सब अनुत्कृष्ट अवस्थायें हैं। जहां आकार का विलय हो जाता है वह उत्कृष्ट हितकी अवस्था है। नौ पदार्थों का श्रद्धान करना, सात तत्त्वोंकी प्रतीति रखना यह मैं आत्मा हूं, ये सब परद्रव्य हैं–इस प्रकार का भेदविज्ञान करना, महाव्रत पालते हुए मुझे समिति पूर्वक चलना चाहिए, ऐसी वृत्ति

करना इत्यादि रूप भेद रूप सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रका होना यह सब साकार रत्नत्रय है, जब निज सहजस्वरूपका ही झुकाव हो, उसका ही परिज्ञान हो और ज्ञाता दृष्टा रहकर उसका ही निर्विकल्पानुभव हो, वह है निराकार रत्नत्रयका विधि। मैं इस साकार रत्नत्रयको निराकार रत्नत्रय करता हूं ऐसे इस प्रत्याख्यानके प्रसंगमें ज्ञानी पुरुष अन्तर में शिवसंकल्प कर रहा है।

३५ मनुष्यका हल्दी की गांठ पर पंसारीपना देखिये—गाथा १०४ वीं के एक प्रवचनांशमें—पृ० ७१—हल्दी की गांठ पर पंसारीपना—भैया, बड़े बड़े तीर्थंकर चक्रवर्ती तो इन ठाठोंको छोड़कर अपने अपने उपादेय स्थानमें पहुंचे और यहां हम आप न कुछ साधारण सी विभूति पाकर निरन्तर इस विभूतिके ही स्वप्न देखा करते हैं, यह कितने खेद की बात है। अहानेमें तो कहा करते हैं कि चूहा हल्दी की गांठ पाकर पंसारी बन गया। पर अपनेमें कुछ नहीं घटा। है कि थोड़ा सा यह हजारों लाखों का धन पाकर यह अपने को श्रेष्ठ मानने लगा है। तेरे से बढ़कर अनेकोंकी स्थितियां इसी देशमें हैं। उनसे भी बढ़कर अनेकों की स्थितियां विदेशमें भी सम्भव हैं, उनसे भी कई गुने बढ़कर मंडलेश्वर राजा होते हैं, उनसे अधिक महा मंडलेश्वर राजा होते हैं, उनसे कई गुने नारायण और प्रति नारायण होते हैं, वे तीन खण्ड के अधिपति होते हैं, उनसे बड़े चक्रवर्ती पुरुष होते हैं और ऐसे अनेक चक्रवर्ती जिनके चरणोंमें नमस्कार करें उन तीर्थंकरों के बड़प्पन को तो बताया ही क्या जाय ? अब उनके सामने देख तूने हल्दी गांठ ही पायी है या और भी पाया है ?

आलोचनाधिकारमें परमालोचना व उसके अधिकारीका संक्षिप्त संकेत पाइये १०७ वीं गाथाके एक प्रवचनांशमें—पृ० ८९—परमालोचना और उसका अधिकारी—जो प्राणी नोकर्म और कर्मसे रहित, विभावगुणपर्याय से पृथक आत्मा को ध्याता है उस श्रमण के आलोचना होती है। इस अधिकारमें आलोचनाका वर्णन है; व्यवहारमें लोग अपने पापकी आलोचना करते हैं, जैसे कि आलोचना पाठमें बहुत विस्तार से वर्णन है निश्चय आलोचना क्या कहलाती है इसका वर्णन इस परम आलोचना अधिकारमें किया जा रहा है, आत्माका मात्र ज्ञाता दृष्टा रहना सो तो है वास्तविक परमार्थ व्रत और ज्ञाता दृष्टा न रहकर किसी अन्य विभावमें उपयोगको उलझाना यह है इसका अपराध। निश्चय अपराधकी आलोचना करना सो परम आलोचना है और व्यवहारिक अपराधकी आलोचना करना व्यवहारालोचना है। अपने आत्माका जैसा यथार्थ बोध है उस स्वरूपकी दृष्टि करें तो सच्ची आलोचना होती है।

आलोचनाकी निर्दोषताके चार स्थल होते हैं—आलोचना, आलुच्छन, अविकृतिकरण व भावशुद्धि। इन चारों का संक्षिप्त विधिमें कैसा परिचय कराया गया है। देखिये १०८ वीं गाथाके इन दो प्रवचनांशोंमें-पृ० १०१—आलोचना प्रकारोंके क्रममें आलोचन व आलुच्छन—दोषोंका निदर्शन करना, दोषोंका उखाड़ देना, अपने को विकाररहित करना और शुद्ध भावरूप परिणति होना, ये चार बातें दोषशुद्धिके प्रकरणमें क्रमसे आती हैं। इसी कारण आलोचना के इन चार लक्षणोंका यहां क्रम रखा गया है। यह कल्याणार्थी भव्य पुरुष प्रथम तो अपने दोषों का निवेदन करता , अपने से करे, जो जैसी पात्रताका है और जिस वातावरणमें आया हुआ, आलोचना करता है। ये दोष मैं नहीं हूं। मैं दोषोंसे रहित ज्ञानानन्दस्वरूप परमात्मतत्त्व हूं। ऐसा अपना संस्कार और ज्ञान करके उन दोषोंको उखाड़ फेंक दे, अपने उपयोगमें न रखे, यह हुआ आलुंछन।

अविकृतिकरण व भावशुद्धि—जब आलुंछन हो गया तो फिर जैसा साफ है तैसा अविकारी भाव रह गया, अब विकार नहीं रहा है, यह हुआ अविकृतिकरण। फिर जैसा शुद्ध भाव है, स्वभाव है, सहज भाव है, स्वरूपास्तित्वमात्र तद्रूप वर्तन लगे, यह हुई भावशुद्धि। इस तरह इस ज्ञानी साधु ने

आलोचनाके प्रसंगमें अपने को निर्दोष बनाया।

अपना अपराध परखिये और उसे दूर कीजिये, इसमें भलाई है, समझिये यह रहस्य ११३ वीं गाथाके एक प्रवचनांशमें, पृ० १३४–स्व अपराध व उसके निवारणका उपाय–हे आत्मन्, तुम अब किसी भी पर जीव को अपना अपराधी मत समझो। किसी को अपना अपराधी समझना ही अपने आप पर अन्याय करना है। कौन किसका अपराधी है ? सभी जीव अपनी अपनी कषाय के अनुसार अपना अपना स्वार्थ सिद्ध करने में लगे हुए हैं। तुम्हारा कोई बिगाड करने पर नहीं तुला है। यह सबकी आदत है कि अपना ही काम बनायें। सब अपना ही काम बना रहे हैं। मित्र हों, रिश्तेदार हो, परिजन हो, कोई भी हो, सरकार हो, सभी अपना काम बना रहे हैं। तू उन्हें बाधक समझता है। अरे तेरा बाधक तेरा राग परिणाम है। तुझे समादामें जो राग लगा हुआ है वह राग ही तेरा दुश्मन है। दूसरा दुश्मन नहीं है। तो जो भी विकार भाव उत्पन्न होते हैं महान अपराध होते हैं उनकी माफी कैसे हो सकेगी ? उनकी क्षमा मांगने का कोई तरीका भी है क्या ? वह तरीका यही है कि अब मैं विकार न करूंगा, मैं अपने निज अविकार स्वभावमें ही प्रसन्न रहूंगा। इस प्रकार के संकल्प से विकारोंको न होने देना यही विकारोंके अपराधोंका प्रायश्चित है। मुझमें रागादिक अपराध न हो, इसका उपाय भी है क्या कुछ ? हां है उपाय। निश्चयसे तो विकाररहित चिदानन्दस्वरूप आत्मतत्त्वका दर्शन करना, यह उपाय है, और व्यवहारसे व्रत, समिति, शील और संयमका परिणाम बने- जिससे विषय कषायोंके आने का अवसर न हो। ऐसी प्रवृत्तिको व्यवहार उपाय कहते हैं।

सहज अन्तस्तत्त्वके अवलम्बनमें परमलाभ समझिये अथवा पुराना ढचरा बदले बिना कल्याण न होगा, प्रेरणा लीजिये ११९ वीं गाथाके एक प्रवचनांशमें, पृ० १६१–परमलाभ–भैया, इस ज्ञानवैराग्यसे इस आत्मस्वरूपके आलम्बनसे इस भवमें भी आनन्द बरसता है और परभवमें भी आनन्दका समागम होता है। इस कारण प्रत्येक प्रयत्न करके अपने तन, मन, धन, वचन सब कुछ न्यौछावर करके एक इस सहज शुद्ध ज्ञानानन्द में आत्मस्वरूप का आलम्बन करना चाहिए और इस परम शरण की प्राप्ति के लिए ज्ञानार्जन में अपना चित्त लगाना चाहिए। जो कुछ भी प्राप्त है वे सब भी न्यौछावर हो जायें और एक यथार्थ तत्त्वज्ञानका अनुभव हो जाय तो उसने सब पाया। हम अरहंत सिद्ध के स्वरूप को क्यों पूजते हैं ? क्या उनके पास कुछ धन है ? अरे उनके बाह्य वैभव धन नहीं हैं, किन्तु आत्मीय ज्ञानानन्द की निधि उनके पूर्ण प्रकट हुई है इसलिए वे पूज्य है, धन्य है, कल्याणार्थियों के उपास्य हैं।

परमसमाधिकारकी प्रथम याने १२२ वीं गाथाके एक प्रवचनांशमें समझ बना लीजिये कि परम समाधि सुधाका पान सहजस्वरूपके ध्यानमें हो सकेगा। पृ० १६९–सहजस्वरूपके ध्यान में परम समाधिका अभ्युदय–जो आत्मा इस शुद्ध ज्ञायकस्वरूप अन्तस्तत्त्वका ध्यान करता है, बाहरी कुछ नहीं विचार करता, स्वयं का अपने आपने स्वभावसे जिसरूप है उस स्वरूपमें जो आत्माको ध्याता है उस पुरुष के परमसमाधि होती है। इस परमपारिणामिक भाव अथवा शुद्धअन्तस्तत्त्वके ध्यान करनेका साधन क्या है ? स्वयं ही अभेद वीतराग भाव। जो स्वभाव समस्त कर्मकलंकोंसे रहित है, जिसमें न तो ज्ञानावरण आदिक कर्म हैं और न रागद्वेषादिक भावकर्म हैं और न जिनमें प्रदेश परिस्पंदरूप क्षेत्रकर्म हैं, और न जिनमें जानन के परिवर्तनरूप भी कर्म हैं ऐसे उस कर्मकलंकमुक्त शुद्ध आत्मतत्त्वको जो ऐसे ही विशुद्ध ज्ञान ध्यान से ध्याता है उसके परम समाधि होती है।

समता अर्थात् सामायिक किसके स्थायी रहती है, इसका संक्षिप्त प्रकाश पाइये १३० वीं गाथाके एक

प्रवचनांशमें–पृ० २००–पुण्यपाप भावके त्यागमें समता–जो योगी पुण्य और पापरूप भावोंको नित्य ही त्यागता है उसके सामायिक स्थायी है, ऐसा केवली के शासन में क ा है। इसमें साक्षात तो पुण्यभाव और पापभावके सन्यासकी भावना है और उपचार से पुण्-कर्म और पापकर्म जो पौद्गलिक हैं उनके सन्यासकी भावना है। यह जीव जब शान्ति और उन्नतिके म ग में चलता है तब अपने ही शुद्ध परि-णामोंका कर्ता होता है। जो पुरुष पुण्य पाप रहित केवल ज्ञायकस्वरूप अपने आत्माका अनुभव करता है उसके कर्म स्वयं खि जाते हैं। जो पुण्य पाप भावोंको नित्य त्यागता है उसके सामायिक स्थायी है।

जरा लुटे पिटे इस प्राणी की तृष्णा तो देखिये १३४ वीं गाथाके एक प्रवचनांशमें, पृ० २१९–लुटे पिटेकी तृष्णा–जब किसी बड़े विधि वाले की बड़ी निधि हर जाता है तब उसको छोटी चीजमें बड़ी विकट तृष्णा उत्पन्न हो जाती है। कोई बड़ा पुरुष पापोदयसे अपनी निधिको गवां दे तो वह निधिको बड़े बेढगे ढंगसे गंवा देता है। सोना चांदी हीरा जवाहरातको वह दूसरे के यहां भी गिरवी नहीं रखता है। दूसरोंके हाथसे दूसरोंके यहां गिरवी रखाता है। जब निर्धन हो जाता है और खपरा बिकने लगते है तो वह उन खपरोंको भी गिन गिन कर देता है। अरे पहिले जब निधि लुट रही थी तब रंच भी परवाह न करता था, आज जब बड़ी निधि लुट गई तो छोटी चीजोंकी तृष्णा हो जाती है। अपने स्वभाव की भक्तिसे सब विषय कषाय शान्त हो जाते हैं और गुनी हुई आनन्दकी अनन्त निधि प्राप्त हो जाती है।

आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्षकी ज्ञानविलासमें ही मुद्रा देखनेकी दृष्टि करके पढ़िये जरा १३९ वीं गाथाका एक प्रवचनांश–पृ० २३७–ज्ञानविलासमें पंच तत्त्व–अब इस निश्चयनयमें भी के ल निज स्वरूप और निजस्वरूपके विलासमे इन पांच तत्त्वोंको देखो तो वहां एक समृद्धि बर्द्धक एक रचना मालूम पड़ेगी। यह आत्मा ज्ञानस्वरूप है, सहज निज ज्ञानाकार रूप है, सहज ज्ञानस्वभावमय है, यह ज्ञायक-स्वरूप आत्मा अपने आपमें परवस्तुओंके जाननेका परिणमन करता है, इसमें अन्य पदार्थ ज्ञेयरूप प्रति-भास होते हैं। इस ज्ञानमें पर ज्ञेय आता है। जो शाश्वत है वह तो होता है आधार जो आये जाये उस को कहते हैं आना जाना, अध्रुव चीज। इस ध्रुव ज्ञानमें यह अध्रुव ज्ञेय आता। ध्रुवमें अध्रुवका आना सो आस्रव है। यह अन्त: निश्चयकी बात कही जा रही है (इस ज्ञानमें इन ज्ञेयोंका रह जाना अर्थात् उनका बने रहना सो है बन्ध। ज्ञान में ज्ञेय का न आना, किन्तु ज्ञान केवल ज्ञानस्वरूपको ही ग्रहण करके ज्ञान ज्ञानमें एक रस रहा करे, इसका नाम है सम्वर और उन ज्ञेयवारोंका छोड़ना निर्जरा और चिरकाल तक ज्ञान ज्ञानाकार रूप ही बना करे, उनकी ओर न झुके, इसका नाम है मोक्ष। भया, कई प्रकारोंसे इनजीवादिक सात तत्त्वोंका परिज्ञान करना और उनके स्वरूपमें विपरीत आशयको त्याग देना इसका नाम है योग और आत्मकल्याणकी साधना।

क्या क्या करना आवश्यक है, जरा आवश्यक शब्दके अर्थ से ही समझ लीजिये, पढ़िये १४२ वीं गाथाका एक प्रवचनांश, पृ० २५३–आवश्यक शब्दका वास्तविक मर्म और विकृत अर्थ रूढ़ होनेका कारण–ये योगीजन जिन्होंने आत्मासे योग बनाया है उन्हें कहते हैं योगी। जो भले प्रकार योगी बने हैं उन्हें कहते हैं योगीश्वर। जो योगी अपने आत्मग्रहणके अतिरिक्त अन्य किसी भी भावका, किसी भी पदार्थ का विषयाधिनत्व स्वीकार नहीं करता है उस पुरुष को अवश कहते हैं और उस अवश परमयोगीश्वरोंके-जो काम हो रहा हो उस कामको आवश्यक कहते है। यु उस योगीका क्या काम चल रहा है एक आत्माका दर्शन आत्माका ज्ञान और आत्माका ही आचरण रूप शुद्ध चिद्विलासरूप पु पार्थ चल रहा

है. यही है परमआवश्यक। आवश्यक नाम परिणतिका है अर्थात् मुझे आवश्यक काम पड़ा है, ऐसा कोई कहे यो उसका अर्थ यह लगाना कि मुझे मोक्षके उपायका काम पड़ा हुआ है, यह है सही सही अर्थ, जब कोई आवश्यक शब्दको विषय साधनोंकी ओर ही लगा दे तो इसके लिए क्या किया जाय, जैसे कुबेर शब्द बड़ा उत्तम है। जो पुरुष उदार है, दान करता रहता है, ऐसे पुरुषको लोग कुबेर की उपमा देते हैं, और कोई कजूस धनी हो, जिसकी कजूसी नगर भर को विदित है और उससे कोई कहे कि आइये कुबेर साहब तो वह सरमके मारे गड़ जायगा। और अपने को गाली मानेगा, मुझसे ये लोग मजाक करते हैं। अरे शब्द तो उत्तम बोला, पर अयोग्य पुरुष के लिए बोला इसलिए वह शब्द गाली और मजाक बन गया है। इसी प्रकार आवश्यक शब्द बड़ा उच्च है, आवश्यक कहो या मोक्षमार्ग कहो, दोनों का एक अर्थ है, लेकिन इस मोही प्राणी ने अपने खाने पीने, विषय भोगोंकी बातोंमें आवश्यक शब्द बोल दिया है और इससे यह आवश्यक शब्द मोही जगतमें अपनी अन्तिम सांस ले रहा है। अब इस शब्दमें जान नहीं रही।

(१७२) सरल दार्शनिक प्रवचन

इस पुस्तकमें पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराजके कुछ दार्शनिक प्रवचनों का संग्रह है। जिस पुरुषने सुदर्शनके बलसे अपने आपमें आत्ममर्मका दर्शन किया है उसकी कैसी धुन अपनी ओर रहती है इसका दिग्दर्शन कीजिये एक प्रवचनांश, पृ० २५-जैसे किसी दुकानदारको अपने उसी कामसे फुरसत नहीं है उसी दुकान पर ही दृष्टि है तो दुकानदार आने वाले अन्य पुरुष यदि कोई और चर्चा करने लगें तो वह दुकानदार उनसे कह देता है कि जावो मुझे फुरसत नहीं है। उसी प्रकार ज्ञानस्वभावमात्र आत्माके स्वरूपको जान लेने वाला पुरुष पूर्वमें बांधे हुए कर्मों के उदय आने पर कहता है कि मुझे तुम्हारी चिन्ता नहीं, तुम जावो, मुझे समय नहीं तुम्हारी तरफ उपयोग देनेको। मैं तो अपने ही ज्ञानस्वभावकी पूजामें लगा हूं। ज्ञानी जोव कर्मफलके प्रति उदासीन है। रागद्वेष सुख दुःख आते हैं, परन्तु ज्ञानी जीव उनका ज्ञाता दृष्टा रहता है। वह सब जान रहा है यह भी एक परिणमन है। उपाधि उदयके निमित्तको पाकर आया है, वह्ो उदय तो पूरे क्षण नहीं रहता सो यह अभी निकल जायगा। इससे मुझे चिन्मात्र सहज परमात्माका कोई सम्बन्ध नहीं है।

ज्ञानकी महिमाका अन्दाज कीजिये, एक प्रवचनांशमें—पृ० ३१-अहो, विश्वमें यह सब कुछ उजेला ज्ञानका ही तो है। कल्पना करो कि यह चमकना व न चमकता सब कुछ भौतिक पदार्थ होता और एक ज्ञानवान (चेतन) तत्त्व अथवा ज्ञान न होना तो इस सब उजेले का कुछ व्यवहार भी होता। इतना ही क्यों ? यदि ज्ञान, अर्थात् ज्ञानी तत्त्व न होना तो यह चमकता वर्गणाओंको अंगीकार करता तब इन पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति व त्रसशरीरोंका निर्माण होता है। अहो, विश्वमें यह सब चमत्कार ज्ञानका ही तो है और देखो ये भीतर जो कल्पनायें चल रही हैं, रागद्वेष परिचय आदि चल रहे हैं वे सब कुछ भी इस ज्ञानके सहारे ही तो हैं। दुनियामें जो कुछ भी व्यवहार चल रहा है वह सब कुछ ज्ञान का ही तो कोई प्रसाद है।

ज्ञानदेवताका जयवाद ध्यानमें लाइये एक प्रवचनांशमें—पृ० ३५-अहो ज्ञानदेवते, तुम्हारा ही आलम्बन सत्यशरण है। तुम्हारा ही दर्शन सत्य आनन्दका स्रोत है। तुम्हारी ही उन्मुखता होना सम्यक्त्वका उपाय व सम्यक्त्वका फल है। शिवपद तुम्हारे ही प्रसादके अनन्तर निकट होता जाता है, निर्वाण प्राप्त कर लिया जाता है। हे ज्ञानदेवते, तुम सदा मेरे उपयोग आसनमें विराजे रहो। आनन्दका अविनाभाव

ज्ञानके साथ है। शुद्ध ज्ञानके क्षणमें शुद्ध आनन्द बर्तता ही है। अतः आनन्दलाभकी दृष्टिसे भी ज्ञानकी सर्वोपरि महिमा है। ज्ञानमय इस आत्मा का ज्ञानस्वरूप ही सवस्व है। इस मेरे का ज्ञानस्वरूपके अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है। भेदविवक्षावश कहे जाने वाले अस्तित्वादि सामान्यगुण व चारित्रादि विशेष गुण हैं वे ज्ञानकी ही विशेषतायें हैं अथवा ज्ञानस्वभावका वर्णन विवृत करने के लिए विशेषण-स्वरूप है। ऐसे इस ज्ञानस्वभावकी महिमा जानने वाले ज्ञानपरिणमनकी भी अनुपम महिमा है। हे ज्ञानानन्दमय आत्मन्, तुम सदा ज्ञानपथगामी होओ। तेरा ही ध्यान बना र नाही सत्य बरणकी स्थिति है। शुद्ध ज्ञानस्वरूपका ज्ञान होना ही शुद्ध आनन्दका हेतु है। ज्ञानके सिवाय अन्य कुछ तत्त्व आनन्द का हेतु नहीं। शुद्ध ज्ञान के ज्ञान में वीतरागता का स्वरूप ही है। यही वीतराग विज्ञान आनन्द का स्थान है। हे ज्ञानदेवते, सदा इस उपयोगमें विराजमान होकर इस अपने आधारभूत आत्माकी रक्षा करो।

वस्तुनिर्णयमें स्याद्वादका सच्चा सहारा है, परखिये एक प्रवचनांशमें, पृ० ३८-अनेक धर्मात्मक वस्तुको जाननेकी पद्धतिको स्याद्वाद कहते हैं। स्याद्वादका दूसरा नाम अपेक्षावाद भी हैं। वस्तुमें अमुक धर्मकिस अपेक्षा सेहैंइसप्रकारअपेक्षाको बताना सोस्याद्वाद है। जैसेआत्मा ज्ञानशक्तिकी अपेक्षासे ज्ञानस्वरूप श्रद्धाशक्ति की अपेक्षासे श्रद्धास्वरूप है, चारित्रशक्तिकी अपेक्षासे चारित्रस्वरूप है, आनन्दशक्तिकी अपेक्षासे आनन्द स्वरूप है। द्रव्य दृष्टिसे नित्य है। परिणामदृष्टिसे अनित्य है। लक्षणदृष्टिसे एक है। गुण प्रायः दृष्टिसे अनेक हैं। अपने स्वरूपकी अपेक्षासे सत् है, परके स्वरूपकी अपेक्षासे असत् है आदि। स्याद्वाद संशय उत्पन्न नहीं करता, किन्तु निश्चय करता है कि अमुक की अपेक्षासे ऐसा ही है। स्याद्वाद विना न तो कुछ निर्णय हो सकता है, न कोई व्यवहार ही चल सकता है। अमुकका पुत्र है, अमुकका पिता है इत्यादि व्यवहार चलते हैं जिस स्याद्वाद द्वारा उस स्याद्वाद द्वारा ही वस्तुओंका निर्णय होता है। स्याद्वादके आश्रयसे ही हम वस्तुका सम्यक् निर्णय करते हैं और सम्यक् निर्णय से ज्ञानी भेदभाव नष्ट करके शाश्वत आनन्दका उपाय कर लेते हैं।

(१७३) आत्मानुशासन प्रवचन प्रथम भाग

परम पूज्य श्री गुणभद्राचार्य द्वारा प्रणीत आत्मानुशासन ग्रन्थपर पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराजने प्रवचन किये हैं। इसमें आत्मा पर अनुशासन किया है जिस प्रकार के ज्ञान और आचरणसे संसार संकटों से सर्वथा छुटकारा होता है उस प्रकार से आत्माको सम्बोधित व अनुशासित किया है। विषयरुचिक पुरुषोंका आत्मानुशासन मधुर नहीं जचता, सो उनका भय किस प्रकार मिटाकर उन्हें हित प्राप्त कराया जायगा, इसे देखिये छन्द ३ के प्रवचनांशमें-पृ० ७-अभीष्टताके प्रति भयनिवारण-यद्यपि इस उपदेशमें कदाचित् ऐसा भी मालूम पड़े कि यह वर्तमानमें ऐसा कटु लग रहा है, लेकिन इसका भय न करना, क्योंकि इसका फल मधुर होगा। जैसे किसी रोगकी औषधिमें कोई औषधि कड़वी भी हो तो रोगी उस कड़वी औषधिको भी पी लेता है, क्योंकि उस औषधिका परिणाम मधुर निकलेगा। इसी प्रकार इस उपदेशमें कुछ कटुता भी मालूम पड़े लेकिन इसका विपाक बड़ा मधुर है। उससे तू रंच भी भय मत कर। जो चतुर रोगी होता है वह कड़वी औषधिको-आगे आराम होगा, ऐसे भावके वश ग्रहण कर लेता है, डरता नहीं है। ऐसे ही तू स्याना बना और इस शास्त्रमें कोई उपदेश असुहावना भी लगे तो भी उससे सुख होगा, आनन्द दशा होगी, ऐसा जानकर रंच भी मत डर।

उपदेशका लाभ ले सकने वाले श्रोताकी एक विशेषता का परिचय कीजिये श्लोक ७ के एक प्रवचनांशमें-पृ० ३३-३४-हितचिन्तना-श्रोताकी विशेषता बतायी जा रही है, श्रोता का यह चिन्तन हो, ध्यान ही

कि मेरा हितरूप कर्तव्य क्या है, मेरी कुशलता किसमें है–ऐसे जो अपने विचार रखते हों वे सब श्रोता उपदेश से लाभ ले सकते हैं। कोई इस दृष्टिसे शास्त्र सुने कि देखें तो सही कि यह वक्ता क्या बोलता है, किस ढंगका इसमें ज्ञान है जैसे कोई चक्षु इन्द्रियको तफरी करता हो, कर्णेन्द्रिय की तफरी करता हो, इतना ही मात्र लक्ष्य हो तो भला उस उपदेशसे लाभ तो नहीं मिल सकता है, अथवा जिसका यही परिणाम हो कि देखो कोई गल्ती यह बोल जायें, बस हम इनकी गल्ती पकड़ करके रोक देंगे और इन के मुकाबलेमें अपनी प्रतिष्ठा बढ़ायेंगे, ऐसा परिणाम रखकर जो प्रवचनशास्त्रको सुनने वाला हैं वह उपदेशका लाभ तो नहीं ले सकता है।

पुनश्च पृ० ३५–हिताहित विचारकता–भैया, इतना कष्ट करके तो श्रोता घर छोड़कर आया है, आध पौन घंटेका समय इसने लगाया है. आखिर कुछ श्रम तो किया है, कुछ त्याग तो किया है, यह त्याग और श्रम उसका सफल होगा जो अपने हितकी वाञ्छा रखकर श्रम करता हो। एक हित भावना से दूर होकर कुछ भी विचार चित्तमें लेकर यह उद्यम करे तो दोनों ओर से गया। घर भी छोड़ा, श्रम भी किया, विकल्प भी बनाया, पापोंका बन्ध भी किया, ऐसे श्रोताने कुछ भी तो हित की बात नहीं पायी। जो श्राता अपने हित और अहित का विचार रखता हो वह हिताभिलाषी श्रोता है।

धर्मकी पहिचानकी संक्षिप्त झांकी देखिये–श्लोक ८ के एक प्रवचनांशमें–पृ० ६३–ज्ञातृत्व सम्पदा–जो जैसा है उसे उस ही रूपसे जानते जाइये, चाहें कुछ नहीं अपने लिए। अरे यथार्थ जाननेसे बढ़कर और वैभव ही क्या है? क्यों हम कुछ चाहें। जो जैसा है वैसा ज्ञानमें आता रहे इससे बढ़कर और क्या सम्पदा है? जब किसी प्रकार की चाह नहीं रही तो वहां आकुलताका फिर काम ही क्या है? सब धर्मोंमें एक मात्र धर्म यह ही है कि निज ज्ञानानन्द स्वरूपमें अपनी प्रतीति और अपना आचरण हो अर्थात् मात्र समस्त वस्तुवोंके ज्ञाता द्रष्टा रहने के लिए हमारा जो भी यत्न होता है वह सब धर्म कहा जाता है।

उपदेशका मूल स्रोत प्रभु हैं, वे वीतराग हैं फिर उपदेश कैसे बन जाता है उसका संक्षेपमें समाधान पाइये, श्लोक ९ के एक प्रवचनांशमें, पृ० ६५–उपदेशका मूल स्रोत इन सकल परमात्मा ने चूंकि श्रमण अवस्थामें अथवा इससे पहिले लोगों के उपकार की भावना की थी, इस कारण इनके इस प्रकार की प्रकृति का बन्ध हुआ कि सकल परमात्मा प्रभु हो जाने पर जो वचनके योगवश उनकी दिव्यध्वनि खिरती है। देखलो भैया, कर्मोंका फल भी किस किस रूपमें प्रकट होता है। भव्य जीवोंके तो पुण्यका उदय है और प्रभु में पुण्य प्रकृति के उदयवश जो वचनयोग चल रहा है ध्वनि हो रही है इसे कहते हैं श्रुत।

भोग संकटविपाकी दवा है, संकटनाशक औषधि नहीं है, पढ़िये श्लोक १० वें के एक प्रवचनांशमें, पृ० ७ - संकटविपाकी दवा–यह इच्छा मिटती है तो मनुष्यको चैन मिलता है। जब तक इच्छा रहती है तब तक चैन नहीं है। जैसे औषधि और दवाई ये दो चीजें होती हैं। दवा तो नाम है जो रोगको दवा दे, जड़ से रोग न मिटे उसका नाम दवा है। कहीं ऐसा न हो कि योग्य चिकित्सक को पता पड़ जाय, सो रोगी को ऐसी दवा पिला दो जिससे रोग अच्छी तरह से इसके अन्दर बना रहे। रोग बना रहे, नष्ट न हो यह है दवाका काम। जब कि औषधिका काम है कि उस रोगको मूलसे नष्ट करदे। रहे नहीं। ऐसे ही इच्छाका विषयभोग कर इस इच्छाको दबा दिया जाय तो थोड़ी देर चूंकि इच्छाका व्यक्तरूप सामने नहीं है इसलिए कुछ सुख मालूम होता है लेकिन भोग भोगना उस इच्छा रोगको नष्ट करने की

औषधि नहीं है, किन्तु इच्छा रोगको दबा देने की एक दवा है।

जरा कर लों अपनी परख, श्लोक १६ वें का एक प्रवचनांश, पृ० ९७–अपनी परख–देख लीजिये–यदि कषायोंमें, विषयोंमें फर्क आया हो तब तो समझो कि हमने पद्धति से धर्मपालन किया है, नहीं आता है फर्क तो खोज करना चाहिए कि कौन सी त्रुटी इसमें रह गई है–जिस एक त्रुटिके बिना सारा यंत्र चला देने पर भी गाड़ी नहीं चलती है। वह कौन सी त्रुटि है ? वह त्रुटि है मोह नहीं मिटा है। अपने आप को सबसे न्यारा ज्ञानमात्र नहीं जान पाया। यह मूर्ति शरीर, ये मूर्त कल्पनायें ये रागादिक विभाव, इन्हीं रूप अपने को माना और इसी मिथ्यात्वकी प्रेरणासे हमने धर्मको साधना की। धर्मप्रीति की प्रेरणा से नहीं की, किन्तु मान पोषणके लिए अपना विकल्प कल्पनामें जो कुछ भी अपनी ख्यातिके साधनभूत समझा उसके लिए उसने धर्मसाधन किया है और यही कारण है कि अनेक वर्ष गुजर जाने पर भी कषायोंमें अन्तर नहीं आ पाता है।

मोहमें मायाकी मायामय चाह, जरा इसका नाटक देखिये श्लोक–१७ के एक प्रवचनांशमें–पृ० १०२–मोहमें मायाकी मायामय चाह–अनन्त सामर्थ्यवान यहआत्मा है, जिसका ज्ञान विकसित हो तो त्रिलोक त्रिकालको एक साथ जाने, जिसका आनन्द विकसित हो तो उसमें वेदनाकी रंच भी तरंग नहीं उठती। पूर्ण निराकुल स्थिति उसके रह सकती है किन्तु एक अपने आपकी खबर रखकर बाह्य पदार्थोंको बड़ा महत्व देकर वह अपनी सुध बुध सब खो चुका है। यह मायामय–अपवित्र घिनावने शरीरको निरख निरखकर अपना ज्ञान बढ़ाना चाहता है। मेरी इन सबमें एक विशेष शान रहे। अरे तेरी शान नहीं रह सकती। तू यहां ज्ञान चाहता है तो वह सौलह आने निश्चित है कि तेरी शान रह नहीं सकती। तू बनायेगा शान तो काठकी दीवार पर खड़ी हुई यह शान की छत कितने दिन टिकेगी। प्रकृतिमें अन्याय नहीं है। जहां जैसी जो कुछ विधि बनती है उस विधि के अनुसार वे सब बातें होती हैं। तू अपनी कल्पनाओंमें भले ही कुछ मान ले, पर न्याय तो न्याय ही है।

लोकजनोंको सुखबीजके रक्षणका संदेश, पढ़िये २१ वें श्लोकके एक प्रवचनांशमें, पृ० १२३ दृष्टान्तपूर्वक सुखबीजरक्षणका समर्थन–चतुर किसान तो विचार करता है कि जो अन्न खेत से उत्पन्न होता है वह बीजसे उत्पन्न होता है। कुछ भी इस उत्पन्न अनाजमें से बीज रख लेंगे तो आगे भी अन्न की प्राप्ति होगी। यों विचार कर वह चतुर किसान बीजको रखकर अन्न को भोगता है। थोड़ा कभी कम खाकर भी गुजारा करना पड़े तो भी उसे इष्ट है, मगर बीज रखना कभी नहीं भूलता ऐसे ही ये जितने भी सुख हैं ये सब धर्म के प्रसाद से मिले हैं। धर्म न होता तो इन्द्रियविषयोंका अच्छा साधन न मिलता। उसकी प्राप्ति न होती। हे कल्याणार्थी भव्य पुरुष तू सयाना बन। ये समागम जो विनश्वर हैं। तू इन में प्रीति मोह करके मूढ़ मत बन। जो कुछ भी मिला है वैभव तुझे, धर्म के प्रसाद से पुण्य के अनुकूल मिला है, उस धर्मको नहीं निहारता है। सुखमूल धर्मकी रक्षा कर। वर्तमान परिस्थितिके अनुकूल और उदयवश जो कुछ भोगना है सो भोग लो, किन्तु धर्मको न बिसारो। अब भी धर्म रखोगे, साधोगे तो आगामी काल में भी सुख की प्राप्ति होगी। इस कारण धर्म की रक्षा करते हुए सुख भोगना चाहिए।

(१७४) आत्मानुशासन प्रवचन द्वितीय भाग

इस पुस्तकमें आत्मानुशासनके २१ वें छन्द से ५५ वें छन्द तक के पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराजके प्रवचन हैं। इसमें आत्मा पर अनुशासन किया है आत्महितके लिए। देखिये–३४ वें श्लोकके एक प्रवचनांशमें कितने संक्षिप्त शब्दोंमें धार्मिक जीवन बितानेकी शिक्षा दी गई है। पृ० ६७–धार्मिक जीवन की

सिद्धिसाधकता—धर्मकी प्रीति ही हम लोगोंको शान्ति में पहुंचानेमें समर्थ है। अन्य पदार्थोंकी प्रीति तो धोखा, छल, विकार सभी अवगुणोंसे भरी हुई है। अन्यत्र आस्था न करें, अपने आपको धर्मपालनमें लगावें। परिणाम बने, पुण्य कर्म हो, धर्मकी दृष्टि जगे-ऐसे पवित्र भावों सहित यदि यह जीवन बीत जाय तो यह बड़े सुभवितव्यताकी बात होगी। इस जीवनको धर्मपालनके लिए ही मानें, धनसंचय भोग भोगना आदिक सांसारिक महत्वियतोंके लिए अपना जीवन न समझें।

विषयोंमें जो अन्धा है वही वास्तवमें अन्धा है, उसे प्रभुदर्शन कैसे हो सकते हैं, देखिये श्लोक ३५ वें के एक प्रवचनांशमें, पृ० २३—विषयान्धमें प्रभुदर्शनकी अपात्रता—विषयोंमें सुख क्या है? कुछ नहीं। केवल कल्पनामात्र है, और कष्ट कितना भोगता है यह काम पुरुष? रात दिन चिन्ता, वेदना, शंका बनी रहती है। और की बात तो जाने दो, शस्त्रोंसे हथियारोंसे मृत्यु भी हो जाती है, यह विषयान्ध पुरुष कुछ भी हित अहितका नहीं देखता है। यदि किसी मानवमें विषयोंका अंधपन न रहे, आत्मबल प्रखर रहे और हित अहितके विवेकमें सावधान रहे तो उसे प्रभुके दर्शन सुगमतासे हो सकते हैं, पर जो विषयरत पुरुष है वह प्रभु दर्शनका पात्र नहीं है। उसे शान्ति और सन्तोष भी हो नहीं सकता है। यह विषयोंका अन्धा ही वास्तविक अन्धा है।

मोहके वशमें प्राणी बाधाको साता मानते है, उनका सम्बोधन पढ़िये श्लोक ३८ वें के एक प्रवचनांशमें, पृ० ४४—बाधाको साता माननेका मोह—बाह्य पदार्थोंमें दृष्टि रखनेसे आनन्दमें कमी हुई है, पर ये मोही जीव आनन्द को कमी होने वाली परिस्थितिको ही सुख समझकर और जिन बाह्य पदार्थोंके आश्रयसे उनके आनन्दमें कमी हुई है उनका उपयोग बनाकर कल्पनामें सुखी होते हैं, उन्हीं के गुण गाते रहते हैं, अपने गुणोंकी सुध नहीं रखते। मायामयी स्कधों के ही गुण गाते हैं। कैसा सुन्दर मकान है मेरा, कितनी अच्छी डिजाइनका बनवाया है। अरे ये बाहरी चीजें हैं इनको तू अपना बतलाना चाह रहा है। अरे तू अपने आपका श्रेष्ठ उत्तम बना। जैसे तेरा आशय निराला बने वैसा आशय कर। धर्म के प्रसाद से आत्मा का उद्धार भी होता है और संसार के सुख भी सामने आते है, इन में दुतर्फा लाभ है, हानि की तो कोई बात ही नहीं। उस धर्म से इतने बाहर क्यों भागे जा रहे हैं? धर्म का आश्रय कर।

शान्ति अशान्ति सब अपने विचारों पर निर्भर है, मनन कीजिये श्लोक ३६ वें का एक प्रवचनांशमें, पृ० ५२—परिणमन विधिमें भावकी प्रधानता—देखो भैया, केवल भावों भर की बात हैं, चीजें सब जहा की तहां हैं। कहीं पर वस्तुको अपना सोच लेने से अपना हो नहीं जाती। स्वरूप सब का जुदा जुदा है। हां जैसा है तैसा समझ लेवे तो उसमें शान्ति है। हम अपने ही ज्ञान और आनन्द भोगते हैं। पर भ्रम कर लिया जाय कि दूसरे का आनन्द भोगता हूं तो उसे जीवन भर पिसना ही पड़ेगा। क्योंकि दूसरे दूसरे ही है। वे हमारे आधीन हो नहीं सकते। हम कुछ चाहते हैं, दूसरे अपने ही रूप परिणम रहे हैं। हमारा किसी पर स्वामित्व नहीं है। हम किसी के स्वामी बनें तो उसमें आकुलता ही भोगनी पड़ती है। जब भावों से ही सब कुछ है तो अपने भाव निर्मल क्यों न बना लिये जायें।

प्रभु मिलनकी धुन हो तो प्रभु मिलन हो जायगा, युक्ति बनाइये, पढ़िये ४२ वें छन्दका एक प्रवचनांश—ज्ञानबल और प्रभुमिलन—भैया, मिल लीजिये जिससे मिलना हो। प्रभुसे मिलना हो तो प्रभुसे ही मिलने की धुन बनाओ और बाह्य पदार्थोंसे ही मिलना है, स्त्री पुत्रादिक से ही मिलना है तो उनसे ही मिलने की धुन बनाओ, दोनों बातें एक साथ न निभ सकेंगी, कारण यह है कि प्रभु तो वीतराग निष्कलंक हैं

हैं और परिजन, मित्रजन सराग और सकलंक हैं। एक ही उपयोगमें निष्कलंक और सकलंक दोनों का विराजना हो जाय, यह हो नहीं सकता है। विवेक बनायें तो ज्ञानी गृहस्थ पुरुष भी समस्त कार्यों को करते हुए भी उपयोगमें प्रभुस्वरूपको बसाये रह सकते हैं। ऐसी सामर्थ्य तत्त्वज्ञानमें बनी हुई है। एक तत्त्वज्ञान ही शरण है। तत्त्वज्ञानको छोड़कर बाह्य पदार्थों से आनन्द की आशा रखना विष खाकर जीने की आशा रखने की तरह है। कदाचित् विष खाकर भी कोई जीवित रह जाय यह सम्भव है, किन्तु यह सम्भव नहीं है कि पर पदार्थ में मोह करके शान्ति पा सकें।

स्वात्मप्रवेशका यत्न देखिये छन्द ४८ वें के एक प्रवचनांश में–पृ० ९८–स्वात्मप्रवेशका यत्न–मैं वह सत् हूं जैसा कि सबमें बना हुआ है। मैं सबसे विलक्षण नहीं हूं। जो सब हैं सो मैं हूं। जो मैं हूं सो सब है, ऐसे निर्विशेष चैतन्य चमत्कारमात्र जीवके स्वरूपमें अपने उपयोगका प्रवेश करायें और परवस्तुके मोह से दूर रहें, विश्राम लें, आत्माके अनुभवका सन्तोष पायें, इसी में वास्तविक बड़प्पन है। यह काम केवल विचार करने से हो जाता है। इसमें किसी दूसरे की रुकावट भी नहीं है। दूसरे पुरुष तो जान भी नहीं सकते कि मैं क्या कर रहा हूं। अन्दर में तो ज्ञानबलसे अपने आपके प्रकाशमें रह रहा हूं, इसे कोई रोक नहीं सकता। इसमें कोई विघ्न डाल नहीं सकता। हम ही भ्रम करें, कल्पना बनायें तो हम ही अपने विघ्न करने वाले होते हैं। सारभूत बात इतनी है कि हम आप सब को अन्त में इस निर्णयमें आना चाहिए कि मैं तो ज्ञान और आनन्द भावसे रचा हुआ सत् हूं। ज्ञानमय हूं, आनन्द–मय हूं।

इस जीवका कितना महान अपमान हो रहा है, कहां कहां जन्म ले रहा, वह सब भगवान आत्माका अप–मान ही तो है। इस अपमान पर मोही जीव खेद भी नहीं मानता। देखिये विडम्बना छन्द ५८ वें के एक प्रवचनांश में–पृ० १३२–मोहमें यथार्थ अपमानपर खेदका अभाव–भैया, दूसरे के द्वारा कभी कोई अपमान भरी बात सुननेमें आये तो वह आग बबूला हो जाता है, तो खुद नाना कुयोनियोंमें जन्म मरण करता फिर रहा है। इतना बड़ा अपमान हो रहा है। इस अपमानको मिटानेकी दृष्टि नहीं जगती, इन समस्त संसरणोंका मूल कारण है कुबुद्धि। हम अपने आपमें सन्तोष करना नहीं जानते। यह स्वयं सन्तोष करने लायक है, क्योंकि आनन्दघन है। स्वयं अपने आपमें अपने महत्त्वका सन्तोष नहीं जग रहा है। तब बाहरी पदार्थों में हितबुद्धि करके यह तृष्णामें बढ़ रहा है, पर तृष्णासे कभी भी पूरा पड़ा है क्या?

(१७५) आत्मानुशासन प्रवचन तृतीय भाग

इस पुस्तकमें आत्मानुशासन ग्रन्थके ५६ वें छन्द तक के पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराज के प्रवचन हैं। मोहरूपी अग्नि कैसी प्रबल और विलक्षण है इसका चित्रण देखिये ५६ वें छन्दके एक प्रवचनांशमें, पृ० १–आत्महितैषी आत्माओंपर अनुशासन–इस आत्मानुशासन ग्रन्थमें शान्ति की ओर झुके आत्माओं पर अनुशासन किया गया है। जगत के जीव अशान्ति से भरपूर हो रहे हैं। यह मोह रूप अग्नि ऐसी उत्कृष्ट जाज्वल्यमान है कि इस मोह अग्नि को विषयों का ईन्धन मिले तो बढ़ती है और विषयों का ईन्धन न मिले तो यह बढ़ती है। इस मोह अग्नि से सब दुःखी हैं। दुनिया की अग्नि को यदि ईन्धन मिले तो जले, ईन्धन न मिले तो बुझ जाय, किन्तु मोहाग्नि को तृष्णा के विषय का ईन्धन मिले तो जले न मिले तो जले, इस ही प्रकार यह जीव दुःखी है। किन्हीं विषयोंकी इच्छा हो, धन वैभव के संचय की अभिलाषा हो तो इस तृष्णा में यदि वैभव मिल गया तो तृष्णा बढ़ेगी। १०० से हजार हों, लाख हों और न मिले वैभव तो वैभव के न रहने के कारण दुःखी हैं। अब और क्या करें। मिले तो दुःख न

शरीर का सम्बन्ध न रहे, केवल अकेला रह जाय तो क्लेशका अभाव है, पढ़िये ५८ वें छन्दका एक प्रवचनांश, पृ० ११-केवल रहनेमें क्लेश का अभाव-हे हितार्थी आत्मन्, इस देहको चित्तमें न विचारो। अपनी इन्द्रियोंको संयत करके और विशेष करके आंखोंको बन्द करके अपने आपमें कुछ भीतर निरखो जहां केवल एक कुछ उजाला सा और बादमें कुछ ज्ञान ज्योति सी अनुभवमें आयगी। इतनेमें यह मैं हूं, ऐसा स्वीकार करके फिर चिन्तन करिये कि यदि मैं केवल ज्ञानप्रकाशमात्र ही रहा होता और शरीरका सम्बन्ध न होता तो मुझे कोई आकुलता हो न थी। लोग भूखके दुःखसे तड़फते हैं। यह भूख क्यों लगी है? शरीरका सम्बन्ध है, इसलिए लगी है। प्यास, ठन्ड गर्मीके राग आदिक सब वेदनायें क्यों होती हैं? शरीरका सम्बन्ध है इसलिए हुआ करती हैं। यहां तक कि किसी घटना के कारण अपमान सम्मान समझते हैं। अपमान समझकर दुःखी होना या नामवरी की चाहका क्लेश होना आदिक सब दुःख क्यों होते हैं? शरीरका सम्बन्ध है और इस शरीरको निरखकर ऐसा मान रखा है कि यह मैं हूं, इस बुद्धिसे फिर दुःख होने लगता है।

शरीरका जेलखाना और उसका बन्दी, देखिये ५९ वें छन्दके एक प्रवचनांशमें, पृ० १९-बन्दीगृह का बन्दी-यह शरीर रूपी जेलखाना दुष्ट कार्यरूपी वैरियों से रचा है और इसमें बन्धा हुआ जो यह जीव है इस जीवको जकड़ रखा है आयुकर्म की बेड़ी ने। यह जीव शरीरमें बद्ध है, पर यह कब तक यहां बन्धा रहेगा? उसका विशेष बन्धन आयुकर्म ने किया है। जितनी आयु होगी उतने समय तक शरीरमें रुका रहेगा। लोकमें जेलखाना दुःखका कारण है। जेलखानेकी और देहकी उपमा देखो। करीब करीब बराबर की मिलती है। यह जेलखाना मिट्टी पत्थर से बनाया गया है। तो यह शरीर हड्डियोंसे घड़ा गया है। वह जेलखाना बन्धनसे भेड़ा गया है तो यहां शरीर नसों से भेड़ा गया है। जेलखाना सीमेन्ट पलस्तर आदिक जो कुछ भी हों उनसे आच्छादित है और यह शरीर चमसे आच्छादित है। यह रुधिर मांस करके लीपा गया है। शरीर दुष्ट वैरियों से रचा है। वायु रूपी बेड़ी से सहित है, बन्दीगृहसे कौन बुद्धिमान प्रीति करेगा? तू मोहमें पगा है। ऐसे शरीर रूप बन्दीगृहसे भी तू प्रीति करता है, इस से प्रीति करना उचित नहीं है।

प्रभुपूजा करते हुए मैं अपने लिए क्या शिक्षा लेना है, पढ़िये-पृ० ३१-प्रभुपूजनमें आत्मशिक्षण-हम भगवानकी पूजा और वंदना करने रोज जाते हैं, वहां यही सबक तो सीखते हैं कि यह प्रभु तब सुखी हुए हैं जब सबसे न्यारे केवल अकेले रह गये हैं। जब तक ये भी घरमें थे, राग द्वेषोंमें थे तब तक इन्हें सताय नहीं मिला था। संसारी जनोंको भांति ये भी कष्टमें थे। प्रभु का कष्ट कैसे मिटा कि उनके अनन्तज्ञान प्रकट हुआ, इसका मूल उपाय उन्होंने यह किया कि सवविभाव कर्मों व सर्व परपदार्थों से भिन्न केवल शुद्ध ज्योतिमात्र अपने को देखा। जिस उपायसे चलकर ये प्रभु हुए हैं वही उपाय हम आप को भी करना चाहिए।

देखिये मोही प्राणी आत्मदेवपर क्या अन्याय कर रहे हैं, ६२ वें छन्दका एक प्रवचनांश-पृ० ३४-आत्म-देवपर अन्याय-अहो, कितना अनर्थ किया जा रहा है मोहमें अपने आपपर? यह मैं हूं प्रभुके स्वरूपके समान ज्ञानानन्दस्वरूप वाला और जिस प्रकार प्रभु ज्ञानसे समस्त लोकालोकको जानते हैं और आनन्द शुद्ध विकाससे शाश्वत आनन्दमग्न रहते हैं-ऐसे ही सबको जानने का और परिपूर्ण आनन्द पानेका हमारा स्वरूप है, लेकिन इस ओर दृष्टि कहां है? इसका तो यह बाहर स्थित मलिन मनुष्योंका समूह ही देवता बन रहा है। लोग कहते हैं कि भगवानको प्रसन्न करना यही धर्म है, बजाय इसके यह मोही

मानव समाजको प्रसन्न करनेमें जुटा हुआ है। इसकी दृष्टिमें महान कहलाऊं, इस प्रकार अपनी महत्ता स्थापित करनेके लिए यह धन जोड़ा जा रहा है। अरे यह जीवन धन संचय के लिए नहीं, किन्तु धर्म पालन के लिए है। जो चीज अनादिकालसे अभी तक नहीं प्राप्त हुई ऐसे अपूर्व तत्त्वको पानेके लिए अपना जीवन लगाओ। इसके अतिरिक्त अन्य कार्यों के लिए अपनी जिन्दगी न समझें।

अमीर और गरीबको पहचान लीजिये, ६३ वें छन्द के क प्रवचनांशमें, पृ० ४१–अमीर और गरीब–यहां तो अमीर वह है जो अपनेको अकिंचन मान रहा है अन्तरंगमें, मेरा जगतमें कहीं कुछ नहीं है। मेरा तो मात्र मैं ही स्वयं हूं। ऐसा जो मानता है वह है अमीर। और जोकिसी परवस्तुके कारण अपने आपको विशिष्ट मानता है-मेरे इतना वैभव है, मेरे इतना परिवार है. जो परवस्तुके सम्पर्क से अपने को बड़ा मानता है वह है गरीब, क्योंकि परवस्तुमें अहंकार बुद्धि होन से नियमसे उसे कष्ट होना और जो परवस्तुसे विविक्त अपने आपके स्वरूपको निरखते हैं, उन्हें किसी भी स्थितिमें कष्ट नहीं हो सकता है।

आत्म ज्ञानके विना व्यवहारधर्म भी कितने ही करने जायें, वहां भी पराधीनता का अनुभव है, अतः आत्मज्ञानके लिए यत्न करिये, पढ़िये ६६ वें छन्दका एक प्रवचनांश पृ० ६१ आत्मज्ञान बिना व्यवहारधर्म में भी पराधीनता–जो पुरुष धर्मकी भी धुन रखते हैं, वहां भी परखिये अनेक प्रकार की पराधीनतायें हैं। उन आधीनताओंमें कभी कभी मन व्यग्र हो जाता है। जैसे कोई पर्व के दिन आते हैं दशलक्षणी आदि के तो पूजा करने को बड़ा तांता और विस्तार लग जाता है। उन दिनोंका कोलाहल तो देखो. कई कई बार प्रसंग प्रसंग में क्रोध आता रहता है। अभी तुमने यह नहीं किया, यह यहां खड़े होंगे, तुम यहां क्यों खड़े हो, अभी तक पुजारी नहीं आया, अभी द्रव्य नहीं धोये, अभी प्रच्छाल नहीं हुआ कितनी ही प्रकार की आधीनतायें आती हैं। यह जीव इन आधीनताओंसे कषाय करता रहता है। अरे उन सब प्रसंगों में करने का काम तो इतना ही था कि कषायरहित ज्ञानस्वरूप अपने आत्माका अनुभव करना। उन सब धर्मो में, उन सब परिश्रमोंमें मूलभूत प्रयोजन इतना मात्र है कि मैं अपने को निष्कषाय ज्ञान-मात्र अनुभव करलूं। जो इतने तप व्रत आदिक किये जाते हैं वहां भी ऐसा घटा लेना कि कल्पना से माना हुआ धर्मप्रसंग का भी व्यवहार सुख पराधीन है। और, एक निज शुद्ध ज्ञानस्वभावकी दृष्टि कर के पाया जाने वाला यह आनन्द स्वाधीन है। ऐसे रहते हुए यदि कोई कष्ट आये तो वह कष्ट भी भला है।

स्वाद अनुभवदृष्टिका अनुसारी है, इसका चित्रण ६६ वें छन्दके एक प्रवचनांशमें देखिये–पृ० ६८–६६के अनुसार स्वाद–बादशाहने बीरबलसे कहा भरी सभामें कि बीरबल, मुझे आज एक स्वप्न आया कि हम तुम दोनों घूमने जा रहे थे, तो रास्तेमें दो गड्ढे मिले–एक था शक्करका गड्ढा और एक था गोबर का। तो हम तो गिर गये शक्कर के गड्ढे में और तुम गिर गये गोबर के गड्ढे में। तो बीरबलने कहा, हुजूर हमने भी आज ऐसा ही स्वप्न देखा, आप तो गिर गये शक्कर के गड्ढे में और हम गिर गये गोबर विष्टाके गड्ढे में, पर इससे आगे थोड़ा और देखा कि हम आपको चाट रहे थे और आप हमको चाट रहे थे। अब बताओ बीरबलने क्या चाटा ? शक्कर, और बादशाह ने क्या चाटा ? गोबर विष्टा। ऐसे ही गृहस्थ आज फंसा हुआ है, लेकिन यदि उसकी दृष्टि साधुता की ओर है, मोक्षमार्ग के लिए है, अपने आपके आकिञ्चन्यस्वरूपकी समृद्धिकी ओर है तो स्वाद तो उसे अनाकुलताका ही आ रहा है।

अज्ञानका हठ बेइलाज है, पढ़िये ८१ वें छन्दका एक प्रवचनांश—पृ० १४१-बेइलाज अज्ञानहट—अज्ञानीजन कल्पनामें ऐसो हठ करते हैं कि जिस हठको निभादेना बहुत कठिन लगता है। बतलाओ कोई बच्चा कहे कि हमें हाथी ला दो। सामने हाथी खड़ा कर दिया गया, फिर कहा कि मुझे हाथी खरीद दो। लो उसके बाड़ेमें हाथी खड़ा कर दिया गया, फिर कहा कि इस हाथीको मेरी जेबमें धर दो। अब बतलाओ इस हठका क्या इलाज किया जाय ? ऐसे ही हम आप अज्ञानीजन हठ किया करते हैं कि हमारा ऐसा हो जाय, विवाह हो जाय, बच्चे हो जायें, ठीक है। कोई मरे नहीं, सदा संगमें रहें। अरे इन सब हठों का कौन पूरा करे ? मरण तो अवश्य होगा। ये सब समागम तो तेरे रुलाने के ही कारण हैं। इस बात को अपने हृदयमें लिखकर रखलो केवल एक स्वतंत्र अपने शुद्ध स्वरूपका उपयोगमें समागम हो जाय वह तो सारभूत बात है, बाकी तो सारा समागम रुलाने के लिए है। इष्ट समागम अधिक रुलायेगा, खोटा समागम कम रुलायेगा। अच्छा समागम मिला तो पागल बनना पड़ेगा, बुरा समागम मिला तो कुछ भगवानकी याद भी रखता रहेगा। दुःखी होगा तो वह भगवानकी याद भी रखेगा। अच्छे समागममें भगवानको याद रखना भी कठिन है। बुद्धि भी भ्रष्ट हो जाती है, पागलपन छा जाता है।

(१७६) आत्मानुशासन प्रवचन चतुर्थ भाग

इस पुस्तकमें आत्मानुशासन ग्रन्थके ८२ वें छन्दसे ११६ वें छन्द तक पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराजके प्रवचन हैं। ८२ वें छन्दके एक प्रवचनांशमें देखिये यह जीव कैसा गोल भटक रहा है। पृ० २—गोल-गोल भटकना—अहो, इस मोही जीवकी रात दिन को कैसी चर्या है। घूमघामकर वहीं जैसे कोल्हू का बैल उसी स्थान पर आ जाता है। जहां से गया वहीं आया। ऐसे ही अज्ञान की पट्टी आंखों में बन्धी है, इससे शुद्ध मार्ग नजरमें नहीं आ रहा है, गोलगोल अपनेको घुमारहा है, इस गतिसे गया उसगतिमें आया, उससे गया, उसमें आया। यह गोल गोल चक्कर चल रहा है, फिर उसके बाद तिर्यंच का गोल है, और ऐसे इस असमानजातीय द्रव्यपर्यायके गोलमें चक्कर लगा रहा है, फिर एक एक पर्यायका भी बड़ा गोल है। जैसेआज मनुष्यपर्याय मिला तो मनुष्यका जीवन जितने समय का है उसमें भी यह गोल गोल घूम रहा है। और, तो जाने दो, चौबीस घन्टेका भी बड़ा गोल है। इसी समय आप कल शास्त्र सुनने आये थे, इसी समय पर आप कल शास्त्र सुनने आयेंगे। आज जो दाल, रोटी, चावल खाया था वही कल भी खाया था, वही कल भी खायेंगे, उसी समय पर दुकान जायेंगे, उन ही कामोंको उस ही समय पर आज भी करेंगे, जो कल किए थे। तो जब तक जिन्दा है तब तक वही वही चक्कर लगाता रहता है। कोल्हू के बैलकी नाई यह गोल गोल चक्कर लगा रहा है पर जैसे पट्टी बांधे हुए बैलको कुछ भी भान नहीं हो पाता कि मैं गोल गोल चक्कर लगा रहा हूं, वह तो यही भ्रम किये हुए है कि मैं सीधा ही सीधा चल रहा हूं, ऐसे ही इस अज्ञानी जीव को यह भान नहीं हो पाता है कि मैं गोल गोल चक्कर काट रहा हूं। वह तो जानता है कि मैं रोज रोज नया नया, उन्नति का बढ़वारीका, सुखका काम कर रहा हूं।

देखिये एक विचित्र पागलपनका ८५ वें छन्दके एक प्रवचनांशमें चित्रण—पृ० १८—खुदको जलानेकी उन्मत्तता—जैसे कोई बावला थोड़ी अग्निसे जल रहा है और उसमें ईन्धन डालकर अग्निको बढ़ाये और बहुत जलने लगे तिस पर भी अपने को शीतल माने तो उसे आप कितना बावला कहेंगे ? सो होती है बच्चों की ऐसी आदत कि वे आगको छूते हैं, मुट्ठीमें आगको पकड़ लेते हैं और जल जाते हैं। नादान बच्चा जलती हुई अग्निको पकड़ लेता है, उससे भी बढ़कर है पागल पुरुष। कोई अग्निसे जल रहा है

और उसी में ही ईन्धन डाल दे, आग ज्यादा जलने लगे तिस पर भी वह अपने को शीतल हुआ मानता है, ऐसे ही यह भ्रान्त आत्मा थोड़ी आशा की अग्नि से जल रहा है। उस में धन वैभव का ईन्धन डाल कर आशा की अग्नि को बढ़ाकर और ज्यादह जलने लगा। आश्चर्य की बात तो यह है कि उस ज्यादह जलती हुई स्थितिमें अपने को वह सुखी मान रहा है। परमार्थ से वह सुखी नहीं है।

विषयखाजका समाचार पढ़िये ६० वें छन्द के एक प्रवचनांशमें—पृ० ३६-विषयखाज—जैसे जिसको खाज हुई है, दाद हुई है, खुजाते समय तो उसे आगे पीछे का भी ध्यान नहीं रहता, वह उसमें बड़ा चैन मानता है। जिनके दाद खाज होती है उनके गलेमें खूब बात उतर रही होगी। जैसे योगी लोग आत्म-ध्यान करके खूब प्रसन्न होते हैं ऐसे ही ददेला भी खुजलाते समय सब दुनिया को भूल जाता है। हाथ पैर को टन्नाकर सुख लूटा करता है। ठीक है, परन्तु उसके बाद यह रोग और बढ़ गया। उस रोगको मिटानेकी फिकर पड़ती है, ऐसे ही पंचेन्द्रियके विषय और मनका विषय यह खाज है। इस खाजको खुजाते समय आगे पीछेका कोई ध्यान नहीं रहता। उस समय तो वहां सब कुछ सार नजर आता है। जब समय मरने का आता है तब मालूम होता है कि हमारा अतीत बिगाड़ का समय कितना खोटा गुजरा। यों ही बनी बातका मूल्य बिगड़े समयसे पूछो। पछतावा होता है कि जीवन यों न व्यतीत होता तो अच्छा था।

स्वनिधिका परिचय जिसे नहीं वह तो दरिद्र ही है, पढ़िये ६७ वें छन्दका एक प्रवचनांश-पृ० ७१—स्वनिधिके अपरिचयकी दरिद्रता—अपने ही घरमें गड़ा हुआ धन यदि विदित नहीं है तो वह तो गरीबी ही अनुभव करेगा और कदाचित यह विदित हो जाय कि मेरे घरमें इस जगह बहुत बड़ी निधि गड़ी है तो अभी मिलनेमें देर है, लेकिन उस निधिका परिचय होते ही अन्तरंगमें एक ठसक सी आ जाती है, एक बड़प्पन सा अनुभव होने लगता है। जब तक इस जीवको अपने आपमें बसी हुई ज्ञान और आनन्द की निधिका परिचय नहीं होता है तब तक यह गरीब है। यह बाह्य पदार्थों में आशा करके दुःखी होता रहता है। आश्चर्य इस बात का है कि दुःखी भी होते जाते और उस ही दुःखको पसन्द भी करते जाते हैं। यह सब मोह की लीला है जैसे घरमें कभी बड़ी कलह हो जाय और अनेक प्रतिकूलतायें हो जायें तो यह पुरुष चाहता है, ऊब करके कहता है कि इस घरसे तो जंगलमें रहना भला है। अब इस घरमें मैं न रहूंगा, और फिर रहना वह घर में ही है। चाहे कितनी ही विपदा आ जाय। यह सब क्या है? एक व्यामोह है। अच्छा तो घर छोड़कर कहां जाय? सुख शान्ति ज्ञान पर आधारित है। वह ज्ञान तो बसाया नहीं, उस वस्तु की स्वतन्त्रता का तो दृढ़ निर्णय किया नहीं ऐसे ही धर्मव्यवहार क्रियाओं को करके यह मन कहां तक स्थिर रह सकेगा? कहां जायगा? इस जीव को बड़ी विचित्र दशायें हैं।

तीन लोकका राजा बनना है तो एक यत्न देखिए ११० वें छन्द के एक प्रवचनांशमें—पृ० १२३—त्रिलोकाधिपतित्वका यत्न—हे आत्महितार्थी पुरुष तू अपनी ऐसी ही भावना कर, मैं अकिंचन हूं, मैं अकेला हूं, मेरा कहीं कुछ नहीं है। देख यह तेरे घर का एक मन्त्र है। अपने आत्मा भगवान से मिलने का उपाय है। तू बार बार ऐसी सत्य भावना तो कर कि मैं अकिंचन हूं, अकेला हूं मेरा कहीं कुछ नहीं है। मैं सबसे निराला हूं। इसकी बड़े योग उपयोग से अपने आपमें खोज तो कर। स्वतः ही एक ऐसा अपूर्व आनन्द उत्पन्न होगा, आल्हाद होगा, जिसके प्रताप से तू सहज आनन्द में तृप्त हो जायगा। तू धीरे से, सुन, गम्भीरतासे सुन, तुझे तेरे खास कानमें बात कही जा रही है। तू अपने आपको

अकिंचन मानकर सबसे निराले रूपसे ठहर तो जा, तू तीन लोक का अधिपति हो जायगा। इस प्रकार ज्ञानभावनाके लिए आचार्य देवने हम लोगोंको उपदेश दिया है। चाहे परिस्थिति कुछ हो, कर्तव्य कुछ हो, पर सच्ची श्रद्धासे दूर न भागो, मैं निबल ही हूं, अकिंचन ही हूं, ज्ञानमात्र ही हूं, ऐसी अपनी श्रद्धा बना तो तू संकटोंसे यथाशीघ्र पार हो जायगा।

आनन्दका स्रोत देखिये ११५ वें छन्दके एक प्रवचनांशमें, पृ० १४१—आनन्दका स्रोत—भैया, सुख कहां से आता है? ज्ञान जैसे बने तैसे सुख दुःख अथवा आनन्द प्रकट होता है। यह सब अपने ज्ञानके आधीन है। कोई इष्टवियोगरूप अपनी जानकारी बनाये, अनिष्टसंयोगमें अपना उपयोग लगाये तो उसका दुःखी होना प्राकृतिक है। कोई पुरुष इष्टवियोग अनिष्टसंयोग पर ध्यान न देकर पाये हुए समागमोंमें मौज माने तो वह सुखी होगा। सुखी दुःखी होना अपने ज्ञानके आधीन है। धन वैभवके आधीन नहीं है। कोई पुरुष धन वैभवसे सम्पन्न होकर भी एक अपना ज्ञान कषाययुक्त बनाये, भ्रम पूर्ण बनाये, तृष्णावान बनाये तो धनी होकर भी वह दुःखी है। धनको तो बड़े बड़े तीर्थंकर चक्रवर्ती राजा महाराजा त्याग देते हैं। धनके त्याग करनेके बाद, निर्धन अवस्था स्वीकार करनेके बाद क्या उन्हें कोई कष्ट होता है? वे तो अपने ज्ञानकी उपासनासे आनन्दमें सदा मग्न रहा करते हैं और इस ज्ञानकी आराधना के प्रतापसे उनको मोक्ष प्राप्त होता है।

कष्ट सहिष्णु बने और अन्तस्तत्त्वकी उपासना करे, इसमें कल्याण है, पढ़िये ११६ वें छन्दका एक प्रवचनांश-पृ० १७५—संसरणके अभावमें आत्महित—समस्त संसार अवस्थाओंका अभाव करना, इसमें ही हित है। कर्मोंसे ही सारा संसार है। कर्मोंसे ही इतना बड़ा क्लेश है। इस क्लेशको दूर करनेमें ही अपना हित है। संसार अवस्थाका अभाव तभी सम्भव है जबकि निर्विकार ज्ञानमात्र अपने आत्मके स्वरूपकी श्रद्धा बने। यहां ही रमण करनेका भाव बने। इस प्रकरणसे हमें यह शिक्षा लेनी है कि बाहरी बातोंमें जो कुछ बीतती है बीतने दो। हम कष्टसहिष्णु बनकर यथार्थ ज्ञानी बनकर उन सब उपद्रवोंको दूर कर सकते हैं। ऐसा जानकर उन कष्टोंके बचावमें, उन कष्टोंके दूर करनेके साधनकी कल्पनामें अपना समय न व्यतीत करे, किन्तु कष्टसहिष्णु बनकर उन सब उपद्रवोंपर विजय प्राप्त करें, और अन्तरंगमें ज्ञानानन्दस्वरूप मात्र आत्मतत्त्वकी दृष्टि रखकर अपने आपमें प्रसन्नता पावें। इसी विधिसे हम संसार के संकटोंसे छूट सकते हैं।

(१७) आत्मानुशासन प्रवचन पंचम भाग

इस पुस्तकमें आत्मानुशासन ग्रन्थके १२० वें छन्दसे १८६ वें छन्द तक पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराजके प्रवचन हैं। संयमी पुरुषको प्रकाश प्रधान होना चाहिए तभी वह प्रतापी हो सकता है, इसका संकेत पढ़िये १२० वें छन्दके एक प्रवचनांशमें, पृ० १—संयमीको प्रकाशप्रधान होने की अनिवार्य—संयमी पुरुष पहिले प्रदीप की तरह प्रकाशप्रधान हुआ करता है, पीछे ताप और प्रकाशमें सूर्य की तरह देदीप्यमान होता है। शान्तिके लिए जिसने अपना भावात्मक कदम रक्खा है, संयम तप, व्रत, आचरणोंमें जिसने अपनी परिणति की है वह पुरुष ज्ञानप्रधान होता है। पहिले उसे वस्तुस्वरूपका ठीक ठीक ज्ञान करके स्वयंमें शुद्ध प्रकाशवाला बन जाना चाहिए, तब संयम ठीक कहलाता है। जब तक अपने लक्ष्य की पकड़ नहीं हो पाती है तब तक कुछ भी क्रिया करे, उन क्रियाओंसे उस लक्ष्य की सिद्धि नहीं हो सकती है।

ज्ञानदीपसे कर्मकज्जलका वमन हो जाता है, पढ़िये १२१ वें छन्दके एक प्रवचनांशमें, पृ० ६—कर्मकज्जल का प्रोद्वमन—यह ज्ञानी पुरुष इन रागद्वेषादिक कर्मोंका वमन करता हुआ दीपक की तरह स्वपर

प्रकाशक वन रहा है। जैसे वमन की हुई चीज फिर ग्रहण नहीं की जाती, किसी को कय हो जाय तो कय होनेके बाद पेट खाली हो जायगा। थोड़ी देरमें भूख लगने लगती है। तो उस ही कय को कौन खा लेता है ? उस ओर तो कोई दृष्टि भी नहीं देता। उस कय को तो राखसे ढक दिया जाता है। जैसे वमन की हुई चीज फिरसे ग्रहण नहीं की जाती ऐसे हो ज्ञान द्वारा रागद्वेष सुख आदि विभावोंका वमन कर दिया, यह मेरे नहीं हैं, मेरे से भिन्न हैं, विभाव हैं, औपाधिक भाव हैं, मेरे स्वरूप नहीं हैं, ऐसा ज्ञान करके अपने स्वरूपमें से निकाल दिया, वमन कर दिया तो अब यह ज्ञानी फिर से उन राग-द्वेपादिक विभावोंको यह मेरा स्वरूप है, इस रूप ग्रहण नहीं करता है।

अज्ञानीका राग अहितकारी ही हैं अतः अज्ञानभावको छोड़ा, इसको प्रेरणा पाइये १२४ वें छन्दके एक प्रवचनांशमें, पृ० १६–अज्ञानीके रागका पतनमें सहयोग–ज्ञानीका राग तो सुवह की ललाई की तरह है, जैसे सुबह सूर्योदयसे आधा घटा पहिले पूर्व दिशामें जो लालिमा होती है वह उत्थानके लिए होती है, किन्तु अज्ञानीका राग है सध्याकालकी ललाई को तरह। संध्याकालकी जो ललाई है उसमें कितने ऐब होते हैं। प्रकाशको समाप्त कर देती है। अन्धकार आगे छा जाता है और इस सूर्यको पातालमें भेज देती है। सूर्यके अस्त होनेका नाम पातालमें भेजना बताया है। किसी पुरुषके किसी प्रकार की हानि हुई है और वह उसी बात पर अड़ जाय तो लोग कहते हैं कि भाई हम बहुत समझाते हैं नहीं समझते हो तो जावो गिरो कुवेंमें। उसका अर्थ यह नहीं है कि कहों पानी वाले कुवेंमें गिर पड़े। इसका मतलब यह है कि हानि भोगो, बरबाद होओ। तो यों ही सूर्य पाताल तल का प्राप्त होता है, इसका अर्थ है कि यह सूर्य अस्तको प्राप्त होता है। उस संध्याकी ललाईमें इतने ऐब हैं कि प्रकाशको मिटाकर अन्धकार आगे ला दे और सूर्यको भो रसातल भेज दे। ऐसे ही अज्ञानीका राग ज्ञानको मेटता है। अज्ञानको बढ़ाता है। वह जीवको बरबाद कर देता है।

कल्याणार्थी जनो, आत्महित चाहो तो स्त्री स्नेहसे दूर रहो, आत्मस्नेह करो, इसकी प्रेरणा पाइये १२६ वें छन्दके एक प्रवचनांशमें पृ० २६–साधुओंको स्त्रियोंसे दूर रहनेकी चेतावनी–साधुजनोंको स्त्रियोंसे अति दूर रहने को चेतावनी देते हुए आचार्य महोदय कह रहे हैं कि जैसे सुन्दर सरोवरमें कोई प्यासा अपनी प्यास बुझाने जाय और तटपर पहुंचते ही उसे मगर आदिक कोई क्रूर जलचर जीव उसे गुप्त ले तो जैसे उसने चाहा तो था तृषा शान्त करके विश्रामका पाना, किन्तु हो गया प्राणघात। इसी प्रकार कोई निर्बुद्धि पुरुष बाह्यमें रमणीय स्त्रीके निकट जाता है तो वेदना मिटाने, सुख पाने, किन्तु वहां विषय-वेदनामें विह्वल होकर अपना होश खो देता है व पापग्राहसे गुप्त हो जाता है। इसके परिणाममें एकेन्द्रिक आदिक पर्यायोंमें उत्पन्न होकर चिरकाल तक दुःख सहता है।

साधुवोंकी सवारी,भोजन व कुटुम्ब वास्तविक परखिये १५१ वें छन्दके एक प्रवचनांशमें–पृ० ७१–साधुवों की भोजन व सवारी-सवारो साधुवोंकी आकाश है। किसो भो समय यह समस्या नहीं आती कि हमारे पास सवारी हो नहीं है, कैसे चलें, अरे सब जगह सवारी तैयार है। कौन सो ? आकाश। इसे कौन हटा लेगा ? इष्ट भोजन है साधुका आन्तरिक तपश्चरण। अन्तस्तत्त्व करके ज्ञानमरुचि करके जो साधु को तपस्याका भोजन मिल रहा है उससे तो वह बड़ा तृप्त रहता है। भोजन का काम क्या है। तृप्ति करदे। भोजनसे वह तृप्ति नहीं होती जो स्थाई रह सके या स्वाधीन हो, पर अपने चैतन्य स्वभावमें अपने आपके उपयोगमें तपानेके तपश्चरणमें जो सन्तोष और तृप्ति होती हैं वह उससे कई गुणा भी क्या ? अद्भुत विलक्षण ही होती हैं। तो हे साधु तेरा भोजन है तपश्चरण। और, देख स्त्री, पुत्र आदिक कुटुम्बीजन ये सब तेरे हैं गुण। जो तेरे में गुण है, क्षमा, सरलता, मार्दव आदिक जो मुझमें

गुण हैं, ज्ञान दर्शनकी शुद्ध वृत्ति ये सब तेरे स्त्री आदिक परिजन हैं।

सुखी होना है तब दृष्टि बदल लीजिये, कैसी ? पढ़िये १६२ वें छन्दका एक प्रवचनांश–पृ० ६४–दृष्टि–परिवर्तन–यों इस श्लोकमें यह शिक्षा दी है कि दुःखोंसे छूटना चाहते हो तो अपनी दृष्टि बदल दो। अब तक धनको ही सर्वस्व मानने का परिणाम रहा था, तो अब आकिन्चन्य पर–विविक्त शुद्धस्वरूपमें तू अपना हित मान ले। अब तक प्राणोंमें प्रेम करके, प्राणोंके धारणसे अपनेको सुखी मानता था तो अब इन इन्द्रिय आदिक प्राणोंको अपना विघातक जानकर इन प्राणोंसे सदाके लिए छूट जायें ऐसी स्थितिमें अपनेको सुखी मान।

हम क्या किया करते है ? ज्ञान (जानन); उसका फल हम क्या चाहें, इसका निर्णय कीजिये तो सही। पढ़िये १७५ वें छन्दका एक प्रवचनांश–पृ० १२१–ज्ञानका वास्तविक फल–किसी भी काम करनेका कुछ न कुछ फल माना जाता है। बिना फलके कोई कुछ करना ही नहीं चाहता। आखिर इसमें लाभ क्या मिलेगा, यह दृष्टिमें न हो तो कौन क्या काम करता है ? यह आत्मा निरन्तर जानता रहता है। इस का जाननेका लगातार काम लगा हुआ है। किसी भी क्षण यह जानने से विराम नहीं लेता। तो यों जानते रहने में आखिर फल क्या मिलता है ? आचार्य देव बोलते हैं कि ज्ञानमें तो यही प्रशंसनीय फल है, अविनश्वरफल है कि ज्ञान बने। जाननेके फलमें जानना रहे यही उत्तम अनिश्वर फल है। जानन फलमें कुछ ज्ञानमें न लावें। अन्य कुछ ज्ञानका फल चाहें तो यह सब मोहका माहात्म्य है। सीधे सादे शब्दोंमें यह कह लो कि जानने के फलमें जानना रहे, यही उत्कृष्ट फल है।

मोहका फोडा मेटनेका यत्न देखिये १८३ वें छन्दके एक प्रवचनांशमें, पृ० १३५–मोहावरणके समाप्त करनेका उपाय–अब जैसे गूमड़ा घाव बड़ा फोड़ा हो गया है तो उसे शुद्ध करनेका निर्दोष अंग बना लेने का क्या उपाय है ? वह फोड़ा कैसे मिटे ? घाव कैसे ठीक हो ? तो उस उपायमें आप दो काम ही तो करेंगे–फोड़ेमें जो पीप खून आदि भरे हुए है उन्हें निकाल दें और उस पर तेल घी आदिक का लेप कर दें, घावकी पीड़ा मिटानेके लिए दो काम किए जाते हैं–त्याग और ग्रहण कहो, जाति कहो, इसी प्रकार इस मोहका विनाश करनेके लिए दो काम किये जायेंगे–परद्रव्योंका त्याग, परद्रव्य सम्बन्धी विकल्पका त्याग और अपने स्वभावका उपयोग। निज जातिका ग्रहण। यों त्याग और ग्रहण द्वारा इस मोहका भी अभाव होता है। तो जब फोडा ठीक हो जाता है तो उस पर चमड़ा और रोम प्रकट होने लगते हैं। नया स्थायी चमड़ा आ जाय और उसमें से रोम प्रकट होने लगें तो समझिये अब फोड़ा बिल्कुल ठीक हो गया है और जैसी स्थिति थी शरीरकी स्वभावतः वह स्थिति आ गई। इसी तरह जब मोह विनष्ट होता है तब इसमें सम्यक्त्वरूपी रोयें उत्पन्न होते हैं तब समझ लीजिये कि मोहका फोड़ा ठीक हो गया, समाप्त हो गया।

(१९८) आत्मानुशासन प्रवचन षष्ठ भाग

इस पुस्तकमें आत्मानुशासन ग्रन्थके १८७ वें छन्दसे २७० वें छन्द तक पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराजके प्रवचन हैं। शान्तिसे शान्तिकी संतति व अशान्तिसे अशांतिकी संतति चलती है, अतः दोनों लोकोंमें शान्ति चाहने वाले अभीसे शान्तिका यत्न करें, इसका संकेत पढ़िये १८७ वें छन्दके एक प्रवचनांशमें, पृ० ३–शान्ति व अशान्तिकी संतति–जिसके यहां अशान्ति है उसके अशान्ति की धारा बह जायगी, अगले लोकमें भी अशान्त रहेगा, जिसके यहां शान्ति है उसकी संतति भी चलेगी, वह आगे भी शान्त रहेगा, विषयसुख सुख नहीं कहलाते। जहां तृष्णा है वहां क्लेश ही है। वह तो दुःख ही है। दुःखका फल दुःख है। किन्हीं

के विषयसुखोंकी सामग्री अधिक है, तृष्णा थोड़ी है, नहीं के बराबर है तो वह वहां सुखी रह सकता है। रंक पुरुषोंके विषयसाधन कुछ भी नहीं है, किन्तु उनके तृष्णा बनी है, उनमें चित्त बना तो वे दुःखी रहा करते हैं। इसलिए विषयसुख सुख नहीं हैं, उसकी बात यहां नहीं कही जा रही है। जो वास्तविक सुखी हैं वह भावी काल में भी सुख पायेगा और जो दुःखी है वह भावी काल में भी दुःख पायगा।

दुनियाको रिझानेके आशयकी मूढ़ता पढ़िये १६० वें छन्दके एक प्रवचनांशमें पृ० १०–दुनियाको रिझाने का आशय–देखो शरीर बल वाले दूसरोंको अपनी बलवत्ता जाहिर करानेके लिए पूरा बल लगाकर बलसे भी अधिक काम करके दिखाना चाहते हैं। लोग जान जायें कि यह बहुत बलशाली है, ऐसा ही जिन्हें दुनियाको अपना ज्ञानीपन जाहिर करना है, लोगोंसे ज्ञानीपनकी प्रशंसा चाहते हैं तो पूरा बल लगाकर संस्कृतकी प्राकृतकी और और भाषाओंकी झड़ी लगा देते हैं। चाहे श्रोताओंकी समझमें कुछ आये चाहे न आये यह इसलिए करते हैं कि जिससे लोग जान जायें कि यह विद्वान है, यह सब क्या है? चंदनकी लकड़ीको जलाकर उसकी राख बनाकर काममें लेने की तरह है। यदि ज्ञान पाकर तपश्चरण करके उसके फलमें ख्याति पूजा लाभ की चाह करता है तो यह तो तेरे अनर्थ की बात है। तू यदि ऐसा करता है तो तू अभी लोभकी पंक्तिमें ही बैठा हुआ है। अलौकिकता कुछ नहीं आयी और ऐसी स्थितिमें शरीरका शोषण किया वह भी व्यर्थ। लाभ भी न मिला और जीवन भर शरीरको भी सुखाया, उनकी गति तो दयनीय है।

देहकी भयानकताका वृत्त पढ़िये–१६४ वें छन्दके एक प्रवचनांशमें पृ० १७–देहकी भयानकता–देखो भैया, ऊपर की थोड़ी सी चिकनाई और चाम भी कुछ सजे हुए मालूम देते हैं। तू इस चामको नजरसे ओझल करके इसके अन्दर जो कुछ है उसकी तो कल्पना कर। जसे मरघटमें मुर्दे की खोपड़ी पड़ा रहती है, शायद कभी देखा हो, यह बिजलीके खम्भोंमें जहां पर डैन्जर अथवा सावधान लिखा रहता है वहां पर खोपड़ी को फोटो टंगी रहती है, उसे देखा होगा तो वह कितनी भयानक सी लगती है। हड्डी निकली, आंखों की जगह दो गड्ढे से, नाक की जगह तो बिल्कुल बेढंगा सा दीखता है। वही चीज तो इस जिन्दा हालतमें है। कोई नई बात नहीं है। जो रूप, जो आकार, जो ढंग उस मुर्दे की खोपड़ीमें है वही की वही चीज जिन्दा मनुष्यकी खोपड़ीमें है। जिस शरीरने तुझे कष्टका कारण बनाया उसी शरीरसे तू प्रीति करता है। अरे जिन्दा रहनेके लिए कुछ खा लिया जाता है, वह तो ऊधम नहीं है, पर यह अपने भीतर की ईमानदारी है, कहांसे क्या होता है।

यदि क्षोभ नहीं चाहते हो तो केवल स्वरूपदृष्टिका यत्न करो, इसकी प्रेरणा लीजिये नं० २०४ छन्दके एक प्रवचनांशमें, पृ० ३१–स्वरूपकी सम्हालमें क्षोभका अभाव–अब अपने लिए इतनी बातका तो यहां ही अंदाज करलो. आपकी कोई निन्दा करे. गाली दे और आप कुछ अपनी ज्ञान दृष्टिके निकट बैठ रहे हों, कुछ ज्ञानकी बात समायी हुई हो तो आपको खेद नहीं होता, या अधिक नहीं होता और जब अपने आपके ज्ञानसे चिगकर इस मूर्त शरीरपर दृष्टि जायगी तो वहां आपको खेद होगा। बड़ी विह्वलता हो जायगी। साधुजन ज्ञानदृष्टिमें निरत रहा करते हैं, उन्हें उपसर्ग और रोग आदिकसे किसी कारण खेद नहीं होता। जैसे नदीमें कितना ही जल चढ़ जाय, पर जो मजबूत नाव पर बैठा होगा उसे रंच भी क्षोभ न होगा, अधीर न होगा, ऐसे ही जो अपने मजबूत स्वरूप दुर्गमें बैठा होगा उसके भी कोई क्षोभ नहीं आ सकता।

अज्ञानी तो दुःखमें ही सुख मान रहा है, वास्तविक सुखका तो नाम भी नहीं मालूम है, इसका चित्रण देखिये नं० २०६ छन्दके एक प्रवचनांशमें, पृ० ३२–दुःखमें भी अज्ञानी की सुखमान्यता–जैसे कोई लकड़हारा

सिर पर लकडियों का बोझ लादे चले जा रहा है। बोझ के मारे उसका सिर दर्द करने लगे तो सिर से भार उठा कर कंधे पर रख लेता है। और कंधे पर वह गट्ठा रख कर अपने आपको सुखी अनुभव करता है, इस ही प्रकार यह अज्ञानी जीव शरीर में रोग नष्ट होने से अपने को सुखी मानते हैं. पर यह नही देखते कि शरीर का सम्बन्ध होना, मिलना यह स्वयं एक महा रोग है। किसी भी प्रकार की कोई इन्द्रिय सम्बंधी बाधा दूर हुई तो उसमें यह जीव अपने को सुखी मानता है। पर यह वह नहीं जानता कि हम तो वेदनाओं के बनमें गुजर रहे हैं। एक वेदना हटी कि दूसरी वेदना तैयार है। यों हजारो वेदनायें एक पर एक आती रहती हैं। वहां देखा जाय तो जैसे लकडी का बोझ सिर से उतार कर कंधे पर रख लेने से उसका भार दूर नहीं हुआ ऐसे ही जगतके जीवोंका कोई रोग मिटे या कोई वेदना शान्त हो तो उससे वेदनाओंका भार तो नहीं हटा। वेदनायें तो अभी ज्यों का त्यों हैं, पर यह मोही जीव कभी कभी अपनी कल्पना के अनुसार कुछ वैभव पाकर अपने को सुखी मानते हैं। वस्तुतः यह सुखी नहीं है। सुख तो तब है जब शरीरका विभावोंका, कर्मों का अभाव हो और कैवल्य अवस्था प्रकट हो तो उसमें ही शान्ति है, अन्यत्र शान्ति मानना मूढ़ता है।

भेदविज्ञानका परीक्षण कैसे होगा देखिये नं० २४३ छन्दके एक प्रवचनांशमें पृ० ९१—कठिन परीक्षण—भैया, कितनी तीव्र श्रद्धा चाहिए इस बात पर टिकनेके लिए कि यह देह जुदा है और मैं जुदा हूं। कह लेना तो आसान है, और चूंकि ऐसा कहनेसे भला जचता है सो दिलका बहलाना भी है, किन्तु इसी प्रकार का प्रयोग बने कि देह जुदा और मैं जुदा हूं यह बात सम्यग्दृष्टि पुरुषके ही सम्भव है। सम्यग्दृष्टि कुछ जुदे लोग नहीं हैं। जैसा मेरा स्वरूप है वैसा ही उनका स्वरूप है। यह सत्य प्रकाश चाहिए। सत्व विज्ञान चाहिए, सम्यक्त्व हो जाता है।

परदोषके कहनेमें दोषोंका पोषण होता रहता है उसमें आत्महित नहीं है, देखिये नं० २४६ छन्दके एक प्रवचनांशमें, पृ० ९६—परदोषवादसे दोषोंका पोषण—देखो तो मूढ़ता कि अपने दोषोंको अवगुणोंको मूलसे नष्ट करनेके लिए तो उद्यमी बनें। बड़ी दुर्लभ तपस्यायें धारण करते हुए अज्ञानी बनकर एक व्यर्थका दोष ऐसा बना लिया है कि जिससे उन्हीं दोषोंका पोषण हो रहा है। वे दोष क्या हैं? दूसरोंके दोषोंके बोलनेमें मजा लेना। आचार्य देव कैसा छांट छांटकर सफाया करनेका यत्न कर रहे हैं। होता है ना किन्हीं बड़े बड़े तपस्वी जनोंमें यह महत्वसे सम्बन्धित ऐब। ऐसी दुर्धर तपस्या करलें, बड़ा संयम पाल ले, निरारम्भ, निस्परिग्रह सब कुछ वृत्तियां धारण करले, लेकिन एक ठलुवा बैठे कभी भी किसीका दोष कहने में दिल चस्पी ले लें तो इतने मात्रसे करी करायी वह सारी तपस्या मिट्टी में मिला दी। जैसे कहते हैं ना—गुड़ गोबर एक कर दिया। भैया, दुर्धर संयम पालन करके एक परदोषवादकी बातको किये बिना कुछ अटक थी क्या? कुछ नुकसान था क्या? जो दूसरोंके दोषों की कथा न करते, एक व्यर्थ सी बात का बड़े से बड़ा झमेला खड़ा कर दिया, जिसे कहते हैं-गुणोंपर पानी फेर दिया, गुणोंका विकास करनेके लिए कर्ममलोंको नष्ट करनेके लिए तपस्या किया, परदोषपवादके ऐब से उन कर्ममलों को बहुत दृढ़ बना दिया।

प्रमुक्त गुणार्चन व नामार्चन की विधान देखिये—२६५ छन्दके एक प्रवचनांशमें, पृ० १२८—गुणार्चन और नामार्चन—जैन दर्शनमें किसी नामकी पूजा नहीं है, गुणोंकी पूजा है। भगवान का भी नाम नहीं है, पर जिस नाम द्वारा व्यवहृत देहमें विराजमान आत्मा ज्ञानमय होकर केवली हो गया, व्यवहारमें वहां भगवानका नाम लेते हैं, अथवा जैसे एक ही चीज का खेल चाहे तासका ही खेल समझलो तो उसमें कठिन भी खेल होते हैं और सरल भी खेल होते हैं। कठिन पद्धतिके खेल जिनसे नहीं बनते वे सरल

पद्धतिके खेल खेलते हैं। उलटा डाल दिया, उलट दिया, खोल दिया, रंग मिल गया, लो जीत गये, न मिला लो हार गये। बताओ ऐसे खेलमें कुछ विशेष बुद्धि भी लगती है क्या ? जो कठिन खेल जानते हैं वे उस पद्धतिका खेल खेलते हैं ऐसे हो ज्ञानकी उपासनामें जो एक अपने आत्मामें आत्मज्ञान विहारका कौतूहल है उस ज्ञानविहारके कार्यक्रममें जो तत्त्वज्ञानी मर्मज्ञ पुरुष हैं वे स्वभावदृष्टि करके निश्चयदृष्टि करके ज्ञानके शुद्धस्वरूपको निहारकर उस ज्ञानमें रमा करते हैं। पर यही ज्ञानी पुरुष इतना अधिक काम करके थक जाय तो भगवानका नाम लेकर चारित्रके गुणोंका ज्ञान करके अपने ज्ञानमें ज्ञानविहार को करते हैं। अथवा जो अपनी अद्भुत महिमामें प्रवेश नहीं कर पाये हैं वे पुरुष प्रभुका नाम लेकर चारित्र गाकर गुणानुवाद करके इस ज्ञानमें विहार करते हैं।

(१७८) समाधितन्त्र प्रवचन प्रथम भाग

इस पुस्तकमें पूज्य पाद स्वामी द्वारा प्रणीत समाधितन्त्र ग्रन्थके २७ वें श्लोक पर पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराजके प्रवचन हैं। इसके मंगलाचरणके एक प्रवचनांशमें मंगलाचरणके शब्दोंमें ज्ञान, मार्ग व भक्ति तीनोंका प्रकाश बताकर बताया है कि ज्ञानदृष्टि ही सकल संकटमोचनी बूटी है। पृ० ५–**सकलसंकटमोचनी बूटी ज्ञानदृष्टि सच जानो भैया,** अपने ज्ञानका स्वरूप अपने ज्ञानमें जिस समय आये उस समय इसके संकट नहीं रहते। उपेक्षारूप धर्ममें वह सामर्थ्य है। जरा करके हो देख लो। किसीसे राग बढ़ा था, पहिले दुःखी हो रहा था, कोई घटना ऐसी हो गयी कि सोच लिया कि जाने दो। जो कुछ हो सो हो, क्या मतलब ? उपेक्षा की कि संकट उसके हल्के हो जाते हैं। यदि ज्ञानस्वरूप ज्ञानमें आये, वहां परम उपेक्षा रहती है। उस स्थितिके आनन्दको कौन बता सकता है ? उस ज्ञानस्वरूपके ज्ञान बिना शान्तिके लिए अन्य समस्त भी यत्न कर डालें, धर्मके नाम पर ही सही, बड़ा तप, बड़ा व्रत, बड़ा भेद, बड़ा चीजें भो कर डालें पर शान्ति आनन्द और कर्मक्षय का साधन तो शरीरकी चेष्टा नहीं है किन्तु ज्ञानस्वरूप को दृष्टि बने यही है उन सब हितोंका साधन। वह ही एक छोड़ दिया जाये, उसका ही ताखमें धर दिया जाय और अनेक श्रम किये जायें तो उन श्रमोंसे सिद्धि नहीं होती है।

समाधिसे बहिर्भूत बहिरात्माकी ममताका एक चित्रण देखिये श्लोक नं० ९ के एक प्रवचनांशमें, पृ० ४०–**बाहरी ममता–देखो भैया,** कैसी ममता है, बूढ़े भी हो जायें, कपोल भी सूख जायें, हड्डी भी निकल आयें, फिर भी अपना यह शरीर ही प्रिय लगता है। एक तो शरीर की वेदना नहीं सही जाय यह बात अलग है और शरीरमें ही आपा समझकर उसमें प्रीति बुद्धि की जाय, यह बात जुदा है, जैसे कोयलाको कितना ही घिसा, निकलेगा काला ही। साबुन लगा दो तो कोयला सफेद नहीं हो जायेगा, ऐसे ही शरीर है। कितना ही इसे सजाओ, कितना ही साफ करलो, इसमें असार ही असार बात निकलेगी। अपवित्र गंदी गंदो ही धातु उपधातुवें निकलेगी, किन्तु वाह रे मोह की लीला कि इस निज सहजस्वरूप को तो यह आत्मा भूल जाता है और देह की सार सर्वस्व हैं ऐसा मानने लगता है।

१८ वें श्लोकके एक प्रवचनांश में बताया है कि मनुष्य देह तो वैराग्यके लिए मिला, किन्तु मोही इसका कैसा दुरुपयोग करता है। पृ० ५८–**असार देहके लाभका प्रयोजन वैराग्य–**देख लो मनुष्य देहमें कहीं कुछ भी सार बात नहीं नजर आता। ऊपर पसीना है, रोम है, चमड़ा है, और जरा नीचे चलो, खून है, मांस है, मज्जा है, हड्डी है और भीतरकी धातु उपधातुवें हैं, जो जैसे कहते हैं कि ये केलेके पेड़में सार-भूत बात कुछ नहीं है। पत्तोंको छीलते जावो, पूरी तरह से, तो वहां पेड़ पत्ता कुछ न मिलेगा। वे ही पत्ते जो ऊपर निकले हैं वे नीचे तक सम्बन्ध रखे रहते हैं। केलामें कोई सार नहीं मिलता। फिर भी इस मनुष्यदेहसे स्थावर की देह अच्छी है। वनस्पतियों के देह अच्छे हैं। ये काम गंदा खाना आदि तो

कुछ काम आते हैं, पवित्र हैं, ठोस हैं, पर मनुष्यके देहमें भैया तत्त्व रखा है? गंदगी गंदगी से भरा है। सो मानो यह गंदा देह विरक्त होनेके लिए मिला है। पर यह मनुष्य मोहमें आकर विरक्त होनेकी बात तो दूर जाने दो, कलाओं सहित साहित्यिक ढंगसे बचनोंकी लीलासे बड़े एक अनोखे ढंगसे प्रेम और मोह बढ़ाता है।

देहमें आत्मबुद्धि करके नशेका विस्तार तो देखिये-१४ वें श्लोकका एक प्रवचनांश-पृ० ६६-देहात्मबुद्धि के नशेका विस्तार-भैया मोहमें कितनी कल्पना होती है, कैसा कषायभाव होता है, स्त्रीसे कितना बड़प्पन माना है, कभी यात्रामें जाते हैं ना आप लोग स्त्री समेत, तो रेलगाड़ीसे जब उतरते हो तो कुली की तरह तुम लद। हो कि तुम्हारी स्त्री? बिस्तर पेटी तुम्हीं तो लादते हो और स्त्री बड़ी शान शौकत से चलेगी। हाथमें बटुवा लेकर ऊंची एड़ी की चप्पल पहिनकर, इसमें ही पुरुष अपनेमें बड़प्पन महसूस करते हैं। कोई यार दोस्त मिल जाय बात करनेको और वह जान जाय कि इनकी बेगम बहुत शानसे और बहुत ढंगसे रहती है, इसमें ही खुश हो रहे हैं। इन परिजनके कारण यह बहिरात्मा अपने आपको बड़ा मानता है और न भी कुछ कहे, न बड़ाई करे, न रंग ढंग दिखावे तो मनमें तो उस सब कुटुम्बका चित्रण बना ही रहता है। और शायद भगवानके दर्शन करते हुए भी भगवानको भी स्त्री पुत्रसे बड़ा न मान पाता हो। इतना आदर प्रभुका भी मनमें नहीं होता, जितना आदर परिजनका करते हैं। ऐसा विचित्र यह महामोह मद इस जीवने पिया है। उसका कारण केवल यह हो एक है कि शरीरमें उसने यह मैं आत्मा हूं ऐसी बुद्धि की।

दुःखके कारणभूत रागादिभावोंका विनाश आत्मदर्शन से होता है, इसका संकेत लीजिये २५ वें श्लोकके एक प्रवचनांशमें-पृ० १२१-आत्मदर्शनसे रागादिकका क्षय-परमार्थतः अपने आपको देखने वाले इस मुझ आत्मामें रागादिक दोष नष्ट सुगम ही हो जाते हैं, क्योंकि आत्मतत्त्वको देखा जाने पर यह अनुभव किया गया कि यह मैं ज्ञानमात्र हूं। ज्ञान जैसे कि अमूर्त भाव है तो ज्ञानस्वरूप ही तो आत्मा है। वह भी अमूर्त ज्ञानभावमात्र अपने आपके स्वरूपको जिसने निरखा है ऐसे ज्ञानी संतके ये रागद्वेषादिक विकारभाव यों ही विलीन हो जाते हैं। रागका राग मिटानेका वास्तविक उपाय बाह्य पदार्थोंका संग्रह विग्रह अथवा कुछ परिणमन कर देना हो जाना, यह नहीं है। रागका अर्थ है परवस्तु सुहा गई और राग मिटने का अर्थ है कि परवस्तुमें सुहा गई ऐसी स्थिति ही न हो। यह स्थिति अपने आपको ज्ञान-मात्र अनुभव करने से प्राप्त होती है। मैं ज्ञानमात्र हूं। जहां जाना कि यह मैं केवल जाननहार हूं, अन्य इसमें वृत्ति होना मेरास्वरूप नहीं है तब यह रागद्वेषको क्यों अपनायेगा? परमार्थ निजस्वरूपको देखने पर रागद्वेष नहीं ठहरते हैं।

(१८०) समाधितन्त्र प्रवचन द्वितीय भाग

इस पुस्तकमें समाधितन्त्रके २८ वें श्लोकसे ५० वें श्लोक तक पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराजके प्रवचन हैं। आत्मस्थिति अर्थात् समाधिलाभके लिए सोहं की भावना का साधन बताने वाले कार्यब्रह्म व कारणब्रह्मका परिचय कीजिये २८ वें श्लोकके एक प्रवचनांशमें-पृ० १-कार्यब्रह्म और कारणब्रह्म-परमात्म-तत्त्व दो प्रकार से है-एक कारणपरमात्मा और एक कार्य परमात्मा। ऐसा यह दो प्रकार पना केवल परमात्मतत्वमें ही नहीं है, किन्तु प्रत्येक प्रसंगमें कारणत्व और कार्यत्वका प्रयोग है। जैसे कारणपरमाणु और कार्यपरमाणु। इसी प्रकार कारणसमयसार और कार्यसमयसार। जो सहज चैतन्यस्वभाव है वह तो है कारणब्रह्म और जो चित्स्वभावको उत्कृष्ट शुद्ध विकास है वह है कार्यब्रह्म। परमार्थ दृष्टिसे यह

आत्मा निजस्वरूप होने के कारण कारणब्रह्मकी उपासना कर सकता है। कार्यब्रह्मकी उपासना तो उसे विषयभूत बनाकर अथवा आदर्श मानकर किया करते हैं। सो वहां भी इ। आत्माने गुणस्मरण रूप निज परिणमनका विकास किया है। तो जहां परमात्मतत्त्वकी भावना करनेका संवेश आया तो वहां पर अध्यात्मशास्त्रोंमें यह अर्थ लेना चाहिए कि कारणब्रह्मकी उपासना करें।

अज्ञानी जीवको जिसमें विश्वास बना है, धोखाकी चीज वही है, पढ़िये २९ वें श्लोकके एक प्रवचनांशमें, पृ० ६–वास्तविक भयका स्थान–पूर्व श्लोकमें कारण परमात्मतत्त्वकी भावना का वर्णन था। उस वर्णन को सुनकर किन्हीं भाइयोंको ऐसा लग सकता है कि वह तो बड़ी कठिन और भय वाली बात है। हमें तो सीधा सुखदाई यह घरका रहना ही लग रहा है। कहां का दंद फंद, अकेले रहो, सबसे विविक्त सोचो, कुटुम्बका परिहार करो। ये क्या आफते हैं ? कैसे गुजारे को बात हो अन्यथा बड़े भयकी बात है। ऐसे भयकी आशंका होनेपर आचार्य देव यह शिक्षा दे रहे हैं कि अरे मूढ़ आत्मन्, तुझे जिस जगह विश्वास लगा है कि यह मेरा सुखदायी है उससे बढ़कर भयकी चीज कोई दूसरी नहीं है। कोई नरकमें पहुंचे और वहां रहे सद्बुद्धि तो ठिकाने वाली अवश वहां समझमें आती है। जिस कुटुम्बके कारण विषय सुख के कारण, मित्रों के कारण नाना पाप किये हैं उन पापोंका यह फल मैं अकेले ही भोग रहा हूं। जब वे कोई मदद देने वाले नहीं है। जो दस बीस की संख्या में मेरा मन बहलाते भी थे। यह मूढ़ आत्मा जिस जगह विश्वास बनाये हुए है उससे बढ़कर दुःखकी चीज, भयकी चीज और कुछ नहीं है।

आत्महितके अर्थी को अनाकांक्षता व उदारताकी आवश्यकता है, इसका मनन कीजिये ३८ वें श्लोकके एक प्रवचनांशमें, पृ० ६५–अनाकांक्षता और उदारताकी आवश्यकता–यद्यपि धर्मपालनमें एक पैसे की भी अपेक्षा नहीं है, धर्म पैसे से नहीं होता, पर पैसे के लगावसे अधर्म तो होता है ना। तो उस अधर्मको दूर करने का हमारा बहुत बड़ा काम है। वह है उदार वृत्ति। जिससे हम धर्म पालने के पात्र हो सके, चित्तके विच्छेदको दूर करनेका काम पड़ा है। फिर तो ज्ञानसंस्कार हुआ कि स्वतः ही आत्मतत्त्वमें आत्माका अवस्थान हो जायगा। सारे क्लेश एक ममताके हैं। मायामयी दुनियामें मायामयी पोजीशन के रखनेका क्लेश है। दूसरा कुछ क्लेश है ही नहीं। न होता आज इतना वैभव, साधारण होते तो क्या ऐसा हो नहीं सकता था ? यहां जितना लोकमें बड़प्पन बढ़ जाता है उतना ही पोजीशन रखनेकी तृष्णा बढ़ जाती है। हुआ कहां धर्म ? जैसे किसी महान कार्यमें धन का दान करके तपस्या करके अथवा तन से परकी सेवा करके और कुछ यशका भाव रखा तो वहां सन्यास कहां हुआ ? प्रभुका प्यारा नहीं हो सकता है। जो कि अपने सम्बन्धमें इस मायामय जगतमें कुछ न चाहे और निश्चल शुद्ध भावोंसे परकी प्रभुता पर मोहित हो जाय अर्थात् अनुरक्त हो जाय और अपने को कुछ न माने और अपने को स्वतंत्र और सर्वस्व माने। इस जगतमें कुछ चाहने वाले के हाथ कुछ भी तो नहीं लगता है।

विवेक पूर्वक निर्णय करलो इस लोक रोष तोषका क्या अवकाश, पढ़िये ४६ वें श्लोकके एक प्रवचनांशमें, पृ० ११७–रोष तोष का अनवकाश–अब भला बतलावो, जो दिखता है वह अचेतन है, जो चेतन है वह दिखता नहीं है। तो मैं किस चीजमें रोष करूं और किस चीजमें तोष करूं ? अचेतन पदार्थोंमें रोष अथवा तोष करने से क्या फायदा है ? वे तो अचेतन हैं। इन पत्थरोंमें रोष तोष करनेसे क्या लाभ है ? अचेतनमें तो बच्चे ही रोष तोष करेंगे। किन्तु ज्ञानवान पुरुष इन अचेतन पदार्थोंमें रोष तोष नहीं करता। बच्चेके सिरमें किवाड़ लग जाय तो बच्चा रोता है, और मां उस बच्चों को दिखाकर समझा–कर किवाड़में दो चार थप्पड़ लगा देती है, तूने मेरे ललनको मारा। अब वह ललन शान्त हो जाता,

सन्तुष्ट हो जाता, इन अचेतन पदार्थों के किसी भी परिणमनसे वालक अगर रुष्ट हो जाय, तुष्ट हो जाय तो हो जाय पर ज्ञानी पुरुष इन अचेतन पदार्थों के कारण न तो रुष्ट होता है और न तुष्ट होता है।

संसारके दुःख रोग अनेक हैं, किन्तु उन समस्त संकट रोगोंको मिटाने वाली औषधि एक है, देखिये ४८ वें श्लोकके एक प्रवचनांशमें, पृ० १३०–संकटहारिणी मूल औषधि–भैया, किसी भी प्रकार की घबड़ाहट हो, किसी भी प्रकार की चिन्ता हो, सब को मूल औषधि एक है। अपने आपका जैसा सबसे न्यारा ज्ञान–मात्र स्वरूप है वैसा समझनेमें लग जावे, मैं सबसे न्यारा हूं इस मुझ अमूर्त तत्त्वको तो कोई जानता ही नहीं है। यह किसी के द्वारा अलग से जानने योग्य ही नहीं है। यह तो सब स्वरूपमें एक रस एक–स्वरूप है। इसमें भेद नहीं है। मुझे कौन पहिचानता है? ज्ञानयोग ही एक अमृततत्त्व है। ज्ञानका ही सर्वत्र एक प्रताप है, और कोई प्रताप प्रताप ही नहीं हैं। ज्ञान से ही यह प्राणी सुखी होता है और ज्ञान से ही यह लोक में पूजित होता है, ज्ञान से ही यह इस लोक और परलोक में सुखी होता है। ज्ञान ज्ञान के स्वरूप को जाने और ज्ञानमात्र ही मैं हूं ऐसा अपने आपके बारे मे अनुभव करे, वह है वास्त–विक ज्ञान।

देखो किसको प्रसन्न करना चाहते हो, निर्णय तो करलो, व्यर्थ परिश्रम क्यों किये जा रहे हैं? मनन कीजिये ५० वें श्लोकके एक प्रवचनांशमें–पृ० १५६–किसको प्रसन्न करना–इस जगतमें किस जीवको प्रसन्न रखने के लिए इतनी चेष्टा की जा रही है? अरे खुदको प्रसन्न कर लीजिये-निर्मल बना लीजिये, तो सब सिद्धि आपके हस्तगत है। बाहर बाहर के उपयोगके भ्रमान में तो सार कुछ न आयगा अपनी बुद्धि में बहुत देर तक किसी पदार्थ को मत रखिये क्योंकि यहां कुछ भी पर पदार्थ विश्वासके योग्य नहीं है। कोई नाम ले लो कि कौन सा पदार्थ परका ऐसा है कि हमारा हित करदे? शान्ति दे दे? है कोई शान्ति देने वाला पदार्थ? खूब सोच लो, कि पुद्गल तो कई प्रसंगोंमें जले भुने चेतनोंमें कुछ बने। वह तो अचेतन थूलमथूल पड़ा हुआ है। कई घटनायें ऐसी होती हैं जहां धोखा खाये, दूसरों के आगे बेवकूफ बनना पड़े, हित कुछ नहीं मिले, किन्तु अपना अहित ही परके वातावरणमें, परके सम्बन्ध में पाया है। यहां जीवको कौन सा पदार्थ हितकारी है? किसको प्रसन्न करना चाहते हो? कोई रक्षक हो तो प्रसन्न करो।

(१८१) समाधितन्त्र प्रवचन तृतीय भाग

इस पुस्तकमें समाधि तन्त्रके ५१ वें श्लोकसे ७५ वें श्लोकतक पूज्य श्री वर्णी जी सहजानन्द महाराजके प्रवचन हैं। अविकृत उपयोग बनानेके लिए एक भावनाका संकल्प कीजिये जैसा ५१ वें श्लोकके एक प्रवचनांशमें संकेत किया है। पृ० १–अविकृत उपयोग बनानेके उपायभूत भावनाका संकल्प–इन्द्रियोंके द्वारा जिनको मैं देखता हूं वे मेरे कुछ नहीं हैं, और जब इन्द्रियोंको संयत करके अपने आपके अंतरंगमें जो आत्मा–नन्दमय ज्ञानप्रकाशको देखता हूं वह मैं हूं। यह जीव परपदार्थों में अनाशक्त होता हुआ आत्मज्ञानको ही बुद्धिमें धारण कर सके–ऐसी कौन सी भावना है? यह बताना आवश्यक है, क्योंकि आत्मज्ञानसे भिन्न अन्य कुछ बात बुद्धि में धारण न करनी चाहिए। जीवन चलाना है, गुजारा करना है, इस कारण कुछ अन्य कामोंमें फंसना पड़ता है। उसे फिर करें, किन्तु अन्य कार्यों को बुद्धिमें बहुत समय तक धारण न करें, ऐसी स्थिति जीवनमें कैसे आ सकती है? इसके उपायमें यह भावना बतायी गई है कि इन्द्रियोंके द्वारा जो कुछ मुझे दिखता है वह कुछ नहीं है।

सत्य आराम पाने के लिए बोलो तो निरापद वचन बोलो, देखिये रहस्य ५१ वें श्लोकके एक प्रवचनांशमें, पृ० १६–२०–निरापद वचन–इस लोकमें चिन्ता ही क्या है। चिन्ता बनाई जाती है। चिन्ता योग्य बातें कुछ नहीं हैं। न रहा धन ज्यादह तो इससे कौन सी हानि है? मिला हुआ धन चला गया तो इसमें कौन सी हानि है? आत्मतत्त्वकी अन्य अन्य भी विपत्तियां सोच लो, इष्टवियोग हो गया, अनिष्ट संयोग हो गया तो इसमें कौन सी हानि है? इस आत्मतत्त्वकी हो गई? लेकिन ज्ञानानन्दनिधान आत्मस्वरूपको भूलकर जो बाह्य पदार्थों में मोह बुद्धि लगाये हुए हैं बस इसी से दुःख होगा। यह परिणाम दुःखस्वरूप है। उस दुःखको मेट सकने वाले जो वचन है उन वचनोंका सुनना और ऐसे वचनोंका बोलना, यही है अध्यात्मिकता में रमने का एक उपाय। जिस वचनसे अज्ञान संस्कार मिटे और ज्ञान–संस्कार बने, ऐसी ही बात बोलनी चाहिए।

अज्ञानी किस घटनामें अपना पोषण समझता है और ज्ञानी किसमें अपना पोषण परखता है देखिये अन्तर व निर्णय कीजिये अपने कदमका, ६३ वें श्लोकके एक प्रवचनांशमें पढ़िये–पृ० ७४–अज्ञानी और ज्ञानीकी पुष्टि–तर्कणा–ज्ञानी इस देहकी किसी अवस्थासे अपनमें कोई क्षोभ नहीं लाता है। वस्त्र मोटा होनेपर कोई दुबला सेखी मारे तो उस सेखीसे कहीं ताकत तो न आ जायेगी। भले ही मारे सेखी। यों ही देहके पुष्ट होनेसे अपनेको पुष्ट मानने वाले अज्ञानी पुरुषके कहीं शान्ति तो न आ जायेगी, आत्मबल तो नहीं आ सकता है? देहसे अपने आत्माका भेदविज्ञान करना, यह करण ज्ञानीके सुदृढ़ है। जैसे लाग बाहरी बातोंमें तैयारी देखकर भरा घर अब चारो ओर से मजबूत है, मैंने देशमें, समाजमें, सब तरह से अपनी मजबूती बना ली है। अब मुझे कुछ डर नहीं है। यों बहिरात्मापुरुष सोचता है तो अन्तरात्मा पुरुष अपने ही आपके भीतरकी तैयारी करके सन्तोष करता है। अब मैंने अपने आत्मस्वरूपको परख लिया है। अब मुझे अरक्षाका कोई भय नहीं है। मुझे परवस्तुकृत इस लोकमें अथवा परलोकमें कहीं भी विपदा की शंका नहीं है। मेरा सब कुछ मेरे में ही बसा है। मैंने अपने आपको खूब तैयार कर लिया है। अब भय नहीं ई, यह ज्ञानी पुरुष अपनी आन्तरिक पुष्टि से अपने को पुष्ट समझता है।

एक साधे सब सधे, इसके प्रयोगक यत्नकी प्रेरणा लीजिये ७१ वें श्लोकके एक प्रवचनांशमें पढ़िये–पृ० ११३–११४–एक साधे सब सधे–एक इस आत्मतत्त्वको साध लीजिये तो समृद्ध हो जावोगे। एक इस अन्तस्तत्त्वकी रुचि होने पर भी यदि अवशिष्ट रागवश बन्ध होता है तो पुण्यबन्ध होता है जिसके उदय कालमें सववैभव आता है। जिसका इस अन्तस्तत्त्वकी रुचि है उसके ऐसी विशुद्धता बढ़ती है कि भव भ के बांधे हुए कर्म भी क्षण मात्रमें एक साथ खिर जाया करते हैं। लौकिक और पारलौकिक आनन्द इस सहज आत्मतत्त्वकी दृष्टिमें भरा हुआ हो है। एक हिम्मतकी आवश्यकता है और हिम्मत भी कुछ नहीं, उल्टा जितना चल चुके हैं उतना लौटनेकी आवश्यकता है। करना कुछ नहीं है। जो खोटा कर्म किया है, जो खोटा कदम बढ़ाया है। बस उतना लौटने की जरूरत है। इससे आगे और कुछ भी काम करना इसे आवश्यक नहीं है। या समझो कि स्वतन्त्र निश्चल निष्काम आत्मतत्त्वके श्रद्धानमें, आचरण में, सर्वप्रकार की सिद्धि स्वयमेव पड़ी हुई है–ऐसा समझकर एक आत्मस्वरूपके जानन की रुचि करें, अभ्यास करें तो उस पुरुषार्थके प्रतापसे सवसमृद्धि हो सकती है।

ज्ञानीके निवास स्थानका परिचय कीजिये ७३ वें श्लोकके एक प्रवचनांशमें–पृ० १२७–१२८–आत्मदर्शी का निवास दर्शन–भैया, कहां हैं कहीं पर संकट? अपनी कल्पनाओंमें संकटोंका विस्तार बना लिया जाता है और अपने ही विचारोंसे संकटोंका संहार कर दिया जाता है। तो ज्ञाता द्रष्टा ज्ञानी सन्त

पुरुष हैं, उनके बाह्य विषयक ये कल्पनायें श्रद्धाका रूप नहीं रख सकती हैं। उन्हें न तो ग्रामवाससे प्रेम है और न उन्हें जंगलके निवाससे प्रेम है; क्योंकि वे दोनों ही स्थान अपने आत्मस्वरूपसे बाहरके स्थान हैं! ज्ञानी पुरुषको बाहरी क्षेत्रमें, बाहरी पदार्थोंमें आसक्ति नहीं है, प्रीति नहीं होती है। वे किसी भी बाह्यक्षेत्रको अपना निवास स्थान नहीं मानते हैं। जिनको भेद वज्ञान जग गया है और इसी कारण अपने आत्मामें अनाकुलताका प्रसार होने लगा है, उन्हें तो कहां गांवका निवास व कहां जंगलका निवास। उनको कहीं भी आसक्ति नहीं रहती है।

(१८२) समाधितन्त्र प्रवचन चतुर्थ भाग

इस पुस्तकमें समाधितन्त्र के ७६ वें श्लोकसे १०५ वें श्लोक के अन्तिम तक पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराजके प्रवचन हैं। मोही जगतमें फुट्टू देवी ऊंट पुजारीका नक्शा देखिये ७६ वें श्लोकके एक प्रवचनांशमें, पृ० २-३-फुट्टू देवी ऊंट पुजारी-भैया, सब कष्टोंका कारण शरीरमें आत्मबुद्धि करना है, लोग मुझे समझें कि ये बहुत बड़े पुरुष हैं। किन लोगोंमें यह चाहा जा रहा है? जो मोही हैं, मलिन हैं, अज्ञानी हैं, जिनको अपनी भी सुध बुध नहीं है, ऐसे लोगोंमें मेरा नाम फैले यह सोचा जा रहा है ऐसे पुरुषोंमें नाम फैलनेकी बात वही सोच सकता है जो खुद मलिन है, मोही है, शरीर को ही आत्मा मानता है। सो वहां जैसे एक कहावत है कि फुट्टू देवो ऊंट पुजारी ऐसी हालत हो रही है। किसी जगह पर एक फूपटा पत्थर पड़ा हुआ था, वह बन गया देवता, और उसके पूजने वाले ऊंट बन गये। ऐसी हालत इन मोही मोहियोंकी है। किनमें नाम चाहते हैं? ये मोही मोहियोंमें ही नाम चाहते हैं। मेरा नाम हो, इसमें मेरा शब्द कहनेसे किसको लक्ष्यमें लिया है? इस शरीरको, यदि इस चैतन्यस्वरूप आत्माको लक्ष्यमें लिया होता कि इस मेरे का नाम हो तो वह नामकी बात न सोचकर यों सोचता कि मेरा शुद्ध विकास प्रभुके ज्ञानमें दोखा हुआ हो।

मोही की उन्मत्त चेष्टाका दर्शन कीजिये ८० वें श्लोकके एक प्रवचनांशमें, पृ० २१-मोही की उन्मत्त चेष्टाका दर्शन-जैसे कोई पागल पुरुष थोड़ी देरमें किसीको अपना बता दे, थोड़ी देरमें किसीको अपना बता दे, ऐसे ही यह मोही पुरुष मनुष्यभवमें आया तो किन्हींको अपना बता दिया और मरकर देवगति में आ गया ता किन्हीं को अपना बता दिया। तिर्यंच गति में आया तो किन्हीं को अपना बता दिया, यह भी मोही पागलोंकी तरह किन्हीं किन्हीं को अपना बताता फिरता है और भव परिवर्तन की ही बात नहीं है किन्तु इस एक ही मनुष्यभवमें जब तक कषायसे कषाय मिलती रही तब तक अपना अपना गाता रहा, और जब कषाय न मिलती देखी तो उसे अपना न माना गैर मानने लगा। यों यह मोही कषायके आवेशसे अट्ट सट्ट अपनी कल्पनायें और मान्यतायें बनाता है, ऐसे-ऐसा ही तो दीख रहा है। अब बाहरमें यह जगत उन्मत्तकी तरह चेष्टावान नजर आ रहा है इस योगाभ्यासीको।

अपना भविष्य दृष्टिकलापर निर्भर है, सही दृष्टिका निर्णय करके सही दृष्टि बना लीजिये, सहयोग लीजिये ८५ वें श्लोकके इस प्रवचनांशमें-पृ० ४२-दृष्टि कलाकी जिम्मेदारी-भैया, दो तरह के सुख हैं-एक शुद्ध-चित्चमत्कारमात्र आत्मतत्त्वके अवलम्बनसे उत्पन्न स्वकीय आत्मीयसुख और एक मोहियोंमें होने वाला कल्पित विषयोंका सुख। अब देखिये दृष्टि द्वारा दोनों ही सुख मिट सकते हैं। चाहे आत्मीय सुख पालो और चाहे विषयी सुख पा लो, दोनों में ही प्रताप अपनी दृष्टिका है। करना और कुछ नहीं है, केवल भीतरका भाव ही बनाना है। शुद्ध स्वरूपकी दृष्टिका भाव बने तो आत्मीय आनन्द मिलेगा और बहि-मुंख दृष्टि करके विषयोंसे बड़ा बड़प्पन है, सुख है ऐसे भाव बनायें तो वहां कल्पित मौज है उस

कल्पित विषयी सुखके समय भी विह्वलता है। उससे पहले भी विह्वलता है, भोगने के बाद भी विह्वलता रहती है। परन्तु आत्मीय आनन्द पाने से पहिले भी समता और शान्ति रहती, आत्मीय आनन्द भोगने के समय भी समता और शान्ति रहती, और आत्मीय आनन्द अनुभव करने के बाद भी शान्ति और सन्तोष रहता है। ये दोनों ही बातें केवल दृष्टिसे मिल जाया करती हैं। अब किस ओर दृष्टि देना चाहिए यह हम आपका निर्णय जैसा हो वैसा है, पर सुविधा सब है।

शान्तिका उपाय सबके लिए एक है, अतः इस एक उपायमें जुट जाइये, निश्चय करिये ८९ वें श्लोकके एक प्रवचनांशमें, पृ० ९१–सबके लिए शान्तिका एक उपाय–जो लोग धर्मका, लिंगका, भेषका, मजहबका, इनका आग्रह करके अपनेको तुष्ट, तृप्त, कृतकृत्य मान लेते हैं वे आग्रही पुरुष हैं। इन विकल्पोंसे मुक्ति नहीं होती है, ऐसे विकल्प करने वाले लोग आत्माके परमपद को प्राप्त नहीं कर सकते। कोई भी हो, गृहस्थ हो या साधु हो, शान्ति मिलने का ढंग सबको एक सा बताया है। विकल्प छोड़कर निर्विकल्प अन्तस्तत्त्वके निकट पहुँचिये, शान्ति मिलेगी। सर्व उपाय करके यही शुद्ध भाव प्राप्त करने योग्य है।

बेहोशीमें भी होश, आश्चर्य न करिये, पढ़िये ९५ वें श्लोकका एक प्रवचनांश–पृ० ८१–बेहोशीमें होश–ज्ञानी सन्त बेहोशकी अवस्थामें भी होश वाला है। सावधान है। कैसा अद्भुत कार्य है, संस्कारका कि ज्ञानी पुरुष रोगवश बेहोश पड़ा हो, अथवा मरने के समय उसकी सारी इन्द्रियां बेहोश हो गई हों, सिथिल हो गई हों, उल्टी सांस ली जा रही हो, मरने का समय निकट आ रहा हो तो लोगोंको यों दिख रहा है कि यह बड़ा बेहोश है, कई दिनसे इसे होश नहीं है, लेकिन ज्ञानी का संस्कार ऐसा बना है कि कई दिनकी बेहोशीमें भी उसके निरन्तर अंतरंगमें ज्ञानप्रकाश बना रहता है। जिस ओर बुद्धि लगी हो उस ओर ही प्रीति और रुचि होती है। जहां रुचि होती हो वैसा ही चित्त बना रहता है। ज्ञानी पुरुषका चित्त ज्ञानकी ओर रहा आये सो उसकी वह लीनता सोई हुई और बेहोश जैसी अवस्थामें विषयोंकी ओर नहीं आने देती और आत्मस्वरूपकी ओर प्रवृत्त रहती है। कदाचित वह स्वप्न देखेगा तो ज्ञानके, धर्मके, भक्तिके देखेगा, और कभी बकवास करने जैसी बेहोशी आ जाय तो ज्ञानकी ही बातोंका बकवाद निकालेगा।

समाधिभाव ही कल्याणका उपाय है, उसके लिए जो सन्तजन तपश्चरण करते हैं, क्यों करते हैं, इसका समाधान १०२ वें श्लोकके एक प्रवचनांशमें पढ़िये–पृ० १०८–तपश्चरणके लिए सकारण अनुरोध–गत प्रसंग में यह बात चल रही थी कि आत्मा अनादि निधन है यह केवल भावनाही कर सकता है और भावना के प्रसादसे यह परमात्मत्वको प्राप्त कर लेता है। इस पर यह शंका होना प्राकृतिक है कि जब केवल आत्माकी भावना करने से ही मुक्ति मिल जाती है, फिर उपवास करना, तपस्या करना ये कठिन कठिन काम करने की क्या आवश्यकता है? इसके ही समाधान में इस श्लोक में कहा गया है कि जो ज्ञान बिना क्लेश सहे, आराम में प्राप्त किया जाता है वह ज्ञान दुःख के कारण छूटने पर नष्ट हो सकता है। इस कारण योगी पुरुषों को अपनी शक्ति के माफिक अपने को तपस्या में लगाना चाहिए।

(१८३) षोडशभावना प्रवचन प्रथम भाग

तीर्थंकर प्रकृतिके बन्धके कारणभूत दर्शनविशुद्धि आदि १६ भावनायें हैं। उनमें से दर्शनविशुद्धि नामक पहिली भावनापर पूज्य श्री १०५ मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराजने १५ दिन प्रवचन किये थे, वे सब प्रवचन इस प्रथम भागमें हैं। दर्शनविशुद्धि भावनामें देखिये ज्ञानीका निर्णय पृष्ठ ८–ज्ञानीका वर्तमान निर्णय–यह सम्य–

दृष्टि पुरुष प्रयोग्य तत्त्वके सम्बन्धमें यों यथार्थ निर्णय बनाये है–मेरे दुःखोंको उत्पन्न करनेवाला मेरा आश्रव भाव है। अन्य कोई भी पदार्थ मेरेको कष्टदायी नहीं है। राग मोह रोष ये ही दुःखोंकी खान है। अज्ञानी जनोंकी श्वानदृष्टि होती है। जैसे कुत्तेको कोई लाठी मारे तो वह लाठीको चबाता है। आक्रान्ता जो पुरुष है उसपर दृष्टि नहीं जाती है, इसी कारण कुत्ताको लोग दुत्कार देते हैं। ऐसे ही अज्ञानी जीव जो सामने आश्रयभूत पदार्थ आता है अपने कष्टके समयमें उन आश्रयभूत पदार्थोंका संचय विग्रह करता है, इसने ही मुझे सुख दिया, इसने ही मुझे दुःख दिया। इस अज्ञानीको यह विदित नहीं है कि सुख और दुःखका परिणाम मेरी ज्ञानकलासे प्रकट होता है। मैं जैसा सोचूं तैसी स्थिति सामने आती है। छोटी भी बात हो छोटी भी विपदा हो, पर ज्ञानकला कुछ महसूस कराकर बन रही हो तो वह पहाड़ जैसी विपदा लगती है। और कोई महान कष्ट भी हो और यह ज्ञानकला धैर्यको बनानेकी पद्धतिमें प्रकृत होती हो तो वह न कुछ जैसी बात होती है।

अब पढ़िये दर्शनविशुद्धकी पारमार्थिक करुणा पृष्ठ १ –पारमार्थिक करुणा–ज्ञानीके यह संकल्प नहीं होता है कि मैं तीर्थंकर बनूं और जगतके प्राणियोंका उद्धार करूं। यह तो अज्ञानभाव है। कोई भी ज्ञानी पुरुष कर्तृत्वका भाव नहीं ला सकता मैं इस जगतके जीवोंको संसारके दुखोंसे छुटाकर मोक्षमें पहुंचा दूं ऐसी बात ज्ञानी पुरुषके आशयमें नहीं है। यह प्राणी जब भी मुक्त होगा तो स्वयंकी दृष्टि पाकर स्वयंके रत्नत्रय भावके द्वारा मुक्त होगा। उसे तो अपार करुणा आ रही है। कोई त्यागी पुरुष, साधु पुरुष कहो जा रहा हो और रास्तेमें कोई भूखा आदमी मिल जाय तो उसको भी करुणा तो जागृत होती है पर वह कर क्या सकता है? पैसा पास नहीं रखता पर करुणा तो जैसे गृहस्थको होती है वैसे ही उन सन्यासियोंको भी होती रहती है, किन्तु इसको मैं रोटी बनाकर खिला दूं ऐसा परिणाम तो नहीं आता, पर वास्तविक हितपूर्ण करुणा बराबर हो रही है। ऐसे हो समझिएगा कि विश्वके समस्त प्राणियोंपर जो कि अपने अज्ञान भावसे बाह्यतत्त्वोंमें लगे हुए हैं व्यर्थ संसार भ्रमण कर रहे हैं उनको जानकर इन ज्ञानियोंके करुणा उत्पन्न हो रही है, पर मैं इनका उद्धार कर दूं, ऐसा–वह कर्तृत्वका संकल्प यों नहीं करता कि करे भी कोई संकल्प तो क्या उद्धार कर देगा। एक द्रव्य दूसरे द्रव्यमें कोई परिणमन कर सकेगा क्या? कभी नहीं।

अब समझिये कि तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध कैसे होता है–पृष्ठ ३९–तीर्थंकर प्रकृतिके बन्धके पात्र–तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध सुनकर उसकी चाह करने वाले पुरुषोंको इस प्रकरणसे यह शिक्षा लेना चाहिए कि कहीं मांगनेसे बन्ध नहीं होता किन्तु अपने आपको निःकांक्ष होकर ऐसा आत्मचरणमें ढाल दीजिए तो अन्तर कारणोंके अनुकूल तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध हो लेगा। सम्यग्दर्शन निर्मल हो तबभी तीर्थंकर प्रकृति बन्ध जाय ऐसा नहीं है किन्तु सम्यग्दर्शन निर्मल होनेके बावजूद भी विश्वहितकारी भावना उस प्रकारकी हो तो तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध होता है।

अब अवलोकिये ज्ञानधनकी उत्कृष्टता–पृ० ७१–ज्ञानधनकी उत्कृष्टता–आत्माका हित आनन्दमें है और आनन्द वही आनन्द है जहां आकुलता रंच नहीं है। आकुलताका सर्वथा अभाव समस्त पर और परजीवोंके संसर्गसे मुक्त होने में है। पर और परभावोंसे छुटकारा नहीं पा सकता है। जिसने अपने और पराये पदार्थका स्वरूप भली भांति समझा हो, स्व परका स्वरूप यथार्थ निश्चित किया हो, वही समझ सकता है। जिसके स्व परके लक्षणोंका यथार्थ निर्णय रखा हो। यह बात बनती है ज्ञान द्वारा। इसलिए सब हितोंका मूल उपाय ज्ञानार्जन है। जरा मुकाबला तो करो धनके अर्जनका और ज्ञानके अर्जनका। धन मरने पर साथ नहीं जाता किन्तु ज्ञानका संस्कार मरने पर भी साथ जाता है। हम

यहां कितने ही विद्यार्थियोंको ऐसा देखते हैं कि एक या दो बार ही कोई चीज पढ़ लेते हैं तो उन्हें याद हो जाता है, कितने ही बालक बहुत रटते हैं, पिटते हैं श्रवण करते हैं तिस पर भी याद नहीं होता है। यह फर्क कहांसे आ गया ? गुरु तो सब शिष्योंको एक साथ समानतासे समझा रहा है लेकिन किसीको एक बार में ही याद हो जाता है किसीको अनेक बारमें भी नहीं याद होता है। यह फर्क है ज्ञानावरणके क्षयोपसमका अर्थात् ज्ञानके संस्कारोंका। जीवका स्वरूप ज्ञान है इसलिए जितना ज्ञान विकाश अभी कर लिया जायगा वह संस्कारके रूपमें अगले भवमें भी जायगा, किन्तु धनकी एक दमड़ी भी साथ न जायगी।

(१८४) षोडशभावना प्रवचन द्वितीय भाग

इस पुस्तकमें विनयसम्पन्नतासे प्रवचनवत्सलत्व तक १५ तीर्थकृद्भावनाओंपर पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराजके प्रवचन हैं। इस भावनामें दर्शनविनय, ज्ञानविनय, चारित्रविनय व उपचारविनय इन चतुर्विध विनयोंपर प्रकाश डालनेके प्रसंगमें दर्शनविनयसे सम्बन्धित एक प्रवचनांशमें सम्यक्त्वकी भक्ति कीजिये–पृ० १–दर्शनविनय–सम्यक् श्रद्धानमें विनय होना सो दर्शनविनय है। संसारमें रुलनेवाले जीवोंको एक सम्यक्त्व का ही सहारा है। सम्यक्त्वके बिना संकटोंसे मुक्तिका पाना अन्य कोई उपाय नहीं है। भला बतलावो कि सर्व पदार्थ जब अपने ही स्वरूपमय हैं और अपना स्वरूप है ज्ञान और आनन्द, यह क्या आश्चर्यकी बात नहीं है। यह सब भ्रमका ही प्रसाद है। कुछ नहीं बनाना है अपनेको। बनी हुई है, सत्तासे बनी हुई है। सत्तासे बनी हुई है। स्वभावनिर्वृत्ति है, किन्तु, किन्तु भ्रम करके जो विपदा विडम्बना बना हो है, उनको तो दूर किये बिना काम न सरेगा। जहां सम्यक्त्व हो जाता है, शुद्ध आशय बन जाता है, यथार्थ दर्शन हो जाता है, यह मैं ज्ञानानन्द स्वभावमात्र हूं, मैं अपनी सत्ता से अपनेमें स्वयं बसा हूं, इस बातका जिन्हें दर्शन हो जाता है ऐसे पुरुषोंको यह बात ध्यानमें आती है–अहो सम्यग्दर्शन ही हमारा शरण है। इस सम्यक्त्वके बिना अनादि कालसे अब तक कुयोनियोंमें भ्रमण करते हुए चले आये हैं। यों सम्यक्त्वके प्रति विनय जगना यह है दर्शनविनय।

शीलव्रतानतिचार भावनाका वर्णन करनेके पश्चात् शीलका महत्व संक्षेपमें कहा गया है, उसका अध्ययन कीजिये–पृ० ११–१२–शीलका महत्व–शीलवान पुरुषोंका सब आदर देते हैं। कोई शीलकरि सहित हो और रूपसे रहित हो, रागग्रस्त हो तो भी वह अपने वातावरणसे अपने संसर्गसे समस्त पुरुषोंको मोहित करता है, अर्थात् शीलवान पुरुषपर सभी लोगोंका आकर्षण रहता है। शीलवान पुरुष सभी को सुखी बनाता है। शीलरहित अर्थात् व्यभिचारी कोई पुरुष कामदेवके तुल्य भी रूपवान हो तो भी लोकमें सब उसे दुदकारा करते हैं। जो कामी पुरुष है, धर्मसे वर्जित हो जाता है, आत्माके स्वभावसे विचलित हो जाता है, व्यवहार की शुद्धतासे भी विचलित हो जाता है, उसका ही नाम व्यभिचारी है। व्यभिचारके समान अन्य कोई कुकर्म नहीं है। ऐसे इस शीलमें व शीलसाधक व्रतमें निर्दोष रहने की भावना ज्ञानी पुरुषके रहती है। ऐसे ज्ञानी पुरुष जब विश्वके प्राणियोंपर परम करुणाका भाव करते हैं तो उनके तीर्थकर प्रकृतिका बन्ध होता है।

अभीक्ष्णज्ञानोपयोगसे मानवजन्मकी सफलता है, इसका विचार कीजिये इस प्रवचनांशमें, पृ० १२–१३–अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगसे मानवजन्मकी सफलता–भैया, कितना दुर्लभ यह जन्म है, फिर भी ऐसे कठिन मनुष्यभवको पाकर गप्पोंमें लगाना, मोहियोंमें ही अधिक समय बिताना और असार भिन्न जड़ पौद्–गलिक धन वैभवके संचयमें, उनकी कल्पनामें समय गुजारना और जो अपना परमार्थ शरण है, सारभूत है, ऐसे ज्ञान के लिए समय न देना, इससे बढ़कर खेद की और बात क्या हो सकती है ? आत्मन्, ऐसा

सुअवसर पाकर, जहां श्रेष्ठ मन मिला है, जहां इन्द्रियां व्यवस्थित हैं, बुद्धि भी काम करती है, ज्ञानका सुयोग भी मिला है, ऐसे अवसरका पाकर हे आत्मन, तुम ज्ञानाभ्यास ही करो। ज्ञानके अभ्यास बिना एक क्षण भी व्यतीत मत करो। ऐसी भावना अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगमें होती है।

संवेग भावनाके एक प्रवचनांशमें संवेग और संवेगका फल पढ़ें यह प्रवचनांश पृ० ३१–संवेग और संवेग का फल–इस सम्वेगभावनाके फलमें अपने आपके शुद्ध आनन्दका, बारबार अनुभव होता है और जब जब सधर्मीजन होते हैं तो उनको देखकर प्रमोदभाव होना है। धन्य हैं सधर्मीजन मिलनेकी घड़ो। वे उस क्षणको धन्य मानते हैं जिस क्षण रत्नत्रयके धारी मोक्षमार्गके रुचिया जन मिलते हैं। साथ ही वे भोगोंसे सहज ही विरक्त रहा करते हैं, ऐसे पवित्र ज्ञानके उपवासी सन्त पुरुष जब अन्य जीवोंपर दृष्टि देते हैं तो कुछ विषाद भरा अनुराग होता है। और, जरा ही तो अपने उन्मुख होना है कि सारे संकट इसके टल जाते हैं। केवल एक मुखके मोड़में ही संसार और मुक्तिका अन्तर है। जहां इस समय पीठ है वहां मुख करना है और जिन बाह्य पदार्थोंको ओर मुख किए हैं वहां पीठ करना है। इतनाही करने के पश्चात् कल्याणके लिए जो सम्वेगभावना हो जाती है उस भावनाका आदर करें। अपने चित्तसे यह श्रद्धा हटावो कि धन वैभव ही मेरे सब कुछ हैं। अरे वे ता धूलकी तरह हैं। क्या तत्त्व उनमें रक्खा है। वे सब बाह्य हैं, भिन्न हैं, पुद्गल हैं, अहितरूप हैं, जिनका विषय करनेसे तृष्णाका रोग उत्पन्न होता है। यों भोगोंसे विरक्त होकर, निज स्वरूपमें अनुरक्त होकर संवेगभावनाको धारण करें जिससे निकट काल में ही इस संसारके सारे संकटोंसे मुक्ति मिल सकेगी।

शक्तितस्तप भावनामें समताकी प्रमुखता होती है, इसका प्रयोग करें, पढ़ें यह प्रवचनांश पृ० ४३–शक्तितः तपमें समताकी प्रमुखता–तपस्यकी मूर्ति, आभ्यंतर और बाह्य परिग्रहोंसे रहित साधु पुरुष होते हैं। इस तप भावनामें अपनी ऐसी भावना होनी चाहिए कि कब वह दिन आये, कब वह क्षण आये कि सर्व परिग्रहोंसे विकल्प त्यागकर शुद्ध निर्विकल्प निज ज्ञायकस्वरूपमें रत रहा करें और ऐसे दशन करते हुए में कैसा भी उपद्रव आये, बड़े उपसर्ग आये, फिर भी उनसे विचलित न होना, अपना आत्मबल बनाये रहना, ऐसी भावना करना सो शक्तितः तप भावना है। अनुकूल प्रतिकूल कुछ घटनायें आयें उन घट–नाओंमें अपना समता परिणाम रख सकना, धैर्यभाव बना सकना यह भी तप है। इस समतारूप तपश्–चरणमें कितना ज्ञानबल लगाना होता है, कितनी उपेक्षावृत्ति रखनी पड़ती है वह अज्ञानीजनोंके द्वारा किया जाना असम्भव है। इस ज्ञानबलको जो सभाले वह ज्ञानी ही है।

साधुसमाधिभावनाके वर्णनके पश्चात् संक्षेपमें समाधिकी अन्तः मुद्राका संक्षेपमें दिग्दर्शन कीजिये, पृ० ५२-५३–अन्तः समाधि व बाह्यसमाधि–समाधिभावके प्रेमी ज्ञानी संत जब कभी दूसरे धर्मात्माजनों पर संकट आया देखते हैं तो उन सब संकटोंको दूर करने का उनका यत्न चला करता है। अपने आपको समाधिरूप बनाने का यत्न करें, समाधि का परिणाम रखें यह साधुसमाधि भावना है। भावना के प्रताप से यह ज्ञानी पुरुष ऐसी विशिष्ट पुण्य प्रकृति का बन्ध कर लेता है जिसके उदयमें यह त्रिलोका–धिपति तीर्थंकर महापुरुष होता है। यही तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध करने वाले जीवकी समाधिभावना है।

अन्तिम भावना प्रवचनवत्सलत्वका संक्षिप्त परिचय देखिये–पृ० ६३–प्रवचनवत्सलत्व–तीर्थंकर प्रकृति की बन्ध करने वाली भावनाओंमें आजयह अन्तिम भावना आ रही है। इसका नाम हैप्रवचनवत्सलत्व। प्रवचनका अर्थ है देव, गुरु और धर्म। इनमें प्रीति भावका होना सो प्रवचनवत्सलत्व है। जिसमें सम्य–ग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की अभेद एकता हो चुकी है। ऐसे ज्ञानपुंज देवमें प्रीति उत्पन्न

होना और जो इस स्थितिके उत्सुक हैं तथा जिनकी दृष्टि इस शुद्ध परिणमनके साधनभूत शुद्ध सहज स्वरूपकी ओर रहा करती है ऐसे साधनोंकी भावना करना यह है प्रवचनवत्सलत्व।

(१८५-१८८) परीक्षामुखसूत्र प्रवचन (प्रमेयकमलमार्तण्डप्रवचन) १, २, ३, ४ भाग

इस पुस्तकमें प्रसिद्ध दार्शनिक सूत्र ग्रन्थ परीक्षामुखसूत्रकी प्रमेयकमलमार्तण्ड टीकाके अनुसार विस्तृत स्पष्ट व सरल प्रवचन हैं। पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराजका यह बहुत उच्च प्रयास है जिसमें दार्शनिक कठिन विषयोंको भी सुबोध बना दिया है। मंगलाचरणके प्रवचनमें परीक्षापद्धतिके महत्वका चित्रण एक प्रवचनांशमें देखिये-पृष्ट-१०-परीक्षापद्धतिका महत्व-भैया-परीक्षाकी पद्धतिका कितना बड़ा महत्व होता है। जैसे सोना कसने वाली परीक्षाशिला होती है तो उसका महत्व उस कसौटीसे है उसके रूप और आकारसे नहीं है। कोई कहे कि वाह, इससे भी सुन्दर कोई शिला रख लें, यह तो छोटी शिला है, कोई बड़ी सी शिला रखले तो बड़ी अच्छी सोने की परीक्षा हो जायगी, तो उसका यह सोचना मिथ्या है। थर्मामीटर बुखार नापनेके काम आता है। कोई कहे कि यह तो बहुत छोटा है, एक बिजली का डंडा लगा दें तो ठीक रहेगा, छोटी मोटी चीजसे क्या फायदा? तो उसका यह सोचना मिथ्या है क्योंकि उस बिजलीके बड़े भारी डंडेसे बुखार की परीक्षा तो न हो जायगी। तो उसका महत्व परीक्षासे है। यह परीक्षामुख-सूत्र ज्ञानकी परीक्षा बतावेगा कि यह ज्ञान सही है, इसमें अमुक दोष नहीं है, अमुक गुण है, इसलिए यह यथार्थ ज्ञान है और यह ज्ञान झूठा है, इसमें इतने दोष हैं, यह यथार्थ ज्ञान नहीं है। तो ज्ञानकी परीक्षा करा देने वाले इस ग्रन्थका बहुत बड़ा महत्व है। यों समझिये कि न्यायशास्त्रमें और प्रतिमाके विकासमें ऐसे ग्रन्थके समझे बिना प्रवृत्ति ही नहीं हो सकती। तो इस ग्रन्थमें सम्बन्ध और अभिधेय बराबर ठीक है।

परीक्षा का सर्वसम्मत उपाय क्या है, उसका ही वर्णन इस ग्रन्थमें है, इस सम्बन्ध की पुष्टि, पढ़िये एक प्रवचनांशमें, पृष्ट १५-परीक्षाके सर्वसम्मत उपायकी वक्तव्यता-इस परीक्षा मुखसूत्र जैसे वक्तव्यको समझे बिना कभी वस्तुके निर्णयमें सफल नहीं हो सकते। यों छोटी छोटी जानकारी रखकर अथवा ग्रंथोंमें जो कुछ सीधा सादा लिखा है उसे जानकर कोई सन्तोष मान ले-मैंने खूब अध्ययन किया है, मैंने तो सब कुछ अध्ययन कर लिया, वहां अधुरापन हो है। देखो, एक तो होती है कहने की जानकारी और एक होती है प्रतिभा। न्यायशास्त्रका प्रतिभासे सम्बन्ध है। किसी दूसरे पुरुषको हम अपने आगमशास्त्रकी कुछ बात कहकर उसे चुप करना चाहें तो वह चुप होगा क्या? अजी साहब हमारे अमुक ग्रन्थमें तो यों लिखा है। लिखा होगा, तुम्हारे ग्रंथ कपोलकल्पित हैं, जो चाहे लिख दिया है, हर एक कोई दूसरोंके लिए यही उत्तर दे सकता है। वहां तो युक्तियोंसे सिद्ध करना होगा और युक्तियां वादी और प्रतिवादी दोनों के लिए मान्य हुआ करती हैं। शास्त्र, आगम दोनों के लिए मान्य नहीं हुआ करते। तो उन्हीं युक्तियोंसे प्रमाणोंसे इस ग्रंथमें बताया जायेगा कि किस शैलीसे युक्तियां निर्दोष होती हैं और किस शैली से युक्तियां सदोष होती हैं। सदोष ज्ञानअप्रमाण है और निर्दोष ज्ञान प्रमाण है। प्रमाणसे अर्थ की सिद्धि होती है और प्रमाणाभाससे अर्थ की सिद्धि नहीं होती, अर्थात् सच्चे ज्ञानसे पदार्थ की सिद्धि होती है, सच्चे ज्ञानसे हितके प्राप्ति की सिद्धि होती है और सच्चे ज्ञानसे ही अहित को छोड़ने की दृष्टि होती है, और सच्चे ज्ञानसे ही उपेक्षा करके विश्राम से स्थित होने की दृष्टि होती है। तो समस्त कल्याण तो सच्चे ज्ञानपर निर्भर हैं और मिथ्याज्ञानसे सब अनर्थ ही अनर्थ होता है।

प्रथ सूत्रमें प्रमाण का लक्षण किया है, उसके सम्बन्धमें संक्षिप्त स्पष्टीकरण इस एक प्रवचनांशमें

पढ़िये—पृ० २६—प्रमाणमें स्वव्यवसायात्मकता—इस प्रसंगमें जो स्व शब्द दिया है इसका अर्थ न लेना कि ऐसा अर्थ करने लगो कि जो आत्माका और परपदार्थोंका निश्चय करने वाला ज्ञान हो वह प्रमाण है। दार्शनिक शैलीमें और प्रमाणके इन लक्षणोंमें अभी यह बात नहीं कही गयी। यहां पर "पर" शब्द ही नहीं दिया गया। स्व और अपूर्व अर्थका निश्चय करने वाला ज्ञान प्रमाण है। चाहे आत्माका निश्चय करने वाला हो चाहे परपदार्थोंका निश्चय करनेवाला हो सब अपूर्व अर्थमें सम्मिलित हैं, उनका ज्ञान प्रमाण है। तब स्वशब्दसे ज्ञानका स्व लेना। जो जानने वाला ज्ञान है वह ज्ञान अपने आपका भी निश्चय रखता है। मैं सत्य हूं और पदार्थ की जानकारी का भी निश्चय करता हूं कि यह पदार्थ इस प्रकार है। अथवा ज्ञान व आत्मामें अभेद है इस कारण स्व शब्दसे आत्माका ग्रहण हो ही जाता है।

कुछ दार्शनिक कारकसाकल्यको प्रमाण मानते हैं, इस मन्तव्यके निराकरणमें विस्तृत प्रवचन हैं, संक्षेपमें उसका दिग्दर्शन करना हो तो एक इस ही प्रवचनांशको देख लीजिये—पृ० ३१—प्रमाणमें ज्ञानकी ही साधकता—यहां एक चर्चा यह उपस्थित हुई है कि साधकतमको तुम प्रमाण मानते हो तो कोई पुरुष कुल्हाड़ीसे लकड़ी काट रहा है तो लकड़ी काटनेका साधन है कुल्हाड़ी। जिसके द्वारा लकड़ी काटी जाय वही तो साधकतम है काटनेका। साधकतम कहते हैं करणको। जो साधकतम हो वह प्रमाण है इस पर कोई कहे कि वाह, जाननेमें साधकतम तो एक प्रकाश भी है तो फिर प्रकाश आदि प्रमाण हो ही जायगा क्या? कहते हैं—नहीं। प्रकाश जाननेमें साधकतम नहीं है। जाननेमें साधकतम तो ज्ञान ही है, पर कारकसमूह निमित्त है इसलिए उपचारसे कारकसाकल्यको साधकतम कहते हैं।

कुछ दार्शनिक सन्निकर्षको अर्थात् इन्द्रिय व पदार्थके सम्बन्धको प्रमाण मानते हैं, किन्तु जैसे कारकसाकल्य ज्ञप्तिमें (जाननक्रियामें) साधकतम नहीं, इसी प्रकार सन्निकर्ष भी साधकतम नहीं, ज्ञानस्वरूप योग्यता ही साधकतम है, अतः ज्ञान ही प्रमाण है। पृ० ६८—स्वार्थपरिच्छित्तियोग्यताकी साधकतमता—देखो जिसके न होने पर और अन्य पदार्थोंके होने पर भी जो बात उत्पन्न नहीं होती है वह उसके कारणसे उत्पन्न हुई मानना चाहिए। जैसे कुल्हाड़ी के न होने पर और और पदार्थ कितने ही हों, मिट्टी है, पत्थर है, लोग खड़े हैं, कुछ भी अनेक पदार्थ हों पर एक कुल्हाड़ीके न होने पर काठ नहीं छेदा जा सकता, तो काठके टुकड़े करनेमें साधकतम तो कुल्हाड़ी ही रही। इसी प्रकार भावेन्द्रियरूप योग्यताके न होने पर चाहे सन्निकर्ष भी हो, चाहे कारकसाकल्य भी हो, लेकिन पदार्थका ज्ञान नहीं होता, इससे यह सिद्ध है कि पदार्थका ज्ञान, पदार्थका प्रमाण यहां भावेन्द्रियके द्वारा चलता है। तो भावेन्द्रिय कहो अथवा योग्यता कहो या ज्ञान कहो सब उसके निकट की बातें हैं। अपना और परपदार्थोंका आभास होने वाले ज्ञानरूप प्रमाण की सामग्री तो वह योग्यता है, इस कारण प्रमाण की उत्पत्ति में योग्यता साधकतम है। वह योग्यता ज्ञानस्वरूप है क्योंकि यह अन्तःस्वरूप योग्यता किसी अन्य पदार्थ के परिणमनको लेकर प्रमाणरूप नहीं बनती अतएव वह स्वतन्त्र होकर ज्ञानरूप बनती है। तो ज्ञान ही प्रमाण है, सन्निकर्ष प्रमाण नहीं है।

प्रथम सूत्रके प्रवचनमें चर्चायें हुई, कारकसाकल्य (पदार्थसमूह) सन्निकर्ष (इन्द्रिय व पदार्थका सम्बन्ध), इन्द्रियवृत्ति) इन्द्रियका व्यापार, ज्ञातृव्यापार (ज्ञानसे भिन्न आत्माका व्यापार) व ज्ञानान्तरवेद्य ज्ञान प्रमाण नहीं है, इस सम्बन्धमें उपसंहारात्मक एक प्रवचनांश देखिये-पृ० १०२—इन्द्रियवृत्ति और ज्ञातृव्यापारका सिद्धान्त—सन्निकर्ष के बाद रखा इन्द्रियवृत्ति। इन्द्रिय और पदार्थका सम्बन्ध तो नहीं, किन्तु, इन्द्रियका खुलना बढ़ना आदि यह प्रमाण है। ये कुछ भीतर की ओर आते जा रहे हैं। कारक साकल्यमें तो एकदम

बाहर बाहर उनका बोलना था इन्द्रियसन्निकर्षमें कुछ उसके भीतर आये और इन्द्रियवृत्तिमें पदार्थको भी छोड़ दिया, केवल इन्द्रियके व्यापार तकआ गये और अब इन चार प्रमाणोंमें इन्द्रियको भी छोड़कर आत्माके व्यापार तक आये। यहां और भीतर आये। लेकिन सबके आशयमें अज्ञानरूपता बन रही है। ज्ञानको प्रमाण नहीं माना और अब पांचवें प्रमाणमें ज्ञानको भी प्रमाण माना, जो परोक्षरूप ज्ञान है वह है प्रमाण, ऐसे ज्ञानको प्रमाण कहा है। वह ज्ञान खुदका ज्ञान नही कर सकता। ज्ञानका ज्ञान करने के लिए और ज्ञानकी जरूरत होती है ऐसे ज्ञानान्तरवेद्य ज्ञानस्वभावी आत्माके व्यापारको प्रमाण कहा है। वह भी युक्त नहीं कहा।

द्वितीय सूत्रमें बताया गया है कि ज्ञान ही प्रमाण हो सकता है, क्योंकि ज्ञान ही हितकी प्राप्तिमें अहितके परिहारमें समर्थ है। इसमें हितप्राप्ति समर्थतासे सम्बन्धित एक प्रवचनांश देखिये-पृ० १०५-ज्ञानकी हितप्राप्ति-समर्थताका समर्थन-प्रमाणका स्वरूप पहिले सूत्रमें कहा गया था। स्व अपूर्व अर्थका व्यवसायात्मक जो ज्ञान है वह प्रमाण है। तो प्रमाण शब्दका तो खूब विवेचन किया गया था। इस सूत्रमें ज्ञानका विवेचन किया जा रहा है कि ज्ञानही प्रमाण है। अज्ञान क्यों नहीं प्रमाण बनता? अज्ञानमें हितकी प्राप्ति करा देना और अहितका परित्याग करा देना यह सामर्थ्य नहीं है। जानकर हो तो हम हितकार्य को करते हैं और अहितकार्य को छोड़ते हैं। और, एक दृष्टिसे देखो तो जाननेमें ही हितकी प्राप्ति और अहितका परिहार हो जाता है। लौकिक बातोंमें तो समयभेद मालूम होता है। जाना हमने अभी और हितकी प्राप्ति करेंगे थोड़ी देरमें, लेकिन परमार्थसे, अध्यात्मदृष्टिसे ज्ञानके ही कालमें हितकी प्राप्ति होती है और अहितका परिहार होता है। जैसे अन्तर्ज्ञान होता है, यह आत्मा मात्र ज्ञानज्योतिस्वरूप है, ऐसा उपयोग गया, ऐसी ही मान्यता बनी, ऐसा ही अनुभव जगा तो उस कालमें हितरूप जो आत्मतत्त्व है उसकी प्राप्ति हो गयी। कहीं आत्मतत्त्वको पाने के लिए दौड़ नहीं लगानी पड़ती, कोई क्रिया नहीं करनी पड़ती, क्रिया रंच नहीं होती, हलन चलन रंच नहीं होती। उस ही क्षेत्रमें निश्चल होकर ज्ञान किया जाता है अंतस्तत्त्वका। तो जिस क्षणमें जान लिया कि यह मैं आत्मा ज्ञानस्वभावमात्र हूं तो ज्ञान ही इसका सर्वस्व है, सो उस ज्ञानने जब जब कषायोंको त्याग दिया अर्थात कषायोंका ग्रहण न किया, कषायोंको पररूप जानकर ज्ञान ने त्याग दिया। यद्यपि आत्मक्षेत्रसे कषायें हटी भी नहीं है, लेकिन ज्ञान ने तो कषायको छोड़ दिया और अन्तः आत्मस्वरूपका ज्ञानने ग्रहण किया तो उस ज्ञानमें तो तत्काल हित की प्राप्ति और अहितका परिहार बन गया।

प्रमाणके समीचीन लक्षणके विरुद्ध क्षणिकवादी अनिश्चयात्मक निर्विकल्प ज्ञानको प्रमाण मानते हैं, इसके निराकरणके प्रवचनोंके प्रसंगमें देखिये निर्विकल्प व सविकल्प ज्ञानमें क्षणिकवादाभिमत परस्पर अध्यारोप की असिद्धिका एक प्रवचनांश-पृ० १२८-दोनों ज्ञानोंमें परस्पर अध्यारोप की असिद्धि-यहां इस प्रकरणकी चर्चा यों आ गया कि आचार्य देवने इस सिद्धान्तमें यह बात रखी है कि प्रमाण वही ज्ञान होता होता है कि स्व एवं अपूर्व अर्थका व्यवसायात्मक हो अर्थात् जो निजका और पदार्थका निश्चय करे वह ज्ञान प्रमाण है। इस पर क्षणिकवादीने यह बात कही कि निश्चय करनेवाले ज्ञान तो सभी अप्रमाण होते हैं, क्योंकि जिसका निश्चय कर रहे हों वे सब मिथ्या हैं और जो वास्तविक है उसका प्रत्यक्ष तो होता है पर निश्चय नहीं होता। यह क्षणिकवादका सिद्धान्त है। इस पर निर्विकल्प ज्ञानमें प्रमाणता नहीं है, यह बात अनेक विकल्प उठाकर कही जा रही है। तो पूर्व पक्षमें यह बताया है कि निर्वि-कल्पज्ञान और सविकल्प ज्ञानमें एकत्व भ्रम हो गया है, इस कारण निर्विकल्प ज्ञानकी लोगोंको प्रतीति नहीं है, एक का दूसरे में अध्यारोप हो गया। तो यह बतलाओ विकल्पज्ञानमें निर्विकल्पका आरोप

किया जा रहा है या निर्विकल्प ज्ञानमें विकल्पज्ञानका आरोप किया जा रहा है ? अर्थात् विकल्प ज्ञान को निर्विकल्परूपसे बनाना यही है विकल्पमें निर्विकल्पका आरोप । और निर्विकल्प ज्ञानको विकल्पात्मक बना डालना यही है निर्विकल्पमें विकल्पका आरोप । यदि विकल्प ज्ञानमें निर्विकल्पका आरोप करते हो तो विकल्प तो सब खतम हो गये, फिर व्यवहार कुछ रहना ही न चाहिए । सारे के सारे ज्ञान निर्विकल्प हो जाना चाहिए । सो निर्विकल्प ज्ञानसे कुछ लोगोंमें भी व्याख्या चलती है क्या ? और, यदि निर्विकल्पमें विकल्प डाल दिया तो निर्विकल्पकी बात ही मत करो । सब ज्ञान सविकल्प हो जायेंगे ।

समारोप (संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय) के विरोधी ज्ञानको प्रमाण कहते हैं, इस पर कुछ दार्शनिक समारोपका स्वरूप ही सिद्ध होने नहीं दे रहे थे, उसे असदख्याति, स्मृतिप्रमोष, प्रसिद्धार्थख्याति आदि नाम धर-धर के टाल रहे थे । सो समारोपका स्वरूप सिद्ध करने के प्रसंगमें निष्कर्षात्मक एक प्रवचनांश देखिये, तृतीय भागमें, पृष्ट २५४–सम्यग्ज्ञानमें समारोप का अभाव–सच्चा ज्ञान वह कहलाता है जो अपना और पदार्थोंका यथार्थ निर्णय करे । सच्चे ज्ञानमें संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय नहीं होता । अर्थात् न तो सम्यग्ज्ञान में संशय बसा रहता है कि अमुक पदार्थ यों है संशयज्ञान है, जहां संशयज्ञान न हो वह यथार्थ ज्ञान कहलाता है । सम्यग्ज्ञानमें विपर्यय ज्ञान भी नहीं होता । जैसे पड़ी तो रस्सी है और जान रहे हैं सांप, तो यह उल्टा ज्ञान हुआ । विपर्ययज्ञान भी सम्यग्ज्ञानमें नहीं है, और अनध्यवसाय ज्ञान कहते हैं अनिश्चयको । जहां कुछ भी निश्चय की भावना तक भी नहीं है और कुछ झलक जरूर हुई है । जैसे चले जा रहे है, पैरमें तिनका लग गया तो उसमें और कुछ ध्यान न होना । अरे, लगा होगा कुछ । उस के निर्णय की भावना तक भी नहीं हो, यथार्थ ज्ञानमें यह अनध्यवसाय भी नहीं होता । यह है सिद्धान्त की बात ।

चतुर्थभागमें ज्ञेयतत्त्वका अपलाप करने वाले अद्वैतवादकी मीमांसा करके अन्तमें निष्कर्षात्मक निर्णय दिया है, उस प्रवचनांशको पढ़िये–पृ० ३८८–ज्ञानकी प्रमाणता और ज्ञेयोंका सद्भाव–भैया, सीधे मानो कि ज्ञानमात्र आत्मा है, वह पदार्थका ज्ञान करनेमें समर्थ है और ज्ञानको कुछ न कुछ विषयभूत पदार्थ चाहिए ही । तो जो पदार्थ जाननका विषय आया वह पदार्थ अपनी सत्ता अलग रखता है । जाननहार ये चेतन पदार्थ अपनी सत्ता अलग रखते हैं, सब अपना अपना काम कर रहे हैं । इन जड़ पदार्थोंका काम उत्पादव्यय करते रहना है , सो अपने स्वरूपसे अपने ही अनुरूप वे उत्पाद व्यय करते हैं । इस चैतन्य आत्माका भी काम उत्पाद व्यय करता रहना है, सो चूंकि यह चैतन है इसलिए जानने के ढंगसे यह अपना उत्पाद व्यय करता रहता है, ज्ञानका मात्र नवीन नवीन परिणाम होता रहता है । ज्ञान भी तत्त्व है और ये समस्त ज्ञेयतत्त्व हैं । इनमें से किसी का भी अपलाप नहीं किया जा सकता है । इन सबका जाननहार जो एक ज्ञान है वह ही सब व्यवस्था बनाता है और वह ज्ञान प्रमाण है । इस प्रकार यहां तक यह सिद्ध किया गया कि ज्ञानका स्वरूप ऐसा ही मानना चाहिए जो अपने आपके स्वरूपका प्रतिभास करे और समस्त पदार्थोंका प्रतिभास कराये । और प्रकार से ज्ञानका स्वरूप मानोगे तो न स्वरूप बन सकेगा और न प्रमाणता आ सकती है ।

(१८९–१९१) परीक्षामुखसूत्र प्रवचन (प्रमेयकमलमार्तण्डप्रवचन) ५, ६, ७ भाग

इस पुस्तकके षष्ठ व सप्तम भागमें परीक्षामुखसूत्रके प्रथम अध्यायके छठे सूत्रसे अन्तिम १२ वें सूत्र तकके पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराजके प्रवचन हैं । ज्ञानकी अर्थव्यवसायात्मकता की भांति

स्वव्यवसायात्मकता सिद्ध करते हुए एक प्रवचनांशमें निर्णय दिया है, पढ़िये पृ० १४-अब जरा अनुभव से भी विचार लो कि हम जितना जो कुछ भी जानते हैं उस सबके जाननेके साथ साथ स्वयं में भी सन्तोष होना, प्रतिभास होना, उजेला रहना, निर्णय रहना ये सब बातें चलती हैं ना। चाहे कोई इसका विश्लेषण न करता हो, उसे उस प्रयोगरूपमें बचनोंमें न लेता हो, लेकिन प्रत्येक ज्ञानकी यह तारीफ है कि वह अपने आप को चेतता रहता है, तभी वह बाह्य पदार्थों का जाननहार होता है। ज्ञान स्वव्यवसायात्मक ही है क्योंकि वह अन्य इन्द्रिय आदिककी अपेक्षा न रखकर पदार्थ की व्यवस्था करता है।

कोई दार्शनिक प्रकृतिसे ज्ञानकी उत्पत्ति होती है, उससे सम्बन्धित एक प्रवचनांश देखिये, प्रकृति क्या चीज है, तब विदित होगा कि ज्ञान प्रकृतिसे निराला है, पृ० २१-जैन शासनमें प्रकृतिका स्थान-प्रकृतिके सम्बन्धमें इसका समन्वय करनेके लिए थोड़ा जैनशासनके अनुसार सोचिये-जैसे कभी बहुत सुरम्य स्थान पर अपन पहुंचें। शिमला, मंसूरी, काश्मीर किसी भी जगह जायें और रमणीक फल वृक्ष पत्ते वगैरह हो, नदी भी बह रही हो, नाला भी बहता हो, कलकलाहटके शब्द भी आ रहे हों, कुछ चिड़ियां भी चहक रही हों तो ऐसे दृश्यको देखकर कोई लोग कहने लगते हैं-वाह कैसा रमणीक दृश्य है, देखो प्रकृति कितनी सुहावनी है। भला बतलावो तो सही कि वह प्रकृति क्या चीज है? किसका नाम प्रकृति है? और किसकी खूबी है जो इतना सुहावना दृश्य लगता है? क्या है वह प्रकृति? इसका जैनदर्शनसे निर्णय करें। वह प्रकृति है कर्म की। कर्ममें नाना प्रकृतियां पायी जाती हैं और जिस जीवके साथ जिस प्रकार की प्रकृति बंधी हुई है उसके उदयमें उसका उस प्रकारसे परिणमन होता है। अब देख लीजिये-फूलोंकी विचित्रता। कोई एक फूल ऐसा होता है जिसमें आप ७ रंग पायेंगे और विचित्र ढंगसे और उसीके पेड़में किसी जगह और ढंगसे फूलोंके रंग पायेंगे। इतनी प्रकार की फूलोंमें जो विचित्रता है वह क्या स्वाभाविक विचित्रता है? वह तो प्राकृतिक विचित्रता है, स्वाभाविक विचित्रता नहीं है। स्वभाव में और प्रकृतिमें अन्तर है। प्रकृति तो एक कृत्रिम चीज है, आदिम है और स्वभाव आदिम नहीं है। तो इतनी प्रकार की विचित्रतामें उस रमणीक स्थानमें मालूम पड़ रही है वह है क्या? उन उन जीवों के साथ जिन जीवोंने फूलका शरीर लिया है, पत्तीका शरीर लिया है उन उन जीवोंके उस उस प्रकार की विचित्र कर्मप्रकृतियां लगी हुईहैं और उनके उदयमें उनका ऐसाविचित्र परिणमन चलरहा है। यह है प्रकृतिकी चीज। जब कहा कि कितने प्राकृतिक दृश्य हैं? तो उसका अर्थ यह है कि कर्म प्रकृतिके उदय से उत्पन्न हुई शरीरकी शोभा। उस प्रकृतिसे ज्ञान उत्पन्न नहीं होता, ज्ञानस्वरूप तो यह स्वयं आत्मा है।

भौतिकवादी आत्माकी सत्ता नहीं मानते हैं, आत्माका सत्त्व है, यह समझ लेना कितना सुगम है, पढ़िये एक प्रवचनांशमें, पृ० ६१-आत्माकी अहंप्रत्ययवेद्यता-चारुवाक जनोंकी अविचारितरम्य शिक्षा सुननेसे तुरन्त तो अच्छी लगती है पर इस पर विचार करें तो यह ठीक संगत नहीं बैठ सकता, क्योंकि आत्मा की प्रतीति तो अहं प्रत्ययसे ही हो रही है। प्रत्येक जीव अपने आपमें अनुभव कर रहे हैं, मैं सुखी हूं, मैं दुःखी हूं, मैं ऐसी पौजीशन का हूं, यों जिसमें अहं प्रत्यय बन रहा है वही तो आत्मा है और ऐसा अहं अहंका अनुभव प्रत्येक प्राणीमें हो रहा है। मैं यों होऊं, मैं ऐसा न होऊं, मैं दुःखी होऊंगा, मैं सुखी होऊंगा, यह किसमें मैं मैं की आवाज अन्दरमें उठ रही है? हाथमें कि पैरमें कि शिरमें? जिसमें अहं प्रत्यय हो रहा है वही तो आत्मा है और यह बात मिथ्या है नहीं, क्योंकि कोई बाधा नहीं आ रही। अपने अपने में सब लोग अहं अहंका अनुभव किए जा रहे हैं। यह अहं प्रत्यय किस आधार से उठा, इसका उपादान क्या है? बस वही आत्मा है। यह अहं बोध शरीरके आश्रयसे नहीं होता, क्योंकि

अहंका अनुभव इन्द्रियके व्यापार बिना हो रहा है। शरीर तो इन्द्रियके व्यापारसे जान लिया जाता है। इन्द्रियके व्यापार बिना शरीरका बोध तो नहीं होता।

ज्ञान स्वका भी संवेदन करता ही है, इससे सम्बन्धित एक प्रवचनांश पढ़िये–पृ० १३२–स्वका ज्ञान स्व से हो–प्रकरण यह है कि सिद्ध यों किया जा रहा कि ज्ञान स्वसवेदक है. ज्ञान परका भी और अपने आपका भी ज्ञान करता रहता है। परोक्ष ज्ञानवादियोंने यह तो मान लिया कि ज्ञान पर पदार्थका प्रकाश करता है, पर यह नहीं माना कि ज्ञान स्वका भी प्रकाश करता है। जैसे दृष्टान्तमें कहा जाय कि दीपक, बिजली खुदका भी प्रकाश करता है और परपदार्थका भी प्रकाश करता है। कमरे में जो चीज रखी हुई है चौकी है उसका भी प्रकाश करता और अपना भी प्रकाश करता है। अब इसमें से कोई इतनी बात तो मान ले कि दीपक पर पदार्थका भी तो प्रकाश करता है मगर खुदका प्रकाश नहीं करता, तो यह बात कोई मान लेगा क्या ? जो दीपक खुदका प्रकाश नहीं कर सकता, तो वह पदार्थका भी प्रकाश नहीं कर सकता। क्या किसी जलते हुए लट्टूको देखनेके लिए कोई और रोशनी तलाश करता है ? नहीं करता ना ? कोई यह तो नहीं कहता कि हमें बैट्री या लालटेन लावो उस कमरे से प्रकाशक लालटेन उठा लावें। अरे जो लालटेन जल रही है वह तो अपने आप मालूम पड़ जावेगी कि यह जल रही है। ऐसे ही ज्ञान खुदमें प्रकाश करता है या नहीं करता ? हम जिस ज्ञानसे पदार्थको जानते हैं वह ज्ञान भी हमको एक निर्णय बताता हुआ जग रहा है या नहीं जग रहा है ? इस बातको पूछनेके लिए हम किसी दूसरेके पास जायें क्या ? हम चौकीको जान रहे हैं ऐसा ज्ञान मेरे में है या यह बात मैं किसी दूसरे से पूछने जाऊं क्या ? अरे, जिस ज्ञानसे जान रहे हैं वह ज्ञान उसी में अपने आप स्पष्ट है।

ज्ञानकी स्वपर प्रकाशकताका चरम विशुद्ध रूप देखिये एक प्रवचनांशमें, पृ० १७४-प्रभुपरिचय–प्रभुका कुछ और परिचय सुनो। ये परमात्मा ज्ञान उपयोग द्वारा भी अपने आत्मामें रहा करते हैं। ठीक है, पर कुछ बाहरी बात समझमें नहीं आयी कि कहां रहते हैं ? उनका बाहरमें स्थान कुछ नहीं है। वे अपने परमौदारिक शरीरमें रहते हैं। और, ये क्या किया करते हैं ? यह तो नाम और स्थानका परिचय है। ये परमात्मा अपने ज्ञान और आनन्दस्वभावका निरन्तर शुद्ध विलास किया करते हैं। यही उनका रोजिगार है। न उनके भूख प्यास है, न कोई रोग है, न कोई अन्य द्वंद फंद है, संयोग मोह ममता आदिक कोई विडम्बनायें भी वहां नहीं हैं, केवल आत्मा आत्माका स्वरूप है। यह ज्ञान द्वारा समस्त विश्वको जानते रहते हैं। यों स्व और पर प्रकाशक भानुकी तरह उनका ज्ञानभी स्वपरप्रकाशक है। तो इसकामके करनेसे उन्हें नफा क्या होता है ? वे निरन्तर ज्ञानके द्वारा अपने स्वरूपको और समस्त विश्व को जानते रहते हैं। ऐसे पुरुषार्थका, रोजिगारका, परिणमनका फल क्या मिलता है उन्हें ? फल उन्हें मिलता है अनन्त आनन्द। जहां केवल ज्ञाता द्रष्टा रूप परिणमन है। सब विश्वके ज्ञाता हैं पर किसी भी बाह्य पदार्थ में उनके मोह नहीं, रागद्वेष नहीं। अतएव वे प्रभु अनन्त आनन्दको भोगते रहते हैं।

प्रमाण स्वरूपकी विविध मीमांसाके बाद कितने संक्षेप और सरलतामें ज्ञानके प्रमाणत्व का वर्णन है देखिये पृ० २०७–२०८–ज्ञानमें ही प्रमाणत्वकी सिद्धि–इस परिच्छेद अब तक यह सिद्ध किया गया है क प्रमाण क्या होता है, कैसा होता है ? उसका लक्षण बताया है कि जो स्व और अपूर्व अर्थका निश्चय कराये वह ज्ञान प्रमाण होता है। वाक्य कितना छोटा है। स्व अपूर्व अर्थका प्रकाश करें–वह ज्ञान प्रमाण है, ये ५ शब्द हैं प्रमाणके स्वरूपमें। उन ५ विशेषणोंको सिद्ध करने के लिए अब तक इसका कथन हुआ

है। प्रतिलोम पद्धतिसे विचार करो, ये ५ शब्द मान लीजिये, जिसका स्वरूप कहा जा रहा है उसको भी मान लोजिये प्रमाण ज्ञान ही होता है अज्ञान नहीं। आप सोचते होंगे कि क्या कोई लोग अज्ञानको भी प्रमाण कहते हैं जिससे यह जोर दिया जा रहा है कि प्रमाण ज्ञान ही होता है, अज्ञान नहीं होता, हां मानते हैं बहुत से लोग। व्यवहारी जन भी इतना तो मानते हैं। कोई जज पूछता है कि यह मकान तुम्हारा है इसका प्रमाण क्या है ? तो झट रजिष्ट्री किया हुआ कागज आगे रख देते हैं और कहते हैं कि यह गवाह प्रमाण है अथवा द्वार से जाकर कोई गवाह बुला लाते हैं और कहते हैं कि यह गवाह प्रमाण है। अरे ये कागज और ये गवाह दोनों प्रमाण हैं ? हां कागज और गवाह को देखकर जजमें जो ज्ञान बना वह प्रमाण है। गवाहके द्वारा कहे हुए वे वचन भी प्रमाण नहीं हैं, ये वचन भी अज्ञान हैं। अरे वह प्रमाण नहीं है।

सप्तम भागमें प्रमाणसिद्ध प्रमाणताका साधन निर्णीत किया हैं कि प्रमाणका प्रामाण्य स्वतः भी होता है और परतः भी होता है, इससे सम्बन्धित एक प्रवचनांश देखिये–पृ० २१०–प्रामाण्यको उत्पत्ति और ज्ञप्तिका बिश्लेषण–प्रामाण्यके सम्बन्धमें यह सिद्धान्त बना कि ज्ञानसे कुछ जाना उसको प्रमाणता पक्कायत, हां यही ठीक है, मेरा ज्ञान सही है, इस प्रकारको प्रमाणता होना अभ्यास दशामें तो खुद–बखुद है और अनभ्यास दशामें, अपरिचयकी जगहमें परसे हुआ करती है। लेकिन, भीतर जो किसी ज्ञानको, यह प्रमाण है, क्या ऐसी उसको प्रमाणता ठीक करनेके लिए जो वृत्ति जगती है वह एक भिन्न ज्ञान है याने अन्य ज्ञानसे प्रमाणता बनी अथवा चक्षु आदिक इन्द्रिय निर्दोष हैं उन परसे उत्पन्न हुई है। इस प्रसङ्गमें यह बताया जा रहा कि ज्ञान जानता है, पर ज्ञान ठीक जान रहा है उसकी प्रमाणता जिस निमित्तसे ज्ञान होता है उस परसे उत्पन्न होती है, मगर ज्ञप्तिकी क्रियामें जाननकार्यमें और जाननका फल है अनिष्टसे हट जाना, इष्ट पदार्थमें लग जाना, इस प्रकारकी प्रवृत्ति और इन्द्रियके अर्थ होने वाला ज्ञान ये परिचयकी स्थितिमें स्वतः होते हैं और अपरिचयकी स्थितिमें परतः होते हैं।

प्रामाण्यकी ज्ञप्ति जो स्वतः होती है, किन्तु उत्पत्ति निमित्त दृष्टिसे परतः भी होती है। लेकिन जब उपादान दृष्टिसे देखा जाय तब प्रामाण्यकी उत्पत्ति भी स्वतः होती है–देखिये प्रवचनांश–पृ० २३२–उपादानदृष्टिसे ज्ञान और प्रामाण्यकी उत्पत्तिका स्वतः ही विधानउक्त उदाहरणकी भांति ज्ञान की भी बात है। ज्ञान यद्यपि आत्माके ज्ञानस्वभावसे ही उत्पन्न होता है परपदार्थोंके स्वभावसे नहीं। ज्ञानमय आत्माकी परिणति हो ज्ञान है, लेकिन आज जो संसार अवस्थामें जीवोंकी अवस्थायें हैं उन अवस्थाओंमें ज्ञान आवृत है, ज्ञान अविकसित है, उसका विकास इन्द्रिय और मनका निमित्त पाकर बनपाया है तो निमित्त दृष्टिसे उत्पत्ति परसे हुई, उपादान दृष्टिसे उत्पत्ति स्वयंसे हुई। एक बालक स्कूलमें पढ़ता है, उसके अध्ययनके लिए, उसके ज्ञानविकासके लिए गुरूका शिक्षण लेना चाहिए, पुस्तक चाहिए, कापी, पेन्सिल, कलम आदि चाहिए, सब साधनोंको वह जुटाता है, पर बालकमें जो ज्ञानका विकास हुआ वह क्या कागज, पेन्सिल, कलम, दवात आदिक चीजोंसे निकलकर हुआ। ये सब तो अजीव हैं, जड़ है, जड़से ज्ञान आता हो नहीं है और गुरुका ज्ञान कोई आनेकी चीज है ? गुरुका ज्ञान गुरुके आत्मामें ही परिसमाप्त होता है। गुरुका ज्ञान यदि गुरुसे निकलकर लड़कोंमें जाने लगे तो कुछ ही दिनोंमें वह गुरु तो ज्ञानशून्य हो जायगा, क्योंकि ४०–५० लड़कोंको ज्ञान दिया वहां ज्ञान खतम। प्रत्येक पदार्थकी अवस्था उस ही पदार्थमें उत्पन्न होती है, पर तो निमित्त मात्र है।

(१६२–१६४) परीक्षामुखसूत्र प्रवचन (प्रमेयकमलमार्तण्डप्रवचन) ८, ६, १० भाग

इस पुस्तकमें द्वितीय परिच्छेदके प्रथम ११ सूत्रों पर पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराजके

प्रवचन हैं। दार्शनिक पद्धतिसे प्रत्यक्षके जो भेद किये गये हैं उनका सिद्धान्त से समन्वय देखिये एक प्रवचनांशमें, पृ० १४, १५-ज्ञानका भेदविस्तार-जैन शासनमें ज्ञानका भेद विस्तार इस प्रकार किया गया है कि मूलमें ज्ञान एक है। जो जाने सो ज्ञान। जाननमात्र स्वरूपको लक्ष्यमें लेकर सभी जितनेभी भाव किये जायेंगे वे सब ज्ञानरूप हैं, फिर उस ज्ञानके दो भेद हैं, प्रत्यक्ष और परोक्ष। प्रत्यक्ष और परोक्षकी वास्तविक व्याख्या तो यह है कि जो इन्द्रिय मनकी सहायताके बिना केवल आत्मीय शक्तिसे जाने वह तो है प्रत्यक्ष ज्ञान और जो इन्द्रिय मन आदिकका निमित्त पाकर जाने उसका नाम है परोक्षज्ञान। फिर भी प्रत्यक्ष ज्ञानमें चूंकि स्पष्टता आती है अवधिज्ञानसे जो जाना जायगा वह स्पष्ट ज्ञात होगा, और मनः पर्यय और केवलज्ञानसे जो जाना जाता है वह स्पष्ट जाना जाता है, तो उस स्पष्टताकी नकल कुछ कुछ इन इन्द्रिय प्रत्यक्षोंमें पायी जाती है। जैसे कि हम आप लोग कहा करते हैं कि हमने आंखसे प्रत्यक्ष देखा, आंखसे किसी बातको देख लेने पर फिर सन्देह नहीं रहता। स्पष्टता रहती है तो यह इन्द्रिय प्रत्यक्षकी स्पष्टता कुछ स्पष्टता जैसी है अतएव प्रत्यक्षके दार्शनिक शास्त्रोंमें दो भेद किए गये-सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष और पारमार्थिकप्रत्यक्ष। इन्द्रिय और मनसे सीधा जो जाना जाता है वह सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष है और अवधिज्ञान, मनःपर्यय, केवलज्ञान ये पारमार्थिक प्रत्यक्ष हैं।

परोक्षज्ञानके स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम ये प्रकार हैं। जो दार्शनिक इनमें से किसी को कम करके या इनसे अतिरिक्त उपमान अभाव आदि जोड़कर प्रमाण प्रकारोंकी संख्या कबूल करते हैं उनके मन्तव्य की विस्तृत मीमांसा की गई है। जरा अभाव प्रमाणविषयक चर्चा देखिये एक प्रवचनांशमें, पृ० ६५, ६६-अभाव की वस्त्वन्तरसद्भावरूपता-जैन शासनमें अभाव को किसी अन्य वस्तुके सद्भावरूप माना है। जैसे रोटी बनाते हैं तो जिस समय लोई बनाये हुए हैं उस समय लोईमें रोटीका अभाव है कि नहीं? अभी लोई है, रोटीकहां है? तो रोटीका जो अभाव है वह लोईके सद्भावरूप है, अभावबिना भावनहीं होता। अभाव किसी सद्भावरूप होता है; तो जोलोग अभावका कुछ नहीं मानते अवस्तु मानते अवस्तुका ज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता, अवस्तु ज्ञानजनक नहीं हो सकता। वस्तु ही कार्यको उत्पन्न कर सकती, अवस्तु नहीं, क्योंकि जो अवस्तु है उसमें द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावका भी अभाव है और जो भी वस्तु है उसमें द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावका सद्भाव है। जैसे यह घड़ी है तो घड़ीका जो पिण्ड है वह इसका द्रव्य है। यह घड़ी जितनेमें फैली है वह उसका क्षेत्र है, जो रूप रंग नई पुरानी आदि अवस्थायें हैं यह उस घड़ी का काल है और घड़ीका जो स्वभाव है, गुण है वह घड़ीका भाव है। तो जो वस्तु है उससे द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव होते हैं, उसमें शक्तियां होती हैं, उसमें सामर्थ्य होता है।

अभावप्रमाणको स्वतंत्र प्रमाण सिद्ध करनेका यत्न करने वाले दार्शनिक प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव का कारण अन्य है, प्रध्वंसाभावका कारण अन्य हैं, तब उनका जो समाधान दिया गया उसका एक प्रवचनांशमें दिग्दर्शन कीजिये, पृ०-१४२-प्रध्वंस और उत्पादके कारणभेदकी मीमांसा-भिन्न कारणप्रभवताका हेतु देकर अभाव को भिन्न पदार्थ माननेको शल्यका निराकरण प्रतीतिके बलपर ही हो जाता है। घटके विनाशका प्रकार और कारण जुदा हो और कपालोंके उत्पाद का प्रकार और कारण जुदा हो ऐसी किसी की भी प्रतीति नहीं होती। जो प्रक्रिया कपालके उत्पाद और घटके विनाशकी बताई गई है उसमें एक ही बात हुए। बलवान पुरुषके द्वारा प्रेरित मुदगरादिके व्यापारसे घटाकाररहित कपालाकार मृत द्रव्यकी उत्पत्ति हुई है। लोकोंको जो सही सुगम प्रतीति होती है उसका अपलाप करके शब्दशास्त्रके पाण्डित्य का प्रयोग करनेमें कोई हित नहीं है। घटका अभाव और कपालका सद्भाव एक ही समयमें हुआ है और उस ही समयका जो परिणमन है वही घटका अभाव कहलाता है और वही कपालका उत्पाद है।

लोग कहते हैं कि यह ज्ञान स्पष्ट है और यह स्पष्ट नहीं, स्पष्टताका सही अर्थ क्या है इसे पढ़िये पृ० १७० पर एक प्रवचनांशमें-ज्ञानान्तरकी आड़ बिना होने वाले प्रतिभासमें वैशद्यरूपता-इस सूत्रमें स्पष्टता का लक्षण कहा गया है। इस सूत्रका भाव जो भी आगे कहेंगे वह कठिन नहीं है। साथ ही उसमें बहुत से तत्त्व अपने आत्माका प्रासाद बढ़ाने वाले मिलेंगे। वैशद्यके लक्षण में कहते हैं कि अन्य ज्ञानके व्यव-धान बिना जो प्रतिभास होता है उसे वैशद्य कहते हैं। वैशद्य कहो या स्पष्टता कहो, एक ही बात है। विशद शब्दसे बनता है वैशद्य और स्पष्ट शब्दसे बनता है स्पष्टता। तो स्पष्टताका लक्षण बताया है कि जिस ज्ञानसे जाना जा रहा है उस ज्ञानका अन्य ज्ञानके व्यवधानसे न हो तो स्पष्टता है। और इसी समय थोड़ा दृष्टान्त देकर बता दें, आंखोंसे देखा, झट जान गये, इसमें किसी दूसरे ज्ञानकी प्रतीक्षा नहीं प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ी, किसी ज्ञानके हाथ नहीं जोड़ने पड़े कि कोई अन्य ज्ञान बने तब हम सामनेकी चीजको जान पायें। ज्यों ही आंखें खोली कि पदार्थ जान गये। इसके बीचमें किसी अन्य ज्ञानका उदय नहीं है और जब अनुमान ज्ञान करते हैं, धूम देखकर अग्निका ज्ञान किया तो अग्निका ज्ञान करना अनुमान कहलाता है, मगर उस अग्निका ज्ञान करनेमें धूमका ज्ञान करना पड़ा। तो धूमके ज्ञानका उस में व्यवधान आ गया। सीधा ही अग्निका ज्ञान नहीं बना वहां पहिले धूमका ज्ञान किया और फिर तर्क याने व्याप्तिका ज्ञान किया। जहां जहां धुवां होता है वहां वहां अग्नि होती है, इस प्रकार का ज्ञान हुआ तब जाकर अग्निका बोध हुआ। तो आप जान गये होंगे कि अग्निका ज्ञान कराने वाले अनुमान ज्ञानके बननेके लिए अन्य-ज्ञानोंको जरूरत पड़ी, उनकी बाट जोही, उनका व्यवधान बना। तो अनुमान ज्ञान परोक्षज्ञान हुआ, स्पष्ट ज्ञान हुआ। तो इसी दृष्टिको लेकर इस लक्षणका भेद समझियेगा।

कुछ दार्शनिकोंने सन्निकर्ष माननेकी क्यों कल्पना की; इसका दिग्दर्शन कीजिये-पृ० १८८-प्रत्यक्षके लक्षणका मूल विवाद-यहां मूल प्रकरण तो प्रत्यक्षके लक्षणका था, उसमें प्रसंगवश यह बात चल रही है और यह बहुत लम्बे समय तक चलेगी कि आंखें पदार्थ से भिड़कर नहीं जानती और नैयायिक यह सिद्ध करेंगे कि आंखें पदार्थको छूकर ही जानती हैं। इन दो बातोंपर अभी बहुत विवाद चलेगा। किस बात पर विवाद छिड़ गया? मूल बात यह है कि प्रत्यक्षका लक्षण यह किया गया था कि जो विशद ज्ञान हो सो प्रत्यक्ष है, विशदका अर्थ बताया था कि जो अन्य ज्ञानोंकी अपेक्षा किये बिना प्रकृत ज्ञानसे ही सीधा जान लिया जाय उसे विशद कहते हैं। इस लक्षणको मेटनेके लिए नैयायिकोंने यह लक्षण उपस्थित किया था कि इन्द्रिय और पदार्थ के भिड़नेसे ज्ञान उत्पन्न होता है वह प्रत्यक्ष है। मन पदार्थोंसे भिड़कर नहीं जानता इसलिए स्मरण आदिक जो कुछ होते हैं उनमें प्रत्यक्षका लक्षण नहीं जाना। इस प्रकार मुकाबलेमें प्रत्यक्षके लक्षणमें सन्निकर्षको देनेके कारण सन्निकर्षका खण्डन किया जा रहा है कि इन्द्रिय और पदार्थके सम्बन्धसे उत्पन्न ज्ञानको प्रत्यक्ष मानना युक्त नहीं है। ज्ञान तो अपनी स्पष्टताके कारण प्रत्यक्ष है।

कुछ दार्शनिक मानते हैं ज्ञान पदार्थसे उत्पन्न होता है, और ऐसा सिद्धान्त बनाकर ही व्यवस्था बना पाते हैं कि जो ज्ञान घटसे पैदा हुआ वह ज्ञान घटज्ञान कहलाता है। इस मन्तव्यका विस्तृत निराकरण करनेके बाद एक निराकरण इस संक्षिप्त प्रवचनांशमें देखिये-पृ० २१९-ज्ञानकी अर्थकार्यताका संशयज्ञानके साथ व्यभिचार-अब दूसरी बात यह देखिये कि संशयज्ञानमें भी संशयका कल्पित पदार्थ नहीं है और ज्ञान हो रहा है, सम्यग्ज्ञानमें अनेक कोटि वाले ज्ञान होते हैं, यह सीप है या चांदी है, इस प्रकार का जो ज्ञान हो रहा है, ऐसा ज्ञान होने के लिए वहां दोनों पदार्थ मौजूद होने चाहिएं। यदि पदार्थसे ज्ञान उत्पन्न होता है यह माना जाय। हों दोनों पदार्थ तो फिर उसे संशय क्यों कहते? भ्रान्त क्यों कहते? सही ज्ञान

कहलाना चाहिए और, संशयज्ञान तो तभी होता है जब वहां पदार्थ तो अनेक नहीं हैं, पदार्थ तो कोई एक है और कोटियां अनेक बन रही हैं। यह सीप है, या चांदी है, या कांच है अनेक कोटियां बन सकती हैं। एक जगह स्थाणु और पुरुष ये दोनोंके सिद्ध हो सकते हैं, पदार्थ तो कोई एक पड़ा है और ज्ञान यहां संशय चल रहा है तो जब दो पदार्थ वहां नहीं हैं तो संशय ज्ञानकी उत्पत्ति कैसे हो गई? इससे सिद्ध है कि ज्ञान पदार्थ से उत्पन्न नहीं होता। वह तो अपनी योग्यतासे अपनी ही विधिसे उत्पन्न हुआ करता है।

सकलप्रत्यक्षज्ञान होता है आवरण कर्मक्षयसे, यह बात समझनेके लिए पौद्गलिक कर्मकी सिद्धि करना आवश्यक है सो कर्म का अनुमापक हीनस्थान शरीरका सम्पर्क है। इस प्रसंगमें शरीर की हीनस्थानता सिद्ध की है एक प्रवचनांशमें, देखिये पृ० २६०–शरीरकी हीनस्थानताकी सिद्धि–यह शरीर हीनस्थान है क्योंकि शरीर आत्माके दुःखका कारण है। जैसे कारागार, जेलखाना यह हीनस्थान है या उच्चस्थान है? हीनस्थान है, ऐसे ही यह शरीर हीनस्थान है, सारे दुःख इस शरीरके कारण लगते हैं। क्षुधा, तृषा आदिक रोग ये तो शरीरके कारण स्पष्ट हैं, नामवरी के रोग भी शरीरके कारण हैं, इस जीवने अपने प्राप्त शरीर के ढांचेको माना कि यह मैं हूं, तो अब इसकी अभिलाषा हुई कि मेरा नाम होना चाहिए। मेरेके मायने यहां उस सहज चैतन्यस्वरूपका नहीं, यहां मेरे के मायने है यह शरीर। उस चैतन्यस्वरूपकी किसे खबर है? अगर उसकी खबर हो तो नामवरीकी चाहभी नहीं होसकती, क्योंकि यह तो निर्विकल्प एक ज्ञानप्रकाशमात्र तत्त्व है। नामवरी होना चाहिए, किसकी? जो शरीर मिला है, ढाचा, सकलसूरत मिली है, बस इसकी नामवरी होना चाहिए। अब नामवरी की आशामें कितने क्लेश सहने पड़ रहे हैं। कैसे कैसे गन्दे कलंकित मलिन पुरुषोंको भी प्रसन्न करनेका मनमें विकल्प करना पड़ रहा है, कितना कठिन परिश्रम करना पड़ता है। आत्माके शुद्ध दर्शन से भी हाथ धो देना पड़ता है। तो नामवरी फैलानेका रोग भी इस शरीरके कारण है। बड़े छोटे कष्टोंका नाम तो लो, कुछ भी नाम लो–परिवार में नहीं बनती अथवा पुत्रादिकका क्लेश है, सुपूत कुपूत की वेदन है तो यह क्यों हुआ? अमुक रिश्तेदारने धोखा दिया है, अमुकका व्यवहार ठीक नहीं है, जितने भी दुःख हो रहे हों मानसिक दुःख भी हो रहे हों तो उन सबका कारण यह शरीर है। तो शरीर समस्त दुःखोंका कारण है इस कारण शरीर हीनस्थान है।

(६५–१६८) परीक्षामुखसूत्र प्रवचन (प्रमेयकमलमार्तण्डप्रवचन) ११, १२, १३, १४ भाग

इस पुस्तकमें सृष्टिकर्तृत्व, प्रकृति पुरुषवाद, सत्कार्यवाद, प्रभुक कवलाहार, मुक्तिस्वरूप, अद्वैतवाद आदि अनेक दार्शनिक विषयोंपर समीक्षणात्मक प्रवचन हैं। सृष्टिकर्तृत्वके सम्बन्धके प्रवचनोंके बीच एक प्रवचनांश पढ़िये-पृ० ५९–सशरीरताके विना प्रयोक्तृत्वका अभाव–खैर किसी तरह मान भी लिया जाय कि जो कर्ता है, प्रयोक्ता है उसका पदार्थों के परिज्ञान के साथ अपजनाभाव है, किन्तु जो शरीररहित ईश्वर है उसमें तो प्रयोक्तापन बन ही नहीं सकता। अमूर्त है शरीर नहीं है तो प्रयोक्ता कैसे बन सकेगा? यहां हम आप जितने मनुष्य हैं ये प्रयोक्ता बन रहे हैं। तो शरीररहित है तब ना। शरीर रहित कोई एक ईश्वर कैसे उसके कार्यों का प्रयोग कर सकता है? कार्य व हेतु देकर शंकाकारने ईश्वरको कर्ता कहा और उसमें दृष्टान्त दिया कुम्हारका, जैसे घट कार्यका करने वाला कुम्हार है इसी प्रकार समस्त विश्वका करने वाला ईश्वर है। लेकिन दृष्टान्तमें जो कहा गया कुम्हार, वह तो असर्वज्ञ है, कृत्रिम ज्ञान वाला है। तो कर्तापना ऐसे पुरुषोंके साथ ही रह सकता है जो अनीश्वर हो, असर्वज्ञ हो, कृत्रिम ज्ञान वाला है तो जब दृष्टान्तका कार्यपना एक अनीश्वर, असर्वज्ञ कृत्रिम ज्ञान वाले के साथ व्याप्त है तो सारे काम ऐसे

के ही साथ व्याप्त होंगे जो अनीश्वर हो, असर्वज्ञ हो, कृत्रिम ज्ञानवाला हो। तब तुम्हारा जो अनुमान है उसमें हेतु विशिष्ट हो गया। कार्यत्व हेतु देकर यहां सर्वज्ञ ईश्वरको कर्ता सिद्ध करना चाह रहे थे, मगर उसके द्वारा असर्वज्ञत्व ही सिद्ध होता है।

सृष्टिकर्तृत्वकी समीक्षाके बाद देखिये इस प्रवचनांशमें यह सिद्ध किया गया है कि चेतन की परिणतिमें अन्य चेतन निमित्त तक भी नहीं हो सकता, पृ० ६३-चेतनकी परिणतिमें अचेतन की निमित्तता-एक बात और जान लेने की है कि चेतनको तो कोई अन्य चेतना निमित्त भी नहीं बनती किसी काममें। चेतन विभावमें सुधार बिगाड़ अचेतन निमित्त हुआ करते हैं, चेतनके किसी भी सुधार बिगाड़ आदिकमें चेतन निमित्त नहीं है. इस बातको कुछ विशेषतासे सोचते जाइये। कदाचित् यह शंका कर सकें कि एक जीवको दूसरा ज्ञानी पुरुष उपदेश देता है और उसके सुधारमें कारण बनता है. तो देखो ना कि एक चेतनके सुधारमें दूसरा चेतन निमित्त हो गया, किन्तु आशंका कार यहां यह भूल जाता है कि उस चेतनको जो सन्मार्ग प्राप्त हुआ है उसमें अंतरंग निमित्त कारण तो कर्मों का उपशम क्षयोपशम है और बाह्य कारण निरखा जाय तो वे वचन वर्गणायें, वे सब अचेतन चीजें बाह्य कारण हैं। किसी चेतन का चैतन्यस्वरूप इस चेतनको चिन्तनमें विषयभूत तो हो सकता है, आश्रयभूत तो हो सकता है, इसका ख्याल करके लक्ष्य करके स्वन्तत्रतया वह अपन आपमें परिणमन करे यह बात तो हो सकती है, पर कोई चेतन इसका निमित्त बने अथवा चैतन्यस्वरूप अन्य इसके सुधार का निमित्त बने यह बात कहां आयी ?

सत्कार्यवादमें बन्ध व मोक्ष दोनों की ही सिद्धि नहीं हो सकती, इस सम्बन्धित प्रवचनांशको पढ़िये-पृ० १४०-सत्कार्यवादमें बन्ध और मोक्षके अभावका प्रसंग-अब जरा औरकुछ अन्य बात देखा इस मान्यता में कि कारण आदिक पदार्थों में कार्य सदा सत् रहता है, बन्ध और मोक्ष बन ही नहीं सकता है, क्योंकि बन्ध होता है मिथ्याज्ञानसे और मिथ्याज्ञान सदा है सो बन्ध भी सदा है तब उनको मोक्ष कैसे होगा ? यदि यह कहो कि प्रकृति और पुरुषमें उनकी अपने अपने स्वरूपका उपलब्धिका तत्त्वज्ञान बनता है, उससे मोक्ष होता है। बात तो सही बतायी जा रही है कि यथार्थ ज्ञानसे मोक्ष होता है। आत्माका क्या स्वरूप है ? केवलका और प्रकृतिका क्या स्वरूप है ? उनके उस कैवल्यस्वरूपका ज्ञान होने से मोक्ष होता है। जिसे कुछ उदाहरणके रूपमें यों समझिये कि जैसे प्रकृति और आत्मा। आत्माका निश्चयरूप क्या है और कर्मका प्रकृतिका इनका निजी स्वरूप क्या है ? अथवा स्वभाव और विभावमें स्वभाव का लक्षण क्या है, इन दोनों का बोध होने पर उन उनके कवल्यकी, उन उनके अपने आपके लक्षणकी उपलब्धि करे, वहां ही उपयोग रखे, इससे मोक्ष होता है। समाधानमें कहते हैं कि भाई कही तो है भेदविज्ञानकी बात लेकिन सत्य यों नहीं हो पाता कि वह तत्त्वज्ञान भी सदा अवस्थित है। सत्कार्यवादमें सब चीजें सत् रहती हैं तो फिर सब चीजें सदा हैं, तब फिर बन्ध कैसे सिद्ध हो सकता है ? फिर न बन्ध सिद्ध हो सका और न मोक्ष।

कुछ लोग परमात्माके आहार की भी कल्पना करते हैं, इस सम्बन्धमें विस्तृत चर्चा करने के पश्चात् एक प्रवचनांश प्रभुके अतिशयोंका दिग्दर्शन कराया है, पढ़िये पृ० १७७-१७८-प्रभुताके कारण प्रभुमें अनेक अतिशय-धर्मके प्रतापसे जो घातिया कर्मों का नाश कर प्रभु हुए हैं उनमें ऐसा अलौकिक अतिशय है कि वे ग्रासाहार नहीं करते हैं और विशुद्ध शरीरवर्गणायें जो उनके शरीरमें चारों तरफसे आती हैं, उनके बल पर ही वे बड़े सुन्दर जीवनसे जीते हैं। जब तक उनकी आयु है और आयु समाप्त होने पर भी शरीर-रहित सिद्ध भगवान हो जाते हैं। उनके आहार की अभिलाषा आदिक की बातें करना यह तो उनका

कहलाना चाहिए और, संशयज्ञान तो तभी होता है जब वहां पदार्थ तो अनेक नहीं हैं, पदार्थ तो कोई एक है और कोटियां अनेक बन रही हैं। यह सीप है, या चांदी है, या कांच है अनेक कोटियां बन सकती हैं। एक जगह स्थाणु और पुरुष ये दोनोंके सिद्ध हो सकते हैं, पदार्थ तो कोई एक पड़ा है और ज्ञान यहां संशय चल रहा है तो जब दो पदार्थ वहां नहीं हैं तो संशय ज्ञानकी उत्पत्ति कैसे हो गई ? इससे सिद्ध है कि ज्ञान पदार्थ से उत्पन्न नहीं होता। वह तो अपनी योग्यतासे अपनी ही विधिसे उत्पन्न हुआ करता है।

सकलप्रत्यक्षज्ञान होता है आवरण कर्मक्षयसे, यह बात समझनेके लिए पौद्गलिक कर्मकी सिद्धि करना आवश्यक है सो कर्म का अनुमापक हीनस्थान शरीरका सम्पर्क है। इस प्रसंगमें शरीर की हीनस्थानता सिद्ध की है एक प्रवचनांशमें, देखिये पृ० २६०—शरीरकी हीनस्थानताको सिद्धि-यह शरीर हीनस्थान है क्योंकि शरीर आत्माके दुःखका कारण है। जैसे कारागार, जेलखाना यह हीनस्थान है या उच्चस्थान है ? हीनस्थान है, ऐसे ही यह शरीर हीनस्थान है, सारे दुःख इस शरीरके कारण लगते हैं। क्षुधा, तृषा आदिक रोग ये तो शरीरके कारण स्पष्ट हैं, नामवरी के रोग भी शरीरके कारण हैं, इस जीवने अपने प्राप्त शरीर के ढांचेको माना कि यह मैं हूं, तो अब इसकी अभिलाषा हुई कि मेरा नाम होना चाहिए। मेरेके मायने यहां उस सहज चैतन्यस्वरूपका नहीं, यहां मेरे के मायने है यह शरीर। उस चैतन्यस्वरूपकी किसे खबर है ? अगर उसकी खबर हो तो नामवरीकी चाहभी नहीं होसकती, क्योंकि यह तो निर्विकल्प एक ज्ञानप्रकाशमात्र तत्त्व है। नामवरी होना चाहिए, किसकी ? जो शरीर मिला है, ढांचा, सकलसूरत मिली है, बस इसकी नामवरी होना चाहिए। अब नामवरी की आशामें कितने क्लेश सहने पड़ रहे हैं। कैसे कैसे गन्दे कलंकित मलिन पुरुषोंको भी प्रसन्न करनेका मनमें विकल्प करना पड़ रह है, कितना कठिन परिश्रम करना पड़ता है। आत्माके शुद्ध दर्शन से भी हाथ धो देना पड़ता है। तो नामवरी फैलानेका रोग भी इस शरीरके कारण है। बड़े छोटे कष्टोंका नाम तो लो, कुछ भी नाम लो—परिवार में नहीं बनती अथवा पुत्रादिकका क्लेश है, सुपूत कुपूत की वेदन है तो यह क्यों हुआ ? अमुक रिश्ते-दारने धोखा दिया है, अमुकका व्यवहार ठीक नहीं है, जितने भी दुःख हो रहे हों मानसिक दुःख भी हो रहे हों तो उन सबका कारण यह शरीर है। तो शरीर समस्त दुःखोंका कारण है इस कारण शरीर हीनस्थान है।

(६५-१६८) परीक्षामुखसूत्र प्रवचन (प्रमेयकमलमार्तण्डप्रवचन) ११, १२, १३, १४ भाग

इस पुस्तकमें सृष्टिकर्तृत्व, प्रकृति पुरुषवाद, सत्कार्यवाद, प्रभुके कवलाहार, मुक्तिस्वरूप, अद्वैतवाद आदि अनेक दार्शनिक विषयोंपर समीक्षात्मक प्रवचन हैं। सृष्टिकर्तृत्वके सम्बन्धके प्रवचनोंके बीच एक प्रवचनांश पढ़िये-पृ० ५६—सशरीरताके बिना प्रयोक्तृत्वका अभाव-खैर किसी तरह मान भी लिया जाय कि जो कर्ता है, प्रयोक्ता है उसका पदार्थों के परिज्ञान के साथ अपजनाभाव है, किन्तु जो शरीररहित ईश्वर है उसमें तो प्रयोक्तापन बन ही नहीं सकता। अमूर्त न शरीर नहीं है तो प्रयोक्ता कैसे बन सकेगा ? यहां हम आप जितने मनुष्य हैं ये प्रयोक्ता बन रहे हैं। तो शरीररहित है तब ना। शरीर रहित कोई एक ईश्वर कैसे उसके कार्योंका प्रयोग कर सकता है ? कार्य व हेतु देकर शंकाकारने ईश्वरको कर्ता कहा और उसमें दृष्टान्त दिया कुम्हारका, जैसे घट कार्यका करने वाला कुम्हार है इसी प्रकार समस्त विश्वका करने वाला ईश्वर है। लेकिन दृष्टान्तमें जो कहा गया कुम्हार, वह तो असर्वज्ञ है, कृत्रिम ज्ञान वाला है। तो कर्तापना ऐसे पुरुषोंके साथ ही रह सकता है जो अनीश्वर हो, असर्वज्ञ हो, कृत्रिम ज्ञान वाला है तो जब दृष्टान्तका कार्यपना एक अनीश्वर, असर्वज्ञ कृत्रिम ज्ञान वाले के साथ व्याप्त है तो सारे काम ऐसे

के ही साथ व्याप्त होंगे जो अनीश्वर हो, असर्वज्ञ हो, कृत्रिम ज्ञानवाला हो। तब तुम्हारा जो अनुमान है उसमें हेतु विशिष्ट हो गया। कार्यत्व हेतु देकर यहां सर्वज्ञ ईश्वरको कर्ता सिद्ध करना चाह रहे थे, मगर उसके द्वारा असर्वज्ञत्व ही सिद्ध होता है।

सृष्टिकर्तृत्वकी समीक्षाके बाद देखिये इस प्रवचनांशमें यह सिद्ध किया गया है कि चेतन की परिणतिमें अन्य चेतन निमित्त तक भी नहीं हो सकता, पृ० ९३–चेतनकी परिणतिमें अचेतन की निमित्तता–एक बात और जान लेने को है कि चेतनको तो कोई अन्य चेतना निमित्त भी नहीं बनती किसी काममें। चेतन विभावमें सुधार बिगाड़ अचेतन निमित्त हुआ करते हैं, चेतनके किसी भी सुधार बिगाड़ आदिकमें चेतन निमित्त नहीं है. इस बातको कुछ विशेषतासे सोचते जाइये। कदाचित् यह शंका कर सकें कि एक जीवको दूसरा ज्ञानी पुरुष उपदेश देता है और उसके सुधारमें कारण बनता है. तो देखो ना कि एक चेतनके सुधारमें दूसरा चेतन निमित्त हो गया, किन्तु आशंका कार यहां यह भूल जाता है कि उस चेतनको जो सन्मार्ग प्राप्त हुआ है उसमें अंतरंग निमित्त कारण तो कर्मोंका उपशम क्षयोपशम है और बाह्य कारण निरखा जाय तो वे वचन वर्गणायें, वे सब अचेतन चीजें बाह्य कारण है। किसी चेतन का चैतन्यस्वरूप इस चेतनको चिन्तनमें विषयभूत तो हो सकता है, आश्रयभूत तो हो सकता है, इसका ख्याल करके लक्ष्य करके स्वतन्त्रतया वह अपने आपमें परिणमन करे यह बात तो हो सकती है, पर कोई चेतन इसका निमित्त बने अथवा चैतन्यस्वरूप अन्य इसके सुधार का निमित्त बने यह बात कहां आयी ?

सत्कार्यवादमें बन्ध व मोक्ष दोनों की ही सिद्धि नहीं हो सकती, इस सम्बन्धित प्रवचनांशको पढ़िये–पृ० १४०–सत्कार्यवादमें बन्ध और मोक्षके अभावका प्रसंग–अब जरा औरकुछ अन्य बात देखो इस मान्यता में कि कारण आदिक पदार्थों में कार्य सदा सत् रहता है, बन्ध और मोक्ष बन ही नहीं सकता है, क्योंकि बन्ध होता है मिथ्याज्ञानसे और मिथ्याज्ञान सदा है सो बन्ध भी सदा है तब उनको मोक्ष कैसे होगा ? यदि यह कहो कि प्रकृति और पुरुषमें उनकी अपने अपने स्वरूपका उपलब्धिका तत्त्वज्ञान बनता है, उससे मोक्ष होता है। बात तो सही बतायी जा रही है कि यथार्थ ज्ञानसे मोक्ष होता है। आत्माका क्या स्वरूप है ? केवलका और प्रकृतिका क्या स्वरूप है ? उनके उस कैवल्यस्वरूपका ज्ञान होने से मोक्ष होता है। जिसे कुछ उदाहरणके रूपमें यों समझिये कि जैसे प्रकृति और आत्मा। आत्माका निश्चयरूप क्या है और कर्मका प्रकृतिका इनका निजी स्वरूप क्या है ? अथवा स्वभाव और विभावमें स्वभाव का लक्षण क्या है, इन दोनों का बोध होने पर उन उनके कैवल्यकी, उन उनके अपने आपके लक्षणकी उपलब्धि करे, वहां ही उपयोग रखे, इससे मोक्ष होता है। समाधानमें कहते हैं कि भाई कही तो है भेदविज्ञानकी बात लेकिन सत्य यों नहीं हो पाता कि वह तत्त्वज्ञान भी सदा अवस्थित है। सत्कार्यवादमें सब चीजें सत् रहती हैं तो फिर सब चीजें सदा हैं, तब फिर बन्ध कैसे सिद्ध हो सकता है ? फिर न बन्ध सिद्ध हो सका और न मोक्ष।

कुछ लोग परमात्माके आहार की भी कल्पना करते हैं, इस सम्बन्धमें विस्तृत चर्चा करने के पश्चात् एक प्रवचनांश प्रभुके अतिशयोंका दिग्दर्शन कराया है, पढ़िये पृ० १७७–१७८–प्रभुताके कारण प्रभुमें अनेक अतिशय–धर्मके प्रतापसे जो घातिया कर्मोंका नाश कर प्रभु हुए हैं उनमें ऐसा अलौकिक अतिशय है कि वे ग्रासाहार नहीं करते हैं और विशुद्ध शरीरवर्गणायें जो उनके शरीरमें चारों तरफसे आती हैं, उनके बल पर ही वे बड़े सुन्दर जीवनसे जीते हैं। जब तक उनकी आयु है और आयु समाप्त होने पर भी शरीर–रहित सिद्ध भगवान हो जाते हैं। उनके आहार की अभिलाषा आदिक की बातें करना यह तो उनका

अपमान करना है, उनके स्वरूपको बिगाड़ना है। यदि यह कहो कि भगवानके अभिलाषा तो नहीं है तिस पर भी आहार ग्रहण करते हैं, क्योंकि प्रभुमें इस ही प्रकार का महान अतिशय है कि उनके इच्छा नहीं है फिर भी खाते हैं, यह तो कोई भली बात नहीं है। यहां भी यदि किसी के खानेकी इच्छा न हो और जबरदस्ती खिला दिया जाय तो उस पर क्या बीतती है? तो यही अतिशय मान लो कि प्रभु ग्रासाहारके बिना ही शुद्ध पवित्र वर्गणाओंके बलसे शरीरमें स्थित रहा करते हैं। ऐसे अतिशयशाली प्रभुमें अनन्त गुण हैं। एक यह भी गुण है कि वे प्रभु आकाशमें गमन करते हैं। जो भगवान हो जाते हैं, जिनमें प्रभुता प्रकट हो जाती है वे हम आप लोगोंकी तरह जमीनपर चलते फिरते बोलते चालते नजर न आयेंगे। प्रभु सभी को दर्शन में तो आ सकते हैं पर उनसे बातचीत करने आदिका सम्पर्क कोई बना नहीं सकता है। वे प्रभु तो अपने अनन्तज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त शक्ति और अनन्त आनन्दसे सम्पन्न रहा करते हैं। उनके दर्शन और भव्यजीवों के भाग्य से और उनके वचनयोग से जो दिव्य-ध्वनि प्रकट होती है उसका श्रवण सभी लोग करते हैं। तो प्रभुका दर्शन एवं उनको दिव्यध्वनिका श्रवण ये दो लाभ जीवोंको प्राप्त हो सकते हैं, पर उनसे कोई अपनी प्राइवेसी नहीं बना सकता है।

विशेषवादी गुणोंके विनाश हो जाने का नाम मोक्ष कहते हैं, इससे सम्बन्धित प्रवचनों में से एक प्रवचनांश देखिये-पृ० २४३-गुणोच्छेद और संतानत्व दोनोंको असिद्धि-इस प्रसंगमें मूल बात इतनी कही जा रही थी कि अनन्तज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त शक्ति और अनन्त आनन्द इनकी प्राप्ति हो जानेका नाम मोक्ष है। जो आत्मामें गुण हैं उनका पूरा विकास हो जाने का नाम मोक्ष है, किन्तु एक वैशेषिक सिद्धान्तमें आत्मा और गुणको भिन्न माना है। और, सिद्धान्त है उनका कि वे सब गुण जब आत्मामें नष्ट हो जायेंगे तब आत्माका मोक्ष कहलाता है। तो आत्माके ज्ञानादिक गुणोंके उच्छेदमें ही मोक्ष मानने वाले वैशेषिक यहां अपना पक्ष रख रहे थे कि बुद्धि, सुख, आदिक गुणोंका उच्छेद हो जानेका नाम मोक्ष है, न कि ज्ञानकी प्राप्तिका नाम मोक्ष है, उसके निराकरणमें कह रहे हैं कि न तो ज्ञानकी सन्तान सिद्ध होती है न स्वरूप, फिर उच्छेदकी बात कहां लगाई जाय? आत्मा स्वयं ज्ञानस्वरूप है। ज्ञानके अति-रिक्त आत्मा अन्य कुछ चीज नहीं है। ज्ञानपर अभी आवरण है, रागद्वेष, विषय कषाय कर्म आदिकका आवरण पड़ा है, जिसके कारण ज्ञान प्रकट नहीं हो पाता। जब अंतरंग और बहिरंग समस्त प्रकार के आवरण दूर हो जाते हैं तो ज्ञानका परिपूर्ण विकास होता है, वे गुण असीम है, उनके विकाससे त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थोंका स्पष्ट ज्ञान हो जाता है। देखो कहां तो मोक्षका ऐसा समृद्धिशाली स्व-रूप क अनन्त ज्ञान है, अनन्त आनन्द है, बहुत ही पावन स्वरूप है और कहां मोक्षका यह स्वरूप शंकाकारके द्वारा कहा जा रहा है कि अरे, मोक्ष तो उसका नाम है जहां न ज्ञान रहता न आनन्द रहता, न सुख दुःख रहते, न धर्म अधर्म रहते। कुछ भी जहां गुण नहीं रहते। आत्मा कोरा रह जाय, इसका नाम मोक्ष है।

मोक्ष स्वरूपके सम्बन्धमें दो दार्शनिकोंकी चर्चायें चलीं जिनकी चर्चा के पश्चात् कुछ उपसंहारस्वरूप एक प्रवचनांश देखिये, पृ० ३६२-भेदभाद और क्षणक्षयवादमें मुक्तिस्वरूपकी प्रकल्पना-इस प्रकरणमें मूल बात तो मोक्षकी चल रही है। मोक्षका स्वरूप क्या है, इस पर चर्चायें चल रहीं हैं। जैन लोग तो मानते हैं कि अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तशक्ति, अनन्त आनन्दके प्रकट होने का नाम मोक्ष है। इसके विरोध में अभी तक दो मन्तव्य आये-एक तो वैशेषिक का, जिनका यह कथन है कि ज्ञानके विकासका नाम मोक्ष है। जब तक आत्मामें ज्ञान रहता है तब तक यह संसारमें घूमता है, जब इसके ज्ञान, सुख, दुःख

आदिक गुण अवगुण सब खतम हो जायें, केवल एक चित्स्वरूपमात्र रह जाय उसका नाम मोक्ष है। ये मोक्षमें ज्ञानको भी नहीं मानते। दूसरा मन्तव्य आया था क्षणिकवादियोंका। उनका कथन है कि विशुद्ध ज्ञानके उत्पन्न होनेका नाम मोक्ष है। बात तो यद्यपि सही है, लेकिन इस कथित विशुद्ध ज्ञानकी परिभाषा क्या है, जब यह जानते हैं तब विदित होता है कि यह भी तो मोक्षका स्वरूप नहीं बन सकता। क्षणिकवादियोंका विशुद्धज्ञान यह है कि एक समयमें एक ज्ञान पदार्थ रहता है, उसकाआधार–भूत कोई आत्मा नहीं है। जो एक समयमें ज्ञान हो उस ही का नाम आत्मा कहलो; उस ही का नाम ज्ञान कहलो। दूसरे समयमें वह ज्ञान नहीं रहा। प्रत्येक समयमें नये नये ज्ञान पदार्थ प्रकट होते रहने के सिलसिलेमें यह जो भ्रम बन गया है कि मैं वह हूं जो पहिले म था, बस इस भ्रमसे संसारमें भ्रमण करना पड़ता है। जब यह ज्ञान हो जायगा कि मैं तो क्षणिक हूं, एक समयसे हूं और मिट गया, आगे पीछे रहता ही नहीं हूं, तो ऐसा जब एक क्षणिक आत्माका बोध होता है तो इस अभ्याससे एक ज्ञान ऐसा नया आयगा कि जिसके बाद फिर और ज्ञान पैदा न होगा, इस ही का नाम मोक्ष है। इन मन्त–व्योंके सम्बन्धमें अब तक ये चर्चायें चलीं और यह सिद्ध हुआ कि आत्माके ज्ञान और आनन्दके विशुद्ध अनन्त विकास होनेका नाम मोक्ष है।

चतुर्दश भागके अन्तमें द्वितीय परिच्छेदकथित प्रमाणभेद में से उपसंहारात्मक रूपमें प्रत्यक्ष ज्ञानस्वरूपकी चर्चा की गई है, उसके एक प्रवचनांशको देखिये; पृ० ४१०–४११–प्रत्यक्षज्ञानके स्वरूपकी चर्चा–प्रत्यक्षके भेदको कुछ आलोचना करके अब प्रत्यक्षके स्वरूपके निर्णयपर उतरें। प्रत्यक्ष उसे कहते हैं कि जो निर्मलज्ञान हो; विशद ज्ञान ही प्रत्यक्ष है। इन्द्रिय और पदार्थके आंख और पदार्थके सम्बन्धसे प्रत्यक्ष नहीं कह सकते। यह ज्ञान आत्मासे ही उत्पन्न होता है। कहीं पदार्थोंसे उत्पन्न नहीं होता, कहीं प्रकाश आदिक कारणोंसे उत्पन्न नहीं होता। और, यह ज्ञान जब एक देश स्पष्ट रहता है तब तो कहते हैं सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष। और, उसके ज्ञानका आवरण करने वाले कर्मोंका सर्वथा क्षय हो जाता है, उस समय जो सर्वका ज्ञान होता है वह कहलाता है पूर्ण प्रत्यक्षज्ञान। उस ज्ञानको कर्मोंने ढका है, अर्थात् कर्मोंके आवरणका निमित्त पाकर ज्ञानस्वरूप निर्मल व पूर्ण अवस्थामें नहीं रहता आया है। संयमसे, सम्यक्त्वसे, तत्त्वज्ञानसे, उपायोंसे उन कर्मोंका सम्बर होता और निर्जरा होती। तब आवरण का अपाय होता और यह ज्ञान सबको जानने वाला होता है।

(१६६–२०१) परीक्षामुखसूत्र प्रवचन (प्रमेयकमलमार्तण्डप्रवचन) १५, १६, १७ भाग

इस पुस्तकमें परीक्षामुखके तृतीय परिच्छेदके सूत्रोंपर पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराजके प्रवचन हैं। इनमें परोक्षज्ञानोंके स्वरूप पर विस्तृत विवेचन हैं। कुछ दार्शनिक स्मृतिज्ञानको प्रमाण नहीं मानते, उनके प्रतिबोधके प्रमाणरूपता युक्तियोंसे सिद्ध की है, उनमें से एक प्रवचनांशको पढ़िये–पृ० १०–अविसंवादकत्व होनसे स्मृतिज्ञानको प्रमाणरूपता–यह अनुमान बिल्कुल युक्त है कि स्मरणज्ञान प्रमाण है अविसंम्वाद होनेसे। स्मरण ज्ञान करते हुए पुरुष उसमें विवाद नहीं किया करते। जिस पदार्थका स्मरण हो गया वह तो पदार्थमें कुछ भी स्मरण नहीं रखता। जैसे स्वयं कोई चीज घरमें किसी जगह रख दी, अब कुछ दिन बाद उसका ख्याल कर रहा है, किसी ने उस वस्तुको मांगा तो वह उसका ख्याल करने लगा। तो जिस जगह उसने वह चीज रखी थी उसी जगह जाकर उस वस्तुको वह पा लेता है, तो विवाद तो नहीं रहा स्मरणमें। अविसम्वादी ज्ञान रहा। जैसा जैसा ख्याल किया वैसा ही पदार्थ पा लिया गया तो उसमें अब विवाद क्या रहा ? इस कारण स्मृति ज्ञान बराबर प्रमाणभूत है। हां किसी किसी स्मरणमें यदि विवाद प्रत्यक्ष आ जाय तो वह स्मृत्याभास है, स्मृति नहीं है। यों तो कोई कोई प्रत्यक्ष

विवाद वाला होता है तो वह प्रत्यक्षाभास कहलाता है, पर कोई स्मरण अगर विसम्वाद वाला हो गया तो इसका अर्थ यह नहीं कि सब स्मरण विसम्वादी कहलाते हैं। अन्यथा यदि एक भी प्रत्यक्ष विसम्वादी हो गया, प्रत्यक्षाभास हो गया तो सब प्रत्यक्षी को भी प्रत्यक्षाभास मान लेना चाहिए।

प्रत्यभिज्ञान प्रमाणको स्मृति और प्रत्यक्षसे विलक्षण सिद्ध किया है, इस सम्बन्धमें एक प्रवचनांश पढ़िये, पृ० १८–प्रत्यक्ष और स्मरणसे भिन्न ही प्रत्यभिज्ञान माननेकी अनिवार्यता यह भी कहना अयुक्त है कि अनेक देश अनेक कालकी अवस्थासे युक्त सामान्य द्रव्य आदिक वस्तु इस प्रत्यभिज्ञानका प्रमेय है, क्यों अयुक्त है यह बात कि देश आदिकके भेदसे भी कोई अध्यक्ष होता है तो वह भी आँखोंसे सम्बद्ध अर्थका ही प्रकाश करता हुआ प्रतीत होता है। अनेक भेद पड़ जाने से प्रत्यक्षकी विधिमें अन्तर न आ जायगा। यह यों अयुक्त है कि प्रत्यभिज्ञान इन्द्रिय और पदार्थसे सम्बद्ध बातको नहीं जानता। इसका विषय ही प्रत्यक्ष ज्ञानके विषय से विलक्षण है। इसका विषय क्या है कि पूर्व पर्याय और उत्तर पर्याय, इन दोनों में जो एकता है वह प्रत्यभिज्ञानका विषय है। जैसे यह वही देवदत्त है तो यह कहकर देवदत्तकी जो अवस्था जानी और "वह" कहकर जो वर्ष भर पहिले के देवदत्तकी जो अवस्था जानी इस बीचके लम्बे समयमें वह एक ही रहा आया, ऐसा जो पूर्व उत्तर पर्यायमें रहने वाला जो एकत्व है वह प्रत्यभिज्ञानका विषय है अथवा सादृश्य आदिकमें देखिये–यह रोझ गौ के सदृश है। ता वर्तमान है रोझ और पूर्व विज्ञात है गौ, इन दोनोंके प्रसंगमें सम्बन्धमें जो सदृशता है वह सदृशता प्रत्यभिज्ञानका विषय है। प्रत्यभिज्ञानका विषय इन्द्रिय और पदार्थसे सम्बद्ध पदार्थ नहीं है। प्रत्यक्ष तो वर्तमानको ही ग्रहण करता है। और, जो यह कहे कि स्मरण करने वाले पुरुष के भी पहिले देखे हुए पदार्थ के प्रतिभाससे उत्पन्न हुई जो मति है वह चक्षु से सम्बद्ध होने पर प्रत्यक्ष बन जाती है। यह भी कहना गलत है, क्योंकि इन्द्रियजन्य ज्ञान स्मृति के विषय के पूर्व रूप से ग्रहण करने वाले होते हैं, यह नियम नहीं है। प्रत्यक्ष से तो जब चाहे हो, तब भी अभिमुख और नियमित पदार्थ का बोध हुआ है तब वह प्रत्यक्ष है। प्रत्यभिज्ञान में न तो प्रत्यक्ष का विषयभूत पदार्थ आया किन्तु दोनों ज्ञानों से जाने हुए में जो एक नई बात जानी जा रही है वह सम्बन्धित सादृश्य आदि विषय होता है प्रत्यभिज्ञानमें।

स्मृतिज्ञान और प्रत्यभिज्ञान प्रमाण की तरह तर्कज्ञानमें भी प्रमाणताका निर्देश किया है, इससे सम्बन्धित एक प्रवचनांश पढ़िये पृ० ६५–तर्कज्ञानमें विसंवादित्वका अभाव होने से प्रमाणता–अब दूसरा विकल्प यदि कहते हो कि तर्क ज्ञानका अप्रमाण है, विसम्वादी होने से। प्रश्न क्या तर्क ज्ञान इस कारण अप्रमाण है कि वह विसम्वादी है अथवा क्या इस कारण अप्रमाण है कि वह विसम्वादी है अथवा क्या इस कारण अप्रमाण है कि वह प्रमाण के विषय का परिशोधक है। अर्थात् प्रमाणने किसी को जो जाना, उसका ही समर्थक है। इन त्रिकल्पों में से पहिले विकल्पका तो खण्डन कर दिया गया–अब दूसरे विकल्पकी चर्चा की जा रही है कि विसम्वादी होने से तर्क ज्ञान अप्रमाण नहीं होता, क्योंकि तर्क ज्ञान अपने विषयमें तो विवादरहित है। साध्य और साधनका अविनाभाव सम्बन्ध करना यह है तर्कज्ञानका विषय। और, उस विषय में तर्क ज्ञान विसम्वादरहित प्रसिद्ध ही है, क्योंकि यदि तर्कज्ञान अविसम्वादी न हो, सही न हो तो अनुमान कभी सही नहीं हो सकता। ऐसा कभी न हो सकेगा कि तर्क ज्ञान तो सम्वाद न रखता हो अर्थात् मिथ्या हो और अनुमान ज्ञान सही बन जाय। क्यों न ऐसा हो सकेगा कि अनुमान की उत्पत्ति में तो तर्क ज्ञान कारण होता है। जब साध्यसाधनके अविनाभाव सम्बन्धका परिज्ञान हो तब तो अनुमान प्रमाण बन सकेगा। इस कारण विसम्वादी होने से तर्कज्ञान अप्रमाण है, यह बात युक्त नहीं होती।

तृतीय परिच्छेदके ९९ वें सूत्रमें आगम प्रमाणका लक्षण कहा गया है, इसके स्वरूपमें जो विशेषण दिये हैं उनसे कई भूलोंका निराकरण हो जाता है। उनमें से एक अर्थज्ञान विशेषणकी एक सार्थकता एक प्रवचनांशमें देखिये, पृ० १९५-१७६-अर्थज्ञानसे अन्यापोह व शब्दसंदर्भकी प्रमाणताका परिहार-इस सूत्रमें अर्थ ज्ञान शब्द देने से एक यह भी परिज्ञान होता है कि अर्थ ज्ञान प्रमाण होता है, अन्यापोह ज्ञान प्रमाण नहीं होता। क्षणिकवादी लोग अन्यापोह मानते हैं, अर्थात् जैसे गाय कहा तो गाय शब्दके सुनने से सीधा गायका ज्ञान नहीं होता, उनके सिद्धान्तसे किन्तु गाय सुनकर यह ज्ञान होता है कि घोड़ा बकरी आदि दुनिया भरके बाकी अन्य कोई पदार्थ न होना इसको कहते हैं अन्यापोह।

आगममें प्रमाणता आगममूल आप्तकी गुणवत्तापर निर्भर है, अपौरुषेय बताने का और अपौरुषेयको सिद्ध करने के लिए शब्दनित्यत्वको सिद्ध करने का प्रयास करना अवस्तुको सिद्ध करनेके प्रयासकी तरह है, इसमें संबंधित प्रवचनांशोंमें से एक प्रवचनांश देखिये-पृ० २५६-शब्दके कार्यत्वका विवरण-शब्द एक है, नित्य है, व्यापक है और फिर उसको व्यंजक प्रकट करदे यह बात नहीं बनती। सीधी बात और सबके अनुभवमें आने वाली स्पष्ट बात है कि तालू आदिकके व्यापारके अनन्तर भाषा वर्गणा जातिके पुद्गल स्कधसे शब्दका उत्पत्ति होती है और तभी जिस प्रकार के तालू, कठ, ओंठ, मूर्धा, आदिक चलें और उन स्थानोंमें ऊपर के भागसे, नीचेके भागसे शब्द चलें तो उन शब्दोंमें अल्प, महान उदात्त अनुदात्त आदिक भेद बन जाते हैं। तो यों शब्द कोई नित्य व्यापक नहीं है जिससे नित्य व्यापक शब्दसे भरे होनेके कारण आगम को नित्य माना जाय। अपौरुषेय मान्यता करके आगममें प्रमाण करार किया जाय, आगम तो वचन-रूप है। वचन जितने होते हैं वे किसी न किसी के द्वारा किए गए होते हैं। तो उन वचनोंका कर्ता यदि गुणवान पुरुष हैं, प्रभुसर्वज्ञ हैं तो वहआगम वाक्य प्रमाण है। यदि उन आगम वाक्योंका कर्ता दोषवान है तो फिर उससे उनको प्रमाणता नहीं आ सकती है। तो आगममें प्रमाणताका आना न आना, गुण-वान और दोषवान वक्ताके आधार पर है वचनोंको नित्य सिद्ध करके फिर उसमें प्रमाणताकी सिद्धि करनेका व्यर्थ कष्ट न करना चाहिए।

एक सांकेतिक प्रवचनांश देखिये जिसमें कुछ पूर्वापर चर्चाओंकी स्थिति का अन्दाज कराया है, पृ० २८१-चर्चाके आधारभूत मूल प्रकरणका स्मरण-यह प्रकरण मूलमें चल रहा है आगमप्रमाणपर। आगम का लक्षण किया था कि सर्वज्ञदेवके वचन आदिके कारण उत्पन्न हुआ जो अर्थज्ञान है सो आगम है। इस आगमके लक्षणपर पहिले तो यह शंका की गई थी कि आप्त कोई होता ही नहीं है। उसका निराकरण किया गया, फिर यह शंका उत्पन्न की कि आप्त कोई होता ही नहीं है। उसका निराकरण किया गया, फिर यह शंका उत्पन्न की कि आप्त की वजह से आगमकी प्रमाणता नहीं होती, किन्तु आगम अपौरुषेय होता है इसकारण प्रमाणता होती है, इसका निराकरण किया। आगमको अपौरुषेयता सिद्ध करने के लिए शब्दोंकी नित्यता मानना आवश्यक है। शब्द नित्य हो तो वह शब्द अपौरुषेय कह-लाये। आगममें शब्द ही तो लिखे गये हैं। यदि ये शब्द अनित्य ठहरते हैं तो आगम फिर नित्य तो न ठहरेगा, इस कारण शब्दको नित्य सिद्ध करने को शंकाकारको आवश्यकता पड़ी, तब शब्द नित्य-त्वका निराकरण किया। फिर यह शंका हुई कि शब्द और अर्थका सम्बन्ध कैसे है? जिस कारण शब्द अर्थका वाचक बन जाय तो शब्द और अर्थ में सम्बन्धकी सिद्धिकी। शब्द वाचक है और पदार्थ वाच्य है, इस प्रसंगपर-क्षणिकवादी यह शंका रख रहे हैं कि शब्द तो वाचक है, पर शब्द पदार्थका वाचक नहीं, किन्तु अपोहका वाचक है। जैसे गो शब्द बोला तो उससे गाय अर्थका ज्ञान न होगा, किन्तु जो गाय नहीं है ऐसे सारे पदार्थोंका निषेध ज्ञात होगा।

(२०२–२०४) परीक्षामुखसूत्र प्रवचन (प्रमेयकमलमार्तण्डप्रवचन) १८, १९, २० भाग

इस पुस्तकमें परीक्षामुखसूत्रके चतुर्थ परिच्छेदके १० सूत्रोंपर पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी महाराजके प्रवचन हैं। प्रमाणका विषय सामान्य विशेषात्मक पदार्थ है। सामान्यविशेष सिद्ध होते हैं। समान असमान प्रत्यय (बुद्धि) होने से और समान असमान प्रत्यय होता है सदृश विसदृश परिणाम होने से, इसका संकेत देखिये एक प्रवचनांशमें, पृ० ५४–समान और असमान प्रत्यय के होने में सदृश विसदृश परिणामकी हेतुरूपता–शंकाकार कहता है कि भाई विसदृश व्यक्तियों में अथवा सभी पदार्थों में विसदृशताका स्वभाव पड़ा है इस कारण अपने कारण कलापसे उत्पन्न हुए सारे पदार्थ स्वभावसे ही समान प्रत्यय के विषय हुआ करते हैं, और यह बात तो बिल्कुल स्पष्ट है कि जैसे घट घट पट आदिक के प्रकाश के लिए दीपकका आलम्बन लेना पड़ा, पर स्पष्ट है कि जैसे घट पट आदिक के प्रकाश के लिए दीपक का आलम्बन लेना पड़ा, पर दीपक का प्रकाश जानने के लिए अन्य दीपओंका आलम्बन तो नहीं लेना पड़ता। इसी तरह पदार्थ में समानताका ज्ञान करने के लिए समान परिणामरूप धर्मका आलम्बन लेना पड़ता है। जैसे गाय गाय बहुत सी खड़ी हैं तो उनमें समानताका ज्ञान करने के लिए सासना आकार स्तन आदिक एक से जो हैं उनके ज्ञानका आलम्बन लेना पड़ता है, किन्तु इन सदृश धर्मों में सदृशता समझने के लिए हमें अन्य समान परिणामोंका आलम्बन नहीं लेना पड़ता। वह स्वयं समान धर्म के लिए हुए है तो पदार्थ सामान्यविशेषात्मक होते हैं उनमें अनेक धर्म ऐसे हैं जो एक दूसरे से विलक्षण हैं, यह बात हम परीक्षासे, प्रमाणसे जान जाते हैं तब उन पदार्थों में यह उसके समान है, ऐसा जो ज्ञान होता है उस ज्ञानका कारण उन पदार्थों में रहने वाला सदृश धर्म है, अर्थात् सदृश धर्म के ज्ञानके द्वारा हम उन पदार्थों की समानता का प्रत्यय करते हैं, न कि सामान्य नाम का कोई अलग पदार्थ हो, और उसके सम्बन्धसे फिर पदार्थ में यह उसके समान है ऐसा ज्ञान किया जाता हो। अतः सामान्य पदार्थ की कल्पना करना युक्त नहीं है।

सामान्यविशेषात्मक पदार्थमें सामान्यका ही जो आग्रह करते हैं वे इसके पोषणमें नित्यत्वका आग्रह कर लेते हैं। और, जो विशेषका आग्रह करते हैं वे इसके पोषणमें क्षणिकवादी बन जाते हैं। दोनों ही एकान्तोंमें अर्थक्रिया नहीं बन सकती। सामान्यविशेषात्मक पदार्थ में ही अर्थक्रिया सम्भव है, पढ़िये एक प्रवचनांशमें, पृ० ११६–सामान्यविशेषात्मकपदार्थमें अर्थक्रियाकीसंभवता–जैसेतिर्यक सामान्यऔरतिर्यकविशेषमेंभी अर्थक्रियासम्भवहै। जब जान लिया कि ये गाय गाय सबएक किस्म की होती है, ये दूध दिया करती हैं, इस तरह से तो एक सामान्य धर्म जाना और फिर उनमें व्यक्तित्व विशेष जाना तभी तो किसी भी गायके पास पहुंचकर उससे ही दूध लेनेका यत्न होता है। तो तियकरूपमें सामान्यविशेषात्मक पदार्थ जब जाना जाता है तब उसमें अर्थक्रिया सम्भव है। यह वही मनुष्य है जिसको कल अमुक वस्तु उधार दी थी, तो जान लिया ना उर्द्धतासामान्य। अब कल की स्थिति इसको उधार देने की थी, आज स्थिति इससे वसूल करने की है। आज इसको देना चाहिए, ऐसाही वायदा है। कलका परिणमन इसका अन्य था, आजका परिणमन इसका अन्य होना चाहिए। ऐसी ऊर्द्धताविशेषको भी बात जब ध्यानमें है तब ना उसमें लेन देनकी प्रवृत्ति सम्भव हो रही है। यह तो लोकव्यवहारकी बात कही है। अब मोक्षमार्ग की भी बात देखो–सामान्य है, ऐसेही जीव जातिके पदार्थ मुक्त हुआ करते हैं। यह तो एक सामान्यपना जाना और अमुक अमुक व्यक्ति देखो आत्मसाधना करके मुक्त हुए, यह उनका विशेष जाना। इसी तरह ऊर्द्धता सामान्य और ऊर्द्धता विशेष भी परखा जाता। मैं वही जीव हूं, मैं एक रूप हूं, चैतन्यस्वरूप हूं, यही स्वभाव प्रकट हो गया, उसका नाम मुक्ति है। और, मुझमें यह विशेषता है। आज परिणति संसार

अवस्थामें है, यह हटकर मुक्त अवस्थाकी परिणति हमारी हो सकती है। उर्द्ध ता सामान्य और ऊर्द्ध ता विशेषका बोध हो तो मोक्षमार्ग में उद्यम हो सकता है। तो यहां ऊर्द्ध ता सामान्यका प्रकरण चल रहा है कि द्रव्य कालान्तर स्थायी है। यदि सर्वथा क्षणिक माना जाय पदार्थको तो मोक्षमार्ग अथवा लोक-व्यवहार कुछ भी सिद्ध न हो सकेगा।

१८ वें भागमें सामान्यका वर्णन करके १९ वें भागमें विशेषके विषयमें प्रवचन किये गये हैं। निरपेक्ष सामान्य माननेका मन्तव्य और निरपेक्षविशेष माननेका मन्तव्य युक्त नहीं है। इसका विस्तृत विचार करने के पश्चात् पृ० २११ पर यह बताया है कि सामान्य और विशेष इन दोनोंका वस्तुमें रहने में विरोध नहीं है-पढ़िये पृ० २११ पर-सामान्य और विशेषके एक पदार्थमें रहनेका अविरोध-शंकाकार कहता है कि वस्तु सामान्य-विशेषात्मक है, वस्तुमें भेद और अभेद दोनों अविरोध रूप से रहते हैं यह तो मिथ्या प्रतीति हो रही है। उत्तर देते हैं कि यह बात असंगत है, क्योंकि इसमें कोई बाधक है ही नहीं। स्पष्ट प्रत्यक्षसे जान रहे, युक्ति अनुमानसे भी समझ रहे, भेद और अभेदसे एक वस्तुमें बराबर समावेश है। शंकाकार कहता है कि विरोध तो बाधक है। भेद और अभेद जो एक दूसरे के निषेधात्मक है, बिल्कुल विरुद्ध है तो यह विरोध बाधक है। उत्तर देते हैं कि यह बात युक्त नहीं। इसमें इतरेतराश्रय दोष आता है। जब विरोध सिद्ध होने लगे तब तो इस ज्ञानके बाधित होने से मिथ्यात्व की सिद्धि हो और जब ज्ञानमें मिथ्यापनकी सिद्धि हो तब विरोधकी सिद्धि हो। तो देखिये-विरोध नाम है किसका? विरोधका निश्चय बनता कैसे है? सम्पूर्ण कारण वाला कोई एक पदार्थ हो रहा है। जैसे कि ठंडावातावरण है, वहां पर ठंड हो रही है तब द्वितीय चीज आ जाय अर्थात् उष्ण वस्तु आ जाय तो ठंडका अभाव हो जाता है। इससे समझा गया है कि शीत स्पर्श में और उष्ण स्पर्शमें विरोध है परन्तु यहां ऐसा नहीं देखा जा रहा कि भेदके सन्निधान होने पर अभेद का अभाव हो जाय अथवा अभेद के सन्निधान होने पर भी पर्यायत्व बराबर चल रहा है। पर्यायत्व होने पर भी द्रव्यत्व भी बराबर बन रहा है। वहां तो कुछ भी विरोध नहीं।

कुछ दार्शनिक शब्दोंको आकाश द्रव्यका गुण मानते हैं, किन्तु शब्द भी द्रव्य पर्याय है, उसमें द्रव्यत्व है, इससे सम्बन्धित एक प्रवचनांश देखिये, पृ० २८१-२८२-क्रियावत्त्व होनेसे शब्दमें द्रव्यत्वको सिद्धि-और भी देखिये-शब्द द्रव्य है, क्योंकि क्रियावान होने से। जो जो क्रियावान होते हैं वे द्रव्य होते हैं। जैसे-बाण, गोली आदि। ये क्रिया करते हैं तो ये द्रव्य कहलाते हैं। यदि शब्दका निष्क्रिय मानोगे तो शब्दका फिर स्रोत्र इन्द्रियके द्वारा ग्रहण सम्भव नहीं हो सकता, क्योंकि स्रोत्रइन्द्रियमें शब्दका सम्बन्ध ही न हो पायगा। कहीं शब्द उत्पन्न हों, बोले जायें और शब्दका जब तक स्रोत्रके साथ सम्बन्ध नहीं होता तब तक उसका ग्रहण कैसे हो? यदि निष्क्रिय माना जाने पर भी शब्दका स्रोत्रके साथ ग्रहण मान लिया जाय तो स्रोत्र भी अप्राप्यकारी बन जायगा अर्थात् जैसे चक्षुरिन्द्रियके सिवाय बाकी अन्य इन्द्रिया अप्राप्यकारी हैं, स्पर्श, रसना, घ्राण जैसें अप्राप्यकारी हैं, चक्षु ही एक अप्राप्यकारी माना है, क्योंकि चक्षु पदार्थ के पास फिरते नहीं हैं और दूर से ही ठहरे हुए जान लेते हैं तो अब यहां स्रोत्रको भी ऐसा ही मान लिया गया है कि स्रोत्र के पास शब्द आते नहीं हैं। शब्दका और स्रोत्रका सम्बन्ध नहीं होता है फिर भी शब्दको स्रोत्र जान लेता है, तो इसका अर्थ यह हुआ कि स्रोत्र अप्राप्यकारी हो गया और जब स्रोत्रको अप्राप्यकारी मान लिया गया तो यह हेतु देना कि चक्षु प्राप्यकारी है बाह्य इन्द्रिय होनेसे, स्पर्शनइन्द्रियकी तरह। तो देखो स्रोत्र भी बाह्य इन्द्रिय है लेकिन स्रोत्र तो प्राप्यकारी न रहा। तो इस हेतुमें अनेकान्तिक दोष आता है।

(२०२–२०४) परीक्षामुखसूत्र प्रवचन (प्रमेयकमलमार्तण्डप्रवचन) १८, १९, २० भाग

इस पुस्तकमें परीक्षामुखसूत्रके चतुर्थ परिच्छेदके १० सूत्रोंपर पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी महाराजके प्रवचन हैं। प्रमाणका विषय सामान्य विशेषात्मक पदार्थ है। सामान्यविशेष सिद्ध होते हैं। समान असमान प्रत्यय (बुद्धि) होने से और समान असमान प्रत्यय होता है सदृश विसदृश परिणाम होने से, इसका संकेत देखिये एक प्रवचनांशमें, पृ० ५४–समान और असमान प्रत्यय के होने में सदृश विसदृश परिणामकी हेतुरूपता–शंकाकार कहता है कि भाई विसदृश व्यक्तियों में अथवा सभी पदार्थों में विसदृशताका स्वभाव पड़ा है इस कारण अपने कारण कलापसे उत्पन्न हुए सारे पदार्थ स्वभावसे ही समान प्रत्यय के विषय हुआ करते हैं, और यह बात तो बिल्कुल स्पष्ट है कि जैसे घट घट पट आदिक के प्रकाश के लिए दीपकका आलम्बन लेना पड़ा, पर स्पष्ट है कि जैसे घट पट आदिक के प्रकाश के लिए दीपक का आलम्बन लेना पड़ा, पर दीपक का प्रकाश जानने के लिए अन्य दीपकोंका आलम्बन तो नहीं लेना पड़ता। इसी तरह पदार्थ में समानताका ज्ञान करने के लिए समान परिणामरूप धर्मका आलम्बन लेना पड़ता है। जैसे गाय गाय बहुत सी खड़ी हैं तो उनमें समानताका ज्ञान करने के लिए सासना आकार स्तन आदिक एक से जो हैं उनके ज्ञानका आलम्बन लेना पड़ता है, किन्तु इन सदृश धर्मों में सदृशता समझने के लिए हमें अन्य समान परिणामोंका आलम्बन नहीं लेना पड़ता। वह स्वयं समान धर्म के लिए हुए है तो पदार्थ सामान्यविशेषात्मक होते हैं उनमें अनेक धर्म ऐसे हैं जो एक दूसरे से विलक्षण हैं, यह बात हम परीक्षासे, प्रमाणसे जान जाते हैं तब उन पदार्थों में यह उसके समान है, ऐसा जो ज्ञान होता है उस ज्ञानका कारण उन पदार्थों में रहने वाला सदृश धर्म है, अर्थात् सदृश धर्म के ज्ञानके द्वारा हम उन पदार्थों की समानता का प्रत्यय करते हैं, न कि सामान्य नाम का कोई अलग पदार्थ हो, और उसके सम्बन्धसे फिर पदार्थ में यह उसके समान है ऐसा ज्ञान किया जाता हो। अतः सामान्य पदार्थ की कल्पना करना युक्त नहीं है।

सामान्यविशेषात्मक पदार्थमें सामान्यका ही जो आग्रह करते है वे इसके पोषणमें नित्यत्वका आग्रह कर लेते हैं। और, जो विशेषका आग्रह करते हैं वे इसके पोषणमें क्षणिकवादी बन जाते हैं। दोनों ही एकान्तोंमें अर्थक्रिया नहीं बन सकती। सामान्यविशेषात्मक पदार्थ में ही अर्थक्रिया सम्भव है, पढ़िये एक प्रवचनांशमें, पृ० ११६–सामान्यविशेषात्मकपदार्थमें अर्थक्रियाकीसंभवता–जैसेतिर्यक सामान्यऔरतिर्यकविशेषमेंभी अर्थक्रियासम्भवहै। जब जान लिया कि ये गाय गाय सबएक किस्म की होती है, ये दूध दिया करती हैं, इस तरह से वो एक सामान्य धर्म जाना और फिर उनमें व्यक्तित्व विशेष जाना तभी तो किसी भी गायके पास पहुंचकर उससे ही दूध लेनेका यत्न होता है। तो तियकरूपमें सामान्यविशेषात्मक पदार्थ जब जाना जाता है तब उसमें अर्थक्रिया सम्भव है। यह वही मनुष्य है जिसको कल अमुक वस्तु उधार दी थी, तो जान लिया ना उर्द्धतासामान्य। अब कल की स्थिति इसको उधार देने की थी, आज स्थिति इससे वसूल करने की है। आज इसको देना चाहिए, ऐसाही वायदा है। कलका परिणमन इसका अन्य था, आजका परिणमन इसका अन्य होना चाहिए। ऐसी ऊर्द्धताविशेषको भी बात जब ध्यानमें है तब ना उसमें लेन देनकी प्रवृत्ति सम्भव हो रही है। यह तो लोकव्यवहारकी बात कहीं है। अब मोक्षमार्ग की भी बात देखो–सामान्य है, ऐसेही जीव जातिके पदार्थ मुक्त हुआ करते हैं। यह तो एक सामान्यपना जाना और अमुक अमुक व्यक्ति देखो आत्मसाधना करके मुक्त हुए, यह उनका विशेष जाना। इसी तरह ऊर्द्धता सामान्य और ऊर्द्धता विशेष भी परखा जाता। मैं वही जीव हूं, मैं एक रूप हूं, चैतन्यस्वरूप हूं, यही स्वभाव प्रकट हो गया, उसका नाम मुक्ति है। और, मुझमें यह विशेषता है। आज परिणति संसार

अवस्थामें है, यह हटकर मुक्त अवस्थाकी परिणति हमारी हो सकती है। उर्द्धता सामान्य और ऊर्द्धता विशेषका बोध हो तो मोक्षमार्ग में उद्यम हो सकता है। तो यहां ऊर्द्धता सामान्यका प्रकरण चल रहा है कि द्रव्य कालान्तर स्थायी है। यदि सर्वथा क्षणिक माना जाय पदार्थको तो मोक्षमार्ग अथवा लोक-व्यवहार कुछ भी सिद्ध न हो सकेगा।

१८ वें भागमें सामान्यका वर्णन करके १९ वें भागमें विशेषके विषयमें प्रवचन किये गये हैं। निरपेक्ष सामान्य माननेका मन्तव्य और निरपेक्षविशेष माननेका मन्तव्य युक्त नहीं है। इसका विस्तृत विचार करने के पश्चात् पृ० २११ पर यह बताया है कि सामान्य और विशेष इन दोनोंका वस्तुमें रहने में विरोध नहीं है-पढ़िये पृ० २११ पर-सामान्य और विशेषके एक पदार्थमें रहनेका अविरोध-शंकाकार कहता है कि वस्तु सामान्य-विशेषात्मक है, वस्तुमें भेद और अभेद दोनों अविरोध रूप से रहते हैं यह तो मिथ्या प्रतीति हो रही है। उत्तर देते हैं कि यह बात असंगत है, क्योंकि इसमें कोई बाधक है ही नहीं। स्पष्ट प्रत्यक्षसे जान रहे, युक्ति अनुमानसे भी समझ रहे, भेद और अभेदसे एक वस्तुमें बराबर समावेश है। शंकाकार कहता है कि विरोध तो बाधक है। भेद और अभेद जो एक दूसरे के निषेधात्मक है, बिल्कुल विरुद्ध है तो यह विरोध बाधक है। उत्तर देते हैं कि यह बात युक्त नहीं। इसमें इतरेतराश्रय दोष आता है। जब विरोध सिद्ध होने लगे तब तो इस ज्ञानके बाधित होने से मिथ्यात्व की सिद्धि हो और जब ज्ञानमें मिथ्यापनकी सिद्धि हो तब विरोधकी सिद्धि हो। तो देखिये-विरोध नाम है किसका ? विराधका निश्चय बनता कैसे है ? सम्पूर्ण कारण वाला कोई एक पदार्थ हो रहा है। जैसे कि ठंडावातावरण है, वहां पर ठंड हो रही है तब द्वितीय चीज आ जाय अर्थात् उष्ण वस्तु आ जाय तो ठंडका अभाव हो जाता है। इससे समझा गया है कि शीत स्पर्श में और उष्ण स्पर्शमें विरोध है परन्तु यहां ऐसा नहीं देखा जा रहा कि भेदके सन्निधान होने पर अभेद का अभाव हो जाय अथवा अभेद के सन्निधान होने पर भी पर्यायत्व बराबर चल रहा है। पर्यायत्व होने पर भी द्रव्यत्व भी बराबर बन रहा है। वहां तो कुछ भी विरोध नहीं।

कुछ दार्शनिक शब्दोंको आकाश द्रव्यका गुण मानते हैं, किन्तु शब्द भी द्रव्य पर्याय है, उसमें द्रव्यत्व हैं, इससे सम्बन्धित एक प्रवचनांश देखिये, पृ० २८१-२८२-क्रियावत्त्व होनेसे शब्दमें द्रव्यत्वको सिद्धि-और भी देखिये-शब्द द्रव्य है, क्योंकि क्रियावान होने से। जो जो क्रियावान होते हैं वे द्रव्य होते हैं। जैसे-बाण, गोली आदि। ये क्रिया करते हैं तो ये द्रव्य कहलाते हैं। यदि शब्दका निष्क्रिय मानोगे तो शब्दका फिर स्रोत्र इन्द्रियके द्वारा ग्रहण सम्भव नहीं हो सकता, क्योंकि स्रोत्रइन्द्रियमें शब्दका सम्बन्ध ही न हो पायगा। कहीं शब्द उत्पन्न हों, बोले जायें और शब्दका जब तक स्रोत्रके साथ सम्बन्ध नहीं होता तब तक उसका ग्रहण कैसे हो ? यदि निष्क्रिय माना जाने पर भी शब्दका स्रोत्रके साथ ग्रहण मान लिया जाय तो स्रोत्र भी अप्राप्यकारी बन जायगा अर्थात् जैसे चक्षुरिन्द्रियके सिवाय बाकी अन्य इन्द्रिया अप्राप्यकारी हैं, स्पर्श, रसना, घ्राण जैसें अप्राप्यकारी हैं, चक्षु ही एक अप्राप्यकारी माना है, क्योंकि चक्षु पदार्थ के पास फिरते नहीं हैं और दूर से ही ठहरे हुए जान लेते हैं तो अब यहां स्रोत्रको भी ऐसा ही मान लिया गया है कि स्रोत्र के पास शब्द आते नहीं हैं। शब्दका और स्रोत्रका सम्बन्ध नहीं होता है फिर भी शब्दको स्रोत्र जान लेता है, तो इसका अर्थ यह हुआ कि स्रोत्र अप्राप्यकारी हो गया और जब स्रोत्रको अप्राप्यकारी मान लिया गया तो यह हेतु देना कि चक्षु प्राप्यकारी है बाह्य इन्द्रिय होनेसे, स्पर्शनइन्द्रियकी तरह। तो देखो स्रोत्र भी बाह्य इन्द्रिय है लेकिन स्रोत्र तो प्राप्यकारी न रहा। तो इस हेतुमें अनेकान्तिक दोष आता है।

सामान्यविशेषात्मक पदार्थ ६ जातिमें विभक्त हैं-जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल, किन्तु विशेषवादमें पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, दिशा, काल, आत्मा और मन, इनसे सम्बन्धित विस्तृत प्रवचन हैं। जरा उनमें से कल्पित दिशा द्रव्यकी विवेचना तो देखिये-पृ० ६३६-सूर्योदयादिवश आकाशप्रदेश श्रेणियोंमें पूर्वादि दिशाकी कल्पना-अब उक्त शंकाओंके समाधानमें कहते हैं, दिशाओं को द्रव्य सिद्ध करने के लिए जो कुछ भी शंकाकारने कहा है कि वह सब विपरीत कथन है। देखिये पूर्व दक्षिण पश्चिम आदिक जो ज्ञान होते हैं वे सब ज्ञान आकाशहेतुक हैं। कहीं दिशा नामका एक द्रव्य अलग हो और उसके कारणसे ज्ञान चलता हो सो बात नहीं। वे सब ज्ञान आकाश हेतुक होने से आकाशसे भिन्न दिशा नामक कोई द्रव्य सिद्ध नहीं होता। आकाशके प्रदेश श्रेणियोंमें पूर्व आदिक दिशाओंके व्यवहारकी उत्पत्ति बन जाती है इसी कारण दिशाओंको निर्हेतुक भी नहीं कह सकते। और, न यह कह सकते कि किसी सामान्य पदार्थके निमित्तसे पूर्व आदिक दिशाओंका ज्ञान होता है। जिन आकाश प्रदेशोंमें सूर्यका उदय होता है वह तो है पूर्व दिशा। जिन आकाश प्रदेशोंमें सूर्य का अस्त होता है वह है पश्चिम दिशा। अब सूर्योदयावलो पूर्व दिशाको ओर मुंह करके खड़े हों तो उसका दक्षिण हाथ जिस ओर हो वह है दक्षिण दिशा, शेष बचे हुए बायें हाथकी ओर है उत्तर दिशा। तो ये आकाश प्रदेश श्रेणियोंमें ही सूर्योदय आदिकके वशसे पूर्व आदिक दिशाओंका प्रत्यय होता है।

(२०५-२०७) परीक्षामुखसूत्रप्रवचन (प्रमेयकमलमार्तण्डप्रवचन) २१, २२, २३ भाग

इस पुस्तकमें परीक्षामुखसूत्रके चतुर्थ परिच्छेदके अन्तिम सूत्रपर पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराजके प्रवचन हैं। पदार्थ सामान्यविशेषात्मक होता है। पदार्थ में केवल सामान्य रहे, ऐसा नहीं हो सकता, केवल विशेष रहे यह भी नहीं हो सकता। सामान्य विशेष परस्पर अविनाभावी हैं। इसी के विस्तार में यह भी समझलें कि सामान्य गुण और विशेषगुणोंमे भी अविनाभाविता है, इसे क प्रवचनांशमें पढ़िये-पृ० २-साधारण गुणोंको असाधारण गुणके साथ अविनाभाविता-उपरोक्त प्रकारसे सर्व पदार्थोंमें सामान्य गुण बराबर मौजूद हैं। इतना होने के बाद काम क्या चला ? अर्थक्रिया कुछ नहीं हुई। प्यास लगी है, पानी पीना है, तो इन ६ साधारण गुणोंसे क्या काम हो जायगा ? अथवा व्यापार रोजिगार आदिके कार्य करना है सो केवल ६ साधारण गुणोंसे अर्थक्रिया न बनेगी। यद्यपि इन ६ साधारण गुणोंके माने विना असाधारणगुण कुछ महत्व न रखेगा, न काम बन सकेगा। लेकिन मात्र ६ साधारण गुणोंसे भी बात नहीं बनती। प्रत्येक पदार्थमें, प्रत्येक सत् में अपना अपना कोई असाधारणपन अवश्य है। साधारण मायने विशेषगुण। तो देखो, पदार्थमें सामान्यगुण भी है, विशेष गुण भी है और फिर जब ये पदार्थ परिणमते हैं तो जो परिणमन है वह उसका विशेष है। तो यों समस्त पदार्थ सामान्यविशेषात्मक हैं, इस दृष्टि से सभी पदार्थो में सामान्यगुण भी है। सामान्यगुण न मानें तो काम न चलेगा। सामान्यविशेषात्मक सब पदार्थ हैं। अब उससे और मोटे रूपमें निरखें तो अनेक पदार्थ जिस धर्मकी दृष्टिमें समान जच रहे हैं तो है सामान्यगुण और जिन धर्मो से यह इससे न्यारा है ऐसा जचे, उसे कहते हैं विशेषगुण। तो यों पदार्थ सभी सामान्यविशेषात्मक होते हैं।

सामान्यविशेषात्मक पदार्थ को छिन्न भिन्न करनेका विशेषवादमें कैसा प्रयास किया गया, इसका दिग्दर्शन कीजिये एक प्रवचनांशमें, पृ० ३-सामान्यविशेषात्मक पदार्थ को छिन्न कर करके छिन्न करने का प्रयास-मूल प्रकरण इस प्रसंगमें यह चल रहा है। पदार्थ का सामान्य विशेषात्मकता न मानकर विशेषवादी अपना यह सिद्धान्त रख रहे हैं कि सामान्य स्वयं एक पदार्थ है, विशेष स्वयं एक पदार्थ है, फिर वहां रहा क्या ? वहां द्रव्य रहा, गुण रहा, क्रिया रही। फिर यह सामान्य विशेष अथवा कोई गुण क्रिया

द्रव्यमें कैसे लग बैठेगी ? तो एक सम्बन्ध है, जिसका नाम समवाय है। इस तरह ६ पदार्थों की व्यवस्था करते हुए वे द्रव्यको ९ प्रकार का बता रहे–जिसमें पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, काल, दिशा इन ७ पदार्थों के सम्बन्धमें विवेचन हुआ, जो उसमें तथ्य था उसकी पुष्टि की और जो उनमें अतथ्य था उसका निराकरण किया। दिशा नामका कोई द्रव्य है ही नहीं। इसलिए उसका सर्वप्रकार निराकरण हुआ। उसके बाद अब आत्मद्रव्यका वर्णन आ रहा है। विशेषवादमें बताया गया है कि एक आत्मा सर्वव्यापी नित्य निरंश चैतन्यमात्र है, उसमें गुण नहीं, क्रिया नहीं, सामान्य नहीं, विशेष नहीं। ये तो उसमें समवाय सम्बन्धसे थोपे जाते हैं। चैतन्य मात्र भी यों कहना पड़ता कि कदाचित् ऐसा प्रश्न हो उठे कि जब आत्मा बिल्कुल निराला है, गुण कर्म सामान्य विशेष ये बिल्कुल निराले हैं तो ज्ञानगुण, सुखगुण ये आत्मामें हो क्यों चिपकते हैं, अन्य पदार्थों में क्यों नहीं चिपक जाते ? निराले की यही स्थिति होती है। तो उसका कुछ थोड़ा बहुत उत्तर बनाने के लिए चिन्मात्र मानना पड़ा है। आत्मा के चित्स्वरूप होने से यह ज्ञानस्वरूप आत्मा में ही चिपकेगा अन्यथा इसके भी मानने की जरूरत नहीं है।

विशेषवाद सम्मत आत्मद्रव्यकी मीमांसा करके १४, १५ दिनोंके प्रवचनोंके पश्चात् निष्कर्षरूपमें जो निश्चय किया गया उसका दिग्दर्शन कीजिये एक प्रवचनांशमें, पृ० ८८-८९–देहप्रमाण आत्माका निर्बाधबोध प्रतिभास–यहां प्रकरण यह चल रहा है कि आत्मा सर्वव्यापक है, या नहीं। वैशेषिक सिद्धान्तके अनुसार आत्मद्रव्य सर्वगत है, पर प्रत्यक्ष अनुमान आगम युक्ति अनुभवके आधार पर यह सिद्ध होता है कि आत्मा देहप्रमाण है। और, ऐसे ऐसे आत्मा अनन्त हैं। तो बात जिस तरह से सत्य व्यवहारमें आती है। जैसे अपने अपने आपके रचने वाले तंतुवों में सूतोंमें एक निश्चित देश कालके आकाररूपसे प्रतिभासमान है कपड़ा, बस ऐसा ही है, इतनाही बड़ा लम्बा चौड़ा है, इसी तरह शरीरमें हो एक नियमित देशकालके आकारसे प्रतिभासमान हुआ आत्मा उतना ही प्रतिभासमें आ रहा जितना कि शरीर परमाणु फैले हुए हैं, सबको अपना अपना अनुभव हो रहा होगा कि मैं बस इतने में ही सब कुछ हूं। कभी शिरमें चोट लग जाय तो लगता कि दर्द तो सिर्फ उसी जगह ही रहा, पर ऐसी बात नहीं है। जितने शरीरप्रमाण आत्मा है उस पूरे आत्मामें सर्वत्र उस दर्द का अनुभव हो रहा है, पर हां उस दर्दका जो निमित्त कारण है उस कारणपर दृष्टि होने से ऐसा प्रतीत होता है कि देखो दर्द यहां हो रहा है। तो जैसे निर्बाध ज्ञानमें प्रतिभास हो उस तरह से ही व्यवहार बना करता है, और वह समीचीन व्यवहार है। यह हेतु असिद्ध नहीं है। शरीर से बाहर आत्मा के प्रदेशों का अभाव है। सुख दुःख विचार कल्पना सब कुछ शरीर के अन्दर आत्मा में ही हुआ करता है। बाहर कुछ नहीं होता। सब आत्माको मानो, परन्तु मानो कि यह चैतन्यस्वरूप है ज्ञानादिक गुणमय है, देह प्रमाण है और ऐसे ऐसे अनन्त आत्मा हैं। इसके विरुद्ध जो विशेषवादमें आत्मस्वरूप माना है एक नित्य सर्वव्यापक निरंश गुणरहित, प्रदेशरहित, क्रियारहित जैसा माना है वैसा आत्मद्रव्य सिद्ध नहीं होता।

दार्शनिक गुण, क्रिया, सामान्य, विशेषको पृथक् पृथक् द्रव्य मानते हैं और गुणोंमें भी संयोग, विभाग, पृथक्त्व, संख्या आदि जैसे स्वतंत्र गुण स्वीकार करते हैं उनके यहां वस्तुकी कोई व्यवस्था ही नहीं बन सकती। उदाहरणार्थ पृथक्त्व गुणके सम्बन्धमें एक प्रवचनांश देखिये–पृ० १३४–असाधारण धर्म से ही पृथक्त्वका ज्ञान हो जाने से पृथक्त्व गुण पदार्थकी असिद्धि–जब कि अपने अपने पदार्थ से अलग पृथक्त्वके अनाधार घट पट आदिक पदार्थ देखे जाते हैं याने इन पदार्थों से भिन्न पृथक्त्व नामका कोई गुण या किसी भिन्न पृथक्त्व नामके गुणके आधारमें ये घट पट नहीं देखे जाते, इससे सिद्ध है कि भिन्न भिन्न स्वभावरूपसे

उत्पन्न हुए पदार्थ हो पृथक् इस ज्ञानके विषयभूत है। तब अलगसे पृथकत्व नामक गुण की कल्पना करना व्यर्थ है। पृथक्त्व ज्ञानका भी होना असाधारण धर्म से ही माना गया है। कोई यह शंका न करें, मनमें न सोचें कि वस्तुसे भिन्न जब पृथक्त्व नामका कोई गुण नहीं है तो यह पृथक् है, यह पृथक् है, ऐसे ज्ञान की उत्पत्ति कैसे होगी ? पृथक् है यह, ऐसे ज्ञानकी उत्पत्ति असाधारण धर्म से ही होगी। जो पदार्थ जिस स्वरूपमें रहता है अर्थात् पदार्थ का अपने आपके स्वरूपमात्रमें रहने का नाम है असाधारण धर्म। याने वस्तुका जो चतुष्टय स्वरूप है वही उसका असाधारण धर्म है। तो देखिये जब एक वस्तु अन्य वस्तुओंसे भिन्न देखी जाती है तो जानने वाला उस समय यों जानता है कि यह एक पृथक् है, विविक्त है, अन्य सबसे जुदा है, और जब दो पदार्थ अन्य पदार्थोंसे विलक्षण एक धर्मके सम्बन्धसे भिन्न भिन्न देखे जाते हैं तो जानने वाला यों मानता है कि दो पृथक् हैं, और जब एक देश रूपसे एक कालके रूपसे किसी एक पने से जानते तो जानने वाला यों मानता है कि ये सब इससे पृथक है। तो ये ज्ञेयभूत विषय पर आधारित हैं कि जानने वाला पृथक्त्वका ज्ञान करले। देखो ना एक पुद्गल में रूप रस, गन्ध, स्पर्श आदिक गुण हैं। तो द्रव्यका स्वरूप तो अभेद है, गुणका स्वरूप भेद है, तब द्रव्यसे गुण पृथक् हुए ना, स्वरूप संख्या आदिककी अपेक्षासे। तो वहां भी वह व्यवहार चलता है कि रूपादिक गुण द्रव्यसे पृथक् हैं। तो पृथक् हैं, पृथक् हैं इस प्रकार का ज्ञान असाधारण धर्म से हो जाता है। इस प्रकार पृथक्त्व नाम का गुण कभी सिद्ध नहीं होता।

विशेषवादमें कर्म (क्रिया) को भी अलग स्वतन्त्र पदार्थ माना है, उसके भेदोंकी विवेचना सहित मीमांसा करते हुए एक प्रवचनांशमें दिग्दर्शन कराया है कि क्रिया, मूल पदार्थ की परिणति मात्र हैं, स्वतन्त्र पदार्थ नहीं, पढ़िये एक प्रवचनांश, पृ० १६०—कर्म पदार्थके असद्भावके कथनका उपसंहार—यहां इस प्रसंगमें बात कही जा रही है कि न तो सर्वथा नित्य पदार्थमें क्रिया सम्भव है और न सर्वथा क्षणिक पदार्थमें क्रिया सम्भव है, इस कारण परिणमनशील पदार्थमें भी क्रिया उत्पन्न हो सकता है। अब कर्म के सम्बन्धमें विचार करिये। यह क्रिया, यह कर्म कोई पदार्थ है क्या ? यह कर्म जिस पदार्थ में हो रहा है उस पदार्थ को छोड़कर भिन्न कोई चीज नहीं है। पदार्थ द्रव्य अलग हो और कर्म अलग हो फिर कर्म का पदार्थ में सम्बन्ध जुटे, तब उसमें क्रिया बने, ऐसी बात नहीं है। परिणमनशील क्रियाशील पदार्थको छोड़कर अन्यत्र और कोई कर्म नामका पदार्थ नहीं है, क्योंकि जो बात पायी जा सकती है और वह न पायी जाय तो इसका अर्थ है कि वह नहीं है। जैसे टेबिल पायी जा सकती है, आंखों से दिख सकती है। यदि कमरे में वह न दिखे तो इसका अर्थ यही हुआ ना कि कमरे में टेबिल नहीं है। तो जो चीज दिख सकती है, पायी जा सकती है, फिर पायी न जाय उसको कह सकते हैं कि वह है नहीं। तो कर्म पदार्थ पाया जा सकता है, वैशेषिक सिद्धान्त के अनुसार दिख सकता है, विशेषवादमें यह सिद्धान्त स्थापित किया है कि संख्या, परिणाम, पृथक्त्व, संयोग, विभागपरत्व, अपरत्व और कर्म। इतनी बातें रूपी पदार्थों के समवायसे आंखों दिखने लगती हैं। तो इसमें कर्म को भी चाक्षुस बताया है। कर्मभी उपलब्ध हो सकता है। तो जो चीज उपलब्ध हो सकती है वह कभी उपलब्ध न हुई तो, किसी को आंखों दिखी न हो तो इसके मायने है कि वह असत् है। तो कर्म नाम का पदार्थ असत् है। कोई अलग दिखता हो कि यह है क्रिया, उससे हो रहा है पदार्थ का हलन चलन, ऐसा कर्म नाम का कोई पदार्थ अलग से नहीं है।

द्रव्य, गुण, कर्म आदिको भिन्न भिन्न पदार्थ मानने पर यह समस्या खड़ी हो जाती है कि फिर आत्मद्रव्यमें ज्ञानगुण कैसे आ गया आदि तो उस विपदा को मेटने के लिए समवाय सम्बन्ध मानना पड़ा। समवाय के सम्बन्धमें

विस्तृत मीमांसाकारक प्रवचनोंके बीच एक प्रवचनांशमें दिग्दर्शन कीजिये कि द्रव्यमें गुण तादात्म्य है, समवायी द्रव्य है, उसमें गुणका सम्बन्ध समवायसे हुआ है, यह घटित नहीं होता, पृ० २४९–समवायियोंसे असम्बद्धत्व व सम्बद्धत्व दोनों विकल्पोंमें समवायत्व की असिद्धि–अच्छा–अब यह बात बतलावो कि समवाय समवा- यियोंसे असम्बद्ध है या सम्बद्ध है ? यदि मानोगे कि समवायी पदार्थों से समवाय असम्बद्ध है याने समवायी दो पदार्थों में जैसे द्रव्य, गुण, आत्मा, बुद्धि, कुछ भी ले लो, उन दो पदार्थों से समवाय सम्बन्ध नहीं है तो असम्बन्ध होने पर अर्थात् समवायियोंमें समवाय का सम्बन्ध न रहने पर समवायी पदार्थों का समवाय है, इस प्रकार का व्यपदेश नहीं बन सकता है। यदि कहा कि समवायी पदार्थों से समवाय सम्बद्ध है तो यह बतलावो कि उन समवायी पदार्थों में यह समवाय स्वतंत्र ही सम्बद्ध हो गया या किसी परसे सम्बद्ध हुआ है ? जैसे घट और रूप, घटमें रूपका समवाय माना जा रहा है तो घट और रूपमें समवाय का जो सम्बन्ध बना है सो क्या यह सम्बन्ध स्वतः बना है या किसी अन्य समवाय आदिकके कारण बना है ? यदि कहो कि समवायियोंमें समवायका सम्बन्ध स्वतः बना है तो जब संबंध स्वतः बनने लगा तो संयोग आदिक का भी सम्बन्ध स्वतः ही क्यों न मान लिया जाय ? विशेषवादमें संयोग का सम्बन्ध पदार्थों में समवाय सम्बन्ध से माना है। तो जब समवाय सम्बन्ध समवायियोंमें स्वतः ही बन जाता है तो यों संयोग सम्बन्ध उन दो द्रव्योंमें स्वतः ही क्यों नही बन जाता ? बन जाना चाहिए। सो विशेषवादमें मानना इष्ट नहीं है। यदि कहो कि समवायी पदार्थों में समवाय का सम्बन्ध पर से होता है तो इसमें अनवस्था दोष आता है। समवायी दो पदार्थों समवायका सम्बन्ध हुआ सम- वायसे, अब उस दूसरे समवायका उनमें सम्बन्ध हुआ तृतीय समवायसे। तीसरे समवायका उन सबमें सम्बन्ध करनेके लिए चतुर्थ समवायकी कल्पना की जाय, फिर उस समवायका जो निकट समवाय और समवायीमें संबंध बनाया जायगा वह बनेगा अन्य समवायसे। तो इस प्रकार यदि समवायियोंकी कल्पना बनाते जायेंगे, अनवस्था दोष हो जायगा। कहीं निर्णय ही न हो सकेगा।

(२०८–२१०) परीक्षामुखसूत्र प्रवचन (प्रमेयकमलमार्तण्डप्रवचन) २४, २५, २६ भाग

इस पुस्तकमें परीक्षामुखसूत्रके पंचम और षष्ठ परिच्छेदके सूत्रोंपर प्रवचन है। पंचम परिच्छेदके सूत्रोंमें यह बताया है कि प्रमाणका फल अज्ञाननिवृत्ति, हेयका त्याग, उपादेयका ग्रहण व उपेक्षा ये चार फल हैं सो वे प्रमाणसे कथंचित् भिन्न और कदाचित् अभिन्न हैं, इस सिद्धान्तसे उन दार्शनिकोंके मन्तव्यका निराकरण हो जाता है जो फलका प्रमाणसे भिन्नही कहते है या अभिन्न ही कहते हैं। इस सम्बन्धमें एक अन्तिम प्रवचनांश पढ़िये, पृ० ११- प्रमाणफल विवरक परिच्छेद–इस परिच्छेदमें प्रमाणके फलका वर्णन किया गया है। प्रमाणके फल है चार–अज्ञाननिवृत्ति हानि, उपादान, और उपेक्षा, ये चारोके ही चारो कथंचित् प्रमाणसे भिन्न हैं, कथ- चित् प्रमाणसे अभिन्न हैं। फिर भी तुलनात्मक दृष्टिसे अज्ञाननिवृत्तिमें प्रमाणसे अभिन्नताका विचार विशेष चलता है और हानि उपादान उपेक्षामें प्रमाणसे भिन्नताका विचार विशेष चलता है, उसका कारण यह है कि अज्ञाननिवृत्ति तो है प्रमाणसे तुरन्त साक्षात् होने वाला फल और हानि उपादान उपेक्षा ये होते हैं अज्ञाननिवृत्तिरूप फल प्राप्त होने के पश्चात्। इस कारण जो साक्षात् है उसे अभिन्न कहा है और जो व्यवधानसहित है उसे भिन्न कहा है।

प्रमाण, विषय, संख्या व फल इन चार तत्त्वोंका विवेचन इस सूत्र ग्रन्थमें हुआ। इसके बाद षष्ठ परि- च्छेदमें इन सबके आभासोंका वर्णन होगा याने जो प्रमाण नहीं, प्रमाण से जचे वह प्रमाणाभास इसी तरह विषया- भास, संख्याभास व फलाभासोंका वर्णन होगा। प्रमाणाभासके प्रकरणमें प्रमाणके सब साधनोंके आभास बताये गये, देखो अनुमान प्रमाण के साधनभूत हेतुके आभासोंमें विरुद्धहेत्वाभासमें योगाभिमत ८ विरुद्ध भेदोंका समावेश बताया

है, उनमें से पक्षेकदेश विपक्षव्यापक अविद्यमानसपक्षका विरुद्ध हेत्वाभासमें अन्तर्भावक प्रवचनांश देखिये पृ० ३५–पक्षेकदेशवृत्ति विपक्षव्यापक अविद्यमानसपक्ष नामक विरुद्धभेदका विरुद्ध हेत्वाभासमें अन्तर्भाव–अब सपक्षके न होने पर होने वाले विरुद्धभेदमें एक यह अन्तिम भेद है–पक्षेकदेशवृत्ति विपक्षव्यापक अविद्यमान सपक्ष कोई हो ही नहीं. जैसे कि अनुमान बनाया गया कि वचन और मन नित्य हैं कार्य होने से। तो इस अनुमानमें हेतु तो हुआ कार्यत्व, और पक्ष हुआ वचन और मन, साध्य हुआ नित्य। तोकार्यपना पक्षके एक देशमें रह रहा है अर्थात् वचन तो कार्य है किन्तु मन कार्य नहीं है। इस प्रकार यह हेतु पक्ष के एक देशमें रहा। और, विपक्ष है अनित्य घट आदिक। जो साध्यसे याने नित्यसे विपरीत धर्मवाला हो वह सब विपक्ष कहलाया। यहां साध्य बनाया गया है नित्यका, उससे जो विपरीत हो, अनित्य हो वह सब विपक्ष है। तो विपक्ष जो नित्य घट आदिक हैं उन सबमें यह कार्यपना रह रहा है याने कार्यत्व हेतु समस्त विपक्षमें रहता है और सपक्षमें अवृत्ति है इस हेतुको, क्योंकि इसका कोई सपक्ष ही नहीं है। पक्षके अतिरिक्त वे स्थल जिसमें साध्य रहता हो उन्हें सपक्ष माना गया है। यहां साध्य है नित्य सो नित्यमें अन्य किसी में कार्यत्व पाया ही नहीं जाता सो इस तरह यह विरुद्धभेद दूषित है लेकिन इसका भी अन्तर्भाव विरुद्ध हेत्वाभासमें है, क्योंकि विरुद्ध हेत्वाभासमें जो लक्षण किया गया है उस लक्षणसे ही यह हेतु लक्षित है। इस प्रकार विरुद्ध हेत्वाभासका वर्णन समाप्त हुआ। अब अनेकान्तिक हेत्वाभास किस प्रकार से होता है इसका वर्णन करते हैं।

छठवें परिच्छेदके ७३ वें सूत्रमें बताया है कि वादी व प्रतिवादी के जय पराजयकी कैसे व्यवस्था है। इससे सम्बन्धित एक प्रवचनांश पढ़िये, पृ० ६८–प्रमाण और प्रमाणाभासके स्वरूप के परिज्ञानका सार्वजनिक प्रयोजन प्रमाण और प्रमाणाभास अर्थात् वादी किसी बात को सिद्ध करने के लिए प्रमाण दे और प्रतिवादीके कहे हुए प्रमाणमें दोष बताये तो वादी के द्वारा जब अपने सिद्धान्तके समर्थन करने वाले प्रमाण की बात सिद्ध हुई तो उससे वादीका तो सिद्धान्त सिद्ध होता है सो उसका भूषण है और वह प्रतिवादी के लिए दूषण बन जाता है, क्योंकि वादीका जो समर्थ वचन है, प्रमाणरूप है उसकी पुष्टि होने से वादी के मन्तव्यकी सिद्धि हुई सो वादीको भूषण हुआ और प्रतिवादीके लिए वही दूषण बन गया, अर्थात् प्रतिवादीके मन्तव्यका निराकरण हुआ। जब प्रतिवादीने कोई वचन कहा और उसको वादीने प्रमाणाभासके रूपमें उपस्थित कर दिया, उस प्रकरणमें दोष बता दिया तो प्रतिवादी के लिए तो वह साधनाभास हो गया और वादीका भूषण बन गया। अथवा वादी ही कोई बात ऐसी कह दे कि जो अयुक्त हो, प्रमाणसिद्ध न हो, प्रमाणासिद्ध, प्रमाणाभास हो तो वह वादीके लिए साधनाभास हो जाता है। और, तब प्रतिवादीके लिए वह भूषण हो जाता है। इसमें प्रतिवादी प्रसन्न होता है कि वादी के बताये हुए प्रमाणमें दोष आ जाय।

वादविवादमें जयकी व्यवस्था तो यह है कि अपने पक्षका प्रमाण साधन पेश करे और दूसरे के पक्षमें साधनाभास, दोष दिखावे, लेकिन एक दार्शनिकका मत है कि जल्प, वितण्डा, छल, निग्रह आदि जैसे भी बने पब्लिकमें दूसरेको लज्जितकर देना ही जय है। इससे सम्बन्धित एक प्रवचनांश देखिये पृ० ९१–छल मात्रसे जय मानने वाले दार्शनिकके अनिष्ट प्रसंगका कथन- दार्शनिक लोग आत्महितके लिए तत्त्वकी संख्या बताते हैं। जैसे जैनसिद्धान्तमें तत्त्व ७ माने हैं–जीव, अजीव, आश्रव, बन्ध, सम्बर, निर्जरा और मोक्ष। किन्तु योगके यहां १६ तत्त्व माने जा रहे हैं जिसमें छल, जाति, निग्रह तत्त्व भी कहा गया है। तत्त्वके कहीं कुतत्त्वको भी कहते हैं क्या ? आत्महितके लिए जो उपयुक्त हों उनको ही तत्त्व कहा जाता है। तो इस प्रकार जो शंकाकार इन छलों के द्वारा जय विजयकी व्यवस्था बनाना चाहता है उसकी यह केवल एक

अनुदारतापूर्ण कल्पना है। यह दूषण प्रेक्षावानोंमें नहीं लग सकता है। और, जब बुद्धिमानोंमें छलोंका दोष न आया तो वे यथार्थ समझते हैं। जिसके युक्ति संगत वचन हैं वह तो जीता है और जिसके युक्ति-विरुद्ध वचन हैं उसको पराजय हुई है, क्योंकि यदि छल जाति निग्रह स्थानोंका ही प्रयोग कर करके कोई जीत, हारकी व्यवस्था बनाये अथवा गौण अर्थ जिस जिस वक्ताके अभिप्रायमें है उसका निषेध करके मुख्य अर्थकी बात रखे और दूषण दे या मुख्य अर्थका निषेध करके गौण अर्थ को बात रखकर दूषण दे, यदि इतने मात्रसे दूसरेका निग्रह होता है, पराजय होती है तो भला यह योग जब सर्वशून्य वादियः के प्रति मुख्यरूपसे प्रमाण आदिकके प्रतिषेधको करके निग्रह करता है, उनकी हार बताता है तो शून्यवादकी यह बात भी तो सांव्यवहारसे, प्रमाण आदिकसे तो उसे मान लिया ना, फिर इतने मात्रसे प्रतिवादीको पराजय मान ली गयी है। तो अपने पक्षकी सिद्धिसे ही दूसरे को पराजय होती है, यह बात फिर लुप्त हो जायगी। वास्तविकता यह है कि अपने पक्षकी सिद्धिसे ही स्वसिद्धान्तकी जीत है और परकी पराजय है। यहां तक छलप्रयोगके सम्बन्धमें वर्णन किया और यहां सिद्ध किया गया कि अपने पक्षकी सिद्धि से ही जीतकी व्यवस्था है और दूसरे के पक्षमें दोष देने से पराजयकी व्यवस्था है। छल मात्रसे जय और पराजयकी व्यवस्था नहीं बनती।

छठे परिच्छेदके अन्तिम सूत्रमे २६ वें भागमें नयाभासों पर प्रवचन हैं। सूत्रार्थ व नय व नयाभासोंका संक्षिप्त स्वरूप पढ़िये, पृ० १७१-नय और नयाभासका सामान्यतया स्वरूप-जितना जो कुछ वर्णन अब तक किया गया है प्रमाण और प्रमाणाभास, उनसे अविशिष्ट अन्य कुछभी जो संभव हो उसका विचार करना चाहिए। अब यहां प्रसंगमें प्रमाण और प्रमाणाभास से अन्य विद्यमान समस्या है नय और नयाभासकी। तो उनका लक्षण अब विचार करते हैं। इस प्रकरणमें नयोंका जो वर्णन किया जायगा वह एक दिग्दर्शन मात्र होगा, अर्थात् उसका सहारा लेकर, उस दिशामें बढ़कर भिन्न भिन्न अनेक प्रमाणोंकी सिद्धि की जा सकी तो नयका लक्षण सामान्यरूपसे भी जानना चाहिए और विशेषरूपसे भी जानना चाहिए। उनमें से प्रथम सामान्यतया नयका लक्षण कहते हैं। ऐसा ज्ञाताका अभिप्राय जो कि वस्तुके अंशको ग्रहण करने वाला है अर्थात् जानने वाला है तथा उस ज्ञेय तत्त्वके प्रतिपक्षका निराकरण भी न किया गया हो ऐसे अभिप्राय को नय कहते हैं। और, जैसे ज्ञाता के अभिप्रायमें ग्रहण तो वस्तुका अंशका हुआ ही लेकिन प्रतिपक्षका भी निराकरण बसा हो तो वह नयाभास कहलाता है। इस प्रकार नय और नयाभासका यह सामान्यलक्षण है।

नय और नयाभासोंकी पद्धति जाननेके लिए उदाहरणार्थ व्यवहारनय व व्यवहारनयाभासका उल्लेख देखिये, पृ० १७७-व्यवहारनयका क्षेत्र-अपर संग्रहनयके विभावग करके जो व्यवहारनयके द्वारा जाना गया है उसका भी और विभाग किया जाय और इस तरह से अपरसंग्रहनयका व्यवहार अर्थात् अपर सग्रह बना बनाकर विभाग करते जाने की पद्धति ऋजुसूत्रसे पहिले पहिले तक की जाती है. क्योंकि ऋजुसूत्रनय ऐसो निरंश पर्यायको ग्रहण करता है कि जिसके बाद उसका विभाग सम्भव नहीं। अतएव ऋजुसूत्रनय से पहिले पहिले अपर संग्रहों का व्यवहार चलाया जा सकता है। और, यह सग्रह व्यवहारनय प्रसंगपर संग्रहनय के बाद प्रारम्भ होकर ऋजुसूत्रनयसे पहिले पहिले होता है। अर्थात् संग्रहनयके बाद कोई सग्रह नहीं किया जा सकता। जैसे ऋजुसूत्रनय के विषय में विभाग नहीं किया जा सकता इसी प्रकार पर सग्रह के विषय में भी नहीं बनाया जा सकता है। सब संग्रह व्यवहार प्रपंच इस कारण चलता है कि समस्त वस्तुवें कथंचित सामान्यविशेषात्मक हुआ करती हैं। जब समस्त पदार्थ सामान्य विशेष रूप हुए तो सामान्यको प्रधान करके तो संग्रहनय बनता है और विशेषको प्रधान करके व्यवहारनय बनता है।

नयाभासका उल्लेख देखिये–पृ० १७७ व १७८–व्यवहाराभास–व्यवहारनयमें जो विभाग किया जाता है वह वस्तुके अनुरूप किया जाता है, लेकिन जो कल्पनासे आरोपित द्रव्य पर्याय के विभाग को मानता है वह व्यवहारनय नहीं, किन्तु व्यवहाराभास है, क्योंकि उसमें प्रमाणसे वाधा आती है। अपनी कल्पनाके अनुसार जब किसी भी प्रकार विभाग बना दे तो वह व्यवहारनयका विषय नहीं है। जैसे कि कोई कहता है कि द्रव्य ९ प्रकार के हैं–पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन। जब ये विभाग किसी व्यवस्थाको लिए हुए नहीं हैं। सभी कुछ द्रव्य एक जातिमें आ गये, कुछ द्रव्य रह गये, कुछ द्रव्य हो नहीं हैं। कल्पनासे उनमें द्रव्यरूपता मान ली गई है। इसी प्रकार पर्याय में यों भेद करना कि पर्यायेंक्रिया उत्क्षेपण अवक्षेपण आकुंचनआदिक ५ प्रकारकी हैं। यहभी एककल्पनासे आरोपित विभाग है। तो जो कल्पना से आरोपित द्रव्य पर्यायके विभागको मानता है वह अभिप्राय व्यवहाराभास है, क्योंकि उस पर विचार करने से उसमें प्रमाणसे वाधा आती है। यह नहीं कहा जा सकता कि द्रव्य आदिक का विभाग कल्पनासे आरोपित ही होता है। कोई यह कह बैठे कि सब सत् हैं, यह बात तो सत्य है। अब उसका जो विभाग किया जायगा वह कल्पनानुसार किया जायगा। यों यों अटपट स्वच्छन्द रूपसे कल्पनासे विभाग आरोपित नहीं होता, क्योंकि यदि कल्पनासे ही विभाग बनाया जाय तो फिर वह पदार्थ जिसको व्यवहारनयसे अलग अलग बताया है वह अपनी अर्थक्रियामें कारण नहीं हो सकता, जैसे कोई कल्पना से आकाशका फूल मानले। कल्पना है उसकी, पर कल्पनासे मान लेने मात्रसे कहीं आकाशपुष्पमें अर्थक्रिया न हो सकेगी। सुगन्धी आये या उसकी माला बनायी जा सके, उसका कुछ उपयोग हो सके, यह कुछ न हो सकेगा, क्योंकि वह तो असत् है। केवल एक कल्पनासे आरोपित किया गया है। इसी प्रकार द्रव्यसे पर्यायका विभाग केवल कल्पनासे आरोपित हो, तत्त्वभूत पाया न जाता हो तो उसमें भी अर्थक्रिया नहीं बनसकती। इसलिए व्यवहारनय द्वारा जो विभाग किया गया है वह असत्य नहीं है।

(२११) ज्ञानार्णव प्रवचन प्रथम भाग

परमपूज्य श्री शुभचन्द्राचार्य प्रणीत ज्ञानार्णव ग्रन्थके १ से ५६ तक छन्दोंपर पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराजके प्रवचन हैं। मंगलाचरणके प्रवचनोंमें ज्ञानलक्ष्मीका परिचय देखिये–पृ० २–प्रभुकी ज्ञान श्री–यह ज्ञानार्णव ग्रन्थ उन सभी समाधानोंको करता हुआ बारह भावनाओंका बोध कराने के लिए लिखा है। इस मंगलाचरणमें जो उत्तर दिया है उस पर कुछ गम्भीर दृष्टि दें। ज्ञानलक्ष्मीके घनआश्लेषसे जो आनन्द सम्पन्न हुआ, उससे यह परम आत्मा समृद्ध है। प्रथम तो इसमें यह बात घटित हुई कि जैसे बहुत से लोग अपनी कल्पनासे माना करते हैं कि भगवान और भगवती दोनों साथ रहते हैं। जैसे यहां लोग कहते हैं ना कि पंडित और पंडितानी, मास्टर और मास्टरानी, ऐसे ही कुछ लोग भगवान और भगवती भी बोला करते हैं। भगवान और उनकी स्त्री भगवती–ऐसा कहा करते हैं, पर वास्तवमें भगवान कौन है और भगवती कौन है इसको समझो। जो ज्ञान लक्ष्मी है वह तो है भगवती, भगवन्तः इयं इति भगवती–जो भगवानकी चीज हो उसे भगवती कहा है। कहा है ना कि परमात्मा इस ज्ञानलक्ष्मी के घन सम्बन्धसे आनन्दित है। यह ज्ञान रूपी भगवती भगवानका स्वरूप है–उससे अलग अन्य कुछ चीज नहीं है। किसी समय चाहे रूपक दिया गया हो, पर उसे न समझने के कारण फिर लोगों ने उसका सीधा ही अर्थ लगा डाला–क्यों कि ये भगवान हैं और इनके संग जिसका विवाह हुआ है वह उनकी भगवती है और उनके स्त्री पुरुष के रूप में लोगों ने फोटो भी बना दिये हैं। पर भगवान की जो शक्ति है, भगवान का जो स्वरूप है, वही भगवान की लक्ष्मी है। और उस लक्ष्मी से प्रभु तन्मय रहा

करते हैं।

८ वें छन्दके एक प्रवचनांशमें भेदविज्ञान व अभेदविज्ञानकी झांकी देखिये–पृ० २८–भेदविज्ञान व अभेद–विज्ञानका कदम–हितपूर्ण ज्ञानमें प्रथम तो भेदविज्ञान है और फिर भेदविज्ञान का फल तो यह था कि हेय से हटे और ऊपादेयमें लगें तो हेय से हटकर हम अपने विषय रूप निज ज्ञानमें लग गये, अब पर–तत्त्वोंकी सुध नहीं रही तो इसे कहते हैं अभेद विज्ञान। तीन चीजें हुआ करती हैं–एक भेदविज्ञानका अभाव, दूसरी बात भेदविज्ञान और तीसरी बात अभेदविज्ञान। भेदविज्ञान अभाव तो दुःखमें ही है, वह तो अज्ञानावस्था है। भेदविज्ञानके कालमें उत्कृष्ट शान्ति नहीं होती, पर हां शान्ति की शुरुवात होने लगती है। उत्कृष्ट शान्तिका साधक तो निर्विकल्प अभेद ज्ञान है, जिसमें सुख न मिले, शान्ति न मिले वह ज्ञान क्या है?

९ वें छन्दमें कहा है कि श्रुद्ध, विज्ञान, ध्यान तब वास्तवमें वही है जिसको पाकर आत्मा स्वरूपमें लीन हो जावे, इनमें से एक तपका ही उदाहरण देखिये एक प्रवचनांशमें, पृ० ३५–वास्तविक तपश्चरण–तपस्या भी परम वही है जिसमें स्वरूपदर्शन हो, अनशन कर लिया हो तो, क्रोध और बढ़ गया, क्योंकि जब भूख रहती है तब क्रोध बढ़नेका अवसर प्राय: जल्दी आता है। कोई प्रतिकूल बात करे तो क्रोध बढ़ जाता है, यह सबकी बात नहीं कहीं जा रही है, किन्तु प्राय: जैसा साधारण जनोंमें होता है वैसा बताया जा रहा है। तो वह तपस्या क्या रही? जिसमें कषाय बढ़ जाय, अथवा मान बढ़ जाय। लोग समझें कि यह व्रती है, यह ऐसा उपवास रखते हैं। सो वह तपस्या क्या रही? अथवा माया, लोभ बढ़ जाय। देखो धर्म करने से पुण्यबंध होता है, फिर उसे स्वर्ग के सुख मिलते हैं, पर कर रहा है, लग रहा है तपस्यामें। अरे भैया, यहां शान्ति तो हुई नहीं अभी क्योंकि उद्देश्य भी सांसारिक रख लिया। तपस्या भी वही है। इसमें रहकर यह जीव अपने स्वरूपमें लीन हो जाता है।

२५ वें छन्दके प्रवचनोंमें से एक प्रवचनांशमें आवश्यक शिक्षा ग्रहण कीजिये–पृ० ६०, ६१–आवश्यक शिक्षा–हमें यह शिक्षा लेनी है कि हमें तो अपने आत्मामें शान्ति पाने के लिए ज्ञानदृष्टि की आवश्यकता है, और शरीर की स्थिति के लिए कुछ भोजन की आवश्यकता है, इन दो के अतिरिक्त तो सब उद्दण्ड–तायें हैं। तो जैसे भोजन आवश्यक समझ रहे हैं उससे भी अधिक आवश्यक ज्ञानदृष्टि का बनाना है। जो पुरुष ज्ञानी हैं, ज्ञानदृष्टि करके सहज आनन्द का अनुभव किया करते हैं वे कर्मक्षय निकटकालमें ही भूखके कारणभूत इस शरीरसे भी विमुक्त हो जायेंगे। तो यह दुःख तो अपने आप दूर हो जायगा। सदा के लिए संकटोंसे छूटना है तो यह भोजन दृष्टि काम न करेगी, किन्तु ज्ञानदृष्टि काम करेगी। इस व्यवहार से इस शरीर आदिकसे अधिक ज्ञान भावना है, ज्ञान दृष्टि है, ऐसा करने से आपमें दृढ़ निर्णय बना लेना चाहिए, ये समागममें आये हुए कोई लोग, साथ न देंगे। अपने आपका जितना ज्ञानप्रकाश बना है बस यही साथी होगा।

गुण दोषका विभाग करने के लिए विवेकका कसौटीपना देखिये ३३ वें छन्दके एक प्रवचनांशमें–पृ० ७३–विवेक कसौटी–वे पुरुष धन्य हैं जो निज पक्ष चित से वस्तुके विचारमें कसौटीके समान हैं। जैसे स्वर्ण कसने की कसौटी होती है वह कसौटी मालिक के पास है। मालिक उसे बड़े अच्छे ढंग से रखता है, लेकिन वह कसौटी दगा नहीं देती। वह कसौटी मालिक का पक्ष नहीं करती कि सोना ग्राहक का देते समय सोने को कसौटी से कसा जाय तो अपनी यथार्थता से अधिक अपना गुण बता दे, अथवा किसी ग्राहकका सोना ले और कसौटी से कसे तो यथार्थ ही हीन गुण की बात वह कसौटी दिखा दे। कसौटी को न मालिकका पक्ष है, न ग्राहकका पक्ष है, तो यथार्थ निष्पक्ष हैं। वे तो कसौटीके समान हैं। वे गुण

और दोषोंका बराबर यथार्थ विचार कर लेते हैं। भिन्न भिन्न जान लेते हैं कि यह गुण है और यह दोष है।

इस ग्रन्थमें वक्तव्य १२ भावनाओंको स्थान देखिये जीवके लिए कितना उपयोगी है, प्रवचनांश ५४ वां श्लोक–पृ० ११३–भावनाका धर्मपालनमें स्थान-इन बारह भावनाओंका बड़ा प्रमुख स्थान है–आत्महित के लिए और एक सीधा उपाय है, हित के लिए तो बारह भावनाओंका। थोड़ा भी जानने वाला पुरुष इन बारह भावनाओंके चिन्तन के प्रसाद से अपने को कल्याणमें ले जायगा और कितना भी ज्ञान होने पर भी बारह भावनाओंसे रहित वृत्ति बने तो वह ज्ञान जड़–धन जैसा काम करता है। जैसे मकान आदिक जड़ पदार्थ मिले हैं तो उनके मेलसे एक अहंकार भाव आया, एक सांसारिक मौज लेनेका भाव बनाया करते हैं, इसी प्रकार आत्महित कारणी इन भावनाओंसे रहित होकर यह ज्ञान वाला पुरुष भी इन ज्ञानके समागम से अहंकार बनाने में जो सांसारिक मौज मिला है उससे खुश रहनेका भाव–ये सब बातें बनने लगती हैं। इन भावनाओंका कितना उपकार है ? इस उपकार को वही पुरुष जानता है जो इन भावनाओंको पाकर अपने में कुछ लाभ उठा लेता है। हे भव्य तू अपने भावोंकी शुद्धि के लिए अपने चित्तमें बारह भावनाओंका चिन्तन कर।

(२१२) ज्ञानार्णव प्रवचन द्वितीय भाग

इस पुस्तकमें ज्ञानार्णवके ५७ वें श्लोकसे १३२ वें छन्द तक के पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराजके प्रवचन हैं। इन्द्रिय सुखोंमें प्रेम करना अहित है, इससे सम्बन्धित एक प्रवचनांश ५७ वें श्लोकमें देखिये-पृ० १–इन्द्रिय सुखोंमें रीति की प्रतिषेध्यता–हे आत्मन्, इन सांसरिक सुखोंमें प्रीति करके तूने अपने आपका अब तक विनाश ही किया है। अब तो अपने आपका स्वरूप निरख। यह आत्मा अमूर्त और अविनाशी है, लेकिन इस जगमें कौन सा जीव अपने आपको अमूर्त और अविनाशी अनुभव कर रहा है ? यदि अमूर्त और अविनाशी अपने आपको माना होता तो फिर विपदा किसकी ? शंका किसको ? भय किसका ? निरन्तर चकित रहता है, निरन्तर विपदा अनुभव करता है। यह सब ज्ञान परिणामों की बात है कि हमने अपने को अमूर्त और अविनाशी नहीं मान पाया। इसका प्रधान कारण है कि हम इन देहादिक सुखों से प्रेम रखते हैं, इन्द्रियजन्य सुख भोग विलास आराम आदि के सुखों में प्रीति की तो उनके साधन में ममता अपने आप आयगी। इन्द्रियसुख को चाहा तो यह जीव इन्द्रिय सुखके साधनों को भी जुटायेगा और उन साधनाकी पराधीनतामें अपने आपके स्वरूपको भूल जायगा, दुःखी होगा।

संसारमें सुखसे अनन्त गुणा दुःख है, पढ़िये ६१ वें श्लोकके एक प्रवचनांशमें, पृ० ९–सांसारिक सुखसे अनन्त गुण दुःख–हे मूढ़ पुरुष इन ससारमें तेरे समक्ष जो कुछ सुख या दुःख है, उन दोनों को ज्ञान को तराजू में चढ़ाकर यदि तोलेगा तो सुख से दुःख अनन्त गुणा अधिक दीखेगा। इस श्लोक में यह बताया है कि संसारमें सुख तो है तिल भर और दुःख है पहाड़ भर। अपनी अपनी बातें अपने को जल्दी समझ में आयेंगी। दूसरे को सुख दुःख समझमें नहीं आता, तब अपनी ही बात अपने पर घटा कर देख लो। किसी भी प्रसंगमें, किसी भी समयमें सुख आपकी कल्पनामें है तो उसके साथ उससे अनन्तगुणा दुःख भी लगा हुआ है। यह क्यों ? इसलिए कि वे तो सारे दुःखके ही काम हैं। इतने पर भी यह मूर्ख प्राणी मोहवश उसमें सुखकी कल्पना कर डालता है। तो यह उसके कल्पनागृहकी बात है। वास्तवमें सुखसे अनन्तगुणा दुःख है। यह कहने के बजाय सर्वत्र दुःख ही दुःख है, यह कहा जाना चाहिए था लेकिन जिन्हें समझाना है उनकी कल्पना में तो वह सुख जचता है, जो कि दुःख स्वरूप है, अतः उन्हें उनकी

भाषा बोलकर ही तो समझाना पड़ता है। इस कारण यह कहा गया कि संसारमें जितने सुख हैं उससे अनन्तगुणा दुःख हैं।

परोपकारमें तन मनके प्रयोगका अनुरोध पढ़िये, पृ० ६१ वें छन्दके एक प्रवचनांशमें, पृ० १२–परोपकार में तन मनके प्रयोगका अनुरोध–शरीर पाया है तो लगने दो परोपकारमें। दूसरों के उपकार से इस शरीरका भी कुछ नहीं बिगड़ता और बिगड़ जावे तो क्या हुआ ? बिगड़ना तो है ही। हम अपने भावों में उज्ज्वलता बसाये, इस अवसरको पाकर अब न चूकें। सब जीवोंको सुख हो, शान्ति हो, इस प्रकार का चिन्तन करें। हमारा कोई न साथी है, न शत्रु है, जिन्हें यहां साथी और द्वेषी समझा जा रहा है वे बेचारे अपने सुखके लिए, अपनी कषायोंकी शान्ति के लिए अपने आपमें जैसा उन्होंने सुख मान रखा हो उस तरह के उसमें विकल्प पैदा होते हैं। तो कोई साथी अथवा द्वेषी कैसे होगा ? जगतमें कोई किसी का साथी अथवा द्वेषी नहीं है। ज्ञानी गृहस्थके चित्तमें भी कितनी उदारता है कि युद्धके समय व्यवहार में शत्रुका डटकर मुकाबला करते हुए भी अंतरंगमें यह श्रद्धा बनी है कि कोई मेरा शत्रु नहीं है। यह मन पाया है तो इस मनको सब जीवों को भलाई के लिए चिन्तन में लगा दो, कोई भो हो, दूसरों के प्रति भला विचारने से उसका कुछ भी बिगड़ता नहीं है, किन्तु मन खुश रहता है।

क्षणिकत्वकी घोषणा देखिये ६४ वें छन्दके एक प्रवचनांशमें–पृ० १६ क्षणिकत्वकी घोषणा–बड़े बड़े लोगोंके घर दरबारोंमें, मन्दिरोंमें जो घंटा बजता है अथवा घड़ी का घंटा बजता है यह शब्द करता हुआ लोगोंको यह बता रहा है कि सबका सब क्षणिक है। जो जिस घंटे का समय निकल गया वह अब वापिस नहीं आने का है, ऐसेही जो जीवन व्यतीत हो गया वह अब वापिस लौटकर न आयगा। पदार्थ का जो परिणमन निकल गया वह पुनः न आयेगा। जो पदार्थ है उसका नियमसे विनाश होगा। और जिसका नाश हो गया वह पर्याय फिर लौटकर नहीं आती। दूसरी पर्याय आयेगी। यों सभी पदार्थ क्षणिक हैं ऐसा आचार्य पुरुष कहते हैं। तो यह घंटीका शब्द लोगोंको मानो पुकार कर कह रहा है कि हे जगतके जीवो, यदि कुछ अपना कल्याण करना चाहते हो तो शीघ्र करलो। जो समय गुजर जाता है वह समय पुनः वापिस नहीं आया करता।

अनित्यके प्रेमसे हानि देखिये ६६ वें छन्दके एक प्रवचनांशमें, पृ० २०–२१–अनित्यके प्रेमसे हानि–यह अनित्य भावनाका प्रकरण चल रहा है। यहां के सभी ठाठ बिनाशीक हैं, सभी अनित्य हैं। उन अनित्य चीजों के प्रति क्यों इतना व्यामोह किया जा रहा है ? कोई पुरुष २० रू० का खोमचा रखकर रोज अपने परिवारका पालन पोषण करता है। उससे कोई कहे कि देखो हम कल कलके लिए तुम्हें लखपति बनायेंगे और बादमें जो कुछ तुम्हारे पास है वह भी छीन लेंगे, तो क्या वह लखपति बनना स्वीकार करेगा ? अरे वह तो कहेगा कि मुझे तो वह २० रू० का सट्टपट्ट ही भला है, जो जिन्दगीमें साथ देगा। मुझे वह लाखोंका वैभव न चाहिए जो मेरा भी सब कुछ छुड़ा देगा। ये मोही प्राणी अनित्यको नित्य मान रहे हैं। यही अज्ञान है।

जगत इन्द्र जालकी तरह मिथ्या है, देखिये ९४ वें श्लोकके एक प्रवचनांशमें–पृ० ९०-जगतकी इन्द्र-जालोपमता–यह जगत इन्द्रजालकी तरह है। इन्द्रजाल और अलग चीज क्या होती होगी ? वर्णन चला आया है। कोई मायावी पुरुष किन्हीं न हुई चीजोंको भी हुई जैसी दिखा दे तो उसे कहते हैं इन्द्रजाल। जैसे बाजीगर लोग होते हैं, वे न हुई चीज को भी हुई जैसी दिखा देते हैं। क्या करते हैं, क्या उनका ढग है, कुछ पता नहीं। किसी दर्शककी टोपी उठाई और खन खन करके रूपये गिरने लगते हैं, ऐसा

लोगोंको दिखता है। किसी दर्शकका दुपट्टा ले लिया और उसे हिलाया तो उससे खन खन करते हुए रूपये गिरने लगते हैं–ऐ तो कितने ही रूपये खन खन करके गेर दिये और बादमें खेल दिखाने के पश्चात् वह बाजीगर सबसे एक एक दो दो पैसा मांगता है। जो खन खन करके गिरते हुए दिखाये वे क्या रूपये पैसे नहीं थे ? यद्यपि लोगोंके देखने में आया, सुनने में आया, पर वे पैसे नहीं थे। तो जो है, नहीं है, ऐसा दिखा दे वही तो इन्द्रजाल है। है कुछ भी तथ्य नहीं और यहां दिखता है कि यह सब कुछ है, यही तो इन्द्रजाल है।

मृत्यु अचानक आ ही जाती है इसका चित्रण देखिये १०७ वें श्लोकके एक प्रवचनांशमें–पृ० ८४–अन्तक की समवर्तिता–यह मरण, आयुक्षय, यमराज देखो बड़ी समतासे जिसे चाहे उसे खा लेता है। जैसे बालकको ग्रसता है वैसे ही वृद्धको ग्रसता है। कोई मृतकोंकी संख्या करे तो करीब करीब यही बात दीखेगी कि मरने वालोंमें जितनी संख्या वृद्ध लोगोंकी है उतनी ही संख्या जवान और बालकोंकी भी है। सभी को यह यम समतासे ग्रस लेता है। यह अलंकार में कह रहे हैं। कहीं यम नामका कुछ रहता नहीं है। आयुके क्षयका नाम यह है। प्रकरणमें यह बता रहे हैं कि यह मरण सब पर अचानक आ जाता है। यह विश्वास नहीं किया जा सकता है कि ये तो बच्चे हैं, ये तो ५० वर्ष जीवेंगे। यह दम भरकर कोई नहीं कह सकता कि किसकी कब अचानक मृत्यु आ जाय ? जैसे यह यम अचानक ही बालकको ग्रस लेता है वैसे ही बृद्धको भी ग्रस लेता है। इसके पक्षपात नहीं है कि बूढ़े को ग्रस ले और बालकको न ग्रसे। यह यमराज जैसे धनिकको ग्रस लेता है ऐसे हो दरिद्र को ग्रस लेता है। वहां यह पक्षपात नहीं है कि यह गरीब है इसे ग्रस ला और इस धनिक का न ग्रसो। (यम में) मरण में किसी प्रकार की विसमता नहीं है। जैसे ही शूर बीर को ग्रसता है वैसे हीं यह कायर को ग्रसता है। यों सभी मरते जा रहे हैं। जब सभो जीव एक इस पंचत्वको मरणको ही प्राप्त होते हैं तब इनमें से हम किसका शरण ढूंढें ? इस यमराजका नाम समवर्ती भी है, परेतराट् भी है, मरण, मृत्यु यह श्मशानका राजा है। इसका नाम समवर्ती भी है। ये मृत्यु सब प्राणियोंमें समान है।

विपदग्रस्त संसारी प्राणी की रक्षाका एकमात्र उपाय देखिये ११५ वें छन्दके एक प्रवचनांशमें, पृ० १०२–रक्षाका एकमात्र उपाय–यह जीव स्वयं स्वय के आत्मस्वरूपमें न ठहरकर कहीं भी बाह्यमें दृष्टि बनाये सर्वत्र अरक्षित है। ये कामकी प्रगाढ़ निद्रामें सो रहे हैं। उन सबको प्रत्येकको यह काल निगलता जाता है। इस संकटसे बचनेका अन्य कोई उपाय नहीं है, केवल एक ही यह उपाय है कि प्रत्यक्षज्ञानको प्राप्ति करे। अमर, शाश्वत ज्ञानानन्दघन निजचैतन्यस्वभावकी दृष्टि करे तो इस उपायसे कालके पंजेसे निकलने की बात बन सके, अन्य कोई उपाय नहीं है। एक अपने ज्ञानानन्दस्वरूपका शरण लेने से इस काल से रक्षा हो सकती है।

(२१३) ज्ञानार्णव प्रवचन तृतीय भाग

इसमें ज्ञानार्णव ग्रन्थके १३३ वें श्लोकसे १९८ वें श्लोक तक के पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराजके प्रवचन हैं। एकत्वभावनामें हमें उपादेय तत्त्व क्या मिलता है, इसे पढ़िये १३८ वें छन्दके एक प्रवचनांश में–पृ० ८–एकत्वभावनामें उपादेय तत्त्व- यह मैं आत्मा अकेला हूं, ऐसी एकत्वभावनामें यह जीव आनन्दधाम निज अन्तस्तत्त्वको प्राप्त होता है। भावनाओंके स्वरूपको समझने के लिए दुःखमें कोई साथी नहीं है, ऐसा कहा जाता है। यह जीव अकेला ही जन्म लेता है, अकेला ही मरण करता है, अकेला ही दुःख भोगता है। इस जीवका कभी भी कोई सगा साथी नहीं है, ऐसा एक सुगम वैराग्य के लिए कहा है। एकत्वभावनामें वही तो सुविदित होता है कि यह जीव मात्र अपने प्रदेशोंमें अपने आपका परिणमन

करता है, चाहे वह मोक्षपरिणमनका परिणमन हो, अनन्तज्ञानका, अनन्तसुखका परिणमन हो और चाहे संसारका दुःखरूप परिणमन हो, प्रत्येक परिणमन प्रत्येक जीवमें प्रत्येक पदार्थमें स्वयं के ही साधन से स्वयमेव के ही आधार में हुआ करता है, फिर कोई अगर मेरे दुःखमें साथी नहीं है तो नाराज होने की क्या बात है, जैसा स्वरूप है ऐसा उसे जानो।

बद्ध दशामें भी जीवकी स्वभावदृष्टिसे क्या शुद्धता है सो पढ़िये १४४ वें छन्दके एक प्रवचनांशमें-पृ० १८-बद्धदशामें भी जीवकी स्वभावशुद्धता-पदार्थका अपने आपका स्वरूप जैसा है वैसा ही निहारने पर यह स्पष्ट विदित हो जाता है कि प्रत्येक पदार्थ पर पदार्थसे अत्यन्त न्यारा । जैसे पानीमें मिट्टीका तेल डाल दिया जाय तो ये दोनों एक बर्तनमें हैं लेकिन स्वभावमें पानी प्रवेश नहीं करता, पानीके स्वभावमें तेल प्रवेश नहीं करता। अपने अपने सत्त्वको लिए जुदे जुदे पदार्थ हैं, ऐसे ही यह आत्मा यद्यपि आज बन्धके प्रति एक बन रहा है, शरीरमें बस रहा है जहां देह है, फिर भी यह देहसे अत्यन्त न्यारा है। यह आत्मा चिदानन्दस्वरूप है और यह शरीर न चित्स्वरूप है, न आनन्दरूप है। यों शरीरादिक समस्त पदार्थोंसे विलक्षण यह मैं आत्मा चिदानन्दस्वरूप शुद्ध हूं, ऐसी भावना रखने वाले पुरुषके अन्यत्व भावना बनती है।

सम्पर्कप्राप्त सब पदार्थोंको भिन्न निरखकर सुखी होनेकी सीख लीजिये अन्यत्व भावनाके एक प्रवचनांशमें, श्लोक १५१-पृ० ३०-समागत पदार्थोंकी निजस्वरूपसे भिन्नता-इस जगतमें जो जो जड़ और चेतन पदार्थ इन प्राणियोंके सम्बन्धरूप हो जाते हैं वे सभी जगह जगह अपने अपने स्वरूपसे विलक्षण हैं और आत्मा सबसे भिन्न है। जब लोकमें सभी पदार्थ हैं तो निकट अनेक पदार्थ होते ही हैं और फिर पूर्वबद्ध कर्मोंके अनुसार ऐसे संयोग भी जुट जाते हैं, लेकिन यह न भूलना चाहिए कि जो कुछ भी सम्बन्ध में आया है वे सब परपदार्थ हैं, आत्मासे अत्यन्त भिन्न हैं। यदि भिन्न न समझेंगे तो निकटकालमें ही बहुत दुःखी होना पड़ेगा। दुःख और है किस बातका जीवोंको ? केवल पर पदार्थोंके अपनानेका दुःख है, मोह लगा है उसका दुःख है है यह ऐसा ही एकाकी कि जब चाहे तब तक यहां रहे, जब चाहे चला जाय। इसका किसी से कोई खास सम्बन्ध नहीं है, लेकिन यह जीव मोहवश अपनी ओर ही समस्त सम्बन्ध बना रहा है समागममें आये हुए सब पदार्थ अपने अपने स्वरूपमें हैं, अत्यन्तविलक्षण हैं और भिन्न हैं और यह मैं आत्मा अपने स्वरूपसे हूं अतः सबसे विलक्षण हूं और भिन्न हूं। ऐसी अन्यत्व भावनामें अपनी भिन्नता देखनी चाहिए।

रागद्वेषके अभावसे ही सर्वसिद्धि है, मनन कीजिये १८४ वें छन्दका एक प्रवचनांश-पृ० १८५-रागद्वेष की मन्दतासे महापुरुषपना-महापुरुषता किसका नाम है ? महापुरुष बनता है रागद्वेषपर विजय पाने से। जितना निकट यह अपने आत्माकी ओर आये, रागद्वेष दूर हों, समता परिणाम जगे, निर्मोह निकास हो, बस उसी का नाम महापुरुष है। हम ही जैसा रागद्वेष कोई करता रहे, कोई और राजपाट मिल गया या कुछ विशेष समृद्धि मिल गयी, उसके कारण यदि वह महापुरुष कहलाये इसके लिए यह उपमा रखिये। जैसे कर्ता हर्ता ईश्वर में और कर्ता हर्ता मनुष्योंमें कुछ अन्तर नहीं रहा, ऐसे ही रागी द्वेषी छोटे पुरुषमें और रागी द्वेषी समृद्धिशाली पुरुष में अन्तर कुछ नहीं रहा। महापुरुषता समता परिणामसे और निर्मोह भावसे प्रकट होती है, तब रागद्वेषपर विजय करे। उसके उपाय ये दो हैं-समता और निर्ममता। किसी वस्तुमें मोह न होगा तो रागद्वेष न किया जा सकेगा।

संवरभावमें ही आत्मरक्षा है, वह कहां प्राप्त होता है, देखिये १८८ वें छन्दके एक प्रवचनांशमें, पृ० ६३-स्वरूपनिश्चलतामें परम संवर-जिस समय समस्त कल्पना समूहोंको छोड़कर अपने स्वरूपमें यह मन

निश्चल होकर रहता है उस ही समय मुनिके उत्कृष्ट सम्वर होता है। इस जीवके विभावका और कर्मोंके आनेका कैसा निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है-जैसे ही यह जीव रागद्वेष मोह भावरूप परिणमता है उसी समय ये कर्म इस आत्मामें बंधते हैं और उनकी स्थिति और फलदानशक्ति निश्चित हो जाती है और जब ही यह ज्ञानी पुरुष कल्पनाओंको त्यागता है जिनके आधार पर मोह रागद्वेष हुआ करते हैं, कल्पनाओंको त्यागकर जैसे ही यह अपने आपके स्वरूपमें मग्न हो जाता है वैसे ही याने उसी समय यहां कर्मोंका सम्बर हो जाता है। फिर कर्म नहीं आते।

शान्तिका सम्बन्ध ज्ञानसे है, निश्चय करिये, पढ़िये १९ वें छन्दका एक प्रवचनांश–पृ० ११२–शान्तिका ज्ञानसे सम्बन्ध-मुक्तिका उपाय रचने वाला भव्य जीव क्या क्या करता है जिससे उसकी निर्मलता बढ़ती और उस निर्मलताके कारण मुक्ति प्राप्त की जाती है। क्या करते हैं ज्ञानी जन? सबसे पहिली बात तो ज्ञानकी है। जिसके अज्ञान दशा है उसके जगह जगह विपदायें हैं, ठोकरें और जिसके ज्ञान है उसके किसी कारण दरिद्रता भी आ जाय, अन्य संकट भी आ जायें तो भी वह अपने अंतरंगमें व्याकुल न होगा। सुखका सम्बन्ध ज्ञानसे है। बाहरी वैभवसे सुखशान्तिका सम्बन्ध नहीं है। इन समस्त विड-म्बनाओंका फर्क इससे ही तो आया कि लोग बाह्य आडम्बर और वैभवसे सुख शान्ति मानते है, पर सुख शान्ति है ज्ञानसे। तो सर्वप्रथम ज्ञान तो होना ही चाहिए, जिसके बिना हम मोक्षमार्गमें प्रगति नहीं कर सकते। इतना ज्ञान होनेके बाद अब इसका आचरण कैसा होना चाहिए। इस आचरण का वर्णन इस छन्दमें किया गया है।

(२१४) ज्ञानार्णव प्रवचन चतुर्थ भाग

इसमें १९९ वें श्लोकसे २४४ वें श्लोक तक के पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराजके प्रवचन हैं, पढ़िये १९९ वें छन्दके एक प्रवचनांशमें, आत्माकी पवित्रता धर्मभावसे ही है-पृ० १–धर्मसे लोककी पवित्रता व उद्धार–जिस धर्मके द्वारा यह जगत पवित्र किया जाता है, इस जगतका उद्धार होता है और जो धर्म दयारूप परम रस से सदा हरा रहता है उस धर्मरूप कल्पवृक्षके लिए हमारा नमस्कार हो। धर्म एक कल्पवृक्ष है। यदि धर्मसे परिपूर्ण कोई है तो धर्मके प्रसादसे जो चाहे सो मिल सकता है। प्रथम तो इस धर्मकी सेवाके एवजमें जगतकी कुछ भी चीजकी वान्छा न करना चाहिए। जैसे प्रभुभक्ति वही वास्त-विक कहलाती है कि प्रभुकी भक्ति करके प्रभुभक्तिके एवजमें अन्य कुछ न चाहा जाय। यदि धनलाभ या मुकदमें की जीत या सन्तानलाभ या कुछ चाह लिया गया प्रभुभक्तिके प्रसादमें, तो भी प्रभुभक्ति नहीं रही। प्रभुभक्ति निष्कपट भावसे होती है। केवल प्रभुकी ही भक्ति रहे, प्रभुके गुणोंका ही स्मरण रहे ऐसी निष्कपट भक्ति हो तो वह प्रभुभक्ति है यदि धनकी चाहमें प्रभुकी भक्ति की जा रही है तो वह प्रभुभक्ति नहीं है, धनभक्ति है। हृदय में जिसका आदर हो, भक्ति तो उसी को कहलाती है। यदि प्रभु का आदर है तो वह प्रभुभक्ति है। यों धर्म की भी भक्ति वास्तविक वह है कि धर्म करके संसार की कुछ भी चीज न चाही जाय। यदि संसार की वस्तु चाह ली गयी तो उस वस्तु की भक्ति हुई, धर्म की भक्ति नहीं हुई। इस पद्धति से यदि धर्म का पालन किया जाय तो वह धर्म कल्पवृक्ष है।

जितने लोकचमत्कार हैं वे धर्म के प्रभाव हैं. पढ़िये २०२ नं० के श्लोकका एक प्रवचनांश–पृ० २१–धर्म के लोकचमत्कार–लक्ष्मी सहित चिन्तामणि रत्न, दिव्य नवनिधि, कामधेनु, कल्पवृक्ष, बड़े बड़े विभूति ऐश्वर्य ये सब धर्म के चिरकाल से सेवक रहे हैं। आज जो मनुष्य शरीरसे पुष्ट है, धन समृद्धिसे सम्पन्न है, जनतामें जिसकी बात मानी जाती है, जिसके संकेत पर जनता अपने आपको समर्पण कर सकती है, ऐसी ऐसी जो महाविभूतियां मिली हैं, जो बड़ी विभूतियां प्राप्त हुई हैं क्या आप कह सकते हैं कि इन

मोक्ष पुरुषार्थ न बन सके, परदृष्टि तो उत्कृष्ट हो, यथार्थ हो तो कुछ अपनी वर्तमान योग्यताके माफिक धर्ममें बढ़ भी सकते हैं। तो इनतीन पुरुषार्थोंको तो यहजानो कि येसंसारके आतंकोंसे दूषित हैं। सांसारिक रोग इसमें पड़े हुए हैं, इनसे छूटकर केवल मोक्षपुरुषार्थ में ही उपयोगी रहे वह स्थिति आत्माकी हितकारी है।

जहां अतीन्द्रिय सुख है वही मोक्ष है, वही परम हित है, पढ़िये २५२ वें छन्द के एक प्रवचनांशमें-पृ० १३-मोक्षमें इन्द्रियातीत निराकुल सुख–मोक्ष किसे कहते हैं ? जहां पर अतीन्द्रिय निर्विषय निरुपम स्वाभाविक विच्छेदरहित पारमार्थिक सुख हो। आत्माकी ऐसी स्थितिका नाम मोक्ष है जहां ऐसा आनन्द निरन्तर अनुभवमें आता रहता है. जो इन्द्रियसे अतीत है, इन्द्रियसे उत्पन्न होने वाला जो सुख है अर्थात् इन्द्रियका निमित्त करके आनन्दगुणका जो विकार उत्पन्न होता है वह सुख नहीं है क्योंकि उसमें क्षोभ पाया जाता है। सांसारिक सुखोंको भी कोई विना क्षोभके भोग नहीं सकता। सुख भोगनेके काल में भी क्षोभ बना हुआ है, पर कल्पनामें इसने आनन्द मान रखा है, मोही उस क्षोभ को याद नहीं रखता, किन्तु संसारके प्रत्येक सुख क्षोभसे भरे हुए हैं। एक दुःखमय क्षोभ होता है एक सुखमय क्षोभ होता है। अपने स्वरूपसे भ्रष्ट होकर वाहर वाहर दृष्टि डालते रहना यह क्षोभका काम है। तो इन्द्रिय सुख चूंकि क्षोभसहित है, अतः आत्माका स्वाभाविक ढंग नहीं है, सुख नहीं है। जहां अतीन्द्रिय सुख है वहां मोक्ष है।

संसारके क्लेश नष्ट करने के लिए ज्ञानामृतका पान करिये, पढ़िये २५६ वें श्लोकका एक प्रवचनांश–पृ० २२–भवक्लेशविनाशनार्थ ज्ञानसुधारसका पान–हे आत्मन्, तू संसार के क्लेशोंके विनाश करनेके लिए ज्ञानरूप सुधारसको पी, जहां अपना यथार्थ बोध किया वहां क्लेश तुरन्त दूर हो जाते हैं और जब अपने यथार्थ स्वरूपकी प्रतीति न रखकर अन्य अन्य अवस्थाओंरूप अपने को माना कि वहां क्लेश उत्पन्न हो जाता है। सर्वक्लेशोंसे मुक्ति पाना इतना बड़ा काम केवल इतनी सी भीतरी वात पर निर्भर है। अपने को पररूप मानना, ऐसा तो क्लेश पानेका उपाय है। और, अपने को अपने सत्त्वके कारण जितना जैसा हो उतना ही माने, यही क्लेशोंसे निवृत्त होने का उपाय है। सिर्फ मानने से ही संकट लगते हैं और माननेसे ही संकट छूटते हैं। अपने आपको अपने स्वरूपमें ही मानना और यह दृढ़तासे मानना बन जाय और इस ही प्रकार अपने आपको निरन्तर जानते रहें तो इसमें रत्नत्रय अपने आप आ जाता है। एकाग्रता का होना ध्यान है। अब एकाग्रता किस पर करना है जिसके फलमें मुक्ति प्राप्त होती है। तो केवल होनेका नाम मुक्त होना है ना। केवल बनना है तो केवलस्वरूपकी ओर एकाग्रता हो तो इस ध्यानसे केवल बननेका उपाय बन सकता है।

काम भोगसे विरक्त होने पर ही ध्यान संभव है, इसका परिचय करें २६७ वें श्लोकके एक प्रवचनांशमें, पृ० ४३–देह, काम, भोगसे विरक्त होकर ध्यानका लाभ लेनेका अनुरोध–हे ध्यानके इच्छुक पुरुष, काम शरीर और भोगोंसे विरक्त होकर यदि तू निर्ममत्व भावको प्राप्त होता है तो तू ध्याता है अन्यथा नहीं। निर्ममता काम, भोग और शरीरकी स्पृहा त्यागनेपर ही सम्भव है। कामका अर्थ है अनेक प्रकार की मनकी कामनायें। जो मनसे विकार उत्पन्न होता है वह काम है, और जो इन्द्रियोंके द्वारा भोगा जाय उसे भोग कहते हैं। स्पर्श रस, गध, रूप और शब्द और शरीर यह है ही, इन तीनोंसे स्पृहा छूटे तो तू ममत्वरहित हो सकता है और ममत्वरहित होनेपर ही तू ध्याता है। यदि चित्त इन्द्रियके भोगोंमें लगा है, विषयसाधनोंमें लगा है तो वह ध्यान कैसे सम्भव है।

लगनपूर्वक अन्तस्तत्त्वकी उपासना हो उसमें लाभ है, पढ़िये ३४८ वें छन्दका एक प्रवचनांश–पृ० १६३–

ममता रहित परिणाम रहे, केवल ज्ञान स्वरूप का आधार मात्र रहे तो वहीं ध्यान की सिद्धि होती है।

साधुवोंका नगर, गृह, शय्या, दीपक, सहचर, रमणी, पात्र, परमात्मभोजन क्या है, इसे पढ़िये ३७१ वें छन्दके एक प्रवचनांशमें, उदाहरणार्थ कुछ प्रकाशन दिया जा रहा है। पृ० २३–साधुवोंका नगर–जिन साधु मुनिमहाराजाओंका नगर क्या है ? विन्ध्याचल आदिक पर्वत ? जैसे गृहस्थोंसे पूछा जाय कि आपका नगर कौन सा है ? तो उत्तर देंगे–मेरठ, मुजफ्फरनगर, हापुड़ इत्यादि तो उन महाराजोंका, मुनीश्वरों का कोई पूछे कि नगर कौन है, तो भक्त लोग यही उत्तर देंगे कि उनका नगर है वन उपवन इत्यादि। जहां ठहरकर विचरकर, निसंग रहा जाता है उसे नगर कहते हैं। लोकव्यवहारमें अज्ञानी रागीजनोंका विश्राम नगर यहां के नगर आदि है। यहां भी व्यवहारसे यह कहा जा रहा है कि विरक्त ज्ञानी साधु संत पुरुषोंका विश्रामस्थान वन उपवन आदि है। ये ही साधुवोंके नगर हैं। ऐसा एकान्त भयावह स्थानों पर निवास करना भी साधारणजनोंसे शक्य नहीं है। सो यह वन निवास आदि भी उत्तमजनों द्वारा कियेजा सकते हैं। लेकिन अन्तः तो देखिये साधुजनोंका नगर क्या है ? उनका अपना आत्मक्षेत्र, आत्म–स्वरूप ही उनका नगर है। जहां उनका परमार्थतः निवास रहता है। इस परमार्थ नगरमें निवास करने वाले ज्ञानी साधु संत परमार्थ आनन्दका अनुभव करते हैं और इसी आनन्दानुभवके कारण वननिवास उन्हें सुखद प्रतीत होता है।

सम्यग्दर्शनका सामान्य निर्देशन पढ़िये ३८१ वें छन्दके एक प्रवचनांशमें, पृ० ४१–सम्यग्दर्शनका निर्देशन–जीवादिक का श्रद्धान करना सो दर्शन है। यह सम्यग्दर्शन निसर्ग से उत्पन्न होता और परोपदेशसे उत्पन्न होता है। होता है भव्य जीवके। जिन्होंने पूर्वकालमें उपदेश पाया है, संस्कार बनाया है उन्हें इस भवमें भी बिना परोपदेश मिले, बिना अन्य निमित्त मिले निसर्ग से हो सम्यग्दर्शन हो जाता है। और, किन्हीं को परोपदेशसे, जिनबिम्बदर्शनसे या वेदनानुभवसे अनेक कारणोंको पाकर सम्यक्त्व हो जाता है। सब बात एक लगन को है। अपने आपमें आत्मकल्याणकी लगन न हो और पापक्रियावोंमें ही रति मानते रहें, पापोंसे विरक्ति न जगे तो कुछ उद्धार की संभावना ही नहीं है। सबसे ऊंची बात बस इस रत्नत्रयमें ही मिलेगी। अपने आपमें सही श्रद्धान हो और आचरण विशुद्ध हो। इस जगतका क्या है ? न हो अधिक सम्पदा तो आत्माका क्या बिगड़ा और हो गयी सम्पदा तो आत्माका क्या पूरा पड़ा ? यह तो जगत है। आज ऐसी स्थिति है और कल न जाने कौन सा भव धारण करना पड़े ? न सम्हले तो हीन भव ही मिलेगा। तो समागम प्राप्त हुई, समागम प्राप्त हुआ तो कौन सी भले पन की बात हो गयी ? मान लो यहां के लोगों ने बड़ा कह दिया तो आखिर मोहियों ने ही तो बड़ा कहा। ज्ञानी तो धन के कारण किसी को बड़ा नहीं मानता। धन वैभव बाहरी समागमों के कारण कोई बड़ा मानता हो तो मोही, मिथ्यादृष्टि, अज्ञानी वे ही लोग मान सकते हैं।

त्रसोंके भेद व मोटी पहिचान, पढ़िये ३९७ वें छन्दके एक प्रवचनांशमें–पृ० ५४–त्रसोंके भेद–स्थावर जीवोंसे यह समस्त लोक भरा हुआ है और त्रस भी अनेक भेद वाले हैं। दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चार–इन्द्रिय और पंचेन्द्रिय, इनकी जल्दी पहिचान करना हो कि ये कितने इन्द्रिय जीव हैं तो उसकी मोटी पहिचान यह है कि जिनके पैर न हों और सरक सकें, उसमें एक सांप को छोड़ दो, उस जैसे जीवको, वह एक अपवादरूप है। बाकी जितने जीव ऐसे मिलेंगे कि पैर नहीं हैं, लम्बा रुख है, बिना पैरके जमीन में सरकते रहते हैं वे जीव दो इन्द्रिय मिलेंगे, जैसे चींटा, चींटी, सुरसुरी, बिच्छू आदि और जिनके दो

से अधिक पैर हों और उड़ते हों वे चार इन्द्रिय जीव हैं-जैसे मच्छर, ततैया, टिड्डी आदि, और पंचेन्द्रिय जीव स्पष्ट हैं-जिनके कान हों-पशु पक्षी मनुष्य आदि। तो ये नाना भेदरूप त्रस अनेक प्रकार की योनियोंके आश्रित हैं। इन सब जीवोंकी पर्यायोंका भी सही सही ज्ञान करना सम्यक्त्वका कारण है। जो कुछ नजर आता है वह असलमें है क्या? इसमें परमार्थ क्या है, बनावट क्या है, उपाधि क्या है? सबका सही परिज्ञान हो, उससे अंत: अनाकुलता, निर्व्याकुलता, ज्ञानप्रकाश, समीचीनता, स्थिरता ये सब बातें बढ़ती, इस कारण सबका जानना आवश्यक है। परोक्षभूत तत्त्वमें साधारणतया द्रव्य गुण पर्यायों का स्वरूप जान लेना जरूरी है। यों संसारी जीव त्रस स्थावर के भेद से दो प्रकार के कहे गये हैं।

यह लोक स्थावरों से असीम पूरित हैं, पढ़िये ४०० वें छन्दके एक प्रवचदांशमें, पृ० ५८-लोकको स्थावरोंसे असीम पूरितता-संसारी जीवकी गतियां ४ प्रकार की हैं, उन गतियों में सबसे कम जीव हैं मनुष्यगतिमें, उससे अधिक जीव हैं नरकगतिमें, उससे अधिक जीव हैं देवगतिमें और सबसे अधिक जीव हैं तिर्यन्चगतिमें। तिर्यन्चगतिमें भी ५ प्रकार के जीव हैं-एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय और पन्चेन्द्रिय। इनमें सबसे अधिक जीव हैं एकेन्द्रिय, एकेन्द्रियमें भी ५ भेद हैं-पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, बनस्पति। इनमें भी सर्वाधिक जीव हैं बनस्पतिकायमें। वनस्पतिकायके दो भेद हैं-प्रत्येक बनस्पति और साधारणवनस्पति। सबसे अधिक जीव हैं साधारणबनस्पति। साधारण वनस्पतिमें इतन जीव हैं कि जितने आज तक अनादि से सिद्ध होते आये हैं वे सब सिद्ध महाराज उनके अनन्तव भाग प्रमाण हैं और सबसे अनन्त काल व्यतीत हो जाने के पश्चात् भी भविष्यमें जितने सिद्ध होंगे वे भी उस समय के रहे हुए साधारण बनस्पति जीवोंके असंख्यातवें भाग प्रमाण रहेंगे। एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चार इन्द्रिय तथा असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीव ये सब तिर्यन्च ही होते हैं, इनकी और गति नहीं होती। तो सारा लोक तिर्यन्चों से भरा है। कभी कभी कोई नास्तिक मनुष्य कहन लगते हैं कि अगर सभी त्यागी बन जायें, ब्रह्मचारी बन जायें तो फिर यह संसार कैसे चलेगा? अरे संसार की पूर्ति मनुष्यों से नहीं होती, संसार की पूर्ति तो एकेन्द्रिय से हो रही है। मनुष्य हैं कितने? और फिर मनुष्य ही क्या? यदि समस्त अनन्त जीव ब्रह्मचारी हो जायें और मुक्त हो जायें तो अच्छा ही हुआ। तुम्हें क्या फिकर पड़ गयी? तो यह सारा संसार एकेन्द्रिय जीवों से भरा पड़ा है।

अध्यात्मदर्शनमें विह्वलता नहीं रहती, मनन कीजिये ४०८ वें छन्दके एक प्रवचनांशमें, पृ० ६९-अध्यात्मदर्शन से विह्वलताका विनाश-अध्यात्म दिशा और व्यवहार दिशामें बहुत अन्तर वाली परिस्थितियां होती हैं। बड़ी बड़ी व्यवस्थायें बनायें तो सही, लेकिन किन्हीं बातों में सफल होन से या जैसी व्यवस्था चाहते हैं वैसा व्यवस्था न बननेसे अंतरंगमें विह्वल न होना चाहिए और वह विह्वलता न हो इसका उपाय है अध्यात्मदर्शन-जैसे एक देशके सम्बन्धमें चिन्तायें चलती हैं, किसी अन्यका इस पर शासन न हो, देश स्वतन्त्र रहे, अपने देशका विस्तार गौरव चाहते हैं, व्यवहारदृष्टिमें ये सब बातें युक्त हैं और ऐसा देखनेके लिए यह मनुष्य लालायित रहता है, किन्तु कुछ अध्यात्ममें चलकर अपना अनुभव है यहां? न मेरा देश है, न मेरी जाति है, न कुल है, न देह है, न परिवार है. न वैभव है और आज जिसे हम विदेश समझते हैं मरकर वहीं जन्म लें तब फिर इस देशको विदेश समझने लगेंगे। तो दोनोंकी दिशायें जुदी जुदी हैं, और फिर किसी कर्मयोगी पुरुषमें इन दोनों दिशाओंका भी अपनी अपनी सीमामें मिश्रण रहता है।

सम्यक्त्व-सुधारसपानके आदेशसे अनुशासित होइये, ४४४ वें छन्दके एक प्रवचनांशसे, पृ० १०३-सम्यक्त्वसुधारसपानक आदेश-हे भव्य जीव, एक इस सम्यग्दर्शन नामक अमृत का पान करो। यह सम्यक्त्व ही अतुल आनन्दका निधान है। आनन्द लाभके लिए जगह जगह दृष्टियां लगाते हो, पर बाह्यमें कहीं भी आनन्दका लाभ न मिलेगा। अतुल आनन्दका निधान तो यह सम्यग्दर्शन है। अपने आपके सहजस्वरूपका सम्यक्रूपसे अनुभवन कर लेना यही अनुपम आनन्द का बीज-भूत हैं। सर्वकल्याणका यह सम्यग्दर्शन बीज है। जैसे बीजसे अंकुर उत्पन्न होता है और वह अनेक फलोंको प्रदान करता है इसी प्रकार यह सम्यग्दर्शन आनन्द अंकुर को उत्पन्न करता है और इसमें ज्ञान, दर्शन, सुख, शक्ति समस्त आत्मसमृद्धिके फल फला करते हैं। यह सम्यग्दर्शन संसार रूपी समुद्र से तिरने के लिए जहाज की तरह है। जैसे नावमें बैठकर सागर से तिर लिया जाता है इसी प्रकार सम्यग्दर्शनके भावमें स्थिर होकर इस संसारसागरको पार कर लिया जाता है। इस सम्यग्दर्शनके पात्र एक मात्र भव्य जीव ही हैं। जिनका कल्याण स्वरूप होनहार है वे ही इस सम्यग्दर्शनके अधिकारी होते हैं। सम्यग्दर्शनका परिणाम पापरूपी वृक्षको मूलसे उखाड़ फेंकनेमें कुठार की तरह हैं, जैसे लोग देवी के दो रूप माना करते हैं-एक चन्द्ररूप और एक शान्तिरूप। ज्ञानरूप एक लौकिक कहावत सी है। इसी प्रकार सम्यग्दर्शन के दो रूप देखिये। एक तो प्रचण्ड प्रतापरूप समस्त पाप वैरियोंको ध्वस्त कर देने में बहुत समर्थ है और एक शान्तिरूप सहज आनन्दको देने वाला है, सर्वकल्याणका बीज है और शान्तिको ही सरसाने वाला है। यह सम्यग्दर्शन समस्त पवित्र तीर्थोंमें प्रधान है। सम्यग्दर्शन एक प्रधान तीर्थ है। तीर्थ कहते हैं। तीर्थ कहते हैं उस तटको जिस पर पहुंचने से पार हुआ समझ लिया जाता है। यह सम्यग्दर्शन निर्भयता भरपूर है, क्योंकि इसने मिथ्यात्वरूपी समस्त विपक्षोंको जीत लिया है। ऐसे सम्यग्दर्शनको हे भव्य जीव ग्रहण करो। इस सम्यग्दर्शनकी दृष्टिरूप अमृतजलका पान करो।

अहिंसाका मूल रूप देखिये-पर्यायबुद्धिका त्याग हुए बिना अहिंसा यथार्थ नहीं, पढ़िये ४८० वें छन्दके एक प्रवचनांशमें, पृ० १४३-पर्यायबुद्धिके त्यागमें अहिंसा-कर्मोंके आश्रव में कारण नाम प्रत्यय आदिक बताये गये हैं, तो जो नाम आपका रखा गया है वह यदि शुरू से न रखा जाता, कुछ दूसरा नाम रखा गया होता तो क्या ऐसा हो नहीं सकता था? फिर आपका यह नाम है यह कहां खुदा हुआ है? और कितनी कल्याणभेदकी बात है कि वे ही तो १०, ३६ अक्षर और उनका ही उलट फेर करते हैं और खरबों आदमियोंके नाम एक दूसरे से न मिलें इतने नाम धर लिए जाते हैं। तो नामका इस जीव से सम्बन्ध नहीं है। नामवरी भी चाहकर पाकर इस आत्मा को मिलता क्या है? इन सब बातों को विचार कर कुछ अपने स्वरूपमें मग्न होने का यत्न करना चाहिए। बाह्यमें तो ये सब प्रकट असार बातें हैं। अपना शुद्ध ज्ञानस्वरूप स्वानुभवमें बना रहे इससे उत्कृष्ट और कुछ भी पुरुषार्थ नहीं हो सकता। जो ऐसा नहीं कर सकते वे अपनी हिंसा कर रहे हैं और जो परजीवोंकी हिंसा करते हैं वे और विकट हिंसा में पहुंच गये हैं। हिंसा नरकमें प्रवेश करने का द्वार है और अपने आपके विनाश किये जाने के लिए यह हिंसा कुठार और शस्त्र जैसा काम करती है। हिंसासे दूर रहें और अहिंसक ज्ञायकस्वभावको दृष्टि करें, यही हितकारी धर्मकार्य है।

आनन्दकी पद्धति तो अहिंसा ही है, चिन्तन कीजिये ४८६ वें छन्दके एक प्रवचनांशमें, पृ० १६७-अहिंसा, आनन्दका उपाय-विशुद्ध आनन्दकी कोई पद्धति है तो अहिंसा ही है। क्रूर, हिंसक पुरुषको आनन्द और प्रसन्नता कभी नहीं आ पाती है। जो पुरुष समतारससे भीगा है, दूसरे जीवोंके सतानेका परिणाम नहीं रखता, अपने अहिंसा स्वभाव का आलम्बन रखता है उस पुरुषके विलक्षण आनन्द प्रकट

होता है। कभी किसी जीव को सताने का संकल्प ही आ जाये तो ऐसा संकल्प करने वाला तत्काल दुःखी हो जाता है। दूसरे जीव को भला करने का भाव करे तो वहां क्लेश नहीं आता, प्रत्युत आनन्द बरषता है और कोई दूसरे जीवोंको सतानेका भाव करे, किसी की निन्दा का भाव करे, किसीके बुरा करने का भाव करे तो उस भावके समय ही यह दुःखी हो जाता है। आनन्द की परिपाटी तो अहिंसासे ही प्राप्त होती है।

संकल्पमात्रसे हिंसा हो जाती है; अतः यह प्रभाव होना चाहिए कि खोटा भाव, हिंसाका संकल्प तक भी न हो, पढ़िये ५१३ वें छन्दके एक प्रवचनांशमें, पृ० १८५—संकल्पमात्रसे हिंसाका बंध—जिसने जीवबध किया है उसका भी परिणाम अशुभ हुआ और जिसने उस बधककी अनुमोदना की है उसका भी परिणाम अशुभ हुआ है। देखो स्वयंभूरमण समुद्र में दो मत्स रहते—एक महामत्स और एक साली अर्थात् तंदुल मत्स। महामत्स बड़ी लम्बी चौड़ी अवगाहनाका है। एक हजार योजन लम्बा, ५०० योजन चौड़ा और २५० योजन मोटा, इतनी बड़ी अवगाहनाका वह महामत्स है। इतनी लम्बी चौड़ी काय वाला महामत्स अपने मुंहको फैलाये रहता है। तो उस फैली हुई जगहमें जितनी जगह समाये वह जगह एक आसमान सा है। उसके मुखमें अनेक मत्स आते जाते खेलते रहते हैं। उन मत्सोंको पता नहीं पड़ता कि कहां मुख है, कितनी बड़ी अवगाहनाका है। लेकिन वही एक तंदुलमत्स (साली मत्स) यह विचार करता है कि यदि इस महामत्सकी जगहमें मैं होता तो एक भी मछलीको बचने न देता। ऐसा परिणाम करनेसे वैश साली मत्स सप्तम नरकमें जाता है। तो इससे यह निर्णय कीजिये कि कोई हिंसा करे, उसकी जो अनुमोदना करे तो उस अनुमोदनामें भी संकल्प मात्रसे उसीके समान पाप होनेका कारण बनता है। तो जिसका परिणाम रागद्वेषसे मलिन है और इसी कारण जो अपने आपके प्रभुकी हिंसा कर रहा है ऐसा हिंसक पुरुष आत्माका ध्यान क्या करेगा? जो आत्माका ध्यान नहीं कर सकता उसके व्याकुलता संसारभ्रमण सभी अनर्थ उसके लगे रहते हैं।

स्याद्वाद की उपयोगिता लौकिक कार्योंमें भी है, देखिये ५३७ वें श्लोकका एक प्रवचनांश—पृ० २२१—स्याद्वाद बिना लौकिक कार्य भी नहीं—देखिये स्याद्वाद के बिना किसी का कुछ काम नहीं चलता। किसी को पैसा उधार दिया, अब उसके बारे में आपको दो निर्णय है कि नहीं कि वह पुरुष वही है—६ माह बाद भी आप यह जानते हैं ना कि यह पुरुष वही है जिसको हमने पैसा उधार दिया था। साथ ही यह भी जानते हो ना कि ६ मास गुजरगये, अब समय नया आ गया, अब इससे ब्याज लेना है और मंगना है। तो ये दो किस्मके ज्ञान हुए कि नहीं—एक तो हुआ नित्यका ज्ञान और एक हुआ अनित्यका ज्ञान। यदि कोई ऐसा ही माने कि मैं तो वह नहीं हूं जो आपसे रूपया ले गया था, वह आत्मा तो नष्ट हो गया, यह मैं आत्मा दूसरा हूं, तो व्यवहार चल सकेगा क्या? और आत्मा अगर बदले ही नहीं, उसमें कोई परिवर्तन ही न हो तो भी व्यवहार चलेगा क्या? पिता, पुत्र, कुटुम्ब, रिस्ते ये सब व्यवहार हैं। स्याद्वादके बल पर चल रहे हैं। किसी भी व्यक्तिके संबंधमें क्या आप एकान्तसे कह सकते हो कि यह वेटा ही है? यदि ऐसा कह सकते तो इसका अर्थ है कि सबका वटा है। सब तरह बटा है, तो व्यवहार कहां चलेगा? तो जिस स्याद्वादके बलसे व्यवहार तक भी चल रहा है, मोक्षमार्ग भी चलता है उस स्याद्वाद का निषेध करते हैं सर्वथा एकान्तवादी लोग।

लोकमें नामवरी चाहना महती विपदा है, यह क्यों लगी हुई है, इसका कारण देखिये ५६४ वें छन्दके एक प्रवचनांशमें, पृ० २६५—इज्जत चाहनेकी विपदा—मनुष्यमें सबसे बड़ी विपदा यह लग बैठी कि यह मनुष्य नाम चाहता है, इज्जत चाहता है। तो जिस आत्माके ज्ञान नहीं है वह इज्जत ही तो चाहेगा और

जिस आत्माके ज्ञान है वह धर्मको चाहेगा। दुनिया कुछ कहे, दुनिया किसी ढंगसे रहे, पर अपने आपमें संतोष है, शांति है तो अपने आपका भला है। मनुष्य ज्ञानी हो तो वह नामवरी नहीं चाहता, आत्मानुभव चाहता है। अनेक अनेक बार आत्माका अनुभव जगे, इस ओर धुन रहती है और जो अज्ञानी जन हैं उन्हें आत्मतत्त्वका परिचय तो मिला नहीं तो कहीं न कहीं लगेगा ही। आत्मामें तीन गुण है-दर्शन, ज्ञान, चारित्र, दर्शनका काम है श्रद्धा रखना, ज्ञानका काम जानना, चारित्र का काम किसी न किसी में लगे रहना, ये तीन बातें प्रत्येक जीवमें पायी जाती हैं। जिसका जैसा श्रद्धान होगा वैसा ही ज्ञान होगा। और उसी जगह वह लगेगा।

कुशील पाप प्रबल पातक है, पढ़िये ५८९ वें छन्दके एक प्रवचनांशमें, पृ० २९८-कुशील की प्रबल पातकता-ब्रह्मचर्यके घातका नाम है व्यभिचार। व्यभिचार नाम तो सभी बाहरी प्रवृत्तियोंका है। आत्मामें अपना उपयोग स्थिर न रहे, बाहरी बाहरी विषयोंमें चित्त लगा रहे वे सब व्यभिचार हैं। हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह, तृष्णा ये सबके सब व्यभिचार कहलाते हैं। लेकिन लोकमें रूढ़ि एक स्पर्शनइन्द्रियके विषयसेवनमें अर्थात् मैथुन प्रसंगमें, कामवासनाकी पूर्तिमें लोग व्यभिचार शब्द का प्रयोग करते हैं। इससे यह जानना कि समस्त इन्द्रियों में प्रबल और पातक विषय है स्पर्शनइन्द्रिय का विषय। अर्थात् कुशील नामक पाप ऐसा कठिन पाप है कि जिसमें रहकर मनुष्य रंच भी सावधान नहीं रह पाता। इसी कारण कुशील पापको ब्रह्मचर्यका घात बतलाया है। वहां तो आत्माके उपयोगसे हटकर किसी भी बाह्य पदार्थमें रति करना सो व्यभिचार है। फिर भी रूढ़में एक विषयसेवनका ही व्यभिचार कहते हैं। तात्पर्य यह है स्पर्शनइन्द्रियका विषय सबसे कठिन विषय है, उससे विरक्त रहकर एक परमार्थ ब्रह्मचर्यका पालन करना है।

जो ज्ञान चारित्रमें वृद्ध हैं, उनकी सेवा कल्याणकारिणी है, इसका चिन्तन कीजिये ७६६ वें छन्दके एक प्रवचनांशमें, पृ० ३७०-वृद्धसेवाके लाभ-तो गुरुजनोंकी सेवा करनेसे जो गुण प्रकट होते हैं वहां यह भी एक गुण प्रकट होता है कि उसके नम्रता बढ़ती है, अभिमान दूर होता है और फिर उसके ज्ञानप्रकाश होता है। अहंकारके अंधकारसे ज्ञानरूपी सूर्यका प्रकाश ढकगया है। गुरुसेवाकी कितनी प्रशंसाकी जाय, सच पूछो तो इस आत्माका शरण ही गुरुसेवा है। जिसका कोई गुरु नहीं है, जिससे अपने हितकी कोई चर्चा नहीं की जा सकती है ऐसा पुरुष एक किंकर्तव्यविमूढ़ रहता है, अपना जीवन यों ही निर्यापन किया करता है। वृद्ध सेवासे समस्त व्रत विशुद्ध बनते हैं और खासकर ब्रह्मचर्य महाव्रत को तो बहुत पुष्टि होती है। बड़ोंकी संगति न करके छोटे रागीद्वेषी मलिन पुरुषोंकी संगतिसे सभी प्रकारके विकार उत्पन्न होते रहते हैं। जिन्हें लोकमें अपनी सिद्धि चाहिए परिणामोंमें निर्मलता चाहिए, विद्या और विनय की बढ़वारी चाहिए उन्हें गुरुसेवा करना अनिवार्य है।

सत्संगमें बुद्धि व्यवस्थित रहती है, इसका अध्ययन कीजिये ७८८ वें एक छन्दके एक प्रवचनांशमें-पृ० ४१५-४१६-सत्संगमें बुद्धिकी व्यवस्थित रहती है सत्पुरुषोंकी भक्तिसे, जहां वृद्ध पुरुषोंके प्रति भक्तिभाव रहता है वहां बुद्धि व्यवस्थित रहती है। लोग शिक्षा देते हैं ना बच्चोंको कि देखो माता पिताकी सेवा करो। माता पिता भी तो बच्चों की अपेक्षा वृद्ध पुरुष हैं, ज्ञानी हैं, अनुभवी हैं, दूसरे उनका लौकिक सम्बन्ध भी गुरुता का है। तो माता पिता की जो सेवा करते रहते हैं उन बच्चों की बुद्धि सही रहती है और जो समर्थ होकर भी माता पिता को क्लेश पहुंचाते रहते हैं उनकी बुद्धि मलिन रहती है, तो उस बुद्धि की मलिनता के कारण उनकी बुद्धि ऐसी अटपट हो जाती है कि जिससे उन्हें क्लेश, आकुलता, कषाय बढ़ने लगता है। तो वृद्ध पुरुषों को, माता पिता को, गुरुजनों की सेवा करना और

परमार्थतया जो ज्ञानी विरक्त सन्त पुरुष हैं उनकी सेवामें रहना, यह सत्संगति अनेक अवगुणोंको दूरकर देती है।

कैवल्यकी दृष्टि बिना छुटकारा नहीं हो सकता, पढ़िये ८०३ वें छन्दके एक प्रवचनांशमें—पृ० ४५०—कैवल्यकी दृष्टि हुए बिना मुक्तिका अलाभ—मुक्तिका अर्थ है छुटकारा। कोई चीज किसी दूसरी चीजसे बिल्कुल छूटी हुई हो, तब वे दोनों चीजें न्यारी न्यारी हुई। एक ही चीजका सार, एक ही चीजका स्वरूप कैसे छूटे ? जैसे जल गर्म हो गया तो जल गर्मी से छूट सकता है अर्थात् ठंडा हो सकता है, क्योंकि गर्मी जलका स्वरूप नहीं, वह गर्मी जलमें अग्निका निमित्त पाकर आयी हुई है, पर अग्निकी गर्मी भी छूट सकी क्या ? अग्नि भी शीतल हो गई क्या ? अरे अग्निका तो स्वभाव ही गर्मी है। अग्निसे गर्मी अलग कैसे हो सकती है ? तो यदि हमें छुटकारा चाहिए है तो पहिले यह श्रद्धान तो आना चाहिए कि जिन जिनसे छुटकारा चाहते हैं उनसे न्यारा मेरा स्वरूप है। इस ही का बोध न हो तो छुटकारा कभी मिल नहीं सकता। भेदविज्ञान की बात जब किसी क्षण किसी को हो तो थोड़े से अक्षरों का सहारा लेकर ही हो जाता है, तो सन्त पुरुषों के उपदेश का एक अक्षर मुक्ति का बीज हो जाता है।

परिग्रहका संग दुर्गतिका बीज है; पढ़िये ८२६ वें श्लोकका प्रवचन, पृ० ४६६—परिग्रहसंगकी दुर्गति-बीजरूपता—संगसे अर्थात् परिग्रहसे काम होता है, अनेक प्रकारके वान्छा विकार होते हैं। जहां परिग्रह है वहां अनेक अटपट वान्छायें हुआ ही करती हैं और समस्त इच्छाओंमें भी अत्यन्त खोटी इच्छा है मैथुन प्रसंगकी, सो इस काम महाविकारका भी मूल यह परिग्रह है। परिग्रह से काम होता है। कामसे क्रोध होता है। कामवासना की पूर्ति न होने पर क्रोध ही तो जगेगा और ऐसा भी जगेगा जिसमें यह कामी स्वयं तक की हत्या कर सकता है। क्रोधसे हिंसा होती है। क्रोधमें जीव पर प्राणियों के घात में भी संकोच नहीं करता और कहो अपना भी घात कर डाले, ऐसा भी अविवेक कर डालता है। हिंसासे पाप होता है, फिर उस पापके फलमें नरक गतिमें ऐसा कठिन दुःख भोगता है जो वचनोंसे भी नहीं कहा जा सकता। वहां भूमिके स्पर्शमात्रसे घोर दुःख होता, ठंड गर्मी से लोहा भी गल जाय ऐसी ठंड गर्मी की वेदना सहनी पड़ती है। नारकी जीव एक दूसरे को देखकर शस्त्रघात अग्निदाह आदि नाना दुःख देते हैं। ये समस्त विपदायें परिग्रहके सम्बन्धसे होती हैं।

जब क्रोध आता हो तो वह सब संयमको असार निःसार हो जाता है।

द्रोहियोंके प्रति भी द्रोह न करनेका कर्तव्य, पृष्ठ १८—द्रोहियोंके प्रति द्रोह न करनेकी विशेषता—जो प्रतिकूल चलने वाले व्यक्त हैं अथवा उपसर्ग करनेवाले शत्रु हैं उनमें मेरा मन तत्काल जो द्रोहको प्राप्त होता है तो उन शत्रुवोंमें और मुझमें फिर भेद क्या रहा ? जो उपसर्ग कर रहे हैं उनका मन तो द्रोहमें है और मैं भी अगर उनपर रोष करने लगूं तो मुझमें और उनमें अन्तर क्या रहा। उपसर्ग करनेवाले व्यक्ति कोई मुनि तो हैं नहां वे तो सद्गृहस्थ भी नहीं हैं वे तो खोटे गृहस्थ हैं, दुष्ट पुरुष हैं। उन दुष्ट पुरुषोंकी ही तरह यदि मैं भी दुष्टता करने लगा तो उनमें और मुझमें अन्तर ही क्या रहा ? मैं तो मोक्षार्थी हूं, मैंने तो अपना प्रोग्राम, अपना भेष, अपनी चर्या मुनि की बनायी है, मोक्षमार्गकी बनायी है सो यदि हम शान्तिमें नहीं रहते और उपसर्ग करनेवालोंपर क्रोध करते हैं तो उनमें और मुझमें फिर अन्तर ही क्या रहा ? जैसे वे संसारमें घूमेंगे इस प्रकार मैं भी घूमूंगा। ज्ञानीसंत जो ऐसा विचार करते हैं कि इन दुष्ट पुरुषोंपर जो कि उपसर्ग कर रहे हैं मैं यदि क्रोध करने लगा तो मैं उन्हींके समान कहलाऊंगा। इसका तात्पर्य यह है कि मैं भी इस संसारमें घूमूंगा। कहीं सम्मान अपमान भरा तात्पर्य न लेना कि मैं मुनि हूं, यह दुष्ट पुरुष है। मैं इसपर रोष करूंगा तो मैं दुष्ट कहलाऊंगा, ऐसा ध्यानमें नहीं है किन्तु यह ध्यानमें है कि मैं भी यदि क्रोध करूं तो जैसे ये संसारमें घूमेंगे वैसे ही मैं भी संसारमें घूमूंगा, अतएव मुझे क्रोध न करना चाहिए।

लोभविषयक विकल्प बेकार है इस तथ्यका मनन कीजिये, पृष्ठ ४८—लोभ विकल्पकी व्यर्थता—भैया ! लोभमें होता क्या है कि जब चीज पासमें है तो उसकी चाह नहीं होती और जब चाह होती तो उस चीजको प्राप्ति नहीं होती। यह बात तो बहुत अच्छी है कि चाह न रहे, पर यह बात रह कहां पाती है; दूसरी चीजकी चाह बन जाती है। तो इस लोभ कषायमें यह जीव पाता तो कुछ नहीं, मगर तृष्णा के वश होकर बड़ा कठिन श्रम कर डालता है। जैसे कि कोई हिरण अपनी प्यास बुझानेके लिए बड़ा श्रम कर डालता है, पर प्यास नहीं बुझा पाता और दौड़—दौड़कर मरणको प्राप्त हो जाता है। इसी प्रकार इस लोभकषायके वश होकर यह संसारी प्राणी अपने जीवनको व्यर्थ ही खो देता है। जैसे स्वप्न में दिखने वाली विभूतियां कहीं प्राप्त हो नहीं हो जाती। वे तो स्वप्न की चीजें हैं, उनका मिलना असम्भव है, पर यदि कोई उनके पाने की वाञ्छा न करे तो उसके समान मूर्ख और किसे कहा जाय ? ऐसे ही जो चीजें प्राप्त होनी असम्भव हैं उनके पाने की वाञ्छा भी यह लोभी प्राणी करता है तो फिर उसे मूर्ख नहीं तो और क्या कहा जाय ? अरे यह आत्मा तो एक अमूर्त ज्ञान मात्र है। इस देह को छोड़कर वह कहीं अकेला ही चला जायगा। उसे मिला क्या ? कोई कहे कि जब तक रहा तब तक तो मिला, पर तब तक भी न मिला क्योंकि उसे उससे सन्तोष नहीं होता। उससे आगेकी वाञ्छा बनी रहती। जो पुरुष आत्मदृष्टि करता है और आत्मज्ञानके द्वारा अपने आपमें तृप्त रहा करता है, महत्ता तो उसकी है, सुखी तो वह है। लोभी पुरुषको तो कितनी भी सम्पदा मिल जावे, पर उससे उसे संतोष नहीं होता, वह कभी शान्ति नहीं प्राप्त कर पाता और अपने इस पाये हुए दुर्लभ मानवजीवनको वह व्यर्थ ही खो देता है।

विषयका परिहार करने वाले संयमी मुनियोंका महत्व समझिये, पृष्ठ ८२—विषयपरिहारी योगियोंकी श्लाघनीयता—इस प्रकरणको कहकर इस श्लोकमें यह बता रहे हैं कि देखो जिसतरह कछुवा अपने मुख को संकोच लेता है। अपनी गर्दनको ऐसा भीतर कर लेता है कि जिससे जरा भी पता नहीं पड़ता कि इसके सिर भी है इसी प्रकार जो ज्ञानी संयमी मुनिजन हैं वे इन्द्रियकी सेनाको संकोच कर उन्हें वश

करलेते हैं। वे ही मुनि दोष कर्दमसे भरे संसारमें रहते हुए भी दोषोंसे लिप्त नहीं होते। वे जलमें भिन्न कमलकी भांति अलिप्त रहते हैं। मुझे मोक्ष पाना हैं, मोक्ष नाम है कैवल्यका, मुझे खालिस रहना है जिसकी यह दृष्टि बनी है वह इन इन्द्रियविषयोंको अपने वशमें कर लेता है। जो पुरुष इन इन्द्रियोंको वशमें करता है वह पुरुष खाते पीते रहनेपर भी हर स्थितियोंमें अलिप्त रहता है।

(२२८-२३१) ज्ञानार्णव प्रवचन १८, १९, २०, २१ भाग

पूज्य श्री वर्णी जी सहजानन्द महाराजके ज्ञानार्णव प्रवचनोंमें इस पुस्तकमें पढ़िये वस्तुस्वातन्त्र्य तथा साथ ही निरखिये विभावपरिणमनकी हेयताका कारण, पृष्ठ ४-सबका अपने अपने निज क्षेत्रमें अपने गुणोंका योग्यतानुसार परिणमन-हम अपने ही प्रदेशोंमें रहकर अपना उत्पाद किया करते हैं। और नवीन अवस्थाका उत्पाद हुआ, उसीके मायने यह हैं कि पूर्व पर्यायका व्यय हुआ। मैं ही क्या, जगतके समस्त चेतन अचेतन पदार्थ अपने आपके अस्तिकायमें अपने हा गुणोंमें अपना परिणमन किया करते हैं और इसी कारण प्रत्येक पदार्थ आज तक है। यदि कभी ऐसी गड़बड़ हो गया होती कि एक पदार्थ किसो दूसरे पदार्थमें अपना परिणमन धर दे तो जगत शून्य हो जाता। यह सारा जगत अब तक टिका है, सामने दिख रहा है। यह ही इस बातका प्रमाण है कि वस्तुका स्वरूप चतुष्टय अपना-अपना है। हां, इतनी बातको मना नहीं किया जा सकता कि इन परिणमनोंमें जो विभाव-परिणमन हैं, अपने स्वभावके विरुद्ध परिणमन हैं, विकार परिणमन हैं, वे सब परिणमन किसी पर-उपाधिके संसर्गमें हो रहे हैं। ये पर-उपाधि के बिना केवल अपने आपके स्वभावसे ही विभावपरिणमन नहीं हो रहे, सो ऐसे विभावरूप परिणमनमें इस परिणममान उपादानकी ऐसी कला है वह किसा अनुकूल निमित्तका सन्निधान पाकर विभावरूप परिणम जाय। यों पदार्थोंको निरखना उनके एकत्वस्वरूपमें।

पापके फलमें कैसे क्लेश होते हैं इसका चित्रण कीजिये इस छोटेसे अनुच्छेदमें पृष्ठ ४२-नारकीका अशरणतामें विलाप-फिर विचार करता है यह नारकी कि ऐसे नरकोंके दुःखोंमें भी ये कर्मसमूह मेरे सामने हैं। अब मैं क्या करूं? नरक भूमिमें पड़ा, नरक भवमें फंसा और फिर ये असाता वेदनोय आदिक अनेक कर्म मेरे सामने हैं, उदयमें आ रहे हैं, क्या करूं, कहां जाऊं, किसकी शरण देखूं? कभी संतापसे तृप्तहोकर वृक्षकी छायाके नीचे जाता हूं तो वहींको पत्तो तलवारकी धारके समान गिरती है। कभी डरकर नारकी जोवके समीप जाऊं तो वहो नारको घात कर डालता है। पृथ्वीपर ही पड़ा रहूं, न हो कोई दूसरा मारने वाला तो वहांके भूमिजन्य दुःखोंसे पीड़ित रहता हूं। कहां जाऊं, अब तो मुझे सुखका कोई उपाय नहीं दिखता।

अब मनन कीजिये ज्ञानकी महिमा, पृष्ठ १३०-मोहकी अपेक्षा ज्ञानको अधिक बलवत्ता-लोग कहते हैं कि मोह बड़ा बलवान है, सब जगको वश कर डालता है, इस मोहसे पिंड छुटाना कठिन है, पर भाई! यदि मोहकी बलवत्ताके ही गीत गाते रहोगे तो इस मोहसे छुटकारा कैसे मिल सकेगा? अपनेको यदि कायर बना लिया तो यह मोह फिर छोड़ न सकेगा। लोग इस बातको तो भूल गये कि इस मोहसे भी बड़ा बलवान ज्ञान है। मोहने जिसके बन्धनको अनादि कालमें बना पाया है, चिरकालमें बन्ध पाया है उस सारी बांधको यह आत्मज्ञान क्षणभरमें ध्वस्त कर देता है। तो मोह की जितनीकला है, मोहका जितना प्रताप है, जितना उसका कार्य है सबको ध्वस्त कर देनेका, और उसे भी क्षणमात्रमें नष्ट कर देनेका फल ज्ञानमें है। आत्मबल एक ज्ञानबलको ही कहते हैं। अपनेको अजर अमर स्वरूपमें निरखना और किसी भी परवस्तुको अपने उपयोगमें न रखना यही तो एक आत्मबल है, उसकी प्रतीति तो की नहीं और मोह बलवान है यही गुण गाते रहे तो स्वयं हम कायर होकर मोहके दुःखको मोहसे

ही मिटानेका उपाय जानकर मोह मोहमें ही फंसे रहेंगे।

सर्व विशुद्ध ध्यान ज्ञानस्वरूपकी अभिमुखता रखते है इसका अवधारण कीजिये, पृष्ठ १६३–ज्ञानबीज मन्त्रमहेश्वरके ध्यानका विधान–यहां इस मंत्रराजकी महिमा गायी जा रही है, उस महिमाको सुनकर यह अवधारण करना चाहिए कि ज्ञानस्वरूप प्रभुकी ही महिमा गायी जा रही है, उसे छोड़कर और कुछ भी गान करते रहें तो उसमें कोई तत्त्व नहीं रहता। ज्ञानस्वरूप अथवा प्रभुस्वभावको छोड़कर किसी भी अन्यका ध्यान न रहे, कुछ भी खटपट करके रहना उसमें लाभ नहीं मिलता, ज्ञानस्वरूपके ही ये सब प्रतीक बनाये गए हैं। इन अक्षरोंसे हमें ज्ञानस्वरूपका ही संकेत मिले तो ये सब मंत्रराज ध्यान फल प्रदान करते हैं, यह मंत्रराज ज्ञानका बीज है, जगतसे वंदनीय है, संसाररूपी अग्निके लिए अर्थात् जन्म संताप दूर करनेके लिए मेघके समान है। इस तरह ध्यान करें। विषय कषायोंसे जब ध्यान हटता है सो उस खोटे ध्यान हटने का भी कोई प्रभाव होता है। तो मंत्रराज के ध्यान में खोटे ध्यान तो हटे ही हुए हैं, वह प्रभाव तो स्वतः यह ही है, पर उसमें ज्ञानस्वरूप का संकेत बसाकर ज्ञानस्वरूप की भावना बनायें तो उसमें ध्यान का और अतिशय बढ़ जाता है। जब परख में आया कि ओह इतना भी ध्यान जन्म सन्ताप को दूर करने के लिए, सांसारिक क्लेशों को दूर करने के लिए ये सब मेघ के समान हैं।

अब पाइये प्रभुस्मरणकी उमंग, पृष्ठ ५०४–ज्ञानघन प्रभुके स्मरणकी शरण्यता–जिसका ज्ञान समस्त लोकालोकमें घनीभूत होकर रह रहा है ऐसे प्रभुका स्मरण हम आपके लिए शरण होवो। जब कोई दुःखी होता है तो गदगद होकर एक शरण मानकर किसी न किसीकी गोदके निकट जाकर यह शान्ति चाहता है। ऐसा कौन मिलेगा कि जिसके निकट रहकर हम शान्तिलाभ पा सकें? एक केवल ज्ञान–पुञ्ज प्रभुका ही स्मरण शरण है। हे नाथ! आप हमें ऐसा बल दें अर्थात् आपके स्मरणसे मुझमें ऐसा बल प्रकट हो कि केवल मेरे लिए आप ही आप दृष्टिगत हों। मुझे और कुछ न चाहिए। बहुत ही आज्ञाकारी, विनयशील सुन्दर रूपवान कोई सन्तान भी हो, परिजन के लोग भी हों तो वे क्या हैं? ये सब राग आगमें मुझे जलानेके साधन हैं और संसारमें जन्ममरण करके बरबाद होनेके साधन हैं। हे प्रभो! कहा जाय, कहां ध्यान लगायें? यह सारा जहान मायामयी है। एक प्रभुका स्मरण ही हम आपके लिए सहाय है।

(२३२–२३४) ज्ञानार्णव प्रवचन २२, २३, २४ भाग

(२३५–२३६) इष्टोपदेश–प्रवचन १, २ भाग

पूज्यपाद स्वामि विरचित इष्टोपदेशके २५ श्लोकोंका प्रथम भागमें व २६ से ५१ तक २६ छन्दोंमें द्वितीय भागमें पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराजके प्रवचन हैं। इसमें किसका उपदेश किया गया है, इसको मंगलाचरणके एक प्रवचनांशमें पढ़िये–इष्टका उपदेश–इस ग्रंथमें इष्ट तत्त्वका उपदेश है। समस्त जीवोंको इष्ट क्या है? आनन्द। उस आनन्दकी प्राप्ति यथार्थमें कहां होती है और उस आनन्दका स्वरूप क्या है? इन सब इष्टों के सम्बन्धमें ये समस्त उपदेश हैं। आनन्दका सम्बन्ध ज्ञानके साथ है, धन वैभव आदि के साथ नहीं है। ज्ञानका भला बना रहना, ज्ञानमें कोई दोष और विकार न आ सके ऐसी स्थिति होना इससे बढ़कर कुछ भी वैभव नहीं है। जड़ विभूति तो एक अन्धकार है। उस इष्ट आनंद की प्राप्ति ज्ञान की प्राप्ति में निहित है। और उस ज्ञान की प्राप्ति का उद्देश्य लेकर यहां ज्ञानमय पर–मात्मा को नमस्कार किया है। स्वभाव ही ज्ञान है। आत्मा का जो शुद्ध चैतन्यस्वरूप निश्चल परिणाम

है जो स्वतन्त्र है, निष्काम है, रागद्वेष रहित है उस स्वभाव की प्राप्ति स्वयं ही होती है ऐसा कहा है।

शुद्ध परिणाम इहलोक परलोक दोनों जगह शान्तिका कारण है, इसे पढ़िये ४ वें छन्दके एक प्रवचनांशमें—शुद्ध परिणामका सामर्थ्य—भैया, हम आप सभी इसी बातमें आनन्द मानते हैं कि खूब धन बढ़ गया, खूब परिवार बढ़ गया, पर जिस भावमें आनन्द है उसका अज्ञानियोंको पता ही नहीं है। ज्ञानियोंको स्पष्ट दीखता है कि सच्चा आनन्द तो इससे ही मिलेगा। वह भाव है एक ज्ञानप्रकाश अमूर्त, किसी भी दूसरे जीवसे जिसका रंच सम्बन्ध नहीं, ऐसा यह मैं केवल शुद्ध प्रकाशात्मक हूं। ऐसे ज्ञानस्वभावमें परिणाम जाय तो यह परिणाम मोक्ष को देता है फिर स्वर्ग तो कितनी दूर की बात रही, अर्थात् वह तो निकट और अवश्यंभावी है। जो मनुष्य बलशाली होता है वह सब कुछ कर सकता है। सुगम और दुर्गम सभी कार्यों को सहज ही सम्पन्न कर सकता है। कौन पुरुष ऐसा है जो कठिन कार्यों के करने की तो सामर्थ्य रखता हो और सुगम कार्यों के करने की सामर्थ्य न रखता हो। वह अपमें आपमें अपनी शक्ति को खूब समझता है। उसके लिए सभी कार्य दुर्गम अथवा सुगम हों, सरल होते हैं।

सुख और आनन्दमें अन्तर समझिये, पढ़िये छठे छन्दका एक प्रवचनांश—यद्यपि सुख दुःख और आनन्द ये आनन्दगुणके परिणमन हैं, तथापि इन तीनोंमें आनन्द तो है शुद्ध तत्त्व, सुख और दुःख ये दोनों हैं अशुद्ध तत्त्व! यह इन्द्रियजन्य सुख आत्मीय आनन्दकी होड़ नहीं करसकता ४। स्वानुभवमें जो आनन्द उत्पन्न होता है अथवा प्रभुके जो आनन्द है उस आनन्दकी होड़ तीन लोक तीन कालके समस्त संसारी जीवोंका सारा सुख भी जोड़ लीजिये तो भी वह समस्त सुख भी उस आनन्दको नहीं पा सकता है। यह सांसारिक सुख आकुलता सहित है और शुद्ध आनन्द अनाकुलतारूप है। सांसारिक सुखमें इन्द्रिय की आधीनता है। इन्द्रियां भली प्रकार हैं तो सुख है और इन्द्रियोंमें कोई फर्क आया, बिगाड़ हुआ तो सुख नहीं रहा, किन्तु आत्मीय आनन्दमें इन्द्रियकी आवश्यकता ही नहीं है। इन्द्रियज सुख पराधीन है, नाना प्रकार के विषयोंके साधन जुटें तो यह सुख मिलता है, परन्तु आत्मीय आनन्द पराधीन नहीं है, अत्यन्त स्वाधीन है। समस्त पदार्थोंका विकल्प न रहे, केवल स्वात्मा ही दृष्टिमें रहे तो उससे आनन्द उत्पन्न होता है। इस इन्द्रियज सुखमें दुःखका सम्मिश्रण है, किन्तु आत्मीय आनन्दमें दुःखकी पहुंच भी नहीं है। संसारका कोई भी सुख ऐसा नहीं है जिसमें दुःख न मिला हुआ हो। धनी होने में सुख है तो उसमें भी कितने ही दुःख हैं, संतानवान होनेमें सुख है तो उस प्रसंगमें भी कितने ही दुःख भोगने पड़ते हैं। संसारका कोई भी सुख दुःखके मिश्रण बिना नहीं है। सांसारिक सुख कर्म बन्धन का कारण है, परन्तु आत्मीय आनन्दकर्म बन्धनका कारण नहीं है। सांसारिक सुख इस आनन्द के अंशको भी नहीं प्राप्त कर सकता है।

संसारी जीवोंका अन्तर्दाह तो देखिये, छन्द १२का एक प्रवचनांश—अहो कितनी कठिन दाहकी भीषण ज्वालायें इस संसारमें बस रही हैं। जल रहा है यह खुद विषादवाग्निमें, किन्तु पक्षपातकी बुद्धिको नहीं छोड़ता है। ये मेरे हैं, इनके लिए तो तन, मन, धन, बचन सब हाजिर हैं। यह मोहका अंधकार सब जीवोंको सता रहा है, विकल होता हुआ उनमें ही लिप्त हो रहा है। जिनके सम्बन्धसे क्लेश होता उस ही क्लेशको मिटानेके लिए उनमें ही लिप्त रहते हैं। यही है एक जाल यह ऐसा नहीं है जैसे लोहे का जाल हो, सूतका जाल हो। किसी भी प्रकार का जाल नहीं है इस जीवपर, मकड़ी के जाल बराबर भी सूक्ष्म कमजोर भी जाल नहीं है, किन्तु यह मोही जीव अपनी कल्पनायें मोहवश ऐसा जाल पूरता

है कि उससे परेशान हो जाता है। तब उसे संसारमें आधि व्याधि उपाधि सब लगी रहती है। आधि नाम तो है मानसिक दुःखका, व्याधि नाम है शारीरिक दुःखका और उपाधि नाम है परका पुछल्ला लपेटे रहने का। यों यह जीव आधि व्याधि और उपाधिसे दुःखी रहा करता है। उपाधिका अर्थ है जो आधि के समीप ले जाय। उसका अर्थ है समीप और आधिका अर्थ है मानसिक दुःख। जो मानसिक दुःखके समीप ले जाय उसे उपाधि कहते हैं। जैसे पोजीशन डिग्री आदि मिलना ये सब उपाधि हैं। तो यों यह जीव भ्रम में कल्पना जाल में बसकर आधि व्याधि और उपाधि से ग्रस्त रहता है।

अज्ञानीको अपने अपराधका भी परिचय नहीं, कितनी विडम्बना है, पढ़िये १४ वें छन्दके एक प्रवचनांशमें-पृ० १६९-ज्ञानी सत जानता है कि मेरा स्वरूप शुद्ध ज्ञानानन्द है। ज्ञान और आनन्दकी विशुद्ध वर्तना के अतिरिक्त अन्य जो कुछ प्रवृत्ति होती है, मनसे प्रवृत्ति हुई, वचनोंसे हुई अथवा कायसे हुई, तो ये सब प्रवृत्तियां अपराध हैं। अज्ञानीको ये प्रवृत्तियां अपराध नहीं मालूम देती। वह तो इन प्रवृत्तियोंको करता हुआ अपना गुण समझता है। मुझमें ऐसी चतुराई है, ऐसी कला है कि मैं अल्प समयमें ही धन संचित कर लेता हूं। ज्ञानी पुरुष जब कि यह समझता है कि ज्ञानस्वभावके आश्रयको छोड़कर अन्य किन्हीं भी पदार्थों का जो आश्रय लिया जाता है वह सब अपराध है। उससे मुझे लाभ नहीं है, हानि ही है। कर्मबन्ध हो, आकुलता हो और कुछ सार बात भी नहीं है, ऐसा यह ज्ञानी पुरुष जानता है। न तो अज्ञानी को धन संचय में होने वाली विपदा का विपत्तिरूप अनुभव होता है और न जो धनोपार्जन होता है उसमें भी जो अन्य विपदायें आती हैं उनका ही स्मरण हो पाता है।

लोभीको धन जीवनसे भी प्यारा है, इसका चित्रण देखिये १५ वें छन्दके एक प्रवचनांशमें-पृ० १७२-भैया, समयका व्यतीत होना दो बातों का कारण है-एक तो आयु के विनाशका कारण है और दूसरे धनप्राप्तिका कारण है। वर्षभर व्यतीत हो गया, इसके मायने यह है कि एक वर्ष की आयुका क्षय हो गया और तब ब्याजकी प्राप्ति हुई। यों कालका व्यतीत होना, समयका गुजर जाना दो बातोंका कारण है-एक तो आयुके क्षयका कारण है और दूसरे धन को वृद्धिका कारण है। जैसे ही काल गुजरता है तैसे ही तैसे जीवकी आयु कम होती जाती है और वैसेही व्यापार आदिके साधनोंसे या ब्याजके साधनों से धनकी बरबादी होती है। तो धनी लोग अथवा जो धनी अधिक बनना चाहते हैं वे लोग कालके व्यतीत होने को अच्छा समझते हैं। तो इससे यह सिद्ध हुआ कि इन धनिक पुरुषों को धन जीवन से भी अधिक प्यारा है। वर्ष भर का समय गुजरने पर धन तो जरूर मिल जायगा, पर यहां उसकी आयु भी कम हो जायगी। ऐसे धन का जो लोभी पुरुष है अथवा धन जिसको प्यारा है और समय गुजरने की बाट जोहता है उसका अर्थ यह है कि उसे धन तो प्यारा हुआ, पर जीवन प्यारा नहीं हुआ।

आनन्दपद्धतिका क्या उपाय है, इसे देखिये १६ वें छन्दके एक प्रवचनांशमें-हे आत्मन्, यदि तुझे आनन्द की इच्छा हो तो पर पदार्थों में इष्ट अनिष्ट बुद्धिका परित्याग कर और शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप निजतत्त्व का परिचय कर। शुद्ध आनन्द अनादि अनन्त स्वभाव आत्माके आश्रयसे ही प्रकट होता है। आनन्दमय आत्मतत्त्वको लखने वाले उपयोगमें ऐसी पद्धति बनती है जिससे आनन्द ही प्रकट होता है। वहां क्लेश के अनुभवका अवकाश ही नहीं है। जो पुरुषार्थी जीव सत्य साहस करके निर्विकल्प ज्ञानप्रकाश की आस्था रखते हैं उन्हीं का जीवन सफल है। आनन्द आनन्दमय परब्रह्म की उपासना में है। आनन्द

वास्तविक समृद्धि में है। समृद्धि सम्पन्नता होने का नाम ही आनन्द है। परमार्थ समृद्धि सम्पन्नता में निराकुलता होती ही है। यह सम्पन्नता त्यागमय स्वरसपूर्ण आत्मतत्त्व के आवलम्बन से प्रसिद्ध होती है।

वास्तवमें घृणाके योग्य है क्या, इसे पढ़िये १८ वें छन्दके एक प्रवचनांशमें—इस प्रकरणमें यह बात जानना चाहिए कि घृणाके योग्य यह शरीर नहीं है, किन्तु जिस गन्दे जीवके बसने से ये पवित्र स्कंध भी हड्डी खून आदि रूपमें बन गये हैं वहजीव गन्दा है। न आता कोई जीव तो शरीर कैसे बन जाता? शरीरकी गन्दगी का कारण यह अशुद्ध जीव है। अब जरा जीवमें भी निरखो तो वह जीव अशुद्ध नहीं है, किन्तु जीवकी जो निजी विभावमय वान है, अशुद्ध प्रकृति है, विभाव परिणति है वह गन्दो है। जीव तो जैसा सिद्ध प्रभु है वैसा। कोई अन्तर नहीं है, अन्तर मात्र परिणतिका है। तो जीव में भी जो रागद्वेष मोहकी परिणति है वह घृणाके योग्य है, यह शरीर, यह पुरुष घृणाके योग्य नहीं है, मूल बात यह है। लेकिन इस प्रकरणमें परमतत्त्व ज्ञानियोंको दृष्टिमें आने वाली बात के लिए व्यवहारिक बात कही जा रही है।

ज्ञानीका विवेकपूर्ण चिन्तन तो देखिये—१९ वें छन्दके एक प्रवचनांशमें—भैया, यह देह न रहेगा। अच्छा सुभग सुडौल सबल पुष्ट हो तो भी न रहेगा, दुर्बल, अपुष्ट हो तो भी न रहेगा, परन्तु जीवका भाव, जीवका संस्कार इस शरीरके छोड़ने पर भी रहेगा। तो जैसे कुटुम्बके लोग महिमानमें वैसी प्रीति करते हैं जैसे कि अपने पुत्र में करते हैं, क्योंकि जानते हैं कि यह महिमान हमारे घर का नहीं है। आया है जायगा और ये पुत्रादिक मेरे उत्तराधिकारी हैं, मेरे हैं, या समझते हैं। इसीलिए मानो महिमान नाम रखा है—महिमा न। जिसके प्रति घर वालों को बड़प्पन की बुद्धि नहीं है, प्रियता की बुद्धि नहीं है वे सब महिमान कहलाते हैं। तो जैसे कुछ समय टिकने वाले के प्रति, अपने घरमें न रह सकें ऐसे लोगों के प्रति ये स्नेह नहीं बढ़ाते, अपना वैभव नहीं सौंप देते, ऐसे ही यह विवेकी कुछ दिन रहने वाले इस शरीर के लिए अपना दुर्भाव नहीं बनाता है, खोटा परिणाम नहीं करता है, उसको ही सेवा किया करे ऐसा संकल्प नहीं होता। अपने उद्धार की चिन्ता होती है उसको जो ऐसा ज्ञानी हो, विवेकी हो।

पारमार्थिक उदारता तो देखिये, जिसका फल मधुर ही मधुर है, पढ़िये २३ वें छन्दके एक प्रवचनांशमें—अपने को ज्ञानस्वरूप समझना, अकिंचन मानना, केवल स्वरूपसत्तामात्र अपने को निरखना, एक भी पैसे का अपने को धनी न समझना, एक अणु भी मेरा नहीं है, ऐसी अपनी बुद्धि बनाना, इससे बढ़कर उदारता क्या होगी? सम्यग्ज्ञानमें सर्वोत्कृष्ट उदारता भरी हुई है, मगर कहने सुनने मात्रका ही सम्यग्ज्ञान नहीं होता है, उसका कुछ प्रेक्टिकल प्रयोग हो तब समझा जाय कि हां इसके ऐसा ही सम्यग्ज्ञान है। सर्व परभावोंसे रहित ज्ञानमात्र मैं आत्मा हूं, अकेला हूं, सबसे न्यारा हूं। मेरे करने से किसी दूसरे का कुछ होता नहीं है। अत्यन्त स्वतन्त्र मैं आत्मा हूं। ऐसा केवल अपने अद्वैत आत्मा का अनुराग हो तो वह पुरुष वास्तव में अमीर है, सुखी है, पवित्र है, विजयी है, और जो बाहरी पदार्थों में आशक्ति लगाये हुए हैं, कितना ही धन का खर्च है, कितने ही झंझट भी सह रहे हैं और मृत्यु के दिन निकट आ रहे हैं। प्रथम तो किसी को भी मृत्यु का पता नहीं है, पर आयु अधिक हो जाय तो उसके बाद और क्या होगा? बचपनके बाद जवानी और जवानीके बाद बुढ़ापा और बुढ़ापाके बाद क्या फिर जवानी आयगी? नहीं। मरण होगा, फिर नया जन्म होगा। तो यह समय प्रवाह से बह रहा है और हम ममतामें कुछ अन्तर न डालें, ढील न करें तो सोच लीजिये क्या गति होगी।

श्रद्धान की कलासे आनन्द या क्लेशकी सृष्टि होती है, पढ़िये २७ वें छन्दका एक प्रवचनांश—जिस भवमें गया उस ही भवमें जो मिला उसमें ही ममता की, जो पर्याय मिली उस ही रूप अपने को माना। गाय, बैल, भैंस हुआ तो वहां उस ही रूप अपनी प्रतीति रखी। मनुष्यभवमें तो हैं ही, यहां ही देखलो, हम अपने को निरन्तर मनुष्यता की प्रतीति रखते हैं। मैं मनुष्य भी नहीं हूं, किन्तु एक अमूर्त ज्ञानानन्दस्वरूप चेतन पदार्थ हूं। ऐसी प्रतीतिमें कब कब रहते हैं? कभी नहीं। यदि ज्ञानानन्दस्वरूपकी प्रतीति हो तो फिर आकुलता नहीं रह सकती है। आकुलता कहां है। निराकुल शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मतत्त्वको निरखें तो वहां आकुलता का नाम नहीं है। वह अपने स्वरूपसे सत् है, समस्त परभावोंसे मुक्त है, प्रभु है, यह मैं आत्म निर्मल हूं। यहां शुद्ध ज्ञायकस्वरूप आत्मतत्त्वको निरखा जा रहा है। इसमें मिथ्यात्व, काम, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि कुछ भी परभाव नहीं हैं। स्वरसतः निरखा जा रहा है।

भयके ओलपाये यह प्राणी स्वयं बनाता है, देखिये ३० वें छन्दका एक प्रवचनांश—जब तक इस जीवके शरीर और आत्मामें एकमेक मान्यता रहती है, शरीरको ही यह मैं हूं ऐसा समझा जाता है तब तक इस जीवको भय और दुःख होता है। ये जगतके प्राणी जो भी दुःखी हैं—उनके दुःखका कारण एक पर्यायबुद्धि है। अन्यथा जगतमें क्लेश है कहां? ये सब बाह्य पदार्थ हैं। कैसा ही परिणमें, हमारा क्या बिगाड़ किया? कोई भी कष्ट की बात नहीं है। आज वैभव है, कल न रहा, हमारा क्या बिगड़ गया? वह तो हमसे भिन्न ही था। रही एक यह बात कि अपना जीवन चलाने के लिए तो धनकी जरूरत है। तो जीवन चलाने के लिए कितने धन की जरूरत है? तृष्णा क्यों लग गयी है, उसका कारण है केवल दुनियामें अपनी वाहवाही प्रसिद्ध करना, अन्यथा धनकी तृष्णा हो नहीं सकती। धन आये तो आने दो। चक्रवर्तियोंके ६ खण्डका वैभव आता है, आनेका मना नहीं है किन्तु उस वैभवको ही अपना सर्वस्व समझ लेना, इसके बिना मेरा जीवन नहीं है, यही मेरा शरण है, ऐसी बुद्धि कर लेना, यही विपत्ति की बात है।

जीव और कर्ममें निमित्तनैमित्तिक भाव होने पर भी स्वतंत्रता है, पढ़िये और अपना फायदा निकालिये छन्द ३१ वें का एक प्रवचनांश—जीवमें और कर्ममें परस्पर निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है। जीवके भावका निमित्त पाकर कर्मों का बन्धन होता है अर्थात् कार्माण वर्गणायें स्वयं ही कर्मरूपसे प्रवृत्त हो जाती हैं। और, कर्मों का उदय होने पर यह जीव स्वयं रागादिक भावोंमें प्रवृत्त हो जाता है। ऐसा इन दोनोंमें परस्पर में निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है फिर भी किसी भी पदार्थका परिणमन किसी अन्य पदार्थ में नहीं पहुंचता है। जैसे यहीं देख लो बोलने वाला पुरुष और सुनने वाले लोग इन दोनोंका परस्पर में निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है। बोलने वाले का निमित्त पाकर सुनने वाले शब्दोंको सुनकर और उनका अर्थ जानकर ज्ञानविकास करते हैं। यों उनके इस ज्ञान विकास में कोई वक्ता निमित्त हुआ और वक्ता का भी श्रोताओं को निरखकर धर्म चर्चा सुनाने की रुचि हुई। ये कल्याणार्थी हैं, ऐसा जानकर वक्ता उस प्रकार से अपना भाषण करता है। तो यों वक्ता को बोलनेमें श्रोतागण निमित्त हुए और श्रोतागणोंके सुनने और जाननेमें वक्ता निमित्त हुआ, ऐसा परस्परमें निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है, फिर भी वक्ताने श्रोताओंमें कुछ परिणमन नहीं किया और श्रोतावोंने वक्तामें कुछ भी परिणमन नहीं किया। ऐसे निमित्त नैमित्तिक सम्बन्धका यथार्थ मर्म तत्त्वज्ञानी पुरुष जानता है।

आप यहां मुक्तिके आनन्दका परिचय कैसे पा सकते हैं? पढ़िये ३३ वें छन्दका एक प्रवचनांश—जो साधु संत [illegible] रूप आत्मा और परको परस्पर विपरीत जानता है और आत्माके स्वरूपका अनुभव करता

है उसमें जो इसे आनन्द मिलेगा उस आनन्द की प्राप्तिसे यह जान जाता है कि मुक्तिमें ऐसा सुख होता है। जब क्षण भरकी निराकुलतामें, शुद्ध ज्ञानप्रकाशमें उसे इसका आनन्द मिला है तो फिर जिसके सब मूल कलंक दूर हो गये हैं, केवल ज्ञानानन्दस्वरूप रह गया है उन अरहंत सिद्ध भगवंतोंको कैसा सुख होता होगा। वह अपूर्व है और उसकी पहिचान इस ज्ञानी को हुई है। कोई गरीब ४ पैसे का ही पेड़ा लेकर खाये और कोई सेठ एक रूपयेका एक सेर वही पेड़ा लेकर खाये पर स्वाद तो दोनोंको एक सा ही आया, फर्क केवल इतना रहा कि वह गरीब छककर न खा सका, तरसता रहा, पर स्वाद तो वह वैसा ही जान गया। इसी तरह गृहस्थ ज्ञानी क्षण भर के आत्मस्वरूप के अनुभव में पहिचान जाता है भगवन्तों को किस प्रकार का आनन्द है। भले ही वह छककर आनन्द न लूट सके लेकिन जान जाता है। यों यह ज्ञानी पुरुष आत्मज्ञान से मुक्ति के सुख को निरन्तर पहिचानता रहता है।

विषयसाधनोंकी असारताका एक चित्रण देखिये ३९ वें छन्दके एक प्रवचनांशों—भैया, इस लोक में रमण करने योग्य क्या है? जो कुछ है वह सब जल के बुद्बुदे की तरह चंचल है, विनाशीक है कुछ ही क्षण बाद मिट जाने वाला है। जैसे जलका बबूला देर तक ठहरे तो उस पर बच्चे बड़े खुश होते हैं और शान के साथ किसी बबूले को अपना मानकर हर्ष के साथ कहते हैं देखो मेरा बबूला अब तक ठहरा है। बरसात के दिन हैं, जब ऊपर से मकान का पानी गिरता है तो उसमें बबूले पैदा हो जाते हैं, बच्चे लोग उनमें अपनायत कर लेते हैं कि यह मेरा बबूला है, कोई लड़का अधिक देर तक टिक जाय तो वह बच्चा नाच उठता है, मेरा बबूला अब तक बना हुआ है। ऐसे ही यह पर्याय, यह जाल, यह शरीर बबूलेकी तरह है। इन अज्ञानी बच्चों ने अपना अपना बबूला पकड़ लिया है, यह मेरा बबूला है, यह बबूला कुछ देर तक टिक जाय तो खुश होते हैं, मेरा बबूला अब तक टिका हुआ है। यों यह योगी पुरुष इन्द्रजालकी तरह समस्त जगतको जान रहा है। यहां किससे प्रीति करें, कौन मेरा सहाय है, किसका शरण गहें, जो कुछ भी है वह सब अपने लिए परिणमता है।

योगीश्वर उपदेश भी दें, फिरभी अन्तरंग तो देखिये कैसा विरक्त है, पढ़िये ४१ वें छन्दका एक प्रवचनांश-शुद्ध आत्मतत्त्वका परम आनन्द पा लेने वाले योगी के एक सिर्फ आत्मदृष्टिके अतिरिक्त अन्य सब बातें, व्यवसाय पदार्थ, नीरस और अरुचिकर मालुम होते हैं। किसी भक्त पुरुषको कहीं उपदेश भी देना पड़े तो वह उपदेश देना हुआ भी न देने की तरह है। कर्मों के उदय की बात वीतराग पुरुष के भी हुआ करती है। अरहंत, तीर्थंकर परमात्मा हो गये, उनको अंतरंग से कुछ भी बोलने की इच्छा नहीं है, लेकिन कर्मों का उदय इस ही प्रकार का है कि उनकी दिव्यध्वनि खिरती है, उनके उपदेश दिव्यध्वनि-रूप में होते हैं। जब वीतराग परमात्मा के भी किसी किसी स्थिति तक कर्मोदयवश योग होता है, बोलना पड़ता है, यद्यपि उनका वह बोल निरीह है और सर्वांगनिगत है, किन्तु यह अवस्था आत्मा के सहज नहीं होती है, तब जो रागसहित हैं ऐसे योगीश्वर जिनको वीतराग आत्मतत्त्व से प्रेम है किन्तु रागांश शेष है उन्हें कोई अनुरोध करता है तो वे उपदेश भी देते हैं, अथवा कोई समय निश्चित कर दिया, लोग जुड़ जाते हैं तो बोलना भी पड़ता है, किन्तु वह योगी बोलकर भी न बोलने की ही तरह है।

धर्मपालनकी निष्पक्ष पद्धति समझिये ४३ वें छन्दके एक प्रवचनांशमें-आत्माका हित, आत्माका धर्म, जिसको पालन करने से नियमसे शान्ति प्राप्त होती वह धर्म कहीं बाहर न मिलेगा। कोई निष्पक्ष बुद्धिसे एक शान्तिका ही उद्देश्य ले ले और विशुद्ध धर्मपालन करने को ठान ले तो सब कुछ अपने

ज्ञानस्वरूपका निर्णय कर सकता है। कभी यह धोखा हो कि सभी लोग अपने अपने मजहब को गातें हैं, कहां जाकर हम धर्म की बात सीखें। जिसकुलमें जो उत्पन्न हुआ है वह उसही धर्मको गाता है। जो जिस कुलमें उत्पन्न हुआ है वह उस ही धम की गाता है। जो जिस कुल में, धर्म में उत्पन्न हुआ वह रूढ़िवश उस धम और कुल की गाता है, पर कहां धर्म, कैसा है धर्म, किस उपाय से शान्ति का मार्ग मिल सकेगा? सन्देह हो गया हो, और सन्देह लायक बात भो है। अपने अपने पक्ष को ही सब गाते हैं। सन्देह होना किसी हद तक उचित ही है। ऐसी स्थिति में एक काम करें। जिस कुल में, जिस धर्म में आप उत्पन्न हुए हैं उसकी भी कुछ बात मत सोचें, जो कोई दूसरे धर्मों की बात सुनाता हो उनको भी मत सुनें, पर इतनी ईमानदारी अवश्य रखें, इतना निर्णय करलें कि इस लोक में जो भी समागम मिले हैं धन वैभव, स्वजन, मित्रजन, ये सब भिन्न हैं और असार हैं। इतना निर्णय तो पूर्ण करलें, इसमें किसी मजहब को बात नहीं आयी, यह तो एक देखी और अनुभव को हुई बात है।

अध्यात्मयोगका मोटासा परिचय पाइये ४७ वें छन्दके एक प्रवचनांशमें—जो पुरुष प्रवृत्ति और निवृत्ति-रूप व्यवहारसे मुक्त हाकर आत्माके अनुष्ठानमें निष्ठ होते हैं अर्थात् अध्यात्म में अपने उपयाग को जोड़ते हैं उनके उससे अलौकिक आनन्द होता है। योगी का अर्थ है जोड़ने वाला। यहां हिसाब में भी तो योग शब्द बोलते हैं। कितना योग हुआ अर्थात् दोनों मिलाकर सब एक रस करदें इसी के मायने तो योग है। चार और चार मिलाकर कितना योग हुआ? आठ। अब इस आठ। अब इस आठमें पृथक् पृथक् चार नहीं रहे। वह सब एक रस बनकर एक अष्टक बन गया है। इस प्रकार ज्ञान करने वाला यह उपयोग और जिसका ज्ञान किया जा रहा है ऐसे उपयोग का हो आधारभूत शाश्वत शक्ति इस शक्तिमें इस व्यक्तिका योग कर दो। अर्थात् न तो व्यक्तिको अलग बता सके और न शक्तिको अलग बता सके किन्तु एक रस बन जाय इस हो को कहते हैं अध्यात्मयोग।

(२३७–२३९) पञ्चास्तिकाय प्रवचन १, २, ३ भाग

परम पूज्य श्री कुन्दकुन्दाचार्य देवरचित पञ्चास्तिकाय ग्रन्थ पर पूज्य श्री सहजानन्द जी वर्णी महाराजके विस्तृत प्रवचन इस ग्रन्थ में हैं।

(२४०–२४२) पञ्चास्तिकाय प्रवचन ४, ५, ६ भाग

(२४३) सिद्धभक्ति प्रवचन

पूज्य श्री वर्णी जी महाराजके सिद्धभक्तिपर विस्तृत प्रवचन हुए हैं उनका संकलन इस पुस्तक में है। यह पुस्तक पं० अजितकुमार जी शास्त्री झांसी द्वारा वीरबुन्देलखण्ड प्रेस झांसीमें छपने के लिये ५ साल पूर्व दिया हुआ था अब तक छपना भी प्रारम्भ नहीं हुआ।

(२४४) शान्तिभक्ति प्रवचन

१–दशभक्तियोंमें प्रसिद्ध इस शान्ति भक्ति पर पूज्य श्री १०५ मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराज के प्रवचन हुए हैं। प्रथम छन्द में बताया है कि भव्यजीव भव-दुख संताप न सह सकने कारण प्रभुके शरणमें जाते हैं, उसी सिलसिले में एक प्रवेचनांश पढ़िये—हे प्रभो, आपके स्नेह से ये समस्त भक्तजन आपके चरणद्वय की शरण में नहीं आये हैं। इनके आने का कारण तो दूसरा ही है। वह कारण यह है कि यह संसार रूपी और समुद्र भयानक सागर नाना प्रकार के दुःखों से भरा हुआ है। यहां के दुःखों की क्या चर्चा करें।

से संसारी जीव विकल्प मूसलों से रातदिन कूट रहे हैं। यहां से मरण करते ही तुरन्त दूसरा नया देह धारण कर लेते हैं। यों जन्म मरण की परम्परा में फंसे हुए ये प्राणी दुःख सह रहे हैं। जन्ममरण करते हुए में जब जिस जगह पहुंचें वहां के समागमों को अपना मान लेते हैं। पर द्रव्यों का अपना मानने के बराबर संकट दुनिया में अन्य कुछ भी नहीं है। सब संकटों का एक यही मूल है। फिर शरीर के साथ रोग व्याधियां के भूख प्यास, शर्दीगर्मी आदिक के अनेक संकट लगे हुए हैं। जहां देखो लोक में सर्वत्र दुःख ही दुःख छाया हुआ है, यही कारण है कि ये भक्तजन आपके चरणद्वय को शरणमें आये हुए हैं। जैसे यहां भी लोग कभी चन्द्रमा की शीतल किरणों को सेवन के लिये, अथवा ठंडे जल में स्नान करने के लिये अथवा वृक्षों की छाया में बैठकर आराम करने के लिये आते हैं सो वे उन चन्द्रमा की किरणों के प्रेम से या जल वृक्ष आदिक के प्रेम से नहीं आते हैं बल्कि आते गर्मी का आताप मेटने के लिये आते हैं।

२–प्रभुभक्ति से संबन्धित अद्भुत निमित्त नैमित्तिक प्रसंग :देखिये दूसरे छन्दके एक प्रवचनांशमें–अद्भुत निमित्त नैमित्तिक प्रसंग–हे प्रभो। जो मनुष्य आपके स्वरूप के स्मरण में रत रहते हैं उनको विघ्न रोग में नहीं सताते, शान्त हो जाते हैं। जैसे कि किसी क्रुद्ध आशीविषधर सर्प ने किसी को डस लिया हो, तोडसे गये पुरूष के शरीर में विष की ज्वालायें फैल रही हों, नसाजालों के रूप में, रंगों के रूप में विष की ज्वालायें अग्नि की तरह धधक रही हों और गर्मी, संताप का ज्वाला भी जल रहा है इतना बड़ा तेज विकराल विष विक्रम भी विद्यासे, औषधि से, जन्त्र मन्त्र से, जलहवन आदि से शान्ति को प्राप्त हो जाता है। निमित्त नैमित्तिक सम्बन्धका भी जरा स्वरूप देखियेगा। जिसे पुरूष के शरीर में विष छाया हुआ है। वह पुरूष तो दूर है और उसका विष झाड़ने वाला मंत्रवादी उससे दूर है, और कितने ही तो ऐसे सुने गये हैं कि जिस पुरूष को मंत्रवादी ने कभी देखा भी नहीं, किसी अन्य पुरूष ने उसके पास जाकर समाचार दे दिया कि अमुक जगह अमुक पुरूष को सर्पने डस लिया है, तो वह मंत्रवादी वहीं से अपने घर में बैठा हुआ ही कुछ मंत्र जपता है या कोई तंत्र करता है और वहां उस पुरूष का विष दूर हो जाता है तो जब इतनी दूर से रहने वाला मंत्र वादी कहीं दूर रहने वाले पुरूष के देह में व्यापे हुए सर्प के विष को दूर कर देता है तो फिर जिस आत्मा के साथ एक क्षेत्रावगाह होकर यह शरीर रह रहा है वह आत्मा यदि अपने भाग शुद्ध बनाये, प्रभु का स्मरण करे तो प्रभु भक्ति के प्रसाद से समस्त विघ्न, समस्त रोग दूर न हो सकें यह कैसे हो सकता है ? अर्थात् अवश्य ही वे सब रोग दूर होंगे।

३- पांचवें छन्दके एकप्रवचनांशमें देखिये–प्रभुदर्शनकी क्या विधि है जिससे व्याधि क्षय होना कोई आश्चर्य की बात नहीं रहती–प्रभुदर्शनविधि–प्रभु को केवल ज्ञान पुञ्ज के रूप में निरखने से प्रभु के दर्शन होते हैं: वह दर्शन अनुभवात्मक है। चक्षु से आगे कोई प्रभु दिख जाय; सामने हो ऐसा कोई दर्शन नहीं, किन्तु अपने अनुभव से ज्ञानमात्र आनन्दधाम स्वरूप की जो अनुभूति होती वह है प्रभुदर्शन। जिस काल में प्रभु साक्षात् विहार किया करते थे उस काल में भी प्रभु का दर्शन नेत्रों से न होता था। प्रभु शरीर सहित थे। शरीर के दर्शन हो गये, पर प्रभुता का दर्शन तो उस समय भी ज्ञानी विवेकी पुरूष ज्ञान ज्योति के रूप में ज्ञानानुभूति के रूप में दर्शन किया करते थे। वह ज्ञान ज्ञान तत्त्व स्वयपर सम्पर्करहित है। रोग रहित है, पवित्र है, अमूर्त है। केवल जानना ही जिसका कार्य है ऐसे अमूर्त पवित्र ज्ञानमात्र स्वरूप को निरखने पर उपयोग निर्भार होता है और उसके प्रताप से ये रोग भी शीघ्र नष्ट होते हैं। उदाहरण में कहते हैं कि जैसे मदोन्मत्त सिंह के भयानक शब्द से बनके हस्तीभाग जाते हैं ऐसे ही आप

के चरणस्तवन से अनेक रोग दूर हो जाते हैं।

४–प्रभुचरणस्तवनसे शान्ति क्यों मिल जाती है इसका मौलिक कारण देखिये ८वें छन्दके एक प्रवचनांशमें-भ्रमके करनेका एक दृष्टान्त–एक कथानक है कि १० जुलाहा हाट के दिन किसी गांव से किसी शहर गये। गांव और शहर के बीच एक नदी पड़ती थी। तो मानो शनीवार के दिन का हाट था। हाट कर के वे जुलाहे ४ बजे शाम को अपने गांव के लिये लौट पड़े। नदी भी पार कर ली। जब नदी के दूसरी पार आ गये थे। उन सबमें से किसी एक जुलाहे ने कहा कि अपन लोग गिनलें अपने सभी मित्र है कि नहीं, गिना तो ९ ही निकले, वे गये तो थे १० मित्र पर सभी ने गिना तो सबने ९ ही मित्र पाये सोचा ओह ! हमारा एक मित्र गायब हो गया। उन सबमें परस्पर में बड़ा प्रेम था, सो वे अपने एक मित्र के गुम हो जाने पर बड़े दुःखी हुए–हाय ! गये तो थे तीन चार रूपये मुनाफे के लिये और अपने एक मित्र को ही खो दिया। पता नहीं वह मित्र नदी में डूब गया या अन्यत्र कहीं खो गया। यों वे सभी अपने एक मित्र के न मिलने पर इतने दुःखी हुए कि सभी जुलाहों ने रो रोकर अपने सिर भी फोड़ लिये। भैया ! भ्रम का बड़ा कठिन दुःख होता है। जब एक सूझता पुरूष आया और उसने रोने का कारण पूछा तो उन जुलाहों ने बताया कि हम आये तो थे १० मित्र पर हममें से १ मित्र न जाने कहां गायब हो गया। पता नहीं नदी में डूब गया या कहीं मर गया। उनकी बात सुनकर उस सूझते पुरूष ने एक सरसरी निगाह में ही देख लिया कि हैं तो दसों के दसों और ये क्या कह रहे हैं ? सो वह सूझता पुरूष बोला–अगर हम तुम्हारा १० वां मित्र बता दें तो क्या दोगे ? वे जुलाहे बड़े खुश हुए और बोले–हां हां भैया बता दो, तुम जो कहोगे सो देंगे। अच्छा तुम सब लोग खड़े हो जावो एक लाइन में। खड़े हो गये और एक बेंत से धीरे धीरे मारकर कहे–देखो १, २, ३, ४, ५, ६, ७, ८, ९, और जरा जोर से मार कर कहे यह १०। यों सभी जुलाहों के क्रम क्रम से बेंत मार कर सभी को उनका १० वां मित्र बता दिया। वे सब जुलाहे अपने १० वें मित्र को पाकर बड़े खुश हुए। तो भैया ! भ्रमका दुःख इतना कठिन होता है।

५– १६ वें छन्दके एक प्रवचनांशमें परमिहत समर्थ योग्य प्रकार की अभ्यर्थना की है, मनन कीजिये–आत्महित के दृढ़ निणय के संकल्प की आवश्यकता–भैया अपना पहिले यह पक्का निर्णय बना लीजिये कि मुझे तो आत्महित करना है, और कुछ मतलब ही नहीं। थोड़े दिना का जीवन है। इसमें हमें क्या विवाद करना। क्या लड़ाई झगड़ा करना ? क्या पक्षपात करना ? हम तो खुद दुःखी हैं, अशरण हैं, बेचारे हैं, कोई ठीक ठिकाना नहीं है। पहिले अपने को तो सम्हाल लें। वादविवाद में क्या रखा है ? यों वस्तु स्वरूप का निणय करके जो यहां अपना निणय बनाता है वह नियम से पार होगा हे प्रभो ! आपके चरण द्वय को ही मैं देव मानता हूं। व्यवहार भक्ति में चरणों को भी देवता कहते हैं। इनके चरण ही हमारे देवता हैं, इन्हें छू लेने दो और परमार्थ प्रभु के दो चरण हैं दर्शन और ज्ञान वे देवता हैं। ज्ञान का यथार्थ स्वरूप याने सामान्य प्रतिभास वाली शक्ति ये दो हमारे देवता हैं। तो हे प्रभु इस चरण द्वय को मैं देवता मानता हूं और उस देवता का स्तवन कर रहा हूं। शान्ति अष्टक रूप से पाठ कर रहा हूं।

(२४५) पञ्चगुरूभक्ति प्रवचन

१–इसमें दशभक्ति कथित पञ्च गुरू भक्ति पर पूज्य श्री १०५ मनोहर जी वर्णी जी सहजानन्द महाराज के प्रवचन हैं। देखिये प्रभुभक्ति ज्ञानीजन क्यों करते हैं इस तथ्यका दिग्दर्शन प्रथम छन्द के एक प्रवचनांश में–ज्ञानी द्वारा प्रभुस्मरण शरण ग्रहण में प्रधान कारण–जन्म मरण का क्लेश भी बड़ा भयंकर है और,

इस जन्म मरण के बीच का जो समय है वह भी क्लेश में व्यतीत होता है। तो यहां की किसी भी वात के अनुकूल हो जाने से मौज मानना यह भी कर्त्तव्य नहीं और किसी भी वात के प्रतिकूल हो जाने से विषाद मानना यह भी विवेक की वात नहीं। अपने आपमें बहुत धीरता लाना है। अपने आपकी दृष्टि जो बाहर में चारों ओर फिर रही हैं, भ्रम रही है उसको केन्द्रित करना है। कैसे अपने आपके स्वरूप का सम्पर्क बनाया जाय, कैसा दृष्टि और सम्बन्ध किया जाय कि यह ज्ञान अपने ज्ञानस्वरूप में मग्न हो सके? ऐसी भावना जगी है ज्ञानीपुरुष को। तो वह बाहर में किसी का स्मरण करे, गुणगान करे, शरण गहे तो किसकी गहे? जिसका यह ज्ञान स्वभाव पूर्ण विकसित है जिसका ज्ञान ज्ञानस्वरूप में मग्न हो गया है। जो संसार के संकटों से सदा के लिये छूट गये हैं ऐसे पुरुषों को शरण ग्रहण करें सो इसी प्रयास में यह ज्ञानी यहां अरहंत परम गुरु की भक्ति में जा रहा है।

२–द्वितीय छन्द के एक प्रवचनांशमें सिद्ध प्रभुता की भक्ति परखिये–सिद्ध परमेष्ठी का नमस्करण–मैं सिद्ध भगवान को नमस्कार करता हूं अनन्त सिद्धों को नमस्कार करता हूं। मैं सतत निरन्तर अनन्त सिद्धों को नमस्कार करता हूं जो अष्टगुणों से सहित है और समस्त अष्ठ कर्म शत्रुओं को जिन्होंने नष्ट किया है। यह आत्मा अपने आप सहज किस स्वभाव रूप है? जब उस स्वभाव का विकास होता है तो उन विकासों के परिणमन से, परिज्ञान से हम समझ जाते हैं कि इस आत्मा का सहज स्वभाव कैसा है। किसी एक बड़े पत्थर के भीतर क्या है, स्वयं अपने आप उस जगह क्या है यह बात तभी जान सकेंगे जब कि ऊपर के आवरण हटें। ऐसे ही मेरे आत्मा में सहज स्वभाव क्या है, यह बात तब प्रकट रूप से विदित होती है कि जब आवरण विकार इसके ढाकने वाले ये सब दूर हो जाते हैं तब विदित होता है कि इस आत्माका सहजस्वरूप यह है यह बात हमें सिद्ध भगवान स्वरूपकी उपासना से सुविदित हो जाती है प्रभु में समीचीनता है कोई मल नहीं है शुद्ध हैं। अपने आपमें लवलीन हैं। किसीभी प्रकार का विकार नहीं है। क्योंकि उनके मोहनीय कर्म का अभाव हो चुका है प्रत्येक वस्तु ने अपने आपको ओर से कोई विकास नहीं होता। कोई दोष नहीं होता। वह जैसा है तैसा ही है। विकास के मायने है कि जो उसमें वात स्वयं नहीं है वह वात आ जाय उसे विकास कहते हैं। अन्तराय कर्म के न होने से ऐसी अनन्त शक्ति प्रकट है जिससे परिपूर्ण विकास बना रहता है। प्रत्येक पदार्थ अपने आपके सहज स्वरुप में रहता तो मैं भी हूं, मेरा भी अपने अपने सहज स्वरुप का यह सिद्ध गुण स्तुतिसे सुगम विदित होता है। आप कोई स्वरुप है।

३–साधक को व्यवहार में आचार्य परमेष्ठीका शरण जानकर आचार्यत्व के योग्य वास्तविक मूलगुणों का दिग्दर्शन कीजिये तृतीय छन्द के एक प्रवचनांश में–शान्ति साधना के उद्यम में निश्चय शरण व व्यवहार शरण का दिग्दर्शन–हमें चाहिये शुद्ध स्वाधीन शान्ति, जिसके पा लेने पर कोई खतरा ही नहीं है नष्ट होने का या कि उसके एवज में अशान्ति आने का। शान्ति भोगते–भोगते कभी अशान्ति भी आ जाय, ऐसा जहां धोखा भी नहीं है, ऐसी शान्ति चाहिये। इस प्रकार की शान्ति चाहने वाले पुरुष यहां व्यव–हार में किसकी शरण गहें? शरण गहें गुरुवों की, और ऐसे गुरु ही यहां किसकी शरण गहें कि वे भी अपने कार्य को निर्बाध रुप से सफल बना सकें। तो वे गुरुराज शरण गहते हैं आचार्य परमेष्ठियों की यह व्यवहार शरण की बात कही जा रही है। निश्चय शरण के सम्बन्ध में गुरुवोंको तो क्या, अविरत सम्यग्दृष्टि को भी भूल नहीं हो सकती, फिर भी जब तक प्रमाद अवस्था है, तब तक व्यवहार शरण ग्रहण करना ही चाहिये। प्रमाद-युक्त अवस्था में हम एक आना ही रखा ज्ञान बनायें, किसका कौन है? मैं ही अपने लिये शरण हूं और धर्म का शरण, गुरु को शरण त्याग दे तो वह शान्ति के मार्ग में

ठीक प्रकार लग नहीं सकता। तो गुरुजन भी जिनको केवल आत्मकल्याणको ही धुन है। आत्मस्वरूप में मग्न होने का ही जिनका भाव है वे भी जिनको शरण ग्रहण करते हैं उन आचार्य परमेठियों का स्वरूप बताया जा रहा है कि उनको मान्यता क्या हो सकती है ? आचार्य परमेठियों की योग्यता बताने वाले गुण ३६ होते हैं। इन ३६ गुणों को रुढ़ि और किस्म से है। १२ तप, १० धर्म आदिकरूपसे, किन्तु ये तो मुनियों में भी सम्भव हैं। ये ३६ गुण आचार्य के खास न रहे। वे ३६ गुण क्या हैं उन्हें सुनिये ८ तो होते हैं आचारवान आदिक गुण—१२ तप, १० स्थितिकर्म और ६ आवश्यक कर्म। इनमें १० स्थिति कर्म और ८ आचारवत्त्व आदिक ये १८ गुण कुछ खास विशेषता रखते हैं।

४—उपाध्याय परमेष्ठीकी उपासना निरखिये चतुर्थ छन्द के एक प्रवचनांशमें—उपाध्याय परमेष्ठी की उपासना—सर्व आत्माओंमें जो परम पदमें स्थित हुए हैं उन्हें परमेष्ठी कहते हैं. ऐसे परमेष्ठी ५ होते हैं—अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु। इनमें अरहंत तो वीतराग सर्वज्ञ देह सहित भगवान का नाम है, सिद्ध परमेष्ठो शरीररहित वीतराग सर्वज्ञ का नाम है, आचार्य परमेष्ठी जो साधुवों में से विशिष्ट तप २ चरण वाले हैं, विशिष्ट क्षमता रखते हैं जो अपने संघ के सर्व साधुओं का आत्मपोषण कर सकते हैं वे आचार्य परमेष्ठी हैं। यद्यपि आचार्य परमेष्ठी को साधुओं के आत्म-पोषण में कुछ नहीं करना पड़ता। साधु ही स्वयं अपने कल्याण की भावना से आचार्य परमेष्ठी का शरण ग्रहण करते हैं और उनके आदेश म रहते हैं और इस घटना से आचार्य परमेष्ठी के सहज व्यवहार से ही साधुवों का आत्मपोषण होता उपाध्याय परमेष्ठी वे कहलाते हैं जो साधु ज्ञान में बड़े "जिनको ११ अंग, १४ पूर्वों में से भी किसी का परिज्ञान है अथवा सबका परिज्ञान है" जिनमें उतनी क्षमता आयी है कि मिथ्या-वादी पुरुषों के मदरूप घोर अन्धकार को ध्वंस करने वाले जिनके वचन निकलते हैं, अर्थात् इतना विशिष्ट ज्ञान कि कोई मिथ्या प्रलाप करें तो ऐसे पुरुषों का मद अंधकार दूर कर दें, ऐसे उपाध्याय परमेष्ठी होते हैं।

५— रत्नत्रयमूर्ति साधु परमेष्ठी के सत्संग में आइये, पंचम छन्द का एक प्रवचनांश—रत्नत्रयमूर्ति साधु परमेष्ठी से अभ्यर्थना—अब सिद्ध परमेष्ठो को भक्ति में कहते हैं कि जो सम्यग्दर्शनरूप दीप के प्रकाशक हैं जिनके दर्शनामात्र से भी निजतत्त्व से प्रभावित होकर मिथ्यात्व का वमन करके सम्यक्त्वका स्वाद लेते हैं, अथवा जो सम्यग्दर्शन दीप्ति से अन्त पूर्ण प्रकाशमान है, जिसका बहुत बड़ा भारी ज्ञान है, जिन को बड़ी लम्बी चारित्र पताका फहरा रही है ऐसे साधु के गुण हम सबकी रक्षा करें, वास्तव में आत्मा का हित है तो सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान व सम्यक् चारित्ररूप परिणाम में है। यह देह भी जिसको हम आप लोग लादे लादे फिर रहे हैं कल्पना तो करो कि जैसे अन्य लोग मर गये और उनके शरीर जला दिये गये, राख हो गये ऐसे ही राख होने योग्य तो यह हम आपका शरीर है। इसको कब तक लादें, कब तक इसे सम्हारें, कब तक श्रृंगार करें ? इस शरीर का तो मोह छोड़ दें, अर्थात् ऐसा ज्ञान बनालें कि मैं तो अकिञ्चन ज्ञानमात्र हूं यह देह मैं कतई नहीं हूं। यद्यपि देहका वर्तमान में ऐसा बन्धन है कि देह को छोड़कर मैं कहां जाऊं ? मुझ को छोड़कर देह कहां जाय ? (जब तक आयु का उदय है तब तक की बात कह रहे हैं आगे भी यही बात है संसार में इतनेपर भी जैसे दूध और पानी मिले हुए होने पर भी न्यारे न्यारे ही हैं इसी प्रकार यह जीव और यह देह इस समय एक क्षेत्रावगाही है तो भी न्यारे न्यारे ही हैं। इनका स्वरूप विपरीत हैं। आत्मा तो अमूर्त है। इसमें रूप, रस, गन्ध स्पर्श नहीं है और यह देह मूर्तिक है। एक दूसरे से बिल्कुल उल्टा है। आत्मा ज्ञान स्वरूप है। इस देह में ज्ञान का नाम निशान भी नहीं है, इसमें तो हड्डी, चाम, खून, मांस आदिक ये ही भरे पड़े हैं। इनका स्वरूप ज्ञान

तो नहीं है। और शुद्ध आत्माका स्वरूपज्ञान है। तो इस देहसे मैं अब भी न्यारा हूं। देह अज्ञान जड़ है और मूर्तरूप है। तो इस देह से यह मैं आत्मा अभी भी निराला हूं. ऐसा अपना सम्यग्ज्ञान हो. विश्वास हो और इसी स्वरूप में रमण करनेकी कोशिश करें तो यह तो है हम आपके लिये शरण इस भाव. को छोड़कर रत्नत्रय स्वरूप को छोड़कर अन्य कुछ भी शरण नहीं है।

६– मंगलमय प्रभु से मंगलरूप निर्वाण परमश्री के लाभ की कामना कीजिये, पढ़िये आठवें छन्द का एक प्रवचनांश–मंगलमय प्रभु से मंगलरूप निर्वाण परमश्री के लाभ की कामना–अर्हन्त सिद्ध आचार्य, उपाध्याय और सर्वसाधु ये सब मेरे मंगलरूप हों, और निर्वाणरूप परम लक्ष्मी को देवें। अरहंत–जिनके चार घातिया कर्म दूर हो गये हैं, जिनके रागद्वेष मोह का समूल नाश हो गया है, केवल ज्ञान के द्वारा जिनके ज्ञानमें सारा लोकालोक प्रतिभासित होता है, जिनके अनन्त ज्ञान अनन्त दर्शन, अनन्त सुख, अनन्त वीर्य प्रकट हुआ है ऐसे अरहंत देव हम आप सबको मंगल प्रदान करें। सिद्ध भगवान–जिन्होंने ध्यान रूपी अग्नि के द्वारा अष्ट कर्मों को दग्ध कर दिया है. और जो जन्म जरा मरण से परे हो गये हैं, जिन्होंने शाश्वत आत्मपद प्राप्त कर लिया है जो लोक के अग्रभाग में निवास करते हैं, शरीररहित केवल ज्ञान मात्र, ज्ञान ज्ञान ही जिनका स्वरूप है, ऐसे देहरहित निकल परमात्मा हम आप सबको परमपद प्रदान करें। यद्यपि भगवान अपने अनन्तज्ञान और अनन्त आनन्द का अनुभव छोड़कर भक्तों की पुकार में भक्तों के अतिशय में नहीं लगा करते है वे तो अपने ज्ञानानन्द में मग्न रहा करते हैं किन्तु भक्तजन उनके इस विशुद्ध स्वरुप को निहार कर स्वयं हो उस मार्ग में लगते हैं। और परमपद प्राप्त करते हैं तो जिनका आलम्बन लिया था कल्याण प्राप्त करने वाले जीवों ने निमित्त दृष्टि से यह कहा जाता है कि प्रभु ने इनका कल्याण किया और यह बात आलम्बन प्रसंग में युक्ति संगत है।

(२४६) सहज परमात्मतत्त्व प्रवचन

अध्यात्म योगी पूज्य श्री सहजानन्द जी वर्णी महाराज ने सहज परमात्मतत्त्वाष्टक स्तोत्र बनाया था। जिसमें परमब्रह्मस्वरूपका स्तवन किया गया है। इस पर जो प्रवचन हुए। उसमें से निरखिये चैतन्य तेज, पृष्ठ ९– चैतन्य तेज–मैं वह तेज हूं जिस तेजमें निरत होकर बहुतसे जीवोंने निश्चल सहजउत्तम आनन्द पाया, पावेंगे और पा रहे हैं, वह तेज एकस्वरुप है। बदल नहीं होती; मूल स्वरुप है। जो ध्रुव है, अनादि अनन्त शाश्वत है वह एक स्वरुप है। जैसे यहां पूछें कि पुद्गलमें, मानों किसी आममें जो ये रुप उत्पन्न हुए हैं काले, नीले, हरे, पीले आदिक और सड़नेपर हो गया सफेद तो एक ही आममें जो क्रमसे इतने रंग बदले हैं उन रुपोंके बदलने पर भी रुप सामान्य तो कुछ रहा। जैसे कोई आदमी कहीं गया, कहीं पहुंचा, कहीं अदल बदल किया है, किसी स्थानकी बदली को तो बदल करने वाला तो कोई एक ही है ना, तब तो बदल सम्भव है, तो इसी तरह जो ये रुप बदले हैं तो इन बदलनों को संतानमें कोई एक रुप शक्ति है ना ? वह रुप शक्ति कितनी तरह की है ? वह तो एक प्रकारकी है। अब उसमें जो परिणमन हुआ, पर्याय हुई, काला, पीला, नीला आदिक ये विभिन्न रुप बन गए, पर इनका जो आधारभूत स्वरुप है, शक्ति है वह एक स्वरुप है। इसी तरह हमारे आत्मामें जितनी भी बदल चलती हैं, परिणमन चलते हैं, अशुद्ध परिणमन तो प्रकट बदल है, शुद्ध परिणमनभी बदल है। तो उनका जो अशुद्ध शुद्ध परिणमन चलते हैं उनका मूल आधार कोई एक है ना ? पहिले अशुद्ध था अब शुद्ध हो गया तो कौन शुद्ध हो गया ? कोई दूसरा ? एक ही कुछ। तो इसी प्रकार मैं जो सर्व हूं वह एक हूं।

परमब्रह्म गुप्त है इसका तथ्य समझिये, पृष्ठ ३४, सुरक्षित सहज परमात्मतत्त्व–गुप्तका अर्थ सुरक्षित

भी है। गुप्तका असली अर्थ सुरक्षित है, छिपा हुआ नहीं। गुपू धातुसे गुप्त बना है, जिसका अर्थ रक्षण है, पर रक्षणको विधि ही यह है कि छुपा दिया जाय तो चीज रक्षित रह सकती है। किसी चीजको सुरक्षित रखना हो तो तिजोरीमें धर कर किवाड़ लगाया, ताला बन्द किया, लो चीज सुरक्षित हो गई, ऐसा हम सन्तोष और विश्वास करते हैं। तो सुरक्षित होनेका ढंग जो है वह छुपा हुआ समझनेके कारण लोगोंने गुप्त शब्दका अर्थ ही छुपा हुआ कर डाला, किन्तु गुप्तका अर्थ छुपा हुआ नहीं है, सुरक्षित है। तो इस सहज परमात्मतत्त्वको अभी छुपा हुआ गुप्तका अर्थ करके निरख रहे थे, अब जरा यह सहज परमात्मतत्त्व सुरक्षित है यह अर्थ ध्यानमें रखकरभी निरखिये। स्वतः सहज सिद्ध सत्त्वके कारण जो सत् है उस सत्का कोई निवारण कर सकता है क्या? उसमें कोई चोट पहुंचा सकता है क्या? तो मैं स्वयं सहज स्वतः सिद्ध जिस रूपमें हूं वहां तो मैं परमात्मतत्त्व हूं। उसका कोई निवारण नहीं कर सकता। वह सदा प्रकाशमान है। देखने वाले उसे देख सकते हैं। अज्ञानियोंको वह अव्यक्त है और ज्ञानियोंको सदा व्यक्त है, ऐसा गुप्त शुद्ध चैतन्यरुप मैं सहजपरमात्मतत्त्व हूं।

सहजपरमात्मतत्त्व शुद्ध चैतन्य है इसका मर्म परखिये, पृष्ठ ६०, सहजपरमात्मतत्त्वकी शुद्धि का भाव—शुद्ध चैतन्यस्वरुप सुननेके साथ यह दृष्टि न लायें कि जो अरहत सिद्ध भगवानका निर्मल शुद्ध चैतन्य स्वरुप है उसको दृष्टिका आश्रय करनेकी बात कही जा रही है। देखिये अनुपम अव्याबाध आत्मीय आनन्दके लाभके प्रसंगमें उपायकी बात चल रही है ना, सो यद्यपि अनेक अंशोंमें अरहंत सिद्धके विशुद्ध स्वरुपको भक्ति करना लाभदायक है, किन्तु साक्षात् इस विशुद्ध आनन्दके अनुभवनमें उस शुद्ध कार्य प्रभुके स्वरूपका चिन्तन भी बाधा दे रहा है तो इस प्रसंगमें उस शुद्ध स्वरुपकी दृष्टिका आश्रय करने की बात नहीं कही जा रही, किन्तु शुद्ध चित्स्वरुप जो अपने सत्त्वके कारण केवल अपने आपमें रहता है, परके सम्बन्धसे रहित, परसम्बन्धके प्रभावसे हुए प्रभावोंसे रहित, परसे असम्बद्ध निर्लेप केवल अपने आप के स्वरुपके ही कारण स्वतः सिद्ध जो कुछ चित्भाव है उस स्वरुपकी दृष्टि की बात कही जा रही है। जो शुद्ध अरहत सिद्ध प्रभु हैं उनका हमपर बड़ा उपकार है। वस्तुतः उनका उपकार नहीं, किन्तु उनके सम्बन्धमें जो हमने ज्ञान बनाया, ध्यान बनाया, हमारी इस परिणतिका हमपर उपकार है, पर उपकृत हुए व्यक्ति बहुमान उसको दिया करते हैं जिसका आश्रय करनेसे हमारा उपकार हुआ है। इतने पर भी अरहंत सिद्ध भगवानको भक्तिका उद्देश्य केवल भक्ति करते रहना नहीं है, किन्तु अपने आपकी उस विशुद्ध चित्शक्तिका अनुभव करना है।

(२४७) आत्मकीर्तन प्रवचन

महाराज श्री द्वारा रचित भारत विख्यात आत्मकीर्तन पर महाराज श्री ने प्रवचन किये उनमें आत्मोपासनाके लिए उमंग अनोखी भरी हुई है। उनमें से देखिये जो अपने स्वरूपको देखने चलता उसमें कोई बाधा नहीं दे सकता, पृष्ठ ३२—स्वरुपदृष्टिमें अन्यकी बाधकताका अभाव—स्वरुपदृष्टि कर लेने वाला पुरुष, आपने आपके सहज स्वरुपका अनुभवी पुरुष कभीभी यह विश्वास नहीं रखता कि मैं किसी अन्यका हूं या अन्यकोई मेरे हैं। मैं हू स्वतन्त्र हूं, हूं और परिणमता हूं। इससे आगे मेरा कुछ काम नहीं। इससे आगे मेरा कोई संबंध नहीं। जब कभी संबन्धभी मान रहे हैं, उस माननेकी स्थितिमें भी न मेरा कुछ है न किसीका मैं हूं। ऐसा सबसे निराला अपने साधारण और असाधारण गुणोंरुप मैं आत्मा हूं। अनुभव करके किसी क्षण यह तो परख लीजिये पूरा उत्साह करके, श्रम करके कि मैं वास्तवमें हूं क्या? इस हूं की समझमें बाधा डालने वाला कोई दूसरा नहीं है। जैसेकि कोई समझेकि भाई मेरी स्त्री उल्टी—उल्टी चलती है, मेरा पति योंही अटपट चलता है, मुझे चैन नहीं है, मेरा लड़का या मेरा पिता बिल्कुल

मुझसे फिरन्ट है, ये लोग मुझ पर रोब जमाते हैं। मैं क्या करूं ? कैसे मुझे शान्ति मिले ? अरे कोई कितना ही दबा रहा हो, कहां दबा रहा ? वह तो सिर्फ बात कर रहा, अपनेमें अपनी चेष्टा कर रहा, मैं अपने आपमें स्वयं में एक दृढ़ बनकर अपने में दृष्टि करूं तो इसमें बाधा देने वाला कौन ?

सिद्ध समान अपने स्वरूपका एक तथ्य पढ़िये, पृष्ठ ९८-अपने निरखने और निरखनेकी पद्धति-हम ज्ञाता द्रष्टा मात्र रहनेका यत्न करें, झट अपनेको सम्बोधते जायें, किन्हीं भी प्रसंगोंमें अपने आपको सम्बोधते रहें-तू तो केवल प्रतिभासमात्र सत् है, इससे अधिक तू कुछ नहीं है। निहार ले, इससे आगे तो कल्पनायें करके अपनेको बहुरूपिया बना रहा है। तू तो एकरूप है, तो उस बहुरूपियाकी कल्पना करके एकरूप प्रतिभासमात्र अपने आपको प्रतीति करे तो इस नातेसे यह परख सकता है कि मम स्व-रूप है सिद्ध समान। अपने आपको तो माना किसी पर्यायरूप बहुरूपियाके ढंगसे और उसमें फिर यह कहा कि मेरा स्वरूप सिद्धके समान है तो इसका अर्थ है कि अपन तो खुद गये बोते रुलते रहे, गिर रहे हैं साथ ही भगवानको भी इसमें पटक दिया, रुला दिया, वह भी मेरे हो समान है, पर इनकी इस मजाकसे सिद्ध प्रभुमें कोई आंच नहीं आयी, आंच इन्हीं मजाकियोंपर आयी। मैं सिद्ध प्रभुके समान हूं, यह बात तब ही विदित हो सकती, जब मैं अपने आपको कैवल्यके नाते केवल हो केवल अपने स्वरूपको निरखूं, समझूं, उपयोग लगाऊं। तो जहां शरीरका भान न रहे और रोमांच होता हुआ शरीर बना रहे, जहां केवल प्रतिभासमात्र अपनेको निरखें तो उस समय सत्य अद्भुत अनुपम आत्मीय आनन्द जागता है, तब उस अनुभवके बाद फिर विदित होता है कि ओह ! सिद्ध भगवान इस तरहका आनन्द निरन्तर लिया करते हैं। इससे भी उत्कृष्ट आनन्द अव्याबाध है उनका।

(२४८) परमात्म आरती प्रवचन

महाराज श्री द्वारा रचित एक परमात्म आरती है जिसमें मुख्यतया अविकारस्वरूप सहजपर-मात्मतत्त्वकी उपासना है, साथही पंच परमेष्ठीकी भी उसमें उपासना है। आत्मकीर्तन प्रवचनकी तरह इन प्रवचनोंमें भी आत्मोपासनाके लिये उमंग भरी हुई है।

(२४९-२५१) अनुप्रेक्षाप्रवचन १, २, ३ भाग

इसमें स्वामीकार्तिकेय प्रणीत कार्तिकेयानुपेक्षा ग्रन्थ पर पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराजके प्रवचन हैं। अध्रुवभावनाके प्रवचनोंमें अध्रुवभावनाका प्रयोजन क्या है, इसे पढ़ें ४ वी गाथाके एक प्रवचनांशमें, पृ० ७-अध्रुवतत्त्वके व्यामोहसे छूटकर ध्रुवतत्त्वके परिचयके लिए अध्रुवभावना-इस लोकमें दृश्यमान यह सारा समागम विनाशीक है। इस विनाशीक समागममें अनुराग करने से कर्मबन्ध है मिथ्यात्वकी बढ़वारी है, अपनी बरबादी है, ऐसा जानकर ज्ञानी पुरुष अनित्यताका मोह छोड़कर अपने नित्य ज्ञान-मात्र स्वरूपकी उपासना करते हैं। तो अनित्यभावनामें यह विचार चल रहा है कि यह सबकुछ अनित्य है। इस विचार के साथ, अनित्य जाननेके साथ यह भी प्रतीति करना चाहिए और भाव रखना चाहिए कि इन सबमें जो द्रव्य है वह नित्य है। उस द्रव्यके लक्ष्यसे कोई व्यवहार करता ही नहीं है। मैं जो आत्मद्रव्य हूं, नित्य हूं, यह मैं आत्मद्रव्य नित्य किसी से व्यवहार नहीं करता तथा कोई इस मुझ नित्य आत्मद्रव्यसे व्यवहार नहीं किया करता। जो कुछ पहिचान हो रही है, जो कुछ लड़ाई हो रही है, जो कुछ झमेला चल रहा है, वह सब इन दृश्यमान पुद्गल स्कंधोंके साथ और झमेला कर रहा है यह भूला भटका व्यामोही संसारी जीव। अपनेको दुःखसे छूटना है, शान्ति में आना है तो उसके लिए एक मात्र यही उपाय है कि हम अध्रुव परतत्त्वोंसे दूर हों और ध्रुव ज्ञानमात्र अंतस्तत्त्वमें प्रतीति बनायें।

अन्तः स्वरूपमें रहने से ही अपना शरण मिलेगा। पढ़िये २८ वीं गाथाका एक प्रवचनांश–पृ० ३५–परोपयोग वासना हटाकर अन्तः स्वरूपमें रमनेमें ही वास्तविक शरणलाभ–कुछ समझदार लोग भी दुर्गा, काली आदि की उपासना इसी मान्यताके रूपमें करते हैं, पर उसका अर्थ बदल देते हैं, जिससे स्पष्ट अटपटापन न आये। दुर्गा एक शक्ति है, उस शक्तिकी उपासना करना चाहिए, इतना तक भी अर्थ बनाकर मान्यता वही रखते हैं। कोई शक्ति है हमको सुरक्षित रखनेकी तो वह है एक आत्मानुभूति, उसी को दुर्गा मानें तो इसमें कोई विरोधकी बात नहीं है। शब्दके अर्थ से भी जाहिर होता है कि जो दुःखेन गम्यते, अर्थात् जो बड़े कष्टसे जाना जाय, पाया जाय, उसे दुर्गा कहते हैं। आत्मानुभूतिका पाना बड़ा दुर्लभ है। तो वह शक्ति मुझमें है, उसकी उपासना करें। तो लोग व्यामोहवश कुछ समझदार होने के कारण शब्द बदल देते हैं, पर उपासना उसी रूपमें करते हैं, श्रद्धा उसी रूपमें रखते हैं। कोई मुझसे भिन्न शक्ति है जो मुझे बरबाद करने पर भी तुल सकता है, उसे प्रसन्न करें यह भाव फिर भी उनका नहीं मिटता। यहां मणिभद्र आदिक अनेक नाम लेकर उन यक्षोंकी उपासना करते हैं पर सुरक्षित कोई नहीं रह पाता। यह सब मिथ्यात्व का ही तो माहात्म्य है कि कुछ समझदार होकर भी बुद्धि विपरीत हो गई। यह गहन मिथ्यात्व का ही परिणाम है जो अपनी रक्षा के लिए इन बाहरी देवी देवता, मंत्र, तंत्र, ग्रह आदि की मनौती में रहते हैं, इनका जाप जपते हैं, इनको अपना सर्वस्व समर्पित करनेका भाव रखते हैं यह सब एक बड़े व्यामोहका काम है। जान रहे हैं ये जीव कि यहां मेरा कोई शरण नहीं है, सब अशरण हैं, तिस पर भी शरण माननेकी भीतरसे वासना नहीं गयी। जिस चाहे किसी को शरण मानकर उसकी उपासना करने अपने आपको मृत्युसे बचने की प्रार्थना करते है, लेकिन मृत्यु है ही कहां जीवकी। स्वरूप निरखें और मृत्युपर विजय प्राप्त करें फिर इस जीव पर कोई संकट नहीं है।

संसार भावनाके प्रवचनोंमें गाथा ४१ का एक प्रवचनांश पढ़िये, विदित होगा कि संकट जो यहां मेहमानी कर रहे हैं वह सब अपने अपराधका प्रताप है, पृ० ६०–अपने अपराधसे संकटोंकी मेहमानी–संकट तो यह हमने अज्ञानसे पैदा किया है। जो मैं नहीं हूं उसे मानूं कि मैं हूं, तो संकट तो होगा ही। जब लोक में भी यह बात देखी जाती कि जो घर आपका नहीं है उसे मान लीजिये कि यह मेरा घर है, उस पर आप अपना अधिकार जमाना चाहें तो संकट न आयगे क्या? अथवा जो स्त्री आपकी नहीं है उसे आप समझ बैठें कि यह मेरी है और उसके संग आप वैसा ही व्यवहार करें तो संकट न आयगा क्या? जब लोकमें भी इस व्यवस्थाके अन्तर्गत जो चीज मेरी नहीं है उसे मेरी मानें तो दुःख आता है तो फिर परमार्थसे जो चीज मेरी नहीं है उसे मानें कि यह मेरा है तो वहां संकट तो आयगा ही। कर्मबन्ध होगा, बुरी तरह जन्म मरण करना होगा। इससे इस यत्नमें रहें, इस ज्ञानमें रहें, इस दृष्टिमें रहें कि मेरा तो मात्र मैं ज्ञानानन्दस्वरूप हूं। इस ज्ञानानन्दस्वरूपके सिवाय मेरा जगतमें कहीं कुछ नहीं है। जिस जिसको मैं अपना मानता आया था वे सब पर हैं। ऐसी भूलको निकालें और अपने आपके स्वरूपकी दृष्टि करें, अपने को पायें, अपने निकट रहें तो इससे संकट भी टलगे और तुरन्त भी बहुत बड़ा आनन्द होगा। इस आत्मानुभवको प्रशंसा करके हम उस आत्मानुभवका यत्न क्यों नहीं करते? आत्मानुभव होगा तो ये चतुर्गतिके दुःख टल जायेंगे, निर्वाणपद प्राप्त होगा। इसलिए आत्माके जानने में, आत्माके निकट बसनेमें अपना साहस बनायें और प्रयत्न करें।

संकटमोचक ज्ञानस्वभावकी दृष्टिमें आत्माका लाभ है, मनन कीजिये ७५ वीं गाथा के एक प्रवचनांशमें, पृ० १२३–संकटमोचक ज्ञानस्वभावकी दृष्टिमें आत्मलाभ–संकटमोचक ज्ञानस्वभावकी दृष्टि पानी है

कितनी कीमत चुकाकर ? अरे तन, मन, धन, वचन सब कुछ न्यौछावर करके भी अपने आत्मा के ही स्वरूपदर्शनकी बात पानी है। कुछ न रहो, केवल एक स्वरूपदर्शन हो तो समझिये कि मुझे सब कुछ वैभव मिल गया। मैं स्वरूपमें एक हूं, मेरा स्वरूप किला बहुत दृढ़ है। इसमें किसी दूसरेका प्रवेश नहीं हो सकता। यह मैं हूं, दूसरो चीजको दिलमें बसा बसा कर बोझ वाला बन रहा हूं। यह स्वयं निर्भर है, वह एक ज्ञानज्योतिस्वरूप है। उसमें बोझ नहीं है। विकल्पोंका बोझ हमने अज्ञानसे स्वयं लादा है। जब कभी प्रेमवश किसी की इसके अनुसार हम उलझनमें आ जाते हैं, चिन्तामें आ जाते हैं तो उस चिन्ताके मेटनेका जरा सा ही तो उपाय है। उस मोह को छोड़ दिया जाये बस सारी चिन्तायें दूर हो जायेगी। मोह छोड़नेके मायने है सत्य ज्ञानप्रकाश करलें। सच्ची बात जाननेमें कसूर है क्या ? सच्ची बात जाननेमें कुछ मेहनत हो रही है क्या ? कोई अड़चन है क्या ? सच्ची बात जानने की तो भीतरमें प्रकृति पड़ी हुई है। असत्यको देखकर हम राजी होते हैं सत्य समझकर। तो यथार्थतः सत्यका निर्णय करता है यही मोहका त्याग है। मैं मैं हूं, पर पर है, मेरा किसी परसे कोई लगाव नहीं है। मैं अपने उत्पाद व्यय किये चला जा रहा हूं। ऐसा यह मैं एक हूं, ऐसे अपने एकत्वस्वरूपको निरखना यही है आत्मकल्याणका विफल न हो सकने वाला एकमात्र साधन। उस एकपनेको मैं निहारूं और सर्वसंकटों से मुक्त होऊं।

अन्यत्वभावनाके प्रवचनोंमें प्रसंगवश बताया है कि लोगोंको यह भ्रम कैसे हो गया है कि इन्द्रियोंसे ज्ञान अथवा सुख मिलता है, पढ़िये ८१ वीं गायाके एक प्रवचनांशमें-पृ० १३९-१४०-इन्द्रियोंसे ज्ञान और सुख मिलनेका भ्रम होनेका कारण-हम संसारी जीव इस समय जो कुछ ज्ञान करते हैं और आनन्द पाते हैं उसमें आश्रय इन्द्रियका होता है और इन्द्रियका आश्रय होनेसे अर्थात् मति, श्रुत, ज्ञानकी उत्पत्ति तथा वैषयिक सुखकी उत्पत्ति इन्द्रियके कारण होनेसे जीवको यह भ्रम हो गया है कि ये इन्द्रियां जानती हैं, सुख भोगती हैं, इनके ही कारण मेरा ज्ञान और आनन्द है, लेकिन इस जीवमें स्वयं ज्ञान और आनन्द का स्वभाव न हो तो इन जड़ इन्द्रियोंके माध्यमसे भी क्या कोई ज्ञान और सुख पाया जा सकता है ? तो जो स्वय ज्ञानमय है, स्वयं आनन्दमय है उसको पकड़ होना चाहिए। यह जगत मायाजाल है, इसमें सब जीव ज्ञानमय हैं, स्वयं आनन्दमय हैं, उसकी पकड़ होना चाहिए। यह जगत मायाजाल है, इसमें सब जीव भूले भटके फिर रहे हैं। बाह्य पदार्थों में प्रीतिकी उत्सुकता होनेसे प्रायः ये जीव अंधेरे में हैं। यहां लोग बड़प्पन भिन्न भिन्न बातोंमें मानते हैं। कोई बड़ा अधिकारी बननेमें, कोई बड़ा धनिक बनने में, कोई ज्ञान वाला बननेमें, कोई किसी ही बातमें अपना बड़प्पन मानते हैं। सो ठीक है, लेकिन यह मैं आत्माराम तो उन सब विकल्पोंसे हटकर निर्विकल्प अविकार, सहजज्ञानस्वभावकी उपासनामें लगता हूं। इस मेरेका दुनियाके लोगोंसे सम्बन्ध क्या ? यहां कोई मदद कर सकने वाला नहीं है, किन्हीं के द्वारा हमारे प्रति किए जाने वाले सम्मान अथवा अपमानसे लाभ अथवा हानि क्या ? मैं तो एक सत् पदार्थ हूं, अतएव उत्पाद व्यय ध्रौव्यस्वरूप हूं, अपने आपमें उत्पाद व्यय ध्रौव्य किये चला जा रहा हूं, हां जगतका ऐसा निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है, विभावपरिणामोंसे परिणमने वाले पदार्थोंका ऐसा ही योग है कि अन्य पदार्थोंका आश्रय पाकरनिमित्त पाकर परिणतियां चल रही हैं, लेकिन सब कुछ चल रहा है, हो रहा है मेरा मेरे अकेलेमें ही। किन्हीं दो पदार्थोंका मिलकर एक परिणमन नहीं बनता।

अशुचि भावनाका लाभ कौन पा सकता है, पढ़िये ८९ वीं गाथा के एक प्रवचनांशमें-पृ० १५१-अशुचित्वानुप्रेक्षणका फलाधिकारी-यह अशुचिभावनाकी अन्तिम गाथा है। यहां आचार्य कहते है जो दूसरेके देहसे विरक्त हैं और जो अपने देहमें भी अनुराग नहीं करते हैं वे आत्माके स्वरूपमें रुचिवान होते हैं।

उनकी ही अशुचि भावना सफल है। यह देह गंदा है ऐसा परिज्ञान कर लेने से लाभ क्या? लाभ यही मिला कि देहकी अशुचिताको, असारताको जानकर प्रथम तो यह दूसरेके देहोंसे विरक्त हो, उन अशुचि देहोंमें क्या रमना? यह तो पालते पोषते हुए भी रहता नहीं है, किसी दिन मिटेगा। कुछ दिनोंमें मिटे या अभी जल्दी ही मिट जाय, मिटेगा अवश्य। तो इस मिट जाने वाले देहमें क्या अनुराग करना? तो परदेहसे विरक्ति हो। इस अशुचि भावना पाने वाले ज्ञानी पुरुष ने अपने देहमें अनुराग नहीं किया तब यह आत्माके स्वरूपमें लीन हुआ। उपयोग कहीं तो जायगा ही, कहीं तो लीन होगा ही। अब परदेहमें तो यह अनुरक्त होता नहीं, क्योंकि यथार्थ ज्ञान उत्पन्न हुआ है, अपने देहमें भी अनुराग करता नहीं, तो उपयोग कहां जायेगा? निःसंदेह ही अपने आपके स्वरूपमें लगेगा। तो जो इस प्रकार परदेहोंसे विरक्त होकर और निजदेहमें भी विरक्ति करके अपने आपके स्वरूपके उपयोगमें लगता है उसकी ही अशुचि भावना सफल है।

पापोदयमें हानि नहीं, किन्तु पापात्मा बननेमें अवश्य हानि है, इसका परिचय करिये ११० वीं गाथाके एक प्रवचनांशमें—पृ० २०९–पापोदयमें हानि नहीं, किन्तु पापात्मा होनेमें हानिका नियम—अब आप समझ लीजिये इस दृष्टिसे कि कोई नारकी नरकमें दुःख सह रहा है, सम्यग्दृष्टि नारकी है, एक तो उसकी स्थिति और एक यहां का पुण्यवान मनुष्य ऐसा जो कि विषयभोगोंमें लीन है और अपने विषय साधनों की वृद्धि के लिए, राजपाट शासनकी वृद्धिके लिए अनेक राजाओंको सताता है, अन्याय करता है और अपने विषयभोगोंमें मस्त रहनेकी धुन रखता है। तो इन दो जीवोंमें बुरा कौन है? वह नारकी बुरा नहीं है, उसके तो पापका उदय है, पर आत्मा पापी नहीं बन रहा, वह विवेकी है, सम्यग्दृष्टि है, आत्मतत्त्वका चिन्तन करता है। वह पापात्मा नहीं है और यह मनुष्य जो बहुत पुण्यके ठाठमें रहता, अपने विषयसाधनोंके बढ़ानेके लिए अन्याय भी करता है, यह पापका आत्मा है। तो पापात्मा होने से हानि है, पापका उदय भोगनेसे हानि नहीं है।

परमनिर्जरा किसके होती है, यह जानकर उस पदके लिए अपना कुछ कर्तव्य निभाइये, मनन कीजिये ११४ वीं गाथाका एक प्रवचनांश—पृ० २१९–निर्जराका फल अधिकार आदि जानकर अपने कर्तव्यके पालन का अनुरोध—जो समताके सुखमें लीन होता हुआ बार बार आत्माका स्मरण करता है वह इन्द्रिय कषाय पर विजय करने वाला महाभाग भव्य जीव शान्तिका अनुभव करता हुआ उत्कृष्ट निर्जरा को करता है। इस जीवने पहिले कषाय और योगके कारण अनेक कर्मबन्ध किया था। आजके समयमें हम आपके जीवके साथ या जगतके किसी भी जीवके साथ कितने भवोंके कर्म बंधे हुए लदे हैं इसका उत्तर हजार लाख भव तकके कहनेमें भी नहीं बनता। अनगिन भवों तक के भी बन्धे हुए कर्म इस जीवके साथ लगे हुए हैं। उन उदय प्राप्त अनेक निषेकोंका उदय तो आ रहा है एक साथ और जिनका उदय आ रहा है वे कर्म करोड़ों वर्षों के बन्धे हुए हैं, तब जीव पर कषायोंका बड़ा आक्रमण है निमित्तदृष्टिसे कर्मोंका और उस समय जीव जो अपने स्वरूपसे च्युत होकर परभावोंमें लगता है यह आक्रमण इस जीव पर इस आत्मदेवपर कितना भयंकर आक्रमण है जो संसारमें जन्म मरण कराने का कारण बनता है। तो उन कर्मोंकी निर्जरा किए बिना हम आपका भला नहीं हो सकता। यहां चार दिन की यह चांदनी दिख रही है, कुछ वैभव प्रसंग आ रहे हैं जिनमें अपने मनको स्वच्छन्द बनाया जा रहा है, हठ की जा रही है, ऐसा यह समय तो स्वप्नवत् हो जायेगा यहांके किए हुए पापके फलमें इसे जन्म मरणकी परम्परामें बहना होगा। तो कर्तव्य यह नहीं है कि जैसा मनने चाहा वैसा ही हठ करके अपना मन खुश रखना। कर्तव्य यह है कि ऐसे सुकृत करना जिन कार्योंसे कर्मोंके निषेक निर्जीर्ण हों।

लोककी जानकारी व भावनासे हमें क्या क्या शिक्षायें प्राप्त होती हैं, इसका परिचय पाइये संक्षेपमें १२१ वीं गाथाके एक प्रवचनांशमें, पृ० २३५–लोकभावनासे प्राप्त शिक्षायें–लोकभावनामें जो कुछ भी वर्णन चलेगा उससे बहुत शिक्षा मिलेगी। जैसे लोकके विस्तार का वर्णन आयगा तो वहां हमें यह शिक्षा मिलती है कि इस लोकमें कोई प्रदेश ऐसा नहीं बचा–जहां यह जीव अनन्त बार जन्म मरण न कर चुका हो। लोकमें कोईपदार्थ ऐसा नहीं बचा जिसे इस जीवने अनन्त बार भोगा न हो। लोककी रचना जानकर पुण्यका फल कहां विशेष मिलता है, पापका फल कहां विशेष मिलता है, यह स्पष्ट जानकारी रहती है। लोग कह तो देते हैं कि पाप करने का फल नरक गतिमें जन्म लेना है, पर नरक कहां है, किस प्रकारसे नारकी जीव रहते हैं, यह सब वर्णन समझने के बाद यह बात ज्ञानमें और स्पष्ट रहती है कि पापके फलमें नियमसे नरक जाना पड़ता है। लोग कह तो देते हैं कि पुण्य का फल है स्वर्गमें जन्म लेना, पर स्वर्ग कहां है, किस प्रकार से स्वर्ग में रहने वाले जीवोंकी देह है, कैसी आयु है, कैसा उनका भोगोपभोग है, इन सब बातोंका जब परिचय मिलता है तो यह बात ज्ञानमें अधिक स्पष्ट हो जाती है कि पुण्यका फल स्वर्गमें उत्पन्न होना है, धर्मका फल सिद्ध होना है। धर्म नाम है आत्माके स्वभावका अवलोकन करना और उस स्वभावमें ही रमना और उनका फल है सिद्ध होना। तो वे सिद्ध कहां रहते हैं, कैसी उनकी स्थिति है ? इसका परिचय होने पर धर्मका फल सिद्ध होना है और उन सिद्धोंमें ऐसा अनन्त आनन्द है ये सब बातें जाननेमें आसानी हो जाती है।

जिन कीट पतिंगे आदि जीवोंके मन नहीं उनके आहार आदि कैसे हो जाते हैं, इस शंकाका निवारण कीजिये व मनका कार्य समझ लीजिये १४० वीं गाथाके एक संक्षिप्त प्रवचनांशमें, पृ० २६५–संज्ञाओं व मन का कार्य–देखिये जिनके मन नहीं है ऐसे जीवोंके भी आहार, भय, मैथुन, परिग्रह ये चार संज्ञायें हैं। कोई यह संदेह न करे कि इन दोइन्द्रिय आदिक जीवोंमें मन नहीं है तो ये आहार कैसे ढूंढ़ते और करते हैं ? आहार आदिकके करने के लिए मनकी आवश्यकता नहीं है। मन होगा जिसके तो वह जरा कला पूर्वक आहार आदिक कर लेगा, इतना ही अन्तर होगा। पर मनका काम आहार कराना नहीं, यह तो संज्ञाओंका काम है। मनका काम तो असली हित और अहितका विवेक कराना है। यह काम करने योग्य है, इस प्रकार का हेय उपादेयका विवेक कराना मनका काम है। अब यदि कोई मन वाला जीव मनका शुद्ध उपयोग नहीं करता और इन्द्रियविषयोंमें ही मनको लगाकर अशुद्ध उपयोग करता है तो इसमें उसका ही दोष है। मन तो कहते हैं कि जिसके द्वारा हित अहित का विवेक किया जा सके। करे अथवा न करे, यह उसकी कषायके अनुसार है।

कोई दार्शनिक मानते हैं कि आत्मा और ज्ञान भिन्न भिन्न पदार्थ हैं, उनकी समीक्षा देखिये १७९ वीं गाथा के एक प्रवचनांशमें–पृ० ३२७–३२८–ज्ञानको जीवसे सर्वथा भिन्न मानने पर गुणगुणिभावकी असंभवता–यदि ज्ञान जीवका सर्वथा ही भिन्न हो तब तो उसमें गुण गुणी भेद भी नहीं बन सकता। याने न इस तरह भी जीवका और ज्ञानका सम्बन्ध माना जाय कि जीव जनक है और ज्ञान जन्य है। जीव ज्ञान को उत्पन्न करता है इतना भी सम्बन्ध नहीं माना जाय, अथवा ज्ञान आत्माका स्वभाव है यह भी सम्बन्ध नहीं माना जाय अथवा ज्ञान विभाव होगा, जीवका ही एक अंग है इस तरह भी न माना जाय। किसी भी प्रकार से सम्बन्ध न माना जाय तो फिर जीव और ज्ञानमें यह जीव गुणी है और यह ज्ञानगुण है यह बात दूर से ही खतम हो जायगी। जीवमें कईबातें जन्य जनक भावसे देखी जाती हैं और कई तत्स्वभावरूपसे देखी जाती है। और इसमें कोई तत्त्व स्वभाव और विभाव रूपसे देखा जाता है। जैसे जीव क्रोध क्षमा आदिक भावोंको उत्पन्न करता है। मतिज्ञान श्रुतज्ञानादिक अनेक भेद

हैं, उनका उत्पादक है जीव, यों भी देखा जाता है। ज्ञान आत्माका स्वभाव है, यों भी परखा जाता है। उन ज्ञानोंमें कोई ज्ञानस्वभावज्ञान है, कोई ज्ञान विभावज्ञान है और वहां ज्ञानस्वभाव एक स्वभाव है और जितनी भी उसकी व्यक्तियां हैं वे सब परिणतियां हैं। यों अनेक प्रकार के जीवमें अभेदरूप से गुण देखे जाते हैं, परिणतिरूपसे भी देखे जाते हैं, लेकिन जो गुण और गुणोको सर्वथा ही जुदा समझे उसने तो इतना कहने का भी अवसर नहीं रखा कि ज्ञान गुण है और जीव गुणी है। देखिये—जो अत्यन्त भिन्न चीज है उसमें गुण गुणीका सम्बन्ध नहीं घटित होता। जैसे हिमालयपर्वत कहां पड़ा है और विन्ध्याचलपर्वत कहां पड़ा है ? दूर दूर हैं, सैकड़ों कोशों का अन्तर है तो क्या वहां यह कहा जा सकता है कि विन्ध्याचलका ता है हिमालय या हिमालयका विन्ध्याचल या इनमें एक गुणी है एक गुण है, जो अत्यन्त भिन्न चीज है उसमें गुण गुणोकी बात नहीं देखी जाती, इसी तरह यह जीवको न्यारा माना और ज्ञानगुणको न्यारा माना तो उनमें भी गुण गुणी भेद सिद्ध नहीं होते।

आत्मा स्वयं तीर्थ है, इसका परिचय प्राप्त करिये १९१ वीं गाथाके प्रवचनमें—पृ० ३३९—रत्नत्रयरूप दिव्य नौका द्वारा संसारसे तिर सकनेका सामर्थ्य—जीवका अस्तित्त्व न मानने वालोंको स्थूलदृष्टिसे जीव की सत्ता समझाते हुए अन्तमें यह कह रहे हैं कि देखो यही जीव रत्नत्रयसे सहित होता है तो वह उत्तम तीर्थ कहलाता है। तीर्थ जावो, तीर्थकी वन्दना करो, इसका सीधा अर्थ यह है कि इस आत्माका जो विशुद्ध स्वरूप है, उसकी ओर उस विशुद्ध स्वरूपकी उपासनामें जो लगे हुए रत्नत्रयधारी पुण्यात्मा हैं उनके स्वरूपको उपासनामें ज्ञानको ले जावो। यही उत्तम तीर्थ है। ऐसा पुरुष क्यों तीर्थ है कि वह रत्नत्रयरूपी अलौकिक नौकासे संसारको पारकर लेता है। उसेतीर्थ कहते हैं। यह रत्नत्रय आत्माका ही धर्म है इसलिए इस आत्माको ही तीर्थ कहते हैं। तीर्थ यह आत्मा इसलिए भी है कि स्वयं भी संसारसे तिर जाता है ओर दूसरोंको भी संसारसे तिरानेमें निमित्त होता है। परमात्मा अरहंतका उपदेश यदि आज इस परम्परामें न मिलता तो हम आप आत्माके रहस्य को कैसे जानते ?तो देखिये—उन प्रभु तीर्थंकरोंने हम लोगोंके तिरानेका भी साधन बना दिया ना, तो ऐसे पुण्यवान जीव स्वयं भी संसार से तिर जाते हैं, दूसरेको तिरानेमें कारण भी होते हैं। पुण्यवानके मायने यहां समझिये पवित्र स्वभावमें रहनेवाले पवित्र आत्मा। यही एक उत्कृष्ट तीर्थ है जहां पूर्ण शान्ति प्राप्त हो सकती है। जो शान्तिका उपाय बना सकता है उस जीवका निषेध ये चार्वाक लोग कह रहे हैं। तो जो जीवके रहस्यको ही नहीं जानता वह अपना कल्याण कैसे कर सकता है ? जीव है और उसे अपने आपके सत्य स्वरूपमें अनुभविये, इससे ही संसारके सारे संकट दूर हो सकते हैं।

(२५२–२५४) अनुप्रेक्षाप्रवचन ४, ५, ६ भाग

स्वामि—कार्तिकेय विरचित कार्तिकेयानुप्रेक्षाकी १९२ वीं गाथासे ३२६ वीं गाथा तक पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराजके प्रवचन हैं। शान्तिमार्गदर्शक पद्धतिसे जीवोंके भेद बताकर उनका विवरण इस प्रकरणमें है. उसकी भूमिकामें उन भेदोंकी विधि देखिये १९२ वीं गाथाके एक प्रवचनांशमें, पृ० १—जीवोंके भेदोंका शांति—मार्गदर्शक पद्धतिसे वर्णन—शान्तिके लिए एकप्रधान साधन है पदार्थका यथावत स्वरूप समझ लेना। जीव की शान्तिका सम्बन्ध ज्ञानके साथ है, धन वैभव इज्जत और और भी बाहरी चीजें समागम कुटुम्ब इन के साथ नहीं है। ज्ञान सही होगा, अपना मन वश होगा ज्ञान द्वारा अपने आपमें बसे हुए सहज भगवानके दर्शन किये जाते होंगे तो वहां तृप्ति है, सन्तोष है, शान्ति है और जहां ज्ञान नहीं है वहां पूर्वकृत पुण्यके उदयसे चाहे कुछ वैभव मिल जाय, चाहे कितनी ही लौकिक प्रतिष्ठा हो जाय, किन्तु वहां शांति नहीं है। शान्तिके लिए किसी भी बाहरी कमी विघ्नरूप नहीं होती। अपना परिज्ञान हो तो वहां शांति

नियमसे है। उस ही ज्ञानके प्रकरणमें लोकानुप्रेक्षामें ६ द्रव्योंका किस किस प्रकारसे स्वरूप है? यह बतानेके लिए यहां दूसरी प्रकार से जीवोंका भेद प्रभेद बताया जा रहा है। जीव तीन प्रकारके होते हैं– बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा। जीवकी यह त्रिविधता सबने स्वीकार की है। कोई जीव, आत्मा, ब्रह्म, इस प्रकारसे तीन मानते हैं, कोई अज्ञानी, ज्ञानी और प्रभु ये तीन प्रकार कहते हैं। यह त्रिविधता सबको माननी पड़ेगी जो जीवतत्त्वमें आस्था रखते हैं।

अन्तरात्माके भेद नहीं होते, इससे सम्बन्धित प्रवचनोंमें से पढ़िये १९४ वीं गाथाका एक प्रवचनांश–अन्तरात्माके कुलमद व जातिमद नहीं होता है, पृ० १७–१८–अन्तरात्माके कुलमद व जातिमदका अभाव–किन्हीं को कुलका मद रहता है। मेरा बड़ा श्रेष्ठ कुल है। अरे श्रेष्ठ कुल है तो इसके लिए है कि हम धर्म-पालनमें आगे बढ़ें। अगर कुलका मद करके इस तरह अपने को हीन कर देते कि आगे ऐसा कुल न मिले, नीच कुलमें, नीच योनियोंमें जन्म लेना पड़े, यह होता है कुलमदका प्रभाव। किन्हीं को अपनी जातिका मद रहता है, अजी मैं ऐसे घरानेका हूं, मेरी मां बड़े घराने की है, कभी दरिद्रता आ जाय तो अपने कुलकी और जातिकी अपने पहिले हुए उन पुरुषोंकी तारीफ करके अपने आपको श्रेष्ठ मानना चाहते हैं। यह सब क्या है? ये सब कुल और जातिके मद हैं। ज्ञानी जीव जानता है कि मेरा कुल तो मेरा चैतन्य है, मेरी जाति तो मेरी चेतना है और यह बाहरी कर्मोदयवश पर्यायमें कुल और जाति का व्यवहार है। मैं हूं एक चैतन्यस्वरूप। मेरा वंश है चैतन्य। मेरा कुल चलाने वाला मैं ही हूं. लोग सन्तानसे यह आशा रखते हैं कि यह मेरा कुल चलायगा, मेरा वंश चलायगा, लेकिन यह विदित है कि मेरा वंश तो केवल चैतन्यभाव है, यही मेरा साथी रहेगा। जो अन्वय रूपसे हो वही तो वंश है। उस चैतन्यवंशको पवित्र करने वाला मैं ही मात्र तो हूं। दूसरा कोई मेरे वंशको पवित्र नहीं कर सकता। ज्ञानी जीव को कुल और जाति का मद नहीं रहता। ये अन्तरात्माके लक्षण बताये जा रहे हैं कि वह कितना नम्र होता, कितना भक्त होता है और कैसी उसके अंतरंगमें अभिप्राय रहता है। जो अंत:स्वरूप को जानता है, अन्तस्वरूपको मैं आत्मा हूं, इस तरह मानता है उसे अन्तरात्मा कहते हैं।

पुद्गलका स्वरूप जानकर व पुद्गलकृत उपकार जानकर शिक्षा यह लेनी है कि पुद्गलकृत उपकार में मेरी प्रीति न जगे, इसका दिग्दर्शन कीजिये २०९ वीं गाथाके एक प्रवचनांशमें–पृ० २३–उद्दिष्टाहारत्यागका तथ्य–उद्दिष्ट त्यागके विषयमें कुछ लोग भ्रान्त धारणायें बनाते हैं, सोचते हैं कि साधुका ख्याल करके ही तो लोग साधुका आहार बनाते हैं, तब दोष लगता होगा, लेकिन उद्दिष्ट दोषके सम्बन्धमें मुख्य बात यह जानना चाहिए कि यदि घरमें केवल साधुके लायक भोजन अलगबना लिया जाय और सबके लिए अशुद्ध भोजन बनाया जाय, जैसा कि रोज रोज भोजन बनता रहता है अलग चूल्हेपर, तो वहां उद्दिष्ट दोष आता है। यदि एक दिन भी और ऐसा संकल्प करके भी कि मैं साधुको आहार दूंगा और सभी लोग शुद्ध भोजन करें, किसी दूसरे चूल्हे पर अलग से भोजन न बने तो उस भोजनमें उद्दिष्टका दोष नहीं होता। अतिथि सम्विभाग व्रत जब दूसरी प्रतिमामें लिया गया है तो वहां सोचता ही है यह व्रती कि मैं अतिथिका आहार देकर भोजन करूंगा तो क्या सोचने मात्रसे उद्दिष्ट दोष होता है? जिसने अतिथि सम्विभाग व्रत लिया वह रोज ही सोचता है, रोज ही संकल्प करता है वह तो उसका व्रत है। दोषकी बात होती तो व्रत क्यों कहलाता? तो उद्दिष्ट दोषका मूल साधन है कि वह केवल साधुको भोजन अलग से बनाये। और, अपने लिए, परिजनोंके लिए अलग बने तब उसके लिए बना हुआ भोजन उद्दिष्ट है। जिस भोजनको सब करेंगे, लेकिन यह नियम न रखें कि यह चीज साधुको ही दी जायगी, वहां दोष नहीं है। वहां तो यह विचार है कि आज यह भोजन तो सभी के लिए है। हां

आज इतनी विशेषता कर दी कि सारा भोजन शुद्ध बनेगा। तो ऐसा करने में उस श्रावकको दोष न आयगा। जो भोजन केवल साधुके लिए बनता है वह उद्दिष्ट दोषयुक्त भोजन है।

पुद्गलका स्वरूप जानकर व पुद्गलकृत उपकार जानकर शिक्षा यह लेनी है कि पुद्गलकृत उपकारमें मेरी प्रीति न जगे, इसका दिग्दर्शन कीजिये २०९ वीं गाथाके एक प्रवचनांशमें–पृ० ८०–पुद्गलकृत कार्योंमें प्रीति न करने का निश्चय–इस प्रकरणको सुनकर हमें इस निर्णयमें आना चाहिए कि जो जो पुद्गलके उपकार हैं उनमें मेरेको प्रीति नहीं करना है। जीवन और मरण भी पुद्गलके उपकार बताये गये थे, उस ही से सम्बन्धित यहां मरणकी बात कह रहे हैं कि मरण नाम है किसका? प्राणापान जो क्रिया चल रही है, श्वांस लेने और फेंकने की जो क्रिया चल रही है इस क्रिया विशेषका विच्छेद हो जाय यह क्रिया समाप्त हो जाय तो इसी का नाम मरण है। जीवने आयुके उदयसे भोग पाया था, अब उस आयुके क्षयसे सम्बन्धित यह प्राणापान क्रियाका विच्छेद हो जाना वही मरण है। तो ये सुख दुःख जीवन मरण आदिक सब पौद्गलिक हैं, क्योंकि मूर्तिमान कारणके प्राप्त होने पर ही ये चीजें उत्पन्न होती हैं।

कालका स्वरूप जानकर अपने को अपने हितमें क्या निर्णय बनाना है, इसका निर्देश लीजिये २२० वीं गाथाके एक प्रवचनांशमें–पृ० ११०–१११–व्यवहारकालके स्वरूपको जानकर अपनी समझ बनानेकी सत्य दिशाका निर्देश–इस अनादि अनन्तकाल परिणमनको जान कर अपने आपके बारे में भी कुछ समझना है। मैं अनादि से हूं, अब तक हूं, अनन्त काल तक रहूंगा। तो अब तक को जो हमारी स्थितियां गुजरी हैं वे सब खोटी गुजरी हैं। जन्म–मरण किया है। मरण किया, जन्म लिया, सारी जिन्दगी मोहमें, कषायोंमें बितायी, फिर मरण किया। मोहमें जन्मे, मोहमें जिये और मोह में ही मरे, ऐसी स्थिति जीवोंकी अब तक चली आयी है, लाभ कुछ नहीं मिला। अब अपना कर्तव्य यह है कि अपनी स्थिति को बदलें, कुछ सत्य ज्ञानकी ओर आयें, अब तक जो हुआ सो हुआ, उसका क्या खेद करें? जो होना था हुआ। अब जान लीजिये कि जो कुछ भी अभी तक हुआ वह मिथ्या था, मायारूप था, तो यह जानकारी हमारे हितके लिए है। अब आगे की कुछ सुध लें, बीती हुई बातोंको मायारूप समझें, इन लौकिक समागमोंमें हर्ष विषाद न मानें। यह तो संसार है। यहां पुण्य तथा पाप के फल मिलते हैं तो पुण्यके फलमें हर्ष न मानना और पापके फलमें विषाद न मानना। उस पुण्य पाप फलोंके ज्ञाता द्रष्टा रहें और अपने आपमें ऐसा निर्णय बनायें कि मैं तो इन सबसे निराला एक विशुद्ध चैतन्यमात्र हूं। ये जो व्यवहारकाल बताये जा रहे हैं इनसे निराला अपने आपको एक शुद्ध द्रव्यमें निरखना यही हम आप का आगे बढ़नेका उपाय है।

वस्तुका स्वभाव देखिये, वस्तुमें कारणकार्य परम्परा किस प्रकार चल रही है, २२३ वीं गाथाका एक प्रवचनांश देखिये–पृ० ११६–११७–वस्तुमें कारणकार्य परम्परा–इस गाथामें यह बताया जा रहा है कि तीनों काल में वस्तुके कार्यकारण भावका निर्णय उस ही वस्तुमें है। वस्तुके पूर्व और उत्तर परिणमन को लेकर तीनों कालमें प्रत्येक समय कार्य कारण भाव है। इस समय जो पर्याय बन रही है वह पूर्व पर्याय का तो कार्य है और उत्तर पर्यायका कारण है। प्रत्येक अवस्था कार्यरूप भी है। पदार्थ में प्रति समय उत्पाद व्यय ध्रौव्य होता है और तीनों के तीनों एक ही समयमें होते हैं। जैसे कोई मनुष्य मरकर देव बना तो अब देव पर्यायमें निर्णय करिये–उत्पाद हुआ देव का, व्यय हुआ मनुष्यका और ध्रौव्य रहा जीवका। तो देवका स्वभाव, मनुष्यका अभाव और जीवकी ध्रुवता ये तीनों एक समयमें हैं कि नहीं? प्रत्येक पदार्थका उत्पादव्ययध्रौव्यका स्वभाव है। जैसे मिट्टीका पिंडोला घड़ा बन जाता है, तो जब वह

घड़ा बन गया तो घड़ेका सद्भाव, पिंडोलेका अभाव और मिट्टीकी ध्रुवता ये तीनों एक समय में हैं। तो पर्यायका उत्पाद विनाश होकरभी जो मूलभूत वस्तु है उसकी सदा ध्रुवता रहती है, और यों तीनों कालमें प्रत्येक द्रव्यमें कारणकार्यकी परम्परा चल रही है। पूर्वपर्यायसंयुक्त द्रव्य उत्तरपर्यायका कारण है, उत्तर पर्याय पूर्व पर्यायका कार्य हैं, अर्थात् द्रव्यमें निरन्तर अवस्थायें चलती रहती हैं।

ज्ञानानुभवसे ही संकट समाप्त होते हैं, इसका मनन कीजिये, २२७ वीं गाथाका एक प्रवचनांश पृ० १३०—ज्ञानानुभवसे संकटोंका परिसमापन—जैसे कछुवा नदी में अपनी चोंच उठाकर चल रहा हो तो उसकी चोंचको चूंटने के लिए अनेक पक्षी उस पर मंडराते हैं। वह कछुवा व्याकुल होकर यत्र तत्र भागता है, पर रे कछुवे तेरे में तो वह कला है कि यदि तू उसका उपयोग करले तो तेरे समस्त दुःख दूर हो जायेंगे। तेरी कला यह है कि तू चार अंगुल पानीमें डूब तो जा, बस फिर ये पक्षी तेरा क्या कर सकेंगे? तो इसी प्रकार यह जीव अपने उपयोगको चोंचको बाहर निकाले हुए है। बाह्य पदार्थों का चित्त में बसाये है। उनमें रमता है, उनसे ममता करता है, तो चारों ओरसे यह संकटोंमें घिरा हुआ है। अनेक प्रकार के विकल्प बन गये हैं, विकल्प ही संकट हैं। तो क्यों व्यर्थ में ये संकट उठाये जा रहे हैं? हे आत्मन्, तुझ में तो ऐसी सहज कला है कि तेरे सारे संकट अभी दूर हो जायें। अपने भीतर में दृष्टि कर, अपने को सबसे निराला देख, केवल ज्ञान में अपना अनुभव कर। मैं ज्ञानमात्र हूं, यही मेरा सर्वस्व है, बस उस ही मैं तू रम जा, अन्य कोई विकल्प मत कर, किसी को अपना मत मान, ज्ञान का अनुभव होगा, परमशान्तिका अनुभव होगा। तेरे सभी संकट अभी मिट जायेंगे। तो संकट दूर करने के लिए ही वस्तुका यथार्थ ज्ञान किया जाता है। यथार्थ ज्ञानको हमें बड़े प्रयत्न करके प्राप्त कर लेना चाहिए।

भारतके ध्वजमें वस्तुस्वरूपका कैसा चित्रण मिलता है, पढ़िये २३८ वीं गाथा का एक प्रवचनांश—पृ० १६०-१६१—भारतध्वजमें वस्तुस्वरूपका चित्रण—अब ध्वजा की बात देखिये तो यह भी वस्तुस्वरूपका संकेत करता है। उसमें तीन रंग हैं—लाल हरा और सफेद, और वह भी हरा लाल रंग तो अगल बगल है, बीचमें सफेद रंग है। साहित्यिक रचनामें कविजन बताते हैं कि हरा रंग उत्पादका सूचक है, लोग कहते भी तो हैं कि अमुक व्यक्ति खूब हरा भरा है, मायने खूब घर द्वार धन वैभव आदिक से भरा पूरा है। तो हरे रंगका वर्णन चलता है उत्पादमें, लाल रंगका वर्णन चलता है विनाशके लिए। कोई युद्ध हो जाय, खून की धारायें बह जायें, हत्यायें हो जाये तो वहां कविजन लाल रंगका वर्णन करते हैं। अब देखिये—बीचमें जो सफेद रंग है उसका मतलब है कि वस्तु ध्रुव है। ध्रुवता, स्थिरताका वर्णन श्वेतरंग से किया जाता है। श्वेत रंग से सम्पर्क रखनेवाले लाल और हरे रंग हैं, याने वस्तुकी स्थिरतासे सम्पर्क रखनेवाले उत्पाद और व्यय अगल बगल में हैं। यों प्रत्येक वस्तु उत्पाद व्यय ध्रौव्यात्मक है। उस ध्वजाके बीचमें २४ आरोंका एक चक्र बना हुआ है। वह सूचक है २४ तीर्थंकरोंका। वह २४ आरोंका चक्र संसारके प्राणियोंको यह सूचना देता है कि ऐ संसारके प्राणियो, यदि तुम सुखी होना चाहते हो तो चतुर्विशति तीर्थंकरोंसे प्रणीत वस्तुस्वरूपको सत्य श्रद्धा करो. क्योंकि शांति मिलेगी इस मोह के मेटनेसे। और यह मोह कब मिटेगा, जब कि हम यह समझ पायेंगे कि प्रत्येक पदार्थ अपने अपने स्वरूपमें है, किसीका किसीभी पदार्थमें गमन नहीं है। ऐसी वस्तुकी स्वतंत्रताका जब बोध होगा तब ही हम वस्तु के सत्य स्वरूपको परख सकेंगे।

काल और लोकके विस्तृत परिमाणको जानकर हम क्या लाभ उठायें इसका दिग्दर्शन कीजिये २५४ वीं गाथाके एक प्रवचनांशमें—पृ० १७८—काल और लोक की विशालताके परिचयका लाभ—यदि इस लोक के

विस्तार को ही जानने लगे तो मोह मिटनेका अवसर यहां भी मिल जाता है कि अरे इतना बड़ा लोक है, इस लोकके सामने जहां हम आप लोग आज पैदा हैं या परिचय हैं वह कितना बड़ा है, क्या चीज है ? समुद्र के सामने एक बिन्दु बराबर भी नहीं है। तो इतनी सी जगहमें मोह बनाकर यह क्या कोई विवेक है। कालका प्रमाण जब उपयोगमें आता है कि काल अनादि अनन्त है और यह जीव भी अनादि अनन्त है। तो अनादि कालसे यह जीव पर्याय धारण करता आया है, अनन्त काल तक यह जीव रहेगा। तो कितना काल व्यतीत हो गया उसके सामने यह १००–५० वर्षका जीवन कुछ गिनती भी रखता है क्या ? कुछ भी तो गिनती नहीं रखता। इतनी सी देर के लिए परिजनोंमें, कुटुम्बमें, वैभवमें उपयोग दे देकर उन्हें अपना मान मानकर यह जीवन गुजार दिया जाता है। इससे इस जीवनको कुछ लाभ मिल जायगा क्या ? केवल बरबादी ही मिलेगी। मगर मोहवश यह जीव अपनी इस कुटेवको नहीं छोड़ सकता। इस ज्ञानका आदर नहीं कर सकता, जो इसका परम वैभव है।

ज्ञानका ज्ञेयमें व ज्ञेयका ज्ञानमें गमन न होकर भी निज निज प्रदेशमें रहने वाले ज्ञान और ज्ञेयोंका व्यवहार परखिये २५६ वीं गाथाके एक प्रवचनांशमें–पृ० १८०–ज्ञानका ज्ञेयमें व ज्ञेयका ज्ञानमें गमन न होकर भी निज निज प्रदेशमें रहने वाले ज्ञान और ज्ञेयोंका व्यवहार–ज्ञान ज्ञेय पदार्थोंके पास नहीं रह जाता, और ज्ञेय पदार्थ भी ज्ञानके प्रदेशमें नहीं आते हैं। पदार्थ अपनी ही जगह ठहरा है, ज्ञान अपने ही धाम में ठहरा है, पर ज्ञान हो रहा, जानन हो रहा, इस कारण ज्ञान और ज्ञेयका व्यवहार चलता है। कुछ दार्शनिक ऐसे भी हैं कि जो ज्ञानमें पदार्थोंका जानना मानते हैं। पदार्थ ज्ञानमें पहुंचते हैं। वे अपना आकार सौंपते हैं तब ज्ञान जानता है। तो न इस तरह ज्ञेय ज्ञानमें आता है और न ज्ञान ज्ञेयमें जाता है, दोनों अपने अपने प्रदेशमें ही ठहरे हुए हैं, किन्तु जाननेका काम है ज्ञानका और जानना होता है ज्ञेय का। इसी रूपको लेकर ज्ञान और ज्ञेयका व्यवहार चलता है। जो जाने सो ज्ञान, जो जाना जाय सो ज्ञेय कहलाता है। ज्ञान ज्ञेयमें नहीं जाता, ज्ञेय ज्ञानमें नहीं जाता।

बोधिदुर्लभ भावनामें मनुष्यभवकी दुर्लभता बताकर ३०० वीं गाथाके एक प्रवचनांशमें पढ़िये. मनुष्यभवमें यदि पशुसम जीवन बिताया जाय तो यह पागलपन ही है. पृ० २३१–पशुसम जीवनमें नरभवयापनकी उन्मत्तता–अरे इन विषयोंमें तो ये पशु पक्षी भी रत हैं। उन कुत्ता, बिल्ली, मुर्गी, कबूतर आदिकी योनियों में रहकर भी तो ये विषयोंके काम किये जा सकते थे। देखिये उन पशु पक्षियों के भी बच्चे होते हैं, मनुष्योंके भी बच्चे होते हैं, वे भी अपने बच्चोंमें मोह रखते हैं, मनुष्य भी अपने बच्चोंमें मोह रखते हैं। तो अब बताइये मनुष्यभवमें विवेकका कौन सा काम किया ? रही एक धन वैभवके बढ़ानेकी बात, तो जितना इन पशु पक्षियोंको साधन जोड़ने की जरूरत है उतना वे जोड़ते ही हैं। हां मनुष्यने उनकी अपेक्षा अधिक लगाव लगाया उन साधनोंमें, पर यह लगाव इस मनुष्यके हितके लिए नहीं है। वह तो अशान्ति के लिए है। जितना अधिक वैभव होता जायगा उतनी ही अधिक अशान्ति होती जायगी। उसकी कोई हद नहीं है कि कितना वैभव हो जाय तो शान्ति मिलेगी। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श शब्द आदि की प्रवृत्तियोंमें ही व्यापार करते हैं, इसी चक्र में पड़कर यह मनुष्य जीवन लोग व्यर्थ ही गवा देते हैं। उस तरह से जैसे कि भस्म के लिए अमूल्य रत्नको जला देते हैं।

सम्यग्दृष्टिकी अन्तः शान्तिरूपताका दिग्दर्शन करें ३२६ वीं गाथाके एक प्रवचनांश, पृ० २९६–सम्यग्दृष्टि के अन्तः शान्तिरूपता–अनेक गुणों से सम्पन्न वह सम्यग्दृष्टि जीव अपने आपमें जब चाहे आनन्द पाता रहता है। अब जरा गर्दन झुकाया देखलो, अपना अपना देव अपने आपके अन्दर है। जिस समय बाह्य दृष्टिको बन्द करके अपने अंतरंगकी दृष्टिसे देखेंगे तो अपना भगवान वह कल्याणकारी देव अपने आप

में मिलेगा। जिसने अपने आपमें बसे हुए परमात्मदेवका दर्शन किया है वह पुरुष तो पवित्र है और जो अपने आपके इस परमात्मदेवका परिचय नहीं कर सकता वह चाहे शरीरकी कितनी ही शुद्धि करे या अन्य पदार्थकी शुद्धि करे तो वह शुद्धि व सिद्धि नहीं है। चाहे अपवित्र हो चाहे पवित्र हो, किसी भी अवस्था में हो, जो अपने परमात्मतत्त्वका स्मरण करता है वह बाहरमें भी पवित्र है और अंतरंगमें भी पवित्र है। शान्ति मिलेगी तो अपने आपके परमात्मस्वरूपके उपयोगमें ही मिलेगी, बाहरी पदार्थोंको चित्तमें बसानेसे शान्ति न मिलेगी।

(२५५–२५६) आप्तमीमांसाप्रवचन (अष्टसहस्री प्रवचन) १, २ भाग

इस पुस्तकमें पूज्य श्री समन्तभद्राचार्य–विरचित आप्तमीमांसा ग्रंथकी ३ कारिकाओंपर पूज्य श्री विद्यानन्दि स्वामि द्वारा अकलंक वृत्ति पर की गई अष्टसहस्री टीका के माध्यमसे पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराजके प्रवचन हैं। इस ग्रन्थमें किस विषयका वर्णन है और उसका क्या प्रयोजन है तथा प्रथम कारिका में क्या कहा गया है इन सब बातोंका एक संक्षिप्त प्रवचनांश में परिचय कीजिये–पृ० २–आप्तगुणज्ञ समन्तभद्र का सप्रयोजन आप्तमहत्त्वके निरीक्षणका प्रयास–इसका प्रचलित नाम देवागमस्तोत्र भी है। इसका कारण यह है कि इस रचनामें सर्वप्रथम देवागम शब्द आया है। जैसे कि आदिनाथ स्तोत्रका प्रचलित नाम भक्तामर स्तोत्र है, क्योंकि आदिनाथ स्तोत्रमें सर्वप्रथम भक्तामर शब्द आया है, पर विषय इसमें क्या है ? उस दृष्टिसे इसका नाम आप्तमीमांसा युक्तियुक्त विज्ञात होता है। आत्महित चाहने वाले मोक्ष–मार्गके अभिलाषी पुरुषोंको यह अतीव आवश्यक है कि वे सम्यक् और मिथ्या उपदेशको पहिचान कर सकें। जो पुरुष सच्चे और झूठे उपदेशको पहिचान नहीं कर सकते, वे कल्याणमार्ग में चल ही नहीं सकते। तो सम्यक्उपदेश और मिथ्याउपदेशकी जानकारी बने, इसके लिए आप्तमीमांसाको रचनेवाले आचार्य श्रद्धा और गुणज्ञतासे गद्‌गद्‌ होकर अपने हृदयमें उनके प्रति बड़ी पूज्यता भाव रखते हैं और उस उल्लासमें यहां सर्व प्रथम यह कह बैठते हैं कि हे प्रभो, तुम इस कारण बड़े नहीं हो कि आपके पास देव आते हैं, आपका आकाशमें गमन होता है। आप पर चामर आदिक विभूतियां ढरती हैं प्रभु के गुणोंसे अन्तः परिचित समन्तभद्र देव सब जान रहे हैं वह मर्म कि प्रभु गुणोंके कारण ही महान हैं। लेकिन यह कह रहे हैं कि इन बाहरी बातोंसे तुम हमारे लिए महान नहीं हो क्योंकि ये बाहरी बातें तो मायावी पुरुषोंमें भी देखी जा सकती हैं,

द्वितीय कारिका में शरीरादिमहोदयतासे भी भगवानकी महत्ता नहीं है, इसका परीक्षण किया है उसका परिचय पाइये एक संक्षिप्त प्रवचनांशमें, पृ० ९–१०–विग्रहादिमहोदय से भी प्रभुता व महत्ताके अभावके कथन की सिद्धि–आगममें हेतु बताया गया है, केवल इस बुनियादपर साध्यको सिद्ध किया जाय तो यह सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि आगमकी प्रमाणता अभी प्रमाणसे प्रसिद्ध नहीं है। जब तक प्रमाणसे आगमका प्रामाण्य सिद्ध न हो पाले तब तक उस आगमके आधार पर किसी भी बात की सिद्धि नहीं की जा सकती। जैसे कि देवता आते हैं आकाशमें गमन होता है, चामर आदिक विभूतियां प्रभुके निकट हैं ऐसा हेतु देकर जिसका कि वर्णन आगममें किया है उस आगमका उपदेश मात्रका हेतु देकर प्रभुकी महत्ता सिद्ध नहीं की जा सकती है, इस ही प्रकार अन्तरंग और बहिरंग शरीरादिकका अतिशय दिखाकर कि देखो मलमूत्र स्वेद रहित दिव्यशरीर मायावियों के तो नहीं बन सकता, ऐसे अन्तरंग शरीरका अतिशय दिखाकर भी प्रभुकी महत्ता सिद्ध नहीं की जा सकती, क्योंकि यह भी वर्णन आग–माश्रित है। और, जो आगमाश्रित हेतु है वह दार्शनिकोंकी दृष्टि में प्रतिवादीकी दृष्टिमें प्रमाणभूत नहीं है तो अप्रमाण आगमसे, उसमें बताये गये हेतुसे किसी साध्यको सिद्धि नहीं की जा सकती। तो

यहां भगवान परमात्मा अंतरंग शरीरके अतिशयसे भी स्तवन करने के योग्य याने महान नहीं है। तो जैसे भगवान, तुम मेरे लिए देवागम आदिकके कारण पूज्य नहीं हो, महान नहीं हो इसी प्रकार देहके अंतरंग अतिशयोंके कारण भी आप महान नहीं हो।

तीसरी कारिकामें बताया है कि तीर्थ चलाने से भी कोई महान नहीं बन जाता, क्योंकि तीर्थंकृतोंके आगमोंमें परस्पर विरोध है। इस विषयमें हुए कुछ प्रवचनांश देखिये ताकि वर्णनीय विषयका अन्दाज हो सके—श्रुतिवाक्यके अर्थो का विसंवाद बताने का मूल प्रसंग—तीर्थंकृतसमयोंमें परस्पर विरोध होने से आप्तता नहीं, यह बात सुनकर मीमांसक सिद्धान्तानुयायी खुश हो गये और बोले समन्तभद्र तुम बिल्कुल ठीक कहते हो। जितने तीर्थ चलाने वाले लोग हैं उनके प्रणेता सर्वज्ञ नहीं हैं, आप्त नहीं हैं। इसी कारण तो हम कह रहे हैं कि सिर्फ अपौरुषेय वेद ही प्रमाण है। कोई आप्त नहीं, कोई देव नहीं। तो समंतभद्र अथवा उनके भक्त इस ही श्लोकका दूसरा अर्थ लगाकर मीमांसकका निराकरण करता है। मीमांसकके मतका भी विश्लेषण बता दीजिये—तीर्थकृतसमय। तो तीर्थंकृत समय मायने तीर्थ को नष्ट करने वाला कृतकृन्ततिमें भी बनता है, तीर्थकृतन्ति छिनत्ति इति तीर्थकृत, जो तीर्थका छेदन करता है उसे तीर्थंकृत कहते हैं। उनके समयके मन्तव्यको तीर्थकृतसमय कहते हैं, सो जो तीर्थको मानते ही नहीं, उनके सम्प्रदायोंमें भी परस्पर विरोध है, इसलिए उनके भी प्रमाणता नहीं है। कैसे विरोध है? सो सुनिये। जैसे एक वाक्य बोला गया कि स्वर्गाभिलाषी पुरुष अग्निहोत्र यज्ञ करें तो इसका अर्थ कोई मीमांसक प्रवक्ता तो भावना अर्थ लगाता है, कोई इसका एक परमब्रह्मस्वरूप अर्थ लगाता है। लेकिन उन्हीं में परस्पर विरोध है, फिर उनका भी सिद्धान्त प्रमाणिक कैसे बना? तो इस प्रसंगमें भावना अर्थ मानने वाला नियोगवादियोंका खण्डन कर रहा था, और नियोगवादका खण्डन करते करते जब एक झलक निकली कि ब्रह्मस्वरूप अर्थ है तो इस पर नियोगवादी यह कह रहे कि चलो भला हुआ। ब्रह्मरूप अर्थ निकल आया तो अब भावनारूप तो न रहा। सो भावना अर्थ मानने वाला भट्ट यह सिद्ध कर रहा कि श्रुतिवाक्यका अर्थ ब्रह्म (विधि) नहीं है।

चार्वाक केवल प्रत्यक्ष (संव्यवहार) को प्रमाण मानते हैं, इसी बलपर वे सर्वज्ञत्वका अभाव सिद्ध करते हैं, किन्तु ऐसा सिद्ध करने वाले सर्वज्ञत्वको सिद्ध कर बैठते हैं, देखिये एक प्रवचनांश चार्वाकसिद्धान्तसमीक्षणके प्रसंग का—पृ० १५२—प्रत्यक्षसे सर्वज्ञका अभाव मानने वालोंके सर्वज्ञत्वकी प्रसक्ति—देखिये, ये चार्वाक एक इन्द्रियप्रत्यक्ष प्रमाणसे सब सर्वज्ञ हिन पुरुष समूहको जान रहे हैं तो क्या कर रहे कि यह इन्द्रिय प्रत्यक्ष ही एक प्रमाण है। इस सिद्धान्तका घात कर रहे, लो ये प्रत्यक्षप्रमाणसे इन्द्रियज्ञानसे सारी दुनिया को जान रहे हैं। जब सारी दुनियाको जान लिया कि यहां सर्वज्ञ नहीं है तभी तो निषेध करेंगे कि कोई सर्वज्ञ नहीं है। तो सर्वज्ञ नहीं है, यह जानने के लिए पहिले सारी दुनिया जाननी होगी, इस तरह जब सारी दुनिया जान ली तो ये चार्वाक ही सर्वज्ञ हो गये अथवा इन्द्रिय प्रत्यक्ष का विषय सारी दुनियाका जानना बन गया। सो दोनों ही सिद्धान्तोंका जो कि चार्वाक लोग मानते हैं घात हो गया। जो स्वयं स्वीकार नहीं किया गया, अथवा जो अनिष्ट है चार्वाकोंको, ऐसा अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष होता है कुछ। और, अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष चार्वाकको इष्ट है नहीं। इन्द्रिय प्रत्यक्षके द्वारा सर्वज्ञ रहित पुरुष समूहका ज्ञान बन सकता। अतः अतीन्द्रिय प्रत्यक्षके बिना इन्द्रिय प्रत्यक्षके द्वारा, अन्य प्रमाणके अभावका ज्ञान जैसे नहीं बनता इसी प्रकार इन्द्रिय प्रत्यक्षके द्वारा सर्वज्ञरहित सारे विश्वका भी ज्ञान नहीं बनता। और यदि मान लिया जाय कि ये चार्वाक सब जगह सब समय जीवोंमें सर्वज्ञपने के अभावके प्रत्यक्षसे जान रहे हैं तो इसके मायने यह हुआ कि ये चार्वाक स्वयं सर्वज्ञ हो गया और ऐसा मानने पर चार्वाकका यह

कथन निराकृत हो जाता है कि सर्वज्ञ अथवा अनुमान आदिक प्रमाण है ही नहीं। स्वयं सर्वज्ञ बन गया। सर्वज्ञका अभाव कैसे सिद्ध करोगे ? अथवा प्रत्यक्ष ही एक प्रमाण है ऐसा जो चारुवाकका अभिप्राय है वह निराकृत हो गया। जब अन्य देश अन्य लोक अन्य पुरुषोंके प्रत्यक्षको स्वयं प्रत्यक्षसे प्रमाण मान लिया तो वही सर्वदर्शी बन गया।

(२५७–२५८) आप्तमीमांसाप्रवचन (अष्टसहस्री प्रवचन) ३, ४ भाग

इसमें आप्तमीमांसाकी चौथी कारिकासे लेकर ८ वीं कारिका तक पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराजके प्रवचन हैं। आप्तकी मीमांसामें आप्तपनेके परीक्षणका मूल आधार यह स्थापित किया गया है कि जहां दोष और आवरण (अज्ञान) रंच भी रहे और न कभी हो सके वह आप्त है। इसकी सिद्धि के प्रवचन ४ वीं कारिकामें हैं। उनमें से एक प्रवचनांश देखिये–पृ॰ ३–४ दोषों और आवरणोंकी हानिकी निःशेषताकी साधना–इस अनुमानमें सिद्ध यह किया जा रहा है कि दोषावरणकी हानि किसी पुरुषमें निःशेषरूपसे होती है अर्थात् किसी आत्मामें दोषों व आवरणोंका पूर्णतया हानि है, बिल्कुल अभाव है। यह यहां सिद्ध किया जा रहा है। जो वादीको इष्ट हो, वादी प्रतिवादी दोनों को अबाधित हो, किन्तु प्रतिवादी का जो असिद्ध हो वह साध्य कहलाता है। तो दोष व आवरणकी सामान्य हानि वादी भी मान रहा है, प्रतिवादी भी मान रहा है, किन्तु किसी जगह पूर्णतया हानि हो जाती है, दोष और आवरणोंका अभाव हो जाता है; यह यहां सिद्ध किया जा रहा है, क्योंकि प्रतिवादी को समग्ररूपसे दोषों व आवरणोंका अभाव होने के सम्बन्धमें विवाद है। तो इस अनुमान प्रयोगमें दोषावरणकी हानि यह तो पक्ष है और कहीं सम्पूर्णतया हानि है, यह साध्य है और हेतु दिया गया है यह कि क्योंकि इसका अतिशायन पाया जाता है। अर्थात् हानि की अधिकता पायी जाती है। कहीं हानि कम है, किसी पुरुषमें हानि अधिक है, किसी पुरुषमें उससे भी अधिक हैं तो यह सिद्ध है कि कहीं हानि पूर्ण रूपसे भी है। इस अनुमान प्रयोग में दृष्टान्त दिया गया है कि जिस किसी स्वर्ण पाषाण आदिकमें किट्ट कालिमा आदिक बहिरंग अंतरंग दोषोंका क्षय पूर्णतया है, सो यह दृष्टान्त प्रसिद्ध ही है। अनुमानप्रयोगमें दृष्टान्त यह दिया जाता है कि जो वादी और प्रतिवादी दोनोंके द्वारा सम्मत हो। दृष्टान्त एक असिद्ध बात को सिद्ध करने के लिए माध्यम होता है। सो ये दृष्टान्तवादी और प्रतिवादी दोनोंके प्रसिद्ध है। तो जैसे स्वर्णपाषाण आदिकमें किट्टकालिमाकी हानि बढ़ती हुई देखी गई है तो कहीं सम्पूर्ण रूपसे भी हानि है। यह बात भी देखी जाती है। इसी कारण दोष और आवरणोंकी हानि भी बढ़ बढ़ कर जब हम लोगोंमें दोष आवरण की हानि अधिक प्रतीत हो रही है तो यह किस परम पुरुषमें सम्पूर्णतया है इस बात को सिद्ध करती हैं। इसका भाव यह है कि रागादिक भाव होना और पदार्थों का ज्ञान न होना याने अज्ञान आदि होना दोष है ? ज्ञानावरण दर्शनावरण मोहनीय व अन्तराय ये आवरण है तो जब भावोंमें यह बात देखी जा रही है कि रागादिक दोष और ज्ञानावरणादिक आवरण ये किसी में कम हैं किसी में और कम हैं। जब कमतीका अतिशय देखा जा रहा है तो उससे यह सिद्ध होता है कि कोई परम पुरुष कोई आत्मा ऐसा भी होता कि जिसमें रागादिक दोष रंच मात्र भी नहीं होते और ज्ञानावरणादिक भी रंच मात्र नहीं रहते। इस कारिकामें यह सिद्ध किया जा रहा है कि कोई पुरुष होता है ऐसा जो वीतराग और सर्वज्ञ हो, इसकी सिद्धि इस कारिकामें करनेके बाद अगली कारिकामें यह बताया जायगा कि हे वर्द्धमान प्रभो सकलपरमात्मन, हे अरहंत देव, ऐसा आप्तपना आपमें ही होता, अतः आप ही आप्त हो और इसकी कारणपूर्वक सिद्धि की जायगी। यह सामान्यतया सिद्ध किया जा रहा है कि कोई आत्मा ऐसा अवश्य है जिसमें अज्ञान रागादिक दोष रंचमात्र भी नहीं रहते।

कोई दार्शनिक सर्वज्ञ को ही नहीं मानते हैं उनको ५ वीं कारिकामें अनुमानप्रयोग द्वारा सर्वज्ञका अस्तित्व सिद्ध किया गया है। उसमें हेतुके समर्थक प्रवचनोंमें से एक प्रवचनांश पढ़िये–पृ० ४८–अनुमेयत्व हेतुमें संदिग्धानेकान्तिकत्व दोषका परिहार–अब यहां मीमांसक शंका करते हैं कि ये सूक्ष्म आदिक पदार्थ अनुमेय हैं तो रहे आयें। अनुमान द्वारा अनुमेय हो तो और श्रुतज्ञानके द्वारा अधिगम्य हो तो अनुमेय रहा आयें और किसीके प्रत्यक्ष न रहे, इसमें कौन सी बाधा आती है? जिससे कि अनुमेय हेतु देकर इन पदार्थों को किसीके द्वारा प्रत्यक्षभूत है यह सिद्ध किया जा रहा है। उत्तरमें कहते है कि ऐसा कथन तो अग्नि आदिक सभी साध्यों में लगाया जा सकता है। अग्नि वगैरह अनुमेय तो हों और किसी के प्रत्यक्ष न हों, इसमें क्या दोष होगा? जब केवल बोलने से ही किसी की सिद्धि असिद्धि मान ली जाती है तो यह भी कह सकते हैं और इस तरह फिर अनुमान प्रमाण का उच्छेद हो ही जायगा, क्योंकि सभी अनुमानों में यह उपालम्भ समान है। ऐसा कह सकते हैं कि धूम तो रहो कहीं पर अग्नि मत रहो। इस तरह सभी अनुमानों में साध्य का सन्देह, साध्य का अभाव यह सब कहा जा सकता है, किन्तु अनुमान का उच्छेद तो नहीं। तब अनुमान से भी प्रबल रूपसे मानना होगा कि सूक्ष्म अन्तरित और दूरवर्ती पदार्थ किसीके प्रत्यक्ष हैं।

सामान्यतया किसी के निर्दोषत्वकी व अतएव असर्वज्ञत्वकी सिद्धि करने के पश्चात् छठी कारिकामें बताया है कि वह निर्दोष आत्मा तुम ही हो, क्योंकि आपका वचन युक्ति और शास्त्रके अविरुद्ध है। अब इस ही अविरोधके सम्बन्धमें एकप्रवचनांश पढ़िये-पृ० ७०–७१–आर्हत वचनमें अविरोधताके कारणका प्रतिपादन–अब प्रभु युक्ति और शास्त्रोंसे अविरुद्ध वचन वाले हैं यह कैसे सिद्ध हुआ? अथवा इसको यों अलंकार रूपमें समझिये कि यहां मानो परमात्मा अरहंत ही कह रहे हों कि मेरा वचन युक्ति और शास्त्रसे पूर्णतया अविरुद्ध कैसे है? जिससे कि मेरा वचन प्रमाणसिद्ध माना जाय? तो इसके उत्तरमें इस ही कारिकामें कहा गया है कि जिस कारण से आपका इष्ट मंतव्य, उपदेश, सिद्धान्त मोक्ष आदिक प्रसिद्ध प्रमाणसे बाधे नहीं जाते हैं इससे सिद्ध है कि आपका वचन युक्ति और शास्त्रोंसे अविरुद्ध है। किस प्रकार अबाधित है इस सम्बन्धमें प्रयोग करते हैं। जिस सम्बन्धमें जिसका अभिमत तत्त्व प्रमाणसे बाधा नहीं जाता वह उस सम्बन्धमें युक्ति और शास्त्रोंसे अविरुद्ध वचन वाला कहलाता है। जैसे कि रोगके स्वरूप और रोगके कारणके सम्बन्धमें स्वास्थ्यका स्वरूप और स्वास्थ्यके कारण के जानने बताने के सम्बन्धमें वैद्य युक्तिशास्त्रसे अविरोधी वचन वाला है, क्योंकि उसकी कही हुई बात प्रमाणसे बाधित नहीं होती है, अभिमत तत्त्व प्रमाणसे बाधित नहीं होता है। जो प्रभुने मोक्ष, मोक्षका कारण, संसार, संसारका शरण का स्वरूप कहा है वह किसी प्रमाणसे बाधित नहीं होता। इसका कारण हे प्रभो, अरहंत, तुम मुक्ति और संसारके कारण तत्त्वरूपादिकके सम्बन्धमें युक्ति और शास्त्रोंसे अविरुद्ध वचनवाले सिद्ध होते हो। इस प्रकार जब यह सिद्ध हो गया कि मुक्ति, संसार, वस्तुस्वरूपमें ये सब मुक्ति और शास्त्रोंसे अविरुद्ध हैं। तो भगवानका वचन युक्ति और शास्त्रोंसे अविरुद्ध है, यह सिद्ध हो जाता है। जो बात कही गई है वह बात यदि सत्य उतरती है तो वचनका अविरोध कहा जाता है। जैसे कोई पुरुष कुछ भी वचन बोलता है देखो वह वहां सीप पड़ी है और परख लिया कि यह सीप ही है, तो सब कहने लगते हैं कि इस पुरुषका ज्ञान सही है, अविरुद्ध है। तो ज्ञानकी प्रमाणता बाह्य वस्तुकी परखके बाद आया करती है। यद्यपि ज्ञान तो जिस समय हुआ उस ही समय प्रमाणभूत है, लेकिन लोकनिर्णय तो तब होता है जबकि ज्ञानमें किसीके सम्बन्धमें जैसा जाना गया वैसा स्वरूपमें पाया गया हो। तो प्रभु आपकी दिव्यध्वनिमें, आपकी परम्परासे प्रणीत उपदेशमें जो बात कही गई है वैसा ही बाह्य पदार्थों में निरखा गया है। अतएव आपका वचन युक्ति और शास्त्रसे अविरोधी है।

एकान्त वादमें वस्तु एकधर्मात्मक मानी गई है, किन्तु तथ्य यह है कि चाहे वस्तुका सर्वस्व जानकर उसे अव्यक्त कह दो या अनेकधर्मात्मक कह दो, सो तो काम बन जायगा, लेकिन एक वस्तुमें अविरोधरूपसे रहने वाले सप्रतिपक्ष अनेक धर्मोंमें से एक धर्मका ही आग्रह करनेमें वस्तुत्व सिद्ध नहीं होता, इस प्रसंगका एक प्रवचनांश पढ़िये-पृ० १६१-१६२-पदार्थके अनेकान्तात्मकत्वकी सिद्धिका समर्थन-यहां यह समझ लेना चाहिए कि जैसे चित्रज्ञान अनेक विशेषात्मक होता हुआ एकात्मक माना गया है, क्षणिकवादियोंने, क्योंकि उसमें नील पीत आदिक प्रतिभास अनेक हैं, अतएव अनेकात्मक है। और, वह ज्ञान एक अपने स्वरूपसे है अतः एकात्मक है। तो जैसे चित्रज्ञानको अनेकात्मक एकस्वरूप माना है ऐसे ही चेतन भी सुखाद्यात्मक एक स्वरूप है अर्थात् उनमें सुख ज्ञान दर्शन आदिक अनेक गुण हैं फिर भी अपने स्वरूपसे एक है। सो केवल अन्तस्तत्त्वको ही यों न निरखना कि यह अनेकात्मक एकस्वरूप है, किन्तु वर्णसंस्थान आदिक स्वरूपस्कंध भी एकात्मक हैं। स्कंध अपने स्वरूपसे एक पिण्डरूप है, किन्तु उनमें वर्ण, गन्ध, रस, आ-कार आदिक अनेक बातें हैं। तो यों बहिस्तत्त्व भी एकानेकात्मक है। अन्तस्तत्त्व भी एकानेकात्मक है। विश्वमें ऐसा कोई पदार्थ नहीं जो सर्वथा किसी एकान्तस्वरूप हो और इस कारण यह बात जो कही गई है वह पूर्णतया मुक्त है कि विश्वमें ऐसा कुछ भी नहीं है जो रूपान्तर से विकल हो, अर्थात् किसी पदार्थमें सत्त्व समझा जा रहा हो तो वह असत्त्वसे विकल नहीं है। सत्त्व है तो साथ ही वहां असत्त्व भी है। किसी अपेक्षासे अस्तित्व भी है तो अन्य अपेक्षासे नास्तित्व भी है। तो जैसे न कोई केवल सत्त्वरूप है न कोई केवल असत्त्व रूप है। इस ही प्रकार कोई भी पदार्थ न केवल नित्यरूप है और न केवल अनित्यरूप है। जैसे पदार्थ एकानेकात्मक है, सदसदात्मक है इसी प्रकार नित्यानित्या-त्मक है। इसी तरह यह भी जानना कि कोई भी पदार्थ अद्वैत एकान्तरूप नहीं है और साथ ही द्वैत आदिक एकान्तरूप भी नहीं है। चाहे अन्तस्तत्त्व हो, सम्वेदनात्मक पदार्थ हो, चाहे बहिस्तत्त्व हो कोई भी सर्वथा एकान्त स्वरूप दार्शनिकों ने प्रतिज्ञा की है कि पदार्थ केवल क्षणिक है, केवल नित्य है, केवल अद्वैत है अथवा द्वैत है। यों किसी भी प्रकारसे एकान्तस्वरूप कुछ भी नहीं है।

एकान्तवादका विस्तृत निराकरण करने के प्रसंगकी भूमिका रूप ८ वीं कारिका में बताया है कि एकान्तका आग्रह करने वालोंके सिद्धान्तमें पुण्य, पाप, परलोक आदि कुछ भी सिद्ध नहीं हो सकते हैं, उदाहरणार्थ ८ वीं कारिकाका एक प्रवचनांश देखिये-पृ० २००-२०१-एकान्तवादके आग्रहमें पुण्य पाप क्रिया परलोक आदिकी सिद्धिका अनुपपत्ति-हे नाथ, जो एकान्तवादके आग्रहसे व्यासक्त हैं ऐसे वादी एकान्त आग्रह के ही कारण अपने ही वैरी हैं और दूसरोंके भी बैरी हो रहे हैं। उन एकान्तके आग्रहीयोंमें किसीके भी पुण्य पापकर्म और परलोककी सिद्धि नहीं होती। कर्म तीन प्रकारके होते हैं। शारीरिक क्रियाभूत कर्म, वाचनिक क्रियाभूत कर्म, मानसिक क्रियाभूत कर्म। इसी को लोग कहते हैं और यह तीन प्रकार का योग, वचनयोग, मनोयोग ये आश्रव कहलाते हैं। आश्रव उसे कहते हैं कि जिस योगसे कर्म आयें, याने कर्मोंके आनेके कारणको आस्रव कहते हैं। वह आस्रव दो प्रकारका है। एक कुशलास्रव और दूसरा अकुशलास्रव। अर्थात् शुभ आस्रव और अशुभ आस्रव। सो यह सब व्यवस्था और परलोककी व्यवस्था एकान्तवादमें यथार्थ रूपसे नहीं हो सकती। परलोक उसे कहते हैं कि मरण करके उत्पन्न होना, एक भवको छोड़कर दूसरी गतिके प्राप्त करनेका नाम है प्रत्याभाव उसे ही कहते हैं परलोक। और परलोकका कारण है धरम, अधरम। सो धर्म अधरम का भी नाम कारणमें कार्यका उपचार करनेसे परलोक रख दिया गया है। सो एकान्ताग्रह रक्तोंमें न तो शुभ अशुभ आस्रवकी सिद्धि है और न धरम अधरम परलोक की सिद्धि है। और न मोक्ष स्वर्ग आदिकी सिद्धि है। जो अनित्य

एकान्त नित्य एकान्त आदिके अभिप्रायोंके परवश हुए हैं उन पुरुषोंमें किसीभी प्रकारसे इन तत्त्वोंकी सिद्धि नहीं है।

(२५९—२६०) आप्तमीमांसा प्रवचन (अष्टसहस्री प्रवचन) ५, ६ भाग

आप्तमीमांसाकी ९ वीं कारिका तक पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराज के प्रवचन हैं। नमस्कार के योग्य आप्त कौन है इसकी परीक्षामें यह आवश्यक है कि अपने को तीर्थकृत् प्रसिद्ध करने वालोंके वचन देखे जावें जिनके वचन पूर्वापर विरोधरहित, युक्तिसम्मत व आत्मपहितकारी हों वे आप्त है। इसी सिलसिलेमें देखिये जो दार्शनिक सत्ताद्वैत अर्थात् भावेकान्त मानते हैं उस एकान्तमें क्या विडम्बनायें होती हैं उनके अनेक प्रवचनों के बीच उदाहरणमें एक प्रवचनांश देखिये कारिका ९ में–पृ० ६–अत्यन्ताभाव न माननेसे होने वाली विडम्बनाका निर्देश–अब अत्यन्ताभावके न माननेमें क्या आपत्ति आती है इस बातको भी परखिये। अत्यन्ताभाव कहते हैं द्रव्योंका द्रव्योंमें अभाव होनेको याने किसी भी द्रव्यका अन्य द्रव्योंमें अभाव होना अत्यन्ताभाव है सो जब ऐसा अत्यन्ताभाव नहीं मानते तो भावेकान्तका अभाव होना अत्यन्ताभाव है। सो जब ऐसा अत्यन्ताभाव नहीं मानते तो भावेकान्तवादियोंके यहां दो द्रव्य माने गये हैं–प्रकृति और पुरुष। सो प्रकृति और पुरुष में जब अत्यन्ताभाव नहीं मानते तो प्रकृति बन गया पुरुषात्मक। तो इस का अर्थ यह है कि सर्वात्मक बन गया। अब वहां फिर कुछ भी द्रव्य न रहेगा। प्रकृति बन गया पुरुषात्मक, पुरुष बन गया प्रकृत्यात्मक, फिर रहा ही क्या? और तब प्रकृति और पुरुषके सम्बन्धसे लक्षणभेद का करना बिलकुल विरुद्ध पड़ जाता है। भावेकान्तवादियोंने कहा है कि व्यक्त तो होता है सत्त्व रज: तम:, इन तीन गुणों वाला, व्यक्त होता है अविवेकी अर्थात् भेदरहित व्यक्त होता है आत्माके भोग्यरूप, ऐसा सामान्य अचेतन प्रसव धर्मवाला व्यक्त होता है, जिसकी कि प्राप्ति हो गई और अव्यक्त अर्थात् प्रधान हुआ व्यक्तसे विपरीत, और पुरुष होता है उन दोनोंसे विरुद्ध। अर्थात् केवल चिन्मात्र। इसतरह उन सबके लक्षण का भेद कहना असंगत है, क्योंकि अत्यन्ताभाव न माननेसे सर्व सर्वात्मक हो गया, फिर लक्षणभेदका अवसर ही क्या?

भावेकान्त माननेवाले अनेक दार्शनिक है उन सबकी कल्पनाभी प्रागभाव माने बिना पार नहीं पा सकती, इसका चित्रण कारिका १० वीं के एक प्रवचनांश में देखिये–पृ० ५९–प्रागभावके माने बिना अभिव्यक्तिवाद व सत्कार्यवादमें भी वस्तु व्यवस्थाकी अशक्यता–यहां प्रकरण यह चल रहा है कि घट पट आदिक को पहिले से ही सत् माना जाय और उसकी अभिव्यक्ति होती है और वे प्रधानके परिणाम हैं यह सब मानना युक्तिसंगत नहीं हो सका है और इस तरह सांख्यसिद्धान्तके अनुसरणके द्वारा भी प्रधानात्मक समस्त घट पट आदिक पदार्थोंका अभिव्यंग्यपना मानना युक्त नहीं है। जैसेकि मीमांसक सिद्धान्तमें शब्दको आकाशका गुण मानकर उसे सुननेके योग्य बनानेके लिए अभिव्यक्तिवादकी कल्पना की है और वह कल्पना संगत न बन सकी। इस प्रकार केवल एक प्रकृति और पुरुष इन दोनों तत्त्वोंका ही सत्त्व मानकर जो प्रकृतिके विकार महान होकर शब्द रूपादिक मानते है, और उसको अविर्भाव तिरोभाव–रूपसे मानते हैं, तो शब्दकी तरह उसकी भी अभिव्यक्ति प्रमाणसिद्ध नहीं होती है। क्योंकि सर्वदा जब प्रागभावका लोप कर दिया तो कार्यकी अभिव्यक्ति भी आदि बन बैठेगी? जैसे कि चार्वाक लोग पृथ्वी, जल, अग्नि, वायुको कार्यद्रव्य मानते हैं और प्रागभाव नहीं मानते तो जैसे उनके सिद्धान्तमें यह दूषण आता है कि फिर तो ये पृथ्वी आदिक समस्त कार्यद्रव्य अनादि हो जायेंगे। इस प्रकार सांख्य और मीमांसक जो कि अभिव्यक्तवाद मानते हैं कि चीज सब पहिले से ही है। कारणोंके द्वारा केवल उसकी अभिव्यक्ति की जाती है। तो उनकी यह अभिव्यक्ति भी प्रागभावके न मानने पर अनादि बन बैठेगी।

अतः कार्यद्रव्यवादी हो अथवा अभिव्यक्तिवादी जो प्रागभाव न मानेंगे उनके यहाँ परिणामोंकी व्यवस्था नहीं बन सकती।

भावैकान्तके निराकरक प्रवचनोंमें देखिये इतरेतराभावकी उपयोगिता, कारिका ११ के एक प्रवचनांशमें–पृ० ८९–इतरेतराभावके मन्तव्यकी उपयोगिता–तात्पर्य सबका यह है कि वस्तुमें ज्ञानमें, सभीमें एकानेक स्वभावता पाई जा रही है। खाली साधन और सामग्रीके भेदसे उपचारतः उनमें भेद बताना और वस्तुमें भेद बताना और वस्तुमें एक धर्मकी हठ बनाना यह युक्त नहीं हो सकता। अनेकान्तके बिना, सप्रतिपक्ष धर्मके बिना किसी पदार्थका अस्तित्व नहीं रह सकता। ज्ञान है वह एक है तो अनेकान्तात्मकताको लेकर ही एक है। कोई द्रव्य है, घट पट आदिक है तो वह अनेकान्तात्मकताको लेकर ही एक है। केवल याने एकानेकात्मकतासे रहित कुछ नहीं हो सकता। जैसे बताइये कि रूप, रस, गन्ध, स्पर्शके बिना घट क्या चीज है? एक माने बिना अनेकताका बोध न होगा। अनेक माने बिना एकात्मकताका बोध न होगा। जब वस्तु एकानेकस्वभावरूप है तब उसमें इतरेतराभावका निराकरण नहीं किया जा सकता।

कोई दार्शनिक भावैकान्तके दोषोंको सुनकर अभावैकान्त मानने लगे कि बस अभाव ही तथ्य है, शून्य ही तत्त्व है तो देखिये वहाँ क्या समस्या बन जाती है, कारिका १२ वीं का एक प्रवचनांश–पृ० १०३–अभावैकान्त मानने पर स्वेष्ट तत्त्वकी सिद्धि–की निरुपायता–अभावका एकान्त स्वीकार करने पर उसका अर्थ यही तो हुआ कि भावका अपन्हव किया गया अर्थात् अस्तित्व मान ही नहीं। कोई पदार्थ सदैव न रहे तो भावका अपन्हव करने वाले शून्यवादियोंके यहाँ ज्ञान, वाक्य, प्रमाण ये नहीं बन सकते, फिर किसके द्वारा साधनमें दूषण किया जा सकेगा। सर्वशून्यवादियोंने अपने शून्यवादीको ऐसी प्रतीज्ञा की है कि जिस एकत्व अनेकत्व स्वभावमें भावोंका निरूपण किया जाता है वस्तुतः वह स्वरूप नहीं है। जिससे कि एक और अनेक रूप उन भावोंमें घटित होता है। इस तरह सर्वका शून्य है ऐसी प्रतीज्ञा करना सो अभाव एकान्तका पक्ष है। उस अभाव एकान्तके पक्षमें भी जो अपने अर्थका साधन और दूषण रूप बने ऐसे ज्ञानका और वाक्यका वहाँ होना सम्भव ही नहीं है। न तो दूसरेके साधनमें दूषण दिया जा सकता है और न अपने साधनमें कोई युक्ति दी जा सकती है। तब फिर कुछ प्रमाण ही न रहा, फिर कैसे प्रमाणके द्वारा नैरात्म्यकी सिद्धि की जायगी? न तो अपने समझने के लिए नैरात्म्य सिद्ध किया जा सकता न दूसरेके समझनेके लिए नैरात्म्यकी सिद्धि की जा सकती। भला बतलाओ जो भावका अपन्हव करता है, केवल अभावको ही तत्त्व मानता है वह किस वाक्यके द्वारा दूषण दे सकेगा? यदि कोई भी दार्शनिक अपने पक्षका साधन मानता है और परपक्षको दूषण देना मानता है तो उसके मन्तव्यमें साधनकी सिद्धि बराबर सिद्ध होती है।

भावैकान्त, अभावैकान्त, उभयैकान्त व अवाच्यतैकान्तका निराकरण करनेके बाद १४ वीं कारिकामें वस्तुसामान्यका सिद्धान्त बताया है, इसका दिग्दर्शन कीजिये १४ वीं कारिकाके एक प्रवचनांशमें–आर्हत शासनका प्रारम्भिक दिग्दर्शन–हे प्रभो, तुम्हारे सिद्धान्तमें वस्तु कथंचित् सत् ही है और वही वस्तु कथंचित् असत् ही है तथा वही कथंचित् उभयरूप है एवं वही वस्तु कथंचित् अवाच्य है। ये सब परिज्ञान नयोंके योगसे होते हैं। यदि इन धर्मोंको किसीको सर्वथा मान लिया जाय तो वह बाधित होता है। जैसे पदार्थ सर्वथा सत् ही है अथवा सर्वथा असत् ही है अथवा निरपेक्षतासे सत् और असत् दोनों रूप ही है, अथवा पदार्थ सर्वथा अवक्तव्य ही है, ऐसा कथन बाधित हो जाता है। इस कारिकामें चार भंगोंकी [illegible] कहीगई है। कथंचित् सत् कथंचित् असत्, उभय और कथंचित् अवक्तव्य। शेष भंगोंकी सूचना

इस कारिका में आया हुआ च शब्द दे रहा है। च शब्दसे आग्रह करना कि पदार्थ कथंचित् सत् अवाच्य ही है कथंचित् असत् अवाच्य ही है, कथंचित् उभय अवाच्य ही है, ऐसा प्रभो आपका शासन है। इस कारिका में सत्त्व धर्म की अपेक्षा लेकर सप्तभंगीका वर्णन किया है। सप्तभंगीका स्वरूप है–प्रश्नके वशसे एक वस्तुमें बिना विरोधके विधि और प्रतिषेधकी कल्पना करना सप्तभंगी कहलाता है। इस कारिका में नय योग से इन भंगों की सिद्धि की गई है। तो नययोगसे, इस वचन द्वारा यह सिद्ध होता है कि नय वाक्य ७ ही हुआ करते हैं। उनसे अतिरिक्त ८ वां या अन्य प्रकार किसी प्रकार भी भंग सम्भव नहीं है।

सत्त्वकी सप्तभंगीमें प्रयुक्त प्रथमभंग–स्यात्–सत्, के दोनों शब्दोंकी सार्थकता देखिये १६ वीं कारिका के एक प्रवचनांशमें–पृ० २०४–प्रथमभंगमें प्रयुक्त सत् व स्यात् शब्दका वाच्य उक्त विवरणोंसे यहां सिद्ध हुआ कि शब्द एक अर्थका ही प्रतिपादन करने की शक्तिका स्वभाव रखता है, क्योंकि शब्दमें सूचना का जो सामर्थ्य विशेष है उसका उल्लंघन नहीं होता। सत्, इस शब्दमें सत्त्व मात्र को कहनेका सामर्थ्य है, असत्त्व आदिक अनेक धर्मों के कहनेमें उस सत्शब्दका सामर्थ्य नहीं है। इसी प्रकार स्यात् शब्द की बात सुनो–यहां सप्तभंगीमें स्यात् सत, अस्यात आदिक प्रयोग हैं ना, तो प्रत्येक शब्दोंका यहां अर्थ बताया जारहा है। सत् शब्दका अर्थ बता दिया गया और सिद्ध किया गया कि सत् शब्दका अर्थ केवल सत्त्वमात्रके कहनेमें सामर्थ्य है। असत्त्व आदिक अनेक अर्थों के कहनेमें नहीं। तो इसी प्रकार स्यात् शब्द दो रूपोंमें निरखा जाता है–वाचक और द्योतक। वाचकका अर्थ है इन अन्य शब्दोंकी तरह किसी अर्थको कहने वाला और द्योतक का अर्थ है कि जो बात स्पष्ट नहीं कही गई है उसका भी द्योतन करने वाला। अर्थात् न कहे गये अर्थ का भी जो कि न्यायप्राप्त है उसका संकेत करने वाला। तो जब स्यात् शब्दको वाचक दृष्टिसे देखते हैं तब स्यात् का सामर्थ्य अनेकान्त मात्रके कहनेमें है। स्यात् शब्दका वाच्य अनेकान्तमात्र है, किन्तु एकान्तके वचन करने में उसका सामर्थ्य नहीं है। जब हम स्यात् शब्दको द्योतकपनेकी दृष्टिसे निरखते हैं तो स्यात्शब्दका सामर्थ्य विशेष अविवक्षित समस्त धर्मों की सूचना करने में है, याने जिन धर्मोंका उस भंगमें नहीं कहा गया है और उस भंगमें विवक्षा भी नहीं है उन समस्त धर्मोंको सूचित करता है स्यात् शब्द। हां विवक्षित पदार्थ के कहने में स्यात्का सामर्थ्य नहीं है। जैसे प्रथम भंग है सर्वस्यात्सत्। तो उस भंगमें सत् धर्मका प्रयोग स्पष्ट किया गया है और यहां इस भंगको विवक्षा है। तो द्योतक स्यात् शब्द सत्को कहनमें सामर्थ्य रख रहा है। अन्यथा अर्थात् यदि द्योतक स्यात् शब्द विवक्षित का ही सत् धर्मको ही कहनेमें सामर्थ्य रखता हो तब तो स्यात् कहने के बाद फिर सत् शब्दका कहना व्यर्थ क्योंकि स्यात् शब्दने ही सत् धर्मका बता दिया है। फिर उस सत् धर्मके या विवक्षित धर्मके वाचक शब्दका प्रयोग करना व्यर्थ हो जायगा। इससे सिद्ध है कि द्योतक स्याद् शब्द उन धर्मोंको सूचनामें सामर्थ्य रखता है जो धर्म इस भंगमें विवक्षित नहीं है और जिन्हें कहा भी नहीं गया है।

वस्तुस्वरूपको समझाने वाली सप्तभंगीमें समस्त भंगोंकी सार्थकता क्या है इसका दिग्दर्शन कीजिये २२ वीं कारिकाके एक प्रवचनांशमें -पृ० २७१–२७२- धर्मीके प्रत्येक धर्ममें अन्य अन्य प्रयोजन होनेसे किसी एक धर्मका अंगित्व होने पर शेष धर्मों की अंगता होने से सभी भंगोंके कथन की सार्थकता बनाते हुए उक्त शंकाओंका समाधान–अनन्त धर्मात्मक धर्मों के धर्म धर्म में, प्रत्येक धर्म में जुदे जुदे ही प्रयोजन हैं, अत–एव उन सब धर्मोंका निरूपण करना आवश्यक है। अब यहां यह एक रहस्य समझ लीजिये कि उन सब धर्मों में जिस किसी भी धर्म का वर्णन किया जाय, लक्ष्यमें लिया जाय तो वह उस समय बन गया

वह अंगी धर्मी, और उस एक धर्म को धर्मी मान लिए जाने पर शेष जो धर्म हैं उनमें सिद्ध होता है उसका धर्मपना। जैसे एक जीव वस्तुमें अनन्त धर्म हैं, उन अनन्त धर्मोंमें से जब एक स्वरूप सत्त्वका वर्णन किया जा रहा है, स्वरूपसत्त्वको दृष्टिमें लिया जा रहा है तो इस स्थितिमें अब स्वरूप सत्त्व अंगी बन गया। इसकीसिद्धि बनायी जा रही है। तो स्वरूपसत्त्वका समर्थन पररूपके असत्त्वसे मिलता है ना। तो अब पररूपका जो असत्त्व है वह स्व असत्त्व अंगीका धर्म बन गया। तो धर्मी धर्मी की व्यवस्था लक्ष्य और लक्षणों पर निर्भर है। यहां धर्मी का अर्थ है अनन्त धर्मात्मक पदार्थ, इसके लिए अनुमान प्रयोग किया जाता है कि अनन्त धर्मात्मक सत् धर्मी न कहलायें तो इसको प्रमेयता नहीं बन सकती है। चूंकि ये अनन्त धर्मात्मक जीवादिक पदार्थ प्रमेय हैं, प्रमाणके विषयभूत हैं इस कारण ये वस्तु सब धर्मी कहलाते हैं। जो अनन्त धर्मात्मक वस्तु है वह ही प्रमेय होती है। जो जो प्रमेय होता है वह अनन्त धर्मात्मक वस्तु है वह ही प्रमेय होती है। जो जो प्रमेय होता है वह अनन्त धर्मात्मक सत् ही होता है।

(२६१—२६२) आप्तमीमांसा प्रवचन (अष्टसहस्री प्रवचन) ७, ८ भाग

इसमें आप्तमीमांसाकी २४ वीं कारिकासे ५५ वीं कारिका तक पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराजके प्रवचन है। अद्वैत एकान्तका आग्रह करने पर क्या क्या प्रसंग उपस्थित होते हैं, इसका दिग्दर्शन कीजिये २५ वीं कारिकाके एक प्रवचनमें–पृ० ९–अद्वैतकान्ताग्रहमें कर्मद्वैत, फलद्वैत, लोकद्वैत, ज्ञान अज्ञान, बन्ध मोक्षादि की असिद्धिका प्रसंग- अद्वैतका एकान्त माननेपर न तो कार्यबत सिद्ध होगा कि ये पुण्य कर्म हैं, ये पापकर्म हैं, ये लौकिक कर्म हैं, ये अलौकिक कर्म हैं। यों न तो किसी प्रकार का कर्मद्वैत सिद्ध होगा और न फलद्वैत सिद्ध होगा कि यह तो अच्छा फल है और यह बुरा फल है, यह श्रेयकर है, यह विनाशकर है, ऐसा फलभेद भी सिद्ध न होगा। और, न लोकद्वैत सिद्ध होगा, यह लोक परलोक भी सिद्ध न होगा कि यह लोक है, यह परलोक है और न ज्ञान अज्ञान सिद्ध होगा कि यह ज्ञानभरी बात है, यह अज्ञानभरी बात है। तो यों जब ये सभी सिद्ध न हो सके तो बन्ध और मोक्ष भी सिद्ध न होगा। और यदि ये बातें मानी जाती हैं तब तो अद्वैत न रहा, द्वैत सिद्ध हो गया। और, यदि यह बात नहीं मानते तब तो धर्म किसलिए करना ? जब जीवको बन्ध नहीं है और न उस बन्धसे छुटकारा होने का कोई उपाय है तब यह धर्मप्रवृत्ति, प्रभुभक्ति, तत्त्वज्ञान, ध्यान, साधना आदि ये सब किसलिए कराये जायेंगे ? ये सब व्यर्थ हो जायेंगे। तब सब कुछ लोकमें एक मनचली वृत्ति बन जायेगी। इस कारण यह मानना ही होगा कि यह सब व्यवस्था है और जीव अनन्त हैं। उन सब जीवोंका इस समय बन्ध संकट लग रहा है तो बन्ध संकट से मुक्त होने के लिए तत्त्वज्ञान यथार्थ श्रद्धान और सब प्रकार की धर्मवृत्ति करना आवश्यक है, अद्वैत एकान्तमें ये बात कुछ नहीं सिद्ध हो सकती, अतः अद्वैत एकान्त प्रत्यक्ष आदिसे विरुद्ध है।

द्वैतका विरोध करने पर अद्वैतकी सिद्धि करना असंभव है, देखिये २६ वीं कारिकाके एक प्रवचनांशमें– पृ० १४–द्वैतके विरोधसे अद्वैतकी सिद्धिकी अशक्यता-शंकाकार यह बताये कि हेतु से अद्वैतसाध्यकी सिद्धि होती है या हेतुके बिना ही अद्वैतकी सिद्धि होती है ? यदि हेतु से अद्वैतकी सिद्धि मानी जाती है तो इसमें हेतु और साध्य ये दो तो मानने ही पड़े तो वहां द्वैत सिद्ध हो ही गया। अगर हेतु से अद्वैतकी सिद्धि कर रहे हैं तो हेतु और साध्य अर्थात् प्रतिभास समानाधिकरणत्व हेतु हुआ और अद्वैत साध्य हुआ, तो यों दो भेद तो हो ही गये, एक ही कुछ तो न रहा। हेतु हुआ और साध्य हुआ। यदि हेतुके बिना ही अद्वैतकी सिद्धि करते हो तो केवल वचनमात्र ही तो रहा। बोल देने का हेतु को

आवश्यकता तो न हुई। अगर केवल बोलने मात्रसे सिद्धि हो जाय तो दुनियाके लोग जो कुछ भी बोल जायें तब उनकी बात सिद्ध हो जायगी।

अद्वैतकान्तके एकान्ततः विरोधी दार्शनिक पृथक्त्वका एकान्त करते हैं कि सभी तत्त्व जो जो भी ज्ञात हो परस्पर पूर्णतया भिन्न ही हैं। तो ऐसे पृथक्त्वैकान्तवादमें देखिये शून्यताका प्रसंग आ जाता है, पढ़िये ३० वीं कारिकाके एकप्रवचनांशमें—पृथक्त्वैकान्तमें सर्वअन्तस्तत्त्व बहिस्तत्त्वका अभाव हो जानेसे शून्यताका प्रसंग—पृथक्त्वैकान्तको हठ करने वाले शंकाकार यह बतलायें कि ज्ञेयसे ज्ञान वे भिन्न मानते हैं तो ज्ञेय से ज्ञान क्या सत्त्वस्वरूपसे भी भिन्न है ? अर्थात् ज्ञानमें और ज्ञेयमें दोनोंमें सत्त्व तो माना ही गया है। तो जब दोनोंमें सत्त्व पाया जा रहा तो सत्त्वकी अपेक्षासे ही सही, ज्ञान और ज्ञेय पृथक न रहे। तो ज्ञान और ज्ञेय यदि सत्त्वस्वरूपसे भी भिन्न हो जायें, क्योंकि भिन्नताका एकान्त कर रहे ना। कुछ भी समझमें आया, चलो कह दो बिल्कुल भिन्न है, ऐसा उनका नियम बन गया है। तो ज्ञेयसे ज्ञान यदि सत्त्वस्वरूप से भी भिन्न हो गया तो दोनों असत् हो गये। न ज्ञान सत् रहा न ज्ञेय, क्योंकि सत्त्वस्वरूपसे दोनों को भिन्न मान लिया है। तो ज्ञान क्या सत् रहा ? तो हे प्रभो, जो तुम्हारे शासनसे द्वेष रखते हैं अर्थात् जो स्याद्वाद शासनको नहीं मानते हैं उनके यहां न अंतरंगतत्त्वकी सिद्धि होगी और न बहिरंग तत्त्वकी सिद्धि होगी।

अद्वैतकान्त व पृथक्त्वैकान्तका निराकरण करके उन दोनों पक्षोंका स्याद्वादसे जो समन्वय किया है उसे परखिये ३४ वीं कारिकाके एक प्रवचनांशमें—एकत्व और पृथक्त्वके ज्ञानके सविषयत्वका समर्थन—सत्त्व सामान्यको दृष्टिसे सर्वमें ऐक्य है, अभेद है और द्रव्यादिकके भेदसे उन सबमें पार्थक्य है जैसे कि असाधारण हेतु समीचीन है।भेद विवक्षामें और अभेद विवक्षामें पृथक्त्वस्वरूप हो ऐक्यस्वरूप है। जब सर्व पदार्थों को सत्त्व सामान्यसे देखें तो सर्व सत् प्रतीत होता है। सत्त्वकी दृष्टिसे सबमें अभेद है, पर जब वहां देखते हैं कि यह द्रव्य है, यह गुण है, यह पर्याय है तो इस भेदकी दृष्टिसे वहां पार्थक्य है तब निर्विषय कैसे रहा ? एकत्व व पृथक्त्वपना ज्ञान सत् सामान्यविशेषका आश्रय लेकर ही तो सर्व जीवादिक पदार्थों में ऐक्य माना गया है। तो ऐक्य का जो ज्ञान हुआ है उस ज्ञानका विषय है सत्त्वसामान्य। यों प्रतीति में आ ही रहा कि सत्त्व सामान्यकी दृष्टिसे सब एक है तब एकत्वका ज्ञान निर्विषय न रहा। उस एकत्वके ज्ञानका विषय है सत्सामान्य, इसी प्रकार सर्व जीवादिक विशेष जब द्रव्यादिक पदार्थ भेदका आश्रय करके न निरखा जाय तो वहां पृथक्त्व प्रतीत होता है। तो पृथक्त्वका ज्ञानभी निर्विषय न रहा। पृथक्त्वके ज्ञानका विषय है द्रव्यादिक भेद। तो इस तरह जब एकत्वका ज्ञान पृथक्त्वका ज्ञान विषयरहित न रहा, उनका विषय है तो सिद्ध हो गया कि वस्तु एकरूप भी है और अनेक रूप भी है।

नित्यत्वैकान्तका आग्रह करने पर दोषापत्तियोंकी झलक कीजिये ३७ वीं कारिका के एक प्रवचनांशमें-पृ० ९६-इस कारिकाने नित्यत्वके एकान्तके निराकरणकी सूचना दी है। नित्यत्व एकान्तका अर्थ क्या है ? कूटस्थपनेका अभिप्रायरखना। सर्वथा नित्य है इसका अर्थ है कि वह सर्वथा कूटस्थ है और ऐसा अभिप्राय रखनेका नाम है नित्यत्व एकान्त उसका पक्ष करना अर्थात् आग्रह करना सो उसे कहते हैं नित्यत्वैकान्त पक्ष। इस आग्रहमें नाना प्रकार की क्रियायें जो परिणमन रूप हैं, परिस्पंदरूप है वे कोई भी नहीं उत्पन्नहो सकती हैं, क्योंकि नित्यत्वका एकान्त माना है। अपरिणामी कूटस्थ जब मान लिया गया तो वहां क्रिया कैसे सम्भव होगी ? क्रिया यदि बनती है तो कूटस्थता नहीं रहती है। और, दूसरी बात यह सुनो कि क्रिया उत्पत्तिसे पहिले ही जब उस पदार्थ की उत्पत्ति है तो इसके मायने यह है कि क्रिया

उत्पत्तिसे पहिले कारका अभाव न बनेगा। अर्थात् सदा कारक रहेगा। तो जो कूटस्थ पदार्थ है वह जैसे पहिले कारक होता है उसी तरह यह आत्मा भोगनेका कारक हो जायगा। यदि पहिले ही कारक का अभाव माना जाय याने कूटस्थ आत्मामें क्रियाकी उत्पत्तिसे पहिले ही कारकका अभाव है ऐसा स्वीकार किया जाय तो वहां किसी भी प्रकार का अनुभव, परिणति, सुख दुःख आदिकका बोध ये कुछ भी न बन सकेंगे। और, यों फिर सदा ही आत्मा अकारक रहेगा, क्योंकि पहिले की तरह उत्पत्तिकाल में भी कारकका अभाव सिद्ध होता है। जो एकान्त मानते हैं उनके यहां कार्य उत्पन्न होनेसे पहिले जैसे वह पदार्थ कर्ता नहीं, उसमें किसी प्रकारका परिणमन नहीं, तो यों ही कार्यकी उत्पत्ति होने पर भी कारका अभाव ज्योंका त्यों सिद्ध रहेगा।

क्षणिक एकान्तपक्षमें भी अनेक दोष उपस्थित होते हैं उनका संकेत लीजिए ४१ वीं कारिकाके एक प्रवचनांशमें–पृ० ११२–क्षणिकैकान्त पक्षमें प्रेत्यभाव कार्यारम्भ, फल आदिके अभावका प्रसंग क्षणिक एकांत के आग्रहमें भी परलोकादिक असम्भव हो जाते हैं, क्योंकि वहां प्रत्यभिज्ञान स्मृति आदिक ज्ञान नहीं तो वहां न कार्य आरम्भ हो सकता और न उसका फल हो सकता। क्षणिक एकान्त पक्ष अर्थात् सभी वस्तु एक समय रहती हैं, अगले समयमें उसका मूलतः नाश हो जाता है, ऐसे मन्तव्यके पक्षमें ज्ञानका कार्यारम्भ नहीं हो सकता। क्योंकि इस क्षणिक एकान्तमें प्रत्यभिज्ञान स्मृति, इच्छा आदिक कुछ भी कार्य नहीं हो सकते, प्रत्यभिज्ञान आदिक तभी तो होंगे जबकि कोई एक आत्मा हो। उसी ने पहिले अनुभव किया हो, अब स्मरण हो रहा हो तो ये प्रत्यभिज्ञान स्मरण आदिक होते हैं अन्यथा नहीं। जैसे कि भिन्न भिन्न आत्माओंके ज्ञानक्षणमें प्रत्यभिज्ञान आदिक तो नहीं होते। हमने कोई वस्तु अनुभूत की तो दूसरा कोई पुरुष उसका स्मरण करले ऐसा तो नहीं हो सकता। तो जैसे भिन्न भिन्न आत्माओंके ज्ञानमें एकका दूसरे को स्मरण नहीं इसी तरह एक देहमें भी उत्पन्न होने वाले अनेक ज्ञानक्षणमें भी स्मरण आदिक नहीं हो सकते, क्योंकि उन्हें भी तो भिन्न भिन्न ही माना गया है। जब तक जानने वाला आत्मा एक न माना जाय तब तक प्रत्यभिज्ञान आदिक नहीं बनता।

जैसे सर्वथा सत् मानने पर कार्यनिष्पत्ति नहीं, इसी प्रकार सर्वथा असत् मानने पर भी कार्यनिष्पत्ति नहीं, तब कार्यव्यवस्था कैसे है इसका समाधान देखिये ४२ वीं कारिका के एक प्रवचनांशमें–पृ० १४७–द्रव्यापेक्षया सत् व पर्यायापेक्षया असत् के कार्यपना मानने पर कार्यकारण व्यवस्थाकी एक उत्पादव्ययस्थितिकी सिद्धि–कोई वस्तु है तब उस सद्भूत वस्तुमें नवीन पर्यायरूपका विकास होता है। वह तो है उसका उत्पाद और जो पर्याय व्यक्तरूप है वह पर्याय विलीन हो जाती है, क्योंकि उसमें नवीन परिणति हुई है। एक पदार्थमें पूर्व और उत्तर ये दो परिणमन एक साथ नहीं ठहर सकते हैं। जब नवीन परिणमन होता है तो पूर्व परिणमन विलीनहो जाता है यही कहलाता है विनाश और नवीन परिणमन होता है यही कहलाता है उत्पाद। तो सद्भूत पदार्थको माने बिना उत्पाद व्ययकी कल्पना भी नहीं की जा सकती, इसी को अनेक दार्शनिकोंने गुणपर्यायरूपसे वर्णन किया है। लेकिन एकान्त पक्षमें गुणोंका अलग और पर्यायों का अलग सत्तारूपसे वर्णन किया है। किन्तु तथ्य यह है कि वस्तु एक है, सत्स्वरूप है, शक्तिमान है और उसकी शक्तियोंके जो विकास हैं वे परिणमन कहलाते हैं, यों यों गुण और पर्याय सद्भूत वस्तुमें एक साथ बने हुए हैं और दोनोंका उस सद्भूत वस्तुसे तादात्म्य है। पर्याय तो जिस समयमें प्रकट हुई है उस समय तादात्म्यरूपसे है और शक्तियां पदार्थमें शाश्वत तादात्म्यरूपसे हैं फिर भी इनका स्वरूप समझनेके लिए भेददृष्टि करके भेद समझा जाता है कि जो अभेद पिण्ड है वह तो है द्रव्य और जो शक्तियां हैं वे कहलाती हैं गुण, उनका जो व्यक्तरूप है, परिणमन है वह कहलाता है पर्याय। पर्यायका

कार्य कहते हैं। भेद इस तरह किया जाता है और कालभेदसे भी किया जाता है जो शाश्वत है वह तो है द्रव्य और और जो कुछ समयको हुई है वह है पर्याय।

क्षणिकैकान्तवादमें न तो हिंसकमें हिंसाहेतुता सिद्ध हो सकती है और न मोक्षकी अष्टांगहेतुता सिद्ध हो सकती है, पढ़िये ५२ वीं कारिकाके एक प्रवचनांशमें, पृ० १८७–क्षणिकैकान्तपक्षमें हिंसकमें हिंसा हेतुत्वके अभावका प्रसंग तथा मोक्षकी अष्टांगहेतुताके अभावका प्रसंग–क्षणिकएकान्तमें वस्तुके विनाशको अहेतुक माना गया है। सो जब वस्तुतः नाश किसी कारण से होता ही नहीं है तो किसी जीवकी हिंसा करने वाला हिंसक पुरुष हिंसाका कारण न बन सकेगा। फिर हिंसक पुरुष खराब क्यों कहलायगा? वह तो किसी की हिंसा का कारणभूत ही नहीं है। क्षणिकवादमें दूसरा दोष यह भी है कि वहां मोक्ष माना गया है चित्तसंततिनाशको, सो जब चित्तकी संततिका विनाश हो जाता है, जो प्रतिक्षण नये नये जीव उत्पन्न होते रहते हैं उन चित्तक्षणोंमें जो संतति बन रही है उस संततिका हो गया इसीके मायने निर्वाण है और उसे बताया गया है कि वह निर्वाण सम्यक्त्व संज्ञादिक ८ अंगोंके कारणसे होता है। तो यह बात तो परस्पर विरुद्ध हो गई कि जब चित्तसततिका नाश अहेतुक है, सभी विनाशोंको क्षणिकवादी अहेतुक मानते हैं फिर उस चित्तसततिनाशको अष्टांगहेतुक कैसे कह दिया गया? सो ये क्षणिकवादी लोग विनाशका सर्वथा अहेतुक मानते हैं तो उस मंतव्यमें ये दोष आते हैं।

पदार्थका निरन्वय विनाश नहीं होता। यदि निरन्वय विनाश होता तो सदृश व विसदृश कार्यकी सिद्धि नहीं हो सकती, पढ़िये ५३ वीं कारिकाके एक प्रवचनांशमें–पृ० १९२–और भी देखिये–निरन्वय विनाश मानने वाले के यहां यह भी विवेक नहीं बन सकता कि यह विरूप कार्य है और यह सदृश कार्य माना गया है और विरूप कार्यमाना जानेका कारण यह है कि क्षणिकवादमें कारणका कथंचित भी अन्वय नहीं माना है, अर्थात् द्रव्यकी अपेक्षासे अन्वय जो सिद्ध है उसको नहीं माना गया, उनके सिद्धान्तमें प्रतिक्षण होने वाले पदार्थ परिपूर्ण हैं और अपने आपके अन्वयके बिना हैं तो अन्वय न मानने पर सदृश कार्यकी सिद्धि नहीं की जा सकती है। जब द्रव्यापेक्षया पदार्थ पहिले क्षणमें भी हैं और उत्तरक्षणमें भी हो तब तो वहां सदृश कार्यको बात कही जा सकती है, किन्तु जहां अन्वय किसी भी प्रकार नहीं है, वहां सदृश कार्यका ज्ञान नहीं बताया जा सकता। ऐसी स्थितिमें जाननहारके अभिप्रायके कारण सदृश और विरुद्ध कार्यकी कल्पना करलो जाय तो ऐसी कल्पना करने वाला दार्शनिक जाननहारके अभिप्रायके कारण विनाशको सहेतुक क्यों नहीं मान लेता है?

(२६३–२६४) आप्तमीमांसा प्रवचन (अष्टसहस्रीप्रवचन) ९–१० भाग

इसमें आप्तमीमांसा की ६१ वीं कारिका से ८७ वीं कारिका तक के प्रवचन हैं। देखिये विशेषवाद में भेदकान्त सिद्धि का संक्षिप्त दिग्दर्शन ६१ वीं कारिका के एक प्रवचनांशमें–विशेषवादियों ने कार्य कारण में नानापन माना है। जैसे कार्य तो हुआ घट, कारण हुआ मृतपिण्ड तो इस कार्य कारणोंमें सर्वथा भेद है। गुण गुणी में भेद माना है। जैसे गुणी हुआ आकाश और गुण हुआ महत्व इन दोनोंमें भेद है। सामान्य सामान्यवान में भेद माना है सामान्य तो हुए परसामान्य अथवा अपरसामान्य और सामान्यवान हुए पदार्थ, द्रव्य, गुण, और कर्म। इसी प्रकार भाव और अभाव के विशेष्य में भेद माना है। अभाव हुआ अभाव ही और जिसमें अभाव पाया जाता वे हुए पदार्थ अभाव के विशेष्य, जैसे घटका अभाव, तो यहां दो बातें कही गई–अभाव और घट। इसमें भेद माना जाता है। इसी प्रकार विशेष्य और विशेषवान में भी भेद, अवयव अवयवी में भी भेद इस तरह एक भेद एकान्तका सिद्धान्त है। इस दार्शनिकका नाम ही वैशेषिक है। जहां विशेष अर्थात् भेद भेद ही माना जाता है। थोड़ा भी कुछ

परिचय विशिष्ट प्राप्त हो रहा हो वहां भेदका एकान्त कर दिया जाता है। ऐसी वैशेषिकवाद सिद्धांत की बात इस कारिका में सूचित की गई है।

भेदैकान्त पक्षमें क्या आपत्ति है इसका भी संक्षिप्त दिग्दर्शन कीजिए ६३ वीं कारिका के एक प्रवचनांशमें- भेदैकान्त पक्ष में गुण गुणी आदि में देशभेद व काल भेद हो जाने की आपत्ति-जैसे कि पृथगाश्रय वाले घट पट पदार्थों का देश भेद और कालभेद से रहना। बन रहा है इसी प्रकार गुण गुणी अवयव अवयवी आदिकका भी भेद एकान्त मानने पर देश भेद में और काल भेद में उनका रहना बनेगा, किन्तु ऐसा तो प्रत्यक्ष से विरूद्ध है। भेद एकान्त पक्ष मानने पर समान देशता नहीं बन सकती है। कोई यह सोचे कि अवयव अवयवी का हम एक ही देश में आस्थान मान लेते है तो कहने मात्र से बात न बन जायगी। जो मूर्त है अवयव अवयवी, कारण कार्य उन्हें सर्वथा भिन्न-भिन्न भी माने और समान देश में उनका रहना मानें यह बात नहीं बन सकती। अतः यह स्वीकार करना होगा कि गुण गुणी अवयव अवयवी कारण कार्य आदिक लक्षण भेद से तो भिन्न है लेकिन आश्रय आधार सत्व ये न्यारे न्यारे नहीं है।

भेदैकान्त व अभेदैकान्त के प्रसंग में तथ्य का निर्णय देखिये ७१-७२ वीं कारिकाके एक प्रवचनांश में- द्रव्य और पर्याय में कथंचित अन्यता व कथंचित अनन्यता की सिद्धि-यहां प्रकरण चल रहा है इसका कि द्रव्य पर्याय में कार्य कारण में अन्यता है या एकता है सिद्ध किए जा रहे उस द्रव्य पर्यायमें लक्षण आदिकके भेदसे भिन्नता है और वस्तु एक है अतएव एकता है। इसको पुष्टिके लिए रूपादिक का उदाहरण भी उपयुक्त है। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श ये सब जो पाये जा रहे है मूर्त पदार्थों में सो यह बतायें कोई कि रूप रस गन्ध आदिक परस्पर में अन्य-अन्य हो है या एक रूप है? वहां सिद्ध यही होगा कि कथन्चित अन्य-अन्य रूप है कथन्चित अनन्य है। तो रूपादिक के उदाहरण में भी साध्य और साधन पाये जाते है। तो कथन्चित नानापन से व्याप्त जो भिन्न लक्षणापना है उसकी यहां सिद्धि की गई है, परस्पर व्यतिरिक्त स्वभाव संज्ञा, संख्या आदिक के द्वारा अर्थात उनमें स्वभाव भिन्न है, संख्या भिन्न है, प्रयोजन भी भिन्न है अतएव द्रव्य और पर्याय कथन्चित नानारूप है, उनमें भिन्नता है, रूपादिकका लक्षण और रसादिकका लक्षण भी भिन्न भिन्न है अतएव वहां पर भी कथन्चित नानारूप विदित होता है। रूपादिकका लक्षण है रूपादिकके ज्ञानके प्रतिभास के योग्य होता अर्थात् यह रूप है इस तरह के प्रतिभास के जो विषय हो सकते है वह रूप है ऐसा रूप, रस आदिक में सब में अपनी-अपनी बुद्धि का भेद है, इस कारण कथंचित रूपादिक में नानापन सिद्ध होता है। तो द्रव्य और पर्याय में लक्षण आदिक के भेद से नानापन है, इसकी सिद्धि में रूपादिक के उदाहरण भी सही हो जाते हैं।

तत्त्वसिद्धि आगम से होती है या हेतु से होती है इस विषय में कोई एकान्त नहीं करना चाहिए इस विषय के समर्थन का उपसंहार देखिये ७८ वीं कारिका के अन्तिम प्रवचनांशमें-अपेक्षावलसे हेतु सिद्धता व आगम सिद्धता का उपसंहार-सर्व कुछ हेतु से सिद्ध है, क्योंकि वह करण अर्थात् इन्द्रिय और आप्त वचनको अपेक्षा नहीं करता। इसी तरह सब कुछ कथंचित हेतु से सिद्ध है और कथंचित सर्व आगम से सिद्ध है, क्योंकि इन्द्रिय और साधन की अपेक्षा न करने से। यहां दृष्टियां दो कही गई है आप्त वचन की अपेक्षा न करना और इन्द्रिय साधनकी अपेक्षा न करना इन दोनों दृष्टियों से ये उक्त दो बातें सिद्ध हुई। अब क्रम से अर्पित इन दोनों दृष्टियों से उभय से सिद्धि सिद्ध होती है। अर्थात् हेतु से भी सिद्ध है और आगम से भी सिद्ध है। जब एक साथ दोनों दृष्टियों को लिया जाता है तो वहां अवक्तव्यपना

सिद्ध होता है। शेष ३ भगं पूर्वकी तरह समझना चाहिए। इस तरह सप्तभंगोकी प्रक्रिया युक्त कर लेना चाहिए। इस परिच्छेदमें यह बताया गया है कि जो उभय तत्त्व इस ग्रन्थमें परिणत किया गया है उस को समझने का उपाय तत्त्व क्या है ? किस उपाय से उन प्रमेय तत्त्वों के स्वरूप की समझ आये ? उस सम्बन्ध में बताया गया है कि सप्ततत्त्व कथंचित हेतु से सिद्ध होता है और कथञ्चित आगम से सिद्ध होता है।

कुछ लोग केवल ज्ञान मात्र अन्तरंग अर्थ ही स्वीकार करते है और कोई लोग मात्र वहिरंग अर्थ ही स्वीकार करते है, किन्तु इन दोनों में से किसी एक को स्वीकार करने पर दूसरे को स्वीकारता अवश्यभावी सिद्ध है। इस विषय का तथ्य देखि ८७ वीं कारिका के एक प्रवचनांशमें—ज्ञान ज्ञेय मे से किसी भी एकको मानने पर द्वितीय की अवश्यंभाविनी सिद्धि बहुत दूर जाकर भी अर्थात बड़ी चर्चायें करने के बाद भी यह मानना ही पड़ेगा कि कोई ज्ञान अपने इष्ट तत्व का आलम्बन करने वाला होता है और वही वेदाकार वेदाकार ब्रह्म अर्थ ज्ञान में स्वरूप से अन्य किसी पदार्थ के आलम्बन को सिद्ध कर देता है अर्थात ज्ञान में जब ग्राह्ययाकार ग्राहकाकार बन रहे है तो उससे बाह्य पदार्थ अवश्य है यह सिद्ध होता है न होते बाह्य पदार्थ तो ज्ञान में यह विष यह आकार कैसे प्रतिबिम्बित होता, इस कारण उक्त प्रकार से बाह्य अर्थकी सिद्धि हो गई, तो बाह्य अर्थ की सिद्धि होने से वक्ता, श्रोता, प्रमाता ये तीन सिद्ध हो गए और फिर उन तीनों के बोध, वाक्य और प्रमा याने बुद्धि ये भी तीनों सिद्ध हो जाते है। यो मूल बात कही जा रही थी कि जीव शब्द बाह्य अर्थ से सहित है याने जीव शब्द वाचक है और उससे जीव नामक पदार्थ वाच्य होते है। तो जीव शब्द से सबाह्य अर्थपना सिद्ध करने में उस संज्ञापन का हेतु दिया गया है। उस हेतु में न असिद्ध दोष है न अनेकांतिक दोष है और न वहां जो दृष्टान्त बताया गया है जैसे हेतु शब्द, माया शब्द, भ्रान्ति शब्द, प्रभाशब्द, किन्हीं भी दृष्टान्त तो में कोई दोष नहीं हैं। कोई भी दृष्टान्त साधन धर्म आदिक से रहित नहीं है जिससे कि जीवको सिद्धि न हो। तो जीवशब्द से ही जीव पदार्थ की सिद्धि हो जाती है। जब जीव को सिद्धि हो गयी तब अर्थ को जानकर पदार्थ को समझकर प्रवृत्ति करने वाले सम्वाद और विसम्वाद की सिद्धि सिद्ध हो ही जाती है। इसी प्रकार यहां तक यह सिद्ध हुआ कि केवल अन्तरंग पदार्थ ही नहीं है बहिरंग पदार्थ भी है याने केवल ज्ञान ही है। सो बात नहीं है किन्तु घट पद आदिक बाह्य पदार्थ भी है, सभी अनुभव करते है कि हम जान भी रहे है और बाह्य पदार्थों को भी समझ रहे है।

(२६५–२६६) आप्तमीमांसा प्रवचन (अष्टसहस्रीप्रवचनं) ११–१२ भाग

इसमें आप्त मीमांसा की ८८ वीं कारिकासे अन्तिम ११४ वीं कारिका तक के प्रवचन हैं। कोई दार्शनिक कहते है कि भाग्य से ही कार्य सिद्धि होती है, कोई दार्शनिक कहते है कि पुरुषार्थ से ही कार्य सिद्धि होती है उनके पक्ष के समर्थन के बाद जो निर्णय दिया गया है उसका दिग्दर्शन कीजिए—दैवैकान्त व पौरूपैकान्त के निराकरण का उपसंहार—दैव से अर्थ सिद्धि होती है या पौरूप से ? इस सम्बन्ध में किसी एकान्त को ही नहीं कहा जा सकता है। इन दोनोंमें किसी एकका अगर अभाव कर दिया जाय तो व्यवस्था न बनेगी। पुण्य पाप या अर्थ सिद्धि की व्यवस्था अपेक्षाकृत ही बनेगी। दोनों में परस्पर अपेक्षा रखी जायेगी, दैव और पौरूप को व्यवस्था एक दूसरे को अपेक्षा रख कर ही बनेगी। पौरूप की अपेक्षा न रखकर केवल दैव से ही सिद्धि मानी जाय अर्थात पौरूप वहां जरा भी नहीं है, पौरूप से अर्थ सिद्धि नहीं होती है किन्तु मात्र दैव से ही होती है, ऐसी एक भी घटना न मिलेगी। अथवा जहां यह कहा जा सके कि पौरूपसे ही सिद्धि होती है, दैव का जरा भी काम नहीं है, तो ऐसी भी घटना कोई लोकमें न मिलेगी।

दोनों की परस्पर अपेक्षा रहती है तब अर्थ की सिद्धि होती है। दूसरे का सद्भाव न मान कर अथवा अपेक्षा न रखकर बात कही जाय तो न बनेगी। दूसरे का सदभाव मान कर अथवा अपेक्षा न रखकर बात कही जाय तो न बनेगी। दूसरे का सद्भाव मान कर अपेषा रखकर अपेक्षा का अभाव न करके परस्पर में सहायता रूप से देव और पुरुष दोनों से ही अर्थ की सिद्धि होती है। जहां पौरूष प्रधान नजर आ रहा है कि यह मनुष्य पुरूषार्थ के बल से यह काम बना रहा है तो वहां उसके पौरूषमें देव सहाय पड़ा हुआ है। विधि भाग्य उसके अनुकूल है तब उस प्रकार का पौरूष उसका सफल हो सका है। जहां यह दृष्ठिगत हो रहा हो कि हमें देव से ही सिद्धि हुई है ता वहां पर भी पुरूषार्थ की सह-यता है, तो दोनों से ही अर्थ की सिद्धि होती है। उनमें एकान्त अभिप्राय करना सिद्धान्त के प्रतिकूल है।

किसी दार्शनिक का मत है कि दूसरे में दुःख होने से पाप बन्ध और सुख होने से पुण्यबन्ध होता है तथा किसी दार्शनिक का अभिमत है कि स्वयं के दुःख से पुण्य और सुख से पाप बन्धता है। इन दोनों पक्षोंसे स्पष्टी-कारक के बाद जो निर्णय दिया गया है उसका दिग्दर्शन कीजिए ९५ वीं कारिका के एक प्रवचनांशमें-विशुद्धि संक्लेशांग स्वपरस्थ सुख दुःख की पुण्यापापस्रव हेतुता-अपने में या परजीव में सुख दुख होने से पुण्य पाप के आश्रव बताये गए है सो यह बात युक्त नहीं है, किन्तु उसमें यह रहस्य है कि यदि विशुद्धि अगं बनकर सुख दुःख हुआ है तो विशुद्धि के कारण वहां पुण्य बन्ध हुआ है अथवा संक्लेश का अगं न बन कर यदि सुख दुःख हुए है या अपने में या पर जीव में तो वह पुण्य पापका आश्रव हेतु बन सकता है। तो जहां विशुद्धि है वहां पुण्य है, जहां सक्लेश है वहां पाप है इसका स्पष्ट अर्थ यह है। पुण्य और पाप का आश्रव क्या है? सो सुनो विशुद्धि के कारण का या विशुद्धि के कार्य का या विशुद्ध स्वभाव वाले का तो पुण्याश्रव में कारणता है अर्थात विशुद्धि के कारण भूत जो भाव है, जो परिणति है वह तो पुण्याश्रव का कारणभूत है और विशुद्धि के कार्यका विशुद्धि परिणति होने के कारण जो मन, वचन, काय की चेष्टा हुई है वह भी पुण्याश्रवका कारण होता है और विशुद्धि के स्वभाव वाले तत्व से विशुद्धस्वभावसे विशुद्ध परिणाम से जिस परिणाम में विशुद्धि है उस परिणाम से पुण्य का आश्रव होता है। किन्तु ऐसा सुख दुःख चाहे खुद में हो या पर में या दोनों मिलकर जो संक्लेश का कारण है अथवा संक्लेशका कार्य है संक्लेश परिणाम करने के कारण हो जो सुख दुःख है वह स्वयं संक्लेश स्वभावरूप है, उस सुख दुख के वर्तमान होने में संक्लेशभाव बन रहा है तो वह पापाश्रवका कारण होगा। इसके आश्रव में मुख्यता विशुद्धि और संक्लेश है, विशुद्ध परिणाम से तो पुण्य का आश्रव होता है, वह चाहे विशुद्धि का कारण हो या विशुद्धि का कार्य हो। अथवा वर्तमान ही स्वयं विशुद्ध स्वभाव वाला हो, उससे तो होता पुण्य का आश्रव और अपने में या दूसरे में या दोनों में सुख हो, दुःख हो यदि वह संक्लेश कारणपूर्वक है, संक्लेश के कारण सुख दुःख है या उस सुख दुःख के होने से संक्लेश बढ़ रहा है तो उससे पाप बन्ध होता है।

तत्वज्ञान की क्रमभाविता व अक्रमभाविता की सिद्धि में स्याद्वाद के उपयोग का बल देखिए १०१ वीं कारिका के एक प्रवचनांशमें-सोपयोग व निरूपयोग की दृष्टि से मतिज्ञानादि चार ज्ञानों की क्रमभाविता अक्रमभाविता का कथन-जैसे चक्षु आदिक ज्ञानों का क्रम से ही उत्पाद माना गया है उसी प्रकार मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनः पर्ययज्ञान भी उपयोग सहित की दृष्टि से क्रम से उत्पाद होता है। यदि निरूपयोग की दृष्टि से चार ज्ञानों की बात कहो तो वह एक साथ होता है, इनमें किसी भी प्रकार का विरोध नहीं है कारण यह है कि ज्ञानावरण के क्षयोपशम से यह ज्ञान प्रकट होता है,

मतिज्ञानावरण का क्षयोपशम होने पर मतिज्ञान, श्रुतज्ञानावरण का क्षयोपशम होने पर श्रुतज्ञान अवधिज्ञानावरण का क्षयोपशम होने पर अवधिज्ञान और मनः पर्ययज्ञानावरण का क्षयोपशम होने पर मन पर्ययज्ञान प्रकट होता है। सो ये चारो ज्ञान चारो ज्ञानावरणों का क्षयोपशम के होने पर एक जीव में एक साथ सम्भव है, परन्तु लब्धि की अपेक्षा से चारो ज्ञान तक एक जीव एक साथ सम्भव हुए, उपभोगापेक्षया युगपत असम्भव है, क्योंकि उपयोग की अपेक्षा एक कालमें एक ही ज्ञान होता है। जैसे कोई पुरूष हिन्दी, संस्कृत, प्राकृत तीन भाषाओं का ज्ञाता है तो लब्धि की अपेक्षा तीन भाषाओं का ज्ञान उस पुरूष में सदा है। किन्तु जैसे जब संस्कृत में लिखा कोई पत्र आया, उसको वह पढ़ रहा है तो उपयोग की दृष्टि से तो संस्कृत भाषा का ही व्यक्त ज्ञान बन रहा है, उपयोग संस्कृत भाषा में ही है। ऐसे ही समझिए कि लब्धि और व्यापार की अपेक्षा से इन चारो ज्ञानों में अन्तर है, लब्धि की अपेक्षा चारों ज्ञान साथ होते है, किन्तु व्यापार की दृष्टि से ये ज्ञान क्रमशः हुआ करते है। मतिज्ञान आदिका जो स्वरूप है वह स्वरूप अनेकान्तात्मक है, लब्धि और उपयोग की अपेक्षा से, अर्थात लब्धि की अपेक्षा से चारो ज्ञान एक साथ सम्भव हो सकते हैं, किन्तु उपयोग की अपेक्षा से युगपत असम्भव है। चारो ज्ञान हो सकते है एक जीव में परन्तु उनका उपयोग क्रम से होता है। यों उपयोग सहित मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, और मनः पर्ययज्ञान ये क्रम से हुआ करते है।

ज्ञान के फल चार कहे गये है, जिनमें एक साक्षात फल है और शेष तीन परम्परा फल है इस सम्बन्ध का एक प्रवचनांश १०२ वीं कारिका में देखिए–ज्ञान का 'परम्परा' फल–ज्ञान का परम्परा से फल है त्यागनें और ग्रहण करने का ज्ञान होना अथवा उपेक्षा हो जाना किसी भी बात को जानकर यह निश्चय बनना है कि यह पदार्थ छोड़ देना चाहिए अथवा यह पदार्थ ग्रहण कर लेना चाहिए। तो ग्रहण करने और छोड़ देने का जो परिज्ञान होता है तथा त्यागना और ग्रहण करना हे वह परम्पराफल है अथवा उपेक्षाभाव हो जाय, न उसे त्यागे, न ग्रहण करे, दोनों से हो उदासीन हो जाय, ऐसी उपेक्षा भी मति आदिक ज्ञानों का परम्परा फल है, त्याग करना और ग्रहण करना यह केवल ज्ञान का फल नहीं है क्यों कि वह सम्पूर्णज्ञान है वोतराग बिज्ञान है, कृतकृत्यका ज्ञान है, जिसको अबलोक में कुछ भी कार्य करना शेष नहीं है, जो सबसे निराले अपने केवल स्वरूपमें आ गया है उसको अब ग्रहण करने और त्यागनेकी वृत्ति नहीं जगती। तो ग्रहण करने का ज्ञान होना अथवा त्यागनेका ज्ञान होना यह मति आदिक ज्ञानों का परम्परा फल है। तो यह है परम्पराफल।

कोई वस्तु का निश्चय विधि वाक्य से मानते हैं और कोई निषेधवाक्य से मानते हैं इस सम्बन्ध में निर्णय देखिए १०९ वीं कारिका में एक प्रवचनांशमें–विधिवाक्य और प्रतिषेध वाक्य द्वारा वस्तु के प्रतिनियमन की सिद्धिका निर्णय–उक्त विवरण में यह सिद्ध किया गया कि विधि वाक्य और प्रतिषेध वाक्य द्वारा वस्तु तत्व का प्रतिनियम बनता है अर्थात पदार्थ है इसकी सिद्धि विधिवाक्य और प्रतिषेध वाक्य से होती है, क्योंकि पदार्थ ही स्वयं विधिरूप और प्रतिषेधरूप है कोई पदार्थ यदि है तो वह अपने स्वरूप से तो है पर स्वरूप से नहीं है। तब स्वरूप दृष्टिमें विधिरुप है और पररूप की दृष्टि में प्रतिषेधरूप है। तो जब पदार्थ ही स्वयं विधि प्रतिषेधात्मक है तो उसका वर्णन करने वाले वाक्य भी विधि और प्रतिषेध वाक्य दो प्रकार के होंगे हो, अन्यथा अर्थात यदि विधिरुप से और प्रतिषेध रुप से पदार्थ न हो तो केवल विधि से या केवल प्रतिषेध से अर्थ सिद्ध न हो सकेगा। क्योंकि विधि ऐसी कोई है नहीं जो प्रतिषेध से रहित हो और प्रतिषेध कोई ऐसा है नहीं जो विधि से रहित हो। तथा प्रतिषेधरहित विधि किसी विशेषण नहीं बन सकती, किसी का वर्णन नहीं कर सकती और विधिरहित प्रतिषेध किसीका विशेपण

नहीं बन सकता और जहां विधि प्रतिषेध दोनों ही न हों वह विशेष्य ही न कहलायेगा। पदार्थ ही नहीं, सत ही नहीं। जैसे कि आकाशका पुष्प उसको न विधि है और न प्रतिषेध है। तब यह निश्चय करना कि बुद्धि और प्रतिषेध को गौण और प्रधान रखकर सत और असत आदिक वाक्यों में प्रवृत्ति होती है। यह बात युक्ति पूर्वक सिद्ध हुई, इसी कारण से सप्तभंगी में जो अन्य भंग है उनको पुनरुक्त नहीं कह सकते। प्रथम भंग में स्यात अस्ति कहा। इसी को ही शंकाकार कहता है कि इससे ही स्याद नास्ति सिद्ध हो जाती है, फिर द्वितीय भंग को अलग में वर्णन करने की क्या आवश्यकता? सो पुनरुक्तपना नहीं होता। क्योंकि वस्तुतत्व का नियम विधिवाक्य और प्रतिषेध वाक्य से होता है। तो कोई भी भंग यहां पुनरुक्त नहीं है, इन ७ भंगों में अपनी अपना प्रथम दृष्टि है इस तरह सप्तभंगी निर्दोष सिद्ध होती है, और जहां सप्तभंगी है उसका नाम स्याद्वाद है। स्याद्वाद से वस्तु स्वरुप जाना जाता है अब यहां कोई ऐसा एकान्त करे कि विधि के द्वारा ही वाक्य वस्तुतत्व का वर्णन करता है और यह बात सर्व प्रकार से एकान्त रुप है। इस एकान्त मन्तव्य में अब दूषण देते है।

(२६७-२६९) पुरुषार्थसिद्धयुपायप्रवचन १, २, ३ भाग

इसमें पूज्य श्री अमृतचन्द्राचार्य द्वारा विरचित पुरुषार्थसिद्धयुपायके तीन भागोंपर पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी सहजानन्द महाराजके प्रवचन हैं। मंगलाचरणमें सर्ववेदी परमतेज का जयवाद पढ़िये, पृ० १ के एक प्रवचनांशमें– सर्ववेदी परम तेजका जयवाद–पुरुषार्थ सिद्धि के उपायके प्रसंगमें श्री अमृतचन्द्र जी सूरि उस परम तेज का जयवाद कर रहे हैं कि जो पुरुषार्थ को सिद्धि होने पर प्रकट हुआ करता है वह परमज्योति जयवंत हो, जिस ज्योतिमें एक साथ अनन्त पर्यायोंसे समस्त पदार्थ ऐसे प्रतिबिंबित होते हैं जैसे कि दर्पण के तलमें दर्पणके समक्ष जो आया हो वह सब प्रतिबिम्बित होता है। आत्मा ज्ञानस्वरुप है। ज्ञानका स्वभाव जानना है। जाना वह जाता है जो कि सत् हो। तब जितने भी सत् हैं वे सबके सब ज्ञानमें अवश होकर प्रतिबिम्बित होते हैं। यदि कुछ पदार्थ प्रतिबिम्बित हों कुछ न हों, ऐसी बात रहे तो इसका अर्थ यह है कि अभी ज्ञानमें कलंक लगा है, कुछ मलिन है तभी वह सब सत् को नहीं जानता। ज्ञानको जानने के लिए यह जरुरी नहीं है कि सामने पदार्थ हों तब जाना जाय। यह तो छद्मस्थ जीवोंमें जिन के मतिज्ञान और श्रुतज्ञान है उनको मतिज्ञानमें यह बात बनती है कि सामने पदार्थ हो तो उसे जाने, उस समय भी वह मतिज्ञान ज्ञानके द्वारा जानता है, सामने है इसलिए नहीं जानता, किन्तु मतिज्ञानकी उत्पत्ति का निमित्त हो ऐसा है। तो ज्ञानके लिए यह जरुरी नहीं है कि सामने कोई पदार्थ हो तो उसे जाने। ज्ञानका काम जानना है और वह सत् को जानता है। तो कहीं भी कोई सत् हो वह सब ज्ञानमें ज्ञात हो जाता है, चाहे भूतकालमें किसी पर्यायमें सत् हो। सत् जो कि सदा रहता है वह अतीतकालमें किसी पर्यायरुपमें पदार्थ था, जिस किसी पर्यायमें पदार्थ होगा, जिसकिसी रुपसे पर्यायमें पदार्थ वर्तमान में है उन सबको ज्ञान जान लेता है, हम आप नहीं जान पाते। तो यह ज्ञानावरण कर्म लगा है, उसके उदयमें ऐसा होता है, पर ज्ञानके स्वरुपकी ओर से कोई प्रतिबन्ध नहीं है कि ज्ञान इतने को जाना करे, इतने को न जाने। ज्ञानका स्वभाव समस्त सत्को जानने का है।

परम ज्योति की प्राप्ति का प्रथम परम उपाय देखिये छन्द २ के एक प्रवचनांशमें पृ० ८–परमज्योतिकी प्राप्तिका प्रथम परम उपाय–उस परम ज्योतिको प्राप्त कर लेने के उपाय में यह स्याद्वाद ही समर्थ है। हम उस ज्योतिको अन्य समस्त प्रभावों से पृथक समझ सकें ऐसी कला स्याद्वादकी कृपा से ही तो प्राप्त होती है। यह अपने आपको सहज तत्वके कारण अपना सहज स्वरुप है। और समस्त पर पदार्थ पर–भावोंसे न्यारा है, ऐसी बात समझमें आये तभी तो यह उपयोग विकारोंको न ग्रहण करके केवल एक

ज्ञानस्वरूप का ही ग्रहण करेगा। यह सब स्याद्वादकी तो कृपा है। जैन शासनका अगर कोई खास काम है, इसकी कोई खास विशेषता है तो यह एक प्रमुख विशेषता है कि स्याद्वादको विधि से वस्तु-स्वरुप का यथार्थ निर्णय कराया गया है जिस यथार्थ निर्णयके कारण जीव का मोह दूर होता है और मोह दूर हो जाना ही एक श्रेय चीज है, कल्याणभूत बात है। तो जो उस ज्योति को प्राप्त कराने में उपायभूत है परमागम का बीज अनेकान्त स्वरुप है उस अनेकान्त स्वरुप को मैं नमस्कार करता हूं।

व्यवहारमें मुख्य व उपचार कथन की छांट कैसे करेंगे, देखिये ४ वें छन्दके एक प्रवचनांशमें, पृ० १०—वचन व्यवहारमें मुख्य व उपचार कथनकी छांट—अपनी बोलचालमें भी इस प्रकार की छांट करना यह भी एक ज्ञानकला है। इसमें मुख्यबात क्या है और औपचारिक बात क्या है? घीका घड़ा उठा लावो, पानी का लोटा ले आवो, नहाने की बाल्टी ले आवो आदि कितनी ही बातें व्यवहारमें बोली जाती हैं, पर क्या यह मुख्य कथन है? यह कथन उपचार का है। कोई घी का भी घड़ा होता है क्या? अरे जिस घड़े में घी रखा है उसे लाग घी का घड़ा बोल देते हैं। तो यह घी का घड़ा कहना उपचार कथन है। कोई बाह्य वस्तु हमें दुःख नहीं देती, यह बात बिल्कुल निश्चित है। हम ही अपनी कल्पनायें बनाकर किसी बाह्य वस्तु पर दृष्टि देकर दुःखी होते हैं यहां यह कहना कि इस पुरुष ने इसे दुःखी कर दिया, यह मुख्य कथन है या उपचार कथन है? उपचार कथन है, निमित्त नैमित्तिक भाव ऐसा है कि जिसमें यह सारा विश्व गुंथा हुआ है। हम शुभ अशुभ परिणाम करते हैं उसका निमित्त पाकर पुद्गल कर्म बन्ध जाते हैं और जब पुद्गलकर्म का उदयकाल आता है तो यह जीव क्रोधादिक रूप परिणम जाता है। वहां यह कहना कि देखो कर्म ने इसे क्रोधी बना दिया अथवा कर्म ने इसे परतंत्र कर दिया, यह कथन उपचार कथन है, तथ्य वहां यह है कि कर्मोंके उदयका निमित्त पाकर यह जीव अपने में विकार भाव उत्पन्न करके स्वतन्त्रता से स्वयं परतंत्र हो जाता है। निमित्त नैमित्तिक भावका निषेध नहीं किया जा सकता है, तिस पर भी प्रत्येक पदार्थ स्वतन्त्र है अर्थात् केवल अपने ही परिणमन से परिणमते हैं, तो इस सब कथनमें यह जानते रहना चाहिए कि यह मुख्य कथन है अथवा यह उपचार कथन है।

पुरुषार्थसिद्धिके उपाय का संक्षेपमें विवेचन करनेवाली ५ वीं गाथाके एक प्रवचनांशमें पढ़िये, सम्यग्दर्शन के स्वरूपकी झांकी, पृ० ३६—मोक्षमार्ग की आन्तरिकता—इस श्लोकमें तीन बातों का लक्षण किया है, वे बहुत विशेषताकी है। जीव अजीव, आस्रव आदि ७ बातोंका श्रद्धान होना सम्यग्दर्शन है, ऐसा बताया है। ७ बातोंका श्रद्धान होना सम्यग्दर्शन नहीं है, किन्तु सम्यग्दर्शनका कारण है। किसी विधि रूपमें नहीं बताया जा सकता कि सम्यक्त्व है क्या? इसी कारण ग्रन्थकारने इसे अनिर्वचनीय कहा है। यह शब्दोंसे नहीं कहा जा सकता कि सम्यग्दर्शन किसे कहते हैं? परद्रव्योंसे भिन्न आत्मतत्त्वकी रुचि करना सो सम्यग्दर्शन है। अच्छी जगह रुचि हो तो क्या, खोटी जगह रुचि हो तो क्या? कोई कहे कि आत्मा की प्रतीति करना सम्यग्दर्शन है, आत्माका अनुभवन करना सम्यग्दर्शन है, तो अनुभवन भी ज्ञानका कार्य है। कौन सा शब्द आप कहेंगे जिससे विधिरूप देखा जा सके कि इसका नाम सम्यग्दर्शन है? विपरीत अभिप्राय चलता आया था, उसका दूर करना इसका नाम सम्यग्दर्शन है, विपरीत अभिप्रायसे दूर हो जाना मिथ्यादर्शनका तो हम विपरीत रूप समझ सकते हैं क्योंकि वह औपाधिक भाव है। विधिरूपसे उसका वर्णन कर सकते हैं। परभावोंको अपनाना यही है मिथ्यादर्शन। अब उसकी अपेक्षा लेकर यह भी कहते हैं कि परभावों का अपनाना न रहे वह है सम्यग्दर्शन। इस प्रकार के लक्षण में एक

काम के लिए उत्पादव्ययध्रौव्य इन तीनों की झलक आती है। इस प्रकार विपरीत अभिप्राय को दूर करके आत्मतत्त्व का निश्चय करके आत्मतत्त्व से चलित न होना, यही है पुरुषार्थ की सिद्धि का उपाय।

हिंसा और अहिंसाका स्वरूप क्या है, इसका वास्तविक दर्शन कीजिये ४८ वें छन्दके एक प्रवचनांशमें। इसी लक्षणके आधार पर १७ प्रकार की घटनाओंमें हिंसा अहिंसा घटितकी, यह सब विवेचन अपूर्व है। मूल स्वरूप देखिये-पृ० ७६-हिंसा और अहिंसाका स्वरूप-हिंसा का स्वरूप क्या है और अहिंसाका स्वरूप क्या है? उसका विश्लेषण इस गाथामें है। वास्तवमें रागादिक भाव उत्पन्न न हों तो यह अहिंसा कहलाती है। अपनेमें रागद्वेषमोह भाव न जगे तो क्या स्थिति होगी। निर्विकार केवल ज्ञाताद्रष्टाकी स्थिति बनेगी। वही तो अहिंसा है। रागादिक भाव न उत्पन्न हों उसको अहिंसा कहते हैं और रागादिक भाव उत्पन्न हो जायें तो उसे हिंसा कहते हैं। अब वह रागभाव चाहे सूक्ष्मपने से जगे तो भी हिंसा है। सूक्ष्मपनेसे जगने पर स्वरूप से तो च्युत ही हुआ। इस कारण वह हिंसा कहलायी। लोग कहते हैं कि हमने इसकी हिंसा कर दी, पर कोई किसी दूसरे की हिंसा नहीं करता, खुद की हिंसा करता है। जैसे कोई जलते हुए कोयलेका अंगार हाथमें लेकर किसी दूसरे को मारता है तो चाहे जिसे मारा है वह न जले, पर मारने वाला जरूर जल जाता है। तो अपने चैतन्यस्वरूपका घात करना इसका नाम हिंसा है। यह जिनेन्द्रभगवानके आगमका संक्षेप है। इस लक्षणसे शुभोपयोगका परिणाम जगा वहां भी रागभाव है तो वह भी हिंसा हो गई। एक निर्विकल्प अंतस्तत्त्वका उपयोग है सो तो अहिंसा है और बाकी जितने भी विकृत परिणाम हैं वे सब हिंसा कहलाते हैं।

झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह भी हिंसा है, इस आधार पर इनका अद्भुत वर्णन है। जरा उदाहरणार्थ चोरी पापमें हिंसा कैसे है, दिग्दर्शन कीजिये १०२ वें छन्दके प्रवचनमें, पृ० ११२-चौर्य पाप का स्वरूप और उसमें हिंसा दोषका कथन-यहां तक झूठ बोलना नामक पाप का वर्णन किया, अब चोरी के पाप का वर्णन कर रहे हैं कि प्रमाद कषायके सम्बन्धसे बिना दिए हुए परिग्रहका ग्रहण कर लेना सो चोरी है और वह जीववधका कारण है इसलिए हिंसा है। जो मनुष्य किसी की चीज की चोरी करने का परि-णाम करता है तो वह बिना कषाय किये चोरी नहीं कर सकता। उसे कितना सजग होकर रहना पड़ता है, कितनी कषाय करनी पड़ती है? इस कषायके ही कारण दुखकी वह कितनी बड़ी हिंसा करता है। चोरी करने में हिंसा है क्योंकि वह चोरी करने वाला कषाय करके अपने चैतन्य प्राणोंकी हिंसा करता है। चोरी करने वाला अपने स्वरूपको सुध खो देता है। अपने आपमें वह नहीं रह सकता और बाहरी पदार्थों में ही उसकी दृष्टि रहती है। तो चोरी करनेमें नियमसे हिंसा है। चोरी करनेका यदि पापका परिणाम न करता तो उसके ज्ञान और आनन्दका विकास होता। पूर्ण ज्ञान और आनन्दको भोगता। तो ज्ञान और आनन्दका जो विकास रुक गया यह तो अपने आपकी बहुत बड़ी हिंसा करली। तो चोरी करने में भावप्राणका तो घात होता ही है और जिसकी चीज चुराया उसके द्रव्यप्राणका घात है। कोई थोड़ा १०-२०-५० रूपये भी काट ले तो उसको कितना खेद होता है और अपने हाथ से दान दे तो उसमें कितनी प्रसन्नता होती है। दूसरे की चीज चुराने में जिसकी चीज चुराई उसका भी प्राणघात होता है और चुराने वाले के भावप्राणका घात होता है, इसलिए चोरीकी हुई वस्तुमें नियम से हिंसा है।

रात्रिभोजन भी हिंसा का रूप है, रातदिन खाते रहना भी हिंसा का रूप है। इस सम्बन्धमें जब यह प्रश्न रखा जाता है कि रात दिन खाते रहने में हिंसा है तो दिनमें न खाया, रात को खा लिया यह तो हिंसा न रहेगी,

देखिये इसका समाधान १३१, १३२ वें छन्दके प्रवचनमें, पृ० १३२–१३३–हिंसा कम करनेके लिए दिन भोजन त्याग कर रात्रिभोजन करने को शंका व उसका समाधान–जब रात दिन खाते रहने में रागादिक की विशेषता है और उस कारण हिंसा लग रही है तब तो यह काम करना चाहिए कि दिनके भोजनका त्याग करके और रात्रिमें भोजन कर लिया करें। इससे दिनकी हिंसा तो बच जायेगी। शंकाकार का कहने का मतलब यह है कि दिन के भोजन को त्यागकर रात्रि में भोजन ग्रहण किया करें तो उसमें सदाकाल हिंसा तो न होगी, दिन की हिंसा तो बच जायेगी। केवल रात्रिकी हिंसा रह जायगी। तो शंकाकार को इस शंका के उत्तरमें आचार्यदेव कहते हैं कि यह शंका ठीक नहीं है, क्योंकि दिनके भोजन की अपेक्षा रात्रिके भोजनमें निश्चयसे रागभाव अधिक रहता है, और कुछ अनुभव करके कुछ चिन्तन करके भी आप सब समझ सकते है कि रात्रिके भोजन करने में मनुष्य कितना राग करता है, कितनी आसक्ति करता है। दिनके भोजन की अपेक्षा इसमें अधिक राग है। यहां अंतरंग से जवाब दिया जा रहा है। जैसे कोई यह शंका करने लगे कि पेट ही तो भरना है, अन्न खाकर पेट भरें अथवा मांस खाकर पेट भरें, इन दोनों में कुछ भी अन्तर नहीं है। बात एक है। तो देख लो ना, अन्न खानेमें जीव को रागभाव कैसा रहता है, और मांस खाने में जीवको कैसा तीव्र राग रहता है? उदर भरने की अपेक्षा से सब प्रकार के भोजन समान हैं। पर मांस खानेमें रागभाव विशेष होता है, क्योंकि अन्न तो सभी मनुष्योंको सहज मिल जाता है और मांस की जब बहुत अधिक इच्छा हो अथवा शरीर आदिक का बड़ा स्नेह हो तो बड़ा प्रयत्न किया जाता है तब थोड़ा मांसका भोजन प्राप्त होता है। अतएव मांस खाने में रागभाव अधिक है। तो यह रात्रिभोजन त्यागने योग्य है। इसके समाधानमें दो तीन बातों पर प्रकाश डाला है। प्रथम बात तो यह है कि दिनमें भोजन करने को अपेक्षा रात्रिमें भोजन करनेमें रागभाव विशेष होता है। दूसरी बात यह आती है कि दिनमें भोजनको सुलभता रहती है। रात्रिमें भोजन बनानेमें और प्राप्त करनेमें उसकी अपेक्षा कुछ कठिनाई रहती है अतः रात्रिभोजन में रागभाव की तीव्रता रहती है, उसे त्याग देना चाहिए। तीसरी बात यह बतलाई है कि रात्रि में भोजन करने में कामवासना आदिक की विशेषता अधिक रहती है। रात्रि भोजन करने में शरीर पर और रागादिक वासना पर विशेष स्नेह है, इस कारण दिनमें भोजन करने की अपेक्षा रात्रि भोजन में हिंसा विशेष है। यह तो एक भीतरी भाव का समाधान है। इसमें द्रव्यहिंसाकी बात अभी तक नहीं कही है।

शेष चार व्रतोंकी भांति ७ शीलोंमें भी अहिंसा के विकास का प्रयोजन यहां बताया गया है। इसकी पुष्टि के प्रवचनोंके अनन्तर सल्लेखना अर्थात् समाधिमरण के प्रवचनोंमें भी अहिंसा धर्म की सिद्धि की गई है, सल्लेखना का कितना महत्त्व है इसकी झांकी कीजिये १७५ वी गाथाके एक प्रवचनांशमें, पृ० १७४-सवधर्मस्व ले जाने के लिए सल्लेखनाका समर्थ वाहन–यह श्रावक चिन्तन कर रहा है कि हमने मनुष्य रूपी देशमें एक अणुव्रत रूपी व्यापार किया उससे जो धर्म रूपी धन कमाया है अब उसको हम साथ ले जायेंगे जहां हम जा रहे हैं। तो कोई एक आधार होना चाहिए जिसमें भरकर हम ले जायें। जैसे कोई मनुष्य किसी देश में व्यापार करके धन कमाता है तो धन ले जाने के लिए रेलगाड़ी अथवा जहाज आदिक कोई साधन चाहिए। इसी प्रकार हम व्रत नियम पाल करके धर्मधनको परलोक देशान्तरमें लिए जा रहे हैं तो उसका आधार सल्लेखना है। जिसका मरण समय में ऐसा वातावरण मिला, ऐसा परिणाम बढ़े कि मोह का बिल्कुल परित्याग हो, रागद्वेषकी ओर उपयोग न जाय और आत्मस्वभावकी ओर दृष्टि रहे, अपने आत्माकी प्रतीति ज्ञानमात्र रूप रखें ऐसी स्थितिमें मरण समय गुजारे तो उसका यह क्षण धन्य है। तो अपना यह भावी जीवन सफल करने के लिए अथवा संसार दुःखसे छुटकारा पानेके लिए यह आवश्यक है कि मरण समय में सल्लेखना हो, सन्यासपूर्वक मरण हो। जैसे किसी ने किसी देशमें पहुंचकर

बड़ा कष्ट उठाकर बहुत धन कमाया और चलते समय वह किसी को यों ही सौंप दे तो उसका वह धन शीघ्र ही नष्ट हो जायगा और जीवन भर उसने जो श्रम किया वह व्यर्थ ही किया, इसी प्रकार अपने जीवन में तप, व्रत, संयम, पूजन, स्वाध्याय आदिक को करके बहुत सा धर्म धन कमाया है और उसे यों ही किसी को सौंप दे अर्थात् चलते समय अपने परिणाम बिगाड़ ले तो वह सब धर्म धन नष्ट हो जायगा, दुर्गति हो जायगी, इस कारण मरण समय में सल्लेखना अवश्य करना चाहिए।

सल्लेखना व्रती की आन्तरिक भावना देखिये १७८ वीं गाथा के एक प्रवचनांशमें, पृ० १७९–१८०– सल्लेखना व्रती की आन्तरिक पात्रता–वह कितना पूज्य पुरुष है जो समाधिमरण कर रहा है। उसके अन्दर कितना आत्मबल है ? धन्य है वह ज्ञान, वह उपयोग जो मरण को कुछ न गिनकर समता परिणामको महत्व दे रहा है और मोह रागद्वेषसे हटकर अपने आपमें स्थिर होना चाहता है, अन्त समयमें ऐसी धर्म–आराधना बनी तो जीवन भर किए हुए जो व्रत नियम धर्म साधन हैं वे सब सफल हो जायें और जिसके जो संस्कार बना है मरण समय उसके बेहोशी आ जाय, अथवा कुछ शारीरिक उपद्रवोंके कारण वायु के जोर से बड़बड़ाने लगे, कुछ अन्य प्रकार की चेष्टा शरीरमें होने लगे, तिस पर भी ज्ञान का संस्कार बसाया है तो उस जीव के अन्दर उस ज्ञान का प्रकाश बना हुआ है, जैसे सोया हुआ पुरुष मुर्दा सा पड़ा दिखता है पर भीतर में उसके कल्पनायें भी जग सकती हैं, स्वप्न भी आ सकता है, ज्ञान भी चल रहा है। तो जैसा उसने संस्कार बसाया, उस संस्कार के माफिक सोई हुई परिस्थिति में भी ज्ञान चलता रहता है। यदि ऐसी ही मूर्छित दशा हो जहां इन्द्रियां काम न करे वहां पर भी संस्कार के अनुसार ज्ञानकी बात चलती रहती है। दोनों दशायें एक ही हैं। सोया हुआ पुरुष भी मूर्छित है, तो मूर्छित होने की स्थिति में भी इन्द्रियां काम नहीं कर रहीं, तिस पर भी जैसा संस्कार बसा है वह बात बराबर चल रही है। ज्ञानी सम्यग्दृष्टि पुरुषने जो तत्त्वाभ्यास बनाया है ऐसा तत्त्वाभ्यासी पुरुष मरण कालमें मूर्छित हो जाय तब भी उसका वह अभ्यास बराबर वहां संस्कार बनाये रहता है। उस में उपयोग बनना, आत्मतत्त्वको छू लेना यह बात उसके अन्दरमें चल रही है जिसने जीवन में तत्त्वाभ्यास किया है।

(२६९) रक्षाबन्धनपर्व प्रवचन

मुजफ्फरनगर सन् १९६९ वर्षायोगमें रक्षाबन्धन पर्व पर दो दिन सार्वजनिक प्रवचन हुआ था वही यह प्रवचन है। अभी अप्रकाशित है।

(२७०) सप्तभगंतरंगिणी प्रवचन

इस पुस्तक में सप्तभगं तरंगिणी ग्रन्थ पर पूज्य श्री सहजानन्द महाराज के प्रवचन हैं देखिए पदार्थ का पूर्ण परिचय सप्त भंगोंमें क्यों हो जाता है देखिए पृष्ट ३ पर एक प्रवचनांश:–७ वाक्यों में यह अधिगम कैसे बना ? इसका कारण है सुनने समझने वाले के प्रश्न। प्रश्न कर्ता के जो प्रश्न हुए उसका ज्ञान हो जाय, उसका समाधान हो जाय, यह तो एक प्रयोजन रहता ही है। तो उस प्रश्न के समाधान में जो वाक्य कहा वह इन सप्तभगों में की ही बात है। देखिये, समझना है एक पदार्थ को। उस पदार्थ में अविरूद्ध नाना धर्मो का ज्ञान किया जाना है। यद्यपि वे धर्म शब्दशः विरूद्ध जब रहे है लेकिन वे सभी धर्म एक वस्तु में ही रह रहे है इस लिए वे अविरूद्ध कहलाते हैं। और न, इन दोनों का स्वरूप तो विरूद्ध है। है का अर्थ विधि है, न का अर्थ निषेध है तो स्वरूप यद्यपि इसके विरूद्ध है लेकिन ये

सभी धर्म एक वस्तु में रहते है इसलिए अविरूद्धघट अपने स्वरूप से है, यह भी बात घटमें देखी जाती है और घट पर से नहीं है यह भी बात घट में देखो जाती है। इस कारण ये दोनों धर्म परस्पर अविरूद्ध हो गए। तो ऐसे अविरूद्ध विधि प्रतिषेध नाना धर्म एक पदार्थ में रहते हैं। उस पदार्थ के विशेषण है, ऐसे ज्ञान को उत्पन्न करने वाले जो ७ वाक्यों का समुदाय है वही सप्त भगी कहलाता है।

सप्तभंगों में क्रमार्पित, सहार्पित व स्वतन्त्र भगोंका समन्वय है, इस सम्बन्ध में एक प्रवचनांश पढ़िये पृष्ट २४–२५:–उदाहरणपूर्वक क्रमार्पित, सहार्पित व स्वतन्त्र भगोंका समर्थन:–जैसे दही, और अनेक मसाले मिलाकर एकपानक द्रव्य बनाया जाता तो उस पानक द्रव्य में भिन्न–भिन्न केवल दही, गुड़ आदिककी अपेक्षा से अब कोई भिन्न जात्यन्तरका स्वाद उसमें आता है। जैसे चार–पांच चीजें मिलाकर कोई एक पानक बनाया गया, पेय वस्तु बनाई गई तो अब उस पेय वस्तु में स्वाद उन केवल दही, गुड आदिक से विलक्षण है। और तब यह कह सकते हैं कि अब उस पानक का स्वरूप केवल दही गुड आदिक का चतुष्टय ही नहीं है, किन्तु उससे विलक्षण स्वाद है। और फिर यह भी कह सकते कि उन से विलक्षणस्वाद ही पानक का स्वरूप नहीं है, क्योंकि उनके अन्दर दही गुड आदि सबका स्वाद भी पाया जाता है ऐसे ही समझना चाहिए कि तृतीय–चतुर्थ भग का पार्थक्य तृतीय भग में कहा गया है कि स्वाद अस्ति और नास्ति, इनका उभय वस्तु का स्वरूप है। सो ये दोनों एक साथ कहे नहीं जा सकते, क्रम से निरखेंगे तो एक एक बात दीखेगा। ऐसी स्थिति में यह कहा जायेगा कि उन दोनों से विलक्षण अव्क्तव्यपना वस्तुका स्वरूप है, लेकिन फिर यह भी नहीं कह सकते कि अव्क्तव्यपना भी वस्तु का स्वरूप है, क्योंकि उस वस्तु में अस्तित्व नास्तित्व धर्म की भी प्रतीति हो रही है। तो न केवल अस्तित्व वस्तुका स्वरूप है, न नास्तित्व वस्तु का स्वरूप है और न केवल दोनों का उभय वस्तु का स्वरूप है न केवल अव्क्तव्यपना वस्तु का स्वरूप है। सो और आगे भंगों में पढ़िये। तब किसी एक धर्म को लेकर अन्य धर्मोका अभेद करके सप्तभंगी की संख्या कम कर देना कैसे सम्भव है? एक सत्व स्वरूप तो यो नहीं है कि उसमें कथंचित असत्व पाया जाता केवल असत्व वस्तुका स्वरूप यो नहीं है कि उसमें कथंचित सत्व पाया जाता है और केवल अलग–अलग ये रहे यह भी स्वरूप नहीं है, क्योंकि वस्तु में अस्तित्व और नास्तित्व दोनों पाये जाते हैं। और अस्तित्व नास्तित्वका उभय भी वस्तुका स्वरूप नहीं है, क्योंकि उनसे विलक्षण अवतव्यपना पाया जाता है और अवतव्यपना ही वस्तु का स्वरूप नहीं क्योंकि वहां अव्क्तव्यपना पाया जाता है और अवतव्यपना ही वस्तुका स्वरूप नहीं है, क्योंकि वहां कथंचित सत्व और कथंचित असत्व की प्रतीति पाई जाती है इसी प्रकार शेष के अवं के तीन धर्मों में भी बात लगानी चाहिए तो दृष्टिभेद से धर्मभेद अनुभव में आता है और इस प्रकार जब समस्त भगों का स्वरूप अपेक्षा में भिन्न–भिन्न नजर आता है तो अलग-अलग स्वभाव वाले ७ धर्मों की सिद्धि हो गई। जब वस्तुमें ७ प्रकार से धर्म प्रसिद्ध हुए तो धर्मविषयक संशय भी ठीक प्रकार से हुए और ७ प्रकार के संशयोंमें जिज्ञासा भी ७ प्रकारकी हुई। तो अब जिज्ञासा के समाधानमें ७ प्रकारके समाधान रूप वाक्य हुए। यों सप्तभगोंका स्वरूप ७ भगों में ही युक्तिसिद्ध है।

स्याद्वाद की सूचक सप्तभगों में स्यात शब्द की उपयोगिता का दिग्दर्शन कीजिए एक इस प्रवचनांशमें पृष्ठ ४५–४६:–भगों में स्यात शब्द की उपयोगिता:-देखिए, वाचकपना व द्योतकपना दोनों पक्ष अव्यय निपातोंमें शास्त्रसम्मत है। यहां इस बातको स्पष्ट किया गया है कि इन भंगों के प्रयोग में कुछ एक शब्द बोलने पर हो पूरी बात ध्वनित हो जाता है तथापि जितना समझना है, जो जो निपात शब्द

द्योतक और वाचक दोनों होते हैं। कोई निपात शब्द केवल द्योतक और वाचक दोनों होते है। कोई निपात शब्द केवल द्योतक होते है–जैसे एव ये शब्द द्योतक ही है और एवं स्यात आदिक शब्द द्योतक भी है और वाचक भी जो केवल द्योतक है उससे मतलब तो यह है कि उन शब्दों ने अपना अर्थ कुछ नहीं कहा केवल किसी दूसरे अर्थका समर्थन किया है शब्द वाचक हुआ इसका अर्थ यह है कि वह शब्द अपना अर्थ भी रखता है यहां स्यात शब्दका यदि प्रयोग न किया जाय तो अनेकान्तरूप अर्थका ज्ञान एकान्त पक्ष की व्यावृत्ति पूर्वक ही होती है यदि एकान्त पक्ष हटा दिया जाय तभी तो अनेकान्त रूप अर्थ का ज्ञान होगा। एकान्त पक्ष हटानेका सूचक है स्याद शब्द। स्याद अस्ति एव, इसमें यदि स्यात का प्रयोग न हो तो अनेकान्त रूप अर्थका ज्ञान नहीं हो सकता। जैसे कि एव शब्दका प्रयोग न हो तो विवक्षित अर्थका निश्चयरूप ज्ञान नहीं हो सकता है। यो प्रथम भंग में जिने शब्द बोले गए है सभी शब्द उपयोगी है। स्यात अस्ति एव घट यहां चार शब्दों का प्रयोग है। घट कहने से तो मूल आधार आधार मालूम हुआ किस पदार्थ के सम्बन्ध में बात की जा रही है अस्ति कहने से धर्म का बोध हुआ कि किस धर्म को प्रधान बनाकर यहां अनेकान्त कहा जा र । है। स्यात कहने से अपेक्षा दृष्टि लग गई है कि यह बात किसी अपेक्षा से है। सर्वथा नहीं बनता अस्ति। उसको निवृत्ति एक स्यात शब्द से है और एक शब्द अवधारण के लिये है कि इस अपेक्षा से ऐसा ही है।

अनेकान्त में भी सप्तभंगी की प्रक्रिया है उसका दिग्दर्शन कीजिए एक प्रवचनांश में पृष्ट ९८–९९:–

अनेकान्तमें सप्तभगीं की विधि:–सम्यक एकान्त, मिथ्या एकान्त, सम्यक अनेकान्त, मिथ्या अनेकान्तका स्वरूप समझकर अब यह समझिये कि सप्तभंगीको योजना यहां किसप्रकार लगती है ? सम्यक एकांत और सम्यक अनेकान्तका आश्रय लेकर जब प्रमाण और नयकी योजना को अपक्षा की जाती है तो उस अपेक्षा से ये ७ भंग उत्पन्न होते है कि कथंचित अनेकान्त है, कथंचित एकान्त है, कथंचित उभय, कथंचित अवक्तव्य, कथंचित एकान्त अवक्तव्य, कथंचित अनेकान्त अवक्तव्य औरकथंचित एकान्त अनेकान्त रुप और अब अवक्तव्य है। इस तरह सप्तभंगी की योजना बन जाती है अब उनका विवरण सुना। नयकी विवक्षा से तो स्यात एकान्त बनाता है, क्योंकि स्यात नय एक एकान्त को विषय करता है। तो नयको अपेक्षासे स्यात एकान्त हुआ। और प्रमाणको अपेक्षासे स्यात अनेकान्त हुआ, क्योंकि प्रमाण समस्त धर्मोका निश्चयात्मक होता है। प्रमाणसे एक वस्तु के सकल धर्मों का निर्णय होता है। अब इन दो भंगों के प्रति परस्पर में ऐसा तर्क बनाये कि देखिये। यदि अनेकान्त अनेकान्त ही है, एकान्त रुप नहीं अर्थात एक अनेकान्त का ही आग्रह किया जाय और एकान्त का निषेध किया जाय तो देखिए, एकान्त का अभाव होने पर एकान्त का समूहरुप ही अनेकान्त था सो अनेकान्त का भी अभाव हो जायेगा। जैसे कोई पुरुष वृक्ष को तो माने और शाखाओं का निषेध करें। कहे–भाई वृक्ष ही है, शाखा कुछ भी नहीं है। तो शाखाओं का अभाव होने पर वृक्ष का अभाव हो गया। जहां शाखा, पत्ता पुष्प आदिक कुछ नहीं है। वहां वृक्ष ही क्या है ? तो अनेकान्त होता है एकान्तका समूह रुप याने सम्यक एकान्त का जो समुदाय है वही सम्यक एकान्त है। अब एकान्त का किया जाय सर्वथा निषेध तो अनेकान्त कहांसे बनेगा ? तब माननाही होगा कि स्यात अनेकान्त है, स्याद एकान्त है, स्याद एकान्त है। इस तरह जब ये दो मूल भंग सिद्ध हो जाते है कि स्यात एकान्त और स्याद अनेकान्त। तब उत्तर भंगों को भी योजना बन सकती है याने स्यात एकान्त अनेकान्त रुप, स्यात उभयरुप याने अवक्तव्यरुपादिक शेष के ५ धर्म भी बन जायेंगे। तो प्रमाण और नयकी विवक्षामें सप्तभंगी का सिद्धि होती है।

स्याद्वादका आश्रय करनेपर वस्तु स्वरूपका सम्यक परिचय होता है इसका दिग्दर्शन कीजिए एक प्रवचनांश

में पृष्ठ ११३-११४:-घट में पररूप के नास्तितत्व की घटनिष्ठधर्मता होने से द्वितीय भंग के प्रयोग की निर्बाधता-अब उक्त शंका के समाधान में कहते है कि यह शंका युक्त नहीं है। क्योंकि विचार करने पर यह शंका निर्मूल हो जाती है। देखिए आपने पूछा है कि घट में जो पररूप से असत्व है कपड़े में जो कपड़े का असत्व है उसका वह असत्व कपड़े रूप से न होने को बातरूप असत्व है। पटका धर्म है या घटका यह बताओ ? घटमें पटका असत्व है यो तो समझने की और बोलनें की पद्धति है, पर यहां इस सिद्धान्त का निश्चय करें कि घट में पटरूप से जो असत्व पाया जा रहा है वह असत्व घटका धर्म है या पटका धर्म है यह तो नहीं कहा जा सकता। क्योंकि पटका रूप असत्व पटकी अपेक्षा नहीं है पटरूपता तो पट में पायी ही जाती है अन्यथा पट शून्य हो जायेगा। पट रूपता का असत्व यदि पटका धर्म माना जाय कि पररूपता का असत्व है पट में तो पट कोई चीज ही न रही, क्योंकि अपना धर्म अपने में नहीं है। यह तो कहा ही नहीं जा सकता। अब पटरूप से असत्व को आप पटका धर्म मानते हो तो यानि पटरूपता का असत्व पटमें रहा, फिर पट ही क्या चीज रही, पटका असत्व यदि घटका धर्म मान लिया जाता है तो पटका असत्व पट में है, यह मानना ही पड़ेगा। क्योंकि यदि नहीं मानते तो फिर वह पट का धर्म न रहेगा। पटका धर्म घट के आधार से रहे, यह बात नहीं बन सकती। पटरूप से असत्व का होना पटका धर्म मान रहे हो तो वह पट में हो तो होना चाहिए। स्वका धर्म स्वधर्म के आश्रय ही होता है, पटका धर्म घट के आधार नहीं हो सकता। यदि अन्य वस्तुका धर्म अन्य के आधार होने लगे तो पटका जो वितान आतान प्रकार है, उसका भी आधार घट बन बैठेगा। इस कारण यह नहीं कह सकते कि पटरूप से असत्व होना पटका धर्म है। अब यह स्वीकार यदि करते हो कि पट रूप रूपका असत्व होना घटका धर्म है तब सारे विवाद शान्त हो गये। तब यह हुआ कि घट भावस्वरूप है और पट अभाव स्वरूप है। जैसे कि घट का होना घटका स्वरूप होना घटका धर्म है, ऐसे ही घटके स्वरूप से घटका न होना यह असत्व भी घटका धर्म है। यों घट भावस्वरूप और अभावस्वरूप बन गया और इस तरह जब घट भावस्वरूप भी है, अभावस्वरूप भी है तो घट नहीं है यह प्रयोग भी युक्तिसिद्ध हो जाता है। अन्यथा अभावरूप धर्म के सम्बन्ध जैसे घट असत न होगा, इसी प्रकार भावरूप धर्मके संबंध से घट सतरूप भी न होगा। घट का स्वरूप से अस्तित्व होना घट का धर्म है और उसका आधार घट है और इससे ही यह प्रयोग बनता है कि घट है। इसी प्रकार घट का पररूप से न होना यह भी घटका धर्म है ऐसा यह पररूपसे नास्तित्व घटके आश्रय है। और तभी यह प्रयोग युक्तसिद्ध हुआ कि घट नहीं है। यों घट भावाभावस्वरूप है इसके विरोध की कल्पना अयुक्त है।

(२७१-२७३) अध्यात्मसहस्री प्रवचन १, २, ३ भाग

इसमें श्री सहजानन्द जी वर्णी महाराज के स्वरचित अध्यात्मसहस्री के आद्यप्रकरणोंके प्रवचन हैं। प्रथम ही प्रथम यह बताया गया है कि सुख और दुःख दोनों हेय हैं, उपादेय तो आनन्द है, प्रसग के प्रवचनों में से एक प्रवचनांश पढ़िये:-आनन्दकी उपादेयता व सुख दुःख दोनोंका हेयरूपता अभी कुछ दिन पहिले यह प्रकरण था कि संसार में सुख और दुःख दोनों ही हेय तत्व हैं। और इसके कारणभूत, साधनभूत, उपायभूत जो इष्ट समागम हैं वे भी हेय हैं। इष्टका समागम हो तो उसको जरूर दुःख होगा। भोगभूमिमें क्यों सुख बताया गया है लौकिक दृष्टिसे ? वहां इष्टवियोग नहीं है। जुगलिया उत्पन्न होते हैं, वही दोनों स्त्री पुरूष बनते हैं ऐसी वहां की पद्धति है और उनके बच्चे तब उत्पन्न हो गए तब उनकी आयुका अंत होने लगता है। वहां बच्चे गर्भ से बाहर निकले कि पिता को तो आयी छींक और माता को आयी जुभाई तो दोनों गुजर जाते हैं। माता पिता ने बच्चों को नहीं देखा, बच्चों ने माता पिता को नहीं

देखा। इसका मतलब यही है कि इष्ट समागम नहीं हुआ। इष्ट समागम नहीं हुआ तो बस उन्हें किस बात का दुःख हो ? जिनको इष्ट समागम होता है उनको अवश्य ही कष्ट भोगना होता है। जो बाहरी पदार्थों के समागमको इष्ट समझते हैं उनको नियमसे वियोग होगा। चाहे कोई कितना ही धनिक हो, कैसा ही बुद्धिमान हो पर जो इन बाहरी समागमों को अपना इष्ट समझेगा उसके दुःखको कोई मेट न सकेगा। उसकी अन्तिम दशा यही होगीकि दुःखी होना पड़ेगा तो यह इष्ट समागम, जिनके लिए निरन्तर ध्यान बना रहता है वह तो बरबादीका ही साधन है। तो ये सांसारिक सुख जाकि दुःखके कारण है वे भी हेय हैं, और सुख दुःखके निमित्तभूत जो कर्मोदय हैं, पुण्य पाप हैं वे भी हेय हैं, और पुण्य पापके कारण जो शुभ अशुभ भाव हैं, विकारभाव हैं वे भी हेय है। तो निष्कर्ष यह निकला कि शुभ और अशुभ दोनों प्रकारके विकार भाव होते है परके आश्रयसे। तो परावलम्बन यह भी हेय हैं। अर्थ यह निकला कि स्वका आश्रय ही उपादेय है। जब यह जीव अपने इस स्वतंत्र अविकार सहज ज्ञानस्वभावका ज्ञाता होता है तो अपने ही स्वभावका आश्रय करता है। स्वभावका आश्रय करने से सहज अनाकुलता उत्पन्न होगी और आनन्द जगेगा। यही है आनन्द पानेका उपाय।

सैद्धान्तिक वृद्धिशब्दार्थपद्धति, आध्यात्मिक आदि पद्धतियों से नयों का विवरण करके अन्त में बताया है कि नयों की निष्पत्तिका मूल आधार भेद व अभेद हैं। इस प्रसंग को एक प्रवचनांश में बताया है:-देखिये : नयोंके प्रकारोंकी निष्पत्तिका मूल आधार भेदनय व अभेदनय-यहां तक सभी पद्धत्तियोंसे नयोंका संक्षिप्त दिग्दर्शन कराया है। इसका वर्णन करने के बाद एक जिज्ञासा यह होती है कि नयोंका विस्तार जो पहिले किया संक्षेपमें उसे मूलतः समझना चाहें तो ये सभी नय किसमें गर्भित होगे ? ऐसी संक्षिप्त दृष्टियां कितनी हो सकती हैं ? इस जिज्ञासाका समाधान यह है कि सब नय भेद और अभेद इन दो प्रकारों में गर्भित होते है। किसी भी पद्धतिसे, किसी भी प्रकारसे कोई भी कथन बोला जाय, या तो वह भेदको प्रधानतासे कथन करने वाला होगा या अभेदकी प्रधानतासे कथन करने वाला होगा। तो वे नय या तो अभेदनय होंगे या भेदनय। वैसे तो नयोंके विस्तार की बात यह है कि जितना कुछ अब तक बताया गया उतना ही नयका विस्तार नहीं है किन्तु जितने वचन हो सकते हैं, जितने अभिप्राय हो सकते हैं उतने ही नय जानना चाहिए। यों प्रयोजनवश और और प्रकारसे भी नय समझ लेना चाहिए। तो नय कितने है ? जितनी दृष्टियां हैं, लेकिन कितने ही नय हों, उन सब नयोंमें यह कला अवश्य है कि कोई नय तो भेद की प्रधानता से कथन करने वाला है और कोई अभेदकी प्रधानतासे कथन करने वाला है।

उपादान और निमित्तका अर्थ-उपादान शब्दका अर्थ है-उप मायने अभिन्नरूप से और आदान मायने धारण करना। अर्थात् जो अभिन्न रूप से धारण करे उसे उपादान कहते हैं अभिन्नरूप से पर्याय का जहां धारण होता है उसे कहते है उपादान चूंकि द्रव्य अपने अपने पर्याय के सम्बन्धमें पर्याय से तन्मय होता है। इस कारण उपादान कारण वही कहलाता जिस द्रव्य में कार्य है और निमित्त कारण वह कहलाता है कि जो कार्य से तो भिन्न हो याने जिसमें कार्य बताने की चर्चा की जा रही है उस कार्य के कारण से तो पृथक हो, याने उपादान रूप तो नहीं है, पर जिसकी अनुपस्थितिमें यह कार्य न हो सके उन्हें निमित्त कहते है, हुआ क्या कि विकारपरिणमन के होने वाले किन्हीं अन्य पदार्थों में स्नेह किया, मित्रता की, सहयोग हुआ उपस्थिति रूप, निजके कार्यके बनने रूप। ऐसा जिन-जिन पदार्थों की उपस्थिति में कार्य नहीं हो सकता वे पदार्थ सब निमित्त कारण कहलाते हैं। निमित्त शब्दका भी यही अर्थ है, निमित्त शब्दमें तीन बातें पड़ी हुई है-उपसर्ग, धातु और प्रत्यय। उपसर्ग तो नि है, और धातु मि है,

प्रत्यय कृदन्तका लगा हुआ है जिसका अर्थ है कि जो नियम से स्वीकार किया जाय उसे निमित्त कहते है। जो अङ्गीकार किया जाय अथवा जो स्नेह करे वह निमित्त है। उपादान में कार्य हो रहा, जैसे जल गर्म हो रहा, अब उस जलको गर्म होने रूप कार्य में स्नेह कौन कर रहा? इस कार्य का स्नेही कौन है? अग्नि। तो अग्नि निमित्त कारण है। स्नेह दिखाने वाले उस कार्य में समर्थन करने वाला, पुष्टि करने वाला उस कार्य का सहाय अन्य द्रव्य कहलाता है।

मोक्षोपाय के यत्नमें सब कुछ न्यौछावर कर देने के साहस की आवश्यकता–देखिये आप अगर मोक्ष-मार्ग में लगने के काम में आये और वहां कुछ धनलाभ कम हुआ तो इसका दुःख न मानें। मिटता है तो सब मिट जाय। जब जीवन है, आयुका उदय है तो शरीर टिकने का साधन मिलेगा जरूर। और विलक्षणता तो यह है कि ज्यों ज्यों आत्मा के उद्धार के काम में लगेंगे त्यों त्यों जब तक संसारमें रहना होगा ठाठ से रहेंगे। अज्ञानी मिथ्यादृष्टि जन कितना ही तप कर ले वे चक्री तीर्थंकर जैसा वैभव नहीं प्राप्त कर सकते। इसको प्राप्त करने का अधिकार सम्यग्दृष्टि ज्ञानी को ही है, पर उसके लिए हिम्मत यह होना चाहिए कि सब मिटता है तो मिट जाय, कोई हर्ज नहीं, किसी भी बड़े काम में सफल होने चाहिए कि सब मिटता है तो मिट जाय, कोई हर्ज नहीं। किसी भी बड़े काम में सफल सफल होने का साधन हिम्मत ही तो है। बहुत बड़े व्यापार के काम के लिए लोग बड़ी भारी रकम लगा देते है, उन्हें साहस करनापड़ता है कि लाभ मिलेगा तो ठीक न मिलेगा न सही इतनी हिम्मत लगाकर वे उस भारी रकम को लगा देते है तब वे लाभ पाते हैं। इसी तरह अगर अपने आकिन्चन्य धर्म में अपने को समा देना है, मोक्षमार्ग में अपने को लगाना है तो यह हिम्मत बनानी होगी कि मैं तो अकिञ्चन हूं, मेरा मेरे स्वरूप के सिवाय कुछ नहीं है। जब कुछ नहीं है तो दुनिया की दृष्टि में जो कुछ मिला है वह सारा का सारा न रहे तो मेरा कोई बिगाड़ नहीं है। तो दुनिया को दृष्टि में जो कुछ मिला है वह सारा का सारा न रहे तो मेरा काई बिगाड़ नहीं है। मेरा मेरे स्वरूप के सिवाय मेरे में कुछ न रहे यह बात तो मेरे में शुरू से ही है। ऐसी स्थिति आती है तो आये, उनका स्वागत करें, उसकी हिम्मत बनायें तब जाकर आत्मा का मोक्ष लानेको सी युक्ति बनपायगी। यहचीज बनाना है। क्या करना है मोक्षके उपाय के लिए? केवल अपने आपके स्वरूप को जानते रहना है। अकिञ्चन चैतन्य ज्योतिमात्र अमूर्त ऐसे स्वभाव को अपने ज्ञान में लेना यह काम करना, फिर तो जो कुछ होना होगा, अपने आप होगा। किसे मुक्ति मिलेगी? अपने को मिलेगी। क्या उपायों को दृष्टि में लेकर काम बनेगा? अरे बाहर के सारे लक्ष्य छोड़ने से काम बनेगा। जो ऊंची श्रेणियों में साधुजन चढ़ते है आजकल तो श्रेणियां नहीं है, साधुजनों में इतनी क्षमता नहीं है कि वे अपने को धीर बना सके। तो श्रेणी नहीं होती लेकिन जब श्रेणियां मिलती था साधन से, तो श्रेणी में क्या रहता है क्या उसका लक्ष्य रखते थे, क्या उससे लाभ मिल रहा है इसका कुछ वे ध्यान न रखते थे। उनका लक्ष्य तो केवल चैतन्यमात्र अन्तस्तत्त्वका रहता था, जो होना होता था। वह स्वयमेव होता था। तो मोक्ष पाने के लिए अपने आपके उस स्वरूप का चिन्तन बनाना होगा। उसका लक्ष्य बनाओ निमित्तका लक्ष्य न रखो।

उदाहरण पूर्वक सामान्ययोग्यता और विशेषयोग्यता का कथन–उदाहरणमें यो समझ लीजिए कि जैसे मिट्टी में घड़ा होने की शक्ति है तो सभी मिट्टयोंमें घड़ा होने की शक्ति है। और किसी भी हालत में वह मिट्टी चाहे जमीन में पड़ी हो बाहर पड़ी हो, निकली हो, सूखी निकली हो सभी में घड़ा होने की शक्ति है तो वह कहलायेगी एक सामान्य योग्यता, पर विशेष योग्यता दृष्टि से तो घड़ा होने की शक्ति उस मिट्टी में है। जो घड़ा होने से पहिले की जैसी हालत हो। जैसे मिट्टी रूप में समझिये कि जो मिट्टी सान

करके चाक पर रखी है और चाक घुमाकर उस मिट्टी को दबाकर कुम्हार ने घड़ा बनाना शुरू किया तो घड़ा बनने से पहिले जो हालत रहती है मिट्टी की, जिसे कहते है कुसूल पर्याय। एक छोटी कोठरी जैसा आकार बन जाता है, उसके पश्चात घड़ा बनता है। तो घड़ा बनने की विशेष योग्यता उस कुसूल पर्यायवाली मिट्टी में है। तो इसका नाम विशेष योग्यता है। तब जो परिणमन होता है उस परिणमनसे तुरन्त पहिले जो परिणमन होता है उस परिणमन वाली वस्तु को विशेष योग्यता कहा जाता है। सामान्ययोग्यता तो है ज्यों मेरू पर्वत की जड़ के नीचे की मिट्टी है उसमें भी घड़ा बनने की योग्यता है, मगर क्या उस मिट्टी में कोई घड़ा बना देगा ? नहीं बना सकता। उसमें विशेष योग्यता नित्य है, सदा रहती है। सामान्य और विशेष दोनों योग्यता परिणमन का आधार है। सामान्य योग्यता तो सदा है, इसलिए वह कभी हो, कभी न हो, यह कहने में आयेगा ही नहीं जब सामान्य योग्यता वाले पदार्थ में विशेष योग्यताभी आ जाती है। तब काय बनता है। द्रव्य परिणमनरहित कभी नहीं होता। इसकारण यह सिद्ध है कि वस्तु की मूल योग्यताका पदार्थ में तादात्म्य है। अनादि अनन्त स्वरूप से वस्तु में सा-मान्य योग्यता पायी जाती है। किसी प्रकार के पदार्थ में क्या कार्य बनने की बात हो सकता है ? ऐसे प्रश्नके समाधानमें जो उत्तर हो उसमें सामान्य योग्यता का ज्ञान होता है। जैसे मिट्टी में घड़ा बन सकता है और काठ में घड़ा नहीं बन सकता, अथवा पत्थर का घड़ा बना दो. उसको छेद करके काठ में काठ का घड़ा बना दो। तो दृष्टान्त ले लो। जैसे वज्र में घड़ा नहीं बन सकता आकाशमें घड़ा नहीं बन सकता. जीव का घड़ा नहीं बन सकता। अनेक बातें ले लें ता मिट्टी में घड़ा बन सकता है, यह है सामान्य योग्यता की बात, पर जब मिट्टी सानकर तैयार कर चके पर रख दिया और उसको कुठिया पर्यायबन गयी उसके पश्चात हो तो घड़ा बनेगा ना ? तो वहां विशेष याग्यता प्रगट हुई। ये सब मोटे दृष्टान्त दिये जा रहे हैं।

कुछ लोग निमित्तका अन्यलाभ करते है, तो कुछलोग उपादानको पराधीन मानते हैं। इस विषयमें देखिये एक प्रवचनांश-निमित्तनैमित्तिक भाव होने पर भी निमित्त उपादानमें कर्तृकर्मभाव को अनुपपत्ति-निमित्तनैमित्तिक भावकी बात सुनकर चित्तमें यह शंका न करना चाहिए कि इस तरह तो कर्ताकर्म-भावकी बात निमित्त उपादानमें जुट जायगी। देखो ना-जैसा अनुकूल निमित्त मिला वैसा उसमें परि-णमन हुआ फिर तो कर्ता कर्मभाव एकका एक ही में रहता है, यह व्यवस्था न बनेगी। ऐसी शंका न करें, कारण कि प्रत्येक पदार्थ में किसी भी परका कोई कार्य त्रिकाल भी नहीं होता। प्रत्येक पदार्थ अपने स्वरूपको लिए हुए है और अपने ही शीलसे परिणमन करता रहता है और इस प्रसंगमें निमित्तके साथ कर्ता कर्म भावकी बात भी नहीं आयी। निमित्त नैमित्तिक सम्बन्धकी कुछचर्चा चली है कि उपा-दानमें अनेक प्रकारसे परिणमनकी योग्यता होने पर भी जैसा अनुकूल निमित्त प्राप्त किया उस प्रकार से वह विभावरूप परिणम गया। इसमें निमित्तनैमित्तिक भाव और उपादानकी परिणमन स्वतंत्रता ये दोनों बातें निरखनी चाहिए, और ऐसा निरखने पर वस्तुका सम्यक् बोध बनता है। ऐसा होता ही रहता है। हम आप सबके साथ ये ही घटनायें चल रही है। कोई जीव पाप कार्य करना रहता है तो उसके उपादानमें उस उस प्रकार को योग्यता बन जाती है। जो अपने आपमें समृद्ध रूपसे अनुभव नहीं कर पाता, जो अपने आपमें उत्कर्ष भाग को नहीं निरख पाता, योग्यता बन जाती है ऐसी, जो जीव निष्पाप रहता है अपने आपके ज्ञानके उपयोगमें रहता है उस पुरूषके इतनी योग्यता है कि सर्व विशि-ष्ट चैतन्यमात्र निज तत्वका अनुभव करने की उसकी ऐसी योग्यता होती है कि जब उसके जी में ऐसी बात आयी, स्वानुभवकर लेता है। अन्यथा बड़े बड़े यत्न करने पर भी मन नहीं लगता, स्वका उपयोग नहीं बन पाता। विशेष उलझने न होने पर भी अन्त: ऐसी योग्यता नहीं हो पाती कि वह स्वका अनुभव

कर सके और एक ज्ञानी सम्यग्दृष्टि पुरुष बाह्यमें अनेक उलझनें होने पर भी ऐसी योग्यता पा लेता है कि वह क्षण में कुछ था और क्षण में स्वानुभवी बन जाता है। जो चक्रवर्ती छह खण्डका धनी होता है जिसमें उलझने की बातें अनेक सामने पड़ी रहती है लेकिन जब अपने को सबसे निराला जान लिया तो उलझते समय उलझनें स्वमें अनुभवमें उसका उपयोग लग जाता है। तो पदार्थ की स्वतन्त्रता का परिज्ञान होने पर ऐसी ही शक्ति आत्मा में प्रकट होती है और वह बात तब बन पायगी ज्ञानमें कि जब पदार्थों में योग्यता स्वीकार करें, निजी समृद्धि सर्वस्व स्वीकार करें। जैसा कि वह अपने आपमें परिपूर्ण प्राप्त होगा। बस आत्माका उत्कर्ष इसी पर्यायमें है, अन्य कुछ भी यत्न किए जाये, उनसे आत्माकी कुछ भी सिद्धि नहीं है।

स्वभावदर्शनका पौरूष--हम अपने आपके स्वभाव पर दृष्टि दें तो इस दृष्टि के प्रसाद से हमें आत्मस्वरूपका भान होगा। स्वभाव कैसे ज्ञात होता ? जल है, गर्म है, पर हम गर्म जल के स्वभावका ज्ञान कैसे कर लेते हैं ? भले हो गर्म है यह जल, मगर जलका स्वभाव गर्म है, ठंडा है। जैसे हम जलके गर्म रहते हुए भी गर्म जलमें जलके स्वभावका ज्ञान कर लेते है इसी प्रकार पारखी लोग ऐसी विकार-पर्यायमें चलते हुएकी स्थिति में भी स्वभाव का बोध कर लेते है। जैसे एक्सरा यन्त्र मनुष्यके चाम। खून आदिक को न ग्रहण करके एक हड्डी को ही ग्रहण करता है, फोटो ले लेता है, इसी प्रकार पारखी जीव देहको, कषायों को, कर्मोंको इन सबको ग्रहण न करके एक स्वभावको ग्रहण कर लेता है। उसके लिए चाहिए भेदविज्ञान। उस भेदविज्ञान के बलसे इन सब पर्यायोंसे पार होकर एक स्वभाव का ग्रहण करें, यही आत्माके आनन्दको प्राप्ति का उपाय होता। इस प्रकार मोह रागद्वेष दूर हों, ज्ञान की समृद्धि बन, बस यही उपाय करने योग्य है और उससे ही हम आपका कल्याण है। आज यह ९ वीं परिच्छेद पूर्ण हो रहा है। इसमें कुछ नयोंके ज्ञानके ज्ञानसे ऐसा लगता होगा कि कभी कुछ कथन आया, कभी कुछ, कुछ विरूद्ध जचता होगा, पर विरूद्ध नहीं है। यहांकिस नयकी दृष्टिमें निरखनेपर क्या नजर आता है, वह विषय बताया गया। प्रयोजन सबका यह है कि जिस किसी भी उपायसे शुद्ध ज्ञेयतत्व ज्ञानमें आये और मोहराग द्वेषादिक विकादिक विकारपरिणमन दूर हो, जिससे आत्माके शुद्ध आनन्दको प्राप्ति हो। हम आप ससारके सभी जीवोंकी एक वाच्छा है कि शान्ति प्राप्त हो। अतः सत्य सहज स्वाधीन शान्तिको उपलब्धिके अर्थ हमारा क्या कर्तव्य है इसके विचारमें अभी चल रहे थे। सर्वप्रथम यहबोध करना आवश्यक है कि वास्तिविक शान्ति क्या होती है ? फिर दूसरी बात यह जानना है कि ऐसी शान्ति जिसे चाहिये वह परमार्थतः क्या है ? फिर दूसरी बात यह जानना है कि ऐसी शान्ति जिसे चाहिये वह परमार्थतः क्या है ? इन्हों दो तत्वोंको स्पष्ट करने के लिये क्षण, प्रमाण, नय। निक्षेप, निर्देशादि उपायोंका कथन किया। फिर शान्ति परिणति कैसे होती है, उसके अन्तः व बाह्य साधन क्या है, इन उपयोगी तत्त्वोंके जाननेके लिये निमित्त, उपादान, निमित्तनैमित्तिक भाव। परिणामनस्वातन्त्र्य आदिका वणन किया है। इस समस्त वर्णनके निष्कर्षमें यह बात निचोड़ की आयी कि अविकार अन्त स्वभावकी ओर हमारा उपयोग हो, ऐसा प्रयत्न करें। इससे ही समस्त संकट मिटेंगे, शाश्वत आनन्द होगा, सदा शुद्ध पवित्र रहेंगे।

(२७५-७) अध्यात्मसहस्र प्रवचन ४, ५, ६ भाग

इस स्वरचित अध्यात्मसहस्रीके १०, ११, १२ वें परिच्छेद पर पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराजके प्रवचन हैं। चतुर्थ भागमें करीब ७० नयोंमें आत्मदर्शनकी विधि बताई गई है। उदाहरणार्थ नैगमनयमें आत्मदर्शनका प्रकार देखिये, पृ० २ पर एक प्रकरणान्तरमें-नैगमनयमें आत्मदर्शनका प्रकार-सर्वप्रथम नैगमनय

से आत्मतत्त्वके परिज्ञानकी बात कही जा रही है। नैगमनयसे यह आत्मा अनन्त गुण और वर्तमान भूत भविष्यकी अनन्त पर्यायोंका पुंज है, इस प्रकार दृष्टि में आता है। नैगमनय सब नयोंमें विशाल विषय वाला नय है। यह नय अनादि अनन्त समस्त गुण पर्यायोंके पुंज रूपमें आत्माको दिखाता है। तो नैगमनयकी दृष्टिमें आत्मा अनन्त गुणोंका पुंज है, और भूतमें जितनी पर्यायें हो चुकी, भविष्यमें जितनी पर्यायें होंगी वे हैं अनन्त और वर्तमानका एक परिणमन। इस तरह अनन्तानन्त पर्यायोंका पुंज यह आत्मा है, यह विदित होता है। नैगमनयकी व्युत्पत्ति है न एक गमः, जो एकको प्राप्त न हों, जो अनेक को, विशालको दृष्टिमें ले उसे नैगमनय कहते हैं। अथवा निगमः सकल्पः तत्र भवः नैगमः, अर्थात् जो संकल्पमें होवे उसकानाम नैगमनय है। संकल्प करके जो तत्त्व परिज्ञात होता है वह नैगमनयका विषय है। दोनों प्रकार के अर्थो से जब आत्माको निरखा जा रहा है तो यह आत्मा अनन्तगुण और अनन्त पर्यायोंका पुंज है, इस प्रकार दिखता है। द्रव्य कितना है, यह बात कभी एक समयमें नहीं बतायी जा सकती, द्रव्यकी विशालता किसी एक पर्यायको लेकर नहीं कही जा सकती। नैगमनयमें सत् असत् दोनों का संग्रह है। असत् के मायने सर्वथा असत् नहीं. किन्तु जो पर्यायें अभी नहीं हैं अथवा हो चुकी हैं वे वर्तमान दृष्टिसे असत् हैं और जो वर्तमानमें है वे वर्तमान दृष्टिसे सत् हैं। सबका पुंज यह आत्मा है। आविर्भूत तिरोभूत समस्त गुणपर्यायोंका पिण्ड आत्मा है। यह नैगमनयने समझाया।

उपचारक उपचरित असद्भुत व्यवहारनय तो मिथ्या बातको ग्रहण करता हैं, पर इस नयकी उपयोगिता देखिये आत्मदर्शनकी विधि. पृ० १६, १७ पर एक प्रवचनांश—उपचरित असद्भूतव्यवहारनयमें आत्मपरिचय का प्रकार—अब उपचरित असद्भूत व्यवहारनयसे आत्माका परिचय किया जा रहा है। उपचरित असद्भूत व्यवहारनयसे आत्माके विषयमें कह सकते हैं कि यह जीव राग, विरोध और मोह से परेशान है। यहां व्यवहारनयसे मतलब है कि किसी दूसरी चीजको जोड़ करके कथन करना और असद्भूतसे मतलब है कि जो आत्माके गुणमें सद्भूत नहीं है और उपचरितका अर्थ है किसी परपदार्थका नाम लेकर उसकाकथन करना। तो यहां असद्भूत है रागद्वेषमोहभाव, क्योंकि ये आत्मामें गुणके स्वयं विलास नहीं हैं, ये विकारभाव हैं और जो विकार हैं वह असद्भूत तत्त्व कहा जाता है। उसका यहां कथन किया गया है और स्पष्ट है, ग्रहणमें आता है, ऐसे भावोंका नाम लेकर उपचार किया गया तो इस दृष्टिमें आत्मा परिचित होता है कि यह रागविरोध और मोहसे परेशान है।

अब देखिये कर्मोपाधि सापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिकनयमें आत्मदर्शनविधि बताकर उस अवगमसे हमें क्या शिक्षा व प्रेरणा मिलती है. पृ० ३२ पर एक प्रवचनांश—कर्मोपाधिसापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिकनयके अवगमसे प्राप्त शिक्षा व प्रेरणा—यह आत्मा कर्मविपाकनिमित्तसे उत्पन्न होने वाले रागादिभावों रूप है। इसमें कितने ही सिद्धान्त आये हैं तथा हितकारी शिक्षा प्राप्त होती है। आत्मा रागादिभावोंरूप परिणम रहा है। यहां डबल अशुद्धताकी बात कही जा रही है। पर्याय को द्रव्य में जोड़ना पहिली अशुद्धता तो यहा है। द्रव्य को द्रव्यरूप में उपस्थित करने का नाम शुद्धता है और उसे पर्याय के साथ जोड़कर बताने का नाम अशुद्धता है, फिर मलिन पर्यायको ही जोड़ा जा रहा है, इसलिए यह प्रकट अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय है। और, इसमें कर्मोपाधिकी अपेक्षा की बात बतायी जा रही है। इस नयमें हमको यह बात शिक्षा में मिलती है कि हम रागादिकभावों रूप परिणम तो रहे हैं, लेकिन यह परिणमन कर्मोदयका निमित्त पाकर हो रहा है। आत्माके स्वरूपमें, स्वभावमें, शीलमें विभावरूप परिणमनकी बात नहीं पड़ी हुई है। जब अपने आपको भीतरी असलियतका पता पड़ता है तब तक ऐसी ठसक उत्पन्न होती है कि जिसके बलपर अशुद्धताके वातावरणको यह खत्म कर सकता है। जैसेकिसी पुरुषको यह पता पड़ जाय

कि मेरे मकान में इस कमरे में धन का हंडा गड़ा हुआ है, तो वह यद्यपि अभी गड़ा ही है, उसका उपयोग भी नहीं हो पा रहा है, लेकिन भावमें यह बात आ जाने से उसकी उसे ठसक होती है और उसके व्यवहारमें प्रसन्नता भी रहती है। तो ऐसे ही जब जीवको यह विदित हो जाता है कि भले ही मैं रागद्वेष वाला हो रहा हूं लेकिन ऐसा होना मेरे में शील नहीं है। यह कर्मों का निमित्त पाकर हो रहा है, तो उसे भीतर में एक ऐसा बल प्राप्त होता है कि जिस बल पर वह यथाशीघ्र कर्मो का क्षयभी कर लेगा।

देखिये विकल्पनयसे आत्मपरिचयका प्रकार–पृ० ४९ का एक प्रवचनांश–विकल्पनय से आत्मपरिचय का प्रकार–अब चिन्मात्र ब्रह्मको जब समझाने चलेंगे तब ही तो तीर्थप्रवृत्ति बनेगी। पाप छोड़ें, धर्म करें, सदाचारमें लगें, ध्यानादि बनायें, ये सब व्यवहार और परिणतियां तब ही तो बन सकेंगी कि जब हमें उद्देश्यका पता पड़ जाय। उद्देश्य यह है कि उस चिन्मात्र भावमें समा जावो। फिर संसार का कोई संकट न रहेगा। ठीक है। उस चिन्मात्र भावका परिज्ञान भी तो चाहिए। तो परिज्ञान करना कराना, यह भेददृष्टि बिना न होगा। उस एक अखण्ड चैतन्यमात्र, चिन्मात्र, ब्रह्ममें भेद करके जब परखा जायेगा, यह आत्मा अनन्त गुणमय है, पर्यायोंमय है, द्रव्य, क्षेत्र, कालकी अपेक्षा इस प्रकार है, जब यों समझा जायगा तब ही तो परिचय होगा कि आत्मतत्त्व क्या है? तो एक अखण्ड आत्मब्रह्मका परिचय करने का उपाय विकल्प है, भेदीकरण है। यों विविध प्रकार का परिचय विकल्पनयमें प्राप्त होता है, अन्यथा आत्मा आत्मा इतना ही कहते जाये कोई तो वे क्या समझें? जब तक विश्लेषण करने न कहा जाय, जो जानता है वह आत्मा, जो देखता है वह आत्मा, जो सदा रहता है और अपनी भावात्मक पर्यायें बनाता रहता है वह आत्मा। तो द्रव्य, गुण, पर्याय आदिकका विश्लेषण करके आत्मा को समझाया जाय तो उसका परिचय होता है। आत्मा, ब्रह्म, केवल इतना कह देना तो उन जीवों के लिए सार्थक है, जिसने अनुभव किया है और बड़े अभ्याससे सब कुछ परिचय पा लिया है, अब वह एक शब्द सुनकर ही उस पूरे आत्मतत्त्वको अवधारित कर लेता है। लेकिन जिनको इस स्वभावपरिचयका अभ्यास नहीं है, उसका जिन्हें बोध नहीं है उनके लिए उस निर्विकल्प ब्रह्ममें विकल्प उठाकर प्रयास करना पड़ेगा।

पढ़िये शून्यनयमें आत्मपरिचयका प्रकार, पृ० ५८ का एक प्रवचनांश–शून्यनयमें आत्मपरिचय का प्रकार–शून्यनयमें आत्माका किस ढंगसे परिचय होता है? यह बात अब बता रहे हैं। शून्यनय से तो सुगमतया सीधी बात यह विदित होती है कि आत्मतत्त्व समस्त परपदार्थोंसे और परभावोंसे शून्य है, रहित है, सूना है। जैसे लोग कहते हैं ना कि यह घर सूना है, तो इसका मतलब है कि इस घरमें लोग नहीं हैं। सिवाय घरके और कुछ नहीं है। तो यह आत्मा सूना है, इसका भी यह अर्थ होगा कि सिवाय आत्माके यहां और कुछ नहीं है। कर्म शरीर अनेक वर्गणायें अन्य जीव कुछ भी तो तत्त्व इसमें नहीं है। यहां तक कि जिस आकाशमें यह जीव रह रहा है वह आकाश भी इस जीवमें नहीं है। जहां यह जीव है वहां छहों द्रव्य रह रहे हैं. फिर भी जीवमें सिवाय स्वजीवके अन्य कोई द्रव्य नहीं है। शून्यनय से आत्माका इस भांति परिचय मिलता है।

पंचमभागमें ११ वें परिच्छेदके जो प्रवचन हैं वे करणानुयोगसे विशेष सम्बन्धित हैं। इसमें विभावों का निर्देश स्वामित्व आदि उपायोंसे परिचय कराया गया है। जैसे कषायोंका निर्देश १२ प्रकार से किया गया है। उदाहरणार्थ देखिये समुत्पत्ति कषायका ८ वां प्रकार व समुत्पत्तिकषायके वर्णनका उपसंहार, पृ० ११४ पर एक प्रवचनांश–समुत्पत्ति कषायका आठवां प्रकार व समुत्पत्तिकषायके वर्णनका उपसंहार–८ वां प्रकार है

समुत्पत्तिकषाय, कि वहुत जीव और वहुत अजीव। जैसे सैन्यचक्र की चढ़ाई सुनकर किसी राजा को विशेष क्षोभ होता है तो उसके उस क्षोभमें कारण बहुत जीव और बहुत अजीव हैं। नाना प्रकार के अस्त्र शस्त्र और नाना सुभट इनका ही समुदाय तो सैन्यचक्र कहलाता है। तो उस सैन्यचक्र के आक्रमण को सुनकर जो क्रोधादिक क्षोभ हुए उनमें निमित्त हुए बहुत जीव और वहुत अजीव। ऐसी अनेक घटनायें होती हैं जो क्रोध, मान, माया, लोभकी प्रकृतिमें, समुत्पत्तिमें नोकर्म सहकारी कारण होता है। करणानुयोगका सिद्धान्त है कि किसी प्रकृतिके उदयसे जीवमें विभावपरिणाम होता है, किन्तु प्रकृतिका उदय फलभूत तब हो पाता कि जब उसे नोकर्म भी मिलता है। नोकर्मका फल प्रायः संसार है, इसलिए ऐसी कम स्थितियां आती हैं कि जहां कर्म का उदय हो और नोकर्म सामने न हो तो वहां फलमें अन्तर आ जाता है। लेकिन सारा संसारही तो नोकर्म है। जो कुछ सामने समागममें आया वही विभावका नोकर्म वन जाता है। तो करणानुयोगके सिद्धान्तमें कर्मका उदय नोकर्मका सन्निधान पाकर जीवके विभावका निमित्त हुआ करता है। तो वहां कर्मका उदय हुआ वह तो है प्रत्यय कषाय, जिसके उदयसे जीवमें क्रोध, मान, माया, लोभादिक होते हैं और जो बाह्य नोकर्म सहकारी कारण पड़े वह है समुत्पत्तिकषाय। क्रोधप्रकृतिके उदयमें क्रोधकषायका निर्माण होनेमें जो विषय हुए, आश्रय हुए वे सब समुत्पत्तिकषाय कहलाते हैं। यों समुत्पत्तिकषायके ये सब प्रकार नैगमनयके विषयभूत हैं, क्योंकि ये सब घटनायें एक स्थूलरूप हैं, उनमें सूक्ष्मता नहीं है।

देखिये सम्यक्त्वका आश्रयभूत व निमित्तभूत साधन, पृ० १५९ पर एक प्रवचनांश–सम्यक्त्व का आश्रयभूत व निमित्तभूत साधन–सम्यक्त्वकी साधनामें बताया जा रहा है कि सम्यक्त्वके आश्रयभूत साधन तो जिनसूत्र और जिनसूत्रके ज्ञायक पुरुष हैं और निमित्त कारण दर्शनमोहनीय का उपशम, क्षय, क्षयोपशम आदिक है। देखिये बात एक यहां यह भी समझना कि सुनने वाले निमित्तमें जब तक उप-देष्टाके प्रति यह भाव नहीं आ पाता कि यह वास्तविक ज्ञानी पुरुष है और यह वचन यथार्थ है तब तक वह तो सम्यक्त्वका साधन नहीं बन पाता और यह बात अनुभवगम्य ही है। श्रोता तो यह सोचता रहे कि ये तो सब केवल बातें कह रहे हैं, ज्ञान कुछ नहीं है, चित्तमें कुछ नहीं, सिवाय ऊपरी बातें कह रहे हैं, यदि इस तरह का विकल्प श्रोताके चित्तमें हो तो वह वचन क्या सम्यक्त्वका साधन बन सकेगा? वह ग्रहण ही कैसे कर सकेगा? इस कारण श्रोताकी श्रद्धामें ज्ञानीपनेको प्राप्त उपदेष्टा सम्यक्त्वका निमित्त हो पाता है।

पहिचानिये शुभोपयोग और शुद्धोपयोगकी उपयोगिता, पृ० १७१ का एक प्रवचनांश–शुभोपयोग और शुद्धोपयोगकी उपयोगिता–शुभोपयोग और शुद्धोपयोग ये ढाल और अस्त्रकी तरह काम देते हैं। जैसे युद्धमें लड़ने वाले सुभटके पास केवल तलवार हो हो, ढाल न हो तो काम न बनेगा और उसके पास ढाल भी हो, पर तलवार न हो तो फिर वहां गया ही क्यों? यों ही अशुभोपयोगके जितने विकल्प हैं उनसे बचाव करने के लिए शुभोपयोग ढालका काम करता है और उन द्रव्यभाव कर्मशत्रुओंको नष्ट करने के लिए यह शुद्धोपयोग, शुद्धतत्त्वकी दृष्टि अस्त्रका काम करती है। तो कारणसमयसार का, सहजपरमात्मतत्त्वका, सहजस्वरूपका इस भावका अभी तक अनुभव नहीं किया। इसी कारण यह बाह्य में दृष्टि लगाकर यत्र तत्र भ्रमण करता है, दुःखी होता है और वास्तविक शान्ति प्राप्त नहीं कर पाता। इसके लिए करने का काम तो केवल एक है–निजअन्तस्तत्त्वकी दृष्टि। उसमें न रह सका तो जो कार्यसमयसार है, जिसका परम विकास हुआ है ऐसे परमात्मस्वरूपकी भक्ति अनुराग करें। व्यव-हारसे बताया है पंचगुरुभक्तिका कर्तव्य और निश्चयसे बताया है निज अंतः प्रकाशमान शुद्ध अविकार

सहज चैतन्यस्वरूपकी दृष्टि।

नियतपर्याय व अनियत पर्यायका मूल मर्म पढ़िये पृ० २३२ के एक प्रवचनांशमें–सर्वज्ञ प्रभु के ज्ञान में अनियत पर्याय भी ज्ञात है और नियत पर्याय भी ज्ञात है। अनियत पर्यायका अर्थ यह है कि जो पदार्थ में चेतन्यके स्वभावसे निश्चित नहीं है किन्तु किसी परनिमित्त को पाकर उत्पन्न हुआ है, जिनको स्वभावमें प्रतिष्ठा नहीं है उनको कहते हैं अनियत पर्याय और जो उपाधिके बिना अपने ही स्वभाव में उत्पन्न होते रहते हैं, जिनके बाद यह निश्चित है कि इसके बाद यह ही पर्याय हो सकेगी, अन्य पर्याय हो ही नहीं सकतो, वे सब नियम पर्यायें हैं। जैसे केवलज्ञानके बाद ज्ञानमें केवलज्ञान केवलज्ञान ही होगा, अन्य कुछ हो ही नहीं सकता, क्योंकि ज्ञानावरणका सम्पूर्ण क्षय है वहां उपाधिका सद्भाव नहीं है तो यह नियत पर्याय कहलाती है। जो स्वाभाविक पर्यायें है वह सब नियत है। तो सर्वज्ञदेवको ज्ञान में स्वाभाविक पर्यायें और विभावपर्यायें सभी ज्ञात हैं। जो हुआ है वह जान लिया। इस कारण निश्चितवादके कथनसे अनियतवादके कथनका विरोध नहीं है। अनियत अनियत है, नियत नियत हैं। सर्वज्ञ के ज्ञानमें सब विदित है, जो पर्यायें अवधिका निमित्त पाकर होती हैं वे अनियत कहलाती हैं, जो पर्यायें उपाधिके द्रव्यके स्वभावसे होती हैं वे नियत कहलाती हैं। पर्यायके नियत होने में और अनियत होने में कारण है उपाधिका अभाव और उपाधिका सद्भाव, पर है सब ज्ञानियों द्वारा ज्ञात, किन्तु नियत पर्यायें नियतरूप और अनियत पर्यायें अनियतरूप ज्ञात है। जैसे कोई कहे कि भगवान ने अनन्त पर्यायें जान लीं तो अनन्त पर्यायें जब जान लीं तो सब ज्ञात हो गया, तो इसका अर्थ क्या यह है कि इसके बाद अब कोई पर्याय न रहो, तो क्या द्रव्य पर्यायरहित हो जायेगा उसके पश्चात्। जितनो अनन्त पर्यायें जानी हैं उसके बाद द्रव्यपर्यायरहित हो जायेगा सो तो नहीं होता। भगवान ने अनन्त जाना तो अनन्त रूप से जाना कि सान्त रूप से? जब अनन्त रूप से जाना है तो उनका कभी अन्त नहीं हो सकता।

शिक्षाग्रहणका उद्देश्य रहे तो कहीं भी विवाद न उठेगा, इसकी सीख लीजिये पृ० २५३–२५४ के एक प्रवचनांशके दिग्दर्शनमें–व्यर्थ ही लोग कुछ अपने जीवनका उद्देश्य चर्चा बनाये रखते हैं। अरे उस चर्चासे हमें कुछ अपने में शिक्षा लेना है। यदि यह बात चित्तमें आ जाय तो एक बच्चे की बात से भी शिक्षा मिल सकती है, किसी के भी कथनसे हमें शिक्षा मिल सकती है। जो एकदम विपरीत बात हो उसकी बात तो अलग है, मगर बच्चे के बोलने में भी हमें बहुत से हितमार्गमें चलने की प्रेरणा मिल सकती है। तो जो लोग ऐसा मानते हैं कि निमित्त पाकर रागादिक विकार होते हैं तो इससे भी हम शिक्षा ग्रहण करें कि ये विकार निमित्त पाकर हुए हैं, ये मेरे स्वरूप नहीं हैं। और, जो यह कहते हैं कि स्वकालमें राग होता है तो वहां देखा गया एक ही पदार्थ को। वह पदार्थ है, प्रतिसमय परिणमता है, तो अपने कालमें अपनी अवस्थारूप परिणम गया। एक को ही देखा, ऐसे एक को ही देखनेमें जब आश्रयभूत पदार्थ पर उपयोग नहीं रहा तो यह राग सूख जायगा। फिर आगे राग न रहेगा। तो इस बात पर दृढ़ रहें कि हम एक पदार्थ को निरखकर बात कर रहे हैं। एक पदार्थ को निरखनेकी दृष्टि बनाये हैं और निमित्तकी चर्चा उठाये कि निमित्त है अथवा नहीं, सो है रूपसे भी चर्चा करना गलत है और नहीं रूप से भी चर्चा करना गलत है। कब? जब कि तत्त्व को एक अभेद दृष्टि में निरखा जा रहा है। तो वस्तुतः जो परिणमा सो कर्ता, जो परिणाम हुआ सो कर्म, जो परिणति हुई वह क्रिया कहलाती है।

आत्मपरिचयका प्रारम्भिक प्रश्न और उत्तर पढ़िये पृ० २७४ पर एक प्रवचनांशमें–आत्मपरिचय का

प्रश्न और उत्तर–किसी ने पूछा–भाई आप कौन हैं और क्या काम करते हैं ? तो आत्माकी जानकारी इन दो बातोंसे भली प्रकार होती है। किसी मनुष्यसे आप परिचय करते हैं तो दो बातें आप जानना चाहते हैं। उन दो बातों के जाने बिना आपको अन्य बात जाननेकी इच्छा हो नहीं होती। वे दो बातें हैं–यह कौन है और क्या काम करता है ? अब इसके बाद यदि अन्य बात पूछी जाती हैं कि यह कहां रहते हैं, किसके रिस्तेदार हैं, कैसा कैसा सम्बन्ध है, अब इसकी क्या परिस्थिति है ? तो समझ लेओ मगर सारी समझ इन दो बातोंकी समझके बाद चलती है। आप कौन है और क्या काम करते हैं ? तो जरा उत्तर तो दीजिये ढंगसे। उत्तर आप दे दीजिये कि मैं आत्मा हूं और निरन्तर परिणमन किया करता हूं। यह है आपका परिचय। आपसे पर्यायका परिचय नहीं पूछा जा रहा, शरीरका नहीं पूछ रहे, जिसमें अहं अहं प्रत्यय बन रहा है, मैं हूं, मैं हूं, यह बात जिसके बन रही है, हम उसकी बात पूछते हैं कि आप हैं कौन और क्या काम करते हैं ? तो उत्तर मिलता है कि मैं आत्मा हूं और निरन्तर परि–णमन किया करता हूं। यहां छुट्टी नहीं है कि मैं ६ घन्टे काम करता हूं बाकी छुट्टी। या दिन भर काम करके अब रातको विश्राम लें और यहां कोई भाग भो नही है कि जैसे दो बार में शिफ्टमें स्कूल लगता है। यहां तो निरन्तर परिणमन होता है। एक दिनमें होते २४ घन्टे, एक घन्टेमें होते ६० मिनट, एक मिनट में होते ६० सैकेण्ड और एक सैकेण्डमें होती असंख्यातों आवलियां और एक आवली में होते हैं असंख्यात समय। जिसको आप समझना चाहें सुगम रोतिसे तो इस तरह समझें कि जैसे अपने नेत्रोंकी पलक बड़ी जल्दो जल्दी गिरावें उठावें तो उस उतने समयमें भी अनगिनते आवलियां और अनगिनते समय बनते हैं। उनमें से प्रतिसमय यह आत्मा परिणमन करता रहता है। तो इतना उसका तेज राज–गार है। कहता है यह कुछकाम नहीं करता है, बड़ा आलसी है, पर आलसो कोई हो कहां सकता है ? पदार्थ का स्वभाव है कि वह निरन्तर परिणमन करता रहे। तो यही है उसका परिचय। तो मैं हूं और निरन्तर परिणमन करता रहता हूं।

(२०७) अध्यात्मसहस्री प्रवचन सप्तम भाग

इस प्रवचन ग्रन्थमें आध्यात्मिक तथ्य एवं महत्त्वसे पूरित हितप्रेरक पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी सहजानन्द महाराजके प्रवचन हैं। इसमें आत्मा की ५६ शक्तियोंके मार्मिक प्रवचन हैं। इनमें ध्रुव आत्मस्वभावकी दृढ़ दृष्टि की दृढ़ प्रेरणा मिलती है। इस प्रवचनोंकी भूमिकामें बाह्य पदार्थोंसे संकट माननेका ऊधम देखिये पृ० १८ पर एक प्रवचनांशमें–बाह्य पदार्थों से संकट माननेका ऊधम–हम आप सब जीवोंपर संकट जो छाया हुआ है वह संकट मूलमें जन्ममरणका है। इसके सिवाय और जो संकट माने जा रहे हैं वह सब ऊधम है, क्योंकि अपने से बाह्य क्षेत्रमें रहने वाले पदार्थ चाहे वे किसी तरह परिणम रहे हों उनका उस मुझ आत्मा में प्रवेश तो नहीं है वे तो अपने क्षेत्रमें रहते हुए ही परिणम रहे हैं, किन्तु यह मोही आत्मा उन पदार्थों को जानकर उनका आश्रय करके अपने में कल्पनायें बनाता है, जिससे कि राजी होता है, कभी दुःखी होता है। तो ऐसे जो विकार के भाव बनाये वह संकट हुआ न कि बाह्य पदार्थ। बाह्य पदार्थ यहां रहे या कहीं रहे, या किसी तरह रहे, वह सकट नहीं है। तो संकट है यहां साक्षात् विकल्पोंका, और ये विकल्प जब तक बनते रहेंगे तब तक जन्म मरणको परम्परा चलती रहेगी। तो हम आपको एक इस निर्णयमें रहना चाहिए, चाहे बीते कुछ, हो रहा हो कुछ, किन्तु निर्णय तो पक्का ही रहना चाहिए कि हम पर संकट है तो जन्ममरणका। यहसंकट मिटे तो सब संकट मिट जायेंगे। तो जन्म मरणका सकट मिटे, इसके लिए उपाय क्या है ? उस ही उपायको मोक्षमार्ग कहते हैं। मोक्ष मायने छुटकारा, किससे छुटकारा ? जन्ममरण से छुटकारा। अब वहां सभी बातें समाविष्ट हो जाती हैं। जन्म मरण से

छुटकारेका नाम मोक्ष है, कर्म से छुटकारा होने का नाम मोक्ष है, इस शरीर से छुटकारेका नाम मोक्ष है। वे सभी एक ही घर की बातें हैं। तो हम आपका जिस प्रकार जन्म मरण छूटे वह उपाय यथार्थ उपाय कहलाता है, बाकी बातों के लिए कोई कषाय बनाना अथवा कोई विषय की चाह बनाना, ये सब बातें समझिये कि कुछ पुण्य का उदय मिला है उस समय हम यह ऊधम मचा रहे हैं।

चार प्रकार की विपदा देखिये संक्षेपमें पृ० २३ के एक प्रवचनांशमें–चतुर्विकल्पविपदा हम आप जीवों पर यहां जो कुछ विपदा है वह केवल विकल्पकी विपदा है, क्योंकि मुझ में किसी अन्य पदार्थ का गुण और पर्याय का प्रवेश नहीं है, केवल उस बाह्य पदार्थ के विषय में कुछ सोचकर कल्पनायें करके अपने आत्मामें अपने ही गुणोंका विकार बनाया करता हूं, इसके अतिरिक्त यहां दूसरा और कोई कारोबार नहीं हो रहा है। तो संकट विपदायें जो कुछ हैं वे सब विकल्प के ही हैं। उन विकल्पोंका विश्लेषण करने के लिए चार विभागों में देखते हैं–वे चार विभाग हैं अहंकार, ममकार, कर्तृत्व बुद्धि और भोक्तृत्व बुद्धि। इन चार प्रकार के विभावों में से किसी न किसी विभावमें रहकर या सभी में रहकर उपयोगकी अपेक्षा भले ही किसी विभावका उपयोग हो, लेकिन जहां अहंकार है, ममत्व है वहां चारो ही विभाव चल रहे हैं, उन विभावों के कारण हम दुःखी हैं।

प्रथम तीन शक्तियोंका वर्णन करके उनका स्मरण देखिये पृ० ५५ के एक प्रवचनांशमें–शक्तियोंके वर्णनके प्रसंगका सस्मरण–इस ज्ञानमात्र आत्माको व्यवस्थित समझाने के लिए यहां शक्तियोंका वर्णन चल रहा है, जिनमें यह बताया कि आत्मामें जीवत्व शक्ति है, जिसके कारण यह चैतन्य प्राणोंको धारण किए हुए है। जो उसका असाधारणस्वरूप है उस स्वरूपसे वह अस्ति है, फिर बतलाइये कि जीवत्व शक्तिके प्रतापसे जो चेतन्य प्राण धारित हुए हैं उस चैतन्यप्राणमें क्या खूबी है ? बताया है कि उसमें प्रतिभासने की शक्ति है। प्रतिभास उसका कार्य है। जो प्रतिभासरूप कार्य के परिणमनेकी शक्ति यह चितिशक्ति है। और वह चितिशक्ति जब सामान्यरूप भी प्रतिभासकर सकता है वह दृशिशक्ति है और जो विशेषरूप प्रतिभास करता है वह ज्ञानशक्ति है। ज्ञानशक्ति ही दृशिशक्ति है। अनादि अनन्त परि–मित जहां ज्ञानका पूर्ण विकास है वहां तीन कालके पदार्थ प्रतिविम्बित हो रहे हैं। ऐसे उस समस्त ज्ञानमय आत्माको प्रतिभासनेकी शक्ति दृशिशक्तिमें है। वह भी उस ही भांति अनन्तरूप है। उन शक्तियोंके शुद्ध स्वरूपपर दृष्ठि पहुंचने पर यह अनुभवमें आता है कि मैं वह हूं जो है भगवान। पर–मात्मा, वीतराग सवज्ञदेव भी इन शक्तियोंके पूर्ण विकास हैं। इस शक्तिमें पड़ा हुआ है, ऐसी पात्रता है मुझमें भी कि ऐसा समस्त प्रतिभास हो तो केवल इस सहज स्वरूप पर दृष्टि होने से यह सिद्ध होता है, यह अनुभवमें आता कि यह परमात्मतत्त्व इसी को कारण परमात्मतत्त्व भी कहते हैं। परमात्मा प्रणीत जो उपदेश है उसमे जो सारभूत तत्त्व है उसकी परख ज्ञानी जीव स्वयं अपने आपमें इन शक्तियों की दृष्टि करके एक निर्दोष विधिसे प्राप्त कर लेता है।

जीवमें प्रभुत्वशक्तिका प्रकाश देखिये पृ० ७४ के एकप्रवचनांशमें–जीवमें प्रभुत्वशक्तिका प्रकाश–आत्मा में एक प्रभुत्वशक्ति है, जिसके प्रताप से आत्मा अपने अखण्ड प्रताप, अखण्ड परिणमन व अखण्ड स्वतं–त्रता संयुक्त है। प्रत्येक पदार्थ अपने आपमें परिपूर्ण सत्य है। अनन्तानन्त जीव, अनन्तानन्त परमाणु, एक धर्मद्रव्य, एक अधर्मद्रव्य, एक आकाश द्रव्य, असख्यात काल द्रव्य, प्रत्येक अणु, प्रत्येक पदार्थ स्वयं सत् है। अनादि से है, अनन्तकाल तक है। उत्पादव्ययध्रौव्यस्वरूप है। कोई है तो नियमसे उसमें उत्पादव्ययध्रौव्य है। जिस स्वरूपके कारण यह हो तो बात आयी कि प्रत्येक पदार्थ नियमसे निरन्तर

प्रतिक्षण नई नई अवस्थाओंके रूपसे परिणमता है और उसी समय पूर्व पर्याय को विलीन कर देता है तिस पर भी अनन्त काल तक बना रहता है। तो पदार्थ में नवीन पर्यायरूप परिणमन की जो बात है वह पदार्थ के स्वभावसे हो है। तो पदार्थ अपने आपका परिणमन बनानेमें समर्थ है। प्रभु है। स्वतन्त्र है। पदार्थ एक अखण्ड है, उसको समझाने के लिए शक्तियोंका भेद किया जाता है। तो भेद दृष्टिमें अनन्त शक्तियों का ज्ञान होता है. लेकिन इन समस्त अनन्त शक्तियोंका जो एक पुंज है वह सत् द्रव्य है। सत् अभेद है, अभेद भी किया जाय, भेद न रखा जाय तो भी कोई भाव मानना ही होगा। तो पदार्थ अपने स्वभावरूप है। जो अनादि अनन्त है वह भी अखण्ड परिपूर्ण है। यों तो प्रत्येक पदार्थ अपने अस्तित्व अपने गुणोंमें, अपने परिणमनोंमें स्वयं प्रभु है। किसी पर पदार्थ के कारण यह प्रभुता नहीं आती।

आत्मामें अकार्यकरणत्वशक्तिका समीक्षण कीजिये पृ० ११९ पर एक प्रवचनांशमें-आत्मामें अकार्यकारणशक्तिका समीक्षण-मेरा अस्तित्व मुझमें है, दूसरे का अस्तित्व उसका उसमें है। हम अपने सब कुछ करने में स्वतन्त्र हैं, दूसरा पदार्थ अपना सब कुछ अपने में करनेमें स्वतन्त्र है। प्रत्येक पदार्थ बनता है बिगड़ता है और सदा काल बना रहता है। यह प्रत्येक पदार्थ में स्वभाव पड़ा हुआ है। मुझ में भी यही स्वभाव है। मैं किसी दूसरे पदार्थ का कारण नहीं हूं। याने प्रभु ने मुझे बनाया हो ऐसी बात नहीं है। प्रभु वह है जो ज्ञानानन्द से परिपूर्ण हो। प्रभुका अनन्त आनन्द है। अनन्त ज्ञान है, ऐसा जो स्वभाव है अरहंत भगवानका वही मेरा स्वभाव है। भगवान वह है जिसमें अनन्त ज्ञान और अनन्त आनन्द प्रकट हो। प्रभु भी क्या कह रहे हैं? अपने ज्ञान और आनन्दको विशुद्ध बना रहे हैं और विशुद्ध ज्ञानानन्द में निरन्तर बरतते रहते हैं। केवल ज्ञान के द्वारा समस्त विश्वको वे जानते है। व अपने उस आनन्द के द्वारा सदा निराकुल रहते हैं। अनाकुल रहना, समस्त विश्व का जाननहार रहना, यह है प्रभुका काम। ये उपासना करने वाले साधु अथवा श्रावक क्या करते हैं? प्रभु की उपासना करते हैं तो प्रभु कुछ नहीं करते, किन्तु अपने ही परिणामों में ऐसी विशुद्धि लाते हैं कि अपना भला कर लेते हैं। प्रत्येक जीव अपना ही सब कुछ करने में समर्थ है दूसरों का नहीं। ऐसी आत्मामें अकार्यकारणत्वशक्ति है। वह न दूसरों का कार्य है और न दूसरों का कारण। अपने आपमें अपनी पर्यायों को बनाता है।

आत्मामें त्यागोपादानशून्यत्वशक्तिका निरूपण देखिये, पृ० १३२, १३३ के एक प्रवचनांशमें-आत्मामें त्यागोपादानशून्यत्वशक्तिका निरूपण-आत्मामें त्यागोपादानशून्यत्वशक्ति है। इसका अर्थ है कि आत्मा त्यागसे भी शून्य है और ग्रहण से भी शून्य है। यह न त्याग करता है और न ग्रहण करता है, और जो भाव आत्मामें हैं, जो शक्ति, जो स्वरूप आत्मा में गुण हो, शक्ति हो उनको यहां कोई त्याग नहीं सकता और जो बाह्य पदार्थ हैं, जो इनके स्वरूपमें नहीं हैं ऐसे किन्हीं भी बाह्य पदार्थों का यह आत्मा ग्रहण नहीं कर सकता, अर्थात् उस स्वरूप हो हो नहीं सकता। प्रत्येक पदार्थ अपने स्वरूपसे ही अस्तित्वरूप है और परचतुष्टयसे नास्तित्व है। इसका भंग कभी न होगा। प्रत्येक पदार्थ अपने स्वरूप से ही है, परके स्वरूपसे न बन सकेगा, अर्थात् अपने स्वरूपको त्याग दे, यह बात न बन सकेगी। इसी प्रकार आत्मा पर स्वरूपसे नहीं है तो परस्वरूपसे नहीं है, इसका कभी भंग न होगा, कभी यह न हो सकेगा कि परस्वरूपका यह आत्मा उपादान करले, ग्रहण करले, तो इस प्रकार आत्मामें त्यागोपादानशून्यत्वशक्ति है। अब इन शक्तियोंको शुद्ध दृष्टिमें पहिचान कर निरखियेगा। यहां यह देखा जा रहा है उस शुद्ध दृष्टिको दृष्टिमें लेकर कि यूं आत्मा अब विकारका भी ग्रहण नहीं कर रहा है, स्वीकार नहीं कर

हा है। स्वरूप नहीं बना रहा है। यह बात आप एक दृष्टान्त से ले लें। जैसे दर्पणमें बाह्य पदार्थ का तिबिम्ब आया, प्रतिबिम्ब आया, लेकिन वह बाह्य पदार्थ हटाया तो प्रतिबिम्ब भी हट गया, जब यह ात हम यहां दर्पणमें निरख रहे हैं कि निमित्त सामने आया तो दर्पण प्रतिबिम्बित हो गया और निमित्त सामने से हटा तो दर्पणमें प्रतिबिम्ब हट गया। तो इसमें ऐसा मालूम पड़ता है कि दर्पणने उस तिबिम्बको ग्रहण नहीं करना चाहा। उस प्रतिबिम्बरूप अपने को नहीं स्वीकार करना चाहा, क्योंकि गर प्रतिबिम्बको ग्रहण करने की बात यह दर्पण स्वभवतः करता तो प्रतिबिम्ब रहना चाहिए था, फिर प्रतिबिम्ब हटा क्यों ? इसी प्रतिबिम्ब पर हम यह कह सकते हैं कि वह प्रतिबिम्ब दर्पणके बाहर ो बाहर लौट रहा है, अर्थात् दर्पण के अंतःस्वरूपमें नहीं लीन हो रहा। स्वरूप नहीं बन रहा। इसी कार यहां भी देखो, एक शुद्ध शक्तिकी दिशामें आत्मामें ये विकार आये तो है, मगर आत्माने इनको हण नहीं किया। तो जैसे यह आत्मा ज्ञानस्वभावको ग्रहण किये है, उसमें तन्मय है। शाश्वतस्वरूप , इस प्रकार उसे अंगीकार नहीं कर सकता। निमित्त तो वह एक समयका हुआ। उस क्षणके गुजरने र यह पर्याय न रही तो आत्मामें ये बातें गुजरीं, मगर आत्माने इन्हें स्वीकार नहीं किया। अब इस ष्टि में यह भी नजर आयगा कि तब तो ये विकार आत्मा पर बाहर लौट रहे हैं, पर्याय में आ हे हैं मगर उनको स्वरूपरूपसे अंगीकार नहीं किया गया है। इसतरह यहां त्यागउपादानशून्यत्वशक्ति ै।

अभेद षट्कारतासे अनुप्राणिता क्रियाशक्तिका परिचय कीजिये पृ० २६१ के एक प्रवचनांशमें—अभेदषट्-कारकतासे अनुप्राणिता क्रियाशक्ति—क्रियाशक्तिमें बताया जा रहा है कि पदार्थ अपने ही कारण से अपने ही लिए अपने को आपको अपनी ही पर्यायरूपसे रचता है। यह अभेद षट्कारकता की बात कही जा रही है। इस सम्बन्ध में मुख्यतया तो स्वभाव परिणमन की बात लेना है क्योंकि पदार्थ आत्मद्रव्य, अपनी शक्तियोंके बलसे स्वभावतः जो कार्यकर सके वही वस्तुतः कार्य कहा जा सकेगा और जो विकार आते हैं वह शक्तियों का कारण नहीं, किन्तु शक्तियोंकी दुर्दशा है। लोकमें भी तो कहते हैं कि जो स्व-भावतः करे सो कार्य है और जो परकी उपाधिसे कुछ भी विपरिणमन हो उसके प्रतिकूल हो जाय वह उसका कार्य क्या है ? वह तो एक दुर्दशा रूप बात हो जाती है। ऐसी ही कुछ दृष्टि लगाकर शक्तियों का स्वरूप देखना है। शक्ति अपने आप अपने स्वभावसे विकार करने का स्वभाव नहीं रखती, ऐसी योग्यता है आत्मद्रव्यमें कि अशुद्ध आत्मद्रव्य उपाधिका सन्निधान पाकर विकृत हो जाता है, किन्तु शक्तियोंमें ऐसा स्वभाव नहीं पड़ा हुआ है कि वह विकार किया करें, स्वभाव न होकर भी विपरिणमन होता है ऐसे अनेक दृष्टांन्त हैं। जैसे जलका दृष्टान्त ले लीजिये। उसका स्वभाव ठंडा है, लेकिन अग्नि के सम्बन्धसे उसका उष्णतारूप परिणमन हो जाता है। तो यह एक मोटा दृष्टान्त है। अनेक दृष्टान्त ले लीजिये दर्पणका स्वभाव स्वच्छतारूपमें स्वयं व्यक्त रहने का है, लेकिन उपाधि का सन्निधान पाकर उसमें प्रतिबिम्बरूप विपरिणमन होता है, इसी प्रकार आत्मा की शक्तियों का काय स्वभाव तो विकारका नहीं है, पर होता है। वह पर्यायगत् योग्यताकी बात है। वह प्रकरण दूसरा है। यहां तो ज्ञानमात्र आत्मतत्त्व को प्रसिद्धि के लिए शक्तियोंका वर्णन चल रहा है। यहां अभेदषट्कारक रूप में होनेकी शक्तिका नाम है क्रियाशक्ति। सहज आत्मशक्तिका कार्य है स्वभाव-परिणमन।

आत्मामें कर्मशक्तिका प्रकाश देखिये पृ० २६३ पर एक प्रवचनांशमें—आत्मामें कर्मशक्ति का प्रकाश—क्रियाशक्तिमें बताया है कि आत्मामें जो क्रिया है, परिणति है वह आत्माका ही कर्तव्य पाकर आत्मा

को ही कर्मरूप करती हुई आत्माके ही कारण द्वारा, आत्माके ही सम्प्रदान के लिए, आत्माके ही उपादानसे, आत्माधिकरणमें प्रकट हुआ करती है। ऐसी ६ कारकों के रूपमें क्रियाशक्तिका वर्णन किया गया है। अब उस ही प्रतिक्रियामें जो कर्मकारक है उसके सम्बन्धमें कहा जायगा कि कर्म क्या है। और कर्मशक्ति आत्मामें किस प्रकार की बतायी गई है, सो आज कर्मशक्तिका वर्णन है। कर्मशक्तिका अर्थ है कि पाया जा रहा है जो सिद्धरूप भाव है उस मय होने की शक्ति। आत्मामें पाया जा रहा है हुआ जो निष्पन्न भाव है तद्रूप होने की शक्तिको कर्मशक्ति कहते हैं। आत्मामें क्या भाव पाया जा रहा है? जो पाया जा रहा है वह सिद्ध भाव कहलाता है। आत्मामें निष्पन्न हुआ है ऐसा भाव क्या है? आत्मामें आत्माके स्वभावसे, आत्माके ही आधार से, आत्माके आश्रयसे जो भाव प्रकट होता है वह भाव आत्मामें ही पाया जा रहा है और स्वयमें सिद्धभाव है वास्तवमें वही आत्मा का कर्म है। आत्मा ज्ञानमय है, तो ज्ञानस्वरूप आत्माका काम क्या होगा? परिणमन क्या होगा? वह जानन परिणमन होगा। तो एक जानन परिणमनकी मुख्यता है यहां निरखा गया- जाननभाव सिद्धभाव है अपने आपमें। जानन हो रहा है, जान रहा है यह आत्मा ज्ञान करता है, जानता है, यह है आत्मा का कर्म। और, जो आत्माका वास्तविक कर्म है वही है आत्माका धर्म।

कर्तृत्वशक्तिके प्रवचनोंके प्रसंगमें पढ़िये भूतार्थपद्धतिसे ज्ञानदिशा बनाने की आवश्यकता, पृ० ३१३-३१४ के एक प्रवचनांशमें—भूतार्थपद्धतिसे ज्ञानदिशा बनानेकी आवश्यकता—यहां यह बात निरखना है कि एक दूसरे का परिणमन नहीं कर पाता, इतना निरखने पर भी अभीष्ट न मिलेगा। यों तो अशुद्ध निश्चयनयकी कुछ पद्धति बिगाड़ दी गई समझें। पद्धति तो यह थी कि एक द्रव्यको अभिमुखता, लेकिन पद्धति यदि यह बना ली जाय कि कर्म ने तो नहीं किया कुछ यह तो जीवने राग किया है, जीवका परिणाम है, बस यों ही निरखते जावो—ऐसी पद्धतिसे अशुद्ध निश्चयनय भी गर्त में ढकेल देगा। जिनकी पद्धति भूतार्थ पद्धतिकी ओर देखनेकी नहीं है उनके लिए यह व्यवहार और यह भेदनिश्चयनय कोई उपकारी नहीं हो सकते। और, जिनकी पद्धति भूतार्थनयको अपनाने की, उसके आश्रयकी बनी है, उसके लिए यह व्यवहार भी बड़ा सहयोग दे रहा है, समझा रहा है—अरे ये कर्म के विकार हैं, ये रागद्वेषादिक पौद्गलिक हैं, जिनका मुझमें स्वभाव नहीं है। तो सम्हलकर चलने की बात है। एक पदार्थ, दूसरे का कर्ता नहीं है। यह भी समझना आवश्यक है और साथ ही विकार परिणाम उस ही पदार्थ में हुए, उस ही का सर्वस्व है, इस प्रकार के अज्ञानसे हटकर उस विकार और स्वभावमें भी भेद समझानेकी आवश्यकता है।

आत्मामें करणशक्तिका प्रकाश देखिये पृ० ३२३ के एक प्रवचनांशमें—करणशक्तिका अर्थ है कि हो रहे भावके होने में जो साधकतम हो, जिसके बिना हो ही न सके ऐसा जो साधकतम हो, उस रूप होने की शक्तिको करणशक्ति कहते हैं। आत्मामें भाव क्या हो रहा है? जिसका वर्णन पहिले भी किया गया था, पराश्रयके बिना निरपेक्षतया स्वतन्त्र होकर अपनी उस शक्तिके कारण स्वभावसे जो बात बने वह कहलाता है कर्म, और ऐसे कर्म के होने में साधकतम क्या है? तो यही आत्मा। यहां यह बात समझनी होगी कि द्रव्यमें जितने भी परिणमन होते हैं उन सब परिणमनोंका निश्चयतः कारण वही द्रव्य होता है, जिसको उपादान करके कहा उस ही का कारणरूपसे उपादान करके कार्य प्रकट होता है। लेकिन कुछ कार्य होते हैं औपाधिक और कोई कार्य होते हैं निरुपाधि। चूंकि यह आत्माकी प्रसिद्धिका प्रकरण है। आत्मा कैसे जाना जाय कि यह है, जिसका अनुभव किया जाने से कल्याण हो उस आत्मा की जानकारी के लिए यहां ज्ञानमात्र भावरूपमें आत्माका स्मरण किया गया था। मैं ज्ञानमात्र हूं।

ज्ञानमात्र हूं इस भावमें सर्व आत्मतत्त्व आ गया। कैसे आ गया, इस बात की सिद्धि के लिए यहां अनन्तशक्तियोंके वर्णनकी बात आयी। अनन्तका वर्णन कौन करे ? १०० का भी वर्णन होना कठिन होता है फिर भी उनमें जो मुख्य शक्तियां हैं, जिनके परिचयसे हममें निर्मल परिणाम होने का अवसर आ सकता है। उनका वर्णन यहां चल रहा है। तो निश्चयत: पदार्थ के परिणमनके लिए करण वही पदार्थ होता है किन्तु यहां ताकना है आत्माका निरपेक्ष परिणमनरूप कार्यका कारण। तो यहां शुद्धपरिणमन, निर्मलभाव, सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्ररूप परिणमन, जिसमें रहकर आत्माकी स्पष्ट प्रसिद्धि होती है। उस निर्मल आत्माका साधन क्या है ? एक अखण्ड आत्मद्रव्यका आलम्बन। किसका आश्रय करें, उपयोगमें किसको लिया जाय कि यह निर्मल परिणामोंका तांता चल उठे। इसका निर्णय करो। इसमें जो उत्तर आयेगा वही करण मान लीजियें।

सम्प्रदानशक्तिके प्रवचनोंमें पढ़िये अध्यात्मसम्प्रदानकी विशेपता पृ० ३४६ पर एक प्रवचनांशमें–अध्यात्म सम्प्रदानको विशेषता–इस आध्यात्मिक सम्प्रदानके सम्बन्धमें तो देखो–लोकमें तो यह बात है दान, विधि, द्रव्य, दाता और पात्र। और इस आध्यात्मिक निर्मल भावके आदान प्रदानमें स्वयं ही आदाता है, स्वयं ही प्रदाता है, इस सम्बन्ध में वह कैसा अलौकिक दाता है, अलौकिक विधि है, अलौकिक पात्र है और अलौकिक देय है। तब ही इसे प्रदान शब्दसे कहा है–प्रकृष्ट दान, विधि भी प्रविधि है, देय भी प्रदेय है, दाता भी प्रदाता है और पात्र भी प्रपात्र है। यों सभी उत्कृष्ट हैं, और फिर ये सब बातें कहीं भिन्न भिन्न जगह नहीं हैं, एकीभावसे ही सब हो रहा है, जिसको सम् उपसर्ग सूचित करता है। सम्का अर्थ है एकीभावरूपसे। जब यहां ही सम्प्रविधि है, यहां ही सम्प्रदाता है, यहां हो सम्प्रदेय है और यहां ही सम्प्रपात्र है तब यह है सम्प्रदान। इसकी क्या विधि है ? यह उपयोग ऐसे शुद्ध आत्मद्रव्यका आश्रय करे जहां किसो विशेषका विकल्प न हो ऐसा एक शुद्ध जीवत्वभाव उसके चिन्तनके सहारे, जहां एक उस आत्मद्रव्यका आश्रय हो, उसकी ओर उपयोगकी एकाग्रता हुई ऐसो विधिमें यह मिलता है सम्प्रदान, दान, प्रदान, सम्प्रदान और इसका देने वाला है यही शुद्ध ज्ञायकस्वभाव, ज्ञायकभाव आत्मा, जहां से यह निर्मलभाव प्रकट हुआ है यह है सम्प्रदाता और वह निर्मलभाव जहां क्षोभ नहीं, जहां परमपावनता है, जो बड़े योगीन्द्रों द्वारा पूज्य है ऐसा परिणाम है सम्प्रदेय और इसका लेने वाला भी यह है और प्रपात्र, सम्प्रदान भी यह यही आत्मद्रव्य है। इस तरह जिसको यह विश्वास है, निर्णय है, इस ही ओर जिसका कदम चल रहा हो कि मेरा भला एक इस शुद्ध परिणाममें है और यह परिणाम एक मात्र केवल आत्मद्रव्यके आश्रयसे प्रकट होता है यदि किसी भी भिन्न परवस्तुका आश्रय उपयोग द्वारा करते हैं, उस ओर लगते हैं तो उस लगने का स्थिति आश्रित भाव हो जाता है, शुभ भाव हो या अशुभ, किन्तु वह शुद्ध परिणाम स्वाश्रयसे प्रकट होता है।

अपादानशक्तिके प्रवचनोंके प्रसंगमें देखिये अपादानशक्तिमें ध्रुवताकी दृष्टि, पृ० ३७१ के एक प्रवचनांशमें- अपादानशक्तिमें जो परिचय पाया गया है उस परिचयमें यह प्रसिद्ध हुआ है कि यह उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक है। उत्पादव्ययसे आलिंगित होकर उत्पादव्ययरूप है, किन्तु यह तो हुआ वस्तुस्वरूप। वस्तु उत्पादव्ययध्रौव्यस्वरूप ही है। उत्पादके बिना व्यय ध्रौव्य नहीं ठहरते, व्ययके बिना उत्पाद ध्रौव्य नहीं ठहरते, ध्रौव्यके बिना उत्पादव्यय नहीं ठहरता, इस प्रकारसे उत्पादव्ययध्रौव्यकी अविनाभाविता है। यों पदार्थ उत्पादव्ययध्रौव्यलक्षणासत्तासे ही अनुस्यूत है पर अपादानशक्तिमें अपादानत्व के नाते से देखा जा रहा है तो उत्पादव्यय गौण हो जाता है और ध्रुवता मुख्य हो जाती है, उत्पादव्यय होकर भी जो ध्रुवता की शक्ति लिए हुए हो उसे कहते हैं अपादान। जहां "भी" लगाना है वह हो जाता है गौण

और उसे लगा करके जो कहा जाता है वह हो जाता है मुख्य। जैसे लोकव्यवहारमें ऐसी बहुत सी बातें बोली जाती हैं, हां बात यद्यपि ऐसी ही है, लेकिन होना चाहिए यह, तो उसकी मुख्यता चाहिए वालेमें गई। "होनेपर भी" इसका जिससे सम्बन्ध है उस पर मुख्यता नहीं गयी। तो उत्पादव्ययसे आलिंगित है यह ध्रुव आत्मद्रव्य। पर जो उसमें ध्रुवताकी शक्ति है उस शक्तिको प्रगट यह अपादान शक्ति कर रही है। ऐसे इस शुद्ध आत्मद्रव्यमें जो एकता है और शुद्धता है वही सुन्दर है। वस्तुतः देखो तो सभी पदार्थ अपने एकत्वके निश्चय में आये हों तो उस रूपसे वे भले जचते हैं, विसम्वादरहित जचते हैं, वहां कोई क्षोभ नहीं विदित होता है, शान्ति अवस्थित रहती है, ऐसी एकता सभी द्रव्योंमें है। प्रत्येक द्रव्य अपने ही स्वरूपसे है, अपने ही गुण पर्यायोंके एकत्वरूप से रहता है, इस कारण ऐसी एकता ध्रुवता सर्व-पदार्थोंमें है, किन्तु यहां आत्महितकी बात चल रही है। अतः आत्माके सम्बन्धमें ही यह सब परखा जा रहा है।

अधिकरणशक्तिके प्रवचनोंके प्रसंगमें निरखिये ज्ञानका आधार राग नहीं, रागके आधार ज्ञान नहीं, पृ० ३८९ का एक प्रवचनांश—रागादि विकार व ज्ञानमें अत्यन्त वैलक्षण्य होने से परस्पर आधाराधेय भावका अभाव—मैं इन बाह्य पदार्थोंमें नहीं हूं। इन बाह्य पदार्थोंकी चर्चा तो दूर रहो, मैं अपने इन रागादि विकारोंके आधार से भी नहीं हूं। ज्ञाताद्रष्टा रहना, वोतराग रहना, केवल शुद्ध ज्ञान रहना और रागविकार होना ये दो बातें विलक्षण तो हैं ही। स्वरूप ही इनका उल्टा है। किसो राग विकार वा कलंक स्वरूप और किसो ज्ञाता द्रष्टाका उत्तमस्वरूप ऐसे विभिन्न स्वरूप वाला यह ज्ञान क्या रागके आधार से बनता होगा? रागने क्या इन स्वभाविक धर्मोंको प्रकट किया? ज्ञाता द्रष्टा रहने रूप विकास यह राग से निकलकर नहीं आया। इसका आधार राग नहीं, किन्तु यह स्वरूप ही है निज। यहां भी तो कहते हैं कि एकका दूसरा कुछ नहीं लगता, क्योंकि भिन्न प्रदेशो है, भिन्न प्रदेश वाले पदार्थ की एक सत्ता तो नहीं बनती। यहां यह देखिये कि इन दोनों का भिन्न स्वरूप है, और ऐसा भिन्न स्व-रूप है विपक्षरूप कि इनका मेल नहीं हो सकता परस्परमें कि ज्ञानमें राग रहे और रागमें ज्ञान रहे। ज्ञान तो है आत्मज भाव और राग है कर्माश्रयज भाव, औपाधिक भाव, वैभाविक भाव। तो राग और ज्ञानमें आधारआधेयको बात नहीं कही जा सकती। तब बात क्या है कि जो विकार है वह विकारस्व-रूपमें ही रहता है, वह ज्ञानस्वरूपमें नहीं रहता, जाननपनमें नहीं रहता। जाननपनकी बात विलक्षण है, रागविकारकी बात विलक्षण है। तो ये क्रोधादिक विकार ज्ञानसे पृथकभूत हैं। इन क्रोधादिक विकारोंमें ज्ञान नहीं है। इनमें वस्तुतः आधार आधेय सम्बन्ध नहीं।

सम्बन्धशक्तिके वर्णनमें प्रारम्भमें यह बताया है कि सम्बन्ध विभक्तिको कारकमें क्यों नहीं गिना है? देखिये पृ० ४१९ पर एक प्रवचनांश—सम्बन्ध विभक्तिको कारकोंमें न रखने का कारण—जैन व्याकरणमें बताया गया है—"ता शेषं" षष्ठी विभक्ति शेष अर्थ में आती है। उस शेषका अर्थ क्या है? जैनेन्द्रव्या-करणकी सत्र क्रमानुख्या वाली शब्दार्णवचन्द्रिकामें कहा है—"कारकाणामविवक्षा शेषां"। कारकों की विवक्षा न रहना, कारकोंसे बाहर की जो बात है वह सब शेष कहलाती है। जैसे अंग्रेजी भाषामें मुख्य सम्बन्ध रखने वाले दो कारक हैं—(१) नोमिनेटिव और (२) ओब्जेक्टिव। इनके अतिरिक्त अन्य सब शेष हैं और उनका प्रयोग टू, बाई फोर, इन, फ्राम आदिक शब्दोंको लेकर किया जाता है। संस्कृत व्याकरणमें भी यह बात सुनाई जाती है कि कारकपना ६ में आता है, क्योंकि बताया है मृदर्थोदतिरिक्तः स्वस्वामिसम्बन्धः। प्रतिपादिकोंमें बसने वाले अर्थों से जो भिन्न अर्थ है यह स्वस्वामिसम्बन्ध अर्थ क्या हुआ? षष्ठीका जबकि कारकोंमें दो शब्दोंके ताल्लुककी आवश्यकता नहीं है। क्रियाका कारकभूत एक

एक एक शब्दसे सम्बन्ध रहेगा, जैसे–पढ़ा–किसमें पढ़ा ? पढ़ा–किसको पढ़ा ?, पढ़ा–किसके द्वारा पढ़ा ?, पढ़ा–किसके लिए पढ़ा ?, पढ़ा–किसमें पढ़ा ? यों एक क्रियाका कारकभूत एक शब्दसे ताल्लुक सीधा हो गया, लेकिन सम्बन्धमें दो शब्द ही बोले गये–जैसे राजाका पुरुष, फलाने देशका राजा आदि। उसका सम्बन्ध क्रिया से नहीं है, बल्कि शब्दका शब्दसे सम्बन्ध है। इसलिए इसे कारक अर्थ में नहीं लिया गया। फिर भी यह छोड़ा नहीं जा सकता, क्योंकि यह विभक्ति अर्थ में आता है। दो का भी सम्बन्ध हो तो उसमें भी अर्थ है।

सम्बन्धशक्तिके प्रकाशके प्रवचनोंमें से पृ० ४८६ के एक प्रवचनांशमें पढ़िये–ज्ञायकस्वभाव आत्मा के साथ भावकर्म व द्रव्यकर्मका सम्बन्ध क्यों नहीं है ? ज्ञायकस्वभाव आत्माके साथ द्रव्यकर्म व विभावका भाव्यभावक सम्बन्ध न होने से कर्म व विकारों से इस आत्मद्रव्यकी विविक्तता–यह ज्ञानस्वभाव यह सहज ज्ञानस्वभाव रागादिक से निराला है, क्योंकि इन रागादिक भावोंके द्वारा यह ज्ञानस्वभाव रंजित नहीं किया जा सकता। ओह, इस भूमिका में यद्यपि यह सब रागपरिणमन चल रहा है और इस राग–परिणमनके कालमें यह ज्ञानस्वभाव भी अपना मस्तक नहीं उठा पा रहा है, व्यक्त नहीं हो पा रहा है. इतने पर भी जो आत्माका सहज ज्ञानस्वभाव है वह, कितने ही तीव्र रागादिक हों, फिर भी उनके द्वारा यह ज्ञानस्वभाव रंजित नहीं किया जा सकता है। यदि ज्ञानस्वभाव ही रंजित हो जाय तब तो ये रागादिक ही स्वभाव बन जायेंगे। फिर तो कभी उद्धार नहीं हो सकता, अथवा इसका स्वरूप ही न रह सकेगा। देखिये–ज्ञान चाहे रंजित हो जाय, पर ज्ञानस्वभाव रंजित न होगा। मैं तो ज्ञानस्वभावरूप हूं, टंकोत्कीर्णवत् निश्चल यह ज्ञानस्वभाव, मैं, सो इन रागादिक भावों के द्वारा ज्ञायकस्वभाव मुझको रंजित किया जाना अशक्य है। तब यह राग भावक नहीं हो सकता और यह मैं ज्ञायकस्वभाव भाव्य न बन सका। यह तो हुई रागके साथ मेरी नातेदारी की बात। नातेदारी कहते हैं ते ना इति दारी, याने तेरा कुछ नहीं है ऐसा सम्बन्ध। कहते हैं ना, कि हमारी तो इनसे नातेदारी है अर्थात् मेरे ये कुछ नहीं हैं, इस प्रकार की बात इनके साथ है। देखो–लोग मुखसे तो यह कह रहे हैं और भीतरमें विश्वास यह बनाये हुए हैं कि मेरे खास सम्बन्धी हैं, ये ही मेरे सब कुछ हैं। तो यह तो राग के साथ ज्ञायकस्व–भाव मुझ आत्माकी नातेदारी हुई, असम्बन्ध रहा। अब परखें द्रव्यकर्म के साथ तो यह द्रव्य कर्म के द्वारा यदि भाव्य हो सकता है तो राग परिणाम हो जायगा, पर द्रव्यकर्म के द्वारा यह ज्ञायकस्वभाव "मैं" भाव्य नहीं हो सकता। तो राग मेरा क्या और रागका कारणभूत द्रव्यकर्म मेरा क्या है ? तब मैं सर्व ओर से ज्ञानभावसे निर्भर केवल चैतन्यमात्र ही अपने आपका अनुभवूं, मेरा परद्रव्य कुछ नहीं, रागादिक कुछ नहीं। मैं तो एक ज्ञायकस्वभावमात्र हूं।

(२७८–२७९) अध्यात्मसहस्री प्रवचन ८ ९ भाग

इसमें स्वरचित अध्यात्मसहस्रीके १४–१५–१६ परिच्छेदों पर पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराजके प्रवचन हैं। जितने दर्शनोंकी (मतोंकी) उद्भूति हुई है वे किसी न किसी नयदृष्टिसे ही हुए हैं। आइये इस परिच्छेदमें कुछ उदाहरण देखें कि किस नयदृष्टि से पहिचाना जाता है कि ईश्वर एक है–संग्रह दृष्टिसे ईश्वर के एकत्वकी निरोक्षा–संग्रहदृष्टिका प्रयोजन है सर्वका संग्रह करना। तो किसका संग्रह करना ? सर्व–जनोंका ? सर्व आत्माओंका ? यह भी नहीं, किन्तु सब विशुद्ध आत्माओंका संग्रह करना है। अब देख लीजिये कि जो भी विशुद्ध आत्मा है वह सब एक समान होता है। तो प्रथम तो कोषमें बताया है कि समान अर्थ में भी "एक" शब्दका प्रयोग होता है। एक के मायने है समान। यह पर्यायवाची शब्द है। कहीं "एक" (१) संख्यावाची हो तो उसका अर्थ दूसरा होता है, पर "एक" समानार्थक शब्द भी है।

ईश्वर एक है, ऐसा कहने में यह स्पष्ट ध्वनित होता है कि ईश्वर सब समान हैं, पर यहां अभी समानताके माध्यमसे एकता की ओर जाने की बात कह रहे हैं। वह है संग्रहदृष्टिसे, संग्रह दृष्टिसे समान को न ग्रहण करना, किन्तु एक को ग्रहण करना है। तब सर्वविशुद्ध आत्माओंको निरखिये- भगवान वह होता है जो कि विशुद्ध हो। विशुद्ध वह कहलाता है जो कि अकेला हो। विशुद्ध कहो, शुद्ध कहो, अकेला कहो, केवल कहो, ये सब एकार्थवाचक शब्द हैं। जो केवल आत्मा है, खालिस आत्मा ही आत्मा है उसे कहते हैं विशुद्ध आत्मा। वही विशुद्ध आत्मा परमात्मा कहा जाता है। परम आत्मा याने जो उत्कृष्ट आत्मा हो सो परमात्मा कहलाता है। उत्कृष्टता आया करती है निर्दोषताके कारण। याने जिस आत्मामें दोष एक भी न रहा सो उसे कहते हैं परमात्मा। अथवा परम का अर्थ उत्कृष्ट नहीं है। उत्कृष्ट अर्थ है परका। "पर" मायने उत्कृष्ट मायने ज्ञानलक्ष्मी अर्थात् जिसके ज्ञान पूर्ण उत्कृष्ट है, विकसित है उसे कहते हैं परम। ऐसा जो आत्माहो उसे कहते हैं परमात्मा। तो जो निर्दोषहै, उत्कृष्टज्ञानमय है ऐसेआत्माको कहते है परमात्मा। परमात्माकानाम भगवानभी कहाजाता है। भगका अर्थ ज्ञान है, जो उत्कृष्ट ज्ञानवान हो उसे कहते हैं भगवान। तो अर्थ निकला कि जो आत्मा विशुद्ध हो, निर्मल हो उसे कहते हैं परमात्मा। उसी का नाम ईश्वर है। ईश्वर उसे कहते हैं जो ऐश्वर्य युक्त हो। ऐश्वर्य उसे कहते हैं जहां अपना वैभव पाने में दूसरे का मुख न तकना पड़े। जैसे एक गांव का मालिक (मुखिया) अथवा जमीदार, उसे लोग ईश्वर कहते हैं। उसे सब प्रकारको चीजें उसको जमीन से पैदा हो जाती हैं। कपड़ा चाहिए तो कपास खेतोंमें बोकर उसका सूत कातकर कपड़े बुन लिया, नमक भी खारी मिट्टी से तैयार कर लिया, सरसों का तेल चाहिए तो उसे भी सरसों बोकर पैदा कर लिया। यों उसे सभी वस्तुवें जमीन में से मिल जाती हैं। उसका किसी चीजके पाने के लिए किसी दूसरे का मुख नहीं तकने की जरूरत रहती, इसीलिए उसको लोग ग्रामका ईश्वर कहा करते हैं। तो जो अपने ऐश्वर्य में स्वतन्त्र हो, जिसे अपने ऐश्वर्य के लिए परकी प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती है, जो केवल आत्मा है, परम आत्मा है, उसका जो ज्ञानानन्द ऐश्वर्य है असीम ऐश्वर्य, उसके पाने के लिए बाहरमें किसकी अपेक्षा करते हो ? अरे यह आत्मा स्वयं सुखमय है, ज्ञानमय है, आनन्दस्वरूप है। तो ऐसा स्वयं ऐश्वर्य सम्पन्न जो यह परम आत्मा है, भगवान है वह ईश्वर है। अब इसके स्वरूपको देखो तो इसका स्वरूप समान है, इसका विकास बिल्कुल समान है।

किस दृष्टिसे ईश्वर भावजगतका कर्ता सिद्ध होता है, इस वर्णनके पश्चात् द्रव्य जगतका कर्ता ईश्वर किस दृष्टि से है, पढ़िये–दृश्यमान जगतका कर्ता ईश्वर है इस मन्तव्यकी संभाविता आधारदृष्टि–अब इसी विषय से सम्बन्धित दूसरा विकल्प परखिये। द्रव्य जगत मायने यह सब द्रव्यरूप। मिट्टी कोयला, भींट, जानवर, मनुष्य, यह सब जो जो कुछ भी नजर आ रहे हैं, इनका करने वाला ईश्वर है। यह किस अभिप्रायसे चल चल कर धीरे धीरे कुछ चिग चिग कर यह निकला है। मूलमें क्या आधारभूत दृष्टि उनकी हो सकती थी इस बात को अब निरखें तो इसे निमित्तप्रधान दृष्टि से देखना होगा। इस दृष्टि का नाम है सामान्य सर्वनिमित्त दृष्टि। बात यहां यह सीधा है कि जैसे इस राग द्वेष सुख दुःखादिक भावोंका कर्ता जीव है यह निरखा गया उपादान दृष्टि से तो ऐसा यहां यह निरखना है कि इन कार्यों का कर्ता जीव है। यह है निमित्त दृष्टि से। जो कुछ भी यहां देखा जा रहा है कायके अतिरिक्त और कुछ यहां नहीं है। बस इनका समूह ही यहां सब कुछ दिख रहा है। यह भींट क्या है ? मृतकाय यह पहिले पृथ्वी रूपमें थी, फिर उसे पीसकर मिट्टीरूप बनाकर ईंटाकार तैयार कर लिया गया तो यह मृतकायका ही तो यात है। जैसे कोई मनुष्य गुजर गया और मनुष्य शरीर पड़ा रहा, अब उस शरीरको कोई चींथ ले, टुकड़े टुकड़े कर दे, जला दे, उसे राखरूप बना दे या किसी भी रूपमें बन जाय तो वह

मृतकाय की हो तो चीज है। तो जगतमें जो कुछ दिख रहा है वह सब काय काय ही दिख रहा है–कोई मृतकाय है कोई जीवितकाय है। अब इन कार्योंका करने वाला निमित्तदृष्टिसे जीव है। सो यहां इस तरह बात बनती है कि एक भवसे मरण करके जीव आया और नये शरीरको इसने ग्रहण किया, लो उसका निमित्त पाकर यह शरीर ग्रहणमें होने व बढ़ने लगा। अंगोपांग हुए और जिसका जैसा कर्मोदय है उसका वहां शरीर बना। एकेन्द्रियके अंगोपांग नहीं होते। तो शरीरका जो यह आकार बना, पिण्ड बना इसका निमित्त दृष्टिसे कर्ता यह जीव रहा, अर्थात् जीवका सम्बन्ध पाकर ये सब रचनायें बनीं। यद्यपि उन रचनाओंमें अंतरंग निमित्त कारण कर्मोदय है, पर उन कर्मोंका निमित्त कारण जीवविभाव है। तो जीव उनका निमित्तभूत हुआ, इस तरह से यह कहा जा सकता कि जगतमें जो कुछ भी दिख रहा है चाहे जीवित काय हो, चाहे मृत शरीर का रचने वाला हो, निमित्त दृष्टिसे जीव है, जीव के सम्बन्ध बिना ये कोई सकल नहीं आ सकते।

किस दृष्टिसे विज्ञानमात्र तत्त्वके सिद्धान्तकी उद्भूति हुई, पढ़िये–सर्वविश्वको विज्ञानमात्र तत्त्व मानने के मन्तव्यकी आधारभूत दृष्टिकी जिज्ञासा–अब एक नवीन चर्चा यह आ रही है कि कोई दार्शनिक कहता है कि यह सारा विश्वमात्र ज्ञानरूप है। ज्ञानको छोड़कर अन्य कोई भी सत् नहीं है। सब ज्ञान-मात्र है। ऐसा दर्शन सुन करके अचानक लोग ऐसा सोचेंगे कि यह तो अत्यन्त अनहोनी बात कही जा रही है, किन्तु इसको वे किस अभिप्राय से साबित कर रहे हैं? सो उनका अभिप्राय देखिये–विज्ञान-वादियोंका यह कथन है कि सारा विश्व एक विज्ञानमात्र है, क्योंकि इन समस्त पदार्थोंका और इस ज्ञानका एक साथ उपलब्ध हो रहा है। चूंकि ज्ञान और पदार्थ ये एक साथ ही उपलब्धिमें आ रहे हैं इस कारण से ये सब एक हैं और वे ज्ञानमात्र। ज्ञानाद्वैतवादियोंकी विज्ञानमात्र तत्त्वके साधनकी यह युक्ति देखिये–उनका कहना है कि ये सारे पदार्थ उपलब्धिमें आ रहे हैं, इस कारण ये भिन्न भिन्न चीजें नहीं हैं, किन्तु ये विज्ञानमात्र हैं, और दृष्टान्त भी वे देते हैं कि कभी दो चन्द्रमा हैं, लोगों को तो क्या वे दो चन्द्रमा हैं? अरे वह तो एक है, क्यों एक है कि चन्द्रमा एक साथ दिखे। एक साथ दो चन्द्रमा दिखे हैं इस कारण वह चन्द्र एक है। इसीतरह यह सारा विश्व, ये भींट, मकान, चौकी, काठ आदिक पदार्थ व यह ये दोनों एक साथ पाये जा रहे, इस कारण ये दोनों एक हैं। (विज्ञानाद्वैतवादकी बात कह रहे हैं) क्या किसी ने उपलब्धि की कि ज्ञानको तो उपलब्धि न हो और इन पदार्थोंकी उपलब्धि हो जाय? ऐसा तो किसी के नहीं होता। जब ये बाहरी चीजें समझमें आयीं तब ज्ञान भी साथ साथ जुटा हुआ है। तो ज्ञान और बाहरी पदार्थ ये दोनों एक साथ पाये जा रहे हैं इस कारण से एक ज्ञान मात्र ही है दूसरा कुछ नहीं। यह उनका सिद्धान्त है। इस विषयमें यह जिज्ञासा हो रही है, इसतरह का आशय किस दृष्टिका परिणाम था? उन्होंने कौन सी दृष्टि की, अथवा किस दृष्टिका आग्रह किया, तब यह समझमें आया कि यह सारा विश्व एक ज्ञानमात्र है। यह दूसरा कुछ भी पदार्थ नहीं है? उक्त जिज्ञासा का समाधान यह है कि ज्ञानमात्रही सारा विश्व है। इस अभिप्रायका कारण है विज्ञान-दृष्टि।

अब एक विज्ञानदृष्टिके एकान्तका मन्तव्य देखिये–अब विज्ञानदृष्टिका एकान्त देखिये–जीव वास्तवमें अपने ज्ञानके परिणमन को ही जानता है। बाहरमें कुछ नहीं जानता। लो चलो–ज्ञानमें आयी भींट, यह बाहरी पदार्थ, तब हम जान सके कि यह भींट है। यह अमुक पदार्थ है। तो ज्ञानकी पर्याय में जो ग्रहण हुआ, जो ज्ञान हुआ, तत्त्व तो यही मात्र है, उससे भिन्न नहीं है बाहरी कुछ चीज, लेकिन जो ज्ञान में आया उसके कारण बाह्य पदार्थोंके नाम लिए जाते हैं कि यह भींट है, यह चौकी है, यह अमुक

है। यों विज्ञानदृष्टिका एकान्त बना। जैसे कि कोई पुरुष दर्पण लिए हो तो दर्पण को देखकर हो वह यह बतला पाता है कि देखो पीछे ये वृक्ष खड़े हैं, ये लड़के खेल रहे हैं, आदि तो यह बात उसने कब समझा? जब उसने दर्पणमें पड़ने वाले प्रतिबिम्बको देखा। तो तत्त्व तो उसके लिए यही दर्पण ही है। दर्पण प्रतिबिम्ब है, यह एक उसकी दृष्टिमें है, पर उसे निरखकर जैसे वृक्षोंकी, बच्चोंको, अन्य अन्य भी बाहरी चीजोंकी सत्ता बताता है ऐसे ही यहां ज्ञानमें आये हुए आकारोंको समझकर बाहरी पदार्थोंकी सत्ता बताया करते हैं। यह विज्ञानमात्र तत्त्व मानने वाले को चर्चा बतला रहे हैं। यद्यपि ये समस्त आकार जो ज्ञानमें आये हैं, जो अर्थ विकल्प हुए हैं वे उस प्रकार हुए हैं कि जसे बाहर में पदार्थ मौजूद है, लेकिन जो मात्र विज्ञानदृष्टि करके विज्ञानको ही देख रहा है तो बाह्य जगतका सत्त्व प्रतीत नहीं होता है। विज्ञानाद्वैतवादी चर्चा कर रहे हैं-जैसे कोई स्वप्नमें निरखते हैं कि पहाड़ है, जंगल है, लोग हैं, नदी है, आदि, लेकिन वहां कुछ है क्या? हां उसके ज्ञानमें यह सब कुछ है। तो भीतर से इस चर्चाकार का (विज्ञानाद्वैतवादीका) यह आशय है कि इसके ज्ञानमें ही सब कुछ है ये पेड़ खम्भा आदिक पदार्थ, लेकिन ये वस्तुतः कुछ भी चीज नहीं हैं।

तुरीयपाद ब्रह्मके सिद्धान्तकी आधारभूत दृष्टि परखिये-तुरीयपाद ब्रह्मके अभिमतकी आधारभूत दृष्टि की जिज्ञासा-ब्रह्मको दार्शनिक तुरीयपाद कहते हैं। चार पैरों वाला कहते हैं। चार पैरोंके बिना न चौकी टिकती, न टेबिल टिकती, न जानवर टिकते, न मनुष्य टिकते। मनुष्योंके भी दो पैर होते और दो हाथ होते, इस तरह इन चार के बिना तो कोई जीव जन्तु नजर नहीं आ रहा है। पक्षियों के भी दो पैर हैं और पंख हैं, इस तरह जगतको व्यवस्था वे चार पायोंमें बना रहे हैं। प्रथम पाद है जीव, दूसरा पाद है आत्मा, तीसरा पाद है परमात्मा और तुरीयापाद (चतुर्थपाद) है ब्रह्म। उनकी इस व्याख्यामें जीवका लक्षण तो है जागृतिरूप दशा और आत्माकी अवस्था है अन्तःप्रज्ञ अवस्था, और ब्रह्म इन तीनोंसे परे है। यद्यपि साधारणतया ऐसा कहना ठीक बैठ रहा कि जीव तो सुसुप्त दशाको कहना चाहिए। जो सोया हुआ हो वह बाहरात्मा है और कहते ही हैं लोग कि मोहनींद म सोये हुए हैं, लेकिन यहां कही गई जागृत अवस्था खोटे भावमें जगने को अर्थात् जो जीव जग रहा है इस बाहरी लोकमें, बाहरी परिणतियोंमें, बाहरी विकल्प तरंगोंमें, वह है बहिरात्मा। सोया हुआ अगर कहें तो उसका अर्थ यह निकला कि जो अपने अन्तः स्वरूपके जाननेमें प्रमादी है, सोया हुआ है वह है सुसुप्त। किसी भी शब्दसे कह लो-स्वरूप सही नजर में आना चाहिए। तो यह जीव जग रहा है विषयोंमें, कषायोंमें, इससे उसकी चेतना नहीं रही है सो वह कहलाता है जीव और आत्मा है सुसुप्त याने बाहरी बातोंमें जो नहीं जग रहा है किन्तु जसे सोया हुआ पुरुष शान्त है, जैसा पड़ा है वैसा हो पड़ा है, हिल डुल भी नहीं रहा है ऐसे ही जो ज्ञानी पुरुष अपने आप यह दृष्टि बनाये हुए है कि हिल डुल भी नहीं रहा है और अविचल सा बना हुआ है वह कहलाता है आत्मा। और, परमात्मा है अन्तःप्रज्ञ, परमज्योति स्वरूप, जिसकी प्रज्ञा बहुत विशाल है, सर्वज्ञ है, तीन लोक, तीन कालका जाननहार है, ऐसा जो कोई है वह है परमात्मा, और ब्रह्म इनसे परे है। वह ब्रह्म क्या चीज है? अद्वैतरूप है आदिक कहकर ब्रह्मको तुरीयपाद कहा गया है। तो यह अभिमत किस दृष्टिका परिणाम है कि ब्रह्म इन सबसे परे है? यह है पारिणामिक दृष्टिका परिणाम।

नयसमूहके निर्णय से अपना क्या कर्तव्य निश्चित करना चाहिए, पढ़िये-नयचक्रकी गहनता व नयचक्र से निर्णय करके नयपक्षातिक्रान्त अन्तस्तत्त्वमें मग्न होने के कर्तव्यका स्मरण-जितने अभिप्राय हैं सबकी आधारभूत कोई मूलमें दृष्टि हुआ करती है अतएव बड़े विवेकपूर्वक समझने समझाने का उद्यम करते

वाले लोग ईमानदारी से चिग गये हों, यह तो विश्वास में नहीं आता, पर ज्ञानको, नयकी ही कोई चूक बन गई यह सम्भव है, क्योंकि नयचक्र एक ऐसा घनघोर जंगल है कि इसमें चलते हुए पथिक कई जगह भूल भटक सकते हैं। केवल एक नयकी भूलके परिणाममें जो ऐसे अनेक वस्तुस्वरूपके बताने वाले दर्शन हैं उनकी सम्भावित आधारभूत दृष्टिको निरखा जाय तो यह सब समन्वित हो जाता है। इन दृष्टियोंके अतिरिक्त और भी इतने मत हैं कि जिनकी निश्चित कोई सीमा नहीं, क्योंकि जितने विचार हैं उतनी ही दृष्टियां हैं और जितनी दृष्टियां हैं उतने ही मत हैं, लेकिन उन सब मतोंका निर्णय युक्तिबलसे, न्यायबलसे कर लेना चाहिए और उस विसम्वाद से हट कर अपने आपमें अपना निर्णय बनाकर इस अन्तस्तत्त्वकी उपासनामें अपना समय अधिक लगाना चाहिए। इन सब दृष्टियोंकी परख हो जाने से सत्य दृष्टि का दृढ़तम निर्णय हो जाता है। सही निर्णय में पहुंचने के पश्चात् निर्णय व नय के विकल्पसे भी परे होकर अखण्ड सहज ज्ञानस्वभावके दर्शनमें ज्ञानमें तृप्त होना चाहिए। प्राप्त बुद्धि का वैभव व सदुपयोग यही है।

आत्मतत्त्वकी उपासना के लिए आत्माके अनर्थान्तर शब्दोंके माध्यमसे देखिये—कारण–समयसार—इस अंतस्तत्त्वका नाम है कारणसमयसार। समयसार को दो रूपोंमें निरखियेगा—(१) कार्यसमयसार और (२) कारणसमयसार। कार्य समयसार तो हैं प्रभु अरहंत सिद्ध परमात्मा। तो हुआ क्या वहां? जैसे कोई मिट्टीका घड़ा बनाता है तो पानी भी मंगाता, कुछ बारीख भूसा भी उसमें साननेके लिए मंगाता, कुछ रंग भी उसमें मिलाता और दंड चक्र, थपथपा आदिक साधन भी मंगाता, और उसके अनुकूल कुछ उत्साह भी जगाता, तब कहीं वह घड़ा बना पाता, तो इस तरह से जो प्रभु हुए, परमात्मा हुए उनके परमात्मा बननेमें बताइये कहां से कौन सी चीज ला ला कर संचित की गई? उस परमात्माका निर्माण करने के लिए बाहरसे क्या क्या साधन इसमें चिपटाने व जुटाने पड़े, जरा बताओ तो सही? —अरे बाहर से तो कुछ भी साधन लाने जुटाने नहीं पड़े। बाहर से कुछ बात नहीं हुई। - तो क्या प्रभु तारीफ के लायक नहीं हैं? हां है भी, और दिख रहा कि नहीं भी हैं तारीफके लायक, क्योंकि वह तो जो थे सो ही हो गये। वहां कोई विलक्षण बात नहीं हुई। जो स्वभाव था वह रह गया। वहां हटाव तो हुआ, ग्रहण कुछ नहीं हुआ। तो जो था वही रह गया, इस ही का नाम तो है कार्यसमयसार। वहां क्या रह गया? जो था सो ही रह गया। "जो था" इस ही का नाम है कारण समयसार। जो रह गया उसका नाम है कार्यसमयसार। तात्पर्य यह है कि जैसा जो सहजस्वरूप है, ज्ञायकस्वरूप है, चैतन्यमात्र है, अपने आपके सत्त्वके कारण जो इसका सहजस्वरूप है वह है कारणसमयसार। याने वह ही तो अब है। उसका प्रताप व्यक्त हो गया, प्रकट हो गया। जो अप्रकट है वह प्रकट हो गया, यही तो बात होती है परमात्मतत्त्वमें। तो इसी कारण उसको कारणसमयसार कहते हैं। उस परमात्मपद की प्राप्तिमें अनिवार्य कारणता इसी तत्त्वमें है, अन्य पदार्थमें नहीं है। यह कारणसमयसार यद्यपि सब जीवोंमें बस रहा है, लेकिन जब ऐसा सुयोग जिसका मिलता है तब उसका व्यक्ति होती है। जैसे घड़ा बननेकी योग्यता सब मिट्टी में है लेकिन जिस मिट्टी के लिए द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावका योग मिल गया उसमें घड़ारूप बन गया पर कारणता सब मिट्टियोंमें है और ऐसी कारणता कारणसमयसार स्वभाव दृष्टिसे तो अभव्यमें भी पड़ी हुई है। सुमेरुपर्वतकी जड़के नीचे की मिट्टीमें भी घड़ा बननेकी योग्यता पड़ी हुई है। वहां के मिट्टीके कण मिल तो न सकेंगे मगर योग्यता वहां भी पड़ी हुई है। और, इस मिट्टीमें तो कुछ बात बनावेंगे, करेंगे, तब घड़ा बनेगा, किन्तु यहां समयसारको तो ढलासे निहारना भर है, केवल उपयोगको बदलना भर है। वह तो बड़ा सरल सा काम है, सीधा और स्वाधीन काम है। इस ही वृत्तिके द्वारा यह परमात्मा व्यक्त होता है, साध्य होता है। तो ऐसे इस अंतस्तत्त्वको

कहते हैं कारणसमयसार है। इस अन्तस्तत्त्वका वर्णन किया जायगा, इसके लिए कुछ नामकरण की बात यहां कही गई है।

परमशक्ति अंतस्तत्त्व—जैसे कहा करते हैं कि पानी में मीन पियासी, अचरज की बात है कि पानी में रहकर भी मछली प्यासी रह जाती है। रहती नहीं है, पर कोई मछली प्यासी रहे पानी में रहकर भी तो जैसे इसका मूढ़ता है, इसी तरह ज्ञानमय, आनन्दमय कल्याणस्वरूप, आत्माका स्वरूप स्वयं ऐसा है तिस पर भी ऐसे आत्मामें जिसका रहना हो रहा है ऐसा यह स्वयं अथवा उपयोग दुःखी रहे, क्लेश भोगता रहे, यह एक अचरजकी बात है, अथवा अचरजकी बात नहीं, मछली मूढ़ हो जाय तो भले ही प्यासी रहे, ऐसे ही यह आत्मा मूढ़ है, मोहित है, पर्यायबुद्धिमें निरत है तो यह अवश्य ही दुःखी रहा करता है। आत्माका स्वरूप तो परमशिव है, उत्कृष्ट कल्याणमय है। यह आत्मा स्वयं परमशिव है। शिवका अर्थ है आनन्दमय, कल्याणमय। और परम आनन्दमय, परमकल्याणमय। जितने लोग आनन्दके पद मानते हों उन सब पदोंमें उत्कृष्ट आनन्द तो यह तो स्वयं है। जिसे लोग अपना बड़ा मंगलस्वरूप समझते हों, कल्याण समझते हों उनमें सर्वोत्कृष्ट कल्याण स्वरूप यह आत्मा है। जब अन्तः दृष्टि की जाती है तब यहां यह पता होता है कि यहां अन्तः कुछ कारण नहीं, कुछ ढंग नहीं, कोई पिण्ड नहीं, अमूर्त ज्ञानप्रतिभास है और बन गया कितना बतंगड़ कि यह मूर्तिक हो गया, कर्मबन्ध हो गया, भटकता है, क्या स्थितियां हो गयीं? यह एक अचरज की बात ही तो हुई। तो जिन तत्त्वज्ञोंने परमस्वरूप अपने आत्मतत्त्वका निर्णय किया है और इस दर्शनके प्रतापसे यह निर्णय जिसका दृढ़ रहा है कि मैं तो यह स्वयं प्रतिभासमात्र कल्याणमय हूं, उसको फिर व्यग्रता क्यों होगी? दृढ़ता इसका नाम है कि फिर कल्याण के लिए, आनन्द पाने के लिए बाहरमें व्यग्रता न हो। बाहर में आनन्द पाने के लिए व्यग्रता है तो यह मेरी कमी है, कमजोरी है, दृढ़ता का अभाव है, अथवा उसको परखा ही नहीं। वह आनन्दधाम चैतन्यमात्र आत्मा स्वयं परम शिवस्वरूप है।

शुद्ध अन्तस्तत्त्वकी परख बिना धर्मभावकी असंभवता, पढ़िये—यहां तो लोग धर्म करें, इस भावसे बाह्य की ओर खिंचे जा रहे हैं। यद्यपि किसी स्थितिमें यह साधन है, पर मूलमें कुछ धन ही पासमें न हो तो फिर ब्याज कहां से मिल सकेगा? यदि अपने आपके इस अन्तः स्वरूपका पता हो न हो तो भक्ति, वंदन, पूजन आदिक कार्योंसे धर्म कार्यकी सिद्धि नहीं हो सकती है। जब मूलधन ही नहीं है तो ब्याज कहां से मिले? अपने आपके अन्तः प्रतिभासमान उस चैतन्यस्वरूपकी अनुभूति है तो सब जगह हर परिस्थितियोंमें रहकर भी वह धर्मका अधिकारी है, और यही बात मूलमें नहीं है तो कितना ही बड़ा तपश्चरण किया जाय, कितना ही बड़ा अन्य धार्मिक व्यवसाय हो तो भी वह व्यवसायमात्र होगा। वहां धर्मका अधिकार नहीं मिल पाता। तो ऐसा अतुल पद इस अन्तस्तत्त्वके अवलम्बनसे प्राप्त होता है इसका ही इस परिच्छेदमें वर्णन होगा। इन प्रभुको अरहंत कहते हैं। जिन्होंने शुद्ध अंतस्तत्त्वके आलम्बनसे ऐसा स्वच्छ स्वभावपद प्राप्त किया है अरहंतका अर्थ है पूज्य। अरहंत कहो चाहे अर्हः कहो, एक ही अर्थ है। इसी अर्हको लोगों ने अल्ला कहा है। वे प्रभु अर्ह हैं, जो चारघातिया कर्मोंको नष्ट कर चुके हैं और पूज्य हैं। इन अरहन्त भगवान के गुणानुवादमें और इनके सम्बन्धित वैभवके कीर्तनमें ही प्राचीन लोग अजान पढ़ा करते थे—चत्तारिमंगल, अरहन्त मंगलं, तो लोग उस अजान को तो भूल गये, क्या उनमें था, किसका स्मरण किया जाता था? चार चीजें मंगल हैं—चार लोकोत्तम हैं, मैं चार की शरण को प्राप्त होऊं, लेकिन वह तत्त्व ही निकल गया लोगों की बुद्धि से। उस अन्तस्तत्त्व की सुध न रही तो सारे भक्तिके कार्य सब उल्टे फल देने वाले बन बैठे। तो ये प्रभु हम आपसे अधिक

सम्बन्धित है। कभी कभी तो इनका दर्शन कर सकते हैं, आज यहां नहीं, पर करते तो हैं मनुष्य इनका दर्शन। सिद्ध के दर्शन तो नहीं कर सकते, क्योंकि वे अशरीर हैं, लोकमें सबसे ऊपर विराजमान हैं। यहां हम अरहन्त प्रभुकी मूर्ति के दर्शन भी कर सकते हैं और उनकी मूल परम्परा में चले आये हुए शास्त्रोंका अध्ययन करके अपना कल्याण कर सकते हैं, यही कारण है कि हम आप अरहन्त भगवानकी भक्ति के लिए नमस्कारमन्त्रमें प्रथम नाम लेते हैं। और जब जिससे अधिक परिचय हो जाता है तो उससे बात करना, मिलना सहज हो जाता है तब उस स्थितिमें असली महत्ता विदित होती है।

१६ वें परिच्छेदमें अन्तस्तत्त्वकी सहजशुद्धताका वर्णन है। उदाहरणार्थ देखिये—जीवकी बद्धता, मुक्तता व अबद्धताविषयक जिज्ञासा—इस अंतस्तत्त्वके परिच्छेदके लिए प्रथम प्रश्न हो रहा है कि यह सामान्य आत्मा कर्मसे बद्ध है या कर्मसे मुक्त है अथवा अबद्ध है? प्रथम प्रश्न विकल्पका भाव यह है कि आत्मा कर्म से बन्धे हुए हैं। ये सब जीव संसारमें जो भ्रमण कर रहे हैं ये किसी बन्धन विशेष से बन्धे हुए हैं ऐसे इन जीवोंको निरखकर तो यही विदित होता है कि यह जीव समूचा बन्धा हुआ है, इसके कोई अंग प्रत्यंग अबद्ध नहीं है। सर्वत्र बन्धा हुआ है, विचार को लेकर यह प्रश्न किया जा रहा है कि जिस अंतस्तत्त्वकी चर्चा कर रहे हैं, जिसे आत्मामें सार है ऐसा बता रहे हो वह सार तत्त्व भी क्या बद्ध है? दूसरा प्रश्न विकल्पमें यह पूछा गया है कि सामान्य आत्मा जिसकी चर्चा कर रहे हो वह क्या कर्म से मुक्त है अथवा यदि बद्ध नहीं, तथा मुक्त नहीं तो क्या वह बन्ध मोक्ष दोनोंसे रहित अथवा अबन्ध है। ऐसे तीन प्रश्नोंकी जिज्ञासा प्रथम हुई है। अनेक प्रश्न होंगे उन सब प्रश्नोंमें सबसे पहिला प्रश्न सबसे पहिली जिज्ञासा जिज्ञासु को ऐसी होनी प्राकृतिक है, क्योंकि सब जीवोंको स्वतन्त्रता प्रिय है। बड़े दुःख में रहे और स्वतंत्रता अपनी समझे तो उसे वह दुःख भी पसंद है, पर बड़ा आराम मिले और सुख मिले, स्वतन्त्रताका वहां घात हो तो यह आराम भी वहां पसंद नहीं है। यह बात बता रहे हैं लौकिक जनोंकी। अब अलौकिक पुरुषोंकी बात देखिये कि तपश्चरणमें विविध क्लेश बताये गये हैं और सामा-न्यतया जानते ही हैं लोग, उपवास करें, भूखसे कम खायें, गर्मी, शर्दी आदिमें ध्यान करें, ऐसा क्लेश होता है, लेकिन वहां स्वतन्त्रताका अनुभव हो रहा है साधुजनोंका। अपने आपका जो सहज स्वरूप है उस स्वरूपके मिलनमें उनका आत्मा तृप्त हो रहा है। उन्होंने ऐसा स्वात्मसंयम अंगीकार किया है। वह उनकी स्वाधीन वृत्ति है। तो इस स्वतन्त्रताके त्यागमें शारीरिक सारे उपद्रव्य भी उनके लिए न कुछ हो जाते हैं। तो स्वातंत्र्य प्रिय है और परतंत्र्य अप्रिय है। तो ऐसा होना एक बन्ध मोक्ष का ही नामान्तर है। तो उसके विषयमें जिज्ञासा हुई है कि यह सारभूत आत्मा क्या बद्ध है या मुक्त है अथवा अबद्ध है?

आत्माके कषायसहिततत्त्व व कषायरहिततत्त्वविषयक दशमी जिज्ञासा।ढ़िये-अब दशवीं जिज्ञासा में यह जानने का उपक्रम हो रहा है कि आत्मा कषायसहित है या कषायरहित? कषायसहित या कषायरहित ऐसे दो विकल्पोंका आधार यही है कि पाया ही जायगा जीव या तो कषायसहित या कषायरहित। सहित और रहित, ये दोनों जहां एक शब्दमें लिए जायेंगे वहां सारी दुनिया आ जाती है। जिसकी बात कहेंगे वह सब आ जायगा। जैसे जीवसहित जीवरहित। अब इसमें कौन सा पदार्थ छूट गया? एक शब्दमें उस शब्दको बोलकर उससे रहित बोला जाय तो कुछ छूटा क्या? सब आ जाता है। जब कषायसहित और कषायरहित विकल्प हुआ तो सब आत्मा आ गया। कोई आत्मा ऐसा नहीं है जो इन दो चीजों से पृथक् हो। या कषायसहित मिलेगा या कषायरहित मिलेगा। तो यहां यह जिज्ञा-सा होती है कि वास्तवमें यह जीव है कैसा? कषायसहित है या कषायरहित? ऐसा भी सोच

लीजिये कि जैसे कोई काठ मजबूत है, बड़े सार वाला है, पुष्ट है और १००-५० वर्ष बाद वह सार-रहित हो जाता है तो वहां यह कहा जायगा कि यह काठ तो सारसहित था, मगर अब साररहित हो गया तो क्या इस तरह यहां भी है कि आत्मा तो वास्तवमें कषायसहित ही है मगर कारण पाकर कषायरहित हो गया। उस जीवका जो सार है कषाय, वह सार निकल गया। जैसे पुराने काठमें से सार हट जाता है क्या इस तरह आत्मा है ? ऐसा सोचने का आधार एक वह दृष्टि हो सकती है कि जहां यह माना गया है कि जीव सदा रागवान है। उसका राग ही स्वरूप है। रागको छोड़कर जीव हम और क्या बतायें। और कभी यह जीव तपश्चरण करके मुक्त भी हो जाता है, तो वहां कहीं रागशून्य नहीं हो गया, किन्तु दब गया और जब सदा शिवकी मर्जी होती तो वह राग पैदा करके फिर ढकेल देता है। तो इस तरह की बात से भी यह जिज्ञासा बन सकती है क्या आत्मा कषायसहित है अथवा कषायरहित ? कषायसहित कहने में यह तो सीधा ही बिगाड़ है कि आत्मा कषायसहित हो गया। आत्मामें कषाय आगंतुक है, कर्मोदय से आयी है, घटना से प्रकट हुई है। वास्तवमें आत्मा तो कषायरहित है। कषाय औपाधिक चीज है। इस तरह आत्मा क्या कषाय रहित है ? इस बातको लेकर १० वीं जिज्ञासा आयी है।

आत्माके सत्त्व असत्त्वविषयक त्रयोदशी जिज्ञासाका समाधान-उक्त उभय प्रश्नविकल्प वाली जिज्ञासा का समाधान देते हैं कि आत्मा स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी अपेक्षा से सत् है और परद्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी अपेक्षासे असत् है। इस आत्मामें अनेक असत्त्व भी परिचयमें आ रहे हैं. लेकिन उन असत्त्वोंकी ओर तो दृष्टि जिसकी हो गई और स्वचतुष्टयसे सत्त्वकी दृष्टि जिसके नहीं रही ऐसा पुरुष इस आत्मा को सर्वथा असत् भी कह सकता है। और, जिस पुरुषकी स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल, भावके सत्त्वकी दृष्टि रही और वहां जब स्वविशेषण हट जाता है, है ही सत् ऐसा अंगीकार किया और बढ़कर परके द्रव्य, क्षेत्र आदिक से असत् है यह भी ध्यान छोड़ दिया ऐसे पुरुषको ये दोनों सर्व सत् रूप नजर आते हैं, किन्तु है अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे सत् और परद्रव्य क्षेत्र, काल भावसे असत्। जैसे कि बताये कोई कि यह पुस्तक सत् है या असत् है अर्थात् है या नहीं है, ये दो प्रश्न विकल्प किये जायें तो जिनकी बाहरी चीजों पर दृष्टि है वे कहते हैं कि नहीं है। क्या नहीं है ? उसके समझ (अन्डरस्टूड) है, वह भीतर अन्तर्जल्पमें बोल देता है। चौकी, भींट, आदिक नहीं है। अब जो उसका गुप्त ज्ञान है उसकी तो दृष्टि इसने लिया नहीं है और वह नहीं का एकान्त करदे तो तथ्य तो न निकलेगा, और कोई इस पुस्तक को सत् ही बताये, यह है ही है, इसमें "न" कतई नहीं है, तो इसके मायने है कि पुस्तक पुस्तक भी है, तो भी बात नहीं बनती। फिर पढ़ने का काम कैसे किया जा सकेगा ? क्योंकि वह पुस्तक सिर फोड़ने का काम भी करने लगेगी। तो पुस्तक पुस्तक रूप है, इसके अतिरिक्त अन्य सब से असत् है। यदि पदार्थ में अन्य का असत्त्व नहीं हो तो अर्थक्रिया नहीं हो सकती है। वस्तु स्वरूप न रख सकेगा। ऐसा सत्त्व असत्त्व प्रत्येक पदार्थ में है। अपने सत्त्वसे सत्त्व है और परके सत्त्वसे असत्त्व है।

पढ़िये अन्तस्तत्त्वकी साध्यता-हमें इस अन्तस्तत्त्वको किस विधिसे साधना चाहिए ? जो कि अभेद षट्कारक विधियों में बात आती है उस विधिसे हमें स्वभावको साधना चाहिए। तो साध्य है यह अन्तस्तत्त्व, जिसके फलमें प्राप्त होता है निर्मल सिद्धप्रभुत्व परिणमन। वह है साध्यका फल। साध्यकी जो प्रक्रिया बनायी है, साधनकी जो बात की है, वह उसका फल है। यहां इस बात को भी सतर्कता से जानना चाहिए कि जो यह कह दिया जाता है कि साध्य तो सिद्ध अवस्था है और साधक यह भाव है।

तो अभी वह विधि नहीं आ सकी है कि जिस विधिसे प्रभुता पायी जा सके। यों ७ राजू ऊपर, लोक के अन्त में दृष्टि लगाये रहे वह है सिद्ध पर्याय। वे प्रभु अनन्त चतुष्टयके धनी हैं। अच्छा तो उसे साध्य बना लोगे क्या ? उसको क्या कर लोगे? पकड़ नहीं सकते। वहां पर जा नहीं सकते। उसका वहां उपयोग नहीं ले सकते। तो वह क्या साध्य बन जायगा ? वह भी ज्ञेय रहा साध्य न रहा। साध्य तो यह अन्तः प्रकाशमान स्वरूप है ज्ञानमात्र। इस ज्ञानमात्र अन्तस्तत्त्वको ऐसे ही अनुकूल ज्ञानोपयोग करके साधना है। तो ऐसा साध्य साधक भाव मेरा कहीं बाहर नहीं पड़ा है। यह मैं साधक हूं और यही मेरे द्वारा साध्य है, आराध्य है। कभी भी कोई पदार्थ किसी अन्य पदार्थ को स्ववश नहीं कर सकता। किसी भी पदार्थ में यह सामर्थ्य नहीं है कि वह किसी परपदार्थ को रंच मात्र कुछ परिणतिको करदे। भले ही निमित्तनैमित्तिक विधियां हैं, लेकिन किसी भी परद्रव्यमें यह सामर्थ्य नहीं कि किसी पर के द्रव्यरूप, गुणरूप, पर्यायरूप कुछ तो कर दे, उस परिणमनमें सहयोग दे दे, उसके परिणमन में कुछ अपना योगदान तो करदे। नहीं कर पाते हैं। तो इसी तरह कुछ भी साध्य कर सकेंगे तो केवल अपने को साध सकेंगे, दूसरे को हम नहीं साध सकते।

देखिये शुद्ध आत्मतत्त्वकी उपासनाका लाभ—इस परिच्छेदमें प्रारम्भमें यह जिज्ञासा की गई थी कि जिस शुद्ध आत्माके आश्रयसे मोक्षमार्ग चलता है उसका क्या स्वरूप है ? उस स्वरूपका वर्णन करने के बाद अब यहां यह समझ लेना चाहिए कि ऐसा शुद्ध आत्मतत्त्वका भी परिज्ञान करने से लाभ क्या होगा ? किस शुद्ध आत्मतत्त्वके ध्यान की बात कही जा रही है ? जो सर्वगुण भेदोंसे परे है, जो समस्त परिणमनोंसे परे है और यह शुद्ध है, इस प्रकार के विकल्पसे भी जो परे है ऐसा जो निज शुद्ध आत्मतत्त्व है, उसका ध्यान करने से उसका ज्ञानमात्र करने से निर्विकल्प समाधि प्रकट होती है। साधु परमेष्ठी के स्वरूपमें बताया है ज्ञानध्यानतपोरक्तः साधु क्या होता है ? जो ज्ञान-ध्यान् तपश्चरण में रत हो। सबसे मुख्य काम है ज्ञान। ऐसा ज्ञान नहीं जो लोकमें प्रचलित है, किन्तु एक जाननमात्र, ऐसा केवल जाननमात्र रहना यह सिद्धका उत्कृष्ट काम है और इस काममें न रह सके तो ध्यान करें. लेकिन ध्यान दूसरे नम्बर का काम है और ध्यानमें भी न आयें तो तपश्चरण करें, यह तीसरे क्रम में आता है। तो उस ज्ञानकी बात कह रहे हैं कि उस शुद्ध अन्तस्तत्त्वका ज्ञान हो तो निर्विकल्प समाधि होती है, जिसका फल ही सदा के लिए अनन्त आनन्द प्रकट होना है। इसी ध्येयसे हम आपका एक जीवन में दृढ़ निर्णय हो। मेरे को काम है केवल तो एक अपने आपका जो शुद्ध सहज स्वरूप है उसको ओर बारबार आना। उसे निरखना, उसका आश्रय करना ध्यान करना। वहां उपयोग को रख करके अपने को शान्त और तृप्त अनुभव करना। यही उपाय है सदा के लिए संकटोंसे छुटकारा प्राप्त करने का।

(२८०) अध्यात्मसहस्री प्रवचन दशम भाग

इसमें यह वर्णन विस्तारपूर्वक किया गया है कि किस किस दृष्टिसे आत्मामें क्या क्या प्रभाव होता है। ये स्वरचित अध्यात्मसहस्रीके १७ वें परिच्छेदके प्रवचन हैं। देखिये ध्रुवदृष्टिके प्रकरणमें—ध्रुवदृष्टिका महत्त्व—अनित्य भावनामें यही तो सब गाते हैं कि राजा राणा छत्रपति आदि बड़े से बड़े लोग सभी एक दिन मरेंगे, और थोड़ा यह भी ध्यान लाते हैं कि यह मैं भी एक दिन मरूंगा, पर यह बात ध्यामें लाना बहुत आवश्यक है कि मैं आत्मा जो सहज ज्ञायकस्वरूप हूं वह कभी नहीं मरता। नित्यकी भावना साथ में हो तो अनित्यभावनाका अर्थ यही है और यों अनित्य-अनित्य पर ही दृष्टि धरे रहें, तो इसमें लाभ क्या मिलेगा ? तो नित्य भावना भावो। मैं आत्मा जो सहज चैतन्यस्वरूप हूं सो नित्य हूं।

अनित्यभावना भाने का अर्थ है नित्यभावना कराना, न कि अनित्यमें उपयोगको डालना। कोई उसका उद्देश्य न समझे और बाहर में ही अनित्य अनित्य समझता रहे तब तो फिर उसे न बाहर हो सहारा मिलेगा और न भीतर। तो अपने आपके ध्रुवस्वरूपको पहिचानो। वह मेरेसे कभी अलग नहीं होता। उस पर उपयोग न दे रहा हो कोई, तो यही उससे अलग होना कहलाता है। मेरा स्वरूप मुझसे कभी अलग होता है क्या ? - नहीं अलग होता। मैं मेरे स्वरूपको नहीं जान रहा हूं, बस इसी के मायने अलग होना कहलाता है। जैसे किसी पुरुषके घरमें कोई मणि छिपी हुई रखी हो, उसका उसे पता नहीं है तो घरमें मणि होकर भी वह निर्धनताका ही अनुभव कर रहा है और जिस समय उस मणिको वह पा लेगा उस समय वह अपने को धनिक अनुभव करेगा। इसी प्रकार यह आत्मदेव, यह सम्पूर्ण परमात्मतत्त्व मेरे अपने आपके सत्त्व में, स्वरूपमें प्रकाशमान है। उसको जिसे खबर नहीं है वह तो गरीबी का ही अनुभव करेगा। अपने को माना कि मैं मनुष्य हूं तो फिर मनुष्य के उचित परिणाम बनेंगे। मैं इसका बाप हूं। यों अपने को किसी का बाप माना तो फिर आपके उचित (योग्य) परिणाम बनेंगे। जैसे बच्चोंको खिलाना पिलाना, पढ़ाना लिखाना, सेवा सुश्रुषा आदि करने की शल्य रखना।

बात थी कितनी सी जड़में हो गया कितना बतंगड़-पढ़िये- बात इतनी सी थी कि मैं अपनेको सहज ज्ञानस्वरूप न देख सका। हमने परको यह मैं हूं इतना माना। हे भगवन्, हमने कोई ज्यादह गल्ती तो नहीं की, बस जरा सी गल्ती की है किसी परतत्त्वको यह मैं हूं इतना मान लेने भर की। इतनी भर गल्ती कर देने पर इतना बड़ा दण्ड हमको मिल गया कि कहीं नरक निगोद की जैसी यातनायें सहनी पड़ रही हैं, कहीं पशु पक्षी कीड़ा मकोड़ा आदि गतियोंके असह्य दुःख सहने पड़ रहे, कहीं मरू, कहीं आकुलित होऊं, कहीं दुःखी होऊं, तो हे नाथ, ये सब विडम्बनायें मेरे साथ क्यों लग गई। तो सोचते सोचते यह बात निकली कि हे जोव, देखने में तो तूने छोटी सी गल्ती की है, पर वह बहुत बड़ी गल्ती है। जैसे कभी दो आदमियों में आपसमें लड़ाई हो जाय तो उस मामले में न्यायाधीश यही जानना चाहता है कि इस लड़ाई में मूल अपराध किसका है ? पहिले एक ने दूसरे को गाली दी, उसने तमाचा मारा, फिर उसने लाठी मारा, दूसरे ने छुरा भोंक दिया, बड़ा खूना खच्चर मच गया। दोनों की फरियाद पहुंची तो न्यायाधीश वहां यही जानना चाहता है कि मूलमें अपराध किसका है। जब पता लग गया कि पहिले इसने गाली दो थी तो झट निर्णय दे देता है कि अपराधी तू है। अरे जो बीचमें अनेक और बातें दोनों द्वारा हो गई उनकी ओर कुछ ध्यान न रखा। तो देखिये-बात जरा सी थी, केवल गाली दे दो थी, मगर बतंगड़ कितना बढ़ गया कि लोहूलुहान हो गया। तो ऐसे ही यहां देखिये कि इस जोवने गल्ती तो जरा सी को क्या की परको मान लिया कि यह मैं हूं, बस इतनी सी गलती के कारण बतंगड़ कितना बढ़ गया कि अनेक पर्यायोंकी भटकना चल उठी। देखिये-आप लोगोंका आज कुछ पुण्यका उदय है, जिससे विषय कषायोंमें मस्त होकर परको अपना रहे हो। तब इतनी सी बातको आप लोग कुछ अपनी गल्ती नहीं मान रहे हां कोई चीज चुरानेमें, परस्त्रीप्रसंग आदिके कार्य में या किसी की जान लेने के कार्यमें गल्ती मान रहे। देहको मान लिया कि यह मैं हूं, अपने वर्तमान विभावों को मान लिया कि यह मैं हूं, आदिक जो मूलमें अपराध हैं उनको तो अपराध ही नहीं मानते। तो जैसे बुन्देलखण्डमें कहते हैं गुर्राना, इतराना अथवा गर्राना आदि तो भले ही आज पुण्यके उदय मिले हैं, सम्पदा मिली है, अच्छा ठाठ है, अच्छी दुकान है, लोगोंमें इज्जत है, पोजीशन है, सब बातें हैं, ठीक है, लेकिन यहां जो परको यह मैं हूं ऐसा माना जा रहा है, इसका तत्काल फल चाहे आज देखने को न मिले, मगर इस मिथ्यात्व मान्यताका फल भविष्यमें अवश्य भोगना पड़ेगा। तो यहां यह मूल अपराध

मत करो। –निजको निज परको पर जान, ऐसे सजग रहो।

वस्तुदृष्टिसे तत्त्वमर्म के अवधारणमें धर्म का प्रकाश, देखिये–जो वस्तुत्वको ठीक समझ लेते हैं उनके धर्म हो गया और जो वस्तुत्वसे अनभिज्ञ हो गये वे ही धर्म के नाम पर रात दिन कितने ही कष्ट करें, पर वहां धर्मदृष्टिका धर्म न होगा। थोड़ा मंद कषाय होने से पुण्यबन्ध हो जाता है। उसके फल में थोड़ा वैभव और मिल जायगा, देवगति मिल जायगी, इतना भर हो गया, पर संसार का संकट न टलेगा। तो यह बात, यह अवसर, यह मौका, यह मनुष्यभवका समागम, ये कितने श्रेष्ठ अवसर हैं, इनको दुर्लभता जानकर इनका उपयोग अच्छे कामों के लिए किया जाय, विषय कषायोंके प्रयोगके लिए इनका उपयोग मत करो। मैं वस्तु हूं, अपने ही द्रव्यसे हूं, पर द्रव्यसे नहीं हूं, तब पर द्रव्य मेरे कुछ नहीं, मैं ही मेरा हूं, ऐसा वस्तुत्व दृष्टिमें निर्णय होता है। मैं अपने क्षेत्रसे हूं, पर क्षेत्रसे नहीं हूं। कितना जुदा हूं मैं कि मैं अपने प्रदेशोंसे ही हूं, दूसरे के प्रदेशों से नहीं हूं। दूसरे रूप कोई त्रिकाल हो ही नहीं सकता। यद्यपि मेरे प्रदेशमें एक क्षेत्रावगाह रूपसे कर्म रह रहे हैं, शरीर रह रहा है, और और कुछ भी रह रहा हो, लेकिन मेरे प्रदेशोंमें उनका अस्तित्व नहीं है। मेरे प्रदेशोंमें मेरा ही अस्तित्व है, दूसरे के प्रदेशोंमें हो दूसरे का अस्तित्व है। जैसे कोई दो चीजें मिली हुई हों, एक क्षेत्रावगाह रह रही हों और उनमें कोई ऐसा रसायन डाला जाय कि जहां असर केवल एक चीज पर पड़े, दूसरी चीज पर नहीं, तो उस रसायनके डालने पर एक चीज पर ही असर आयगा, दूसरे पर नहीं, क्योंकि वह अपने प्रदेशोंमें है. वह अपने प्रदेशों में है। जब प्रदेश जुदे जुदे हैं तब फिर मेरा जगतमें क्या है? कौन सा चेतन और अचेतन पदार्थ मेरा हो सकता है? मैं अपने क्षेत्रसे हूं परक्षेत्रसे नहीं हूं, इसी तरह आगे और भी समझिये कि अपने कालसे हूं, परके काल से नहीं हूं, अर्थात् अपनी ही परिणतिसे मैं नहीं परिणमता। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि मेरा सुधार बिगाड़ कोई दूसरा नहीं करता, दूसरे का सुधार बिगाड़ मैं नहीं कर सकता। तो जब कुछ भी करने का सम्बन्ध नहीं है मेरा किसी अन्य पदार्थ के साथ तो मेरा कोई क्या लग सकता है? किसी का मैं क्या हो सकता हूं? मैं सबसे अत्यन्त निराला हूं।

अशुद्ध निश्चय दृष्टिके परिणामका आख्यान पढ़िये–आज अशुद्ध निश्चय दृष्टिके प्रभावको समझने का प्रयास करें कि हमारी किस तरह की दृष्टि यहां बनती है? नय मूलमें दो प्रकार के हैं–निश्चयनय और व्यवहारनय। निश्चयनय तो एक वस्तुको उसी वस्तुमें उस ही वस्तुका बात को बतायगा, व्यवहारनय दो पदार्थोंमें, अनेक पदार्थों में, उनके संयोग से होने वाली बातको बताता है। तो निश्चयनय एक ही चीजमें एक बात को बतायगा, पर अशुद्ध बात को बताये तो वह अशुद्ध निश्चयनय है, शुद्ध पर्यायको बताये तो शुद्ध निश्चयनय है, और स्वभावका बताये, पर्यायको व भेदको नबताये तो वह परम शुद्ध निश्चयनय है। ऐसी ये तीन बातें हैं। इन तीन नयों से जब हम आत्माका ज्ञान करते हैं तो जिस नयने ऐसा बताया उस नयमें वैसा ज्ञात हुआ, पर तीन नयों से भिन्न भिन्न बात ज्ञात होती है। अशुद्ध निश्चयदृष्टिमें यह ज्ञान होता है। मैं सुखी हो रहा, दुःखी हो रहा, क्रोधी बन रहा, कषायवान बन रहा, कलंकी बन रहा तो मैं अपने परिणमनसे बन रहा, कोई दूसरा नहीं परिणम रहा। घरमें कोई एक मनुष्य कमाई करता है और वह बहुत उपायों से करता है तो उस समय भी वह दुःखी हो रहा है और उसका फल जब मिलेगा तो भी वह अकेला ही दुःखी होगा। उसमें कोई दूसरा सहयोगी नहीं है। इस जीवने विपरीत बुद्धि करके अपने आपको कैसा दुःखी बना डाला है। उसको किसी दूसरे जीवने मिलकर दुःखी नहीं किया। हम बुरे बनते हैं तो उसमें भी हम आजाद हैं, हम आजाद होकर उद्दण्ड होकर

बुरे बनते हैं और जब हम भले बनते हैं, शान्त पवित्र बनते हैं तो वहां भी हम आजाद हैं। हम ही अकेले अपने आपके शुद्ध परिणमन के बलसे वहां सुखी शान्त पवित्र बना करते हैं। तो हमारा सारा भविष्य हमारी करनी पर निर्भर है। हम जैसी करनी करें वैसा तत्काल भी फल पायें और भविष्य में भी फल पायें और यदि अपनी करनी हम ठीक नहीं सम्हालते और भगवानसे रोज रोज प्रार्थना करें कि हे भगवन्, हमारी गल्ती माफ करो तो क्या यों गल्ती माफ हो जायगी ? नहीं माफ हो सकती। प्रभुकी भक्ति तो हमारे लिए अवलम्बन है। उसके अवलम्बन से हम अपने आपकी सम्हाल करें तो करलें सम्हाल, पर प्रभु आकर हमारी सम्हाल न करेंगे। हमें खुद अपनी सम्हाल करनी होगी। खोटे कामों से हटें, खोटे कामों से हटने के लिए खोटे कामोंका सही स्वरूप जानें, क्यों खोटा है ? इसमें क्यों दम नहीं, क्यों सार नहीं ? पहिले उसका स्वरूप जानें और फिर उस खोटे काम से हटने को अन्दर में भावना बनायें, मैं इस कार्य के जरा भी निकट न रहूं, मुझमें ये खोटे कार्य जरा भी न समायें, खोटी परिणति मेरे मत बने नहीं तो मेरा विनाश होगा अर्थात् बरबादी हो जायगी। तो खोटे कामों से हटने की भावना बनायें और उस भावनाका फिर अभ्यास बढ़ायें। जब इन खोटे कामों से हटना हो जायगा तब इस जीवका दु:खोंका भार दूर हो जायगा। और स्वयं अपने आप यह भाररहित आनन्दमय जैसा है वैसा अपनें आपमें अनुभव करने लगें। तो काम करने के लिए ये दो हैं-एक तो यह कि मेरे में विषय कषायोंकी परिणति मत बने, रंच भी मत आयें, मैं उन प्रवृत्तियों से बहुत ही दूर रहूं, दूसरी भावना यह बने कि मेरे ज्ञानमें तो मेरा ज्ञान, ज्ञानस्वरूप यह परमात्मा समाया रहे, दूसरा कोई मेरे ज्ञानमें भी मत आये। मेरा यह ज्ञानस्वरूप परमात्मतत्त्व मेरे ज्ञानमें बसा रहेगा तो वहां कोई आकुलता नहीं, कोई अपवित्रता नहीं, किसी प्रकारका आगे कष्ट भी न होगा। आजहम आज इतनेसुन्दर समागम पाये हैं तो इन दो भावनाओंका साकार रूप देकर प्रयास करना चाहिए-१-निर्विकल्प बन सकें और २-सहज ज्ञानस्वरूपका ज्ञान रखते हुए सहज आनन्द प्राप्त कर सकें।

अन्तर्व्याप्यव्यापकदृष्टिका प्रभाव पढ़िये-अपने आपको अपने में देखें कि हम हम ही में बने रहें या दूसरे में बने रहें, इतना जो भाव होता है वह हममें ही बनता है, दूसरे में नहीं। लोग यों कहते हैं कि अमुक आदमी तो अन्यायसे धन कमाता है, दूसरोंको सताकर धन कमाता है तो उस धनको जितने लोग खायेंगे उन सबमें वह पाप बंट जायगा, लेकिन ऐसा नहीं होता। अरे जो अन्याय करेगा, जो संक्लेश करेगा उसको हीफल मिलेगा। हां खाने वाले लोग यह जानते हों कि यह अन्यायसे कमाता है, सताकर कमाता है, फिर भी मौज से खायें तो उन्होंने अलग से पाप बांध लिया। पर ऐसा नहीं है कि कमाई करने वालेका पाप बांट लेते हों और यह कुछ पापसे हलका बन जाय। जो करता है सो ही कर्म बांधता है, सो ही फल भोगता है। तो हमारा जो सुख है, दु:ख है, विकल्प है, विचार है ये मुझमें ही व्यापते हैं, इस कारण हम हिंसा करते हैं तो अपनी ही करते हैं कि नहीं ? हिंसा नाम है आकुलित होने का। ये आकुलतायें न जगें तो हिंसा कुछ न होगी। हमारी हिंसा हो गयी, क्योंकि हमने आकुलता की, संक्लेश किया, खोटे भाव किया। तो इसे कहते हैं-अन्तर्व्याप्यव्यापक दृष्टि। इसमें क्या विचारना है कि मैं जो कुछ करता हूं सो मैं मुझमें ही करता हूं, मैं ही मुझमें व्यापक हूं, मेरे भावोंका कोई दूसरा साथी नहीं है। देखो-ऐसा जो लोग उलहाना देते हैं कि कोई किसी का साथी नहीं, सब खुदगर्ज हैं, —अरे इसमें उलहाना देने की क्या जरूरत है ? वस्तुका स्वरूप ही ऐसा है कि प्रत्येक पदार्थ अपने आपकी पर्यायमें रहेगा, दूसरे की पर्यायमें न रहेगा। यदि कोई पुरुष अपने मित्रका, पुत्र का, स्त्रीका बहुत ख्याल रखता है, आराम देता है, सुख देता है तो उस पुरुषने कुछ नहीं किया। उस ने अपना भाव किया और अपने भावोंके अनुसार अपने आपमें पुरुषार्थ किया, प्रयास किया, दूसरा

कोई सुखी हुआ तो वह अपने खुद उदयसे, अपने खुद परिणमनसे सुखी हुआ। कोई किसी को सुख नहीं देता, कोई किसी को दुःख नहीं देता, सब पुण्य पापके उदय हैं, इसलिए अधिक दृष्टि दें अपने आपकी सम्हालपर। मैं अपने आपके आत्माको सम्हाले रहूं, सावधान रखूं, इस पर दृष्टि करना चाहिए। जब यह दृष्टि बन जायगी कि मेरा सब कुछ मुझमें है, मेरे को बाहर मेरा कहीं कुछ नहीं है। तो वह अपने आपके स्वभावका भी दर्शन कर लेगा। लोग कहते हैं कि परमात्मा घट घटमें मौजूद है, वह किस तरह मौजूद है ? वह इसी तरह मौजूद है कि प्रत्येक जीव परमात्माका स्वरूप रख रहा है। अगर वह बनेगा तो विधिपूर्वक। दूधमें घी है कि नहीं ? जो एक खाली दूध लाये उसमें वही मौजूद है, पर आंखों दिखता है क्या ? नहीं दिखता, और उसको विधि बना लें, दही बनाकर मथन करें तो उसमें से घी निकल आयगा। तो दूधमें घी मौजूद है, पर घी बनाने की तरकीब भी तो होती है, ऐसे ही आत्मा में परमात्मा है, हम आप सब जीवोंमें भगवान है, मगर भगवान बननेकी विधि भी तो होती है। क्या विधि है ? ममता न करें, बाह्य पदार्थों से उपेक्षा करें, किसी भी बाह्य वस्तुमें उपयोग न फसायें, अपने आपके ज्ञानस्वरूप आत्माको निरखो। मैं ज्ञानमात्र हूं, ज्ञान ही ज्ञानरूप है, ज्ञानके अतिरिक्त और मैं कुछ नहीं हूं, ऐसा ज्ञानरूप ही ज्ञानमें आये, ज्ञानका अनुभव बने तो सारे दोष दूर हो जाते हैं, और यह परमात्मस्वरूप प्रकट हो जाता है। तो जैसे दूध दही का मथे बिना घी नहीं प्रकट होता, ऐसे ही आत्म-स्वरूपको मथे बिना अर्थात् उसमें उपयोग जमा रहे तब ही परमात्मस्वरूप प्रकट होगा। भगवान के दर्शन होते हैं समतासे। समतापरिणाम हो, रागद्वेष भाव न हो तो आत्मामें परमात्मस्वरूपके दर्शन होते हैं। तो दो बातें एक साथ तो नहीं हो सकतीं कि घरकी ममता भी करे और धर्मका फल भी लूट लें। ममता वाले ने धर्म ही कहां किया ? चीजें सब विनाशीक हैं। अपने आत्माकी दया हुई हो, आत्मा का उद्धार करना हो तो उसका रास्ता मोक्षमार्ग है। ममता छोड़ें, रागद्वेष छोड़ें और अपने ज्ञानस्वरूप की उपासना करे, और संसारमें रुलना है तो उसका उपाय तो कर ही रहे हैं सभी लोग। मगर संसार के उपाय में फायदा नहीं है। जन्म मरण मिलेगा। खोटी मौत मिलेगी, खोटा जन्म मिलेगा, इससे आत्मामें आयें, ज्ञानमें आयें, कषायें कम करे, आत्माके स्वरूपका निरखनका प्रयास बनावें, उसका योग जुड़ावें, बस यही कल्याणकी चीज है।

परिणामशक्तिके निर्णयका लाभ देखिये—जो है वह पूरा है और प्रति समय परिणमते रहते हुए जो भी पदार्थ है उसका प्रत्येक समयमें नवीन नवीन पर्यायका उत्पाद, पुरानी पर्यायका व्यय, ये होते ही रहते हैं। मैं मैं हूं, मैं भी कुछ न कुछ बनता हूं, बिगड़ता हूं, बस इतना ही तो मेरे साथ बात है। इतने के आगे और मेरे साथ कोई बात नहीं। सारा भ्रमजाल है। यों तो उस घसियारे की कथा बड़ी प्रसिद्ध है, और भजनोंमें भी गाते हैं जो कि कई घसियारोंके साथ घास का गट्ठा लिए हुए जा रहा था। गर्मी के दिन थे, तेज धूप थी, इसलिए सभी घसियारे एक पेड़ के नीचे विश्राम करने लगे। उस एक घसि-यारे को निद्रा आ गई, सो गया। सोते हुए में उसे स्वप्न आया कि मैं एक देशका बादशाह (राजाओं का राजा) बना दिया गया हूं। बहुत से राजा लोग मेरी आज्ञा में हैं। सभी लोग आ आ कर मुझे नमस्कार कर रहे हैं, मेरी हुकूमत सारे राज्यमें चल रही है। – (देखो जब स्वप्न आता है तो उस समय सब सत्य प्रतीत होता है) अब साथके घसियारोंका घर जाने का जल्दी थी सो उसे जगा दिया। जागने पर देखा कि वहां तो कहीं कुछ भी न था, न राज्य था, न वैभव, न प्रतिष्ठा। लो घसि-यारोंसे वह झगड़ने लगा कि तुमने मेरा राज्य ले लिया, तुमने मेरा सारा वैभव ले लिया, मेरी हुकूमत ले लिया, बताओ, पड़ा तो था वह एक पेड़के नीचे ककरीली जमीन पर, ईंट की तकिया रखे था, पास में कुछ न था, पर स्वप्न आ जानेके कारण वह अपने को राजा मान रहा था, आंखें खुलीं कि वह

सब कुछ खतम, ठीक इसी प्रकार मोहनींदमें ही मोहीजन विकल्प करके बरबाद हो रहे हैं। अगर आप को सत्य आनन्द मिल जाय, सत्य ज्ञानस्वरूप आत्माके दर्शन हो जायें तो सारे संकट आपके समाप्त हो जाये। जन्म मरण से बढ़कर और क्या विपत्ति है? मरे, जन्मे, न जाने कहां जन्म हो गया, न जाने क्या क्या जन्म मिले? ऐसी परम्परा रहना यह सबसे बड़ी भारी विपत्ति है। और, वर्तमानमें कोई समस्यायें आयें, उन्हें बड़ी विपत्ति न मानें, उनके ज्ञाता दृष्टा रहें, यह भी समस्या आयी–तो ठीक, यह भी आयी तो ठीक, मारवाड़ियों के बारेमें यह बात प्रसिद्ध है कि कदाचित् लखपती, करोड़पती हो गये, और किसी समय कोई ऐसी घटना घट गई कि कुछ भी धन पासमें न रहा तो वे कह बैठते है कि धन न रहा तो न सही, जैसे लौटा डोर लेकर निकल पड़े थे वैसे ही लौटा डोर लेकर फिर जा रहे हैं, नुक–शान क्या? तो वहां वे सभी स्थितियोंमें सन्तुष्ट रहते हैं, इतना नुकशान करके भी हिम्मत करते हैं, ऐसे ही समझिये कि अगर यहां कुछ घाटा हो गया तो इसमें हमारा क्या बिगाड़? मैं तो ज्ञानधन हूं, ज्ञानस्वरूपमात्र हूं। इतना ही स्वरूप लिए हुए मैं आया था परभवसे और इतना ही स्वरूप लिए हुए मैं अब भी हूं और जब यहांसे जाऊंगा तो इतना ही स्वरूप लिए हुए जाऊंगा। मेरे में क्या कमी आयी? जो मैं हूं वह पूरा का पूरा, वही का वही हूं। तो अपने आपके बारे में ज्ञानप्रकाश लेना बड़ा जरूरी है। और यह प्रकाश कोई एक दो दिन में अथवा १०–२० दिन में नहीं मिलता, जितना सारा जीवन शेष है वह सब इस ज्ञानप्रकाश के पाने में लगाना होगा। अनादि काल से जो वासना संस्कार घर कर गये उनको मिटाने के लिए कुछ चन्द दिनों से न काम बनेगा, सारा जीवन लगायें और यह हा एक जीवन नहीं, जब तक संसार में जीवन शेष मिलता है वह सब जीवन इस आत्माके ज्ञान प्रकाश के लिए ही रहना चाहिए और उस ज्ञानप्रकाशसे अपना जीवन सफल मानें। बाकी कुछ से भी कुछ हो तो क्या है?

एकत्वभावनादृष्टिका प्रभाव परखिये–मैं एक अकेला ही हूं, क्या लाभ है दूसरों से स्नेह रखने में? पर द्रव्योंसे मोह रखनेमें, परकी चितायें, ख्याल, विकल्प बनानेमें। इस ज्ञान पर, इन अनेक विकल्पों का जो आक्रमण कर रहे हैं इसमें क्या तत्त्व मिलेगा? मैं एक हूं, मैं गुप्त ही गुप्त अपने में ही अपने कार्य को सम्हालूं, अपने स्वरूपको सम्हालूं, यह कार्य है। अब इस आत्मा के हाथ पैर आदि तो नहीं हैं कि इसे कुछ शारीरिक श्रम करना पड़े। अरे यह तो ज्ञानभाव मात्र है। ज्ञानभावके द्वारा अपने ज्ञानस्वरूपको ज्ञानमें लें, यही हमारा एक महान पौरुष है। इसकी सिद्धि के लिए ही हमको व्यवहार के धर्म करने होते हैं, वे क्यों करने होते कि अशुभ वासनायें, अशुभ संस्कार लगे हैं, इसका निराकरण शुभ भावनाओंसे, शुभ क्रियाओंमें, शुभ प्रसगोंमें रहकर हम अशुभ भावनाओंका निराकरण करते हैं। मानो हम अपने को एक ऐसा पात्र बनाये रहें कि अशुभ व्यसनोंमें, पापोंमें रहकर मेरा पात्रता नष्ट न हो। तो यों समझिये कि हमारा व्यवहार धर्म कवचका काम करता है और शुद्ध चैतन्यभाव की दृष्टि शस्त्र का काम करती है। कोई योद्धा युद्धमें कूद जाय, उसके पास केवल कवच हो तो उसकी रक्षा नहीं है और कोई योद्धा युद्धमें केवल शस्त्र ही लिए हो पर कवच न हो तो भी उसकी रक्षा नहीं है। ऐसे ही हम अपने जीवनमें शुभोपयोगमें भी अपना उपयोग रखें, पर दृष्टि रखें, ध्यान रखें, उस शुद्ध चैतन्य–तत्त्व की ओर, भगवानका स्वरूप ही और क्या है? भगवान किसका नाम है? आत्मा सहज अपने सत्त्वसे जैसा है वैसा ही बाहरमें पर्यायमें प्रकट हो जाय, उसी के मायने भगवान है। जब वह अकेला वही प्रकट हो जाता है, अपने सहजस्वभावमें ता अनन्त ज्ञान होना, सर्वज्ञान हो जाना, यह सब उसकी एक नियत कला है। वहां ऐसा होना ही पड़ता है, पर प्रभु नाम उसका है कि जो केवल हो गया, प्रकट हो गया, इसी को कहते हैं कैवल्यप्रभु। यदि ऐसे कैवल्यकी प्राप्ति करना हो तो प्रथम यह ही देह कर्मके

बन्धनमें बन्धी हुई हालतमें ही हमें स्वरूपदृष्टि करके यह तो परखना होगा कि यह है केवल, इसलिए यह केवल बन सके। एक उपाय सिद्ध हो सकता है। यदि यह स्वरूपमें केवल न हो तो अनेक उपाय करने पर भी यह एक बन नहीं पाता है। ऐसे केवल निजस्वरूपकी दृष्टि रखने का नाम है एकत्व-भावनादृष्टि। इस एकत्वभावनादृष्टिमें कैसी दृष्टि बनती है? मैं सब जगह अकेला ही हूं। कोई पुरुष बड़ी उम्रका हो जाय और उसके पिता भाई वगैरह बहुत से लोग गुजर गये हों तब उन्हें यह याद आता कि ओह, उन समयोंमें भी मैं अकेला ही था और मोह का उदय था, जब सबके बीच थे तब वहां यह अनुभव नहीं बन पाया था कि मैं अकेला हूं। आजके अनुभवसे भी लाभ उठा लो। जिस किसी भी प्रकार थोड़ी बहुत ज्ञान-किरण प्रकट होती है उससे ही लाभ ले लीजिये। मैं सर्वत्र अकेला हूं, यही दृष्टि अगर बन जाय तो बड़ी पावनता बनती है। मैं अकेला अपने ही भावोंका करने वाला हूं। मैं दूसरे में राग या विराग या सुख दुःख किन्हीं भी भावोंका कर सकने वाला नहीं हूं। मैं हूं और उत्पादव्यय-ध्रौव्ययुक्त हूं। मेरे में ही मेरी पर्यायका उत्पादव्यय होता रहता है। मैं सर्वत्र अपने ही भावोंको करता हूं, अकेला ही अपने भावोंको भोगता हूं।

विभक्तैकत्वदृष्टिका परिचय करिये-अन्य सबसे निराला और अपने आपके स्वरूपमें तन्मय-इस विधिसे देखा गया यह आत्मतत्त्व सर्वसंकटों को हरने का स्वयं स्वभाव रख रहा है। इसे कहते हैं एकत्वविभक्त आत्मा। परसे निराला यह तो है विभक्तका रूप, और अपने स्वरूप में तन्मय, यह है एकत्वका रूप। विभक्तके रूपको स्पष्ट करने के लिए अन्यत्वभावना आती है। मुझसे सब बाह्य पदार्थ निराले हैं, अन्य हैं अन्य अन्यकी बात सोचते जब सहज चैतन्यस्वरूपमात्र दृष्टिमें रहा, वहां तक भी अन्यत्व भावनाकी किरणें जाना चाहिए। ऐसा तो सभी लोग कह बैठते हैं कि मकान, धन, पुत्र, मित्र, स्त्री आदिक ये भिन्न चीजें हैं, अपनी नहीं हैं, पर इतने तक ही अन्यत्वकी बात मानने से मूलतः भिन्नता प्रकट नहीं होती। ये तो प्रकट भिन्न हैं, पर इसे हैं, देह भी अपना नहीं है, पर और अन्तः देखिये कि राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, विषयकषाय, विकल्पविचार ये भी मेरे नहीं हैं, ये भी मेरे से अन्य हैं। यद्यपि ये सब कर्म छाये हैं। जैसे अन्य पदार्थोंका हम ज्ञान करते हैं तो अन्य पदार्थ उन पदार्थोंकी जगह रहते हैं और विज्ञान बनाते हैं कि यह अपने भीतरमें एक झलक हुई है। झट बोलते हैं ज्ञेयाकार परिणमन। बाह्य वस्तु तो बाह्य जगहमें ही है, अब उसके बारे में जो हमारी जानकारी बनी वह जानकारी क्या है? जैसे कि बाह्य पदार्थ हैं उनके अनुरूप यहां बोध होता है। और मोटा दृष्टान्त लें तो दर्पण और दर्पणके सामने जैसे मयूर नाच रहा हो तो मयूर मयूरकी जगह है, दर्पण दर्पण की जगह है, पर मयूरका सन्निधान पाकर दर्पणमें मयूराकार प्रतिबिम्ब हुआ है। तो मयूर तो प्रकट भिन्न पदार्थ है दर्पण से, लेकिन मयूर उपाधिका निमित्त पाकर जो उस दर्पणमें मयूर की छाया प्रतिबिम्बित हुई है वह भी दर्पणकी नहीं है, दर्पण से निराली है। यद्यपि वह छाया दर्पणकी परिणति है पर हम सब दर्पण के स्वभावकी ओर प्रवेश करते हैं तब यह विदित होता है कि यह तो एक स्वच्छता मात्र ही है। छाया का अन्वयव्यतिरेक सम्बन्ध भी उस मयूर के साथ है इस कारण वह दर्पण की चीज न रही। वह मयूर प्रतिबिम्ब और दर्पण में दर्पण के ही कारण उपाधिके सन्निधान बिना दर्पण में ही हो जाय सो नहीं होता, इस कारण भी वह छाया दर्पण की नहीं है। इसी प्रकार यहां देखिये कि कर्म तो प्रकट जुदे हैं, चेतन वह प्रकट जुदा है, किन्तु जब कर्मविपाक हुआ-कर्मविपाकका अर्थ क्या है कि जो कर्म सत्तामें थे उनका यह अन्तिम क्षण आया है, इसके बाद ये निकल ही जायेंगे। जहां कर्म के १० करण बताये हैं कर्मकाण्डमें वहां बन्ध भी लिखा, पर उदयकी बात नहीं लिखी, क्यों नहीं लिखी कि उदय भी क्या? निर्जरा का ही नाम उदय है, अपना समय पाकर फल देकर झड़ने का ही नाम निर्जरा है। वही उदय

है। निर्जरा का ही नाम भरना है।

अशुचिभावनादृष्टिका परिणाम देखिये–अशुचिभावनादृष्टिका परिणाम देखिये–अशुचिभावनादृष्टिमें निजका विचार कीजिये–हाड़, मांस, चाम ये सब अपवित्र हैं, शरीर भी अपवित्र है। दोहा भी बोलते हैं–"दिपे चाम चादर मढ़ी, हाड़ पींजरा देह, भीतर या सम जगतमें और नहीं घिन गेह।" इस देहमें ऊपर से चामका चादर मढ़ी है, भीतर से देखो तो महा अपवित्र है। देखिये–अशुचि भावना भी काम कर रही है, उससे हटानेका। अपवित्र है, गन्दा है, पर यह अपवित्रता, यह गन्दगी उसको दृष्टि में आ पाता है जिसको वैराग्य हो। ज्ञानभावसे जिसका लक्ष्य हुआ, अपने को ज्ञानस्वभाव मानते हुए कल्याण की जिसके तड़फ हुई, कल्याणकी ओर जिसका चित्त चलता हो उसको ये चीजें अपवित्र लगती हैं, पर मोहियों को तो अपवित्र नहीं जचतीं। अपवित्र होते हुए भी मोहियोंको सुहावना लगता है। कितना सुन्दर रूप है, अरे रूप क्या है? सुन्दर कहते किसे हैं? सु उन्द् अर, ये तीन शब्द इसमें भरे हैं, उन्दी क्लेदने धातु है, जिसका अर्थ है क्लेश देना। जो भली प्रकार से इस जीवको क्लेश दे, कष्ट दे, उसे कहते हैं सुन्दर। यह तो इस सुन्दर शब्दका अर्थ है। ऐसा जो सुन्दर है, लेकिन इस अर्थ में तो सुन्दर नहीं नजर आता। तो जब ज्ञानभाव का उदय होता है तो यह अशुचिपना उसकी दृष्टिमें नहीं रह पाता, और जिसके रागभाव नहीं अथवा कहो कि अपने ज्ञानस्वरूप की सुध है, कल्याण की दिशा का जिसे ज्ञान है, कल्याण यही है कि ज्ञान भावमें रहे। संसार के संकट उसके टल जायेंगे। चारों गतियों के दुःख उसके न रहेंगे, जन्म मरणकी परम्परा नष्ट हो जायगी। जिसको अपने आपके भीतर प्रकाशमान शुचि तत्त्वके दर्शन हुए उसकी ही अशुचिभावना कार्यकारी है, अन्यथा जैसे किसी रास्ते से चलने वाला कोई पुरुष रास्ते में दोनों तरफ विष्टा गोबर आदिका ढेर आये तो उससे ग्लान होकर क्लेश मानता है, इसी प्रकार यह अशुचि भावना भाने वाला पुरुष भी सब चीजोंको अशुचि देखकर क्लेश तो पायगा ही। लेकिन अपने आपके भीतर जो शुचितत्त्व पड़ा है उसके दर्शन हो जाने से वह अशुचि भावना उसके लिए धार्मिकरूप बन गई। जिसको अपने भीतर की पवित्रता का, शुचिभावका दर्शन नहीं हुआ उसके अशुचि भावना भी कार्यकारी नहीं बन सकती है। तो इसको कहते हैं शुचिस्वभाव-भावना दृष्टि।

अभेदस्वभावदृष्टिसे अपनी जानकारी का प्रभाव और उसका बाधक भाव, परखिये- जाननेकी वृत्ति दो प्रकार से हुआ करती है। एक तो जाननहारमें अभेद रूपसे वर्तकर, दूसरे भेदरूप बनाकर। जैसे जाना कि यह चौकी है, पुस्तक है, अमुक चीज है, यह कहलाती है भेददृष्टिसे जानकारी. और आत्मा में भी कोई ऐसा जाने कि मुझमें ज्ञान है, दर्शन है, चारित्र है, अनेक गुण हैं, अनेक पर्यायें हैं तो यह है भेद-दृष्टिसे निहारना। जब यह अपने आपको अभेद चैतन्य स्वभावमात्र अनुभव कर रहा है उस समय कहलायगा अभेदस्वभावदृष्टिसे जानकारी करना। ज्ञानमें ज्ञानस्वरूप ही समाया हो ऐसी जानकारी को कहते हैं अभेदस्वभावदृष्टिसे जानकारी बनाना। अब तक जीवने भेददृष्टि से जानने का ही उद्यम किया। बाह्य पदार्थ को जाना तो भेदभाव से। अपने आत्माके बारे में भी कुछ जानकारी बनाई तो भेदभावसे। अभेद स्वभावसे अपने आपको जो कोई जानने लगेगा वह पूज्य है, पवित्र है, सम्यग्दृष्टि है, निकटकालमें ही मोक्षमार्ग में चलता हुआ मोक्ष पा लेगा तो अपने लिए भी यह शिक्षा लेना है कि मेरी जानकारी की पद्धति अभेदस्वभाव दृष्टि की बने। जितने क्लेश हो रहे हैं वे सब भेददृष्टि की जानकारी से बन रहे। भले ही उनमें इतना अन्तर हो कि किसी जानकारी में बड़ी आकुलता है किसी में मन्द आकुलता है, मगर भेदपूर्वक जानेंगे तो वहां कुछ न कुछ क्षोभ बना ही हुआ है। जहां आत्मा को भी भेद दृष्टि से जानने में क्षोभ की बात आती है वहां बाह्य दृष्टि से मोह ममता के भाव से पुत्र स्त्री आदिक को समझने की बात तो पूरी विडम्बना ही है। यह जीव इन सबसे निराला है। भगवान आत्मा चैतन्यमूर्ति सत्य आनन्द का धाम है और उसकी वतमान में यह दशा बनी है। बस अभेदस्वभाव दृष्टिसे अनुभवनेकी कला न होनेसे ये सब क्लेश बने हुए हैं। समझाये जानेपर भी चित्त में बात नहीं उतरती।

परमात्मा होने के प्रोग्राममें ही कुशलता देखिये--एक यह हो प्रोग्राम हमारे जीवनमें होना ठीक है कि मुझे तो परमात्मा बनना है, क्योंकि बहुत दिनों तक दो तरह के ही जीव रह सकते हैं-या तो बहि-रात्मा रहेगा बहुत काल तक, या परमात्मा रहेगा अनन्तकाल तक। अन्तरात्मा तो सदा नहीं रह सकता। कोई ज्ञानी हो, अन्तरात्मा हो, तो उसका मोक्ष हो जायगा, तो अन्तरात्मा न रहा, परमात्मा रहा। तो पक्के घर दो तरह के आत्माओंके हैं--बहिरात्मा और परमात्मा। लेकिन बहिरात्मा बने हुए अनन्त काल गुजर गया, उसमें तो शान्ति नहीं मिली। थोड़ा ज्ञान किया, थोड़ा मोह हटाया, तो उस की श्रद्धामें लगाकर ही क्यों रख रहे हो? कुन्दकुन्द देवने बताया है कि परमाणु मात्र भी जहां राग है वह आत्माको नहीं जानता। इसका अर्थ यह है कि श्रद्धामें परमाणु मात्र भी जिसके राग है वह आत्माको नहीं जानता। जैसे कोई पुरुष ऐसा सोचे कि लोकमें दूसरोंका कुछ बिगाड़ तो नहीं करता, अपने घरमें रहता हूं, और मुझे दुनिया की किसी चीजसे मोह नहीं है। केवल एक अपनी स्त्री भर का मोह है, तो मेरे को तो एक स्त्री को छोड़कर बाकी सारे अनन्त जीवोंका मोह नहीं रहा। तो मैं तो ९९ प्रतिशत सम्यग्दृष्टि हूं। पूर्ण सम्यग्दृष्टि होने में कुछ ही कमी रह गई है, ऐसा तो नहीं होता। अगर परमाणु मात्र भी राग है श्रद्धा में, वह मैं हूं, वह मेरा है, तो वह आत्माको नहीं जानता। जिस की श्रद्धामें यह बसा है कि मैं अकिंचन हूं, मेरा परमाणुमात्र भी नहीं है, किसी अन्य पदार्थ से मेरे में कोई परिणति नहीं आती। न दुःख, न सुख, न शान्ति, न अशान्ति, भले ही विधियां हैं निमित्त नैमि-त्तिक, मगर द्रव्य सब पृथक् पृथक् हैं। मैं सबसे निराला हूं और फिर जो औदयिक वैभाविक औदायिक बातें हैं, दुःखी सुखी होना, क्रोधादिक होना, उनसे मेरे को क्या फायदा? मेरे आत्मामें तो विशुद्ध ज्ञानानन्द का स्वभाव है। मैं किसी से क्या नेह लगाऊं? किसी से क्या मोह करूं? मैं तो अपने आपमें ही रमकर तृप्त रहूं। मैं सहज आनन्दस्वरूप हूं, मेरे स्वरूपमें कष्ट नहीं है, कष्ट पाया, पर

स्वरूपमें कष्ट नहीं है, स्वभावमें कष्ट नहीं है। मेरा स्वभाव कष्ट का नहीं। मैं तो स्वभावरूप हूं। जो सदा रह सकता हो सो मैं हूं। ऐसा कष्ट रहित अपने स्वभाव का चिन्तन करें तो इससे तो हमें शान्तिकी दिशा मिलेगी। अगर बाहरमें किसी पुरुषसे कोई अशान्ति की बात कल्पनामें आये, उसका ही ध्यान बना रहे तो अशान्ति ही बढ़ेगी।

(२८१-२८३) अध्यात्मसहस्री प्रवचन ११, १२, १३ भाग

(२८४-२८६) अध्यात्मसहस्री प्रवचन १४, १५, १६ भाग

(२८७-२८८) पञ्चाध्यायी प्रवचन १, २ भाग

तत्त्वका उद्घोषण करने वाला एक पञ्चाध्यायी नामक अपूर्व ग्रन्थ है जिसके १ से लेकर २६० तक की गाथाओं पर इन दो भागों में प्रवचन हैं। देखिये तत्त्वका स्वरूप ८ वीं गाथामें पृष्ठ १२-वस्तुकी सत्स्वरूपता, स्वतः सिद्धता एवं अनाद्यनन्तता-तत्त्व सत् लक्षण वाला है, अर्थात् जिसका लक्षण सत् है उसे वस्तु कहते हैं। वस्तु सत् होता है,यह उसकाभाव हुआ। पर इस शब्दमें कहा गया यह भाव किवस्तु सत्लक्षण वाला है, इस कथनमें भेद पद्धति अपनाई है। जिसका लक्षण सत् है वह वस्तु है। लेकिन इतना भी भेद है कहां ? और इस भेदके साथ बतानेपर पूर्ण ढंगसे अभी परिचय नहीं हो पाया। तब उनमें कह-कर स्वरूप कहते हैं कि वस्तु सन्मात्र है, सत्त्व मात्र है, सत्स्वरूप है, उसका लक्षण सत् है। वह सत् कोई भिन्न चीज है ऐसा नहीं है। वस्तु ही सत् स्वरूप है। वह वस्तुस्वरूप है तो यह बात भी निर्णीत होती है कि वह स्वतः सिद्ध है। वस्तुको किसने बनाया, कैसे बनाया, कहां बनाया ? और कुछ नहीं था तो बिना उपादानके कैसे बन गया ? आदिक बातें जब विचारमें लेते हैं तो यह निर्णय होता है कि वस्तु स्वतः सिद्ध है। जो सत् है वह स्वतः सत् है। कल्पना करो किसी वस्तुके बारेमें कि यह न था अब हुआ। तो क्या हुआ ? यह बात सिद्ध नहीं होती। जो सत् है वह स्वतः सिद्ध है जो बात स्वतः सिद्ध होती है वह है पदार्थ। वह अनादि अनन्त है। न उसकी आदि है कि पहिले असत् था अब सत् हुआ। और, न उसका अन्त है कि सत् था अब उसकी समाप्ति हो गई। अब कुछ न रहा। ऐसा नहीं होता। अतएव वस्तु अनादि अनन्त है। जब अनादि अनन्त है तो प्रत्येक पदार्थ स्वसहाय है। अपना ही सहाय है। उसके सत्त्वके लिए किसी परका आश्रय नहीं है। वस्तुका रहना, वस्तुका उत्पाद होना अर्थात् नवीन अवस्थामें परिणत होना, पुरानी अवस्थाका विलय होना, ये सब बातें भी स्वसहाय हैं।

देखिये पर्यायके पर्यायवाची शब्द, इन शब्दोंके समझनेसे यह ज्ञात होगा कि वस्तु सिद्धान्तके कथनके प्रसंग में पर्याय शब्दसे कब किसका बोध करना चाहिये, पृ० ६२-पर्यायके पर्यायवाची शब्द-अब यहां पर्यायके नामवाची शब्द हैं-अंश पर्याय, भाग, हार, विध, प्रकार, भेद, छेद, भंग, ये सब शब्द एक ही अर्थके कहने वाले हैं। इस अर्थके आधारसे यह जाना जायगा कि किस किस बुद्धिसे किए गए अन्शोंका नाम पर्याय है ? प्रथम शब्द है अन्श। अन्शका अर्थ है किसी अखण्ड पिण्डका भेद करना। एक अखण्ड द्रव्य है, उसके शक्तिभेदसे अन्श किया, भेद किया, तो गुणका कथन भी पर्यायका कथन कहलाया और एक पर्यायमें जो कि एक समयमें एक द्रव्यको है उस पर्यायमें नाना परिणमनोंका अन्श करके एक एक परि-णमन ग्रहण करना इसका नाम है अन्श। तो यह अन्श ऊर्द्धसरूप पर्याय हुआ। पर्याय नाम है परिणमन का। जो परिणमन है उसे पर्याय कहते हैं। अथवा पर्याय यह एक विशेष शब्द है क्योंकि इस गाथामें पर्यायके नामवाची शब्द बताये जा रहे हैं। भाग-भाग करके जो हिस्सा हो उसे भाग कहते हैं। यह भाग गुणोंके रूपसे भी है। परिणमनके रूपसे भी है, तो यहभाग पर्याय कहलाता है। हार-एक अखण्ड

पिण्डमें कुछ हरण कह लेना, कुछ निकाल कर कहना इसका नाम हार है। और उस पर्यायके जो प्रकार हैं वे विध कहलाते हैं। अर्थात् उस प्रकारका अर्थ है और उसकी जातिके अन्तर्गत ये सब अन्श हैं। प्रकार–उस जातिके जो प्रकार हैं, जितने प्रकारसे वे विस्तार हो सकते हैं वे प्रकार भी पर्याय कहलाते हैं–जैसे सम्यग्दर्शन इतने प्रकारका है, तो सम्यग्दर्शन एक द्रव्य स्थानीय हुआ और उसका जो प्रकार हुआ वह पर्याय स्थानीय है। गुणावलेमें जो अभेदरूप है सो द्रव्य है और जो भेदरूप होता है सो पर्याय होती है। इसी प्रकार छेद भी है। एक असखण्ड पिण्डमें किसी भी अन्श दृष्टि द्वारा छेद करना सो छेद है और उसको तोड़ना सो भंग है। जैसे कि व्यवहार जोड़ से भी होता और तोड़ से भी होता। आत्मा में ज्ञान दर्शन आदिक गुण हैं इस प्रकार के तोड़का नाम व्यवहार है और आत्मामें कषाय आदिक हैं ऐसा जोड़ करनेका नाम भी व्यवहार है। तो यहां भग शब्दसे एक तोड़का अर्थ लिया गया ये सब एक अर्थ के वाचक हैं।

अब निरखिये प्रत्येक पदार्थमें साधारण व असाधारण दोनों प्रकारके गुण हुआ ही करते हैं, पृष्ठ १४४–गुणोंमें साधारणता व असाधारणता का भेद–पदार्थ गुणोंका पिण्ड है। उन गुणोंमें दो प्रकारसे भेद पाया जाता है। कुछ गुण तो होते हैं सामान्य और कुछ होते हैं विशेष। अथवा गुणत्व सामान्यकी अपेक्षासे सभी गुणोंमें समानता है, क्योंकि सभी गुण हैं, इस प्रकारसे समानरूपसे विदित होते है, किन्तु विशेष दृष्टिसे देखा जाय तो उन गुणोंमें कुछ तो साधारण गुण हैं और कुछ असाधारण गुण हैं। साधारण गुण उन्हें कहते हैं जो सर्व द्रव्योंमें पाये जायं और साधारण गुणोंकी दृष्टिसे द्रव्यमें भेद नहीं किया जा सकता कि यह जीव है, यह पुद्गल है आदिक। कुछ असाधारण गुण होते हैं। असाधारण गुण उन्हें कहते हैं जो किसी एक जातिके द्रव्यमें ही पाया जाय, अन्य जातिके द्रव्यमें न पाया जाय। असाधारण गुणसे जाति–भेद पड़ता है। तो यों वस्तुमें २ प्रकारके गुण हैं–साधारण और असाधारण। दोनों प्रकारके गुण होने से ही वस्तुमें वस्तुपना होता है। यदि किसी द्रव्यमें केवल साधारण गुण माना जाय, असाधारण गुण न माना जाय तो साधारणगुण भी न टिकेंगे क्योंकि वे व्यक्ति ही कुछ नहीं हैं, फिर उसमें साधारण गुण क्या आया? चीज ही नहीं कुछ और यदि असाधारण गुण ही माने जायें, साधारण गुण न माने जायें तो असाधारण गुण रहे कैसे? जैसे द्रव्यमें साधारण गुण अस्तित्व है और द्रव्योंमें असाधारण गुण जैसे जीवमें चेतन है तो एक जीवकी ही बात यहां उदाहरणमें लें कि जीवमें यदि चैतन्यको नहीं माना जाता तो अस्तित्व किसका? जब कोई व्यक्ति ही नहीं, पदार्थही न रहा तो है कुछ न रहे। तो चेतनके बिना जीवका अस्तित्व कुछ नहीं है और कोई साधारण गुण ही मानता याने जीवमें अस्तित्व मानता है चेतन नहीं मानता तो चेतन बिना अस्तित्व क्या? और चेतन माने, अस्तित्व न माने तो जब कुछ है ही नहीं तो चेतन कहांसे ठहरेंगे। यों साधारण और असाधारण दोनों प्रकारके गुण माननेसे ही वस्तुका वस्तुत्व बढ़ता है। अब साधारण और असाधारणका अर्थ बताते हैं।

(२८८–२९१) पञ्चाध्यायी प्रवचन ३, ४, ५ भाग

पञ्चाध्यायी ग्रन्थराजके २६१ वीं गाथासे ५०२ गाथा तक इसमें महाराज श्री के प्रवचन हैं। देखिये ३०७ वीं गाथामें पदार्थकी स्वय एकमें विधिनिषेधात्मकता, पृष्ठ ३३–विधिनिषेधकी परस्पर अभिव्यञ्जकता–उक्त कथनका तात्पर्य यह है कि वह स्वयं मुक्तिके वशसे निषेधात्मक हो जाता है और प्रकार निषेध भी स्वयं मुक्तिके वशसे विधिरूप हो जाता है। यह गुणपर्यायमें परस्पर निषेधकी बात चल रही है कि जो गुण है सो पर्याय नहीं, जो पर्याय है सो गुण नहीं। गुण कोई स्वतंत्र अलग पदार्थ है क्या? अथवा पर्याय क्या स्वतंत्र अलग पदार्थ है। गुणमें भी वही आत्मा पर्यायमें भी वही आत्मा। आत्माको अभेद

दृष्टिसे निरखा गया है। तो जब भेददृष्टिसे निरखी हुई बातको अभेदरूपमें बतलाने लगते हैं तो वही विधिरूप बन गया। विधिरूपमें कही हुई बात जब निषेधरूपमें बतलाने लगते हैं, भेददृष्टिमें कह उठते हैं तो वही निषेधरूप बन गया। वस्तु वही एक हैं और वह है वस्तु विधेय उभयात्मक। केवल विध्यात्मक कहकर नहीं समझाया जा सकता है। केवल निषेधात्मक कहकर न समझाया जा सकेगा। वस्तु है और परिणामी है, बस इसी कथनमें विधिनिषेध आ जाता है। है पन जो कि सर्वथा विदित हुआ वह विधिदृष्टिमें विदित होता है और निषेधपन यह भी नहीं है, ऐसा व्यतिरेक जिस दृष्टिमें विदित होता वह दृष्टि भेदरूप है, यों पदार्थ भेदभेदात्मक है अथवा विधिनिषेधात्मक है। किन्हीं भी शब्दोंमें कहो सप्रतिपक्ष धर्म सहित होता है।

प्रत्येक सत्के एकत्वकी सिद्धिका सुगम उपाय पढ़िये पृष्ठ १३७–क्षेत्रकी अपेक्षा अखण्डितपना होने से सत्के एकत्वकी सिद्धि–इस प्रकार निर्दोष विधिसे क्षेत्रकी अपेक्षासे वस्तुका विवरण किया गया। एक सत्के सब ही प्रदेश अखण्ड हैं अर्थात् वहां खण्ड कुछ भी नहीं पड़ा। वह उतने ही विस्तारवाला पदार्थ एक है अतएव सभी प्रदेश एक सत् कहे जाते हैं। और एकत्व विवक्षामें पदार्थों का इस तरह ही निरखना होता है। प्रत्येक पदार्थ अखण्डक्षेत्री हैं। जैसे यह जीव है उनके अखण्ड क्षेत्र हैं। अन्तर बीचमें नहीं पड़ता कि कुछ हिस्सा बीचमें जीवका खाली हो गया हो उन प्रदेशोंमें और बादमें जीव लग गया हो, वह अखण्डतासे अपने प्रदेशमें रहता है। तो इस तरह अखण्ड पदार्थमें उनका विस्तार बतानेके लिए क्षेत्रकी पद्धतिसे उनका वर्णन किया जाता है।

(२९२–२९४) पञ्चाध्यायी प्रवचन ६, ७, ८ भाग

इस पञ्चाध्यायी ग्रन्थराजके पूर्वार्द्ध के ५०३ वीं गाथासे ७६८ वीं गाथा तक पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराजके प्रवचन हैं। प्रमाण, नयके स्वरूपके वर्णन के संकलपमें नयका स्वरूप देखिये–इससे पूर्व जो कुछ भी तत्त्वके स्वरूपका वर्णन किया है उस वर्णन में यह स्पष्ट है कि तत्त्व विरुद्ध दो धर्मस्वरूप हैं। जैसे सत् कथंचित् एक है वही सत् कथंचित् अनेक है। तो जो एक है वह अनेक कैसे होगा ? जो अनेक है वह एक कैसे होगा ? ऐसा यद्यपि साधारणतया बिना विश्लेषणके विरुद्ध जच रहा है, लेकिन ऐसे विरोधी दो धर्मोस्वरूप वह तत्त्व है, यह बात भली प्रकार बतला दी गई है। तो विरुद्ध दो धर्मस्वरूप तत्त्व हुआ करते हैं। तत्त्वके लक्षणमें भी इस पर प्रकाश डाला गया है कि तत्त्व विरुद्ध दो धर्मो रूप होता है। उन धर्मों में से किसी एक धर्मका प्रतिपादन करना अथवा किसी एक धर्मका परिचय लेना यह नय कहलाता है। जैसे जीव कथंचित् नित्य है, कथंचित् अनित्य है। प्रत्येक पदार्थ परिणमनशील हुआ करता है। तो जब परिणमनका प्रधानतासे निरखा जा रहा है तो जीव अनित्य सिद्ध होता है और जब मूल तत्त्व अस्तित्वको देखा जा रहा है तो जीव नित्य सिद्ध होता है। तो द्रव्यदृष्टिसे नित्य और पर्यायदृष्टिसे अनित्य है। यों नित्या-नित्यात्मक जीव है यह परमार्थ से व्यवस्थित हुआ। अब उस व्यवस्थित जीवतत्त्वमें जीवकी अनित्यतापर विचार किया जा रहा हो, पर्यायकी प्रधानतासे जीव–स्वरूपको निहारा जा रहा हो तो उस समय जीव के अनित्यत्वका जो विचार है, कथन है वह नय कहलायगा, इसी प्रकार जब द्रव्यदृष्टिसे जीवकी नित्यताका परिचय कराया जा रहा हो उस समय जो कुछ वहां नित्यत्वका परिचय चल रहा है वह नय है। तो अनन्तधर्मात्मक पदार्थ में से किसी एक धर्म का जो प्रतिपादन करे, परिज्ञान करे उसको नय कहते हैं। इस तरह नय का यह लक्षण बना कि विरुद्ध धर्मद्वयका तत्त्व में किसी एक धर्म का प्रतिपादन करना, परिचय करना, उसको नय कहते हैं।

यथार्थ वर्णन के प्रसंगमें नयपक्ष उदित और अस्तंगत होते रहते हैं, इसका आधार देखिये—ज्ञानविकल्प को नय कहते हैं इस लक्षणमें स्याद्वाद नीतिसे जो यह बात घटित की गई है कि ज्ञान ज्ञान ही है, नय नहीं है, नय नय ही है, ज्ञान नहीं है, इसका आशय यह है कि जिस समय विकल्प विवक्षित होता है अनन्तधर्मात्मक वस्तुमें से एक धर्मका जब कहा जा रहा है ऐसी उस विकल्पविवक्षा के समय, तो नय-पक्ष उदित हो जाता है, किन्तु जिस समय वह विकल्प विवक्षित नहीं रहता उस समग्र वस्तु में से एक धर्मको कहने की विवक्षा नहीं रहती, उस समय नयपक्ष अपने आप विलीन हो जाता है अर्थात् नयपक्ष का जीवन विवक्षाके आधार पर है, अथवा विकल्पात्मक परिचयात्मक ज्ञानात्मक नयका जीवन दृष्टिके आधार पर है। कोई पुरुष नयका प्रयोग करे और योग्य दृष्टि न बनाये तब यह विपरीत हो जाता है। यही कारण है कि अनेक दर्शनों ने भी वस्तुके स्वरूपका ही वर्णन किया, अंशों का वर्णन किया, किन्तु उसकी दृष्टि नहीं रखी कि किस दृष्टिमें यह अंश विदित होता है। इस कारण वह एकान्त बना, और परीक्षा करने पर असमीचीन हो गया है। यहां यह बताया जा रहा है कि ज्ञान ज्ञान ही है, नय नहीं है, इसका कारण क्या है ? शुद्ध ज्ञान तो विवक्षामें नहीं उदित होता। जब जब भी विवक्षा होगी तब तब नयपक्ष उदित होगा और वही विवक्षा जब अस्त हो जाती है तो उसके साथ ही नयपक्ष भी अस्त हो जाता है। जैसे जीव पर्याय दृष्टिसे अनित्य है, तो जीव की अनित्यता पर्याय की विवक्षापर निर्भर हुई। जिस समय यह ज्ञाता पुरुष पर्यायदृष्टिका अस्त कर दे, इसकी पर्यायदृष्टि न रहेगी तो वहां अनित्यपक्ष भी न रहेगा। इस प्रकार सभी जगह यह सिद्ध होगा कि जो भी नय उदित होता है वह विवक्षा अथवा दृष्टि के आधार पर उदित होता है। उस विवक्षा और दृष्टिकी समाप्ति होने पर नय भी समाप्त हो जाता है। इस तरह भी यह समर्थित होता है कि ज्ञान ज्ञान ही है, नय नहीं है और नय नय ही है, ज्ञान नहीं है।

व्यवहारनयके प्रयोगका प्रयोजन व फल देखिये—व्यवहारनयका फल पदार्थों में आस्तिक्यबुद्धि का होना है। पदार्थ जैसे अभेद अखण्डरूप हैं, उनको समझ कैसे बने, पदार्थ यह भी बुद्धि कैसे आये ? उन पदार्थोंका अस्तित्त्व समझाने वाला तो यह व्यवहारनय है। तो गुणभेद करके जो उनका असली स्वरूप है उस स्वरूपको बता करके पदार्थों के अस्तित्त्वकी श्रद्धा कराता है। पदार्थ अभेद है, अनन्त गुणोंका पिण्ड है। यह सब बात व्यवहारनयके द्वारा ही समझमें आयी है। व्यवहारनयसे वस्तु है, अमुक प्रकार से है, यह बात जान जाने के कारण व्यवहारनय का बहुत बड़ा प्रयोजन सिद्ध होता है, इससे आस्तिक्यकी बुद्धि प्रकट होती है। जैसे एक जीवद्रव्यको ही ले लीजिये। लोग इस जीवद्रव्यको किस तरह पहिचान पाते हैं ? जब जीव द्रव्य का कुछ कला, गुण, स्वरूप, स्वभाव कुछ भी बात दृष्टिमें लेते हैं तब ही तो जीव द्रव्यके स्वरूप-तक पहुंच बनती है। तो कभी जीवद्रव्यके ज्ञानगुणको निरखा जाता है, कभी दर्शन, चारित्र, आनन्द आदिक गुण देखे जाते हैं तो इन गुणोंको विवक्षा होने पर अथवा इन गुणों का परिचयके माध्यमसे यह बात ध्यानमें आती है कि जीव ऐसे अनन्त गुणोंका पुंज है, और तब यह बात भी स्पष्ट हो जाती है कि ये सब जीवके ही खास गुण हैं। ज्ञान, दर्शन, चारित्र, आनन्द, सम्यक्त्व आदि ये सभी जीवद्रव्यके साधारण गुण हैं, यह भी तो व्यवहारनयके प्रयोग से समझ पाया है। पदार्थों में सामान्यगुण है, विशेष गुण है आदिक विवरण किए बिना पदार्थका स्वरूप तो नहीं जाना जा सकता। तो व्यवहारनयसे पदार्थों का स्वरूप समझा गया, उनका अस्तित्त्व जाना गया, अतएव आस्तिक्यबुद्धि उत्पन्न करने का श्रेय व्यवहारनयको है। जब गुण गुणी सामान्यविशेष गुण आदिक का परिचय होता है तब पदार्थका अस्तित्त्व श्रद्धामें आता है। तो व्यवहारनयके भाने बिना हितका मार्ग नहीं चल सकता है। आस्तिक्य बुद्धि जीवोंके नहीं बन पाती है इस कारण से व्यवहारनय प्रयोजनवान

है, फिर भी व्यवहारनयको जो उपचरित कहा गया है वह केवल इस ही दृष्टिसे कि पदार्थ तो अभिन्न अखण्ड है और उसमें यह भेद दर्शाया जा रहा है, फिर भी दिखाये गये भेद के द्वारा ही उस अखण्ड वस्तुको समझ पाते हैं, इस कारण से व्यवहारनय प्रयोजनवान है और निश्चयनयकी अपेक्षा रखने से यथार्थ है, क्योंकि भेद करके भी प्रयोजन तो यही रहा कि अभेद वस्तु का परिज्ञान हो जाय। तो अभेद वस्तु निश्चयनयका विषय है। उस की ओर पहूंचने का व्यवहारनय लक्ष्य है अतएव यह व्यवहारनय यथार्थ है। यदि यह निरपेक्ष बन जाय, निश्चयनयके उद्देश्यकी बात न रखी जाय तो यह मिथ्या हो जाता है।

उपचरित असद्भूतव्यवहारनयकी प्रवृत्तिका कारण देखिये–उपचरित असद्भूत व्यवहारनयकी निष्पत्तिमें कारण यह है कि ये विभावभाव स्वपरनिमित्तक हैं, अर्थात् स्वके संस्कारसे हुए हैं, स्वसे हुए हैं, किन्तु हुए हैं कर्मोदयका निमित्त पाकर। सो यहां यह बोध रहता है कि यद्यपि क्रोधादिक विकार जीव द्रव्यके चारित्रशक्तिके परिणमन हैं, विकृत परिणमन हैं, तो हैं जीवके ही परिणमन, किन्तु वे परनिमित्त बिना नहीं हो सकता। ऐसी बुद्धि इस उपचरित असद्भूत व्यवहारनयकी निष्पत्ति में कारण हुई और इससे शीघ्र ही यह शिक्षा मिलती है कि यह मैं नहीं हूं। यह मेरा स्वरूप नहीं है। मुझे इसमें रमना नहीं है। उसको पकड़ कर नहीं रहना है और इस ही के साथ साथ सर्व जीवोंमें भी ऐसी ही स्वरूपकी दृष्टि जगती है। जीवोंके ये विकारी भाव उनके स्वरूपतः नहीं हुए और इस दृष्टिमें व्यवहार के लिए भी यह शिक्षा मिलती है कि किसी ने मेरे प्रति कषाय की, विरोध किया, विकल्प किया तो वहां यह समझ सकते हैं कि इस भगवान आत्माका क्या अपराध है? वैसे ही कर्म उदयमें आये हैं, उपाधिके निमित्तसे इस तरह से हममें परिणाम जगे। जो स्वतः सिद्ध स्वतंत्र आत्मा है वह तो निर्दोष है, ऐसी शक्तिका विचार करके दूसरे जीवों में भी निर्दोषताकी परख होती है। तो उससे फिर अपनेको छोड़ नहीं देता है। तो इस उपचरित असद्भूत व्यवहारनयकी निष्पत्तिका कारण यह है कि यह ज्ञान बना कि ये स्वयं नहीं हुए, किन्तु परनिमित्तसे हुए, अतः ये असद्भूत हैं, ग्रहण करने योग्य नहीं हैं, ऐसी बुद्धि ने इस नयको जन्म दिया है।

देहमें जीवत्वबुद्धिके व्यवहारका मिथ्यापन परखिये–लोगोंका यह व्यवहार कि जो यह शरीर है सो ही जीव है, यह अयोग्य व्यवहार है, अनुचित है, असत्य है अथवा ऐसा व्यवहार न किया जाना चाहिए जैसा कि लोग व्यवहार करते हैं। क्यों है यह अयोग्य व्यवहार? इसका कारण यह है कि यह सिद्धान्त से विरुद्ध है, जो कुछ लोग सोच रहे हैं कि यह शरीर ही जीव है। तो यह सच्चाई से रहित है, इस व्यवहारमें सिद्धान्तका विरोध है, क्योंकि शरीर और जीव ये भिन्न भिन्न धर्मी हैं, अनेक धर्मी हैं, अनेक वस्तु हैं। एक पदार्थ नहीं हैं, इनका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव न्यारा न्यारा है। तो ऐसी स्थितिमें ये दोनों भिन्न भिन्न प्रसिद्ध ही हैं। और, जब शरीर पुद्गल द्रव्य हैं, वे भिन्न पदार्थ हैं, जीव द्रव्य भिन्न पदार्थ हैं, फिर भी जो लोग शरीरमें जीवका व्यवहार करते हैं कि यह जीव है वे सिद्धान्तसे विरुद्ध प्रतिपादन करते हैं। यहशरीर क्या है? अनन्त परमाणुओंका पुंज। सभी परमाणु जड़ हैं, रूप, रस, गंध स्पर्श-वान है, यह शरीर भी जड़ है, रूप, रस, गंध, स्पर्श वाला है, किन्तु जो समझ सके, समझने की वृत्ति जहां बनेगी वह मूर्त नहीं हो सकता। वह अमूर्त ही होगा। तो यों शरीर जड़ है, जीव चेतन है, शरीर वर्णादिमान है, जीव अमूर्त है, ऐसे प्रकट भिन्न भिन्न पदार्थोंको एकमेक करने की बुद्धि यथार्थ कैसे हो सकती है? वह सब सिद्धान्त विरुद्ध ही बात है।

नयोंके नामकरणका आधार देखिये–नयोंके क्या नाम होते हैं इस सम्बन्धमें इस गाथामें संकेत दिया

है। आचार्य कहते हैं कि जिस द्रव्यका जिस नाम वाला कोई विशेष गुण कहा जाता है उस गुण की पर्यायोंसे विशिष्ट और उस गुणको विषय करनेवाला नय भी नयके नामसे कहा जाता है. अर्थात् जितने गुण पदार्थ में विवक्षित किए जाते हैं वे जिस जिस नाम वाले हैं उनको प्रतिपादन करने वाला अथवा जानने वाला नय उन्हीं नामों से पुकारा जाता है। इस गाथामें नयों के नाम की कुंजी दिखाई गई है। जो विषय हो उसका जो नाम हो उसी विषयके आगे नय शब्द जोड़ देने पर उस नयका पूरा नाम हो जाता है। अब तक जितने नयोंके प्रयोग किए गये हैं उनमें यही कुंजी अपनाई गई है। व्यवहारनय कहते हैं भेद करने को। भेद करने की बात जिस नयके विषयमें आयी है उन नयका नाम व्यवहारनय हो गया। पर्याय कहते हैं अंशको। पदार्थ के अंशको विषय करने वाला जो नय है उसे पर्यायार्थिकनय कहते हैं। द्रव्य कहते हैं उस समस्त गुण पर्यायोंके पिण्ड को, उस द्रव्यको जो विषय करता है उसको द्रव्यार्थिकनय कहते हैं। तो अब तक जितने नयोंके नाम निकले हैं उन नामों से भी यही प्रकट होता है कि नय जिसको विषय करते हैं उनके नामपर ही नयोंके नाम रखे गये हैं। बस यही कुंजी समस्त नयों के सम्बन्धमें लगेगी।

व्यवहारका परमार्थ प्रतिपादनमें प्रयास, पढ़िये—यहां यह न समझना चाहिए कि निश्चयनयने व्यवहारनयका निषेध किया तो व्यवहारनय मिथ्या ही कहता होगा सो भी एकान्त नहीं है। व्यवहारनय निश्चयनयके विषयको समझाने का भरसक प्रयास करता है। तो उसका प्रयास निश्चयनयके विषयके लिए हो रहा है। अतएव उसे एकान्ततः अयथार्थ नहीं कह सकते, किन्तु परमार्थ प्रतिपाद्य नहीं हो सकता; अतएव प्रतिपादन ही यथार्थ नहीं हो पाता। दूसरी बात—ऐसी भी जिज्ञासा हो सकती है कि जब निश्चयनय केवल निषेध ही करता है तो यह बतलायें कि फिर निश्चयनयने क्या कहा? और निश्चयनयका विषय क्या समझा जाय? उत्तर तो इस प्रसगमें स्पष्ट है। जो निश्चयनयका विषय है। और इस विषयमें यही ध्वनित होता है कि पदार्थ अवक्तव्यस्वरूप है और पदार्थ अवक्तव्य है। इन शब्दोंमें भी प्रतिपादन हुआ। ऐसा प्रतिपादन भी परमार्थतः नयको स्वीकार नहीं करता। पदार्थ की अवक्तव्यताका वर्णन भी तो वक्तव्य बन गया। तो ऐसा कोई सोच सकता था कि व्यवहारनय तो भेद करनेकी बात कहे और निश्चयनय उसे अवक्तव्य बता दे तो इतना भी बताना वक्तव्य पनेका सूचक बना, प्रतिपादन हुआ। किसी अंशमें भेद [illegible]ना तो यह भी परमार्थ से स्वीकार नहीं है। अवक्तव्य है, निश्चयनय, इसकी सूचना निषेधसे स्वयं हो जाती है। यों यह सिद्ध हुआ कि निश्चयनयका विषय व्यवहार निषेध्य है और इसी प्रसगमें यह भी जान लेना चाहिए कि निश्चयनय नयोंका अधिपति है, इससे आगे और नयविकल्पका अवकाश नहीं है।

लक्षणप्रतिपादक व्यवहारनयकी भी अभूतार्थता कही गई है इसका कारण स्पष्ट कर लीजिये—गुणपर्ययवत् द्रव्यं, इस प्रकार का आश्रय लेकर जो संत जनोंका उपदेश है वह यद्यपि कार्यकारी है, परमार्थ वस्तु की ओर लक्ष्य करानेका प्रयास भरा है, लेकिन जिन शब्दोंमें वह उपदेश है वे शब्द यह बतलाते हैं कि यह व्यवहारनय मिथ्या है, क्योंकि इसमें यही तो कहा गया है कि द्रव्य गुण वाला है, द्रव्य गुण पर्याय वाला है। जहां यह बात आयी कि द्रव्य गुण वाला है तो उससे ऐसा ही अर्थ ध्वनित होता है कि गुण कोई चीज है, द्रव्य कोई चीज है और फिर गुण के मेल से यह द्रव्य गुण निराला कहलाया, लेकिन बात ऐसी है कहां? पदार्थ तो अपने आपमें अद्वैत सत् है। तब पर्यायकी बात कहकर उपदेश किया है कि द्रव्य पर्याय निराला है। वहां भी यही अर्थ ध्वनित होता है कि पर्याय कुछ चीज है और द्रव्य कुछ चीज है, फिर उन पर्यायोंका मेल कराने पर यह द्रव्य पर्याय वाला कहलाता है। लेकिन पर्याय क्या

कोई भिन्न वस्तु है और द्रव्य कोई उससे जुदी चीज है ? इस लक्षणमें जो कुछ जिन शब्दोंसे कहा गया है उन्हीं शब्दोंके अनुसार समझ बनानेपर विशेषवादका प्रसंग आता है। जब कहा कि द्रव्य गुण पर्याय वाला है तो यहां भी यही समझिये कि परमार्थतः न तो कोई गुण वस्तु है और न केवल कोई द्रव्यवस्तु है, न दोनों हैं, न उन दोनोंका योग है, किन्तु केवल वह एक अद्वैत सत् है। अब चाहे कोई गुण की दृष्टि रखकर सत् द्रव्य कहे चाहे कोई द्रव्यकी दृष्टि रखकर सत् कहे, पर वस्तुतः तो वहां अनिर्वचनीय अद्वैत सत् है। तो वस्तुमें कोई ऐसा भेद भी पड़ा हुआ है और ये व्यवहारनयके लक्ष उन भेदोंकी बात बताते हैं इस कारण से यह व्यवहारनय मिथ्या कहलाता है। यही निर्णय इस प्रसगके अन्तमें इस गाथा में दिया है।

प्रमाण के स्वरूप के वर्णन के प्रसग में विधि प्रतिपेधकी मैत्री व स्वपराकारावगाहि ज्ञानकी प्रमाणरूपता देखिये—नयोंका जो वर्णन किया गया था उसमें यह समझा गया कि व्यवहारनय का विषय तो विधि है और विधि होती है भेदपूर्वक और निश्चयनयका विषय निषेध है, सो ये दोनों बातें अलग अलग नहीं हैं, किन्तु विधि पूर्वक प्रतिषेध होता है और प्रतिपेधपूर्वक विधि होती है। अत विधि और प्रतिषेध के द्वारा दोनों की जो मैत्री है वह प्रमाण कहलाता है। जैसे व्यवहारसे विधिके माध्यमसे जाना कि जीव में ज्ञान है, दर्शन है, चारित्र है आदिक निश्चयनयसे यह जाना कि व्यवहारनयने जो कहा है वैसा पदार्थ नहीं है, अर्थात् ज्ञानदर्शन चारित्र ये कोई जुदे वस्तु हों और फिर वे आत्माके पास रहते हों, ऐसा नहीं है, किन्तु वह वस्तु अखण्ड है। तो वस्तु गुणरूप है, उसमें गुण है और वह अखण्ड है। गुण का भी वहां भेद नहीं है, इस तरह की मैत्री पूर्वक जो ज्ञान हो रहा है वह प्रमाण ज्ञान कहलाता है। अथवा दूसरे लक्षण से देखिये कि प्रमाण ज्ञान वह है जो स्व और परको जानने वाला है। स्वका अर्थ स्वयं ज्ञान, वह अपने आपको जानता है और परका अर्थ है सव-पर पदार्थ। तो यों स्व और पर को जानने वाला जो ज्ञान है वही प्रमाण कहलाता है।

स्वानुभूतिके समय में मति श्रुत ज्ञानकी प्रत्यक्षसम प्रत्यक्षता बन जाती है, पढ़िये और उसका पौरुष कीजिये—मतिज्ञान और श्रुतज्ञान परोक्षज्ञान बताये गये हैं और फिर जिस समय स्वात्माकी अनुभूति होती है उस समय इन दोनों ज्ञानोंका जो भी उपयोग है, जो भी ज्ञान हुआ है वह प्रत्यक्ष ज्ञानके समान प्रत्यक्ष कहा जाता है। स्वात्मानुभूतिके समयमें ही इस ज्ञानको प्रत्यक्ष ज्ञान कह सकते हैं इसे प्रत्यक्ष क्यों कह दिया है, क्योंकि सिद्धान्तशास्त्रों में मति, श्रुत, ज्ञानको परोक्ष स्पष्टरूपसे बताया गया है तब किसी भी पद्धतिमें इसे प्रत्यक्ष मानना कैसे सगत है ? ऐसी आशका हो सकती है ? इस आशंका का उत्तर स्वयं ग्रन्थकार अभी ही कुछ आगे देगा, लेकिन यहां सक्षेपमें इतना समझ लेना चाहिए कि जिस समय कोई ज्ञानी पुरुष स्वात्माकी अनुभूतिका विषय स्वसम्वेदन प्रत्यक्षके द्वारा स्पष्ट रहता है। तो यह विशेषता बहुत बड़ी विशेषता है, इस दृष्टिसे मतिज्ञान और श्रुतज्ञानको स्वात्मानुभूतिके समय समक्ष हुए की तरह प्रत्यक्ष ज्ञान माना जाना चाहिए।

अनेकों दार्शनिक सन्निकर्ष, कारकसाकल्य आदि अज्ञानरूपोंको प्रमाण मानते हैं, उनके समाधानरूप ज्ञानमें ही प्रमाणत्व है, इसकी परख कर लीजिये—उक्त गाथामें यह बताया है कि अन्य वादियोंके माने हुए प्रमाण के लक्षणमें दूषण आता है। उन्हीं दूषणोंको कुछ कुछ स्पष्ट करने के लिए क्रमशः कुछ वर्णन किया जा रहा है। किसी भी प्रकार ज्ञानको छोड़कर अन्य किसी भी लक्षणमें प्रमाणता आ नहीं सकता, कारण उसका यह है कि ज्ञान यदि नहीं है तो जड़ अचेतन कर्ण आदिकका कौन प्रमाण समझ लेगा ? प्रमाण का फल है तो अज्ञानकी निवृत्ति होना, अर्थात् अभी जो जानकारी है, जिसमें अज्ञान नहीं रहा,

वही तो प्रमाणका फल है और उसका कारण है वह भी अज्ञाननिवृत्तिका रूप होना चाहिए याने अज्ञान दूर करना तो फल है और अज्ञान दूर करनेका जो कुछ भी साधन होगा वह भी ज्ञानरूप ही होगा। जड़ पदार्थ प्रमेय भले ही है मगर वह कभी प्रमाण नहीं हो सकता। प्रमाण वही हो सकता याने अज्ञान की निवृत्ति वही कर सकता जो स्वयं ज्ञानरूप हो गया। अपने आपको तो जानने वाला हो, वही परका ज्ञाता हो सकता है, किन्तु जो स्वयं अज्ञानरूप है वह किसी भी प्रकार परका जाननहार नहीं बन सकता। ऊपर जो अन्य वादियोंने प्रमाण के लक्षण किये हैं और वहां बताया है कि जो प्रमाणका करण हो सो प्रमाण है और प्रमाणका जो करण माना है वह सब जड़ माना है, इन्द्रिय है, प्रकाश है. ये सब माने गये हैं प्रमाणरूप। हैं ये जड़। तो जो जड़ है स्वयं अपने को नहीं पहिचान सकता है वह प्रमाण किस तरह हो जायगा ? तो इन्द्रिय आदिक जो प्रमाणके करण माने हैं ज्ञानहीन,वे प्रमाण नहीं हैं, किन्तु प्रमाण ज्ञानस्वरूप हो सकता है।

प्रमाणके विषयका एक उदाहरणमें दिग्दर्शन कीजिये–अब इस गाथामें प्रमाणपक्ष की बात कही जा रही है। प्रमाणकी कुंजी अभिज्ञानपद्धति है अर्थात् द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक नय दोनोंके विषयमें अविरुद्ध रूपसे संजो देना प्रमाणका विषय है। इस गाथामें कह रहे है कि जो वस्तु स्वरूपाभाव से नास्तिरूप है और जो स्वरूप सद्भावसे अस्तिरूप है वही वस्तु विकल्पातीत है। ऐसा यहां अभिज्ञानपूर्वक जो परिचय हुआ है वह सब प्रमाणपक्ष है। उक्त तीन गाथाओंमें तीन पक्ष बताये गये थे। एक तो बताया गया था स्वरूप सद्भावसे अस्ति होना, अस्तिनयको प्रधानतामें यह विषय कहा गया था, यह भी वस्तुका धर्म है। दूसरे–नास्तिनय पक्षमें यह कहा गया था कि स्वरूपाभावसे वस्तु नास्तिरूप है, जिसकी अविवक्षा हो गयी, उस अविवक्षामें वहां नास्तित्व है। तब तीसरी गाथामें द्रव्यार्थिकनयकी दृष्टिमें वस्तुको विकल्पातीत कहा गया है। अर्थात् स्वरूपसे अस्ति है इतना भी कथन विकल्परूप है, भेदरूप है, पर द्रव्यार्थिकनय अभेदको विषय करता है अतएव वह विकल्पातीत ही वस्तु है, इसका समर्थन करते हैं। अब इस गाथामें तीन नयपक्षोंका अविरोधरूपसे परिचय किया गया है। जो वस्तु स्वरूप भावसे नास्तिरूप है, स्वरूप सद्भावसे अस्तिरूप है वही वस्तु विकल्पातीत है। यों उक्त तीन नय पक्षोंका अविरुद्ध रूपसे एक वस्तुमें थापना यह प्रमाण पक्ष कहलाता है। यहां मुख्यतया यह बात जानना कि व्यवहारपक्ष और निश्चयपक्ष दो की बात बताकर फिर प्रमाण पक्षसे स्थापना की गई है। बाकी व्यवहारपक्ष नाना प्रकार का होता है तो उस व्यवहारपक्षको यहां संक्षेपमें केवल दो दो भागोंमें ही बताया गया है। जैसे एक अनेक पक्षमें पर्यायविशिष्ट अनेक पर्यायार्थिकनय और इक पर्यायार्थिकनय। ये दोनों ही व्यवहारनय हुए, फिर निश्चयनयको शुद्ध द्रव्यार्थिकनयके रूपमें कहा। फिर इन दोनों नयोंने अविरोध रूपसे एक वस्तुमें सद्भाव बताया, इसी तरह व्यवहारनयका दो भागोंमें अस्तिनास्तिके सन्दर्भ में प्रकट दिया। अस्तिनय नास्तिनयसे दोनों व्यवहारनय हैं और द्रव्यार्थिकनयमें विकल्पातीत वस्तु है। इन दोनों नयोंका जोड़ करके इस गाथामें प्रमाणपक्षकी बात कही गई है।

(२८५–२८६) पञ्चाध्यायी प्रवचन ९, १० भाग

इसमें पंचाध्यायी उत्तरार्द्ध के ३७० छन्दों पर पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराज के प्रवचन हैं। पूर्वार्द्ध में वस्तुका सामान्यरूप से स्वरूपसिद्ध किया है। अब विशेषरूपसे वस्तुका व उसमें भी प्रधानतया आत्मपदार्थका स्वरूप बताया जा रहा है। सामान्यद्रव्यके दो भेद जीव व अजीव बताकर जीव द्रव्यकी निर्दोष हेतुसे सिद्धि की जा रही है। देखिये ६ वें छन्दके एक प्रवचनांशमें–जीव है स्वसम्वेदन प्रत्यक्ष होने से, यह अनुमान प्रयोग उक्त श्लोकमें बताया गया है। उसके अनुसार इस अनुमानसे जीव तत्त्वकी सिद्धि होती है। इस

अनुमानमें हेतु तो बताया गया है स्वसम्वेदन प्रत्यक्ष और साध्य यह बताया गया है कि जीव है। तो जहां हेतु पाया जाय और साध्य पाया जाय वह तो है अन्वय व्याप्ति, जहां साध्य न पाया जाय तो साधन भी न पाया जाय, यह है व्यतिरेकव्याप्ति। व्यतिरेक व्याप्ति अन्वयव्याप्तिसे भी पुष्ट है। यहां व्यतिरेक व्याप्ति द्वारा जीवके अस्तित्वकी सिद्धि की गई है।

जीव शुद्धनयादेशसे एकविध ही है, फिर भी पर्यायदृष्टिसे उसके भेद हैं, देखिये ३३ वें छन्दके एक प्रवचनांशमें—शुद्धनयकी अपेक्षासे यह जीव शुद्धस्वरूप है, एकरूप है। जैसे शुद्धनयकी दृष्टिमें केवल एक परअपेक्षारहित, परउपाधिरहित, स्वरूपमात्र द्रव्य देखा जाता है तो शुद्धनयकी दृष्टिमें यह जीव द्रव्य शुद्ध स्वरूप है, अर्थात् जो जीवमें स्वभाव है उस स्वभावरूप है। स्वभाव विकार के लिए नहीं होता, स्वभाव किसी विडम्बनाके लिए नहीं होता, बल्कि स्वभावमें स्वभाव ही दृष्टगत होता है, परिणतिको भी वहां उपेक्षा रहती है, अथवा परिणतिपर भी वहां दृष्टि नहीं है। ऐसी शुद्धनयकी दृष्टिमें यह जीव शुद्धस्वरूप है। एक रूप है, उसमें भेद कल्पना नहीं होती, और तभी इस दृष्टिमें जितने भी जीव हैं वे सब एक समान हैं। इसी एक समानको एक कह दिया है अन्य दार्शनिकोंने, क्योंकि समान अर्थ में भी एक शब्दका प्रयोग होता है, ऐसी व्याकरण और शब्दकोषकी विधि है। तो यों यह जीव द्रव्य एक रूप है फिर भी पर्यायदृष्टि से देखा जाय तो जीवकी समस्त पर्यायोंको संक्षेप करके बताया जा रहा है कि जीव दो प्रकार के हैं—मुक्तजीव और अमुक्तजीव। जो जीव कर्मबन्धनसे छूट गये हैं, विकार भावोंसे छूट गये हैं, जो जीव पूर्ण शान्त हैं, आनन्दमय हैं, केवल उस ही स्वरूपमात्र हैं वे तो मुक्त कहलाते हैं और जो जीव कर्मबन्धनसे युक्त हैं, शरीरादिकका संयोग है, सम्बन्धमें हैं उन्हें कहते हैं अमुक्तजीव। निश्चय और व्यवहारका विषय क्या है? निश्चयका विषय है स्व, व्यवहारका विषय है पराश्रितभाव। निश्चयनय एक वस्तुको एक में ही निरखता है और उसका स्वभाव भावको ही ग्रहण करता है व्यवहारनय अशुद्ध अवस्थाको परसंयोगको जो सभी अशुद्ध अवस्थामें सम्मिलित हो गये हैं उनका ग्रहण करता है. परनिमित्तसे होने वाले जो भाव हैं औपाधिकभाव, नैमित्तिकभाव, उनको ग्रहण करने वाला व्यवहारनय है। तो निश्चयनयकी दृष्टिमें तो किसी प्रकार का भेद नहीं है। संसारी और मुक्त सभी जीवों का एक रूप निरखा निश्चयदृष्टिने तो वहां संसारी और मुक्तका भेद क्या दृष्टिमें नहीं पड़ा है? केवल स्वरूप इस दृष्टिमें है और उस स्वरूपदृष्टिसे जीव एक रूप है, किन्तु व्यवहारनयसे जीव दो रूप हो गया है-एक संसारी, दूसरा मुक्त। जो उपाधिसहित आत्मा है वह संसारी है, जो निरुपाधि आत्मा है वह मुक्त कहलाता है। यों अब प्रथम परिच्छेदमें एक द्रव्यके स्वरूपका वर्णन किया था, अब इस परिच्छेदमें जीवद्रव्यकी प्रमुखतासे वर्णन चल रहा है। द्रव्यमें जीवके स्वरूपका अवधारण किया और निश्चयदृष्टिसे, स्वरूपकी दृष्टिसे जीव एक ही प्रकार का है। अब व्यवहारनयके आलम्बनसे उस जीव के भेदोंका विवरण चल रहा है। तो प्रथम ही प्रथम जीवमें क्या भेद दृष्टगत हुए? तो ये भेद दृष्टगत् हुए—कोई जीव संसारी हैं और कोई मुक्त हैं।

जीवके अशुद्ध व बद्ध होनेका कारण है वैभाविकी शक्तिका विकार। वैभाविकी शक्ति की दो अवस्थायें होती हैं—१—विकृत, २—स्वाभाविक। दोनों दशायें एक साथ नहीं हो सकती, इसका परिचय कीजिये ६३ वें छन्दके एक प्रवचनांशमें—अब इस प्रसंगका निष्कर्ष बताने के लिए यह अन्तिम गाथा कही जा रही है। यद्यपि एक शक्तिके हो दो भेद हैं, याने वह एक वैभाविकी शक्ति दो रूपोंको धारण करती है, परन्तु उस एक शक्तिके ये दो भेद एक साथ नहीं हो सकते। यदि स्वाभाविक और वैभाविक दोनों अवस्थाओंका एक साथ मान लिया जाता तो उसका अर्थ यही तो स्पष्ट हुआ कि वैभाविक अवस्था भी सदा बनी रहेगी और जब वैभाविकी अवस्था सदा हो गयी तब मोक्षका पुरुषार्थ करना व्यर्थ है, क्योंकि विभाव

परिणमन तो सदा ही रहेगा और मान लो किसी कल्पनामें किसी प्रयास द्वारा कुछ थोड़ा सा मोक्ष बना लिया तो अब उस मोक्षका मूल्य क्या है ? वैभाविक परिणति तो सदा रहती है और मोक्ष भी वह क्या है ? एक थोड़ा का राग हुआ और वैकुण्ठ जैसे नामसे मुक्ति मान लिया, लेकिन वह वैकुण्ठ एक नवग्रैवेयक जैसी स्थिति रही, जहां शुक्ल-लेश्या है, कुछ शान्त स्थितिमें रहना है, लेकिन वहांसे भी तो जीवको मरण करना होता है, नया भव धारण करना होता है। यदि वैकुण्ठ स्थिति भी सदा रही आये तो मोक्ष कुछ चीज न रहेगा और मोक्षके लिए प्रयास करना व्यर्थ हो जायगा। इस कारण यही सिद्धान्त मान लेना चाहिए कि जीवमें एक वैभाविकी शक्ति नामका गुण है और उसकी उपाधिके सद्-भावमें तथा उपाधिके अभावमें दो प्रकार के परिणमन होते हैं। उपाधिसन्निधिमें तो विभाव परिणमन होता है और उपाधि के अभाव में स्वभाव परिणमन होता है। ये दोनों परिणमन एक काल में नहीं हो सकते।

जीवमें बद्धताकी अविनाभाविकी अशुद्धता देखिये ११२ वें छन्दके प्रवचनांशमें-जीव बद्ध है, यह बात इस प्रसंगमें कैसे जोड़ी जा रही है ? तो यहां यह भी समझना चाहिए कि आत्मा की जहां बद्धता है उसी समय वहां अशुद्धता भी है। बद्धता और अशुद्धता इन दोनोंका परस्पर अविनाभाव है, ऐसा नहीं है कि आत्मा अशुद्ध तो नहीं है और बद्ध है, और यहभी नहीं है कि आत्मा बद्ध तो नहीं है और अशुद्ध है। आत्मामें बद्धता और अशुद्धता दोनों का सम्बन्ध है और उस अशुद्धताका लक्षण यह बन रहा है कि आत्मा तो स्वयं अद्वैत है, एक है, एकस्वरूप है, किन्तु वह अन्य पदार्थ के निमित्तसे द्वैतरूप हो जाता है। इस श्लोकमें यह बात कही जा रही है कि जिस समय आत्मा कर्मों से बद्ध है उसी समय अशुद्ध भी है। यदि अशुद्धता न हो तो बद्धता हो ही नहीं सकती और बद्धता न हो तो अशुद्धता भी नहीं हो सकती। इनमें ऐसा परस्पर अविनाभाव है, अब स्वभाव दृष्टिसे देखते हैं तो इनमें परस्पर मेल नहीं बैठता। जीव तो चैतन्यस्वरूप है, पुद्गल कर्म जड है, इनका आपसमें कोई मेल नहीं बन रहा है और ये अपने आपमें अद्वैत हैं, एक हैं, पृथक् हैं, अपने अपने स्वरूपको रखने वाले हैं, फिर भी पर पदार्थ का निमित्त पाकर जो अशुद्धता जीव में बन रही है बस इसी से यह आत्मा द्वैतरूप बन रहा है। नाना स्वभावरूप बन रहा है। आत्मा की शुद्धता और बद्धता को सिद्ध करने के लिए अधिक क्या प्रयास करना ? अपने आपकी जो स्वयं की आज स्थिति है इसी स्थिति से जाना जा सकता है कि आत्मा अशुद्ध है और बद्ध है, और यह बना कबसे ? तो यह भी विदित हो जाता कि यह परम्परा अनादिसे चली आ रही है, क्योंकि इसमें कुछ एक न म नें तो दूसरी भी बात नहीं बनती। मानलो इसमें कर्मबंध न था तो अशुद्धता कैसे आयी ? आत्मा अशुद्ध न था तो कर्मबद्धता कैसे आयी ? कोई वजह नहीं है कि इसमें एकके बिना दूसरी बात आ सके। इससे सिद्ध है कि अशुद्धता और बद्धताकी परम्परा अनादि से चली आयी है।

अन्तरतत्वके जो सात तत्त्वोंके रूपमें भेद किये जाते हैं वे व्यवहारनयसे हैं, परमार्थसे नहीं हैं, परमार्थदृष्टि ही लाभकारी है। इतने पर भी व्यवहारनयकी उपयोगिता है, इसका दिग्दर्शन कीजिये १३७ वें छन्दके एक प्रव-चनांशमें-अब यहां व्यवहारके लाभकारी होने की भी बात समझियेगा। मोक्ष है, सम्वर है, निर्जरा है, उपाय है, क्या ये लाभकारी नहीं हैं ? और हैं व्यवहारनयके विषय, तो कैसे कह दिया जाय कि व्यव-हारनय लाभकारी नहीं है ? व्यवहार लाभकारी नहीं है, इसका अर्थ यह लगाओ कि हमें चाहिए अख-ण्ड वस्तुकी दृष्टि, जिसके आश्रय से हम विकल्प, कषायबन्धनसे मुक्त हों और हममें निर्मल पर्याय ही परिणमती रहे। इसके लिए हमें विकल्प वाला विषय न चाहिए। हमें चाहिए निर्विकल्प अखण्ड दृष्टि।

तो निर्विकल्प अखण्ड तत्त्वकी दृष्टिमें तो समर्थ शुद्धनय है। तो उस काम के लिए व्यवहार लाभकारी नहीं है इतना हर जगह अर्थ लपेटता जाय, हर जगह घटाता जाय तो वह सन्मार्ग पर न चल सकेगा। तो जिस अनुभवके लिए व्यवहारनय अयथार्थ है, लाभकारी नहीं है उसका तथ्य समझे। तिस पर भी न्यायबलसे व्यवहारको मानना ही पड़ेगा। और, भी सुनो-कोई पुरुष ऐसा आग्रह करे कि हम तो व्यवहारनयको छुवेंगे ही नहीं, यों ही उस अखण्ड चैतन्यस्वरूपका भान कर लेंगे तो यह न हो पायगा। अरे पड़ा तो है वह अभी जन्ममरणके चक्र में, शरीरके बन्धन में है, अनेक प्रकार के विकल्पोंमें पड़ा है, पर कहता है कि हम विना व्यवहारका आश्रय लिए ही उस अखण्ड चैतन्यस्वरूपका दर्शन कर लेंगे तो यह कहना उसका ठीक नहीं। यदि ऐसा व्यक्ति कोई हो तो दिखाओ। जो आज अखण्ड तत्त्वकी यथार्थता बताकर व्यवहारनयको सर्वथा अयथार्थ बता रहे हैं और दूसरोंका व्यवहार पहिले से ही छुड़ा देने का प्रयास कर रहे हैं, उन्होंने स्वयं व्यवहारका आलम्बन लेकर, व्यवहारसे काम निकाल कर ऐसी अखण्ड दृष्टि पायी होगी। तो व्यवहारके विना तो निश्चयका दिग्दर्शन न हो सकेगा। इस कारण व्यवहारनय भी श्रेयकी तरह न्यायके बलसे प्राप्त होता है।

परमार्थ आत्मा अखण्ड है, फिर भी जो ९ भेद किये हैं उन भेदोंके निष्पन्न होने का कारण क्या है, देखिये १३९ वें छन्दका एक प्रवचनांश-जीवकी शुद्धता और अशुद्धताके प्रकरणमें कहा जा रहा है कि नवपदार्थ पर्यायधर्मा है और इन भेदोंका कारण उपाधि है। यहां शुद्धता का अर्थ लेना है निर्विकल्प, अखण्ड एक केवल आत्मद्रव्य और अशुद्धताका अर्थ लेना है जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, सम्वर, निर्जरा, मोक्ष इन रूपोंमें देखा गया जीव पदार्थ। तो इस तरह से जो ये ९ पदार्थ हैं ये पर्यायधर्मा हैं। ये ९ पदार्थ जीवका पर्यायें हैं। और, यहां उपरक्ति (उपाधि) लगी हुई है जिसके कारण यह ९ पदार्थों का भेद पड़ा है, परन्तु यह उपाधि पर्यायमात्रता नहीं कहलाती। अर्थात् उपाधि एक विशिष्टता है, किन्तु यह पर्यायमात्र नहीं कही जा सकती। यहां मूल पर्यायपर दृष्टि दिलाई गई है। पदार्थ की पर्याय अगुरुलघुत्व गुण के निमित्तसे अर्थात् स्वयं के ही कारण जो षट्गुणहानिवृद्धि है वह पर्याय है। पदार्थ में पदार्थ के ही स्वभावसे निरखा जाय तो पदार्थमें निरन्तर परिणमन हो क्या रहा है वह है अर्थपर्याय। उस अर्थपर्याय में कोई भेद नहीं पड़ा हुआ है। वह भेदरहित है। जैसे धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाश द्रव्य, कालद्रव्यमें अर्थपर्याय निरन्तर चलती रहती है तो उसमें हम कोई भेद समझ पाते हैं क्या? वहां कोई भेद व्यक्त नहीं है। वहां विभाव गुण व्यंजनपर्याय नहीं, स्वभावगुणव्यंजनपर्याय व्यक्त हो रही, सो वह होते हुए भी वह व्यंजनपर्याय वहां तो अर्थपर्यायके अनुकूल है और उसमें अन्तर्लीन है। तो पर्याय तो वास्तविक अर्थपर्याय है। जो पदार्थ के स्वभावसे पदार्थ में निरन्तर रहती है। उसे कहेंगे पर्यायमात्रता। तो पर्यायमात्रता उपाधिमें नहीं है। उपाधिके मेलमें नहीं है। उसे तो स्वतंत्रतया निरपेक्ष एक द्रव्य में ही निरखा जाय तो उसका परिचय होता है। इससे यह भी सिद्ध है कि जीव अजीव आदिक ९ पदार्थ उपाधिरूप हैं, सम्बन्धपर हुए ख्याल विकल्पके कारण ये उत्पन्न हुए हैं।

जीवादिक नव पदार्थोंका स्वरूप निरखिये १५१ वें छन्दके एक प्रवचनांशमें-उन पदार्थों को इस तरह निहारना कि अखण्ड चिदात्मक जीवको तोड़कर जो बुद्धिमें आया वह थाप दिया, और ऐसी बुद्धि कर के थापा कि जिस जीवके सम्बन्धमें ये आस्रव बन्ध आदिक पर्यायें कही जायेंगी, ऐसा ख्यालमें लाया हुआ वह जीव पदार्थ जीव है, और उस ही जीवमें ज्ञान धर्म से अतिरिक्त जो भाव निरखे जा रहे हैं उन भावोंकी दृष्टिसे जो इसे देखा है तो वह हो गया अजीव। अर्थात् उस ही जीवको अजीव कह रहे, कहीं पुद्गल की बात नहीं कह रहे हैं, नहीं तो जीवकी ये ९ अवस्थायें कैसे बनेंगी? तो जीवमें

जो रागद्वेष, क्रोध, मान, आदिक भाव पाये गए अथवा आचार्यों ने तो यहां तक कहा कि प्रमेयत्व आदिक धर्मकी दृष्टिसे तो वह अचेतन है और ज्ञानदृष्टिसे वह चेतन है। तो उस ही एक जीव पदार्थमें दृष्टि लगाकर जो ज्ञानातिरिक्त धर्म हैं उन धर्मों कीप्रधानता करके जवनिरखा तो वह कहलाया अजीव। अब जीवमें जो अजीवका, विभावका, रागादिकका जो आना हो रहा तो आना क्या जीवसे पृथक् चीज है ? क्या राग दूसरी जगह से आ रहा है ? यहां आने का अर्थ कोई कदम रखकर चलने की बात है। वह तो जीव है और जीवमें आश्रवभाव की निष्पत्ति हो रही है, बस उसके श्रोतका नाम आश्रव है। आश्रवका सही अर्थ आगमन नहीं है। आश्रवका अर्थ है चूना, सुत होना। स्रवण होना, आत्माके सर्व प्रदेशोंसे झिरना इसका नाम है आश्रव। जैसे पहाड़ से पानी झिरा, चुआ और ऐसा भी चूना मत देखें कि जहां एक मोटी धार निकल रही हो, किन्तु जहां से बूंद बूंद भी चूता है। तो जैसे ऐसा चूना कितने स्थानोंसे हो रहा ? बहुत क्षेत्रोंसे। यों ही आत्माके सर्व प्रदेशोंमें से जो भी आश्रव भाव निकला यह हुआ स्रवण, चूना। स्रवणको हम पहिले से नहीं परख सकते कि कहां से आया ? गमनको तो हम अलग से जान लेंगे कि यह आया, यहां से आया। और, आने में तो क्षेत्रभेद भी है। कहा से आये, कहां आये। उधर से आये, इधर आये, लेकिन स्रवण में यहां क्षेत्रभेद नहीं है। चुवा, वहां से चुवा। यहीं से निकला। तो इसी कारण यहां आगमन अर्थ नहीं कहा। आस्रवका अर्थ आगमन स्थूल-रूपमें कह देते हैं, किन्तु अर्थ है आत्माके सर्व प्रदेशोंसे झिरना, इसका नाम है आश्रव। तो भी आश्रव क्या अलग वस्तु है ? वह जीव पदार्थ ही तो है। सम्वर-आश्रवका रुकना सो सम्वर। आत्मामें जो रागादिक भाव झिरते थे उनका झिरना बन्द हो गया, अब झिर नहीं सकते। यहां उनका उपशम नहीं हुआ (दवाया नहीं गया) किन्तु ऐसा ही कुछ हो गया कि जिससे झिरने का नाम न रहे, सूख गया। भीतर भी गीला न रहा। जिनका सम्वर हुआ है उनका गीलापन भीतर भी नहीं है। पूरी तरह से उसका निरोध है। भले ही कुछ बद्ध प्रकृतियां सत्तामें स्थित हैं, किन्तु नवीन नहीं आते। तो ऐसा जो सम्वर है वह क्या अन्य वस्तु है ? वह भी जीव ही तो है। बन्ध-जो झिरना हो रहा था, जो जीवमें विभाव आये वे विभाव आये तब कहलाये जबकि एक समय में ही आना और जाना हो गया। वे वहां ठहरे नहीं। वह तो कहलाया स्रवण, लेकिन दूसरे समय भी अगर ठहर गये तो वह हो गया बन्ध। दूसरे समय ठहर जाने पर भी बन्ध कहलायगा पहिले ही समयसे, क्योंकि पहिले समय में क्या स्पर्श न था ? तो ऐसा जीवमें विभावोंका बन्धन है यह बन्धन भी जीववस्तु ही तो है, अन्य कोई नहीं। निर्जरा-जो जीवमें यह विभाव बन्धन होता है, यह संस्कार चल रहा है। संस्कार ही खतम हो जाय उसको कहते हैं निर्जरा। जो विकार हैं वे झड़ें इसका नाम है निर्जरा। तो ऐसे जो विकार झड़ते हैं उस झड़नेकी स्थितिमें जो जीवका परिणमन है वह क्या जीववस्तु नहीं है ? मोक्ष-जीवका विकारोंसे बिल्कुल हट जाना, पूर्ण निर्विकार हो जाना, ऐसी जो विकारोंसे रहित अवस्था बतायी गई है वह क्या जीव नहीं है ? शुभ अशुभ भाव ही पुण्य पाप हैं। ये भी जीव ही तो है। तो जीवके विशेषमें ही ये ९ पदार्थ होते हैं।

नव पदार्थ अभूतार्थनयसे कहे गये हैं, फिर भी देखिये नव पदार्थोंके प्रतिपादनका प्रयोजन, १७८ वें छन्द के एक प्रवचनांशमें-इस श्लोकमें यह कहा जा रहा है कि ९ पदार्थों के कहने का प्रयोजन यह है कि यदि ९ पदार्थोंको न माना जाय तो ९ पदार्थों से परे शुद्ध जीवका भी कभी अनुभव नहीं हो सकता। ठीक ही है, अशुद्धता स्वीकार किए बिना शुद्ध जीव भी सिद्ध नहीं होता, क्योंकि उस शुद्धताका साधन है अशुद्धताका अर्थात् अशुद्धमें रह रहा है विशेष, तो उसका कुछ होता ही है। विशेषको न माना जाय तो वह सामान्य शुद्ध जीवत्व भी नहीं ठहर सकता। इसे यों समझिये कि जैसे कोई पुरुष जीवको तो माने,

पर नारक, तिर्यन्च, मनुष्य, देव और सिद्ध इन ५ को न माने, ये ५ असत्य हैं, हैं ही नहीं ऐसा स्वीकार करने का आग्रह करें तो उनके लिए फिर जीव कहां बताया जायगा ? इस कारण ये ५ विशेष हैं। इन विषयोंसे अलग रहकर जीव रह नहीं सकता। क्या कोई जीव ऐसा मिलेगा कि जो नारकी, तिर्यन्च, मनुष्य, देव या सिद्ध किसी में भी न मिले ? तो ५ से अतिरिक्त कोई जीव नहीं है, फिर भी ५ की दृष्टि न रखें और केवल उस एक शुद्ध जीवको जानें तो जाना जा सकता है। उपयोग द्वारा इन ५ का उल्लंघन करके शुद्ध जीवको जाना जा सकता है, लेकिन ये ५ हैं हा नहीं, ऐसा कोई आग्रह करे तो वहां गति नहीं हो सकती है। इसी प्रकार जीवके ये ९ पदार्थ विशेष बताये गये हैं। ये ९ पदार्थ हैं ही नहीं, ऐसा कोई आग्रह करे तो फिर जीवको कहां बताया जायगा ? तो प्रयोजन रखता है ९ पदार्थोंका कथन, इस कारण ९ पदार्थोंका प्रतिपादन करना संगत है। इन्हें अवाच्य न कहा जायगा। दूसरा कोई शुद्ध पर्याय में जीवको निरखनेकी बात समझना चाहे ता ऐसी शुद्धता भी अशुद्धताके बिना नहीं हो सकती है इसलिए भी अशुद्धका कथन प्रयोजनवान होता है।

ज्ञानचेतनाका स्वरूप देखिये, १९७ वें छन्दके प्रवचनमें-जिस समय आत्माका ज्ञानगुण एक सम्यक अवस्थाको प्राप्त होता है याने जिस ज्ञानके साथ विकार नहीं रहते, ज्ञान जिस आधारमें है उस आधार में भी विकार के विकल्प नहीं होते, ऐसा जब ज्ञान सम्यक अवस्थाको प्राप्त होता है तो वहां आत्मा की उपलब्धि है और ऐसा शुद्ध केवल आत्माकी उपलब्धिरूप जो अवस्था है उस ही का नाम ज्ञान चेतना है। मैं ज्ञानमात्र हूं इस प्रकार का जो चेतन है उसे ज्ञानचेतना कहते हैं। करना भोगना क्या ? करने भोगनेकी प्रकृति मनुष्योंमें है और करने भोगने से ये बड़े परिचित हुए हैं, तो करने भोगने के रूपमें ही परिचय कराने का यत्न किया है। पर वस्तुमें करना क्या और भोगना क्या ? है और होता है। जब पदार्थ है तो प्रतिक्षण उसकी पर्यायें होती हैं। इसमें करनेकी क्या बात आयी ? और भोगनेकी क्या बात आयी ? लेकिन यह जीव इसी ज्ञानकी किसी विकला के बलपर यह करने भोगने जैसी बात समझ रहा था तो उसी समझने के द्वारा यहां के करने भोगने के विकल्पको मेटना है। जब यह कहा जाता कि यह आत्मा ज्ञानको करता है और ज्ञानको ही भोगता है, इस तरह से वहां चेतना करता है, पर इसको चेतनेमें यह विकल्प नहीं पड़ा है कि मैं ज्ञानका करता हूं, व ज्ञानको भोगता हूं। ज्ञान है, होता है यही उसकी एक चेतना है। तो वहां ज्ञान ज्ञानमें रहता है और ज्ञानका जानन बना रहता है, यही ज्ञानका जानन है। इसमें शुद्ध आत्माकी उपलब्धि है, न भोगता है, न विकार है, न मुक्तिकी चर्चा है। केवल आत्माके सत्त्वके कारण स्वरूपत: जो है वह अनुभवमें है। इसी को कहते हैं ज्ञानचेतना। ज्ञानके अतिरिक्त अन्य भावमें किसी प्रकार का चेतना नहीं है। यों प्रतिषेध द्वारा भी ज्ञानचेतना का स्वरूप जाना जाता है और भेददृष्टिमें यह ज्ञानको ही करता है और ज्ञानको ही भोगता है और ज्ञानमें ही इस तरह का सचेतन है। इसे कहते हैं ज्ञानचेतना।

हितमार्गकी स्पष्ट झांकी देखिये २१३ वें छन्दके एक प्रवचनांशमें-मार्ग कितना स्पष्ट है कि अपने का शुद्ध चित्स्वरूपसे अतिरिक्त किन्हीं भावमय मानलें तो कर्म बंधते रहेंगे और उन सर्व परभावोंसे भिन्न अपने ही सत्त्वके कारण जो अपना सहजस्वरूप है ऐसा शुद्ध चिन्मात्र, ज्ञानमात्र अपनी प्रतीति रखेगा तो कर्मबन्ध न होगा। अब इतना करने के लिए दूषित संस्कार वाले जीवको जिसका संस्कार अनादि से चला आ रहा है उसको तो बहुत पौरुष करना पड़ेगा। सत्संगतिमें रहना, ऐसा ही आत्मार्थी बातोंमें चिरकाल मग्न रहना और ऐसे विविक्त एकान्त शान्त वातावरणमें रहना कि जहां उस शुद्ध चित्स्वरूप को अनुभवमें लाया जा सके, ऐसा युक्ति बनाने के लिए बहुत पौरुष करना होगा, पर यह

ध्यानमें रखना है कि अपने को चैतन्य शक्ति भावके अतिरिक्त अन्य भावरूप माननेमें चूंकि वह सविकल्पताको स्थिति हुई, वहकर्मबन्ध है और एक मात्र चैतन्यस्वरूप ज्ञानमात्र, एक सामान्य-प्रतिभासमात्र, जाननमात्र जिसे सीधा गुण रूपसे न देख सकें तो शुद्ध कार्य रूपसे देखें, क्योंकि शुद्ध कार्य की और गुण की एकता है, अभेद है। तो उस द्वार से भी हम शुद्ध स्वरूपका अनुभव कर सकते हैं। मैं ज्ञानमात्र हूं, सहज ज्ञानमात्र हूं, ऐसे चिन्तनमें अगर दिक्कत आती है तो उसके विशुद्ध कार्य कार्य रूपसे चिन्तन करें, मैं सामान्यप्रतिभासमात्र हूं, केवल एक जाननहार हूं, इस तरह से जब अपने को सामान्यमें पहिचाना जाता है तब वहां ज्ञानचेतनाकी जागृति होती है। लोकमें तो तारीफ विशेषका हुआ करती है। यह पुरुष बहुत विशिष्ट है, इसमें ऐसी ऐसी विशेषतायें हैं, ऐसा बखान करके लोकमें उसकी तारीफ करते हैं और लोग उस विशेषको बड़ा आदर देते हैं, किन्तु अध्यात्म मार्गमें आत्मोन्नतिके मार्ग में, आत्माको वास्तविक महान बना लेने के मार्ग में, विशेषका महत्त्व नहीं दिया, किन्तु सामान्य का महत्त्व है, इस सामान्यपर लक्ष्य दें, इस सामान्यकी महिमा जानें, इस सामान्यसे रुचि लगावें, इस ही सामान्य आत्मद्रव्यका आलम्बन लें, यह आस्था, प्रतीति, आदर, आलम्बन, दृष्टि, लक्ष्य सब सामान्यका बताया जा रहा है। इस अध्यात्ममार्ग में सामान्यका महत्त्व है, बल्कि विशेषका आलम्बन महिती अशुद्धोपलब्धि है। ये कर्मबन्धके कारण हैं, अशान्तिके कारण हैं, जन्ममरणरूप संसार परम्पराके कारण हैं, ऐसा बता कर विशेषको अनादेय बताया गया है। तो हमारा कर्तव्य है कि हम अपने उपयोगको सामान्य स्थिति में रखें। लोकमें भी इस सामान्य स्थितिको कभी कभी बड़े आदरकी दृष्टिसे देखते हैं। जैसे कभी किसी शहरमें झगड़ा फसाद हो जाय, सारे नगरमें खलबली मच जाय, पर कुछ समय बाद जब उस झगड़े पर कुछ काबू पा लिया जाता है, मामला शान्त हो जाता है तो अन्य जगहों को समाचार दिया जाता है कि अब नगरको सामान्य स्थिति है, याने अब झगड़ा फिसादकी कोई बात नहीं रही। तो ये लौकिक जन जब कुछ कुट पिट सा जाते हैं तब सामान्यका भी महत्त्व दे देते हैं। अगर कुटना पिटना न होता तो इस सामान्यका आदर कौन करता ? तो सामान्य का आलम्बन अपने आपमें विशुद्ध गुण और कार्य का लक्ष्य यह जीवके लिए हितकारी है। इस ही में ज्ञान चेतना की पुष्टि है।

स्वभावमें कर्म व कर्मफलका अभाव, मनन कीजिये २२३ वें छन्दके एक प्रवचनांशमें—जब अपने आपकी शुद्ध शक्ति पर दृष्टि की जाती है तो प्रतीत होता है कि मेरी शक्ति विकार के लिए नहीं है। मेरा स्वभाव तो अपने सहज स्वभावरूप परिणमनोंका रख रहा है। तो मेरा विकार कार्य न बने, मैंने विकार को नहीं किया, किन्तु विकार हो गया, उसे भूमि मिलती है इस चेतना को। अन्यत्र यों विकार नहीं होते। जैसे दर्पणमें सामने कोई चीज आयी तो छाया बन गई, तो दर्पणमें इस प्रकारका प्रतिबिम्ब हो जाना, ऐसा दर्पण अपनी स्वच्छतामें स्वभाव लिए हुए नहीं है। दर्पणमें छाया प्रतिबिम्ब हो रहा मगर जब सन्निधान उपाधि सामने आयी तब दर्पण प्रतिबिम्बित हुआ। दर्पणमें ऐसी योग्यता है कि उसमें प्रतिबिम्ब आ जाता है। कहीं भींट आदिकमें तो प्रतिबिम्ब नहीं आता। तो दर्पण प्रतिबिम्बित हो गया, इतने पर भी वह प्रतिबिम्ब इस दर्पणका नहीं है। हो गया ऐसा। तो भूमिका दर्पण की है फिर भी दर्पणकी ओर दर्पणकी शक्ति मात्रने किया नहीं है ऐसा। अगर शक्ति मात्र करती होती प्रतिबिम्बित तो फिर प्रतिबिम्ब सदा सदा रहना चाहिए था। इसी प्रकार ये विकार मुझमें हुए हैं कर्मविपाक आया है, उदय आया है, विकार हुआ है, उस विकार की भूमिका मात्र होने पर मैंने इस शक्तिसे विकार किया नहीं। ये विकार और जगह उछल नहीं सकते, क्योंकि विकार की भूमिका अचेतनमें नहीं मिल पाती है। तो हुए हैं विकार, लेकिन इन्हें मैंने किया नहीं, ज्ञानीका ऐसा सचेतन होता है। मैं हूं शक्तिमात्र, स्वभावमात्र, तो स्वभावसे, शक्तिसे स्वयं जो कुछ बना वह है मेरा कार्य। तो ज्ञानी पुरुषको ज्ञानके

अतिरिक्त अन्य भावोंमें अथवा पर पदार्थ में करने की बुद्धि नहीं होती। इसी प्रकार ज्ञानी पुरुषके कर्म-फलके भोगने की भी बुद्धि नहीं होती। जैसे उसकी शुद्ध शक्ति में, केवल शक्तिमें निरपेक्षतया यह सामर्थ्य नहीं है कि मैं विकारोंको करलू, इसी प्रकार मेरो शुद्ध शक्तिमें, स्वभावमें यह सामर्थ्य नहीं है कि मैं क्षोभको भोगलू, पर जैसे विकार आते हैं और मेरी भूमिका यह आत्मा बनती है ऐसे ही ये सुख दुःखके भाव आते हैं और मेरी भूमिका यह आत्मा बन जाती है। ज्ञानी पुरुषने अपने आपके अन्तः ऐसा प्रकाश पाया है कि ये सारे औपाधिक भाव मेरे लिए बोझ लगते हैं और उनके भोगने की भीतर बुद्धि नहीं जगती है, तो ऐसी चेतना जहां नहीं है और कर्मफल में भोगने की बुद्धि चल रही है-मैं भोगता हूं, मैं कैसा महान हूं, मुझे कितना आराम है, कैसा सुख है, कैसा मेरा महत्त्व है, मेरी कैसी इज्जत है, इस प्रकार से अपने को परिणमन रूप भोगने का परिणाम मिथ्या दृष्टि जीव के होता है।

सम्यक्त्व और ज्ञानचेतनाकी शुद्धोपलब्धिके साथ अविनाभाविका परखिये २२७ वें छन्दके एक प्रवचनांशमें-उक्त विवेचनका सारांश दूसरा यह भी है कि जब तक आत्माकी शुद्धोपलब्धि है तब तक सम्यक्त्व है और तब तक ही ज्ञानचेतना है। सम्यक्त्व हाने पर भी कभी किसी भूमिकामें इसका सम्यक्त्व नष्ट हो जाता है। मिथ्यात्वमें आ जाता है। तो उस जोवके और उस ही भवमें सम्यक्त्व उत्पन्न होनेपर उसके ज्ञानचेतना नहीं रहती। सम्यक्त्व छूटा, इसकी पहिचान है कि शुद्ध की उपलब्धि नहीं रही। शुद्ध की उपलब्धि दो प्रकार से है-एक प्रतीतिके रूपसे, एक उपयोगके रूपमें। तो प्रतीति के रूपसे भी शुद्धकी उपलब्धि न रही। मैं आत्मा सबसे निराला केवल एक शुद्ध चैतन्यस्वरूप हूं, इस प्रकार की प्रतीति न रहे तो वहां शुद्धोपलब्धि नहीं रहती, और ऐसी शुद्धोपलब्धि होने पर भी उपयोगमें ९ पदार्थ आये या अन्य कुछ आये तो ऐसी स्थितिमें भी उपयोगमें शुद्धकी उपलब्धि नहीं है, फिर भी उसकी प्रतीतिमें शुद्ध की उपलब्धि है और भान भी उसे अपने आपको सबसे विविक्त चैतन्यस्वरूपको समझने का बना हुआ है। इस कारण से ज्ञानचेतन है, सम्यक्त्व है, लेकिन जहां प्रतीतिसे ऐसी शुद्धोपलब्धि न रहेगी वहां न सम्यक्त्व रहेगा न ज्ञान चेतना। यह दूसरा सारांश भी उक्त प्रकरणसे निकला।

संसारी प्राणियोंमें दुःखकी निरन्तरताका कारण पहिचानिये २५४ वें छन्दके एक प्रवचनांशमें-कहा जा रहा है कि संसारमें दुःख ही है सो इतना नहीं कि कभी कभी दुःख मिलें, बल्कि ये दुःख सदा बने रहा करते हैं। जब तक कर्म का सम्बन्ध है, कर्मका विपाक है तब तक किसी न किसी रूपमें दुःखका सबध रहता है और मोहनीय कर्मका जहां तक उदय है वहां तक तो दुःख है ही, कितने ही अंशमें हो। अब यों तो किसी के बुखार चढ़ा हो, मानो १०३ डि० बुखार चढ़ा है तब तो बुखार का पता अच्छी तरह से पड़ जाता है, पर यदि ८०, ८५ अथवा ९० डि० बुखार हो तब तो बुखार का पता नहीं पड़ता, परन्तु क्या इतने डिग्री बुखार होता नहीं है? होता तो जरूर है, पर उसका पता नहीं पड़ता, होता तो १, २, ३ आदिक डि० भी बुखार है, क्योंकि अगर १, २, ३ डि० बुखार कुछ होता ही नहीं तो ये ९८, ९९, १०० डि० आदिक कहां से हो जायें? तो जैसे कुछ न कुछ बुखार रहने पर भी यहां हम आप उस बुखार का मोटे रूपसे भान नहीं करते इसी प्रकार ये मोही जीव मोहजन्य दुःखसे पीड़ित भी होते रहते हैं फिर भी मोटे रूपसे उसका कुछ ध्यान नहीं देते। तो ये दुःख क्यों बन रहे हैं? इसका कारण यह है कि इन्द्रिय सम्बन्धी विषयोंमें इस जीवकी लालसा लगी हुई है, तृष्णा लगी हुई है। जिसको तृष्णा है उसका तो सदा दुःख है। जैसे प्यासके दुःखकी बात देखिये-थोड़ी प्यास लगी हो तो वह भी एक दुःख ही है और अधिक प्यास लगी हो तो वह भी एक दुःख ही है। भूखकी वेदनासे भी कठिन वेदना प्यास

की होती है। देखा होगा कि गर्मी के दिनोंमें थोड़ी थोड़ी देरमें प्यास लगती रहती है। अभी पानी पिया, पेट बिल्कुल भरा है फिर भी प्यास सताने लगती। प्यासकी वेदनाके चार विभाग हैं–१–मंदतर, २–मंद, ३–तीव्रतर, ४–तीव्र, जबकि भूख की वेदनाके केवल दो ही विभाग हैं–१- मंद और २–तीव्र। तो जैसे पेटमें जगह खाली न होने पर भी प्यासकी वेदना सताने लगती है, तो दु:ख तो वहां है ही, चाहे थोड़ा ही दु:ख हो। प्यासकी वेदनाका दु:ख एक बार मिटा लेनें पर भी जैसे कुछ न कुछ बना ही रहा करता है इसी प्रकार तृष्णाको वेदनाका दु:ख है। जिसे तृष्णा है वह निरन्तर दु:खी रहता है। तृष्णा करके चाहे कितना ही कुछ संग्रह करता जाय फिर भी वह कभी सन्तुष्ट नहीं हो पाता, निरन्तर दु:खी रहता है।

चारित्रमोह व दर्शनमोहके प्रभावोंकी विभिन्नता देखिये २६७ वें छन्दके एक प्रवचनांशमें–चारित्र मोहके उदयमें भी एक प्रबल पीड़ा होती है और कभी अनन्तानुबंधीका भी उदय रहे, उसमें भी इतनी व्यक्त प्रबल पीड़ा नहीं होती और कहो अनन्तानुबधी नहीं है और अप्रत्यास्थानावरण नहीं है तो उसमें व्यक्त ऐसी क्रीड़ायें देखी जा सकती हैं, जैसे द्रव्यलिंगी मिथ्यादृष्टि मुनि जिसकी क्रियायें बहुत साफ हैं, कषायें मन्द हैं, समितियोंमें तत्पर रहता है, प्राणियोंकी दया करता है, किसी को अपना विरोधी नहीं मानता, इतनी सब बातें होने पर भी अनन्तानुबंधी कषायके उदयमें अथवा मिथ्यात्वके उदयमें वह इस पर्यायसे भिन्न अन्त: विराजमान निज ज्ञायकस्वरूपको आत्मा रूपसे अनुभव नहीं कर पाता है और उसकी क्रिया ऊपर से देखो तो बड़ी मन्द मालूम हातो है। अगर वह कोल्हू में भी पेल दिया जाय तो भी उस शत्रुसे बदला लेनेका भाव नहीं करता। इतना होने पर भी उसके मिथ्यात्व माना गया है। अभिलाषा मानी गई है। वह कुछ चाह रहा है और उसकी अभिलाषा भीतर हो भीतर रह कर तीव्र होती रहती है। उसने समझ रखा है कि होती है कोई मुक्ति और उसे हमें चाहिए, बस जैसे लोग वैकुण्ठ, स्वर्ग, भोग–भूमि, सेठाई, राजापन आदिकी इच्छा करते हैं इसी ढंगसे इस द्रव्यलिंगी मिथ्यादृष्टिने भी मुक्तिकी इच्छा करली, जिसको अपना यथार्थ स्वरूप अनुभवमें तो नहीं आया, मगर पढ़ता है। ज्ञान भी बहुत है, तो उसे ज्ञानबलसे वे सब बातें समझमें आयी हैं कि सदा के लिए जन्म मरणके संकट छूट जाते हैं, वहां कर्म नहीं रहते हैं, अनन्त आनन्द रहता हैं इन सब बातोंका ज्ञान करके भी और मुक्तिकी चाह करके भी उसका वह अभिलाषी कहलाता है, उसको वास्तविक वैराग्य नहीं जगा है। और, एक ज्ञानी सम्यग्दृष्टि पुरुषके अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्य ख्यानावरण कम के उदयमें घरमें रहता है, व्यापार भी करता है, कमाना, खाना, पालना पोषना आदिक की सब बात करते हुए भी वह निरन्तर सदा ही उन से विरक्त रहता है। अन्त: ऐसी उसकी परिणति है तो बाह्यमें इतनी क्रियायें होने पर भी उसको निर–भिलाषी (अस्ताभिलाष) कहा जाता है।

इन्द्रियज ज्ञान असाह्य है, इसके अनेक कारण बताये गये हैं, उनमें से उदाहरणार्थ देखिये–एक कारण, २२४ वें छन्दके एक प्रवचनांशमें-यह इन्द्रियजज्ञान मिरगो रोगकी तरह क्षण भरमें बढ़ता है और क्षण भरमें ही घटता है। कभी मूर्छित हो जाता, कभी उल्टा बकता, इस तरह से यह इन्द्रियजज्ञान तो मूर्छित है जैसे जिसके मिरगीका रोग हो जाता है तो ऐसा पुरुष असाध्यरोग वाला कहलाता है, और प्राय: करके देखा गया है कि जिसके यह मिरगीका रोग बढ़ गया है वह अन्तमें किसी बड़ी घटना में मृत्युको प्राप्त होता है। जलमें डूब कर मरा हो, कहीं से गिर कर मरा हो, हाथ पैर टूटकर गुजरा हो, यों बड़ो विचित्र स्थिति हो जाती है और उसके वेगकी स्थिति देखो–पड़ जाता है, दांत कड़कड़ाता है, मुखसे राल बहती है। जिसकी हालत देखकर लोग शोकमग्न हो जाते हैं, जैसे वहां ज्ञान घट रहा है,

उसका ज्ञान बेहोश है, उसकी बुद्धि गुम्फित हो जाती है, जब मिरगी रोगका बेग न हो तब भी वह स्वस्थ नहीं रह पाता है। उसका बेग बढ़ता है, घटता है, मूर्छित होता है। इसी प्रकार यह इन्द्रियज-ज्ञान कभी घट गया, कभी बढ़ गया, यह आत्मा जब कभी क्रोधका बेग आता है तो इसके ज्ञानकी क्या हालत हो जाती है ? बुद्धि काम नहीं करती है, और कभी कुछ से कुछ बक जाता है और जितना चेहरा विकृत हो जाता है। तो कषायका जब बेग होता है तो वह क्या है ? इन्द्रियज्ञानका ही बेग है। यह सर्वविकारोंका प्रतिनिधि बनकर ज्ञानका नाच रंग बताया जा रहा है कि इस इन्द्रिय ज्ञानमें क्या क्या दोष आते हैं। जब क्रोध, मान, माया, लोभ आदिक कषायें हों तो यह बुद्धि भी बिगड़ जाती है। अपने आपकी इज्जत रखना और दूसरोंको तुच्छ मानना, क्या है, कुछ भी नहीं है, यद्यपि ऐसी प्रवृत्ति में इसकी ही खोंट जाहिर होता है, इसका ही नीचापन लोगोंको विदित होता है, पर इसकी उसे खबर नहीं रहती। उससे बढ़कर मूर्छा क्या कही जाय ? मूर्छित लोग यों ही नाली में गिर पड़ते हैं, पानी में गिर पड़ते हैं, किन्तु उनकी मूर्छित क्रियामें उन्हें अपनी बरबादी की भी सुध नहीं है, ऐसे ही समझिये कि जब इन्द्रियज ज्ञानमें अपने आपकी बरबादी को भी सुध नहीं रहती, तो इससे बढ़कर मूर्छा क्या कही जायगी ? यह इन्द्रियज ज्ञान मूर्छित है। जिस समय यह जीव मायाचारमें परिणत होता है तो मायाचारके वश होकर समझ रहा है कि मैं दूसरोंको उल्लू बना रहा हूं, मैं अपना बहुत बड़ा काम कर रहा हूं, लेकिन भीतरमें यह स्वयं उल्लू बन रहा है, यह स्वयं मूढ़ बन रहा है, अपने आपको बरबाद कर रहा है। तो इन्द्रियज्ञानके समय अपने आपकी बरबादीका ध्यान नहीं रहता। इसके अतिरिक्त और मूर्छा क्या कही जायगी ? इसी तरह लोभ कषायके बेगमें भी इस जीवकी विचित्र हालत हो जाती है। क्या से क्या नहीं यह कर डालता है ? इस स्थितिमें बड़ी बरबादी हो रही है इस जीवको, लेकिन उस बरबादीकी सुध भी यह कैसे कर सके ? इस इन्द्रियज्ञानके कारण इसके मूर्छाका बड़ा बेग आया हुआ है। यह इन्द्रियजज्ञान उस तरह से घटता और बढ़ता है जिस तरह से मिरगी रोग वाले का रोग घटता और बढ़ता है। अतः यह इन्द्रियजज्ञान मूर्छित है, बेहोश है, अपने आपके स्वामी की सुध नहीं रख सकता है, इन सबका स्वामी यह मैं मूलमें आत्माही हूं, लेकिन इसने अपना स्वामित्व बिगाड़ दिया है। इस इन्द्रियज ज्ञानने तो इस आत्माकी स्वच्छाको खतम कर दिया है। मत हो यह इन्द्रियजज्ञान, ऐसी भावना बने, मनकी प्रवृत्तिको रोकें, इन्द्रियकी प्रवृत्तिको रोकें। इन प्रवृत्तियोंसे, इन श्रमों के कारण यह जीव अनादिकालसे लेकर अब तक पिसता चला आया है। किसी भी क्षण इसने विश्राम नहीं पाया। चतुर्गतियोंमें इसका परिभ्रमण ही चलता रहा। जब यह जीव विग्रहगतिमें गया तो यद्यपि वहां द्रव्येन्द्रियां नहीं हैं मगर वहां जो अब इन्द्रियोंका क्षयोपशम बना है या आगे जिस गतिमें जायगा उसके अनुकूल जो कुछ उदय बना है उन सबके कारण यहां भीतर में एक सुलगती हुई आग की तरह इसका संस्कार बना रहता है, वहां भी तो इसे चैन न मिली। जब यह शरीर न रहा, अगला शरीर भी नहीं मिला उस बीच भी चैन न मिला। ऐसा यह इन्द्रियजज्ञान कितना मूर्छित है, यह आत्मा को बेहोशी में लाने वाला है। ऐसा जानकर कि मूर्छित निकृष्ट और कितने कितने ही दोष बताये गये हैं, इन सब दोषों का स्मरण करके यह भाव रखना चाहिए कि मुझे इस इन्द्रियजज्ञानसे छुट्टी मिले और वर्तमान में भी इन इन्द्रियज ज्ञानों से अपना कोई हित न समझना, इनसे मेरा हटाव अब भी बना रहे ऐसा भावना रखना चाहिए और इन्द्रियज ज्ञान के बल पर जो बाहरी परिचय हुआ करते हैं उन परिचयों को भी समाप्ति करने का अपने में ज्ञान पौरुष द्वार कोशिश होनी चाहिए।

इन्द्रियज ज्ञान अग्राह्य है, इसके अनेक कारण बताये हैं, इनमें से एक कारण, देखिये ३०४ वें छन्द के एक प्रवचनांशमें–इस प्रकार यहां इन्द्रियज्ञानके दोषोंके कथनमें सर्वप्रथम बताया गया था कि यह इन्द्रियज्ञान

दुःखरूप है। इसका उत्तर बताया गया था कि यह इन्द्रियज्ञान पराधीन है, संशय आदिक दोषों से सहित है, विरुद्ध है, अकल्याणरूप है, अपवित्र है, मूर्छित है और इतने पर भी इस ज्ञानकी रक्षा करने में कोई समर्थ नहीं । जब कर्मोंका तीव्र विपाक आता है तो यह स्पष्ट हो जाता है और इसके अतिरिक्त इस प्रकरणमें अन्तिम दोष बताया था कि यह इन्द्रियज्ञान अज्ञ है। अब इन सब दोषोंके कथनके बाद एक दोष और भी बतला रहे हैं कि यह ज्ञान खण्डज्ञान है। पदार्थ सम्पूर्ण कितना है, उस सम्पूर्ण पदार्थ में से कोई खण्ड खण्ड अंश को ही जानता है, यह हमारा ज्ञान इन्द्रियजन्य ज्ञान है इस कारण उसके ज्ञान को खण्ड ज्ञान, अधूराज्ञान कहते हैं। जैसे इस लोकमें किसी को अधूरा ज्ञान हो तो उसे लोग कहते हैं पल्लवग्राही अर्थात् एक पत्तमात्रको छू सकने वाला। कोई पुरुष यदि ४–६ विषयों में अपनी गति रख रहा हो और प्रत्येक विषयमें अधूरा ही है तो उसको जिन्दगी में विडम्बना रहती है। वह किसी कामका नहीं रह पाता। अरे किसी भी एक विद्यामें तो कुशल हो। जो कई विद्यायें जानता है, पर है सबमें अधूरापन तो जैसे उसके लिए वह एक जीवनमें शल्य जैसी बात होती है और शल्य ही नहीं, किन्तु एक खेदके लिए भी बात होती है तो अधूरापन यहां लोकमें भी अच्छा नहीं माना जाता। ऐसे ही यहां परमार्थ में देखिये–जो कोई एक विषयमें भी पूरा सा बन गया हो, वह भी अधूरा ही है, यहां पूरा कोईनहीं होता। जब तक केवलज्ञानका लाभ नहीं है। तो ऐसे अधूरे ज्ञानपर क्याअहंकार,क्या ममकार होना चाहिए ? तो यह ऐसा इन्द्रियज्ञान खण्डित ज्ञान है, भिन्न भिन्न ज्ञान है और प्रतिनियत है। जैसे पुद्गलका ज्ञान किया तो उसमें केवल रूपको जाना, यह हुआ खण्डज्ञान। केवल रसको जाना, यह हुआ खण्डित ज्ञान। ये खण्डित ज्ञान भी तो बहुत सारे एक साथ नहीं हो पाते हैं। ये भिन्न भिन्न हैं। बल्कि इन्द्रियज ज्ञानमे तो यह क्रम बताया गया है कि किसी एक विषय का उपयोग नहीं है। एक दार्शनिकने एक ऐसी शंका की कि यदि कोई तेलसे बनायी हुई लम्बी चौड़ी बेसन की पपड़िया खावे तो देखो उस समय उसे सभी इन्द्रियज्ञान एक साथ हो रहे हैं-अरे लम्बी चौड़ी पपड़िया पकड़े हुए हैं हाथमें तो यह स्पर्शइन्द्रियका ज्ञान, उसे खा रहे हैं तो उसका स्वाद भी मिल रहा है, उसकी गंध भी मिल रही है, क्योंकि वह गंध वाले तेलमें पकाई गई है और आंखोंसे उसे देख रहे ही हैं, अतः चक्षुइन्द्रियका ज्ञान हो ही रहा है। और उसके कानमें कुर्र कुर्र की जो आवाज आ रही है वह कर्ण–इन्द्रियका ज्ञान हो गया। तो देखलो उस एक कामके करते हुए में एक साथ सभी इन्द्रियोंका ज्ञान हो रहा है ना, फिर क्यों कहा जा रहा है कि यह इन्द्रियज्ञान इस प्रकार दिया गया है कि ठीक है, यों मोटे रूपसे तो ऐसा ही वहां प्रतीत होता है कि समस्त इन्द्रियों का ज्ञान एक साथ हो रहा है पर जरा और भी सूक्ष्मदृष्टिसे विचार करें तो पता पड़ जायगा कि वास्तवमें वे सब ज्ञान क्रम क्रम से हो रहे हैं। इसके लिए एक दृष्टान्त लीजिये–जैसे १०० पानके पत्तोंकी एक गिड्डी लगी हुई है, उसमें कोई अत्यन्त पेनी धार वाली सूई का बड़ा तेज प्रहार करे तो तुरन्त ही वे सारे पत्ते एक साथ छिद गये या क्रम से ? यों तो मोटे रूपसे दिखता है कि एक साथ ही तो छिदे पर ऐसी बात नहीं है। पहिले सूईकी नोक पहिले नम्बरके पत्तेमें पहुंची, फिर दूसरे तीसरे आदिमें। यों क्रम क्रमसे हो १०० वें पत्तेको सूई ने पार किया। तो जैसे वे सभी पत्ते क्रम क्रमसे छिदने पर भी मोटे रूपसे कह दिया जाता है कि सभी पत्ते एक साथ छिदे, इसी प्रकार ये इन्द्रियज्ञान क्रम क्रमसे होकर भी मोटे रूपसे कह दिये जाते हैं कि ये एक साथ हुए। तो यह इन्द्रियजज्ञान खण्डित ज्ञान है। खण्ड खण्डको जानता है और इतने पर भी यह भिन्न भिन्न जान पाता है। उन खण्ड खण्ड को भी एक साथ नहीं जान पाता।

कर्मबद्ध जीवके सर्वदेशप्रकम्पी दुःखका निर्णय–देखिये २२६ वें छन्द के एक प्रवचनांशमें–इतने उक्त विवेचनसे यहां तक यह निर्णय करके जो कर्मबद्ध जीव है उस जीवके जब तक कर्मोंका रसोदय चल

रहा है, विपाक अनुभाग चल रहा है तब तक समझिये कि उसके सम्पूर्ण प्रदेशोंमें कपा देने वाला दुःख है। देखिये-दुःखके स्वरूपकी बात इस ओर से भी समझ सकते हैं कि यह दुःख आत्माके प्रदेशोंको कपा देता है और यह बात बहुत कुछ स्पष्ट भी मालूम होती है कि जब दुःख होता है जीवके तो यह प्रदेशोंमें कम्पित हो जाता है। और, कभी कभी तो शरीरके ऊपर भी इसका दृश्य दिखाई देने लगता है। यही बात वैषयिक सुखमें मिलेगी, सो उसे दुःख ही समझें। जीव प्रदेशके सम्मानके साथ अविनाभाव है दुःख का याने जहां दुःख है वह प्रदेशचलात्मकता अवश्य है। सो यहां यह तो नियम नहीं है कि जहां प्रदेश-प्रकम्पन् हो वहां दुःख अवश्य , किन्तु यह नियम है कि जिस जीवके दुःख और वैषयिक सुख हो रहा है उसके नियमसे प्रदेशको प्रकम्पता हो रही है। फिर तो जैसेइन कर्मो के रसोदयमें प्रदेशप्रकम्पन होता है ऐसा प्रकम्पन वाला यहां दुःख पाया जा रहा है। तो प्रकम्पता को साथ लिए हुए यह दुःख है, जो कि लोग स्वयं अनुभव भी कर सकते हैं। भोतरमें व्याकुल है, कैसा व्याकुल है ? उस व्याकुलताका यदि हम स्वरूप समझना चाहें तो यह खोलते हुए पानीको निरखकर समझलो। जैसे कहते हैं कि यह पानी खोल रहा है, उस पानीमें खलबली मच जाती है, नीचेका पानी ऊपर तक पहुंच जाता है, उसी सिलसिले में पानी में छोटे छोटे बिन्दुओं का बड़ा तेज उबाल होता है। नीचेका पानी ऊपर जाता है और ऊपर का पानी नीचे जाता है। तो जैसे खोलते हुए जल में एक तेज कम्पन होता है इसी तरह जब यह जीव खोलता है, दुःखी होता है तो इसके ये प्रदेश कप जाते हैं। तो ऐसे दुःख हैं जीवोंको, यह बात असिद्ध नहीं, किन्तु भली भांति सिद्ध है।

ज्ञान और आनन्दकी उद्भूति देहादि परद्रव्योंसे नहीं हैं, किन्तु आत्मासे है, इसका दिग्दर्शन कीजिये ३५० वें छन्द के एक प्रवचनांशमें-ज्ञान और आनन्द आत्माके धर्म हैं, यह बात भली भांति सिद्ध है, क्योंकि इनमें गुणका लक्षण पाया जा रहा है। गुण कहते हैं-गुण्यते भिद्यते अनयन स गुणः, एक गुण अखण्ड सत् जिसके द्वारा भेदा जाय उसे कहते हैं गुण। भेदनेका अर्थ यह है कि वस्तु तो एक अखण्ड है, पर उसका जब हम प्रतिबोध करने के लिए कुछ समझायेंगे तो उसमें कुछ क्रम भेद करके ही समझायेंगे। जैसे आत्मा जो है एक ज्ञायकस्वभाव, जिसे शब्दों द्वारा कहा नहीं जा सकता, ज्ञायक शब्द द्वारा भी वास्तवमें कहा नहीं जा सकता और कुछ कहना तो चाहा, रख दिया रूढ़िमें इस शब्दको कि यह है आत्माका वाचक, क्यों नहीं कहा जा सकता वचनोंसे कि जितने भी वचन होते हैं वे एक अर्थ को लिए हुए होते हैं। शब्दों में सर्वज्ञदेवको बताने का सामर्थ्य नहीं है, ज्ञायक कहा तो उसका अर्थ जानने वाला हो तो रहा और जानन एक गुण रहा तो शब्द वस्तुका प्रतिपादन नहीं कर सकता, यह सब व्यवहार से ही प्रतिपादन होता है। खैर उस सद्भूत व्यवहार से भी प्रतिपादन चला तो वहां भी शक्तियों का, ज्ञानोंका भेद करके वस्तुकी बात बतायी गई तो जो भेद करके कहा जाय उसका नाम गुण है, किन्तु ऐसा भेद कि द्रव्यके समान शाश्वत हो और अनादि अनन्त हो उसे कहते हैं गुण तो ज्ञान और आनन्द आत्माके धर्म हैं। गुण है एक वह चिद्द्रव्य, और आनन्द द्वारा विभक्त करके बताया गया है, इसकारण से ज्ञान और आनन्द आत्माके धर्म हैं और इसी कारण जिस किसी भी अवस्थामें कोई जीव हो उसका जो भी ज्ञान और आनन्द जगता है सो देह और इन्द्रियके बिना ही जग रहा है। चाहे संसारी जीव हों, देव हों, मनुष्य हों उन्हें भी जो ज्ञान जग रहा है वह शरीर और इन्द्रियके बिना जग रहा है। हमें इस ओर दृष्टिनहीं करना है कि इनके निमित्त बिना जग रहा है। अरे इन्द्रियपूर्वक जग रहा है उसका अर्थ है कि निमित्तके बिना जग रहा है। यह अर्थ कैसे निकला ? निमित्त पूर्वक हो रहा है, इसके मायने यह निकला कि निमित्तभूत पदार्थ का द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव स्वीकार किए बिना हो रहा है। जैसे घड़ा बन रहा है उस घड़ेके बननेमें निमित्त वह कुम्हार है, दंड चक्रादिक हैं, मगर घड़े में जो निस्पन्न हो

रहा है वह दंड, चक्रादिकसे रहित होता हुआ बन रहा है, अर्थात् उस मिट्टीमें न कुम्हार घुसा है न दंड चक्रादिक। तो देह और इन्द्रिय निमित्त हो जाने में भी यह बात है कि वहां जो ज्ञानविकास है, जो आनन्दविकास है वह तो केवल आत्माके उपादानसे अर्थात् अन्यके उपादान बिना हुई है। तब समझना चाहिए कि ज्ञान और आनन्द आत्माके धर्म ही हैं, और जब धर्म है तो सिद्ध हो गया कि ज्ञान और आनन्द के लिए किसी के अपेक्षाकी आवश्यकता नहीं है।

कर्मफलके दूर होने पर आत्माके विकारोंका व्यय हो जाता है, इसका दिग्दर्शन कीजिये ३६५ वें छन्द के एक प्रवचनांशमें—जब कर्ममल दूर हो जाता है तो आत्माके विकारों की भी क्षति हो जाती है। विकार सहेतुक भाव हैं, कर्मउपाधिका निमित्त पाकर होने वाले भाव हैं, इस कारण कर्ममल दूर होने पर वे विकार भी दूर हो जाते हैं। ये विकार कर्मजभाव कहे गये हैं। यद्यपि रागादिकभाव आत्माके परिणमन हैं लेकिन जिनके साथ अन्वय व्यतिरेक रखा जाय कि जिसके होनेपर हो तो विकार हों और जिसकेन होने पर न हों तो उसे ही मुक्त होना कहा जाता। जैसे सनीमाके पर्दे पर जो फिलमका अक्स पड़ा है तो उस अक्स की उत्पत्ति किससे कही जायगी ? क्या पर्दे से अथवा क्या फिलमसे ? बात वहां यह है कि जो चित्रण हुआ, जो कि लोगोंका दिख रहा है, वह फिलममें तो है नहीं, तिस पर भी अन्वय व्यतिरेक फिलमके साथ है। फिलमके सचेष्ट होने पर ही अक्स आता है और फिलमके हटने पर हट जाता है। तब उसे फिलमसे उत्पन्न हुआ कहा जायगा। ऐसे ही यहां देखो-ये रागादिक भाव उत्पन्न हो रहे हैं जीव में लेकिन अन्वय व्यतिरेक इनका कर्मों के साथ है कर्मविपाक होने पर ही ये होते हैं, न होने पर नहीं होते। तो ये कर्मजभाव हैं और इसी कारण कादाचित्क हैं, क्योंकि इनकी निष्पत्ति का निमित्त अन्य पदार्थ है। यदि वही निमित्त हो और वही उपादान हो तब तो वे भाव सदा रह सकेंगे, लेकिन ऐसा तो नहीं है। निमित्त कर्मविपाक हैं, इस कारण कादाचित्क हैं और वे पर्यायमात्र हैं, इन्द्रजाल हैं, अध्रुवतत्त्व हैं, इस कारण कर्म मल के दूर होने पर इस आत्मा के विकारों की भी क्षति हो जाती है।

(२८७-२८८) पञ्चाध्यायी प्रवचन ११, १२ भाग

इसमें पंचाध्यायी ग्रन्थराज उत्तरार्द्ध के ३७१ वें श्लोकसे ८२२ वें श्लोक तक पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराजके प्रवचन हैं। सम्यग्दृष्टि पुरुषको इन्द्रियज सुखमें और इन्द्रियज ज्ञानसे विरक्ति रहती है इसका संदर्शन कीजिये ३७१ वें श्लोकके एक प्रवचनांशमें—सम्यग्दृष्टि ज्ञानी पुरुष अपने आत्माका दर्शी है ऐसा यह पुरुष सम्यग्दृष्टि वैषयिक सुखोंमें और वैषयिक ज्ञानमें राग और द्वेषको छोड़े (छोड़ता है) छोड़े, ऐसी यहां विधिरूप क्रिया कही है, लेकिन जिनके प्रति भक्ति उमड़ती है उसे भी आशीर्वादात्मक शब्दोंमें भक्त लोग कह बैठते हैं, आशीर्वाद दें, जयवन्त करें। इस तरह के आशीर्वादको कोई कहे कि इसे छोटे लोग या बड़े लोग ही करते हैं, सो बात नहीं। यह तो अनुरागवश होता है। जैसे कहते हैं कि सिद्ध-प्रभु जयवन्त रहो—हम न कहें तो क्या उनका जयवन्तपना मिट जायगा ? नहीं मिटेगा। लेकिन जब भक्ति बढ़ती है तो ऐसी ध्वनि निकलती है कि प्रभो तुम्हारे ऐसे आनन्दकी दशा शाश्वत रहे। तो इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि पुरुष पर ये ग्रन्थकार भी अनुरक्त हो रहे हैं, क्योंकि सम्यक्त्व पदकी प्राप्ति अपने आपके उस शुद्ध अन्तस्तत्त्वका दर्शन होना, यह कोई साधारण बात नहीं है। संसार संकटोंको समाप्त कर देने वाली बात है। तो उस पर यह ग्रन्थकार अनुरक्त है। तो कहता है कि रागद्वेषको छोड़ता है? किसके प्रति छोड़ना है ? वैषयिक सुखके प्रति, वैषयिक ज्ञानके प्रति न राग करना है न द्वेष करना है। देखिये इन वैषयिक ज्ञान व सुख की बड़ी लम्बी चर्चा इससे पहिले की गई है कि ये वैषयिक सुख

दुःखरूप हैं, पराधीन हैं, ये निकृष्ट हैं, इनका पाना कठिन है। यों कितनी ही बातें कही गई हैं। इतनी बात यदि कोई दूसरे को कह दे तो सदा के लिए तांता टूट जायगा, मित्रता खतम हो जायगी, लेकिन यहां वैषयिक सुखकी ज्ञानकी इतनी बात सुनकर भी वहां से चित्त न हटाया तो यह कितना एक मोहांधकारका विलास है। तो ये वैषयिक सुख और वैषयिक ज्ञानोंसे सम्यग्दृष्टिजन उदासीन हो जाते हैं, इस बातका वर्णन इस गाथामें किया गया है।

दर्शनमोह के उदय और अनुदयमें कैसा आत्मप्रभाव होता है इसका दिग्दर्शन कीजिये ३८४ वें छन्दके प्रवचनांशमें–जैसे किसी पुरुषने मदिरा या धतूरा पी लिया है तो जब उसका विपाक आता है अर्थात् उसके विषैले अनुभागका विपाक आता है तो उस समय पुरुष मूर्छित हो जाता है और जब उसका नशा उतर जाता है, उसकी शक्ति अस्तंगत हो जाती है तो वही पुरुष सुधमें (होशमें) आ जाता है। तो यहां इस दृष्टान्तमें यह बात जानना है कि कैसा निमित्त नैमित्तिक भाव है कि मद्यपान अथवा धतूरे के भक्षण से ज्ञान भी मूर्छित हो जाता है। कहां तो ज्ञान अमूर्तिक है और वह मद्यपानसे मूर्छित हो गया। यहां यह दृष्टान्त बताया जा रहा है कि जैसे धतूरा खाने से अथवा मद्यपान करनेसे जब उसका अनुभाग विपाक में आता है तो उस समय मनुष्य मूर्छित हो जाता है और जब वह विपाक समाप्त हो जाता है तब वह मूर्छा रहित हो जाता है। तो मद्यपान अथवा धतूरे के भक्षण ने उसके सर्वांगने ज्ञानको मूर्छित नहीं किया, पर ऐसा निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है कि उसका निमित्त पाकर जो ज्ञानके साधन हैं इन्द्रिय और मन, उनमें बिगाड़ होता है, और इन्द्रिय मनमें बिगाड़ होने के कारण फिर ज्ञानमें बेहोशी आती है। यद्यपि दृष्टान्त ऐसे ही सीधे दिये जाते हैं कि देखो धतूरे का भक्षण किया तो उससे ज्ञान बेहोश हो गया। हो तो गया बेहोश और उसका वह एक कारण भी हुआ, परन्तु किस विधिसे ज्ञान बेहोश हुआ कि उसका निमित्त पाकर यहां इन्द्रियमें अन्तःकरणमें असर हुआ और उस असरसे यह ज्ञान मूर्छित हुआ, और जब उस धतूरे का विष असंगत हो जाता है, शक्ति क्षीण हो जाती है, जब वह निवृत्त हो जाता है तो वह पुरुष मूर्छारहित हो जाता है।

सम्यक्त्वकी पहिचानके जितने भी लक्षण कह सकते हैं वे सब परिचायक मात्र हैं, सम्यक्त्व तो निर्विकल्प है, इसका दिग्दर्शन कीजिये ३८८ वें श्लोकके एक प्रवचनांशमें–जिस प्रकार रोगीको निरोगता जानना बहुत कठिन है, भला किसी निरोग पुरुष की उस निरोगता का साक्षात् दर्शन करके तो बताइये–जैसे यह शरीर साक्षात् दिखता है ऐसे ही यह निरोगता भी साक्षात् दिखने वाली चीज है क्या? और, अगर कोई निरोगताको बतावेगा तो समझिये कि वह मन, वचन, कायकी चेष्टाओंमें उत्साह बनाये हुए, इस को देखकर बतावेगा कि यह नीरोग है, क्योंकि जो रोगी होता है उसका मन भी कुन्द रहता है, वचन भी उसके शिथिल रहते हैं और शरीर भी उसका शिथिल रहता है, उससे पहिचाना जाता है कि यह पुरुष निरोग नहीं है रोगी है। तो निरोगता का साक्षात् लक्षण भी कोई बता नहीं सकता। अगर कोई बतायेगा तो मन, वचन, काय की चेष्टाओं से बतायेगा। तो जैसे निरोगता सीधे ज्ञान में नहीं आती, वह तो मन, वचन, कायकी स्वच्छ प्रबल चेष्टाओंसे विदित होती है इसी प्रकार सम्यक्त्व परिचयका सीधा कोई लक्षण विदित न होगा, किन्तु वह ज्ञानकी विशुद्ध परिणति द्वारा लक्ष्य में लाया जाता है।

ज्ञानातिरिक्त अन्य आत्मगुणोंको अनाकार कहने के कारण की जिज्ञासा, पढ़िये ३६३ वें श्लोकके प्रवचनमें और उसका उत्तर प्रवचन पुस्तकके ३६४ वें श्लोकके प्रवचनमें देख सकेंगे–अब यहां शंकाकार कह रहा कि सत् सामान्य हो वह भी तो विशेष की तरह वास्तविक है, प्रकरण के अनुसार यहां सत् सामान्य का अर्थ ले

लीजिये, ज्ञानको छोड़कर अनन्त धर्म, क्योंकि वे केवल सत्‌रूप हैं, चहल पहल करने वाले नहीं हैं, जानने समझने वाले नहीं हैं, अर्थात् जहां चहल पहल नहीं उसमें वहां विशेपता क्या आयगी,? विशेपता तो ज्ञानमें आती है। तो यहां सत् सामान्यको कह लीजिये ज्ञानातिरिक्त शेप धर्म और विशेषको कह लीजिये ज्ञानधर्म। तो शंकाकार यहां वह रहा है कि सत् सामान्य भी तो विशेपकी तरह वास्तविक है। आत्मामें जैसे ज्ञानगुण है उसी प्रकार अन्य पदार्थ भी हैं, फिर उनमें से किसी को अनाकार कहना और किसी को साकार कहना भी कठिन हो जाता है। शंकाकार की शंका का आशय इतना ही है कि जैसे ज्ञान धर्म न हो आत्मामें तो आत्माका सत्त्व न रहेग, इसी तरह शेप अनन्त धर्म भी ऐसे हैं जो कि वास्तविक सत्त्वके सूचक हैं, उनमें से यदि कोई न रहेगा तो आत्माका सत्त्व न रहेगा। जैसे मान लो-आत्मा में एक अमूर्तत्व गुण , भले ही वह साधारण असाधारण है, पर है तो सही। जरा ऐसा सोच कि आत्मामें सारे गुण तो मौजूद हों और एक अमूर्तपना हट जाय तो वे गुण सब भद भद गिरकर खतम हो जायेंगे। इसी तरह साधारण भी, असाधारण भी सभी धर्म इसमें वास्तविक हैं, फिर विशेष को तो साकार कह रहे हो, ज्ञानको तो साकार बता दिया और शेष धर्मों को अनाकार बता दिया, यह अन्तर कैसे आ सकता है सो बताओ ?

प्रशम स्वरूप अवधारित कीजिये जो कि सम्यक्त्वसहित होने पर सम्यक्त्वका चिन्ह कहा गया है, पढ़िये ४३७ वें श्लोकके प्रवचनांशमें-अब इस श्लोकमें प्रशम गुण से जो व्यक्त काम होता है उसको बतानेके लिए प्रशमका एक दूसरा चिन्ह कहा जा रहा है। जिन जोवोंने अपने साथ कोई नया अपराध किया हो या बारबार अपराध किया हो अथवा किसी भी समय अपराध किया हो तो भी उन जीवोंके सम्बन्धमें उन के मारने आदिक विकारोंके लिए बुद्धि न जगना सो प्रशम नामका गुण है। जिस जीवको सर्व जीवोंके उस शुद्ध तत्त्वका स्वरूपका बोध हो गया है सभी जीव प्रभुके समान शुद्ध चैतन्यस्वरूप हैं अर्थात् चैत-न्यस्वभाव वाले हैं, इस द्रव्यमें केवल एक सहज ज्ञानस्वरूप ही भरा हुआ है, ऐसे इन सब जीवोंको जिसने निरखा है ऐसा सम्यग्दृष्टि ज्ञानी पुरुष कदाचित् किसी कषायवान जीवके द्वारा उपद्रुत भी हो जाय तो भी उसके बध आदिक का भाव चित्तमें नहीं लाता है और न यह भी बात चित्तमें लाता है कि यह बरबाद हो जाय, नष्ट हो जाय। किसी भी प्रकार की दुष्प्रक्रियाका भाव नहीं लाता है तो यह उसका एक प्रशम गुण है। इस प्रशम गुणके प्रसाद से ये ज्ञानी सम्यग्दृष्टि जन तत्काल भी सुखी रहते हैं और आगामी कालमें भी सुखी रहते हैं और यह भी है प्रशमका बाह्य चिन्ह कि कोई मनुष्य बार-बार अपराध करे तब भी उन जीवोंके बध आदिकके विकार की बुद्धि न जगे उसे कहते हैं प्रशम गुण। कोई किसी का कुछ न कर सके और शान्त रह जाय यों तो वह प्रशम नहीं कहलाता, किन्तु उसके बध आदिक बरबादी के लिए भाव न उठे उसका नाम प्रशम गुण कहलाता है।

स्वानुकम्पाके अनुरोधका दिग्दर्शन कीजिये, ४५१ वें श्लोकके एक प्रवचनांशमें-रागादिक अशुद्ध भाव यदि हैं तब तो बंध होता है और न रहें तो बन्ध नहीं होता। बन्धन, परतंत्रता ये सब दिख ही तो रहे हैं। तो हमारा बन्धन यदि दृढ़ नहीं है, यदि बन्धनसे हटकर केवल अपने स्वातन्त्र्यमें आनेकी भावना हुई है, अपने आप पर कुछ कृपा हो गयी है तो उन रागादिक अशुद्ध भावोंका, अशुद्ध भावोंका लगाव न रखिये-रागरहित जो एक ज्ञानस्वभाव है उस ज्ञानस्वभावकी दृष्टि करें। इस स्वानुकम्पाके न होने से ऐसे कर्मोंका बन्ध होता है जिसके कारण अन्य प्राणियोंसे बैर होता है और उस बैर व्यवहारमें संक्-लेश विडम्बना बनती है। तो अपने आपमें ही यदि अपनी सम्हाल करली जाय तो सारी सम्हाल अपने आप हो जाती है। और एक अपनी सम्हाल रखी न जाय और बाहरी पदार्थोंकी सम्हाल रखी तो न

सकता। जो पदार्थ जिस स्वरूप है वह पदार्थ उस स्वरूप से विपरीत हो ही नहीं सकता है, ऐसा निश्चय करने वाले जीव को भय किस कारण से होगा ? यों इस सम्यग्दृष्टि जीवको जिसे इहलोकका भय न था वह जानता था कि यह मैं पूरा यही ज्योतिस्वरूप हूं, इसी में मेरा सब कुछ वैभव है, इसी में मेरा सर्वस्व है। इसको कौन छीन सकता है ? इसमें कोई प्रकार का भय नहीं है, ऐसा जानकर इहलोक भय से मुक्त था, इसी प्रकार परलोक भी वही चैतन्यस्वरूपमात्र है। इस स्वरूप में कहीं कोई डर नहीं है। कोई परका प्रवेश नहीं है। ऐसा जानने वाले इस तत्त्वज्ञको परलोकका भय नहीं होता।

एक प्रश्न हुआ कि प्रयोजन के विना तो भेदज्ञानी भी प्रवृत्ति नहीं करता, फिर वृत क्रियाका आवरण करने वाले ज्ञानीको अनाकांक्ष क्यों कहा जाता है ? इसका समाधान देखिये ४६१ वें श्लोकके प्रवचनमें—उक्त इतनी बड़ी शंका का समाधान इस श्लोकमें दिया जा रहा है। शंकाकार की उक्त शंका असंगत है, क्योंकि पहिले यह भली भांति सिद्ध कर दिया गया कि इच्छा के बिना भी क्रिया हो सकती है, फिर शुभ क्रियाओंमें और अशुभ क्रियाओंमें विशेषता क्या रही ? इस प्रश्न का अवकाश कहां रहा ? यदि अभिलाषा है—दर्शनमोहकृत मलिनता है तो वहां वह शुभक्रिया बन्धफल वाली होगी। तो दर्शनामोहकृत भोग अभिलाषा इसके नहीं है तो वह क्रिया बन्धफलरहित होती है। जिस मनुष्यको बन्धफल की चाह नहीं होती उसके भी क्रिया देखी जाती है और ऐसी बात इस श्लोकमें भी देखने को आ रही है कि इच्छा नहीं है तब भी उसको करना पड़ता है। कैदी चक्की पीसता है तो क्या वह अपने मनसे पीसता है ? अनेक ऐसे दृष्टान्त मिलेंगे कि जिनमें इच्छा न होते हुए भी क्रिया करनी पड़ती है। तो ऐसी क्रिया को न शुभ कहेंगे न अशुभ कहेंगे। वह तो हो रही है। जो शुभ परिणाम से किया जाय वह तो शुभ क्रिया होती है और जो अशुभ परिणामसे किया जाय वह अशुभ क्रिया है। पर जहां क्रिया करने की इच्छा ही नहीं है वहां क्रियाको शुभ या अशुभ क्या कहा जा सकता है ? तो दर्शनमोहका अनुदय होने पर, अभिलाषाओंका अभाव होने पर, फिर भी जो चारित्रमोहकृत क्रिया होती है वह संसार बन्धफल वाली नहीं होती है।

निर्विचिकित्सा अंगके स्थलमें विचिकित्साका मार्मिक भाव देखिये ५७८ वें श्लोकके एक प्रवचनांशमें इस श्लोकमें विचिकित्साका ऐसा अनूठा लक्षण बताया है कि जिससे विचिकित्सा का जितना विस्तार है उसका आधार समझा जाय। विचिकित्सा का अर्थ है अपने में अधिक गुण समझकर अपनी प्रशंसा करना और दूसरे को हीनता सिद्ध करने की बुद्धि रखना इसको विचिकित्सा कहते हैं। प्रसिद्ध तो विचिकित्साका अर्थ ग्लानि है। ग्लानि भी कब होती है ? जब कभी अपने आपको अधिक गुणी समझा जा रहा हो और दूसरे को हीन समझा जा रहा हो। कोई रोगी पुरुष है उससे ग्लानि की जा रही है तो वासनामें यह जान रहा है कि मैं ऐसा साफ हूं और दूसरे की उच्चता ध्यानमें नहीं रहती है ऐसी स्थितिमें विचिकित्सा होती है। विचिकित्सा के ढंग की बात कहां तक बतायी जाय ? किसी पुरुषको गुरुमें विचिकित्सा हो सकता है। जो गुरुकी सेवा करने में अपनी ग्लानि समझे। अरे गुरुवों की बात तो दूर रहो, भगवानकी पूजा करते हुए भी मोहीजनोंके चित्तमें यह वासना में बैठा हुआ है कि बड़े हैं तो हम हैं और हम इन भगवानको बहका लेते हैं, इनमें कोई चतुराई नहीं है। हम तो बड़े चतुर हैं तभी तो देखो हम इनकी भक्ति करके महावीर जी में या और किसी क्षेत्रमें जाकर मुकदमोंकी जीतकर लेते या सम्पत्ति बढ़ा लेते हैं इस तरह की वासना उनकी वहां भी नहीं टूटती है। कुछ विचिकित्साकी परिणतिकी बात एक अनूठी ही भीतरमें समायी है मोही जीवोंके। कहने का अर्थ यह है कि ग्लानिका

आधार भी अपने को गुणाधिक समझना है। जिसके चित्तमें यह बात आयी कि हमें तो पद पदपर अपनी नम्रता कराना है, अच्छे काम करते हुए। बुरे काम करके नीचे गिरना तो इस जीवकी अनादि कालकी टेक है। किन्तु अपने गुणोत्कर्ष के लिए हमें अपनी नम्रता करना है, इस तरह का कोई भाव रखता है तो वह विचिकित्सा दोषको दूर कर सकने वाला होता है। तो यहां विचिकित्सा का स्वरूप कहा गया है कि अपने को अधिक गुणी समझकर अपनी प्रशंसा करना। प्रशंसा वचनों से ही नहीं की जाती, किन्तु कायकी चेष्टाओंसे भी होती है। अपने में अपनी श्लाघा और दूसरोंके अपकर्षमें बुद्धि जाना, इसका नाम है विचिकित्सा।

तत्त्वज्ञानीकी अमूढ़ताकी एक झलक देखिये ५६१ वें श्लोकके प्रवचनमें–अनेक कुदृष्टिजनों ने जिन्होंने आत्माके सहजस्वरूपका अनुमोदन नहीं कर पाया और जिस किसी भी परतत्त्वमें हित मान लिया ऐसे कुदृष्टिजनों द्वारा सूक्ष्म,अन्तरित दूरवर्ती पदार्थों के सम्बन्धमें भी कुछ उपदेश हुआ, लेकिन जिनका मूल ही भ्रमपूर्ण है उनकी अनेक उक्तियां किस तरह समीचीनताको लिए हुए हो सकती हैं ? तो कुधीजनों द्वारा सूक्ष्म–अन्तरित दूरवर्ती पदार्थों को भी किसी रूप बताया गया है, लेकिन उनमें भी यह सम्यग्ज्ञानी जीव मोहित नहीं होता। जो थोड़ी सी सत्य जानकारी रखता हो, वह उन कथनोंमें मुग्ध न होगा। सूक्ष्म पदार्थों के सम्बन्धमें अतत्वज्ञ पुरुषने वर्णन किया है–जैसे शक्त्यांश का ही परमाणु मान लेना। आजकल के वैज्ञानिक लोग शक्त्यात्यांशको अणु मान रहे हैं और जिसे अणु समझ रहे हैं और जिससे काम ले रहे हैं वह स्कन्ध है। कहां तो अनेक परमाणुओंके पिण्डको अणु समझ लेना और कहां किसी केवल शक्ति को ही अणु मान लेना ये सन्देह तुला पर चलती हुई धारणाय, ये सूक्ष्म तत्त्व के बारे में विपरीत श्रद्धान ही तो हैं अथवा केवल सूक्ष्म तत्त्वों के कारण क्या हैं ? किससे भिन्न हैं, किससे अभिन्न हैं, इसका कुछ निर्णय न करके जैसा कुछ विकल्पमें आया बोल दिया, यह सूक्ष्म का विपरीत कथन है। अन्तरित राम, रावण आदिक हुए हैं और अनेक कथानक ऋषीसन्तोंने गढ़े हैं, वे अन्तरित के बारे में आख्यान हैं। उन्होंने बहुत सी असम्भव बातोंको भी कथानकके रूपमें गढ़ लिया है और जिन्हें यह कहकर छोड़ दिया गया है कि ईश्वर और उनके अवतारोंकी लीलायें हैं, उन कथनोंमें परस्पर विरोध भी जचता है। कभी कह दिया कि रावण बड़ा विद्वान था, तत्त्वज्ञ था, कुशल था तो कहीं ऐसा कह दिया कि वह तो राक्षस था, मांसभक्षी था इस तरह परस्पर विरुद्ध और असम्भव कथानक रचना यह सब तो विपरीत प्रतिपादन है, दूरवर्ती पदार्थो के सम्बन्धमें जैसे १४ भुवन हैं अथवा अनेक यत्र तत्र द्वीपोंको रचनायें बताना, इस तरह दूरवर्ती पदार्थों के सम्बन्धमें भी विपरीत प्रतिपादन है, इस सबको सुनकर सम्यग्दृष्टि जीव उन कथानकोंमें मुग्ध नहीं होता।

उपादान हेतुसे चारित्रकी क्षति व क्षति का निर्णय देखिये ६७६ वें श्लोकके एक प्रवचनांशमें–उन मुनि–राजोंके आत्मामें जैसी ताकत है, जैसी योग्यता है उसके अनुसार बात बनेगी। यदि उपादान प्रबल है तो वहां चारित्रका लाभ है, रागद्वेषका अभाव है, उपादान यदि कमजोर है तो वहां चारित्रका लाभ नहीं रहता और रागद्वेष आदिक भी उत्पन्न होते हैं। तो चारित्रका नाश होने में बाहरी पदार्थ कारण नहीं हैं। जैसे कोई मुनिराज आज ही या कभी भी दीक्षित हुआ हो तो उसके सामने स्त्री पुत्रादिक परिजन भी आ जायें तो उनमें उसका राग न जगेगा। हां यदि उस मुनिका ही आत्मा अज्ञानी बन जाय तो राग आयगा। तो बाहरी पदार्थ होने से कहीं रागादिक नहीं आ जाते, इसीतरह बाहरी पदार्थ कहीं रागादिक मिटा नहीं देते। भीतरमें ज्ञानप्रकाश जगे तो ये रागादिक दूर होंगे। तो आचार्य पर–मेष्ठी बाहरमें साधुवोंको आदेश देते हैं, पंचाचारोंका आचरण कराते हैं इससे कहीं उनके रागादिक न

हो जायेंगे। कहाँ आत्माकी सुध वहां समाप्त हो जायगी। वे अपने आत्माके ध्यानमें तत्पर रहा करते हैं। इस आत्माका यदि कोई वैरी है तो मोह रागद्वेषका सद्भाव ही वैरी है। जीव सब स्वतन्त्र हैं। सब जी सत्ता न्यारी न्यारी है। कोई जीव किसी का न साधक है न बाधक। अज्ञानमें यह मान रखा है कि ये लोग मेरे मित्र हैं, ये लोग मेरे विरोधी हैं। वस्तुतः इस जीवका कोई मित्र बन सकता न कोई शत्रु। इसका कारण यह है कि वस्तुका स्वरूप ही ऐसा है कि वह अपने उपादानके अनुसार अपनी परिणतियां करता है। हां उन परिणतियोंमें जो विषम परिणतियां हैं उनमें बाह्य पदार्थ निमित्त हो जाते हैं, परन्तु परिणति होगी अपने उपादानके अनुसार। तभी कहते हैं लोग कि कोई ज्ञानी पंडित हो और शत्रु हो तो भी भला है और कोई मित्र हो पर मूर्ख हो तो भी वह भला नहीं है। कारण क्या बताया है कि जो ज्ञानी पुरुष है वह शत्रुताकी भी बात करेगा तो भी अहित हो जाय, ऐसी बात न कर सकेगा। कषायके उदयमें भले ही थोड़ा क्रोधरूप प्रवृत्ति हो जाय मगर उसका अहित न करेगा, और जो मूर्ख पुरुष है वह चाहे दूसरेका हित सोचता हो, लेकिन अपनी मूर्खताके कारण उसकी कोई ऐसी प्रवृत्ति बनेगी कि उस दूसरेका अहित ही हो जायगा। तो अपने अपने उपादानके अनुसार अपना अपना भविष्य बनता है। तब यदि शान्ति चाहिए, अपने आपको आनन्द चाहिए तो अपने आत्माको विशुद्ध बनानेका प्रयत्न करें।

मुनिअवस्थामें सज्वलनकषायका उदय भले हो, किन्तु वह सम्यक्त्वका घात करनेमें समर्थ नहीं है, वह तो चारित्रविकासको कम करने में ही समर्थ है, इसका दिग्दर्शन करें ६८९ वें श्लोकके प्रवचनमें–उक्त विवेचनसे प्रधानतया यह सिद्ध किया गया है कि सज्वलनकषायका उदय शुद्धात्माके अनुभवमें अकिञ्चितकर है अर्थात् आत्मानुभवमें बाधा नहीं दे सकता है। यद्यपि यह बात ठीक है कि चारित्रमोहनीयका उदय अकिंचितकर है लेकिन सर्वथा अकिंचितकर हो सो बात नहीं है। हां चारित्र मोहका उदय दर्शनमोहके कार्य करने में असमर्थ है, पर चारित्र मोहके उदयमें जो कुछ कार्य होता है उस कार्य में तो वह समर्थ ही है। तो सज्वलन कषायका तीव्र उदय चारित्र में कुछ अंशोंमें दोष उत्पन्न करदे यह तो बाधा हो सकती है, पर शुद्ध आत्मतत्त्वमें बाधा नहीं आ सकता है। तब शंकाकारका यह कहना कि आचार्य महाराज जब साधुसंघको पंचाचारका आचरण कराते हैं तब उस ओर राग हो जाने से उनके शुद्धात्मा का अनुभव न होगा, यह कथन असंगत है।

आठ मूल गुणोंसे रहित मनुष्यके व्रत व सम्यक्त्वकी असंभवता ७२४ वें श्लोकके प्रवचनमें पढ़कर निश्चित कर फिर देखिये यह ७२५ वें श्लोकका प्रवचन–अष्टमूलगुण धारण किये बिना यह नामका भी श्रावक नहीं है–अष्टमूल गुण धारण किए बिना तो श्रावक नाम का भी नहीं कहा जा सकता। फिर अष्ट मूल गुणों से रहित पुरुष को पाक्षिक गूढ़ नैष्ठिक अथवा साधक आदि कुछ भी तो नहीं कहा जा सकता। पाक्षिक श्रावक उसे कहते हैं कि प्रतमारूपसे व्रत धारण न करे किन्तु जैनशासनका श्रद्धान हो, जैनशासनका पक्ष ग्रहण किए रहे, ऐसे सम्यग्दृष्टि अविरत पुरुष को पाक्षिक श्रावक कहते हैं। गूढ़ श्रावक उसे कहते हैं कि जो व्रतोंका अभ्यास कर रहा है, प्रकट नियम रूप कुछ नहीं लिया है ऐसा सदाचार पाक्षिक श्रावक गूढ़ श्रावक कहलाता है। जिसने प्रतिमारूप व्रत ग्रहण किया है उसे नैष्ठिक श्रावक कहते हैं, और जो मरणकाल आने पर सन्यासकी विधिपूर्वक चेष्टा कर रहा हो उसे साधक कहते हैं। तो ये चार प्रकार के मूल गुण बताये हैं, इन गुणोंको जो धारण नहीं करता उसे नाम मात्रका भी श्रावक नहीं कहा जा सकता। इस कारण श्रावक व्रत ग्रहण करने वाले पुरुषको अष्टमूलगुणको अवश्य ही धारण करना चाहिए।

बाह्यव्रत व कषायत्यागरूप अन्तर्व्रतमें यथार्थ आत्मकृपा है इसका दिग्दर्शन कीजिये ७५३ वें श्लोक के प्रवचनमें-व्रत दो तरह के होते हैं-(१) अंतरंगव्रत और (२) वहिरंगव्रत। याने भीतरी परिणामोंमें व्रत और बाहरमें जीवहिंसा न हो सके इस प्रकार का व्रत। तो प्राणियोंमें दया करना, किसी प्राणीके प्राणों का विनाश न होने देना, यह तो कहलाता है बाह्यव्रत और अंतः कषायें न होना, विषय कषायके परिणामका त्याग होना वह कहलाता है अंतरंगव्रत। तो अब यहां सोचिये कि अपने आपकी अपने आत्मा पर कृपा क्या कहलायगी ? भीतर विषय कषायोंके परिणाम न होना और शुद्ध ज्ञायकस्वरूप आत्मतत्त्वका अनुभव बनाना वह है आत्मापर सच्ची कृपा। तो अन्तर्व्रत आत्मापर सच्ची दया कहलाती है और अन्तर्व्रतके होते सन्ते बाह्य व्रत भी धर्म में सहयोगी बनता है। यदि केवल बाह्यव्रत ही हो और भीतर में विषय कषायोंका त्याग न हो वह व्रत नहीं कहलाता।

उपबृंहणगुणधारी लौकिक कार्योंमें अयत्नवान क्यों है, इसका दिग्दर्शन कीजिये ७८० वें श्लोक के प्रवचन में-उपबृंहणगुणधारी सम्यग्दृष्टि जीव लोकव्यवहारमें सब कुछ जानता है, पर वह सब बिना विकल्प किए, उसमें परिश्रम उठाये बिना यों ही जान लेता है। उन लौकिक बातोंसे आत्मामें कोई प्रेरणा नहीं करता है अर्थात् लौकिक वृत्तियोंसे उसकी आत्मा प्रेरित नहीं है, किन्तु परिस्थितिवश व्यवहार हो जाता है। इस संसार सम्बन्धी बातोंको प्राप्त करने के लिए यह ज्ञानी पुरुष पुरुषार्थपूर्वक प्रयत्न नहीं करता है, क्योंकि इस ज्ञानकी दृष्टि आत्मा की शक्तियोंके बढ़ाने में ही लग गई है। यह निर्णय किए हुए ज्ञानी पुरुष कि मेरे आत्माका उद्धार, अतुल आनन्द प्राप्त हो सकेगा तो अपने आपकी शक्तियों की वृद्धिसे प्राप्त हो सकेगा। आत्मशक्तिमें बाधा देने वाला है रागद्वेषमोहभाव। जहां आत्मामें किसी इष्ट विषयमें राग हुआ अथवा द्वेष हुआ वहां ही आत्मामें दुर्बलता आ जाती है और उस दुर्बलता में दर्शनज्ञान, चारित्र हीन हो जाते हैं, बस यही इस पर आपत्ति है और इसी आपत्तिके मारे यह संसारमें अब तक रुला चला आया है।

धर्मवत्सल ज्ञानी पुरुषकी प्रकृति देखिये ८०९ वें श्लोकके प्रवचनमें-जैसे किसी पुरुषके मन्त्र शस्त्र आदिक किसी भी प्रकार का बल हो तो उस समस्त बलके द्वारा पूज्य जनोंके उपसर्ग को दूर करने में समर्थ रहता है, लेकिन जिसके पास यन्त्र आदिकका सामर्थ्य भी न हो तो भी वह उन आदरणीय पुरुषों और साधनों के प्रति बाधा को सहने में समर्थ नहीं होता। यहां वात्सल्य की बात कही जा रही है। वात्सल्य का सम्बन्ध अन्तरंग भावना से है। जिसके हृदयमें वात्सल्य भरा हुआ है वह पुरुष अपनी सामर्थ्य भर पूज्य पुरुषों की आपदाओंका निवारण करता है और बाह्य सामर्थ्य न रहा हो तो भी वह बाधा को सहन नहीं कर सकता है। ऐसा वात्सल्यभावका उन ज्ञानी विवेकी पुरुषोंपर प्रभाव रहता है।

प्रभावनांगका मार्मिक विधान, पढ़िये ८१४ वें श्लोकके प्रवचनमें-धर्मकार्यका उत्कर्ष करना ही प्रभावना है। पापरूप अधर्ममें किञ्चितमात्र भी उत्साह और चिन्तन न रखना चाहिए, क्योंकि अधर्म का उत्कर्ष बढ़ाने से धर्म के पक्ष की हानि होती है और हिंसारूप अधम का उत्कर्ष होगा। वहां धर्म नहीं ठहर सकता। धर्म नाम है सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रका। जिस प्रकार सम्यक्त्व ज्ञान और चारित्रका उत्कर्ष हो और दूसरे लोग भी अपने सम्यक्त्व, गुण, चारित्र के उत्कर्ष के लिए यत्न कर सकें उसको प्रभावना अंग कहते हैं। सो प्रभावनामें रत्नत्रयरूप धर्म की उन्नति ही अभीष्ट है। अधर्म कार्य में उत्कर्ष तो क्या, चित्तमें विचार भी लाना चाहिए, ऐसे विशुद्ध अभिप्राय वाले सम्यग्दृष्टि जीवके प्रभावना अंग होता है।

(२९९-३००) पञ्चाध्यायी प्रवचन १३, १४ भाग

इस पंचाध्यायीके ८२३ वें श्लोकसे अन्तिम श्लोक तक पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराजके प्रवचन हैं। सम्यग्दृष्टिके मुख्य ज्ञानचेतना है, इसमें सर्व सद्गुणोंका पूरण है देखिये ८२४ वें श्लोकका प्रवचन-ज्ञानचेतनामें श्रद्धानादि सर्वगुणोंका पूरकत्व-श्रद्धान आदिक जो सम्यग्दृष्टिके गुण कहे गये हैं वे सब बाह्य पदार्थका उल्लेख करके कहे गये हैं, वस्तुतः जो सम्यग्दृष्टिका एक ज्ञानचेतन ही लक्षण है। ज्ञान-चेतनामें सर्वगुण गर्भित हो जाते हैं। अंगोंमें जो कुछ बत या गया है उनमें ज्ञानी के ज्ञानरूपसे चेतना ही चल रही है, यह बात दिखाई गयी है। इस तरह सम्यग्दृष्टिका कोई प्रधान गुण यदि कहा जाता है तो जैसे पहिले स्वानुभूति कहा था इसी तरह समझना चाहिए कि यह ज्ञानचेतना है, क्योंकि ज्ञानचेतना तो सम्यग्दृष्टि जीवके निरन्तर रहती है अर्थात् अपने आपको ज्ञानरूप हूं इस प्रकार की प्रतीति और इसका ही कर्तृत्व भोक्तृत्व सब इसी को लिए रहता है। ज्ञानचेतना ज्ञानीके निरन्तर रहती है और स्वानुभूति इस ज्ञानचेतनाका एक अनुभव वाला रूप है।

ज्ञानचेतनामें अन्य क्षायोपशमिक ज्ञानोंकी तरह विषय (अर्थ) संक्रमण नहीं है। ज्ञानचेतना का विषय सदा आत्मा ही होता है। इस प्रकरणको कारण सहित देखिये ८५३ वें श्लोकके प्रवचनांशमें-उक्त श्लोकमें बताया गया है कि सम्यग्दृष्टि जीवके ज्ञानचेतना की सदा उपलब्धि है। इस छन्दमें यह बतला रहे हैं कि इसका क्या कारण है कि सम्यग्दृष्टि जीवके ज्ञानचेतना सदा पायी जाता है। इसका कारण यह है कि सम्य-क्त्वके साथ अविनाभाव रूपसे होने वाली समीचीन ज्ञानचेतना सदा पायी जाती है। ज्ञानचेतना होने का कारण है स्वानुभूत्या वरणका क्षयोपशम। तो यह आत्मा सहज जिस स्वरूपमें है उस स्वरूपके ज्ञान होना, क्षयोपशम होना, उसका नाम है ज्ञानचेतना। लब्धिमें सहज आत्मतत्त्व भी पदार्थ है उसका आवरण करने वाले कर्मका क्षयोपशम हुआ तो इस सहज आत्मस्वरूपको जाननेकी लब्धि सदा रही। अब उपयोग की बात है कि जब उपयोग हुआ स्वात्मतत्त्व पर तो वहां सद्भूत होता है, उपयोग न हो तो परका परिचय होता है, लेकिन ज्ञानचेतनाकी लब्धि सम्यग्दृष्टिके सदा रहती है। यद्यपि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान उत्पत्तिकी दृष्टिसे एक ही काल है, जिस ही कालमें सम्यग्दर्शन होता है उस ही कालमें सम्यग्ज्ञान है, फिर भी इन दोनोंका कार्य कारण भाव है, याने सम्यग्दर्शनके होने पर ज्ञानमें सम्यक्पना आता है तो सम्यग्ज्ञान हुआ कार्य और सम्यग्दर्शन हुआ कारण। तो सम्यग्दर्शन के होने पर ही ज्ञान में सम्यकपना आया, इसका कारण यह है कि जिस समय मिथ्यात्वकर्मका उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम होता है उसी समय याने मिथ्यात्वके अभावके साथ ही स्वानुभूत्यावरण नामक मतिज्ञानावरणका क्षयोपशम हो ही जाता है। यही कारण है कि जिस कालमें सम्यक्त्व उत्पन्न होता है उस ही कालमें सम्यग्ज्ञान हो जाता है। सम्यक्त्व और सम्यग्ज्ञान के बाधक क्या हैं? सम्यक्त्व के बाधक तो हैं मिथ्यात्वकर्म, अथवा कहो अनन्तानुबन्धी चार कषायें-मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्प्रकृति और सम्यग्ज्ञान बाधक है स्वानुभूत्यावरण। तो दोनों ही कर्मोंका एक साथ व्यय होता है, इस कारण सम्यक्त्वकी और सम्यग्ज्ञानकी एक साथ उत्पत्ति होती है। सो जब तक सम्यक्त्व रहता है तब तक यह लब्धिरूप ज्ञानचेतना भी अखण्ड धारा से प्रवाह रूपसे निरन्तर अवश्य ही रहती है। इस कारण सम्यक्त्व के साथ ज्ञानचेतना का नित्य सम्बन्ध सिद्ध होता है। तभी ज्ञानचेतना को नित्य कहा गया है जब स्वानुभूत्यावरण का क्षयोपशम हुआ है तब ही सम्यग्दर्शन हो गया है। तो अब तक सम्यग्दर्शन रहेगा तब तक ज्ञानचेतना भी निरन्तर रहेगी और क्षायिकसम्यक्त्व होने पर तो संदेह ही नहीं कि ज्ञानचेतनाका कभी अभाव हो।

प्रमत्त अवस्थामें सम्यग्दृष्टिके भी पर पदार्थ का एक और उपयोग होता है, पर इस परोपयोगसे सम्यक्त्व का घात नहीं होता है, क्योंकि उपयोग गुण दोषकी निष्पत्तिके लिए समर्थ नहीं, इसका दिग्दर्शन कीजिये ८७३ वें श्लोकके प्रवचनांशमें—ऊपर अनेक श्लोकोंमें यह वर्णन चल रहा था उसी का यहां निष्कर्षरूप कथन कर रहे हैं कि इस प्रकार ऊपर कहे हुए गुण और दोषोंमें कारण उपयोग नहीं होता और न वह उन दोनोंमें से किसी का हेतु होता और न उपयोग गुण दोषका सहकारी भी होता, तीन बातोंका यहां निषेध किया जा रहा है। उपयोग गुण दोषका कारण नहीं है। कारण कहते हैं उसे जिससे कार्य उत्पन्न हो। जैसे अग्निसे धूम उत्पन्न हुआ तो अग्नि धूमका कारण है, इस तरह गुण और दोष उपयोगसे उत्पन्न हों ऐसी बात नहीं है, अतएव गुण दोष का कारण उपयोगको नहीं कहा जा सकता। कारण दो प्रकार के होते हैं—उत्पादक और साधक। यहां कारण शब्दसे उत्पादक का अर्थ लगाना और जिसे साधक कारण कहा उसका नाम यहां हेतु रखा गया है। उपयोग गुण दोषका हेतु नहीं है याने गुण दोषका साधक नहीं है, ज्ञापक नहीं है। जैसे धूम देखने से अग्निका ज्ञान होता है तो धूम साधक है और अग्नि साध्य है। धूम ज्ञापक है और अग्नि वहां जानो जा रही है तो ज्ञापक भी हेतु कहलाता है, उपयोग ज्ञापकभी नहीं है, परका उपयोग है इससे दोष सिद्ध हो और स्वका उपयोग है इसलिए गुणका उत्कर्ष सिद्ध हो ऐसा साधक भी नहीं है, अतएव उपयोग गुण और दोषका हेतु भी नहीं है। सहकारी उसे कहते हैं कि जो कुछ कार्यमें सहयोग दे। जो साथ रहता हो उसे कहते हैं सहकारी। तो उपयोग गुण दोषका सहकारी भी नहीं है। जैसे घड़ा बनाते समय कुम्हारका दण्ड चक्र आदिक सब सहकारी हैं तो इस तरह उपयोग गुण दोषका सहकारी भी नहीं है। तब उपयोगकी ओर से गुण दोषका निर्णय न करें कि परमें उपयोग है तो दोष हो रहा, स्वमें उपयोग है तो गुण हो रहा। जो रागभरा उपयोग है, जिसके साथ अनेक रागद्वेषकी कल्पनायें भी लगी हैं उस उपयोग वाले को तो यह उपदेश दिया जाता। वहां से चित्त हटाओ, पर से अलग हटाकर अपने में उपयोग लगाओ। वहां भी सूक्ष्मतया अर्थ यह है कि रागद्वेष हटाओ, पर चूंकि उपयोग ऐसे साथ साथ रह रहे हैं तो जैसे कल बताया था कि रागद्वेषके संबंधके कारण इस उपयोगको भी गालियां सहनी पड़ती हैं, जो बेचारा निरपराध है, जिसका काम प्रतिभासमात्र है, उस पर भी दोष मढ़ा जाता है। तो जब जब उपयोगको स्वोपयोगी करने के लिए उपदेश किया गया हो वहां भाव और प्रयोजन यह लेना कि रागद्वेष विकल्प मिटाओ, इससे आत्माका लाभ होगा।

राग और ज्ञानमें एकार्थता नहीं है, इसका कारण ८८५ वें श्लोकके प्रवचनमें पढ़कर ८८६ वें श्लोकके एक प्रवचनांशमें उनका साक्षात् अन्तर देखिये—रागका कारण भिन्न है, उपयोगका कारण भिन्न है तब राग और उपयोगको समव्याप्ति कैसे बनायी जाय? राग अपने कारण से होता है, उपयोग अपने कारणसे होता है। राग और ज्ञान इन दोनोंमें स्वरूपभेद है, दोनोंका एक अर्थ है। जैसे मीठा, रूखा, अनेक प्रकार का भोजन आपके सामने है, पर विवेक करके उसका अलग अलग स्वाद ले लेंगे लोग, किन्तु हाथीका एक दृष्टान्त देते हैं। जैसे हाथीके सामने घास डाल दो, हलुवा डाल दो, या और कोई मिठाई डाल दो, रोटी डाल दो तो वह उन सभी चीजोंको एक में ही लपेट कर एक साथ खा जायगा, वह उनका अलग अलग स्वाद न ले सकेगा, यों ही समझिये कि आत्मा के आहार के लिए, अनुभवनके लिए दो चीजें हैं—राग और ज्ञान। अब ज्ञानी पुरुष तो रागका रागरूप और ज्ञान का ज्ञानरूप परख कर लेते हैं। वह दोनोंमें हित अहितका निर्णय कर लेगा। एक साथ दोनों धारायें चलने पर भी उनके स्वरूप भेदको समझ लेगा, पर अज्ञानी जीव उपयोग और रागके स्वरूपका ज्ञान न कर सकेगा, उसके लिए क्या राग और क्या ज्ञान? जो भी एक पर्याय गुजर रही है उसमें हा [illegible]

भेदविज्ञानमें यह बहुत उपयोगी बात है समझने के लिए। आत्मामें जो रागधारा, ज्ञानधारा चल रही है और चल रही हैं दोनों एक साथ। राग भी काम कर रहा और ज्ञान भी काम कर रहा, मगर ज्ञान का काम कितना है ? एक बल्ब के ऊपर हरा कागज लगा दिया, अब उसमें जो प्रकाश चल रहा वह बात तो एक चल रही है वहां, मगर उस प्रकाशको देखकर विवेकी क्या यह ज्ञान नहीं कर सकता कि उस बिजली के बल्बका, उस प्रकाशनका काम तो प्रकाशन मात्र है जिसमें कि कुछ देखा जाय, पर जो यह हरा भरा हो रहा वह बल्बका, बिजलीका प्रकाशनका कार्य नहीं है। यह तो किसी हरी चीज की उपाधिका काम है। चलो यह तो कागज लगे की बात है। बल्ब भी आप रंगीन ले आयें और उसमें भी जो प्रकाश होगा उसमें भी तो यह भेद पड़ा है कि दोनों का काम तो प्रकाशना है। यह हरापन नहीं है, ऐसे ही समझिये कि जीवमें जो कुछ बात इस समय चल रही है उसमें जो प्रतिभासन है वह तो उपयोगका काम है और विकार, आकुलता, वासना आदिक जो कुछ भी बातें साथमें लग रही हैं यह उपयोगका कार्य नहीं है। यह रागद्वेषादिक भावोंका कार्य है। ऐसे दो भेद ध्यानमें आये। उन्हें अपने आपके विषयमें घटित करें। जो बात चल रही है उसमें जो विकल्पांश है, ज्ञेयांश है, सुख दुःख, आकुलता, व्यग्रता आदिक जो कुछ कार्य है वह सब रागद्वेषादिक भावोंका विकार है। ज्ञानका कार्य तो प्रतिभासना है। ज्ञान तो मेरे गुणमें है। राग मेरे गुणमें नहीं है। तो प्रतिभासन तो मेरा कार्य है, पर आकुलता सुख दुःख रागद्वेष ये मेरे कार्य नहीं हैं। वह प्रतिभासन तो मेरी करतूत है, मेरी चीज है। ये रागद्वेष मेरी चीज नहीं है। प्रतिभासन मेरे अनर्थ के लिए हो ही नहीं सकता, क्योंकि वह मेरा तत्त्व है, मेरा कर्तव्य है, लेकिन रागादिक भाव तो अनर्थ के लिए ही होगा, क्योंकि यह परभाव है, औपाधिक भाव है, मेरे स्वरूपकी चीज नहीं। ये तो मेल कहलायेंगे ही। परभावका, परद्रव्यका संबंध होने का नाम मेल है। चाहे वह सफेद चिकनी बढ़िया चीज दूसरे में लगी हो तो वह दूसरे पदार्थ के लिए मेल ही हैं। जैसे यहां मनुष्य इन गाय, भैंस, घोड़ा आदि को देखकर ऐसा समझते हैं कि ये कुछ नहीं हैं। उनमें कुछ ऐसी खास बुद्धि नहीं जगती, ये मेरे लिए कोई खास रागके लायक उपयोगी नहीं हैं, इन्द्रियविषयोंके उपयोगी नहीं हैं, ऐसे ही गाय बैल आदिक इन आदमियों को देखकर समझते होंगे कि ये कैसी अटपट चीजें हैं, कैसा ये दो टांगोंसे खड़े हैं, कैसा सीधे चल रहे हैं। ये तो सब बड़े अटपटे से लग रहे हैं, ऐसा अटपट क्या उन गाय, भैंस आदिक पशुओंको न लगता होगा ? तो अपने लिए पर का सम्पर्क मेल ही है। चाहे वह बढ़िया हो, घटिया हो, उस वस्तुके लिए ये समस्त पर मेल है, इसी तरह मुझ आत्मवस्तुके लिए ये समस्त रागादिक भाव मेल हैं और उपयोग यह ज्ञान प्रतिभास, यह जानन, यह मेरा गुण है, मेरी चीज है। सूक्ष्मदृष्टि से वहां पर भी भेद आयगा। यह इन्द्रियज ज्ञान मेरे लिए मेल है, मेरा स्वरूप नहीं है, पर थोड़ा एक स्वके विकाससे हुआ है। इस दृष्टिमें कहा जाता है। तो रागके भिन्न कारण हैं, ज्ञानके भिन्न कारण हैं, स्वरूपभेद है, विधिभेद है, ज्ञान पर चीज के हटने से हुआ, राग परचीजके आने से हुआ। तो जहां ये सारे भेद प्रतिपक्षरूपसे चलते हों वहां राग और ज्ञान को एक कैसे कहा जा सकता है ?

परोपयोग अथवा राग होने से ज्ञानचेतना मिट जायगी, ऐसा सन्देह जिनको हो वे ६२२ वें श्लोकका एक प्रवचनांश पढ़कर सन्देह दूर करलें—राग कैसे होता है ? किसी कर्मके उदयका निमित्त पाकर। कौन से कर्म के उदयके निमित्तसे ? चारित्रावरणके उदयसे, अथवा कहो चारित्रमोहनीय कर्म के उदयसे राग-भाव होता है, सो उस रागभावसे अथवा कहो चारित्र मोहनीय के उदय से सम्यक्त्वका घात नहीं हो सकता। रागभावका यह अधिकार नहीं है कि वह दर्शनमोहनीय कर्म के बारे में कुछ कर सके। इसी कारण तत्वार्थसूत्रमें ८ वें अध्यायमें जहां कर्म के नाम लिए गये हैं वहां मोहनीयका नाम दो भेदों में

लिया है। दर्शनमोह और चारित्रमोह दर्शनमोहके उदयसे मिथ्यात्व होता है, रागभाव के कारण या चारित्रमोहके उदयसे मिथ्यात्व नहीं होता, यहां वस्तुस्वरूप बताया जा रहा है। कहीं यह बात न ग्रहण कर लेना कि देखो यह कहा जा रहा है कि रागभाव भी रहे, सम्यक्त्व भी रहे, कोई विरोध नहीं, तो हम तो घरमें रहकर खूब डटकर रागभाव करेंगे, क्योंकि बताया ही जा रहा कि राग भी रहे, सम्यक्त्व भी रहे। अरे जिसके सम्यक्त्व रहता है वह कर्म के उदयसे रागभाव हो तो उससे भी विरक्त रहता है। यह बात तो अपने आपमें परखलो कि अपने आपमें जो राग जगता है उस रागसे आपको घृणा है या नहीं। जो कुटुम्ब, परिवार, वैभव, घर सम्बन्धी राग जगता है चित्तमें उस रागसे आपको ग्लानि है या नहीं ? उस राग से हटने के लिए आपको भीतर में तड़फन है या नहीं ? यदि उस राग को भला मान रहे हैं तो तो सम्यक्त्व नहीं है। राग दो किस्मके मान लें-एक तो विषयोंका राग और एक उन रागों का राग। उदय आया, न सह सके, विषयों में लग गये, यह हुआ राग, इतना तक तो सम्यग्दृष्टि के सम्भव है, लेकिन उस राग में भी राग रहे, उस राग से भी ग्लानि न आये तो ऐसा राग सम्यग्दृष्टि के नहीं होता। ऐसे रागको मिथ्यात्व कहते हैं जो रागमें राग बनाये। राग तो मात्र राग है, रागभाव सम्यक्त्त्वका विघातक नहीं। दर्शन मोह का उदय ला सकने वाला नहीं। गुण दो हैं-चारित्रगुण और सम्यक्त्व गुण। सम्यक्त्व गुणकी प्रक्रिया उस ही में होगी, चारित्र गुण की प्रक्रिया उस ही में होगी, तब शंकाकार का यह कहना कि रागकी ऐसी शक्ति है कि वह दर्शनमोहका उदय ला सकता है, यह कहना युक्त नहीं।

औपशमिक, क्षायोपशमिक व क्षायिक सम्यक्त्वमें स्वानुभूत्यात्मकरसास्वादका भेद नहीं है, मनन कीजिये ९३६ वें श्लोकके एक प्रवचनांशमें–सम्यक्त्वके तीन भेद हैं–औपशमिक, क्षायोपशमिक, क्षायिक ये भेद स्थितिके भेद से हैं, अथवा कर्मों की दशाके भेद से हैं, किन्तु सम्यक्त्वमें स्वयं में कोई भेद नहीं पड़ा है। किसी का स्वाद जो कोई खायगा उसको वैसा ही आयगा जैसा सबको आता है। कभी कभी आहार करते समय जब कोई मां यह कहती है कि यह चीज अमुक चीजके साथ खावो महाराज, तो हमें थोड़ा मनमें यह हसी आ जाती कि देखो–इनके मनमें है कि जैसा स्वाद हम लेते हैं वैसा ही स्वाद इनको आ जायगा। तब ही तो वह ऐसा कहती हैं। तो जो मिश्री खायगा उसको स्वाद भी वैसा ही आयगा। किसी को कम मिश्री मिली है तो वह कम देर तक स्वाद लेगा, जिसे अधिक मिश्री मिली है तो वह अधिक देर तक स्वाद लेता रहेगा, मगर मिश्री के स्वादमें तो अन्तर न आ जायगा। कहीं ऐसा तो न हो जायगा कि थोड़ी मिश्री खाने वाले को करेला जैसा स्वाद आये और अधिक खाने वाले को और तरह का स्वाद आये। सबको स्वाद एक किस्मका आयगा। ऐसे ही सम्यक्त्वका स्वाद स्वानुभूति स्वरूप है। स्वाद सबमें एकसमान है। चाहे औपशमिक सम्यग्दृष्टि हो चाहे क्षायिक सम्यग्दृष्टि हो अथवा क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि हो, सभीको स्वानुभूत्यात्मक आनन्द आता है। जब अपने आपको मैं ज्ञानमात्र हूं, इस प्रकार से अनुभव में लेते हैं उस समय वही अमीर है। उसके समान लोकमें कोई पुरुष नहीं। अपने आत्मापर श्रद्धा करो, मोक्षमार्गपर श्रद्धा करो, जीवन सफल हो जायगा।

ज्ञानचेतना के लाभ के सामने त्रिलोकसम्पदालाभ भी तुच्छ है, पढ़िये ९३९ वें श्लोकके एक प्रवचनांशमें–देखो भैया, हो गया ढेर लाख करोड़का, तुम तो अकेले ही हो, निराले हो, शरीर छोड़कर जाना पड़ेगा, मरण होगा और जब है तब भी तुम्हारा कुछ नहीं है। उसमें क्या सार है ? एक आत्मस्वरूपका भान हो, आत्मस्वरूपकी दृष्टि हो तो इससे बढ़कर जगतमें कहीं कुछ वैभव नहीं। एक मेरी आत्मदृष्टिके कार्य हो. छोड़कर बाकी सारे काम, सारे लोग, सारी वस्तुवें किसी भी प्रकार परिणमें, मेरा उसमें

कोई दखल नहीं है। मेरे को उनमें कोई क्षोभ न होना चाहिए। यह ज्ञानचेतना का वैभव जिसने पाया वह वास्तवमें अमीर है, शेष तो गरीब हैं, तृष्णावान हैं और फिर उन तृष्णावानोंमें जो कृपण हैं वे तो दयापात्र हैं। जिन्होंने आत्म-स्वरूपका अनुभव नहीं किया वे पुरुष दुःखमें ही रहेंगे, चाहे राष्ट्रपति बन जायें, चाहे सर्वविश्वराष्ट्रसंघके प्रधानमंत्री बन जायें, या कोई भी बड़ा से बड़ा पद मिल जाय, जो कि लोकव्यवहारमें माना जाता हो, तो वह भी दुःखी रहता, व्याकुल रहता। तो एक ज्ञानचेतना वैभव प्राप्त हो इसके लिए यत्न करो। आपको इसका महत्व दिलमें समाया है इसकी निशानी यह है कि आप सोचें कि जैसा तन, मन, धन, वचन परिवारके लिए लुटा रहे हैं, दुनियामें इज्जत पाने के लिए लुटा रहे हैं उतना तन, मन, धन, वचन एक ज्ञानके खातिर हम समर्पण करने के लिए तैयार हैं या नहीं? यदि तैयार हैं तो समझो कि इस ज्ञानचेतनाका महत्व हमारे चित्तमें समाया है। उस ज्ञानचेतना के सम्बन्धमें यह प्रकरण चल रहा है कि ज्ञानचेतनाका विघात होगा तो सम्यक्त्वके विघात के साथ होगा। सम्यक्त्वका विघात दर्शनमोहके उदयमें होगा। बचे खुचे रागभाव सम्यक्त्वको, ज्ञानचेतना को मिटानेमें समर्थ नहीं हैं।

वैभाविकी शक्तिके वर्णनके प्रसगमें विभावोंकी चार प्रश्नोंमें जिज्ञासा हुई थी, उस स्थलसे सम्बन्धित पांच भावोंके वर्णनमें देखिये पारिणामिक भावके स्थलमें सहजपरमात्मतत्त्वकी महत्ता, ९७२ वें श्लोकके एक प्रवचनांशमें—जिसके चित्तमें यह भाव नहीं भरता कि इस धनवैभवसे बढ़कर मेरा सहज भाव है उसको धर्मकी बात मिल ही नहीं सकती। या तो दिल बहलाना, तफरी आदिक करना, यह तो कुल परम्परासे चला आया है। मन्दिर जाना चल रहा है, आदत बनी हुई है कर रहे हैं धर्मको बात। मगर मोक्ष मार्गका लाभ नहीं मिलता। मोक्षमार्गका लाभ जगतके सारे वैभवोंकी उपेक्षा तब तक न हो तब तक आत्मरुचि क्या? और जब आत्मरुचि नहीं तब मोक्षमार्ग भी नहीं? जितने दिखने वाले लोग हैं, जिनके बीच आप कुछ व्यवहार करते हैं. सबके सब ये मूर्तियां आपको यह जचने लगें कि ये तो मायामय हैं, ये तो असमानजातीय द्रव्यपर्यायें हैं, वास्तविकता इनमें क्या है? जब तक हम यों न समझें तब तक समझो कि हमने अभी धर्मका मार्ग नहीं पाया। मेरे लिए मैं ही हूं, इसी को ही निगाहमें रखकर बोलो—तुमही माता हो, तुम ही पिता हो, तुम ही गुरु हो. तुम ही बन्धु हो, तुम ही रक्षक हो, सर्व कुछ तुम ही हो, ऐसी अपनी ओर दृष्टि करके अपने आपमें विराजमान प्रभुकी भक्तिमें तो आयें हमारे पूज्य परमात्म-देवकी दिव्यध्वनिमें यह है उपदेश हुआ है। उन्होंने यह कभी उपदेश नहीं किया कि तुम मेरी ही भक्ति में रहो। मेरे से ही गिड़गिड़ाते रहो मेरे से प्रार्थना करते रहो. तो तुमको सुख मिलेगा, मुक्ति मिलेगी। जबकि अन्य लोगों ने डटकर केवल यह ही कहा कि तुम बस मेरे को भजो, जरा भी और कुछ मत सोचो, तुमको मुक्ति दिला देंगे। कैसा यह निष्पक्ष अनुशासन है, इसे पाकर भी यदि जड़ से प्रीति नहीं मिट रही और अपने चैतन्यस्वरूपसे प्रीति नहीं जग रही तब क्या ठिकाना होगा? देखो—अपने आपमें अपने प्रभुको। यह है पारिणामिक भाव। आत्मद्रव्यकी जो निज सहज प्रकृति है, स्वभाव है, स्वरूप है वह है पारिणामिकभाव। यह भाव न उदय से है, न कर्म के उपशमसे है, न क्षयसे है, न क्षयोपशमसे है।

विपरीत बुद्धि ही महिती विपत्ति है, इसका दिग्दर्शन कीजिये ९९०-९९१ वें श्लोकके एक प्रवचनांशमें—प्रसंग यह चल रहा है कि दर्शनमोह के उदयमें जीवके मिथ्यात्वभाव होता है। जीवकी श्रद्धा विपरीत हो जाती है, उसी सम्बन्धमें दृष्टान्तपूर्वक कहा जा रहा है कि जैसे मदिरा पीने वाले पुरुषकी बुद्धि मदिराका नशा चढ़ जाने पर भ्रष्ट हो जाती है तब ही तो मद्यपायी पुरुष या धतूरा खाने वाला

पुरुष शंख आदिक सफेद चीजोंको पीला समझता है, उसकी बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है, उल्टा जानता है, और कदाचित् कभी कुछ कठिन भी कह दे तो भी मदिरापायी पुरुषकी बात सही नहीं मानी जाती। सूत्र जो में बताया है कि उन्मत्त पुरुषकी भांति विपरीत ज्ञानोंमें बुद्धि हो जाती है, वह कभी स्त्रीको मां भी कह देता, कभी मां को स्त्री भी कह देता और कदाचित् मां को मां भी कह देता तो भी वह मिथ्या ही माना जायगा, क्योंकि वहां दृढ़ता नहीं है, स्वच्छता नहीं है। तो जैसे मदिरापायी पुरुष यथार्थ बुद्धि नहीं रख पाते, इसी प्रकार दर्शनमोह कर्म के उदयसे यह जीव यथार्थ बुद्धि नहीं रख पाता। बस संसार में दुःख है तो इतना ही है कि हमारा ज्ञान व्यवस्थित नहीं रह पाता। कष्ट और कुछ है ही नहीं। घर गिर गया तो गिर जाने दो, दुनिया के सभी घर गिरा करते हैं। कोई परिजन गुजर गया तो क्या करें, सब जीव यहां गुजरते ही हैं। संसारकी रीति ही यह है। खुद गुजर गये, देहसे अलग हो गये तो यह तो होना ही पड़ेगा। आयुकर्मका उदय जब तक है तब तक देहमें हैं, जब न रहा तो देहसे निकल भागे। इसमें कष्टकी बात क्या ? घर छूट गया तो क्या नुकसान ? छूट गया तो आगे कहीं जायेंगे। तो संसार में दुःख किसी बातका नहीं है। दुःख है तो एक इस विपरीतबुद्धिका। विपरीत बुद्धि कहो अथवा मोह कहो, सारा दुःख मोहका है, और इसी कारण जिसने मोह पर विजय पाया है वह ही सन्त कहलाता है, वह ही उत्तम पुरुष कहलाता है। देखो मोहियोंके पैर मोही भी नहीं पड़ते और निर्मोह के पैर निर्मोह भी पड़ते और मोही भी पड़ते। भले ही मोही कुदेवोंको पूजा करने वाले कुछ लोग हैं लेकिन यह मोही है, ऐसा जानकर वे भी नहीं पूजते। वे उन्हें भगवान समझते हैं कुछ भली बात मनमें रखते ही हैं। भलेही उन्होंने स्वरूप सही नहीं जान पाया इसलिए मिथ्यात्व है, लेकिन बात यह कही जा रही कि मोह अच्छी चीज नहीं होती, अन्यथा मोहियोंको पूजा होती। प्रभु पूजा ही क्या है कि निर्मोह अवस्था उत्तम चीज है।

आवृत अवस्थामें भी अन्तस्तत्त्वकी अन्तः प्रकाशमानता परखिये ९९४ वें श्लोकके एक प्रवचनांशमें—जैसे मेघों से आच्छन्न सूर्य उसका प्रकाश नहीं है, लेकिन सूर्य में स्वयं में प्रकाश है कि नहीं ? मेघोंकी घटा आ गई। अब यहां प्रकाश रुक गया, तो रुक गया, तो रुक तो गया प्रकाश, लेकिन सूर्य में स्वयं क्या वहां अंधेरा है ? वह अपने में प्रकाशवान है। तो इसी तरह द्रव्यदृष्टि से यदि निरखें तो आत्मा अपने स्वभावसे स्वयं ज्ञानस्वरूप है, पर आ गया है ज्ञानावरण, तो यह ज्ञानस्वरूप आत्मा प्रकाशमें नहीं आ रहा है। जैसे इन बादलोंके ऊपर हवाई जहाज चलता है, बादल बहुत नीचे रह जाते हैं, ऊपर हवाई जहाजसे चलने वाले लोगोंको क्या तकलीफ है ? बल्कि उसमें बैठे हुए तो नीचे के बादलोंका नजारा देख देखकर खुश होते चले जाते हैं। उन्हें कष्ट क्या ? तो इस तरह इन सब कर्मकलंक आवरण, इन सबसे परे जो आत्मा निजज्ञानस्वरूप है उस ज्ञानस्वरूप तक जो पहुंच गया, वहां जो विहार कर रहे उनको क्या अड़चन है, वे तो कर्म और कर्मफलका दृश्य देखकर ज्ञाता द्रष्टा रहते हैं। तो यों इन सब आवरणकर्म, नोकर्म इन सबसे परे जो मेरा अन्तः ज्ञानज्योतिस्वरूप है उस स्वरूप तक पहुंचनेका पौरुष करलें। ये दिखने वाले मायामयी दृश्यमान पदार्थ तेरे साथ सदा न रहेंगे। इनके परिचय में तथा मन, वचन, कायकी जो क्रियायें होती हैं उनमें भी यह आस्था मत रखें कि ये मेरी चीज हैं। तत्त्वज्ञानी पुरुष जानता है कि मैं जो कुछ कर रहा हूं या जो कुछ मैंने अब तक किया वह एक अज्ञानमय चेष्टा है। कैसा निराला है यह ज्ञान। वंदना भी करते हैं, सिर भी झुकाते हैं, पर विवेक है कि यह तो सब अज्ञानकी लीला है। यों करना, यों चलना, ये सब अज्ञानकी चेष्टायें हैं और भीतर जो एक ज्ञानज्योति स्वरूप अन्तस्तत्त्व है, उसका जो किरण है, जो जगमगाहट है वह है एक ज्ञानचेष्टा। यहां तक जिसकी विरक्ति है, उपेक्षा है, धर्मका मर्म तो उसने पाया। और, यहां थोड़ा बहुत धर्म की बात सीख लेने वाले

य कुछ ऊपरी बातें करने वाले यहीं खुश हो रहे, समझ लेते कि मैंने बहुत धर्म कर लिया और दूसरों को मैं बहुत धर्म में लगा देता हूं। अरे धर्म में लगना क्या और लगाना क्या-पहिले तो यही जानो। कितना गम्भीर और कितना शान्त मैं अन्तस्तत्त्व हूं। तो वर्तमान पर्याय जो कुछ भी है वह सन्तोप का साधन न कबूल करें। इससे तो हटना है यह पर्याय-इससे हटकर आगे बढ़ना है। यह मेरा कोई परम धाम नहीं है।

सम्यक्त्वगुण और सम्यक्त्वघातक दर्शनमोहनीय कर्मका अस्तित्व परखिये १००९ वें श्लोकके प्रवचनमें—सम्यक्त्वगुण जब पृथक् है, उसका स्वरूप निराला है, भिन्न लक्ष्य है, भिन्न लक्षण है याने ज्ञानसे जुदा है और ज्ञानके लक्षणसे जुदा लक्षण है उसका तब दर्शनमोहनीय कर्म भो जुदा लक्षणवाला है, इस कर्मका किसी कर्म में अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता। किसी भी नयसे दर्शनमोहनीय कर्म को किसीमें शामिल नहीं कर सकते। यों समझ लोजिये-जैसे कोई सवारी चलती है माना जहाज चला तो उसके चल सकने में एक दिशाप्रदर्शक होना चाहिए—चाहे वह नक्शों द्वारा हो, चाहे लाइट लगी हो. चाहे बड़ा डंडा गड़ा हो, दिशाप्रदर्शन हुए बिना जहाजका चलना नहीं बनाया जा सकता। पानीके जहाज का भी चलना देखलो—उसमें भी दिशाप्रदर्शनके संकेत रहते हैं। किस ओर ले जाना है जहाजको और ज्ञान भी हो सब बातों का और उसे चलाये भी तो अपने लक्ष्यपर पहुचता है, इसी तरह जो हमारे लिए दिशा-प्रदर्शन की बात है वह मिलता है सम्यग्दर्शन से। इससे चलना नहीं होता, चलना होता है सम्यक्-चारित्र से। मोक्षमार्ग में चलना, बढ़ना, पर दिशाप्रर्शन न हो तो चलने का काम नहीं बन सकता। चलेगा तो उल्टा चलेगा, खतरा होगा, धोखा खायगा। देखिये जब कभी स्टेशनोंका फोन खराब हो जाता है, बीचके तार वगैरह टूट जाते हैं तब गाड़ी आगे नहीं चलती। बीचमें ही किसी स्टेशन पर रोक दी जाती है, और कभी कोई ऐसा ही समय आ जाय और बहुत देर हो जाय तो इंजनवाला अगर दयालु हो तो खुद खतरा मोल लेकर गाड़ी को स्टेशन पर छोड़कर खाली इजनको आगे के स्टेशन तक ले जाता है। वहां स्टेशनमास्टरसे लिखा लेगा कि कोई गाड़ी नहीं आ रही है, न आवेगी, तब वह इंजनको वापिस लाकर गाड़ीको जोड़कर ले जाता है। तो यह दिशाप्रदर्शनका, लाइनक्लियरका साधन न रहे तो कोईकाम नहीं बन सकता। तो चलनेमें दिशाप्रदर्शनकी बात कितनी सहायक है। सम्यग्दर्शन ऐसा ही दिशाप्रदर्शन करता है। यहां चलो, यहां रमो, यही स्वच्छता है, यही हित है। बाहरमें सर्वत्र तेरी बरबादी है, इस सम्यक्त्वको ही माता, पिता, गुरु अथवा रक्षक सभी कुछ कह सकते हो। इस भूले भटके जीवका सहारा यही एक सम्यक्त्व है। सम्यक्त्वके कारण ही यह समझ बठती है कि किसी भी बाह्य पदार्थ में सारपनेका विश्वास न करें, किसी से भी अपना हित न समझें। तुम स्वयं एक स्वच्छ ज्ञानज्योति स्वरूप हो। अपने आपमें रमो। बैठो, ऊधम न करो। आरामसे बैठ जावो-यह उपदेश हमें यह सम्यक्त्व देता है। कुछ लहर उठना, कुछ तरंग चलाना, विकल्प करना, चुलबुल मचाना यह सब ऊधम है, पर मोही मोही जहां सारे ऊधम मचा रहे हों तो फिर कौन किसे ऊधमी कहे ? सत्य तो इतना है कि जितना यह ज्ञानमात्र अंतस्तत्त्व है। बस जो है सो है, यह दिशा बताता है हमें सम्यक्त्व। ऐसे सम्यक्त्वगुणका जो घात करता है उसे कहते हैं दर्शनमोहनीयकर्म।

(३०१) परमानन्दस्त्रोत प्रवचन

परमानन्द स्त्रोत पर पूज्य श्री १०५ क्षु० सहजानन्द जी वर्णी महाराज द्वारा किये गये प्रवचन इस पुस्तक में है। कुछ प्रवचनांशोंको पढ़कर इसका हृदय परखिये—निर्विकल्पसमुत्पन्न ज्ञान सुधा रस का पान—निर्विकार पद्धति से उत्पन्न हुआ ज्ञान ही अमृत रस कहलाता है से इस ज्ञानामृत को बुद्धिमान लोग विवेकरूपी

अंजुली करके पिया करते है। अमृत की चर्चा कथाओं में बहुत बहुत आया करती है। कोई कहता है कि किसी ने अमृतफल दिया वह अमर हो गया। तो वह अमृतफल किस तरह का होता होगा ? कोई फल जैसा है या अमृतरस कोई शर्बत जैसा है ? कहां से मिलता है और पीने से अमर हो जाता है ? वे सब कथायें केवल उपन्यास जैसी हैं। उनमें सच्चाई नहीं है : अमृतरस कहीं नहीं पड़ा है व अमृतफल कहीं नहीं है जो कहीं पेड़ों से मिलता हो या कोई ढेला के रूप में कहीं पाया जाता हो। तब फिर वह अमृत क्या है ? निर्विकार पद्धति से उत्पन्न हुआ ज्ञान ही अमृत है, हम आप सब ज्ञानस्वरूप हैं। ज्ञान के सिवाय हम आपमें कोई स्वरूप नहीं भरा है। जब हम ज्ञान ही ज्ञान मात्र हैं। इस विधि से अपना चिन्तन करते हैं और ज्ञान में केवल ज्ञान स्वभाव को ही धारण करते हैं उस समय ज्ञान में ज्ञान स्वरूप ही विषय रहने के कारण एक निर्विकल्पना जगती है और उस निर्विकल्प पद्धति में जो ज्ञान जगता है बस वही अमृतरस है। लोग कहते हैं कि अमृत को पीने से अमर हो जाता है। 'लो वह अमृत क्या है ?' बस अपना शुद्ध ज्ञान। शुद्ध ज्ञानदृष्टि हो। मैं ज्ञानमात्र हूं इस प्रकार की प्रतीति अनुभूति हो, तो वह अमर हो गया।

ज्ञान सुधारस पान से अमरत्व प्राप्ति–विशुद्ध ज्ञानानुभूति सुधारस के पान से अमरत्व कैसे हो गया सो देखिये–आत्मा तो अमर है, आत्मा का मरण है ही नहीं, लेकिन इसकी सुध न होने से मैं मर जाता हूं। मर जाऊंगा इस प्रकार की शंका लोगों की बनी रहती है। इससे अमर नहीं कहलाते। जैसे किसी के घर में धन गड़ा हुआ है और उसका पता नहीं है तो वह तो गरीब है और पता हो जाने पर चाहे वह मिल नहीं पाया अभी तक लेकिन उसका ज्ञान हो जाने पर यह बात आ गई कि मेरे घर में इतना धन गड़ा है तो इतना ज्ञान होने से ही उसके भावों में परिवर्तन हो गया। कुछ ठसक सी आ जाती है। धन मिलने पर तो अमीर है ही। इसी तरह यहां भी समझिये कि यद्यपि मैं आत्मा अमर हूं कोई भी पदार्थ हो सभी अमर हैं किसी का विनाश नहीं होता। आत्मा भी सद्भूत हूं, मेरा भी विनाश नहीं होने का, लेकिन ऐसे सद्भूत आत्मा का परिचय जब अज्ञानी जीव को नहीं रहता तब वह पद-पद पर मरण की शंका देखता है। सभी लोग अनुभव कर सकेंगे। अगर मरण की कोई बात आती है तो घबडाहट होती कि नहीं ? हाय मैं मरा, मेरा यह सब कुछ छूट रहा तो मरने पर यह घबडाहट क्यों है' उसके दो कारण हैं (१) अहकार (२) ममकार। शरीर में अहबुद्धि लगी है यह मैं हूं, और बाह्य पदार्थों में ममता लगी है। यह मेरा है उसका भी ख्याल आता है कि ये मेरे इतने पदार्थ बिछुड़ यों दुःखी होते हैं। ये दोनों बातें भ्रम में न रहें, इनका यथार्थ बोध हो। मैं आत्मा देह से निराला ज्ञान-स्वस्थ हूं, जिसे कोई नहीं समझ रहा ऐसा मैं ज्ञान सामान्यात्मक आत्मा यहां न रहा, और कों चला गया, पर मैं तो अमर हूं। यहां से चले जाने में मेरा कोई बिगाड़ नहीं। यह बात जब तक समझ में नहीं आती तब तक मरने की शंका मिट नहीं सकती।

देह से आत्मा की भिन्नता परखिये ७ वें श्लोक के एक प्रवचनांशमें–कमलिनी पत्र में जल की तरह देह में रहकर भी आत्मा की भिन्नता–जैसे पानी कमलपत्र पर नहीं ठहरता है, कमल पत्र में पानी भरा हो तब भी वह पानी कमलपत्र से निराला है इसी प्रकार यह आत्मा देह में रहता हुआ भी इस देह से निराला है। यद्यपि पानी सभी पत्तों से निराला है किसी भी पत्ते में पानी का प्रवेश नहीं और पानी में पत्ते का प्रवेश नहीं। तो स्वरूप दोनों का पृथक है फिर भी कमलपत्र का जो दृष्टान्त दिया है वह एक शीघ्रता से समझने के लिए दिया है। कमलिनी का पत्र ऐसा खास होता है कि उस पर पानी का चिपकाव होता ही नहीं है। इतना चिकना पत्र है कि उस पर पानी ढुलकता रहता है। चिपकता नहीं

है। जैसे कि अन्य पत्रों पर पानी पड़ा हो तो कुछ पानी का अंश है पत्ते पर यह दिखता है, पहिचान सकते है, पर कमलिनी का पत्र पानी में डुबा देने पर बाहर निकाला जाय तो तुरन्त ही निकाला जाने पर भी कोई नहीं पहिचान सकता कि यह पत्ता पानी में था। इतना चिकना होता है कि पानी की एक बूंद भी उस पर ठहरती नहीं है तो शीघ्रता से समझने के लिए यह दृष्टान्त दिया है कि देखें जैसे पानी कमलिनी–पत्र में रहता हुआ भिन्न ठहर रहा है इसी प्रकार यह आत्मा स्वभावतः देह में रहता हुआ भी भिन्न है। जबअपने आपके ज्ञानस्वरूप पर दृष्टि दी जाती है तो यह ज्ञानमय आत्मा ही केवल नजर आता है शरीर के साथ नजर नहीं आता । बाहर इन्द्रियों से कुछ निरखते हैं तो वहां ऐसा मालूम होता कि यह ही तो जीव है और देह से निराला जीव है ऐसी पहिचान नहीं हो पाती, लेकिन जीव नियतत स्वभाव से देहसे निराला है अन्य सर्व पदार्थों से निराला है। मेरा स्वरूप किसीभी वस्तुसे मिला हुआ नहीं है।

अपना एक मात्र सार कर्तव्य देखिये २० वें श्लोक के एक प्रवचनांशमें–अपने को ज्ञानस्वरूप अनुभव करने का कर्त्तव्य–हम आपको यह ही अनुभव करना चाहिए अधिक समय कि मैं आत्मा ज्ञानस्वरूप हूं, उत्कृष्ट आनन्दमय हूं। प्रभु जो कोई हुआ है वह मेरा ही जैसा आत्मा था और उन्होंने भेद विज्ञान किया। पर को पर जाना, निज को निज जाना, पर से उपेक्षा की, निज में अनुराग किया और अपने आपमें केवल एक ज्ञानज्योति स्वरूप का अनुभव किया। मैं ज्ञानज्ञान हूं। ज्ञान के सिवाय मेरा और कोई स्वरूप नहीं। बस इस ध्यान के प्रताप से उनका कर्ममल दूर हुआ और प्रभु बन गए। तो यह ही विधि मैं करूं तो क्यों न प्रभुता पा सकूंगा। मेरा जीवन में प्रोग्राम केवल एक यह है कि मैं प्रभु बनूं, मैं अरहंत होऊं, परमात्मा बन जाऊं, ऐसा अपना प्रोग्राम सोचना चाहिए। मुझे और कुछ नहीं बनना है, क्योंकि अन्य कुछ बनने में मेरे को सार कुछ न मिलेगा। सब स्वप्नवत् असार बातें हैं इसलिए मैं और कुछ नहीं बनना चाहता मुझे तो परमात्मा स्वरूप पाना है। प्रभु होऊंगा, ऐसा अपनी प्रभुता का प्रोग्राम यदि चित्त में है तो ज्ञान की बात, धर्म की बात, मुक्ति की बात अब सुहाने लगेंगी और अपने में प्रभुता का प्रोग्राम नहीं है तो धर्म कितना ही करते जावो, वह एक करना ही है, पर वास्तविक लाभ नहीं मिल सकता। इसलिए अपने आपको ऐसा सोचें कि जो अरहंत का स्वरूप है सो मेरे स्वरूप में है। मैं अपने को ज्ञान मात्र निर्दोष वीतराग आनन्दमय निरखता रहूं और किसी पर वस्तु को महत्व न दूं तो मैं अपने इस ज्ञानमय आत्मतत्त्व ध्यान के प्रताप से परमात्मस्वरूप हो सकूंगा। तो ऐसा अपना ख्याल बनना चाहिए कि मैं मनुष्य हुआ हूं तो इसलिए हुआ हूं कि ऐसा उपाय बना लें कि शरीर कर्म, विभाव, जन्म मरण आदि सारे मेरे संकट समाप्त हो जायें। मैं मुक्त हो जाऊं निकट कालमें और सदा के लिए कृतकृत्य हो जाऊं। जब तक मैं मुक्त न होऊंगा तब तक मैं कृतार्थ नहीं हो सकता हूं इससे मेरे को यहां किसी समागम में रुचि नहीं है। केवल अपना अन्तः समाये हुए परमात्मस्वरूप के दर्शन करके इसी स्वरूप को प्राप्त करूंगा, ऐसा अपना लक्ष्य बनाना चाहिए।

आत्मामें परमात्मत्वका दर्शन करने आइये २३ वें श्लोक के एक प्रवचनांशमें–दुग्ध में घृत की तरह आत्मा में परमात्मत्व की उपलब्धि–अब दूसरा दृष्टान्त लीजिए। दूध में घी रहता है कि नहीं ? जो दूध अभी दुहा गया, मानों ५ किलो दूध दुहा गया तो बताओ उसमें घी है कि नहीं ? अगर न हो तो किसी भी तरह वहां से घी निकाला नहीं जा सकता। मगर घी वहां आंखों दिखता तो नहीं। और दूध में घी अवश्य है तो आपने उसे किस तरह जाना ? एक ज्ञान द्वारा जाना कि इस दूध में घी है और यह भी परख लेते हैं कि इस दूध में करीब ५ छटांक घी निकलेगा, इसमें करीब ७ छटांक घी

निकलेगा तो यह निश्चित है कि दूध में घी है अगर व्यक्त नहीं है उसे प्रकट करने की विधि यह है कि उसको मथो या दही बनाकर मथो यह विधि है इसी तरह इस मेरे शरीरमें आत्मा है और आत्मा में परमात्मस्वरूप है अब हम अपने आत्मा में परमात्मस्वरूप को प्रकट करना चाहें तो उसकी विधि है कि हम अपने आत्मा को ज्ञानद्वारा मथें, उसमें प्रवेश करें, आत्मा में तृप्त रहें। प्राप्त पदार्थोंसे संतोष न मानें वहां तृप्ति न करें। ये बाह्य पदार्थ मेरे लिए अनर्थ हैं। मेरे लिए दुःख के हेतु भूत हैं। मेरा आत्मा स्वयं आनन्दस्वरूप है वही मेरा सर्वस्व है। अपने आत्मा में तृप्त कर सन्तोष करें, अपने में ही रत रहें देखो कैसे नहीं परमात्मा स्वरूप का दर्शन होगा ? तो जैसे दूधमें घी है, किन्तु वह अव्यक्त है पर उसे विधि पूर्वक प्रकट करें तो प्रकट हो सकता है इसी प्रकार मेरे आत्मा में वह परमात्मस्वरूप है जिसकी वन्दना करने के लिए हम सुबह-सुबह मन्दिर में आते हैं 'पूजन करते हैं' दर्शन करते हैं वह स्वरूप मेरे आत्मा में है उस आत्मा में उस स्वरूप को देखने की विधि है भेद विज्ञान करें असार को छोड़ें, सार पर दृष्टि लगावें तो जैसे दूध में घी है उसी प्रकार मेरे आत्मा में वह भगवत स्वरूप है।

(३०२) स्वरूपसंबोधन प्रवचन

१- परमपूज्य श्री भट्टाकलंकदेव विरचित स्वरूपसम्बोधन पर हुए पूज्य श्री सहजानन्द वर्णी महाराज के प्रवचन इस पुस्तक में हैं। प्रथम श्लोक के एक प्रवचनांश में देखिए-आत्मतत्त्व के यथार्थ परिचय में अनेक समस्याओं का समाधान-आत्मतत्त्व की वास्तविक मुक्तामुक्तरूपता का परिचय होने पर कर्तव्य भोक्तत्व आदि समस्याओंका सहज समाधान-मैं मुक्त हूं, पर मुक्ति पनेका एकान्त नहीं है कि यह मैं आत्मा सभी बातों से मुक्त हूं। यह मैं आत्मा अपने आपके ज्ञान और आनन्द से अमुक्त हूं। स्वरूप तो मेरा प्राणभूत है। यदि ज्ञान और आनन्दस्वरूप मेरा मिट जाय तो फिर मैं ही क्या रहूंगा ? कोई भी पदार्थ अपने स्वरूप से मुक्त नहीं रह सकता मेरा स्वरूप है सहजज्ञान और सहज आनन्द। उस स्वरूप से मैं अमुक्त हूं। निरन्तर ज्ञानस्वरूप हूं और आनन्दस्वरूप हूं। जब किसी आत्माको अपने इस स्वरूपका पता होता है कि यह मैं कर्मों से रहित हूं, शरीर से रहित हूं और अपने ज्ञानानन्द स्वरूप में ही मग्न हूं। तो उस को ये सब दिशायें मिल जाती हैं कि व्यवहार में किसी का कुछ नहीं करता हूं। मैं अपने ज्ञान का ही परिणमन किया करता हूं और आनन्द का ही अनुभव किया करता हूं। इसके अतिरिक्त मैं जगतमें अन्य कुछ भी कार्य नहीं करता हूं। ऐसे ज्ञानानन्दमय अपने आत्मा की सुध होने पर जीव अपने इस ज्ञानानन्द स्वरूप की सुध नहीं ले रहे हैं, इस कारण से अपने स्वरूप से विमुख होकर बाहरी पुद्गलों में प्रीति जोड़े हुए हैं, और क्रोध, मान, माया, लोभ आदिक कलायें नाना प्रकार की इच्छायें जो सब कर्मों के उदयमें हुआ करती हैं उन सब स्वरूप रूप अपने को समझ रहे हैं और इसी मूल में ये जीव नाना दुर्गतियों में भटक रहे हैं। अहो, जब ही यह प्रकाश मिला कि मैं तो मूर्त, केवल ज्ञान और आनन्द स्वरूप हूं, मैं परिणमन रहता हूं। ज्ञान और आनन्द के रूप में ही इसके अतिरिक्त मेरा कोई व्यवसाय नहीं है ऐसा स्वरूप बोध होने पर इसका झुकाव इस ही स्वरूप की ओर होता है। तो स्वरूप को नमस्कार करने से पहिले उस स्वरूप के विशेषण इस ही प्रकार के दिए गए हैं जिससे स्वरूप की ओर झुकना इस जीव का सहज बन जाय। यह मैं आत्मा कर्म विभाव आदिक सभी से मुक्त हूं।

२- ज्ञानमय आत्मा में तृप्त होने की भावना कीजिए, तृतीय श्लोक के एक प्रवचनांश में-ज्ञानमात्र आत्मा में तृप्त होने परभावना पर-सब जगह यह मैं आत्मा अकेला ही रहता हूं, तो अकेले को ही कुछ,

अकेले से ही निरखें, और अकेले ज्ञानमात्र आत्मा में ही तृप्त हूं। आचार्य अमृत चन्द्र जी कहते हैं कि जितना यह ज्ञानास्वरूप हैं यह ही तो मैं आत्मा हूं, इससे रति बने, यह ही मैं निज हूं, यही मेरा सर्वस्व है, जितना यह ज्ञान है उतना ही तो मेरे लिए आशीर्वाद है, हम दूसरे से कहते हैं कि मुझे आशीर्वाद दो। अरे यह ही आशीर्वाद उस आत्मा को है कि बस ज्ञानरूप अपने को निरखें। बस सब आशीर्वाद गया। सब कल्याण हो गया, सब कष्ट दूर हो गए। जितना यह ज्ञान है उतना ही यह सत्य अनुभव करने की चीज है और चीज दिल में मत लावें। तो इस ज्ञानमात्र स्वरूप में ही रमकर तृप्ति पा लें, कोई दूसरा सुख देने न आयेगा। एक वेदान्त की कथा में लिखा है कि किसी नई बहू के पहिली ही बार बच्चा पंदा होने को था तो वह अपनी सास से बोली कि माता जी जब बच्चा पंदा होने लगे मुझे जगा लेना; कहीं ऐसा न हो कि मैं सोती ही रहूं और मुझे पता न पड़े। तो वह सास बाली अरी, बहू इसकी चिन्ता न कर। अरे जब बच्चा पंदा होगा तो वह तो तुझे जगाता हुआ ही पैदा होगा। चाहे तू सो रही हो फिर भी बच्चा पंदा होते समय तू जग जायेगी। तो ऐसे ही समझिये कि कोई पूछे कि मुझे आत्मा का अलौकिक आनन्द आये तब बता देना, तो भाई कौन बतायगा ? अरे वह आनन्द आयगा तो स्वयं ज्ञान का अनुभव हाता हुआ ही आयेगा। तुम स्वय उसका अनुभव करते हुए ही आनन्द पावोगे। किसी दूसरे से क्या तुछना ? तो आत्मा को ज्ञानरूप में अनुभव करें और सत्य आनन्द पा लें।

३– स्वरूप संवेदन के बिना आत्मोद्धार की असंभवता की जानकारी कीजिए चठवें श्लोक के एक प्रवचनांश में–स्वरूपसंवेदन के बिना आत्मोद्धार असभवता–उद्दण्डता ही तो है, इस उद्दण्डता के सिवाय और कष्ट क्या है इसे ? कोई जीव दुःखी नहीं है सब सुखी हैं, पर इतना मोह लगा है। रागद्वेष लगे हैं कि जिनसे ये अपने को दुःखी रख रहे हैं कि आप कहेंगे कि ऐसा कसे हो सकता है कि ये रागद्वेष मिट जायें। तो सुनो पुराण पुरूषों के चरित्र देख लो सुकुमाल, सुकौशल, गजकुमार। इन सबका राग मिटाना। भरी जवानी में सब कुछ छोड़ दिया। उन्हें जाने दो, आजकल भी अनेक गृहस्थ ऐसे मिलते हैं जो कि अपने मन में बहुत तृप्त रहते हैं चिन्ता करें तो भी वही बात चलेगी, चिन्ता न रखें और आत्मदर्शन करें प्रभुदर्शन करें धर्मध्यान में रहें तो भी वही बात चलेगी, बल्कि धर्म ध्यान में रहने वाले के और अच्छे ढंग से चलेगी। भैया स्वरूप सम्वेदन बिना अपने आत्मा के परिचय बिना सुख पाने की कला ही नहीं मिल सकती। तृष्णा कर करके दुःखी रहेंगे। जंसे गर्मी के दिनों में रेतीले मैदान में कोई हिरण दोपहर के समय में प्यासा हो जाता है। वह अपनी प्यास बुझाने के लिये जलकी खोज करता है। जब दृष्टि उठाकर दूर देखा तो इसको चमकती हुई रेत जल जंसी लगी, वहां पहुंचा तो देखा कि जलका नाम नहीं, फिर मुख उठाकर देखा तो दूर का चमकता हुई रेत जल जैसी मालूम हुई। फिर दौड़ लगाया। वहां जाकर देखा तो जलका नाम नहीं। यों वह दौड लगा लगाकर अपनी प्यास की वेदना को और भी बढ़ा लेता है और अन्त में तड़फ तड़फ कर मर जाता है। ठीक ऐसे ही यह ससारी प्राणी बाह्य पदार्थों से सुख की आशा करके उनके पीछे दौड़ लगाता है, उनका संचय करता है, उनकी तृष्णा करता है, उनके पीछे रातदिन हैरान रहता है, यों वह अपना उद्यम करता है शान्ति पाने का, पर होता क्या है कि उसको अशान्ति की वेदना और भी बढ़ती जाती है। यों ही वह अपना सारा जीवन व्यर्थ हो गवा देता है। लाभ कुछ नहीं प्राप्त कर पाता। अरे इन बाह्य पदार्थों से अपने चित्तको हटाकर सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति के लिये अपना उद्यम करना होगा। बाकी तो यहां उदयानुसार सब कुछ होता रहेगा। कमाई, भरण पोषण ये सब विधिवत होते रहेंगे। थोड़ा वहां भी ध्यान दे मगर मुख्य उद्देश्य हो जीवन में सम्यग्ज्ञान के अर्जनका। अपने स्वरूप के अनुभवनका। मैं ज्ञानमात्र हूं। केवल

ज्ञान स्वरूप हूं, ज्ञान जो ज्योतिस्वरूप मैं हूं ? इसके अतिरिक्त कुछ नहीं। तो इस ज्ञान ज्योति से कुछ बाहरका चिपका है क्या ? इस ज्ञान में कोई उपक्रम आयगा क्या ? अरे मैं ही विकल्प करके कल्पनायें बनाकर दुःखी होता हूं। स्वरूपतः तो मैं आनन्दरूप हूं।

हितावायक सम्यक चारित्रका स्वरूप निरखिये १३ वें श्लोक के एक प्रवचनांश में–उत्तरोत्तरभावी दर्शन ज्ञान चारित्र में स्थिर आलम्बन का सम्यक चारित्ररूपता के प्रसंग में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान का स्वरूप तो बताया जा चुका है। इस श्लोक में सम्यकस्वरूप बतला रहे हैं। आत्मा में दर्शन, ज्ञान चारित्र ये तीन गुण हैं, और, इन तीन गुणों के परिणमन भी प्रतिक्षण चलते रहते हैं। मेरे में विश्वास करने का गुण है तथा उसका भी निरन्तर परिणमन चल रहा है। विश्वास करते हुए जिसे अन्तः सहज प्रतिभासस्वरूप समझा है मेरे में वह ज्ञान गुण है तो ज्ञान गुण का भी परिणमन निरन्तर चल तो रहा है, जानता तो रहता है इसी प्रकार चरित्र गुण है तो उसका भी परिणमन निरन्तर चलता रहता है। चाहे चारित्र गुण का परिणमन किसी रूप हो, कषायरूप हो तो, आत्मा में रमणतारूप हो तो, प्रत्येक गुण प्रतिक्षण परिणमते रहते हैं। चाहे वे विभाव रूप परिणमन रहे हों चाहे स्वभाव रूप वे निरन्तर इसके परिणमन चलते हैं। तो उत्तरोत्तर होने वाले सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान औरसम्यकचारित्र में स्थिरतर होना, आलम्बन होना, इसका नाम है सम्यक्चारित्र। जो आत्मा का स्वरूप है और आत्मा का निरन्तर परिणमन चल रहा है उस स्वरूप में स्थिरतर होने का नाम सम्यक्चारित्र है। जैसा कि बताया गया है–आप रूप में लीन रहे स्थिर सम्यक चारित्र सो हो आत्मा के स्वरूप में स्थिरतरता से लीन होने का नाम है–सम्यक्चारित्र।

परखिये कषायरञ्जित चित्त की परिस्थिति, १७ वें श्लोक के एक प्रवचनांशमें–कषायरञ्जित चित्त में तत्त्वावगाहन की असंभवता–अपनी सद्भावना के लिये पहिली बात क्या कहा गई है कि कषायों को दूर करें, विरोध भावना दूर करें और एक विरोधभाव की ही बात नहीं, राग और विरोध दोनों दूर करें। क्रोध, मान माया, लोभ ये चार कषायें हैं, ये हमको परेशान कर रही हैं और इन चारों कषायों के बढ़ने का जड़ क्या है ? मैंने पर्यायबुद्धि कर रखी है। मैं मनुष्य हूं। मैं अमुक नाम का हूं। त्यागी हूं, गृहस्थ हूं। इस प्रकार की जो अपनी श्रद्धा बना रखी है यह है खोटी प्रतीति, क्षुब्ध प्रतीति। मैं चित्स्वभाव हूं, ऐसा इसने समझा नहीं इसलिये कषायें बढ़ेंगी ही। ये तो सही नही बातें है। तो कषायों से जिसका हृदय भरा हुआ है वह तत्त्वका अवगाहन नहीं कर सकता। तत्त्वका अवगाहन मायने सहज ज्ञान स्वभाव को आत्मतत्त्व है उसमें ज्ञान का प्रवेश होना, ज्ञान में वह सहज ज्ञान स्वभाव की झलक होना, परिचय होना यह कहलाता है तत्त्वका अवगाहन। तो जिसका चित्त कषायों से रंजित है वह तत्त्वका अवगाहन नहीं कर सकता कोशिश यह करना है कि एक बार तो संकल्प करके चलें कि मैं मनुष्य हूं तो ऐसा होते हुए कि मैं मोक्ष का मार्ग बना हूं और कभी मुक्ति पा लूं और बात के लिये नहीं हुआ हूं। और जो कुछ मिला है परिवार वैभव कुटुम्ब सब कुछ यह तो चलते हुए मुसाफिर के लिये पेड़ की छाया की तरह है। जो मुसाफिर जा रहा है रस्ते में पेड़ों की छाया मिलती। उस छाया से गुजरता जाता है तो यह तो गुजरने वाली बात है यहां से मैं गुजर रहा हूं अब गुजरता हूं। मैं कितनी छाया का सम्पर्क हुआ मुसाफिर रास्ते में जा रहे हैं तो पेड़ों की छाया का कितनी देर का सम्पर्क ? ऐसे ही समझा कि यहां जो इस घर में हैं, इस कुटुम्ब में हैं, जिस संग में हैं वह सम्पर्क कितनी देर का है ? अस्थिर है ऐसा जान कर इसमें रति न करें ? इसमें सन्तोष न मानें, तृप्ति न करें। [illegible] [illegible] संसार की जड़ है। इसका फल क्या है ? संसार में जन्म मरण करें, सर्व। यह ही इसका फल

है। अन्य फल नहीं।

आंकाक्षाओंके विरूद्ध आंदोलन करने आईये २१ वें श्लोक के एक प्रवचनांश में–आंकाक्षाओंकी योजना के विरूद्ध आन्दोलन–दुःख का मूल है ये आकांक्षा। राग अवस्था म आकांक्षा से अलग हम नहीं हट सकते तो उस स्थिति में यह भेद डाल दिया गया कि चलो पूजा में, स्वाध्याय में, ध्यान में आकांक्षा होना अच्छा है और विषय कषायों में आकांक्षा जगना बुरा है और आगे बढ़े तो मोक्ष की आकांक्षा करना अच्छा है पर संसार में इच्छा रखना बुरा है। लेकिन वस्तु स्वरूप से देखें तो आकांक्षा का अभ्युदय मात्र ही मोक्ष का बाधक है इसीलिये आचार्य देव कहते हैं कि मोक्ष को भी जिसके आकांक्षा नहीं वह मोक्ष को प्राप्त होता है। यह स्थिति होती है मोक्ष प्राप्त करने वाले को। जब अपना एक यही प्रोग्राम है मुक्ति का प्रोग्राम हमारा। मोक्ष का उद्यम करो, मोक्ष को चाहो और ऐसा होना ठीक है। जहां लोग सांसारिक बातों में स्वपच रहे हैं। वहां उन जोवों को मोक्ष की अगर आकांक्षा जगे तो उनकी कितनी विशुद्धि कितनी निर्मलता कितना उत्थान समझिये पर मोक्ष की प्राप्ति जिसको हुई हैं उस प्राप्ति से पूर्व उनकी क्या स्थिति होती हैं ? निर्विकल्प स्थिति मोक्ष की भी आकांक्षा नहीं ऐसा निराकांक्ष पुरूष है। और जब वस्तुस्वरूप की श्रद्धा हो भखना हो तो वहां तो ज्ञाताद्दष्टा जैसी स्थिति बनेगी। वहां भी मोक्ष की आकांक्षा वाली बात नहीं बनती है।

(३०३) पात्रकेसरीस्तोत्रप्रवचन

पात्रकेशरी स्तोत्र पर हुए पूज्य श्री सहजानन्द जी वर्णी महाराज के इसमें प्रवचन हैं। इस स्तोत्र में युक्ति–पुरः सर प्रभुता की गवेषण की है। प्रथम छन्द के एक प्रवचनांश में देखिये जिनेन्द्र गुणस्तवन का प्रयोजन–जिनेन्द्र गुणस्तवन से कर्मक्षय की बात बनने के निश्चय पर गुणस्तवन के प्रयत्न–देखिये कर्म आते हैं तो क्रोध, मान, माया, लोभ कषाय के द्वार से आते हैं। कषायें को, कर्म बन्ध हुआ। तो कर्म रूके या जो पहिले बंधे हुए कर्म हैं उनका विनाश हो तो वह भी इस उदय द्वारा हो सकेगा कि कषाय न करें कर्म अपने आप दूर हो जायेंगे। अब कषायें न करे। इसके लिए उपाय सरल यही है। पहिले तो जिसमें कषायें नहीं रही ऐसे जो प्रभु हैं उनके गुणों का ध्यान रखें। यह हमारा आपका आत्मा भी कषाय रहित है, इसमें कषाय का स्वभाव नहीं पड़ा हुआ है। स्वभाव तो ज्ञान और आनन्द का है जो कभी भी न टलता हो। तो भगवानका आत्मा भी ज्ञानानन्द स्वभाव वाला था। सो जब कषायें दूर हो गयी तो वही स्वभाव पूर्णरूप से प्रकट हो गया। जब भगवान के वीतराग सर्वा स्वरूप को दृष्टि करते है तो कितनों ही मोह ममता दूर हो जाती है कितनी हो विकल्प विडम्बनायें समाप्त हो जाती हैं। तो अपने आप अपने आत्मा के गुणों पर दृष्टि पहुंचता है, यही सन्तोष होता है। समता उत्पन्न होती है, ज्ञान–भाव बनता है। तो आत्मा जब ऐसे स्वच्छ ज्ञान प्रकाश में आ जाय तो कर्म अपने आप खिर जायेंगे। तो आचार्य कहते हैं कि हमने यह निश्चय कर लिया कि हे जिनेन्द्र देव। तुम्हारो को हुई थोड़ी भी स्तुति सर्व कर्मो के बिनाश के लिए कारण है, इसलिए हम बड़े हो आदर विनय से आपके गुणोंकी ओर झुकते हुए बड़े ही नम्र होकर हे देव हम आपकी स्तुति को करेंगे।

प्रभु की स्वयभुता व दिव्यचक्षुष्मत्ता देखिये द्वितीय छन्द के एक प्रवचनांश में–प्रभु ने मोक्ष पदवी को स्वयं जान लिया इसी कारण हे भगवान आप स्वयं कहलाते हैं। खुद अपने आप तत्व का निर्णय कर लेते हैं और खुद अपने आपमें अपने आपको जोड़कर स्वयं ही आप परमात्मा हो जाते हैं आप स्वयंभू कहलाते हैं। स्वयंभू का अर्थ है जो खुद हो जाय। भगवान तीर्थंकर जो परमात्मा हुए हैं तो क्या किसी दूसरे की मदद से हुए हैं ? यदि कोई धर्म करना चाहता है। इसलिए कि मैं संसार के सर्व

संकटों से छूटूं, तो उसे धर्म करने के लिए क्या किसी दूसरे को जरूरत होती है ? हां थोड़ा समझने सीखने के लिए जरूरी भी है मगर धर्म जो मिलेगा वह खुद को अपने आपमें मिलेगा, किसी दूसरे की मदद से न मिलेगा। तो प्रभु आप तो धर्म मूतर्त हैं। धर्म हो धर्म प्रकट है इस कारण से स्वयंभू कहलाते हैं। ऐसे दिव्यचक्षु जिस भगवान के ज्ञान है ऐसा ज्ञान यहां हम लोगों के नहीं पाया जा रहा। इस लोक में भी बड़े-बड़े वैभवशाली पुरूष हैं नारायण, प्रति-नारायण, चक्रवर्ती, बलभद्र आदि की जिनके अतुल वैभव पाया जाता है। बड़े-बड़े पुण्य के ठाठ पाये जाते हैं, छः हो खण्ड का राज्य जिनके अधिकार में है, जो सर्व वैभवों के स्वामी हैं ऐसे-ऐसे बड़े-बड़े पुण्यवान पुरूष भी इस लोक में मिलेंगे, लेकिन उनमें भी वे दिव्यतेज नहीं हैं जो कि तीर्थंकर भगवान के गर्भ में, जन्म समय में और गृहस्थावस्था में भी थे। ऐसे दिव्यचक्षु इस समय हम आप लोगों के नहीं पाये जा रहे हैं।

परमपुरूष का पुरूषार्थ सार निरखिये चतुर्थ छन्द के एक प्रवचनांश में-परमपुरूष का पुरूषार्थ-हे प्रभो, आपने उत्कृष्ट तप का आश्रय लिया था। ऐसे उत्कृष्ट तपका आश्रय लेने वाले आपको केवल-ज्ञान उत्पन्न हुआ। जो केवलज्ञान समस्त पदार्थो को विषय करने वाला है। जो भी सत् दुनिया में है उसके जाननहार हैं। देखो हम लोगों के जानने की तो इच्छा रहती है और जानकारी हो नहो पाती इसीलिए तो दुःखी हैं। जैसे आनन्द नहीं मिला उससे हम दुःखो हैं। उसी प्रकार जानने को इच्छा तो होती है पर जानना बन नहीं पाता तो दुःखी होते हैं। देखो-आनन्द जो हमें प्राप्त नहीं हो रहा उसका एक कारण यह भी है कि हम जानना तो चाहते हैं सारे विश्व को मगर जानना हो नहीं रहा है। तब प्रभु को देखो-वे सारे विश्व को, लोकालोक को, भूत, भविष्य, वतमान को सबको एक साथ स्पष्ट जानते हैं। जो सबको जान जाय उसको जानने की इच्छा क्यों होगी ? और जो सबको जान रहा है उसे किसी प्रकार की आकुलता क्यों मचेगी ? तो प्रभु सर्व विश्व के जाननहार हैं सो आपने एक परम आध्यात्मिक तपश्चरण किया था, उसका प्रभाव है कि आपके केवल ज्ञान उत्पन्न हुआ। कैसा है वह केवलज्ञान ? इन्द्रिया-तीत है। इन्द्रिय द्वारा नहीं जाना जाता कुछ, किन्तु इन्द्रिय से परे केवल आत्मा के बोध से ही सर्व कुछ पहिचाना जा रहा है तो आपका वह केवलज्ञान अतीन्द्रिय है, फिर भी वह केवलज्ञान नष्ट होने वाला नहीं है। केवलज्ञान तो अनन्त काल तक वैसा केवल ज्ञान हो वर्तता चला जायगा। तो ऐसा वह केवलज्ञान अविनाशी है और अपने आत्मा से उत्पन्न होता है। देखो अतुल ज्ञान निधि, अतुल आनन्द सब कुछ आत्मा में सदा हाजिर हैं किन्तु उसके लिए दृष्टि बनायी है। क्या कि परकी ओर दृष्टि लग रही है इसलिए हैरानी हो रही. परेशानी हो रही। जो अपने आत्मासे उत्पन्न हुआ ज्ञान है वह ज्ञान तो सारे लोकालोक का जाननहार है और इन्द्रिय या अन्य साधनों की अपेक्षा कर करके जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह ज्ञान थोड़ा जानता है, सबको नहीं समझता। हे प्रभु आपने परम तपश्चरण का आश्रय किया अतएव वही केवलज्ञान उत्पन्न हुआ। आपका केवलज्ञान सर्व को जानता है, इन्द्रिय से परे है फिर कभी नष्ट होता नहीं अपने आत्मा से उत्पन्न हुआ है और निर-वरण है तथा एक साथ जानने वाला है।

प्रभु की निर्दोष वाणी से प्रभुकी आप्तता का परिचय पढ़िये २४ वें छन्द के एक प्रवचनांश में-प्रभु की निर्दोष वाणी से प्रभु की आप्तता का परिचय-यही आचार्यदेव भगवान की स्तुति कर रहे हैं. भगवान की स्तुति के मायने यह है कि भगवान के स्वरूप में भक्ति उपजना। देखो जब भगवान के माता पिता का, वंश का, कुल का नाम लेकर भगवान की स्तुति की जाती है तो उससे कई गुना रूचिपूर्वक भगवान

का परिणाम है। वस्तुस्वरूप के वर्णन करने की ओर तुलना करने की पद्धति में हे भगवान आप बड़े हितैषी हैं, बड़े निर्दोष हैं, सत्य है, पवित्र हैं, आपकी वाणी में कही भी दोष नहीं आ रहा है। किसी मनुष्य को बुखार हो, खांसी हो, नजला हो। तो उसको आवाज से पहिचान लिया जाता है कि यह मनुष्य तो रोगी है और उसी की आवाज से यह भी पहिचान सकते कि अब यह निरोग हो गया। तो जैसे आवाज निरोगता की पहिचान करा देती है इसी प्रकार वाणी और वचन वक्ता के निर्दोषता की पहिचान करा देते हैं। और, वक्ता निर्दोष ज्ञान में आये तब ही तो भक्ति उमड़ेगी। तो उस निर्दोषता का परिचय मिलता है वचनों से और वचन ये सही हैं इसीलिए यह निर्णय चल रहा है कि अन्य जनों ने शासन गढ़ा है वह जीव के लिए हितकारी नहीं है। वही कोई शान्तिका मार्ग नहीं मिलता है पर हे प्रभो स्याद्वाद विधि से आपने जो कुछ भी वर्णन किया है वह सत्य है, निर्दोष है और हितकारी है।

वीतराग प्रभु के सिवाय अन्यत्र आप्तपने की अयुक्तता देखिये ३४ वें छन्द के एक प्रवचनांश में–प्रसन्न, क्रोध, दुःखी, रोगी, भूखे, प्यासे, जन्म मरण करने वाले में आप्तपना मानने की अयुक्तता–हे इन्द्रिय विजय करके रागद्वेष पर विजय प्राप्त करने वाले वीतराग सर्वज्ञ देव : आपको छोड़कर अन्य प्राणियों में आप्तपना कैसे युक्त हो सकता हूं ? जबकि देखा जा रहा है कि आपके सिवाय अन्य वह पुरुष जिन में देवपने की प्रसिद्धि हुई है वह कभी प्रसन्न होता है क्रुध हो जाता है तो यह नियम है कि ऐसा यदि कोई पुरूष हो तो वह नियम से दुःखी है तभी तो वह कभी खुश हो गया कभी क्रुद्ध हो गया। तो जो आत्मा प्रसन्न होते हैं, क्रुद्ध होते हैं उनमें दुःखीपना नियम से सिद्ध होता है। और वे मुग्ध हैं किसी में तब ही तो प्रसन्न होते हैं अथवा किसी से वे विरोध रखते हैं तब ही तो दूसरे पर क्रुद्ध हुए हैं। साथ ही कोई उन्हें रोग हो जाय, कोई कठिन घटना आ जाय तो उनके भय और उपद्रव भी देखा गया है। तभी वह तृष्णा से आमुल होता। जैसे किन्हीं ने पता डाला है कि कोई भगवान जंगलमें पहुंचे, वहां उन्हें प्यास लगी, तो उनका बड़ा भाई पास की नदी में पानी लेने चला वहां जिस समय पानी भरने के लिए वह भाई गया। तो एक शिकारी ने देखा कि वृक्ष के नीचे यह कोई हिरण बैठा है, बस शिकारी ने तीर मार दिया भगवान का मरण हो गया। तो लोगों ने ऐसे को भी भगवान मान डाला। भला बतलाओ जिन लोगों को क्षुधा तृष्णा आदि की वेदनायें हों, जो किसी के द्वारा मारे जायें उनको भगवान कैसे कहा जा सकता है ? अरे जिसके अभी शरीर की परिपाटी चल रही है उस में आप्तपने की बात कहना कैसे युक्त हो सकता है ?

परखिये प्रभुशासन में त्यागका महत्व ४१ वें छन्द के एक प्रवचनांश में–प्रभुशासन में त्यागका महत्व–कुछ लोग आराम की चीजों को उपकरण नाम देकर अपने आपके धर्मात्मा प्रसिद्ध करने के लिए युक्तियों से अपना आराम बना लिया है। वस्त्र रखना, बर्तन रखना, पात्र रखना ये उपकरण हैं। साधुवों को ये रखना चाहिए, इस तरह का जो उपदेश किया गया है से साधुजनों ने सुख का कारण सोचकर स्वयं रचा है, कल्पना किया है, किन्तु आपने उपदेश ऐसा नहीं किया। इतने वस्त्र रखो, इतने बर्तन रखो, इतना अमुक रखो, और जो–जो भी आराम के साधन है–लाठी आदिक जो उपकरण की बातें प्रचलित हुई हैं वे स्वयं अशक्त पुरूषों ने अपने आप कल्पना किया है। यदि यह सत्पथ होता तब तो तुम्हारी नग्नता व्यर्थ है। तीर्थंकरों को नग्न दिगम्बर श्वेताम्बरों ने भी माना, स्वयं उन्होंने अपने शास्त्रों में कहा है तो स्वयं तो नग्न रहकर साधना करें और दूसरों को बतायें कि तुम ऐसे–ऐसे आराम के साधन रख लो तो यह कैसे युक्त हो सकता है ? यदि वस्त्र, बर्तन आदि रखते हुए भी धर्म हो जाता

तो फिर नग्नताकी क्या आवश्यकता थी ? जैसे छाया यों ही हस्त सुलभ प्राप्त हो जाय तो फिर किसी वृक्ष के नीचे ठहरने की आवश्यकता क्या ? ऐसे ही यदि परिग्रह के बीच रहते हुए ही मोक्ष मिल जाय तो फिर निर्ग्रन्थता का आश्रय करने की आवश्यकता क्या ? जो कुछ यह रचा गया है परिग्रह का सम्पर्क का उपदेश, वह स्वयं कमजोर पुरूषों ने किया है। आपका उपदेश किया हुआ मार्ग तो केवल कैवल्य का मार्ग है। इस बाह्य और अन्त कैवल्य में रहो और उस विधि से केवलज्ञान प्राप्त होने का आपका उपदेश है।

(३०४) द्वात्रिंशतिकः प्रवचन

पूज्यश्री अमितगति आचार्य द्वारा विरक्ति द्वात्रिंशतिका परम पूज्य श्री सहजानन्द जी वर्णी महाराज के प्रवचन इस पुस्तक में है। इनमें समता की भावना की गई है। मैत्रीभावना की एक झांकी कीजिये प्रथम छन्द के एक प्रवचनांशमें–मैत्री भावना में प्रशम की भांति संवेग अनुकम्पा आस्तक्य का भी अपूर्व सहयोग–मैत्री सद्भावना रखने वाले आत्मा के सम्वेग भाव भी प्रथमके साथ–साथ संवेग का अर्थ है धर्म में अनुराग होना। धर्म है आत्मा का ज्ञान दर्शन आनन्द आदिका उसमें जब भावना जगे, प्रीति जगे स्वयं के धर्ममें प्रीति जागे वहां ही सब जीवों के प्रति मैत्री भाव जगता है। मैत्री भाव में दुःख उत्पन्न न होने की अभिलाषा या दुःख उत्पन्न न होने की इच्छा बनने से यह बात धर्मानुरागी पुरूष के होती ही है। अनुकम्पाभाव स्वयं पर दया हो तो दूसरे पर मैत्री भावना बने। जो जीव दूसरे के प्रति सुख की भावना नहीं रखता, मैत्री भावना नहीं रखता वह अपने आप पर भी दयाहीन हो रहा है। स्वानुकम्पा जिसके जगती है, जो स्व की तरह सबको निरखता है तो वहां पर भी दुःख उत्पन्न न हो ऐसी अभिलाषा जगती है आस्तिक्यभाव ता प्रकटही है जीव यह ज्ञानानन्द स्वरूप है। वह अपने ज्ञान आनन्द परिणाम से ज्ञानी और आनन्दस्वरूप बनेगा। सब प्रकार के इसके आस्तिक्य है तब ही यह भावना जग रही है कि सब सुखी हों, किसी को दुःख उत्पन्न न हो। हे प्रभो, मेरे में यह भावना रहे कि सब जीव सुखी हों, किसी से दुःख उत्पन्न न हो। सब के प्रति मित्रता का भाव जगें। जब कभी कोई विषयभाव जगता है तो उस कषायभाव में यह स्वयं तिलमिला जाता है और उस कषायभाव में दूसरे के प्रति विरोध भाव रखने लगता है तो यह उसका मूढता भरा प्रयत्न है। और जीव जीव सब समान हैं। कौन जीव मेरा विरोधी है ? जिसे आज विरोधी समझ रहे वह अनेक बार मित्र अथवा कुटुम्बी हो चुका है। किसी जीव को अपना विरोधी क्यों मान लिया उसमें विरोध क्यों ? अरे सभी जीव अपने–अपने पूरे स्वरूप को लिए हुए हैं। उसमें विरोध की बात कहां से जगी ? हम सब अपने विषयों के अनुकूल बाहर में बात नहीं पाते तो उसे अनिष्ट समझने लगते हैं। वस्तुतः कोई जीव मेरा विरोधी नहीं। सब जीवों के प्रति मैत्री भाव रखना, यह सब अपने हित की बात कही जा रही हैं। आत्मकल्याण स्वयं ही तो पायगा। तो ऐसी मैत्री भावना हे प्रभो मेरा आत्मा सदा धारण करे।

निजात्माको शरीर से भिन्न करने की भावना देखिये दूसरे छन्द के एक प्रवचनांशमें–अपास्तदोष निजात्मा को शरीर से भिन्न करने की भावना–यह आत्मा ज्ञानावस्थ है, इसके स्वभाव में मान, माया, लोभ विषय कषायों के बन रहे हैं वह दोष औपाधिक है आत्मा के स्वभावरूप नहीं है। जैसे किसी फिल्म के पर्दे पर फिल्म का अक्स दिया जाता है सनीमा में सफेद पर्दे पर फिल्म का अक्स फेंका जाता है उस अक्स में लड़ाई, झगड़ा, चलना, नदी, पहाड़ आदि का सब दृश्य दिख जाते हैं और उस काल में जो कुछ भी रंग है, जो कुछ भी आकार है जो चित्र का है वह उस समय उस पर्दे का चित्रण हो

रहा है फिर भी पर्दे में चित्रण का स्वभाव नहीं है। वह औपाधिक चीज है जैसे ही उसको कारण हटे कि वह चित्रण भी दूर हो जाता है इसी प्रकार आत्मा में जो राग के विषय कषाय आदिक के चित्रण होते हैं वे हैं आत्मा के परिणमन वर्तमान में, किन्तु वे औपाधिक भाव हैं, कर्म उपाधि के विपाक से उत्पन्न होते हैं जहां कर्मविपाक दूर हुए वहां यह चित्रण नहीं रहता। तो यह आत्मा स्वरूपसे दोषरहित हैं लेकिन अनादि काल से उपाधि का सम्बन्ध होने से यह दोषरूप परिणाम रहा है तो यह निर्दोष रह सके ऐसी मेरे में शक्ति आये। इस निर्दोष आत्मा को शरीर से भिन्न करने के लिए मेरे में शक्ति उत्पन्न हो।

सर्वत्र समता की भावना अवधारित कीजिये तीसरे छन्द के एक प्रवचनांशमें—सर्वत्र समता की भावना—भगवान के गुणस्तवन में अपने लिए भावना की जा रही है कि हे नाथ मेरे सदा समता भाव रहे। मेरा मन सब घटनाओं में सब पदार्थों में रागद्वेष रहित होकर समता भाव में रहे और यह बात बन सकती है तब जब ममत्व बुद्धि न हो। ममता होने से किसी चीज में राग होगा किसी चीज में द्वेष होगा। जा इष्ट विषय होगा उसमें राग बनेगा और जो बाधक विषय है उसमें द्वेष बनेगा। तो सर्वप्रथम काम यह है कि ममत्व बुद्धि अपनी हटानी चाहिए। अब देखो ममत्व बुद्धि बिल्कुल बेकार ही की जा रही है जो कोई ममता कर रहा है उस ममता से कोई काम नहीं बनने का। जिनसे ममता कर रहे वे भिन्न जीव हैं, सारे पदार्थ भिन्न है, उपयोग में यह मान रहे हैं कि यह मेरा है तो मानते जावो। होने का तो अपना नहीं और निकट ही समय ऐसा आने को है कि मरण हो जायगा, इस शरीर तक से भी न्यारा बन जायगा। तब फिर बाहरी पदार्थ अपने क्या होते ? लेकिन मोह की ऐसी मदिरा चढ़ी है कि धर्म की बात सुनने का न तो किसी के पास समय है और न उसकी ओर उपयोग है। रात दिन उसी मोह ममता में पड़े रहते हैं ऐसा अज्ञान छाया है कि अपने आत्मा का ज्ञान—प्रकाश नहीं कर रहे हैं। तो हे प्रभो समस्त पदार्थों में मेरी ममता बुद्धि दूर हो और फिर ऐसा मुझ में बल प्रकट हो कि सभी कामोंमें घटनाओंमें, पदार्थों में समता को धारण करे।

सर्वकल्याण के मूल बोधिलाभ की भावना के लिये आइये ११ वें छन्द के एक प्रवचनांश में—बोधिलाभ की भावना—यह जो ज्ञानप्रकाश है, ज्ञान ज्योति है, ज्ञान पाने की जो विधि है, ज्ञान स्थिति ही जिसकी समता है उसे कहते है सरस्वती तो हे देवी, हे ज्ञानलक्ष्मी तुम ही एक चिन्तामणि हो याने जो वस्तु चिन्तित हो, जिसका विचार किया गया हो उस वस्तुके देने में चिन्तामणि हो, जैसे चिन्तामणि रत्न जिसके पास हो तो यह प्रसिद्धि है कि जो विचारों से मिलता है इसी प्रकार हे ज्ञान देवता। तुम चिन्तामणि की तरह हो तो मैं कुछ चाह रहा हूं उस चाह की मेरी पूर्ति करो मैं चाहता हूं कि मेरे को बोद्धि प्राप्त हो। बोधि कहते हैं सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यकचारित्र को। सम्यक्त्व जगा हो, समस्त पर वस्तुओं से निराला आत्मा का जो ज्ञान स्वरूप है वह जिसकी दृष्टिमें समाया हो उसे कहते हैं सम्यक्त्व अब आप यह अन्दाज करें कि जब मेरे क्रोध, मान, माया, लोभ आदि कषायें नहीं जग रही है। शान्ति है उस समय कितना आनन्दमय हमारी स्थिति रहती है और जब किसी प्रकार ये कषायें तीव्र हो जाती है तो मैं कितना दुःखी हो जाता हूं। तो जहां कषायें न रहें कषाय रहित आत्म—स्वरूप की जहां दृष्टि हो ऐसी स्थिति तो उत्कृष्ट स्थिति है। उसकी ही वहां प्रार्थना की जा रही है कि हे दे। मैं तुमको वन्दना करता हूं तुम मेरा बोधि उत्पन्न करो। तेरे प्रसाद से मेरे सम्यक्त्व ज्ञान चारित्र की प्राप्ति हो उस ज्ञान स्वभाव से ही प्रार्थना की जा रही है कि हे ज्ञान देवता तुम मेरे को बोधि दो।

भवदुःख जाल से अतीत देवदेव की उपासना पढ़िये १४ वें छन्द के एक प्रवचनांश में—ऐसा देवाधिदेव बीतराग सर्वज्ञ परमात्मतत्व मेरे हृदय में निरन्तर विराजे जो संसार के दुःख समूह को नाश कर डालता है, जिसके ससार का दुःख जाल लगा है वह मेरे लिए परमात्मा तो नहीं है प्रभु तो नहीं है। वह तो मेरे ही समान दुःखी पुरूष है उसको हृदय में विराजमान करने से क्या फायदा होगा ? जो निर्दोष है शुद्ध है परिपूर्ण ज्ञानी है, अनन्त आनन्दमय है ऐसा ही प्रभु है वह कब ऐसा हुआ कि जब उसने संसार के समस्त दुःखों को विलीन कर दिया। आत्मा ज्ञानस्वरूप है उपयोगरूप है जब उपयोग हमारा इन दुःखों के बनाने के ढंग से बनता है तो यहां दुःख जाहिर होता है और जब यह अपने ज्ञान स्वभाव का ग्रहण करता है तब ज्ञान में सहहज्ञान स्वभात ही रहता है उसका दुःख जाल विलोन हो जाता है। जैसे आप जब रंज कर रहे हो तो सुख गायब और जब सुख मान रहे हो तो रंज गायब। जब कषाय कर रहे हो तो शान्ति गायब और जब शान्ति में हो तब कषाय गायब ता वह आपके ज्ञान की परिणति ही तो है। जब ज्ञान की शुद्ध परिणति हुई तो सब अशुद्धतायें विलोन हो जाती हैं। तो प्रभु ने निज ज्ञापय स्वभाव के अवलम्बन से संसार के समस्त दुःख समूह को नष्ट कर दिया तो जो संसारके दुःख जालों को नष्ट कर चुका ऐसा परमात्मदेव मेरे हृदय में विराजमान हो।

समाधि साधना का अनिवार्य साधन अध्यात्म-ससार है इसका दिग्दर्शन कीजिये—अध्यात्म संस्तर का स्मरण—समता परिणाम ही जीव का हित कर सकने वाला है। राग हो अथवा द्वेष हो, ये दोनों ही भाव आकुलता के साधन होते हैं और साधन क्या ? खुद आकुलता स्वरूप है रागद्वेष न होना, समता परिणाम होना ही जीव का हित कर सकने वाला भाव है ता समता परिणाम का ही रूप है समाधि रागद्वेष तजकर अविकार ज्ञान स्वभाव आत्मा के ध्यान में रहना इसको कहते हैं। समाधि और समाधि को प्रथा प्रायः मरण समय में है। यद्यपि समाधि करें सदा जोवनमें भी मरण कालमें भी लेकिन मरण काल में समाधि अति आवश्यक बात है लेकिन उस ही पर अगले जन्म का हानि लाभ का हिसाब है इस कारण समाधि का बहुत महत्व है तो समाधि की विधि में बताया है कि उसका आसन सस्तरा योग्य बनाया जाता है जिस पर समाधि मरण की प्रतिज्ञा लेने वाला व्यक्ति लेटा रहता है उस ही पर वह बना रहता है तो उस संस्तरा के बारे में बताया जा रहा है कि वास्तव में देखा जाय ता परमार्थतः सस्तरा है क्या चीज ? जिसपर वह भव्य लेटकर बैठकर समाधि मरण की प्रक्रिया करता है वह न वास्तव में पत्थर है, न तृण है न पृथ्वी, न बड़े विधान से बनाया गया काठ है। वास्तव में सस्तरा ता विद्वानों ने बताया है कि अपना आत्मा ही संस्तरा है। किस पर लेटना, किसमें आराम करना किसमें बैठना। वह है आत्मस्वरूप। पर ऐसा आत्मस्वरूप निर्मल सस्तरा कहां बन सकता है। जिसने इन्द्रिय विजय और कषायों को जीत लिया है रागद्वेष पर जिसने विजय प्राप्त किया है ऐसे महापुरूष का संस्तरा है अपना आत्मा। इस छंद में यह बताया है कि समाधि की साधना करने वाले पुरूषों को यह निश्चय करना चाहिए कि मैं आत्मा में हूं। आत्मा पर ही सोया हूं याने आत्मा में ही स्थित हूं और आत्माओंसे ही इसकी सारी समाधि की विधि बनती है। इस तरह निश्चय दृष्टिसे आत्मा ही वास्तवमें सस्तरा है।

—ः समाप्त :—

अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री सहजानन्द महाराज द्वारा रचित

卐 आत्मरमण 卐

मैं दर्शनज्ञानस्वरूपी हूं, मैं सहजानन्द स्वरूपी हूं ।।टेक।।
हूं ज्ञानमात्र पर भाव शून्य, हूं सहज ज्ञानघन स्वयं पूर्ण ।।
हूं सत्य सहज आनन्दधाम; मैं सहजानन्द । मैं दर्शन. ।।१।।
हूं खुद का ही कर्ता भोक्ता पर में मेरा कुछ काम नहीं ।।
पर का न प्रवेश न कार्य यहां, मैं सहजानन्द । मैं दर्शन.।।२।।
आऊं उतरूं रमलूं निजमें, निजकी निजमें दुविधाही क्या ।।
निज अनुभवरससे सहजतृप्त, मैं सहजानन्द । मैं दर्शन.।।३।।

卐 आत्मभक्ति 卐

मेरे शाश्वत शरण, सत्य तारणतरण ब्रह्म प्यारे ।
तेरी भक्ति में क्षण जांय सारे ।। टेक ।।
ज्ञानसे ज्ञानमें ज्ञान ही हो, कल्पनाओं का इकदम विलय हो ।
भ्रान्तिका नाश हो, शान्तिका वास हो, ब्रह्म प्यारे । तेरी. ।।१।।
सर्व गतियों में रह गति से न्यारे, सर्व भावों में रह उनसे न्यारे ।
सर्वगत आत्मगत, रत न नाहीं विरत, ब्रह्म प्यारे । तेरी. ।। २ ।।
सिद्धि जितने भी अब तक है पाई, तेरा आश्रय ही उसमें सहाई ।
मेरे संकटहरण, ज्ञान दर्शन चरण, ब्रह्म प्यारे । तेरी. ।। ३ ।।
देह कर्मादि सब जगसे न्यारे, गुण व पर्ययके भेदोंसे पारे ।
नित्य अन्त: अचल, गुप्त ज्ञायक अमल, ब्रह्म प्यारे । तेरी. ।।४।।
आपका आप ही प्रेय तू है, सर्व श्रेयों में नित श्रेय तू है ।
सहजानन्दी प्रभो, अन्तर्यामी विभो ब्रह्म प्यारे । तेरी. ।।५।।

卐 आत्म कीर्तन 卐

हूं स्वतन्त्र निश्चल निष्काम, ज्ञाता दृष्टा आतम राम ।। टेक ।।
मैं वह हूं जो हैं भगवान, जो मैं हूं वह हैं भगवान ।।
अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यह राग वितान ।। १ ।।
मम स्वरूप है सिद्ध समान, अमित शक्ति सुख ज्ञान निधाम ।।
किन्तु आश वश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अजान ।।२।।
सुख दुख दाता कोइ न आन, मोह राग रुष दुख की खान ।।
निजको निज परको पर जान, फिर दुखका नहि लेश निदान ।३।।
जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम ।।
राग त्यागि पहुंचूं निज धाम, आकुलता का फिर क्या काम ।।४।।
होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जग का करता क्या काम ।।
दूर हटो पर कृत परिणाम, 'सहजानन्द' रहूं अभिराम ।।५।।